

आचार्य जिनसेन विरचित

आदिपुराण

[प्रथम भाग]

(हिन्दी अनुवाद तथा परिशिष्ट आदि सहित)

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य



भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

“पुरानी बात को पुराण कहते हैं। जब वह बात महापुरुषों के विषय में कही जाती है, या महान् आचार्यों द्वारा उपदेश के रूप में बतलाई जाती है, अथवा महाकल्याण का अनुशासन करती है, तब वह महा-पुराण कहलाती है। कव्य विद्वान् ऐसी भी निश्चित करते हैं कि पुराने कवि के आश्रय से प्रचलित हुई बात में ही पुराणपन आता है, और उस बात के अपने महत्त्व से वह महापुराण बन जाती है। अतः महर्षियों ने परम्परा से उसे ही महापुराण माना है जो महापुरुषों से सम्बन्धित हो, व महान् अभ्युदय का उपदेश करता हो। यही महापुराण ऋषि-प्रणीत होने से ‘आर्ष’ कहलाता है। सुन्दर भाषा में वर्णित होने से ‘सूक्त’ तथा धर्म का उपदेश देने से ‘धर्मशास्त्र’ भी माना गया है। ‘इति ह आस (आसीत्)’ अर्थात् ‘ऐसी बात हुई थी’ इस प्रकार श्रुति का बचन होने से उसे ‘इतिहास’ कहना भी इष्ट है। दूसरे शब्दों में उसे इतिवृत्त, ऐतिह्य व आभ्यास कहने की भी प्रथा है। अतः जो इतिहास भी कहलाता है, उस पुराण को जैसा गौतम गणधर ने कहा या उसे ही परम्परा-नुसार में भक्तिवशा यहाँ वर्णित करता हूँ।”

यह है पुराण व महापुराण की व्याख्या जो जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण की-उत्थानिका (१, २१-२६) में की है। उससे जैन पुराणकारों का उद्देश्य व दृष्टिकोण सुस्पष्ट हो जाता है कि पुराण के मायक वे ही महापुरुष हो सकते हैं जिनके चरित्र पूर्वपरम्परानुसार लोक-प्रसिद्ध है तथा जिनके द्वारा लोक-जीवन का उत्कर्ष व अभ्युदय होना सम्भव है। यही मत पद्मचरित्र के कर्ता विमलसूरि का है जब वे कहते हैं कि “मैं आचार्य-परम्परा से आये हुए राम के चरित्र को कहता हूँ” (१।५)। यही बात रविवर्षेण ने पद्मपुराण में कही है कि “मैं राम के चरित्र का वही वर्णन करता हूँ जो विद्वानों की पंक्ति में चला आया है, क्योंकि ऐसे ही महापुरुष के कीर्तन से विज्ञान की वृद्धि होती है, निर्मल यज्ञ फैलता है तथा पाप दूर हट जाता है” (१।२१-२४)। और यही बात हमें जिनसेनकृत हरिवंशपुराण में इस प्रकार मिलती है कि “देश और काल की गतिविधि के ज्ञाता आचार्यों को जहाँ-तहाँ से वही पुराण-वृत्त संग्रह कर वर्णन करना चाहिए जो पुरुषार्थ-साधन में उत्साहबर्धक हो” (१।७०)। ऐसा पुराण ही इस देश का प्राचीन इतिहास है, क्योंकि उसके भीतर पूर्वकालीन महापुरुषों के चरित्रों तथा लोक-जीवन के आदर्श व भाषणों का समावेश हो जाता है। जिनसे कोई ओमस्कर शिक्षा न मिले उन छुटपुट पापपरायण वृत्तान्तों का संग्रह करना जन-कल्याण व साहित्य की दृष्टि से निष्फल है।

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि ने नारद से यही जानने की इच्छा प्रकट की थी कि “ओ कोई इस लोक में बलवान्, धर्मज्ञ, सत्यवाक्, दुरुजित तथा समस्त जीवों का हितकारी, क्रोध को जीतने वाला और ईर्ष्या से रहित हो, उसी का चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ।” और इसी जिज्ञासा के उत्तर में नारद ने उन्हें राम का चरित्र सुनाया, क्योंकि वे धर्मज्ञ थे, सत्यवादी थे, प्रजा के हितवीर, यज्ञस्वी, ज्ञानसम्पन्न, मुद्राशाय, इन्द्रियों को बश में रखने वाले और एकाग्रमन आदि गुणों से सम्पन्न थे (रामा० १।२-१२)।

रामायण की उत्थानिका से एक और बात सुस्पष्ट हो जाती है। वह यह कि जब तक कवि का हृदय दया, करुणा व अहिंसा की भावना से ओतप्रोत न हो, तब तक वह सच्चे कल्याणकारी काव्य की रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। नारद से राम का वृत्त सुनकर भी वाल्मीकि मुनि के अन्तरंग से काव्य की धारा तो तभी प्रवाहित हो सकी, जब उन्होंने एक निषाद को एक शीश पत्नी को मारते देखा और उनका हृदय कष्टा से रो उठा।

ऐसे महापुरुषों का संस्मरण जैनधर्म में मूलतः ही प्रचलित रहा है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का

जो संग्रह द्वादशांग आगम में किया गया था उसके बारहवें अंग दृष्टिवाद के अवान्तर भेद अनुयोग या प्रथमानुयोग का विषय तीर्थंकर आदि महापुरुषों के चरित्र व अन्य आख्यान थे। षट्खण्डागम की ध्वलाटीका के अनुसार यहाँ 'बारह' प्रकार का 'पुराण' वर्णन किया गया था, जिसमें अरहन्तों, चक्रवर्तियों, विद्याधरों, वासुदेवों, चारणों, प्रजाश्रमणों, कौरवों, इक्ष्वाकुओं, काशिकों और वादियों के वंशों का एवं हरिवंश व नागवंश का वर्णन सम्मिलित था। यद्यपि यह मूल अनुयोग रचना अब अप्राप्य है, तथापि चौथी शती में जो बल्लभी-वाचमा के समय देवधिगणी के नायकत्व में अंगों का संकलन किया गया उनमें बहुत कुछ इस अनुयोग के खण्ड समाविष्ट पाये जाते हैं। विशेषतः चतुर्थ आगम समवायांग के २७५ सूत्रों में से अन्तिम ३० सूत्रों में कुलकर्णों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों तथा बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का उनके माता-पिता, जन्मस्थान, दीक्षास्थान आदि का क्रम से परिचय कराया गया है। इन्हीं त्रैसठ शताकापुरुषों की और भी सुविस्तृत नामावलियाँ यति-वृषभाचार्यकृत 'तिलोपपण्णसि' के चतुर्थ अधिकार में पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ ११ छद, ६ नारद और २४ कामदेवों का भी विवरण दिया गया है।

उपर्युक्त समवायांग तथा तिलोपपण्णसि में प्राप्य नामावलियों के आधार से विशेष कथानक गुरु-मिथ्य-परम्परा से चलते रहे होंगे और उन्हीं पर से पश्चात्कालीन जैनपुराण रचे गये, जैसा कि पद्मचरित के कर्ता विमलसूरि ने स्पष्ट कहा है कि "जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध था और आचार्य-परम्परा से चलता आया, उस सबको ही मैं यहाँ अनुक्रम से कहता हूँ" (१।८)।

प्रश्न उठता है कि जो वृत्तान्त पुराणों में पाया जाता है उसका आविष्कार क्या है? पुराणों में जो पत्थों और सागरों, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी एवं सुखमा-दुःखमा कालचक्रों तथा संख्यात व असंख्यात वर्षों का उल्लेख मिलता है उससे आधुनिक वैज्ञानिक व ऐतिहासिक तथ्यों का समाधान नहीं होता। यह बात जैन पुराणों के सम्बन्ध में ही हो सो बात नहीं, वैदिक परम्परा के सत्ययुग-कलयुग में भी वही बात पायी जाती है। तथापि आधुनिक विद्वानों ने आवा, विषय आदि के आधार पर भारतीय साहित्य का जो कालक्रम निश्चित किया है उसमें सबसे प्राचीन ऋग्वेद ठहरता है। उससे पूर्व की कोई साहित्यिक रचना प्राप्त नहीं है। जैनपुराण की दृष्टि से ऋग्वेद का वह सूक्त (१०।१३६) बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसमें वातरक्षना मुनियों की स्तुति की गयी है। जैन पढ़ता है ये मुनि नग्न रहते थे, जटा भी धारण करते थे, स्नान न करने से मलिनशरीर व मौनवृत्ति से रहते थे, और इन गुणों से वैदिक ऋषियों से सर्वथा भिन्न थे। इन मुनियों में केशी प्रधान थे। एक अन्य ऋषि (१०।१०२।६) में केशी और वृषभ विशेषण-विशेष्य रूप में प्रयुक्त हुए हैं जिससे सन्देह नहीं रहता कि वातरक्षना मुनियों के नायक केशी वृषभ थे। यदि इस बात में कुछ सन्देह रहता है तो उसका परिहार भागवतपुराण (५।३।२०) से मली-भाति हो जाता है, जहाँ नाभि और मरुदेवी के पुत्र ऋषभ के चरित्र व तप का विस्तार से वर्णन किया है, और यह भी कह दिया गया है कि वे विष्णु के अवतार थे तथा वातरक्षना श्रमणों की परम्परा में उत्पन्न हुए थे। इसका अधिक विस्तार से वर्णन डॉ० हीरालाल जैन कृत पुस्तक 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' पृ० ११ आदि में देखा जा सकता है। इससे वैदिक परम्परानुसार ही यह सिद्ध हो जाता है कि श्रमण मुनि उस समय विद्यमान थे जब वेदों की रचना हुई, एवं उन मुनियों के नायक केशी वृषभ अर्थात् तीर्थंकर ऋषभनाथ की उस समय भी वन्दना की जाती थी। वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है। तथापि इसकी पूर्व डेढ़ हजार वर्ष से भी पूर्व उनकी रचना हुई होगी, इसमें किसी की कोई सन्देह नहीं। अतः जैन पुराण के आदिनायक इससे अर्वाचीन तो हो ही नहीं सकते।

और इसके भी पूर्व क्या किसी परम्परा का पता चलता है? हाँ, सिन्धुघाटी के मुहेंजोदड़ो हड़प्पा आदि स्थानों की खुदाई से जो भग्नावशेष मिले हैं वे वैदिक आर्यों से पूर्वक तथा सम्भवतः उनसे अधिक प्राचीन सभ्यता की सूचना देते हैं। इन अवशेषों में बहुत से मुद्रालेख भी हैं, किन्तु उन्हें निश्चित रूप से पढ़ने व समझने की कोई कुंजी अभी तक हाथ नहीं लगी। तथापि अन्य अवशिष्टों से उस प्राचीन सभ्यता की शैतिक व सामाजिक रीति-नीति का कुछ अनुमान लगाया गया है। प्रकृत विषय के लिए विशेष उपयोगी एक दो मूर्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—एक नग्न मस्तकहीन मूर्ति जो लोहानीपुर (बिहार) से प्राप्त प्राचीनतम जैन मूर्ति

से मेल खाती है, और दूसरी एक मुहर पर की ध्यानरथ आसीन मूर्ति जिसके मस्तक पर शैव त्रिशूल व जैन त्रिरत्न के समान त्रिशूलात्मक मुकुट है व आस-पास कुछ पशुओं की आकृतियाँ हैं। जब हम एक ओर आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के नग्नत्व, जटा, कैलास पर तप, वृषभ चिह्न, जीवरक्षा आदि लक्षणों पर, और दूसरी ओर महादेव या पशुपतिनाथ की इन्हीं विशेषताओं पर दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों देवताओं का विकास उक्त सिन्धुघाटी के प्रतीकों पर से हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। इसकी ऋग्वेद के अनेक वाक्यों से भी पुष्टि होती है। 'विधा ब्रह्मो वृषभो जेरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश' (४।५।२), 'अहंन् इदं दयसे विश्वमम्बं न या ओजीरो रुद्र त्वदस्ति' (२।३।१०) आदि ऋग्वचनों में वृषभ और महादेव, अहंन् और रुद्र तथा विश्वभूत दयालुता का एक ही देवता के सम्बोधन में प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार जहाँ तक पूर्वकाल में इतिहास की दृष्टि जाती है वहाँ तक बराबर श्रमण और वैदिक परम्परा के स्रोत दृष्टिगोचर होते हैं।

उस प्राकान काल से लेकर ईसवी पूर्व ५२७ में अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण तक जो तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, नारायणों व प्रतिनारायणों का विवरण जैन पुराणों में पाया जाता है उसका भी वैदिक पुराण-परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। तीर्थंकरों में ऋषभ के अतिरिक्त नभि व नेमि, चक्रवर्तियों में भरत और सगर, बलदेवों में राम और बलदेव, नारायणों में लक्ष्मण और कृष्ण तथा प्रतिनारायणों में रावण व कंस एवं अज्ञेय का ऐतिहासिक पुरुषार्थ की तुलनात्मक रीति से अध्ययन करने योग्य है। इसमें जो साम्य है वह भारतीय एकत्व की धारा का बोधक है, और जो वैषम्य है वह उक्त दोनों उपधाराओं के अपने-अपने वैशिष्ट्य का छोटक होसे हुए भारतीय संस्कृति की समृद्धि का बोध कराता है। जो इस मर्म को न समझकर या जान-बूझकर दोनों में विरोध की भावना से संघर्ष उत्पन्न करते हैं, वे मथार्यतः राष्ट्र के शत्रु हैं।

इस दृष्टि से प्रस्तुत महापुराण एक बड़ी महत्वपूर्ण रचना है। यद्यपि इसका निर्माण आठवीं-नवीं शती में हुआ है, तथापि इसमें प्राचीनतम समस्त पौराणिक परम्पराओं का समावेश मिलता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के जीवन-चरित्र के साथ-साथ उनके समकालीन वैशाली के राजा चेटक, मगधनरेश श्रेणिक (त्रिम्बिसार) आदि पुरुषों के उल्लेख (पर्व ७५) ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं। महावीर निर्वाण से एक हजार वर्ष पश्चात् हुए चतुर्भुज कल्कि का यहाँ जो परिचय दिया गया है उस पर से का० बा० पाठक ने उसे हूण नरेश मिहिरकुल से अभिन्न ठहराने का प्रयत्न किया है (भंडारकर कमेमोरेटिव एसेज, पूना, १९१७)।

पुराणों की यह भी एक विशेषता है कि वे अपने काल के ज्ञान-कोश हुआ करते हैं और उनमें इतिहास के अतिरिक्त सामाजिक व धार्मिक बातों का विशेष रूप से समावेश पाया जाता है। प्रस्तुत महा-पुराण इस दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा के पुराणों तथा धर्मशास्त्रों में मनुष्य समाज का वर्णों में वर्गीकरण और उनके पृथक्-पृथक् विशेष आचारों का वर्णन एवं प्रत्येक व्यक्ति के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त धार्मिक संस्कारों एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में जीवन के उत्थान व विकास का क्रम दिखलाया गया है, उसी प्रकार प्रस्तुत महापुराण में भी पाया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि पुराण का यह अंश पूर्वोक्त परम्परा से प्रभावित है। यदि ऐसा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि इतिहासासीत काल से वैदिक व श्रमण परम्पराएँ क्षेत्र और काल की दृष्टि से साथ-साथ विकसित होती चली आयी हैं, और दोनों परम्पराओं में लोक-जीवन व सामाजिक व्यवस्था की एक-सी समस्याएँ रही हैं। दोनों परम्पराओं के अपने-अपने वैशिष्ट्य का प्रभाव परस्पर हुआ है, यह स्पष्ट दिखाई देता है। कहाँ है अब वह वैदिक परम्परा का यज्ञात्मक क्रियाकाण्ड व वर्णाश्रम की कठोर व्यवस्थाएँ? क्या श्रमण परम्परा का अहिंसा सिद्धान्त व जीवमात्र में समान रूप से परमात्मत्व की दृष्टि से एकरूपता की मान्यता उक्त परिवर्तनमें कारणीभूत नहीं हुई? धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष में जैन धर्म ने कभी कोई ढिलाई व समझौते की नीति को नहीं अपनाया। किन्तु सामाजिक आचरण पर जैन धर्म ने कभी कोई कठोर नियंत्रण नहीं लगाया, सिवाय इसके

कि उस आचरण से हमारी मूल धार्मिक आस्था एवं सच्चरित्र की नींव को कोई क्षति न पहुँचे। इस बात का एक जैनाचार्य ने बहुत स्पष्टता से कह दिया है कि "सर्व एष हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतकूषणम् ॥" अर्थात् लोक प्रचलित वे सभी व्यवहार जैनियों को प्रमाण रूप से मान्य हैं जिनसे उनके सम्यक्त्व अर्थात् जड़ और चेतन के मौलिक भेद की मान्यता को हानि नहीं पहुँचती, तथा अहिंसादि व्रतों में दूषण उत्पन्न नहीं होता। जिन लोकाचारों में अपनी धार्मिक दृष्टि से कोई दोष दिखाई दे, अहिंसादि व्रतों में दूषण उत्पन्न नहीं होता। जिन लोकाचारों में अपनी धार्मिक दृष्टि से कोई दोष दिखाई दे, उन्हें सुधार कर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए। इस प्रकार जैनाचार्यों ने जैन धर्म के अनुयायियों के लिए एक महान् आदर्श उपस्थित कर दिया है कि अपने मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कभी मत झुको, तथा सामान्य लौकिक व्यवहारों में कोई अड़गल मत रखो। रहो समाज के साथ, किन्तु अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता की मूल खोजों। बस, अन्य परम्पराओं से मेल व बेमेल की बातों को हमें इसी कसौटी पर कसकर देखना और समझना चाहिए। एक बात और है। वर्णों, आश्रमों व संस्कारों के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उनका मौलिक ढाँचा वैयक्तिक, कुटुम्बिक तथा सामाजिक रीतियों और प्रथाओं पर आधारित है। उनमें धार्मिक क्रियाओं का समावेश कर उन्हें स्थिरता और पवित्रता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ, जन्म या विवाह सभी कुटुम्बों में सार्वत्रिक और सार्वकालिक हैं, और उन अवसरों पर कुछ सामाजिक उत्सव, अर्थात् अनेक प्रकार के प्रदान-प्रत्यक्ष हैं। धर्म ने इन सुप्रचलित उत्सवों को अपनी गोद में लेकर उन पर एक विशेष रंग चढ़ा दिया। यह कार्य उनके मनाने वालों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार किया और उन्हें अपने धर्म का अंग बना लिया।

प्राचीन प्रतियों के पाठभेद सावधानीपूर्वक अंकित करना आधुनिक सम्पादन-प्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टि से महापुराण का प्रस्तुत संस्करण बहुत उपयोगी है। इसके लिए विद्वान् सम्पादक ने १२ प्रतियों का उपयोग किया है व उनके पाठभेद लिये हैं। कुछ पाठभेद बड़े बहुमूल्य पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पाँचवें पर्व में ४१वें पद्य के आगे दिल्ली वाली प्रति में चार अधिक पद्य हैं, जिनमें बौद्ध सिद्धान्त सम्मत पंचस्कन्धों, द्वादश आयतनों, समुदाय, क्षणिकत्व व मोक्ष का उल्लेख पाया जाता है। इन्हें पं० लालाराम जी शास्त्री ने अपने मुद्रित व अनुवादित संस्करण में प्रथम अर्ध पद्यांश छोड़कर समाविष्ट किया है। किन्तु ये पद्य न तो भूबिंद्री सरस्वती भण्डार की उपलब्ध प्राचीनतम ताडपत्रीय कन्नड लिपिवाली प्रति में पाये जाते हैं और न अन्य किसी प्रति में। इससे सिद्ध होता है कि उक्त पद्य किसी पाठक व टिप्पणकार द्वारा सम्भवतः हासिये में लिखे गये होंगे और फिर मूल पाठ में प्रविष्ट हो गये।

अन्त में हम पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के बहुत कृतज्ञ हैं जिन्होंने महापुराण का यह बहुमूल्य संस्करण व उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। भारतीय ज्ञानपीठ का अधिकांश वर्ग भी अभिनन्दनीय है जो उन्होंने साहित्य की इस महानिधि का यह प्रकाशन बड़ी तत्परता से करके साहित्यिकों व स्वाध्याय-प्रेमियों का उपकार किया है।

—हीरालाल जैन

—आ. ने. उपाध्ये

(ग्रन्थमाला सम्पादक)

वि. संवत् २०७७

प्रास्ताविक

[प्रथम संस्करण से]

भारतीय ज्ञानपीठ का उद्देश्य दो भागों में विभाजित है : १. ज्ञान की विलुप्त अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन, २. लोकहितकारी मौखिक साहित्य का निर्माण । इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कमशः ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला और ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला प्रकाशित हो रही है । ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला भद्रदृष्टि साहू शान्तिप्रसादजी की स्व० माता मूर्तिदेवी के स्मरणार्थ उनकी अन्तिम अभिलाषा की पूर्तिनिमित्त स्थापित की गयी है और इसके संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि विभागों द्वारा अब तक नौ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । अनेक ग्रन्थों का सम्पादन हो रहा है, अनेकों मुद्रणाधीन हैं ।^१

प्रस्तुत संस्करण की विशेषता

यद्यपि आदिपुराण का एक संस्करण इत.पूर्व प० लालारामजी शास्त्री के अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है पर इस संस्करण की कई विशेषताओं में प्रमुख विशेषता है बारह प्राचीन प्रतियों के आधार से पाठ-शोधन की । पुराने ग्रन्थों में अनेक श्लोक टिप्पणी के तौर पर लिखे हुए भी कुछ प्रतियों में मूल में शामिल हो जाते हैं और इससे ग्रन्थकारों के समय-निर्णय आदि में अनेक भ्रान्तियाँ आ जाती हैं । उदाहरणार्थ—

“दुःखं संसारिणः स्कन्धाः ते च पञ्च प्रकीर्तिताः । विसर्गं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥४२॥

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् । धर्माद्यतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥४३॥

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः । स चात्मात्मीयभावाख्यः समुदायसमाहितः ॥४४॥

अणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना मता । सत्सर्गं इह विज्ञेयो निरोधो मोक्षउच्यते ॥४५॥”

ये श्लोक पाँचवें पर्व के हैं । ये दिल्ली की प्रति में पाये जाते हैं । मुद्रित प्रति में ‘दुःखं संसारिणः स्कन्धाः ते च पञ्च प्रकीर्तिताः’ इस आधे श्लोक को छोड़कर शेष ३॥ श्लोक ४२ से ४५ नम्बर पर मुद्रित हैं । बाकी त०, व०, प०, म०, स०, अ०, ट० आदि सभी ताडपत्रीय और कागज की प्रतियों में ये श्लोक नहीं पाये जाते ।

मैंने न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग की प्रस्तावना (पृष्ठ ३८) में हरिभद्रसूरि और प्रभाचन्द्र की तुलना करते हुए यह लिखा था कि—“ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चय के बौद्धदर्शन में मौजूद हैं । इसी आनुपूर्वी से ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेद के साथ जिनसेन के आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२-४५) में भी विद्यमान हैं । रचना से तो शक्य होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्य ने बनाये होंगे और उसी बौद्ध ग्रन्थ से षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराण में पहुँचे होंगे । हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्र के होकर आदिपुराण में आये हैं तो इसे उस समय के असाम्प्रदायिक भाव की महत्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए” परन्तु इस सुसंपादित संस्करण से तो वह आधार ही समाप्त हो जाता है और स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये श्लोक किसी प्रतिलेखक ने टिप्पणी के तौर पर हाशिया में लिखे होंगे और वे कालक्रम से मूल प्रति में शामिल हो गये । इस दृष्टि से प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियों से प्रत्येक ग्रन्थ का मिलान करना नितान्त आवश्यक सिद्ध हो जाता है । इसी तरह पर्व १६ श्लोक १८६ से आगे निम्नलिखित श्लोक ८० प्रति में और लिखे मिलते हैं—

सालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलन्तुवः । नापितस्वेति पञ्चामी भवन्ति स्पृशकाश्काः ॥

रत्नकस्तक्षकरश्चैवायस्कारो लोहकारकः । स्वर्णकारश्च पञ्चमे भवन्त्यस्पृशकाश्काः ॥”

१. प्रस्तुत ग्रन्थ के इस संस्करण के प्रकाशन के समय तक इस ग्रन्थमाला में लगभग सवा सौ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—प्रकाशक

ये श्लोक स्पष्टतः किसी अन्य ग्रन्थ से टिप्पणी आदि में लिखे गये होंगे, क्योंकि जैन परम्परा से इनका कोई मेल नहीं है। मराठी टीका सहित मुद्रित महापुराण में यह दोनों श्लोक मराठी अनुवाद के साथ लिखे हुए हैं। इसी तरह सम्भव है कि इसका पहले का शूद्रों के स्पृश्य और अस्पृश्य भेद बताने वाला यह श्लोक भी किसी समय प्रतियों में शामिल हो गया हो—

“कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।

तत्रास्पृश्याः प्रजावाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥१८६॥”

मार्कण्डेय :- अथार्थं स्मृतिः प्रजावाह्याः जैन धर्मग्रन्थ

क्योंकि इस प्रकार के विचारों का जैनसंस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रस्तावना

ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक ने प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री के अनुसार पर्याप्त ऊहापोह किया है। ग्रन्थ के आन्तर रहस्य का आलोकन करके उन्होंने जो वर्णव्यवस्था और सज्जातिरूप आदि के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किये हैं वे सर्वथा मौलिक और उनके अध्ययन के सहज परिणाम हैं। स्मृतियों आदि की तुलना करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि जैन संस्कृति वर्णव्यवस्था 'जन्मना' नहीं मानती; किन्तु गुण कर्म के अनुसार मानती है। प्रसंगतः उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा की भी चर्चा की है। उस सम्बन्ध में ये विचार भी ज्ञातव्य हैं :

संस्कृत-प्राकृत

प्राकृत भाषा जनता की बोलचाल की भाषा थी और संस्कृत भाषा व्याकरण के नियमों से बँधी हुई, संस्कारित, समझाई हुई, वर्ग विशेष की भाषा। जैन तीर्थंकरों के उपदेश जिस 'अर्धमागधी' भाषा में होते थे वह मगध देश की ही जनबोली थी। उसमें आधे शब्द मगधदेश की बोली के थे और आधे शब्द सर्व देशों की बोलियों के। तीर्थंकरों को जन-जन तक अपने धर्म-सन्देश पहुँचाने थे अतः उन्होंने जनबोली को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाया था।

जब संस्कृत व्याकरण की तरह 'प्राकृत व्याकरण' भी बनने की आवश्यकता हुई, तब स्वभावतः संस्कृत व्याकरण के प्रकृति प्रत्यय के अनुसार ही उसकी रचना होनी थी। इसीलिए प्रायः प्राकृत व्याकरणों में 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतम्' अर्थात् संस्कृत शब्द प्रकृति है और उससे निष्पन्न हुआ शब्द प्राकृत यह उल्लेख मिलता है। संस्कृत के 'घट' शब्द को ही प्रकृति मानकर प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के अनुसार प्राकृत 'षट्' शब्द बनाया जाता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि पहले संस्कृत थी फिर वही अपभ्रष्ट होकर प्राकृत बनी। वस्तुतः जनबोली प्राकृत-मागधी ही रही है और संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार अनुशासनबद्ध होकर 'संस्कृत' रूप को प्राप्त हुई है, जैसा कि आजड और नमिसाधु के व्याख्यानों से स्पष्ट है।

नमिसाधु ने रघटकृत काव्यालंकार की व्याख्या में बहुत स्पष्ट और समुचित लिखा है कि—“प्राकृत सकल प्राणियों की सहज वचन प्रणाली है। वह प्रकृति है और उससे होने वाली या वही भाषा प्राकृत है। इसमें व्याकरण आदि का अनुशासन और संस्कार नहीं रहता। आर्य वचनों में अर्धमागधी बाणी होती है। जो प्राक् पहले की गयी वह प्राक्कृत प्राकृत है। बालक, स्त्रियाँ आदि भी जिसे सहज ही समझ सकें और जिससे अन्य समस्त भाषाएँ निकली हैं वह है प्राकृत भाषा। यह भेष से बरसे हुए जल की तरह एक रूप होकर भी विभिन्न देशों में और भिन्न संस्कारों के कारण संस्कृत आदि उत्तर भेदों को प्राप्त होती है। इसीलिए शास्त्रकार ने पहले प्राकृत और बाद में संस्कृत आदि का वर्णन किया है। पाणिनि व्याकरण आदि व्याकरणों से

संस्कार को प्राप्त होकर वह संस्कृत कही जाती है।”

सरस्वतीकंठाभरण की आजडकृत व्याख्या में आजड ने भी ये ही भाव व्यक्त किये हैं।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आ० भान्तर्हित ने अपनी वादन्याय टीका (पृ० १०३) में लोकभाषा के अर्थ-वाचकत्व का समुचित समर्थन किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ में बहुत विस्तार से यह सिद्ध किया है कि प्राकृत स्वाभाविक जनबोली है। उसी का व्याकरण से संस्कार होकर ‘संस्कृत’ रूप बना है। उन्होंने ‘प्रकृतेर्भव प्राकृतम्’ पक्ष का खंडन बड़ी प्रखरता से किया है। वे लिखते हैं कि “वह ‘प्रकृति’ क्या है जिससे उत्पन्न को प्राकृत कहा जाता है। स्वभाव, धातुगण या संस्कृत शब्द? स्वभाव पक्ष में तो प्राकृत ही स्वाभाविक ठहरती है। धातुगण से संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत शब्द भी बनते हैं। संस्कृत शब्दों को प्रकृति कहना निरान्त अनुचित है, क्योंकि वह संस्कार है, विकार है। मौजूदा वस्तु में किसी विशेषता का लाना संस्कार कहलाता है, वह तो विकाररूप है, अतः उसे प्रकृति कहना अनुचित है। संस्कृत आदिभान् है और प्राकृत अनादि है।”

अतः ‘प्राकृत भाषा संस्कृत से निकली है’ यह कल्पना ही निर्मूल है। ‘संस्कृत’ नाम स्वयं अपनी संस्कारिता और पीछेपन को सूचित करता है। प्राकृतव्याकरण अवश्य संस्कृत व्याकरण के बाद बना है। क्योंकि पहले प्राकृत बोली को व्याकरण के नियमों की आवश्यकता ही नहीं थी। संस्कृतयुग के बाद उसके व्याकरण की आवश्यकता पड़ी। इसीलिए प्राकृत व्याकरण के रचयिताओं ने ‘प्रकृति-संस्कृतम्’ लिखा, क्योंकि उन्होंने संस्कृत शब्दों को प्रकृति मानकर फिर प्रत्यय लगाकर प्राकृत शब्द बनाये हैं।

पुराणों का उद्गम

तीर्थंकर आदि के जीवनो के कुछ मुख्य तथ्यों का संग्रह स्थानांगसूत्र में मिलता है, जिसके आधार से आ० हेमचन्द्र आदि ने त्रिषष्टिमहापुराण आदि की रचनाएँ कीं। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि के चरित्र के तथ्यों का प्राचीन संकलन हमें प्राकृत भाषा के तिलोपपण्णत्ति ग्रन्थ में मिलता है। इसके चौथे महाधिकार में, तीर्थंकर किस स्वर्ग से उल कर आये, नगरी और माता-पिता का नाम, जन्मतिथि, नक्षत्र, वंश, तीर्थंकरों का अन्तराल, आधु, कुमारकाल, शरीर की ऊँचाई, वर्ण, राज्यकाल, वैराग्य का निमित्त, चिह्न, दीक्षातिथि, नक्षत्र, दीक्षा वन, दीक्षा वृक्ष, षष्ठ आदि प्राथमिक तप, दीक्षा परिवार, पारणा, कुमारकाल में दीक्षा ली या राज्यकाल में, वान में पंचाश्वर्य होना, छद्मस्थ काल, केवलज्ञान की तिथि, नक्षत्र स्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति का अन्तरकाल, केवलज्ञान होने पर अन्तरीक्ष हो जाना, केवलज्ञान के समय इन्द्रादि के कार्य, समवसरण का संगोपांग वर्णन, किस तीर्थंकर का समवसरण कितना बड़ा था, समवसरण में कौन नहीं जाते,

१. “प्राकृतेति-सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणावेरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं संब वा प्राकृतम्। ‘आरितवयणे सिद्धं वेदानं अद्धमगाहा वागो’ इत्यादिवचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बाल-महिलाविसृबीधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। भेधनिर्मुक्तजलमिवैक-स्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समालादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदा-नाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्विष्टं तदनु संस्कृतादीनि पाणिन्यादिव्याकरणोदित-शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।”
—काव्यालंकार टी० २।१२

२. “तत्र सकलबालगोपालाङ्गनाद्वयसंवादी निखिलजगज्जन्तूनां शब्दशास्त्राकृतविशेषसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः समस्तेतरभाषाविशेषाणां मूलकारणत्वात् प्रकृतिरिव प्रकृतिः। तत्र भवा संब वा प्राकृता। सा पुनर्भेधनिर्मुक्तजलपरम्परेव एकरूपापि तत्तद्देशादिविशेषात् संस्कारकरणाच्च भेदान्तरानाप्नोति। अत इयमेव शूरसेनवास्तव्यजनता किंचिदापितविशेषलक्षणा भाषा शूरसेनो भण्यते।”

(भारतीय विद्या निबन्धसंग्रह, पृ० २३२)

३. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७६४

अतिशय, केवलज्ञान के वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, यक्ष, यक्षी, केवलकाल, गणधरसंख्या, ऋषिसंख्या, पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी, विक्रियाप्रवृद्धिधारी, वादी आदि की संख्या, आर्यिकाओं की संख्या, प्रमुख आर्यिकाओं के नाम, श्रावकराख्या, श्राविकासंख्या, निर्वाण की तिथि, नक्षत्र, स्थान का नाम, अकेले निर्वाण गये या मुनियों के साथ, कितने दिन पहले योग निरोध किया, किस आसन से मोक्ष पाया, अनुबद्धकेवली, उन शिष्यों की संख्या जो अनुत्तर विमान गये, मोक्षगामी मुनियों की संख्या, स्वर्गगामी शिष्यों की संख्या, तीर्थंकरों के मोक्ष का अन्तर, तीर्थप्रवर्तन कार्य आदि प्रमुख तथ्यों का विधिवत् संग्रह है। इसी तरह चक्रवर्तियों के माता-पिता, नगर, शरीर का रंग आदि के साथ-ही-साथ दिग्विजय यात्रा के मार्ग, नगर, नदियों आदि का सविस्तार वर्णन मिलता है। ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण, ६ बलभद्र तथा ११ रुद्रों के जीवन के प्रमुख तथ्य भी इसी में संगृहीत हैं। इन्हीं के आधार से विभिन्न पुराणकारों ने अपनी लेखनी के बल पर छोटे-बड़े अनेक पुराणों की रचना की है।

महापुराण

प्रस्तुत ग्रन्थ महापुराण जैन पुराणशास्त्रों में मुकुटमणिरूप है। इसका दूसरा नाम 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रह' भी है। इसमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ नारायण, ६ प्रतिनारायण और ६ बलभद्र इन तिरसठ धलाकापुरुषों का जीवन संगृहीत है।

इसकी काव्यछटा, अलंकारगुम्फन, प्रसाद, ओज और माधुर्य का अपूर्व सुमेल, शब्दचातुरी और बन्ध अपने ढंग के अनोखे हैं। भारतीय साहित्य के कोषागार में जो इने-गिने महान् ग्रन्थरत्न हैं उनमें स्वामी जिनसेन की यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। काव्य की दृष्टि से इसका जो अद्वितीय स्थान है वह तो है ही, साथ ही इसका सांस्कृतिक अर्थ और आदर्शप्रवर्धक इतिहास में विशिष्ट उपयोग है।

ग्रन्थ की प्रकृति

स्वामी जिनसेन के युग में दक्षिण देश में ब्राह्मणधर्म और जैन धर्म का जो भीषण संघर्ष रहा है वह इतिहास सिद्ध है। आ० जिनसेन ने भ० महावीर की उदारतम संस्कृति को न भूलते हुए ब्राह्मण-क्रियाकाण्ड के जैनीकरण का सामयिक प्रयास किया था।

यह तो मानी हुई बात है कि कोई भी ग्रन्थकार अपने युग के वातावरण से अप्रभावित नहीं रह सकता। उसे जो विचारधारा परम्परा से मिली है उसका प्रतिबिम्ब उसके रचित साहित्य में आये बिना नहीं रह सकता। साहित्य युग का प्रतिबिम्ब है। प्रस्तुत महापुराण भी इसका अपवाद नहीं है। मनुस्मृति में गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त की जिन गर्भाधानादि क्रियाओं का वर्णन मिलता है, आदिपुराण में करीब-करीब उन्हीं क्रियाओं का जैनसंस्करण हुआ है। विशेषता यह है कि मनुस्मृति में जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए जुदे-जुदे रंग के कपड़े, छोटे-बड़े दण्ड, भिक्षा के समय भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि, देहि भिक्षां भवति, आदि विषम प्रकार बताये हैं वहाँ आदिपुराण में यह विषमता नहीं है। हाँ, एक जगह राजपुत्रों के द्वारा सर्वसामान्य स्थानों से भिक्षा न माँगवाकर अपने अन्तःपुर से ही भिक्षा माँगने की बात कही गयी है। आदिपुराणकार ने ब्राह्मणवर्ण का जैनीकरण किया है। उन्होंने ब्राह्मणत्व का आधार 'व्रतसंस्कार' माना है। जिस व्यक्ति ने भी अहिंसा आदि व्रतों को धारण कर लिया वह ब्राह्मण हुआ। उसे श्रावक की प्रतिमाओं के अनुसार 'व्रतचिह्न' के रूप में उतने यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। ब्राह्मण वर्ण की रचना की जो अंकुरवासी घटना इसमें आयी है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधार केवल 'व्रतसंस्कार' था। महाराज ऋषभदेव के द्वारा स्थापित क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में जो व्रतधारी थे और जिनने जीवरक्षा की भावना से हरे अंकुरों को कुचलते हुए जाना अनुचित समझा उन्हें भरत चक्रवर्ती ने 'ब्राह्मण' वर्ण का बनाया तथा उन्हें दान आदि देकर सम्मानित किया। इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, मंधम और तप इन छह बातों को उनका कुलधर्म बताया। जिनपूजा को इज्या कहते हैं। विशुद्ध वृत्ति से खेती आदि करना वार्ता है। दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और

अन्वयदत्ति ये चार प्रकार की दत्ति अर्थात् दान हैं । स्वाध्याय, उपवास आदि तप और व्रतधारण रूप संयम ये ब्राह्मणों के कुलधर्म हैं ।

भरत चक्रवर्ती ने तप और श्रुत को ही ब्राह्मणजाति का मुख्य संस्कार बताया । भागे गर्भ से उत्पन्न होने वाली उनकी सन्तान नाम से ब्राह्मण भले ही हो जाये पर जब तक उसमें तप और श्रुत नहीं होगा तब तक वह सच्चा ब्राह्मण नहीं कही जा सकती । इसके बाद चक्रवर्ती ने उन्हें गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया और कर्त्रन्वयक्रियाओं का विस्तार से उपदेश दिया और बताया कि इन द्विजन्मा अर्थात् ब्राह्मणों को इन गर्भाधान आदि निर्वाणपर्यन्त गर्भान्वयक्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए । इसके बाद अवतार आदि निर्वाणपर्यन्त ४८ दीक्षान्वय क्रियाएँ बतायीं । व्रतधारण करना दीक्षा कहलाती है और इस दीक्षा के लिए होने वाली क्रियाएँ दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं । दीक्षा लेने के लिए अर्थात् व्रतधारण करने के लिए जो जीव की तैयारी होती है वह दीक्षावतार^१ क्रिया है । कोई भी मिथ्यात्व से दूषित भय्य जब सन्मार्ग ग्रहण करना चाहता है अर्थात् कोई भी अर्जुन जब जैन बनना चाहता है तब वह किसी योगीन्द्र या गृहस्थाचार्य के पास जाकर प्रार्थना करता है कि 'हे महाप्राज्ञ, मुझे निर्दोष धर्म का उपदेश दीजिए । मैंने सब अन्य मर्तों को निःसार समझ लिया है । वेदवाक्य भी सदाचारपोषक नहीं है ।' तब गृहस्थाचार्य उस अर्जुन भय्य को आप्त श्रुत आदिका स्वरूप समझाता है और बताता है कि वेद-पुराण, स्मृति-चारित्र्य, क्रिया-मन्त्र-देवता, लिंग और आहारादि शुद्धियाँ जहाँ वास्तविक और तात्त्विक दृष्टि से बतायी हैं वही सच्चा धर्म है । द्वादशांगश्रुत ही सच्चा वेद है, यज्ञादि हिंसा का पोषण करनेवाले वाक्य वेद नहीं हो सकते । इसी तरह अहिंसा का विधान करनेवाले ही पुराण और धर्मशास्त्र कहे जा सकते हैं, जिनमें वध, हिंसा का उपदेश है वे सब घूतों के वचन हैं । अहिंसापूर्वक षट्कर्म ही आर्यवृत्त है और अन्य मतावलम्बियों के द्वारा बताया गया चातुराश्वधर्म असन्मार्ग है । गर्भाधानादि निर्वाणान्त क्रियाएँ ही सच्ची क्रियाएँ हैं, गर्भादि धमणान्त क्रियाएँ सच्ची नहीं हैं । जो गर्भाधानादि निर्वाणान्त सम्यक् क्रियाओं में उपयुक्त होते हैं वे ही सच्चे मन्त्र हैं, हिंसावि पापकर्मों के लिए बोले जाने वाले मन्त्र दुर्मन्त्र हैं । विश्वेश्वर आदि देवता ही शान्ति के कारण हैं, अन्य मांसवृत्ति वाले क्रूर देवता हेय हैं । दिगम्बर लिंग ही मोक्ष का साधन हो सकता है, मृगधर्म आदि धारण करना कुलिंग है । मांसरहित भोजन ही आहारशुद्धि है । अहिंसा ही एक मात्र शुद्धि का आधार हो सकता है, जहाँ हिंसा है वहाँ शुद्धि कैसी ? इस तरह गुरु से सन्मार्ग को सुनकर वह भय्य जब सन्मार्ग को धारण करने के लिए तत्पर होता है तब दीक्षावतार क्रिया होती है ।

इसके बाद अहिंसादि व्रतों का धारण करना वृत्तलाभ क्रिया है । तदनन्तर उपवासादिपूर्वक जिन-पूजा विधि से उसे जिनालय में पंचनमस्कार मन्त्र का उपदेश देना स्थानलाभ कहलाता है । स्थानलाभ करने के बाद वह घर जाकर अपने घर में स्थापित मिथ्या देवताओं का विसर्जन करता है और ज्ञान्त देवताओं की पूजा करने का संकल्प करता है । यह गणग्रह क्रिया है । इसके बाद पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दूधव्रत, उपयोगिता आदि क्रियाओं के बाद उपनीति क्रिया होती है जिसमें देवगुरु की साक्षीपूर्वक चारित्र्य और समय के परिपालन की प्रतिज्ञा की जाती है और व्रतचिह्न के रूप में उपवीत धारण किया जाता है । इसकी आजीविका के साधन वही 'आर्यषट्कर्म' रहते हैं । इसके बाद वह अपनी पूर्वपत्नी को भी जैनसंस्कार से दीक्षित करके उसके साथ पुनः विवाह संस्कार करता है । इसके बाद वर्णलाभ क्रिया होती है । इस क्रिया में समान आजीविका वाले अन्य श्रावकों से वह निवेदन करता है कि मैंने सद्धर्म धारण किया, व्रत पाले, पत्नी को जैनविधि से संस्कृत कर उससे पुनः विवाह किया । मैंने गुरु की कृपा से 'अयोनिःसम्भव जन्म' अर्थात् माता-पिता के संयोग के बिना ही यह चारित्र्यभूलक जन्म प्राप्त किया है । अब आप सब हमारे ऊपर अनुग्रह करें । तब वे श्रावक उसे अपने वर्ग में मिला लेते हैं और संकल्प करते हैं कि तुम-जैसा द्विज—ब्राह्मण हमें कहाँ मिलेगा ? तुम-जैसे शुद्ध द्विज के न मिलने से हम सब

समान आजीविका वाले मिथ्यादृष्टियों से भी सम्बन्ध करते आये हैं। अब तुम्हारे साथ हमारा सम्बन्ध होगा। यह कहकर उसे अपने समक्ष बना लेते हैं। यह वर्णलाभ क्रिया है।

इसके बाद आर्यषट्कर्म से जीविका करना उसकी कुलचर्या क्रिया है। धीरे-धीरे व्रत, अध्ययन आदि से पुष्ट होकर वह प्रायश्चित्त-विधान आदि का विशिष्ट जानकार होकर गृहस्थाचार्य के पद को प्राप्त करता है, यह गृहीशिता क्रिया है। फिर प्रशान्तता, गृहत्याग, दीक्षा और जिनदीक्षा ये क्रियाएँ होती हैं। इस तरह ये दीक्षान्वय क्रियाएँ हैं।

इन दीक्षान्वय क्रियाओं में किसी भी मिथ्यात्वो भव्य को अहिंसादि व्रतों के संस्कार से द्विज-ब्राह्मण बनाया है और उसे उसी शरीर से मुनिदीक्षा तक का विधान किया है। इसमें कहीं भी यह नहीं लिखा कि उसका जन्म या शरीर कैसा होना चाहिए? यह अजैनों को जैन बनाता और उसे व्रत-संस्कार से ब्राह्मण बनाने की विधि सिद्ध करती है कि जैन परम्परा में वर्णलाभ-क्रिया गुण और कर्म के अनुसार है, जन्म के अनुसार नहीं। इसकी एक ही शर्त है कि उसे भव्य होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति सन्मार्ग के ग्रहण की होनी चाहिए। इतना ही जैन दीक्षा के लिए पर्याप्त है। वह हिंसादि पाप, वेद आदि हिंसा विधायक श्रुत और क्रूर मांसवृत्तिक देवताओं की उपासना छोड़कर जैन बन सकता है, जैन ही नहीं ब्राह्मण तक बन जाता है और उसी जन्म से जैन परम्परा की सर्वोत्कृष्ट मुनिदीक्षा तक से लेता है। यह गुण कर्म के अनुसार होने वाली वर्णलाभ क्रिया मनुष्य मात्र को समस्त समान धर्माधिकार देती है।

अब जरा कर्त्रन्वय क्रियाओं को देखिए—कर्त्रन्वय क्रियाएँ पुण्यकार्य करने वाले जीवों को सन्मार्ग आराधना के फलस्वरूप से प्राप्त होती हैं। वे हैं—सज्जातित्व, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, परमार्हन्त्य और परिनिर्वाण। ये सात परमस्थान जैन धर्म के धारण करने वाले आसन्न भव्य को प्राप्त होते हैं।

सज्जातित्व की प्राप्ति आसन्नभव्य को मनुष्य-जन्म के लाभ से होती है। वह ऐसे कुल में जन्म लेता है जिसमें दीक्षा की परम्परा चलती आयी है। पिता और माता का कुल और जाति शुद्ध होती है अर्थात् उसमें अभिचार आदि दोष नहीं होते, दोनों में सदाचार का वर्तन रहता है। इसके कारण सहज ही उसके विकास के साधन जुट जाते हैं। यह सज्जन्म आर्यावर्त में विशेष रूप से सुलभ है। अर्थात् यहाँ के कुटुम्बों में सदाचार की परम्परा रहती है। दूसरी सज्जाति संस्कार के द्वारा प्राप्त होती है। वह धर्मसंस्कार व्रतसंस्कार को प्राप्त होकर मन्त्रपूर्वक व्रतबिह्व को धारण करता है। इस तरह विभा योगिजन्म के सद्गुणों के धारण करने से वह सज्जातिभाक् होता है। सज्जातित्व को प्राप्त करके वह आर्यषट्कर्मों का पालन करता हुआ सद्गृही होता है। वह गृहस्थचर्या का आचरण करता हुआ ब्रह्मचर्यत्व को धारण करता है। वह पृथ्वी पर रहकर भी पृथ्वी के दोषों से परे होता है। और अपने में दिव्य ब्राह्मणत्व का अनुभव करता है। अब कोई अजैन ब्राह्मण उनसे यह कहे कि तू तो अमुक का लड़का है, अमुक वंश में उत्पन्न हुआ है, अब कौन ऐसी विशेषता आ गयी है जिससे तू ऊँची नाक करके अपने को देव-ब्राह्मण कहता है? तब वह उनसे कहे कि मैं जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञानगर्भ से संस्कारजन्म लेकर उत्पन्न हुआ हूँ। हम जिनोक्त अहिंसामार्ग के अनुयायी हैं। आप लोग पापसूत्र का अनुगमन करने वाले हो और पृथ्वी पर कण्टकरूप हो। शरीरजन्म और संस्कारजन्म ये दो प्रकार के जन्म होते हैं। इसी तरह मरण भी शरीरमरण और संस्कारमरण के भेद से दो प्रकार का है। हमने मिथ्यात्व को छोड़कर संस्कारजन्म पाया है अतः हम देवद्विज हैं। इस तरह अपने में गुरुत्व का अनुभव करता हुआ, सद्गृहित्व को प्राप्त करता है। जैन-द्विज विशुद्ध वृत्तिवाले हैं, वे वर्णोत्तम हैं। 'जब जैन द्विज षट्कर्मोंपजीवी हैं तब उनके भी हिंसा दोष तो लगेगा ही' यह शंका उचित नहीं है; क्योंकि उनके अल्प हिंसा होती है तथा उस दोष की शुद्धि भी शास्त्र में बतायी है। उनकी विशुद्धि पक्ष, चर्या और साधन के भेद से तीन प्रकार की है, मेषी आदि भावनाओं से बिल को भावित कर सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष है। देवता के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए या अन्न आहार के लिए भी हिंसा न करने का संकल्प चर्या है। जीवन के अन्त में देह आहार आदि का त्याग कर ध्यानशुद्धि से आत्ममोघन करना साधन है।

जैन ब्राह्मण को अस्ति, मसि, कृषि और वाणिज्य से उपजीविका करनी चाहिए । (४०।१६७)

उक्त वर्णन का सार यह है :

१. वर्णव्यवस्था राजा ऋषभदेव ने अपनी राज्य-अवस्था में की थी । उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण गुणकर्म के अनुसार आजीविका के आधार से स्थापित किये थे । यह उस समय की समाज-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था थी, धर्म व्यवस्था नहीं ।

जब उन्हें केवलज्ञान हो गया और वे भगवान् आदिनाथ हो गये तब उन्होंने इस समाज या राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई उपदेश नहीं दिया ।

२. भरत चक्रवर्ती ने राज्य-अवस्था में ही इस व्यवस्था में संशोधन किया । उन्होंने इन्हीं तीन वर्णों में से अणुव्रतधारियों का सम्मान करने के विचार से चतुर्थ 'ब्राह्मण' वर्ण की स्थापना की । इसमें 'व्रतसंस्कार' से किसी को भी ब्राह्मण बनने का मार्ग खुला हुआ है ।

३. दीक्षान्वय क्रियाओं में आयी हुई दीक्षा क्रिया मिथ्यात्ववृद्धि भव्य को सन्मार्ग ग्रहण करने के लिए है । इससे किसी भी अर्जन को जैनधर्म की दीक्षा दी जाती है । उसकी शर्त एक ही है कि वह भव्य हो और सन्मार्ग ग्रहण करना चाहता हो ।

४. दीक्षान्वय क्रियाओं में आयी हुई वर्णलाभ क्रिया अर्जन को जैन बनाने के बाद समान आजीविका-वाले वर्ण में विभाजन के लिए है, इससे उन्हें वर्ण दिया जाता है और उस वर्ण के समस्त अधिकार उसे प्राप्त हो जाते हैं ।

५. इन वर्णान्वय आदि क्रियाओं का उपदेश भी भरत चक्रवर्ती ने ही राज्य-अवस्था में दिया है जो एक प्रकार की समाज-व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए था ।

अतः आदिपुराण में वचचित् स्मृतियों से और ब्राह्मण-व्यवस्था से प्रभावित होने पर भी वह सांस्कृतिक तत्व मौजूद है, जो जैन संस्कृति का आधार है । वह है अहिंसा आदि व्रतों अर्थात् सदाचार की मुख्यता का । इसके कारण ही कोई भी व्यक्ति उच्च और श्रेष्ठ कहा जा सकता है । वे उस सैद्धान्तिक बात को कितने स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—

“मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोद्यमोद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद् भेदात् चातुर्विध्यमिहामनुते ॥” (३८।४५)

जाति नामकर्म के उदय से एक ही मनुष्यजाति है । आजीविका के भेद से ही वह ब्राह्मण आदि चार भेदों को प्राप्त हो जाती है ।

आदिपुराण और स्मृतियाँ

आदिपुराण में ब्राह्मणों को दस विशेषाधिकार दिये गये हैं—

१. अस्तिवालविद्या, २. कुलावधि, ३. वर्णोत्तमत्व, ४. पात्रता, ५. सुष्ठ्यधिकारिता, ६. व्यवहारे-शिता, ७. अवध्यत्व, ८. अदण्ड्यत्व, ९. मानार्हता और १०. प्रजासम्बन्धान्तर । (४०।१७५-७६)

इसमें ब्राह्मण की अवध्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

“ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्माभ्यतो वधमर्हति ।” (४०।१८४)

“सर्वः प्राणी न हस्त्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः ।” (४०।१८५)

अर्थात् गुणों का उत्कर्ष होने से ब्राह्मण का वध नहीं होना चाहिए । सभी प्राणी नहीं मारने चाहिए, खासकर ब्राह्मण तो मारा ही नहीं जाना चाहिए ।

उसकी अदण्ड्यता का कारण देते हुए लिखा है—

“परिहार्यं यथा देवगुरुद्वयं हिताग्निभिः ।

ब्रह्मस्वं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥” (४०।२०१)

अर्थात् जैसे हितावियों को देवगुरुद्रव्य ग्रहण नहीं करना चाहिए उसी तरह ब्राह्मण का धन भी । अतः द्विज का दण्ड-कुर्माना नहीं होना चाहिए । इन विशेषाधिकारों पर स्पष्टतया ब्राह्मणयुगीन स्मृतियों की छाप है । शासन-व्यवस्था में अमुक वर्ण के अमुक अधिकार या किसी वर्ण विशेष के विशेषाधिकारों की बात मनुस्मृति आदि में पद-पद पर मिलती है । मनुस्मृति में लिखा है—

“न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रावेनं बहिः कुर्यात् समप्रयत्नमक्षतम् ॥” (८।३८०-८१)
“न ब्राह्मणश्रद्धाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राजा नित्यमिति स्थितिः ॥” (६।१८६)

अर्थात् समस्त पाप करने पर भी ब्राह्मण अवध्य है । उसका द्रव्य राजा को ग्रहण नहीं करना चाहिए ।
आदिपुराण में भी बहिः कुर्यात् समप्रयत्नम् लिखा है—

“शूद्रा शूद्रेण बोद्धव्या नान्या तां स्वां च नेगमः ।
बहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा बवचिष्य ताः ॥” (१६।२४७)

अर्थात् शूद्र को शूद्रकन्या से ही विवाह करना चाहिए, अन्य ब्राह्मण आदि की कन्याओं से नहीं । वैश्य वैश्यकन्या और शूद्रकन्या से, क्षत्रिय क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कन्या से तथा ब्राह्मण ब्राह्मण-कन्या से और कहीं क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है । इसकी तुलना मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक से कीजिए—

“शूद्रेव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विराः स्मृते ।
ते च स्वा वैव राजन्ये सारथ्ये स्वा चाग्रजन्मनः ॥” (३।१३)

याज्ञवल्क्य स्मृति (३।५७) में भी यही क्रम बताया गया है ।
महाभारत अनुशासनपर्व में निम्नलिखित श्लोक आता है—

“तपः श्रुतं च योनिस्त्वाप्येतद् ब्राह्मण्यकारणम् । त्रिभिर्गुणैः समुक्तिः ततो भवति वै द्विजः ॥” (१२।१।७)

पातञ्जल महाभाष्य (२।२।६) में इस श्लोक का उत्तरार्ध इस पाठभेद के साथ है—

“तपःश्रुताभ्यां यो हीनः जातिब्राह्मण एव सः ॥”

आदिपुराण (पर्व ३८ श्लोक ४३) में यह जातिमूलक ब्राह्मणत्व इन्हीं ग्रन्थों से और उन्हीं शब्दों में ज्यों का त्यों आ गया है—

“तपः श्रुतं च जातिस्त्वत्रयं ब्राह्मण्यकारणम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनः जातिब्राह्मण एव सः ॥”

इसी तरह अन्य भी अनेक स्थल उपस्थित किये जा सकते हैं जिनसे आदिपुराण पर स्मृति आदि के प्रभाव का असन्दिग्ध रूप से ज्ञान हो सकता है ।

पुत्री को समान धन-विभाग

आदिपुराण में गृहत्याग क्रिया के प्रसंग में धन संविभाग का निर्देश करते हुए लिखा है—

“एकैश्चो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहण्यये ।
तृतीयः संविभागाय भवेत् स्वत्सहजम्भनाम् ॥
पुत्र्यश्च संविभागाहर्ताः समं पुत्रैः समांशकः ॥”

अर्थात् मेरे धनमें-से एक भाग धर्म-कार्यके लिए, दूसरा भाग घर-स्वर्णके लिए तथा तीसरा भाग सहोदरोंमें बाँटनेके लिए है। पुत्रियों और पुत्रोंमें वह भाग समानरूपसे बाँटना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि धनमें पुत्रीका भी पुत्रोंके समान ही समाज अधिकार है।

इस तरह मूलपाठशुद्धि, अनुवाद, टिप्पण और अध्ययनपूर्ण प्रस्तावनासे समृद्ध यह संस्करण विद्वान् सम्पादककी वर्षोंकी श्रमसाधनाका सुफल है। प० पद्मालालजी साहित्यके आचार्य तो हैं ही, उनने धर्मशास्त्र, पुराण और दर्शन आदिका भी अच्छा अभ्यास किया है। अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ की हैं और सम्पादन किया है। वे अध्ययनरत अध्यापक और श्रद्धालु विचारक हैं। हम उनकी इस श्रमसाधित सस्कृतिका अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि उनके द्वारा इसी तरह अनेक ग्रन्थरत्नोंका उद्धार और सम्पादन आदि होगा।

भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक भद्रचैता साहू शान्तिप्रसादजी तथा अध्यक्ष उनकी समशीला परनी सौ० रमाजी इस संस्थाके सांस्कृतिक प्राण हैं। उनकी सदा यह अभिलाषा रहती है कि प्राचीन ग्रन्थोंका उद्धार तो हो ही साथ ही उन्हें नवीन रूप भी मिले, जिससे जनसाधारण भी जैन संस्कृतिसे सुपरिचित हो सकें। वे यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक आचार्यके ऊपर एक-एक अध्ययन ग्रन्थ लिखा जाये जिसमें उनके जीवन वृत्तके साथ ही उनके ग्रन्थोंका दोहनामृत हो। ज्ञानपीठ इसके लिए यथासम्भव प्रयत्नशील है। इस ग्रन्थका दूसरा भाग भी शीघ्र ही पाठकोंकी सेवामें पहुँचेगा।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी }
वसन्त पंचमी २००७ }

-महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
सम्पादक-मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

प्रस्तावना [द्वितीय संस्करण से]

सम्पादन-सामग्री

श्री जिनसेनाचार्य-रचित महापुराण का आदि अंग—आदिपुराण अथवा पूर्वपुराण का सम्पादन निम्न-लिखित १२ प्रतियों के आधार से किया गया है :

१. 'त' प्रति—यह प्रति पं० के० भुजबली शास्त्री 'विद्याभूषण' के सत्प्रयत्न द्वारा मूडबिंदी के सरस्वती भवन से प्राप्त हुई है। कर्णाटक लिपि में ताड़पत्र पर लिखी हुई है। इसके ताड़पत्र की लम्बाई २५ इंच और चौड़ाई ९ इंच है। प्रत्येक पत्र पर प्रायः आठ-आठ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में १०६ से लेकर ११२ तक अक्षर हैं। अक्षर छोटे और सूझन हैं। मार्जनों में तथा नीचे उपयोगी टिप्पण भी दिये गये हैं। प्रति के कुल पत्रों की संख्या १७७ है। मूल के साथ टिप्पण इतने मिलकर लिखे गये हैं कि संशोधन व्यक्ति को पढ़ने में कठिनाई हो सकती है। श्लोकों का अन्वय प्रकट करने के लिए उन पर अंक दिये गये हैं। लेखक महाशय ने बड़ी प्रामाणिकता और परिश्रम के साथ लिपि की, भालूम होता है। यही कारण है कि यह प्रति अन्य समस्त प्रतियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। इस ग्रन्थ का मूल पाठ इसी के आधार पर लिया गया है। इसके अन्त में निम्न श्लोक पाये जाते हैं जिससे इसके लेखक और लेखन-काल का स्पष्ट पता चलता है।

“ओन्मो वृषभनाथाय, श्री श्री श्री भरताविशेषकेवलिन्यो नमः । वृषभसेनाविगणधरमुनिन्यो नमः,
बद्धताम् जैन सासनम्, भद्रमस्तु ।

वरकर्णाटवेशगाया निवसन्पुरि नामभूति महाप्रतिष्ठातितकवान्नेमिचन्द्रसूरियः ।

तद्दीर्घवंशजातो (तः) पुत्रः प्राक्तस्य वेवचनस्य ।

यन्नेमिचन्द्रसूनुर्वरभारद्वाजगोत्रजातोऽहम् ॥

जीमसुरासुरनरेश्वरपन्नगेन्द्रभीष्मच्युताङ्घ्रियुगलो वरदेव्यगात्रः ।

रागादिदोषरहितो विष्णुताष्टकर्म पायात्सदा मुधवरान् भरवोर्बलीशः ॥

शास्त्रव्ये ध्योमवर्त्तिष्मसनसमिद्युते [१७३०] यत्तन्माने द्वितीये

चाग्ने फात्सुप्यभासे विष्णुतिथियुतसत्काव्यधारोत्तराभे ।

पूर्वं पुण्यं पुराणं पुरजिनचरितं नेमिचन्द्रेण ज्ञाभू-

हेवकीचाणकीतिप्रतिपतिवरशिष्येण चात्पादरेण ॥

धर्मस्थलपुराधीशः कुमाराल्मो नराधिपः

तस्मै वत्तं पुराणं श्रीपुवणा चादकीतिना ॥”

इस पुस्तक का सांकेतिक नाम 'त' है।

२. 'ब' प्रति—यह प्रति भी श्रीयुत पं० के भुजबली शास्त्री के सत्प्रयत्न से मूडबिंदी के सरस्वती भवन से प्राप्त हुई है। यह प्रति भी कर्णाटक लिपि में ताड़पत्रों पर उरकीर्ण है। इसके कुल पत्रों की संख्या २३७ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई २५ इंच और चौड़ाई ७ इंच है। प्रति पत्र पर ६ से लेकर ७ तक पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ११८ से लेकर १२२ तक अक्षर हैं। बीच में कहीं-कहीं टिप्पण भी दिये गये हैं। अक्षर सुवाच्य और सुन्दर हैं। दीमकों के आक्रमण से कितने ही पत्रों के अंश नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं। इसके लेखन और लेखन-काल का कुछ भी पता नहीं चलता है। इसका सांकेतिक नाम 'ब' है।

३. 'प' प्रति—यह प्रति पं० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य के सत्प्रयत्न में जैन सरस्वती भवन, आगरा

से प्राप्त हुई है। देवनागरी लिपि में काली और लाल स्याही द्वारा कागज पर लिखी गयी है। इसकी कुल पत्र-संख्या २०५ है। प्रत्येक पत्र पर १२ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ४२ से लेकर ४६ तक अक्षर हैं। पत्रों की लम्बाई साढ़े चौदह इंच और चौड़ाई ६ इंच है। प्रारम्भ के कितने ही पत्रों के बीच-बीच के अंश नष्ट हो गये हैं। मालूम होता है कि स्याही में कोशीस का प्रयोग अधिक किया गया है जिसकी तेजी से कागज गलकर नष्ट हो गया है। यह प्रति सुखाध्य तो है परन्तु कुछ अशुद्ध भी है। श, ष, स, ष, व, न और ण में प्रायः कोई भेद नहीं किया गया है। प्रत्येक पत्र पर ऊपर-नीचे और बगल में आवश्यक टिप्पण दिये गये हैं। कितने ही टिप्पण 'त' प्रति के टिप्पणों से अक्षरशः मिलते हैं। इसकी लिपि १७३५ संवत् में हुई है। सम्भवतः यह संवत् विक्रम संवत् होगा; क्योंकि उत्तर भारत में यही संवत् अधिकतर लिखा जाता रहा है। पुस्तक की अन्तिम प्रवृत्ति इस प्रकार है :

“संवत् १७३५ वर्षे अगहनमासे कृष्णपक्षे द्वादशीतुक्कासरे अपराह्निकवेला ।

“श्री हरिकृष्ण अविनाशी ब्रह्मश्रीनिपुण श्रीब्रह्मचक्रवर्तिराज्यप्रवर्तमाने गंध दलबलधाहनविद्यौघ कुण्ड-
घनघटाभिदारणसाहस्रीक भ्लेच्छनिवहविध्वंसन महाबली सङ्गा की श्री श्री. गौडीछत्रप्रयमंजित सिंहासन असर-
मंडलीसेव्यमानसहस्रकिरणवत् महातेजभासुर नृपमणि’ भस्तिकमुकुटसिद्धशारदपरमेश्वर-परमप्रीति उर
ज्ञानध्यानमंडितसुनरेश्वराः । श्रीहरिकृष्णसरोजराजराजित पद्मपंकजसेवितमधुकर सुभटवचनसंस्कृत तनु अंकज ।
यह पूरण लिखौ पुराणतिन शुभशुभकीरति के पठन को । जगमगतु जगम निज सुअटल शिष्य-गिरिधर
परशराम के कथन को । शुभं भवतु मङ्गलं । श्रीरस्तु । कल्याण मस्तु ।”

इसी पुस्तक के प्रारम्भ में एक कोरे पत्र के बायीं ओर लिखा है कि :

“पुराणमिदं मुनीश्वरवासेन आरानामभगरे श्रीपाशंजिनमन्त्रिरे वत्सं स्थापितं च भव्यजीवपठनाय ।
भद्रं भूयात् ।”

इस पुस्तक का सांकेतिक नाम ‘प’ है ।

५. ‘अ’ प्रति—यह प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा की है। इसमें कुल पत्र २५८ हैं। प्रत्येक पत्र का विस्तार साढ़े बारह × साढ़े छह इंच है। प्रत्येक पत्र पर १५ से १८ तक पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ३८ से ४१ तक अक्षर हैं। लिपि सुखाध्य है। देवनागरी लिपि में काली और लाल स्याही से लिखी हुई है। अशुद्ध बहुत है। श्लोकों के नम्बर भी प्रायः गड़बड़ हैं। श, ष, स, न, ण और ख, व में कोई विवेक नहीं रखा गया है। यह कब लिखी गयी? किसने लिखी? इसका कुछ पता नहीं चलता। कहीं-कहीं कुछ खास शब्दों के टिप्पण भी हैं। इसके लेखक संस्कृतज्ञ नहीं मालूम होते। पुस्तक के अन्तिम पत्र के नीचे पतली कलम से निम्नलिखित शब्द लिखे हैं :

“पुस्तक आत्रिपुराणजी का, भट्टारकराजेन्द्रकीर्तिजी को दिया, लखनऊ में ठाकुरवास की पत्नी ललितप्रसाद की बेटी ने । मिसी माधवदी सं० १९०५ के साल में”

१. यहाँ निम्नांकित षट्पदवृत्त है जो सिपिकर्ता की कृपा से गद्यरूप हो गया है :

“नृपमणिमस्तकमुकुटसिद्धशारदपरमेश्वर ।

परम प्रीति उर ज्ञानध्यामन्त्रित सुनरेश्वर ।

श्री हरिकृष्णसरोजराजराजितपद्मपंकज

सेवितमधुकर सुभटवचनसंस्कृत तनु अंकज ।।

यह पूरण लिखौ पुराणतिन शुभ कीरति के पठन को ।

जगमगतु जगम निज सुअटल शिष्य गिरिधर परशराम के कथन को ।”

इस लेख से लेखनकाल स्पष्ट नहीं होता । इसका सांकेतिक नाम 'अ' है ।

५. 'इ' प्रति—यह प्रति मारवाड़ी मन्दिर शककर बाजार इन्दौर के पं० सेमचन्द्र शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है । कहीं-कहीं पार्श्व में चारों ओर उपयोगी टिप्पण दिये गये हैं । पत्र-संख्या ५००, पंक्ति-संख्या प्रतिपत्र ११ और अक्षर-संख्या प्रति पंक्ति ३५ से ३८ तक है । अक्षर सुवाच्य हैं, दशा अच्छी है, लिखने का संवत् नहीं है, आदि अन्त में कुछ लेख नहीं है । प्रथम पत्र जीर्ण होने के कारण दूसरा लिखकर लगाया गया है । प्रायः शुद्ध है । इन्दौर से प्राप्त होने के कारण इसका सांकेतिक नाम 'इ' है ।

६. 'स' प्रति—यह प्रति पूज्य बाबा श्री १०५ सुल्लक गणेश प्रसादजी वर्णी की सत्कृपा से उन्हीं के सरस्वती भवन से प्राप्त हुई है । लिखावट अत्यन्त प्राचीन है, पड़ी मात्राएँ हैं जिससे आधुनिक वाचकों को अभ्यास किये बिना बौचने में कठिनाई आती है । जगह-जगह प्राकरणिक चित्रों से सजी हुई है । उत्तरार्ध में चित्र नहीं बनाये जा सके हैं अतः चित्रों के लिए खाली स्थान छोड़े गये हैं । कितने ही चित्र बड़े सुन्दर हैं । पत्र-संख्या ३६४ है, दशा अच्छी है, आदि-अन्त में कुछ लेख नहीं है । पूज्य वर्णीजी को यह प्रति बनारस में किसी सज्जन द्वारा भेंट की गयी थी ऐसा उनके कहने से मालूम हुआ । सागर से प्राप्त होने के कारण इसका सांकेतिक नाम 'स' है ।

७. 'ह' प्रति—यह प्रति पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली की कृपा से प्राप्त हुई । इसमें मूल श्लोकों के साथ ही सलितकीर्ति भट्टारककृत संस्कृत टीका दी हुई है । पत्र-संख्या ८६८ है, प्रति पत्र पंक्तियाँ १२ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ५० से ५२ तक है । लेखनकाल अज्ञात है । अन्त में टीकाकार की प्रशंसा दी हुई है जिससे टीका-निर्माण का काल विदित होता है । प्रशंसा इस प्रकार है :

“वर्षे सागरनागभोगिकुन्मिले मार्गे च मासेऽसिते

पक्षे पक्षतिसत्तिषो रविदिने टीका कृत्यं चरा ।

काष्ठासंघवरे च माधुरवरे गच्छे मये पुष्करे

जेतः श्रीजगदादिकीर्तिरभवत् स्यात्तो जितात्मा महान् ।

सन्निधयेन च सम्भतान्वितधिया भट्टारकत्वं यता

शुम्भहं सलिसाविकीर्त्यभिधया स्यातेन लोके भ्रूषम् ।

राजश्रीजिनसेनभाषितमहाकाव्यस्य भक्त्या मया

संशोध्यैव सुपठ्यतां बुधजनैः अर्तन्ति विधयावरात् ।”

दिल्ली से प्राप्त होने के कारण इसका सांकेतिक नाम 'द' है ।

८. 'ट' प्रति—यह प्रति श्री पं० भुजबली शास्त्री के सौजन्य से मूडबिड़ी से प्राप्त हुई थी । इसमें ताड़पत्र पर मूल श्लोकों के नम्बर देकर संस्कृत में टिप्पण दिये गये हैं । प्रकृत ग्रन्थ में श्लोकों के नीचे जो टिप्पण दिये गये हैं वे इसी प्रति से लिये गये हैं । इस टिप्पण में “श्रीमते सकलज्ञानसांभ्राज्यपदनीमुषे । धर्म-चक्रभूते भर्षे नमः संसारभीमुषे” इस आद्य श्लोक के विविध अर्थ किये हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख हिन्दी अनुवाद में किया गया है । इसकी लिपि कर्णाटक लिपि है । इस प्रति का सांकेतिक नाम 'ट' है । टिप्पणकर्ता के नाम का पता नहीं चलता है ।

९. 'क' प्रति—यह प्रति भी टिप्पण की प्रति है । इसकी प्राप्ति जैन सिद्धान्त भवन आरा से हुई है । ताड़पत्र पर कर्णाटक लिपि में टिप्पण दिये गये हैं । इसमें प्रथम श्लोक का 'ट' प्रति के समान विस्तृत टिप्पण नहीं है । यह 'ट' प्रति की अपेक्षा अधिक सुवाच्य है । बहुत-से टिप्पण 'ट' प्रति के समान हैं, कुछ असमान भी हैं । टिप्पणकार का पता नहीं चलता है । इसका सांकेतिक नाम 'क' है ।

१०. 'ख' प्रति—यह टिप्पण की नागरी लिपि की पुस्तक मारवाड़ी मन्दिर शककर बाजार इन्दौर से पं० सेमचन्द्रजी शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है । उसमें पत्र-संख्या १७४ है । प्रति पत्र में १० से १२ तक

पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में ३५ से ४० तक अक्षर हैं। लिपि सुवाच्य और प्रायः शुद्ध है। यह लिपि किसी कर्णाटक प्रति से की हुई मालूम होती है। अन्तिम पत्रों का नीचे का हिस्सा जीर्ण हो गया है। यह पुस्तक बहुत प्राचीन मालूम होती है। इसके अन्त में निम्नांकित लेख है—

“श्रीश्रीतरागाय नमः । सं० १२२४ वै० कु०७ लिपिरियं विश्वसेन कृषिणा उदयपुरनगरे श्रीमद्-
भगवत्विज्ज्नालये । शुभं भूयात् श्रीः श्रीः ।”

इसका सांकेतिक नाम ‘ख’ है।

११. ‘ल’ प्रति—यह प्रति श्रीमान् पण्डित लालारामजी शास्त्री के हिन्दी अनुवाद सहित है। इसका प्रकाशन उन्हीं की ओर से हुआ है। ऊपर श्लोक देकर नीचे उनका अनुवाद दिया गया है। इसमें कितने ही मूल श्लोकों का पाठ परम्परा से अशुद्ध हो गया है। यह संस्करण अब अप्राप्य हो गया है। इस पुस्तक का सांकेतिक नाम ‘ल’ है।

१२. ‘म’ प्रति—यह पुस्तक बहुत पहले मराठी अनुवाद सहित जैनेन्द्र प्रेस कोल्हापुर से प्रकाशित हुई थी। स्व० पं० कल्लप्पा भरमप्पा ‘निटवे’ उसके मराठी अनुवादक हैं। ग्रन्थकार में छपने के पहले सम्भवतः यह अनुवाद सेठ हीराचन्द्र नेमिचन्द्रजी के जैन बोधक में प्रकाशित होता रहा था। इसमें श्लोक देकर उनके नीचे मराठी भाषा में अनुवाद दिया गया है। मूलपाठ कई जगह अशुद्ध है। पं० लालारामजी ने प्रायः इसी पुस्तक के पाठ अपने अनुवाद में लिये हैं। यह संस्करण भी अब अप्राप्य हो चुका है। इसका सांकेतिक नाम ‘म’ है।

इस प्रकार १२ प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन हुआ है। जहाँ तक हो सका है ‘त’ प्रति के पाठ ही मैंने मूल में रखे हैं। अन्य प्रतियों के पाठों में उनके सांकेतिक नामों के अनुसार नीचे टिप्पण में दिये हैं। ‘व’ और ‘प’ प्रति में कितने ही पाठ अत्यन्त अशुद्ध हैं जिन्हें अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। ‘ल’ और ‘म’ प्रति के भी कितने ही अशुद्ध पाठों की उपेक्षा की गयी है। जहाँ ‘त’ प्रति के पाठ की अर्थ संगति नहीं बैठायी जा सकी है वहाँ ‘व’ प्रति के पाठ मूल में दिये हैं और ‘त’ प्रति के पाठ का उल्लेख टिप्पण में किया गया है; परन्तु ऐसे स्थल समग्र ग्रन्थ में दो-चार ही होंगे। ‘त’ प्रति बहुत शुद्ध है। पं० आशाधरजी ने सागार-धर्मामृत में मूलगुणों का वर्णन करते समय जिनसेनाचार्य का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

“हितासत्यस्तेयादक्रूरपरिग्रहाश्च वादरभेदात् ।

छूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सत्यमी मूलगुणाः ॥”

परन्तु हमारे द्वारा उपलब्ध प्रतियों में यह श्लोक देखने में नहीं आया। पं० कलाशचन्द्रजी आदि कुछ विद्वानों ने इस श्लोक के विषय में मुझसे पूछ-ताछ भी की। सम्भव है किसी अन्य प्रति में यह श्लोक हो। कर्णाटक लिपि के सुनने तथा नागरी लिपि में उसे परिवर्तित करने में श्री पं० देवकुमारजी न्यायतीर्थ ने बहुत परिश्रम किया है। श्री गणेश विद्यालय में उस समय अध्ययन करने वाले श्री नमिराज, पद्मराज और रघुराज विद्यार्थियों से भी मुझे कर्णाटक लिपि से नागरी लिपि करने में बहुत सहयोग प्राप्त हुआ है। समग्र ग्रन्थ के पाठभेद लेने में मुझे दो वर्ष का शीघ्रमावकाश लगाना पड़ा है और दोनों ही वर्ष उक्त महाशयों ने मुझे पर्याप्त सहयोग दिया है इसलिए इस साहित्य-सेवा के अनुष्ठान में मैं उनका आभारी हूँ।

संस्कृत

संस्कृत शब्द ‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘कृ’ धातु को ‘क्त’ प्रत्यय जोड़ने से बनता है। ‘सम्’ और ‘परि’ उपसर्ग में सहित ‘कृ’ धातु का अर्थ जब भूषण अथवा संघात रहता है तभी उस धातु को सुहागम होता है। इसलिए

संस्कृत भाषा से मुसंहत और परिष्कृत भाषा का ही बोध होता है। इस भाषा की संस्कृत संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है। यह भाषा, भाषा-प्रवर्तकों के द्वारा प्रचारित नियम-रेखणों का तुल्यवस्तु न करती हुई हजारों वर्षों से भारत-भू-खण्ड पर प्रचलित है। वैदिक काल से लेकर अब तक इस भाषा में जो परिवर्तन हुए हैं वे यद्यपि अल्पतर हैं, फिर भी तात्कालिक ग्रन्थों के पर्यवेक्षण से यह तो मानना ही पड़ता है कि इसका विकास कालक्रम से हुआ है। भाषा के मर्मदर्शी विद्वानों ने संस्कृत भाषा के इतिहास को तीन कालखण्डों में विभक्त किया है। सर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने १. श्रुतिकाल, २. स्मृतिकाल और ३. भाष्यकाल ये तीन कालखण्ड माने हैं। सर भाण्डारकर महाशय ने भाषा-सरणि को प्रधानता देकर १. संहिताकाल, २. मध्य संस्कृतकाल और ३. लौकिक संस्कृतकाल ये तीन कालखण्ड माने हैं। साथ ही इस लौकिक संस्कृत की भी तीन अवस्थाएँ मानी हैं। संस्कृत भाषा के क्रमिक विकास का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके निम्नांकित भागों पर दृष्टि देना आवश्यक है :

१. संहिताकाल—इस भाग में वेदों की संहिताओं का समावेश है, जिनमें मन्त्रात्मक अनेक स्तुतियों का संग्रह है। इस भाग की संस्कृत से आज की संस्कृत में बहुत अन्तर पड़ गया है। इस भाषा के शब्दों के उच्चारण में उदात्तादि स्वरों का खासकर ध्यान रखना पड़ता है। इसके शब्दों की सिद्धि करने वाला केवल पाणिनिव्याकरण है।

२. ब्राह्मणकाल—संहिताकाल के बाद ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदादि ग्रन्थों की भाषा का काल आता है जो कि 'ब्राह्मणकाल' नाम से प्रसिद्ध है। इस काल की भाषा संहिताकाल से बहुत पीछे की है और पाणिनिव्याकरण के नियम प्रायः इसके अनुकूल हैं। इस काल की रचना सरल, संक्षिप्त और क्रिया-बाहुल्य से युक्त हुआ करती थी। संहिताकाल और ब्राह्मणकाल का अन्तर्भाव श्रुतिकाल में हो सकता है।

३. स्मृतिकाल—श्रुतिकाल के बाद से महाभाष्यकार पतंजलि के समय तक का काल स्मृतिकाल कहलाता है। इस काल का प्रारम्भ यास्क और पाणिनि के समय से माना गया है। अनेक सूत्र ग्रन्थ, रामायण तथा महाभारतादि की भाषा इस काल की भाषा है। इस काल की रचना भी श्रुतिकाल की रचना के समान सरल और दीर्घसमासरहित थी। श्रुतिकाल में ऐसे कितने ही क्रियाओं के प्रयोग होते थे जो कि व्याकरण से सिद्ध नहीं हो सकते थे और आप्रत्येय प्रयोग के नाम पर जिनका प्रयोग क्षन्तव्य माना जाता था वे इस काल में धीरे-धीरे कम हो गये थे।

४. भाष्यकाल—इस काल में अनेक दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थों पर भाष्य लिखे गये हैं। सूत्रों की सरल संक्षिप्त रचना को भाष्यकारों द्वारा विस्तृत करने की मानो होड़-सी लग गयी थी। न्याय, व्याकरण, धर्म आदि विविध विषयों के सूत्र-ग्रन्थों पर इस काल में भाष्य लिखे गये हैं। इस काल की भाषा भी सरल, दीर्घ समासरहित तथा जनसाधारणगम्य रही है।

५. पुराणकाल—पुराणों का उल्लेख मद्यपि संहिताओं, उपनिषदों और स्मृति आदि में आता है इसलिए पुराणों का अस्तित्व प्राचीन काल से सिद्ध है परन्तु संहिता या उपनिषद्कालीन पुराण आज उपलब्ध नहीं, अतः उपलब्ध पुराणों की अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि भाष्यकाल के आस-पास ही पुराणों की रचना शुरू हुई है, जिसमें रामायण तथा महाभारत की शैली का अनुगमन कर विविध पुराणों और उपपुराणों का निर्माण हुआ है। इनकी भाषा भी दीर्घ-समासरहित तथा अनुष्टुप् छन्द प्रधान रही है। धीरे-धीरे पुराणों की रचना काव्यरचना की ओर अग्रसर होती गयी, जिससे पुराणों में भी केवल कथानक न रहकर कविजनोचित कल्पनाएँ दृष्टिगत होने लगीं और अलंकार तथा प्रकरणों के आदि अन्त में विविध छन्दों का प्रवेश होने लगा। इस काल में कुछ नाटकों की भी रचना हुई है।

६. काव्यकाल—समय के परिवर्तन से भाषा में परिवर्तन हुआ। पुराणकाल के बाद काव्यकाल आया। इस काल में गद्यपद्यत्मक विविध ग्रन्थ नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदि की रचना हुई। कवियों की

कल्पना-शक्ति में अधिक विकास हुआ जिससे अलंकारों का आविर्भाव हुआ और वह धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। प्रारम्भ में अलंकारों की संख्या चार थी पर अब वह बढ़ते-बढ़ते शतोपरि हो गयी। इस समय की भाषा क्लिष्ट और कल्पना से अनुस्यूत थी। इस काल में संस्कृत भाषा का भाण्डार जितना अधिक बरा गया उतना अन्य कालों में नहीं। संस्कृत भाषामय उपलब्ध जैनग्रन्थों की अधिकांश रचना भाष्यकाल, पुराणकाल और काव्यकाल में हुई है।

प्राकृत

यह ठीक है कि संस्कृत भाषानिबद्ध जैनग्रन्थ भाष्यकाल से पहले के उपलब्ध नहीं हो रहे हैं परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसके पहले जैनों में ग्रन्थनिर्माण की पद्धति नहीं थी और उनकी निज की कोई भाषा नहीं थी। सदा ही जैनाचार्यों का भाषा के प्रति व्यामोह नहीं रहा है। उन्होंने भाषा को सिर्फ साधन समझा है, साध्य नहीं। यही कारण है कि उन्होंने सदा जनता को जनता की भाषा में ही तत्त्वदेशना दी है। ईसवी संवत् से कई शताब्दियों पूर्व भारतवासियों की जनभाषा प्राकृत भाषा रही है। उस समय जैनाचार्यों की तत्त्वदेशना प्राकृत में ही हुआ करती थी। बौद्धों ने प्राकृत की एक शाखा मागधी को अपनाया था जो बाद में पालि नाम से प्रसिद्ध हुई। बौद्धों के त्रिपिटक ग्रन्थ ईसवी पूर्व की रचना माने जाते हैं। जैनियों के अंगग्रन्थों की भाषा ईसवी पूर्व की है, मले ही उनका वर्तमान संकलन पीछे का हो।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा रही कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई और उस धारणा में बल देने वाला हुआ प्राकृत व्याकरण का आद्यसूत्र 'प्रकृतिः संस्कृतम्'। परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। प्राकृत, भारत की प्राचीनतर साधारण बोलचाल की भाषा है। ई० पू० तृतीय शताब्दी के मौर्य सम्राट अशोक के निमित्त जो शिलालेख भारतवर्ष के अनेक प्रांतों में हैं उनकी भाषा उस समय की प्राकृत भाषा ज्यों-ज्यों जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि महाभाष्यकार के कई शतक पूर्व से ही जनसाधारण की भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत थीं। प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक है। जैनियों के आगम ग्रन्थ इसी प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

चूँकि अशोक के शिलालेखों की भाषा विभिन्न प्रकार की प्राकृत है और महाकवियों के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषाओं में भी विविधता है इसलिए कहा जा सकता है कि ईसा के पूर्व ही प्रान्तभेदसे प्राकृत के अनेक भेद हो गये थे। वररुचिने अपने 'प्राकृतप्रकाश' में प्राकृत सामान्य के अतिरिक्त उसके तीन भेद १ शौरसेनी, २ मागधी और ३ पेशाची बताये हैं। हेमचन्द्र ने अपने 'हैम व्याकरण' में १ शौरसेनी, २ मागधी, ३ पेशाची, ४ कूलिका पेशाची और ५ अपभ्रंश ये पाँच भेद माने हैं। त्रिविक्रम ने अपनी 'प्राकृतसूत्रवृत्ति' में और लक्ष्मीधरने 'षड्भाषाचन्द्रिका' में इन्हीं भेदों का निरूपण किया है। मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' में १ भाषा, २ विभाषा, ३ अपभ्रंश और ४ पेशाची ये चार भेद मानकर उनके निम्नांकित १६ अवान्तर भेद माने हैं, १ महाराष्ट्री, २ शौरसेनी, ३ प्राची, ४ आवन्ती, ५ मागधी, ६ शाकारी, ७ चाण्डाली, ८ शाकरी, ९ आभीरिका, १० टाक्की, ११ नागर, १२ ब्राह्म, १३ उपनागर, १४ कैकय, १५ शौरसेन और १६ पांचाल। इनमें प्रारम्भ के पाँच 'भाषा' प्राकृत के, छह से दस तक 'विभाषा' प्राकृत के, ग्यारह से तेरह तक 'अपभ्रंश' के और चौदह से सोलह तक 'पेशाची' के भाषा भेद माने हैं। हट्ट ने नाटक में निम्नलिखित ७ भेद स्वीकृत किये हैं : १ मागधी, २ आवन्ती, ३ प्राच्या, ४ शूरसेनी, ५ अर्धमागधी, ६ बाह्लीका और ७ दासिणात्या।

इस प्रकार प्राकृत भाषा-साहित्य का भी अनुपम भाण्डार है जिसमें एक-से-एक बढ़कर ग्रन्थरत्न प्रकाशमान हैं। संस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश भाषा का प्रचार अधिक बढ़ा। अतः उस भाषा में भी जैन ग्रन्थकारों ने विविध साहित्य की रचना की है। महाकवि स्वयम्भू, महाकवि पुष्पदन्त, महाकवि रङ्गू आदि की अपभ्रंश भाषामय विविध रचनाओं को देखकर हृदय आनन्द से भर जाता है, और ऐसा लगने लगता है कि इस भाषा की श्रीवृद्धि में जैन लेखक ने बहुत अधिक कार्य किया है। यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि

जैनाचार्यों के द्वारा भारतीय साहित्य-प्रगति को सदा बल मिला है। प्राचीन भाषाओं की बात जाने दीजिए, हिन्दी भाषा का आद्य उपक्रम भी जैनाचार्यों द्वारा ही किया गया है। जैन समाज को बुद्धि उत्पन्न हो और वह पूरी शक्ति के साथ अपना समग्र साहित्य आधुनिक ढंग से प्रकाश में ला दे तो सारा संसार उनकी गुणगरिमा से नतमस्तक हो जायेगा ऐसा मेरा निज का विश्वास है।

पुराण

भारतीय धर्मग्रन्थों में पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास के साथ आता है। कितने ही लोगों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिहास की गणना अथर्ववेद में की है और इतिहास में इतिवृत्त, पुरुषोत्तम, आदिपुराण, भागवतपुराण, ब्रह्माण्डपुराण का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनों ही विभिन्न हैं, इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। कोषकारों ने पुराण का लक्षण निम्न प्रकार माना है :

“सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥”

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशपरंपराओं का वर्णन हो वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं।

इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है परन्तु पुराण महापुरुषों की घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल, पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में केवल वर्तमानकालिक घटनाओं का उल्लेख रहता है परन्तु पुराण में मायक के अतीत अनागत भवों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिए कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है? अवनत से उन्नत बनने के लिए क्या-क्या त्याग और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। मनुष्य के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

जैनतर समाज का पुराण-साहित्य बहुत विस्तृत है। वहाँ १८ पुराण माने गये हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं : १ मत्स्यपुराण, २ मार्कण्डेयपुराण, ३ भागवतपुराण, ४ भविष्यपुराण, ५ ब्रह्माण्डपुराण, ६ ब्रह्मवैवर्त-पुराण, ७ ब्रह्मपुराण, ८ वामनपुराण, ९ वराहपुराण, १० विष्णुपुराण, ११ वायु वा शिवपुराण, १२ अग्नि-पुराण, १३ नारदपुराण, १४ पद्मपुराण, १५ लिङ्गपुराण, १६ गरुडपुराण, १७ कूर्मपुराण और १८ स्कन्दपुराण।

ये अठारह महापुराण कहलाते हैं। इनके सिवाय गरुडपुराण में १८ उपपुराणों का भी उल्लेख आया है जो कि निम्नप्रकार हैं—

१ सनत्कुमार, २ नारसिंह, ३ स्कान्द, ४ शिवधर्म, ५ आप्त्वर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ आरुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर १६ पराशर, १७ मारीच और १८ भागव ।

देवी भागवत में उपर्युक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भागव के स्थान में क्रमशः शिव, मानव, काशिर्य, भागवत और वाशिष्ठ नामों का उल्लेख आया है।

इन महापुराणों और उपपुराणों के सिवाय अन्य भी गणेश, गौडगुल, देवी कल्कि आदि अनेक पुराण उपलब्ध हैं। इन सबके वर्णनीय विषयों की तालिका देन का अभिप्राय था परन्तु विस्तारबुद्धि के भय से उसे

छोड़ रहा हूँ। कितने ही इतिहासज्ञ लोगों का अभिमत है कि इन आधुनिक पुराणों की रचना प्रायः ई० ३०० से ८०० के बीच में हुई है।

जैसा कि जैनतर धर्म में पुराणों और उपपुराणों का विभाग मिलता है वैसे जैन समाज में नहीं पाया जाता है। परन्तु जैन धर्म में जो भी पुराण-साहित्य विद्यमान है वह अपने ढंग का निराला है। जहाँ अन्य पुराण-कार इतिवृत्त की यथार्थता सुरक्षित नहीं रख सके हैं वहाँ जैन-पुराणकारों ने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है, इसलिए आज के निष्पक्ष विद्वानों का यह स्पष्ट मत हो गया है कि 'हमें प्राक्कालीन भारतीय परिस्थिति को जानने के लिए जैन-पुराणों से, उनके कथा-ग्रन्थों से जो साहाय्य प्राप्त होता है वह अन्य पुराणों से नहीं। कतिपय दि० जैन-पुराणों के नाम इस प्रकार हैं :

पुराण नाम	कर्ता	रचना संवत्
१. पद्मपुराण (पद्मचरित)	रविषेण	७०५
२. महापुराण (आदिपुराण)	जिनसेन	६वीं शती
३. उत्तरपुराण	गुणभद्र	१०वीं शती
४. अजितपुराण	अरुणमणि	१७१६
५. आदिपुराण (कन्नड)	कवि पंप	६४१ ई०
६. आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
७. आदिपुराण	„ सकलकीर्ति	१५वीं शती
८. उत्तरपुराण	„ सकलकीर्ति	„
९. कर्णामृतपुराण	केशवसेन	१६८८
१०. जयकुमारपुराण	भ० कामराज	१५५५
११. चन्द्रप्रभपुराण	कवि अशास देव	
१२. कामुण्डपुराण (क)	कामुण्डराय	शक सं० ६८०
१३. धर्मनाथपुराण (क)	कवि बाहुबलि	१५६० ई०
१४. नेमिनाथपुराण	भ० नेमिदत्त	१५७५ के लगभग
१५. पद्मनाभपुराण	भ० शुभचन्द्र	१७वीं शती
१६. पद्मचरित (अपभ्रंश)	चतुर्मुख देव	अनुपलब्ध
१७. „ „	स्वयंभूदेव	७८३ ई०
१८. पद्मपुराण	भ० सोमसेन	वि. १७वीं शती
१९. पद्मपुराण	भ० धर्मकीर्ति	१६५६
२०. „ (अपभ्रंश)	कवि रङ्गू	१५-१६वीं शती
२१. „	भ० चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
२२. „	ब्रह्मजिनदास	१५-१६वीं शती
२३. पाण्डवपुराण	भ० शुभचन्द्र	१६०८
२४. „ (अपभ्रंश)	भ० यशःकीर्ति	१४६७
२५. „	भ० श्रीभूषण	१६५७
२६. „	भ० बाबिचन्द्र	१६५८
२७. पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	६६६
२८. „ „	कवि रङ्गू	१५-१६वीं शती
२९. „	चन्द्रकीर्ति	१६५४

अतिपुराण

३०. पार्श्वपुराण	वादिचन्द्र	१६५८
३१. महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२. महापुराण (आदिपुराण- उत्तरपुराण) अपभ्रंश	महाकवि पुष्पदन्त	ई. १०वीं शती
३३. महिलायपुराण (कन्नड)	कवि नागचन्द्र	ई. ११वीं शती
३४. पुराणसार	श्रीचन्द्र	ई. ११वीं शती
३५. महावीरपुराण	कवि असग	६१०
३६. महावीरपुराण	भ० सकलकीर्ति	१५वीं शती
३७. महिलायपुराण	"	"
३८. मुनिसुव्रतपुराण	महा कृष्णदास	वि. १७वीं शती
३९. "	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	वि. १८वीं शती
४०. वागर्थसंग्रहपुराण	कवि परमेश्वरी	आ० जिनसेन के महा- पुराण से प्राग्वर्ती १०वीं शती
४१. शान्तिनाथपुराण	कवि असग	१६५६
४२. "	भ० श्रीभूषण	वि. १५-१६वीं शती
४३. श्रीपुराण	भ० गुणभद्र	शक संवत् ७०५
४४. हरिवंशपुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	८वीं शती ई०
४५. हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	ई. ८वीं या पूर्ववर्ती
४६. " (")	चतुर्मुखदेव	१५-१६वीं शती
४७. " "	भ० जिनदास	१५०७
४८. " (अपभ्रंश)	भ० यशःकीर्ति	१५५२
४९. " (")	भ० श्रुतकीर्ति	१५-१६वीं शती
५०. " (")	कवि रङ्गधू	१६७१
५१. " "	भ० धर्मकीर्ति	१५६० से पूर्व का रचित
५२. " "	कवि रामचन्द्र	

इनके अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश भाषा के चरित्र-ग्रन्थ हैं जिनकी संख्या पुराणों की संख्या से अधिक है और जिनमें 'वराहचरित', 'जिनदत्तचरित', 'असहचरित', 'गायकुमारचरित' आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

पुराण-ग्रन्थों की यह सूचिका हमारे सहपाठी मित्र पं० परमानन्दजी शास्त्री, सरसावा ने भेजकर हमें अनुगृहीत किया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।^१

महापुराण

महापुराण के दो खण्ड हैं : प्रथम आदिपुराण या पूर्वपुराण और द्वितीय उत्तरपुराण। आदिपुराण ४७ पर्वों में पूर्ण हुआ है जिसके ४२ पर्व पूर्ण तथा ४३वें पर्व के ३ श्लोक भगवज्जिनसेनाचार्य के द्वारा निर्मित हैं और अवशिष्ट ५ पर्व तथा उत्तरपुराण श्री जिनसेनाचार्य के प्रमुख शिष्य श्री गुणभद्राचार्य के द्वारा विरचित हैं।

१. 'संस्कृत', 'प्राकृत' और 'पुराण' इन स्तम्भों में पं० सीताराम जयशाम जोशी एम० ए० तथा पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज एम० ए० के 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' से सहायता ली गयी है।

आदिपुराण पुराणकाल के सन्धिकाल की रचना है अतः यह न केवल पुराणग्रन्थ है अपितु काव्यग्रन्थ भी है, काव्य ही नहीं महाकाव्य है। महाकाव्य के जो लक्षण हैं वह सब इसमें प्ररफुटित हैं। श्री जिनसेनाचार्य ने प्रथम पर्व में काव्य और महाकाव्य की चर्चा करते हुए निम्नांकित भाव प्रकट किया है :

“काव्यस्वरूप के जानने वाले विद्वान् कवि के भाव अथवा कार्य को काव्य कहते हैं। कवि का वह काव्य सर्वसम्मत अर्थ से सहित, ग्राम्यदोष से रहित, असंकार से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से सुशोभित होता है।”

“कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को बाणी का असंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही बाणी का असंकार है।”

“सज्जन पुरुषों का जो काव्य असंकार सहित, शृंगारादि रसों से युक्त, सौन्दर्य से ओत-प्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह सरस्वती देवी के मुख के समान आचरण करता है।”

“जिस काव्य में न तो रीति की रमणीयता है, न पदों का सौलभ्य है और न रस का ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानों को दुःख देने वाली ग्रामीण भाषा ही है।”

“जो अनेक अर्थों को सूचित करने वाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियों से युक्त एवं स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रबन्धों-महाकाव्यों की रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं।”

“जो प्राचीन काल से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।”

“किसी एक प्रकारण को लेकर कुछ श्लोकों की रचना तो सभी कर सकते हैं परन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्ध की रचना कठिन कार्य है।”

“जब कि इस संसार में शब्दों का समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के अधीन है, रस स्पष्ट है और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करने में दरिद्रता क्या है?”

“विशाल शब्द-सागं में भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनों में घूमने से सेदखिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विभ्राम के लिए महाकाव्यरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेना चाहिए।”

“प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकाव्यरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरी को धारण करता है।”

“अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसकी सहरे हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, उष्ण और मनोहर शब्दों से युक्त है तथा जिसमें गुरु-शिष्यपरम्परारूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है।”

“हे विद्वान् पुरुषो, तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायन का भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्तकाल तक स्थिर रह सके।”

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्ता की केवल पुराणरचना में उसनी आस्था नहीं है जितनी कि काव्य की रीति से लिखे हुए पुराण में—धर्मकथा में। केवल काव्य में भी ग्रन्थकर्ता की आस्था नहीं मालूम होती उसे वे सिर्फ कौतुकावह रचना मानते हैं। उस रचना से लाभ ही क्या जिससे प्राणी का अन्तस्तल विशुद्ध न हो सके। उन्होंने पीठिका में आदिपुराण को ‘धर्मानुबन्धिनी कथा’ कहा है और बड़ी दृढ़ता के साथ प्रकट किया है कि ‘जो पुरुष यशरूपी धन का संचय और पुण्यरूपी पण्य का व्यवहार—लेन-देन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथा का निरूपण करने वाला यह काव्य मूलधन के समान माना गया है।’

वास्तव में आदिपुराण संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका इसमें प्रतिपादन न हो। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मकथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीतिशास्त्र है, आचारशास्त्र है, और युग की आद्यव्यवस्था को बतलाने वाला महान् इतिहास है।

युग के आदिपुरुष श्री भगवान् ऋषभदेव और उनके प्रथम पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्ती आदिपुराण के प्रधान नायक हैं। इन्हीं से सम्पर्क रखने वाले अन्य कितने ही महापुरुषों को कथाओं की भी इसमें समावेश हुआ है। प्रत्येक कथानायक का चरित्र-चित्रण इतना सुन्दर हुआ है कि वह यथार्थता की परिधि को न लाँघता हुआ भी हृदयग्राही मालूम होता है। हरे-भरे वन, वायु के मन्द-मन्द सकोरे से घिरकती हुई पुष्पात-पल्लवित लताएँ, कलकल करती हुई सरिसाएँ, प्रफुल्ल कमलोद्भासित सरोवर, जस्युग गिरिमालाएँ, पहाड़ी निर्झर, बिजली से शोभित स्थामल घनघटाएँ, चहकते हुए पक्षी, प्राची में सिन्दूररस की अरुणिमा को बिलेरने वाला सूर्योदय और लोक-लोचनाह्लादकारी सन्धोदय आदि प्राकृतिक पदार्थों का चित्रण कवि ने जिस चातुर्य से किया है वह हृदय में भारी आह्लाद की उद्भूति कराता है।

तृतीय पर्व में चौदहवें कुलकर श्री नाभिराज के समय गगनांगण में सर्वप्रथम घनघटा छापी हुई दिखाता है, उसमें बिजली चमकती है, मन्द-मन्द गर्जना होती है, सूर्य की सुनहली रश्मियों के सम्पर्क से उसमें रंग-विरंगे इन्द्रधनुष दिखार्य देते हैं, कभी मध्मम और कभी तीव्र वर्षा होती है, पृथ्वी जलमय हो जाती है, मयूर नृत्य करने लगते हैं, चिरसन्तप्त खातक सन्तोष की साँस लेते हैं, और प्रकृष्ट वारिधारा वसुधातल में स्पाकीण हो जाती है... इस प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कवि ने जिस सरसता और सरलता के साथ किया है कि एक अध्ययन की वस्तु है। अन्य कवियों के काव्य में आप यही बात क्लिष्ट-बुद्धिगम्य शब्दों से परिवेष्टित पाते हैं और इसी कारण स्मृतिपरिधान से आवृत्त काभिर्मी के सौन्दर्य की भाँति वहाँ प्रकृति का सौन्दर्य अपने रूप में प्रस्फुटित नहीं हो पाता है परन्तु यहाँ कवि के सरल शब्द-विन्यास से प्रकृति की प्राकृतिक सुषमा परिधानावृत्त नहीं हो सकी है बल्कि सूक्ष्म—महीन वस्त्रावलि से सुशोभित किसी सुन्दरी के गात्र की अवदात आभा की भाँति अत्यन्त प्रस्फुटित हुई है।

श्रीमती और वज्रजंघ के भोगोपभोगों का वर्णन, भोगभूमि की भव्यता का व्याख्यान, मरुदेवी के गात्र की गरिमा, श्रीभगवान् ऋषभदेव का जन्मकल्याणक का दृश्य, अभिवंककालीन जल का विस्तार, क्षीरसमुद्र का सौन्दर्य, भगवान् की बाल्य-क्रीडा, पिता नाभिराज की प्रेरणा से वशोदा और सुनन्दा के साथ विवाह करना, राज्यपालन, नीलांजना के विलय का निमित्त पाकर चार हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण करना, छह माह का योग समाप्त होने पर आहार के लिए लगातार छह माह तक भ्रमण करना, हस्तिनापुर में राजा सौमप्रभ और श्रेयांस के द्वारा इक्षुरस का आहार दिया जाना, तपोलीनता, नमि-विनमि की राज्य-प्रार्थना, समूचे सर्ग में व्याप्त नानावृत्तमय विजयार्धगिरि की सुन्दरता, भरत और बाहुबली का महायुद्ध, सुलोचना का स्वयंवर, जय-कुमार और अर्ककीर्ति का अद्भुत युद्ध, आदि-आदि विषयों के सरस सालंकार-प्रवाहान्वित वर्णन में कवि ने जो कमाल किया है उससे पाठक का हृदय-मयूर सहसा नाच उठता है। बरबस मुख से निकलने लगता है—धन्य महाकवि धन्य! गर्भकालिक वर्णन के समय षट् कुमारिकाओं और मरुदेवी के बीच प्रश्नोत्तर रूप में कवि ने जो प्रहेलिका तथा चित्रालंकार की छटा दिखलायी है वह आश्चर्य में डालने वाली वस्तु है।

यदि अचार्य जिनसेन स्वामी भगवान् का स्तवन करने बैठते हैं तो इतने तन्मय हुए दिखते हैं कि उन्हें समय की अवधि का भी भान नहीं रहता और एक-दो नहीं अष्टोत्तर हजार नामों से भगवान् का विशद सुयश गाते हैं। उनके ऐसे स्तोत्र आज सहस्रनाम स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे समवसरण का वर्णन करते हैं तो पाठक और श्रोता दोनों को ऐसा विदित होने लगता है मानो हम साक्षात् समवसरण का ही दर्शन कर रहे हैं। ऋतुर्भेदात्मक ध्यान के वर्णन से पूरा सर्ग भरा हुआ है। उसके अध्ययन से ऐसा लगने लगता है कि मानो अब मुझे शुक्लध्यान होने वाला ही है और मेरे समस्त कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त हुआ ही चाहता है। भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन पढ़ते समय ऐसा लगने लगता है कि जैसे मैं गंगा, सिन्धु, विजयार्ध, वृषभाचल हिमाचल आदि का प्रत्यक्ष अवलोकन कर रहा हूँ।

भगवान् आदिनाथ जब ग्राह्मी सुन्दरी-पुत्रियों और भरत बाहुबली आदि को लोककल्याणकारी विविध विद्याओं की शिक्षा देते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो एक सुन्दर विद्यामन्दिर है और उसमें शिक्षक के स्वान-

पर नियुक्त भगवान् वृषभदेव शिष्य-मण्डली के लिए शिक्षा दे रहे हों। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से वस्तु मानव-समाज के लिए जब भगवान् सान्त्वना देते हुए षट्कर्म की व्यवस्था भारत-भूमि पर प्रचारित करते हैं, देश-प्रदेश, नगर, स्व और स्वामी आदि का विभाग करते हैं तब-तब ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् संश्रुत मानव-समाज का कल्याण करने के लिए स्वर्ग से अवतीर्ण हुए दिव्यावतार ही हैं। गर्भान्वय, दीप्तान्वय, कर्त्रन्वय आदि क्रियाओं का उपदेश देते हुए भगवान् जहाँ जनकल्याणकारी व्यवहार-धर्म का प्रतिपादन करते हैं वहाँ संसार की ममता-माया से विरक्त कर इस मानव को परम निर्वृति की ओर जाने का भी उन्होंने उपदेश दिया है। सम्राट् भरत दिग्विजय के बाद आश्रित राजाओं को जिस राजनीति का उपदेश करते हैं वह क्या कम गौरव की बात है? यदि आज के जननायक उस नीति को अपनाकर प्रजा का पालन करें तो यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि सर्वत्र शान्ति छा जाये और अशान्ति के काले बादल कभी के क्षत-विक्षत हो जायें। अन्तिम पर्वों में गुणभद्राचार्य ने जो श्रीपाल आदि का वर्णन किया है उसमें यद्यपि कवित्व की मात्रा कम है तथापि ब्रह्मवृद्ध वर्णन-शैली पाठक के मन को विस्मय में डाल देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीजिनसेन स्वामी और उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने इस महापुराण के निर्माण में जो कौशल दिखाया है वह अन्य कवियों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। यह महापुराण समस्त जैनपुराण-साहित्य का शिरोमणि है। इसमें सभी अनुयोगों का विस्तृत वर्णन है। आचार्य जिनसेन से उत्तरवर्त्ती ग्रन्थकारों ने इसे बड़ी भ्रष्टा की दृष्टि से देखा है जो आगे चलकर आर्य नाम से प्रसिद्ध हुआ और जगह-जगह 'तदुक्तं आर्ये' इन शब्दों के साथ इसके श्लोक उद्धृत मिलते हैं। इसके प्रतिपाद्य विषय को देखकर यह दुःखता से कहा जा सकता है कि जो अन्यत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित है वह इसमें प्रतिपादित है और जो इसमें प्रतिपादित नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

कथानायक

महापुराण के कथानायक त्रिषष्टिशलाकापुरुष हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्त्ती, ६ बलभद्र, ६ नारायण और ६ प्रतिनारायण—ये बेसठ 'शलाकापुरुष' कहलाते हैं। इनमें से आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर धीवृषभनाथ और उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्त्ती भरत का ही वर्णन हो पाया है। अन्य पुरुषों का वर्णन गुणभद्राचार्य-प्रणीत उत्तरपुराण में हुआ है। आचार्य जिनसेन स्वामी ने जिस रीति से प्रथम तीर्थंकर और भरत चक्रवर्त्ती का वर्णन किया है, यदि वह जीवित रहते और उसी रीति से अन्य कथानायकों का वर्णन करते तो यह महापुराण संसार के समस्त पुराणों तथा काव्यों से महान् होता। श्री जिनसेनाचार्य के देहावसान के बाद गुणभद्राचार्य ने अवशिष्ट भाग को अत्यन्त संक्षिप्त रीति से पूर्ण किया है परन्तु संक्षिप्त रीति से लिखने पर भी उन्होंने सारपूर्ण समस्त बातों का समुल्लेख कर दिया है। वह एक श्लाघनीय समय था कि जब शिष्य अपने गुरुदेव के द्वारा प्रारम्भ कार्य को पूर्ण करने की शक्ति रखते थे।

भगवान् वृषभदेव इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में आद्य तीर्थंकर थे। तृतीय काल के अन्त में जब भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हो रही थी, तब उस सन्धि-काल में अयोध्या के अन्तिम मनु-कूलकर श्रीनाभिराज के घर उनकी पत्नी मरुदेवी से इनका जन्म हुआ था। आद्य जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धारक थे। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद बिना बोये धान से लोगों की आजीविका होती थी; परन्तु कालक्रम से जब वह धान भी नष्ट हो गया तब लोग भूख-प्यास से अत्यन्त क्षुभित हो उठे और सब नाभिराज के पास पहुँचकर 'ब्राहि-ब्राहि' करने लगे। नाभिराज शरणागत प्रजा को भगवान् वृषभनाथ के पास ले गये। लोगों ने अपनी कहण-कथा उनके समक्ष प्रकट की। प्रजाजनों की विह्वल दशा देखकर भगवान् की अन्तरात्मा द्रवीभूत हो उठी। उन्होंने उसी समय अवधिज्ञान से विदेहक्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण कर इस भरतक्षेत्र में वही व्यवस्था चासू करने का निश्चय किया। उन्होंने असि (सैनिक कार्य), मयी (लेखन कार्य), कृषि (खेती), विद्या (संगीत-नृत्यगान आदि), शिल्प (विविध वस्तुओं का निर्माण) और

वाणिज्य (व्यापार)—इन छह कार्यों का उपदेश दिया तथा इन्द्र के सहयोग से देश, नगर, घास आदि की रचना करवायी। भगवान् के द्वारा प्रवर्धित छह कार्यों से लोगों की आजीविका चलने लगी। कर्मभूमि प्रारम्भ हो गयी। उस समय की सारी व्यवस्था भगवान् वृषभदेव ने अपने बुद्धिबल से की थी, इसलिए वही माघि-पुरुष, ब्रह्मा, विधाता आदि संज्ञाओं से व्यवहृत हुए।

नाभिराज की प्रेरणा से उन्होंने कच्छ, मद्राक्ष, राक्षसों की बहनों यशस्वती और सुनन्दा के साथ विवाह किया। नाभिराज के महान् आग्रह से राज्य का भार स्वीकृत किया। आपके राज्य से प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। कालक्रम से यशस्वती की कूख से भरत आदि १०० पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री हुई और सुनन्दा की कूख से बाहुवली पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। भगवान् वृषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियों को अनेक जनकल्याणकारी विद्याएँ पढ़ायी थीं जिनके द्वारा समस्त प्रजा में पठन-पाठन की व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था।

नीलाजना का नृत्य-काल में अचानक विनीत हो जाना भगवान् के वैराग्य का कारण बन गया। उन्होंने बड़े पुत्र भरत को राज्य तथा अन्य पुत्रों को पर्यायोग्य स्वामित्व देकर प्रज्या धारण कर ली। चार हजार अन्य राजा भी उनके साथ प्रवर्जित हुए वे परन्तु वे क्षुधा, तृषा आदि की बाधा न सह सकने के कारण कुछ ही दिनों में म्रष्ट हो गये। भगवान् ने प्रथमयोग छह माह का लिवा था। छह माह समाप्त होने के बाद वे आहार के लिए निकले, परन्तु उस समय लोग, मुनियों की आहार किस प्रकार दिया जाता है, यह नहीं जानते थे। अतः विधि न मिलने के कारण आपको छह माह तक भ्रमण करना पड़ा। आपका यह विहार अयोध्या से उत्तर की ओर हुआ और आप चलते-चलते हस्तिनापुर आ पहुँचे। वहाँ के तत्कालीन राजा सोमप्रभ थे। उनके छोटे भाई का नाम श्रेयांस था। इस श्रेयांस का भगवान् वृषभदेव के साथ पूर्वभ्रम का सम्बन्ध था। वज्रजंघ की पर्याय में यह उनकी श्रीमती नाम की स्त्री था। उस समय इन दोनों ने एक मुनिराज के लिए आहार दिया था। श्रेयांस की जाति-स्मरण होने से वह सब घटना स्मृत हो गयी। इसलिए उसने भगवान् को देखते ही पङ्गाह लिया और इक्षुरस का आहार दिया। वह आहार बीसाख सुदी तृतीया की दिया गया था तभी से इसका नाम 'अक्षयतृतीया' प्रसिद्ध हुआ। राजा सोमप्रभ, श्रेयांस तथा उनकी रानियों का लोगोंने बड़ा सम्मान किया। आहार लेने के बाद भगवान् वन में चले जाते थे और वहाँ के स्वच्छ वायु-मण्डल में आत्मसाधना करते थे। एक हजार वर्ष के तपश्चरण के बाद उन्हें दिव्यज्ञान—केवलज्ञान—प्राप्त हुआ। जब वह सर्वज्ञ हो गये, संसार के प्रत्येक पदार्थ को स्पष्ट जानने लगे।

उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए। उन्होंने चक्रवर्तन के द्वारा षट्क्षण्ड भरतक्षेत्र को अपने अधीन किया और राजनीति का विस्तार करके आश्रित राजाओं को राज्य-शासन की पद्धति सिखायी। उन्होंने ही ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण इस भारत में प्रचलित हुए। इनमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण आजीविका के भेद से निर्धारित किये गये थे और ब्राह्मण वर्ण के रूप में स्थापित हुए थे। सब अपनी-अपनी वृत्ति का निर्वाह करते थे, इसलिए कोई दुःखी नहीं था।

भगवान् वृषभदेव ने सर्वज्ञ दशा में दिव्य छवि के द्वारा संसार के सूले-भटके प्राणियों को हित का उपदेश दिया। उनका समस्त आर्यखण्ड में बिहार हुआ था। आयु के अन्तिम समय वे कैलास पर्वत पर पहुँचे और वहीं से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। भरत चक्रवर्ती यद्यपि षट्क्षण्ड पृथिवी के अधिपति थे, फिर भी उसमें आसक्त नहीं रहते थे। यही कारण था कि जब उन्होंने गृहवास से विरक्त होकर प्रज्या-दीक्षा धारण की तब अन्तर्मुहूर्त में ही उन्हें केवलज्ञान हो गया था। केवलज्ञानी भरत ने भी आर्य देशों में बिहार कर समस्त जीवों को हित का उपदेश दिया और आयु के अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् वृषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् वृषभदेव और सम्भाद् भरत ही आदिपुराण के प्रमुख कथानायक हैं। उनका वर्तमान पर्याय-सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण ऊपर लिखे अनुसार है। भगवान् वृषभदेव और सम्भाद् भरत इतने अधिक प्रभाव-वाली पुण्य पुरुष हुए हैं कि उनका जैनग्रन्थों में तो उल्लेख आता ही है, उसके सिवाय वेद के मन्त्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में उल्लेख मिलता है। भागवत में भी मरुदेव, नाभिराय, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण दिया है। यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों में भिन्न प्रकार से दिया गया है। इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है।

निम्नांकित^१ उद्धरणों से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है—

“अग्निश्चक्षुर्भोजोर्नाभेस्तु ऋचभोऽभूत् सुतो द्विजः । ऋचभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् भरः ॥३६॥
सोऽभिविध्यर्षभः पुत्रं महाप्राज्ञायमास्थितः । तपस्तेये महाभागः पुत्रहाभ्यमर्षभः ॥४०॥
हिमाह्वं वक्षिणं वर्षं भरताय पिता वर्यो । तस्मात् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥”

—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ४०

“हिमाह्वयं तु वर्यं नाभेरासीन्महात्मनः । तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्या महाद्युतिः ॥३७॥
ऋचभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः । सोऽभिविध्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥३८॥”

—कूर्मपुराण, अध्याय ४१

“अराभृत्युभवं नास्ति जमांश्चक्षुः पुनर्विपश्च ॥३९॥ ऋचभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः । सोऽभिविध्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥४०॥
ऋचभो मरुदेव्यां च ऋचभाद् भरतोऽभवत् । ऋचभोदासभ्योपुत्रो शाक्यग्रामे हरिं वतः ॥४१॥
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ॥”

—अग्निपुराण, अध्याय १०

“नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिः । ऋचभं पार्थिवयेष्ठं सर्वस्रजस्य पूर्वजम् ॥४२॥
ऋचभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः । सोऽभिविध्यर्षभः भरतं पुत्रं प्राजाप्यमास्थितः ॥४३॥
हिमाह्वं वक्षिणं वर्षं भरताय मरुदेवयत् । तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥४४॥”

—वायुमहापुराण पूर्वार्ध, अध्याय ३३

“नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥४५॥

ऋचभं पार्थिवं येष्ठं सर्वस्रजस्य पूर्वजम् । ऋचभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥४६॥
सोऽभिविध्यर्षभः पुत्रं महाप्राज्ञायमास्थितः । हिमाह्वं वक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥४७॥”

—ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अध्याय १४

“नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रस्रजनयत् ऋचभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च ताकवस्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋचभः
हेमाव्रेवक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ॥”

—बाराहपुराण, अध्याय ७४

१. यह उद्धरण स्वामी कमलानन्द की ‘धर्म का आदि प्रवर्तक’ नामक पुस्तक से साभार ग्रहण किये गये हैं।

“नाभेऽनित्यं वक्ष्यामि हिमाकेऽस्मिन्निबोधत । नाभिस्तत्तज्जनयत् पुत्रं मरुदेष्टव्यं महाश्रुतिः ॥१६॥

ऋषभं पार्थिवऋषेऽं सर्वशत्रुस्य पूजितम् । ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशतान्नयः ॥२०॥

सोऽभिषिच्यथा ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः । ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगात् ॥२१॥

सर्वविमलात्मन्यास्थाय परतात्मानमीश्वरम् । भग्नो जटो निराहारोऽखीरो ध्वान्तगतो हि सः ॥२२॥

निराशस्त्यक्तसंवेहः शैवमाय परं पथम् । हिमाद्रौ देवि जज्ञे ऋषभाद् भरताऽऽवेष्टव्यम् ॥२३॥

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विबुर्बुधाः ।”

—लिङ्गपुराण, अध्याय ४७

“न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा । हिमाद्रयं तु वै वर्षं नाभेरालीन्महात्मनः ॥२७॥

तस्यैवभोऽभक्तपुत्रो मरुदेष्टव्यं महाश्रुतिः । ऋषभाद् भरतो जज्ञे ऋषेष्टः पुत्रशतस्य सः ॥२८॥”

—विष्णुपुराण, द्वितीयांश, अध्याय १

“नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभक्तः । तस्य नाम्ना त्विवं वर्षं भारतं वेति कीर्त्यते ॥५७॥”

—स्कन्दपुराण, भाह्वरखण्ड, कीमारखण्ड, अध्याय ३७

भगवान् ऋषभदेव और ब्रह्मा

लोक में ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है वह जैन-परम्परानुसार, भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर दूसरा नहीं है । ब्रह्मा के अन्य अनेक नामों में निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयम्भू ।

इनकी यद्यार्थ संगति भगवान् ऋषभदेव के साथ ही बैठती है । जैसे :

हिरण्यगर्भ—जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ में आये थे, उसके छह माह पहले से अयोध्या नगर में हिरण्य-सुवर्ण तथा रत्नों की वर्षा होने लगी थी, इसलिए आपका हिरण्यगर्भ नाम सार्थक है ।

प्रजापति—कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद अग्नि, मणि, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी, इसलिए आप प्रजापति कहलाते थे ।

लोकेश—समस्त लोक के स्वामी थे, इसलिए लोकेश कहलाते थे ।

नाभिज—नाभिराज नामक चौदहवें मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाते थे ।

चतुरानन—समयसरण में चारों ओर से आपका दर्शन होता था, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे ।

स्रष्टा—भोगभूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार, विवाह-प्रथा आदि के आप आद्य प्रवर्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे जाते थे ।

स्वयम्भू—दर्शन-विशुद्धि आदि भावनाओं से अपने आत्मा के गुणों का विकास कर स्वयं ही आद्य तीर्थंकर हुए थे, इसलिए स्वयम्भू कहलाते थे ।

आचार्य जिनसेन और गुणभद्र^१

ये दोनों ही आचार्य मूलसंघ के उस ‘पंचस्तूप’ नामक अन्वय में हुए हैं जो कि आगे चलकर सेनान्वय

१. यह प्रकरण आद्वैत नाश्रुनामजी प्रेमी के ‘जैन साहित्य और इतिहास’ तथा ‘चिद्विभक्तमाला’ से लिया गया है ।

या सेतसंघ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जिनसेन स्वामी के गुह और सेन ने तो अपना वंश 'पंचस्तूपान्वय' ही लिखा है परन्तु गुणभद्राचार्य ने सेनान्वय लिखा है। इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि जो मुनि पंचस्तूप-निवास से आये, उनमें किन्हीं को सेन और किन्हीं को भद्र नाम दिया गया। तथा कोई आचार्य^३ ऐसा भी कहते हैं कि जो गुहाओं से आये उन्हें नन्दी, जो अशोक वन से आये उन्हें देव और जो पंचस्तूप से आये उन्हें सेन नाम दिया गया। श्रुतावतार के उक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सेनान्त और भद्रान्त नाम वाले मुनियों का समूह ही आगे चलकर सेनान्वय या सेतसंघ कहलाने लगा है।

वंश-परम्परा

वंश दो प्रकार का होता है—एक लौकिक वंश और दूसरा पारमार्थिक वंश। लौकिक वंश का सम्बन्ध योनि से है और पारमार्थिक वंश का सम्बन्ध विद्या से। आचार्य जिनसेन और गुणभद्र के लौकिक वंश का कुछ पता नहीं चलता। आप कहाँ के रहने वाले थे? किसके पुत्र थे? आपकी क्या जाति थी? इसका उल्लेख न इनकी ग्रन्थप्रशस्तियों में मिलता है और न इनके परवर्ती आचार्यों की ग्रन्थ-प्रशस्तियों में। गृहवास से विरत साधु अपने लौकिक वंश का परिचय देना उचित नहीं समझते और न उस परिचय से उनके व्यक्तित्व में कुछ महत्व ही आता है। यही कारण रहा कि कुछ को छोड़कर अधिकांश आचार्यों के इस लौकिक वंश का कुछ भी इतिहास सुरक्षित नहीं है।

अभी तक के अनुसन्धान से इनके परमार्थ वंश—'गुरुवंश'—की परम्परा आर्य चन्द्रसेन तक पहुँच सकी है। अर्थात् चन्द्रसेन के शिष्य आर्यमन्दी, उनके वीरसेन, वीरसेन के जिनसेन, जिनसेन के गुणभद्र और गुणभद्र के शिष्य लोकसेन थे। यद्यपि आत्मानुशासन के संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र ने उपोद्घात^४ में लिखा है कि बड़े धर्ममाई विषयव्यामुग्धबुद्धि लोकसेन को सम्बोध देने के द्वाज से समस्त प्राणियों के उपकारक समीचीन मार्ग को दिखलाने की इच्छा से श्री गुणभद्रदेव ने यह ग्रन्थ लिखा; परन्तु उत्तरपुराण की प्रशस्ति^५ को देखते हुए टीकाकार का उक्त उल्लेख ठीक नहीं मान्य होता क्योंकि उसमें उन्होंने लोकसेन को अपना मुख्य शिष्य बतलाया है। वीरसेन स्वामी के जिनसेन के सिवाय दशरथगुरु नाम के एक शिष्य और थे। श्री गुणभद्र-स्वामी ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में अपने आपको उक्त दोनों गुरुओं का शिष्य बतलाया है। इनके सिवाय

१. अक्षयज्जर्णदिसिस्सेणुज्जवकम्मस्स चरसेणस्स । सहससुवेण पंचस्तूपहन्वभाजुणा मुनिणा ॥४॥

—अक्षला

धस्तपोवीप्तकिरणैर्भग्याम्भोजानि बोधयम् । व्यस्रोतिष्ट मुनीमेनः पंचस्तूपान्वयान्वरे ॥५॥

—अमघबला

२. पंचस्तूप्यनिवासाकुपागता येऽनगारिणस्तेषु । कारिचरस्तेनाभिल्याम् कारिचरुभद्राभिधान-
करोत् ॥६३॥

३. अन्ये जगुर्गुहाया विभिर्गता मन्दितो महात्मानः । देवाश्चाशोकवनात् पंचस्तूप्यासतः सेनः ॥६७॥

—६० श्रुतावतार

४. "बृहद्वर्मआतुल्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसंशयोपकारकसन्मार्गमुपदर्श-
यितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विकलतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष-
मवस्थाप्यैवनाह—'लक्ष्मीनिवास्तमितप्रभिति' ।"

५. श्रीवीरसेनमुनिपावपयोजभृङ्गः श्रीमानभूत् विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।

तच्चोचितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं यथायि परिवेष्टितमेधभूतम् ॥"

विनयसेन मुनि श्री वीरसेन के शिष्य थे जिनकी प्रबल प्रेरणा पाकर जिनसेन आचार्य ने 'पार्ष्वाभ्युदय'^१ काव्य की रचना की थी। इन्हीं विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने आगे चलकर काण्ठासंघ की स्थापना की थी ऐसा देवसेनाचार्य ने अपने 'दर्शनसार'^२ में लिखा है। जयधवला टीका में श्रीपाल, पद्मसेन और वेदसेन इन तीन^३ विद्वानों का उल्लेख और भी आता है जो कि सम्भवतः जिनसेन के सधर्मा या गुरुभाई थे।^४ श्रीपाल को तो जिनसेन के जयधवला टीका का संपालक कहा है और आदिपुराण के पीठिकावन्ध में उनके गुणों की काफी प्रशंसा की है।

आदिपुराण की पीठिका में श्री जिनसेन स्वामी ने श्री वीरसेन स्वामी की स्तुति के बाद ही श्री जयसेन स्वामी की स्तुति की है^५ और उनसे प्रार्थना की है कि जो तपोलक्ष्मी की जन्मभूमि हैं, सास्त्र और शान्ति के भण्डार हैं तथा विद्वत्समूह के अग्रणी हैं वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें। इससे यह सिद्ध होता है कि जयसेन श्री वीरसेन स्वामी के गुरुभाई होंगे और इसीलिए जिनसेन ने उनका गुरु-रूप से स्मरण किया है। इस प्रकार श्री जिनसेन की गुरु-परम्परा आगे के पृष्ठ पर दिये गये चार्ट से प्रस्पष्ट की जा सकती है :

१. "सिरिबीरसेनसिस्सो जिजसेनो तयससस्पविज्जाणो ।
 सिरिपटमणदिपण्ठा चउसंयसमुव्धरणघोरो ॥३१॥
 तस्स थ सिस्सो गुणधं गुणमही दिग्गजाजपरिपुण्णो ।
 पक्खोवकासमंडियमहातथो भावसिनो थ ॥३२॥
 सेव पुणोवि थ मिच्चुणाऊज सुजिस्स जिजयसेनस्स ।
 सिद्धंतं घोसिता सयं गयं सग्गसोयस्स ॥३३॥
 भासी कुमारसेनो जंदियवे जिजयसेनविज्जयओ ।
 सग्गामभंजणे थ अणहिमपुणविज्जमो जाओ ॥३४॥
 सो सबनसंघज्जो कुमारसेनो नु सम्व मिच्छत्तो ।
 जलोचसमो वव्वो कट्ठं संघं पक्खेवि ॥३५॥"

—दर्शनसार

२. "सर्वज्ञप्रतिपावितार्थगणभूस्तुत्रानुटीकामिमां,
 येऽन्यस्यन्ति बहुचुताः श्रुतगुरुं संपूज्य वीरप्रभुम् ।
 ते नित्योत्पन्नपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनाभिजा,
 भासन्ते रविचन्द्रासिसुतयः श्रीपालसत्कीर्तयः ॥४४॥"

—जयधवला

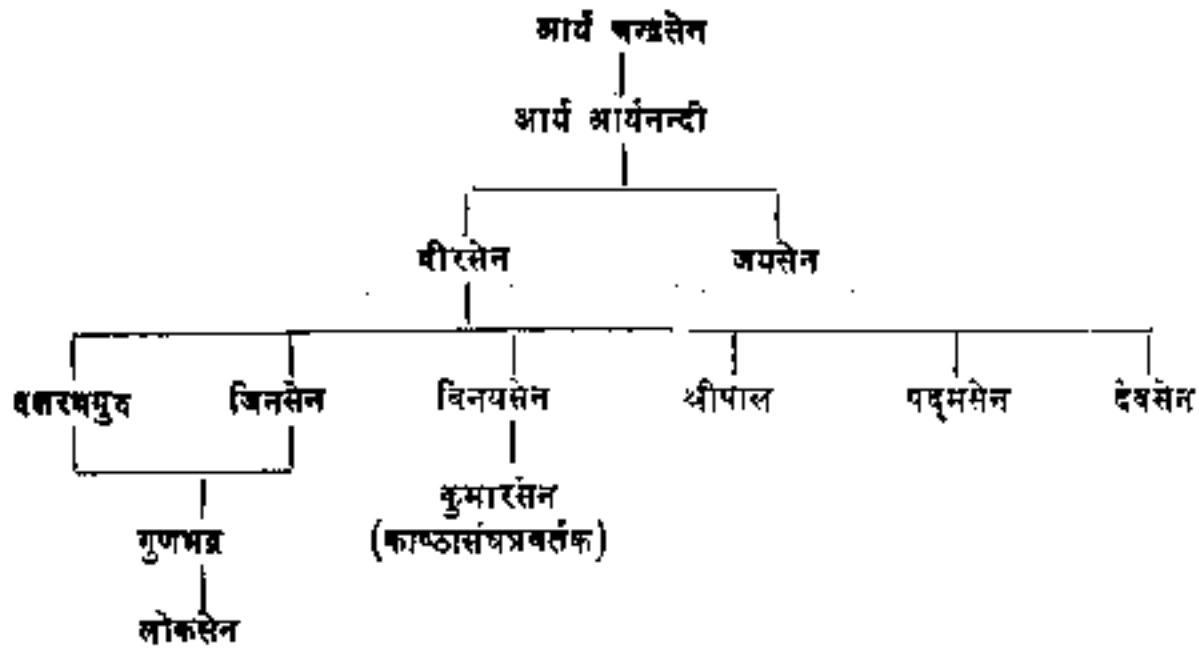
३. "टीका श्रीजयचिह्निसौदधवला सूत्रार्थसंघोषिनी
 स्थेमादारविश्वगुणजलतपः श्रीपालसंपालिता ॥४३॥"

—जयधवला

४. "अट्टाकलकश्रीपालपात्रकेसरिणा गुणाः । विबुधां हृदयारुहा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः" ॥४३॥

—आ० पु०

५. वेत्तो, आ० पु० १। ५५-५६ ।



इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतारों में लिखा है कि कितना ही समय बीत जाने पर चित्रकूटपुर में रहने वाले श्रीमान् एलाचार्य हुए जो सिद्धान्त-ग्रन्थों के रहस्य को जानते थे। श्रीवीरसेन स्वामी ने उनके पास समस्त सिद्धान्त का अध्ययन कर उपरितन, निबन्धन आदि आठ अधिकारों को लिखा था। गुप्त महाराज की आज्ञा से वीरसेन स्वामी चित्रकूट छोड़कर माटग्राम आये। वहाँ आनन्देन्द्र के बनवाये हुए जिन-मन्दिर में बैठकर उन्होंने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' की पाकर उसके जो पहले छह खण्ड हैं, उनमें बन्ध्यादि अठारह अधिकारों में सत्कर्म नामक छठे खण्ड को संक्षिप्त किया और सबकी संस्कृत-प्राकृत भाषा-मिश्रित ध्रुवला नाम की टीका ७२ हजार श्लोक-प्रमाण रखी और फिर दूसरे 'कषायग्रामृत' के पहले स्कन्ध की चारों विधिवित्तियों पर जय-ध्रुवला नाम की २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। इसके बाद आयु पूर्ण हो जाने से स्वर्गवासी हुए। उनके अनन्तर श्रीजयसेन गुरु ने ४० हजार श्लोक और बनाकर जयध्रुवला टीका पूर्ण की। इस प्रकार जयध्रुवला टीका ६० हजार श्लोक-प्रमाण निर्मित हुई।

यही बात श्रीधर त्रिबुध ने भी अपने गद्यात्मक श्रुतावतार में कही है, अतः इन दोनों श्रुतावतारों के आधार से यह सिद्ध होता है कि वीरसेनाचार्य के गुरु एलाचार्य थे। परन्तु यह एलाचार्य कौन थे, इसका

१. देखो श्लोक १७६-१८३।

२. श्लोक १८२ में "यातस्वतः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन गुरुनामा" यहाँ जयसेन के स्थान में जिनसेन का उल्लेख होना चाहिए क्योंकि श्रीधरकृत 'गद्यश्रुतावतार' में जयसेन के स्थान पर जिनसेन का ही पाठ है। यथा :

"...वीरसेन मुनिः स्वर्गं यास्यति । तस्य शिष्यो जिनसेनो भविष्यति । सोऽपि अस्त्वारिशास्त्रहृत्तः कर्मब्राम्हणं समाप्तिं मेच्यति । अमुना प्रकारेण पण्डितसहस्रप्रमिता जयध्रुवलामार्शङ्किता टीका भविष्यति ।"

इसके सिवाय गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में भी जिनसेन स्वामी को सिद्धान्तशास्त्र का टीकाकार कहा है।

इतना ही नहीं, जिनसेन स्वामी ने पीठिकाग्रध में अपने गुरु वीरसेनाचार्य का जो स्मरण किया है, उसमें उन्होंने उन्हें 'सिद्धान्तोपनिबन्धन' सिद्धान्त-ग्रन्थ के उपनिबन्धों-टीकाओं का कर्ता कहा है।

रहा है। यहाँ बहुत-सी पुरानी गुफायें हैं और पाँच-सौ वर्ष पुराने मन्दिर हैं। श्वेताम्बर मुनि शीलविजय ने इसका चित्रगढ़ नाम से उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि गुफाधार्मिक या निवासस्थान यही चित्रकूट हो। शीलविजयजी ने अपनी तीर्थयात्रा में चित्रगढ़, बनौसी और बंकापुर का एक साथ उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन स्थानों के बीच अधिक अन्तर नहीं होगा। बंकापुर वही है जहाँ लोकसेन के द्वारा उत्तरपुराण का पूजामहोत्सव हुआ था और बनौसी (वनवासी) वही है जहाँ बंकापुर से पहले राजधानी थी। इस तरह सम्भव है कि बाटग्राम वनवासी और चित्तलदुर्ग के आस-पास होगा।^१ अमोघवर्ष की राजधानी मान्यलेट थी जो कि उस समय कर्नाटक और महाराष्ट्र इन दो देशों की राजधानी थी और इस समय मलखेड़ नाम से प्रसिद्ध है तथा हैदराबाद रेलवे लाइन पर मलखेड़गेट नामक छोटे-से स्टेशन से ४-५ मील दूरी पर है। अमोघवर्ष श्रीजिनसेन स्वामी के अनन्य भक्तों में से था, अतः उनका इसकी राजधानी में आना-जाना सम्भव है। परन्तु वहाँ उनके खास निवास के कोई उल्लेख नहीं मिलते।

समय-विचार

हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन (द्वितीय) ने अपने हरिवंशपुराण में जिनसेन के गुरु वीरसेन और जिनसेन का निम्नांकित शब्दों में उल्लेख किया है :

“जिन्होंने परलोक को जीत लिया है और जो कवियों के चक्रवर्ती हैं, उन वीरसेन गुरु की कलंकरहित कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेन स्वामीने श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के गुणों की जो अपरिमित स्तुति बनायी है अर्थात् पार्वाम्युदय काव्य की रचना की है वह उनकी कीर्ति का अच्छी तरह कीर्तन कर रही है। और उनके वर्धमानपुराणरूपी उदित होते हुए सूर्य की उज्ज्वल किरणों विद्वत्पुरुषों के अन्तःकरण-रूपी स्फटिक-भूमि में प्रकाशमान हो रही हैं।”^२

‘अवभासते’, ‘संकीर्तयति’, ‘प्रस्फुरन्ति’ इन वर्तमानकालिक क्रियाओं के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण की रचना होने के समय आदिपुराण के कर्ता श्रीजिनसेन स्वामी विद्यमान थे और तब तक वे

१. “चित्रगढ़ बनौसी नाम बंकापुर वीरु शुभग्राम।

तीर्थ भक्तोहर जिस्मयवन्त.....”

२. यह प्रेसीजी की पूर्व विचारधारा थी परन्तु अब उन्होंने इस विषय में अपना निम्न मतलब एक वचन में मुझे लिखा है :

“चित्तलदुर्ग को मैंने जो पहले चित्रकूट अनुमान किया था वह अब ठीक नहीं मालूम होता। चित्रकूट आजकाल का राजस्थान का चित्तौड़ ही होगा। हरिधेन आदि ने चित्तौड़ को ही चित्रकूट लिखा है। इसके सिवाय डॉ आलतेकर के अनुमान के अनुसार बाटग्राम या बटग्राम बटपड़ या बड़ोवा होगा जहाँ के आनतेन्द्र के मन्दिर में झवला लिखी गयी। चित्तौड़ से बड़ोवा दूर भी नहीं है। चित्रकूट प्राचीनकाल में विद्या का केन्द्र रहा है। बड़ोवा अमोघवर्ष के ही शासन में था। मुर्धरेन्दर यह कहलाता भी था। आनतेन्द्र कोई राष्ट्रकूट राजा या सामन्त होगा, जिसके बगवाये हुए मन्दिर में वे रहे थे। इन्द्रनाम के कई राष्ट्रकूट राजा हुए हैं।”

३. “जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः। वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥३६॥

यामिताम्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः। स्वामिभो जिनसेनस्य कीर्ति संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥

वर्धमानपुराणोद्यद्वादिष्वोक्तिगमस्तयः। प्रस्फुरन्ति गिरीशानाः स्फुटस्फुटिकमितिषु ॥४१॥”

—हरिवंशपुराण, सर्ग १

पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति तथा वर्धमानपुराण नामक दो ग्रन्थों की रचना कर चुके थे तथा इन रचनाओं के कारण उनकी विशद कीर्ति विद्वानों के हृदय में अपना घर कर चुकी थी। जिनसेन स्वामी की जयध्वजा टीका का अंतिम भाग तथा महापुराण-जैसी सुविस्तृत श्रेष्ठतम रचनाओं का हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। इससे पता चलता है कि उस समय इन टीकाओं तथा महापुराण की रचना नहीं हुई होगी। यह श्रीजिनसेन की रचनाओं का प्रारम्भिक काल माधुम होता है। और इस समय इनकी आयु कम-से-कम होगी तो २५-३० वर्ष की होगी क्योंकि इतनी आयु के बिना उन-जैसा अगाध पाण्डित्य और नीरव प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

हरिवंशपुराण के अन्त में जो उसकी प्रशस्ति दी गयी है उससे उसकी रचना शकसंवत् ७०५ में पूर्ण हुई है यह निश्चित है। हरिवंशपुराण की श्लोकसंख्या दस-बारह हजार है। इतने विशाल ग्रन्थ की रचना में कम-से-कम ५ वर्ष अवश्य लग गये होंगे। यदि रचना-काल में से यह ५ वर्ष कम कर दिये जायें तो हरिवंश-पुराण का प्रारम्भ काल ७०० शकसंवत् सिद्ध होता है। हरिवंश की रचना प्रारम्भ करते समय आदिपुराण के कर्ता जिनसेन की आयु कम से-कम २५ वर्ष अवश्य होगी। इस प्रकार शकसंवत् ७०० में से यह २५ वर्ष कम कर देने पर जिनसेन का जन्म ६७५ शकसंवत् के लगभग सिद्ध होता है। यह आनुमानिक उल्लेख है अतः इसमें अन्तर भी हो सकता है परन्तु अधिक अन्तर की सम्भावना नहीं है।

जयध्वजा टीका की प्रशस्ति से यह विदित होता है कि जिनसेन ने अपने गुरुदेव श्रीवीरसेन स्वामी के द्वारा प्रारम्भ कीरसेनीया टीका शकसंवत् ७५६ फागुन सुदी १० के पूर्वाह्न में जब कि आष्टाह्निक महोत्सव की पूजा हो रही थी, पूर्ण की थी*। इससे यह मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि जिनसेन स्वामी ७५६ शकसंवत् तक विद्यमान थे। अब देखना यह है कि वे इसके बाद कब तक इस भारत-भूमण्डल पर अपनी ज्ञान-ज्योति का प्रकाश फैलाते रहे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि जिनसेन स्वामी ने अपने प्रारम्भिक जीवन में पार्श्वजिनेन्द्र तथा वर्धमानपुराण लिखकर विद्वत्समाज में भारी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वर्धमानपुराण तो उपलब्ध नहीं है परन्तु पार्श्वजिनेन्द्र प्रकाशित हो चुकने के कारण कितने ही पाठकों की दृष्टि में आ चुका होगा। उन्होंने देखा होगा कि उसकी हृदयहारिणी रचना पाठक के हृदय को किस प्रकार बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वर्धमानपुराण की रचना भी ऐसी ही रही होगी। उनकी दिव्य लेखनी से प्रसृत इन दो काव्य-ग्रन्थों को देखकर उनके सम्पर्क में रहने वाले विद्वान् साधुओं ने अवश्य ही उनसे प्रेरणा की होगी कि यदि आपकी दिव्य लेखनी

१. "साकेज्जशतेषु सप्तसु विरां पञ्चोत्तरेष्वत्तरां पातीन्नायुधनाभिं कुम्भानुपजे श्रीवत्सने वसिष्ठाम् ।

पूर्वा श्रीवत्सवन्तिभूमति भुजे वत्साधिराजेऽपरा सीराकावधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥"

—ह० पु०

२. "कवायप्राभुत की २० हजार श्लोक प्रमाण वीरसेनस्वामी की और ४० हजार श्लोक प्रमाण जिनसेनस्वामी की ओ टीका है वह वीरसेनीया टीका कहलाती है। और वीरसेनीया टीकासहित जो कवायप्राभुत के मूलसूत्र तथा चूर्णिसूत्र चार्लिक वीरह अन्य आचार्यों की टीका है, उन सबके संग्रह को जयध्वजा टीका कहते हैं। यह संग्रह किसी श्रीपाल नामक आचार्य ने किया है, इसलिए जयध्वजा को 'श्रीपाल-संपालिता' कहा है।

३. "इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थवसिनी । बादप्राप्तपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानिपासिते ॥

फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे वराह्या शुक्लपक्षके । प्रवर्धमानपूजायां मन्वीरवरमहोत्सवे ॥

...एकोनवष्टिसप्तशताब्देषु सकनरेऽस्य । समतीतेषु समाप्ता जयध्वजा प्राभुतम्याख्या ॥"

ये एक-दो ही नहीं, बीबीसों तीर्थकरों तथा उनके काल में होने वाले शलाकापुरुषों का चरित्र लिखा जाये तो जनसमूह का भारी कल्याण हो और उन्होंने इस कार्य को पूरा करने का निश्चय अपने हृदय में कर लिया हो। परन्तु इनके गुरु श्री बीरसेन स्वामी के द्वारा प्रारम्भ सिद्धान्त-ग्रन्थों की टीका का कार्य उनके स्वर्णारोहण के पश्चात् अपूर्ण रह गया। योग्यता रखने वाला गुरुभक्त शिष्य गुरुप्रारम्भ कार्य की पूर्ति में जुट पड़ा और उसने ६० हजार श्लोक-प्रमाण टीका आद्य भाग के बिना शेष भाग की रचना कर उस कार्य को पूर्ण किया। इस कार्य में आपका बहुत समय निकल चुका। सिद्धान्तग्रन्थों की टीका पूर्ण होने के बाद जब आपको विश्राम मिला तब अपने विराभिलषित कार्य को हाथ में लिया और उस पुराण की रचना प्रारम्भ की जिसमें त्रैलोक्य शलाका-पुरुषों के चरित्रविवरण की प्रतिष्ठा की गयी थी। आपके ज्ञानकोष में न शब्दों की कमी थी और न अर्थों की। अतः आप विस्तार के साथ किसी भी वस्तु का वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। आदिपुराण का स्वाध्याय करने वाले पाठक श्रीजिनसेन स्वामीकी इस विशेषता का पद-पद पर अनुभव करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

हाँ, तो आदिपुराण आपकी पिछली रचना है। प्रारम्भ से लेकर ४२ पर्व पूर्ण तथा तैंतालीसवें पर्व के ३ श्लोक आपकी सुवर्ण लेखनी से लिखे जा सके कि असमय में ही आपकी आयु समाप्त हो गयी और आपका विराभिलषित कार्य अपूर्ण रह गया। आपने आदिपुराण कब प्रारम्भ किया और कब समाप्त किया, यह जानने के कोई साधन नहीं है इसलिए दुःखता के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि आपका ऐहिक जीवन अमुक शक संवत् में समाप्त हुआ होया। परन्तु यह मान लिया जाये कि बीरसेनीया टीका के समाप्त होते ही यदि महा-पुराण की रचना शुरू हो गयी हो और चूंकि उस समय श्री जिनसेन स्वामी की अवस्था ८० वर्ष से ऊपर हो चुकी होगी अतः रचना बहुत थोड़ी-थोड़ी होती रही हो और उसके लगभग १० हजार श्लोकों की रचना में कम-से-कम १० वर्ष अवश्य लग गये होंगे। इस हिसाब से शक संवत् ७७० तक अथवा बहुत जल्दी हुआ हो तो ७६५ तक जिनसेन स्वामी का अस्तित्व मानने में आपत्ति नहीं दिखती। इस प्रकार जिनसेन स्वामी ६०-६५ वर्ष तक संसार के सम्मान्त पुरुषों का कल्याण करते रहे, यह अनुमान किया जा सकता है।

गुणभद्राचार्य की आयु यदि गुरु जिनसेन के स्वर्णवास के समय २५ वर्ष की मान ली जाये तो वे शक संवत् ७४० के लगभग उत्पन्न हुए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है परन्तु उत्तरपुराण कब समाप्त हुआ तथा गुणभद्राचार्य कक तक धराधाम पर जीवित रहे यह निर्णय करना कठिन कार्य है। यद्यपि उत्तरपुराण की प्रशस्ति में यह लिखा है कि उसकी समाप्ति शकसंवत् ८२० में हुई। परन्तु प्रशस्ति के सूक्ष्मतर अध्ययन के बाद यह मान्य होता है कि उत्तरपुराण की प्रशस्ति स्वयं एकरूप न होकर दो रूपों में विभाजित है। एक से लेकर सत्ताईसवें पद्य तक एक रूप है और अट्ठाईस से लेकर बयासीसवें तक दूसरा रूप है। पहला रूप गुण-भद्र स्वामी का है और दूसरा उनके शिष्य लोकसेन का। लिपिकर्ताओं की कृपा से दोनों रूप मिलकर एक हो गये हैं। गुणभद्र स्वामी ने अपनी प्रशस्ति के प्रारम्भिक १६ श्लोकों में संघ की ओर गुरुओं का महिमा प्रदर्शित करने के बाद बीसवें पद्य में लिखा है कि अति विस्तार के भय से और अतिशय हीन काल के अनुरोध से अवशिष्ट महापुराण को संक्षेप में संगृहीत किया। इसके बाद ५६ श्लोकों में ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन कर अन्त के २७वें पद्य में कहा है कि भक्तजनों को इसे सुनाना चाहिए, व्याख्यान करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, पूजना चाहिए और भक्तजनों को इसकी प्रतिलिपियाँ लिखानी चाहिए। गुणभद्रस्वामी का कृतव्य यही समाप्त हो जाता है।

इसके बाद २८वें पद्य से लोकसेन की लिखी हुई प्रशस्ति शुरू होती है जिसमें कहा है कि उन गुणभद्र-स्वामी के शिष्यों में मुख्य लोकसेन हुआ जिसने इस पुराण में निरन्तर गुरुविरय रूप सहायता देकर सज्जनों

द्वारा बहुत मान्यता प्राप्त की थी। २६, ३०, ३१वें पद्यों में राष्ट्रकूट अकालवर्ष की प्रशंसा की है। इसके पश्चात् ३२, ३३, ३४, ३५, ३६वें पद्यों में कहा है कि जब अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानी में रहकर सारे जनवास देश का शासन करते थे, सब शकसंवत् ५२० के विमुक्तयेष्टुः पुराणे में दत्त पण्डित और सर्वसाररूप श्रेष्ठ पुराण की भव्यजनों द्वारा पूजा की गयी। ऐसा यह पुण्य पुराण अव्यक्त रहे। इसके बाद ३७वें पद्य में लोकसेन ने यह कहकर अपना वक्तव्य समाप्त किया है कि यह महापुराण चिरकाल तक सज्जनों की वाणी और चित्त में स्थिर रहे। इसके आगे दो पद्य और हैं जिनमें महापुराण की प्रशंसा वर्णित है। लोकसेन मुनि के द्वारा लिखी हुई दूसरी प्रशस्ति उस समय लिखी गयी मान्य होती है जब कि उत्तरपुराण ग्रन्थ की विधिपूर्वक पूजा की गयी थी। इस प्रकार उत्तरपुराण की प्रशस्ति में उसकी पूति का जो ५२० शकसंवत् दिया गया है, वह उसके पूजा-महोत्सव का है। गुणभद्राचार्य ने ग्रन्थ की पूति का शकसंवत् उत्तरपुराण में दिया ही नहीं है उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों 'आत्मानुशासन' तथा 'जिनदत्तचरित' में भी नहीं दिया है। इस दशा में उनका ठीक-ठीक समय बतलाना कठिन कार्य है। हाँ, जिनसेनाचार्य के स्वर्गारोहण के ५० वर्ष बाद तक उनका सद्भाव रहा होगा, यह अनुमान से कहा जा सकता है।

जिनसेन स्वामी और उनके ग्रन्थ

जिनसेन स्वामी वीरसेन स्वामी के शिष्य थे। उनके विषय में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में ठीक ही लिखा है कि जिस प्रकार हिमालय से गंगा का प्रवाह, सर्वेश के मुख से सर्वशास्त्ररूप दिव्यध्वनि का और उदयाचल के तट से दंडीप्यमान सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार वीरसेन स्वामी से जिनसेन का उदय हुआ। जयप्रदला की प्रशस्ति में आचार्य जिनसेन ने अपना परिचय बड़ी ही आलंकारिक भाषा में दिया है। देखिए :

“उन वीरसेन स्वामी का शिष्य जिनसेन हुआ जो धीमान् था और उज्ज्वल बुद्धि का धारक भी। उसके कान यद्यपि अविद्य थे तो भी ज्ञानरूपी शलाका से बँधे गये थे।”

“निकट भव्य होने के कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्सुक होकर मानो स्वयं ही वरण करने की इच्छा से जिनके लिए श्रुतमाला की योजना की थी।”

“जिसने बाल्यकाल से ही अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया था, फिर भी आश्चर्य है कि उसने स्वयंवर की विधि से सरस्वती का उग्रहण किया था।”

“जो न बहुत सुन्दर थे और न अत्यन्त चतुर ही, फिर भी सरस्वती ने अनभ्यशरणा होकर उनकी सेवा की थी।”

“बुद्धि, शान्ति और विनय यही जिनके स्वाभाविक गुण थे, इन्हीं गुणों से जो गुरुओं की आराधना करते थे। सो ठीक ही है, गुणों के द्वारा किसकी आराधना नहीं होती?”

१. “तस्य शिष्योऽभ्यर्च्यमानो जिनसेनः समिद्धधीः। अविद्धाद्यपि यत्कृणो विद्वो ज्ञानशलाकया ॥”

२. “यस्मिन्नासन्नभयत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका। स्वयंवरौत्सुकामेव श्रोती मातामयमुग्रत् ॥२३॥”

३. “येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्मव्रतमखण्डितम्। स्वयंवरविधानेन विप्रमूढा सरस्वती ॥२६॥”

४. “यो नाति सुन्दराकारो न आतिचतुरो मुनिः। तस्याप्यन्यशरणा यं सरस्वत्पुत्राचरत् ॥३०॥”

५. “योः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणाः। सूरोनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥३१॥”

“जो शरीर से यद्यपि कृश थे परन्तु तपस्वी गुणों से कृश नहीं थे । वास्तव में शरीर की कृशता कृशता नहीं है । जो गुणों से कृश है वही कृश है ।”^१

“जिन्होंने न तो कापालिका (सांख्य शास्त्र पक्ष में तैरने का बड़ा) को ग्रहण किया और न अधिक चिन्तन ही किया, फिर भी जो अष्टमात्म-विद्या के द्वितीय पार को प्राप्त हो गये ।”^२

“जिनका काल निरन्तर ज्ञान की व्याख्या में ही व्यतीत हुआ और उन्होंने सत्त्वदर्शी जिन्हें ज्ञान-मय पिण्ड कहते हैं ।”^३

जिनसेन सिद्धान्तज्ञ तो थे ही, साथ ही उच्चकोटि के कवि भी थे । आपकी कविता में ओज है, माधुर्य है, प्रसाद है, प्रवाह है, मीली है, रस है, असंकार है । जहाँ जिसकी आवश्यकता हुई, वहाँ कवि ने वही भाव उसी शैली में प्रकट किया है । आप वस्तुतत्त्व का यथार्थ विवेचन करना पसन्द करते थे, दूसरों को प्रसन्न करने के लिए वस्तुतत्त्व को तोड़मरोड़कर अभ्युक्ति कहना आपका निसर्ग नहीं था । वह तो खुले शब्दों में कहते हैं कि दूसरा आदमी सन्तुष्ट हो अथवा न हो, कवि को अपना कर्तव्य करना चाहिए । दूसरे की आराधना से भला नहीं होगा किन्तु समीचीन मार्ग का उपदेश देने से होगा ।

अब तक आपके द्वारा प्रणीत निम्नांकित ग्रन्थों का पता चला है :

पार्ष्वाम्बुदय—संस्कृत-साहित्य में कालिदास का मेघदूत नामक खण्डकाव्य बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है । उसकी रचना और भाव सभी सुन्दर हैं । उसके चतुर्थ चरण को लेकर हेमदूत, नेमिदूत आदि कितने ही खण्डकाव्यों की रचना हुई है । जिनसेन स्वामी का पार्ष्वाम्बुदय काव्य, जो कि ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में पूर्ण हुआ है, कालिदास के इसी मेघदूत की समस्यापूर्ति-रूप है । इसमें मेघदूत के कहीं एक और कहीं दो पादों को लेकर श्लोक-रचना की गयी है तथा इस प्रकार सम्पूर्ण मेघदूत इस पार्ष्वाम्बुदय काव्य में अन्तर्बिलीन हो गया है । पार्ष्वाम्बुदय मेघदूत के ऊपर समस्यापूर्ति के द्वारा रचा हुआ सर्वप्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ है । इसकी भाषा और शैली बहुत ही मनोहर है ।

श्री पार्ष्वनाथ भगवान् दीक्षाकल्याणक के बाद प्रतिमा-योग धारण कर विराजमान हैं । वहाँ से उनका पूर्वभव का विरोधी कमठ का जीव शम्बर नामक ज्योतिष्क देव निकलता है और अधिज्ञान से उन्हें अपना बीड़ी समझकर नाना कष्ट देने लगता है । उस इसी कथा को लेकर पार्ष्वाम्बुदय की रचना हुई है । इसमें शम्बरदेवको यक्ष, ज्योतिर्भव को अलका और यक्ष की वर्षशाप को शम्बर की वर्षशाप मान ली है । मेघदूत का कथानक दूसरा और पार्ष्वाम्बुदय का कथानक दूसरा, फिर भी उन्हीं शब्दों के द्वारा विभिन्न कथानक को कहना, यह कवि का महान् कोशल है । समस्यापूर्ति में कवि को बहुत ही परतन्त्र रहना पड़ता है और उस परतन्त्रता के कारण प्रकीर्णक रचना की बात तो जाने दीजिए, सन्दर्भरचना में अवश्य ही नीरसता आ जाती है परन्तु इस पार्ष्वाम्बुदय में कहीं भी नीरसता नहीं आने पायी है, यह प्रसन्नता की बात है । इस काव्य की रचना श्री जिनसेन स्वामी ने अपने सद्यर्मा जिनसेन की प्रेरणा से की थी और यह इनकी प्रथम रचना मान्य होती है ।

१. “यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः । न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥३२॥”

२. “यो नागहीत्कापालिकान्ताप्यचिन्तयद्भ्रजसा । तथाप्यध्यत्मविद्याब्धेः परं पारमशिष्यवत् ॥३३॥”

३. “ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरम् । ततो ज्ञानमयं पिण्डं यसादुस्तत्त्ववर्त्मनः ॥३४॥”

४. “श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभुङ्क्तः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिरीयान् ।

तत्त्वोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥”

योगिराट् पण्डिताचार्य नाम के किसी विद्वान् ने इसकी संस्कृत टीका की है जो विक्रम की पन्द्रहवीं शती के बाद की है। उसके उपोद्घात में उन्होंने लिखा है कि एक बार कवि कालिदास बंकापुर के राजा अमोघवर्ष की सभा में आये और उन्होंने बड़े गर्व के साथ अपना मेघदूत सुनाया। उसी सभा में जिनसेन स्वामी भी अपने सधर्मा विनयसेन भुनि के साथ विद्यमान थे। विनयसेन ने जिनसेन से प्रेरणा की कि इस कालिदास का गर्व नष्ट करना चाहिए। विनयसेन की प्रेरणा पाकर जिनसेन ने कहा कि यह रचना प्राचीन है, इनकी स्वतन्त्र रचना नहीं है किन्तु चोरी की हुई है। जिनसेन के वचन सुनकर कालिदास तिलमिला उठे। उन्होंने कहा कि यदि रचना प्राचीन है तो सुनायी जानी चाहिए। जिनसेन स्वामी एक बार जिस श्लोक को भुन लेते थे उन्हें याद हो जाता था इसलिए उन्हें कालिदास का मेघदूत उसी सभा में याद हो गया था। उन्होंने कहा कि यह प्राचीन ग्रन्थ किसी दूरवर्ती ग्राम में विद्यमान है अतः आठ दिन के बाद लाया जा सकता है। अमोघवर्ष राजा ने आदेश दिया कि अच्छा, आज से आठवें दिन वह ग्रन्थ यहाँ उपस्थित किया जाये। जिनसेन ने अपने स्थान पर आकर ७ दिन में पार्श्वभ्युदय की रचना की और आठवें दिन राजसभा में उसे उपस्थित कर दिया। इस सुन्दर काव्यग्रन्थ को सुनकर सब प्रसन्न हुए और कालिदास का सारा अहंकार नष्ट हो गया। बाद में जिनसेन स्वामी ने सारी बात स्पष्ट कर दी।

परन्तु विचार करने पर यह कथा सर्वथा कल्पित मासूम होती है; क्योंकि मेघदूत के कर्ता कालिदास और जिनसेन स्वामी के समय में भारी अन्तर है। साथ ही, इसमें जो अमोघवर्ष की राजधानी बंकापुर बतलायी है वह भी गलत है क्योंकि अमोघवर्ष की राजधानी मान्यसेट थी और बंकापुर अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य की। यह पीछे लिख जाये है कि लोकादित्य के पिता बंकेयरस ने अपने नाम से इस राजधानी का नाम बंकापुर रखा था। अमोघवर्ष के समय तो सम्भवतः बंकापुर नाम का अस्तित्व ही नहीं होगा, यह क्या तो ऐसी ही रही जैसी कि अमरसिंह और धनंजय के विषय में छोटी-छोटी पाठशालाओं के विद्वान् अपने छात्रों का सुनाया करते हैं :

“राजा भोज ने अपनी सभा में प्रकट किया कि जो विद्वान् सबसे अच्छा कोष बनाकर उपस्थित करेगा उसे भारी पारितोषिक प्राप्त होगा। धनंजय काव ने अमरकोष की रचना की। उपस्थित करने के एक दिन पहले अमरसिंह धनंजय के यहाँ आये। वे उनके बहुमोई होते थे। धनंजय ने उन्हें अपना अमरकोष पढ़कर सुनाया। सुनते ही अमरसिंह उस पर लुभा गये और उन्होंने अपनी स्त्री के द्वारा उसे अपहृत करा लिया। जब धनंजय को पता चला कि हमारा कोष अपहृत हो गया है तब उन्होंने एक ही रात में नाममाला की रचना कर बाली और दूसरे दिन सभा में उपस्थित कर दी। नाममाला की रचना से राजा भोज बहुत ही प्रभावित हुए और कोषरचना के ऊपर मिलने वाला भारी पुरस्कार उन्हें ही मिला।”

इस कथा के गढ़ने वाले हमारे विद्वान् यह नहीं सोचते कि अमरसिंह जो कि विक्रम के नंबरानों में से एक थे, कब हुए, धनंजय कब हुए और भोज कब हुए। व्यर्थ ही भावुकतावश मिथ्या कल्पनाएँ करते रहते हैं। फिर योगिराट् पण्डिताचार्य ने पार्श्वभ्युदय के विषय में जो कथा गढ़ी है उससे तो जिनसेन की असूया तथा परकीर्त्यसहिष्णुता ही सिद्ध होती है जो एक विद्यम्बराचार्य के लिए सांछन की बात है।

पार्श्वभ्युदय का प्रसंग का विषय में श्रीयोगिराट् पण्डिताचार्य ने जो लिखा है कि श्रीपार्श्वनाथ से बढ़कर कोई साधु, कमठ से बढ़कर कोई दुष्ट और पार्श्वभ्युदय से बढ़कर कोई काव्य नहीं लिखलायी देता है, वह ठीक ही लिखा है। प्रो० के० बी० पाठक ने रावल एशियाटिक सोसायटी में कुमारिलभट्ट और भर्तृहरि के विषय में जो निबन्ध पढ़ा था, उसमें उन्होंने जिनसेन और उनके काव्य पार्श्वभ्युदय के विषय में क्या ही अच्छा कहा था :

“जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल में हुए हैं, जैसा कि उन्होंने पार्ष्वाभ्युदय में कहा है। पार्ष्वाभ्युदय संस्कृत-साहित्य में एक कौतुकजन्य उत्कृष्ट रचना है। यह उस समय के साहित्य-रस का उत्पादक और दर्पणरूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्वसाधारण की सम्मति से भारतीय कवियों में कालिदास को पहला स्थान दिया गया है तथापि जिनसेन मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जाने के अधिकारी हैं।”

चूँकि पार्ष्वाभ्युदय प्रकाशित हो चुका है अतः उसके श्लोकों के उद्धरण देकर उसकी कविता का माहात्म्य प्रकट करना इस प्रस्तावनालेख का पल्लवन ही होगा। इसकी रचना अमोघवर्ष के राज्यकाल में हुई है यह उसकी अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है :

“इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं बहुगुणभूषणं कालिदासस्य काव्यम् ।

मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशनाकं भुवनभवतु देवः सर्ववामोघवर्षः ॥”

‘वर्धमानपुराण’—आपकी द्वितीय रचना वर्धमानपुराण है जिसका कि उल्लेख जिनसेन (द्वितीय) ने अपने हरिवंशपुराण में किया है; परन्तु यह कहाँ है, और लोक-इराका कितने गहरी चर्चा। जिन्होंने उस पर क्या कहा जा सकता है? नाम से यही स्पष्ट होता है कि उसमें अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी का कथानक होगा।

जयध्वला टीका—कथाग्रन्थ के पहले स्कन्ध की चारों विभक्तियों पर जयध्वला नाम की २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर जब श्री गुरु वीरसेनाचार्य स्वर्ग को सिधार चुके, तब उनके शिष्य श्री जिनसेन स्वामी ने उसके अवशिष्ट भाग पर ४० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर उसे पूरा किया। यह टीका जयध्वला अथवा वीरसेनीया नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका में आपने श्री वीरसेन स्वामी की ही शैली को अपनाया है और कहीं संस्कृत कहीं प्राकृत के द्वारा पदार्थ का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया है। इन टीकाओं की भाषा का ऐसा विचित्र प्रवाह है कि उससे पाठक का चित्त कभी घबराता नहीं है। स्वयं ही अनेक विकल्प उठाकर पदार्थ का बाटीकी से निरूपण करना इन टीकाओं की खास विशेषता है।

आदिपुराण

महापुराण के विषय में पहले विस्तार के साथ लिख चुके हैं। आदिपुराण उसी का आद्य भाग है। उत्तर भाग का नाम उत्तरपुराण है। आदिपुराण में ४७ पर्व हैं जिनमें प्रारम्भ के ४२ और तैंतासीसवें पर्व के ३ श्लोक जिनसेनाचार्य-द्वारा रचित हैं, शेष पर्वों के १६२० श्लोक उनके शिष्य भदन्त गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित हैं। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण के पीठिकावन्ध में जयसेन गुरु की स्तुति के बाद परमेश्वर कवि का उल्लेख किया है और उनके विषय में कहा है :

“वे कवि परमेश्वर लोक में कवियों के द्वारा पूजने योग्य हैं जिन्होंने कि शब्द और अर्थ के संग्रह-स्वरूप समस्त पुराण का संग्रह किया था।” इन परमेश्वर कवि ने गद्य में समस्त पुराणों की रचना की थी, उसी का आधार लेकर जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण की रचना की है। आदिपुराण की महत्ता बताते हुए गुणभद्राचार्य ने कहा है :

१. इस वर्धमानपुराण का न तो गुणभद्राचार्य ने अपनी प्रशस्ति में उल्लेख किया है और न जिनसेन के अपरवर्ती किसी आचार्य ने अपनी रचनाओं में उसकी चर्चा की है, इसलिए किन्हीं विद्वानों का कथाल है कि वर्धमानपुराण नामक कोई पुराण जिनसेन का बनाया हुआ है ही नहीं। जिनसेन द्वितीय ने अपने हरिवंशपुराण में अज्ञातनाम कवि के किसी अन्य वर्धमानपुराण का उल्लेख किया है। प्रेमीजी ने भी अपने हाल के एक पत्र में ऐसा ही भाव प्रकट किया है।

२. देखें आदि पृ० १/६०।

“यह आदिनाथ का चरित कवि परमेश्वर के द्वारा कही हुई गद्य-कथा के आधार से बनाया गया है, इसमें समस्त छन्द तथा अलंकारों के लक्षण हैं, इसमें सूक्ष्म अर्थ और गूढ़ पदों की रचना है, वर्णन की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है, समस्त शास्त्रों के उत्कृष्ट पदार्थों का साक्षात् कराने वाला है, अन्य काव्यों को तिरस्कृत करता है, श्रवण करने योग्य है, व्युत्पन्न बुद्धि वाले पुरुषों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, मिथ्या कवियों के गर्व को नष्ट करने वाला है और अत्यन्त सुन्दर है। इसे सिद्धान्त-ग्रन्थों की टीका करने वाले तथा किरकाल तक शिष्यों का शासन करने वाले भगवान् जिनसेन ने कहा है। इसका अवशिष्ट भाग निर्मल बुद्धि वाले गुणभद्र सूरि ने अति विस्तार भय से और हीन काल के अनुरोध से संक्षेप में संगृहीत किया है।”^१

आदिपुराण-सुभाषितों का भण्डार है; इस विषय को स्पष्ट करने के लिए उत्तरपुराण में दो-बसोका बहुत ही सुन्दर मिलते हैं जिनका भाव इस प्रकार है :

“जिस प्रकार समुद्र से महामूल्य रत्नों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इस पुराण से सुभाषितरूपी रत्नों की उत्पत्ति होती है।”^२

“अन्य ग्रन्थों में जो बहुत समय तक कठिनाई से भी नहीं मिल सकते वे सुभाषित पद्य इस पुराण में पद-पद पर सुलभ हैं और इच्छानुसार संगृहीत किये जा सकते हैं।”^३

आदिपुराण का माहात्म्य एक कवि के शब्दों में देखिए, कितना सुन्दर निरूपण है—

“हे मित्र ! यदि तुम सारे कवियों की सूक्तियों को सुनकर सहृदय बनना चाहते हो, तो कबिबर जिनसेनाचार्य के मुखकमल से कहे हुए आदिपुराण को सुनने के लिए अपने कानों को समीप लाओ।”^४

समय महापुराण की प्रशंसा में एक विद्वान् ने और कहा है :

“इस महापुराण में धर्म है, मुक्ति का पद है, कविता है। और तीर्थंकरों का चरित्र है, अथवा कवीन्द्र जिनसेनाचार्य के मुखारविन्द से निकले हुए वचन किन का मन नहीं हरते ?”^५

इस पुराण को महापुराण क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर स्वयं जिनसेनाचार्य देते हैं :

“यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है, इसमें महापुराणों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़ने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं।”

“प्राचीन कवियों के आश्रय से इसका प्रसार हुआ है, इसलिए इसकी पुराणता-प्राचीनता प्रसिद्ध है ही तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्य से ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं।”

“यह पुराण महापुरुषों से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय का—स्वर्ग, मोक्षादि का कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण कहते हैं।”

“यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्य, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने से धर्मशास्त्र माना जाता है।”

१. उ०पु०प्र०, श्लो० १७-२०।

२. “यथा महाधर्मरत्नानां प्रसूतिर्मकरालयात् । तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात् पुराणतः ॥१६॥”

३. “सुबुल्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम् । सुलभं स्वैरसंग्राह्यं त्विहास्ति पदे पदे ॥२२॥”—उ०पु०

४. “यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचारश्च वणसरससेतास्तत्त्वमेव सजे ! स्याः ।

कबिबरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्दप्रणिपदितपुराणाकर्षणान्मर्षणकर्षः ॥”

५. “धर्मोऽथ मुक्तिपदमत्र कबिरवमत्र तीर्थंशितां चरितमत्र महापुराणे ।

यथा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्गदवांसि न मनोसि हरन्ति केवाम् ॥”

“इति-इह-आसीत्” यहाँ ऐसा हुआ, ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषिगण इसे इति-हास, इतिवृत्त और ऐतिहासिक भी मानते हैं।^१

पीठिकावन्ध में जिनसेन ने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करने के पहले एक श्लोक कहा है जिसका भाव इस प्रकार है :

“मैं उन पुराण के रचने वाले कवियों को नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमल में सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियों की कविता में सूत्रपात का काम करते हैं।”^२

इससे यह सिद्ध होता है कि इनके पहले अन्य पुराणकार वर्तमान थे जिनमें इनकी परम आस्था थी। परन्तु वे कौन थे इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। हाँ, कवि परमेश्वर का अवश्य ही अपने निकटवर्ती वतीत में स्मरण किया है। एतावता बिक्रान्तकौरव की प्रशस्ति के सातवें श्लोक में ‘प्रथमम्’ पद देखकर कितने ही महाशयों ने जो यह धारणा बना ली है कि आदिपुराण दिगम्बर जैन पुराणग्रन्थों में प्रथम पुराण है वह उचित नहीं मालूम होती। वहाँ ‘प्रथमम्’ का अर्थ श्रेष्ठ अथवा आद्य भी हो सकता है।

गुणभद्राचार्य और उनके शिष्य (गुणभद्राचार्य का जन्म १५०० ई. में हुआ था)

जिनसेन और दत्तारण्यगुरु के शिष्य गुणभद्राचार्य भी अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। आप उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी तथा भार्यासिगी मुनिराज्य थे। इन्होंने आदिपुराण के अन्त के १६२० श्लोक रचकर उसे पूरा किया और उसके बाद उत्तरपुराण की रचना की जिसका परिमाण आठ हजार श्लोक प्रमाण है। वे अत्यन्त गुरुभक्त शिष्य थे। आदिपुराण के ४३वें पर्व के प्रारम्भ में जहाँ से अपनी रचना शुरू करते हैं वहाँ इन्होंने जो पद्य लिखे हैं उनसे इनके गुरुभक्त हृदय का अच्छा साक्षात्कार हो जाता है। वे लिखते हैं कि :

“इत्तु” की तरह इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध ही रसावह है उत्तरार्ध में तो जिस किसी तरह ही रस की उत्पत्ति होती।”

“यदि मेरे वचन सुस्वादु हों तो यह गुरुओं का ही महात्म्य समझना चाहिए। यह वृत्तों का ही स्वभाव है कि उनके फल मीठे होते हैं।”^३

“मेरे हृदय से वचन निकलते हैं और हृदय में गुरुदेव विराजमान हैं अतः वे वही उनका संस्कार कर देंगे अतः मुझे इस कार्य में कुछ भी परिश्रम नहीं होगा।”^४

“भगवान् जिनसेन के अनुगामी तो पुराण (पुराने) मार्ग के आलम्बन से संसार-समुद्र से पार होना चाहते हैं फिर मेरे लिए पुराण-सागर के पार पहुँचना क्या कठिन बात है ?”^५

१. देखो, आ०पु०, प० १। २१-२५।

२. आ०पु० १।४१।

३. “यद्वाक्यं पुरोरासीत्पुराणं प्रथमं भुवि । तदीयप्रियशिष्योऽभूत् गुणभद्रमुनीश्वरः ॥७॥”

—बिक्रान्त० प्र०

४. “तस्यैव सिक्तो गुणं गुणभद्रो विद्वज्जाणपरिपुणो । पक्षोपवासमंडी महात्मो भर्त्सितो व ॥”

—दर्शनसार

५. “इक्षोरिवास्त्य पूबार्द्धमेवाभावि रसावहम् । यथा तथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥१४॥

६. “गुरुजमेव महात्म्यं यद्यपि स्वाहु मद्रवः । तरुणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वाहु जायते ॥१५॥”

७. “निर्गमिन् हृदयगङ्गावो हृदि मे गुरुवः स्थिता । ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्म मेऽत्र परिश्रमः ॥१६॥”

८. “पुराणमार्गमासाद्य जिनसेनानुगा भूषम् । भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुद्यते ॥१६॥”

इनके बनाये हुए निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं :

उत्तरपुराण—यह महापुराण का उत्तर भाग है। इसमें अक्षितनाथ को आदि लेकर २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ नारायण, ६ बलभद्र और ६ प्रतिनारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों के कथानक दिये हुए हैं। इसकी रचना भी कवि परमेश्वर के गद्यरमक पुराण के आधार पर हुई होगी। आठवें, सोलहवें, बाइसवें, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों के चरित्र बहुत ही संक्षेप से लिखे गये हैं। इस भाग में कथा की बहुलता ने कवि की कवित्वशक्ति पर आघात किया। जहाँ-तहाँ ऐसा मालूम होता है कि कवि येन-केन प्रकारेण कथा भाग को पूरा कर आगे बढ़ जाना चाहते हैं। पर फिर भी बीच-बीच में कितने ही ऐसे सुभाषित आ जाते हैं जिससे पाठक का चित्त प्रसन्न हो जाता है। गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण की रचना के विषय में एक इत्तकथा प्रसिद्ध है :

जब जिनसेन स्वामी को इस बात का विश्वास हो गया कि अब उनका जीवन समाप्त होने वाला है और वह महापुराण को पूरा नहीं कर सकेंगे तब उन्होंने अपने सबसे योग्य दो शिष्य बुलाये। बुलाकर उनसे कहा कि यह जो सामने सूखा वृक्ष खड़ा है इसका काव्यवाणी में वर्णन करो। गुरुवाक्य सुनकर उनमें से पहले ने कहा—“शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे।” फिर दूसरे शिष्य ने कहा, “नीरसतरुर्हि विवसति पुरतः।” गुरु की द्वितीय शिष्य की वाणी में रस दिखा, अतः उन्होंने उसे आज्ञा दी कि तुम महापुराण को पूरा करो। गुरु-आज्ञा को स्वीकार कर द्वितीय शिष्य ने महापुराण को पूर्ण किया। वह द्वितीय शिष्य गुणभद्र ही थे।

आत्मानुशासन—यह भर्तृहरि के वैराग्यचरित्र की शैली में लिखा हुआ २७२ प्रयोगों का बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। इसकी सरस और सरल रचना हृदय पर तत्काल असर करती है। इसकी संस्कृत टीका प्रभाचन्द्राचार्य ने की है। हिन्दी टीकाएँ भी श्री स्व० पण्डित टोडरमलजी तथा पं० बंशीधरजी शास्त्री सोलापुर ने की हैं। जैन-समाज में इसका प्रचार भी खूब है। यदि इसके प्लोक कण्ठ कर लिये जायें तो अवसर पर आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिए बहुत बल देने वाले हैं। इसके अन्त में प्रशस्तिस्वरूप निम्न श्लोक ही पाया जाता है :

“जिनसेनाचार्यपावस्परणाथो न जेतसाम् । गुणभद्रभक्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥”

अर्थात् जिनका चित्त श्रीजिनसेनाचार्य के चरणस्मरण के अधीन है उन गुणभद्रभक्त की कृति यह आत्मानुशासन है।

जिनवत्तचरित्र—यह नवसर्गात्मक छोटा-सा काव्य है, अनुष्टुप् श्लोकों में रचा गया है। इसकी कथा बड़ी ही कौतुकावह है। शब्दविन्यास अल्प होने पर भी कहीं-कहीं भाव बहुत गम्भीर है। श्रीलालजी काव्यतीर्थ द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

समकालीन राजा

जिनसेन स्वामी और भदन्त गुणभद्र के सम्पर्क में रहने वाले राजाओं में अमोघवर्ष (प्रथम) का नाम सर्वोपरि है। ये जगत्तुंगदेव (गोविन्द तृतीय) के पुत्र थे। इनका मरु नाम बौद्धराय था। नृपतुंग, शर्ष, शण्ड, अतिशयधवल, दीरनारायण, पृथिवीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक आदि इनकी उपाधियाँ थीं। यह भी बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने बहुत बड़ी उन्नति पायी और लगभग ६३ वर्ष राज्य किया। इतिहासज्ञों ने इनका राज्य काल शकसंवत् ७३६ से ७९९ तक निश्चित किया है। जिनसेन स्वामी का स्वर्गवास शकसंवत् ७६५ के लगभग निश्चित किया जा चुका है, अतः जिनसेन के शरीरत्याग के समय अमोघवर्ष ही राज्य करते थे। राज्य का त्याग इन्होंने शकसंवत् ८०० में किया है जब कि आचार्य पद पर गुणभद्राचार्य विराजमान थे। अपनी दानशीलता और त्यागपरायणता से अमोघवर्ष ने अपने अमोघवर्ष नाम

१. “अथिवु यथार्थता यः समभीष्टफलान्नित्यतोवेष्टु । बुद्धि निनाय परसाममोघवर्षाभिधानस्य ॥”

—(धुवराज का दानपत्र, इण्डियन एण्टिकवेरी १२-१८१)

को इतना प्रसिद्ध किया कि पीछे से वह एक प्रकार की पदवी समझी जाने लगा और उसे राठौर वंश के तीन-चार राजाओं ने तथा परमारवंशीय महाराज मुंज ने भी अपनी प्रतिष्ठा का कारण समझकर धारण किया। इन पिछले तीन-चार अमोघवर्षों के कारण इतिहास में ये 'प्रथम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनसेन स्वामी के ये परमभक्त थे। जैसा गुणभट्टाचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में उल्लेख किया है और उसका भाव यह है कि महाराज अमोघवर्ष जिनसेन स्वामी के चरणकमलों में मस्तक रखकर अपने आपको पवित्र मानते थे और उनका सदा स्मरण किया करते थे।

ये राजा ही नहीं विद्वान् थे और विद्वानों के आश्रयदाता भी। आपने 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' की रचना की थी और वह तब जब कि अपनी भूजाओं से राज्य का भार विवेकपूर्वक दूर कर दिया था। 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के विषय 'काव्यशेखर' नाम का अलंकार-ग्रन्थ भी इनका बनाया हुआ है जो कर्णाटक भाषा में है और विद्वानों में जिसकी अच्छी ख्याति है। इनकी राजधानी मान्यखेट में थी जो कि अपने वैभव से इन्द्रपुरी पर भी हँसती थी। ये जैन-मन्दिरों तथा जैन-वसतिकार्यों को भी अच्छा दान देते थे। शक सं० ७८२ के ताम्रपत्र से विदित होता है कि इन्होंने स्वयं मान्यखेट में जेनाचार्य देवेन्द्र को दान दिया था। यह दानपत्र इनके राज्य के ५२वें वर्ष का है। शक सं० ७८७ का एक लेख कृष्ण (द्वितीय) के महासामन्त पृथ्वीराय का मिला है जिसमें इनके द्वारा सौन्दरि के एक जैन-मन्दिर के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख है।

लाकटायन ने अपने सम्प्रानुशासन की टीका अमोघवृत्ति इन्हीं अमोघवर्ष के नाम से बनायी। अथला और जयधरला टीकाएँ भी इन्हीं के धवल या अतिशयधवल नाम के उपलक्ष्य में बनीं तथा महावीराचार्य ने अपने गणितसारसंग्रह में इन्हीं की महामहिमा का विस्तार किया है। इससे सिद्ध होता है कि ये विद्वानों तथा शासक जेनाचार्यों के बड़े भारी आश्रयदाता थे।

'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के मंगलाचरण में उन्होंने "प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां बध्ने। नागहरामरबन्धं देवं देवाधिपं वीरम्।" श्लोक-द्वारा श्री महावीर स्वामी का स्तवन किया है और साथ ही उसमें कितने ही जैनधर्मानुमोदित प्रश्नोत्तरों का निम्न प्रकार समावेश किया है :

"त्वरितं किं कर्तव्यं विबुधां संसारसन्ततिच्छेदः। किं मोक्षतरोर्बाजं सम्यक्कानं कियासहितम् ॥४॥

को मरकः परवसता किं सौख्यं सर्वसंगविरतिर्वा। किं रत्नं भूतहितं प्रेयः प्राणिनामसबः ॥१३॥"

इससे सिद्ध होता है कि अमोघवर्ष जैन थे और समग्र जीवन में उन्हें जैन न माना जाये तब भी रत्नमाला की रचना के समय में तो वह जैन ही थे यह दृढ़ता से कहा जा सकता है। हमारे इस कवन की पुष्टि महावीराचार्यकृत गणितसारसंग्रह की उद्धानिका के—“विश्वस्तिकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवेदिनः। देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥” श्लोक से भी होती है।

अकालवर्ष—अमोघवर्ष के पश्चात् उनका पुत्र अकालवर्ष, जिसको इतिहास में 'कृष्ण-द्वितीय' भी कहा है, सार्वभौम सम्राट् हुआ था। जैसा कि द्वितीय कर्कुराज के दानपत्र में अमोघवर्ष का वर्णन करने के पश्चात् लिखा है :

१. उ० पु० ब० श्लो० ८।

२. "विवेकाख्यस्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका। रचितमोघवर्षेण सुधिया सदलकृतिः ॥"

३. "यो मान्यखेटममरेन्द्रपुरोपहासि, गीर्वाणगर्भमिव खर्बधितं व्यधत् ॥"

“उस अमोघवर्ष के बाद वह अकालवर्ष सावंधीम राजा हुआ जिसके कि प्रताप से भयभीत हुआ सूर्य आकाश में जन्मा के समान आचरण करने लगता था।”^१

यह भी अकालवर्ष के समान बड़ा भारी बीर और पराक्रमी था। कृष्णराज तृतीय के दानपत्र में, जो कि वर्धा नगर के समीप एक कुएँ में प्राप्त हुआ है, इसकी बीरता की बहुत प्रशंसा की गयी है। तन्नामत प्लोक का भाव यह है :

“उस अमोघवर्ष का पुत्र श्रीकृष्णराज हुआ जिसने गुज्जर, गौड, द्वारसमूह अंग, कलिङ्ग, गङ्गा, मगध आदि देशों के राजाओं को अपने वशवर्ती कर लिया था।”^२

उत्तरपुराण की प्रशस्ति में गुणभद्राचार्य ने भी इसकी प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है कि इसके उत्तुंग हाथियों ने अपने ही मदजल के संगम से कलंकित गंगानदी का पानी पिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि इसका राज्य उत्तर में गंगातट तक पहुँच चुका था^३ और दक्षिण में कन्याकुमारी तक।

यह अकसंभत् ७६७ के लगभग सिंहासन पर बैठा और शक सं० ८३३ के लगभग इसका देहान्त हुआ।

लोकादित्य—लोकादित्य का उल्लेख उत्तरपुराण की द्वितीय प्रशस्ति में श्रीगुणभद्र स्वामी के शिष्य लोकसेन भुनि ने किया है और कहा है कि जब अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानी से सारे वनवास देश का शासन करते थे तब शक सं० ८२० के अमुक भूतंत में इस पवित्र सर्वश्रेष्ठ पुराण की भव्य-जनों के द्वारा पूजा की गयी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकादित्य अकालवर्ष या कृष्ण (तृतीय) का सामन्त और वनवास का राजा था। इसके पिता का नाम बंकेय्यरस था। यह चेलसध्वज था अर्थात् इसकी ध्वजा पर चिल्ल या भील का चिह्न था। इसकी राजधानी बंकापुर में थी। शक सं० ८२० में बंकापुर से जब महापुराण की पूजा की गयी थी उस समय इसी का राज्य था। यह राज्यसिंहासन पर कब से कब तक आरुढ़ रहा इसका निश्चय नहीं है।

“आचार्य जिनसेन और गुणभद्र प्रकरण” में जहाँ-तहाँ जिस उत्तरपुराण की प्रशस्ति का बहुत उपयोग हुआ है वह उक्त ग्रन्थ के अन्तिम अर्थात् सत्रहवें पर्व में पायी जाती है।

आविपुराण में उल्लिखित पूर्वजनों विद्वान्

आचार्य जिनसेन ने अपने से पूर्ववर्ती इन विद्वानों का अपने आविपुराण में उल्लेख किया है—
१ सिद्धसेन, २ समन्तभद्र, ३ श्रीदत्त, ४ यशोभद्र, ५ प्रभाचन्द्र, ६ शिवकोटि, ७ जटाचार्य (सिद्धनन्दी), ८ काणभिक्षु, ९ देव (देवनन्दी), १० भट्टकर्मक, ११ श्रीपाल, १२ पात्रकेसरी, १३ वादिसिंह, १४ वीरसेन, १५ जयसेन और १६ कविपरमेश्वर।

उक्त आचार्यों का कुछ परिचय दे देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है।

सिद्धसेन—इस नाम के अनेक विद्वान् हो गए हैं पर यह सिद्धसेन वही ज्ञात होते हैं जो सन् नि-प्रकरण नामक प्राकृत ग्रन्थ के कर्ता हैं। ये व्यावशास्त्रिक विविष्ट विद्वान् थे। इनका समय विष्णु की ६-७वीं शताब्दी होना चाहिए।

१. “तस्मादकालवर्षोऽभूत् सावंधीमक्षितीश्वरः । यत्प्रतापपरिभ्रष्टो व्योम्नि चन्द्रायते रश्मिः ॥”

२. “तस्योत्पत्तिगुर्जरो हतहृदलासोऽभट्टभीमदो गौडानां विमयवतारपणगुहः सामुद्रनिग्राहः ।

द्वारस्थाङ्गकलिङ्गनाङ्गमगधैरभ्यक्षिताङ्गिभरं सुतुःसुकृतवाभुवः परिसूदः श्रीकृष्णराजोऽभवत् ॥”

३. उ० पु०, प्र० श्लो० २६।

समन्तभद्र—समन्तभद्र क्षत्रिय राजपुत्र थे। इनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था किन्तु बाद में आप 'समन्तभद्र' इस श्रुतिमधुर नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए। इनके गुरु का क्या नाम था और इनकी क्या गुरु-परम्परा थी यह ज्ञात नहीं हो सका। वादी, वाग्मी और कवि होने के साथ आद्य स्तुतिकार होने का श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्र के तल-द्रष्टा और और विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न थे। एक परिचय-पत्र में तो आप को वैज्ञानिक, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होने के साथ आत्मसिद्ध और सिद्धसारस्वत भी बतलाया है। आपकी सिद्ध-गर्जना से सभी वादिजन कांपते थे। आपने अनेक देशों में विहार किया और वादियों को पराजित कर उन्हें सम्मार्ग का प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थ की उद्भाविका हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं : १ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २ युक्त्यनुशासन, ३ आप्तमीमांसा, ४ रत्नकरणावकाश और ५ स्तुतित्रिया। इनके जोरसिद्धि और तत्त्वानुशासन ये दो ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इनका समय विक्रम की २-३ शताब्दी माना जाता है।

श्रीदत्त—यह अपने समय के बहुत बड़े वादी और दार्शनिक विद्वान् थे। आचार्य विद्यानन्द ने आपके 'अल्पनिर्णय' ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए आपको ६३ वादियों को जीतने वाला बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि श्रीदत्त बड़े तपस्वी और वादीव्रजता विद्वान् थे। विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् देवचन्द्री (पूज्यपाद) ने जैनेन्द्र व्याकरण में 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् १।४।३४' सूत्र में एक श्रीदत्त का उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि आचार्य जिनसेन और देवचन्द्री द्वारा उल्लिखित श्रीदत्त एक ही हों। और यह भी हो सकता है कि दोनों भिन्न-भिन्न हों। आदिपुराणकार ने चूँकि श्रीदत्त का तपःश्रीदीप्तमूर्ति और वादिरूपी गजों का प्रभेदक सिद्ध बतलाया है, इससे श्रीदत्त दार्शनिक विद्वान् जान पड़ते हैं। जैनेन्द्र व्याकरण में जिन छह विद्वानों का उल्लेख किया है वे प्रायः सब दार्शनिक विद्वान् हैं। उनमें केवल भूतबली सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ थे। व्याकरण में विविध आचार्यों के मत का उल्लेख करना महावैयाकरण पार्श्वानि का उपक्रम है। श्रीदत्त नाम के जो आरातीय आचार्य हुए हैं वे इनसे भिन्न जान पड़ते हैं।

यशोभद्र—यशोभद्र प्रखर तार्किक विद्वान् थे। उनके सभा में पहुँचते ही वादियों का सब खब हा जाता था। देवचन्द्री ने भी जैनेन्द्र व्याकरण में 'नय वृषिभुजा यशोभद्रस्य २।१।६६' सूत्र में यशोभद्र का उल्लेख किया है। इनकी किसी भी कृति का समुल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। देवचन्द्री द्वारा जैनेन्द्र व्याकरण में उल्लिखित यशोभद्र यदि यही है तो आप छठी शती के पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं।

प्रभाचन्द्र—प्रस्तुत प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न हैं और बहुत पहले हुए हैं। यह कुमारसेन के शिष्य थे। बीरसेन स्वामी ने जयध्वला टीका में नय के लक्षण का निर्देश करते हुए प्रभाचन्द्र का उल्लेख किया है। सम्भवतः ये वही हैं। हरिवंशपुराण के कर्ता पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने भी इनका स्मरण किया है। यह न्यायशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे और चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ की रचना से इनका यश चन्द्र-किरण के समान उज्ज्वल और जगत् को आह्लादित करने वाला हुआ था। इनका चन्द्रोदय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं अतः उसके वर्णनीय विषय के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जा सकता। आपका समय निश्चित नहीं है। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि आप जिनसेन के पूर्ववर्ती हैं।

शिवकोटि—यह वही जान पड़ते हैं जो 'भगवती आराधना' के कर्ता हैं। यद्यपि भगवती आराधना ग्रन्थ के कर्ता 'आर्य' विशेषण से युक्त 'शिवार्य' कह जाते हैं पर यह नाम अधूरा प्रतीत होता है। आदिपुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य ने इन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप आराधनाओं की आराधना से संसार को पीलीभूत-प्रशान्त-सुखी करने वाला बतलाया है। शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य भी बतलाया जाता है परन्तु भगवती-आराधना में जो गुरु-परम्परा दी है उसमें समन्तभद्र का नाम नहीं है। यह भी

सम्भव है कि समन्तभद्र का दीक्षानाम कुछ दूसरा ही रहा हो। और वह दूसरा नाम जिननन्दी हो अथवा इसी से मिलता-जुलता अन्य कोई। यदि उक्त अनुमान ठीक है तो शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य हो सकते हैं और तब उनका समय भी समन्तभद्र का समकालीन सिद्ध हो सकता है। आराधना की गाथाओं में समन्तभद्र के बृहत्स्वयंभूस्तोत्र के एक पद्य का अनुसरण भी पाया जाता है। अस्तु, यह विषय विशेष अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

जटाचार्य सिंहनन्दी—यह जटाचार्य 'सिंहनन्दी' नाम से भी प्रसिद्ध थे। यह बड़े भारी तपस्वी थे। इनका समाधिस्थान 'कोप्यण' में हुआ था। कोप्यण के समीप की 'पल्लवकीगुण्ड' नाम की पहाड़ी पर इनके चरणचिह्न भी अंकित हैं और उनके नीचे दो पवित्र तीर्थ पुराणों के कन्नड़ी लेख भी उत्कीर्ण हैं जिसे 'चापट्य' नाम के व्यक्ति ने तैयार कराया था। इनकी एकमात्र कृति 'वरांगचरित' डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई' से प्रकाशित हो चुकी है। राजा वरांग बाईसवें तीर्थ-हर नेमिनाथ के समय हुआ है। वरांगचरित धर्मशास्त्र की हित्तावह देशना से ओत-प्रोत सुन्दर काव्य है। कन्नड साहित्य में वरांग का खूब स्मरण किया गया है। कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि और उभय जिनसेनों ने इनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। अपभ्रंश भाषा के कतिपय कवियों ने भी वरांग चरित के कर्ता का स्मरण किया है। इनका समय उपाध्येजी ने ईसा की ७वीं शताब्दी निश्चित किया है।

काणभिक्षु—यह कथासंस्कारात्मक ग्रन्थ के कर्ता हैं। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। आचार्य जिनसेन ने इनके ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि धर्मसूत्र का अनुसरण करने वाली जिनकी वाणीरूपी निर्दोष एवं मनोहर मणियां ने पुराणसंघ को सुशोभित किया वे काणभिक्षु जयवन्त रहें। इस उल्लेख से यह स्पष्ट जाना जाता है कि काणभिक्षु ने किसी कथा-ग्रन्थ अथवा पुराण की रचना अवश्य की थी। श्रेय है कि वह अपूर्व ग्रन्थ अनुपलब्ध है। काणभिक्षु की गुहपरम्परा का भी कोई उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। यह भी नवीं शती से पूर्व के विद्वान् हैं। कितने पूर्व के? यह अभी अनिश्चित है।

देव—देव, यह देवनन्दी का संक्षिप्त नाम है। वाविराज सूरि ने भी अपने पार्श्वचरित में इसी संक्षिप्त नाम का उल्लेख किया है। अचणबेलगोल के जिलालेख क्र. ४० (६४) के उल्लेखानुसार इनके देवनन्दी, जितेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं। यह आचार्य अपने समय के बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यही कारण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने बड़े सम्मान के साथ इनका संस्मरण किया है। दर्शनसार के इस उल्लेख से कि वि० सं० १२६ में दक्षिण मयुरा या मदुरा में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने आदिग्रन्थ की स्थापना की थी, आप १२६ वि० सं० से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। श्रीजिनसेनाचार्य ने इनका संस्मरण व्याकरण के रूप में किया है। वास्तव में आप अद्वितीय व्याकरण थे। आपके 'जैनेन्द्र व्याकरण' को नाममालाकार धनंजय कवि ने अपविष्टम रत्न कहा है। अब तक आपके निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं :

१. जैनेन्द्रव्याकरण—अनुपम, व्याकरण ग्रन्थ।
२. सर्वाधिसिद्धि—आचार्य गूढविष्णु के तत्त्वार्थसूत्र पर सुन्दर सरस विवेचन।
३. समाधितन्त्र—आध्यात्मिक भाषा में समाधि का अनुपम ग्रन्थ।
४. दृष्टोपदेश—उपदेशपूर्ण ५१ श्लोकों का हृदयहारी प्रकरण।
५. दशभक्ति—पाण्डित्यपूर्ण भाषा में भक्तिरस का पावन प्रवाह।

१. "सिरि पुज्जपावसीसो आदिग्रन्थस्तु कारणो बुद्धी । मामेण वज्रजगदी पाहुडवेदी महासत्थी ॥
पेक्खसि, कथीसे विक्कमराजस्त भरणपत्तरम । अक्खिणमहुरा जासो पाविस्सथो महासोहो ॥"

इनके सिवाय आपके 'शब्दावतारन्यास' और 'जिनेन्द्रन्यास' आदि कुछ ग्रन्थों के उल्लेख और भी मिलते हैं परन्तु वे अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।

अकलंकभट्ट—यह 'लघुहृदय' नामक राजा के पुत्र थे और भट्ट उनकी उपाधि थी। यह विक्रम की ८वीं शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। अकलंकदेव जैनन्याय के व्यवस्थापक और दर्शनशास्त्र के असाधारण पण्डित थे। आपकी दार्शनिक कृतियों का अभ्यास करने से आपके तत्त्वस्पर्शी पाण्डित्य का पद-पद पर अनुगम होना है। इससे 'समस्त-संक्षेप' के साथ 'संक्षेप' का अकाद्य युक्तियों द्वारा निरसन किया गया है। ग्रन्थों की शैली अत्यन्त गूढ़, संक्षिप्त, अर्थबहुल एवं सूत्रात्मक है इसी से उत्तरवर्ती हरिभद्रादि आचार्यों द्वारा अकलंकन्याय का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया गया है। इतना ही नहीं, जिनदासगणी महत्तर जैसे विद्वानों ने उनके 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थ के अवलोकन करने की प्रेरणा भी की है। इससे अकलंकदेव की महत्ता का स्पष्ट आभास मिल जाता है। वर्तमान में उनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—लघुपञ्चय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, अष्टशती (देवागम टीका), प्रमाणसंग्रह—सोपज्ञ भाष्यसहित, तत्त्वार्थराज-वार्तिक, स्वरूपसम्बोधन और अकलंकस्तोत्र।

अकलंकदेव का समय विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जाता है क्योंकि विक्रम संवत् ७०० में उनका बीढ़ों के साथ महान् वाद हुआ था, जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है :

“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रभाजुषि । कालेऽकलंकवर्तिनो बीढ़ैर्बाबो महानभूत ॥”

नन्दिसूत्र की चूणि में प्रसिद्ध षष्ठाम्बर विद्वान् श्री जिनदासगणी महत्तर ने 'सिद्धिविनिश्चय' नाम के ग्रन्थ का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है जिसका रचनाकाल शक संवत् ५६८ अर्थात् वि० सं० ७३३ है, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है : “शकराजः पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु मन्थयम-चूणिः समाप्ता ।” चूणि का यह समय मुनि जिनविजयजी ने अनेक ताड़पत्रीय प्रतियों के आधार से ठीक बतलाया है। अतः अकलंकदेव का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी सुनिश्चित है।

श्रीपाल—यह वीरस्वामी के शिष्य और जिनसेन के सधर्मा गुरुभाई अथवा समकालीन विद्वान् थे। जिनसेनाचार्य ने जयध्वला को इनके द्वारा सम्पादित बतलाया है। इससे यह बहुत बड़े विद्वान् आचार्य जान पड़ते हैं। यद्यपि सामग्री के अभाव से इनके विषय में विशेष जानकारी नहीं है फिर भी यह विक्रम की ९वीं शताब्दी के विद्वान् अवश्य हैं।

पात्रकेसरी—आपका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। आप बड़े ही कुशाग्र-बुद्धि विद्वान् थे। आचार्य समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र को सुनकर आपकी श्रद्धा जैन धर्म पर हुई थी। पात्रकेसरी न्यायशास्त्र के पारंगत और 'त्रिलक्षणक दर्शन' जैसे तर्कग्रन्थ के रचयिता थे। यद्यपि यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है तथापि तत्त्व-संग्रह के टीकाकार बीड़ाचार्य कमलशील ने पात्रकेसरी के इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उसकी कितनी ही कारिकाएँ 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' में पायी जाती हैं। इस ग्रन्थ का विषय बीड़सम्मत हेतु के त्रिरूपा-त्मक लक्षण का विस्तार के साथ खण्डन करना है। इनकी दूसरी कृति 'जिनेन्द्रगुणस्तुति' है, जो 'पात्रकेसरी स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र भी दार्शनिक चर्चा से ओतप्रोत है। इसमें स्तुति के द्वारा अपनी तर्क एवं गवेषणा पूर्ण युक्तियों द्वारा वस्तुतत्त्व का परिचय कराया गया है। स्तोत्र के पद्यों की संख्या कुल ५० है। उसमें अर्हन्त भगवान् के सयोगकेवली अवस्था के असाधारण गुणों का सयुक्तिक विवेचन किया गया है और केवली के वस्त्र-अलंकार, आभरण तथा शस्त्रादि से रहित प्रशान्त एवं वीतराग शरीर का वर्णन करते हुए कषायजय, सर्वज्ञता और युक्ति तथा शास्त्र-अधिरोधी दृष्टियों का सयुक्तिक विवेचन किया गया है। प्रवेगानुसार सांख्यादि दर्शनान्तरीय मान्यताओं की आलोचना भी की है। इस तरह ग्रन्थकार ने स्वयं इस स्तोत्र को मोक्ष का साधक बतलाया है। पात्रकेसरी देवन्दरी में उत्तरवर्ती और अकलंकदेव से पूर्ववर्ती हैं।

वादीभसिंह—यह उज्ज्वकोटि के कवि और वादिरूपी गजों के लिए सिंह थे । इनकी गजौना वादिजनों के मुख बन्द करने वाली थी । एक वादीभसिंह मुनि पुष्पसेन के शिष्य थे । उनकी तीन कृतियाँ इस समय उपलब्ध हैं जिनमें दो गद्य और पद्यमय काव्यग्रन्थ हैं तथा 'स्याद्वादसिद्धि' न्याय का सुन्दर ग्रन्थ है । पर सेव है कि वह अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है । यदि नामसाम्य के कारण ये दोनों ही विद्वान् एक हों तो इनका समय विक्रम की ८ वीं शताब्दी हो सकता है ।^१

वीरसेन—ये उम मूलसंघ पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे, जो सेनसंघ के नाम से लोक में विभूत हुआ है । ये आचार्य चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दी के शिष्य तथा जितसेनाचार्य के गुरु थे । वीरसेनाचार्य ने विन्नकूट में एलाचार्य के समीप षट्छण्डागम और कषायप्राप्ति-जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था और षट्छण्डागम पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण 'धवला टीका' तथा कषायप्राप्ति पर २० हजार श्लोक प्रमाण 'जयधवला टीका' लिखकर दिवंगत हुए थे । जयधवला की अवशिष्ट ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका उनके शिष्य जितसेनाचार्य ने बनाकर पूर्ण की । इनके सिवाय 'सिद्धभूषण' नामक ग्रन्थ की टीका भी आचार्य वीरसेन ने बनायी थी जिसका उल्लेख गुणभद्राचार्य ने किया है । यह टीका अनुपलब्ध है । वीरसेनाचार्य का समय विक्रम की ६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है ।

जयसेन—यह बड़े तपस्वी, प्रशान्तमूर्ति, शास्त्रज्ञ और पण्डितजनों में अग्रणी थे । हरिवंशपुराण के कर्ता पुन्नाटसंघी जितसेन ने शतवर्षजीवी अमरितसेन के गुरु जयसेन का उल्लेख किया है और उन्हें 'सद्गुरु इन्द्रियव्यापार-विजयी, कर्मप्रकृतिरूप आगम के धारक, प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और सम्पूर्ण शास्त्र-समुद्र के पारगामी बतलाया है जिससे वे महान् योगी-तपस्वी और प्रभावशाली मैदान्तिक आचार्य मालूम होते हैं । साथ ही कर्मप्रकृति रूप आगम के धारक होने के कारण सम्भवतः वे किसी कर्मग्रन्थ के प्रणेता भी रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । परन्तु उनके द्वारा किसी ग्रन्थ के रचे जाने का कोई प्रामाणिक भी उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया । इन उभय जितसेनों द्वारा स्मृत प्रस्तुत जयसेन एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं । हरिवंशपुराण के कर्ता ने जो अपनी गुरुपरम्परा दी है उससे स्पष्ट है कि शतवर्षजीवी अमरितसेन और शिष्य कीर्तिधेन का यदि २५-२५ वर्ष का समय मान लिया जाये जो बहुत ही कम है और उसे हरिवंशपुराण के रचनाकाल (शकसंवत् ७०५ वि० ८४०) में से कम किया जाये तो शक संवत् ६५५ वि० सं० ७६० के लगभग जयसेन का समय हो सकता है । अर्थात् जयसेन विक्रम की आठवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे ।

कविपरमेश्वर—आचार्य जितसेन, कवियों के द्वारा पूज्य तथा कविपरमेश्वर प्रकट करते हुए उन्हें 'वागर्थसंग्रह' नामक पुराण के कर्ता बतलाते हैं और आचार्य गुणभद्र ने इनके पुराण को गद्यकषारूप, सभी छन्द और अलंकार का लक्ष्य, सूक्ष्म अर्थ तथा गूढ़ पदरचना वाला बतलाया है, जैसा कि उनके निम्न पद्य से स्पष्ट है—

“कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकषायामात्रकं (मातृकं) पुरोश्चरितम् ।

सकलब्रह्मदोस्तकृत्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम् ॥१८॥”

आदिपुराण के प्रस्तुत संस्करण में जो संस्कृत टिप्पण दिया है उसके प्रारम्भ में भी टिप्पणकर्ता ने यही लिखा है—“तदनु कविपरमेश्वरेण प्रहृष्टगद्यकषारूपेण संकथितां त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिताश्रयां परमार्थ-बृहत्कथां संगृह्य” ।

चामुण्डराय ने अपने पुराण में कविपरमेश्वर के नाम से अनेक पद्य उद्धृत किये हैं जिससे डॉ० ए०

१. धेनो, अनेकान्त यवं ६ किरण ८ में प्रकाशित दरबारीलालजी कोठिया का 'वादीभसिंह सूरि की एक अधूरी अपूर्ण कृति' शीर्षक लेख ।

एन० उपाध्ये ने इनके पुराण को गद्यपद्यमय चम्पूग्रन्थ होने का अनुमान किया है। यह अनुमान प्रायः ठीक जान पड़ता है और सभी गुणभद्र द्वारा प्रदत्त 'सकलच्छन्दोऽलङ्कृतिलक्ष्यम्' विशेषण की यथार्थता जान पड़ती है। कविपरमेश्वर का आदिपर्व, अभिनवपर्व, नयसेन, अगलदेव और कमलभव आदि अनेक कवियों ने आदर के साथ स्मरण किया है जिससे वे अपने समय के महान् विद्वान् जान पड़ते हैं। इनका समय अभी निश्चित नहीं है फिर भी जिमसेन के पूर्ववर्ती तो हैं ही।

आदिपुराण^१ में वर्णित देशविभाग में आये हुए कुछ देशों का परिचय

सुकोसल—मध्यप्रदेश को सुकोसल कहते हैं। इसका दूसरा नाम महाकोसल भी है।

अवन्ती—उज्जैन के पार्श्ववर्ती प्रदेश को अवन्ती कहते थे। अवन्ती नगरी (उज्जैन) उसकी राजधानी थी।

पुण्ड्र—आजकल के बंगाल का उत्तर भाग पुण्ड्र कहलाता था। इसका दूसरा नाम मीठ देश भी था।

सुव—यह सरस्वती की बायीं ओर अनेक कौसों का मैदान है। इसको कुरुजांगल भी कहते हैं। हस्तिनापुर इसकी राजधानी रही है।

काशी—बनारस के चारों ओर का प्रान्त इस देश के अन्तर्गत था। इस देश की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी।

कलिङ्ग—मगध प्रान्त का उत्तर भाग और उत्कल (उड़ीसा) का दक्षिण भाग पहले कलिङ्ग नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी कलिङ्ग नगर (राजमहेन्त्री) थी। इसमें महेन्द्रमाली नामक गिरि है।

अङ्ग—मगध देश का पूर्व भाग अङ्ग कहलाता था। इसकी प्रधान नगरी चम्पा थी जो भामलपुर के पास है।

बङ्ग—बङ्गाल का पुराना नाम बङ्ग है। यह सुहा देश के पूर्व में है। इसकी प्राचीन राजधानी कर्ण-स्वर्ण (बनसोना) थी। इस समय कालीघट्टपुरी (कलकत्ता) राजधानी है।

सुहा—यह वह देश है जिसमें कपिश (कोसिया) नदी बहती है। ताम्रलिप्ति (तामलूक) इसकी राजधानी थी।

काश्मीर—यह प्रान्त भारत की उत्तर सीमा पर है। इसका अब भी काश्मीर ही नाम है। इसकी राजधानी श्रीनगर है।

आनर्त—प्राचीन काल में गुर्जर (गुजरात) के तीन भाग थे : १ आनर्त, २ मुराष्ट्र (काठियावाड़) और ३ लाट। आनर्त गुर्जर का उत्तर भाग है। दारावती (द्वारिका) इसकी प्रधान नगरी है।

वत्स—प्रयाग के उत्तर भाग का मैदान वत्स देश कहलाता था। इसकी राजधानी कोशाम्बी (कोसम) थी।

पञ्चनद—इसका पुराना नाम पञ्चनद और आधुनिक नाम पञ्जाब है। इसमें बितस्ता आदि पाँच नदियाँ हैं इसलिए इसका नाम पञ्चनद पड़ा। इसकी पाँच नदियों के मध्य में कुलूत, मद्र, आरद्र, यौधेय आदि अनेक प्रदेश थे। लवपुर (लाहौर), कुशापुर (कुशावर), तक्षशिला (टेक्सिला) और मूल-स्थान (मुल्तान) आदि इसके वर्तमानकालीन प्रधान नगर हैं।

१. इस प्रकरण में पं० सीताराम जयराम जोशी एम० ए० और पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज एम० ए० के 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' से महाप्रता भी गयी है।

मालव—यह मालवा का नाम है। पहले अवन्ती इसी के अन्तर्गत दूसरे नाम से प्रसिद्ध था पर अब वह मालव में सम्मिलित है। उज्जैन, दणपुर (मन्दसौर), धारानगरी (धार), इन्डपुर (इन्दौर) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं।

पञ्चाल—यह कुरुक्षेत्र के पूर्व में है। यह दक्षिण पञ्चाल और उत्तरपञ्चाल इन दो विभागों में था। इसका विस्तार जर्मण्यती नदी तक था। कान्यकुब्ज (कन्नौज) इसी में है। उत्तरपञ्चाल की महिषगंगा और दक्षिण पञ्चाल की कांथिस्थ राजधानियाँ थीं।

दशार्ण—यह प्रदेश मालवा का पूर्व भाग है। इस प्रदेश में बेतवा (बेतवा) नदी बहती है। कुछ स्वानों में दशार्ण (घसान) नदी भी बही है और अन्त में चलकर बेतवा में जा मिली है। विदिशा (बेतवा) इसकी राजधानी थी।

कण्व—पश्चिमी समुद्र तट का प्रदेश कण्व कहलाता था। यह कण्व काठियावाड़ के नाम से अब भी प्रसिद्ध है।

मगध—बिहार प्रान्त का गङ्गा के दक्षिण का भाग मगध कहलाता था। इसकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) थी। गया और उदयित्य (मुदगया) इसी प्रान्त में थे।

विदर्भ—इसका आधुनिक नाम बरार है। इसकी प्राचीन राजधानी विदर्भपुर (बीदर) कचवा कुडिनपुर थी।

महाराष्ट्र—कृष्णा नदी से नर्मदा तक का विस्तृत मैदान महाराष्ट्र कहलाता था।

सुराष्ट्र—मालवा का पश्चिमी प्रदेश सौराष्ट्र या सुराष्ट्र कहलाता था। आजकल इसको सौराष्ट्र (काठियावाड़) कहते हैं। रैवतक (गिरनार) क्षेत्र इसी में है। सौराष्ट्र के जिस भाग में द्वारिका है उसे जानतें कहते थे।

कोङ्कण—पश्चिमी समुद्रतट पर यह प्रदेश सूर्यपतन (सूरत) से रत्नागिरि तक विस्तृत है। महाम्बा पुर (बम्बई) तथा कल्याण इसी कोङ्कण देश में हैं।

वनवास—कर्नाटक प्रान्त का एक भाग वनवास कहलाता था। आजकल यह बत्तीसी कहलाता है। गुणभद्राचार्य के समय इसकी राजधानी बंकापुर थी जो धारवाड़ जिले में है।

आन्ध्र—यह गोदावरी तथा कृष्णा नदी के बीच में था। इसकी राजधानी अन्ध्रनगर (बेंगलूर) थी। इसका अधिकांश भाग भाग्यपुर (हैदराबाद) राज्य में अन्तर्भूत है। इसी को त्रैलोक्य (तेलंग) देश भी कहते हैं।

कर्नाट—यह आन्ध्रदेश के दक्षिण वा पश्चिम का भाग था। वनवास तथा महिषग अथवा महीशूर (मैसूर) इसी के अन्तर्गत हैं। इसकी राजधानियाँ महिषपुर और श्रीरंगपत्तन थीं।

कोसल—यह उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल इस प्रकार दो भागों में विभक्त था। गोमती, शरावती (श्रावस्ती), लक्ष्मणपुरी (लखनऊ) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं। यहाँ गोमती, तमसा और सरयू नदियाँ बहती हैं। कुशावती का समीपवर्ती प्रदेश दक्षिण कोसल कहलाता था। तथा अयोध्या, लखनऊ आदि के समीपवर्ती प्रदेश का नाम उत्तर कोसल था।

चोल—कर्नाटक का दक्षिण पूर्वभाग अर्थात् मद्रास शहर, उसके उत्तर के कुछ प्रदेश और मैसूर रियासत का बहुत कुछ भाग पहले चोल नाम से प्रसिद्ध था।

केरल—कृष्णा और तुङ्गभद्रा के दक्षिण में विद्यमान भूभाग, जो आजकल केरल के अन्तर्गत है, पाण्ड्य केरल और सतीपुत्र नाम से प्रसिद्ध था।

शूरसेन—मथुरा का समीपवर्ती प्रदेश शूरसेन देश कहलाता था। गोकुल, वृन्दावन और अग्रवण (आगरा) इसी प्रदेश में हैं।

बिबेह—द्वारवंग (दरभंगा) के समीपवर्ती प्रदेश को बिबेह कहते थे। मिथिला या जनकपुरी इसी देश में है।

सिन्धु—यह देश अब भी सिन्ध नाम से प्रसिद्ध है, और कराची उसकी राजधानी है।

गन्धार (कन्धहार)—इसका आधुनिक नाम अफगानिस्तान है। यह सिन्धु नदी और काश्मीर के पश्चिम में है। यहाँ की प्राचीन राजधानियाँ पुरुषपुर (पेशावर) और पुष्करावर्त (हस्तनगर) थीं।

यवन—यह यूनान (ग्रीक) का पुराना नाम है।

वेदि—मालवा की आधुनिक 'बन्देरी' मगरी का समीपवर्ती प्रदेश वेदि देश कहलाता था। अब यह खालियर राज्य में है।

पल्लव—दक्षिण में कांची के समीपवर्ती प्रदेश को पल्लव देश कहते थे। यहाँ इतिहास प्रसिद्ध पल्लव-वंशी राजाओं का राज्य रहा है।

काम्बोज—इसका आधुनिक नाम बलोचिस्तान है।

आरद्र—पंजाब के एक प्रदेश का नाम आरद्र था।

तुवष्क—इसका आधुनिक नाम तुर्किस्तान है।

गक (गकस्थान)—इसका आधुनिक नाम बेक्ट्रिया है।

सौवीर—सिन्ध देश का एक भाग सौवीर देश कहलाता था।

केकय—पंजाब प्रान्त की वितस्ता (झेलम) और चन्द्रभागा (चनाब) नदियों का अन्तरालवर्ती प्रदेश पहले केकय नाम से प्रसिद्ध था। गिरिवज, जिसका कि आजकल जलालपुर नाम है, इसकी राजधानी थी।

आदिपुराण पर टिप्पण और टोकार्ण

आदिपुराण जेनागद के प्रबमानुयोग ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह समुद्र के समान गम्भीर है। अतः इसके अन्तर जिनसेन के परवर्ती आचार्यों द्वारा टिप्पण और टीकाओं का लिखा जाना स्वाभाविक है। सम्पादन करते समय मुझे आदिपुराण के टिप्पण की ३ तथा संस्कृत टीका की १ प्रति प्राप्त हुई। सम्पादनसामग्री में 'ट', 'क' और 'ख' नामवाली जिन प्रतियों का परिचय दिया गया है वे टिप्पणवाली प्रतियाँ हैं और 'द' सांकेतिक नामवाली प्रति संस्कृत टीका की प्रति है। 'ट' और 'क' प्रतियों की लिपि कर्णाटक लिपि है। 'ट' प्रात में "भीमते सकलजगत्ता आशपपवसीमुषे । सर्वजकभुते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ।" इस आद्यश्लोक पर विस्तृत टिप्पणी दी हुई है जिसमें उक्त श्लोक के अनेक अर्थ किये गये हैं। 'क' प्रति में आद्यश्लोक का 'ट' प्रति-जैसा विस्तार नहीं है। 'ख' प्रति नागरी लिपि में लिखी हुई है। इस प्रति के अन्त में लिपि का जो सं० १२२४ वं० ६० ७ दिया हुआ है उससे यह बहुत प्राचीन जान पड़ती है। मंगल श्लोक के विस्तृत व्याख्यान को छोड़कर बाकी टिप्पण 'ट' प्रति के टिप्पण से प्रायः मिलते-जुलते हैं। आदिपुराण के इस संस्करण में जो टिप्पण दिया गया है उसमें आद्यश्लोक का टिप्पण 'ट' प्रति से लिया गया है और बाकी टिप्पण 'क' प्रति से। 'क' 'ख' प्रति के टिप्पण 'ट' प्रति के टिप्पण से प्राचीन हैं। आद्यश्लोक के टिप्पण में (पृष्ठ ५) "पञ्चमुक्त्यै स्वयं मे, आचारान्ता-अरन्तः परमकृष्णमाचारयन्ते मुमुक्षून् । श्लोकाग्रण्यशरण्यान् गणधरवृषभान् इत्याशाधरैर्निरूपणात्"—इन वाक्यों द्वारा पं० आशाधरजी के प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ का श्लोकांश उद्धृत किया गया है। इससे यह सिद्ध है कि उक्त टिप्पण पं० आशाधरजी के वाच की रचना है। इन तीनों प्रतियों के आदि-अन्त में कहीं भी टिप्पणकर्ता के नाम का उल्लेख नहीं मिला, अतः यह कहने में अगमर्थ हूँ कि यह टिप्पण विगके हैं और कितने प्राचीन हैं।

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्रो० वेल्हणकर द्वारा सम्पादित 'जिनरत्नकोश' नामक जो पुस्तक अंगरेजी में प्रकाशित हुई है उसमें आदिपुराण की चार टीकाओं का उल्लेख है । (१) ललित-कीर्ति की टीका, जिसका सम्पादन-सामग्री शीर्षक प्रकरण के अन्तर्गत 'द' प्रति के रूप में परिचय दिया गया है । इसके विषय में आगे कुछ और भी स्पष्ट लिखा जायेगा । (२) दूसरा टिप्पण प्रभाकर का है । (३) तीसरा अनन्त ब्रह्मचारी का और (४) चौथा हरिवेण का है । इनके अतिरिक्त एक मंगला टीका का भी उल्लेख है ।

ये टीका और टिप्पण कहाँ हैं तथा 'ट', 'क' और 'ख' प्रतियों के टिप्पण इनमें-से कौन-कौन है इसका स्पष्ट उल्लेख तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उक्त सब प्रतियों का निरीक्षण-परीक्षण नहीं कर लिया जाये । प्राचीन शास्त्रभाण्डारों के अध्यक्षों से उक्त प्रतियों के परिचय भेजने की मैं प्रबल प्रेरणा करता हूँ ।

टिप्पण की उक्त स्वतन्त्र प्रतियों के सिवाय अन्य मूल प्रतियों के आजू-बाजू में भी कितने ही पदों के टिप्पण लिखे मिले हैं जिनका कि उल्लेख मैंने 'प', 'अ' और 'इ' प्रति के परिचय में किया है । इन टिप्पणों में कहीं समानता है और कहीं असमानता भी ।

'द' नामवाली जो संस्कृत टीका की प्रति है उसके अन्त में अवश्य ही टीकाकार ने अपनी प्रशस्ति दी है जिससे विदित होता है कि उसके कर्ता श्री ललितकीर्ति भट्टारक हैं । उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

“भट्टारक ललितकीर्ति काष्ठाग्रस्थित मायुरगच्छ और पुष्करगण के विद्वान् तथा भट्टारक जगत्-कीर्ति के शिष्य थे । इन्होंने आदिपुराण और उत्तरपुराण—पूरे महापुराण पर टिप्पण लिखा है । पहला टिप्पण महापुराण के ४२ पर्वों का है जिसे उन्होंने सं. १८७४ के मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा रविवार के दिन समाप्त किया था और दूसरा टिप्पण ४३ वें पर्व तक का है जिसे उन्होंने १८८६ में समाप्त किया है । इसके सिवाय उत्तरपुराण का टिप्पण सं० १८८८ में पूर्ण किया है ।”

आदिपुराण की प्राचीन हिन्दी टीका पं० दौलतरामजी कुल है जो मुद्रित हो चुकी है । यह टीका श्लोकों के क्रमांक देकर लिखी गयी है । इसमें मूल श्लोक न देकर उनके अंक ही दिये हैं । स्वर्गीय पं० कलसम्पा भरमण्डा 'निटवे' द्वारा इसकी एक मराठी टीका भी हुई थी जो जैनेन्द्र प्रेस कोल्हापुर से प्रकाशित हुई थी । इसमें संस्कृत श्लोक देकर उनके नीचे मराठी अनुवाद छपा गया था । इनके सिवाय एक हिन्दी टीका श्री पं० लालारामजी शास्त्री द्वारा लिखी गयी है जो कि ऊपर सामूहिक मूल श्लोक देकर नीचे श्लोक क्रमांकानुसार हिन्दी अनुवादसहित मुद्रित हुई थी । यह संस्करण मूलसहित होने के कारण जनता की अधिक पसन्द आया था । अब दुर्लभ है ।

आदिपुराण और वर्णव्यवस्था

वर्णार्पण

जैनधर्म की मान्यता है कि सृष्टि अपने रूप में अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी । इसमें अवान्तर विशेषताएँ होती रहती हैं, जो बहुत सारी प्राकृतिक होती हैं और बहुत कुछ पुरुषप्रयत्नजन्य भी । जैन शास्त्रों में उल्लेख है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी के रूप में काल का परिवर्तन होता रहा है । इनके प्रत्येक के सुषमा आदि छह-छह भेद होते हैं । यह अवसर्पिणी काल है । जब इसका पहला भाग यहाँ बीत रहा था तब उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था थी, जब दूसरा काल आया तब मध्यम भोगभूमि आयी और जब तीसरा काल आया तब जघन्य भोगभूमि हुई । तीसरे काल का जब पत्य के आठवें भाग प्रमाण काल बाकी रह तब क्रम से १४ मनुओं-कुलकरों की उत्पत्ति हुई । उन्होंने उस समय अपने विशिष्ट वैदुष्य से जनता की कितनी ही बातें सिखलायीं । चौदहवें कुलकर नाभिराज थे । उनके समय तक कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, और

लोग बिना बोये अपने-आप उत्पन्न अनाज से आजीविका करते थे। उन्होंने नाभिराज के भगवान् ऋषभदेव उत्पन्न हुए। आप प्रथम तीर्थंकर थे। आपके समय में वह बिना बोये उत्पन्न होनेवाला धान्य भी नष्ट हो गया। लोभ क्षुधा से आतुर होकर इतस्ततः भ्रमण करने लगे। कुछ लोभ अपनी दुःखगाथा सुनाने के लिए नाभिराज के पास पहुँचे। वे सब लोगों को भगवान् ऋषभदेव के पास ले गये। भगवान् ऋषभदेव ने उस समय विदेहसौत्र की व्यवस्था का स्मरण कर यहाँ के लोगों को भी वही व्यवस्था बतलायी और यह कहते हुए लोगों को समझाया कि देखो अब तक तो यहाँ भोगभूमि थी, कल्पवृक्षों से आप लोगों को भोगोपभोग की सामग्री मिलती रही पर अब कर्मभूमि प्रारम्भ हो रही है—यह कर्म करने का युग है, कर्म—कार्य किये बिना इस समय कोई जीवित नहीं रह सकता। असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म हैं। इन कर्मों के करने से आप लोग अपनी आजीविका चलायें। वे तरह-तरह के धान्य-अनाज अब तक बिना बोये उत्पन्न होते रहे परन्तु अब आगे से बिना बोये उत्पन्न न होंगे। आप लोगों को कृषि—खेतीकर्म से धान्य पैदा करने होंगे। इन गायें, भैंस आदि पशुओं से दूध निकालकर उसका सेवन जीवनीपयोगी होगा। अब तक सबका जीवन व्यक्तिगत जीवन था पर अब सामाजिक जीवन के बिना कार्य नहीं चल सकेगा। सामाजिक संघटन से ही आप लोग कर्मभूमि में सुख और शान्ति से जीवित रह सकेंगे। आप लोगों में जो बलवान् हैं वे शस्त्र धारण कर निर्बलों की रक्षा का कार्य करें, कुछ लोग उपयोगी वस्तुओं का संग्रह कर यथा समय लोगों को प्रदान करें अर्थात् व्यापार करें, कुछ लोग लिपि-विद्या के द्वारा अपना काम चलायें, कुछ लोग लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली हल, शकट आदि वस्तुओं का निर्माण करें, और कुछ लोग नृत्य-गीतादि आह्लादकारी विद्याओं के द्वारा अपनी आजीविका करें। लोगों को भगवान् के द्वारा बतलाये हुए षट्कर्म पसन्द आये। वे उनके अनुसार अपनी-अपनी आजीविका करने लगे। भोगभूमि के समय लोग एक सङ्घन योग्यता के धारक होते थे अतः किसी को किसी अन्य के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती थी परन्तु अब विसृष्ट शक्ति के धारक लोभ उत्पन्न होने लगे। कोई निर्बल, कोई सबल, कोई अधिक परिश्रमी, कोई कम परिश्रमी, कोई अधिक बुद्धिमान् और कोई कम बुद्धिमान्। उद्भूत सबलों से निर्बलों की रक्षा करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। शिल्पवृत्ति से तैयार हुए मांस को लोगों तक पहुँचाने की आवश्यकता जान पड़ने लगी। खेती तथा शिल्प आदि कार्यों के लिए पारस्परिक जनसहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई तब भगवान् ऋषभदेव ने, जो कि वास्तविक ब्रह्मा थे, अपनी भुजाओं में शस्त्र धारण कर लोगों को शिक्षा दी कि आततायियों से निर्बल मानवों की रक्षा करना बलवान् मनुष्य का कर्तव्य है। कितने ही लोगों ने यह कार्य स्वीकार किया। ऋषभदेव भगवान् ने ऐसे लोगों का नाम क्षत्रिय रखा। अपनी जंघाओं से चलकर लोगों को शिक्षा दी कि सुविधा के लिए सृष्टि को ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो तैयार हुई वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर वहाँ के लोगों को सुख-सुविधा पहुँचायें। बहुत-से लोगों ने यह कार्य करना स्वीकृत किया। भगवान् ने ऐसे लोगों को वैश्य संज्ञा दी। इसके बाद उन्होंने बतलाया कि यह कर्मयुग है और कर्म बिना सहयोग के हो नहीं सकता अतः पारस्परिक सहयोग करने वालों की आवश्यकता है। बहुत-से लोगों ने इस संवावृत्ति को अपनाया। भगवान् ने उन्हें शूद्र संज्ञा दी। इस तरह कर्मभूमि रूप सृष्टि के प्रारम्भ में आदिब्रह्मा ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण स्थापित किये। आगे चलकर भरत चक्रवर्ती के मन में यह बात आयी कि मैंने दिग्विजय के द्वारा बहुत-सा धन इकट्ठा किया है। अन्य लोग भी अपनी शक्ति के अनुसार यथाशक्य धन एकत्रित करते हैं। आखिर उसका त्याग कहाँ किया जाये? उसका पात्र किसे बनाया जाये? इसी के साथ उन्हें ऐसे लोगों की भी आवश्यकता अनुभव में आयी कि यदि कुछ लोग बुद्धिजीवी हों तो उनके द्वारा अन्य त्रिवर्गों को सदा बौद्धिक सामग्री मिलती रहेगी। इसी विचार के अनुसार उन्होंने समस्त लोगों को अपने घर आमन्त्रित किया और मार्ग में हरी घास उगवा दी। 'हरी घास में भी जीव होते हैं, हमारे चलने पर उन जीवों को बाधा पहुँचेगी' इस बात का विचार किये बिना ही बहुत-से लोग भरत महाराज के महल में भीतर चले गये परन्तु कुछ लोग ऐसे भी रहे जो हरित घास वाले मार्ग से भीतर नहीं गये, बाहर ही खड़े रहे। भरत महाराज ने जब भीतर

न आने का कारण पूछा तब उन्होंने बतलाया कि हमारे आने से हरित घास के जीवों को शायद पहुँचती है इसलिए हम लोग नहीं आये। महाराज भरत ने उन सबकी दयावृत्ति की मान्यता देकर उन्हें दूसरे प्रासुक मार्ग से अन्दर बुलाया और उन सबकी प्रशंसा तथा सम्मान कर उन्हें ब्राह्मण संज्ञा दी तथा उनका अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन आदि कार्य निश्चित किया। इस घटना का वर्णन जिनसेनाचार्य ने अपने इसी आदिपुराण के पर्व १६, पद्य २४३-२४६ में किया है।

जन्मना कर्मणा वा

यह वर्णव्यवस्था जन्म से है या कर्म से, इस विषय में आजकल दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। कुछ लोगों का ऐसा ध्यान है कि वर्णव्यवस्था जन्म से ही है अर्थात् जो जिस वर्ण में उत्पन्न हो गया वह चाहे जो अनुकूल प्रतिकूल कर्म करे उस भव में उसी वर्ण में रहेगा, मरणोत्तर काल में ही उसका वर्ण-परिवर्तन हो सकेगा। और कुछ लोग ऐसा ध्यान रखते हैं कि वर्णव्यवस्था गुण और कर्म के अधीन है। षट् कर्मों को अवस्थित रूप देने के लिए ही चतुर्वर्ण की स्थापना हुई थी, अतः जिसके जैसे अनुकूल प्रतिकूल कर्म होंगे उसका वैसे ही वर्ण होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से जब इन दोनों धाराओं पर विचार करते हैं तो कर्मणा वर्णव्यवस्था की बात अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। क्योंकि ब्राह्मणों तथा महाभारत आदि में जहाँ भी इसकी चर्चा की गयी है वहाँ कर्म की अपेक्षा ही वर्णव्यवस्था मानी गयी है। उदाहरण के लिए कुछ उल्लेख देखिए :

महाभारत में भारद्वाज भृगु महर्षि से प्रश्न करते हैं कि यदि सित अर्थात् सत्त्वगुण, लोहित अर्थात् रजोगुण, पीत अर्थात् रजस्तमोव्यामिश्र और कृष्ण अर्थात् तमोगुण इन चार वर्णों के वर्ण से वर्ण-भेद माना जाता है तो सभी वर्णों में वर्णसंकर दिखाई देता है। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, श्रम आदि हम सभी के होते हैं फिर वर्णभेद क्यों होता है? हम सभी का शरीर पसीमा, मूत्र, पुरीष, कफ और रश्मि को झराता है फिर वर्णभेद कैसा? जंगम और स्वावर जीवों की असंख्यात कृतिर्णा हैं उन विविध वर्ण वाली जातियों के वर्ण का निश्चय कैसे किया जाये?

उत्तर में भृगु महर्षि कहते हैं :

वस्तुतः वर्णों में कोई विशेषता नहीं है। सबसे पहले ब्रह्मा ने इस संसार को ब्राह्मण वर्ण ही सृजा वा परन्तु अपने-अपने कर्मों से वह विविध वर्णभेद को प्राप्त हो गया। जिन्हें कामभोग प्रिय है, स्वभाव से तीक्ष्ण, क्रोधी तथा प्रियसाहस है, स्वधर्म-सत्त्वगुण प्रधान धर्म का स्थापन करने वाले हैं और रक्तांग अर्थात् रजोगुण-प्रधान हैं वे क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए। जो शौ आदि से आजीविका करते हैं, पीत अर्थात् रजस्तमोव्यामिश्रगुण के धारक हैं, खेती आदि करते हैं और स्वधर्मका पालन नहीं करते हैं वे द्विज वैश्यपने को प्राप्त हो गये। इनके सिवाय जिन्हें हिंसा, शूठ आदि प्रिय है, सुम्र है, समस्त कार्य कर अपनी आजीविका करते हैं, कृष्ण अर्थात् तमोगुणप्रधान हैं, और शौच—पवित्रता से परिच्छिन्न हैं वे शूद्रपने को प्राप्त हो गये। इस प्रकार इन कार्यों से पुषक-पुषकपने को प्राप्त हुए द्विज वर्णान्तर को प्राप्त हो गये। धर्म तथा यज्ञक्रिया का इन सभी के लिए निषेध नहीं है।

१. भारद्वाज उवाच

“चातुर्वर्णस्य वर्णेत यदि वर्णो विभिद्यते। सर्वेषां तत्तु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥६॥

कामः क्रोधः भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः। सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥७॥

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम्। तनुः अरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥८॥

अङ्गमानामसंख्येयाः स्वावराणां च जातयः। तेषां विविधवर्णानां कतो वर्णविनिश्चयः ॥९॥” →

इसी महाभारत का एक उदाहरण और देखिए :

भारद्वाज भृगु महर्षि से पूछते हैं कि हे बभ्रुश्रेष्ठ, हे ब्राह्मण ऋषे, कहिए कि यह पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किस कारण से होता है ?

उत्तर में भृगु महर्षि कहते हैं :

“जो जातकर्म आदि संस्कारों से संस्कृत है, पवित्र है, वेदाध्ययन से सम्पन्न है, इज्या आदि षट्कर्मों में भवस्थित है, शौचाचार में स्थित है, यज्ञावशिष्ट वस्तु को खाने वाला है, गुरुओं को प्रिय है, निरन्तर व्रत करण करता है, और सत्य में तत्पर रहता है वह ब्राह्मण कहलाता है । सत्य, दान, अहोह, अकूरता, लज्जा, दया और सप जिसमें दिखाई दे वह ब्राह्मण है । जो क्षत्रिय कर्म का सेवन करता है, वेदाध्ययन से संगत है, दानदायक में जिसकी प्रीति है वह क्षत्रिय कहलाता है । व्यापार तथा पशुरक्षा जिसके कार्य हैं, जो खेती आदि में प्रेम रखता है, पवित्र रहता है और वेदाध्ययन से सम्पन्न है वह वैश्य कहलाता है । वाद्य-अवाद्य सभी में जिसकी प्रीति है, जो सबका काम करता है, अपवित्र रहता है, वेदाध्ययन से रहित है और आचारवर्जित है वह शूद्र माना जाता है । इन श्लोकों की संस्कृत टीका में स्पष्ट किया गया है कि विवर्ण में धर्म ही वर्णविभाग का कारण है, जाति नहीं ।^१

इसी प्रकार बलिपूराण का एक प्रकरण देखिए, जिसमें स्पष्ट लिखा है :

“हे राजन्, द्विजत्व का कारण न जाति है, न कुल है, न स्वाध्याय है, न शास्त्रज्ञान है, किन्तु वृत्त—सवाचार ही उसका कारण है । वृत्तहीन दुरात्मा मानव का कुछ क्या कर देगा ? क्या सुगन्धित फूलों में कीड़े

→ बृहदारण्यक

“न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मभिर्ब्रज्यते । ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्बर्ण्यतां गतम् ॥१०॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः । त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥११॥

गोम्यो बृंक्षि समास्थाय पीताः कृष्यपञ्चोर्विनः । स्वधर्मान्मानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः ॥१२॥

हिंसानुत्प्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः । कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः । धर्मो यत्प्रकियास्तेषां नित्यं न प्रतिबिद्ध्यते ॥१४॥”

—म० भर०, भा० प०, अ० १८८

१. “भारद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवेति क्षत्रियो वा द्विजोत्तमः । वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्च तद्ब्रूहि भवतां वर ॥१॥

भृगुरुवाच

जातकर्माभिर्भिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः । वेदाध्ययनसंपन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥२॥

शौचाचारस्थितः सम्पद्बिधसाशी गुरुप्रियः । नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥३॥

सत्यं दानमवाग्रोह आनुसत्यं त्रया घृणा । तपश्च दशमते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥४॥

सर्वज्ञं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः । दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥५॥

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः । वेदाध्ययनसंपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥६॥

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽनुचिः । त्यक्तवेदस्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥७॥

(द्विजे—वैश्वर्णिके धर्म एव वर्णविभागे कारणम् न जातिरित्यर्थः) सं० टी०”

—म० भा०, भा० प०, अ० १८६

वैदा नहीं होते ? राजन्, एकान्त से यही एक बात ब्राह्म नहीं है कि यह पढ़ता है इसलिए द्विज है, चारित्र की खोज की जाये । क्या राक्षस नहीं पढ़ते ? नट की तरह दुरात्मा मनुष्य के बहुत पढ़ने से क्या ? उसी ने पढ़ा और उसी ने सुना जो कि क्रिया का पालन करता है । जिस प्रकार कपाल में रखा हुआ पानी और कुत्ते की मशक में रखा हुआ दूध दूषित होता है उसी प्रकार वृत्तहीन मनुष्य का श्रुत भी स्थान के दोष से दूषित होता है । दुराचारी मनुष्य भले ही चतुर्वर्णों को पालनधार हो, वहिर्बुद्ध होता है, जो ब्रह्म शूद्र से भी कहीं अधिक नीच है । इसलिए हे राजन्, वृत्त को ही ब्राह्मण का लक्षण जानो ।”

बृद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र में भी उल्लेख है :

“हे राजन् ! जाति नहीं पूजी जाती, गुण ही कल्याण के करने वाले हैं, वृत्त—सदाचार में स्थित चाण्डाल को भी देवों ने ब्राह्मण कहा है ।”

मुक्तीतिसार का भी उल्लेख द्रष्टव्य है :

“न केवल जाति को देखना चाहिए और न केवल कुल को । कर्म, शील और दया, दाक्षिण्य आदि गुण ही पूज्य होते हैं, जाति और कुल नहीं । जाति और कुल के ही द्वारा श्रेष्ठता नहीं प्राप्त की जा सकती ।”

ब्राह्मण कौन हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए वैशम्पायन महर्षि महाभारत में युधिष्ठिर के प्रति कहते हैं—

“सत्यशौच, दयाशौच, इन्द्रियनिग्रह शौच, सर्वप्राणिदया शौच और तपःशौच ये पाँच प्रकार के शौच हैं । जो द्विज इस पञ्चलक्षण शौच से सम्पन्न होता है हम उसे ब्राह्मण कहते हैं । हे युधिष्ठिर, शेष द्विज शूद्र हैं । मनुष्य न कुल से ब्राह्मण होता है और न जाति से किन्तु क्रियाओं से ब्राह्मण होता है । हे युधिष्ठिर, वृत्त में स्थिर रहने वाला चाण्डाल भी ब्राह्मण है । पहले यह सारा संसार एक वर्णात्मक था परन्तु कर्म और क्रियाओं की विशेषता से चतुर्वर्ण हो गया । शीलसम्पन्न गुणवान् शूद्र भी ब्राह्मण हो सकता है और क्रियाहीन ब्राह्मण शूद्र से भी नीच हो सकता है । जिसने पञ्चेन्द्रिय रूप भयानक सागर पार कर लिया है—अर्थात् पञ्चेन्द्रियों को वश में कर लिया है, भले ही शूद्र हो उसके लिए अपरिमित दान देना चाहिए । हे राजन्,

१. “न जाति न कुलं राजन् न स्वाध्यायः श्रुतं न च । कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव हि कारणम् ॥
किं कुलं वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः । कुमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥
नैकमेकास्ततो ब्राह्मं पठनं हि विशाम्यते । वृत्तमन्विष्यतां तात रक्षोभिः किं न पठ्यते ॥
बहुना किमधीतेन नटस्येव दुरात्मनः । तेनधीतं श्रुतं वापि यः क्रियाभ्यनुतिष्ठति ॥
कपालस्थं यथा तोयं स्ववृत्तौ च यथा पयः । दूष्यं स्यात्स्थानदोषेण वृत्तहीनं तथा श्रुतम् ॥
चतुर्वर्णोऽपि कुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः । तस्माद् विद्धि महाराज वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम् ॥”

—वाल्मीकिपुराण

२. “न जातिः पूज्यते राजन् गुणैः कल्याणकारकैः । चाण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विभुः ॥”

—बृद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र

३. “नैव जातिनं च कुलं केवलं लक्षयेदपि । कर्मशीलगुणाः पूज्याः तथा जातिकुले न हि ॥
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते ।”

—शु० ती०, सा० अ० ३

जाति नहीं देखी जाती। गुण ही कल्याण करने वाले हैं इसलिए शूद्र से उत्पन्न हुआ मनुष्य भी यदि गुणवान् है तो ब्राह्मण है।^१

शुक्नीति में भी इस आशय का एक श्लोक और आया है :

“मनुष्य, जाति से न ब्राह्मण हो सकता है न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र और न म्लेच्छ। किन्तु गुण और कर्म से ही ये भेद होते हैं।”

भगवद्गीता में भी यही उल्लेख है कि “मैंने गुण और कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।”^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसमें वर्णव्यवस्था को अत्यन्त महत्त्व मिला उस वैदिक संस्कृति में वेद, ब्राह्मण और महाभारत-युग तक गुण और कर्म की अपेक्षा ही वर्णव्यवस्था अंगीकृत की गयी है। परन्तु ज्यों ही स्मृति-युग आया और काल के प्रभाव से लोगों के आत्मिक गुणों में न्यूनता, सद्बृत्त-सदाचार का ह्रास तथा अहंकार आदि दुर्गुणों की प्रवृत्ति होती गयी त्यों-त्यों गुणकर्मनिसारिणी वर्णव्यवस्था पर परदा पड़ता गया। अब वर्णव्यवस्था का आधार गुणकर्म न रहकर जाति हो गया। अब नारा लगाया जाने लगा कि “ब्राह्मण” जन्म से ही देवताओं का देवता है।” इस गुणकर्मवाद और जातिवाद का एक सन्धिकाल भी रहा है जिसमें गुण और कर्म के साथ योनि अथवा जाति का भी प्रवेश हो गया। जैसा कि कहा गया है :

“जो मनुष्य जाति, कुल, वृत्त-स्वाध्याय और श्रुत से युक्त होता है वही द्विज कहलाता है।”^३

“विद्या, योनि और कर्म ये तीनों ब्राह्मणत्व के करने वाले हैं।”^४

“जन्म, शारीरिक वैशिष्ट्य, विद्या, आचार, श्रुत और यथोक्त धर्म से ब्राह्मणत्व किया जाता है।”^५

१. “सत्यं शौचं दया शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूते दयाशौचं तपःशौचं च पञ्चमम् ॥
पञ्चलक्षणसंपन्न ईदृशो यो भवेत् द्विजः । तमर्हं ब्राह्मणं ब्रूयां सेवाः शूद्रा युधिष्ठिर ॥
न कुलेन न जात्या वा क्रियानिर्वाह्यो भवेत् । चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ॥
एकवर्णमिदं विरक्तं पूर्वमासीत् युधिष्ठिर । कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥
शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् । ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रादप्यधरो भवेत् ॥
पंचेन्द्रियार्णवं धीरं यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान् । तस्मै दानं प्रदातव्यमप्रमेयं युधिष्ठिर ॥
न जातिर्बुद्धिस्तै राजन् गुणैः कल्याणकारकैः । तस्माच्छूद्रप्रसूतोऽपि ब्राह्मणो गुणवान्नरः”

—महाभारत

२. “न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा । न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥”

—शुक्नीति

३. “चातुर्वर्ण्यं भया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।” —भ० गी० ४।१३।

ब्राह्मणक्षत्रियविश्रां शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावाप्रभवैर्गुणैः ॥” —भ० गी० १८।४१।

४. “ब्राह्मणः संभवेनैव ज्ञेयानामपि वैवतम् ।” —समु० ११।८४।

५. “आरवा कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च । धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्वं विधीयते ॥”

—अग्नि पु०

६. “विद्या योनिः कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारकम् ।” पिंगलसूत्रव्याख्यायां स्मृतिवाक्यम् ।

७. “जन्मशारीरविद्यादिराचारेण श्रुतेन च । धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्वं विधीयते ॥”

—परशरमाधवीय ८, १६

“तप, श्रुत और जाति ये तीन ब्राह्मणपन के कारण हैं ।”

परन्तु धीरे-धीरे गुण और कर्म दूर होकर एक योनि अर्थात् जाति ही वर्णव्यवस्था का कारण रह गया । आज का ब्राह्मण मांस मछली खाये, मदिरापान करे, शूतक्रीड़ा, वेश्यासेवन आदि कितने ही दुराचार क्यों न करे परन्तु वह ब्राह्मण ही बना रहता है, वह अन्यवर्णीय लोगों से अपने चरण पुजाता हुआ सर्व का अनुभव करता है । क्षत्रिय चोरी, डकैती, नरहत्या आदि कितने ही कुकर्म क्यों न करे परन्तु ‘ठाकुर साहब’ के सिवाय यदि किसीने कुछ बोल दिया तो उसकी भीड़ टेढ़ी हो जाती है । यही हाल वैश्य का है । आज का शूद्र कितने ही सदाचार से क्यों न रहे परन्तु वह जब देखो तब घृणा का पात्र ही समझा जाता है, उसके स्पर्श से लोग डरते हैं, उसकी छाया से दूर भागते हैं । आज केवल जातिवाद पर अवलम्बित वर्णव्यवस्था ने मनुष्यों के हृदय घृणा, ईर्ष्या और अहंकार आदि दुर्गुणों से भर दिये हैं । धर्म के नाम पर अहंकार, ईर्ष्या और घृणा आदि दुर्गुणों की अभिवृद्धि की जाती है ।

जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था

जैन सिद्धान्त के अनुसार विदेहक्षेत्र में पार्वती कर्मभूमि रहती है, वही क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में तीन वर्ण रहते हैं और आजीविका के लिए उक्त तीन वर्ण आवश्यक भी है । जैनधर्म ब्राह्मणवर्ण को आजीविका का साधन नहीं मानता । विदेहक्षेत्र में तो ब्राह्मणवर्ण है ही नहीं । भरतक्षेत्र में अवश्य ही भरत षट्कर्त्तृ ने उसकी स्थापना की थी परन्तु उस प्रकरण को आद्योपान्त देखने से यह निश्चय होता है कि भरत महाराज ने सभी जीवों को ही ब्राह्मण कहा है । उन्होंने अपने महस पर आमन्त्रित मानवों में से ही दयालु मानवों को ब्राह्मण नाम दिया था तथा व्रतादिक का विनिश्चित उपदेश दिया था । और व्रती होने के चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत दिया था । कहने का सारांश यह है कि जिस प्रकार बौद्धधर्म में वर्ण-व्यवस्था का सर्वथा प्रतिषेध है, ऐसा जैनधर्म में नहीं है । परन्तु इतना निश्चित है कि जैनधर्म स्मृतियुग में प्रचारित केवल जातिवाद पर अवलम्बित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता ।

आदिपुराण में जो उल्लेख है वह केवल वृत्ति-आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ही किया गया है । जिनसेनाचार्य ने उसमें स्पष्ट लिखा है :

“मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोद्योद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहानुते ॥४५॥

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थाजितान्धाव्याज्छूद्रान्यवृत्तिसंभवात् ॥४६॥”

—आ० पृ०, पर्व ३८

अर्थात् जातिनामक कर्म अथवा पंचेन्द्रिय जाति का अवान्तर भेद मनुष्य जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति एक ही है । सिर्फ आजीविका के भेद से वह चार प्रकार की हो जाती है । व्रत-संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, व्यापपूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीचवृत्ति-सेवावृत्ति से शूद्र कहलाते हैं ।

यही मूलक जिनसेनाचार्य के साक्षात् शिष्य गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में निम्न प्रकार परिवर्तित तथा परिष्कृत किये हैं :

“मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोद्योद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहानुते ॥

नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवास्त्वयत् । आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥”

इनमें से प्रथम श्लोक का भाव पहले लिखा जा चुका है। द्वितीय श्लोक का भाव यह है कि राय, घोड़ा आदि में जैसा जातिकृत भेद पाया जाता है वैसे मनुष्यों में नहीं पाया जाता, क्योंकि उन सबकी आकृति एक है।

आदिपुराण के यही श्लोक सन्धिसंहिता तथा धर्मसंग्रह—आयकाचार आदि ग्रन्थों में कहीं ज्यों-के-स्थों और कहीं कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किये गये हैं।

इन्के सिवाम अमितगत्याचार्य का भी अभिप्राय देखिए जो उन्होंने अपनी धर्मपरीक्षा में व्यक्त किया है :

“जो सत्य, शीघ्र, तप, शील, ध्यान, संयम से रहित है ऐसे प्राणियों को किसी उच्च जाति में जन्म लेने मात्र से धर्म नहीं प्राप्त हो जाता।”

“जातियों में जो यह ब्राह्मणादि की भेदकल्पना है वह आचार मात्र से है। वस्तुतः कोई ब्राह्मणादि जाति नियत नहीं है।”

“संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया जिसमें विद्यमान हैं इसकी श्रेष्ठ जाति है।”

“नीच जातियों में उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्ग गये और शील तथा संयम को नष्ट करने वाले कुलीन मनुष्य भी स्वर्ग गये।”

“क्योंकि गुणों से उत्तम जाति बनती है और गुणों के नाश से नष्ट हो जाती है अतः विद्वानों को गुणों में ही आधार करना चाहिए।”

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के दर्शनपाहुड की यह एक गाथा देखिए उसमें वे क्या लिखते हैं :

“न वि वेहे बन्दिज्जह न विम कुलो न विम जाईसंयुतो ।

को बन्दि गुणहीणो न ह सबणो नेव सामथो होइ ॥२७॥”

“न तो वेह की बन्दना की जाती है, न कुल की और न जातिसम्पन्न मनुष्य की। गुणहीन कोई भी बन्दिना करने योग्य नहीं है चाहे भ्रमण हो चाहे आवक।”

भगवान् बृषभदेव ने ब्राह्मण वर्ण क्यों नहीं सृजा ?

यह एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि भगवान् बृषभदेव ने क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थापना की, परन्तु ब्राह्मणवर्ण की स्थापना क्यों नहीं की। उसका उत्तर ऐसा मालूम होता है कि भोगभूमिज मनुष्य प्रकृति से भद्र और शान्त रहते हैं। ब्राह्मण वर्ण की जो प्रकृति है वह उस समय के मनुष्यों में स्वभाव से ही थी। अतः उस प्रकृति वाले मनुष्यों का वर्ग स्थापित करने की उन्हें आवश्यकता महसूस नहीं हुई। हाँ, कुछ लोग उन भद्र प्रकृतिक मानवी को दास आदि पहुँचाने लगे थे इसलिए क्षत्रिय वर्ण की स्थापना की, अर्थात् जन के बिना किसी का काम नहीं चलता इसलिए वैश्य स्थापित किये और सबके सहयोग के लिए शूद्रों का संघटन किया।

१. “न जातिमात्रो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः । सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् । न जाति ब्राह्मणाद्यास्ति नियता कापि तारिबकी ॥

संयमो नियतः शीलं तपो दानं दमो दया । विद्यन्ते तारिबकी यस्यां सा जातिसंहर्ता सताम् ॥

शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि । कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ॥

गुणैः संपद्यते जातिर्गुणध्वंसैरपिपद्यते । यतस्ततो ब्रूयैः कार्यो गुणेष्वेवावरः परः ॥”

—धर्मपरीक्षा, परि० १७

महाभारतादि^१ जैनतर ग्रन्थों में जो यह उल्लेख मिलता है कि सबसे पहले ब्रह्मा ने ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया उसका भी यही अभिप्राय मालूम होता है। मूलतः मनुष्य ब्राह्मण प्रकृति के थे, परन्तु कालक्रम से उनमें विकार उत्पन्न होने के कारण क्षत्रियादि विभाग हुए। अन्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के युगों में मनुष्य अपनी भद्र प्रकृति की अवहेलना नहीं करते, इसलिए यहाँ अन्य कालों में ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नहीं होती। किदेह क्षेत्र में भी ब्राह्मण वर्ण की स्थापना न होने का यही कारण है। यह हुण्डावसर्पिणी काल है जो कि अनेकों उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी युगों के बीच जाने के बाद आया है। इसमें खासकर ऐसे मनुष्यों का उत्पाद होता है जो प्रकृत्वा अभद्रतर होते जाते हैं। समय बीता, भरत चक्रवर्ती हुए। उन्होंने राज्य-शासन संभाला, लोगों में उत्तरोत्तर अभद्रता बढ़ती गयी। मनुष्यों के समय में राजनैतिक दण्डविधान की सिर्फ़ तीन धाराएँ थीं, 'हा', 'मा' और 'धिक्'। किसी ने अपराध किया उसके दण्ड में शासक ने 'हा' खेद है यह कह दिया, बस, इतने से ही अपराधी सचेत हो जाता था। समय बीता, लोग कुछ अभद्र हुए तब 'हा' के बाद 'मा' अर्थात् खेद है अब ऐसा न करना, यही दण्ड निश्चित किया गया। फिर समय बीता, लोग और अभद्र हुए, तब 'हा' 'मा' 'धिक्'— खेद है अब ऐसा न करना, और मना करने पर भी नहीं मानते इसलिए तुम्हें धिक्कार हो, ये तीन दण्ड प्रचलित हुए। 'धिक्' उस समय की मामों फाँसी की सजा थी। किसने भद्र परिणाम वाले लोग उस समय होते थे और आज? अतीत और वर्तमान की तुलना करने पर अबनि-अन्तरिक्ष का अन्तर मालूम होता है।

वर्ण और जाति

वर्ण के विषय में ऊपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। यहाँ जाति के विषय में भी कुछ चर्चा कर लेनी आवश्यक है। जैनागम में जाति के जो एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि पाँच भेद वर्णित हैं वे सामान्य की अपेक्षा हैं। उनके सिवाय एकेन्द्रियादि प्रत्येक जाति के असंख्यात अवान्तर विभेद होते हैं। यहाँ हम उन सबका वर्णन अनावश्यक समझ कर केवल मनुष्यजातियों पर ही विचार करते हैं।

मनुष्यजातियाँ निम्न भेदों में विभाजित हैं :

१. वृत्तिरूप अस्ति—यह वृत्ति अर्थात् व्यवसाय या वेश से सम्बन्ध रखती है। जैसे बढ़ई, सुहार, भुनार, कुम्हार, तेली आदि।

२. वंश—गोत्र आदिरूप जाति—यह अपने किसी प्रभावशाली विशिष्ट पुरुष से सन्तानव्यय की अपेक्षा रखती है। जैसे गर्ग, खोजिय, राठौर, चौहान, खड्डेलवाल, अग्रवाल, शकुन्तल, सूर्यवंश आदि।

३. राष्ट्रीय रूप जाति—यह राष्ट्र की अवस्था से उत्पन्न है। जैसे भारतीय, यूरोपियन, अमेरिकन, चेंदेरिया, नरसिंहपुरिया, देवगढ़िया आदि।

४. साम्प्रदायिक जाति—यह अपने धर्म या सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखती है। जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख, हिन्दू, मुसलमान आदि।

जैन ग्रन्थों तथा यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में जिन जातियों का उल्लेख है वे सभी इन्हीं जातियों में अन्तर्हित हो जाती हैं। इन विविध जातियों का आविर्भाव तत्सत्कारणों से हुआ अवश्य है, परन्तु आज के

१. "असृजत् बाह्यान्तेव पूर्वं कक्षा प्रजापतीन् । आत्मनेजोऽभिमियुंस्तान् भास्कराभिसमप्रभात् ॥

ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शारदातम् । आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय निवेद्ये प्रभुः ॥”

—महाभारत, लघ्याव १८८

“प्रजापतिर्यज्ञमसृजत, यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्” - ऐ० ब्रा०, अ० ३४ खं० १

“तस्य वा द्वयमग्र आसीत् एकमेव” —शः ब्रा० १४२४-५

युग में पुरुषार्थसाधिनी सामाजिक व्यवस्था में इन सबका उपयोग नहीं हो रहा है और न ही हो सकता है। पुरुषार्थसाधिनी सामाजिक व्यवस्था के साथ यदि साक्षात् सम्बन्ध है तो वृत्ति रूप जाति का ही है। व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार वृत्तिरूप जाति को स्वीकृत करता है। यह प्रकृति कदाचित् पिता-पुत्र की एक सृष्टि होती है, और कदाचित् विसृष्टि भी। पिता सात्त्विक प्रकृति वाला है, पर उसका पुत्र राजस प्रकृति का धारक हो सकता है। पिता ब्राह्मण है, पर उसका पुत्र कुलकृमागत अध्ययन-अध्यापन को पसन्द न कर सैनिक बन जाना पसन्द करता है। पिता वैश्य है, पर उसका पुत्र अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति पसन्द कर सकता है। पिता क्षत्रिय है, पर उसका पुत्र दूसरे की नौकरी कर सकता है। मनुष्य विभिन्न प्रकृतियों के होते हैं और उन विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार स्वीकृत की हुई वृत्तियाँ विविध प्रकार की होती हैं। इन सबका जो सामान्य चतुर्वर्गीकरण है वही चतुर्वर्ण है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि एक-एक वर्ण अनेक जाति-उपजातियों का सामान्य संकलन है। वर्ण सामान्य संकलन है और जाति उसका विशेष संकलन। विशेष में परिवर्तन जल्दी-जल्दी हो सकता है पर सामान्य के परिवर्तन में कुछ समय लगता है। मातृवंश को जाति कहते हैं। यह जो जाति की एक परिभाषा है उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है।

वर्ण और कुल

परिवार के किसी प्रतिष्ठित पुरुष को आधार मानकर कुल या वंश का व्यवहार चल पड़ता है। जैसे कि रघु का आधार मानकर रघुवंश, यदु का आधार मानकर यदुवंश, अर्ककीर्ति को आधार मानकर अर्क—सूर्य वंश, कुरु को आधार मानकर कुरुवंश, हरि को आधार मानकर हरिवंश आदि का व्यवहार चल पड़ा है। उसी वंशपरम्परा में आगे चलकर यदि कोई अन्य प्रभावशाली व्यक्ति हो जाता है तो उसका वंश चल पड़ता है, पुराना वंश अन्तर्हित हो जाता है। एक वंश से अनेक उपवंश उत्पन्न होते जाते हैं, यह वंश का व्यवहार प्रत्येक वर्ण में होता है, सिर्फ क्षत्रिय वर्ण में ही होता हो सो बात नहीं। यह दूसरी बात है कि पुराणादि कथाग्रन्थों में जन्हीं की कथाएँ मिलती हैं, परन्तु यह भी तो ध्यान रखना चाहिए कि पुराणादि में विशिष्ट पुरुषों की ही कथाएँ संदुग्ध की जाती हैं, सबकी नहीं। यह यौनवंश का उल्लेख हुआ। इसके सिवाय विद्यावंश का भी उल्लेख मिलता है जो गुरुशिष्य-परम्परा पर अवलम्बित है। इसके भी बहुत भेदोपभेद हैं। इस प्रकार वर्ण और वंश सामान्य और विशेषरूप हैं। लौकिक गोत्र वंश या कुल का ही भेद है।

वर्ण और गोत्र

जन्मभ्रम में एक गोत्र नाम का कर्म माना गया है जिसके उदय से यह जीव उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होता है। उच्च गोत्र के उदय से उच्च कुल में और नीच गोत्र के उदय से नीच कुल में उत्पन्न होता है। देवों के हमेशा उच्च गोत्र का तथा नारकियों और तिर्यञ्चों के नीच गोत्र का ही उदय रहता है। मनुष्यों में भी भोगभूमिज मनुष्य के सदा उच्च गोत्र का ही उदय रहता है, परन्तु कर्मभूमिज मनुष्यों के दोनों गोत्रों का उदय पाया जाता है, किन्हीं के उच्च गोत्र का और किन्हीं के नीच गोत्र का। अपनी प्रशंसा, दूसरे के विद्यमान गुणों का अपसाप तथा अहंकार वृत्ति से नीच गोत्र का ओद इससे विपरीत परिणति के द्वारा उच्च गोत्र का बन्ध होता है। गोत्र की परिभाषा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इस प्रकार लिखी है :

“संस्तानकमेनागम जीवापरचस्स गोदमिदि सत्ता ।

उच्चं नीचं चरणं उच्चं नीचं ह्वे गोदं ॥”

अर्थात् संस्तानक्रम से चले आये जीव के आचरण की गोत्र संज्ञा है। इस जीव का जो उच्च-नीच आचरण है वही उच्च-नीच गोत्र है। विचार करने पर ऐसा विदित होता है कि यह लक्षण सिर्फ कर्मभूमिज मनुष्यों को लक्ष्य कर ही लिखा गया है, क्योंकि गोत्र का उदय जिस प्रकार मनुष्यों के है वही प्रकार नारकियों;

तिर्यङ्गों और देवों के भी है, तथापि इन सबके सन्तति का क्रम नहीं चलता । यदि सन्तान का अर्थ सन्तति न लेकर परम्परा या आम्नाय लिखा जाये और ऐसा अर्थ किया जाये कि परम्परा या अम्नाय से प्राप्त जीव का जो आचरण अर्थात् प्रवृत्ति है वह गोत्र कहलाता है, तो गोत्रकर्म की उक्त परिभाषा व्यापक हो सकती है, क्योंकि देवों और नारकिणों के भी पुरातन देव और नारकियों को परम्परा सिद्ध है ।

गोत्र सर्वत्र है, परन्तु वर्ण का व्यवहार केवल कर्मभूमि में है । इसलिए दोनों का परस्पर सदा सम्बन्ध रहता है यह मानना उचित नहीं प्रतीत होता । निर्ग्रन्थ साधु होने पर कर्मभूमि में भी वर्ण का व्यवहार छूट जाता है, पर गोत्र का उदय विद्यमान रहा आता है । कितने ही लोग सहसा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को उच्च गोत्री और शूद्र को नीच गोत्री कह देते हैं । परन्तु इस युग में जब कि सभी वर्णों में वृत्ति-सम्मिश्रण हो रहा है तब क्या कोई विद्वान् दृढ़ता के साथ यह कहने को तैयार है कि अमुक वर्ण अमुक वर्ण है । कहीं-कहीं ब्राह्मणों में एक-दो नहीं, पचासों पीढ़ियों से मांस-मछली खाने की प्रवृत्ति चल रही है उन्हें ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण उच्च गोत्री माना जाये और बुन्देलखण्ड की जिन बड़ई, लुहार, सुनार, नाई आदि जातियों में पचासों पीढ़ियों से मांस-मदिरा का सेवन न किया गया हो उन्हें शूद्र वर्ण में उत्पन्न होने से नीच-गोत्री कहा जाये, वह बात बुद्धिब्रह्म नहीं दिखती । जिन लोगों में स्त्री का करा-घरा होता हो वे शूद्र हैं, नीच हैं और जिनमें यह बात नहीं वे त्रिवर्ण द्विज हैं, उच्च हैं यह बात भी आज जमती नहीं है क्योंकि स्पष्ट नहीं तो गुप्तरूप से यह करे-छरे की प्रवृत्ति त्रिवर्णों, द्विजों में भी हजारों वर्ष पहले से चली आ रही है ।

वर्णव्यवस्था अनादि या सावि ?

वर्णव्यवस्था विवेक श्रेष्ठ की अपेक्षा अनादि है, परन्तु भरतक्षेत्र की अपेक्षा सावि है । जब यहाँ भोगभूमि की रचना थी तब वर्णव्यवस्था नहीं थी । सब एक सदृश आयु तथा बुद्धि-विभववाले होते थे । जैनतर कूर्म-पुराण में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कृतयुग में वर्णविभाग नहीं था । वहाँ के लोगों में ऊँच-नीच का व्यवहार नहीं था, सब समान थे, सबकी सुस्थ आयु थी, सुख-सन्तोष आदि सब में समान था, सभी प्रजा आनन्द से रहती थी, भोगयुक्त थी । तदनन्तर क्रम से प्रजा में राग और लोभ प्रकट होने लगे, सदाचार नष्ट होने लगा तथा कोई बलवान् और कोई निर्बल होने लगे, इससे मर्यादा नष्ट होने लगी तब उसकी रक्षा के लिए भगवान् अज अर्थात् ब्रह्मा ने ब्राह्मणों के हित के लिए क्षत्रियों को सूत्रा, वर्णाश्रम की व्यवस्था की और पशुहिंसा से विवर्जित यज्ञ की प्रवृत्ति की । उन्होंने यह सब काम त्रेता युग के प्रारम्भ में किया ।

जैनधर्म की भी यही मान्यता है कि पहले, दूसरे और कुछ कम तीसरे काल के अन्त तक लोग एक सदृश बुद्धि, बल आदि के धारक होते थे अतः उस समय वर्णाश्रम-व्यवस्था की आवश्यकता नहीं थी परन्तु तीसरे काल के अन्तिम भाग से लोगों में विषमता होने लगी, अतः भगवान् आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने क्षत्रियादि वर्णों की व्यवस्था की ।

१. "कृतं त्वमिषुनोत्पत्तिर्वृत्तिः साक्षात्सोलूपा । प्रजास्तृप्ताः सदा सर्वाः सर्वान्धारच भोगिनः ॥
अधमोत्पत्त्यं नास्त्यासां निर्विशेषाः पुरंजयः । सुल्यमायुः सुखं रूपं तासु तस्मिन् कृते युगे ॥
ततः प्रादुरभूतासां रागो लोभश्च सर्वशः । अमर्यं भावितायेन त्रेतायुगधनेन वै ॥
सदाचारे विनष्टे तु बलात्कालबलेन च । मर्यादायाः प्रतिष्ठार्थं शार्वेतद्भगवानजः ॥
सप्तर्षे क्षत्रियान् ब्रह्मा ब्राह्मणानां हिताय वै । वर्णाश्रमव्यवस्थां च त्रेतायां कृतवान् प्रभुः ॥
यज्ञप्रवर्तनं चैव पशुहिंसाविवर्जितम् ।"

सादि-अनादि की इस स्पष्ट व्यवस्था को न लेकर कितने ही विद्वान् भरतक्षेत्र में भी वर्णव्यवस्था को अनादि सिद्ध करते हैं और उसमें युक्ति देते हैं कि भोगभूमि के समय लोगों के अन्तस्तल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण दबे हुए रहते हैं। किन्तु उनका यह युक्तिवाद गले नहीं उतरता। भोगभूमिज मनुष्यों के जब उच्च गोत्र का ही उदय रहता है, तब उनके शूद्र वर्ण को अस्तित्व करने वाला नीच गोत्र का भी उदय क्या शास्त्रसम्मत है? फिर ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि तो इसी द्वुष्ठावसर्पिणी काल में बतायी गयी है; उसके पहले कभी भी यहाँ ब्राह्मण वर्ण नहीं था। विदेहक्षेत्र में भी नहीं है। फिर उसकी अव्यक्त सत्ता भोगभूमिज मनुष्यों के शरीर में कहाँ से आ गयी?

वर्ण और अस्पृश्यता

प्राचीन वैदिक साहित्य में जहाँ चतुर्वर्ण की चर्चा आयी है वहाँ अन्त्यजनों का अर्थात् अस्पृश्य शूद्रों का नाम तक नहीं लिया गया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में स्पृश्यास्पृश्य का विकल्प नहीं था। स्मृतियों तथा पुराणों में इनके उल्लेख मिलते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि यह विकल्प स्मृतिकाल में उठा है और पुराणकाल में उसे पोषण प्राप्त हुआ है। शूद्र दो प्रकार के होते हैं, यात्यान् और अयात्यान् अथवा स्पृश्य और अस्पृश्य। ये भेद सर्वप्रथम मनुस्मृति में देखने को मिलते हैं। उस समय लोक में इनका विभाग हो गया होगा।

आदिपुराण (१६।१८६) में जिनसेन स्वामी ने भी यह लिखा है कि शूद्र दो प्रकार के होते हैं—स्पृश्य और अस्पृश्य। कारु, रजक आदि स्पृश्य तथा चाण्डाल आदि अस्पृश्य शूद्र हैं। आदिपुराण के उल्लेखानुसार यदि इस चीज को साक्षात् भगवान् ऋषभदेव के जीवन के साथ सम्बद्ध करते हैं तो इसका प्राचीन भारतीय साहित्य में किसी-न-किसी रूप में उल्लेख अवश्य मिलना चाहिए। पर नहीं इन भेदों की चर्चा भी नहीं है। तथा भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं किसी से कहा हो कि तुम क्षत्रिय हो, तुम वैश्य हो, तुम स्पृश्य हो, और तुम अस्पृश्य शूद्र। अब तक तुम हमारे दर्शन कर सकते थे—हमारे सामने आ सकते थे, पर आज से अस्पृश्य हो जाने के नाते यह कुछ नहीं कर सकते—यह कहने का साहस नहीं होता। भगवान् ऋषभदेव के समय जितनी वृत्तिरूप जातियाँ होंगी उनसे सहस्रगुणी आज हैं। अपनी-अपनी योग्यता और परिस्थिति से षशीभूत होकर लोग विविन्न प्रकार की आजीविकाएँ करने लगते हैं और आगे चलकर उस कार्य के करने वालों का एक समुदाय बन जाता है जो जाति कहलाने लगता है। अब तक इस प्रकार की अनेकों जातियाँ बन चुकी हैं और आगे चलकर बनती रहेंगी। योग्यता और साधनों के अभाव में कितने ही मनुष्यों ने निम्न कार्य स्वीकार कर लिया। परिस्थिति से विवश हुआ प्राणी क्या नहीं करता? धीरे-धीरे योग्यता और साधनों के मद में फूले हुए मानव उन्हें अपने से हीन समझने लगे। उनके प्रति घृणा का भाव उनके हृदयों में उत्पन्न होने लगा और वे अस्पृश्य तथा स्पृश्य भेदों में बाँट दिये गये। जिनसे मनुष्य का कुछ अधिक स्वार्थ या सम्पर्क रहा वे स्पृश्य बने रहे और जिनसे मनुष्य का अधिक स्वार्थ या सम्पर्क न रहा वे अस्पृश्य हो गये।

मनुष्य का जातिकृत अपमान हो इसे जैनधर्म की व्यसना स्वीकृत नहीं करती। जैन शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि चारों गतियों में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। फलस्वरूप आज जिसे अस्पृश्य कहा जा रहा है वह भी सम्यग्दर्शन का अधिकारी है। यदि अनन्त संसार को शान्त करने वाला सम्यग्दर्शन हाथ लग जाने पर भी उसको अस्पृश्यता न गयी तो आश्चर्य ही समझना चाहिए।

अनुवाद और आभारप्रदर्शन

हमारे स्नेही मित्र मूलचन्द्र किसनदास जी कापड़िया सूरत ने कई बार प्रेरणा की कि इस समय आदिपुराण मिल नहीं रहा है, लोगों की माँग अधिक आती है इसलिए यदि आप इसका संक्षिप्त अनुवाद कर दें तो मैं उसे अपने कार्यालय से प्रकाशित कर दूँ।

मैं आदिपुराण और उत्तरपुराण की संक्षिप्त कथा 'श्रीबीसी पुराण' के नाम से लिख चुका था और जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता से उसका प्रकाशन भी हो चुका था, अतः संक्षिप्त अनुवाद करने की मेरी रुचि नहीं हुई। फलतः मैंने उत्तर दिया कि मैं संक्षिप्त अनुवाद नहीं करना चाहता। हाँ, श्लोक का नम्बर देते हुए मूलाभुगामी अनुवाद यदि आप चाहते हैं तो मैं कर दे सकता हूँ।

कापड़ियाजी की दृष्टि में समग्र ग्रन्थ का परिमाण नहीं आया इसलिए उन्होंने प्रकाशित करने का दृढ़ विचार किये बिना ही मुझे अनुवाद शुरू करने का अन्तिम पत्र दे दिया। ग्रीष्मावकाश का समय था, अतः मैंने अनुवाद करना शुरू कर दिया। तीन वर्ष के ग्रीष्मावकाशों—छह माहों में जब अनुवाद का कार्य पूरा हो चुका तब मैंने उन्हें सूचना दी और पूछा कि इसे आप प्रेस में कब देना चाहते हैं। आदिपुराण का परिमाण बारह हजार अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण है सो इतना मूल और इतने श्लोकों का हिन्दी अनुवाद दोनों ही मिलकर बहुधाकर हो गये अतः कापड़ियाजी उसके प्रकाशन से कुछ पीछे हटने लगे। महेगाई का समय और नियन्त्रण होने से इच्छानुसार कागज प्राप्त करने में कठिनाई ये दोनों कारण कापड़ियाजी के पीछे हटने में मुख्य थे।

इसी समय सागर में मध्य प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अखिवेशन होने वाला था जिसकी 'दर्शनपरिषद्' की व्यवस्था का भार मुझ पर अवलम्बित था। जैन दर्शन पर भाषण देने के लिए मैं जैन विद्वानों को आमन्त्रित करना सोच ही रहा था कि उसी समय नवउद्घाटित 'जैन ऐज्युकेशन बोर्ड' की बैठक बुलाने का भी विचार लोगों का स्थिर हो गया। बोर्ड की समिति में अनेक विद्वान् सदस्य हैं। मैंने सदस्यों को सप्रेम आमन्त्रित किया जिसमें पं० वंशीधरजी इन्दौर, पं० राजकुमारजी मथुरा, पं० महेन्द्रकुमारजी बनारस आदि अनेक विद्वान् पधार गये। साहित्य-सम्मेलन और जैन ऐज्युकेशन बोर्ड दोनों के कार्य सानन्द सम्पन्न हुए। उसके कुछ ही माह पहले बनारस में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना हुई थी। पं० महेन्द्रकुमारजी मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला के सम्पादक और नियामक हैं अतः मैंने सागर में ज्ञानपीठ की ओर से आदिपुराण प्रकाशित करने की प्रार्थना पं० महेन्द्रकुमारजी से की और उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ ज्ञानपीठ से उसे प्रकाशित करना स्वीकृत कर लिया। साथ ही ताड़पत्रीय तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्रित कर उनसे पाठान्तर लेने की सुविधा कर दी। इतना ही नहीं, ताड़पत्रीय कर्नाटक लिपि को नागरी लिपि में बाँचना तथा नागरी लिपि में उसका रूपान्तर करने आदि की व्यवस्था भी कर दी। एक बार पाठान्तर लेने के लिए मैं ग्रीष्मावकाश में २५ दिन के लगभग बनारस रहा तब आपने ज्ञानपीठ की ओर से सुविधा दी थी। दूसरे वर्ष मैं बनारस नहीं पहुँच सका अतः आपने पं० देवकुमारजी न्यायतीर्थ को बनारस से सागर भेज दिया जिससे हमें कर्नाटक लिपि के पाठ सुनने में पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। पं० गुलाबचन्द्र 'दण्डी' व्याकरणाचार्य, एम० ए० से बनारस में पाठभेद लेने में पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ था। इस प्रकार ५-६ वर्षों के परिश्रम के बाद आदिपुराण का वर्तमान रूप सम्पन्न हो सका है। ललितकीर्ति कृत संस्कृत टीका तथा पं० दौलतरामजी और पं० लालाराम जी की हिन्दी टीकाओं से मुझे सहायता प्राप्त हुई। इसलिए इन सब महानुभावों का मैं आभार मानता हूँ। प्रस्तावना लेखन में मैंने जिन महानुभावों का साहाय्य प्राप्त किया है यद्यपि मैं तत्तत्प्रकरणों में उनका उल्लेख करता आया हूँ तथापि यहाँ पुनः उनका अनुग्रह प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। आदरणीय यशोवृद्ध विद्वान् श्री नाथूरामजी प्रेमी का तो मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने कि अस्वस्थ अवस्था में भी मेरी इस सम्पूर्ण प्रस्तावना की देखकर योग्य सुझाव दिये। जिनसेन और गुणभद्रविषयक जिस ऐतिहासिक सामग्री का संकलन इसमें किया गया है यह सब उन्हीं की कृपा का फल है। अपने सहपाठी मित्र पं० परमानन्दजी को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने कि दि० जैन पुराणों की सूची तथा आदिपुराण में जिनसेनाचार्य-द्वारा स्मृत आचार्यों का परिचय भेजकर मुझे सहायता पहुँचायी। मैं पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री बनारस का भी अत्यन्त आभारी हूँ कि जिन्होंने भूमिका अवलोकन कर उचित सुझाव दिये हैं।

इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ बनारस की ओर से हो रहा है अतः उसके संरक्षक और संचालक

महाभारतों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। उनकी उदारता के बिना यह महान् ग्रन्थ जनता के समक्ष आना कठिन कार्य था। दूरवर्ती होने से प्रूफ देखने का कार्य मैं स्वयं नहीं कर सका हूँ। उसके समय प्रूफ पं० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य ने देखे हैं। मेरे विचार से उन्होंने अपना दायित्व पूरी तरह निभाया है। कुछ अशुद्धियाँ अवश्य रह गयी हैं पर पाठ्यगण अध्ययन करते समय मूल और अनुवाद का मिलान कर उन्हें ठीक कर लेंगे, ऐसी आशा है।

महापुराण का दूसरा संस्करण हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। महापुराण पहले संस्करण में भी संस्कृत मूल, हिन्दी अनुवाद, महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना और परिशिष्ट आदि के साथ अलंकृत होकर सर्वप्रथम प्रकाश में आया था, इस द्वितीय संस्करण में कुछ अतिरिक्त सुधार-संशोधन और परिवर्तन-परिवर्धन किये गये हैं। पहले संस्करण के मूल और अनुवाद में जो त्रुटियाँ रह गयी थीं वे इस संस्करण में सुधार दी गयी हैं। प्रथम संस्करण प्रकाशित होने पर भूमिका के 'आदिपुराण और वर्ण-व्यवस्था' शीर्षक प्रकरण पर कुछ अनुकूल-प्रतिकूल चर्चाएँ उठी थीं उन्हें दृष्टिगत रखते हुए उस प्रकरण में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

प्रस्तुत संस्करण में कुछ अतिरिक्त सामग्री भी जोड़ी गयी है। प्रस्तावना के उपरान्त आदिपुराण की सूक्तियाँ दी गयी हैं। और ग्रन्थ के अन्त में एक नया परिशिष्ट शब्दानुक्रमणिका के नाम से जोड़ा गया है। इसके अन्तर्गत आदिपुराण में आये भौगोलिक, पारिभाषिक तथा व्यक्तिवाचक शब्दों की सूक्तियाँ दी गयी हैं। इस प्रकार के परिशिष्टों की कितनी महती उपयोगिता है, वह अध्येताओं से छिपी नहीं है।

इस सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत संस्करण को स्वाध्याय प्रेमियों, श्रद्धालु जनता तथा शोधार्थी विद्यार्थी एवं विद्वानों सभी के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

हमारे मित्र श्री रतनलाल जी कटारिया केकड़ी एक अध्ययनशील विद्वान् हैं। बारीकी से किसी चीज का अध्ययन करना उनकी प्रकृति है। पत्र लिखने पर उन्होंने पूर्वभाग में रही कमियों की ओर हमारा ध्यान आकषित किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

अन्त में इस नम्र प्रार्थना के साथ प्रस्तावना समाप्त करता हूँ कि महापुराण समुद्र के समान गंभीर है। इसके अनुवाद, संशोधन और सम्पादन में त्रुटियों का रह जाना सहज संभव है। अतः विद्वज्जन मुझे अल्पत्र जानकर क्षमा करेंगे।

“महत्तमस्मिन् पुराणाध्यौ शाखाशततरंगके ।
स्थलितं यत्प्रमत्तान्मे तद्बुधाः सन्तुमहं ॥”

सूक्तिसंचयः

महापुराण अनेक सूक्तियों का रत्नाकर है जैसा कि उसके निम्न श्लोकों से प्रकट है :

यथा महाधर्मरत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात् ।

तथैव सूक्तरत्नानां प्रसवोऽस्मात्पुराणतः ॥२१११६॥

इस स्तम्भ में बिह्वज्जनों के उपयोग के लिए कुछ सूक्तरत्न समुद्धृत किये जाते हैं । भाषा अत्यन्त सरल है । धर्म-हिन्दी अनुवाद इसके से नहीं लिया जा रहा है ।

पौरस्त्यैः शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेज्जनः ॥१॥३१॥

गुणगृह्यो हि सज्जनः ॥१॥३७॥

त एव कथयो लोके त एव च विचक्षणाः ।

येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥१॥६२॥

धर्मानुबन्धिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते ।

शेषा पापास्त्रवार्येव सुप्रयुक्तापि जायते ॥१॥६३॥

परेषां वृषणाज्जातु न विमेति कवीश्वरः ।

किमुलूकमयाद् धुम्बन् ध्वान्तं नोवेति भानुमान् ॥१॥७५॥

परे तुष्यन्तु वा मा या कविः स्वार्थं प्रसीहताम् ।

न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सम्भार्गवशंनान् ॥१॥७६॥

श्रेयोऽर्या हि सतां खेष्टा न लोकपरिपक्वये ॥१॥७४॥

कस्य वा न कृतार्थत्वं सन्निधौ महतो निधेः ॥१॥७०॥

धूतान्धतमसो मास्वान् भास्यं किमवशेषयेत् ॥१॥७३॥

महत्याश्शिते यत्सन्धनन्धः कः परिस्खलेत् ॥१॥७४॥

धर्मो हि मूलं सर्वाणां धनद्विसुखसंपदाम् ॥२॥३३॥

धर्मः कामबुधा धेनुधर्मश्चिन्तामणिर्महान् ।

धर्मः कल्पतरुः स्थेयान् धर्मो हि निधिरक्षयः ॥२॥३४॥

हितमवगणयेद्वा कः सुधीराप्तवाक्यम् ॥२॥१६१॥

दुरन्ता मोहसंततिः ॥४॥२५॥

स्पर्धा ह्येकत्र भूष्णानां क्रियासाध्याद्विधर्षते ॥४॥१३५॥

धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः ।

स च संप्रीतये पुंसां धर्मात्सैवा परम्परा ॥५॥१५॥

नांकुरः स्याद्विना बीजाद्विना वृष्टिर्न वारिदात् ।
छत्राद्विनापि नच्छाया विना धर्मान् संपदः ॥५११८॥
दध्यादूलेऽप्येद्धर्मो गद्याऽन्नस्यस्तुतः कश्चिन् ॥५११९॥
दयायाः परिरक्षार्थं गणा दोषाः प्रकीर्तिताः ॥५१२०॥
जन्ममृत्युजरातृकशयानां को न गोचरः ॥५१२१॥
विशुद्धपरिणामेन भवितः किन्न फलिष्यति ॥५१२२॥
पुण्यं किं नु न लभ्यते ॥५१२३॥
भवितः श्रेयोऽनुबन्धिनी ॥५१२४॥
सुखं दुःखानुबन्धीदं सदा सनिधनं धनम् ।
संयोगा विप्रयोगान्ता विपदन्ताश्च संपदः ॥५१२५॥
धनोति दधथुं स्वान्तात्तनोत्यानन्दथुं परम् ।
धिनोति च मनोवृत्तिमहो साधुसमागमः ॥५१२६॥
मुष्णाति कुरितं दूरात्परं पुष्णाति योग्यताम् ।
भयः श्रेयोऽनुबन्धाति प्रायः साधुसमागमः ॥५१२७॥
स्वदुःखे निर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः ।
निर्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥५१२८॥
रसोपविद्धः सन् धातुयथा याति सुवर्णताम् ।
तथा गुरुगुणशिलष्टो भव्यात्मा शुद्धिमुच्छति ॥५१२९॥
न विना यानपात्रेण सरितुं शक्यतेऽर्णवः ।
नर्ते गुरुपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥५१३०॥
बन्धवो गुरवस्तेति वृत्ते संप्रीयते नृणाम् ।
बन्धवोऽर्णव संप्रीत्यं गुरवोऽमूत्र चात्र च ॥५१३१॥
पुण्यं किन्न दुरासवम् ॥५१३२॥
ऋते धर्मात्कृतः स्वर्गः कृतः स्वर्गादृते सुखम् ।
तस्मात्सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चरम् ॥५१३३॥
धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः ।
धर्मकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया ॥५१३४॥
धर्मः प्राणिब्या सत्यं शान्तिः शौचं वितुष्णता ।
ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥५१३५॥
तनोति विषयासंगः सुखसंतपेमज्झिनः ।
स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्तं ज्वानलः ॥५१३६॥

क्षारमम्बु यथा पीत्वा तृण्यत्यतितरां नरः ।
तथा विषयसंभोगैः परं संतर्षमुच्छति ॥११११६६॥

भोग्या हि बलिनां स्त्रियः ॥१३॥५६॥

सोपाया हि जिगीषवः ॥१५॥५७॥

विद्यावान् पुरुषो लोके संसृतिं याति कोविदः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरधिरं धनम् ॥१६॥५८॥

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी भता ।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामवायिनी ॥१६॥५९॥

विद्या कामबुधा धेनुविद्या चिन्ताभणिर्नृणाम् ।
त्रिवर्गफलितां सूते विद्या संपत्परम्पराम् ॥१६॥६०॥

विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम् ।
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधिनी ॥१६॥६१॥

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः ।
पुण्यं च दानदम्भसंयमसत्यशौच-
त्यागक्षमाविशुभवेष्टितमूलमिष्टम् ॥१६॥२७१॥

दानं प्रदत्त मुदिता मुनिपुङ्गवेभ्यः
पूजां कुरुध्वमुपनम्य च तीर्थकृद्भ्यः ।
शीलानि पालयत पर्यविनोपवासान्
विष्मार्ष्ट मा स्म सुधियः सुखमीप्सवश्चेत् ॥१६॥२७४॥

संध्यारागनिभारूपशोभातारुण्यमुज्ज्वलम् ।
पल्लवच्छविबत्सद्यः परिमलानिमुपाश्रमुते ॥१७॥१४॥

यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्रयि ।
विषवल्लीनिभा भोगसंपदो मङ्गि जीवितम् ॥१७॥१५॥
घटिकाजलधारेण गलत्यायुः स्थितिर्मुतम् ।
शरीरमिदमत्यस्तपूतिगन्धि जुगुप्सितम् ॥१७॥१६॥

निःसारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः ।
दुःखमेव महत्यस्मिन् सुखं काम्यति मय्यधीः ॥१७॥१७॥

विरक्तः कामभोगेषु स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
सर्वस्तुवाहनं राज्यं तूणवन्मन्यतेऽधुना ॥१७॥१८॥

तपः शक्तिरहो परा ॥१८॥६४॥

वर्षीयांसो यवोयांस इति भेदो वयस्कृतः ।
न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये न यूत्यपचयो धियः ॥१८॥११८॥

वयसः परिणामेन धियः प्रायः पन्दिमा ।
 कृतात्मनां वयस्याश्रे ननु मेधा विवर्धते ॥१८११६॥
 नवं वयो न दोषाय न गुणाय वयान्तरम् ।
 नवोऽपोन्वुर्जनाह्लादो दहत्यग्निर्जरन्नेपि ॥१८११७॥
 अपृष्टः कार्यमावृष्टे यः स धृष्टतरो मतः ॥१८११८॥
 नामृष्टभाषिणो जिह्वा चेष्टां नानिष्टकारिणो ।
 नान्योपघातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेऽपि धोमताम् ॥१८११९॥
 आमपात्रे यथा क्षिप्तं मङ्गु क्षीरादि नश्यति ।
 अपात्रेऽपि तथा वसं तद्धि स्वं तच्छ नाशयेत् ॥१८१२०॥
 नहि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत्परम् ।
 तथा कर्मपात्रादन्तो दोषपात्रेव तारकः ॥१८१२१॥
 संकल्पव्रतगो मूढो वस्तिवृष्टानिष्टतां नयेत् ।
 रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बन्धं दुर्मोक्षमश्नुते ॥१८१२२॥
 न तत्सुखं परद्वयसंबन्धादुपजायते ।
 नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवम् ॥१८१२३॥
 सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्र्यं च फलप्रदम् ।
 ज्ञानं च दृष्टिसंस्पर्शासान्निध्ये मुक्तिकारणम् ॥१८१२४॥
 चारित्र्यं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम् ।
 प्रपातार्थेव तद्धि स्यादन्धस्येव विबलितम् ॥१८१२५॥

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ	पृष्ठ
प्रथम पर्व		
मंगलाचरण	१-७	साधुओं द्वारा गौतम गणधर का स्तवन, ऋत्विगों का वर्णन और धर्मोपदेश के लिए निवेदन ३३-३८
प्रतिज्ञा	७	
रत्नकार का लाघवप्रदर्शन	७-९	गौतम गणधर का पुराणकथा के लिए उद्यत होना । पुराण के परिणाम का वर्णन ३८-४२
पूर्व कवि संस्मरण	९	
कवि और कविता	९-१३	कालक्रम से पुराण की हीनता और अंगपूर्व- धारियों का क्रमिक वर्णन । महापुराण के अधिकारों का उल्लेख करते हुए कथोपघात का प्रदर्शन । अन्तर्मंगल ४२-४४
कवियों के स्वभाव की विचित्रता, सज्जन- दुर्जन-वर्णन,	१३-१४	
कवि, महाकवि, काव्य, महाकाव्य	१४-१६	
महापुराण धर्मकथा है	१६-१८	
कथा और कथांग	१८	
कथा कहने वाले का लक्षण	१८-१९	
श्रोता का लक्षण, उसके भेद और गुण	१९-२१	
सत्कथा के सुनने का फल	२१	
कथावतार का सम्बन्ध	२१	
कैलाश पर्वत पर भगवान् वृषभदेव से भरत की क्षयनी जिज्ञासा प्रकट करना	२१-२४	
भगवान् आदिनाथ के द्वारा भरत के प्रश्नों का समाधान	२४	
आदिपुराण की ऐतिहासिकता, पुराणता आदि	२४-२६	
पुराण प्रभुत्व और अन्तर्मंगल	२६-२८	
द्वितीय पर्व		
मंगल और प्रतिज्ञा	२९	
राजा श्रेणिक का गौतम गणधर से स्तुति- पूर्वक धर्मकथा कहने की प्रार्थना करना	३१	
अन्य साधुओं द्वारा भगवन् के प्रश्न की प्रवृत्ति	३१-३३	
तृतीय पर्व		
महापुराण की पीठिका के व्याख्यान की प्रतिज्ञा	४५	
कालवृत्त का वर्णन	४५-४६	
उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के सुषमासुषमा आदि छह-छह भेद, उत्तम-मध्यम-जघन्य भोग- भूमि का वर्णन	४६-५०	
तृतीयकाल में जब पल्य का आठवाँ भाग अवशिष्ट रहा तब से आकाश में सूर्य- चन्द्रमा का दर्शन होना	५०-५१	
प्रतिश्रुति आदि कुलकरों की उत्पत्ति तथा उनके कार्य और आयु आदि का वर्णन	५१-६०	
अन्तिम कुलकर नाभिराज के समय आकाश में पनघटा का दिखना, उससे जलवृष्टि होना तथा नदी निर्गम आदि का प्रवाहित होना	६०-६१	
कल्पवृक्षों के नष्ट होने के बाद विविध धान्यों का अपने-आप उत्पन्न होना, कल्पवृक्षों का अभाव होने से लोगों का आजीविका के बिना दुःखी होना तथा नाभिराज के पास जाकर निर्वाह के योग्य व्यवस्था का पूछना	६१-६३	
नाभिराज कुलकर के द्वारा, बिना बोधे उत्पन्न हुए धान्य गे, वृक्षों के फलों से तथा		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
इक्षुरस आदि से क्षुधा शान्त करने का उपदेश, कर्मभूमि का आविर्भाव, मिट्टी के वर्तन बनाकर उनसे कार्य सिद्ध करना आदि का वर्णन	६३-६४	अतिबल राजा का वैराग्यचिन्तन और दोषा-ग्रहण	८४-८६
कुलकरों की विशेषता तथा भगवान् वृषभ-देव और भरत चक्रवर्ती भी कुलकर कहे जाते हैं इसका उल्लेख—	६४	महाबल का राज्याभिषेक आदि का वर्णन	८६-८९
कुलकरों के समय प्रचलित दण्डव्यवस्था का वर्णन	६५	महाबल के महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध इन चार मन्त्रियों का वर्णन	८९
कुलकरों की आयु-वर्णन में आये हुए पुरुषांग पूर्व आदि की संख्याओं का वर्णन	६५-६६	उक्त मन्त्रियों पर राज्यभार समर्पित कर राजा का भोगोपभोग करना	८९-९०
कुलकरों की नामावलि	६६	पंचम पर्व	
कुलकरों के कार्यों का संकलन	६६-६७	महाबल विद्याधर के जन्मोत्सव में स्वयंबुद्ध मन्त्री के द्वारा धर्म के फल का वर्णन	९१-९२
उपसंहार	६७	महामति नामक द्वितीय मन्त्री के द्वारा चैतन्यवाद का निरूपण	९३-९४
चतुर्थ पर्व		संभिन्नमति के द्वारा विज्ञानवाद का स्थापन	९४-९५
पूर्वोक्त तीन पर्वों के अध्ययन का फल	६८	शतमति मन्त्री के द्वारा वैराग्यवाद का समर्थन	९५
वृषभचरित के कहने की प्रतिज्ञा	६८	उक्त तीनों मिथ्यावादों का स्वयंबुद्ध मन्त्री के द्वारा दार्शनिक पद्धति से सयुक्तिक खण्डन और सभा में आस्तिक्य भाव की बुद्धि	९५-१०१
पुराणों के वर्णनीय आठ विषय और उनका स्वरूप	६८	स्वयंबुद्ध मन्त्री के द्वारा कही गयी क्रमशः रौद्र, आर्त, धर्म और शुक्ल ध्यान के फल को बतलाने तथा जीव-द्रव्य के स्वतन्त्र शाश्वत अस्तित्व को सिद्ध करने वाली चार कथाएँ और अरविन्द राजा की कथा	१०१-१०४
वर्णनीय आठ विषयों में से सर्वप्रथम लोका-क्यान का वर्णन, जिसमें ईश्वर-सृष्टि कर्तृत्व का निरसन कर लोक के अनादिनिघन-अकृत्रिमपने की सिद्धि	६८-७२	दण्ड विद्याधर की कथा	१०४-१०५
लोक के तीन भेद और उनके आकार	७२-७३	शतबल की कथा	१०५-१०६
मध्यमलोक तथा जम्बूद्वीप का वर्णन	७३	सहस्रबल की कथा	१०६-१०७
विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत 'गन्धिला' देश का वर्णन	७४-७७	राजा महाबल के द्वारा स्वयंबुद्ध का अभिनन्दन	१०७
गन्धिला देश में विजयार्ध पर्वत का वर्णन	७७-८०	स्वयंबुद्ध मन्त्री का अकृत्रिम चैत्यालयों के वन्दनार्थ सुमेरु पर्वत पर जाना	१०७
विजयार्धगिरि की उत्तर श्रेणी में अलका-नगरी का वर्णन	८०-८२	सुमेरु पर्वत का वर्णन	१०७-११०
अतिबल विद्याधर का वर्णन	८२-८३	स्वयंबुद्ध मन्त्री का अकृत्रिम सोमनस वन के चैत्यालय में चारणश्रद्धिधारी मुनिवों से अपने स्वामी महाबल के भव्यत्व या अभव्यत्व के सम्बन्ध में पूछना	१११
अतिबल की मनोहरा राक्षी का वर्णन	८३		
अतिबल और मनोहरा के महाबल नाम के पुत्र की उत्पत्ति	८३-८४		

विष्णुसहस्रनामिका

७३

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आविष्मयति मुनिराज ने अवधिज्ञान से जान-कर कहा कि तुम्हारा स्वामी भव्य है, वह अगले दसवें भव में भरत-क्षेत्र का प्रथम तीर्थंकर होगा १११		देव का स्मरण कर दुःखी होना और पण्डिता धाय को उसकी परिचर्या के लिए नियुक्त करना १२३-१२८	
महाबल के पूर्वभव का वर्णन १११-११२		राजा वज्रदन्त को चक्ररत्न के प्रकट होने तथा पिता को केवलज्ञान प्राप्त होने के समाचार मिले । प्रथम ही कैवल्य महोत्सव में जाना और वही अवधिज्ञान का उत्पन्न होना १२८-१२९	
महाबल के द्वारा देखे गये दो स्वप्नों का फल पहले ही मन्त्री को मुनिराज के द्वारा बताया जाना ११२-११३		बाद में चक्ररत्न की पूजा करके दिग्विजय को प्रस्थान करना १२९	
स्वयंबुद्ध का शीघ्र ही महाबल को स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहना कि आपकी आयु सिर्फ एक माह की अवशिष्ट रह गयी है । ११३		पण्डिता धाय का श्रीमती से पूर्वभव के ललितांग देव सम्बन्धी समाचार का जानना और श्रीमती के द्वारा बनाये गये पूर्वभव के चित्रपट को लेकर ललितांग का पता लगाने के लिए महापूत जिनालय की ओर जाना १२९-१३४	
महाबल के द्वारा अपनी आयु का क्षय निकटस्थ जानकर आठ दिन तक आष्टाह्निक उत्सव का किया जाना और उसके बाद पुत्र को राज्य देकर विजयार्थ के सिद्धकूट पर बाईस दिन की सस्तेखना धारण करना ११३-११६		जिनालय की शोभा का वर्णन १३४-१३५	
सस्तेखना के प्रभाव से वह ऐशान स्वर्ग में ललितांग नाम का महर्द्धिक देव हुआ । उसके ऐश्वर्य आदि का वर्णन । ११६-११९		पण्डिता धाय का मन्दिर में चित्रपट पसारकर बैठना १३६	
षष्ठ पर्व		चक्रवर्ती का दिग्विजय कर वापस लौटना और बड़े उत्सव से नगर में प्रवेश करना १३६-१३८	
आयु के छह मास बाकी रहने पर ललितांग देव का दुःखी होना और समझाने पर अभ्युत स्वर्ग की विनप्रतिमाओं की पूजा करते-करते कैवल्य वृक्ष के नीचे पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप कर स्वर्ग की आयु का पूर्ण करना १२०-१२२		सप्तम पर्व	
जम्बूद्वीप-पूर्व विदेहक्षेत्र पुष्कलावती देश के उत्पलसेठ नामक नगर में राजा वज्रबाहु और रानी वसुधरा के ललितांगदेव का वज्रजंघ नाम का पुत्र होना १२२-१२४		दिग्विजय से लौटकर राजा वज्रदन्त के द्वारा श्रीमती पुत्री से कहना कि ललितांग इस समय मेरा भानजा है और उससे तेरा तीसरे दिन समागम होगा । १३९-१४३	
ललितांगदेव की प्रिय बल्लभा स्वयंप्रभा-देवी का जम्बूद्वीप विदेहक्षेत्र, पुण्डरीकिणी नगरी के राजा वज्रदन्त और लक्ष्मीमती रानी के श्रीमती नाम की पुत्री होना १२४-१२६		पण्डिता धाय के द्वारा ललितांग का वज्रजंघ के रूप में अवतीर्ण होने का वर्णन । चित्रपट को देखकर वज्रजंघ को हुए जातिस्मरण, मूर्च्छा आदि का निरूपण तथा उस चित्रपट के बदले में अपने पूर्वभव सम्बन्धी चित्रपट का समर्पण १४३-१४४	
श्रीमती का यशोधर गुरु के कैवल्य महोत्सव के लिए जाने वाले देवों को आकाश में जाते देख पूर्वभव का स्मरण होना और ललितांग-		बहुनोई राजा वज्रबाहु, बहून लक्ष्मीमती और भागिनेय वज्रजंघ का नगर में वज्रदन्त द्वारा स्वागत और यथेच्छ वस्तु माँगने को कहना । चक्रवर्ती के आग्रह पर वज्रबाहु के द्वारा पुत्र वज्रजंघ के लिए पुत्री श्रीमती की याचना और चक्रवर्ती के द्वारा सहर्ष स्वीकृति १४४-१४६	

विषय	पृष्ठ
श्रीमती और वज्रजंघ का विवाहोत्सव १५६-१६२	
वज्रजंघ और श्रीमती का जिनालय में दर्शन के लिए जाना। विवाहोत्सव में उपस्थित बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा वरवधू का अभिनन्दन १६२-१६६	

अष्टम पर्व

वज्रजंघ और श्रीमती के भोगोपभोग का वर्णन १६७-१६८	
राजा वज्रबाहु ने वज्रजंघ की बहन अनुधरा चक्रवर्ती के पुत्र अमिततेज के लिए दी १७०	
वज्रजंघ का वैभव के साथ अपने नगर में प्रत्यागमन और राजमुख का समुपभोग १७०-१७१	
वज्रबाहु महाराज को शरद् ऋतु के मेघ को शीघ्र ही विलीन हुआ देखकर वैराग्य होना और पाँच सौ राजाओं और श्रीमती के सभी पुत्रों के साथ दमधर मुनीन्द्र के समीप दीक्षा ग्रहण करना, वज्रजंघ का राज्य करना १७१-१७२	
वज्रदन्त चक्रवर्ती का कमल में बन्द मूल भौरे को देखकर वैराग्य होना, अमिततेज तथा उसके छोटे भाई के राज्य न लेने पर अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को राज्य देकर यशोधर मुनि से अनेक राजाओं के साथ दीक्षा लेना, पण्डिता घाय का भी दीक्षित होना १७२-१७४	
चक्रवर्ती की पत्नी लक्ष्मीमती का पुण्डरीक को अल्पवयस्क जान राज्य सँभालने के लिए वज्रजंघ के पास दूतों द्वारा पत्र भेजना १७४-१७६	
वज्रजंघ का श्रीमती के साथ पुण्डरीकिणी नगरी में जाना १७७-१८१	
रास्ते में पड़ाव पर दमधर और सागरसेन नामक दो चारणकृद्धि के धारक मुनिराजों का आना, वज्रजंघ और श्रीमती के द्वारा उन्हें आहारदान, देवों द्वारा पंचाश्चर्य होना १८१-१८२	
बृद्ध कंचुकी ने जब वज्रजंघ और श्रीमती को बतलाया कि दोनों मुनिराज तो आपके ही अन्तिम युगल पुत्र हैं तब उनके हर्ष और भक्ति	

विषय	पृष्ठ
का पार नहीं रहा। दमधर मुनिराज ने अवधिज्ञान से जानकर वज्रजंघ और श्रीमती के भवान्तर कहे १८२-१८३	
मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन के पूर्वभवों का वर्णन १८३-१८४	

जिस समय दमधर मुनिराज यह सब व्याख्यात कर रहे थे उस समय शार्दूल, नकुल, वानर और सूकर ये चार प्राणी निश्चिन्त होकर साम्यभाव से उपदेश सुन रहे थे। राजा वज्रजंघ ने उनके विषय में भी अपनी जिज्ञासा प्रकट की १८४

मुनिराज ने क्रमशः उनके भवान्तर कहे। उन्होंने यह भी कहा कि मतिवर आदि चार तथा शार्दूल आदि चार ये आठों अब से आपके साथ ही उत्पन्न होते रहेंगे और आपके ही साथ इस भव से आठवें भव में निर्वाण-लाभ करेंगे। आठवें भव में आप तीर्थंकर होंगे और यह श्रीमती उस समय दानतीर्थ का प्रवर्तक श्रेयांस राजा होंगी। मुनिराज के मुख से यह भवावली सुनकर सब प्रसन्न हुए १८४-१८७

वज्रजंघ ने पुण्डरीकिणी नगरी में जाकर राजी लक्ष्मीमती तथा बहन अनुधरी को सान्त्वना दी, उनके राज्य की समुचित व्यवस्था की और पूर्व की भाँति वैभव के साथ सौदकर वे अपने नगर में वापस आ गये १८७-१८८

नवम पर्व

वज्रजंघ और श्रीमती के षड्भक्तसम्बन्धी भोगोपभोगों का वर्णन १८९-१९१	
एक दिन वे दोनों शयनागार में शयन कर रहे थे। सुगन्धित द्रव्य का धूस फैलने से शयनागार का भवन अत्यन्त सुवासित हो रहा था। दुर्भाग्यवश द्वारपाल उस दिन भवन के गवाश्र खोलना भूल गये जिससे श्वास रुक जाने के कारण उन दोनों की आकस्मिक मृत्यु हो गयी। १९१-१९२	

विषयानुक्रमिका

७५

विषय	पृष्ठ
पाव-दान के प्रभाव से दोनों ही जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में स्थित उत्तर कुरु में आर्य-आर्या हुए । इसी प्रकरण में दस प्रकार के कल्प-वृक्षों के द्वारा भोगभूमि की विशेषताओं का विषाद वर्णन	१६२-१६७
शार्दूल, नकुल, वानर और सूकर भी पाव-दान की अनुमोदना से यहीं उत्पन्न हुए	१६७
मतिवर आदि दीक्षा धारण कर यथायोग्य अधोऽग्नेयक में उत्पन्न हुए	१६७-१६८
वज्रजंघ और श्रीमती को सूर्यप्रभदेव के गगन-गाभी विमान को देखकर जातिस्मरण होना । उसी समय आकाश से दश चारणऋद्धिधारी मुनियों का उनके पास पहुँचना और उनके द्वारा मुनियों का परिचय पूछा जाना	१६८
मुनिराज ने अपना परिचय दिया कि जब आप महाबल थे तब मैं आपका स्वयंभुद नामक मन्त्री था । आपके संन्यास के बाद मैंने दीक्षा धारण कर सौधर्म स्वर्ग में जन्म प्राप्त किया । वहाँ से चय कर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र के पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में राजा प्रियसेन के प्रीतिकर नाम का पुत्र हुआ । यह प्रीतिदेव मेरा छोटा भाई है । स्वयंभु जिनेन्द्र के पास दीक्षा लेकर हम दोनों ने घोर तपश्चरण किया, उसके फल-स्वरूप अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि प्राप्त की है । अवधिज्ञान से आपको यही उत्पन्न हुआ जानकर सम्यक्त्व का लाभ कराने के लिए आया हूँ । कायलन्धि आपके अनुकूल है अतः आप दोनों ही सम्यक्त्व ग्रहण कीजिए । यह कहकर सम्यक्त्व का लक्षण तथा प्रभाव बतलाया । मुनिराज के उपदेश से दोनों ने ही सम्यक्त्व ग्रहण किया । तथा शार्दूल, नकुल आदि के जीवों ने भी सम्यक्त्व से अपनी आत्मा को अलङ्कृत किया । उपदेश देकर मुनिपुगल आकाशमार्ग से चल गये	१६८-२०३
उक्त आर्य और आर्षा शोनिकर मुनिराज क	

विषय	पृष्ठ
इस महान् उपकार से अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उन्हीं के गुणों का चिन्तन करते रहे । आगु के अन्त में वज्रजंघ ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ । श्रीमती तथा अन्य साथी भी उसी स्वर्ग में विभिन्न देव हुए	२०३-२०७

वशम पर्व

एक दिन श्रीधरदेव ने अवधिज्ञान से जाना कि हमारे गुरु प्रीतिकर को केवलज्ञान हुआ है और वे श्रीप्रभ नामक पर्वत पर विद्यमान हैं । ज्ञात होते ही वह पूजा की सामग्री लेकर गुरुदेव की पूजा के लिए चला । वहाँ पहुँच कर उसने उनकी पूजा की तथा पूजा के बाद पूछा कि मैं जब महाबल था और आप थे स्वयंभुद मन्त्री तब मेरे शतमति, महामति तथा संभिन्नमति नाम के अन्य तीन मन्त्री भी थे । उनका क्या हुआ ? श्रीधरदेव के प्रश्न के उत्तर में केवली प्रीतिकर गुरु कहने लगे कि उनमें संभिन्नमति और महामति तो निगोद पहुँचे हैं तथा शतमति नरक में दुःख उठा रहा है । यह कहकर उन्होंने नरक में उत्पन्न होने के कारण वहाँ के दुःख तथा वहाँ की व्यवस्था आदि का विस्तार के साथ वर्णन किया	२०८-२१७
केवली के मुख से शतमति के दुःख का समाचार जानकर श्रीधर बहुत ही दुःखी हुआ और नरक में पहुँचकर शतमति के जीव को धर्म का उपदेश देकर सन्तुष्ट हुआ । श्रीधर के सदुपदेश से शतमति के जीव ने सम्यक्त्व ग्रहण किया जिसके प्रभाव से पुष्कलावती देश की मंगलावती नगरी में महीधर राजा की सुन्दरी रानी के जयसेन नाम का पुत्र हुआ । उसका विवाह होने वाला ही था कि उसी समय श्रीधरदेव ने आकर उसे नरक के दुःखों का स्मृति दिला दी जिससे वह पुनः दीक्षित होकर ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ।	२१७-२१८

विषय	पृष्ठ
श्रीधरदेव ने स्वर्ग से चयन कर जम्बूद्वीप-पूर्व विदेह—महावत्सकावती देश के सुसीमा नगर में सुदृष्टि राजा की सुन्दरनन्दा नामक रानी के गर्भ से सुविधि नाम का पुत्र हुआ	२१८
सुविधि का नख-शिख वर्णन	२१८-२२०
सुविधि ने पिता के उपरोध से राज्य ग्रहण किया तथा अभयघोष चक्रवर्ती की पुत्री मनोरमा के साथ पाणिग्रहण किया। वज्रजंघ के भव में जो श्रीमती था वही जीव इन दोनों के केशव नाम का पुत्र हुआ। शार्ङ्गल आदि के जीव भी इन्हीं के निकट उत्पन्न हुए	२२०-२२१
इन सब साधियों तथा चक्रवर्ती ने अनेक राजाओं के साथ बिमलवाह मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली परन्तु सुविधि राजा पुत्र के स्नेहवश गृहत्याग नहीं कर सका अतः गृह में ही भावक के व्रत पालता रहा और अन्त में दीक्षा लेकर समाधि के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ	२२१-२२२
आयु के अन्त में केशव भी तपश्चरण के प्रभाव से उसी अच्युत स्वर्ग में प्रसीन्द्र हुआ। शार्ङ्गल आदि के जीव भी यथायोग्य उसी स्वर्ग में देव हुए। अच्युतेन्द्र की विभूति तथा देवियों आदि का वर्णन	२२२-२२६

एकादश पर्व

मंगल	२२७
वज्रजंघका जीव अच्युतेन्द्र जब स्वर्ग से चयन कर जम्बूद्वीप पूर्व-विदेहक्षेत्र पुष्कलावती देश की पुष्करीक नगरी में राजा वज्रसेन और रानी श्रीकान्ता के वज्रनाभि पुत्र हुआ। उसके अन्य साथी भी वहीं पैदा हुए। केशव का जीव उसी नगरी के कुबेरदत्त और अनन्तमति नामक वैश्य दम्पती के धनदेव नाम का पुत्र हुआ	२२७-२२८
वज्रनाभि का नख-शिख वर्णन	२२८-२३०
वज्रसेन महाराज वज्रनाभि का राज्याभिषेक कर संसार में विरक्त हो गये। और फिर	

विषय	पृष्ठ
लौकान्तिक देवों से प्रतिबोधित होकर दीक्षित हो गये	२३०-२३१
वज्रनाभि का राज्यवर्णन, चक्ररत्न की उत्पत्ति तथा विन्विजय वर्णन, केशव का जीव धनदेव चक्रवर्ती वज्रनाभि के गृहपति नाम का पुत्र-रत्न हुआ	२३१-२३२
वज्रनाभि ने वज्रदन्त नामक पुत्र को राज्य सौंपकर अनेक राजाओं, पुत्रों, भाइयों और धनदेव के साथ दीक्षा ग्रहण की। मुनिराज वज्रनाभि ने अपने गुरु के निकट दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया। तपश्चरण के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई, और आयु के अन्त में प्रायोपगमन संन्यास धारण किया। संन्यासमरण का वर्णन। आयु के अन्त में प्राण परित्याग कर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए	२३२-२३७
सर्वार्थसिद्धि विमान और उसमें अहमेन्द्र वज्रनाभि की उत्पत्ति का वर्णन, अहमेन्द्र की विशेषताएँ	२३७-२४१
सर्वार्थसिद्धि के प्रदीप्तातीत सुख का समर्थन	२४१-२४८

द्वादश पर्व

पूर्वोक्त अहमेन्द्र ही भगवान् आदिनाथ हो गये, जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा में अन्तिम कुलकर नाभिराज थे। उनकी मन्मथेवी नाम की अत्यन्त सुन्दरी स्त्री थी। उसका नखशिख वर्णन	२४१-२४५
नाभिराज और मन्मथेवी से अलङ्कृत स्थान पर स्वर्ग से आये हुए इन्द्र ने सर्वप्रथम अयोध्या-पुरी की रचना की, उसकी शोभा का वर्णन	२४५-२४७
शुभ मुहूर्त में देवों ने नाभिराज का उस नव-नगरी में प्रवेश कराया। जब भगवान् ऋषभदेव की जन्म लेने में छह माह बाकी थे,	

विषय	पृष्ठ
तब से कुबेर ने रत्नवृष्टि शुरू कर दी । रत्न- वृष्टि का कल्पनामय वर्णन	२५७-२५९
मरुदेवी का सोलह स्वप्न-दर्शन	२५९-२६२
प्रबुद्ध रानी श्रातःकालिक कार्य कर सभा- मण्डप में पहुँची और राजा के द्वारा सम्मान पाकर राज में देखे हुए सोलह स्वप्नों का फल पूछने लगी	२६२-२६३
नाभिराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर मरुदेवी के समक्ष प्रत्येक स्वप्न का पुत्र-पुत्रा फल बतलाया	२६३
उसी समय से श्री, ह्री आदि देवियाँ माता मरुदेवी की सेवा-शुभ्रूषा करने लगीं । उनकी सेवा का वर्णन, साथ ही प्रहेलिका, मात्रा- च्युतक, विन्ध्यच्युतक आदि शब्दालंकार का सुन्दर और सरस वर्णन	२६४-२७९
मरुदेवी की गर्भावस्था का वर्णन	२७९-२८२

त्रयोदश पर्व

चैत्र मास, कृष्ण पक्ष, नवमी तिथि के शुभ मुहूर्त में भगवान् का जन्म । आकाश निर्मल हो गया । विशाणू स्वच्छ हो गयीं ।	२८३
इन्द्र के द्वारा जन्माभिषेक के उत्सव के लिए अयोध्या नगरी में चतुर्निकाय देवों के साथ आना और भगवान् की स्तुति कर गोद में ले ऐरावत हाथी पर आरुढ़ हो सुमेरु पर्वत पर ले जाना । वहाँ पाण्डुकवन और उसकी ऐशान दिशा में पाण्डुक शिला का वर्णन	२८६-२९१
सुसज्जित अभिषेक-मण्डप के मध्य में पूर्व दिशा की ओर मुँह कर पाण्डुक शिला पर जिन- बालक विराजमान किये गये । दोनों ओर जड़ी हुई देवों की पक्तियों द्वारा क्षीरसागर के जल से १००८ कलश भरकर लाया । सौधमें और ऐशान इन्द्र द्वारा जलधारा से भगवान् का अभिषेक । जलधारा का वर्णन, फैले हुए अभिषेक का वर्णन, अनेक मांगलिक वाजों का बजना, अप्सराओं का सुन्दर नृत्यगान, पुष्पवृष्टि आदि का वर्णन	२९२-३०३

विषय

पृष्ठ

चतुर्दश पर्व

अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने जिनबालक के शरीर में सुगन्धित द्रव्यों का लेप लगाकर उन्हें वस्त्राभूषण से सुसज्जित किया	३०४-३०५
इन्द्र द्वारा जिनबालक की विस्तृत स्तुति	३०५-३०६
स्तुति के बाद इन्द्र पूर्वोक्त वैभव के साथ अयोध्या नगरी में वापस आया, अयोध्या की सजावट का वर्णन	३०६-३११
नगर में इन्द्र का ताण्डवनृत्य करना और भगवान् का 'कृष्ण' नाम रखना । इन्द्र का बालदेवों की सेवा में निरुक्त करना	३११-३१२
भगवान् की वात्स्यावस्था का वर्णन । उनके अभिरंग और बहिरंग गुणों का व्याख्यान तथा यौवन के पूर्व में अनेक प्रकार की कीड़ाओं का वर्णन	३१२-३२४

पंचदश पर्व

यौवन पूर्ण होने पर भगवान् के शरीर में स्वयं- मेव सुन्दरता प्रकट हो गयी । उनके शरीर में एक सौ आठ लक्षण और नौ सौ व्यंजन प्रकट थे । यौवन की सुषमा उनके अंग-प्रत्यंग से फूट रही थी, परन्तु उनका सहज विरक्त स्वभाव कामकला से अछूता था । उनके रूप- लावण्य, यौवन आदिगुणरूपी पुष्पों से आकुल हुए नेत्ररूपी भ्रमर अन्यत्र कहीं भी आनन्द नहीं पाते थे	३२५-३२६
एक दिन पिता नाभिराज के मन में इनके विवाह के विकल्प का उठना । पिता की आज्ञानुसार भगवान् की विवाह के लिए मौन स्वीकृति । इन्द्र की सम्मति से कच्छ और महाकच्छ की बहनें यक्षस्वती और सुनन्दा से ऋषभदेव का विवाह । यक्षस्वती और सुनन्दा का मन्त्र-विवाह वर्णन	३२६-३३४
एक दिन महादेवी यक्षस्वती ने सोते समय सखी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमा-सहित सूर्य, हंससहित सरोवर तथा चंचल लहरों वाला समुद्र देखा । इसी समय बन्दी जनों	

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
द्वारा मांगलिक स्तुति और जामरण गीतों को सुनकर उसकी नीद टूट गयी। वह प्रातः कालिक कार्यों से निवृत्त हो भगवान् के पास पहुँची और स्वप्नों का फल पूछने लगी, भगवान् ने अवधिज्ञान से विचार कर उत्तर दिया कि तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र होगा। यह सुनकर वह बहुत ही प्रसन्न हुई। उसी समय व्याघ्र का जीव जो कि सर्वार्थसिद्धि में अह-मेन्द्र था वहाँ से च्युत होकर यशस्वती के गर्भ में आया। उसकी सर्वाङ्गविकास और वर्णन	३३४-३३७	पूर्वापर विदेहक्षत्रों के समान छह कर्म, वर्णाश्रम तथा ग्राम, नगर आदि की व्यवस्था करने का विचार करना। इन्द्र ने भगवान् की आज्ञानुसार जिनमन्दिर की रचना की, फिर उसके बाद चारों दिशाओं में कोसल आदि छोटे-बड़े अनेक देशों की रचना की	३५७-३६०
नव मास बाद यशस्वती ने पुत्ररत्न उत्पन्न किया। वह अपनी भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था। इसलिए निमित्तज्ञानियों ने घोषणा की थी कि यह चक्रवर्ती होगा	३३७-३३९	गर्बों के नाम तथा उनकी सीमा आदि का वर्णन	३६०-३६२
बालक भरत कमलः यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। उसके शारीरिक और आन्तरिक गुणों का वर्णन	३३९-३४५	नगरों का विभाग करने के बाद उन्होंने अग्नि, मणि, कृषि आदि छह आजीविकापयोगी कर्मों की तथा अग्नि, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की व्यवस्था की। भगवान् ने यह सब व्यवस्था आषाढ़ कृष्ण प्रतिपद् के दिन की थी। उसी दिन से द्वापरयुग का प्रारम्भ हुआ था। नाभिराज की सम्मति से देवों के द्वारा भगवान् का राज्याभिषेक, ऋषभदेव के सस्तक पर मुकुट का बाँधा जाना	३६२-३६७
षोडश पर्व		राज्य पाकर भगवान् ने इस प्रकार के नियम बनाये कि जिससे कोई अन्य वर्ण किसी अन्य वर्ण की आजीविका न कर सके। उन्होंने हर-एक वर्ण के कार्य निश्चित किये, उनकी विवाहव्यवस्था मर्यादित की, दण्डनीति प्रचारित की और हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार भाग्य-शाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका सत्कार किया तथा उन्हें महामण्डलेश्वर बनाया। इस प्रकार राज्य करते हुए भगवान् के श्रेष्ठ लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो गये।	३६७-३७२
बृषभदेव की देवी यशस्वती से बृषभसेन आदि नित्यानन्दे पुत्र तथा ब्राह्मी नाम की पुत्री हुई। दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली नामक एक पुत्र और सुन्दरी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई। बाहुबली कामदेव थे। उनके शरीर का वर्णन	३४६-३५०	सप्तदश पर्व	
भगवान् बृषभदेव ने उन सबके लिए अनेक प्रकार के आभूषण बनवाये थे। उन आभूषणों में हार के विविध भेदों का वर्णन	३५०-३५२	मीलोजना अप्सरा का नृत्य देखते-देखते भगवान् को वैराग्य होना और संसार के स्वरूप का चिन्तन करना	३७३-३७६
भगवान् के द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी को अंक विद्या और लिपिविद्या सिखाना तथा पुत्रों को विद्याएँ पढ़ाना। धीरे-धीरे भगवान् का बीस लाख पूर्व वर्षों का महान् काल व्यतीत हो गया	३५२-३५७	लोकान्तिक देवों का आगमन, भरत का राज्याभिषेक और अन्य पुत्रों को यथा योग्य सम्पत्ति देना। उसी समय भगवान् का	
काल के प्रभाव से भीमभूमि का अन्त होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ होना और भगवान् का			

भगवान् श्री कृष्णजी के जीवन की प्रमुख घटनाएँ

७६

विवरण	पृष्ठ	विवरण	पृष्ठ
दीक्षाभिषेक होना । भगवान् देवनिर्मित पालकी पर आरुढ़ हुए । उस पालकी को सर्वप्रथम भूमिगोचरी राजा उठाकर सात कदम ले गये । फिर विद्याधर राजा और उसके बाद देवगण ले गये ३७६-३८६		भगवान् के साथ दीक्षित हुए चार हजार राजा धैर्य से विचलित होने लगे । वे भूख-प्यास की बाधा नहीं सह सके अतः तपश्चरण में भ्रष्ट हो गये और तरह-तरह के वेष धारण कर अपनी प्राणरक्षा की । उन भ्रष्ट मुनियों में भगवान् का पोता मरीचि प्रधान था जिसने परित्याजक बनकर कापिल मत का संस्थापन किया ३८७-४०३	
पति-वियोग के शोक से दुःखी यशस्वती और सुनन्दादेवी मन्त्रियों के साथ पीछे-पीछे चल रही थीं । उनके नेत्र आँसुओं से व्याप्त थे अतः उनके पैर ऊँचे-नीचे पड़ रहे थे । अन्तःपुर की स्त्रियों का शोक वर्णन । कुछ दूर चलकर प्रतीहारों ने अन्य स्त्रियों को आगे आने से रोक दिया । सिर्फ यशस्वती और सुनन्दा कुछ मुख्य-मुख्य स्त्रियों के साथ आगे जा रही थीं । मरुदेवी और नाभिराज भी इन सब के साथ भगवान् का दीक्षाकल्याणक देखने के लिए जा रहे थे ३८७-३८८		भगवान् के पास कच्छ-महाकच्छ के पुत्र नमि-विनमि का कुछ मँगने के लिए आना और धरणेन्द्र का उन्हें समझाकर विजयार्ध पर्वत पर ले जाना ४०३-४१०	
जगद्गुरु भगवान् ने सिद्धार्थक वन में सब परिग्रह त्याग कर पूर्वाभिमुख हो सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर शिर के केश उखाड़कर फेंक दिये । इस प्रकार चैत्र कृष्ण नवमी के दिन सायंकाल में भगवान् ने दीक्षा ग्रहण की । इन्द्र ने भगवान् के पवित्र केश रत्नमय पिटारे में रखकर क्षीर-समुद्र में जाकर क्षेप दिये । भगवान् के साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हुए । परन्तु वे दीक्षा के रहस्य को नहीं समझते थे अतः हव्यसिंह के ही धारक थे ३८८-३९२		कवि की प्राञ्जल भाषा में विजयार्ध पर्वत का विस्तृत वर्णन ४११-४१८	
इन्द्र द्वारा भगवान् का स्तवन ३९२-३९५		एकोनविंश पर्व	
राजा भरत भगवान् की विधिविधानपूर्वक पूजा कर सूर्यास्त के समय अयोध्या नगरी में वापस आये ३९५-३९६		विजयार्ध पर्वत पर पहुँचकर धरणेन्द्र ने दोनों राजकुमारों के लिए उसकी विशेषता का परिचय कराया ४१९-४२१	
अष्टावश पर्व		नगरियों के नाम तथा विस्तार आदि का वर्णन ४२१-४२७	
भगवान् ऋषभदेव छह माह का योग लेकर शिलापट्ट पर आसीन हुए । उन्हें दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था ।		पर्वत की प्राकृतिक शोभा का विविध छन्दों में वर्णन ४२७-४४१	
		धरणेन्द्र द्वारा विजयार्ध का अद्भुत वर्णन सुनकर नमि-विनमि उसके साथ आकाश से नीचे उतरे । धरणेन्द्र ने नमि को दक्षिण श्रेणी का और विनमि को उत्तर श्रेणी का राजा बनाया । विविध विद्याएँ प्रदान की तथा तत्सम विद्याधरों से इनका परिचय कराया । समस्त विद्याधरों ने इनकी आज्ञा मस्तकावलि की ४४२-४४४	
		विंश पर्व	
		एक वर्ष तक अन्तराय होने के बाद हस्तिनापुर नगर में श्रेयांस महाराज को पूर्वभक्ष का स्मरण होने से आहारदान की विधि का ज्ञान होना और उनके यहाँ इक्षुरस का आहार लेना, देवों का पंचाशचय	

विषय

पृष्ठ

वर्णन । भरत के द्वारा राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांस आदि का अपूर्व सत्कार हुआ	४४५-४५६
भगवान् के सपञ्चरण का वर्णन, जिसमें पञ्चमहाव्रत, उनकी भावनाएँ, २८ सूत्र गुण और १२ तपों का वर्णन । भगवान् के फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन केवल- ज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन	४५६-४७३

एकादश पर्व

श्रेणिक के प्रश्नानुसार गौतमस्वामी के द्वारा ध्यान का विस्तार के साथ वर्णन	४७४-४७७
आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से उसके चार भेद । प्रथम आर्तध्यान का अन्तर्भेदों सहित वर्णन	४७७-४७८
रौद्र ध्यान का वर्णन	४७८-४७९
धर्म्यध्यान का वर्णन, उसके योग्य स्थान, आसन, अन्तर्भेद आदि का विस्तृत विवेचन	४८२-४८७
शुक्लध्यान का विस्तृत वर्णन, उसके भेद, स्वामी तथा फल आदि का विवेचन	४८७
योग का वर्णन, प्रत्याहारादि का स्वरूप, जमने योग्य बीज, उनका फल	४८८-५००
जीव में नित्यानित्यत्वादि का वर्णन	५००-५०५

द्वाविंश पर्व

वाति चतुष्क का क्षय होने से भगवान् क्षुब्ध- देव की केवलज्ञान का उत्पन्न होना	५०६-५०७
इन्द्र का अनेक देवों के साथ ज्ञान-कल्याणक का उत्सव करने के लिए आना	५०७
देवों के परिवार का वर्णन	५०७-५०८
ऐरावत हाथी का वर्णन	५०८-५११
मार्ग में देवांगमाओं के नृत्यादि का वर्णन	५१२-५१३
देवों ने आकाश में स्थित होकर भगवान् का समवसरण देखा	५१३
समवसरण का वर्णन	५१४-५३६

विषय

पृष्ठ

त्रयोविंश पर्व

तीन मेखसार्यों से सुशोभित पीठ के ऊपर गन्धकुटी का वर्णन	५४०-५४२
गन्धकुटी के मध्य में सिंहासन का वर्णन	५४२
सिंहासन पर चार अंगुल के अन्तर से भगवान् आदिनाथ विराजमान थे । इन्द्र आदि उनकी उपासना कर रहे थे और आकाश से देव गण पृथ्वीदृष्टि कर रहे थे । उसका वर्णन	५४३-५४४
अशोकवृक्ष का वर्णन	५४४
क्षत्रप का वर्णन	५४४-५४५
चमर प्रातिहार्य का वर्णन	५४५-५४७
देवदुन्दुभि का वर्णन	५४७-५४८
भानुवहल का वर्णन	५४८
विविधध्वनि का वर्णन	५४८-५४९
देवों ने बड़े वैभव के साथ समवसरण भूमि में तीन प्रदक्षिणा देकर समवसरण में प्रवेश किया । विविध छन्दों द्वारा ज्ञात तथा गोपुर आदि का वर्णन	५५०-५५२
देवेन्द्र ने समवसरण में पहुँचकर श्री जितेन्द्र- देव के दर्शन किये । श्री आद्यजितेन्द्र का वर्णन, अन्य इन्द्रों ने भी उनके चरणों में नमस्कार किया	५५३-५५५
इन्द्र ने अष्टश्रवण से आद्यजितेन्द्र का पूजन किया	५५५-५५६
इन्द्रों द्वारा भगवज्जितेन्द्र का स्तवन	५५६-५७२

चतुर्विंश पर्व

आद्य मंगल	५७३
भगवान् की कैवल्योत्पत्ति और चक्ररत्न की उत्पत्ति की एक साथ सूचना मिलने पर कैवल्यपूजा के लिए समवसरण में जाना और पूजा के अन्त में उनके एक ही आठ नामों द्वारा भगवान् का स्तवन करना	५७३-५७७
भरत के द्वारा स्तुति कर चुकने पर भगवान् से	

विषय	पृष्ठ
मार्ग तथा मार्ग का फल आदि के स्वरूप के जानने की इच्छा प्रकट करना	५७७-५८१
भरत के प्रश्न के बाद भगवान् आदिनाथ की दिव्यध्वनि का होना । उन्होंने उसमें जीवाजी-बादि तत्त्वों का तथा षट्द्रव्य का विस्तृत विवेचन किया	५८१-५९०
श्री जिनेन्द्र के मुख से दिव्यध्वनि सुनकर भरत षण्धर बहुत ही प्रसन्न हुए । तथा सम्यग्दर्शन और व्रत की शुद्धि को प्राप्त हुए । अन्य भव्य जीव भी यथायोग्य विशुद्धि को प्राप्त हुए	५९०-५९१
पुरिमताल नगर के स्वामी भरत के अनुज वृषभसेन नामक मुख्य गणधर हुए । राजा श्वेयांस तथा सोमप्रभ आदि भी दीक्षा लेकर गणधर हुए । बाह्यी और सुन्दरी भी दीक्षा लेकर गणिनी पद को प्राप्त हुईं, मरीचि को छोड़कर प्रायः सभी अष्ट मुनि भगवान् के समीप में प्रायश्चित्त लेकर फिर से मुनि	

विषय	पृष्ठ
गये । भरतरात्र भगवान् की पूजा करके वे वैभव के साथ अपनी राजधानी में वापस लौटे	५९१-५९३

पंचविश पर्व

भरत के चले जाने और दिव्यध्वनि के बन्द हो जाने के कारण जब वहाँ बिलकुल शान्ति छा गयी तब आठ प्रातिहार्य, चौसीस अतिशय और अनन्त चतुष्टय से सुशोभित आद्य जिनेन्द्र की सौधमेंद्र स्तुति करने लगा । इसी के अन्तर्गत जन्म, केवलज्ञान के तथा देवकृत अतिशयों का वर्णन । साधारण स्तुति करने के बाद पीठिका द्वारा सहस्रनाम रूप महा-स्तवन की भूमिका	५९४-६०३
सहस्रनाम स्तवन	६०३-६३०
स्तवन के बाद इन्द्र ने भगवान् से विहार करने की प्रार्थना की । तदनन्तर भगवान् का विहार हुआ । विहार का वर्णन	६३०-६३६

श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितम्

आदिपुराणम्

सर्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
प्रथमं पर्व

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे । धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीनुषे ॥ १ ॥

जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सहित हैं जिन्होंने समस्त पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानरूपी साम्राज्यका पद प्राप्त कर लिया है, जो धर्मचक्रके धारक हैं, लोकत्रयके अधिपति हैं और पंच परावर्तनरूप संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे श्री अर्हन्तदेवको हमारा नमस्कार है ।

विशेष—इस श्लोकमें सब विशेषण ही विशेषण हैं विशेष्य नहीं हैं । इससे यह बात सिद्ध होती है कि उक्त विशेषण जिसमें पाये जायें वही वन्दनीय हैं । उक्त विशेषण अर्हन्त देवमें पाये जाते हैं अतः यहाँ उन्हींको नमस्कार किया गया है । अथवा 'श्रीमते' पद विशेष्यवाचक है । श्री ऋषभदेवके एक हजार आठ नामोंमें एक श्रीमन् नाम भी है जैसा कि आगे इसी ग्रन्थमें कहा जावेगा—'श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः' आदि । अतः यहाँ कथानायक श्री भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार किया गया है । टिप्पणकारने इस श्लोकका व्याख्यान विविध प्रकारसे

१. श्रीमशदितीर्यकृते नमः । ॐ नमो वक्रग्रीवाचार्याय श्रीकुन्दकुन्दस्वामिने । अथागण्यवरेण्यसकल-
पुण्यचक्रवर्तितीर्थकरपुण्यमहिमावष्टम्भसम्भूतपञ्चकल्याणः शिवतत्सर्वभाषास्वभावशिवभाषाप्रवर्तकपरमाप्तश्रीमदा-
दिब्रह्मादिश्रीवर्धमानास्ततीर्थकरपरमदेवैर्यतो निकषितस्य चतुरमलबोधसप्तभिनिधिश्चैवृषभसेनाद्यगोतमान्त-
गणधरवृन्दारकवृषभैः कविभिर्ग्रन्थतो यमितस्य भरतसगरसकलचक्रवर्तिप्रभृतिश्रेणिकमहामण्डलेश्वरवर्यन्तमहा-
शोणोद्वरैस्ससुरासुराधोद्वरैरमन्दापन्दसन्दोहपुलकितकर्णकपोलभित्तिभिरार्कणितस्य महानुभावचरित्राश्रयस्य
स्रुतस्कन्धप्रपममहाधिकारस्य प्रथमानुयोगमहासमुद्रस्य वेलाभिव बृहद्व्यासां प्रसृतार्थजलां ज्ञानविज्ञानसम्पन्नवर्ज्य-
भीरुभिः पूर्वमूरिभिः कालानुरोधेन नानाप्रबन्धेन विरचितां तदनुकविपरमेश्वरेण प्रहृद्यगद्यकषारूपेण संकषितां
निषष्टिशलाकापुस्तकचरिताश्रयां परमार्थबृहत्कथां संगृह्य महापुराणाद्यप्रमदभुतार्थं ग्रन्थं चिकीर्षुजिनेन्द्रैर्यलालितः
श्रीमदमोघवर्षमहाराजमणिमुकुटवलभिषिटङ्कुसंचारितचारुचरणनखचन्द्रचन्द्रिको जिनसेतमुनीन्द्रो महाकवीन्द्रस्त-
म्भपुराणप्रथमावयवभूतादिपुराणस्यादौ तत्कथामहानायकस्य विषयविद्यापरमेश्वरस्यादिब्रह्माण इतरदेवासम्भवि-
निरतिषायमाहारम्यप्रतिपादनपरां पञ्चभिः पदैः पञ्चपरमेष्ठिप्रकाशिकां तत्तन्मस्काररूपपरममङ्गलमयीं च
प्रेक्षावतामानन्दकन्दलीमिमां तान्दीमुन्मृदयति श्रीमत इत्यादिना । अहं श्रीमते नमस्करोमीति क्रियाकारकसंवेद्यः,
असंबद्धयोस्तयोर्वाक्यार्थस्य प्रतिपादकस्त्रायोगात् । अत्र कन् क्रिययोस्त्वन्निहितयोः कथं संबन्ध इति चेत् ?

किया है जिसमें उन्होंने अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भरन चक्रवर्ती, बाहुबली, वृषभसेन गणधर तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर आदिको भी नमस्कार किया गया प्रकट किया है। अतः उनके अभिप्रायके अनुसार कुछ विशेष व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है। भगवान् वृषभदेवके पक्षका व्याख्यान ऊपर किया जा चुका है। अरहन्त परमेष्ठीके पक्षमें 'श्रीमते' शब्दका अर्थ अरहन्त परमेष्ठी लिया जाता है; क्योंकि वह अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सहित होते हैं। सिद्ध परमेष्ठीके पक्षमें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे' पदका अर्थ सिद्ध परमेष्ठी किया जाता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण ज्ञानियोंके साम्राज्यके पदको-लोकाग्रनिवासको प्राप्त हो चुके हैं। आचार्य परमेष्ठीके पक्षमें 'धर्मचक्रभृते' पदका अर्थ आचार्य लिया जाता है; क्योंकि

तयोरुपस्कृतस्त्वेनाभिधानात् । अन्यथा वाक्यार्थस्यापरिसमाप्तः । तत्र अहमिति कर्तुस्साक्षादनभिधानेन प्रणतजग-
त्स्वित्यगणधरसकलभूतधरदशपूर्वधरैकायशाङ्गधराहमिन्द्रेन्द्रादिषु बन्दाह्वन्दारकेषु सस्तु अहं कियानिति सूर-
रोद्धत्यपरिहारलक्षणं वस्तु व्यज्यते । क्रियायास्तथानभिधानेन नमस्कुर्वन्तिव्यादीनामन्ययुष्मदस्मदर्थानां ग्रहणेन
सर्वेऽपि भक्त्यसिंहास्तत्रमस्काररूपं परममङ्गलमङ्गीकुर्वन्तु येनाभिमतसिद्धिस्त्वादिति सर्वभक्त्यलोकोत्साहनेनाचा-
र्यस्य परानुग्रहतिरस्त्वमुद्योतितम् । अस्तु नाम कर्तृक्रिययोः साक्षादनभिधानस्य प्रयोजनम् । किं कर्म ? करोतेः
सकर्मकत्वात् ? नवाह—'नमः' इति । अत्र नमश्शब्दो निर्भरभूतलक्षयालुभोलिभावलक्षणपूजावचनः । 'नमस्वाङ्गः
पूजावचनः' इति न्यासकारेण निरूपणात् । तत्करोमीत्यन्वयेन तस्य कर्मत्वसिद्धेः स्फुटत्वात् । अत्र नम इति
दिव्यनमस्कारेणान्तर्जल्यारम्भको भावनमस्कारोऽपि विद्यते, तत्रभवति निस्सीमभवितयुक्तस्य सूरैरुभयवाच्यवित्त्वात् ।
अस्तु नमश्शब्दः पूजावचनः, कस्मै पूज्याय नमः ? यद्योगाच्चतुर्थी स्यादित्याकाङ्क्षायां विशेष्यं निदिशति—
श्रीमत इति । पूज्यवतः पुरुषान् ध्रुवतीति श्रीलक्ष्मीः सा च बहिरङ्गान्तरङ्गमेवाद् द्विविधा । तत्र बहिरङ्गलक्ष्मीः
समवसरणादिरभ्यन्तरलक्ष्मीः केवलज्ञानादिस्तयोर्द्वयोरपि श्रीरिति ग्रहणम्, जात्यपेक्षया तथा ग्रहीतुं सुलभत्वात् ।
यद्यप्यन्युदयलक्ष्मी राजाधिराजादमण्डलीकमण्डलीकादंचक्रधरहलधरसकलचक्रधरकुलिशधरतीर्थंकरसत्कर्मधरा -
दिसंबन्धभेदेनानेकधा तथापि निरतिशययोः प्रकृतोभयलक्ष्म्योरेवात्र ग्रहणम् । निरतिशया उक्तलक्षणा श्रीलक्ष्मी-
रस्यास्ति 'श्रीमान्' इति, निरतिशयातिशयार्थे मतोर्विधानात् । ताभ्यामतिशयिताया लक्ष्म्या असम्भवात् न
केवलमेतस्मिन्नेवार्थे बहिरङ्गलक्ष्म्या संसर्गोऽन्तरङ्गलक्ष्म्या नित्ययोगेऽपि मतोर्विधानमुन्नेतव्यम् 'भूमनिन्दाप्रशंसासु
नित्ययोगेऽतिशयने । संसर्गोऽस्ती' त्यादिबचनात् । यद्यपि सप्ततिशतकर्मभूमिषु तीर्थंकरेषु सर्वेष्वप्येतत् प्रवृत्तिमि-
मित्तमाश्रित्य श्रीमद्व्यवहारो जायतेति तथाप्येतत् क्षेपकालेन्द्रादिवृद्धव्यवहारतत्पुराणादिसामग्रीमाश्रित्य तत्रैव
तद्व्यवहारस्य प्रसिद्धिः । तस्य महाभागधेयस्याष्टोत्तरसहस्रनामधेयेषु "श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः" इत्यादिषु
सकलसंज्ञाजीवातुत्वेन तस्यैव पुरस्कृतत्वात् । तथाप्यभिधानमाश्रित्य श्रीमच्छब्दस्य प्रजापतिश्रीपतिवापतिश्रीच-
नादिषु आप्ताभासेष्वपि व्यवहारसंभवात्, तेभ्यो नम इति स्यात्, तद्व्युदासाय विशेषणमाह—सकलेति । सकलं
सर्वद्रव्यपर्यायगतं च तज्ज्ञानं च सकलज्ञानं केवलज्ञानमिति यावत्, 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति सूत्रणात् ।
तदेवाभेदेन चक्रवर्तित्वपदव्याख्यायते सकलज्ञानमेव साम्राज्यपदं सकलज्ञानसाम्राज्यपदं तथा तेनाभेदेन
सकलज्ञानस्य निरूपणेन लोकोत्तरत्वातिदुर्लभत्वजगत्सारत्वादितन्माहात्म्यस्य लोकेऽपि प्रकटनप्रयोजनस्य
सुघटत्वात् । तदीयुषे जगमुषे, प्राप्तवते किल । अनेन तद्व्युदासः कथमिति चेत् ? अन्तर्बहिर्वस्तुनः कथंचित्
द्रव्यपर्यायात्मकस्य मुनिश्चितसंभवद्वाधकप्रमाणेन अस्तित्वसाधनात् । सर्वथा द्रव्यमात्रस्य पर्यायमात्रस्य वा
सर्वथा विमिश्रतद्रव्यस्य अमिश्रतद्रव्यस्य वा मुनिश्चितसंभवरसाधकप्रमाणेन रूपव्यवस्थास्तिरसिद्धेः ।

"अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्रान्यतरत्त्वपुष्पम्" इति समस्तभद्रस्वामिबचनात् । तथा चार्था-
भासग्राहिणां आप्ताभासानां सर्वज्ञाभासत्वेन तेषां सकलज्ञानेत्यादिना व्युदासात् । न च तैरुपचरितसर्वज्ञैः
परमार्थसर्वज्ञस्य व्यभिचारः, अतिवर्णनात् । येनाभिधानसिद्धश्रीमद्व्यवहारेण तेभ्योऽपि नमः स्यात् । तथापि
सिद्धपरमेष्ठिनानेकान्तः तस्यापि केवलास्थाभकेवलां ध्रियमनुभवतः श्रीमत्सकलज्ञान इत्यादिविशेषणसद्भावात् ।

वह उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके चक्र अर्थात् समूहको धारण करते हैं। उपाध्याय परमेश्वरके पक्षमें 'भर्त्रे' पदका अर्थ उपाध्याय किया जाता है; क्योंकि वह अज्ञानान्धकारसे दूर हटाकर सम्यग्ज्ञानरूपी सुधाके द्वारा सब जीवोंका भरण-पोषण करते हैं और साधु परमेश्वरके पक्षमें 'संसारभीमुषे' शब्दका अर्थ साधु लिया जाता है क्योंकि वह अपनी सिंहवृत्तिसे संसार-सम्बन्धी भयको नष्ट करनेवाले हैं।

इस श्लोकमें जो 'श्रीभर्त्रे' आदि पद हैं, उनमें जातिवाचक होनेसे एकवचनका प्रत्यय लगाया गया है अतः भूत भविष्यन् वतमान कालसम्बन्धी समस्त तीर्थकरोंको भी इसी श्लोक-से नमस्कार सिद्ध हो जाता है। भरत चक्रवर्तीके पक्षमें इस प्रकार व्याख्यान है—जो नवनिधि और चौदह रत्नरूप लक्ष्मीका अधिपति है, जो सकलज्ञानवान् जीवोंके संरक्षणरूप साम्राज्य-पदको प्राप्त है, (सकलाश्च ये ज्ञाश्च सकलज्ञाः, सकलज्ञानाम् असं जीवनं यस्मिंस्तत् तथाभूतं यत्साम्राज्यपदं तद् ईयुषे) जो पूर्व जन्ममें किये हुए धर्मके फलस्वरूप चक्ररत्नको धारण करता

“सिद्धो लोकोत्तराभिर्यां केवलाख्यामकेवलाम् । अनूपमामन्तां तामनुबोभूयते ध्रियम् ॥” इति वादीप्रसिद्धेनोक्तत्वात् ।

तथा च प्रतिज्ञाज्ञानिः जीवन्मुक्तस्यानाधिकृतत्वात् इत्यत्राह—धर्मचक्रेति । द्वितीयदिवसकराप्रतिबिम्ब-विम्बशङ्काकरगाव्वलदर्मचक्रायुधं विभति धर्मचक्रभूत् “स्फुरदरसहस्रसुहृद्विर” इत्यादि प्रवचनात् “धर्मचक्रा-युधो देवः” इति वचनाच्च, तस्मै । जीवन्मुक्तस्यैव धर्मचक्रायुधेन योग इति प्रकृतार्थस्यैव स्वीकरणात् । अनेन तद्विनाभूतं समवसरणादिकमप्युपलक्षितम् । अथवा विशेष्यस्य उभयलक्ष्मीरमणत्वस्य व्यावर्णनया एतद्वयं संभवद्विशेषणं “सम्भवव्यभिचारार्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्” इति न्यायात् ।

किं च सकलज्ञानसाम्राज्यपदप्राप्तिः कस्यायुधस्य धारणयेत्यत्र धर्मेति । धर्मः चरित्रम् “चारित्तं खलु धर्मो” इति कुन्दकुन्दस्वामिभिरुक्तिरिति । तदत्र प्रकरणत्वात् यथाख्यातचारित्र्यं तदेव धर्ममिव चक्रं दुर्जयवातिकर्मारिनिर्जयेन सकलसाम्राज्यपदप्राप्तिहेतुत्वात् । तदसदा विभति इति धर्मचक्रभूत् तस्मै, अनेन यथाख्यातचारित्र्यस्य धातिकर्मारिनिर्जयेन सकलज्ञानसाम्राज्यपदप्राप्तेः साध्यसाधनभावः कथंविधिरतिशयं सानुग्राहकत्वं बोधोक्तम् ।

ननु निरतिशयं परानुग्राहकेणापि भवितव्यम् । यतः तन्नमस्कारः पङ्फुलीतीत्यत्राह—भर्त्रे इति । विश्वं जगत् विभति पुष्पात्येवशीलो भर्ता तस्मै भर्त्रे विद्वदस्य जगतः स्वामिने पोषणनिरताय, अनेन अपारानुग्रह-शीलत्वमुक्तम् । कुतोऽयं निरतिशयं पराननुगृह्णातीति निश्चयः ? इत्यत्रोत्तरयति “संसारंति” । अत्र “गुरवो राजमाषा न भक्षणोयाः” इत्यादिवात् संसारिणां संसारभीमुदत्वादिहेतुगर्भविशेषणेन उत्तरमिति निर्णयः । स्वभर्तृत्वस्य स्वसंसारभीमुदत्त्वस्य च प्रागुक्तविशेषणवृत्त्येनैव व्यज्यमानत्वात् । शुभात्पावननमरणादिनानाघोर-दुःखानामाकरः संसारः भव इति यावत् । “सुतूष्णाश्वासकासज्वरमरणजरारिष्टयोगप्रमोहव्यापस्याद्युग्रदुःख-प्रभवभवहृते”रिति पूज्यवादेनिगदित्वात् । तस्माद्भूः तां मुष्णाति लुण्ठयतीति संसारभीमुद् तस्मै । अत्र संसारिणां संसारभयलुण्ठाकत्वव्यावर्णनया निरायासेन संसारभयापहरणदक्षचातुर्यातिशयः प्रकाशितः तीर्थकर-सत्कर्मणः तस्य तादृशविधातिशयस्य दुर्वारसंसारविच्छेदोपायनियुक्तदिव्यवृत्तिप्रवर्तनामात्रेणैव संसिद्धेः । तदेवं विश्वविद्यापरमेश्वरस्य विश्वस्य जगतः सम्यक् समुद्धरणपाण्डित्यपराकाष्ठामधिष्ठितस्य परमात्मस्यादिब्रह्मणः पारमेश्वर्यं चतुरलौकिकजनेऽपि प्रथयितुं श्रीमत्साम्राज्यपदचक्रभूत् भर्तृभीमुदपदप्रयोगसामर्थ्याद्भरतचक्रधर-वदिवीव श्रुतेरभावाच्च व्यङ्ग्यतया भरतचक्रधरेणोपमालङ्कारः प्रयते । तथा हि—यथाभूतसंरक्षणादिज्ञात्रधर्मस्य रक्षितयक्षसहस्रचक्ररत्नस्य च धारणया धर्मचक्रभूत् भरतचक्रवर्ती ।

है, (धर्मेण-पुराकृतसुकृतेन प्राप्तं यच्चक्रं तद् विभर्तीति तस्मै) जो, षट्खण्ड भरतक्षेत्रकी रक्षा करनेवाला है और जिसने संसारके जीवोंका भय नष्ट किया है अथवा षट्खण्ड भरतक्षेत्रमें सब ओर भ्रमण करनेमें जिसे किसी प्रकारका भय नहीं हुआ है (समन्तात् सरणं भ्रमणं संसारस्तस्मिन् भियं मुष्णातीति तस्मै) अथवा जो समीचीन चक्रके द्वारा सबका भय नष्ट करनेवाला है (अरैः सहितं सारं चक्ररत्नमित्यर्थः, सम्यक् च तत् सारञ्च संसारं तेन भियं मुष्णातीति तस्मै) ऐसे तद्व्यमोक्षगामी चक्रधर भरतको नमस्कार है ।

बाहुचलीके पक्षमें निम्न प्रकार व्याख्यान है—जो भरत चक्रधरको त्रिविध युद्धमें परास्त कर अद्भुत शौर्यलक्ष्मीसे युक्त हुए हैं जो धर्मके द्वारा अथवा धर्मके लिए चक्ररत्नको

अथवा कैवल्यालयप्रये निवेदिते धर्ममेव बहु मन्वाना कैवल्यपूजा विधाय 'संचितधर्मा तदनुचक्रं पूजयामासेति' स्मृतेर्धर्मदिनन्तरं चक्ररत्नं विभर्ति-पुष्पाति-पूजयति-धरतीति वा धर्मचक्रभूदिति भरत एव प्रोच्यते । स च सम्यग्दर्शनादिरूपधर्मसम्पत्त्या नवनिष्ठादिजनितार्थसम्पत्त्या सुभद्रमहादेव्यादिवस्तु कृतकाम-सम्पत्त्या "श्रीमान्" आदिवस्तुपदिष्टकलासहितज्ञानपदप्राप्त्या साम्राज्यपदप्राप्त्या च सकलज्ञानसाम्राज्यपद-माप्तवान् षट्खण्डभूमण्डलस्वामित्वेन भर्ता संक्षोभेण सारयन्ति इतस्ततो गमयन्ति जनान् इति निजन्तात्कर्तारि मार्गदर्शकः संसारभोमुद्-जननायाः नमस्याश्रयो भवति । तथा सद्धमेचक्रवर्तित्वेन चक्रभूदयं आदित्येश्वरः, बहिरङ्गलक्ष्म्या संयुक्तत्वेन अन्तरङ्गलक्ष्मोभिनित्ययुक्तत्वेन श्रीमान् गणधराहमिन्द्रदेवेन्द्रचक्रवर्त्यादिप्रार्थनीयं सकलज्ञानसाम्राज्यपदमधि-तिष्ठन् त्रिवर्गतो भर्ता जनताया आजर्वजवदस्पृमयलुण्ठकत्वेन संसारभोमुद्-अनन्तानन्तसुखदायकस्य महा-पुरुषस्य नमस्याश्रयो न स्याद् इति ।

अथवा षट्खण्डभर्तृचक्रधरात्रिजगत्स्वामिनः श्रीमत इत्यादिषु सर्वत्राधिकायात् व्यतिरेकालङ्कारो वा ध्वन्यते, सादृश्यमाश्रयेण प्रागुक्तनालङ्कारस्य प्रकाशितत्वात् । तन्वेवैविधप्रथमानुयोगमहाशास्त्रस्यादौ पञ्चपर-मेष्ठिनां नमस्कारं भगवानाचार्यः कृतो नाङ्गीचकार भूतबलिभट्टारकैर्महाकर्मप्रकृतिप्राभूतव्यानुयोगमहाशास्त्र-स्यावावनादिसिद्धपञ्चमहाणवदैः पञ्चपरमेष्ठिनां नमस्कारकरणादित्याकाङ्क्षायां श्रीमदित्यादि पञ्चपरमै-प्रदीपाः पञ्चपरमेष्ठिनां प्रकाशकत्वेन नमः शिष्या प्रखलन्तीत्याह श्रीमत इत्यादि "श्रीमते नमः" । एवं सर्वत्र संबद्धव्यम् । श्रीरार्हन्त्यमहिमाघातिकर्मारिनिर्जयप्रादुर्भूतनवकेवललक्ष्म्याद्यात्मा 'श्रीरार्हन्त्यमहिमेति' न्यासकार-वचनात् । साऽस्यास्तीति श्रीमान् तस्मै श्रीमते नमः, अर्हते नमः, 'णमो अरहताणं' इति यावत्—

"कैवल्यगणदिव्यारकिरणकलावप्यणासिअण्णाणो । नवकेवललदुग्गमसुजणियपरमप्पवण्णो ।"

इत्यर्हलक्षणप्रतिपादकप्रवचनसङ्गात् । अनन्तानन्तस्वविभागेः संपूर्णत्वात् सकलं तच्च तज्ज्ञानं च सकलज्ञानम् उपलक्षणात् सम्यग्दर्शनादिसप्तगुणानां ग्रहणं ततस्तत्सहितं तदेव साम्राज्यपदं गुणाष्टक-साम्राज्यपदमिति यावत् । अथवा सकलेश्वरैरशेषैरकार्थसमवायिभिः आधिकसम्यग्दर्शनादिसप्तगुणैः सहितं च तज्ज्ञानं च सकलज्ञानं तदेव साम्राज्यपदम् । अथवा सकलज्ञानामनन्तानन्तानां सर्वज्ञानाम् आनः प्राणनं विशुद्धचैतन्यमयभावप्राणैर्जीवगमनेति सकलज्ञानः तनुवातस्त्वेवमुच्यते तदेव साम्राज्यपदं सकलज्ञान-साम्राज्यपदं तदीयविषये प्राप्तवन्ते नमः भिद्वारमेष्ठिने नमः 'णमो सिद्धाणमिति' यावत् । "अद्भुता किदकिष्वा लोयगणिसिणो सिद्धा" इति प्रवचनात् । स्वयमाचरन्, धर्मः सम्यग्दर्शनाचारादिपञ्चाचार्येणायं चक्रं त्रिदशगणं विभर्तीति धर्मचक्रभूत् गणधर आचार्यवृषभः तस्मै धर्मचक्रभूते नमः आचार्यपरमेष्ठिने नमः 'णमो आहरियाणमिति' यावत् । "पञ्चमुत्तमं स्वयं ये आचारानाचरन्तः परमकरुणयाचारयन्ते मुमुक्षून् लोकाग्रग-धारणान् गणधरवृषभान्" इत्याशाधरैर्निरुपणात् । पञ्चसप्ततत्त्वादीनां सदोपदेशेनैव मुमुक्षून् विभर्ति

धारण करनेवाले भरतके स्तवन आदिसे केवलज्ञानरूप साम्राज्यके पदको प्राप्त हुए हैं। एक वर्षके कठिन कार्यात्सर्गके बाद भरतद्वारा स्तवन आदि किये जानेपर ही बाहुबली स्वामीने निःशल्य हो शुक्लध्यान धारण कर केवलज्ञान प्राप्त किया था। जो ईभर्त्रे- (इध्वासौ भर्ता च तस्मै) कामदेव और राजा दोनों हैं अथवा ईभर्त्रे (या भर्ता तस्मै)- लक्ष्मीके अधिपति हैं और कर्मबन्धनको नष्ट कर संसारका भय अपहरण करनेवाले हैं ऐसे श्री बाहुबली स्वामीको नमस्कार हो।

इस पक्षमें श्लोकका अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—श्रोमते, धर्मचक्रभृता, सकल-ज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे, संसारभीमुषे, ईभर्त्रे, नमः।

वृषभसेन गणधरके पक्षमें व्याख्यान इस प्रकार है। श्रोमते यह पद चतुर्थ्यन्त न होकर सप्तम्यन्त है—(श्रिया—स्याद्वादलक्ष्म्या उपलक्षितं मतं जिनशासनं तस्मिन्) अतएव जो स्याद्वादलक्ष्मीसे उपलक्षित जिनशासन—अर्थात् श्रुतज्ञानके विषयमें परोक्ष रूपसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके साम्राज्यको प्राप्त हैं, जो धर्मचक्र अर्थात् धर्मोंके समूहको धारण करनेवाले हैं—पदार्थोंके अनन्त स्वभावोंको जाननेवाले हैं, मुनिसंघके अधिपति हैं

पुष्पातीत्येवंशीलो भर्ता तस्मै भर्त्रे नमः उवाच्यायपरमेष्ठिने नमः 'णमो उवज्जायाणमिति' यावत् । 'जो रमण-सद्युक्तो निज्जं धम्मोवदेसणे णिरदो । सो उवज्जाओ अप्पा जघिबरउसहो णमो तस्स' इत्यागमात् । सद्धानिनीनः सन् दर्शनज्ञानसमग्रभावमोक्षस्य साधकतमं विशुद्धचारित्रं नित्यं साधयन् यतोन्द्रो भावसंसारभिमं मुष्पातीति संसारभीमुट् तस्मै संसारभीमुषे नमः साधुपरमेष्ठिने नमः 'णमो लोए सव्वसाहूणमिति' यावत् । 'इक्षणाणसमगं ममं मोक्षस्स जोहु चारित्तं । साहयदि मुद्धणिच्चं साहू स मुणी णमो तस्स ॥' इति प्रवचनात् । अत्र—इतरपदवत् चतुर्थीविभक्त्यन्तत्वेन पदत्वं हित्वा सकलज्ञानसाम्राज्यपदमिति व्यासवचनं तु सतमहृतिशायज्ञापनार्थं प्रतिज्ञावचनमाचार्यस्येति ब्रूमः । तथाहि सकलतत्त्वव्यवस्थाजीवातुस्याद्वादामोषलाञ्छन-काञ्चित्तत्वेन, सर्वबाधाविधुरसाधनसाधितत्वेन सर्वोदयवत्त्वेन च श्रीमदहंमेतं तीर्थं श्रीमतं "सर्वोदयं तीर्थमिदं-तर्क्य" इति युक्तरनुशासनात् । तस्मिन् श्रीमत एव सकलज्ञानसाम्राज्यपदं श्रीमत्त्वान्वयानुपपत्तेरिति । तदीयुषे इति संबन्धः । अत्र पुराणे न केवलमादितीर्थकरः भरतधर्मचक्रभृच्छलाकापुष्पश्च प्रतिपाद्यत इति प्रकाशितः । आरदानश्रेयोनुपतिप्रभृतिधार्मिकोत्तंसो जनोऽपीति प्रतिपाद्यार्थं प्रकाशयति—श्रीमत इति । श्रीमतिपर्यायोऽस्यास्तीति धीमतः "अध्मादिम्यः" इत्यद्विधानात् दानश्रेयो नृपतिरित्यर्थः तस्य श्रीमतिचरत्वात् तस्मिन् सति सकलज्ञान-साम्राज्यपदमीयुषे इति संबन्धः इत्यनेन नानाकथासंख्यो दानतीर्थकरश्च प्रतिपाद्य इति प्रकाशितः ।

"जोयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः श्रेमान् नृपश्च कुट्तोन्नगूहप्रदीपः ।

याम्यां बभूवतुरिह द्रतदानतीर्थे सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे ॥"

इति दानतीर्थकरत्वप्रसिद्धेः । किं च सर्वपादाद्यस्तराणां पठनेन श्रीसाधनमिति प्रयोजनप्रतिपादनातिशयः सद्धर्मलक्ष्म्या प्रेक्षावद्भिरवगन्तव्य इत्युपरम्पते । अत्रैव पुनः प्रेक्षावतामानन्दकन्दल्यां नान्द्यां श्रीमद्वेणुपुरभयजनं संशोधमश्राचार्यः प्रवृत्तरेण सद्धर्मसर्वस्वरहस्यमश्रैवेत्यन्तर्लापित्वेन दृढयज्ञाशिषमाहु—श्रीमत इति । लक्ष्म्यां वा मतिर्यस्य असौ श्रीमतिः तस्य संबुद्धिः श्रीमते ! ओ ओ भरतसौधर्मोधिपतिदुर्लभकलियुगजैनमार्गप्रभाव-भासंतोषितसोधमेन्द्रलोकान्तिकेन्द्रविदेहचक्रोन्द्रसालुविम्मणिदेवेन्द्र ! अम्पुदयनिश्चयेयसलक्ष्मीस्वसात्करणलोलुप-मुदे । सकलज्ञानसाम्राज्यपदं इवेति जिज्ञासायां श्रीमत एव अहंछासन एव तस्मिन् सति सकलज्ञानसाम्राज्य-पदमीयुषे धर्मचक्रभृते भर्त्रे संसारभीमुषे श्रीमते आदीपवराय अथवा पार्श्वतीर्थकृत्सम्मुखोन्त्वादि प्रकरणबलात् भुवं धरतीति धर्मो धरणीन्द्रस्तं चक्राकारेण वलयाकारेण समीपे बिभर्तीति धर्मचक्रभृत् पार्श्वतीर्थकरः तस्मै शेषविशेषणविशिष्टाय श्रीमत्पार्श्वतीर्थकृते नमस्कृत्य यतस्ते सुरासुरेन्द्रमुकुटतटगतदिव्यमणिकिरणजालबाला-तपकवचितचाचरणारविन्दतीर्थकरपरमदेवनिरतिशयकल्याणपरम्परा स्यादिति सर्वं समन्ततो भद्रम् ।

नमस्तमःपटञ्जलजगदुद्योतहेतवे । जिनेन्द्रांशुमते^१ तन्वत्प्रमोभाभारभासिने ॥२॥
जयत्यजत्यमाहास्यं^२ विशा^३सितकुशासनम् । शासनं जैनमुद्भासि^४ मुक्तिलक्ष्म्येकशासनम् ॥३॥
रत्नत्रयमयं जैनं^५ जैक्रमस्त्रं जयत्यदः । येनाध्याजं^६ व्यजेष्टादन् दुरितारातिबाहिनीम् ॥४॥
यः साम्राज्यमधःस्थायि गीर्वाणाधिपतिः^७ । तृणाय^८ मन्थनाय^९ सत्पुत्राय^{१०} भ्रातृकृष्णाय^{११} पुत्राय^{१२} ॥५॥
यमनुप्राप्तवान् भूरि सहस्राणि महीक्षिताम् । इक्ष्वाकुभो^{१३} जमुष्यानां स्वामिमक्यैव केवलम् ॥६॥
कच्छाद्या यस्य सद्रुतं निर्वोद्धमसहिष्णवः । वसानाः^{१४} पर्णवस्त्राणान् वन्याः^{१५} भृत्तिं प्रपेदिरे ॥७॥
^{१३}अनाश्वान्यस्तपस्तेपे^{१४} चरं सोढ्वा परीषहान् । सर्वं सहस्रमाध्याय^{१५} निर्जरासाधनं परम् ॥८॥

और अपने सदुपदेशोंके द्वारा संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं ऐसे वृषभसेन गणधरको नमस्कार हो ।

“भुवं धरतीति धर्मो धरणीन्द्रस्तं चक्राकारेण यलथाकारेण समीपे त्रिभर्तीति धर्म-चक्रभृत् पार्श्वतीर्थंकरः तस्मै” । उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार ‘धर्मचक्रभृते’ शब्दका अर्थ पार्श्वनाथ भी होता है अतः इस श्लोकमें भगवान् पार्श्वनाथको भी नमस्कार किया गया है । इसी प्रकार जयकुमार, नारायण, बलभद्र आदि अन्य कथानायकोंको भी नमस्कार किया गया है । विशेष व्याख्यान संस्कृत टिप्पणसे जानना चाहिए । इस श्लोकके चारों चरणोंके प्रथम अक्षरोंसे इस ग्रन्थका प्रयोजन भी ग्रन्थकर्ताने व्यक्त किया है—‘श्रीसाधन’ अर्थात् कैवल्यलक्ष्मीको प्राप्त करना ही इस ग्रन्थके निर्माणका प्रयोजन है ॥१॥

जो अज्ञानान्धकाररूप ब्रह्मसे आच्छादित जगत्को प्रकाशित करनेवाले हैं तथा सब ओर फैलनेवाली ज्ञानरूपी प्रभाके भारसे अत्यन्त उद्भासित-शोभायमान हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र-रूपी सूर्यको हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥ जिसकी महिमा अजेय है, जो मिथ्यावृत्तियोंके शासन-का खण्डन करनेवाला है, जो नय प्रमाणके प्रकाशसे सदा प्रकाशित रहता है और मोक्षलक्ष्मी-का प्रधान कारण है ऐसा जिनशासन निरन्तर जयवन्त हो ॥३॥ श्री अरहन्त भगवान्ने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुओंकी सेनाको सहज ही जीत लिया था ऐसा जयनशोल जिनेन्द्र-प्रणीत रत्नत्रयरूपी अस्त्र हमेशा जयवन्त रहे ॥४॥ जिन अप्रपुरुष-पुरुषोत्तमने इन्द्रके वैभवको तिरस्कृत करनेवाले अपने साम्राज्यको तृणके समान तुच्छ समझते हुए मुनिदीक्षा धारण की थी, जिनके साथ ही केवल स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर इक्ष्वाकु और भोजवंशके बड़े-बड़े हजारों राजाओंने वीक्षा ली थी, जिनके निर्दोष चरित्रको धारण करनेके लिए असमर्थ हुए कच्छ महाकच्छ आदि अनेक राजाओंने वृक्षोंके पत्ते तथा छालको पहिनना और घनमें पैदा हुए कन्द-मूल आदिका भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया था, जिन्होंने आहार पानीका त्यागकर सर्वसहा पृथिवीकी तरह सब प्रकारके उपसर्गोंके सहन करनेका हृदय विचार कर अनेक परीषद् सहे थे तथा कर्मनिर्जराके मुख्य कारण तपको चिरकाल तक तपा था, चिरकाल तक तपस्या करनेवाले जिन जिनेन्द्रके मस्तकपर बड़ी हुई जटाएँ ध्यान-

१. तत्त्वप्रमाभा-अ०, प०, स०, द०, ल० । २. प्रकृष्टज्ञानम् । ३. तन्व्यविशा-स० । ४. विनाशित । ५. मुक्तिलक्ष्म्या एकमेव शासनं यस्मात् तत् । ६. जिनस्येदम् । ७. परावर्जेरिति सूत्रादात्मनेपदी । ८. तृणं मन्थमानः ‘मन्थस्योकाकादिषु यतोऽवज्ञा’ इति चतुर्थी । ९. येन सह । १०. भोजवंशः । ११. परिदधानाः । १२. जीवन्तम् । १३. अनघनवान् । १४. अत्र तपस्तपसि, तपेर्वातोः कर्मवत् कार्यं भवति । तपसि कर्मभोरया-त्मनेपदी । १५. आलम्ब्य विमृश्य वा । आधाय द०, स० ।

श्रेयसि^३ प्रयते दानं यस्मै दत्त्वा प्रसेदुषि^४ । पञ्चरत्नमयीं वृद्धिं ववृषुः सुखारिदाः ॥११॥

येनाभ्यधासि सत्कर्मः कर्मरातिनिवर्हणः । सत्सरोमुखाभ्योजनवर्धाधिलिमालिना ॥ १३ ॥

यस्मात् स्वान्वयमाहात्म्यं शुश्रुवान् भरतात्मजः^३ । सलीलमनट्या^४रुच्यञ्च^५वीरवल्कलः^६ ॥ १४ ॥

तमादिदेवं तामेयं वृषभं वृषभध्वजम् । प्रणौमि ^१प्रणिपत्याहं ^२प्रणिधाय सुहृद्गुहः ॥१५॥

अजितादीन् महावीरपर्यन्तान् परमेश्वरान् । जिनेन्द्रान्^{१२} पर्युपासेऽहं धर्मसाम्राज्यनायकान् ॥ १६ ॥

सकलज्ञानसाम्राज्ययौवराज्यपदे स्थितान् । ^{१३} तोष्टुषीमि गणाधीशानाससंज्ञानकण्टिकान् ॥ १७ ॥

अनादिनिधनं तुल्यमनल्पकलदायिनम् । ^{१४}उपाध्वं विपुलच्छाद्यं ^{१५}श्रुतस्कन्धमहाद्वयम् ॥१८॥

इत्यामास्तयचः^{१३} स्तोत्रैः^{१४} कृतमङ्गलसत्क्रियः । पुराणं^{१५} संग्रहोऽस्यामि त्रिषष्टिपुरुषाश्रितम् ॥१९॥

तीर्थे वसामपि चक्रे श हलिनाम्बं चक्रिणाम् । शिष्यलक्षणं वक्ष्ये पुराणं तद्दिद्विषामपि ॥२०॥

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात् । महानिरुपदिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात् ॥ २३ ॥

रूपी अग्निसे जलाये गये कर्मरूप ईधनसे निकलती हुई धूमकी शिखाओंके समान शोभायमान होती थीं, मर्यादा प्रकट करनेके अभिप्रायसे स्वेच्छापूर्वक चलते हुए जिन भगवान्को देख-कर सुर और असुर ऐसा समझते थे मानो सुवर्णमय मेरु पर्वत ही चल रहा है, जिन भगवान्को हस्तिनापुरके राजा श्रेयासके दान देनेपर देयरूप मेघोंने पाँच प्रकारके रत्नोंकी वर्षा की थी, कुछ समय बाद घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको पराजित कर देनेपर जिन्हें लोका-लोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति प्राप्त हुई थी, जो सभारूपी सरोवरमें बैठे हुए भव्य जीवोंके मुखरूपी कमलोंको प्रकाशित करनेके लिए सूर्यके समान थे, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मका उपदेश दिया था, और जिनसे अपने वंशका माहात्म्य सुनकर बल्कलोंको पहिने हुए भरतपुत्र मरोचिने लीलापूर्वक नृत्य किया था। ऐसे उन नाभिराजाके पुत्र वृषभचिह्नसे सहित आदिदेव (प्रथम तीर्थंकर) भगवान् वृषभदेवको मैं नमस्कार कर एकाम्र चित्तसे बार-बार उनकी स्तुति करता हूँ ॥५-१५॥ इनके पश्चात्, जो धर्मसाम्राज्यके अधिपति हैं ऐसे अजितनाथको आदि लेकर महावीर पर्यन्त तेईस तीर्थंकरोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥१६॥ इसके बाद, केवलज्ञानरूपी साम्राज्यके युवराज पदमें स्थित रहनेवाले तथा सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरणको प्राप्त हुए गणधरोंकी मैं बार-बार स्तुति करता हूँ ॥१७॥ हे भव्य पुरुषो ! जो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आदि और अन्तसे रहित है, उन्नत है, अनेक फलोंका देनेवाला है, और विस्तृत तथा सघन छायासे युक्त है ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी वृक्षकी उपासना करो ॥१८॥ इस प्रकार देव गुरु शास्त्रके स्तवनोंद्वारा मङ्गलरूप सत्क्रियाको करके मैं त्रैसठ शलाका (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र) पुरुषोंसे आश्रित पुराणका संग्रह करूँगा ॥१९॥ तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और उनके शत्रुओं—प्रतिनारायणोंका भी पुराण करूँगा ॥२०॥ यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता

१. कर्मध-द० । एष इष्यन्म् । २. प्रकटता । ३. पवित्रे । ४. प्रसन्ने सति । ५. उत्पन्नम् । पदः 'पदः कर्तरि लुङि तेजिनित्यं भवति विः ।' ६. मरीचिः । ७. कन्यारूपवल्कलः । ८. -वल्कलम् अ० । ९. 'यु स्तुतो' । १०. प्रह्लो भूत्वा । ११. घ्यात्वा । १२. आराधये । १३. मृणं पुनः पुनः स्तोमि । १४. आराधयध्वम् । १५. पक्षं विपुलदयम् । १६. परापरगुरु-तत्त्वचनम् । १७. संक्षेपं करिष्ये ।

^१ कवि पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुराणता । महत्त्वं स्वमहिम्नैव ^२ तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते ^३ ॥२२॥

महापुरुषसंबन्धि महाभ्युदयशासनम् । महापुराणमास्मान्मतं पुराणमहर्षिभिः ॥२३॥

ऋषिप्रणीतमार्गं स्यात् सूक्तं सूततशासनात् । धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति ^४ स्मृतम् ॥२४॥

^५ इतिहास इतीष्टं तद् इति हासोदिति श्रुतेः । ^६ इतिवृत्तमपैतिह्यमाज्ञायं चामनन्ति ^७ तत् ॥२५॥

पुराणमितिहासाख्यं यन्प्रोवाच गणाधिपः । तत्किलहमधीर्वक्ष्ये केवलं भक्तिसोदितः ^८ ॥२६॥

पुराणं गणभूयोक्तं मार्गैर्वर्द्धितं सहाजम् । ^९ इतिहासमप्येतिहास्यं ^{१०} पुनर्वैरासमुद्धतम् ॥२७॥

क गम्भीरः पुराणाधिपः क माहबोधदुर्बिधः ^{११} । सोऽहं महोदधि शोभ्यां त्रितीर्षुर्वामि हास्यताम् ॥२८॥

अथवास्त्वेतदप्योऽपि यद्धटेऽहं स्वशक्तितः । लूनबालधिरन्युक्ता किं नोत्पुच्छयते तराम् ॥२९॥

गणाधोशैः प्रणीतेऽपि पुराणेऽस्मिन्नहं यते ^{१२} । सिंहैरासेविते मार्गे गृगोऽन्धः ^{१३} केन वार्यते ॥३०॥

पुराणकविभिः क्षुण्णे ^{१४} कथामार्गेऽस्ति मे गतिः ^{१५} । पौरस्त्यैः शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेज्जनः ॥३१॥

है । इसमें महापुरुषोंका वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़नेसे महान् कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं ॥२१॥ 'प्राचीन कवियोंके आश्रयसे इसका प्रसार हुआ है इसलिए इसकी पुराणता—प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इसके साहाय्यसे ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं' ऐसा भी कितने ही विद्वान् महापुराणकी निरुक्ति—अर्थ करते हैं ॥२२॥ यह पुराण महापुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाला है तथा महान् अभ्युदय—स्वर्ग मोक्षादि कल्याणोंका कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं ॥२३॥ यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होनेके कारण आर्ष, सत्यार्थका निरूपक होनेसे सूक्त तथा धर्मका प्ररूपक होनेके कारण धर्मशास्त्र माना जाता है । 'इति इह आसीत्' यहाँ ऐसा हुआ—ऐसी अनेक कथाओंका इसमें निरूपण होनेसे ऋषि गण इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त' और 'ऐतिह्य' भी मानते हैं ॥२४-२५॥ जिस इतिहास नामक महापुराणका कथन स्वयं गणधरदेवने किया है उसे मैं मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्पज्ञानी हूँ ॥२६॥ बड़े-बड़े बैलों-द्वारा उठाने योग्य भारको उठानेकी इच्छा करने-वाले बछड़ेको जैसे बड़ी कठिनता पड़ती है वैसे ही गणधरदेवके द्वारा कहे हुए महापुराणको कहनेकी इच्छा रखनेवाले मुझ अल्पज्ञको पड़ रही है ॥२७॥ कहाँ तो यह अत्यन्त गम्भीर पुराणरूपी समुद्र और कहाँ मुझ जैसा अल्पज्ञ ! मैं अपनी मुजाओंसे यहाँ समुद्रको तैरना चाहता हूँ इसलिए अवश्य ही हँसीको प्राप्त होऊँगा ॥२८॥ अथवा ऐसा समझिए कि मैं अल्पज्ञानी होकर भी अपनी शक्तिके अनुसार इस पुराणको कहनेके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे कि कटी पूँछवाला भी बैल क्या अपनी कटी पूँछको नहीं उठाता ? अर्थात् अवश्य उठाता है ॥२९॥ यद्यपि यह पुराण गणधरदेवके द्वारा कहा गया है तथापि मैं भी यथाशक्ति इसके कहनेका प्रयत्न करता हूँ । जिस रास्तेसे सिंह चले हैं उस रास्तेसे हिरण भी अपनी शक्त्यनुसार यदि गमन करना चाहता है तो उसे कौन रोक सकता है ? ॥३०॥ प्राचीन कवियों-द्वारा क्षुण्ण किये गये—निरूपण कर सुगम बनाये गये कथामार्गमें मेरी भी गति

१. पुराणं कवि-द० । पूर्वकविम् । २. पुराणस्य । ३. निरूप्यते अ०, स०, द० । ४. कथितम् ।

५. उक्तम् । ६. इतिहासमिती-म०, ल० । ७. 'पारम्पर्योपदेशे स्मादैतिह्यमिति हास्यम्' इति वचनात्,

अथवा इतिवृत्तम् ऐतिह्यम् आम्नायश्चेति नामत्रयम् । ८. —मूषयो वामनन्ति स०, ल० । ९. कथयन्ति ।

१०. नोदितः द०, अ० । ११. वक्तुमिच्छोः । १२. बोधुमिच्छोः । १३. बालवत्सस्य । १४. दरिद्रः ।

१५. प्रयत्नं करोमि । १६. यान् अ०, प०, स०, ल०, म० । १७. संमदिते । १८. उपायः । १९. पुरोगमैः ।

महाकरीन्द्रसंमर्दविरलीकृतपादपे । वने वन्येभकलभाः सुलभाः स्वैरचारिणः ॥३२॥
महातिमिषु प्रोथपथी^१ कृतजलेऽर्णवे^२ । यथेष्टं पर्यटन्येव ननु पार्श्वानशावकाः ॥३३॥
महामटास्त्रसंपातनिरुद्धप्रतियोद्भूके^३ । मटमुबोऽपि निःशङ्कं वलगत्येव रणाङ्गणे ॥३४॥
तत्पुराणकवीनेव मत्वा हस्तावलम्बनम् । महतोऽस्य पुराणव्येस्तरणायोद्यतोऽस्यहम् ॥३५॥
महत्त्वस्मिन् पुराणाद्यर्थः^४ शाखाशततरङ्गके । स्वलितं यत्प्रमादान्मे तद् बुधाः श्रन्तुमर्हथ ॥३६॥
कविप्रमादजान् दोषानपास्यास्मान् कथासृजात् । सन्तो गुणान् जिघृक्षन्तु^५ गुणगृह्यो^६ हि सज्जनः ॥३७॥
सुभाषितमहारत्नसंभूतेऽस्मिन् कथाम्बुधौ ।^७ द्रोणप्रह्वाननाट्य यत्तत्त्वं सारसंग्रहे ॥३८॥
कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः । मणयः पद्मरागाद्या ननु काव्योऽपि मेम्बकः ॥३९॥
यद्वचोदर्पणे कृत्स्नं^८ वाङ्मयं प्रतिविम्बितम् । तान् कवीन् बहुमन्येऽहं किमन्यैः कविमामिभिः ॥४०॥
नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राजं सरस्वती । येषामद्या^९ कवित्वस्य^{१०} सूत्रपातायितं वचः ॥४१॥

हैं क्योंकि आगे चलनेवाले पुरुषोंके द्वारा जो मार्ग साफ कर दिया जाता है फिर उस मार्गमें कौन पुरुष सरलतापूर्वक नहीं जा सकता है ? अर्थात् सभी जा सकते हैं ॥३१॥ अथवा बड़े-बड़े हाथियोंके मर्दन करनेसे जहाँ वृक्ष बहुत ही विरले कर दिये गये हैं ऐसे वनमें जंगली हस्तियोंके बच्चे सुलभतासे जहाँ-तहाँ घूमते ही हैं ॥३२॥ अथवा जिस समुद्रमें बड़े-बड़े मच्छोंने अपने विशाल मुखोंके आघातसे मार्ग साफ कर दिया है उसमें उन मच्छोंके छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी इच्छासे घूमते हैं ॥३३॥ अथवा जिस रणभूमिमें बड़े-बड़े शूर-वीर योद्धाओंने अपने शस्त्र-प्रहारोंसे शत्रुओंको रोक दिया है उसमें कायर पुरुष भी अपनेको योद्धा मानकर निःशङ्क हो उठलता है ॥३४॥ इसलिए मैं प्राचीन कवियोंको ही हाथका सहारा मानकर इस पुराणरूपी समुद्रको तैरनेके लिए तत्पर हुआ हूँ ॥३५॥ सैकड़ों शास्त्रारूप तरङ्गोंसे व्याप्त इस पुराणरूपी महासमुद्रमें यदि मैं कदाचित् प्रमादसे स्वलित हो जाऊँ—अज्ञानसे कोई भूल कर बैठूँ तो विद्वज्जन मुझे क्षमा ही करेंगे ॥३६॥ सज्जन पुरुष कविके प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको छोड़कर इस कथारूपी अमृतसे मात्र गुणोंके ही ग्रहण करनेकी इच्छा करें क्योंकि सज्जन पुरुष गुण ही ग्रहण करते हैं । ॥३७॥ उत्तम-उत्तम उपदेशरूपी रत्नोंसे भरे हुए इस कथारूप समुद्रमें मगरमच्छोंको छोड़कर सार वस्तुओंके ग्रहण करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥३८॥ पूर्वकालमें सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ सो दोनोंमें कवि नामकी तो समानता है परन्तु अर्थमें उतना ही अन्तर है जितना कि पद्मराग मणि और काचमें होता है ॥३९॥ इसलिए जिनके वचनरूपी दर्पणमें समस्त शास्त्र प्रतिविम्बित थे मैं उन कवियोंको बहुत मानता हूँ—उनका आदर करता हूँ । मुझे उन अन्य कवियोंसे क्या प्रयोजन है जो व्यर्थ ही अपनेको कवि माने हुए हैं ॥४०॥ मैं उन पुराणके रचनेवाले कवियोंको नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमलमें सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियोंकी कवितामें सूत्रपातका कार्य करते

१. नासिका । २. अपन्याः पन्थाः कृतं पथोक्तं जलं यत्र । ३. जलार्णवे म०, अ०, प०, ल० ।
४. मटे । ५. मटजातिमात्रोपजीवी, तुच्छभट इत्यर्थः । ६. तत् कारणात् । सत्पु०—अ०, स०, द० ।
७. अवान्तरकथा । ८. गृहीतुमिच्छन्तु । ९. गुणगृह्या हि सज्जनाः प०, म०, ल० । गुणा एव गुह्या यस्यासौ ।
१०. दोषप्रहान् ल० । ११. तर्कामग्याकरणछन्दोऽकङ्कुरादिवाक्प्रपञ्चः । १२. —मन्यः कवित्वस्य अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । १३. सूत्रपतनायितम् ।

कवीनां तीर्थकृद्देवः^१ कितरां तत्र वर्ण्यते । विदुषां वाक्मलध्वंसि^२ तीर्थं यस्य^३ वचोमयम् ॥५२॥
 भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः । विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥५३॥
 कविस्वस्य परा सीमा वाग्विस्वस्य परं पदम् । गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽप्ययते न कैः ॥५४॥
 श्रीवीरसेन इत्यात्तमहारकपृथुप्रथः । स नः पुनातु पूतात्मा^४ कविचन्द्रारको^५ मुनिः ॥५५॥
 लोकचित्तं कविस्वं च स्थितं महारके द्वयम् । वाक्मिता^६ स्वाह्मिता^७ यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥
 सिद्धान्तोपनिबन्धानां^८ विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । सन्मनःसरसि स्थेयान् मृदुपादकुशेयम् ॥५७॥
 धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च विधुनिर्मलाम् । धवलीकृतनिशेधमुवनां^९ नक्षमीम्यहम् ॥५८॥
 जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमधोनिधिः । जयसेनगुरुः पातु बुधबुधराग्रणीः स नः ॥५९॥
 स पूज्यः कविमिलोके कवीनां परमेश्वरः ।^{१०} वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः^{११} समग्रहीत् ॥६०॥
 कवयोऽन्येऽपि सन्त्येव^{१२} कस्तानुद्देश्युमप्यलम्^{१३} । सत्कृता ये जगत्पूज्यास्ते मया मङ्गलार्थिना ॥६१॥
 त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः । येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रसिपद्यते ॥ ६२॥

सब ग्रन्थोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥५१॥ जो कवियोंमें तीर्थकरके समान थे अथवा जिन्होंने कवियों-
 को पथप्रदर्शन करनेके लिए किसी लक्षणग्रन्थकी रचना की थी और जिनका वचनरूपी
 तीर्थ विद्वानोंके शब्दसम्बन्धी दोषोंको नष्ट करनेवाला है ऐसे उन देवाचार्य-देवनन्दीका
 कौन वर्णन कर सकता है ? ॥५२॥ भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्योंके
 अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमें मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं ॥५३॥ वे
 वादिसिंह कवि किसके द्वारा पूज्य नहीं हैं जो कि कवि, प्रशस्त व्याख्यान देनेवाले और
 गमकों-टीकाकारोंमें सबसे उत्तम थे ॥५४॥ वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र
 करें जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार तथा काव्यस्वरूपके
 महान् ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणीके सामने औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं सुरगुरु बृह-
 स्पतिकी वाणी भी सीमित-अल्प जान पड़ती है ॥५५-५६॥ धवलादि सिद्धान्तोंके ऊपर अनेक
 उपनिबन्ध-प्रकरणोंके रचनेवाले हमारे गुरु श्रीवीरसेन भट्टारकके कोमल चरणकमल हमेशा
 हमारे मनरूप सरोवरमें विद्यमान रहें ॥५७॥ श्रीवीरसेन गुरुकी धवल, चन्द्रमाके समान निर्मल
 और समस्त लोकको धवल करनेवाली वाणी (धवलाटीका) तथा कीर्तिको मैं बार-बार नमस्कार
 करता हूँ ॥५८॥ वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें जो कि तपोलक्ष्मीके जन्मदाता थे, शास्त्र और
 शान्तिके भाण्डार थे, विद्वानोंके समूहके अग्रणी-प्रधान थे, वे कवि परमेश्वर लोकमें कवियों-
 द्वारा पूज्य थे जिन्होंने शब्द और अर्थके संग्रहरूप समस्त पुराणका संग्रह किया
 था ॥५९-६०॥

इन ऊपर कहे हुए कवियोंके सिवाय और भी अनेक कवि हैं उनका गुणगान तो
 दूर रहा नाम मात्र भी कहनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । मङ्गल प्राप्तिकी
 अभिलाषासे मैं उन जगत्पूज्य सभी कवियोंका सत्कार करता हूँ ॥६१॥ संसारमें वे ही पुरुष
 कवि हैं और वे ही चतुर हैं जिनकी कि वाणी धर्मकथाके अंगपनेको प्राप्त होती है अर्थात्

१. कवीनां तीर्थकृदित्यनेनैव वर्णनेनालम् । तत्र देवे अन्यत् किमपि अतिशयेन न वर्णनीयमिति भावः ।
 तदेव तीर्थकृत्त्वं समर्थम् । इतरमपराद्धमाह । २. अलम् । ३. वाक्मलम् । ४. वादिवृन्दा-स०, ६० ।
 ५. श्रेष्ठः । ६. वाग्विमनो स०, ६० । ७. अवाह्मिता अलीकृता । ८. व्याख्यानानाम् । ९. तां नमास्य-६० ।
 १०. शब्दः । ११. संग्रहमकरोत् । १२. नाममात्रेण कथयितुम् । १३. समर्थः ।

धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते । शेषा पापास्तवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥६३॥
 केचिन्मिथ्यादृष्टिः कविषु ग्रन्थनिर्माणे कलहं विधेयधर्मानुबन्धिनीतिः प्रीणनक्षमम् ॥६४॥
 अव्युत्पन्नतराः केचित् कविष्वथ कुतोद्यमाः । प्रयान्ति हास्यतां लोके मूका इव विवक्षवः ॥६५॥
 केचिदन्यवचोलेशानादाय कविमानिनः । छायामारोपयन्त्यन्यां वस्त्रेद्विव वणिग्मुखाः ॥६६॥
 संभोक्तुमक्षमाः केचित्सरसा^१ कृतिकामिनीम् । सहायान् कामयन्तं^२ ज्ञानकल्या^३ इव कासुकाः ॥६७॥
 केचिदन्यकृतैरर्थैः शब्दैश्च^४ परिवर्तितैः । प्रसारयन्ति काव्यार्थान्^५ प्रतिशिष्येव चाशिजाः ॥६८॥
 केचिदूर्णोऽज्ज्वालां वाणीं रचयन्त्यर्थदुर्बलाम् । जातुषी कण्ठिकेयासी छायासृच्छति नोच्छिखाम् ॥६९॥
 केचिद्वर्धमपि प्राप्य तद्योगपदयोजनैः^६ । न सतां प्रीणनायार्थं लुब्धा लब्धश्रियो यथा ॥७०॥
 यथेष्टं प्रकृताम्भ्राः केचिन्निर्ग्रहणाकुलाः । कवयो वत सीदन्ति कराक्रान्तकुटुम्बवत् ॥७१॥

जो अपनी वाणी-द्वारा धर्मकथाकी रचना करते हैं ॥६३॥ कविता भी वही प्रशंसनीय समझी जाती है जो धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखती है । धर्मशास्त्रके सम्बन्धसे रहित कविता मनोहर होने-पर भी मात्र पापास्तवके लिए होती है ॥६३॥ कितने ही मिथ्यादृष्टि कानोंको प्रिय लगनेवाले-मनोहर काव्यग्रन्थोंकी रचना करते हैं परन्तु उनके वे काव्य अधर्मानुबन्धी होनेसे-धर्म-शास्त्रके निरूपक न होनेसे-सज्जनोंको सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥६४॥ लोकमें कितने ही कवि ऐसे भी हैं जो काव्यनिर्माणके लिए उद्यम करते हैं परन्तु वे बोलनेकी इच्छा रखनेवाले गूंगे पुरुषकी तरह केवल हँसीको ही प्राप्त होते हैं ॥६५॥ योग्यता न होनेपर भी अपनेको कवि माननेवाले कितने ही लोग दूसरे कवियोंके कुछ वचनोंको लेकर उसकी छाया मात्र कर देते हैं अर्थात् अन्य कवियोंकी रचनामें थोड़ा-सा परिवर्तन कर उसे अपनी मान लेते हैं जैसे कि नकली व्यापारी दूसरोंके थोड़े-से कपड़े लेकर उनमें कुछ परिवर्तन कर व्यापारी बन जाते हैं ॥६६॥ शृंगारादि रसोंसे भरी हुई-रसीली कवितारूपी कामिनीके भोगनेमें-उसकी रचना करनेमें असमर्थ हुए कितने ही कवि उस प्रकार सहायकोंकी बांछा करते हैं जिस प्रकार कि स्त्रीसंभोगमें असमर्थ कामीजन ओषधादि सहायकोंकी बांछा करते हैं ॥६७॥ कितने ही कवि अन्य कवियों-द्वारा रचे गये शब्द तथा अर्थमें कुछ परिवर्तन कर उनसे अपने काव्यग्रन्थोंका प्रसार करते हैं जैसे कि व्यापारी अन्य पुरुषों-द्वारा बनाये हुए मालमें कुछ परिवर्तन कर अपनी छाप लगा कर उसे बेचा करते हैं ॥६८॥ कितने ही कवि ऐसी कविता करते हैं जो शब्दोंसे तो सुन्दर होती है परन्तु अर्थसे शून्य होती है । उनकी यह कविता लाखकी बनी हुई कंठीके समान उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त नहीं होती ॥६९॥ कितने ही कवि सुन्दर अर्थको पाकर भी उसके योग्य सुन्दर पदयोजनाके बिना सज्जन पुरुषोंको आनन्दित करनेके लिए समर्थ नहीं हो पाते जैसे कि भाग्यसे प्राप्त हुई कृपण मनुष्यकी लक्ष्मी योग्य पद-स्थान योजनाके बिना सत्पुरुषोंको आनन्दित नहीं कर पाती ॥७०॥ कितने ही कवि अपने इच्छानुसार काव्य बनानेका प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु शक्ति न होनेसे उसकी पूर्ति नहीं कर सकते अतः वे टैक्सके भारसे बड़े हुए

१. तुरित्यव्ययमवधारणार्थे वर्तते । २. स्वरसात् ह० । सामर्थ्यति । ३. —नकल्या ५०, म०, ल० । कल्याः दक्षाः अकल्याः अदक्षाः स्त्रीसम्भोगे असमर्था इत्यर्थः । 'कल्यं सञ्ज्ञे प्रभाते च कल्यो नोरोगदक्षयोः' इति विश्वप्रकाशः । अकल्याः पुंस्त्वरहिताः । ४. पर्यायान्तरं नीतैः । ५. प्रतिनिविष्पन्नद्वारेण । ६. वर्णसमुदाय-योजनेश्च ।

आप्तपाशमत्तान्यन्ये कवयः पोषयन्त्यलम् । कुकविस्वाह्वरं तेषामकविश्चमुपासितम् ॥७२॥
अनन्यस्तमहाविद्याः कलाशास्त्रविह्वृताः । काव्यानि कर्तुमाह्वते केचित्पश्यत साहसम् ॥७३॥
तस्मादभ्यस्य शास्त्रार्थानुपास्य च महाकवीन् । धर्म्यं शस्यं यशस्यं च काव्यं कुर्वन्तु धीधनाः ॥७४॥
परेषां दूषणाज्जातु न शिमेति कवीश्वरः । किमुलूकमयाद् भुन्वन् ध्वान्तं नोदेति^१ भानुमान् ॥७५॥
परे सुख्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम् । न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सन्मार्गदेशनानि^२ ॥७६॥
पुराणकवयः केचित् केचित्तवकवीश्वराः । तेषां मतामि^३ भिन्नानि कस्तदाराधने श्रमः ॥७७॥
केचित् सौशब्दमिच्छन्ति केचिदर्थस्य संपदम्^४ । केचित् समासभूयस्व्यं परे व्यस्तां^५ पदावलीम् ॥७८॥
मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटवन्धैषिणः^६ परे । मध्यमाः केचिदन्येषां रुचिरन्यैव लक्ष्यते ॥७९॥
इति^७ भिन्नाभिसन्धिर्वा^८ दुराराधा^९ मनीषिणः । पृथग्जनोऽपि सूक्तानामनभिज्ञः सुदुग्रहो^{१०} ॥८०॥
सर्लमपि कथां रम्यां दूषयन्मैव दुर्जनाः । भुजङ्गा इव मच्छायां^{११} चन्दनद्रुमवल्लीम् ॥८१॥

बहुकुटुम्बी व्यक्ति के समान दुखी होते हैं ॥७१॥ कितने ही कवि अपनी कविता-द्वारा कपिल
आदि आत्माभासों के उपदिष्ट मत का पोषण करते हैं—मिथ्यामार्ग का प्रचार करते हैं । ऐसे
कवियों का कविता करना व्यर्थ है क्योंकि कुकवि कहलाने की अपेक्षा अकवि कहलाना
ही अच्छा है ॥७२॥ कितने ही कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने न्याय, व्याकरण आदि महाविद्याओं-
का अभ्यास नहीं किया है तथा जो संगीत आदि कलाशास्त्रों के ज्ञान से दूर हैं फिर
भी वे काव्य करने की चेष्टा करते हैं, अहो ! इनके साहस को देखो ॥७३॥ इसलिए बुद्धिमानों-
को शास्त्र और अर्थ का अच्छी तरह अभ्यास कर तथा महाकवियों की उपासना करके ऐसे
काव्य की रचना करना चाहिए जो धर्मपदेश से सहित हो, प्रशंसनीय हो और यश को बढ़ाने-
वाला हो ॥७४॥ उत्तम कवि दूसरों के द्वारा निकाले हुए दोषों से कभी नहीं डरता । क्या अन्ध-
कार को नष्ट करने वाला सूर्य उलूक के भय से उदित नहीं होता ? ॥७५॥ अन्यजन सन्तुष्ट हों
अथवा नहीं कविको अपना प्रयोजन पूर्ण करने के प्रति ही उत्थम करना चाहिए । क्योंकि
कल्याण की प्राप्ति अन्य पुरुषों की आराधना से नहीं होती किन्तु श्रेष्ठ मार्ग के उपदेश से होती
है ॥७६॥ कितने ही कवि प्राचीन हैं और कितने ही नवीन हैं तथा उन सब के मत जुड़े-जुड़े हैं
अतः उन सब को प्रसन्न करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? ॥७७॥ क्योंकि कोई शब्दों की
सुन्दरता को पसन्द करते हैं, कोई मनोहर अर्थसम्पत्ति को चाहते हैं, कोई समास की अधिकता को
अच्छा मानते हैं और कोई पृथक्-पृथक् रहनेवाला अलमस्त पदावली को ही चाहते हैं ॥७८॥
कोई मृदुल-सरल रचना को चाहते हैं, कोई कठिन रचना को चाहते हैं, कोई मध्यम श्रेणी की रचना
पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं जिनकी रुचि सबसे बिलक्षण-अनोखी है ॥७९॥ इस
प्रकार भिन्न-भिन्न विचार होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों को प्रसन्न करना कठिन कार्य है । तथा
सुभाषितों से सर्वथा अपरिचित रहनेवाले मूर्ख मनुष्य को वश में करना उनकी अपेक्षा भी
कठिन कार्य है ॥८०॥ दुष्ट पुरुष निर्दोष और मनोहर कथा को भी दूषित कर देते हैं, जैसे
चन्दनवृक्ष की मनोहर कान्ति से युक्त नयी कोपलों को सर्प दूषित कर देते हैं ॥८१॥

१. भास्करः । २. दर्शनात् स० । ३. अभिप्रायः । ४. सौष्ठवम् । ५. व्यस्तपदावलीम् अ०,
व्यस्तपदावलिम् स० । ६. शिल्पबन्धः । गद्गदबन्ध इत्यर्थः । ७. अभिप्रायः । ८. दुराराध्या अ०, प०, स०,
द०, म०, ल०, । ९. विपश्चितः अ०, स० । १०. पापमरः । ११. सुष्ठु दुःखेन महता कष्टेन ग्रहीतुं शक्यः ।
१२. मञ्जरीम् ल० ।

सदोषामपि निर्दोषां करोति सुजनः कृतिम् । ^१बनात्यय इवापह्नीं सरसीं पङ्कदूषिताम् ॥८२॥
 दुर्जना दोषमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति सज्जनाः । स तेषां ^२क्षेत्रजो मायो दुःखिकिरस्यधिरादपि ॥८३॥
 यतो गुणधनाः सन्तो दुर्जना दोषवित्तकाः । स्वधनं गृह्णन्ते तेषां कः प्रत्यर्थी बुधो जनः ॥८४॥
^३सोऽपि गृह्णन्तु दुर्जनानां दुष्टादिकृत्तान् नः कुरुतुम् । गृहीतदोषं यत्काव्यं जायते तद्धि पुष्कलम् ॥८५॥
 भसतां ^४दूयते वित्तं श्रुत्वा धर्मकथां सतीम् । मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाप्रहविकारिणाम् ॥८६॥
 मिथ्यात्वदूषितधियामरूपं धर्मभेषजम् । सदस्यसदिवाभाति तेषां पित्तजुषामिव ॥८७॥
 सुभाषितमहामन्त्राश्च प्रयुक्तान् कविमन्त्रिमिः । श्रुत्वा प्रकोपमायान्ति दुर्ग्रहा इव दुर्जनाः ॥८८॥
 चिरप्रसूतदुर्ग्रन्थिष्वेणुमूलसमोऽनृशुः । नर्जकर्तुं खलः शक्यः श्वपुच्छसदृशोऽथवा ॥८९॥
 सुजनः सुजनीकर्तुमशक्नो यच्चिरादपि । खलः खलीकरोत्येष जगदाशु तदद्भुतम् ॥९०॥
 सौजन्यस्य परा कोटिरनसूया दयालुता । गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः ॥९१॥
 स्वभावमिति निश्चित्य सुजनस्येतरस्य च । सुजनेऽनुरागो नो दुर्जनेऽवधारणाः ॥९२॥

परन्तु सज्जन पुरुष सदोष रचनाको भी निर्दोष बना देते हैं जैसे कि शरद् ऋतु पंकसहित सरोवरोंको पंकरहित-निर्मल बना देती है ॥८२॥ दुर्जन पुरुष दोषोंको चाहते हैं और सज्जन पुरुष गुणोंको । उनका यह सहज स्वभाव है जिसकी चिकित्सा बहुत समयमें भी नहीं हो सकती अर्थात् उनका यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं छूट सकता ॥ ८३ ॥ जब कि सज्जनोंका धन गुण है और दुर्जनोंका धन दोष, तब उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण कर लेनेमें भला कौन बुद्धिमान् पुरुष बाधक होगा ? ॥८४॥ अथवा दुर्जन पुरुष हमारे काव्यसे दोषोंको ग्रहण कर लें जिससे गुण-ही-गुण रह जायें यह बात हमको अत्यन्त दुष्ट है क्योंकि जिस काव्यसे समस्त दोष निकाल लिये गये हों वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा ॥८५॥ जिस प्रकार मन्त्रविद्याको सुनकर भूत, पिशाचादि महाप्रहोंसे पीड़ित मनुष्योंका मन दुःखी होता है उसी प्रकार निर्दोष धर्मकथाको सुनकर दुर्जनोंका मन दुःखी होता है ॥८६॥ जिन पुरुषोंकी बुद्धि मिथ्यात्वसे दूषित होती है उन्हें धर्मरूपी ओषधि तो अरुचिकर मालूम होती है साथमें उत्तमोत्तम अन्य पदार्थ भी बुरे मालूम होते हैं जैसे कि पित्तज्वरवालेको ओषधि या अन्य दुग्ध आदि उत्तम पदार्थ भी बुरे-कड़वे मालूम होते हैं ॥८७॥ कविरूप मन्त्रवादियोंके द्वारा प्रयोगमें लाये हुए सुभाषित रूप मन्त्रोंको सुनकर दुर्जन पुरुष भूतादि ग्रहोंके समान प्रकोपको प्राप्त होते हैं ॥८८॥ जिस प्रकार बहुत दिनसे जमे हुए बाँसकी गाँठ-दार जड़ स्वभावसे टेढ़ी होती है उसे कोई सीधा नहीं कर सकता उसी प्रकार चिरसंचित मायाचारसे पूर्ण दुर्जन मनुष्य भी स्वभावसे टेढ़ा होता है उसे कोई सीधा-सरल परिणामी नहीं कर सकता अथवा जिस तरह कोई कुत्तेकी पूँछको सीधा नहीं कर सकता उसी तरह दुर्जनको भी सीधा नहीं कर सकता ॥८९॥ यह एक आश्चर्यकी बात है कि सज्जन पुरुष चिरकालके सतत प्रयत्नसे भी जगत्को अपने समान सज्जन बनानेके लिए समर्थ नहीं हो पाते परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना लेते हैं ॥९०॥ ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवोंसे प्रेम करना यह सज्जनताकी अन्तिम अवधि है और इसके विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवोंसे प्रेम नहीं करना यह दुर्जनताकी अन्तिम अवधि है । यह सज्जन और दुर्जनोंका स्वभाव ही है ऐसा निश्चय कर सज्जनोंमें न तो विशेष राग ही

कवीनां कृतिनिर्वाहे सतो मत्वावलम्बनम् । कविताम्भोधिमुद्वेलं^१ लिलङ्घयिष्युरस्यहम् ॥९३॥

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्जैर्निरुध्यते । तदप्रतीनार्थमग्राम्भं^२ सालंकारमनाकुलम्^३ ॥९४॥

केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्^४ । वाचामर्लक्रियां प्राहुस्तद्वयं नो मतं मतम् ॥९५॥

सालंकारमुपाकूटरसमुद्भूतसौष्ठवम् । अनुच्छिष्टं^५ सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते ॥९६॥

अस्पृष्टबन्धलालित्यमपेतं रसवत्तया । न तत्काव्यमिति^६ ग्राम्यं केवलं कटु कर्णयोः ॥९७॥

सुखिलष्टपदविन्यासं प्रबन्धं^७ रचयन्ति ये । श्राव्यबन्धं^८ प्रसक्तार्थं ते महाकवयो मताः ॥९८॥

महापुराणसंयन्धि महानाथकगोचरम् । त्रिवर्गफलसंदर्भं महाकाव्यं तद्विध्यते ॥९९॥

निस्तनन्^९ कतिचिच्छ्लोकान् सर्वोऽपि कुस्ते कविः । पूर्वापरार्थघटनैः प्रबन्धो दुष्करो मतः ॥१००॥

शब्दराशिरपर्यन्तः स्वाधीनोऽर्थः स्फुटो^{१०} रसाः । सुलभाश्च प्रतिच्छन्दाः^{११} कवित्वे का दरिद्रता ॥१०१॥

करना चाहिए और न दुर्जनोका अनादर ही करना चाहिए ॥९१-९२॥ कवियोंके अपने कर्तव्य-की पूर्तिमें सज्जन पुरुष ही अवलम्बन होते हैं ऐसा मानकर मैं अलंकार, गुण, रीति आदि लहरों-से भरे हुए कवितारूपी समुद्रको लाँचना चाहता हूँ अर्थात् सत्पुरुषोंके आश्रयसे ही मैं इस महान् काव्य ग्रन्थको पूर्ण करना चाहता हूँ ॥९३॥ काव्यस्वरूपके जाननेवाले विद्वान्, कविके भाव अथवा कार्यको काव्य कहते हैं । कविका वह काव्य सर्वसंमत अर्थसे सहित, ग्राम्यदोषसे रहित, अलंकारसे युक्त और प्रसाद आदि गुणोंसे शोभित होना चाहिए ॥९४॥ कितने ही विद्वान् अर्थकी सुन्दरताको वाणीका अलंकार कहते हैं और कितने ही पदोंकी सुन्दरताको, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनोंकी सुन्दरता ही वाणीका अलंकार है ॥९५॥ सज्जन पुरुषोंका बनाया हुआ जो काव्य अलंकारसहित, शृंगाररसोंमें युक्त, सौन्दर्यमें ओतप्रोत और उच्छिष्टरहित अर्थात् मौलिक होता है वह काव्य सरस्वतीदेवीके मुखके समान शोभायमान होता है अर्थात् जिस प्रकार शरीरमें मुख सबसे प्रधान अंग है उसके बिना शरीरकी शोभा और स्थिरता नहीं होती उसी प्रकार सर्वलक्षणपूर्ण काव्य ही सब शास्त्रोंमें प्रधान है तथा उसके बिना अन्य शास्त्रोंकी शोभा और स्थिरता नहीं हो पाती ॥९६॥ जिस काव्यमें न तो रीतिकी रमणीयता है, न पदोंका लालित्य है और न रसका ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानोंको दुःख देनेवाली ग्रामीण भाषा ही है ॥९७॥ जो अनेक अर्थोंको सूचित करनेवाले पदविन्याससे सहित, मनोहर रीतियोंसे युक्त एवं स्पष्ट अर्थसे उद्भासित प्रबन्धों-काव्योंकी रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं ॥९८॥ जो प्राचीनकालके इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाला हो, जिसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके चरित्रका चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और कामके फलको दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं ॥९९॥ किसी एक प्रकीर्णक विषयको लेकर कुछ श्लोकोंकी रचना तो सभी कवि कर सकते हैं परन्तु पूर्वापरका सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्धकी रचना करना कठिन कार्य है ॥१००॥ जब कि इस संसारमें शब्दोंका समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छाके आधीन है, रस स्पष्ट है और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करनेमें दरिद्रता क्या है ? अर्थात् इच्छानुसार सामग्रीके मिलनेपर उत्तम कविता ही करना

१. वेलासतिक्लान्तम् । २. ग्राम्यं 'दुःप्रतीतिकरं ग्राम्यम्, यथा—'या भवतः प्रिया' । ३. रसालंकारर-सङ्कीर्णम् । ४. सहृदयहृदयाह्लादकत्वम् । ५. प्राहुर्मतः । ६. उच्छिष्टं परप्रकृतम् । ७. —मतिग्राम्यं म०, प०, द०, म० । ८. काव्यम् । ९. श्राव्यबन्ध स०, प०, ल० । १०. निस्तनन् म० । निस्तनन् ल०, द०, प०, स० । विलश्यन् । ११. स्फुटो रसः द०, प०, । १२. प्रतिच्छन्दाः ल० । प्रतिनिधयः ।

'प्रयान्महति वाङ्मार्गे विस्त्रांश्चर्महनाटनैः । महाकवितृच्छायां विथमायाश्रयेत् कविः ॥१०२॥
 प्रज्ञामूलो गुणोद्गमस्कन्धी वाक्पल्लवोज्ज्वलः । महाकवितृर्धत्ते यशःकुसुमसञ्जरीम् ॥१०३॥
 प्रज्ञाबेलः प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिमहः । महाध्वानः पृथुस्रोताः कविरम्भोनिर्धीयते ॥१०४॥
 यथोक्तमुपयुज्जीध्वं बुधाः काव्यरसायनम् । येन कल्पान्तरस्यायि वपुर्वः स्वाद् यशोमयम् ॥१०५॥
 यशोधनं विचोपुषां पुण्यपुण्यपणायिताम् । परं मुख्यमिदं श्रुत्वात् काव्यं धर्मकथामयम् ॥१०६॥
 इदमध्यवसार्थाहं कथां धर्मानुवन्धिनीम् । प्रस्तुतं प्रस्तुतां सद्भिर्महापुरुषगोचरात् ॥१०७॥
 विस्तीर्णानेकशाखाक्षीं सच्छायां कलशालिनीम् । आयैर्निषेवित्तां स्यात् सतीं कल्पवृक्षमिव ॥१०८॥
 प्रसङ्गमतिगम्भीरां निर्मलां सुखशीतलाम् । निर्वापितजगत्पापं महतीं सरसीमिव ॥१०९॥

चाहिए ॥१०१॥ विशाल शब्दमार्गमें भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनोंमें घूमनेसे खेद-खिन्नताको प्राप्त हुआ है उसे विश्रामके लिए महाकविरूप वृक्षांकी छायाका आश्रय लेना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार महावृक्षांकी छायासे मार्गकी थकावट दूर हो जाती है और चित्त हलका हो जाता है उसी प्रकार महाकवियोंके काव्यग्रन्थोंके परिशीलनसे अर्थाभावसे होनेवाली सब खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥१०२॥ प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं, और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुण्यमञ्जरीको धारण करता है ॥१०३॥ अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दोंसे युक्त है, तथा जिसमें गुरुशिष्य-परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्रके समान आचरण करता है ॥१०४॥

हे विद्वान् पुरुषो ! तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायनका भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्त काल तक स्थिर रह सके । भावार्थ—जिस प्रकार रसायन सेवन करनेसे शरीर पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार ऊपर कहे हुए काव्य, महाकवि आदि-के स्वरूपको समझकर कविता करनेवालेका यश चिरस्थायी हो जाता है ॥१०५॥ जो पुरुष यशरूपी धनका संचय और पुण्यरूपी पुण्यका व्यवहार—लेनदेन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथाको निरूपण करनेवाला यह काव्य मूलधन (पूँजी) के समान माना गया है ॥१०६॥ यह निश्चय कर मैं ऐसी कथाको आरम्भ करता हूँ जो धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाली है, जिसका प्रारम्भ अनेक सज्जन पुरुषोंके द्वारा किया गया है तथा जिसमें ऋषभनाथ आदि महापुरुषोंके जीवनचरित्रका वर्णन किया गया है ॥१०७॥ जो धर्मकथा कल्पलताके समान, फैली हुई अनेक शाखाओं (डालियों, कथा-उपकथाओं) से सहित है, छाया (अनातप,

१. गच्छन् । २. गहनं काननम् । ३. विथामाया--द०, स०, प०, म०, ल० । ४. अविच्छिन्नशब्द-प्रवाहः । ५. विचोपुषां स०, द० । पोषितुमिच्छुताम् । 'चु भरणे' इति कृपादिधातोः सन् तत् उपप्रत्ययः । ६. पणायिताम् स० । व्रेतृणाम् । ७. कथितम् । ८. निश्चयः । ९. धर्मानुवन्धिनीम् स०, द० । १०. प्रारम्भे । ११. शाखा—कथा । १२. समीचीनपुरातनकाव्यच्छायाम् । उक्तं चालङ्कारचूडामणिदर्पणे—'मुखच्छायेन यस्य काव्येषु पुरातनकाव्यच्छाया संक्रामति स महाकविः' इति । १३. भोगभूमिजैः । १४. सुखाय शीतलाम् । १५. निर्वासित-म० ।

गुरुप्रवाहसंभूतिमपक्तां तापविच्छिदम्^१ । कृतावतारं^२ कृतिभिः पुण्यां न्योमापनामिव ॥११०॥
 चेतःप्रसादजननीं कृतमङ्गलसंग्रहाम् ।^३ क्रोडीकृतजगद्विम्बां हसन्तीं दर्पणश्रियम् ॥१११॥
 कल्पाङ्गिपादिवोत्पुङ्गादभीष्टफलदायिनः । महाशास्त्रामिवोदग्रां श्रुतस्कन्धाकुपाङ्कताम् ॥११२॥
 प्रथमस्यानुयोगस्थ गम्भीरस्योदधेरपि । बेलामिव बृहद्ध्वानां^४ प्रसृतार्थमहाजलाम् ॥११३॥
 "आक्षिप्तशेषतन्त्रार्थं"^५ विक्षिप्तपरशासनम् । सतां संवेगजननीं निर्वेदरसकृद्दिणीम् ॥११४॥
 भद्भुतार्थामिमां दिव्यां^६ परमार्थबृहत्कथाम् । लम्बैरनेकैः संदृष्टां गुणाढ्यैः पूर्वसूरिभिः ॥११५॥
 यशःश्रेयस्करां^७ पुण्यां भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् । पूर्वानुपूर्वीमाश्रित्य वक्ष्ये शृणुत सज्जनाः ॥११६॥

नवमिः कुलकम्

कथाकथकयोरत्र श्रोतव्यामपि लक्षणम् । श्लाघणंतीषं प्रागेव कथारम्भे मनीषिभिः ॥११७॥
 पुरुषार्थोपयोगित्वास्त्रिवर्गकथनं कथा । तत्रापि सरकथां धर्म्यामामनन्ति^८ मनीषिणः ॥११८॥

कान्ति नामक गुण) से युक्त है, फलों (मधुर फल, स्वर्ग मोक्षादिकी प्राप्ति) से शोभायमान है, आयी (भोगभूमिज मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों)-द्वारा सेवित है, मनोहर है, और उत्तम है । अथवा जो धर्मकथा बड़े सरोवरके समान प्रसन्न (स्वच्छ, प्रसादगुणसे सहित) है, अत्यन्त गम्भीर (अगाध, गूढ़ अर्थसे युक्त) है, निर्लज्ज (कीचड़ आदिसे रहित, दुष्प्रभाव, अशुभ, दोषोंसे रहित) है, सुस्वकारी है, शीतल है, और जगत्त्रयके सन्तापको दूर करनेवाली है । अथवा जो धर्मकथा आकाशमङ्गाके समान गुरुप्रवाह (बड़े भारी प्रवाह, गुरुपरम्परा) से युक्त है, पंक (कीचड़, दोष) से रहित है, ताप (गरमी, संसारभ्रमणजन्य खेद) को नष्ट करनेवाली है, कुशल पुरुषों (देवों, गणधरादि चतुर पुरुषों)-द्वारा किये गये अवतार (प्रवेश, अवगाहन) से सहित है और पुण्य (पवित्र, पुण्यवर्धक) रूप है । अथवा जो धर्मकथा चित्तको प्रसन्न करने, सब प्रकारके मङ्गलोंका संग्रह करने तथा अपने-आपमें जगत्त्रयके प्रति-बिम्बित करनेके कारण दर्पणकी शोभाको हँसती हुई-सी जान पड़ती है । अथवा जो धर्मकथा अत्यन्त उन्नत और अभीष्ट फलको देनेवाले श्रुतस्कन्धरूपी कल्पवृक्षसे प्राप्त हुई श्रेष्ठ बड़ी शाखाके समान शोभायमान हो रही है । अथवा जो धर्मकथा, प्रथमानुयोगरूपी गहरे समुद्रकी बेल (किनारे) के समान महागम्भीर शङ्खोंसे सहित है और फैले हुए महान् अर्थ रूप जलसे युक्त है । जो धर्मकथा स्वर्ग मोक्षादिके साधक समस्त तन्त्रोंका निरूपण करनेवाली है, मिथ्यामतको नष्ट करनेवाली है, सज्जनोंके संवेगको पैदा करनेवाली और वैराग्य रसको बढ़ानेवाली है । जो धर्मकथा आश्चर्यकारी अर्थोंसे भरी हुई है, अत्यन्त मनोहर है, सत्य अथवा परम प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली है, अनेक बड़ी-बड़ी कथाओंसे युक्त है, गुणवान् पूर्वाचार्यों-द्वारा जिसकी रचना की गयी है । जो यश तथा कल्याणको करनेवाली है, पुण्यरूप है और स्वर्ग-मोक्षादि फलोंको देनेवाली है ऐसी उस धर्मकथाको मैं पूर्व आचार्योंकी आम्नायके अनुसार कहूँगा । हे सज्जन पुरुषो, उसे तुम सब ध्यानसे सुनो ॥१०८-११६॥ बुद्धिमानोंको इस कथारम्भके पहले ही कथा, वक्ता और श्रोताओंके लक्षण अवश्य ही कहना चाहिए ॥११७॥ मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी होनेसे धर्म, अर्थ तथा कामका कथन करना कथा कहलाती है । जिसमें

१. तापविच्छिदम् अ०, प० । २. अवतारः अवगाहः । ३. क्रोडीकृतं स्वीकृतम् । ४. महाध्वानां ल०, द०, प०, स० । ध्वानः शब्दपरिपाटी । ५. आक्षिप्तः स्वीकृतः । ६. तन्त्रं सिद्धान्तः । ७. विक्षिप्तं तिरस्कृतम् । ८. परमार्थं बृहत्कथाम् स०, द०, ल०, अ० । ९. श्रेयस्करां स० । १०. म्ना अभ्यासे ।

‘तत्फलाभ्युदयाङ्गरवादर्थकामकथा’ कथा । अन्यथा विकथैवासावपुण्यासन्नकारणम्^१ ॥११९॥
 यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा । सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥१२०॥
 प्रादुर्धर्मकथाङ्गानि सप्त सप्तभिर्भूषणाः । यैर्भूषिता कथाऽऽहार्यैर्नदीव रसिका भवेत् ॥१२१॥
 द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत् । प्रकृतं चैत्यमून्याहुः सप्ताङ्गानि कथामुखे ॥१२२॥
 द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः । जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्तितः ॥१२३॥
 प्रकृतं स्यात् कथावस्तु फलं तत्त्वावबोधनम् । भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽधका ॥१२४॥
 इत्यमूनि कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता । यथावसरमेवैषां^२ प्रपञ्चो दर्शयिष्यते ॥१२५॥
 तस्यास्तु कथकः सूरिः सद्वृत्तः स्थिरधीर्बशी । कल्पेन्द्रियः प्रशस्ताङ्गः स्पष्टमृष्टेष्टगीर्णः ॥१२६॥
 यः सर्वज्ञमत्ताभोधिवाधौतविमलाशयः । अशेषबाहुमलापायादुज्ज्वला यस्य भारती ॥१२७॥
 श्रीमान्जितसभो वाग्मी प्रगल्भः^३ प्रतिमानवान् । यः सतां संसत्तम्याण्यो^४ वाग्विमर्दभरक्षमः ॥१२८॥

धर्मका विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् पुरुष सत्कथा कहते हैं ॥११८॥ धर्मके फल-
 स्वरूप जिन अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है उसमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं अतः धर्मका फल
 दिखानेके लिए अर्थ और कामका वर्णन करना भी कथा कहलाती है । यदि यह अर्थ और
 कामकी कथा धर्मकथासे रहित हो तो विकथाही कहलायेगी और मात्र पापास्रवका ही
 कारण होगी ॥११९॥ जिससे जीवोंको स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है
 वास्तवमें वही धर्म कहलाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते
 हैं ॥१२०॥ सप्त ऋद्धियोंसे शोभायमान गणधरादि देवोंने इस सद्धर्मकथाके सात अंग कहे
 हैं । इन सात अङ्गोंसे भूषित कथा अलङ्कारोंसे सजी हुई नदोंके समान अत्यन्त सरस हो जाती
 है ॥१२१॥ द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग कहलाते हैं । ग्रन्थ-
 के आदिमें इनका निरूपण अवश्य होना चाहिए ॥१२२॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश
 और काल यह छह द्रव्य हैं, ऊर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं, जिनेन्द्रदेवका
 चरित्र ही तीर्थ है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह तीन प्रकारका काल है, क्षायोपशमिक
 अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं, तत्त्वज्ञानका होना फल कहलाता है, और वर्णनीय कथावस्तु-
 को प्रकृत कहते हैं ॥१२३-१२४॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात अंग जिस कथामें पाये
 जायें उसे सत्कथा कहते हैं । इस ग्रन्थमें भी अवसरके अनुसार इन अंगोंका विस्तार
 दिखाया जायेगा ॥१२५॥

वक्ताका लक्षण

ऊपर कही हुई कथाका कहनेवाला आचार्य वही पुरुष हो सकता है जो सदाचारी हो,
 स्थिरबुद्धि हो, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला हो, जिसकी सब इन्द्रियाँ समर्थ हों, जिसके अङ्गो-
 पाङ्ग सुन्दर हों, जिसके वचन स्पष्ट परिमार्जित और सबको प्रिय लगनेवाले हों, जिसका
 आशय जिनेन्द्रमतरूपी समुद्रके जलसे धुला हुआ और निर्मल हो, जिसकी वाणी समस्त दोषोंके
 अभावसे अत्यन्त उज्ज्वल हो, श्रीमान् हो, सभाओंको वशमें करनेवाला हो, प्रशस्त वचन बोलने-
 वाला हो, गम्भीर हो, प्रतिभासे युक्त हो, जिसके व्याख्यानको सत्पुरुष पसंद करते हों, अनेक

१. धर्मफलरूपाभ्युदयाङ्गत्वात् । २. कथनम् । ३. —कारिणी म०, ल०, । ४. भूषणैः । ५. —मेतेषां
 स०, व० । ६. कल्पेन्द्रियः म०, ल०, अ० । प्रशस्तनयनाविद्रव्येन्द्रियः । ७. मृष्टा शुद्धा । ८. गम्भीराशयः ।
 ‘विद्वत्प्रगल्भाविशो’ । ९. ‘आवृत्तप्रदात्री भा प्रतिभा सर्वतोमुखी’ । १०. प्रवक्तव्यः ।

दयालुर्वरसलो धीमान् परेक्षितविशारदः । योऽधीती विश्वविद्यासु स धीरः कथयेत् कथाम् ॥१२९॥

नानोपाख्यानकुशलो जानामाषाविशारदः । नानाशास्त्रकलामिश्रः स मयेत् कथकाप्रणीः ॥१३०॥

नामुत्तीभञ्जमं कुर्यान्न भुवौ नर्तयेद् भुवन् । नाधिक्षेपे^३ च हसेन्नात्युत्थैर्न शनैर्वदेत् ॥१३१॥

उच्चैः प्रभावितव्यं स्यात् समामध्ये कवाचन । तत्र^४ अथ^५ कुर्वन्^६ भूयाद् धर्म्यं यशस्करम् । प्रसङ्गादपि न भूयाद् धर्म्यमयशस्करम् ॥१३२॥

इत्यालोच्य कथायुक्तिमयुक्तिपरिहारिणोम् । प्रस्तूयाद् यः कथावस्तु स वास्तो^७ वदतां वरः ॥१३३॥

आक्षेपिणीं कथां कुर्यात् प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे । विक्षेपिणीं कथां तज्ज्ञः कुर्याद् दुर्मतनिग्रहे ॥१३४॥

संवेदिनीं कथां पुण्यफलसंपत्त्यपन्नने । निर्वेदिनीं कथां कुर्याद् वैराग्यजननं प्रति ॥१३५॥

इति धर्मकथाङ्गत्वादधीक्षितां^८ चतुर्थ्याम् । कथां यथाहं श्रोतुभ्यः कथकः प्रतिपादयेत् ॥१३७॥

धर्मश्रुतौ नियुक्ता ये श्रोतारस्ते मता बुधैः । तेषां च सदसद्भावव्यक्तौ दृष्टान्तकल्पना ॥१३८॥

प्रश्न तथा कुतर्कोको सहनेवाला हो, दयालु हो, प्रेमी हो, दूसरेके अभिप्रायको समझनेमें निपुण हो, जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन किया हो और धीर, वीर हो ऐसे पुरुषको ही कथा कहनी चाहिए ॥१२९-१२९॥ जो अनेक उदाहरणोंके द्वारा वस्तुस्वरूप कहनेमें कुशल है, संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओंमें निपुण है, अनेक शास्त्र और कलाओंका जानकार है वही उत्तम वक्ता कहा जाता है ॥१३०॥ वक्ताको चाहिए कि वह कथा कहते समय अंगुलियाँ नहीं चटकावे, न भौंह ही चलावे, न किसीपर आक्षेप करे, न हँसे, न जोरसे बोले और न धीरे ही बोले ॥१३१॥ यदि कदाचित् सभाके बीचमें जोरसे बोलना पड़े तो उद्धतपना छोड़कर सत्य-प्रमाणित वचन इस प्रकार बोले जिससे किसीको क्षोभ न हो ॥१३२॥ वक्ताको हमेशा वही वचन बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो, धर्मोपदेशसे सहित हो और यशको करनेवाला हो । अवसर आनेपर भी अधर्मयुक्त तथा अकोर्तिको फैलानेवाले वचन नहीं कहना चाहिए ॥१३३॥ इस प्रकार अयुक्तियोंका परिहार करनेवाली कथाकी युक्तियोंका सम्यक् प्रकारसे विचार कर जो वर्णनीय कथावस्तुका प्रारम्भ करता है वह प्रशंसनीय श्रेष्ठ वक्ता समझा जाता है ॥१३४॥ बुद्धिमान् वक्ताको चाहिए कि वह अपने मतकी स्थापना करते समय आक्षेपिणी कथा कहे, मिथ्या मतका खण्डन करते समय विक्षेपिणी कथा कहे, पुण्यके फलस्वरूप विभूति आदिका वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादनके समय निर्वेदिनी कथा कहे ॥१३५-१३६॥ इस प्रकार धर्मकथाके अंगभूत आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चारों कथाओंका विचार कर श्रोताओंकी योग्यता-नुसार वक्ताको कथन करना चाहिए ॥१३७॥ अब आचार्य श्रोताओंका लक्षण कहते हैं—

श्रोताका लक्षण

जो हमेशा धर्मश्रवण करनेमें लगे रहते हैं विद्वानोंने उन्हें श्रोता माना है । अच्छे और बुरेके भेदसे श्रोता अनेक प्रकारके हैं, उनके अच्छे और बुरे भावोंके जाननेके लिए नीचे लिखे

१. इङ्गितं चित्तविकृतिः । २. बहुकथानिपुणः । ३. विकारं कुर्यात् । ४. सत्य-द०, स०, अ०, प०, म०, ल० । ५. प्रारभेत । ६. वास्तो प०, द० । ७. संवेदिनी स०, प०, द० । ८. पुण्यां फल-म०, ल० । ९. निर्वेदिनी प०, स०, द० । १०. अर्थायातम् ।

मृच्छालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिमिः । गोहंसमहिषच्छिब्रघटदंशजलौकिकैः ॥१३९॥

श्रोतारः समभावाः स्युरुत्तमाधममध्यमाः । अग्न्यादृशोऽपि सन्त्येव तर्कि तेषामिथत्तया ॥१४०॥

गोहंससदृशान् प्रादुहत्तमान् मृच्छुकोपमान् । मध्यमान् विदुरन्त्यैश्च समकक्ष्योऽधमो मतः ॥१४१॥

शेमुष्यम्यतुलावन्दनिकषोपलसञ्चिमाः । श्रोतारः सत्कथारत्नपरीक्षाभ्यक्षकाभताः ॥१४२॥

अनुसार वृष्टान्तोंकी कल्पना की जाती है ॥ १३८ ॥ मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घड़ा, डाँस और जोकि इसप्रकार चौदह प्रकार-के श्रोताओंके दृष्टान्त समझना चाहिए । भावार्थ—(१) जैसे मिट्टी पानीका संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है, बादमें कठोर हो जाती है । इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमल-परिणामी हों परन्तु बादमें कठोरपरिणामी हो जायें वे मिट्टीके समान श्रोता हैं । (२) जिस प्रकार चलनी सारभूत आटेको नीचे गिरा देती है और छोकको बचा रखती है उसी प्रकार जो श्रोता वक्ताके उपदेशमें-से सारभूत तत्त्वको छोड़कर निःसार तत्त्वको ग्रहण करते हैं वे चलनी-के समान श्रोता हैं । (३) जो अत्यन्त कामी हैं अर्थात् शास्त्रोपदेशके समय शृंगारका वर्णन सुनकर जिनके परिणाम शृंगार रूप हो जायें वे अजके समान श्रोता हैं । (४) जैसे अनेक उपदेश मिलनेपर भी बिलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोड़ता, सामने आते ही चूहेपर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो श्रोता बहुत प्रकारसे समझानेपर भी क्रूरताको नहीं छोड़ें, अबसर आनेपर क्रूर प्रवृत्ति करने लगें वे मार्जारके समान श्रोता हैं । (५) जैसे तोता स्वयं अज्ञानी है दूसरोंके द्वारा कहलानेपर ही कुछ सीख पाता है वैसे ही जो श्रोता स्वयं ज्ञानसे रहित है दूसरोंके बतलानेपर ही कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते हैं वे शुकके समान श्रोता हैं । (६) जो बगुलेके समान बाहरसे भद्रपरिणामी मालूम होते हों परन्तु जिनका अन्तरङ्ग अत्यन्त दुष्ट हो वे बगुलाके समान श्रोता हैं । (७) जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं तथा जिनके हृदयमें समझाये जानेपर जिनबाणी रूप जलका प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाणके समान श्रोता हैं । (८) जैसे साँपको पिलाया हुआ दूध भी विषरूप हो जाता है वैसे ही जिनके सामने उत्तमसे-उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है वे सर्पके समान श्रोता हैं । (९) जैसे गाय तृण खाकर दूध देती है वैसे ही जो थोड़ा-सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ लिया करते हैं वे गायके समान श्रोता हैं । (१०) जो केवल सार वस्तुको ग्रहण करते हैं वे हंसके समान श्रोता हैं । (११) जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है पर समस्त पानीको गँदला कर देता है । इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं परन्तु अपने कुतर्कोसे समस्त सभामें क्षोभ पैदा कर देते हैं वे भैंसाके समान श्रोता हैं । (१२) जिनके हृदयमें कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे छिद्र घटके समान श्रोता हैं । (१३) जो उपदेश तो बिलकुल ही ग्रहण न करें परन्तु सारी सभाको व्याकुल कर दें वे डाँसके समान श्रोता हैं । (१४) जो गुण छोड़कर सिर्फ अवगुणोंको ही ग्रहण करें वे जोकके समान श्रोता हैं । इन ऊपर कहे हुए श्रोताओंके उत्तम, मध्यम और अधमके भेदसे तीन-तीन भेद होते हैं । इनके सिवाय और भी अन्य प्रकारके श्रोता हैं परन्तु उन सबकी गणनासे क्या लाभ है ? ॥ १३९-१४० ॥ इन श्रोताओंमें जो श्रोता गाय और हंसके समान हैं वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोताके समान हैं उन्हें मध्यम जानना चाहिए और बाकीके समान अन्य सब श्रोता अधम माने गये हैं ॥ १४१ ॥ जो श्रोता नेत्र, दर्पण, तराजू और कसौटीके समान गुण-दोषोंके बतलानेवाले हैं वे सत्कथारूप

श्रोता न चेहिकं किञ्चित्फलं वाञ्छेत्कथाश्रुतो । नेच्छेद् वक्ता च सत्कारधनभेषजसत्क्रियाः ॥१४३॥
 श्रेयोऽर्थं केवलं प्रयात् सन्मार्गं शृणुयाच्च वै । श्रेयोऽर्था हि सतां चेष्टा न लोकपरिपन्थः ॥१४४॥
 श्रोता शुश्रूषतामैः स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते । वक्ता च वत्सलत्वादियथोक्तगुणभूषणः ॥१४५॥
 शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । स्मृत्युद्घापोहनिर्णीताः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥१४६॥
 सत्कथाश्रवणात् पुण्यं श्रोतुर्थमुपचीयते । तेनाभ्युदयसंसिद्धिः क्रमासौ श्रेयसी स्थितिः ॥१४७॥
 इत्याप्तोक्तमनुसारेण कथितं वः कथामुत्तमम् । कथावतारसम्बन्धं वक्ष्यामः शृणुताधुना ॥१४८॥
 इत्यनुश्रूयते देवः पुराकल्पे स नाभिजः । अभ्युवास भुवो मौलि कैलासादिं यदृच्छया ॥१४९॥
 तत्रासीनं च तं देवाः परिचैरुः सपर्यया । मुष्ट्युध्वं किरीटाग्रसंदष्टकरकुङ्कुमलाः ॥१५०॥
 सभाकिरचनां तत्र सुश्रामा त्रिजगद्गुरोः । प्रातः प्रवर्तयामास प्रासकैवल्यसंपदः ॥१५१॥

रत्नके परीक्षक माने गये हैं ॥१४२॥ श्रोताओंको शास्त्र सुननेके बदले किसी सांसारिक फलकी चाह नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार वक्ताको भी श्रोताओंसे सत्कार, धन, ओषधि और आश्रय—
 घर आदिकी इच्छा नहीं करनी चाहिए ॥१४३॥ स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणोंकी अपेक्षा रख-
 कर ही वक्ताको सन्मार्गका उपदेश देना चाहिए तथा श्रोताको सुनना चाहिए क्योंकि सत्पुरुषों-
 की चेष्टाएँ वास्तविक कल्याणकी प्राप्तिके लिए ही होती हैं अन्य लौकिक कार्योंके लिए नहीं
 ॥१४४॥ जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणोंसे युक्त होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है। इसी
 प्रकार को वक्ता वात्सल्य आदि गुणोंसे भूषित होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है
 ॥१४५॥ शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, उद्घा, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओंके आठ
 गुण जानना चाहिए ॥ भावार्थ—सत्कथाको सुननेकी इच्छा होना शुश्रूषा गुण है, सुनना
 श्रवण है, समझकर ग्रहण करना ग्रहण है, बहुत समय तक उसकी धारणा रखना धारण
 है, पिछले समय ग्रहण किये हुए उपदेश आदिका स्मरण करना स्मरण है, तर्कद्वारा
 पदार्थके स्वरूपके विचार करनेकी शक्ति होना उद्घा है, हेय वस्तुओंको छोड़ना अपोह है और
 युक्तिद्वारा पदार्थका निर्णय करना निर्णीति गुण है। श्रोताओंमें इनका होना अत्यन्त
 आवश्यक है ॥१४६॥ सत्कथाके सुननेसे श्रोताओंको जो पुण्यका संचय होता है उससे उन्हें
 पहले तो स्वर्ग आदि अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है और फिर क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है
 ॥१४७॥ इस प्रकार मैंने शास्त्रोंके अनुसार आप लोगोंको कथामुत्तम (कथाके प्रारम्भ) का
 वर्णन किया है अब इस कथाके अवतारका सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो ॥१४८॥

कथावतारका वर्णन

गुरुपरम्परासे ऐसा सुना जाता है कि पहले तृतीय कालके अन्तमें नाभिराजके पुत्र
 भगवान् वृषभदेव विहार करते हुए अपनी इच्छासे पृथिवीके मुकुटभूत कैलास पर्वतपर आकर
 विराजमान हुए ॥१४९॥ कैलासपर विराजमान हुए उक्त भगवान् वृषभदेवकी देवोंने भक्तिपूर्वक
 पूजा की तथा जुड़े हुए हाथोंको मुकुटसे लगाकर स्तुति की ॥१५०॥ उसी पर्वतपर त्रिजगद्गुरु
 भगवान्को केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, उससे हर्षित होकर इन्द्रने वहाँ समवसरणकी रचना करायी

१. संश्रयात् अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । २. परिपङ्क्तये द०, ल०, म०, अ० । परिपाकाय ।
 ३. गुणाः स्मृताः म० । ४. वक्ष्यामि अ०, स०, द० । ५. पूर्वशास्त्रे । 'कल्पः स्यात् प्रलये न्याये शास्त्रे
 ब्रह्मदिने विधी ।' अथवा पुराकल्पे युगादौ । ६. कैलासादौ । 'वसामनूपाध्याह्' इति सूत्रात् सप्तम्यर्थे
 त्रितोया । ७. सिरीटाग्र—ल०, म०, अ० । ८. कुङ्कुमलाः म०, ल० ।

तत्र देवसमे देवं स्थितमत्यद्भुतस्थितिम् । प्रथनाम मुदाभ्येत्य भरतो भक्तिनिर्भरः ॥१५२॥
 स तं स्तुतिभिरर्थ्याभिरभ्यर्च्य नृसुराचिन्तम् । यथोचितं सभास्थानमध्यास्त विनयानतः ॥१५३॥
 सभा सभासुरसुरा पीत्वा धर्माभूतं विभोः । पिप्रिये पश्चिनीषोध्यदंशुजालमलं रवेः ॥१५४॥
 मध्येनममथोत्थाय भरतो रचिताञ्जलिः । व्यजिज्ञपदिदं वाक्यं प्रश्रयो मूर्तिमानिव ॥१५५॥
 प्रवर्तोऽस्य मुखाम्भोजालसङ्गतांशुकंसरात् । निर्ययी मधुरा वाणी प्रसभेव सरस्वती ॥१५६॥
 ध्वस्तः प्रबोधमात्रान्ती सभेयं ससुरासुरा । प्रफुल्लवदनाम्भोजा व्यक्तमम्भोजिनायते ॥१५७॥
 तमःप्रलयलीनस्य जगतः सज्जनं प्रति । त्वयामृतमिवासिक्तमिदमालक्ष्यते वचः ॥१५८॥
 नोदमाभूत् यदि ध्वान्तविशिष्टसदृशवर्णोऽभवः । तमस्यन्धे अमृतरूपमपिप्यदिदं भुवम् ॥१५९॥
 युष्मत्संदर्शनादेव देवाभून्मे कृतार्थता । कस्य वा तु कृतार्थत्वमनिर्वा महतो निधेः ॥१६०॥
 ध्रुवा पुनर्भवद्वाचं कृतार्थतरकोऽस्म्यहम् । दृष्टमृतं कृती लोकः किं पुनस्तद्रसोपयुक् ॥१६१॥
 इष्ट एव किलारण्ये वृष्टो देव इति ध्रुतिः । स्वर्गभूताय मे देव वृष्टं धर्माभ्यु यस्वया ॥१६२॥

॥१५१॥ देवाधिदेव भगवान् आश्चर्यकारी विभूतिके साथ जब समवसरण सभामें विराजमान थे तब भक्तिसे भरे हुए महाराज भरतने हर्षके साथ आकर उन्हें नमस्कार किया ॥१५२॥ महाराज भरतने मनुष्य और देवोंसे पूजित उन जितेन्द्रदेवकी अर्थसे भरे हुए अनेक स्तोत्रों-द्वारा पूजा की और फिर वे विनयसे नत होकर अपने योग्य स्थानपर बैठ गये ॥१५३॥ देदीप्यमान देवोंसे भरी हुई वह सभा भगवान्से धर्मरूपी अमृतका पान कर उस तरह संतुष्ट हुई थी जिस तरह कि सूर्यके तेज किरणोंका पान कर कमलिनी संतुष्ट होती है ॥१५४॥ इसके अनन्तर मूर्तिमान् विनयकी तरह महाराज भरत हाथ जोड़ सभाके बीच खड़े होकर यह वचन कहने लगे ॥१५५॥ प्रार्थना करते समय महाराज भरतके दाँतोंकी किरणरूपी केशरसे शोभायमान मुखसे जो मनोहर वाणी निकल रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उनके मुखसे प्रसन्न हुई उज्ज्वलवर्णधारिणी सरस्वती ही निकल रही हो ॥१५६॥ हे देव, देव और धरणेन्द्रोंसे भरी हुई यह सभा आपके निमित्तसे प्रबोध—प्रकृष्ट ज्ञानको (पक्षमें विकासको) पाकर कमलिनीके समान शोभायमान हो रही है क्योंकि सबके मुख, कमलके समान अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहे हैं ॥१५७॥ हे भगवन्, आपके यह दिव्य वचन अज्ञानान्धकाररूप प्रलयमें नष्ट हुए जगत्की पुनरुत्पत्तिके लिए सींचे गये अमृतके समान मालूम होते हैं ॥१५८॥ हे देव, यदि अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले आपके वचनरूप किरण प्रकट नहीं होते तो निश्चयसे यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी सघन अन्धकारमें पड़ा रहता ॥१५९॥ हे देव, आपके दर्शन मात्रसे ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, यह ठीक ही है महानिधिको पाकर कौन कृतार्थ नहीं होता ? ॥१६०॥ आपके वचन सुनकर तो मैं और भी अधिक कृतार्थ हो गया क्योंकि जब लोग अमृतको देखकर ही कृतार्थ हो जाते हैं तब उसका स्वाद लेनेवाला क्या कृतार्थ नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१६१॥ हे नाथ, वनमें मेघका वरसना सबको इष्ट है यह कहावत जो सुनी जाती थी सो आज यहाँ आपके द्वारा धर्मरूपी जलकी वर्षा देखकर मुझे प्रत्यक्ष हो गयी । भावार्थ—जिस प्रकार वनमें पानीकी वर्षा सबको अच्छी लगती है उसी प्रकार इस कैलासके काननमें

१. सभास्थाने । 'शोडशसोरधेराधारः' इति सूत्रात्सप्तम्यर्थे द्वितीया । २. तमःप्रलयः—अज्ञानमूर्च्छा । 'प्रलयो मृत्युकल्पान्तमूर्च्छादिषु प्रयुज्यते ।' अथवा 'प्रलयो महत्तेष्टता' इत्यमरः । ३. भवद्वाच्यं अ० । ४. -रसोपयुक् न०, अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । ५. इन्द्रः मेघः । ६. यस्मात् कारणात् ।

वयोपदिशता तत्त्वं किं नाम परिशेषितम् । धूतान्धतमसो भास्वान्^१ भास्यं किमत्रशेषयेत् ॥१६३॥
 वयोपदिशते तत्त्वे सतां मोमुह्यते न धीः ।^२ महस्यादशिते वर्त्मन्यनन्धः कः परिस्वलेत् ॥१६४॥
 वद्वचोविस्तरे कृत्स्नं वस्तुविम्बं मयेक्षितम् । त्रैलोक्यश्रीमुखालोकमङ्गलान्दत्तलायिते ॥१६५॥
 तथापि किमपि प्रष्टुमिच्छा मे हृदि वर्तते । भवद्भूषोमृतामीक्ष्य^३ पिपासा तत्र कारणम् ॥१६६॥
 गणेशमथबोलह्वय त्वां प्रष्टुं क इवाहकम्^४ । भक्तो न गणयामोदमतिभक्तिश्च नेष्यते^५ ॥१६७॥
 किंविशेषैषितैषा मे किमनीषलमादरः^६ । श्रद्धोष्कर्षीधिर्कीर्षी^७ नु^८ सुखरांकुहतेऽद्य माम् ॥१६८॥
 भगवन् श्रोतुकामोऽस्मि विश्वभुग्धर्मसंग्रहम् । पुराणं महतां पुंसां प्रसीद कुरु मे दयाम् ॥१६९॥
 स्वत्समाः कति सर्वज्ञा मत्समाः कति चक्रिणः । केशवाः कति वा देव सरामाः कति तद्दिषः ॥१७०॥
 कीदृशं^९ वृत्तकं तेषां वृत्तं^{१०} वर्त्त्येव^{११} तत्त्वज्ञैः^{१२} तत्त्वज्ञां^{१३} तत्त्वज्ञानं^{१४} मेदुर्लभं^{१५} वदः^{१६} कदाचित्^{१७} ॥१७१॥
 किंनामानश्च ते सर्वे किंगोत्राः किसनाभयः । किलङ्मायः किमाकाराः^{१८} किमाहार्याः किमायुधाः ॥१७२॥

आपके द्वारा होनेवाली धर्मरूपी जलकी वर्षा सबको अच्छी लग रही है ॥१६३॥ हे भगवन्, उपदेश देते हुए आपने किस पदार्थको छोड़ा है ? अर्थात् किसीको भी नहीं । क्या सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य किसी पदार्थको प्रकाशित करनेसे बाकी छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं ॥१६३॥ हे भगवन्, आपके द्वारा दिखलाये हुए तत्त्वोंमें सत्पुरुषोंकी बुद्धि कभी भी मोहको प्राप्त नहीं होती । क्या महापुरुषोंके द्वारा दिखाये हुए विशाल मार्गमें नेत्रवाला पुरुष कभी गिरता है ? अर्थात् नहीं गिरता ॥१६४॥ हे स्वामिन्, तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगल दर्पणके समान आचरण करनेवाले आपके इन वचनोंके विस्तारमें प्रतिबिम्बित हुई संसारकी समस्त वस्तुओंको यद्यपि मैं देख रहा हूँ तथापि मेरे हृदयमें कुछ पूछनेकी इच्छा उठ रही है और उस इच्छाका कारण आपके वचनरूपी अमृतके निरन्तर पान करते रहनेकी लालसा ही समझनी चाहिए ॥१६५-१६६॥ हे देव, यद्यपि लोग कह सकते हैं कि गणधरको छोड़कर साक्षात् आपसे पूछनेवाला यह कौन है ? तथापि मैं इस बातको कुछ नहीं समझता, आपकी सातिशय भक्ति ही मुझे आपसे पूछनेके लिए प्रेरित कर रही है ॥१६७॥ हे भगवन्, पदार्थका विशेष स्वरूप जाननेकी इच्छा, अधिक लाभकी भावना, श्रद्धाकी अधिकता अथवा कुछ करनेकी इच्छा ही मुझे आपके सामने याचाल कर रही है ॥१६८॥ हे भगवन्, मैं तीर्थंकर आदि महापुरुषोंके उस पुण्यको सुनना चाहता हूँ जिसमें सर्वज्ञप्रणीत समस्त धर्मोंका संग्रह किया गया हो । हे देव, मुझपर प्रसन्न होइए, दया कीजिए और कहिए कि आपके समान कितने सर्वज्ञ-तीर्थंकर होंगे ? मेरे समान कितने चक्रवर्ती होंगे ? कितने नारायण, कितने बलभद्र और कितने उनके शत्रु-प्रतिनारायण होंगे ? उनका अतीत चरित्र कैसा था ? वर्तमानमें और भविष्यत्में कैसा होगा ? हे वस्तुश्रेष्ठ, यह सब मैं आपसे सुनना चाहता हूँ ॥१६९-१७१॥ हे सबका हित करनेवाले जिनेन्द्र, यह भी कहिए कि वे सब किन-किन नामोंके धारक होंगे ? किस-किस गोत्रमें उत्पन्न होंगे ? उनके सहोदर कौन-कौन होंगे ? उनके क्या-क्या लक्षण होंगे ? वे किस आकारके धारक होंगे ? उनके क्या-क्या

१. प्रकाश्यम् । २. महतादशिते ल० । ३. पुनः पुनः । ४. कुत्सितोऽहम् । ५. नेष्यते अ० ।
 ६. विशेषमेष्टुमिच्छन्तीत्येवं शोलः विशेषेणो तस्य भावः । ७. सुदुर्लभादरः । ८. तत्त्वविद्व-ल० । ९. नर्षा
 मु-त० । १०. सुमुखरो-प०, द०, । ११. चारित्र्यम् । १२. भविष्यत् । १३. वर्तमानम् । १४. श्रोतु-म०.
 ल० । १५. वदतां वरः आ०, प० । १६. कानि नामानि येषां ते । १७. किमाभरणम् ।

किं तेषामायुषो मातं किं वर्ष्म^१ किमथान्तरम् । कुतूहलमिदं ज्ञातुं विह्वं^२ विश्वजनीन मे ॥१७३॥
 कस्मिन् युगे कियन्तो वा^३ युगांशाः किं युगान्तरम्^४ । युगानां परिवर्तो वा कतिकृत्वः प्रवर्तते ॥१७४॥
 युगस्य कथिते[कतिपे^५]मागे मनवो मन्वते^६ च किम् । किं वा मन्वन्तरं देव^७ तत्त्वं मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥१७५॥
 लोकं कालावतारं च^८ वंशोत्पत्तिलयस्थितिः । वर्णसंभूतिमन्यच्च^९ ब्रुमुस्तेऽहं भवन्मुखात् ॥१७६॥
 अनादिवासनोद्भूतमिध्याज्ञानसमुत्थितम् । मुद मे संशयध्वान्तं जिनाकं वचनांशुभिः ॥१७७॥
 इति प्रश्नमुपन्यस्य भरतः^{१०} शतमातुरः^{११} । विरराम यथास्थानमासीनश्च^{१२} कथोत्सुकः ॥१७८॥
 लब्धावसरमिदार्थं^{१३} सुसंबद्धमनुदत्तम् । अभ्यनन्दत् सभा कृत्स्ना प्रश्नमस्पोषितुर्विशाम्^{१४} ॥१७९॥
 तत्क्षणं^{१५} सत्कथामुपनात्तवर्णिजराः^{१६} सुराद्यु विह्वलमिच्छामहे^{१७} तत्परिज्ञा^{१८} भरतं प्रति ॥१८०॥
 साधु भो भरताभीश^{१९} प्रतीक्ष्योऽसि त्वमद्य नः । प्रशंसांसुरितीन्द्रास्तं प्रश्रयात् को न शस्यते ॥१८१॥
 प्रश्नाद्विनैव^{२०} तन्नाथं जानन्नपि स सर्ववित् । तत्प्रश्नात्तत्सुदैक्षिष्ट^{२१} प्रतिपन्नुरोधतः ॥१८२॥

आभूषण होंगे ? उनके क्या-क्या अस्त्र होंगे ? उनकी आयु और शरीरका प्रमाण क्या होगा ? एक-दूसरेमें कितना अन्तर होगा ? किस युगमें कितने युगोंके अंश होते हैं ? एक युगसे दूसरे युगमें कितना अन्तर होगा ? युगोंका परिवर्तन कितनी बार होता है ? युगके कौन-से भागमें मनु-कुलकर उत्पन्न होते हैं ? वे क्या जानते हैं ? एक मनुसे दूसरे मनुके उत्पन्न होने-तक कितना अन्तराल होता है ? हे देव, यह सब जाननेका मुझे कौतूहल उत्पन्न हुआ है। सो यथार्थ रीतिसे मुझे इन सब तत्त्वोंका स्वरूप कहिए ॥१७२-१७५॥ इसके सिवाय लोकका स्वरूप, कालका अवतरण, वंशोंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी उत्पत्ति भी मैं आपके श्रीमुखसे जानना चाहता हूँ ॥१७६॥ हे जिनेन्द्रसूर्य, अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न हुए मिध्याज्ञानसे सातिशय बदे हुए मेरे इस संशय-रूपी अन्धकारको आप अपने वचनरूप किरणोंके द्वारा शीघ्र ही नष्ट कीजिए ॥१७७॥ इस प्रकार प्रश्न कर महाराज भरत जब चुप हो गये और कथा सुननेमें उत्सुक होते हुए अपने योग्य आसनपर बैठ गये तब समस्त सभाने भरत महाराजके इस प्रश्नकी सातिशय प्रशंसा की जो कि समयके अनुसार किया गया था, प्रकाशमान अर्थोंसे भरा हुआ था, पूर्वापर सम्बन्धसे सहित था तथा उद्धतपनेसे रहित था ॥१७८-१७९॥ उस समय उनके इस प्रश्नको सुनकर सब देवता लोग महाराज भरतकी ओर आँख उठाकर देखने लगे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे उनपर पुष्पवृष्टि ही कर रहे हैं ॥१८०॥ हे भरतेश्वर, आप धन्य हैं, आज आप हमारे भी पूज्य हुए हैं । इस प्रकार इन्द्रोंने उनकी प्रशंसा की थी सो ठीक ही है, वित्तसे किसकी प्रशंसा नहीं होती ? अर्थात् सभीकी होती है ॥ १८१ ॥ संसारके सब पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले भगवान् वृषभनाथ यद्यपि प्रश्नके बिना ही भरत महाराजके अभिप्रायको जान गये थे तथापि वे श्रोताओंके अनुरोधसे प्रश्नके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते रहे ॥१८२॥

१. वर्ष्म प्रमाणं वारीरोत्सेव इत्यर्थः । २. विश्वजनेभ्यो हित । ३. युगान्ताः म० । सुषमावयः । ४. अवधिः । ५. कतीनां पूरणम् । ६. जानन्ति । ७. तत् त्वमिति पदविभागः । ८. वंशोत्पत्तिं लयस्थितिं ल० । ९. बोद्धुमिच्छामि । १०. शतस्य माता शतमाता, शतमातुरपत्यं शतमातुरः । 'संख्यासम्बन्धमस्तुर्बुध्' । ११. सुष्णीं स्थितः । १२. उपविष्टः । १३. इदं समृद्धः । १४. विश्रामोक्षितुः राज्ञः । १५. प्रतीतां व०, म०, ल० । प्रतीतं प० । १६. पूज्यः । १७. विनापि व०, प० । १८. प्रतिपन्नविरोधतः स० ।

इति विज्ञापितस्तेन भगवानादितीर्थं कृत । स्वाजहार पुराणार्थमतिगम्भीरया गिरा ॥१८३॥

अपरिस्पन्दतात्वादेरसदृशानद्युतेः । स्वयंभुवो मुखाम्भोजाज्जाता चित्रं सरस्वती ॥१८४॥

प्रसवागारमेतस्याः सत्यं तद्वक्त्रपङ्कजम् । तत्र लब्धारमलामा सा यजगद्वशमानयत् ॥१८५॥

विवक्षया विनैवास्य दिव्यो वाक्प्रसरोऽभवत् । महतां चेष्टितं चित्रं जगदभ्युज्जिहीर्षताम् ॥१८६॥

एकरूपापि तज्जाया ओषून् प्राप्य पृथग्विधान् । भेजे नानात्मतां कुदवाजलक्ष्मिनिवाक्त्रिपदान् ॥१८७॥

परार्थं स कृतार्थोऽपि यदैष्टि जगद्गुरुः । तन्नूनं महतां चेष्टा परार्थैव निसर्गतः ॥१८८॥

त्वम्मुखात् प्रसृता वाणी दिव्या तां महतीं सभाम् । प्रीणयामास सौधीव धारा संतापहारिणी ॥१८९॥

यत्पृष्ठमादितस्तेन तत् सर्वमनुपूर्वशः^१ । वाक्स्वप्तिरनायासाद् भरतं प्रत्यबुधुधत् ॥१९०॥

प्रोषोत्सर्पिणीकालसम्बन्धि पुरुषाश्रयम्^२ । पुराणमतिगम्भीरं स्वाजहार जगद्गुरुः ॥१९१॥

ततोऽवसर्पिणीकालमाश्रित्य प्रसृता^३ कथाम् । प्रसृतोऽयन् स पुराणस्य पीठिकां प्राक्समावृष्टे^४ ॥१९२॥
 यामिदं हि किं -- आजाय श्री सुविद्विजगत् जी महाराज
 इतिवृत्तं पुराणस्य यत्प्रोवाच गिरापतिः । गणो वृषभसेनाव्यस्तसदाभि^५ जगोऽर्थतः^६ ॥१९३॥

इस प्रकार महाराज भरतके द्वारा प्रार्थना किये गये आदिनाथ भगवान् सातिशय गम्भीर वाणीसे पुराणका अर्थ कहने लगे ॥ १८३ ॥ उस समय भगवान् के मुखसे जो वाणी निकल रही थी वह बड़ा ही आश्चर्य करनेवाली थी क्योंकि उसके निकलते समय न तो तालु, कण्ठ, ओठ, आदि अवयव ही हिलते थे और न दाँतोंकी किरण ही प्रकट हो रही थी ॥ १८४ ॥ अथवा सचमुचमें भगवान् का मुखकमल ही इस सरस्वतीका उत्पत्तिस्थान था उसने वहाँ उत्पन्न होकर ही जगत् को वशमें किया ॥ १८५ ॥ भगवान् के मुखसे जो दिव्य ध्वनि प्रकट हो रही थी वह बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक है क्योंकि जगत् का उद्धार चाहनेवाले महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली ही होती हैं ॥ १८६ ॥ जिस प्रकार नहरोंके जलका प्रवाह एकरूप होनेपर भी अनेक प्रकारके वृक्षोंको पाकर अनेकरूप हो जाता है उसी प्रकार जिनैन्द्रदेवकी वाणी एकरूप होनेपर भी पृथक्-पृथक् श्रोताओंको प्राप्तकर अनेकरूप हो जाती है । भावार्थ— भगवान् की दिव्य ध्वनि उद्गम स्थानसे एकरूप ही प्रकट होती है परन्तु उसमें सर्वभाषारूप परिणमन होनेका अतिशय होता है जिससे सब श्रोता लोग उसे अपनी-अपनी भाषामें समझ जाते हैं ॥ १८७ ॥ वे जगद्गुरु भगवान् स्वयं कृतकृत्य होकर भी धर्मोपदेशके द्वारा दूसरोंकी भलाईके लिए उद्योग करते थे । इससे निश्चय होता है कि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ स्वभावसे ही परोपकारके लिए होती हैं ॥ १८८ ॥ उनके मुखसे प्रकट हुई दिव्यवाणीने उस विशाल सभाको अमृतकी धाराके समान सन्तुष्ट किया था क्योंकि अमृतधाराके समान ही उनकी वाणी भव्य जीवोंका सन्ताप दूर करनेवाली थी, जन्म-मरणके दुःखसे छुड़ानेवाली थी ॥ १८९ ॥ महाराज भरतने पहले जो कुछ पूछा था उस सबको भगवान् वृषभदेव बिना किसी कष्टके कमपूर्वक कहने लगे ॥ १९० ॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले उत्सर्पिणीकाल सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषोंका चरित्र निरूपण करनेवाले अत्यन्त गम्भीर पुराणका निरूपण किया, फिर अवसर्पिणीकालका आश्रय कर तत्सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषोंकी कथा कहनेकी इच्छासे पीठिकासहित उनके पुराणका वर्णन किया ॥ १९१-१९२ ॥ भगवान् वृषभनाथने तृतीय कालके

१. यत् कारणात् । २. भानयेत् व०, स० । ३. अभ्युद्धतुं भिन्नताम् । ४. 'पयःप्रणालोसरितोः कुल्या' ।
 ५. चेष्टयामास । ६. अनुक्रमेण । ७. पुरुषाश्रितम् । ८. प्रकृतम् । ९. प्रवक्ष्यन् । १०. मावदे १०, व०, स० ।
 ११. ऐतिह्यम् । १२. सर्वजः । १३. तदाधिजगद्वर्षतः स० । १४. जातवान् । इद् अभ्ययने । 'पाटलि' इडो
 लिटि पाट् भवति इति पाठादेशः । १५. गम्भीरकर्मा विना ।

ततः स्वयंभुवी वाणीमवधार्यार्थतः कृती । जगद्धिताय सोऽग्रन्थीतत्पुराणं गणाग्रणीः ॥१९४॥
 शेषैरपि तथा तीर्थकृत्तिगणधरैरपि । महर्षिभिर्विधात्मनाथं तत्पुराणं प्रकाशितम् ॥१९५॥
 ततो युगान्ते भगवान् वीरः सिद्धार्थनन्दनः । विपुलाद्रिमलं कुर्वन्नेकदास्ताखिलार्थदक् ॥१९६॥
 अथोपसृत्य तत्रैवं पश्चिमं तीर्थनाथकम् । पप्रच्छासुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥१९७॥
 तं प्रत्यनुग्रहं भर्तुर्वबुध्य गणाधिपः । पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्ववोचत् स गौतमः ॥१९८॥
 तत्तद्वानुस्मृतं तत्र गौतमेन महर्षिणा । ततोऽबोधि सुधर्मोऽसौ जम्बूनाम्ने समर्पयत् ॥१९९॥
 ततः प्रभृत्यधिच्छिन्नगुरुपर्वकमागतम् । पुराणमधुनास्माभिर्विधाशक्तिः प्रकाश्यते ॥२००॥
 तत्रोऽत्र मूलतन्त्रस्य कर्ता पश्चिमतीर्थकृत् । गौतमश्चानुतन्त्रस्य प्रत्यासत्तिकमाश्रयात् ॥२०१॥
 श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य गौतमः प्रथमावत । इतीदमनुसंधाय प्रबन्धोऽयं निबध्यते ॥२०२॥
 इतीदं प्रमुखं नाम कथासंक्षेपसूचनम् । कथामामाण्यसंसिद्धानुपयोगीति वर्णितम् ॥२०३॥
 पुराणमृषिभिः प्रोक्तं प्रमाणं सूक्तमाञ्जसम् । ततः श्रद्धेयमध्येयं ध्येयं श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥२०४॥
 इदं पुण्यमित्रं पवित्रं मङ्गलसूचनम् । इदमव्याप्त्यमं न शतासुं स्वर्ग्यमेव च ॥२०५॥

अन्तर्मे जो पूर्वकालीन इतिहास कहा था, वृषभसेन गणधरने उसे अर्थरूपसे अध्ययन किया ॥१९३॥ तदनन्तर गणधरोंमें प्रधान वृषभसेन गणधरने भगवान्‌की वाणीको अर्थरूपसे हृदयमें धारण कर जगत्‌के हितके लिए उसकी पुराणरूपसे रचना की ॥१९४॥ वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थकर्तों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियों-द्वारा प्रकाशित किया गया ॥१९५॥

तदनन्तर चतुर्थ कालके अन्तर्मे एक समय सिद्धार्थ राजाके पुत्र सर्वज्ञ महावीर स्वामी विहार करते हुए राजगृहीके विपुलाचल पर्वतपर आकर विराजमान हुए ॥१९६॥ इसके बाद पता चलनेपर राजगृहीके अधिपति विनयवान् श्रेणिक महाराजने जाकर उन अन्तिम तीर्थकर-भगवान् महावीरसे उस पुराणको पूछा ॥१९७॥ महाराज श्रेणिकके प्रति महावीर स्वामीके अनुग्रहका विचार कर गौतम गणधरने उस समस्त पुराणका वर्णन किया ॥१९८॥ गौतम स्वामी फिरकाल तक उसका स्मरण-चिन्तन करते रहे, बादमें उन्होंने उसे सुधर्माचार्यसे कहा और सुधर्माचार्यने जम्बूस्वामीसे कहा ॥१९९॥ उसी समयसे लेकर आज तक यह पुराण बीचमें नष्ट नहीं होनेवाली गुरुपरम्पराके क्रमसे चला आ रहा है । इसी पुराणका मैं भी इस समय शक्तिके अनुसार प्रकाश करूँगा ॥२००॥ इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि इस पुराणके मूलकर्ता अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर हैं और निकट क्रमकी अपेक्षा उत्तर ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर हैं ॥२०१॥ महाराज श्रेणिकके प्रश्नको उद्देश्य करके गौतम स्वामीने जो उत्तर दिया था उसीका अनुसंधान-विचार कर मैं इस पुराण ग्रन्थकी रचना करता हूँ ॥ २०२ ॥ यह प्रतिमुख नामका प्रकरण कथाके सम्बन्धको सूचित करनेवाला है तथा कथाकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए उपयोगी है अतः मैंने यहाँ उसका वर्णन किया है ॥२०३॥ यह पुराण ऋषियोंके द्वारा कहा गया है इसलिए निश्चयसे प्रमाणभूत है । अतएव आत्मकल्याण चाहनेवालोंको इसका श्रद्धान, अध्ययन और ध्यान करना चाहिए ॥२०४॥ यह पुराण पुण्य बढ़ानेवाला है, पवित्र है, उत्तम मङ्गलरूप है, आयु बढ़ानेवाला है, श्रेष्ठ है, यश बढ़ानेवाला

१. महर्षिभिः—म०, ल० । २. प्रोक्तम् । ३. समवसरणे । ४. प्रत्यासत्तिः संबन्धः । ५. अवधार्य
 ६. पुराणम् । ७. इदं प्रतिमुखं अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । ८. इदं प्रमुखम् एतदादि । ९. सूक्तमञ्जसा
 द०, म०, प०, ल० । १०. माङ्गल्य—अ०, प०, स०, द०, म० ल० । ११. आयुःकरम् ।

इदमर्चयतां शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्च दृच्छताम् । पठतां क्षेममारोग्यं शृण्वतुं कर्मनिर्जरा ॥२०६॥
इतो दुःस्वप्ननिर्णाशः सुस्वप्नस्फातिरेव^१ च । इतोऽभीष्टफलव्यक्तिर्निमित्तमभिपश्यताम् ॥२०७॥

हरिणीकलुन्धः

‘वृषभकविमिरातं मार्गं’^२ वयं^३ च^४ किला^५ बुना^६ आचार्य श्री सुविद्विदागार जी महाराज
अजितुमनसो हास्यं लोके किमन्यदतः परम् ।
घटितमथवा नैतच्छिन्नं पतत्यतिलङ्घितं^७
गगनमितरं नाकामेषुः किमल्पशकुन्तयः ॥२०८॥

मात्सिनीकलुन्धः

इति वृषभकवीश्रैद्योतितं मार्गमेवं
वयमपि च यथावद् द्योतयामः स्वशाक्त्या ।
सवितृकिरणजालैद्योतितं व्योममार्गं^८
विरलमुद्गुणोऽयं मासयेत् किं न लोके ॥२०९॥

हैं और स्वर्ग प्रदान करनेवाला है ॥२०५॥ जो मनुष्य इस पुराणकी पूजा करते हैं उन्हें शान्ति-
की प्राप्ति होती है, उनके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं; जो इसके विषयमें जो कुछ पूछते हैं उन्हें
सन्तोष और पुष्टिकी प्राप्ति होती है; जो इसे पढ़ते हैं उन्हें आरोग्य तथा अनेक मङ्गलोंकी
प्राप्ति होती है और जो सुनते हैं उनके कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है ॥ २०६ ॥ इस पुराणके
अध्ययनसे दुःख देनेवाले छोटे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, तथा सुख देनेवाले अच्छे स्वप्नोंकी
प्राप्ति होती है, इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है तथा विचार करनेवालोंको शुभ अशुभ
आदि निमित्तों-शकुनोंकी उपलब्धि भी होती है ॥२०७॥ पूर्वकालमें वृषभसेन आदि गणधर
जिस मार्गसे गये थे इस समय मैं भी उसी मार्गसे जाना चाहता हूँ अर्थात् उन्होंने जिस
पुराणका निरूपण किया था उसीका निरूपण मैं भी करना चाहता हूँ सो इससे मेरी
हँसी ही होगी, इसके सिवाय हो ही क्या सकता है ? अथवा यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं
है क्योंकि जिस आकाशमें गरुड़ आदि बड़े-बड़े पक्षी उड़ते हैं उसमें क्या छोटे-छोटे पक्षी
नहीं उड़ते ? अर्थात् अवश्य उड़ते हैं ॥ २०८ ॥ इस पुराणरूपी मार्गको वृषभसेन आदि
गणधरोंने जिस प्रकार प्रकाशित किया है उसी प्रकार मैं भी इसे अपनी शक्तिके अनुसार
प्रकाशित करता हूँ । क्योंकि लोकमें जो आकाश सूर्यकी किरणोंके समूहसे प्रकाशित होता
है उसी आकाशको क्या तारागण प्रकाशित नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं । भावार्थ-
मैं इस पुराणको कहता अवश्य हूँ परन्तु उसका जैसा विशद निरूपण वृषभसेन आदि
गणधरोंने किया था वैसा मैं नहीं कर सकता । जैसे तारागण आकाशको प्रकाशित करते

१. सुस्वप्नस्फातिरेव-प०, सुस्वप्नस्याप्तिरेव ल०, म०, द०, अ० । २. स्फातिः वृष्टिः । ३. वृषभः
मुख्यः । ४. पतत्यतिलङ्घितम् म०, द०, ल० ।

श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतं हृदयमुकुलितं धुन्वदाधारं बोधं

सिद्ध्यर्थं प्रकाशितं तस्मै नमः ।

सद्वृत्तं शुद्धमार्गप्रकटनमहिमाकृष्टं यद् ब्रह्मविम्ब-

प्रस्पन्दोद्भिदि जैनं जगति विजयतां पुण्यमेतत् पुराणम् ॥२१०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुत्खर्णनं नाम प्रथमं पर्व ॥१॥

अवश्य हैं परन्तु सूर्यकी भाँति प्रकाशित नहीं कर पाते ॥२०९॥ बोध-सम्यग्ज्ञान (पक्षमें विकास) की प्राप्ति कराकर सातिशय शोभित भव्य जीवोंके हृदयरूपों कमलोंके संकोचको दूर करनेवाला, वचनरूपी किरणोंके विस्तारसे मिथ्यामतरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला सद्वृत्त-सदाचारका निरूपण करनेवाला अथवा उत्तम छन्दोंसे सहित (पक्षमें गोलाकार) शुद्ध मार्ग-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग (पक्षमें कण्टकादिरहित उत्तम मार्ग) को प्रकाशित करनेवाला और इहर्द्धि-प्रकाशमान शब्द तथा अर्थरूप सम्पत्तिसे (पक्षमें उज्ज्वल किरणोंसे युक्त) सूर्यबिम्बके साथ स्पर्धा करनेवाला यह जिनेन्द्रदेवसम्बन्धी पवित्र-पुण्यवर्धक पुराण जगत्में सदा जयशील रहे ॥२१०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे मसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें 'कथामुत्खर्णन' नामक प्रथम पर्व समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयं पर्व

तमाधिदेवं देवानामधिदेवं स्वयम्भुवम् । प्रणम्य तत्पुराणस्य प्रच्युतोद्घातं विस्तरम् ॥ १ ॥

अथातो धर्मविज्ञानासमाहितमिति कृतो । श्रेणिकः परिप्रच्छ गौतमं गणभृत्प्रभुम् ॥ २ ॥

समाधिदेवः ॥ १ ॥ तमाधिदेवं देवानामधिदेवं स्वयम्भुवम् । प्रणम्य तत्पुराणस्य प्रच्युतोद्घातं विस्तरम् ॥ २ ॥

त्वमकारणबन्धुर्मत्त्वमकारणवत्सलः । त्वमकारणवैद्योऽसि दुःखातङ्कातितात्मनाम् ॥ ३ ॥

पुण्याभिषेकमभितः कुर्वन्ताव शिरस्सु नः । न्योमगङ्गाश्रुसञ्छायां युष्मत्पादनखांशवः ॥ ४ ॥

तव दीप्ततपोलब्धैरङ्गलक्ष्मीः प्रतायिनी । अकालेऽप्यनुसंधसे सान्द्रकालातपश्रियम् ॥ ५ ॥

यथा जगदिदं कृत्स्नमविद्यामीलितेक्षणम् । सद्यः प्रबोधमानोत मास्वतेवादिजनीवनम् ॥ ६ ॥

यत्नेन्दुकिरणैः स्पृष्टमनालीढं रवेः करैः । तत्त्वया हेलयोर्दस्तमस्तध्वान्तं वन्द्योऽधुमिः ॥ ७ ॥

तवोच्छ्रिताः स्फुरन्मेता योगिन् सप्त महर्षयः । कर्मन्धनदहोदीप्ताः सप्तार्चिष इवार्चिषः ॥ ८ ॥

अब मैं देवाधिदेव स्वयम्भू भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर उनके इस महापुराण-सम्बन्धी उपोद्घात-प्रारम्भका विस्तारके साथ कथन करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर धर्मका स्वरूप जाननेमें जिसकी बुद्धि लग रही है, ऐसे बुद्धिमान् श्रेणिक महाराजने गणनायक गौतम स्वामी-से पूछा ॥२॥ हे भगवन्, श्रीवर्द्धमान स्वामीके मुखसे यह सम्पूर्ण पुराण अर्थरूपसे मैंने सुना है अब आपके अनुग्रहसे उसे ग्रन्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥३॥ हे स्वामिन्, आप हमारे अकारण बन्धु हैं, हमपर बिना कारणके ही प्रेम करनेवाले हैं तथा जन्म-मरण आदि दुखदायी रोगोंसे पीड़ित संसारी प्राणियोंके लिए अकारण-स्वार्थरहित वैद्य हैं ॥४॥ हे देव, आकाशगङ्गाके जलके समान स्वच्छ, आपके चरणोंके नखोंकी किरणें जो हमारे शिरपर पड़ रही हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो मेरा सब ओरसे अभिषेक ही कर रही हों ॥५॥ हे स्वामिन्, उग्र तपस्याकी लब्धिसे सब ओर फैलनेवाली आपके शरीरकी आभा असमयमें ही प्रातःकालीन सूर्यकी सान्द्र-सघन शोभाको धारण कर रही है ॥६॥ हे भगवन्, जिस प्रकार सूर्य रातमें निमीलित हुए कमलोंको शीघ्र ही प्रबोधित-विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञान रूपी निद्रामें निमीलित-सोये हुए इस समस्त जगत्को प्रबोधित-जागृत कर दिया है ॥७॥ हे देव, हृदयके जिस अज्ञानरूपी अन्धकारको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे छू नहीं सकता तथा सूर्य भी अपनी रश्मियोंसे जिसका स्पर्श नहीं कर सकता उसे आप अपने वचनरूपी किरणोंसे अनायास ही नष्ट कर देते हैं ॥८॥ हे योगिन्, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आपकी यह बुद्धि आवि सात ऋद्धियों ऐसी मालूम होती हैं मानो कर्मरूपी ईंधनके जलानेसे उद्दीप्त हुई

१. उपक्रमः । 'उपोद्घात उदाहरः' इत्यभिधानात् । २. समाहिता संलोना । ३. दुःखातङ्कादिनात्मनाम् द०, स०, अ०, प०, ल० । ४. समानाः । ५. ऋद्धेः । ६. विस्तारिणी । ७. अविद्या अनित्याऽशुचिदुःखाज्ञाना-त्मसु विपरीता व्यापृतिरविद्या । ८. निरस्तम् । ९. कर्मन्धनदहोदीप्ताः द० । कर्मन्धनानि दहन्तीति कर्मन्धन-दहः । १०. अग्नेः ।

इदं पुण्याश्रमस्थानं पवित्रं त्वत्प्रतिश्रवणम् । रक्षारण्यमिवाभाति तपोलक्ष्म्या निराकुलम् ॥१०॥
 अत्रैते पशवो वन्या^१ पुष्टा सृष्टैस्तृणाङ्गुरैः । न कर्मसंवाधां जानन्त्यपि कदाचन ॥११॥
 पादप्रधावनोत्सृष्टैः^२ कमण्डलुजलैरिमे । अमृतैरिव वर्द्धन्ते भृगुजायाः पवित्रिताः ॥१२॥
 सिंहस्तनन्धयानत्र करिण्यः पाययन्त्यमूः । सिंहधेनुस्तनं स्तैरं स्पृशन्ति कलभा इमे ॥१३॥
 अहो परमभाश्चर्यं यद्वाचोऽप्यमो मृगाः । मज्जन्ति भगवत्पादच्छायां मुनिगणा इव ॥१४॥
^३अकृतस्यस्कलाश्रामी प्रसूनफलशालिनः । धर्मारामतरुयन्ते परितो वनपादपाः ॥१५॥
 इमा वनलता रम्याः प्रकुल्ला भ्रमरैर्वृताः । न विदुः^४ करसंवाधां राजन्वत्य इव प्रजाः ॥१६॥
 तपोवनमिदं रम्यं^५ परितो विपुलाचलम् । दयावनमिवोद्भूतं प्रसादमिति मे मनः ॥१७॥
 मार्गदर्शकं तपोवनं^६ जीर्णतपोवनं^७ सुखदं^८ । जगत्सर्वस्य साधनेन मोक्षमार्गमुपासते ॥१८॥
 इति प्रस्पष्टमाहात्म्यः कृती जगदनुग्रहे । भगवन् भगवत्सार्थस्य^९ सार्थवाहायते नवान् ॥१९॥
 ततो ब्रूहि महायोगिन् न ते कश्चिदगोचरः । तव ज्ञानांशो दिव्याः^{१०} प्रसरन्ति जगत्त्रये ॥२०॥

अग्निकी सात शिखाएँ ही हों ॥१॥ हे भगवन्, आपके आश्रयसे ही यह समवसरण पुण्य-
 का आश्रमस्थान तथा पवित्र हो रहा है अथवा ऐसा मालूम होता है मानो तप रूपो लक्ष्मीका
 उपद्रवरहित रक्षावन ही हो ॥१०॥ हे नाथ, इस समवसरणमें जो पशु बैठे हुए हैं वे धन्य
 हैं, इनका शरीर मीठी घासके खानेसे अत्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं
 (जानवरों)-द्वारा होनेवाली पीड़ाको कभी जानते ही नहीं हैं ॥११॥ पादप्रक्षालन करनेसे
 इधर-उधर फैले हुए कमण्डलुके जलसे पवित्र हुए ये हरिणोंके बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं
 मानो अमृत पीकर ही बढ़ रहे हों ॥१२॥ इस ओर ये हथिनियाँ सिंहके बच्चेको अपना
 दूध पिला रही हैं और ये हाथीके बच्चे स्वेच्छासे सिंहनीके स्तनोंका स्पर्श कर रहे हैं—दूध
 पी रहे हैं ॥१३॥ अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिन हरिणोंको बोलना भी नहीं आता
 वे भी मुनियोंके समान भगवान्के चरणकमलोंकी छायाका आश्रय ले रहे हैं ॥१४॥ जिनकी
 छालोंको कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलोंसे शोभायमान हैं ऐसे सब ओर लगे
 हुए ये वनके वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानो धर्मरूपी वगीचेके ही वृक्ष हैं ॥१५॥ ये फूली हुई
 और भ्रमरोंसे विरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं ? ये सब न्यायवान् राजाकी प्रजाकी
 तरह कर-नाथा (हाथसे फल-फूल आदि तोड़नेका दुःख, पक्षमें टैक्सका दुःख) को तो
 जानती ही नहीं हैं ॥१६॥ आपका यह मनोहर तपोवन जो कि विपुलाचल पर्वतके चारों
 ओर विद्यमान है, प्रकट हुए दयावनके समान मेरे मनको आनन्दित कर रहा है ॥१७॥
 हे भगवन्, उप्र तपश्चरण करनेवाले ये दिगम्बर तपस्वीजन केवल आपके चरणोंके प्रसादसे ही
 मोक्षमार्गकी उपासना कर रहे हैं ॥१८॥ हे भगवन्, आपका माहात्म्य अत्यन्त प्रकट है, आप
 जगत्के उपकार करनेमें सातिशय कुशल हैं अतएव आप भव्य समुदायके सार्थवाह—नायक
 गिने जाते हैं ॥१९॥ हे महायोगिन्, संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञानका
 विषय न हो, आपकी मनोहर ज्ञानकिरणें तीनों लोकोंमें फैल रही हैं इसलिए हे देव, आप ही

१. वन्याः अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । २. पादप्रधावनोत्सृष्टविशिष्टसलिलैरिमे प०, द० ।
 ३. अकृतः अकिञ्चनः । ४. विदुः हस्तः बलिश्च । ५. विपुलगिरेरभितः । "हाविक्समयानिकषाप-
 र्युपर्यधोज्यन्तरान्तरैणतस्पर्यभिपरोऽभयैश्चाप्रधानेऽमोदशस् ।" ६. वायुर्लकलं येषां ते दिगम्बराः । ७. कुशलः ।
 ८. भगवत्सार्थस्य सार्थस्य अ०, स० । १०. सङ्घस्य । ११. सार्थवाहः वणिक्रेष्टः । १२. दीप्ताः अ०, स० ।

विज्ञाप्यमन्यदप्यस्ति समाधाय मनः शृणु । ^१यतो ^२भगवत्तत्तत्तं दृढं स्यान्नतदनुग्रहे ॥२१॥

पुरा चरितमज्ञानान्मया दुश्चरितं महत् । तस्यैनसः प्रशान्त्यर्थं प्रायश्चित्तं चराम्यहम् ॥२२॥

हिंसानुता ^३व्यरैरामारस्यात्मपरिग्रहैः । मया संचितमज्जनं पुनैनो ^४निरयोचितम् ॥२३॥

कृतो मुनिवधानन्दस्तीक्ष्णो मिथ्यादृष्टा मया । येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाश्रीं सति प्रति ॥२४॥

तत्प्रसीद विमो वक्तुमाभूलात् पावनीं कथाम् । निष्कथो ^५दुष्कृतस्यास्तु मम पुण्यकथाश्रुतिः ॥२५॥

इति प्रश्रयिणी वाचमुदीर्य ^६भगवाधिपः । प्यरमश्ननउद्योत्तनाकृतपुण्यार्चनरुतिः ॥२६॥

ततस्तद्वृषथो दीप्ततपोलक्ष्मीविभूषणाः । प्रशान्तसुरिति प्रीता धार्मिकं भगधेश्वरम् ॥२७॥

साधु भो भगवाधीश ! साधु प्रश्रयिदा वर ! । पृच्छताश्च त्वया तत्त्वं साधु नः प्रीणितं मनः ॥२८॥

^७पिपृच्छितमितमस्मामिष्येदेव परमार्थकम् । तदेवाद्य त्वया पृष्टं संवादः ^८पदय कीदृशः ॥२९॥

^९बुभुक्षामेवम ^{१०}प्रश्नः स ते धर्मो बुभुक्षितः । त्वया बुभुक्षुना ^{११}धर्म ^{१२}विश्वमेव बुभुक्षितम् ॥३०॥

पश्य धर्मतरोरर्थः फलं कामरु तदसः । तन्निवर्गत्रयस्यास्य मूलं ^{१३}पुण्यकथाश्रुतिः ॥३१॥

यह पुराण कहिए ॥२०॥ हे भगवन्, इसके सिवाय एक बात और कहनी है उसे चित्त स्थिर कर सुन लीजिए जिससे मेरा उपकार करनेमें आपका चित्त और भी दृढ़ हो जाये ॥२१॥ वह बात यह है कि मैंने पहले अज्ञानवश बड़े-बड़े दुराचरण किये हैं । अब उन पापों की शान्तिके लिए ही यह प्रार्थना की जा रही है ॥२२॥ हे वाध, मुझ अज्ञानीने पहले हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अनेक प्रकारके आरम्भ तथा परिग्रहादिके द्वारा अत्यन्त घोर पापोंका संचय किया है ॥२३॥ और तो क्या, मुझ मिथ्यादृष्टिने मुनिराजके वध करनेमें भी बड़ा आनन्द माना था जिससे मुझे नरक ले जानेवाले नरकायु कर्मका ऐसा बन्ध हुआ जो कभी छूट नहीं सकता ॥२४॥ इसलिए हे प्रभो, उस पवित्र पुराणके आरम्भसे कहनेके लिए मुझपर प्रसन्न होइए क्योंकि उस पुण्यवर्धक पुराणके सुननेसे मेरे पापोंका अवश्य ही निराकरण हो जायेगा ॥२५॥ इस प्रकार बातोंकी कान्तिरूपी पुष्पोंके द्वारा पूजा और स्तुति करते हुए भगवत्सम्राट् विनयके साथ उमर कहे हुए वचन कहकर चुप हो गये ॥२६॥

तदनन्तर श्रेणिकके प्रश्नसे प्रसन्न हुए और तीव्र तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे शोभायमान मुनिजन नीचे लिखे अनुसार उन धर्मात्मा श्रेणिक महाराजकी प्रशंसा करने लगे ॥२७॥ हे भगधेश्वर, तुम धन्य हो, तुम प्रश्न करनेवालोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो, इसलिए और भी धन्य हो, आज महापुराणसम्बन्धी प्रश्न पूछते हुए तुमने हम लोगोंके चित्तको बहुत ही हर्षित किया है ॥२८॥ हे श्रेणिक, श्रेष्ठ अक्षरोंसे सहित जिस पुराणको हम लोग पूछना चाहते थे उसे ही तुमने पूछा है । देखो, यह कैसा अच्छा सम्बन्ध मिला है ॥२९॥ जाननेकी इच्छा प्रकट करना प्रश्न कहलाता है । आपने अपने प्रश्नमें धर्मका स्वरूप जानना चाहा है । सो हे श्रेणिक, धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छा करते हुए आपने सारे संसारको जानना चाहा है अर्थात् धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छासे आपने अखिल संसारके स्वरूपको जाननेकी इच्छा प्रकट की है ॥३०॥ हे श्रेणिक, देखो, यह धर्म एक वृक्ष है । अर्थ

१ विज्ञापनात् समाधानात् । २ भवतः । ३ अन्यघनवनितारति । ४ दति निकाचितम् अ०, स०, द०, प० । ५ निःक्रिया ट० । ६ उक्त्वा । ७ प्रष्टुमिष्टम् । ८ परमाश्वरम् अ०, स०, प०, ल०, द० । ९ प्रकृतार्थाविवचनं संवादः । १० बोद्धुमिच्छा । ११ वेदनं विज्ञापनम् । वेदनः अ०, स०, द० । १२ बुभुक्षता द०, स०, अ०, प०, म०, ल० । १३ सर्वमेव द०, प० । १४ धर्मकथा म०, प० ।

धर्मादर्थं कामं स्वर्गं च विना धर्मं न विना धर्मं न विना धर्मं न विना धर्मं ॥३२॥
 धर्मार्थं सर्वकामार्थं धर्मार्थं धनसौख्यं च धर्मो हि मूलं सर्वार्थं धनं हि सुखसंगमदाम् ॥३३॥
 धर्मः कामदुःखं धेनुधर्मश्चिन्तामणिर्महान् । धर्मः कल्पवृक्षः सद्यो धर्मो हि निधिरक्षयः ॥३४॥
 पश्य धर्मस्य साहाय्यं योऽपाधात्परिरक्षति । यत्र स्थितं नरं दूराद्वा तिक्रामन्ति देवताः ॥३५॥
 विचारमुपलोकान्मदिव्यप्रत्ययतोऽपि च । भीमन् धर्मस्य साहाय्यं निर्विचारमवेदि मोः ॥३६॥
 स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात् संधारयेन्नरम् । धने चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये ॥३७॥
 स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः । क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम् ॥३८॥
 क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः कालस्तैकात्म्यविस्तरः । मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तद्विवेचिताः ॥३९॥
 न्याय्यमाचरितं तेषां चरितं कुरितच्छिदाम् । इति कृत्स्नः पुराणार्थः प्रदत्ते संभावितस्त्वया ॥४०॥
 अहो प्रसङ्गाभीरः प्रश्नोऽयं विश्वगोचरः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसम्भारकालसचरिताश्रयः ॥४१॥

उसका फल है और काम उसके फलोंका रस है । धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्गकी प्राप्तिका मूल कारण धर्मका सुनना है ॥३१॥ हे आयुष्मन्, तुम यह निश्चय करो कि धर्मसे ही अर्थ, काम, स्वर्गकी प्राप्ति होती है । सचमुच वह धर्म ही अर्थ और कामका उत्पत्तिस्थान है ॥३२॥ जो धर्मकी इच्छा रखता है वह समस्त इष्ट पदार्थोंको इच्छा रखता है । धर्मकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य ही धनी और सुखी होता है क्योंकि धन, ऋद्धि, सुख-संपत्ति आदि सबका मूल कारण एक धर्म ही है ॥३३॥ मनचाही वस्तुओंको देनेके लिए धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही महान् चिन्तामणि है, धर्म ही स्थिर रहनेवाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही अविनाशी निधि है ॥३४॥ हे श्रेणिक, देखो धर्मका कैसा साहाय्य है, जो पुरुष धर्ममें स्थिर रहता है—निर्मल भावोंसे धर्मका आचरण करता है वह उसे अनेक संकटोंसे बचाता है । तथा देवता भी उसपर आक्रमण नहीं कर सकते, दूर-दूर ही रहते हैं ॥३५॥ हे बुद्धिमन्, विचार, राजनीति, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और उत्तम ज्ञानादिकी प्राप्तिसे भी धर्मका अचिन्त्य साहाय्य जाना जाता है । भावार्थ—दुर्लभोंकी अनन्त शक्तियोंका विचार, राज-सम्मान, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और अथर्व मनःपर्यय आदि ज्ञान इन सबकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है । अतः इन सब बातोंको देखकर धर्मका अलौकिक साहाय्य जानना चाहिए ॥३६॥ यह धर्म नरक निगोद आदिके दुःखोंसे इस जीवकी रक्षा करता है और अविनाशी सुखसे युक्त मोक्ष-स्थानमें इसे पहुँचा देता है इसलिए इसे धर्म कहते हैं ॥३७॥ जो पुराणका अर्थ है वही धर्म है, मुनिजन पुराणको पाँच प्रकारका मानते हैं—क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाएँ ॥३८॥ ऊर्ध्व, मध्य और पातालरूप तीन लोकोंकी जो रचना है उसे क्षेत्र कहते हैं । भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन कालोंका जो विस्तार है उसे काल कहते हैं । मोक्षप्राप्तिके उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको तीर्थ कहते हैं । इस तीर्थको सेवन करनेवाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते हैं और पापोंको नष्ट करनेवाले उन सत्पुरुषोंके न्यायोपेत आचरणको उनकी चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ कहते हैं । हे श्रेणिक, तुमने पुराणके इस सम्पूर्ण अर्थको अपने प्रश्नमें समाविष्ट कर दिया है ॥३९-४०॥ अहो श्रेणिक, तुम्हारा यह प्रश्न सरल होनेपर भी गम्भीर है, सब तत्त्वोंसे भरा हुआ है तथा क्षेत्र, क्षेत्रको जाननेवाला आत्मा,

१ अविवादतः । २ कारणमित्यर्थः । ३ धर्म । ४ अतिशयेन । ५ विचारं नृप लोकात्म-व० ।

६ प्रत्ययः शपथः ।

इदमेव युगस्यादौ पप्रच्छ सरतः पुरुम् । ततोऽनुयुयुजे^१ सन्नाट् सागरोऽजितमच्युतम् ॥४२॥
 इति प्रमाणभूतेयं वक्तृश्रोतृपरम्परा । त्वयाञ्जलङ्कृता धीमन् ! पृच्छतेमं महाधियम् ॥४३॥
 एवं प्रष्टा भगवान् वक्ता सहशुश्रूषवो वयम् । सामग्री नेहर्शा जातु जाता नैव जनिष्यते ॥४४॥
 तस्मात् पुण्यकथामेनां शृणुषाम समं वयम् । प्रजापारमिती देवो वक्नुमुत्सहतामयम् ॥४५॥
 इति प्रोक्त्वा तं धर्मं^२ ते समाधानचक्षुषः । ततो गणधरस्पोत्रं पेदुरिष्युष्यकैस्तदा ॥४६॥
 त्वां प्रत्यक्षयिदां बोधैरग्न्यनुदमहोदयम् । प्रत्यक्षस्तवैः स्तोतुं वयं चाद्य किलोद्यताः ॥४७॥
 चतुर्दशमहाविद्यास्थानाकूपारपारगम् । स्वाशुषे ! स्तोतुकामाः स्मः केवलं भक्तिचोदिताः^३ ॥४८॥
 भगवन् भव्यसार्थस्थ^४ नेतुस्तत्र शिक्षाकरम्^५ । पताकैवोच्छिता भाति कीर्तिरेषा विधूञ्जवला ॥४९॥
 आलवालीकृतान्मोघिवलया कीर्तिषह्वरी । जगन्नाडीतरोरप्रमाकामति तवोच्छिन्ना ॥५०॥
 स्वामामनन्ति मुनयो योगिनामविद्योगिनम् । त्वां गण्यं गणनातीतगुणं गणधरं विदुः ॥५१॥

सन्मार्ग, काल और सत्पुरुषोंका चरित्र आदिका आधारभूत है ॥४१॥ हे बुद्धिमान् श्रेणिक, युगके आदिमें भरत चक्रवर्तनि भगवान् आदिनाथसे यही प्रश्न पूछा था, और यही प्रश्न चक्रवर्ती सगरने भगवान् अजितनाथसे पूछा था । आज तुमने भी अत्यन्त बुद्धिमान् गौतम गणधरसे यही प्रश्न पूछा है । इस प्रकार वक्ता और श्रोताओंकी जो प्रमाणभूत-सच्ची परम्परा चली आ रही थी उसे तुमने सुशोभित कर दिया है ॥४२-४३॥ हे श्रेणिक, तुम प्रश्न करने-वाले, भगवान् महावीर स्वामी उत्तर देनेवाले और हम सब तुम्हारे साथ सुननेवाले हैं । हे राजन्, ऐसी सामग्री पहले न तो कभी मिली है और न कभी मिलेगी ॥४४॥ इसलिए पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले ये गौतम स्वामी इस पुण्य कथाका कहना प्रारम्भ करें और हम सब तुम्हारे साथ सुनें ॥४५॥ इस प्रकार वे सब ऋषिजन महाराज श्रेणिकको धर्ममें उत्साहित कर एकाग्रचित्त हो उच्च स्वरसे गणधर स्वामीका नीचे लिखा हुआ स्तोत्र पढ़ने लगे ॥ ४६ ॥

हे स्वामिन्, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञानके धारक बड़े-बड़े मुनि भी अपने ज्ञान-द्वारा आपके अभ्युदयको नहीं जान सके हैं तथापि हम लोग प्रत्यक्ष स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए हैं सो यह एक आश्चर्यकी ही बात है ॥४७॥ हे ऋषे, आप चौदह महाविद्या (चौदह पूर्व) रूपी सागरके पारगामी हैं अतः हम लोग मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर ही आपकी स्तुति करना चाहते हैं ॥४८॥ हे भगवन्, आप भव्य जीवोंको मोक्षस्थानकी प्राप्ति करानेवाले हैं, आपकी चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कीर्ति फहराती हुई पताकाके समान शोभायमान हो रही है ॥४९॥ देव, चारों ओर फैले हुए समुद्रको जिसने अपना आलवाल (क्यारी) बनाया है ऐसी बढ़ती हुई आपकी यह कीर्तिरूपी लता इस समय त्रसनाङ्गीरूपी वृक्षके अग्रभागपर आक्रमण कर रही है—उसपर आरुढ़ हुआ चाहती है ॥५०॥ हे नाथ, बड़े-बड़े मुनि भी यह मानते हैं कि आप योगियोंमें महायोगी हैं, प्रसिद्ध हैं, असंख्यात गुणोंके धारक हैं तथा संघके अधिपति-गणधर हैं ॥५१॥

१. प्रश्नमकरोत् । २. ऋषयः । ३. चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दोविचितिः ज्योतिषं निरुक्तम् इतिहासः पुराणं मीमांसा न्यायशास्त्रं चेति चतुर्दशमहाविद्यास्थानानि चतुर्दशपूर्वाणि वा चतुर्दशमहाविद्यास्थानानि । ४. नोदिताः ४०, स० । ५. संघस्थ । ६. मोक्षक्षनिम् । ७. आलवालः आवापः ।

गौतमा^१ गौ प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञमास्ती । तां वेस्मि तामधीषं^२ च त्वमतो गौतमो मतः ॥५२॥
 गौतमादागतो देवः स्वर्गाद्गौतमो^३ मतः^४ । तेन प्रोक्तमधीषानस्त्वं चासौ गौतमश्रुतिः ॥५३॥
 इन्द्रेण प्राप्तपूजहिंरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यसे । साक्षात् सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकण्ठकः ॥५४॥
 चतुर्भिश्चामलैर्वीधैरकुर्वस्व जगद् यतः । प्रज्ञापारमितं बुद्धं त्वां निराहुरतो बुधाः ॥५५॥
 'पारतमः' परं^५ ज्योतिस्त्वामदृष्ट्वा दुरासदम् । ज्योतिर्मयः प्रदीपोऽसि त्वं तस्याभिप्रकाशनात् ॥५६॥
 श्रुतदेव्याहितस्त्रैणप्रयत्ना बोधदीपिका । तवैवा प्रज्वलत्युन्वैद्योत्तमस्ती जगद्गृहम् ॥५७॥
 तव वाक्प्रसरो^६ दिव्यो विबुन्वन् जगतां तमः । प्रकाशयसि सन्मार्गं रवेरिव करोत्सरः ॥५८॥
 तव लोकातिगा प्रज्ञा विधानां पारदधरी । श्रुतस्कन्धमहासिन्धोरमजद् धामपात्रताम् ॥५९॥
 त्वयाकृतारिता तुह्यन्महावीरहिमाचलात् । श्रुतामरसरिपुण्या निर्धुनानास्रिलं रजः ॥६०॥
 प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः । केवलं केवलिन्येकस्तत्तत्त्वं श्रुतकेवली ॥६१॥

उत्कृष्ट वाणीको गौतम कहते हैं और वह उत्कृष्ट वाणी सर्वज्ञ-तीर्थकरकी दिव्य ध्वनि ही हो सकती है उसे आप जानते हैं अथवा उसका अध्ययन करते हैं इसलिए आप गौतम माने गये हैं अर्थात् आपका यह तत्त्वज्ञानपूर्ण है (अध्यात्मिक, श्रुतश्रुतिज्ञानपूर्ण) केवलज्ञानः 'तदधीते वेद वा' इत्यणप्रत्ययः) ॥५२॥ अथवा यों समझिए कि भगवान् वर्धमान स्वामी, गौतम अर्थात् उत्तम सोलहवें स्वर्गसे अयतीर्ण हुए हैं इसलिए वर्धमान स्वामीको गौतम कहते हैं इन गौतम अर्थात् वर्धमान स्वामी-द्वारा कही हुई दिव्यध्वनिको आप पढ़ते हैं, जानते हैं, इसलिए लोग आपको गौतम कहते हैं । (गौतमादागतः गौतमः 'तत आगतः' इत्यण्, गौतमेन प्रोक्तमिति गौतमम्, गौतमम् अधीते वेद वा गौतमः) ॥५३॥ आपने इन्द्रके द्वारा की हुई अर्चारूपी विभूतिको प्राप्त किया है इसलिए आप इन्द्रभूति कहलाते हैं । तथा आपको सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरण प्राप्त हुआ है अतः आप सर्वज्ञदेव श्री वर्धमान स्वामीके साक्षान् पुत्रके समान हैं ॥५४॥ हे देव, आपने अपने चार निर्मल ज्ञानोंके द्वारा समस्त संसारको जान लिया है तथा आप बुद्धिके पारको प्राप्त हुए हैं इसलिए विद्वान् लोग आपको बुद्ध कहते हैं ॥५५॥ हे देव, आपको बिना देखे अज्ञानान्धकारसे परे रहनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका प्राप्त होता अत्यन्त कठिन है, आप उस ज्योतिके प्रकाश होनेसे ज्योतिस्वरूप अनोखे दीपक हैं ॥५६॥ हे स्वामिन्, श्रुत देवताके द्वारा स्त्रीरूपको धारण करनेवाली आपकी सम्यग्ज्ञानरूपी दीपिका जगत् रूपी घरको प्रकाशित करती हुई अत्यन्त शोभायमान हो रही है ॥५७॥ आपके दिव्य वचनोंका समूह लोगोंके सिध्दात्त्व रूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ सूर्यकी किरणोंके समूहके समान समीचीन मार्गका प्रकाश करता है ॥५८॥ हे देव, आपकी यह प्रज्ञा लोकमें सबसे चढ़ी-बढ़ी है, समस्त विश्वार्थोंमें पारंगत है और द्वादशारूपी समुद्रमें जहाजपनेको प्राप्त है—अर्थात् जहाजका काम देती है ॥५९॥ हे देव, आपने अत्यन्त ऊँचे वर्धमान स्वामीरूप हिमालयसे उस श्रुतज्ञानरूपी गङ्गा नदीका अवतरण कराया है जो कि स्वयं पवित्र है और समस्त पाप-रूपी रजको धोनेवाली है ॥६०॥ हे देव, केवलीभगवान्में मात्र एक केवलज्ञान ही होता है और आपमें प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो प्रकारका ज्ञान विद्यमान है इसलिए आप श्रुतकेवली

१. वाक् । 'गौः पुमान् वृषमे स्वर्गे लण्डवज्रहिमांशुषु । स्यो गवि भूमिदिनेत्रवाचाणसलिले त्रिषु ॥' इति विश्वलो० । २. -मधीष्टे म०, ल० । ३. तीर्थकरः । ४. जिनः अ०, स०, द०, प० । ५. तमसः पारं मतम् । ६. केवलज्ञानम् । दुरासदं भवतीति संबन्धः । ७. शोति स० । ८. कृतस्त्रीसंबन्धि । ९. प्रसरो म०, ल० ।

पारेतमः परं धाम प्रवेशदुमनसां वयम् । तद्द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि ॥६२॥
 ब्रह्मोद्या निखिला विशास्त्वं हि ब्रह्मसुतो मुनिः । परं ब्रह्म स्वदायकमतो ब्रह्मविदो विदुः ॥६३॥
 मुनयो वातरशनाः पदमूर्ध्वं विधिस्तवः । त्वां मूर्ध्ववन्विनी भूत्वा तदुपायमुपासते ॥६४॥
 महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोऽस्तु ते । नमो महात्मने तुभ्यं नमः स्ताप्ते महर्षये ॥६५॥
 नमोऽवधियुगे तुभ्यं नमो देशावधिशिवे । परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे ॥६६॥
 कोष्ठबुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते बीजबुद्धये । पदानुसारिन् संभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमो नमः ॥६७॥

कहलाते हैं ॥६१॥ हे देव, हम लोग मोह अथवा अज्ञानान्धकारसे रहित मोक्षरूपी परम धाममें प्रवेश करना चाहते हैं अतः आपकी उपासना कर आपसे उसका द्वार उघाड़नेका कारण प्राप्त करना चाहते हैं ॥६२॥ हे देव, आप सर्वज्ञ देवके द्वारा कही हुई समस्त विद्याओंको जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मसुत कहलाते हैं तथा परंब्रह्मरूप सिद्ध पदकी प्राप्ति होना आपके अधीन है, ऐसा ब्रह्मका स्वरूप जाननेवाले योगीश्वर भी कहते हैं ॥६३॥ हे देव, जो दिगम्बर मुनि मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी हैं वे आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए उसके उपासक—समस्त ब्रह्मज्ञान, स्वस्वरूपान और सत्यकृष्णारिषकी उपासना करते हैं ॥६४॥ हे देव, आप महायोगी हैं—ध्यानी हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महात्मा हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप जगत्त्रयके रक्षक और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६५॥ हे देव, आप देशावधि, परमावधि और सर्वावधिरूप अवधिज्ञानको धारण करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६६॥ हे देव, आप कोष्ठबुद्धि नामक ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् जिस प्रकार कोठेमें अनेक प्रकारके धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार आपके हृदयमें भी अनेक पदार्थोंका ज्ञान भरा हुआ है, अतः आपको नमस्कार हो । आप बीजबुद्धि नामक ऋद्धिसे सहित हैं अर्थात् जिस प्रकार उत्तम जमीनमें बोया हुआ एक भी बीज अनेक फल उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आप भी आगमके बीजरूप एक दो पदोंको ग्रहण कर अनेक प्रकारके ज्ञानको प्रकट कर देते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप पदानुसारी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् आगमके आदि, मध्य, अन्तकी अथवा जहाँ-कहींसे भी एक पदको सुनकर भी समस्त आगमको जान लेते हैं अतः आपको नमस्कार हो । आप संभिन्नश्रोत ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् आप नौ योजन चौड़े और चारह योजन लम्बे क्षेत्रमें फैले हुए चक्रवर्तीके कटकसम्बन्धी समस्त मनुष्य और तिर्यक्षोंके अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक मिले हुए शब्दोंको एक साथ ग्रहण कर सकते हैं अतः आपको बार-बार नमस्कार

१. कारणम् । २. ब्रह्मणा सर्वज्ञेनोक्ता । ३. विशास्त्वं द०, ल० । ४. वायुकाञ्चीदामा । ५. विधिस्तवः द० । वेदुमिच्छवः लब्धुमिच्छव इत्यर्थः । 'विदुः लाभे' इति धातोः सप्रत्ययात् । ६. नमस्त्राभे ल० । स्तात् अस्तु । ७. कोष्ठागारिकधृतभूरिवाग्यानामविनष्टाव्यतिकीर्णानां यथास्यानं तथैवावस्थानमवधारितव्यवर्थात् यस्यां बुद्धौ सा कोष्ठबुद्धिः । ८. विशिष्टक्षेत्रकालादिसहायमेकमप्युक्तं बीजमनेकबीजप्रदं यथा भवति तथैकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थपतिपत्तिर्यस्यां बुद्धौ सा बीजबुद्धिः । ९. आदावन्ते यत्र तत्र चैकपदग्रहणात् समस्तग्रन्थार्थस्यावधारणा यस्यां बुद्धौ सा पदानुसारिणी बुद्धिः । १०. सं सस्यक्स्वरव्यतिकरव्यतिरेकेण मिश्रं विभक्तं शब्दरूपं श्रुतोतीति संभिन्नश्रोतृर्बुद्धिः द्वादशयो वनायामनवयो वनविस्तारचक्रवरस्कन्धावारोदपन्नतरकरभाद्यक्षरानक्षरात्मकशब्दसदो-
 तस्थान्योन्यं विभिन्नत्वापि युगपत्प्रतिभासो यस्यामुद्धौ सत्यां भवति सा संभिन्नश्रोत्रीत्यर्थः ।

नमोऽस्तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने । नमः प्रत्येकबुद्धाय स्वयंबुद्धाय वै नमः ॥६८॥

अभिन्नवृषापूर्विणात् प्राप्तपूजाय ते नमः । नमस्ते पूर्वविद्यानां विश्वासां पारदधने ॥६९॥

दीप्ताग्रतपसे तुभ्यं नमस्तप्तमहात्तपः । नमो घोरगुणब्रह्मचारिणे घोरतेजसे ॥७०॥

नमस्ते विक्रियर्क्षीनामष्टधा सिद्धिर्मायुषे । आमर्षं ह्वेलवाग्विप्रुद्गजलसर्षोषधे नमः ॥७१॥

नमोऽमृतमधुक्षीरसपिरास्त्रविणेऽस्तु ते । नमो मनोबलःकायबलिनां ते बलीयसे ॥७२॥

हो ॥६७॥ आप ऋजुमति और विपुलमति नामक दोनों प्रकारके मनःपर्ययज्ञानसे सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो । आप प्रत्येकबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो तथा आप स्वयंबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ६८ ॥ हे स्वामिन्, दशपूर्वोंका पूर्ण ज्ञान होनेसे आप जगत्में पूज्यताको प्राप्त हुए हैं अतः आपको नमस्कार हो । इसके सिवाय आप समस्त पूर्व विद्याओंके पारगामी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६९॥ हे नाथ, आप पक्षोपवास, मासोपवास आदि कठिन तपस्याएँ करते हैं, आतापनादि योग लगाकर दीर्घकाल तक कठिन-कठिन तप तपते हैं । अनेक गुणोंसे सहित अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और अत्यन्त तेजस्वी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥७०॥ हे देव, आप अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ विक्रिया ऋद्धियोंकी सिद्धिको प्राप्त हुए हैं अर्थात् (१) आप अपने शरीरको परमाणुके समान सूक्ष्म कर सकते हैं, (२) मेरुसे भी स्थूल बना सकते हैं, (३) अत्यन्त भारी (वजनदार) कर सकते हैं, (४) हलका (कम वजनदार) बना सकते हैं, (५) आप जलीनपदों में डूबे जाते हैं और जल में तैर सकते हैं अथवा देवोंके आसन कम्पायमान कर सकते हैं, (६) आप अढ़ाई द्वीपमें धाँसे जहाँ जा सकते हैं अथवा जलमें स्थूलकी तरह स्थूलमें जलकी तरह चल सकते हैं, (७) आप चक्रवर्तीके समान विभूतिको प्राप्त कर सकते हैं और (८) विरोधी जीवोंको भी वशमें कर सकते हैं अतः आपको नमस्कार हो । इनके सिवाय हे देव, आप आमर्ष, ह्वेल, वाग्बिप्रुट, जल और सर्षोषधि आदि ऋद्धियोंसे सुशोभित हैं अर्थात् (१) आपके वमनकी वायु समस्त रोगोंको नष्ट कर सकती है, (२) आपके मुखसे निकले हुए कफको स्पर्शकर बहनेवाली वायु सब रोगोंको हर सकती है, (३) आपके मुखसे निकली हुई वायु सब रोगोंको नष्ट कर सकती है, (४) आपके मलको स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगोंको हर सकती है और (५) आपके शरीरको स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगोंको दूर कर सकती है । इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७१॥ हे देव, आप अमृतस्त्राविणी, मधुस्त्राविणी, क्षीरस्त्राविणी और घृतस्त्राविणी आदि रस ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं अर्थात् (१) भोजनमें मिला हुआ विष भी आपके प्रभावसे अमृतरूप हो सकता है, (२) भोजन मीठा न होनेपर भी आपके प्रभावसे मीठा हो सकता है, (३) आपके निमित्तसे भोजनगृह अथवा भोजनमें दूध छरने लग सकता है और (४) आपके प्रभावसे भोजनगृहसे घीकी कमी दूर हो सकती है । अतः आपको नमस्कार हो । इनके सिवाय आप मनोबल, वचन-बल और कायबल ऋद्धिसे सम्पन्न हैं अर्थात् आप समस्त द्वादशाङ्गका अन्तर्मुहूर्तमें अर्थरूपसे

१. वैराग्यकारणं किञ्चिद्दृष्ट्वा यो वैराग्यं गतः सः प्रत्येकबुद्धः । प्रत्येकाग्निमिताद्बुद्धः प्रत्येकबुद्धः । यथा नीलाञ्जनाविलयात् वृषभनाथः । २. वैराग्यकारणं किञ्चिद्दृष्ट्वा परोपदेशं चानपेक्ष्य स्वयमेव यो वैराग्यं गतः स स्वयंबुद्धः । ३. छर्दिः । ४. ह्वेलः (उगलु क०) [मुखमलम्] । 'पूक' । ५. सर्षोषमलम् । ६. -स्त्राविणे नमः म० । -स्त्राविणेऽस्तु ते स०, द०, प० ।

जलजङ्घाफलश्रेणीतन्तुपुष्पाभ्यरक्षयात् । चारणर्दिशुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्षये ॥७३॥
 स्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परमो गुरुः । स्वामेव सेवमानानां भवन्ति ज्ञानसंपदः ॥७४॥
 स्वदैव भगवन् विश्वा विहिता धर्मसंहिता^१ । अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वन्ति योगिनः ॥७५॥
 एत एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयम् । तव पादाङ्गिपङ्खायां त्वय्यास्तिर्व्यादुपास्महे ॥७६॥
 वाग्गुप्तेस्त्वस्तुतौ हानिर्भनोगुप्तेस्तव स्मृतौ । कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥७७॥
 स्तुत्वेति स्तुतिभिः स्तुत्यं भवन्तं भुवनाधिकम् । पुराणश्रुतिमेवैनां^२ तत्फलं^३ प्रार्थयामहे ॥७८॥
 पुराणश्रुतितो भर्मा योऽस्माकमभिसंस्कृतः^४ । पुराणकवितामेव तस्मादाशास्महे^५ वयम् ॥७९॥

चिन्तवन कर सकते हैं, समस्त द्वादशाङ्गका अन्तर्मुहूर्तमें शब्दों-द्वारा उच्चारण कर सकते हैं और शरीरसम्बन्धी अनुत्य बलसे सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥७३॥ हे देव, आप जलचारण, जङ्घाचारण, फलचारण, श्रेणीचारण, तन्तुचारण, पुष्पचारण और अम्बरचारण आदि चारण ऋद्धियोंसे युक्त हैं अर्थात् (१) आप जलमें भी स्थलके समान चल सकते हैं तथा ऐसा करनेपर जलकायिक और जलचर जीवोंको आपके द्वारा किसी प्रकारकी बाधा नहीं होगी । (२) आप बिना कदम उठाये ही आकाशमें चल सकते हैं । (३) आप वृक्षोंमें लगे फलोंपर-से गमन कर सकते हैं और ऐसा करनेपर भी वे फल वृक्षसे टूटकर नीचे नहीं गिरेंगे । (४) आप आकाशमें श्रेणीबद्ध गमन कर सकते हैं, बीचमें आये हुए पर्वत आदि भी आपको नहीं रोक सकते । (५) आप सूत अथवा मकड़ीके जालके तन्तुओंपर गमन कर सकते हैं पर वे आपके भारसे टूटेंगे नहीं । (६) आप पुष्पोंपर भी गमन कर सकते हैं परन्तु वे आपके भारसे नहीं टूटेंगे और न उसमें रहनेवाले जीवोंको किसी प्रकारका कष्ट होगा । और (७) इनके सिवाय आप आकाशमें भी सर्वत्र गमनागमन कर सकते हैं । इसलिए आपको नमस्कार हो । हे स्वामिन्, आप अक्षीण ऋद्धिके धारक हैं अर्थात् आप जिस भोजनशालामें भोजन कर आवें उसका भोजन चक्रवर्तीके कटकको खिलानेपर भी क्षीण नहीं होगा और आप यदि छोटेसे स्थानमें भी बैठकर धर्मोपदेश आदि देंगे तो उस स्थानपर समस्त मनुष्य और देव आदिके बैठनेपर भी संकीर्णता नहीं होगी । इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७३॥ हे नाथ, संसारमें आप ही परम हितकारी बन्धु हैं, आप ही परमगुरु हैं और आपकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको ज्ञानरूपी सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥७४॥ हे भगवन्, इस संसारमें आपने ही समस्त धर्मशास्त्रोंका वर्णन किया है अतः ये बड़े-बड़े योगी आपको ही नमस्कार करते हैं ॥७५॥ हे देव, मोक्षरूपी परम कल्याणकी प्राप्ति आपसे ही होती है ऐसा मानकर हम लोग आपमें श्रद्धा रखते हुए आपके चरणरूप वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेते हैं ॥७६॥ हे देव, आपकी स्तुति करने-से हमारी वचनगुप्तिकी हानि होती है, आपका स्मरण करनेसे मनोगुप्तिमें बाधा पहुँचती है तथा आपको नमस्कार करनेमें कायगुप्तिकी हानि होती है सो भले ही हो हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आपका स्मरण करेंगे और आपको नमस्कार करेंगे ॥७७॥ हे स्वामिन्, जगत्में श्रेष्ठ और स्तुति करनेके योग्य आपकी हम लोगोंने जो ऊपर लिखे अनुसार स्तुति की है उसके फलस्वरूप हमें तिरसठ शलाकापुरुषोंका पुराण सुनाइए, यही हम सब प्रार्थना करते हैं ॥७८॥ हे देव, पुराणके सुननेसे हमें जो सुयोग्य धर्मकी प्राप्ति होगी उससे हम कवितारूप पुराणकी ही आशा करते हैं ॥७९॥ हे नाथ, आपके चरणोंकी

त्वत्पदाराधनात् पुण्यं यदस्माभिर्हपाजितम् । तदेव तेन भूयातः परार्थो संपूर्जिता ॥८०॥
 त्वत्प्रसादादियं देव सफला प्रार्थनाऽस्तु नः । सार्धं राजर्षिणानेन श्रोतृननुगृहाण नः ॥८१॥
 इत्युचैः स्तोत्रसंपादैस्तत्क्षणं प्रविजग्मितः । पुण्यो मुनिसमाजेऽस्मिन् महान् कलकलोऽभवत् ॥८२॥
 इत्थं स्तुवन्निरोधेन मुनिवृन्दारकेस्तदा । प्रसादितो गणेशोऽभूद् भक्तिग्राह्या हि योगिनः ॥८३॥
 तदा प्रशान्तगम्भीरं स्तुत्वा मुनिभिरर्चितः । सभां यथास्थानं प्रविष्टवान् तदा ॥८४॥
 ततः प्रशान्तसंजल्पे प्रव्यक्तकरकुड्मले । शुश्रूषावहिते साधुसमाजे निभृतं स्थिते ॥८५॥
 वारुमलानामशेषाणामपायादतिनिर्मलाम् । वाग्देवीं दक्षतज्योत्स्नाभ्याजेन स्फुटयन्निव ॥८६॥
 सुभाषितमहारलप्रसारमिव दर्शयन् । यथाकारं जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनाम् ॥८७॥
 लसद्गणनदीसांशुप्रसूनैराकिरन् सवः । सरस्वतीप्रवेशाय पूर्वैरङ्गमिवाचरन् ॥८८॥
 ममःप्रसादमभितो विभजन्निरियाचरतः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः कृत्स्नां सभां प्रक्षालयन्निव ॥८९॥
 तपोऽनुभावसंजातमध्यासीनोऽपि विष्टम् । जगतामुपरीवोष्मैर्महिम्ना घटितस्थितिः ॥९०॥

आराधना करनेसे हमारे जो कुछ पुण्यका संचय हुआ है उससे हमें भी आपकी इस उत्कृष्ट महासम्पत्तिकी प्राप्ति हो ॥८०॥ हे देव, आपके प्रसादसे हमारी यह प्रार्थना सफल हो । आज राजर्षि श्रेणिकके साथ-साथ हम सब श्रोताओंपर कृपा कीजिए ॥८१॥

इस प्रकार मुनियोंने जब उच्च स्वरसे स्तोत्रोंसे जो गणधर गौतम स्वामीकी स्तुति की थी उससे उस समय मुनिसमाजमें पुण्यवर्द्धक बड़ा भारी कोलाहल होने लगा था ॥८२॥ इस प्रकार समुदाय रूपसे बड़े-बड़े मुनियोंने जब गणधर देवकी स्तुति की तब वे प्रसन्न हुए । सो ठीक ही है क्योंकि योगीजन भक्तिके द्वारा वशीभूत होते ही हैं ॥८३॥ इस प्रकार मुनियोंने जब बड़ी शान्ति और गम्भीरताके साथ स्तुति कर गणधर महाराजसे प्रार्थना की तब उन्होंने उनके अनुग्रहमें अपना चित्त लगाया-उस ओर ध्यान दिया ॥८४॥ इसके अनन्तर जब स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाला कोलाहल शान्त हो गया और सब लोग हाथ जोड़कर पुराण सुननेकी इच्छासे सावधान हो चुपचाप बैठ गये तब वे भगवान् गौतम स्वामी श्रोताओंको संबोधते हुए गम्भीर मनोहर और उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई वाणी-द्वारा कहने लगे । उस समय जो दाँतोंकी उज्ज्वल किरणें निकल रही थीं उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वे शब्दसम्यन्धी समस्त दोषोंके अभावसे अत्यन्त निर्मल हुई सरस्वती देवीको ही साक्षात् प्रकट कर रहे हों । उस समय वे गणधर स्वामी ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे भक्तिरूपी मूल्यके द्वारा अपनी इच्छानुसार खरीदनेके अभिलाषी मुनिजनोंको सुभाषित रूपी महारत्नोंका समूह ही दिखला रहे हों । उस समय वे अपने दाँतोंके किरणरूपी फूलोंको सारी सभामें बिखेर रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सरस्वती देवीके प्रवेशके लिए रङ्गभूमिको ही सजा रहे हों । मनकी प्रसन्नताको विभक्त करनेके लिए ही मानो सब ओर फैली हुई अपनी स्वच्छ और प्रसन्न दृष्टिके द्वारा वे गौतम स्वामी समस्त सभाका प्रक्षालन करते हुए-से मालूम होते थे । यद्यपि वे ऋषिराज तपश्चरणके माहात्म्यसे प्राप्त हुए आसनपर बैठे हुए थे तथापि अपने उत्कृष्ट माहात्म्यसे ऐसे मालूम होते थे मानो समस्त लोकके ऊपर ही बैठे हों । उस समय वे न तो सरस्वतीको ही अधिक कष्ट देना चाहते थे और न इन्द्रियोंको ही अधिक चलायमान करना चाहते थे ।

१. तदेव म० । २. समुदायेन । ३. मुख्यः । ४. इति प्रशान्तगम्भीरः स्तुत्वा स्तुतिभिरर्चितः । म० । तथा प०, स० । ५. प्राथितः । ६. सावधाने । ७. निश्चलं यथा भवति तथा । ८. प्रसारः [समूहः] ।

सरस्वतीपरिवलेशमनिच्छन्निव ताधिकम् । तीव्रयन् करणस्पन्दमभिजमुखसौष्ठवः ॥९१॥
न ^२स्विद्यन्न परिश्रम्यन्नो ग्रस्यन्न परिस्वलन् । सरस्वतीमतिप्रौढामनायासेन योजयन् ॥९२॥
^३सममृज्वायतस्थानमास्थाय रचिताननः । पत्यङ्गेन परां कोटीं वैराग्यस्यैव ^४रूपयन् ॥९३॥
करं वामं स्वपर्यङ्गे निधायोत्थानितं शनैः । देशनाहस्तमुक्षिप्य भार्दवं नाटयन्निव ॥९४॥
स्याज्जहारातिगम्भीरमधुरोदास्या गिरा । भगवान् गौतमस्वामी श्रोतुं संबोधयन्निति ॥९५॥
श्रुतं मया श्रुतस्कन्धादायुष्मन्तो महाधियः । ^५निबोधत ^६पुराणं मे ^७अथावत् कथयामि वः ॥९६॥
यत् प्रजापतये ब्रह्मा मरतायादित्तीर्थकृत् । प्रोवाच तदहं तेऽथ वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥९७॥
महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कन्धस्य वर्णिताः । तेषामाद्योऽनुयोगोऽयं सत्तां सचरिताश्रयः ॥९८॥
द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स यत्र वै । त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं ^८कुलपत्रेऽधिरोपितम् ॥९९॥
चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदितः । यत्र ^९चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता ॥१००॥
तुर्यो ब्रह्मानुयोगस्तु ब्रह्म्याद्यो यत्र निर्णयः । प्रमाणनयनिक्षेपैः ^{१०}सदाधैश्च ^{११}किमादिभिः ^{१२} ॥१०१॥
आनुपूर्व्यादिभेदेन पञ्चधोपक्रमो मतः । स पुराणावतारेऽस्मिन् योजनीयो यथागमस् ॥१०२॥

बोलते समय उनके मुखका सौन्दर्य भी नष्ट नहीं हुआ था । उस समय उन्हें न तो पसीना आता था, न परिश्रम ही होता था, न किसी बातका भय ही लगता था और न वे बोलते-बोलते स्खलित ही होते थे-चूकते थे । वे बिना किसी परिश्रमके ही अतिशय प्रौढ़-गम्भीर सरस्वतीको प्रकट कर रहे थे । वे उस समय सम, सीधे और विस्तृत स्थानपर पर्यङ्कासनसे बैठे हुए थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो शरीर-द्वारा वैराग्यकी अन्तिम सीमाको ही प्रकट कर रहे हों । उस समय उनका बायाँ हाथ पर्यङ्कपर था और दाहिना हाथ उपदेश देनेके लिए कुछ ऊपरको उठा हुआ था जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो वे भार्दव (विनय) धर्मको नृत्य ही करा रहे हों अर्थात् उच्चतम विनय गुणको प्रकट कर रहे हों ॥ ८५—९५ ॥ वे कहने लगे—हे आयुष्मान् बुद्धिमान् भव्यजनो, मैंने श्रुतस्कन्धसे जैसा कुछ इस पुराणको सुना है सो ज्योंका-त्यों आप लोगोंके लिए कहता हूँ, आप लोग ध्यानसे सुनें ॥९६॥ हे श्रेणिक, आदि ब्रह्मा प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवने भरत चक्रवर्तीके लिए जो पुराण कहा था उसे ही मैं आज तुम्हारे लिए कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो ॥९७॥

श्रुतस्कन्धके चार महा अधिकार वर्णित किये गये हैं उनमें पहले अनुयोगका नाम प्रथमानुयोग है । प्रथमानुयोगमें तीर्थंकर आदि सत्पुरुषोंके चरित्रका वर्णन होता है ॥९८॥ दूसरे महा-धिकारका नाम करणानुयोग है । इसमें तीनों लोकोंका वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्रपर किसीकी वंशावली लिखी होती है ॥९९॥ जिनेन्द्रदेवने तीसरे महाधिकारको चरणानुयोग बतलाया है । इसमें मुनि और श्रावकोंके चारित्रिकी शुद्धिका निरूपण होता है ॥१००॥ चौथा महाधिकार ब्रह्मानुयोग है इसमें प्रमाण नय निक्षेप तथा सत्संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वास्त्य, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदिके द्वारा द्रव्योंका निर्णय किया जाता है ॥१०१॥ आनुपूर्वी आदिके भेदसे उपक्रमके पाँच भेद माने गये हैं :

१. [इन्द्रियं शरीरं वा] । २. लिखन् अ० । ३.—मृज्वासनस्थान—द०, प० । मृज्वागतः स्थान—स० ।
४. वशीयन् । ५. जानीत । ६. पुराणार्थ स०, ल० । ७. मे इत्यव्ययम् 'ब्रह्मिन्त्यर्थः' । ८. सन्तानक्रमाद्वगत-ताम्रमयादिपत्रं कुलपत्रमिति वदन्ति । ९. चर्या चरित्रम् । १०. निक्षेपः न्यासः । ११. सत् अस्ति किं स्यात् । अथवा सदाधैः सत्संख्याक्षेत्रादिभिः । १२. निर्देशस्वामित्वादिभिः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुदिक्षितगुरुजी महाराज

प्रकृतस्याथतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम् । उपक्रमोऽसौ विशेषस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥१०३॥

आनुपूर्वी तथा नाम प्रमाणं साभिधेयकम् । अर्थाधिकारक्षेत्र्यं पञ्चैते स्युरपक्रमाः ॥१०४॥

पूर्वानुपूर्व्या प्रथमश्चरमोऽयं विलोमतः^१ । यथातथानुपूर्व्या च यां कश्चिद्गणनां^२ श्रितः ॥१०५॥

श्रुतस्कन्धानुयोगानां चतुर्णां प्रथमो मतः । ततोऽनुयोगं प्रथमं प्राहुरन्वर्थसंज्ञया ॥१०६॥

प्रमाणमधुना तस्य^३ वक्ष्यते ग्रन्थतोऽर्थतः । ग्रन्थगौरवमीरुणां श्रोतृणामनुरोधतः ॥१०७॥

सोऽर्थतोऽपरिमेयोऽपि संख्येयः शब्दतो मतः । कृत्स्नस्य वाक्मयस्यास्य संख्येयत्वानतिक्रमात् ॥१०८॥

द्वे लक्षे पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चतुःशतम् । चत्वारिंशत्तथा द्वे च कोट्योऽस्मिन् ग्रन्थसंख्यया ॥१०९॥

एकत्रिंशच्च लक्षाः स्युः शतानां पञ्चसप्ततिः । ग्रन्थसंख्या च विज्ञेया श्लोकेनानुष्टुभेन हि ॥११०॥

ग्रन्थप्रमाणनिश्चित्यै^४ पदसंख्योपवर्ण्यते । पञ्चैवैह सहस्राणि पदानां^५ गणना मता ॥१११॥

शतानि षोडशैव स्युश्चतुस्त्रिंशच्च कोटयः । व्यशीतिलक्षाः सप्तैव सहस्राणि शताष्टकम् ॥११२॥

अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युः संहिता मध्यमं पदम् । पदेनैतेन मीयन्ते पूर्वाङ्गग्रन्थविस्तराः ॥११३॥

इस पुराणके प्रारम्भमें उन उपक्रमोंका शास्त्रानुसार सम्बन्ध लगा लेना चाहिए ॥१०२॥ प्रकृत अर्थात् जिसका वर्णन करनेकी इच्छा है ऐसे पदार्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें बैठा देना—उन्हें अच्छी तरह समझा देना सो उपक्रम है इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ॥१०३॥ १ आनु-पूर्वी, २ नाम, ३ प्रमाण, ४ अभिधेय और ५ अर्थाधिकार ये उपक्रमके पाँच भेद हैं ॥१०४॥ यदि चारों महाधिकारोंको पूर्व क्रमसे गिना जाये तो प्रथमानुयोग पहला अनुयोग होता है और यदि उलटे क्रमसे गिना जाये तो यही प्रथमानुयोग अन्तका अनुयोग होता है । अपनी इच्छानुसार जहाँ कहींसे भी गणना करनेपर यह दूसरा तीसरा आदि किसी भी संख्याका हो सकता है ॥१०५॥ ग्रन्थके नाम कहनेको नाम उपक्रम कहते हैं यह प्रथमानुयोग श्रुतस्कन्धके चारों अनुयोगोंमें सबसे पहला है इसलिए इसका प्रथमानुयोग यह नाम सार्थक गिना जाता है ॥१०६॥ ग्रन्थ-विस्तारके भयसे डरनेवाले श्रोताओंके अनुरोधसे अब इस ग्रन्थका प्रमाण बतलाता हूँ । वह प्रमाण अक्षरोंकी संख्या तथा अर्थ इन दोनोंकी अपेक्षा बतलाया जायेगा ॥१०७॥ यद्यपि यह प्रथमानुयोग रूप ग्रन्थ अर्थकी अपेक्षा अपरिमेय है—संख्यासे रहित है तथापि शब्दोंकी अपेक्षा परिमेय है—संख्येय है तब उसका एक अंश प्रथमानुयोग असंख्येय कैसे हो सकता है ? ॥१०८॥ ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् श्लोकोंके द्वारा गणना करनेपर प्रथमा-नुयोगमें दो लाख करोड़, पचपन हजार करोड़, चार सौ ब्यालीस करोड़ और इकतीस लाख सात हजार पाँच सौ (२५५४४२३१०७५००) श्लोक होते हैं ॥१०९-११०॥ इस प्रकार ग्रन्थप्रमाणका निश्चय कर अब उसके पदोंकी संख्याका वर्णन करते हैं । प्रथमानुयोग ग्रन्थके पदोंकी गणना पाँच हजार मानी गयी है और सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरोंका एक मध्यम पद होता है । इस मध्यमपदके द्वारा ही ग्यारह अङ्ग तथा चौदह पूर्वोंकी ग्रन्थसंख्याका वर्णन किया जाता

१. पूर्वपरिपाठ्या । २. अपरतः, अपरानुपूर्व्येत्यर्थः । ३.—अष्टादशगुणनां स० । ४. प्रथमानुयोगस्य । ५. परिकर्मादिभेदेन पञ्चविधस्य द्वादशतमाङ्गस्य दृष्टिवादाख्यस्य तृतीयो भेदः प्रथमानुयोगः । तत्र पञ्चसहस्र-मध्यमपदानि भवन्ति तानि मध्यमपदवर्णः १६३४८३०७८८८ गुणयित्वा द्वात्रिंशत्संख्यया भक्ते द्वे लक्षे पञ्च-पञ्चाशदित्यादिसंख्या स्यात् । ६. प्रमाणं निश्चित्य ४०, ५०, ल० । ७. गणिमानतः ८० । गणधरतः । ८. संहिताः ८० । संयुक्ताः ।

द्रव्यप्रमाणमित्युक्तं भावतस्तु ^१श्रुताह्वयम् । प्रमाणमविम्वंशदि परमर्षिप्रणेनृकम् ॥११४॥
पुराणस्यास्य ^२वक्तव्यं कृत्स्नं वाङ्मयमिष्यते । यतो नास्माद् बहिर्भूतमस्ति ^३वस्तु वचोऽपि वा ॥११५॥
यथा महापुरुषानां प्रसूतिर्मकराकरात् । तथैव सूक्तखानां प्रभवोऽस्मात् पुराणतः ॥११६॥
तीर्थं कृष्णवर्तान्द्रव्यलकेशवसंपदः । मुनीनामृद्व्यश्वास्य वक्तव्याः सह कारणैः ॥११७॥
बन्धो मुक्तस्तथा बन्धो मोक्षस्तद्व्यकारणम् । षड्विध्याणि पदार्थाश्च नवेत्यस्यार्थसंग्रहः ॥११८॥
जगत्प्रतिनिवेशश्च त्रैकात्म्यस्य च संग्रहः । जगतः सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिदोद्यते ^४ ॥११९॥
मार्गो मार्गफलं चेति पुरुषार्थसमुच्चयः । यावान् प्रविस्तरस्तस्य धत्ते सोऽस्याभिधेयताम् ॥१२०॥
किमत्र बहुनोक्तं न धर्मसृष्टिरविप्लुता ^५ । यावता सास्य वक्तव्यपद्वीमवगाहते ॥१२१॥
सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम् । सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥१२२॥
यद्यत्र सुस्थितं वस्तु तदेव निकषक्षमम् ^६ । यद्यत्र दुःस्थितं नाम तत्सर्वत्रैव दुःस्थितम् ॥१२३॥
एवं महाभिधेयस्य पुराणस्यास्य भूयसः । क्रियतेऽर्थाधिकाराणामिर्धेयानुगमोऽधुना ॥१२४॥
त्रयः षष्टिरिहार्थाधिकाराः प्रोक्ता महर्षिभिः । कथापुरुषसंख्यायास्तत्प्रमाणानतिक्रमात् ॥१२५॥

मार्गदर्शक विषयसंग्रहः श्रीऽश्वि विचारक्रमः इत्येतद्विषयान्तराधिकाराणामपर्यन्तोऽत्र विस्तरः ॥१२६॥

है ॥१११-११३॥ यह जो ऊपर प्रमाण बतलाया है सो द्रव्यश्रुतका ही है, भावश्रुतका नहीं है । वह भावकी अपेक्षा श्रुतज्ञान रूप है जो कि सत्यार्थ, विरोधरहित और केवलिप्रणीत है ॥११४॥ सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग ही इस पुराणका अभिधेय विषय है क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विषय ही है और न शब्द ही है ॥११५॥ जिस प्रकार महामूल्य रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है उसी प्रकार सुभाषितरूपी रत्नोंकी उत्पत्ति इस पुराणसे होती है ॥११६॥ इस पुराणमें तीर्थकर, चक्रवर्ती, इन्द्र, बलभद्र और नारायणोंकी सम्पदाओं तथा मुनियोंकी ऋद्धियोंका उनकी प्राप्तिके कारणोंके साथ-साथ वर्णन किया जायेगा ॥११७॥ इसी प्रकार संसारी जीव, मुक्त जीव, बन्ध, मोक्ष, इन दोनोंके कारण, छह द्रव्य और नव पदार्थ ये सब इस ग्रन्थके अर्थसंग्रह हैं अर्थात् इस सबका इसमें वर्णन किया जायेगा ॥११८॥ इस पुराणमें तीनों लोकोंकी रचना, तीनों कालोंका संग्रह, संसारकी उत्पत्ति और विनाश इन सबका वर्णन किया जायेगा ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप मार्ग, मोक्ष रूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ और काम ये पुरुषार्थ इन सबका जो कुछ विस्तार है वह सब इस ग्रन्थकी अभिधेयताको धारण करता है अर्थात् उसका इसमें कथन किया जायेगा ॥१२०॥ अधिक कहनेसे क्या, जो कुछ जितनी निर्बाध धर्मकी सृष्टि है वह सब इस ग्रन्थकी वर्णनीय वस्तु है ॥१२१॥ जो सुभाषित दूसरी जगह बहुत समय तक खोजनेपर भी नहीं मिल सकते उनका संग्रह इस पुराणमें अपनी इच्छानुसार पद-पदपर किया जा सकता है ॥१२२॥ इस ग्रन्थमें जो पदार्थ उत्तम ठहराया गया है वह दूसरी जगह भी उत्तम होगा तथा जो इस ग्रन्थमें बुरा ठहराया गया है वह सभी जगह बुरा ही ठहराया जायेगा । भावार्थ—यह ग्रन्थ पदार्थोंकी अच्छाई तथा बुराईकी परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है ॥१२३॥ इस प्रकार यह महापुराण बहुत भारी विषयोंका निरूपण करनेवाला है । अब इसके अर्थाधिकारोंकी संख्याका नियम कहते हैं ॥१२४॥

इस ग्रन्थमें तिरसठ महापुरुषोंका वर्णन किया जायेगा इसलिए उसी संख्याके अनुसार ऋषियोंने इसके तिरसठ ही अधिकार कहे हैं ॥१२५॥ इस पुराण स्कन्धके तिरसठ अधिकार

१. श्रुतज्ञानं (तामा) । २. अभिधेयम् । ३. अर्थः । ४. -मिदोच्यते द०, प०, म०, म०, ल० ।

५. रत्नप्रपातकः । ६. प्रबाधिता । ७. विचारक्रमम् । ८. -साधिगमो - अ०, द० ।

तीर्थकर्तृपुराणेषु शेषाणामपि संग्रहात् । चतुर्विंशतिरेकात्र पुराणानीति केचन ॥१२०॥
 पुराणं वृषभस्याद्यं द्वितीयमजितेशिनः । तृतीयं संभवस्येष्टं चतुर्थमभिनन्दने ॥१२१॥
 पञ्चमं सुमतेः प्रोक्तं षष्ठं पद्मप्रभस्य च । सप्तमं स्वास्तुषार्धस्य चन्द्रमासोऽष्टमं स्कृतम् ॥१२२॥
 नवमं पुष्पदन्तस्य दशमं शीतलेशिनः । अयसं च परं तस्माद् द्वादशं वासुपूज्यगम् ॥१२३॥
 त्रयोदशं च विमले ततोऽनन्तजितः परम् । जिने पञ्चदशं धर्मं शान्तेः षोडशमीशितुः ॥१२४॥
 कुन्धोः सप्तदशं श्रेयमरस्याष्टादशं मतम् । महल्लैकोनविंशं स्वाद् विंशं च मुनिसुव्रते ॥१२५॥
 एकविंशं नमोर्भर्तुर्नैमिर्विंशमर्हतः । पार्श्वेशस्य त्रयोविंशं चतुर्विंशं च सन्मतेः ॥१२६॥
 पुराणान्वेवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम् । महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते ॥१२७॥
 पुराणं^१ महदद्यत्वे यदस्माभिरनुस्मृतम्^२ । पुरा युगान्ते तन्नूनं कियदप्यवशिष्यते ॥१२८॥
 दोषाद् दुःखमकालस्य^३ महास्य^४ धर्मो^५ नृणां^६ तस्य^७ इति^८ पुराणस्य^९ हायते ग्रन्थविस्तरः ॥१२९॥
 तथाहीदं पुराणं नः^{१०} सुधर्मा^{११} श्रुतकेवली । सुधर्मः प्रथमं नेष्यत्यखिलं सदनन्तरम् ॥१३०॥
 जम्बूनामा ततः कृत्स्नं पुराणमपि शुश्रुवात् । प्रथमिष्यति लोकेऽस्मिन् सोऽन्त्यः केवलितमिह ॥१३१॥
 अहं सुधर्मो जम्बूवाक्यो निखिलश्रुतधारिणः । क्रमात् केवल्यमुत्पाद्य निर्वस्यामस्ततो वयम् ॥१३२॥
 प्रयाण्यमस्मदादीनां कालः केवलितमिह । द्वाषष्टिवर्षपिण्डः स्वाद् भगवन्निर्गतेः^{१२} परम् ॥१३३॥

य अवश्य अवश्य हैं परन्तु इसके अन्तर अधिकारोंका विस्तार अमर्यादित है ॥१२६॥ कोई-कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थकरोंके पुराणोंमें चक्रवर्ती आदिके पुराणोंका भी संग्रह हो जाता है इसलिए चौबीस ही पुराण समझना चाहिए । जो कि इस प्रकार हैं—पहला पुराण वृषभनाथका, दूसरा अजितनाथका, तीसरा संभवननाथका, चौथा अभिनन्दननाथका, पाँचवाँ सुमतिनाथका, छठा पद्मप्रभका, सातवाँ सुपार्श्वनाथका, आठवाँ चन्द्रप्रभका, नौवाँ पुष्पदन्तका, दसवाँ शीतलनाथका, ग्यारहवाँ श्रेयान्सनाथका, बारहवाँ वासुपूज्यका, तेरहवाँ विमलनाथका, चौदहवाँ अनन्तनाथका, पन्द्रहवाँ धर्मनाथका, सोलहवाँ शान्तिनाथका, सत्रहवाँ कुन्धुनाथका, अठारहवाँ अरनाथका, उन्नीसवाँ मञ्जिनाथका, बीसवाँ मुनिसुव्रतनाथका, इक्कीसवाँ नमिनाथका, बाईसवाँ नेमिनाथका, तेईसवाँ पार्श्वनाथका और चौबीसवाँ सन्मति—महावीर स्वामीका ॥१२७-१३३॥ इस प्रकार चौबीस तीर्थकरोंके ये चौबीस पुराण हैं इनका जो समूह है वही महापुराण कहलाता है ॥१३४॥ आज मैंने जिस महापुराणका वर्णन किया है वह इस अवसरिणी युगके अन्तमें निश्चयसे बहुत ही अल्प रह जायेगा ॥१३५॥ क्योंकि दुःखम नामक पाँचवें कालके दोषसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ उत्तरोत्तर घटती जायेंगी और बुद्धियोंके घटनेसे पुराणके ग्रन्थका विस्तार भी घट जायेगा ॥१३६॥

उसका स्पष्ट निरूपण इस प्रकार समझना चाहिए—हमारे पीछे श्रुतकेवली सुधर्माचार्य जो कि हमारे ही समान हैं, इस महापुराणको पूर्णरूपसे प्रकाशित करेंगे ॥१३७॥ उनसे यह सम्पूर्ण पुराण श्री जम्बूस्वामी सुनेंगे और वे अन्तिम केवली होकर इस लोकमें उसका पूर्ण प्रकाश करेंगे ॥१३८॥ इस समय मैं, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले हैं—श्रुतकेवली हैं । हम तीनों क्रम-क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जायेंगे ॥१३९॥ हम तीनों केवलियोंका काल भगवान् वर्धमान स्वामीकी मुक्तिके बाद बासठ वर्षका

१. चन्द्रप्रभस्य । २. श्रेयस इदम् । श्रेयांसं अ०, प०, ल० । ३. महदद्यत्वे अ०, प०, ल० । ४. कथितम् । ५. अद्ये । ६. सुधर्मा अ०, प० । ७. सुधर्मप्र-अ० । ८. निर्वाति गमिष्यामः । ९. भगवन्निर्गतेः ल० ।

ततो यथाक्रमं विष्णुर्नन्दिमित्रोऽपराजितः । गोवर्धनो भद्रबाहुरित्याचार्यः महाधियः ॥१४१॥
चतुर्दशमहाविद्यास्थानानां पारगा इमे । पुराणं श्रोतविष्यन्ति कास्त्वेनैव शरदः शतम् ॥१४२॥
विसाखप्रोष्ठिलाचार्यौ क्षत्रियो जयसाह्वयः । नागसेनश्च सिद्धार्थो धृतिषेयास्तथैव च ॥१४३॥
विजयो बुद्धिमान् गङ्गदेवो धर्माविशब्दतः^१ । सेनश्च दशपूर्वाणां धारकाः स्युर्यथाक्रमम् ॥१४४॥
अश्वीतिशैलमन्दानामेतेषां कालसंग्रहः । तदा च कृत्स्नमेवेदं पुराणं विस्तरिष्यते ॥१४५॥
ततो नक्षत्रनाम्ना च जयपालो महातपाः । पाण्डुश्च ध्रुवसेनश्च कंसाचार्य इति क्रमान् ॥१४६॥
पुनश्च महाविद्यानां पारगाः स्युर्यथाक्रमम् । विश्वं विशतमन्दानामेतेषां कालं हृष्यते ॥१४७॥
तदा पुराणमेतत् तु पाठोऽनं प्रथमिष्यते । भाजनाभावतो भूयो जायेत शोकनिवृत्ता ॥१४८॥
सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशः । लोहाचार्यश्चेयमी श्रेयाः प्रथमाङ्गाधिपारगाः ॥१४९॥
शरदां शतमेषां स्यात् कास्योऽष्टावशमिद्युतम्^२ । तुर्यो भागः पुराणस्य तदास्य प्रतनिष्यते ॥१५०॥
ततः क्रमात् प्रहायेद^३ पुराणं स्वल्पमात्रया । धीप्रमोषादिदोषेण विस्तरैर्भारविष्यते ॥१५१॥
ज्ञानविज्ञानसंपन्नगुरुपर्वान्द्रयाविदम् । प्रमाणं^४ यच्च यावच्च यदा यच्च प्रकाशते ॥१५२॥
तदापीदमनुस्मर्तुं^५ प्रमविष्यन्ति धीधनाः । जितसेनाग्र्याः पूज्याः कवीनां परमेश्वराः ॥१५३॥
पुराणमिदमेवायं यदास्मात् स्वयम्भुवा । पुराणाभासमग्न्यसु केवलं बाष्पमकं विदुः ॥१५४॥

है ॥१४०॥ तदनन्तर सौ वर्षमें क्रम-क्रमसे विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु व बुद्धिमान् आचार्य होंगे । ये आचार्य ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वरूप महाविद्याओंके पारंगत अर्थात् श्रुतकेवली होंगे और पुराणको सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित करते रहेंगे ॥१४१-१४२॥ इनके अनन्तर क्रमसे विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जयाचार्य, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिमान्, गङ्गदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अङ्ग और दश पूर्वके धारक होंगे । उनका काल १८३ वर्ष होगा । उस समय तक इस पुराणका पूर्ण प्रकाश होता रहेगा ॥१४३-१४५॥ इनके बाद क्रमसे नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाँच महा तपस्वी मुनि होंगे । ये सब ग्यारह अङ्गके धारक होंगे, इनका समय २२० हो सौ बीस वर्ष माना जाता है । उस समय यह पुराण एक भाग कम अर्थात् तीन चतुर्थांश रूपमें प्रकाशित रहेगा फिर योग्य पात्रका अभाव होनेसे भगवान्‌का कहा हुआ यह पुराण अवश्य ही कम होता जायेगा ॥१४६-१४८॥ इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार आचार्य होंगे जो कि विशाल कीर्तिके धारक और प्रथम अंग (आचारांग) रूपी समुद्रके पारगामी होंगे । इन सबका समय अठारह वर्ष होगा । उस समय इस पुराणका एक चौथाई भाग ही प्रचलित रह जायेगा ॥१४९-१५०॥ इसके अनन्तर अर्थात् वर्धमान स्वामीके मोक्ष जानेसे ६८३ छह सौ तिरासी वर्ष बाद यह पुराण क्रम-क्रमसे थोड़ा-थोड़ा घटता जायेगा । उस समय लोगोंकी बुद्धि भी कम होती जायेगी इसलिए बिरले आचार्य ही इसे अल्परूपमें धारण कर सकेंगे ॥१५१॥ इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न गुरुपरिपाटी-द्वारा यह पुराण जब और जिस मात्रामें प्रकाशित होता रहेगा उसका स्मरण करनेके लिए जितसेन आदि महाबुद्धिमान् पूज्य और श्रेष्ठ कवि उत्पन्न होंगे ॥१५२-१५३॥ श्री वर्धमान स्वामीने जिसका निरूपण किया

१. संबत्सरस्य । २. शतशतः अ०, प०, म०, द०, ल० । शब्दितः स० । ३. अश्वीतं शत-अ०, स०, प०, म०, द०, ल० । ४. -मेतच्च अ० । ५. पश्चात् । ६. जायेताञ्ज-ल० । ७. समानां अ०, व०, प०, म०, ल०, द०, स० । ८. -युतः अ०, द०, म०, प०, स० । ९. प्रहोणं भूत्वा । १०. ज्ञानं [सतिज्ञानं] विज्ञानं [लिखितपठितादिकं ध्रुवज्ञानम्] । ११. यत्र द०, प० । १२. समर्था भविष्यन्ति । १३. प्रमाणमिद-अ०, स०, प०, द०, म०, ल० ।

नामग्रहणमात्रं च पुनाति परमेष्ठिनाम् । किं पुनर्मुहुरपीतं तत्कथाश्रवणामृतम् ॥१५५॥
 ततो भव्यजनैः 'धातुरवगाहमिदं मुहुः । पुराणं पुण्यपुरतन्मूलमधीयितं महत् ॥१५६॥
 तच्च पूर्वानुपूर्व्येदं पुराणमनुवर्ष्यते । तत्राद्यस्य पुराणस्य संग्रहे कारिका^१ विदुः ॥१५७॥
 स्थितिः कुलकरोत्पत्तिर्वंशानामथ निर्गमः^२ । पुरोः साम्राज्यमार्हन्त्यं निर्वाणं युगविच्छिदा^३ ॥१५८॥
 एते महाधिकाराः स्तुः पुराणे वृषभेशिनः । यथावसरमन्वेषु पुराणेष्वपि लक्षयेत् ॥१५९॥
 कथोपोद्धात^४ एष स्यात् कथायाः पीठिकामितः । वक्ष्ये कालावतारं च स्थितीः^५ कुलभूतामपि ॥१६०॥

मालिनीच्छम्बः

प्रणिगदति सतीर्थं मौतमे सक्तिनञ्चा मुनिपरिषदशेषा श्रोतुकामा पुराणम् ।
 मगधभूपतिनामा सावधाना तदाभूद्विजयवर्णयेद् वा^६ कः सुधीरासवाक्यम् ॥१६१॥

शार्दूलयिकीडितम्

इत्याचार्यपरम्परीणममलं पुण्यं पुराणं पुरा कल्पे यद्भगवानुवाच वृषभशक्तादिभर्त्रे जिनः ।
 तद्वा पापकलङ्करूपमलिलं प्रक्षाल्य शुद्धिं परां देयात् पुण्यवज्जलं परमिदं तीर्थं जगत्पावनम् ॥१६२॥
 इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुखवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥
 मार्गदर्शकः - आचार्य श्री मुद्रिद्विद्यागन्त जी महाराज

है वह पुराण ही श्रेष्ठ और प्रामाणिक है इसके सिवाय और सब पुराण पुराणाभास हैं उन्हें केवल वाणीके दोषमात्र जानना चाहिए ॥१५४॥ जब कि पञ्चपरमेष्ठियोंका नाम लेना ही जीवोंको पवित्र कर देता है तब बार-बार उनकी कथारूप अमृतका पान करना तो कहना ही क्या है ? वह तो अवश्य ही जीवोंको पवित्र कर देता है—कर्ममलसे रहित कर देता है ॥१५५॥ जब यह बात है तो श्रद्धालु भक्त जीवोंको पुण्यरूपी रत्नोंसे भरे हुए इस पुराणरूपी समुद्रमें अवश्य ही अवगाहन करना चाहिए ॥१५६॥ ऊपर जिस पुराणका लक्षण कहा है अब यहाँ क्रमसे उसीको कहेंगे और उसमें भी सबसे पहले भगवान् वृषभनाथके पुराणकी कारिका कहेंगे ॥१५७॥ श्री वृषभनाथके पुराणमें कालका वर्णन, कुलकरोँकी उत्पत्ति, वंशोंका निकलना, भगवान्का साम्राज्य, अरहन्त अवस्था, निर्वाण और युगका विच्छेद होना ये महाधिकार हैं । अन्य पुराणोंमें जो अधिकार होंगे वे समयानुसार बताये जायेंगे ॥१५८-१५९॥

यह इस कथाका उपोद्धात है, अब आगे इस कथाकी पीठिका, कालावतार और कुलकरोँकी स्थिति कहेंगे ॥१६०॥ इस प्रकार गौतम स्वामीके कहनेपर भक्तिसे नम्र हुई वह मुनियोंकी समस्त सभा पुराण सुननेकी इच्छासे श्रेणिक महाराजके साथ सावधान हो गयी, सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो कि आप्त पुरुषोंके हितकारी वचनोंका अनादर करे ॥१६१॥ इस प्रकार जो आचार्य-परम्परासे प्राप्त हुआ है, निर्दोष है, पुण्यरूप है और युगके आविर्भूत चक्रवर्तीके लिए भगवान् वृषभदेवके द्वारा कहा गया था, ऐसा यह जगत्को पवित्र करनेवाला उत्कृष्ट तीर्थस्वरूप पुराणरूपी पवित्र जल तुम लोगोंके समस्त पाप कलङ्करूपी कीचड़को धोकर तुम्हें परम शुद्धि प्रदान करे ॥१६२॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध, श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें 'कथामुखवर्णन' नामक द्वितीय पर्व समाप्त हुआ ॥ २ ॥

१. श्रद्धानयुक्तेः । २. पुण्यसंरत्नै-अ० । ३. कारिकां द०, अ०, ल० । ४. उत्पत्तिः । ५. विच्छिदा भेदः । ६. एषोऽस्याः प०, म०, द०, ल० । ७. स्थितिं स०, प०, द०, म०, ल० । ८. अमा सह । ९. अवज्ञां कुर्यात् । १०. तथाहि । ११. परम्परागतम् ।

तृतीयं पर्व

पुराणं मुनिमानस्य जिनं वृषभमभ्युतम् । महत्तत्पुुराणस्य पीठिका व्याकल्प्यते ॥१॥
 अनादिनिधनः कालो वर्तमानलक्षणो मतः । लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नः प्रमाणकः ॥२॥
 सोऽसंख्येयोऽन्यतन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहः^१ । वर्तते स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिच्छिन्नः ॥३॥
 यथा कुलालधकस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला । तथा कालः पदार्थानां वर्तनोपग्रहः^२ मतः ॥४॥
 स्वतोऽपि वर्तमानानां सोऽर्थानां परिघर्त्तकः । यथास्वं^३ गुणपर्यायैरतो नाम्नोऽन्यसंस्कृतः ॥५॥
 सोऽस्तिकायेष्वसंपाठास्त्यर्थकं^४ विमन्वते । पद्मस्येधूपदिष्टवायुनिधोगाच्च तद्गतिः^५ ॥६॥

मैं उन वृषभनाथ स्वामीको नमस्कार करके इस महापुराणकी पीठिकाका व्याख्यान करता हूँ जो कि इस अवसर्पिणी युगके सबसे प्राचीन मुनि हैं, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है और विनाशसे रहित हैं ॥१॥

कालद्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है (जो द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक हो उसे वर्तना कहते हैं) यह कालद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है और असंख्यात होनेके कारण समस्त लोकाकाशमें भरा हुआ है । भावार्थ-कालद्रव्यका एक-एक परमाणु लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर स्थित है ॥२॥ उस कालद्रव्यमें अनन्त पदार्थोंके परिणमन करानेकी सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी होता है ॥३॥ जिस प्रकार कुम्हारके चाकके घूमनेमें उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमें काल द्रव्य सहकारी कारण है । संसारके समस्त पदार्थ अपने-अपने गुणपर्यायों-द्वारा स्वयमेव ही परिणमनको प्राप्त होते रहते हैं और काल-द्रव्य उनके उस परिणमनमें मात्र सहकारी कारण होता है । जब कि पदार्थोंका परिणमन अपने-अपने गुणपर्याय रूप होता है तब अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि वे सब पदार्थ सर्वदा पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर परस्परमें मिलते नहीं हैं ॥४॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं अर्थात् सत्स्वरूप होकर बहुप्रदेशी हैं । इनमें कालद्रव्यका पाठ नहीं है, इसलिए वह है ही नहीं इस प्रकार कितने ही लोग मानते हैं परन्तु उनका वह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि एक प्रदेशी होनेके कारण काल द्रव्यका पंचास्तिकायोंमें पाठ नहीं है तथापि लह द्रव्योंमें तो उसका पाठ किया गया है । इसके सिवाय युक्तिसे भी काल द्रव्यका सिद्ध होना है । वह युक्ति इस प्रकार है कि संसारमें जो घड़ी, घण्टा आदि व्यवहार कालप्रसिद्ध है वह पर्याय है । पर्यायका मूलभूत कोई-न-कोई पर्यायी अवश्य होता है क्योंकि बिना पर्यायीके पर्याय नहीं हो सकती इसलिए व्यवहार कालका मूल-

१. परिच्छिन्नः निविचतः । २. उपकारे । -रूपग्रहः म० । ३. -ग्रहो मतः प० । ४. स्वसामर्थ्यात् ।
 ५. विवर्त-द०, स०, प०, म०, ल० । ६. यथायोग्यम् । ७. -स्वगुण-स०, ल० । ८. परस्परसंकरः ।
 ९. द्राविडाः । १० उपायः ।

‘मुख्यकल्पेन कालोऽस्ति व्यवहारप्रतीतितः । मुख्यादन्ते न गौणोऽस्ति सिंहो माणवको यथा ॥७॥
 प्रदेशप्रचयापायात् कालस्यानस्तिकायता । गुणप्रचययोगोऽस्य द्रव्यत्वावस्ति सोऽस्त्यतः ॥८॥
 अस्तिकायश्रुतिर्वक्ति कालस्यानस्तिकायताम् । सर्वस्य सविपक्षत्वाजीवकायश्रुतिर्यथा ॥९॥
 कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यपश्चयः । परापरत्वसंसूच्यो वर्णितः सर्वदर्शिभिः ॥१०॥
 वर्तितो ‘द्रव्यकालेन वर्तमानलक्षणेन यः । कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय कल्प्यते ॥११॥
 समयावलिकोच्छ्वास-नालिकादिप्रभेदतः । ज्योतिश्चक्रअमायसं कालचक्रं विदुर्बुधाः ॥१२॥
 ‘मन्वायुष्कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः । सोऽनन्तसमयस्तस्य परिवर्तोऽनन्ततया ॥१३॥
 उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ । उत्सर्पादवसर्पिश्च बलायुर्वेदवर्णनाम् ॥१४॥

भूत मुख्य काल द्रव्य है । मुख्य पदार्थके बिना व्यवहार-गौण पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती । जैसे कि वास्तविक सिंहके बिना किसी प्रतापी बालकमें सिंहका व्यवहार नहीं किया जा सकता, वैसे ही मुख्य कालके बिना घड़ी, घण्टा आदिमें काल द्रव्यका व्यवहार नहीं किया जा सकता । परन्तु होता अवश्य है इससे काल द्रव्यका अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है ॥५-७॥ यद्यपि इनमें एकसे अधिक बहुप्रदेशोंका अभाव है इसलिए इसे अस्तिकायोंमें नहीं गिना जाता है तथापि इसमें अगुरुलघु आदि अनेक गुण तथा उनके विकारस्वरूप अनेक पर्याय अवश्य हैं क्योंकि यह द्रव्य है, जो-जो द्रव्य होता है उसमें गुणपर्यायोंका समूह अवश्य रहता है । द्रव्यत्वका गुणपर्यायोंके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा बहुप्रदेशोंके साथ नहीं है । अतः बहुप्रदेशोंका अभाव होनेपर भी काल पदार्थ द्रव्य माना जा सकता है और इस तरह काल नामक पृथक् पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जाती है ॥८॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशको अस्तिकाय कहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि विपक्षीके रहते हुए ही विशेषणकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है । जिस प्रकार वह द्रव्योंमें चेतनरूप आत्मद्रव्यको जीव कहना ही पुद्गलादि पाँच द्रव्योंको अजीव सिद्ध कर देता है उसी प्रकार जीवादिको अस्तिकाय कहना ही कालको अनस्तिकाय सिद्ध कर देता है ॥९॥ इस मुख्य कालके अतिरिक्त जो घड़ी, घण्टा आदि हैं वह व्यवहारकाल कहलाता है । यहाँ यह याद रखना आवश्यक होगा कि व्यवहारकाल मुख्य कालसे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है वह उसीके आश्रयसे उत्पन्न हुआ उसकी पर्याय ही है । यह छोटा है, यह बड़ा है आदि बातोंसे व्यवहारकाल स्पष्ट जाना जाता है ऐसा सर्वज्ञदेवने वर्णन किया है ॥१०॥ यह व्यवहारकाल वर्तमान लक्षणरूप निश्चय काल द्रव्यके द्वारा ही प्रयत्नित होता है और वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप होकर संसारका व्यवहार चलानेके लिए समर्थ होता है अथवा कल्पित किया जाता है ॥११॥ वह व्यवहारकाल समय, आयलि, उच्छ्वास, नाड़ी आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है । यह व्यवहारकाल सूर्यादि ज्योतिश्चक्रके घूमनेसे ही प्रकट होता है ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ॥१२॥ यदि भव, आयु, काय और शरीर आदिकी स्थितिका समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकारसे होता है ॥१३॥

१. स्वरूपेण । २. अगुरुलघुगुणः । ३. जीवास्तिकायः । ४. संश्रयः । ५. मुख्यकालेन । ६. कल्पितः
 म० । ७. युः काय-ल०, अ०, म०, स०, प०, द० । ८. संकल्पनात्मकः प० । ९. -नन्तकः स० । १०. वर्णन
 प्रमाणम् । “वर्णा देहप्रमाणयोः” इत्यमरः ।

कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमा^१ सागरसंख्यया । शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुसौ कल्प इत्यते ॥१५॥
 षोडा स पुनरैको भिद्यते स्वमिदात्मभिः । तत्रामान्यनुकीर्यन्ते शृणु राजन् यथाक्रमम् ॥१६॥
 द्विरुक्तसुषमाद्यासीत् द्वितीया सुषमा मता । सुषमा दुःषमान्तान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥१७॥
 पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया सैमा षष्ठ्यतिदुःषमा । भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्ययाः ॥१८॥
 समा कालविभागः स्यात् सुदुसावर्गगर्हयोः । सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वयत्वमेतयोः ॥१९॥
 उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ काकौ सान्तमिदाविमौ । स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वयार्थमिधानर्कौ ॥२०॥
 कालचक्रपरिभ्रान्त्या षट्समापरिवर्त्तनैः । तावुसौ परिवर्त्तते^३ तामिखेतरपक्षवत् ॥२१॥
 पुराऽस्यामवसर्पिण्यां क्षेत्रेऽस्मिन् मरताह्वये । मध्यमं खण्डमाश्रित्य^४ ववृधे प्रथमा समा ॥२२॥
 सागरोपमकोटीमां कोटी स्याच्चतुराहता । तस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरियं मता ॥२३॥
 देवोत्तरकुलमासु या स्थितिः समवस्थिता । सा स्थितिर्भरते वर्षे युगारम्भे स्म जायते ॥२४॥

उस व्यवहारकालके^१ कहे जाते हैं—और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी । जिसमें मनुष्योंके बल, आयु और शरीरका प्रमाण क्रम-क्रमसे बढ़ता जाये उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रमसे घटते जायें उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥१५॥ उत्सर्पिणी कालका प्रमाण दस कोड़ाकोड़ी सागर हैं तथा अवसर्पिणी कालका प्रमाण भी इतना ही है । इन दोनोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्प काल होता है ॥१५॥ हे राजन्, इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके प्रत्येकके छह-छह भेद होते हैं । अब क्रमपूर्वक उनके नाम कहे जाते हैं सो सुनो ॥१६॥ अवसर्पिणी कालके छह भेद ये हैं—पहला सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमादुःषमा, चौथा दुःषमासुषमा, पाँचवाँ दुःषमा और छठा अतिदुःषमा अथवा दुःषम-दुःषमा ये अवसर्पिणीके भेद जानना चाहिए । उत्सर्पिणी कालके भी छह भेद होते हैं जो कि उक्त भेदोंसे विपरीत रूप हैं, जैसे १ दुःषमादुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमासुषमा, ४ सुषमादुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ॥१७-१८॥ समा कालके विभागको कहते हैं तथा सु और दुर् उपसर्ग-क्रमसे अच्छे और बुरे अर्थमें आते हैं । सु और दुर् उपसर्गोंको पृथक्-पृथक् समाके साथ जोड़ देने तथा व्याकरणके नियमानुसार स को ष कर देनेसे सुषमा तथा दुःषमा शब्दोंकी सिद्धि होती है । जिनका अर्थ क्रमसे अच्छा काल और बुरा काल होता है, इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छहों भेद सार्थक नामवाले हैं ॥१९॥ इसी प्रकार अपने अवान्तर भेदोंसे सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल भी सार्थक नामसे युक्त हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदिकी वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी और जिसमें घटती होती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥२०॥ ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्रके परिभ्रमणसे अपने छहों कालोंके साथ-साथ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षकी तरह घूमते रहते हैं अर्थात् जिस तरह कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष और शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्ष बदलता रहता है उसी तरह अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी बदलती रहती है ॥२१॥

पहले इस भरतक्षेत्रके मध्यवर्ती आर्यखण्डमें अवसर्पिणीका पहला भेद सुषमा-सुषमा नामका काल बीत रहा था उस कालका परिमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर था, उस समय यहाँ नीचे लिखे अनुसार व्यवस्था थी ॥२२-२३॥ देवकुल और उत्तरकुल नामक उत्तर भोगभूगियोंमें जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्रमें युगके

१. प्रमितिः । २. कालः । ३. तामिखेतरौ कृष्णशुक्लौ । ४. प्रथमे स०, प० । अवृते द०, त० । ववृते वर्तते स्म ।

तदा स्थितिर्मनुष्याणां त्रिपत्योपमसम्मिता । षट्सहस्राणि चापानामुत्सेधो वपुषः स्मृतः ॥२५॥

१ वेद्यास्थिवन्धनाः सौम्याः सुन्दराकारधारवः । निष्ठसकनकच्छाया दीप्यन्ते ते नरोत्तमाः ॥२६॥

मुकुटं कुण्डलं हारो मेखला कटकाङ्गुरी । केयूरं वज्रसूत्रं च तेषां शब्दं विभूषणम् ॥२७॥

२ ते स्वपुण्योदयोद्भूतरूपलावण्यमपदः । रंस्थन्ते चिरं क्रीमिः सुरा इव सुरालये ॥२८॥

३ महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः । महानुभावास्ते सर्वे महीयन्ते महोदयाः ॥२९॥

तेषामाहारसंप्रीतिर्जायते त्रितसैस्त्रिभिः । कुवलीफलमात्रं च दिव्यान्नं विभूषणन्ति ते ॥३०॥

निर्व्याधामा निरातङ्गा निर्णीहारा निराधयः । निस्स्वेदास्ते निराबाधा जीवन्ति पुरुषायुषाः ॥३१॥

स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तयः । कल्पद्रुमेषु संसक्ताः कल्पवल्क्य इवोज्ज्वलाः ॥३२॥

पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः । यावज्जीवमसंक्लिष्टा भुञ्जते भोगमपदः ॥३३॥

स्वभावसुन्दरं रूपं स्वभावमधुरं वचः । स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गाशुषामिव ॥३४॥

रुच्याहारसृहालोचन-माख्यभूषांश्चरादिकम् । भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरुव्रक्षम् ॥३५॥

प्रारम्भ अर्थात् अवसर्पिणीके पहले कालमें थी ॥२४॥ उस समय मनुष्योंकी आयु तीन पत्यकी होती थी और शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुषकी थी ॥२५॥ उस समय यहाँ जो मनुष्य थे उनके शरीरके अस्थिवन्धन वज्रके समान सुदृढ़ थे, वे अत्यन्त सौम्य और सुन्दर आकारके धारक थे । उनका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान देदीप्यमान था ॥२६॥ मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत इन आभूषणोंको वे सर्वदा धारण किये रहते थे ॥२७॥ यहाँके मनुष्योंको पुण्यके उदयसे अनुपम रूप सौन्दर्य तथा अन्य सम्पदाओंकी प्राप्ति होती रहती है इसलिए वे स्वर्गमें देवोंके समान अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥२८॥ वे पुरुष सबके सब बड़े बलवान्, बड़े धीर-वीर, बड़े तेजस्वी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े पुण्यशाली होते हैं । उनके वक्षःस्थल बहुत ही विस्तृत होते हैं तथा वे सब पूज्य समझे जाते हैं ॥२९॥ उन्हें तीन दिन बाद भोजनकी इच्छा होती है सो कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए बदरीफल बराबर उत्तम भोजन ग्रहण करते हैं ॥३०॥ उन्हें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कोई रोग होता है, न मलमूत्रादिकी बाधा होती है, न मानसिक पीड़ा होती है, न पसीना ही आता है और न अकालमें उनकी मृत्यु ही होती है । वे बिना किसी बाधाके सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं ॥३१॥ वहाँकी स्त्रियाँ भी उतनी ही आयुकी धारक होती हैं, उनका शरीर भी उतना ही ऊँचा होता है और वे अपने पुरुषोंके साथ ऐसी शोभायमान होती हैं जैसी कल्पवृक्षोंपर लगी हुई कल्पलताएँ ॥३२॥ वे स्त्रियाँ अपने पुरुषोंमें अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं । वे दोनों ही अपने जीवन पर्यन्त बिना किसी क्लेशके भोग-सम्पदाओंका उपभोग करते रहते हैं ॥३३॥ देवोंके समान उनका रूप स्वभावसे सुन्दर होता है, उनके वस्त्र स्वभावसे मीठे होते हैं और उनकी चेष्टाएँ भी स्वभावसे चतुर होती हैं ॥३४॥ इच्छानुसार मनोहर आहार, घर, बाजे, माला, आभूषण और वस्त्र आदिक समस्त भोगोपभोगकी सामग्री

१. त्रिभिः पत्यैरुपमा पर्याप्तौ त्रिपत्योपमस्तेन सम्मिता । २. अस्थीनि च बन्धनानि च अस्थि-
बन्धनानि, वज्रवत् अस्थिवन्धनानि येषां ते । ३. एते पुण्ये—अ०, प०, स०, द०, ल० । ४. महौजसः । ५. महोद्-
बुद्धी पूजायां च, कण्ठवादित्वाद् यक् । ६. बदरफलम् । ७. स्वन शब्दे । अकनन्ति । 'वेद्यं स्वनोऽशने'
इत्यशनार्थे षत्वम् । ८. यमजनकगमनागमनादिव्यापाररहिताः । ९. निरामयाः स० । १०. परकृतबाधा-
रहिताः । निराधार्य अ०, ल० । ११. पुरुषायुषम् द०, प०, म० ।

मन्दगन्धवहाभूतचलद्^१ शुक्लपल्लवाः । मिरयालोकं विराजन्ते कल्पोपपद्पादपाः ॥३६॥
 कालानुमवसंभूतक्षेत्रसामर्थ्यवृद्धिताः । कल्पद्रुमास्तथा तेषां^२ कल्पन्तेऽभीष्टसिद्धये ॥३७॥
 मनोभिरुचितार्^३ भोगैश्च यस्मैश्च पुण्यवृत्ती कुलार्^४ न कल्पन्ति तद्वस्तुवैजित्तिकाः कल्पपादपाः ॥३८॥
 मघत्तूर्यविभूषाखग्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः । भोजनामथैवस्त्राङ्गा दशधा कल्पकास्त्रिनः ॥३९॥
 इति स्वनामनिर्दिष्टां कुर्वन्तोऽर्थक्रियाममी । संज्ञाभिरेव विस्पष्टा ततो नातिप्रतन्वते^५ ॥४०॥
 तथा सुक्ता चिरं भोगान् स्वपुण्यपरिपाकजान् । स्वायुरन्ते विलोभन्ते ते वना इव शारदाः ॥४१॥
 जृम्भिकारम्भमात्रेण तत्कालोत्पद्युतेन वा । जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यान्त्यमेनसः ॥४२॥
 स्वभावमार्दवायोगवक्रतादिगुणैर्युताः । भद्रकास्त्रिदिवं यान्ति तेषां नान्वा गतिस्ततः ॥४३॥
 इत्याद्यः^६ कालभेदोऽवसर्पिण्यां वर्णितो मनाक् । उद्वक्कुरुममः श्रेयो विधिरत्रावधार्यताम् ॥४४॥
 ततो यथाकर्म तस्मिन् काले गच्छति मन्दताम् । यातासु वृक्षर्षीर्यायुः शरीरोत्संघवृत्तिषु ॥४५॥
 सुषमालक्षणः कालो द्वितीयः समवर्त्तत । सागरोपमकोटीनां तिस्रः कोट्योऽस्य संमितिः ॥४६॥
 तदास्मिन् सारते वर्षे मध्यभोगभुवां^७ स्थितिः । जायते स्म परां भूतिं तन्वाना कल्पपादपैः ॥४७॥
 तदा मर्त्या ह्यमर्त्याभा द्विपश्योपमजीविताः^८ । चतुःसहस्रचापोष्णविग्रहाः शुभचैष्टिताः ॥४८॥

इन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हो जाती हैं ॥३५॥ जिनके पल्लवरूपी वस्त्र मन्द सुगन्धित वायुके द्वारा हमेशा हिलते रहते हैं । ऐसे सदा प्रकाशमान रहनेवाले वहाँके कल्पवृक्ष अत्यन्त शोभायमान रहते हैं ॥३६॥ सुषमासुषमा नामक कालके प्रभावसे उत्पन्न हुई क्षेत्रकी सामर्थ्यसे वृद्धिको प्राप्त हुए वे कल्पवृक्ष वहाँके जीवोंको भत्तोवांछित पदार्थ देनेके लिए सदा समर्थ रहते हैं ॥३७॥ वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषोंको मनचाहे भोग देते रहते हैं इसलिए जानकार पुरुषोंने उनका 'कल्पवृक्ष' यह नाम सार्थक ही कहा है ॥३८॥ वे कल्पवृक्ष इस प्रकारके हैं—१ मद्याङ्ग, २ तूर्याङ्ग, ३ विभूषाङ्ग, ४ खगङ्ग (माल्याङ्ग), ५ ज्योतिरङ्ग, ६ दीपाङ्ग, ७ गृहाङ्ग, ८ भोजनाङ्ग, ९ पात्राङ्ग और १० वस्त्राङ्ग । वे सब अपने-अपने नामके अनुसार ही कार्य करते हैं इसलिए इनके नाम मात्र कह दिये हैं; अधिक विस्तारके साथ उनका कथन नहीं किया है ॥३९-४०॥ इस प्रकार वहाँके मनुष्य अपने पूर्व पुण्यके उदयसे चिरकाल तक भोगोंको भोगकर आयु समाप्त होते ही शरवृक्षतुके मेधोंके समान बिलीन हो जाते हैं ॥४१॥ आयुके अन्तमें पुरुषको जम्हाई आती है और स्त्रीको छींक । उसीसे पुण्यात्मा पुरुष अपना-अपना शरीर छोड़कर स्वर्ग चले जाते हैं ॥४२॥ उस समयके मनुष्य स्वभावसे ही कोमल-परिणामी होते हैं, इसलिए वे भद्रपुरुष मरकर स्वर्ग ही जाते हैं । स्वर्गके सिवाय उनकी और कोई गति नहीं होती ॥४३॥ इस प्रकार अवसर्पिणी कालके प्रथम सुषमासुषमा नामक कालका कुछ वर्णन किया है । यहाँकी और समस्त विधि उत्तरकुरुके समान समझना चाहिए ॥४४॥ इसके अनन्तर जब क्रम-क्रमसे प्रथम काल पूर्ण हुआ और कल्पवृक्ष, मनुष्योंका बल, आयु तथा शरीरकी ऊँचाई आदि सब घटतीको प्राप्त हो चले तब सुषमा नामक दूसरा काल प्रवृत्त हुआ । इसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागर था ॥४५-४६॥ उस समय इस भारतवर्षमें कल्पवृक्षोंके द्वारा उत्कृष्ट विभूतिको विस्तृत करती हुई मध्यम भोगभूमिकी अवस्था प्रचलित हुई ॥४७॥ उस वक्त यहाँके मनुष्य देवोंके समान कान्तिके धारक थे, उनकी आयु दो पल्यकी

१. अंशुकं वस्त्रम् । २. नित्यप्रकाशः । ३. समर्था भवन्ति । ४. -भिलषितान् प०, म०, ल० । ५. अमत्रं भोजनम् । ६. प्रतन्वते अ०, प०, म०, द० । ७. -यकाल अ०, स० । ८. -वधार्यते प०, म० । ९. भुवः स०, ल० । १०. जीवितः अ०, स० ।

कलाधरकलास्पदिदेहज्योत्स्नास्मितोज्ज्वलाः । दिनद्वयेन तेऽश्नन्ति ^१बाधंमन्धोज्ज्वमाश्रयम् ॥४९॥
 शेषो विधिस्तु निश्केषो हरिवर्षसमो मतः । ततः क्रमेण कालेऽस्मिन् नवसर्पयनुक्रमात् ॥५०॥
 प्रहीणा वृक्षवीर्यादिविशेषाः प्राक्तना यदा । जघन्यभोगभूमीनां सर्पादाविरभूतदा ॥५१॥
 यथावसरसंप्राप्तस्तृतीयः कालपर्ययः । प्रावर्तत सुराजेव स्वां मर्यादामलङ्घयन् ॥५२॥
 सागरोपमकोटीनां ^२कोट्यौ द्वे ^३लब्धसंस्थितौ । कालेऽस्मिन् भारते वर्षे मर्त्याः पल्योपमायुषः ॥५३॥
^४गम्युतिप्रमितोच्छ्रयाः ^५प्रियङ्गुश्यामविप्रहाः । दिनान्तरेण संप्राप्तर्षात्रीफलमिताश्रनाः ॥५४॥
 ततस्तृतीयकालेऽस्मिन् स्थितिकामस्यनुक्रमात् । पल्योपमाष्टमागस्तु यदास्मिन् परिशिष्यते ॥५५॥
 कल्पानोकवृक्षवीर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ । ज्योतिरङ्गास्तदा वृक्षा गता मन्दप्रकाशताम् ॥५६॥
^६पुष्पवन्तावथावाह्या ^७पौर्णमास्या स्फुरत्प्रभौ । ^८सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयोः ॥५७॥
 चामीकरमथो पोताविव तौ गगनार्णवे । विषद्वयस्य ^९निर्याण ^{१०}किलिखितौ तिलकाविव ॥५८॥
 पौर्णमासीविलासिन्याः क्रीड्यमानौ समुज्ज्वलौ । परस्परकराक्षिणौ ^{११}^{१२}आलुषाविव गोलकौ ॥५९॥
 जगद्गृहमहाद्वारि विन्यस्तौ कालभूभृतः । ^{१३}प्रत्यग्रस्य प्रवेशाय कुम्भाविव हिरण्ययौ ॥६०॥

थी, उनका शरीर चार हजार धनुष ऊँचा था तथा उनकी सभी चेश्राएँ शुभ थीं ॥४८॥ उनके शरीरकी कान्ति चन्द्रमाकी कलाओंके साथ ^१करती थी अर्थात् उनसे भी कहीं अधिक सुन्दर थी, उनकी मुसकान बड़ी ही उज्ज्वल थी । वे दो दिन बाद कल्पवृक्षसे प्राप्त हुए बहेड़ेके बराबर उत्तम अन्न खाते थे ॥४९॥ उस समय यहाँकी शेष सब व्यवस्था हरिक्षेत्रके समान थी फिर क्रमसे जब द्वितीय काल पूर्ण हो गया और कल्पवृक्ष तथा मनुष्योंके बल, विक्रम आदि घट गये तब जघन्य भोगभूमिकी व्यवस्था प्रकट हुई ॥५०-५१॥ उस समय न्यायवान् राजाके सदृश मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता हुआ तीसरा सुषमादुःषमा नामका काल यथा-क्रमसे प्रवृत्त हुआ ॥५२॥ उसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागरकी थी । उस समय इस भारत-वर्षमें मनुष्योंकी स्थिति एक पल्यकी थी । उनके शरीर एक कोश ऊँचे थे, वे प्रियङ्गुके समान श्यामवर्ण थे और एक दिनके अन्तरसे आँवलेके बराबर भोजन ग्रहण करते थे ॥५३-५४॥ इस प्रकार क्रम-क्रमसे तीसरा काल व्यतीत होनेपर जब इसमें पल्यका आठवाँ भाग शेष रह गया तब कल्पवृक्षोंकी सामर्थ्य घट गयी और ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया ॥५५-५६॥ तदनन्तर किसी समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमाके दिन सार्यकालके समय आकाशके दोनों भागोंमें अर्थात् पूर्व दिशामें उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिममें अस्त होता हुआ सूर्य दिखलायी पड़ा ॥५७॥ उस समय वे सूर्य और चन्द्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी समुद्रमें सोनेके बने हुए दो जहाज ही हों अथवा आकाशरूपी हस्तीके गण्डस्थलके समीप सिन्दूरसे बने हुए दो चन्द्रक (गोलाकार चिह्न) ही हों । अथवा पूर्णिमारूपी स्त्रीके दोनों हाथोंपर रखे हुए खेलनेके मनोहर लाखनिर्मित दो गोले ही हों । अथवा आगे होनेवाले दुःषम-सुषमा नामक कालरूपी नवीन राजाके प्रवेशके लिए जगत्-रूपी घरके विशाल दरवाजेपर रखे हुए मानो दो सुवर्णकलश ही हों । अथवा तारारूपी फेन

१. वृक्षस्पेदम् । २. -नां द्वे कोट्यो लब्ध-६० । कोट्यौ द्वौ लब्ध-अ०, म०, स०, ल० । ३. लब्धा संप्राप्ता । ४. कोशः । ५. कलिनी । ६. आमलकी । ७. सूर्याचन्द्रमसौ । पुष्पवन्ता-६०, स०, म०, ल० । ८. आषाढमासे । ९. अपराहणे । १०. अपाङ्गदेवो निर्माणम् । ११. -णलक्षितौ अ० । -ण चन्द्रकाविव लक्षितौ ६०, प०, म० ल० । १२. आह्वौ । १३. जतोविकारी । १४. नूतनस्य ।

ताराकेमग्रहमाहविद्यत्सागरमध्यगौ । त्रामीकरमयौ दिव्यावमःक्रीडागृहाविव ॥६१॥
 सद्बृत्तत्वादसङ्गत्वात् साधुवर्गानुकारिणौ । वीततीव्रकरत्वाच्च सदसद्भूमिपाविव ॥६२॥
 प्रतिश्रुतिरिति क्वातस्तथा कुलधरोऽग्रिमः । विभ्रल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रवद् वभौ ॥६३॥
 पल्यस्य दशमो भागस्तस्याधुर्विनवेशितम् । धनुःसहस्रमुखेभ्यः शतैरधिकमष्टमिः ॥६४॥
 आञ्जल्यमानमकुटो लसन्मकरकुण्डलः । कनकाद्रिरिषीसुक्तो विभ्राणो हारनिर्झरम् ॥६५॥
 नानाभरणभामारमासुरोदारविग्रहः । प्रोत्सपत्तजसा स्वेन निभस्तिरविग्रहः ॥६६॥
 महान् जगद्गृहोन्मानमानवण्ड इवोच्छ्रितः । दधज्जन्मान्तराभ्यासजनितं बोधमिच्छाः ॥६७॥
 स्फुरन्तांशुसलिलैर्मुहुः प्रक्षालयन् दिशः । प्रजानां प्रीणनं भाषयं सौधं रसमिवोद्गिरन् ॥६८॥
 भद्रपूर्वौ तौ दृष्ट्वा समीतान् भोगभूमिजान् । भीतेर्निवर्तयामास तस्त्वरूपमिति ब्रुवन् ॥६९॥
 एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्माचन्द्रमसौ ग्रहौ । ज्योतिरङ्गप्रमापायात् काकहासवज्रोद्भवात् ॥७०॥
 सवाप्यधिनभोभागं आन्यतोऽमू महाद्युती । न वस्ताभ्यां भयं किंचित्तो मा भैष्ट मदकाः ॥७१॥

और बुध, मंगल आदि ग्रहरूपी मगरमच्छोंसे भरे हुए आकाशरूपी समुद्रके मध्यमें सुवर्णके दो मनोहर जलक्रीडागृह ही बने हों । अथवा सद्बृत्त-गोलाकार (पक्षमें सदाचारी) और असंग-अकेले (पक्षमें परिग्रहरहित) होनेके कारण साधुसमूहका अनुकरण कर रहे हों अथवा शीतकर-शीतल किरणोंसे युक्त (पक्षमें अल्प टैक्स लेनेवाला) और तीव्रकर-उष्ण किरणोंसे युक्त (पक्षमें अधिक टैक्स लेनेवाला) होनेके कारण क्रमसे न्यायी और अन्यायी राजाका ही अनुकरण कर रहे हों ॥५८-६२॥ उस समय वहाँ प्रतिश्रुति नामसे प्रसिद्ध पहले कुलकर विद्यमान थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और प्रजाजनोंके नेत्रके समान शोभायमान थे अर्थात् नेत्रके समान प्रजाजनोंको हितकारी मार्ग बतलाते थे ॥६३॥ जिनेन्द्रदेवने उनकी आयु पल्यके दसवें भाग और ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष बतलायी है ॥६४॥ उनके मस्तकपर प्रकाशमान मुकुट शोभायमान हो रहा था, कानोंमें सुवर्णमय कुण्डल चमक रहे थे और वे स्वयं मेरु पर्वतके समान ऊँचे थे इसलिए उनके वक्षःस्थलपर पड़ा हुआ रत्नोंका हार झरनेके समान मालूम होता था । उनका उन्नत और श्रेष्ठ शरीर नाना प्रकारके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे अतिशय प्रकाशमान हो रहा था, उन्होंने अपने बढते हुए तेजसे सूर्यको भी तिरस्कृत कर दिया था । वे बहुत ही ऊँचे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो जगत् रूपी घरकी ऊँचाईको नापनेके लिए खड़े किये गये मापदण्ड ही हों । इसके सिवाय वे जन्मान्तरके संस्कारसे प्राप्त हुए अधिज्ञानको भी धारण किये हुए थे इसलिए वही सबमें उत्कृष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे ॥६५-६७॥ वे वैदीप्यमान दाँतोंकी किरणोंरूपी जलसे दिशाओंका बार-बार प्रक्षालन करते हुए जब प्रजाको सन्तुष्ट करनेवाले बचन बोलते थे तब ऐसे मालूम होते थे मानो अमृतका रस ही प्रकट कर रहे हों । पहले कभी नहीं दिखने-वाले सूर्य और चन्द्रमाको देखकर भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्योंको उन्होंने उनका निम्न-लिखित स्वरूप बतलाकर भयरहित किया था ॥६८-६९॥ उन्होंने कहा—हे भद्र पुरुषो, तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य, चन्द्रमा नामके ग्रह हैं, ये महाकान्तिके धारक हैं तथा आकाशमें सर्वदा घूमते रहते हैं । अभीतक इनका प्रकाश ज्योतिरङ्ग जातिके कल्प-वृक्षोंके प्रकाशसे तिरोहित रहता था इसलिए नहीं दिखते थे परन्तु अब चूँकि कालदोषके

इति तद्वचनात्तेषां प्रत्याश्वासो महानभूत् । [अध्रे सोऽतः परं चास्मिन् नियोगाम् भाविनोऽम्बशात्] ॥७२॥
 प्रतिश्रुतिरयं धीरो वक्षः प्रत्यभ्युदोद् वक्षः । इतीहं वक्षिरे भावना ते तं संप्रोतमानसाः ॥७३॥
 महो भीमन् महाभाग चिरंजीव प्रसीद नः । वागपात्रायितं येन त्वयास्मद्भ्यसनार्णवे ॥७४॥
 इति स्तुत्यार्थकास्ते तं सत्कृत्य च पुनः पुनः । लब्धानुशास्ततः स्वं स्वमोको जग्मुः सञ्जानयः ॥७५॥
 मनो पाति दिवं तस्मिन् काष्ठे गच्छति च क्रमात् । सम्बन्तरमसंख्येया वर्षकोटीर्भ्यतीत्य च ॥७६॥
 सम्मतिः सन्मतिर्नाम्ना द्वितीयोऽभून्मनुस्तदा । प्रोत्सर्वदंष्टुकः प्राञ्जुश्चकत्कल्पतरुपमः ॥७७॥
 स कुण्डली किरीटी च कुण्डली हारभूषितः । जगदी मलयजाक्षिप्तवपुरत्पन्तमावभौ ॥७८॥
 तस्यायुरभैमप्रत्यमासीत् संख्येयहायनम् । सहस्रं त्रिशतीयुक्तमुत्सेधो भनुषां मतः ॥७९॥
 ज्योतिर्विदपिनां भूयोऽप्यासीत् काष्ठेन मन्दिमा । प्रहाणाभिमुखं तेजो निर्वास्यति हि दीपवत् ॥८०॥
 तमोऽङ्गणमध्यापर्य तारकाः प्रचकाशिरे । नात्यन्धकारकलुषां वेलां प्राप्य तमोमुखे ॥८१॥
 अकस्मात् तारका इहा संजान्तान् भोगभूमुखः । मीतिर्विचलयामास प्राणिहत्येव योगिनः ॥८२॥

वशसे ज्योतिरङ्ग वृक्षोंका प्रभाव कम हो गया है अतः दिखने लगे हैं । इनसे तुम लोगोंको कोई भय नहीं है अतः भयभीत नहीं होओ ॥७०-७१॥ प्रतिश्रुतिके इन वचनोंसे उन लोगोंको बहुत ही आश्वासन हुआ । इसके बाद प्रतिश्रुतिने इस भरतक्षेत्रमें होनेवाली व्यवस्थाओंका निरूपण किया ॥७२॥ इन धीर-वीर प्रतिश्रुतिने हमारे वचन सुने हैं इसलिए प्रसन्न होकर उन भोगभूमिजोंने प्रतिश्रुति इसी नामसे स्तुति की और कहा कि—अहो महाभाग, अहो बुद्धिसाम्, आप चिरंजीव रहें तथा हमपर प्रसन्न हों क्योंकि आपने हमारे दुःस्वरूपी समुद्रमें नौकाका काम दिया है अर्थात् हितका उपदेश देकर हमें दुःस्वरूपी समुद्रसे उद्धृत किया है ॥७३-७४॥ इस प्रकार प्रतिश्रुतिका स्तवन तथा बार-बार सत्कार कर वे सब आर्य उनकी आज्ञानुसार अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ अपने-अपने घर चले गये ॥७५॥ इसके बाद क्रम-क्रमसे समयके व्यतीत होने तथा प्रतिश्रुति कुलकरके स्वर्गवास हो जानेपर जब असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर (एक कुलकरके बाद दूसरे कुलकरके उत्पन्न होने तक बीचका काल) व्यतीत हो गया तब समीचीन बुद्धिके धारक सन्मति नामके द्वितीय कुलकरका जन्म हुआ । उनके वक्ष बहुत ही शोभायमान थे तथा वे स्वयं अत्यन्त ऊँचे थे इसलिए चलते-फिरते कल्पवृक्षके समान मालूम होते थे ॥७६-७७॥ उनके केश बड़े ही सुन्दर थे, वे अपने मस्तकपर मुकुट बाँधे हुए थे, कानोंमें कुण्डल पहिने थे, उनका वक्षःस्थल हारसे सुशोभित था, इन सब कारणोंसे वे अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥७८॥ उनकी आयु अममके बराबर संख्यात वर्षोंकी थी और शरीरकी ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष थी ॥७९॥ इनके समयमें ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंकी प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गयी थी तथा उनका तेज क्षुब्धते हुए दीपकके समान नष्ट होनेके सम्मुख ही था ॥८०॥ एक दिन रात्रिके प्रारम्भमें जब धोड़ा-थोड़ा अन्धकार था तब तारागण आकाशरूपी अङ्गणको व्याप्त कर—सब ओर प्रकाशमान होने लगे ॥८१॥ उस समय अकस्मात् तारोंको देखकर भोगभूमिज मनुष्य अत्यन्त भ्रममें पड़ गये अथवा अत्यन्त व्याकुल हो गये । उन्हें भयने इतना कम्पायमान कर दिया

१. संज्ञिते सावपत्रपुस्तके कोष्ठकान्तर्गतः पाठो लेखकप्रमादात्प्रभ्रष्टोऽतः ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, संज्ञितपुस्तकेभ्यस्तत्पाठो गृहीतः । २. कारणेन । ३. सभायाः । ४. उन्नतः । ५. पञ्चपञ्चाशत् शून्याग्रं विंशतिप्रमाणचतुरशीतीनां परस्परगुणनम् असमवर्षप्रमाणम् । ६. प्रहीणाभिमुखं ३०, ५०, ७०, ८० । ७. अत्यन्धकारकलुषा न भवतीति नात्यन्धकारकलुषा ताम् । ८. प्राणिहतिः ।

स सन्मतिरनुभूयाय क्षणं प्राबोचतार्यकान् । नोत्पातः कोऽप्यर्थं मद्रास्तन्मागात् भियो वशम् ॥८३॥
 पृतास्तास्तारका नामैतच्च नक्षत्रमण्डलम् । ग्रहा इमे सद्योद्योता इदं तारकितं नमः ॥८४॥
 ज्योतिश्चक्रमिव शश्वद् ज्योमसार्गे कृतस्थिति । स्पष्टतामधुनायातं ज्योतिरङ्गप्रभाक्षयात् ॥८५॥
 इतः प्रभूर्यदोराग्रविभागश्च प्रवर्तते । उदयास्तमयैः सूर्याचन्द्रयोः सहतारयोः ॥८६॥
 ग्रहणग्रहविशेषदिनाभ्ययनसंक्रमात् । ज्योतिर्ज्ञानस्य बीजानि सोऽन्वबोध्यद् विदां वरः ॥८७॥
 अथ तद्वचनं श्रोतुं प्रजाः सपदिनिर्गताः । हि ज्योतिरं ज्योतिः शानामुपकारकम् ॥८८॥
 अथ सन्मतिरेवास्तु प्रभुर्नः सन्मतिप्रदः । इति प्रशस्य संपूज्य ययुस्ते तं स्वमास्पदम् ॥८९॥
 ततोऽन्तरमसंख्येयाः कीटीस्तल्लक्ष्य वरसरान् । तृतीयो मनुश्चासीत् क्षेमंकरसमाङ्ग्यः ॥९०॥
 युगबाहुर्महाकायः पृथुवक्षाः स्फुरप्रभः । सोऽप्यद्योतं गिरिं मेहं ज्वलन्मुकुटचूलिकः ॥९१॥
 अट्टप्रमितं तस्य बभूवायुर्महौजसः । देहोत्सेधश्च चाधानाममुष्यासोच्छताष्टकम् ॥९२॥
 पुरा किल मृगा मद्राः प्रजानां हस्तलालिताः । तदा तु विकृतिं मेजुर्ज्यास्तास्याः भीषणस्वनाः ॥९३॥
 तेषां विप्रियया साम्तर्गोजंया तत्रसुः प्रजाः । पप्रच्छुस्ते तमभ्येत्य मनुं स्थितमविस्मितम् ॥९४॥

जितना कि प्राणियोंकी हिंसा मुनिजनोंको कम्पायमान कर देती है ॥८२॥ सन्मति कुलकरने क्षण-भर विचार कर उन आर्य पुरुषोंसे कहा कि हे भद्र पुरुषो, यह कोई उत्पात नहीं है इस-लिए आप व्यर्थ ही भयके वशीभूत न हों ॥८३॥ ये तारे हैं, यह नक्षत्रोंका समूह है, ये सदा प्रकाशमान रहनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह हैं और यह तारोंसे भरा हुआ आकाश है ॥८४॥ यह ज्योतिश्चक्र सर्वदा आकाशमें विद्यमान रहता है, अबसे पहले भी विद्यमान था, परन्तु ज्योतिरङ्ग जातिके वृक्षोंके प्रकाशसे तिरोभूत था । अब उन वृक्षोंकी प्रभा क्षीण हो गयी है इसलिए स्पष्ट दिखायी देने लगा है ॥८५॥ आजसे लेकर सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदिका उदय और अस्त होता रहेगा और उससे रात-दिनका विभाग होता रहेगा ॥८६॥ उन बुद्धिमान् सन्मति-ने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, ग्रहोंका एक राशिसे दूसरी राशिपर जाना, दिन और अयन आदि-का संक्रमण बतलाते हुए ज्योतिष विद्याके मूल कारणोंका भी उल्लेख किया था ॥८७॥ वे आर्य लोग भी उनके वचन सुनकर शीघ्र ही भयरहित हो गये । वास्तवमें वे सन्मति प्रजाका उपकार करनेवाली कोई सर्वश्रेष्ठ ज्योति ही थे ॥८८॥ समीचीन बुद्धिके देनेवाले यह सन्मति ही हमारे स्वामी हों इस प्रकार उनकी प्रशंसा और पूजा कर वे आर्य पुरुष अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥८९॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तराल काल बीत जानेपर इस भरतक्षेत्रमें क्षेमंकर नामके तीसरे मनु हुए ॥९०॥ उनकी भुजाएँ युगके समान लम्बी थीं । शरीर ऊँचा था, वक्षःस्थल विशाल था, आभा चमक रही थी तथा मस्तक मुकुटसे शोभायमान था । इन सब बातोंसे वे मेरु पर्वतसे भी अधिक शोभायमान हो रहे थे ॥९१॥ इस महाप्रतापी मनुकी आयु अट्ट बराबर थी और शरीरकी ऊँचाई आठ सौ धनुषकी थी ॥९२॥ पहले जो पशु, सिंह, व्याघ्र आदि अत्यन्त भद्रपरिणामी थे जिनका लालन-पालन प्रजा अपने हाथसे ही किया करती थी वे अब इनके समय विकारको प्राप्त होने लगे-मुँह फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे ॥९३॥ उनकी इस भयंकर गर्जनासे मिले हुए विकार भावको देखकर प्रजाजन डरने लगे तथा

१. सद्योद्योता प० । २. कारणानि । ३. संख्येयकीटी-म० । ४. अतिशयितवान् । ५. स्फुरन्मुकुट-द०, प०, ल० । ६. पञ्चपञ्चाशच्छतधाप्रमाणादशप्रमाणचतुरशीतिसंगुणनमटटवर्षप्रमाणम् । ७. व्याप्तं विवृतम् । ८. पप्रच्छुस्व अ०, ल०, द०, स० ।

हमे मद्रमृगाः पूर्वं^१ स्वादीयोमिस्तृणाकुरैः । रसायनरसैः पुष्टाः सरसां सलिलैरपि ॥९५॥
^२अङ्गाधिरोपणैर्हस्तलालनैरपि^३ सान्निवृत्ताः । अस्माभिरिति^४ विश्वम्भाः^५ संबलन्तोऽनुपद्रवाः ॥९६॥
 इदानीं तु विना हेतोः शृङ्गैरभिभवन्ति नः । वृष्ट्यामिनस्तराग्नेश्च^६ विमिस्सन्ति च दारुणाः ॥९७॥
 कोऽभ्युपायो महाभाग ब्रूहि नः क्षेमसाधनम् । क्षेमं करो हि स भवान् जयतः क्षेमचिन्तनैः ॥९८॥
 इति तद्वचनाज्जातसौहार्दो मनुरब्रवीत् । सत्यमेतत्तथापूर्वमिदानीं तु भयावहाः ॥९९॥
 तदिमे परिहर्तव्याः कालाद्विकृतिमागताः । कर्तव्यो नैषु विश्वासो^{१०} बाधाः कुर्वन्त्युपेक्षिताः ॥१००॥
 इत्याकर्ण्य चचस्वस्य परिजहस्तदा भृगात् । शृङ्गिणो दंष्ट्रिणः क्रूरान् शेषैः^{११} संवासमाययुः ॥१०१॥
 व्यसीयुषि ततः काले मनोरम्य व्यतिक्रमे । मन्वन्तरमसंख्येयाः समाकोटोर्विलङ्घ्य च ॥१०२॥
^{१२}अग्रान्तरे महोदग्रविग्रहो दोषविग्रहः । अग्रेसरः सतामासीन्मनुः क्षेमधराङ्गयः ॥१०३॥
^{१३}तुटिकाब्दमितं तस्य बभूवायुर्महात्मनः । शतानि सप्त आपानां सप्ततिः पञ्च चोष्णितिः ॥१०४॥
 यदा प्रबलतो याताः^{१४} पाकसत्त्वा महाक्रुधः । तदा^{१५} लङ्कुटयद्वयाद्यैः स रक्षाविधिमन्वशात् ॥१०५॥
 क्षेमधर इति ख्यातिं प्रजानां क्षेमधारणात् । स दधे^{१६} पाकसत्त्वेभ्यो रक्षोपायानुशासनैः^{१७} ॥१०६॥

बिना किसी आश्चर्यके निश्चल बैठे हुए क्षेमंकर मनुके पास जाकर उनसे पूछने लगे ॥९४॥
 हे देव, सिंह व्याघ्र आदि जो पशु पहले बड़े शान्त थे, जो अत्यन्त स्वादिष्ट घास खाकर और
 तालाबोंका रसायनके समान रसोला पानी पीकर पुष्ट हुए थे, जिन्हें हम लोग अपनी गोदीमें
 बैठाकर अपने हाथोंसे खिलाते थे, हम जिनपर अत्यन्त विश्वास करते थे और जो बिना किसी
 उपद्रवके हम लोगोंके साथ-साथ रहा करते थे आज वे ही पशु बिना किसी कारणके हम लोगों-
 को सींगोंसे मारते हैं, दादों और नखोंसे हमें विदारण किया चाहते हैं और अत्यन्त भयंकर
 दीख पड़ते हैं । हे महाभाग, आप हमारा कल्याण करनेवाला कोई उपाय बतलाइए । चूँकि
 आप सकल संसारका क्षेम-कल्याण सोचते रहते हैं इसलिए सबे क्षेमंकर हैं ॥९५-९८॥ इस
 प्रकार उन आर्योंके वचन सुनकर क्षेमंकर मनुको भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हो गया और वे
 कहने लगे कि आपका कहना ठीक है । ये पशु पहले वास्तवमें शान्त थे परन्तु अब भयंकर हो
 गये हैं इसलिए इन्हें छोड़ देना चाहिए । ये कालके दोषसे विकारको प्राप्त हुए हैं अब इनका
 विश्वास नहीं करना चाहिए । यदि तुम इनकी उपेक्षा करोगे तो ये अवश्य ही बाधा करेंगे
 ॥९९-१००॥ क्षेमंकरके उक्त वचन सुनकर उन लोगोंने सींगवाले और दाढ़वाले दुष्ट पशुओंका
 साथ छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय-भैंस आदि पशुओंके साथ रहने लगे ॥१०१॥ क्रम-
 क्रमसे समय-बीतनेपर क्षेमंकर मनुकी आयु पूर्ण हो गयी । उसके बाद जब असंख्यात करोड़
 वर्षोंका मन्वन्तर व्यतीत हो गया तब अत्यन्त ऊँचे शरीरके धारक, दोषोंका निग्रह करनेवाले
 और सज्जनोंमें अग्रसर क्षेमंकर नामक चौथे मनु हुए । उन महात्माकी आयु तुटिक प्रमाण
 वर्षोंकी थी और शरीरकी ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष थी । इनके समयमें जब सिंह, व्याघ्र
 आदि दुष्ट पशु अतिशय प्रबल और क्रोधो हो गये तब इन्होंने लकड़ी लाठी आदि उपायोंसे
 इनसे बचनेका उपदेश दिया । चूँकि इन्होंने दुष्ट जीवोंसे रक्षा करनेके उपायोंका उपदेश

१. अत्यर्थं स्वादुभिः । २. रसायनवत्स्वादुभिः । ३. अङ्गः उत्सङ्गः । ४. सामनीताः । ५. -भिरिति
 म०, ल० । ६. विश्वासिताः । ७. भेतुमिच्छन्ति । ८. साधने ल० । ९. भयंकराः । १०. बाधां अ०, प०,
 म०, स०, द०, ल० । ११. सहवासम् । १२. तन्त्रान्तरे अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । १३. पञ्चचत्वारिंशत्
 शून्याधिकं षोडशप्रमितचतुर्दश-प्रमाणचतुरशीतिसंगुणनं तुटिकाब्दप्रमाणम् । १४. क्रूरमृगाः । १५. 'यष्टिः
 स्यात् सप्तपर्विका' । १६. दधे अ०, प०, द०, म०, ल० । १७. शासनात् अ०, प०, द०, म०, ल० ।

पुनर्मन्वन्तरं तत्र संजातं पूर्ववत्कृमात् । मनुः सीमं करो जज्ञे प्रजानां पुण्यपाकतः ॥१०७॥
 स चित्रवक्त्रमाध्यादिभूषितं वपुरुहहन् । सुरेन्द्रः स्वर्गलक्ष्म्येव भोगलक्ष्म्योपलालितः ॥१०८॥
^१कमलप्रमितं तस्य प्रादुरायुर्महाभियः । शरीरं सप्त पञ्चाशद्वृक्षद्वयो धनुषां मतः ॥१०९॥
 कल्पवृक्षपा यदा जाता क्षितिल-कुलकाः फलैः । तदा वेद-विशंजयो नभूदैर्वा सुखमसन् ॥११०॥
 ततो मनुस्सौ मत्वा वाचा सीमविधिं व्यधात् । अतः सीमंकराख्यां तैलैर्मन्त्रतोऽन्वर्थतां गताम् ॥१११॥
 पुनर्मन्वन्तरं प्राग्वत्क्षितिलह्वय महोदयः । मनुः सीमंधरो नाम्ना समजायत पुण्यधीः ॥११२॥
^३नलिनप्रमिताधुष्को नलिनास्येक्षणश्रुतिः । धनुषां पञ्चवर्गाप्रमुच्छ्रितः शतसप्तकम् ॥११३॥
 अयस्तविरला जाताः क्षमाज्ञा मन्दफला यदा । नृणां महात् विसंवादः केशाकेशि तदावृधत् ॥११४॥
 क्षेमवृत्तिं ततस्तेषां मन्वानः स मनुस्तदा । सीमानि तत्तुल्यमादिचिह्नितान्यकरोत् कृती ॥११५॥
 ततोऽन्तरमभूद् भूयोऽप्यसंख्या वर्षकोटयः । होयमानेषु सर्वेषु नियोगेष्वनुपूर्वशः ॥११६॥
 तदन्तरम्यतिक्रान्तावभूद् विमलवाहनः । मनुनां सप्तमो भोगलक्ष्म्यालिङ्गितधिप्रहः ॥११७॥
^५पद्मप्रमितमस्यायुः पद्माक्षिलक्षतनोरभूत् । धनुःशतानि सप्तैव तन्मूलेषोऽस्य वर्णितः ॥११८॥

देकर प्रजाका कल्याण किया था इसलिए इनका क्षेत्रमंधर यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१०७-१०८॥ इनके बाद पहलेकी भाँति फिर भी असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर पड़ा । फिर क्रमसे प्रजाके पुण्योदयसे सीमंकर नामके कुलकर उत्पन्न हुए । इनका शरीर चित्र-विचित्रवस्त्रों तथा माला आदिसे शोभायमान था । जैसे इन्द्र स्वर्गकी लक्ष्मीका उपभोग करता है वैसे ही यह भी अनेक प्रकारकी भोगलक्ष्मीका उपभोग करते थे । महाबुद्धिमान् आचार्योंने उनकी आयु कमल प्रमाण वर्षोंकी बतलायी है तथा शरीरकी ऊँचाई सात सौ पचास धनुषकी । इनके समयमें जब कल्पवृक्ष अल्प रह गये और फल भी अल्प देने लगे तथा इसी कारणसे जब लोगोंमें विवाद होने लगा तब सीमंकर मनुने सोच-विचारकर वचनों-द्वारा कल्पवृक्षोंकी सीमा नियत कर दी अर्थात् इस प्रकारकी व्यवस्था कर दी कि इस जगहके कल्पवृक्षसे इतने लोग काम लें और उस जगहके कल्पवृक्षसे उतने लोग काम लें । प्रजाने उक्त व्यवस्थासे ही उन मनुका सीमंकर यह सार्थक नाम रख लिया था ॥१०७-१११॥ इनके बाद पहलेकी भाँति मन्वन्तर व्यतीत होनेपर सीमन्धर नामके छठे मनु उत्पन्न हुए । उनकी बुद्धि बहुत ही पवित्र थी । वह नलिन प्रमाण आयुके धारक थे, उनके मुख और नेत्रोंकी कान्ति कमलके समान थी तथा शरीरकी ऊँचाई सात सौ पच्चीस धनुषकी थी । इनके समयमें जब कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये तथा फल भी बहुत थोड़े देने लगे और उस कारणसे जब लोगोंमें भारी कलह होने लगा, कलह ही नहीं, एक-दूसरेको बाल पकड़-पकड़कर मारने लगे तब उन सीमन्धर मनुने कल्याण स्थापनाकी भावनासे कल्पवृक्षोंकी सीमाओंको अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी-छोटी झाड़ियोंसे चिह्नित कर दिया था ॥११२-११५॥ इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तर हुआ और कल्पवृक्षोंकी शक्ति आदि हरएक उत्तम वस्तुओंमें क्रम-क्रमसे घटती होने लगी तब मन्वन्तरको व्यतीत कर विमलवाहन नामके सातवें मनु हुए । उनका शरीर भोगलक्ष्मीसे आलिङ्गित था, उनकी आयु पद्म-प्रमाण वर्षोंकी थी ।

१. चत्वारिंशच्छ्रूयाधिकं चतुर्दशप्रमाणचतुरशीतिसंगुणनं कमलवर्षप्रमाणम् । २. प्रापितः । ३. पञ्च-विंशत् श्रूयाश्रं द्वादशप्रमितचतुरशीतिसंगुणनं नलिनवर्षप्रमाणम् । ४. 'वृक्षं वृक्षी' द्युतादित्वात् "द्युदम्भो लुङ्" इति सूत्रेण लुङि परस्मैपदमपि । ५. त्रिंशच्छ्रूयाधिको दशप्रमाणचतुरशीतिसंवर्गः पद्मवर्षप्रमाणम् ।

१. कुशराक्षसपरायणमुत्तमापह्नायुपक्रमैः ॥११९॥
 पुनरन्तरमग्राभूत्संख्येयान्द्रकोटयः । ततोऽहमो मनुर्जातश्चक्षुष्मानिति शब्दितः ॥१२०॥
 २. पञ्चाङ्गप्रमितायुष्कश्चाणानां पञ्चसप्ततिः । षट् छान्दोग्यप्युद्ग्रन्थीरुच्छिताङ्गो बभूव सः ॥१२१॥
 तस्य कालेऽमवसेषां क्षणं पुत्रमुखेक्षणम् । अष्टपूर्वमार्याणां महद्गुत्थासकारणम् ॥१२२॥
 ततः सपदि संजातसाध्वसानार्यकास्तदा । तथाधातयोपदेशेन स संज्ञासमेथोऽक्षयत् ॥१२३॥
 चक्षुष्मानिति तेनाभूत् तत्काले ते यतोऽमकाः । जनयित्रीः क्षणं जाताश्चक्षुर्दशनगोचरम् ॥१२४॥
 पुनरप्यन्तरं तावद् वर्षकोटीर्विलङ्घ्य सः । यशस्वानित्यभूष्मान्मा यशस्वी नवमो मनुः ॥१२५॥
 ३. कुमुदप्रमितं तस्य परमायुर्महीयसः । षट्कृतानि च पञ्चाशद्वर्षाणि चपुरुच्छ्रुतिः ॥१२६॥
 तस्य काले प्रजा जन्यमुत्तालोकपुरस्सरम् । कृताशिवः क्षणं स्थित्वा लोकाभ्यन्तरमुपागमन् ॥१२७॥
 यशस्वानित्यभूत्तेन शशंस्तुतयशो यतः । प्रजाः सुप्रजसः प्रीताः पुत्राशासनदेवानात् ॥१२८॥
 ततोऽन्तरमतिक्रम्य तत्प्रायोग्याब्दसंमितम् । अभिचन्द्रोऽभवत्तान्मा चन्द्रसौम्याननो मनुः ॥१२९॥
 ४. कुमुदाङ्गप्रमितायुष्को ज्वलन्मुकुटकुण्डलः । पञ्चवर्गप्रषट्चापशतोरसेधः स्फुरत्तनुः ॥१३०॥

शरीर सात सौ धनुष ऊँचा और लक्ष्मीसे विभूषित था। इन्होंने हाथी, घोड़ा आदि सवारी-के योग्य पशुओंपर कुथार, अंकुश, पलान, तीबरा आदि लगाकर सवारों करनेका उपदेश दिया था ॥११९-११९॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तराल रहा। फिर चक्षुष्मान् नामके आठवें मनु उत्पन्न हुए, वे पञ्चाङ्ग प्रमाण आयुके धारक थे और छह-सौ पचहत्तर धनुष ऊँचे थे। उनके शरीरकी शोभा बड़ी ही सुन्दर थी। इनके समयसे पहलेके लोग अपनी सन्तानका मुख नहीं देख पाते थे, उत्पन्न होते ही माता-पिताकी मृत्यु हो जाती थी परन्तु अब वे क्षण-भर पुत्रका मुख देखकर मरने लगे। उनके लिए यह नयी बात थी इसलिए भयका कारण हुई। उस समय भयभीत हुए आर्य पुरुषोंको चक्षुष्मान् मनुने यथार्थ उपदेश देकर उनका भय छुड़ाया था। चूँकि उनके समय माता पिता अपने पुत्रोंको क्षण-भर देख सके थे इसलिए उनका चक्षुष्मान् यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१२०-१२४॥ तदनन्तर करोड़ों वर्षोंका अन्तर व्यतीत कर यशस्वान् नामके नौवें मनु हुए। वे बड़े ही यशस्वी थे। उन महा-पुरुषकी आयु कुमुद प्रमाण वर्षोंकी थी। उनके शरीरकी ऊँचाई छह सौ पचास धनुषकी थी। उनके समयमें प्रजा अपनी सन्तानोंका मुख देखनेके साथ-साथ उन्हें आशीर्वाद देकर तथा क्षण-भर ठहर कर परलोक गमन करती थी—मृत्युको प्राप्त होती थी। इनके उपदेशसे प्रजा अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देने लगी थी इसलिए उत्तम सन्तानवाली प्रजाने प्रसन्न होकर इनका यश वर्णन किया इसी कारण उनका यशस्वान् यह सार्थक नाम पड़ गया था ॥१२५-१२८॥ इनके बाद करोड़ों वर्षोंका अन्तर व्यतीत कर अभिचन्द्र नामके दसवें मनु उत्पन्न हुए। उनका मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था, कुमुदाङ्ग प्रमाण उनकी आयु थी, उनका मुकुट और कुण्डल अतिशय देदीप्यमान था। वे छह सौ पच्चीस धनुष ऊँचे तथा देदीप्यमान

१. तस्य प्रथमोपदेशः आवातुक्रमोपजमिति नपुंसकत्वम् । २. कुशराक्षस-अ०, प०, म०, ल० । कुश-
 दवाक्षुश-द० । ३. पञ्चविंशतिशून्याया नवप्रमाणचतुरशीतिहतिर्हि पञ्चाङ्गवर्षप्रमाणम् । ४. तद्दशताम्य-अ०,
 द०, स० । ५. जननीजनकयोः । ६. पञ्चविंशतिशून्यायमष्टप्रमाणचतुरशीतिसंगुणनं कुमुदवर्षप्रमाणम् । ७. -वि
 च तनूच्छ्रुतिः द०, प०, म०, ल० । ८. जन्यः पुत्रः । ९. कारणेन । १०. कोभनाः प्रजाः पुत्रा यासां ताः सुप्रजसः ।
 'मण्डुस्सोः सविषः हलेर्वाम्' इत्यनुवर्तमाने 'अस्प्रजायाः' इति समासान्तः । ११. आशासनम् आशीर्वचनम् ।
 १२. विंशतिशून्याधिका सप्तप्रमितिचतुरशीतिहतिः कुमुदाङ्गवर्षप्रमाणम् । १३. -ङ्गप्रमायु-अ०, स०, द०,
 म० प०, ल० ।

कल्पद्रुम इवोत्पुङ्गफलशाली^१ महाद्युतिः । स वभार यथास्थानं नानामरण्यमञ्जरीः ॥१३१॥

तस्य काले प्रजास्तोक^२ मुखं वीक्ष्य सकौतुकम् । आशास्याक्रीडनं चक्रुर्निशि चन्द्राभिर्दशनैः ॥१३२॥

ततोऽभिचन्द्र इत्यासीन्नतश्चन्द्रमभिस्थिताः । पुत्रानाक्रीडयामासुस्तत्काले तन्मताञ्जनाः ॥१३३॥

पुनरन्तरमुल्लङ्घ्य तत्प्रायोग्यसमाश्रितैः^३ । चन्द्राभ इत्यभूत् ख्यातश्चन्द्रास्थः कालत्रिन्मनुः ॥१३४॥

नयुतप्रमितायुष्को विलसद्भ्रमणोऽञ्जलः । धनुषां पट्टतान्युच्चैः^४ प्रोपदकंसमद्युतिः ॥१३५॥

स सूर्यकला^५ कला विभूतिः^६ जगतां प्रियः^७ । स्मितज्योत्स्नाभिराह्लादं शशीव समजीजनत् ॥१३६॥

तस्य कालेऽतिसंप्रीताः पुत्राशासनदर्शनैः^८ । तुरिभिः सह स्म जीवन्ति दिनानि कतिचित् प्रजाः ॥१३७॥

ततो लोकान्तरप्राप्तिमभजन्त यथासुखम् । स तदाह्लादनादासीच्चन्द्राभ इति विभ्रुतः ॥१३८॥

मरुदेवोऽभवत् कान्तः^९ कुलभूतदन्तरम्^{१०} । स्त्रोचिन्तान्तरमुल्लङ्घ्य प्रजानामुत्सवो दशाम् ॥१३९॥

शतानि पञ्च^{११} पञ्चाग्रां सप्ततिं च समुच्छ्रितः^{१२} । धनूषि^{१३} नयुताङ्गायुर्विष्वानिव भास्वरः ॥१४०॥

शरीरके धारक थे । यथायोग्य अवयवोंमें अनेक प्रकारके आभूषणरूप मंजरियोंको धारण किये हुए थे । उनका शरीर महाकान्तिमान् था और स्वयं पुण्यके फलसे शोभायमान थे इसलिए फूले-फूले तथा ऊँचे कल्पवृक्षके समान शोभायमान होते थे । उनके समय प्रजा अपनी-अपनी सन्तानोंका मुख देखने लगी—उन्हें आशीर्वाद देने लगी तथा रातके समय कौतुकके साथ चन्द्रमा दिखला-दिखलाकर उनके साथ कुछ क्रीड़ा भी करने लगी । उस समय प्रजाने उनके उपदेशसे चन्द्रमाके सम्मुख खड़ा होकर अपनी सन्तानोंको क्रीड़ा करायी थी—उन्हें खिलाया था इसलिए उनका अभिचन्द्र यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१२९-१३३॥ फिर उतना ही अन्तर व्यतीत कर चन्द्राभ नामके ग्यारहवें मनु हुए । उनका मुख चन्द्रमाके समान था, ये समयकी गतिविधिके जाननेवाले थे । इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी । ये अनेक शोभायमान सामुद्रिक लक्षणोंसे उज्ज्वल थे । इनका शरीर छह सौ धनुष ऊँचा था तथा उदय होते हुए सूर्यके समान देदीप्यमान था । ये समस्त कलाओं-विद्याओंको धारण किये हुए ही उत्पन्न हुए थे, जनताको अतिशय प्रिय थे, तथा अपनी भन्व भुसकानसे सबको आह्लादित करते थे इसलिए उदित होते ही सोलह कलाओंको धारण करनेवाले लोकप्रिय और चन्द्रिकासे युक्त चन्द्रमाके समान शोभायमान होते थे । इनके समयमें प्रजाजन अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देकर अत्यन्त प्रसन्न तो होते ही थे, परन्तु कुछ दिनों तक उनके साथ जीवित भी रहने लगे थे, तदनन्तर सुखपूर्वक परलोकको प्राप्त होते थे । उन्होंने चन्द्रमाके समान सब जीवोंको आह्लादित किया था इसलिए उनका चन्द्राभ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१३४-१३८॥ तदनन्तर अपने योग्य अन्तरको व्यतीत कर प्रजाके नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, मनोहर शरीरके धारक मरुदेव नामके बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए । उनके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुषकी थी और आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी । वे सूर्यके समान देदीप्यमान थे अथवा वह स्वयं ही एक विलक्षण सूर्य थे, क्योंकि सूर्यके समान तेजस्वी होनेपर भी लोग उन्हें सुखपूर्वक देख सकते थे जब कि चकाचौंधके कारण सूर्यको कोई देख नहीं सकता । सूर्यके समान उदय होनेपर भी वे कभी अस्त नहीं होते थे—उनका कभी पराभव नहीं होता था जब कि सूर्य

१. शाली स०, ल० । २. तोकः पुत्रः । ३. सर्वसरणतैः । ४. विंशतिशूभ्यां षट्प्रमितचतुरशीतिसं-
गुणनं नयुतवर्षप्रमाणम् । ५. षट्शतान्युच्चैः अ०, प०, स०, द०, ल० । ६. पृक्कलाः (पूर्णः) । ७. जनता-
प्रियः अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । ८. पुत्रैः । ९. कुलभूत-द०, प०, म० । कुलकुल-अ०, स० ।
१०-नन्तरः प० । ११. पञ्चाग्रसप्ततिश्च अ० । १२. समुच्छ्रितः म०, ल० । १३. पञ्चदशशूभ्याधिक-
पञ्चमितिचतुरशीतिसंवर्गा नयुताङ्गवर्षप्रमा ।

स तेजस्वी सुखालोकः सोदयोऽनस्तसंगतिः । भूमिद्वयोऽध्यम्बरोज्जाली भास्वानिव^५ त्रिकक्षणः ॥१४१॥

तस्य काले प्रजा दीर्घा^{१३} प्रजामिः स्वामिरन्विताः ।^{१४} प्राणिकुस्तमुत्थालोकतदङ्गस्पर्शमोत्सवैः ॥१४२॥

स तं दुष्कृतं यस्मात् तदायसस्वप्नोदिकाः । प्रजा जीवन्ति तेनाभिर्मरुदेव इतीरितः ॥ १४३ ॥

नौदोणीसंकमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत् । गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धतीः सोऽधिरोहणे ॥ १४४ ॥

तस्यैव काले [काले तस्यैव] कुसुमाः कुसुमाः कुसुमाः ।

जाताः साक्षारमेषाञ्च ^१किंराजान इवास्थिराः ॥१४५॥

ततः प्रत्येकजिज्ञासे प्रमथिष्युमनुमं हान् । कर्मभूमिस्थितावेवमभ्यर्णार्या शनैः शनैः ॥ १४६ ॥

पर्वप्रमितमाभ्यासं मनोरथस्यायुरक्षसा । शतानि पञ्चधापालां शतार्द्धं च तदुच्छ्रितिः ॥१४७॥

प्रज्ञानामधिकं लक्षुस्तमोदोषैरविप्लुतः^{१०} । सोऽभाद्रविशिषाभ्युद्यन्

तदाभूदभकोत्पत्तिर्जराधुपटलावृता । ततस्तत्कर्षणोपायं^{१३} स प्रजानामुपादिशत् ॥१४९॥

तनुसंवरणं यथाजरायुपटलं नृणाम् । स प्रसेनो जयात्तस्य प्रसेनजिदसौ स्मृतः ॥१५०॥

अस्त हो जाता है और जमीनमें स्थित रहते हुए भी वे आकाशको प्रकाशित करते थे जब कि सूर्य आकाशमें स्थित रहकर ही उसे प्रकाशित करता है (पक्षमें वृद्धोंसे शोभायमान थे) । इनके समयमें प्रजा अपनी-अपनी सन्तानोंके साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगी थी तथा उनके मुख देखकर और शरीरको स्पर्श कर सुखी होती थी । वे मरुदेव ही वहाँके लोगोंके प्राण थे क्योंकि उनका जीवन मरुदेवके ही आधीन था अथवा यों समझिए—वे उनके द्वारा ही जीवित रहते थे इसलिए प्रजाने उन्हें मरुदेव इस सार्थक नामसे पुकारा था । इन्हीं मरुदेवने उस समय जलरूप दुर्गम स्थानोंमें गमन करनेके लिए छोटी-बड़ी नाव चलानेका उपदेश दिया था तथा पहाड़ रूप दुर्गम स्थानपर चढ़नेके लिए इन्होंने सीढ़ियाँ बनवायी थी । इन्हींके समयमें अनेक छोटे-छोटे पहाड़, उपसमुद्र तथा छोटी-छोटी नदियाँ उत्पन्न हुई थीं तथा नीच राजाओंके समान अस्थिर रहनेवाले मेघ भी जब कभी बरसने लगे थे ॥ १३९-१४५ ॥ इनके बाद समय व्यतीत होनेपर जब कर्मभूमिकी स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी—अर्थात् कर्मभूमिकी रचना होनेके लिए जब थोड़ा ही समय बाकी रह गया था तब बड़े प्रभावशाली प्रसेनजित् नामके तेरहवें कुलकर उत्पन्न हुए । इनकी आयु एक पर्व प्रमाण थी और शरीरकी ऊँचाई पौँच-सौ पचास धनुषकी थी । वे प्रसेनजित् महाराज मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिए प्रजाके तीसरे नेत्रके समान थे, अज्ञानरूपी दोषसे रहित थे और उदय होते ही पद्मा-लक्ष्मीके करग्रहणसे अतिशय शोभायमान थे, इन सब बातोंसे वे सूर्यके समान मालूम होते थे क्योंकि सूर्य भी मार्ग दिखानेके लिए तीसरे नेत्रके समान होता है, अन्धकारसे रहित होता है और उदय होते ही कमलोंके समूहको आनन्दित करता है । इनके समयमें बालकोंकी उत्पत्ति जरायुसे लिपटी हुई होने लगी अर्थात् उत्पन्न हुए बालकोंके शरीरपर मांसकी एक पतली झिल्ली रहने लगी । इन्होंने अपनी प्रजाको उस जरायुके खींचने अथवा फाड़ने आदिका उपदेश दिया था । मनुष्योंके शरीरपर जो आवरण होता है उसे जरायुपटल अथवा प्रसेम कहते हैं । तेरहवें मनुने उसे जीतने-दूर करने आदिका उपदेश दिया था इसलिए

भूमिस्थो द०, प०, म०, ल० । २. स्वाभतिवि--ब०, ज० । स्वभति वि -- द०, प०, ल० ।

१५. कुत्कीलाः अ०, द०, प०, त० ।

१. कुत्सितभूषाः १-८, समीपस्थायां । ९. पञ्चवशशून्याः चतुःप्रमाणवतुरक्षीतिसंगुणन

१०६-अनुपप्लुतः १११-अपुष्पः १०, १०, १० । १२. पथायाः लक्ष्याः करा हस्ताः, पक्षे

पद्मानां कमलानाम् भाकरः समूहः । १३. कर्षणं छेदनम् ।

प्रसा-प्रसूतिः संरोधादिनस्तस्याः प्रसेवकः । ^१तद्वानोपायकथनात् तज्जराद् वा प्रसेनजित् ॥१५१॥
तदनन्तरमेवाभूष्णमिः कुलधरः सुधीः । युगादिपुरुषैः पूर्वैरुद्धतां धुरमुद्रइन् ॥१५२॥
पूर्वकोटीमितं तस्य परमायुस्तदुच्छ्रितः ^२ । कलामि पञ्च चापानां पञ्चवर्गाधिकानि वै ॥१५३॥
मुकुटोद्भासिमूर्ध्नासौ कुण्डलाभ्यामलङ्कृतः । सुमेरुरिव चन्द्रार्कसंश्लिष्टाधित्यको ^३ धनौ ॥१५४॥
पार्वणं शशिनं गर्वात् स्वलयत्तमुखाब्जजम् । स्मितोल्लसितदन्ताद्युकेसरं भृशमावभौ ॥१५५॥
स हारभूषितं वक्षो वभाराभरणोज्ज्वलः ^४ । हिमवानिव गङ्गाम्बुप्रवाहधटितं तटम् ॥१५६॥
सदङ्गुलितलीं बाहू सोऽधोऽङ्गागाविवोत्कणौ । केयूरद्विपारवन्ती ^५ साहो निधिषटाशिव ॥१५७॥
^६सुसंहतं दधौ मण्यं स्थेयो वज्रास्थिवन्धनम् । लोकस्कन्ध इवोर्ध्वाधोविस्तृतआरुनामिकम् ॥१५८॥
कटीतटं कटीसूत्रचटितं स्म विभर्ति सः । रत्नद्वीपमिवाभ्योभिः पर्यन्तस्थितरत्नकम् ॥१५९॥
वज्रसारी दधौ चरु परिपूतौ सुसंहतौ । जगद्गृहान्तर्विन्ध्यस्तसुस्थितस्तम्भसङ्घिभौ ॥१६०॥

वे प्रसेनजित् कहलाते थे । अथवा प्रसा शब्दका अर्थ प्रसूति-जन्म लेना है तथा इन शब्दका अर्थ स्वामी होता है । जरायु उत्पत्तिको रोक लेती है अतः उसीको प्रसेन-जन्मका स्वामी कहते हैं (प्रसा+इन=प्रसेन) इन्होंने उस प्रसेनके नष्ट करने अथवा जीतनेके उपाय बतलाये थे इसलिए इनका प्रसेनजित् नाम पड़ा था ॥१४६-१५१॥ इनके बाद ही नाभिराज नामके कुलकर हुए थे, वे महाबुद्धिमान् थे । इनसे पूर्ववर्ती युग-श्रेष्ठ कुलकरोंने जिस लोकन्यवस्थाके भारको धारण किया था यह भी उसे अच्छी तरह धारण किये हुए थे । उनकी आयु एक करोड़ पूर्वकी थी और शरीरकी ऊँचाई पाँच-सौ पचीस धनुष थी । इनका मस्तक मुकुटसे शोभायमान था और दोनों कान कुण्डलोंसे अलङ्कृत थे । इसलिए वे नाभिराज उस मेरु पर्वतके समान शोभायमान हो रहे थे जिसका ऊपरी भाग दोनों तरफ घूमते हुए सूर्य और चन्द्रमासे शोभायमान हो रहा है । उनका मुखकमल अपने सौन्दर्यसे गर्वपूर्वक पौर्णमासीके चन्द्रमाका तिरस्कार कर रहा था तथा मन्व मुसकानसे जो दाँतोंकी किरणें निकल रही थीं वे उसमें केसर की भाँति शोभायमान हो रही थीं । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गङ्गाके जल-प्रवाहसे युक्त अपने तटको धारण करता है उसी प्रकार नाभिराज अनेक आभरणोंसे उज्ज्वल और रत्नहारसे भूषित अपने वक्षःस्थलको धारण कर रहे थे । वे उत्तम अँगुलियों और इथेलियोंसे युक्त जिन दो भुजाओंको धारण किये हुए थे वे ऊपरको फण उठाये हुए सर्पोंके समान शोभायमान हो रहे थे । तथा बाजूबन्धोंसे सुशोभित उनके दोनों कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो सर्पसहित निधियोंके दो घोड़े ही हों । वे नाभिराज जिस कटि भागको धारण किये हुए थे वह अत्यन्त सुहृद् और स्थिर था, उसके अस्थिवन्ध वज्रमय थे तथा उसके पास ही सुन्दर नाभि शोभायमान हो रही थी । उस कटि भागको धारण कर वे ऐसे मालूम होते थे मानो मध्यलोकको धारण कर ऊर्ध्व और अधोभागमें विस्तारको प्राप्त हुआ लोकस्कन्ध ही हो । वे करघनीसे शोभायमान कमरको धारण किये थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सब ओर फैले हुए रत्नोंसे युक्त रत्नद्वीपको धारण किये हुए समुद्र ही हो । वे वज्रके समान मजबूत, गोलाकार और एक-दूसरेसे सटी हुई जिन जंघाओंको धारण किये हुए थे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगद्वरूपी

१. छेदनोपायः । २.-दुच्छ्रयः अ०, द०, स०, प०, म०, ल० । ३. ऊर्ध्वभूमिरधित्यका । ४.-गोज्ज्वलम् अ०, स०, ल० । ५. द्विपरी चांसी अ०, प०, म०, स०, ल० । ६. 'दृढसन्निवस्तु संहतः' । ७. स्थिरतरम् ।

मत्स्योत्सिलमस्थोर्ध्वकायं वेधा महाभरम् । उपाजेकसुमध्यरू स्थिरे जङ्घे ग्धभाद् भ्रुवम् ॥१६१॥
 चन्द्रार्कसरिदम्भोभिमस्त्यकुर्मादिलक्षणम् । दधेऽभिचरणं भक्तुं चराचरमिवाश्रितम् ॥१६२॥
 इति स्वभावमाधुर्यसौन्दर्यघटितं वपुः । मन्ये तादृक् सुरेन्द्राद्यामपि जायेत दुष्करम् ॥१६३॥
 तस्य काले सुतोऽप्यसौ नामिनालमदृश्यत । स तस्मिन्कर्तनोपायमादिशत्तामिरित्यनूत् ॥१६४॥
 तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्त्तरिवचः । प्रलूतास्तुल्योन्मये साम्नाः सैन्द्रशरासनाः ॥१६५॥
 नमो नीरन्ध्रमासुखजजृम्भेज्जम्भोमुखां चयाः । कालाबुद्भूतसामर्थ्यैरारब्धः सूक्ष्मपुद्गलैः ॥१६६॥
 विद्युद्गन्तो महाध्वाना वर्यन्तो रंजिरे घनाः । 'सङ्क्षेमकक्ष्या मदिमो नागा इव सङ्घटिताः' ॥१६७॥
 घनाधमघनध्वानैः प्रहृष्टा गिरिभित्तयः । प्रत्याक्रोशमिवातेभुः प्रहृष्टाः प्रतिघाम्यकैः ॥१६८॥
 'ववाषवा' ततान् कुर्वन् कलापौषां कलापिनाम् । घनाघनाकिसुक्ताम्नःकषवाही समीरणः ॥१६९॥
 चातका मधुरं रेणुरभिलेखा घनागमम् । अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिशिनां कुलम् ॥१७०॥
 अभिवेक्तुमिचारम्भा गिरीनम्भोमुखां चयाः । सुक्तधारं प्रवर्षन्तः प्रक्षरझातुं निर्झरान् ॥१७१॥

घरके भीतर लगे हुए दो मजबूत खम्भे हों । उनके शरीरका ऊर्ध्व भाग वक्षःस्थलरूपी शिलासे युक्त होनेके कारण अत्यन्त बजनदार था मानो यह समझकर ही प्रज्ञाने उसे निश्चलरूपसे धारण करनेके लिए उनकी ऊँचाई (घुटनोंसे ऊपरका भाग) सहित जंघाओं (पिंडरियों) को बहुत ही मजबूत बनाया था । वे जिस चरणतलको धारण किये हुए थे वह चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मच्छ, कच्छप आदि अनेक शुभलक्षणोंसे सहित था जिससे वह ऐसा मालूम होता था मानो यह चर-अचर रूप सभी संसार सेवा करनेके लिए उसके आश्रयमें आ पड़ा हो । इस प्रकार स्वाभाविक मधुरता और सुन्दरतासे बना हुआ नाभिराजका जैसा शरीर था, मैं मानता हूँ कि वैसा शरीर देवोंके अधिपति इन्द्रको भी मिलना कठिन है ॥१५२-१६३॥ इनके समयमें उत्पन्न होते वक्त बालककी नाभिमें नाल दिखायी देने लगा था और नाभिराजने उसके काटनेकी आज्ञा दी थी इसलिए इनका 'नाभि' यह सार्थक नाम पड़ गया था ॥१६४॥ उन्हींके समय आकाशमें कुछ सफेदी लिये हुए काले रंगके सघन मेघ प्रकट हुए थे । वे मेघ इन्द्रधनुषसे सहित थे ॥१६५॥ उस समय कालके प्रभावसे पुद्गल परमाणुओंमें मेघ बनानेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो गयी थी, इसलिए सूक्ष्म पुद्गलों-द्वारा बने हुए मेघोंके समूह छिद्ररहित लगातार समस्त आकाशको घेर कर जहाँ-तहाँ फैल गये थे ॥१६६॥ वे मेघ बिजलीसे युक्त थे, गम्भीर गर्जना कर रहे थे और पानी बरसा रहे थे जिससे ऐसे शोभायमान होते थे मानो सुवर्णकी मालाओंसे सहित, मद बरसानेवाले और गरजते हुए हस्ती ही हों ॥१६७॥ उस समय मेघोंकी गम्भीर गर्जनासे टकरायी हुई पहाड़ोंकी दीवालोंने जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा मालूम होता था मानो वे पर्वतकी दीवालें कुपित होकर प्रतिध्वनिके बहाने आक्रोश वचन (गालियाँ) ही कह रही हों ॥१६८॥ उस समय मेघमाला-द्वारा बरसाये हुए जलकणोंको धारण करनेवाला-ठण्डा वायु मयूरोके पंखोंको फैलाता हुआ बह रहा था ॥१६९॥ आकाशमें बादलोंका आगमन देखकर हर्षित हुए चातक पक्षी मनोहर शब्द बोलने लगे और मोरोंके समूह अकस्मात् ताण्डव नृत्य करने लगे ॥१७०॥ उस समय धाराप्रवाह बरसते हुए मेघोंके समूह ऐसे मालूम होते थे मानो जिनसे धातुओंके

१. उरद्वन्तम् । 'स्वादुरस्वानुरसि लः' इत्यभिधानात् । २. आहितबलीकर्तुम् । ३. सवरन्नाः । 'दूष्या कक्ष्या वरया स्यात्' इत्यमरः । ४. सर्गजिताः । सञ्जम्भिताः ४० । ५. वाति स्म । ६. आ समन्तात् ततान् आततान् कुर्वन् । ७. 'रण शब्दे' । ८. घातुः गैरकः ।

कचचिद् गिरिसरिपूराः प्रावर्तन्त महारथाः^१ । धातुरागावृण सुक्ता^२ रक्तमोक्षा इवादिषु ॥१७२॥
 ध्वनन्तो वल्लभमुक्तस्थूलधाराः^३ पयोधराः । कृन्तन् इव शोकार्णाः कल्पवृक्षपरिक्षये ॥१७३॥
 'मार्दङ्गिककरास्फालादिव वातनिघहृतात् । पुष्करेणिव गम्भीरं ध्वनन्तु जलवाहिषु ॥१७४॥
 विद्युज्जटो नभोरङ्गे विचित्राकारधारिणी । प्रसिद्धविद्युत्तल्ली नृत्तारम्भमिवातनोत् ॥१७५॥
 पथः पयोधरासक्तैः पिबन्ति रवितृप्तिभिः । कृच्छ्रलब्धमतिप्रीतैश्चातकैरभङ्कायितम् ॥१७६॥
 तत्त्रिकलप्रसंसक्तैः काकापेक्षैर्महाजलैः^४ । कृषिप्रवृत्तकैर्मैवैर्व्यक्तं पामरकायितम् ॥१७७॥
 अश्रुद्विपूर्वमुत्सृज्य वृष्टिं सद्यः पथोमुखः । नैकधा विक्रियां भेजुर्वैचित्र्यात् पुद्गलात्मनः ॥१७८॥
 तदा जलधरोन्मुक्तामुक्ताफलरुचोऽप्यटाः^५ । महीं^६ निर्वापयामासुर्विवाकरकरोष्मतः ॥१७९॥
 ततोऽन्वमुक्तवारिक्माखानिलातपगोचरात् । क्लेदाधारात्तन्माहान्तं नीहातोष्मत्वलक्षणान् ॥१८०॥

निर्झर निकल रहे हैं ऐसे पर्वतोंका अभिषेक करनेके लिए तत्पर हुए हैं ॥१७१॥ पहाड़ोंपर कहीं-कहीं गेरूके रंगसे लाल हुए नदियोंके जो पूर बड़े वेगसे बह रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो मेघोंके प्रहारसे निकले हुए पहाड़ोंके रक्तके प्रवाह ही हों ॥१७२॥ वे बादल गरजते हुए मोटी धारसे बरस रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कल्पवृक्षोंका क्षय हो जानेसे शोकसे पीड़ित हो रुदन ही कर रहे हों-रो-रोकर आँसू बहा रहे हों ॥१७३॥ वायुके आघात-से उन मेघोंसे ऐसा गम्भीर शब्द होता था मानो बजानेवालेके हाथकी चोटसे मृदङ्गका ही शब्द हो रहा हो । उसी समय आकाशमें बिजली चमक रही थी, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी रङ्गभूमिमें अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण-क्षणमें यहाँ-वहाँ अपना शरीर घुमाती हुई कोई नटी नृत्य कर रही हो ॥१७४-१७५॥ उस समय चातक पक्षी ठीक बालकोंके समान आचरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार बालक पयोधर—माताके स्तनमें आसक्त होते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी पयोधर—मेघोंमें आसक्त थे, बालक जिस तरह कठिनाईसे प्राप्त हुए पथ—दूधको पीते हुए नृत्त नहीं होते उसी तरह चातक पक्षी भी कठिनाईसे प्राप्त हुए पथ—जलको पीते हुए नृत्त नहीं होते थे, और बालक जिस प्रकार मातासे प्रेम रखते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी मेघोंसे प्रेम रखते थे ॥१७६॥ अथवा वे बादल पामर मनुष्यों-के समूहके समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार पामर मनुष्य स्त्रीमें आसक्त हुआ करते हैं उसी प्रकार वे भी बिजलीरूपी स्त्रीमें आसक्त थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार खेतीके योग्य वर्षाकालकी अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार वे भी वर्षाकालकी अपेक्षा रखते थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार महाजड़ अर्थात् महामूर्ख होते हैं उसी प्रकार वे भी महाजल अर्थात् भारी जलसे भरे हुए थे (संस्कृत-साहित्यमें श्लेष आदिके समय ड और ल में अमेद होता है) और पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती करनेमें तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मेघ भी खेती करानेमें तत्पर थे ॥१७७॥ यद्यपि वे बादल बुद्धिरहित थे तथापि पुद्गल परमाणुओंकी विचित्र परिणति होनेके कारण शीघ्र ही बरसकर अनेक प्रकारकी विकृतिको प्राप्त हो जाते थे ॥१७८॥ उस समय मेघोंसे जो पानीकी बूँदें गिर रही थीं वे मोतियोंके समान सुन्दर थीं तथा उन्होंने सूर्यकी किरणोंके तापसे तपी हुई पृथ्वीको शान्त कर दिया था ॥१७९॥ इसके अनन्तर मेघोंसे पड़े हुए जलकी आर्द्रता,

१. वेगाः । २. रक्तमोचनाः । ३. —स्थूलधाराः म०, ल० । ४. मृदङ्गवादकः । ५. वाद्यवक्त्रेषु । ६. मेघेषु । ७. लब्धमिव प्री-म०, स०, ल० । ८. महातोयैः महाजलेश्वर । ९. पामर इव आवरितम् । १०. अने-कधा । ११.—रुचोऽप्यटा अ०, प०, द० । —रुचोऽप्यटा स० । —रुचो धटा म० । —रुचो छटा ल० । १२. शीघ्रं नयन्ति स्म इत्यर्थः । १३. आर्द्रता । १४. अन्तर्हितशोषणत्वम् ।

गुणानाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणाम्^१ । संसृष्टान्यङ्कुरावस्थाप्रभृत्याकणिशासितः ॥१८१॥
 शनैश्शनैर्विबुधानि क्षेत्रेष्वविरलं तदा । सस्यान्यकृष्टपश्यानि नानाभेदानि सर्वतः ॥१८२॥
 प्रजानां पूर्वसुकृतात् कालादपि च तादृशात् । सुपक्वानि यथाकालं फलदायीनि रेजिरे^२ ॥१८३॥
 तदा पितृव्यतिक्रान्तावपत्न्यानीष तल्पवत् । कल्पवृक्षोचितं^३ स्थानं तान्मध्यासिषत् स्फुटम् ॥१८४॥
 नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत् किंतु मध्यमा । वृष्टिस्तत्सर्वधान्यानां फलावासिरविप्लुता^४ ॥१८५॥
 पाटिकाः कलमनीहियवगोभूमकज्जवः^५ ।^६ इयामाकको^७ द्रवो^८ दारो^९ नीवारवरको^{१०} स्तथा ॥१८६॥

तिलातस्यो मसूराश्च^{११} सर्षपो^{१२} धान्यजीरको^{१३} ।

^{१४} मुद्गमाषा^{१५} ढको^{१६} राज^{१७} माष^{१८} निष्पावकाश्च^{१९} ॥१८७॥

^{२०} कुलिरथत्रिपुटो^{२१} चेति धान्यभेदास्त्रिभे मताः । सकुसुम्भाः सकर्पासाः प्रजाजीवनहेतवः ॥१८८॥
 उपमोक्षेषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजाः । तदुपायमजानाताः^{२२} स्वतोऽमुमुमुदु^{२३} मुहुः ॥१८९॥
 कल्पमृगेषु कात्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः । युगस्य परिवर्त्तेऽस्मिन्मूषकाकुलाः कुलाः ॥१९०॥
 तीक्ष्णा^{२४} मशनायाया^{२५} मुदीर्णाहारसंज्ञकाः^{२६} । जीवमोषायसंशीति^{२७} व्याकुलीकृतचेतसः ॥१९१॥

पृथ्वीका आधार, आकाशका अधगाहन, वायुका अन्तर्नीहार अर्थात् शीतल परमाणुओंका संचय करना और धूपकी उष्णता इन सब गुणोंके आश्रयसे उत्पन्न हुई द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपी सामग्रीको पाकर खेतोंमें अनेक अंकुर पैदा हुए, वे अंकुर पास-पास जमे हुए थे तथापि अंकुर अवस्थासे लेकर फल लगने तक निरन्तर धीरे-धीरे बढ़ते जाते थे । इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारके धान्य बिना बोये ही सब ओर पैदा हुए थे । वे सब धान्य प्रजाके पूर्वो-पार्जित पुण्य कर्मके उदयसे अथवा उस समयके प्रभावसे ही समय पाकर पक गये तथा फल देनेके योग्य हो गये ॥१८०-१८३॥ जिस प्रकार पिताके मरनेपर पुत्र उनके स्थानपर आरूढ़ होता है उसी प्रकार कल्पवृक्षोंका अभाव होनेपर वे धान्य उनके स्थानपर आरूढ़ हुए थे ॥१८४॥ उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किन्तु मध्यम दरजेकी होती थी इसलिए सब धान्य बिना किसी विघ्न-बाधाके फलसहित हो गये थे ॥१८५॥ साठी, चावल, कलम, ब्रीहि, जौ, गेहूँ, काँगनी, सामा, कोदो, नीवार (तिन्नी), बटाने, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धनियाँ, जीरा, मूँग, उड़द, अरहर, रोसा, मोठ, चना, कुलथो और तेवरा आदि अनेक प्रकारके धान्य तथा कुसुम्भ (जिसकी कुसुमानी-लाल रंग बनता है) और कपास आदि प्रजाकी आजीविकाके हेतु उत्पन्न हुए थे ॥१८६-१८८॥ इस प्रकार भोगोप-भोगके योग्य इन धान्योंके मौजूब रहते हुए भी उनके उपयोगको नहीं जाननेवाली प्रजा बार-बार मोहको प्राप्त होती थी-बहु उन्हें देखकर बार-बार भ्रममें पड़ जाती थी ॥१८९॥ इस युग-परिवर्तनके समय कल्पवृक्ष बिलकुल ही नष्ट हो गये थे इसलिए प्रजाजन निराश्रय होकर अत्यन्त व्याकुल होने लगे ॥१९०॥ उस समय आहार संज्ञाके उदयसे उन्हें तीव्र भूख लग

१. -लक्षणोम् अ०, प० । २. रेजिरे अ०, द०, प०, स०, म० । ३. -चितस्थानं म०, ल० ।

४. तरकारगत् । ५. अवाधिता । ६. पोततण्डुकाः । ७. 'इयामाकस्तु समयाकः स्यात्' । ८. कोरदूधः ।

९-द्रवोद्वाल-द० । १०. उदारनीवारः तुण्वाभ्यम् । ११. [मटर इति हिन्दीभाषायाम्] १२. तुन्दुभः ।

१३. धान्यकम् । १४. जीरणः । १५. मुद्गः पोतमुद्गो वा 'खण्डीरः पोतमुद्गः स्यात् कृष्णमुद्गस्तु शिम्बिका'

इत्यभिधानात् । १६. धूष्यः । १७. तुवरिका । १८. अलसान्द्र ['रोसा' इति हिन्दी] । १९. निष्पावः

['मोठ' इति हिन्दी] 'समो तु वत्क-निष्पावो' । २०. हरिमन्थकाः । २१. कुलरिपका 'कुलरिपका पिलकुलः' ।

२२. त्रिपुटः ['तेवरा' इति हिन्दीभाषायाम्] । २३. स्वतो मूढा मुहुर्मुहुः प० । २४. मुह्यन्ति स्म ।

२५. बुभुक्षायाम् । २६. उदीर्णा उदिता । २७. -संज्ञया द०, स०, ल० । २८. संशयः ।

युगमुख्यमुपासीना^१ नामि मनुमपश्चिमम्^२ । ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥१९२॥
 जीवामः कथमेवाय नायानाथा विना व्रमैः^३ । कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्चैरपुण्यकाः ॥१९३॥
 इमे केचिदितो देव तरुमेवाः समुत्थिताः । शाखाभिः फलमग्राभिराह्वयन्तीव नोऽधुना ॥१९४॥
 किमिमे परिहर्तव्याः किंवा भोग्यफला इमे । फलेप्रहीनिमेऽस्मान् वा निगृह्यन्त्यनुपान्ति^४ वा ॥१९५॥
 अभीषामुपशब्देषु^५ केऽप्यमी नृणगुणमकाः । फलमग्राभिरा मान्ति^६ विद्वदिकमितोऽमुतः ॥१९६॥
 क एषामुपयोगः स्याद् विनियोज्याः^७ कथं नु वा । किमिमे स्वैरसंभ्राष्टा न वेतीदं वदाम नः ॥१९७॥
 त्वं देव सर्वमप्येतद् वेत्सि नामेऽनभिज्ञकाः । पृच्छामो वयमग्रास्तास्ततो ब्रूहि प्रसीद नः ॥१९८॥
 इतिकर्तव्यतामृता^८ नतिमीतास्तदार्थकान् । नामिने^९ भेषमित्युक्त्वा व्याजहार पुनः स तान् ॥१९९॥
 इमे^{१०} कल्पतरुच्छेदे व्रमाः पक्वफलानताः । युष्मानग्यानुगृह्णन्ति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥२००॥
 मद्रकास्तदिमे भोग्याः कार्या न भ्रान्तिरत्र नः । अमी च परिहर्तव्या दूरतो विषवृक्षकाः ॥२०१॥
 इमाश्च^{११} नामौषधयः^{१२} स्तम्बकर्षादयो मताः । एतासां भोग्यमग्राद्यं व्यञ्जनाद्यः सुसंस्कृतम् ॥२०२॥

रही थी परन्तु उनके शान्त करनेका कुछ उपाय नहीं जानते थे इसलिए जीवित रहनेके संदेह-
 से उनके चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठे । अन्तमें वे सब लोग उस युगके मुख्य नायक अन्तिम
 कुलकर श्री नाभिराजके पास जाकर बड़ी दीनतासे इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥१९१-१९२॥
 हे नाथ, मनयांकित फल देनेवाले तथा कल्पान्त काल तक नहीं मुलाये जानेके योग कल्प-
 वृक्षोंके बिना अब हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार जीवित रहें ? ॥१९३॥ हे देव,
 इस ओर ये अनेक वृक्ष उत्पन्न हुए हैं जो कि फलोंके बोझसे झुकी हुई अपनी शाखाओं-
 द्वारा इस समय मानो हम लोगोंको मुला ही रहे हों ॥१९४॥ क्या ये वृक्ष छोड़ने योग्य हैं ?
 अथवा इनके फल सेवन करने योग्य हैं ? यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या
 हमारी रक्षा करेंगे ? ॥१९५॥ तथा इन वृक्षोंके समीप ही सब दिशाओंमें ये कोई छोटी-छोटी
 शाड़ियाँ जम रही हैं, उनकी शिखाएँ फलोंके भारसे झुक रही हैं जिससे ये अत्यन्त शोभा-
 यमान हो रही हैं ॥१९६॥ इनका क्या उपयोग है ? इन्हें किस प्रकार उपयोगमें लाना
 चाहिए ? और इच्छानुसार इसका संग्रह किया जा सकता है अथवा नहीं ? हे स्वामिन्,
 आज यह सब बातें हमसे कहिए ॥१९७॥ हे देव नाभिराज, आप यह सब जानते हैं और
 हम लोग अनभिज्ञ हैं—मूर्ख हैं अतएव दुखी होकर आपसे पूछ रहे हैं इसलिए हम लोगोंपर
 प्रसन्न होइए और कहिए ॥१९८॥ इस प्रकार जो आर्य पुरुष हमें क्या करना चाहिए इस
 विषयमें मूढ़ थे तथा अत्यन्त घबड़ाये हुए थे 'उनसे ढरो मत' ऐसा कहकर महाराज नाभिराज
 नीचे लिखे वाक्य कहने लगे ॥१९९॥ चूँकि अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं इसलिए पके हुए
 फलोंके भारसे नम्र हुए ये साधारण वृक्ष ही अब तुम्हारा वैसा उपकार करेंगे जैसा कि पहले
 कल्पवृक्ष करते थे ॥२००॥ हे भद्रपुरुषो, ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इस विषयमें तुम्हें कोई
 संशय नहीं करना चाहिए । परन्तु (हाथका इशारा कर) इन विषवृक्षोंको दूरसे ही छोड़
 देना चाहिए ॥२०१॥ ये स्तम्बकारी आवि कोई औषधियाँ हैं, इनके मसाले आदिके

१. उपासीनाः [समीपे उपविष्टाः] । २. मुख्यम् । ३. अभीष्टवैः । ४. फलानि गृह्णतः । ५. रक्षन्ति ।
 ६. समीपभूमिषु । ७. सर्वदिक्षु । ८. विनियोग्याः प० । ९. कर्तव्य कार्यम् । १०. नतिभ्रान्तास्तवा स०, ल०,
 द० । ११. न भेतव्यम् । १२. कल्पवृक्षहानी । १३. काश्चनीषव्यः अ०, प०, म०, द०, ल० । औषधयः
 फलपाकान्ताः । १४. बीजादयः ।

स्वभावमधुराश्चैते दीर्घाः पुण्ड्रेक्षुदण्डकाः । रसोक्त्य प्रपातव्या दन्तैर्यन्त्रैश्च पीडिताः ॥२०३॥
 गजकुम्भस्थले तेन सृदा निर्वर्तितानि च । पात्राणि विविधान्वेषां स्थास्यादीनि दयालुना ॥२०४॥
 इत्याद्युपायकथनैः प्रीताः सत्कृत्य तं मनुम् । भेजुस्तद्वर्षितां वृत्तिं प्रजाः काकोष्ठितां तदा ॥२०५॥
 प्रजानां हितकृद् भूत्वा भोगभूमिस्थितिभ्युतौ । नामिराजस्तदोद्भूतो भेजे कल्पतर्हस्थितम् ॥२०६॥
 पूर्वं स्यावणिता ^१ये ये प्रतिश्रुत्यादयः क्रमाद् । पुरा भवे बभूवुस्ते विदेहेषु महाम्बवाः ॥२०७॥
^२कुशलैः पात्रदानाद्यैरनुष्ठानैर्यथोचितैः । सम्यक्त्वं प्रहणात् पूर्वं बभूवुर्मोगभूभुषाम् ॥२०८॥
 पश्चात् श्रायिकसम्यक्त्वमुपाश्रय जिनाम्तिके । अन्नोदपत्सत ^३स्वायुरन्ते ते श्रुतपूर्विजः ^४ ॥२०९॥
^५इमं नियोगमाध्यायं प्रजानामित्युपादिशम् । केचिज्जातिस्मरस्तेषु केचिन्नावधिकोचनाः ॥२१०॥
 प्रजानां जीवनोपायमननाम्भनवो मताः । आर्याणां ^६कुलसंस्थायकृतेः कुलकरा इमे ॥२११॥
^७कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति । युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ ^८प्रभविष्णवः ॥२१२॥
 वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव संमतः । भरतश्चक्रवर्त्यैव ^९कुलभूच्चैव वर्णितः ॥२१३॥

साथ पकाये गये अन्न आदि खाने योग्य पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाते हैं ॥२०२॥
 और ये स्वभावसे ही मीठे तथा लम्बे-लम्बे पाँडे और ईखके पेड़ लगे हुए हैं । इन्हें दाँतोसे
 अथवा यन्त्रोंसे पेलकर इनका रस निकालकर पीता चाहिए ॥२०३॥ उन दयालु महाराज
 नाभिराजने थाली आदि अनेक प्रकारके बरतन हार्थीके गण्डस्थलपर मिट्टी-द्वारा बनाकर उन
 आर्य पुरुषोंको दिये तथा इसी प्रकार बनानेका उपदेश दिया ॥२०४॥ इस प्रकार महाराज
 नाभिराज-द्वारा बताया हुए उपायसे प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई । उसने नाभिराज मनुका बहुत
 ही सत्कार किया तथा उन्होंने उस कालके योग्य जिस वृत्तिका उपदेश दिया था यह उसीके
 अनुसार अपना कार्य चलाने लगी ॥२०५॥ उस समय यहाँ भोगभूमिकी व्यवस्था नष्ट हो
 चुकी थी, प्रजाका हित करनेवाले केषल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे ही कल्प-
 वृक्षकी स्थितिको प्राप्त हुए थे अर्थात् कल्पवृक्षके समान प्रजाका हित करते थे ॥२०६॥
 ऊपर प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिराज पर्यन्त जिन चौदह मनुओंका क्रम-क्रमसे वर्णन किया
 है वे सब अपने पूर्वभवंमें विदेह क्षेत्रोंमें उष कुलीन महापुरुष थे ॥२०७॥ उन्होंने उस भवमें
 पुण्य बढ़ानेवाले पात्रदान तथा यथायोग्य व्रताचरणरूपी अनुष्ठानोंके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त
 होनेसे पहले ही भोगभूमिकी आयु बाँध ली थी, बादमें भी जिनेन्द्रके समीप रहनेसे उन्हें
 श्रायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञानकी प्राप्ति हुई थी और जिसके कलस्वरूप आयुके अन्तमें
 मरकर वे इस भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए थे ॥२०८-२०९॥ इन चौदहमें-से कितने ही कुलकरोंको
 जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे इसलिए उन्होंने विचार कर
 प्रजाके लिए ऊपर कहे गये नियोगों-कार्योंका उपदेश दिया था ॥२१०॥ ये प्रजाके जीवनका
 उपाय जाननेसे मनु तथा आर्य पुरुषोंको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर
 कहलाते थे । इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे इसलिए कुलधर कहलाते थे तथा युगके
 आदिमें होनेसे ये युगादिपुरुष भी कहे जाते थे ॥२११-२१२॥ भगवाम् वृषभदेव तीर्थकर भी
 थे और कुलकर भी माने गये थे । इसी प्रकार भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और कुलधर

१. नाभिराजस्ततो भेजे श्रुतकल्प-प०, म०, द० । २. ये ते अ०, प०, म०, स०, ल० । ये वै द० ।
 ३. पुण्यकारणैः । -४. पश्यत स०, ल० । ५. पूर्वभवे श्रुतधारिणः । ६. इमाभिनियोगानाध्याय अ०, द०, प०, म०,
 ल० । ७. ध्यात्वा । ८. गृहविन्यासकरणात् । 'संघाते सन्निवेशे च संस्थायः' इत्यभिधानात् । ९. अन्वयानाम् ।
 'कुलमन्वयसंघातगृहोत्पत्त्याश्रमेषु च' इत्यभिधानात् । १०. युगादिप्र-म० । ११. कुलभूच्चैव द०, म०, ल० ।

तत्राद्यैः पञ्चभिर्गुणैः कुलकृद्भिः कृतागसाम् । हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा ॥२१४॥
 हाभाकारश्च दण्डोऽन्वैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः । पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिकारलक्षणः ॥२१५॥
 शरीरदण्डनं चैव बन्धनधावलक्षणम् । नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम् ॥२१६॥
 यदायुस्कमेतेषामममादिप्रसंख्यया । क्रियते तद्विनिश्चित्यै परिभाषोपवर्णनम् ॥२१७॥
 पूर्वाङ्गं वर्षलक्षणांशमतीतिश्चतुस्तथा । तद्वर्गितं भवेत् पूर्वं तत्कोटी पूर्वकोऽवसौ ॥२१८॥
 पूर्वं चतुरश्रोतिष्ठं पूर्वाङ्गं परिभाष्यते । पूर्वाङ्गतादितं तत्तु पञ्चाङ्गं पूर्वमित्युच्यते ॥२१९॥
 गुणाकारविधिः सोऽयं योजनीयो यथाक्रमम् । उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलम् ॥२२०॥
 तेषां संख्यामन्त्रानां नामानीमाप्यनुक्रमात् । कीर्त्यन्तेऽनादिः सिद्धान्तपदस्त्वहीनि^१ यानि वै ॥२२१॥
 पूर्वाङ्गं च तथा पूर्वं पञ्चाङ्गं पर्वसाङ्ख्यम् । नयुताङ्गं परं तस्माच्चयुतं च ततः परम् ॥२२२॥
 कुमुदाङ्गमतो विद्धि कुमुदाङ्गमतः परम् । पञ्चाङ्गं च ततः पद्मं नलिनाङ्गमतोऽपि च ॥२२३॥

भी कहलाते थे ॥२१३॥ उन कुलकरोमें-से आदिके पाँच कुलकरोने अपराधी मनुष्योंके लिए 'हा' इस दण्डकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया । उनके आगेके पाँच कुलकरोने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकारके दण्डोंकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है जो तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना । शेष कुलकरोने 'हा' 'मा' और 'धिक' इन तीन प्रकारके दण्डोंकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है, अब ऐसा नहीं करना और मुझे धिक्कार है जो रोकनेपर भी अपराध करते हो ॥२१४-२१५॥ भरत चक्रवर्तिक समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देनेकी भी रीति चलायी थी ॥२१६॥ इन मनुष्योंकी आयु ऊपर असम आदिकी संख्या-द्वारा बतलायी गयी है इसलिए अब उनका निश्चय करनेके लिए उनकी परिभाषाओंका निरूपण करते हैं ॥२१७॥ चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग होता है । चौरासी लाखका वर्ग करने अर्थात् परस्पर गुणा करनेसे जो संख्या आती है उसे पूर्व कहते हैं ($48000000 \times 48000000 = 2304000000000000$) इस संख्यामें एक करोड़का गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतना एक पूर्व कोटि कहलाता है । पूर्वकी संख्यामें चौरासीका गुणा करनेपर जो लब्ध हो उसे पञ्चाङ्ग कहते हैं तथा पञ्चाङ्गमें पूर्वाङ्ग अर्थात् चौरासी लाखका गुणा करनेसे पूर्व कहलाता है ॥२१८-२१९॥ इसके आगे जो नयुताङ्ग नयुत आदि संख्याएँ कही हैं उनके लिए भी क्रमसे यही गुणाकार करना चाहिए । भावार्थ—पूर्वको चौरासीसे गुणा करनेपर नयुताङ्ग, नयुताङ्गको चौरासी-लाखसे गुणा करनेपर नयुत; नयुतको चौरासीसे गुणा करनेपर कुमुदाङ्ग, कुमुदाङ्गको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर कुमुद; कुमुदको चौरासीसे गुणा करनेपर पञ्चाङ्ग, और पञ्चाङ्गको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर पद्म; पद्मको चौरासीसे गुणा करनेपर नलिनाङ्ग, और नलिनाङ्गको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर नलिन होता है । इसी प्रकार गुणा करनेपर आगेकी संख्याओंका प्रमाण निकलता है ॥२२०॥ अब क्रमसे उन संख्याके मेरोंके नाम कहे जाते हैं जो कि अनाविनिधन जैनागममें रूढ़ हैं ॥२२१॥ पूर्वाङ्ग, पूर्व, पञ्चाङ्ग, पर्व, नयुताङ्ग, नयुत, कुमुदाङ्ग, कुमुद, पञ्चाङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, कमलाङ्ग, कमल, तुट्यङ्ग, तुटिक, अट्टाङ्ग,

१. कुलकृद्भिः म०, ल० । २. शरीरं दण्डनं अ०, प०, द०, म०, ल० । ३. पञ्चाङ्ग-म०, प० ।

४. सिद्धान्ते पद-द०, ल० । ५.-कृतानि म०, प० ।

नक्षिभं कमलाङ्गं च तथान्यत् कमलं विदुः । तुल्यङ्गं तुष्टिकं चान्यदट्टाङ्गमथाट्टम् ॥२२४॥
 भमसाङ्गमतो ज्ञेयमममाक्यमतः परम् । हाहाङ्गं च तथा हाहा हूहूच्चैवं प्रतीयताम् ॥२२५॥
 लताङ्गं च कताङ्गं च महत्पूर्वं च तद्द्वयम् । शिरःप्रकम्पितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितम् ॥२२६॥
 अचलारम्भकमित्येवं प्रकारः कालपर्ययः । संख्येभ्यो गणनातीतं विदुः कालमतः परम् ॥२२७॥
 यथासंभवमेतेषु मनुनामायुस्त्वयताम् । संवत्समानमिदं विद्वान् सुधी पौराणिको भवेत् ॥२२८॥
 आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः द्वितीयः सन्मतिर्मतः । तृतीयः क्षेमकृष्णान्नः चतुर्थः क्षेमधृग्मनुः ॥२२९॥
 सीमकृत् पञ्चमो ज्ञेयः षष्ठः सीमधृदिष्यते । ततो विमलबाहाङ्गश्चक्षुष्मानष्टमो मतः ॥२३०॥
 यशस्वाश्रयमस्तस्मात्तन्मिचन्द्रोऽप्यनन्तरः । चन्द्रामोऽस्मात् परं ज्ञेयो मरुदेवस्ततः परम् ॥२३१॥
 प्रसेनजित् परं तस्मान्नामिराजश्चतुर्दशः । ध्रुवभो भरतेशश्च तीर्थं चक्रभृती मनु ॥२३२॥

उपजातिः

प्रतिश्रुतिः प्रत्यश्रुणोत् प्रजानो चन्द्रार्कसंदर्शनमोतिभाजाम् ।
 स सन्मतिस्तारकिताभ्रमार्गसंदर्शने मोतिमपाशकार ॥२३३॥

इन्द्रवज्रा

क्षेमंकरः क्षेमकृदार्थवर्गे क्षेमंधरः क्षेमधृतेः प्रजानाम् ।
 सीमंकरः सीमकृदार्थवर्णा सीमंधरः सीमधृतेस्तरुणाम् ॥२३४॥

उपजातिः

बाहोपदेशाद्विमलादिषाहः पुत्राननालोकोनसंप्रदायात् ।
 चक्षुष्मदाख्या मलुरप्रगोऽभूच्छास्वदाख्यस्तदभिष्टवेन ॥२३५॥

अट्ट, अमसाङ्ग, अमस, हाहाङ्ग, हाहा, हूहूङ्ग, हूहू, लताङ्ग, लता, महालताङ्ग, महालता, शिरः-
 प्रकम्पित, हस्तप्रहेलित और अचल ये सब उक्त संख्याके नाम हैं जो कि कालद्रव्यकी पर्याय हैं ।
 यह सब संख्येय हैं—संख्यातके भेद हैं इसके आगेका संख्यासे रहित हैं—असंख्यात हैं ॥२२२-२२७॥
 ऊपर मनुओं-कुलकरोँकी जो आयु कही है उसे इन भेदोंमें ही यथासंभव समझ लेना
 चाहिए । जो बुद्धिमान् पुरुष इस संख्या ज्ञानको जानता है वही पौराणिक-पुराणका जान-
 कार विद्वान् हो सकता है ॥२२८॥ ऊपर जिन कुलकरोँका वर्णन कर चुके हैं यथाक्रम-
 से उनके नाम इस प्रकार हैं—पहले प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर,
 पाँचवें सीमंकर, छठे सीमंधर, सातवें विमलबाहन, आठवें चक्षुष्मान्, नौवें यशस्वान्,
 दसवें अभिचन्द्र, ग्यारहवें चन्द्राम, बारहवें मरुदेव, तेरहवें प्रसेनजित् और चौदहवें नाभिराज ।
 इनके सिवाय भगवान् ध्रुवभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी तथा भरत चक्रवर्ती भी थे और
 मनु भी ॥२२९-२३२॥ अब संक्षेपमें उन कुलकरोँके कार्यका वर्णन करता हूँ—प्रति-
 श्रुतिने सूर्य चन्द्रमाके देखनेसे भयभीत हुए मनुष्योंके भयको दूर किया था, तारोंसे भरे हुए
 आकाशके देखनेसे लोगोंका जो भय हुआ था उसे सन्मतिने दूर किया था, क्षेमंकरने प्रजामें
 क्षेम-कल्याणका प्रचार किया था, क्षेमंधरने कल्याण धारण किया था, सीमंकरने आर्य पुरुषों-
 की सीमा नियत की थी, सीमंधरने कल्पवृक्षोंकी सीमा निश्चित की थी, विमलबाहनने हाथो

१. निष्पीयताम् । हूहूङ्गहूहू चेत्येवं निष्पीयताम् । २. तद्द्वयम् —महालताङ्गं महालताङ्गम् इति
 द्वयम् । ३. जानानः । ४. परस्तस्मा—प०, म०, ल० । ५. प्रजानो वचनमिति सम्बन्धः । ६. अपसारयति स्म ।
 ७. क्षेमधारणात् । ८. तदभिस्तवनेन ।

सोऽभीष्टयन्ममसामिचन्द्रध्वजामकस्तैः कियदप्यजीवोत्^१ ।
^२मरुत्सुरोऽभूच्चिरजीवनासैः प्रसेनजिद्गर्ममल्लापहारात् ॥२३६॥
 नामिध तन्नामिनिकर्तनेन^३ प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत् ।
 सोऽजोजनत् तं वृषभं महात्मा सोऽप्यग्रसूनुं^४ मधुमादिराजम् ॥२३७॥

वसन्ततिलका

इत्थं^५ युगादिपुरुषोद्भवमादरेण तस्मिन्निरूपयति गौतमसद्गणेन्द्रे ।
 सा साधुसंसद्विल्ला सह मागधेन राजा प्रमोदमच्चिरात् परमाजगाम ॥२३८॥

मालिनी

सकलमनुनियोगात् कालभेदं च योढा परिषदि^६ जिनसेनाचार्यमुख्यो निरूप्य ।
 पुनरथ पुरुषाग्नः पुण्यमार्गं पुराणं कथयितुमुदियाय^७ श्रेणिकाकर्णयेति ॥२३९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिवष्टिलक्षणे महापुराणसंग्रहे
 पीठिकावर्णनं नाम तृतीयं पर्व ॥३॥

आदिपर सवारी करनेका उपदेश दिया था सबसे अग्रसर रहनेवाले चक्षुष्मान्ने पुत्रके मुख देखनेकी परम्परा खलायी थी, यज्ञस्वान्का सब कोई यशोगान करते थे, अभिचन्द्रने बालकौकी चन्द्रमाके साथ क्रीड़ा करानेका उपदेश दिया था, चन्द्राभके समय माता-पिता अपने पुत्रोंके साथ कुछ दिनों तक जीवित रहने लगे थे, मरुद्देवके समय माता-पिता अपने पुत्रोंके साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगे थे, प्रसेनजित्ने गर्भके ऊपर रहनेवाले जरायु-रूपी मलके हटानेका उपदेश दिया था और नाभिराजने नाभि-नाल काटनेका उपदेश देकर प्रजाको आश्वासन दिया था । उन नाभिराजने वृषभदेवको उत्पन्न किया था ॥२३६-२३७॥ इस प्रकार जब गौतम गणधरने बड़े आदरके साथ युगके आदिपुरुषों-कुलकरोँकी उत्पत्तिका कथन किया तब वह मुनियोंकी समस्त सभा राजा श्रेणिकके साथ परम आनन्द-को प्राप्त हुई ॥२३८॥ उस समय महावीर स्वामीकी शिष्यपरम्पराके सर्वश्रेष्ठ आचार्य गौतम स्वामी कालके छह भेदोंका तथा कुलकरोँके कार्योंका वर्णन कर भगवान् आदिनाथका पवित्र पुराण कहनेके लिए तत्पर हुए और मगधेश्वरसे बोले कि हे श्रेणिक, सुनो ॥२३९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिवष्टिलक्षणे महापुराण संग्रहमें पीठिकावर्णन नामक तृतीय पर्व समाप्त हुआ ॥३॥

१. -अप्यजीवत् भ० । २. मरुद्देवः । ३. आश्वासनं [सान्त्वनम्] । ४. भरतेशम् । ५. मनुत्पत्तिम् ।
 ६. जिनस्थ सेना जिनसेना जिनसेनाया आचार्यः जिनसेनाचार्यस्तेषु मुख्यो गौतमगणधर इत्यर्थः । ७. उद्युक्तो बभूव ।

चतुर्थ पर्व

यस्त्रिपञ्चमिमां पुण्यामधीते मतिमान् पुमान् । सोऽधिगम्य पुराणार्थमिदमुग्रं च नन्दति ॥१॥
अथाद्यस्य पुराणस्य महतः पौठिकाभिभाम् । प्रतिष्ठाप्य तसौ वक्ष्ये चरितं वृथभेषिनः ॥२॥
लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं 'ज्ञानतपोऽन्वयम्' । पुराणेष्वष्टभाष्येषु गतयः फलमित्यपि ॥३॥
'लोकोद्देशमित्यस्यादिदर्शनं यत् सविस्तरम् । लोकाख्यानं तदाम्नातं 'विश्वोचितदिगम्तरम्' ॥४॥
तदेकदेशदेशाद्विद्वीषाभ्यादिप्रपञ्चनम् । देशाख्यानं तु तज्ज्ञेयं तज्ज्ञैः संज्ञानलोचनैः ॥५॥
मरताविषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम् । पुराणख्यानमितीष्टं तत् पुरतत्तनविदां मते ॥६॥
'अमुष्मिन्निदेशोऽयं नगरं चेति तत्पतेः । आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे ॥७॥
संसाराब्धेरपारस्य तरणे 'तीर्थमिष्यते । 'वेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा ॥८॥
यादृशं स्वारापोदानममीदृशगुणोदयम्' । कथनं तद्व्याख्यास्य तपोदानकथोच्यते ॥९॥
नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः । तासां संकीर्तनं यद्दि गत्याख्यानं तदिष्यते ॥१०॥
पुण्यपापफलावाप्तिर्जन्तूनां यादृशी भवेत् । तदाख्यानं फलाख्यानं तच्च निःश्रेयसावधि ॥११॥
लोकाख्यानं यथोद्देशमिह तावत् प्रतन्यते । यथावसरमभ्येषां प्रपञ्चो वर्णयिष्यते ॥१२॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य ऊपर कहे हुए पवित्र तीनों पर्वोंका अध्ययन करता है वह सम्पूर्ण पुराणका अर्थ समझकर इस लोक तथा परलोकमें आनन्दको प्राप्त होता है ॥१॥ इस प्रकार महापुराणकी पीठिका कहकर अब श्री वृषभदेव स्वामीका चरित कहूँगा ॥२॥ पुराणोंमें लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति और फल इन आठ बातोंका वर्णन अवश्य ही करना चाहिए ॥३॥ लोकका नाम कहना, उसकी व्युत्पत्ति बतलाना, प्रत्येक दिशा तथा उसके अन्तरालोंकी लम्बाई, चौड़ाई आदि बतलाना इनके सिवाय और भी अनेक बातोंका विस्तारके साथ वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है ॥४॥ लोकके किसी एक भागमें देश, पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेको जानकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष देशाख्यान कहते हैं ॥५॥ भारतवर्ष आदि क्षेत्रोंमें राजधानीका वर्णन करना, पुराण जानने-वाले आचार्योंके मतमें पुराख्यान अर्थात् नगरवर्णन कहलाता है ॥६॥ उस देशका यह भाग अमुक राजाके आधीन है अथवा वह नगर अमुक राजाका है इत्यादि वर्णन करना जैन शास्त्रोंमें राजाख्यान कहा गया है ॥७॥ जो इस अपार संसार समुद्रसे पार करे उसे तीर्थ कहते हैं ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान्का चरित्र ही हो सकता है अतः उसके कथन करनेको तीर्थाख्यान कहते हैं ॥८॥ जिस प्रकारका तप और दान करनेसे जीवोंको अनुपम फलकी प्राप्ति होती हो उस प्रकारके तप तथा दानका कथन करना तपदानकथा कहलाती है ॥९॥ नरक आदिके भेदसे गतियोंके चार भेद माने गये हैं उनके कथन करनेको गत्याख्यान कहते हैं ॥१०॥ संसारी जीवोंको जैसा कुछ पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है उसका मोक्षप्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है ॥११॥ ऊपर कहे हुए आठ आख्यानोमें-से यहाँ नामा-

१. इमां पूर्वोक्ताम् । २. शान्तपोष्यम् म०, स०, द०, प०, ल० । ३. सम्बन्धः । ४. नामोच्चारण-
मुद्देशः । ५. निष्काशितोपदेशान्तरम् । ६. विस्तारः । ७. 'इवे स्वेचना' इति सूत्रेण सप्तमीवेषः । ८. -रं वेति
अ०, स०, म०, द०, प०, ल० । जलान्तरम् । ९. चरितम् । १०. अनिर्वचनीयम् ।

लोक्यन्तेऽस्मिन्निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्थाः सपर्ययाः । इति लोकस्य लोकत्वं^१ निराहुस्तत्रवर्णिनः ॥१३॥
 विवक्षितं निवसन्त्यस्मिन् जीवादिद्रव्यविस्तराः । इति क्षेत्रं निराहुस्तं लोकमन्वर्थसंज्ञया ॥१४॥
 जीवोऽङ्गुलिप्रमाणो क्षेत्रो जीवाद्यर्थभण्डाहः । निर्वृत्तः सत्त्ववर्णितः सौजम्याकाशमध्यगः ॥१५॥
 अष्टास्य जगतः कश्चिदस्तोत्येके जगुर्जडाः । तद्दुर्णमनिरासार्थं सृष्टिवादः परीक्ष्यते ॥१६॥
 अथा 'सर्गावहिर्भूतः स्वस्थः सृजति सज्जगत् । निराधारश्च कूटस्थः सृष्ट्वैतत्' इति निवेद्यते ॥१७॥
 वैको विश्वात्मकस्यास्य जगतो घटने पटुः । वितनोच्च न तन्वादिभूतमुत्पत्तुमर्हति ॥१८॥
 कथं च तं सृजेत्लोकं विनात्मैः करणादिभिः । तानि सृष्ट्वा सृजेत्लोकमिति चेदनवस्थितिः ॥१९॥

नुसार सबसे पहले लोकाख्यानका वर्णन किया जाता है । अन्य सात आख्यानोका वर्णन भी समयानुसार किया जायेगा ॥१२॥ जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायोंसहित देखे जायें उसे लोक कहते हैं । तत्त्वोंके जानकार आचार्योंनि लोकका यही स्वरूप बतलाया है [लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् स लोकः] ॥१३॥ जहाँ जीवादि द्रव्योंका विस्तार निवास करता हो उसे क्षेत्र कहते हैं । सार्थक नाम होनेके कारण विद्वान् पुरुष लोकको ही क्षेत्र कहते हैं ॥१४॥ जीवादि पदार्थोंको अवगाह देनेवाला यह लोक अङ्गुलिम है—किसीका बनाया हुआ नहीं है, नित्य है इसका कभी सर्वथा प्रलय नहीं होता, अपने-आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाशके ठीक मध्य भागमें स्थित है ॥१५॥ कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि इस लोकका बनानेवाला कोई-न-कोई अवश्य है । ऐसे लोगोंका दुराग्रह दूर करनेके लिए यहाँ सर्व-प्रथम सृष्टिवादकी ही परीक्षा की जाती है ॥१६॥ यदि यह मान लिया जाये कि इस लोकका कोई बनानेवाला है तो यह विचार करना चाहिए कि वह सृष्टिके पहले—लोककी रचना करनेके पूर्व सृष्टिके बाहर कहाँ रहता था ? किस जगह बैठकर लोककी रचना करता था ? यदि यह कहो कि वह आधाररहित और नित्य है तो उसने इस सृष्टिको कैसे बनाया और बनाकर कहाँ रखा ? ॥१७॥ दूसरी बात यह है कि आपने उस ईश्वरको एक तथा शरीररहित माना है इससे भी वह सृष्टिका रचयिता नहीं हो सकता क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसारकी रचना करनेमें समर्थ कैसे हो सकता है ? तथा शरीररहित अमूर्तिक ईश्वरसे मूर्तिक वस्तुओंकी रचना कैसे हो सकती है ? क्योंकि लोकमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मूर्तिक वस्तुओंकी रचना मूर्तिक पुरुषों-द्वारा ही होती है जैसे कि मूर्तिक कुम्हारसे मूर्तिक घटकी ही रचना होती है ॥१८॥ एक बात यह भी है—जब कि संसारके समस्त पदार्थ कारण-सामग्रीके बिना नहीं बनाये जा सकते तब ईश्वर उसके बिना ही लोकको कैसे बना सकेगा ? यदि यह कहो कि वह पहले कारण-सामग्रीको बना लेता है बादमें लोकको बनाता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है । कारण-सामग्रीको बनानेके लिए भी कारण-सामग्रीकी आवश्यकता होती है, यदि ईश्वर उस कारण-सामग्रीको भी पहले बनाता है तो उसे द्वितीय कारण-सामग्रीके योग्य तृतीय कारण-सामग्रीको उसके पहले भी बनाना पड़ेगा । और इस तरह उस परिपाटीका कभी अन्त नहीं होगा ॥१९॥

१. -स्मिन् समीक्ष्य-स०, द०, प०, म०, ल० । २. निवृत्तं कुर्वन्ति । ३. शाश्वतः ईश्वरनिर्मितत्व । ४. नेयायिकवैशेषिकादयः । ५. सृष्टि । ६. अपरिणामी । 'एकरूपतया तु यः । कालव्यापी कूटस्थः' इत्यभिधानात् । ७. 'त्यदा द्वितीयाटीत्येनदेनः' इति अन्वादेशो एतच्छब्दस्य एतदादेशो भवति । ८. विमूर्तः सकाशात् । ९. तनुकरणमवनादिमूर्तद्वयम् ।

तेषां स्वभावसिद्धत्वे लोकेऽप्येतत् प्रसज्यते । किं च 'निर्मातृवद् विश्वं स्वतःसिद्धिमवाप्नुयात् ॥२०॥
 सृजेद् विनापि सामग्री स्वतन्त्रः प्रभुरिच्छया । इतीच्छामात्रमेतत् कः श्रद्धाभ्यादयुक्तिकम् ॥२१॥
 कृतार्थस्य विनिर्मित्वा^१ कथमेषां पुज्यते । अकृतार्थोऽपि न शब्दं विदधमीष्टे कुलालवत् ॥२२॥
 अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेष जगत् सृजेत् । न सिसृक्षापि तस्यास्ति विक्रियारहितारमनः ॥२३॥
 तथाप्यस्य जगत्सर्गं फलं किमपि सृज्यताम् । निहितार्थस्य धर्मादिपुरुषार्थेष्वनर्थिनः ॥२४॥
 स्वभावतो विनैवार्थात् सृज्यतोऽनर्थसंगतिः । क्रीडेवं कापि वेदस्य दुरन्ता मोहसन्ततिः ॥२५॥

यदि यह कहो कि वह कारण-सामग्री स्वभावसे ही-अपने-आप ही बन जाती है, उसे ईश्वरने नहीं बनाया है तो यह बात लोकमें भी लागू हो सकती है-मानना चाहिए कि लोक भी स्वतः सिद्ध है उसे किसीने नहीं बनाया । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि उस ईश्वरको किसने बनाया ? यदि उसे किसीने बनाया है तब तो ऊपर लिखे अनुसार अनवस्था दोष आता है और यदि वह स्वतः सिद्ध है-उसे किसीने भी नहीं बनाया है तो यह लोक भी स्वतः सिद्ध हो सकता है-अपने आप बन सकता है ॥२०॥ यदि यह कहो कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सृष्टि बनानेमें समर्थ है इसलिए सामग्रीके बिना ही इच्छा मात्रसे लोकको बना लेता है तो आपकी यह इच्छा मात्र है । इस युक्तिशून्य कथनपर भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास करेगा ? ॥२१॥ एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है-सब कार्य पूर्ण कर कर चुका है-उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया है तो उसे सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा ही कैसे होगी ? क्योंकि कृतकृत्य पुरुषको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती । यदि यह कहो कि वह अकृतकृत्य है तो फिर वह लोकको बनानेके लिए समर्थ नहीं हो सकता । जिस प्रकार अकृतकृत्य कुम्हार लोकको नहीं बना सकता ॥२२॥

एक बात यह भी है कि आपका माना हुआ ईश्वर अमूर्तिक है, निष्क्रिय है, व्यापी है और विकाररहित है सो ऐसा ईश्वर कभी भी लोकको नहीं बना सकता क्योंकि वह ऊपर लिख आये हैं कि अमूर्तिक ईश्वरसे मूर्तिक पदार्थोंकी रचना नहीं हो सकती । किसी कार्यको करनेके लिए हस्त-पादादिके संचालन रूप कोई-न-कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है परन्तु आपने तो ईश्वरको निष्क्रिय माना है इसलिए वह लोकको नहीं बना सकता । यदि सक्रिय मानो तो वह असंभव है क्योंकि क्रिया उसीके हो सकती है जिसके कि अधिष्ठान-से कुछ क्षेत्र बाकी बचा हो परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वत्र व्यापी है वह क्रिया किस प्रकार कर सकेगा ? इसके सिवाय ईश्वरको सृष्टि रचनेकी इच्छा भी नहीं हो सकती क्योंकि आपने ईश्वरको निर्विकार माना है । जिसकी आत्मामें राग-द्वेष आदि विकार नहीं है उसके इच्छा-का उत्पन्न होना असंभव है ॥२३॥ जब कि ईश्वर कृतकृत्य है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमें किसीकी चाह नहीं रखता तब सृष्टिके बनानेमें इसे क्या फल मिलेगा ? इस बातका भी तो विचार करना चाहिए, क्योंकि बिना प्रयोजन केवल स्वभावसे ही सृष्टिकी रचना करता है तो उसकी वह रचना निरर्थक सिद्ध होती है । यदि यह कहो कि उसकी यह क्रीड़ा ही है, क्रीड़ा मात्रसे ही जगत्को बनाता है तब तो दुःखके साथ कहना पड़ेगा कि आपका ईश्वर बड़ा मोही है, बड़ा अज्ञानी है जो कि बालकोंके समान निष्प्रयोजन कार्य करता है ॥२४-२५॥

कर्मपेक्षः शरीरादिदेहिनां घटयेद् यदि । नन्वेवमीश्वरो न स्यात् परतन्त्रात् कुविन्दवत् ॥२६॥
 निमित्तमात्रमिष्टश्चेत् कार्ये कर्मादिहेतुके । सिद्धोपस्थाय्यसौ हन्त पोष्यते किमकारणम् ॥२७॥
 वक्ष्यते प्राणिनामेकः सृजन्ननुजिघृक्षया^३ । ननु सौख्यमर्थो सृष्टिं विदध्यादनुपप्लुताम् ॥२८॥
 सृष्टिप्रयासवैयर्थ्यं^४ सज्जने जगतः सत्तः^५ । नात्यन्तमसतः सगो^६ युक्तो व्योमारविन्दवत् ॥२९॥
 नोदासीनः सृजेन्मुक्तः संसारी^७ नाप्यनीश्वरः । सृष्टिवादावतारोऽयं^८ ततश्च न कुतश्च न ॥३०॥
 महानधर्मयोगोऽस्य सृष्टा संहृतः प्रजाः । दुष्टनिग्रहशुद्ध्या चेद् वरं दैत्यावसर्जनम् ॥३१॥
 बुद्धिमद्धेतुत्वान्निधये तन्वाद्युत्पत्तुमर्हति^९ । विशिष्टसंनिवेशादिप्रतीतेर्नगरादिवत् ॥३२॥

यदि यह कहो कि ईश्वर जीवोंके शरीरादिक उनके कर्मोंके अनुसार ही बनाता है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसके वैसे ही शरीरादिकी रचना करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार माननेसे आपका ईश्वर ईश्वर ही नहीं ठहरता । उसका कारण यह है कि वह कर्मोंकी अपेक्षा करनेसे जुलाहेकी तरह परतन्त्र हो जायेगा और परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं रह सकेगा क्योंकि जिस प्रकार जुलाहा सूत तथा अन्य उपकरणोंके परतन्त्र होता है तथा परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं कहलाता इसी प्रकार आपका ईश्वर भी कर्मोंके परतन्त्र है तथा परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं कहला सकता । ईश्वर तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हुआ करता है ॥२६॥ यदि यह कहो कि जीवोंके कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादि कार्य अपने-आप होते रहते हैं ईश्वर उनमें निमित्त माना ही जाता है तो भी आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब सुख-दुःखादि कार्य कर्मोंके अनुसार अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं तब खेद है कि आप व्यर्थ ही ईश्वरकी पुष्टि करते हैं ॥२७॥ कदाचित् यह कहा जाये कि ईश्वर बड़ा प्रेमी है—दयालु है इसलिए वह जीवोंका उपकार करनेके लिए ही सृष्टिकी रचना करता है तो फिर उसे इस समस्त सृष्टिको सुखरूप तथा उपद्रव रहित ही बनाना चाहिए था । दयालु होकर भी सृष्टिके बहुभागकी दुःखी क्यों बनाता है ? ॥२८॥ एक बात यह भी है कि सृष्टिके पहले जगत् था या नहीं ? यदि था तो फिर स्वतः सिद्ध वस्तुके रचनेमें उसने व्यर्थ परिश्रम क्यों किया ? और यदि नहीं था तो उसकी वह रचना क्या करेगा ? क्योंकि जो वस्तु आकाश कमलके समान सर्वथा असत् है उसकी कोई रचना नहीं कर सकता ॥२९॥ यदि सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर मुक्त है—कर्म-मल कलंकसे रहित है तो वह उदासीन—राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण जगत्की सृष्टि नहीं कर सकता । और यदि संसारी है—कर्ममल कलंकसे सहित है तो वह हमारे-तुम्हारे समान ही ईश्वर नहीं कहलायेगा तब सृष्टि किस प्रकार करेगा ? इस तरह यह सृष्टिवाद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥३०॥ जरा इस बातका भी विचार कीजिए कि वह ईश्वर लोकको बनाता है इसलिए लोकके समस्त जीव उसकी सन्तानके समान हुए फिर वही ईश्वर सबका संहार भी करता है इसलिए उसे अपनी सन्तानके नष्ट करनेका भारी पाप लगाता है । कदाचित् यह कहो कि दुष्ट जीवोंका निग्रह करनेके लिए ही वह संहार करता है तो उससे अच्छा तो यही है कि वह दुष्ट जीवोंको उत्पन्न ही नहीं करता ॥३१॥ यदि आप यह कहें—कि 'जीवोंके शरीरादिकी उत्पत्ति किसी बुद्धिमान् कारणसे ही हो

१. नन्वेव—अ०, ल० । २. कार्यं निष्पन्ने सति प्राप्तः । ३. अनुगृहीतुमिच्छया । ४. व्यर्थत्वम् । ५. विद्यमानस्य । ६. सृष्टिः । ७.—री सौम्यनीश्वरः अ०, प०, म०, द०, स०, ल० । ८. येन केन प्रकारेण नास्तीत्यर्थः । ९. उद्भवितुम् । १०. सन्निवेशः रचना ।

दृष्ट्यसाधनमेवैतदीश्वरास्तित्वसाधने । विशिष्टसन्निवेशादेरन्यथाप्युत्पत्तितः ॥३३॥
 चेतनाधिष्ठितं हीयं^१ कर्मनिर्मातृचेष्टितम् । नन्वक्षसुखदुःखादि^२ वैश्वरूप्याय कल्पयते ॥३४॥
^३निर्माणकर्मनिर्मातृकौशलापादितोऽसृष्टः अक्षोपाकृष्टविशेषसुखितोऽसृष्टः सृष्टिः सृष्टिः ॥३५॥
 तदेतत्कर्मवैचित्र्याद् भवजायात्मकं जगत् । विश्वकर्माणमात्मानं साधयेत् कर्मसारधिभम्^४ ॥३६॥
 विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् । ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधतः ॥३७॥
 स्रष्टारमन्तरेणापि व्योमादीनां च^५ संगरात् । सृष्टिवादी स निर्माहः शिष्टैर्दुर्मतबुभुवो ॥३८॥
 ततोऽसावकृतोऽनादिनिधनः कालतत्त्ववत् । लोको जीवादितत्त्वानामाधारात्मा प्रकाशते ॥३९॥
 असृज्योऽयमसंहायः स्वभावनियतस्थितिः । अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्रिभिर्महैः समन्वितः ॥४०॥
 वेत्रविष्टरश्चल्लयः सृदङ्गश्च यथाविधाः । संस्थानैस्तादृशान् प्रादुर्लोकाननुपूर्वशः ॥४१॥

सकती है क्योंकि उनकी रचना एक विशेष प्रकारकी है । जिस प्रकार किसी मांस आदिकी रचना विशेष प्रकारकी होती है अतः वह किसी बुद्धिमान् कारीगरका बनाया हुआ होता है उसी प्रकार जीवोंके शरीरादिककी रचना भी विशेष प्रकारकी है अतः वे भी किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं और वह बुद्धिमान् कर्ता ईश्वर ही है ॥३२॥ परन्तु आपका यह हेतु ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं क्योंकि विशेष रचना आदिकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे भी हो सकती है ॥३३॥ इस संसारमें शरीर, इन्द्रियाँ, सुख-दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं उन सबकी उत्पत्ति चेतन-आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कर्मरूपी विधाताके द्वारा ही होती है ॥३४॥ इसलिए हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि संसारी जीवोंके अंग-उपांग आदिमें जो विचित्रता पायी जाती है वह सब निर्माण नामक नामकर्मरूपी विधाताकी कुशलतासे ही उत्पन्न होती है ॥३५॥ इन कर्मोंकी विचित्रतासे अनेकरूपताको प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बातको सिद्ध कर देता है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक रूपधारी संसारका कर्ता संसारी जीवोंकी आत्माएँ ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं । अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्मके उदयसे प्रेरित होकर शरीर आदि संसारकी सृष्टि करते हैं ॥३६॥ विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वरके पर्याय वाचक शब्द हैं इनके सिवाय और कोई लोकका बनानेवाला नहीं है ॥३७॥ जब कि ईश्वरवादी पुरुष आकाश काल आदिकी सृष्टि ईश्वरके बिना ही मानते हैं तब उनका यह कहना कहाँ रहा कि संसारकी सब वस्तुएँ ईश्वरके द्वारा ही बनायी गयी हैं ? इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग होनेके कारण शिष्ट पुरुषोंको चाहिए कि वे ऐसे सृष्टिवादीका निग्रह करें जो कि व्यर्थ ही मिथ्यात्वके उदयसे अपने दूषित मतका अहंकार करता है ॥३८॥ इसलिए मानना चाहिए कि यह लोक काल द्रव्यकी भाँति ही अकृत्रिम है अनादि निधन है—आदि-अन्तसे रहित है और जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका आधार होकर हमेशा प्रकाशमान रहता है ॥३९॥ न इसे कोई बना सकता है न इसका संहार कर सकता है, यह हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थितिमें विद्यमान रहता है तथा अधोलोक तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक इन तीन भेदोंसे सहित है ॥ ४० ॥ वेत्रासन, शल्लरी और सृदङ्गका जैसा आकार होता है अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका भी ठीक वैसा ही आकार होता है । अर्थात् अधोलोक वेत्रासनके

१. —तं देहं कर्म-म० । २. नामकर्म । ३. सकलरूपत्वाय । वैश्वरूपाय अ०, स०, ल०, द० ।
 ४. निर्माणनामकर्म । ५. प्रतिज्ञां कुर्महे । ६. सहायम् । ७. अङ्गीकारात् ।

वैशाखस्थः कटीन्यस्तद्वस्तः स्याद् यादृशः पुमान् । तादृशं लोकसंस्थानमामनन्ति मनीषिणः ॥४२॥
 अनन्तानन्तभेदस्य चिद्यतो मध्यमाश्रितः । लोकस्त्रिभिर्भूतं वार्तमाति विषयैरिवातनैः ॥४३॥
 वातरज्जुमिरानखो लोकस्त्रिभिराशिरम् । पटत्रितयसंज्ञातसुप्रतिष्ठकसन्निभः ॥४४॥
 तिर्यग्लोकस्य विस्तारं रज्जुमेकां प्रवक्षते । चतुर्दशगुणं प्राह रज्जुं लोकोच्छ्रितं बुधाः ॥४५॥
 अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे लोकविष्कम्भरज्जवः । सर्पिका पञ्च चैका च यथाक्रममुदाहृताः ॥४६॥
 द्वीपाब्धिमिरसंख्यातैर्विद्विर्विष्कम्भमाश्रितैः । विभाति बलयाकारमध्यलोको विभूषितः ॥४७॥
 मध्यमध्यास्य लोकस्य जम्बूद्वीपोऽस्ति मध्यगः । मेरुनाभिः सुवृत्ताभ्या लवणाम्भोधिवेष्टितः ॥४८॥
 सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः । प्रविभक्तः सरिजिश्च लक्षयोजनविस्तृतः ॥४९॥
 स मेरुमौलिराभाति लवणोदधिमेखलः^१ । सर्वद्वीपसमुद्राणां जम्बूद्वीपोऽधिराजवत् ॥५०॥
 इह जम्बूमति द्वीपे मेरोः^२ प्रत्यग्विज्ञाश्रितः । विषयो गन्धिलामिष्यो भाति स्वर्गैकखण्डवत् ॥५१॥
 पूर्वापरावधौ तस्य देवाद्रिश्चोर्मिमालिनी । दक्षिणोत्तरपर्यन्तौ सीतोदा नील एव च ॥५२॥

समान नीचे विस्तृत और ऊपर सकड़ा है, मध्यम लोक झल्लरोके समान सब ओर फैला हुआ है और ऊर्ध्वलोक मृदंगके समान बीचमें चौड़ा है। इस लोक में आठों ओर से सप्त राजु हैं। अधोमध्यम लोक में पाँच फैलाकर और कमरपर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुषका जैसा आकार होता है बुद्धिमान पुरुष लोकका भी वैसा ही आकार मानते हैं ॥४२॥ यह लोक अनन्तानन्त आकाशके मध्यभागमें स्थित तथा घनोदधि, घनघात और तनुघात इन तीन प्रकारके विस्तृत वातबलयोंसे घिरा हुआ है और ऐसा मालूम होता है मानो अनेक रस्सियोंसे बना हुआ छीका ही हो ॥४३॥ नीचेसे लेकर ऊपर तक उपर्युक्त तीन वातबलयोंसे घिरा हुआ यह लोक ऐसा मालूम होता है मानो तीन कपड़ोंसे ढका हुआ सुप्रतिष्ठ (ठौना) ही हो ॥४४॥ विद्वानोंने मध्यम लोकका विस्तार एक राजु कहा है तथा पूरे लोककी ऊँचाई उससे चौदह गुणी अर्थात् चौदह राजु कही है ॥४५॥ यह लोक अधोभागमें सात राजु, मध्यभागमें एक राजु, ऊर्ध्वलोकके मध्यभागमें पाँच राजु और सबसे ऊपर एक राजु चौड़ा है ॥४६॥ इस लोकके ठीक बीचमें मध्यम लोक है जो कि असंख्यात द्वीपसमुद्रोंसे शोभायमान है। वे द्वीपसमुद्र क्रम-क्रमसे दूने-दूने विस्तारवाले हैं तथा बलयके समान हैं। भावार्थ—जम्बूद्वीप थालीके समान तथा बाकी द्वीप समुद्र बलयके समान बीचमें खाली हैं ॥४७॥ इस मध्यम लोकके मध्यभागमें जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप गोल है तथा लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है। इसके बीचमें नाभिके समान मेरु पर्वत है ॥४८॥ यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा है तथा हिमवत् आदि छह कुलाचलों, भरत आदि सात क्षेत्रों और गङ्गा, सिन्धु आदि चौदह नदियोंसे विभक्त होकर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है ॥४९॥ मेरु पर्वतरूपी मुकुट और लवणसमुद्ररूपी करधनीसे युक्त यह जम्बूद्वीप ऐसा शोभायमान होता है मानो सप्त द्वीपसमुद्रोंका राजा ही हो ॥५०॥ इसी जम्बूद्वीपमें मेरु पर्यन्तसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिल नामक देश है जो कि स्वर्गके टुकड़ेके समान शोभायमान है ॥५१॥ इस देशकी पूर्व दिशामें मेरु पर्वत है, पश्चिममें ऊर्मिमालिनी नामकी विभङ्गा नदी है, दक्षिणमें सीतोदा नदी

१. द्विगुणद्विगुणविस्तारम् । २. कटीसुतः । ३. पश्चिमदिक् । ४. देवमाल इति बक्षारगिरिः । ५. ऊर्मिमालिनी इति विभङ्गा नदी । ६. सीतोदा नदी । ७. नीलपर्वतः ।

यत्र कर्ममलापायाद् विदेहा मुनयः सदा ।^१ निर्वाप्स्यतीति गता रुद्धिं^२ विदेहाख्यार्थभागियम् ॥५३॥
 नित्यप्रमुदिता यत्र^३ प्रजा मिथ्यकृतोत्सवाः । मिथं सन्निहितैर्मोगैः सत्त्वं स्वर्गोऽप्यनादरः ॥५४॥
 निसर्गसुमगा नार्यो निसर्गचतुरा नराः । निसर्गललिताकापा बाला^४ यत्र गृहे गृहे ॥५५॥
 वैदग्ध्यं चतुरैर्वैभूषणैश्च धनर्धयः । विलासैः यौवनारम्भाः^५ सूर्य्यन्ते यत्र वेदिनाम् ॥५६॥
 यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्हताम् । शक्तिरात्यन्तिकी^६ शीले प्रोषधे च रतिनृणाम् ॥५७॥
 न यत्र परलिङ्गानामस्ति जातुचिदुद्भवः । सदोदयाजिनाकस्य खरोतानामिवाहनि ॥५८॥
 यत्रारामाः सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः । पथिकानाङ्गयन्तीषु परपुष्टकलस्वनैः ॥५९॥
 यस्य सीमविभागेषु शाक्यादिक्लेशसंपदः । सदैव फलशालिन्धो मान्ति धर्म्या इव क्रियाः ॥६०॥
 यत्र शालिघनोपान्ते खात् पतन्ती शुकावलोम् । शाकिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधती^७ तोरणश्रियम् ॥६१॥

है और उत्तरमें नीलगिरि है ॥५३॥ यह देश विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत है । वहाँसे मुनि लोग हमेशा कर्मरूपी मलको नष्ट कर विदेह (विगत देह) —शरीररहित होते हुए निर्वाणको प्राप्त होते रहते हैं इसलिए उस क्षेत्रका विदेह नाम सार्थक और रुद्धि दोनों ही अवस्थाओंको प्राप्त है ॥५३॥ उस गन्धिल देशकी प्रजा हमेशा प्रसन्न रहती है तथा अनेक प्रकारके उत्सव किया करती है, उसे हमेशा मनचाहे भोग प्राप्त होते रहते हैं इसलिए वह स्वर्गको भी अच्छा नहीं समझती है ॥५४॥ उस देशके प्रत्येक घरमें स्वभावसे ही सुन्दर स्त्रियाँ हैं, स्वभावसे ही चतुर पुरुष हैं और स्वभावसे ही मनुष्योंके धर्मोपदेश करनेवाले हैं ॥५५॥ उस देशमें मनुष्योंकी चतुराई उनके चतुराईपूर्ण वेषोंसे प्रकट होती है । उनके आभूषणोंसे उनकी सम्पत्तिका ज्ञान होता है तथा भोग-विलासोंसे उनके यौवनका प्रारम्भ सूचित होता है ॥५६॥ वहाँके मनुष्य उत्तम पात्रोंमें दान देने तथा देवाधिदेव अरहन्त भगवान्की पूजा करने ही में प्रेम रखते हैं । वे लोग शीलकी रक्षा करनेमें ही अपनी अत्यन्त शक्ति बिखलाते हैं और प्रोषधोपवास धारण करनेमें ही रुचि रखते हैं ।

भावार्थ—यह परिसंख्या अलंकार है । परिसंख्याका संक्षिप्त अर्थ नियम है । इसलिए इस श्लोकका भाव यह हुआ कि वहाँके मनुष्योंकी प्रीति पात्रवान आदिमें हो थी विषयवासनाओंमें नहीं थी, उनकी शक्ति शीलव्रतकी रक्षाके लिए ही थी निर्बलोंको पीड़ित करनेके लिए नहीं थी और उनकी रुचि प्रोषधोपवास धारण करनेमें ही थी वेश्या आदि विषयके साधनोंमें नहीं थी ॥५७॥

उस गन्धिल देशमें श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्यका उदय रहता है इसलिए वहाँ मिथ्यादृष्टियोंका उद्भव कभी नहीं होता जैसे कि दिनमें सूर्यका उदय रहते हुए जुगनुओंका उद्भव नहीं होता ॥५८॥ उस देशके बाग फलशाली वृक्षोंसे हमेशा शोभायमान रहते हैं तथा उनमें जो कोकिलाएँ मनोहर शब्द करती हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे बाग उन शब्दोंके द्वारा पथिकोंको बुला ही रहे हैं ॥५९॥ उस देशके सीमा प्रदेशोंपर हमेशा फलोंसे शोभायमान धान आदिके खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गादि फलोंसे शोभायमान धार्मिक क्रियाएँ ही हों ॥६०॥ उस देशमें धानके खेतोंके समीप आकाशसे जो तोताओंकी पंक्ति नीचे उतरती है उसे खेती

१. मुक्ता भवन्ति । २. विदेहाख्यार्थभागियम् स०, द० । विदेहान्वर्थभागियम् म० । विदेहान्वर्थभागियम् प० । ३. देशे । ४. बालकाः । ५. अर्थ श्लोकः 'म' पुस्तके नास्ति । ६. अनुमीयन्ते ज्ञायन्ते । ७. अन्ताश्लिषकान्तम् अत्यन्तम् अत्यन्ते भवा आत्यन्तिकी । ८. मरकतरत्नम् ।

मन्दगन्धवहाधूताः^१ शाखिवप्राः फलानताः । कृतसंराविणो यत्र^२ छोरकुर्यन्तीव पक्षिणः ॥६२॥

यत्र पुण्ड्रेषुवाटेषु यन्त्रचीकारहारिषु । पिबन्ति पथिका स्त्रैरं रसं^३ सुरसमैक्षवम् ॥६३॥

यत्र कुक्कुटसंघात्या^४ आग्राः संसक्तसीमकाः । सीमानः सस्यसंपत्ता^५ निःफलाक्षिफलोदयाः^६ ॥६४॥

कलासमाप्तिषु प्रायः कलान्तरपरिग्रहः^७ । गुणाधिरोपणौद्धत्यं यत्र^८ चापेषु धन्विनाम् ॥६५॥

मुनीनां यत्र क्षैथिष्यं गात्रेषु न समाधिषु^९ शिथिलः^{१०} कारणप्रसंगे^{११} भूतप्रसंगे^{१२} न जातुलितः^{१३} ॥६६॥

^{१४}कुलापेषु शकुन्तानां यत्रोद्वासध्वनिः^{१५} स्थितः ।^{१६} वर्णसंकरवृत्तान्तश्चित्रादन्यत्र न क्वचित् ॥६७॥

यत्र भङ्गस्तरङ्गेषु गजेषु मदविक्रिया^{१७} । दण्डपातस्थमञ्जेषु सरस्सु^{१८} जलसंग्रहः ॥६८॥

की रक्षा करनेवाली गोपिकाएँ ऐसा मानती हैं मानो हरे-हरे मणियोंका बना हुआ तोरण ही उतर रहा हो ॥ ६१ ॥ मन्द-मन्द हवासे हिलते हुए फूलोंके बोलसे झुके हुए वायुके आघातसे झट्ट करते हुए वहाँके धानके खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो पक्षियोंको ही उड़ा रहे हों ॥ ६२ ॥ उस देशमें पथिक लोग यन्त्रोंके ची-ची शब्दोंसे शोभायमान पौड़ों तथा ईखोंके खेतोंमें जाकर अपनी इच्छानुसार ईखका मीठा-मीठा रस पीते हैं ॥ ६३ ॥ उस देशके गाँव इतने समीप बसे हुए हैं कि मुर्गा एक गाँवसे दूसरे गाँव तक सुखपूर्वक उड़कर जा सकता है, उनकी सीमाएँ परस्पर मिली हुई हैं तथा सीमाएँ भी धानके ऐसे खेतोंसे शोभायमान हैं जो थोड़े ही परिश्रमसे फल जाते हैं ॥ ६४ ॥ उस देशके लोग जब एक कलाको अच्छी तरह सीख चुकते हैं तभी दूसरी कलाओंका सीखना प्रारम्भ करते हैं अर्थात् वहाँके मनुष्य हर एक विषयका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं तथा उस देशमें गुणाधिरोपणौद्धत्य-गुण न रहते हुए भी अपने-आपको गुणी बतानेकी उण्डता नहीं है ॥ ६५ ॥ उस देशमें यदि मुनियोंमें शिथिलता है तो शरीरमें ही है अर्थात् लगातार उपवासादिके करनेसे उनका शरीर ही शिथिल हुआ है समाधि-ध्यान आदिमें नहीं है । इसके सिवाय निग्रह (दमन) यदि है तो इन्द्रियसमूहमें ही है अर्थात् इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्ति रोकी जाती है प्राणिसमूहमें कभी निग्रह नहीं होता अर्थात् प्राणियोंका कोई घात नहीं करना ॥ ६६ ॥ उस देशमें उद्वासध्वनि (कोलाहल) पक्षियोंके घोंसलोंमें ही है अन्यत्र उद्वासध्वनि—(परदेशगमन सूचक शब्द) नहीं है । तथा वर्णसंकरता (अनेक रंगोंका मेल) चित्रोंके सिवाय और कहीं नहीं है—वहाँके मनुष्य वर्णसंकर-व्यभिचारजात नहीं हैं ॥ ६७ ॥ उस देशमें यदि भंग शब्दका प्रयोग होता है तो तरंगोंमें ही (भंग नाम तरंग-लहरका है) होता है वहाँके मनुष्योंमें कभी भंग (बिनाश) नहीं होता । मद-तरुण हाथियोंके गण्डस्थलसे झरनेवाला तरल पदार्थ—का विकार हाथियोंमें होता है

१. क्षेत्राणि । २. समन्तात् कृतशब्दाः । ३. उड्डापयन्तीव । ४. सुस्वादुम् । ५. संपतितुं योग्या । ६. -लाङ्गिकलो-स० । ७. फलं निरीशमञ्चतीति कलाञ्ची स कासो फलोदयश्च तस्मान्निष्क्रान्ता इति । अकृष्टपञ्चा इत्यर्थः । “अथो फलम् । निरीशं कुटर्कं फालः कृषिको लाङ्गलं हलम्” इत्यमरः । फलमिति लाङ्ग-लाग्रस्थायोविशेषः । ८. कलाविशेषः कलान्तरस्वीकारश्च “कला शिल्पे कालभेदेऽपि” इत्यभिधानात् । ९. गुणस्य मौर्व्या अधिरोपणे औद्धत्यं गर्वः पक्षे गुणाः शौर्यादयः । १०. भूतः जीवः । ११. पक्षिगृहेषु “कुलायो मीडमस्त्रियाम्” इत्यभिधानात् । कलापेषु अ० । १२. हियनशब्दः । “उद्वासनप्रमथनक्रयनोक्तासमानि च” इत्यभिधानात् ; पक्षिध्वनिश्च, अथवा क्षून्यमिति शब्दश्च अग्रावासश्च । १३. वर्णसंकरवृत्तान्तः इति पाठे सुगमम्, अथवा वर्णसंस्कारवृत्तान्तः इत्यत्र वर्णश्च संस्कारश्च वृत्तं च इति वर्णसंस्कारवृत्तानि तेषामन्तो नापः; पक्षे वर्णस्य संस्कारस्तस्य वृत्तान्तो वार्ता । १४. विकारः । १५. पक्षे जडसंग्रहः ।

१स्वर्गावाससमाः पुथी २निगमाः ३कुरुसंनिभाः । विमानस्पृष्टिनो मेहाः प्रजा यत्र सुरोपमाः ॥६९॥
 दिग्मागस्पृष्टिनो नागा ४नार्यो दिक्कव्यकोपमाः । दिक्पाला इव भूपाला यत्राविष्कृतदिग्जयाः ॥७०॥
 ५जनतापच्छिदो यत्र वाप्यः स्वच्छाम्बुसंभृताः । भान्ति तीरतरुच्छायानिरुद्धोप्या ६बहुप्रपाः ॥७१॥
 यत्र ७कूपतटाकाद्याः कामं सन्तु ८जलाशयाः । तथापि जनतातापं हरन्ति रसवत्तया ॥७२॥
 ९विपक्वा ग्राहवत्पश्य स्वच्छाः कुटिलवृत्तयः । अलङ्घ्याः सर्वभोग्याश्च विचित्रा यत्र निम्नगाः ॥७३॥

वहाँके मनुष्योंमें मद् अहंकारका विकार नहीं होता है। दण्ड (कमलपुष्पके भीतरका वह भाग जिसमें कि कमलगट्टा लगता है) की कठोरता कमलोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें दण्ड-पारुष्य नहीं है—उन्हें कड़ी सजा नहीं दी जाती। तथा जलका संग्रह तालाबोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें जल-संग्रह (ड और लमें अभेद होनेके कारण जड़-संग्रह—मूर्ख मनुष्योंका संग्रह) नहीं होता ॥ ६८ ॥ उस देशके नगर स्वर्गके समान हैं, गाँव देशकुरु—उत्तरकुरु भोग-भूमिके समान हैं, घर स्वर्गके विमानोंके साथ स्पर्धा करनेवाले हैं और मनुष्य देवोंके समान हैं ॥६९॥ उस देशके हाथी ऐरावत आदि दिग्गजोंके साथ स्पर्धा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ दिक्कुमारियोंके समान हैं और दिग्विजय करनेवाले राजा दिक्पालोंके समान हैं ॥७०॥ उस देशमें मनुष्योंका सन्ताप दूर करनेवाली तथा स्वच्छ जलसे भरी हुई अनेक बावड़ियाँ शोभायमान हो रही हैं। किनारेपर लगे हुए वृक्षोंकी छायासे उन बावड़ियोंमें गरमीका प्रवेश बिलकुल ही नहीं हो पाता है तथा वे प्याऊओंके समान जान पड़ती हैं ॥ ७१ ॥ उस देशके कुएँ, तालाब जलसे लोगोंका सन्ताप दूर करते हैं ॥७२॥ उस देशकी नदियाँ ठीक वेश्याओंके समान शोभायमान होती हैं। क्योंकि वेश्याएँ जैसे विपक्वा अर्थात् विशिष्ट पक्क—पापसे सहित होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विपक्वा अर्थात् कीचड़रहित हैं। वेश्याएँ जैसे ग्राहवती—धनसञ्चय करनेवाली होती हैं उसी तरह नदियाँ भी ग्राहवती—भगरमच्छोंसे भरी हुई हैं। वेश्याएँ जैसे ऊपरसे स्वच्छ होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी स्वच्छ—साफ हैं। वेश्याएँ जैसे कुटिल-वृत्ति—मायाचारिणी होती हैं उसी तरह नदियाँ भी कुटिलवृत्ति—टेढ़ी बहनेवाली हैं। वेश्याएँ जैसे अलङ्घ्य होती हैं—विषयी मनुष्यों—द्वारा बशीभूत नहीं होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अलङ्घ्य हैं—गहरी होनेके कारण तैरकर पार करने योग्य नहीं हैं। वेश्याएँ जैसे सर्वभोग्या—ऊँच—नीच सभी मनुष्योंके द्वारा भोग्य होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी सर्वभोग्य—पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीवोंके द्वारा भोग्य हैं। वेश्याएँ जैसे विचित्रा—अनेक वर्णकी होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विचित्रा—अनेक वर्ण—अनेक रंगकी अथवा विविध प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त हैं और वेश्याएँ जैसे निम्नगा—नीच पुरुषोंकी ओर जाती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी निम्नगा—ढालू जमीनकी ओर जाती हैं ॥७३॥ उस देशमें तालाबोंके किनारे कण्ठमें मृणालका

१. स्वर्गभूमिः । २. वणिक्पथाः । “वेदनगरवणिक्पथेषु निगमः” हर्यमिश्रानात् । ३. कुरुः उत्तम-भोगभूमिः । ४. नागा कन्या दिक्—म० । ५. अयं बलोको ‘म’पुस्तके नास्ति । ६. पानीयशालिका-सदृशाः । सुपः प्राक्बहुर्बेति पदपरिसमाप्त्यर्थो सुपः प्राक् बहुप्रत्ययो भवति । ७. —तटागाद्याः अ० । ८. धाराः जडमुद्रय इति ध्वनिः । ९. चित्रार्थपक्षे ग्राहवदः स्वीकारार्थः । तथाहि पक्कयुक्तानामियं स्वमिक्षितस्य ग्राहः स्वीकारो घटने एता मयस्तु विपक्वा अपि ग्राहवत्य इति चित्रम्, उत्तरत्र चित्रार्थः सुगमः, अथवा विपक्वा निष्पापाः ग्राहवत्यः स्वीकारवत्य इति विरोधः । विचित्राः नानास्वभावाः ।

सरसां तीरदेशेषु स्तं हंसा विकुर्वते । यत्र कण्ठविलास्यनमृणालशकलाकुलाः ॥७४॥
 वनेषु वनमातङ्गा मदमीलितलोचनाः । अमन्यविरतं यस्मिन्नाह्वातुमिव दिग्गजान् ॥७५॥
 यत्र शृङ्गाप्रसंगान्कर्दमा दुर्दमा भृशम् । उत्पन्नन्ति वृषा दसाः स्थलेषु स्थलपद्मिनीम् ॥७६॥
 जैनालयेषु संगीतपटङ्गाभ्योदनिस्स्वनैः । यत्र नृत्यन्त्यकालेऽपि शिखिनः प्रोन्मदिष्णवः ॥७७॥
 गवां गणा यथाकालमाप्तगर्भाः कृतस्वनाः । पोषयन्ति पथोमिः स्वैर्जनं यत्र घनैः समाः ॥७८॥
 बलाकालिपताकाङ्क्षाः स्तनिता मन्दबृंहिताः । जीमूता यत्र वर्धन्तो भान्ति मत्स्य इव द्विषाः ॥७९॥
 न स्पृशन्ति कराबाधा यत्र राजन्वतीः प्रजाः । सदा सुकालसाक्षिभ्यान्नेतयो नाप्यनोतयः ॥८०॥
 विषयस्यास्य मध्येऽस्ति विजयार्धो महाचलः । रौप्यः स्वैरांशुभिः शुभ्रैर्हंससिचि कुलाचलान् ॥८१॥
 यो योजनानां पञ्चामां विंशतिं धरणीतलान् । उच्छ्रितः शिखरस्तुर्गैर्विवं स्पृष्टुमिषोद्यतः ॥८२॥
 द्विस्ताङ्ग्याद् विस्तृतो मूलात् प्रभृत्यादशयोजनम् । मध्ये त्रिशत्पृथुर्गोऽग्रे दशयोजनविस्तृतः ॥८३॥
 उच्छ्रायस्य तुरीयांशमवगादश्च यः क्षिती । गन्धिलांशविष्कम्भनानवृण्ड इषायतः ॥८४॥

टुकड़ा लग जानेसे व्याकुल हुए हैं अनेक प्रकारके मनोहर शब्द करते हैं ॥७४॥ उस देशके वनोंमें मदसे निमीलित नेत्र हुए जंगली हाथी निरन्तर इस प्रकार घूमते हैं मानो दिग्गजोंको ही बुला रहे हों ॥७५॥ जिसके सींगोंकी नोकपर कीचड़ लगी हुई तथा जो बड़ी कठिनाईसे वशमें किये जा सकते हैं ऐसे गर्वीले बैल उस देशके खेतोंमें स्थलकमलिनियोंको उखाड़ा करते हैं ॥७६॥ उस देशके जिनमन्दिरोंमें संगीतके समय जो तबला बजते हैं, उनके शब्दोंको मेघका शब्द समझकर हर्षसे उन्मत्त हुए मयूर असमयमें ही-वर्षा ऋतुके बिना ही नृत्य करते रहते हैं ॥७७॥ उस देशकी गायें यथासमय गर्भ धारण कर मनोहर शब्द करती हुई अपने पय-वृधसे सबका पोषण करती हैं, इसलिए वे मेघके समान शोभायमान होती हैं, क्योंकि मेघ भी यथासमय जलरूप गर्भको धारण कर मनोहर गर्जना करते हुए अपने पय-जलसे सबका पोषण करते हैं ॥७८॥ उस देशमें बरसते हुए मेघ मदोन्मत्त हाथियोंके समान शोभायमान होते हैं । क्योंकि हाथी जिस प्रकार पत्ताकाओंके सहित होते हैं उसी प्रकार मेघ भी बलाकाओंकी पंक्तियोंसे सहित हैं, हाथी जिस प्रकार गम्भीर गर्जना करते हैं उसी प्रकार मेघ भी गम्भीर गर्जना करते हैं और हाथी जैसे मद बरसाते हैं वैसे ही मेघ भी पानी बरसाते हैं ॥७९॥ उस देशमें सुयोग्य राजाकी प्रजाको कर (टैक्स) की बाधा कभी छू भी नहीं पाती तथा हमेशा सुकाल रहनेसे वहाँ न अतिवृष्टि आवे इतियाँ हैं और न किसी प्रकारकी अनीतियाँ ही हैं ॥८०॥ ऐसे इस गन्धिल देशके मध्य भागमें एक विजयार्ध नामका बड़ा भारी पर्वत है जो चाँदीमय है । तथा अपनी सफेद किरणोंसे कुलाचल पर्वतोंकी हँसी करता हुआ-सा मालूम होता है ॥८१॥ वह विजयार्ध पर्वत धरातलसे पचीस योजन ऊँचा है और ऊँचे शिखरोंसे ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोकका स्पर्श करनेके लिए ही उद्यत हो ॥८२॥ वह पर्वत मूलसे लेकर दश योजनकी ऊँचाई तक पचास योजन, बीचमें तीस योजन और ऊपर दश योजन चौड़ा है ॥८३॥ वह पर्वत ऊँचाईका एक चतुर्थांश भाग अर्थात् सवा छह योजन जमीनके

१. अस्य श्लोकस्य पूर्वाद्धोत्तरार्द्धयोः क्रमभ्यत्ययो जातः 'म०' पुस्तके । २. स्वर्धी कर्तुम् । ३. दर्पा-विष्टः । ४. प्रोन्माद्यन्ति इत्येवंशीलाः । भूवृध्वाजसहचररुचापत्रपालकन्दनिरामुद्रप्रजनोत्पथोत्पदोन्मादिष्णुरिति सूत्रेण उत्पूर्वोन्मादादेर्वातो ताच्छीत्ये णाच् प्रत्ययो भवति । ५. कुलाचलम् स०, ल० । ६. हो वारी द्विः, द्विस्ताङ्ग्याद् विस्तृतो मूलात्प्रभृत्यादशयोजनम् । मूलादारभ्य दशयोजनवर्धन्तं तुङ्गत्वात् पञ्चविंशतियोजनप्रमिताद् द्विवारं विस्तृतः पञ्चाशत्योजनप्रमिताविस्तार इत्यर्थः ।

दशयोजनविस्तीर्ण-श्रेणीद्वयसमाश्रयान् । यो धत्ते खेचराश्रयान्^१ सुरवेष्मापहासिनः ॥८५॥

^२खेचरीजनसंचारसंक्रान्तपदवाचकैः । रक्ताम्बुजोपहारश्रीर्यत्र नित्यं चितन्यते ॥८६॥

अमेघशक्तिरक्षयः^३ सिद्धविधैरुपासितः^४ । दधदात्मवित्तिकी^५ शुद्धिं सिद्धारमेव विभाति यः^६ ॥८७॥

योऽनादिकालसंबन्धिषुशक्तिसमम्भवात् । भव्याःमनिर्विशेषोऽपि^७ दीक्षायोगपराङ्मुखः ॥८८॥

विद्याधरैः सदाश्रयो निर्मलतामा^८ सनातनः ।^९ सुनिश्चितप्रमाणो यो धत्ते जैनागमस्थितिम् ॥८९॥

भजन्येकाकिनो नित्यं^{१०} वीतसंसारभीतयः । प्रबुद्धतत्त्वरा^{११} धीरा वं सिद्धा इव चारणाः ॥९०॥

भीतर प्रविष्ट है तथा गन्धिला देशकी चौड़ाईके बराबर लम्बा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो उस देशको नापनेका मापदण्ड ही हो ॥८४॥ उस पर्वतके ऊपर दश-दश योजन चौड़ी दो श्रेणियाँ हैं जो उत्तर श्रेणि और दक्षिण श्रेणिके नामसे प्रसिद्ध हैं । उनपर विद्याधरोंके निवासस्थान बने हैं जो अपने सौन्दर्यसे देवोंके विमानोंका भी उपहास करते हैं ॥८५॥ विद्याधर स्त्रियोंके इधर-उधर घूमनेसे उनके पैरोंका जो महावर उस पर्वतपर लग जाता है उससे वह ऐसा शोभायमान होता है मानो उसे हमेशा लाल-लाल कमलोंका उपहार ही दिया जाता हो ॥८६॥ उस पर्वतकी शक्तिको कोई भेदन नहीं कर सकता, वह अविनाशी है, अनेक विद्याधर उसकी उपासना करते हैं तथा स्वयं अत्यन्त निर्मलताको धारण किये हुए है, इसलिए सिद्ध परमेष्ठीकी आत्माके समान शोभायमान होता है क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीकी आत्मा भी अमेघ शक्तिकी धारक है, अविनाशी है, सम्यग्ज्ञानी जीवोंके द्वारा सेवित है और कर्ममल कलंकसे रहित होनेके कारण स्थायी विशुद्धताको धारण करती है—अत्यन्त निर्मल है ॥८७॥ अथवा यह पर्वत भव्यजीवके समान है क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीव अनादिकालसे शुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है, उसी प्रकार वह पर्वत भी अनादिकालसे शुद्धि अर्थात् निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है । अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वत दीक्षा धारण नहीं कर सकता जब कि भव्य जीव दीक्षा धारण कर तपस्या कर सकता है ॥८८॥ वह पर्वत हमेशा विद्याधरोंके द्वारा आराध्य है—विद्याधर उसकी सेवा करते हैं, स्वयं निर्मल रूप हैं, सनातन हैं—अनादिसे चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है—लम्बाई चौड़ाई आदिके निश्चित प्रमाणसे सहित है, इसलिए ठीक जैनागमकी स्थितिको धारण करता है, क्योंकि जैनागम भी विद्याधरोंके द्वारा—सम्यग्ज्ञानके धारक विद्वान् पुरुषोंके द्वारा आराध्य हैं—बड़े-बड़े विद्वान् उसका ध्यान, अध्ययन आदि करते हैं, निर्मल रूप हैं—पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित है, सनातन है—द्रव्य दृष्टिकी अपेक्षा अनादिसे चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है—युक्तिसिद्ध प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणोंसे प्रसिद्ध है ॥८९॥ उस पर्वतपर चारण ऋद्धिके धारक मुनि हमेशा सिंहके समान विहार करते रहते हैं क्योंकि जिस प्रकार सिंह अकेला होता है उसी प्रकार वे मुनि भी एकाकी (अकेले) रहते हैं, सिंहको जैसे इधर-उधर घूमनेका भय नहीं रहता वैसे ही उन मुनियोंको भी इधर-उधर घूमने अथवा चतुर्गतिरूप संसारका भय नहीं होता, सिंहके नख जैसे बड़े होते हैं उसी

१. वेदमोप-द०, स०, ल० । २. खचरी-प०, म०, द० । ३. अलक्तकः । ४. म क्षीयत इत्यमरः । ५. विद्याधरैः, पक्षे सम्यग्ज्ञानिभिः । ६. आराधितः । ७. अत्यन्ते भवा आत्यन्तिकी । ८. शुद्धित्वेन शक्तिः तस्याः संबन्धात् । उक्तं च भव्यपक्षे—“शुर्व्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पावयापाक्यशक्तिवद्” इति पर्वतपक्षे सुगमम् । ९. सदृशः । १०. नित्यः । ११. पक्षे सुनिश्चितानि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि यस्मिन् । १२. पक्षे संभ्रमणम् । १३. मनीषिणः ।

सर्गविषय :- अष्टपदी एवं सुविनिर्दिष्टाः च ॥ ११॥

यो वितत्य पृथुश्रेणीद्वयं पक्षद्वयोपमम् । समुत्पित्सुरिवामाति नाकलक्ष्मीदिदक्षया ॥११॥
 यस्य सानुषु रम्येषु किन्नराः सुरपद्मगाः । रंरम्यमाणाः सुचिरं विस्मरन्ति निजालयान् ॥१२॥
 यदीया राजर्त्तामितीः शरन्मेवावली भिता । १ गज्यते शोकरासरैः स्तनितैश्चलितैरपि ॥१३॥
 यस्तुङ्गैः शिखरैश्चे देवावामान् स्फुरन्मणीन् । चूडामणीनिषोदघ्नान् सिद्धायतनपूर्वकान् ॥१४॥
 वधास्युच्चैः स्वकूटानि मुकुटानीव भूमिभृन् । परार्ध्वरत्नचित्राणि यः श्लाघ्यानि सुरासुरैः ॥१५॥
 गुहाद्वयं च यो धत्ते हृदद्वयकवादकम् १ । स्वसारभननिक्षेपमहादुर्गमिषायतम् ॥१६॥
 उत्संगादेश्च नीलाद्रेर्गङ्गासिन्धू महापगे । विशुद्धस्वादलङ्घ्यस्य यस्य पादान्तमाश्रिते ॥१७॥
 यस्ततोपास्तसं रुदवनराजीपरिष्कृतः । नीलाम्बरधरस्योच्चैर्वत्से लाङ्गलिनः श्रियम् ॥१८॥
 वनवेदीं समुत्तुङ्गां यो विभर्त्यभितो वनम् २ । रामणीयकसीमानमिव केनापि निर्मिताम् ॥१९॥
 संवरलचरोपादन्पुनरावकर्षकः ३ । यत्र गन्धवद्गो वाति मन्दं ४ मन्दारवीथिषु ॥२०॥
 यः पूर्वापरकोटीभ्यां दिक्कूटानि विवद्वयन् ५ । स्वगतं वक्ति माहात्म्यं ६ जगद्गुरुभरक्षमम् ॥२१॥

प्रकार दीर्घ तपस्याके कारण उन मुनियोंके नख भी बड़े होते हैं और सिंह जिस प्रकार धीर होता है उसी प्रकार वे मुनि भी अत्यन्त धीर वीर हैं ॥१८॥ वह पर्वत अपनी दोनों श्रेणियोंसे ऐसा मालूम होता है मानो दोनों पंखे फैलाकर स्वर्गलोककी शोभा देखनेकी इच्छासे उड़ना ही चाहता हो ॥१९॥ उस पर्वतके मनोहर शिखरोंपर किन्नर और नागकुमार जातिके देव चिरकाल तक क्रीड़ा करते-करते अपने घरोंको भी भूल जाते हैं ॥२०॥ उस पर्वतकी रजतमयी सफेद दीवालोंने आश्रय लेनेवाले सरदृश्रतुके श्वेत बादलोंका पता लोगोंको तब होता है जब कि वे छोटी-छोटी बूंदोंसे बरसते हैं, गरजते हैं और इधर-उधर चलने लगते हैं ॥२१॥ वह पर्वत अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों-द्वारा देवोंके अनेक आवासोंको धारण करता है । वे आवास चमकीले मणियोंसे युक्त हैं और उस पर्वतके चूणामणिके समान मालूम होते हैं । उन शिखरोंपर अनेक सिद्धायतन (जैनमन्दिर) भी बने हुए हैं ॥२२॥ वह विजयार्धपर्वतरूपी राजा मुकुटोंके समान अत्यन्त ऊँचे कूटोंको धारण करता है । वे मुकुट अथवा कूट महामुख्य रत्नोंसे चित्र-विचित्र हो रहे हैं तथा सुर और असुर उनकी प्रशंसा करते हैं ॥२३॥ वह पर्वत देवीप्यमान वज्रमय कपाटोंसे युक्त दरवाजोंको धारण करता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो अपने सारभूत धनको रखनेके लिए लम्बे-चौड़े महादुर्ग-किलेको धारण कर रहा हो ॥२४॥ वह पर्वत अत्यन्त विशुद्ध और अलङ्घ्य है इसलिए ही मानो गङ्गा सिन्धु नामकी महानदियोंने नीलगिरिकी गोदसे (मध्य भागसे) आकर उसके पादों-चरणों-अथवा समीपवर्ती शाखाओंका आश्रय लिया है ॥२५॥ वह पर्वततटके समीप खड़े हुए अनेक वनोंसे शोभायमान है इसलिए नीलवस्त्रको पहने हुए बलभद्रकी उत्कृष्ट शोभाको धारण कर रहा है ॥२६॥ वह पर्वत वनके चारों ओर बनी हुई ऊँची वनवेदीको धारण किये हुए है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो किसीके द्वारा बनायी गयी सुन्दर सोमा अथवा सौन्दर्यकी अवधिको ही धारण कर रहा हो ॥२७॥ उस पर्वतपर कल्पवृक्षोंके मध्यमार्गसे सुगन्धित वायु हमेशा धीरे-धीरे बहता रहता है, उस वायुमें इधर-उधर घूमनेवाली विद्याधरियोंके नूपुरोंका मनोहर शब्द भी मिला होता है ॥२८॥ वह पर्वत अपनी पूर्व और पश्चिमकी कोटियोंसे दिशाओंके किनारों-

१. विस्तारं कृत्वा । २. समुत्पित्तुमिच्छुः । ३. प्रकटीक्रियते । ४. चलनः । ५. राजा । ६. कपाटकम् अ०, व०, स०, प०, ल० । ७. समुत्पन्न । ८. वनस्थ अभितः । ९. आकर्षकः । १०. कल्पवृक्ष । ११. जगती महाभरक्षमम् ।

'अनायनो' यदि व्योम्नि व्यवस्थित्यन हेलया । तदा जगत्कुटीमध्ये 'समसास्यत' क्व सोऽचलः ॥१०२॥
 सोऽचलस्तुङ्गवृत्तिश्चाद् विशुद्धैस्त्वान्महोच्छ्रयैः । कुलाचलैरिव स्पर्धां शिखरैः कर्तुं मुद्यतः ॥१०३॥
 'तस्यास्त्युत्तरतः' श्रेण्यामलकंति परा पुरी । सालकैः 'खचरीवक्त्रैः' साकं हसति या विधुम् ॥१०४॥
 सा तस्यां नगरी भाति श्रेण्यां प्राप्तमहोदया । शिलायां पाण्डुकाख्यायां जैनीवामिषवक्रिया ॥१०५॥
 महत्यां 'सकृद्विद्यायां' प्रक्रियेवातिविस्तृता । भगवद्विष्यभाषायां नानाभाषात्मतेव या ॥१०६॥
 या धत्ते सालकुलान्गोपुरास्तुष्टिर्लम्बीवेदिनीवक्त्रैः 'अनेकैः' शिखरैः ॥१०७॥
 यत्स्वातिका भ्रमद्गुह्यचिराञ्जनरचितैः । पथांजनेशैरामाति 'वीक्ष्यमाणैव' खेचरान् ॥१०८॥
 शोभायै केवलं यस्याः सालः 'सपरिखावृत्तिः' । तत्पालयन्गभूपालभुजरक्षाधृताः प्रजाः ॥१०९॥
 यस्याः सौधावलीशृङ्गसंगिनी केतुमालिका । कैलासकूटनिपतङ्गसमालां विलङ्घते ॥११०॥
 गृहेषु दीर्घिका 'यस्यां' कलहंसविकृजितैः । 'सानसं' व्याहसन्तीव प्रफुल्लाम्भोहहश्रियः ॥१११॥

का मर्दन करता हुआ ऐसा मालूम होता है मानो जगत्के भारीसे भारी भारको धारण करने-
 में सामर्थ्य रखनेवाले अपने माहात्म्यको ही प्रकट कर रहा हो ॥१०१॥ यदि यह पर्वत
 तिर्यक् प्रदेशोंमें लम्बा न होकर क्रीडामात्रसे आकाशमें ही बढ़ा जाता तो जगत्रूपी कुटीमें कहाँ
 समाता ? ॥१०२॥ वह पर्वत इतना ऊँचा और इतना निर्मल है कि अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों-
 द्वारा कुलाचलोंके साथ भी स्पर्धाके लिए तैयार रहता है ॥१०३॥ ऐसे उस विजयार्थ पर्वतको
 उत्तर श्रेणीमें एक अलका नामकी श्रेष्ठ पुरी है जो केशवाली विद्याधरियोंके मुखके साथ-
 साथ चन्द्रमाको भी हँसी उड़ाती है ॥१०४॥ बड़े भारी अभ्युदयको प्राप्त वह नगरी उस उत्तर-
 श्रेणीमें इस प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार कि पाण्डुक शिलापर जिनेन्द्रदेवकी अभिषेक-
 क्रिया सुशोभित होती है ॥१०५॥ वह अलकापुरी किसी बड़े व्याकरणपर बनी हुई प्रक्रियाके
 समान अतिशय विस्तृत है तथा भगवत् जिनेन्द्रदेवकी दिव्य ध्वनिमें जिस प्रकार नाना भाषा-
 त्मता है अर्थात् नाना भाषारूप परिणमन करनेका अतिशय विश्रमान है उसी प्रकार उस
 नगरीमें भी नाना भाषात्मता है अर्थात् नाना भाषाएँ उस नगरीमें बोली जाती हैं ॥१०६॥
 वह नगरी ऊँचे-ऊँचे गोपुर-दरवाजोंसे सहित अत्यन्त उन्नत प्राकार (कोट) को धारण
 किये हुए है जिससे ऐसी जान पड़ती है मानो वेदिकाके यलयको धारण किये हुए जम्बू-
 द्वीपकी स्थली ही हो ॥१०७॥ उस नगरीकी परिखामें अनेक कमल फूले हुए हैं और उन
 कमलोंपर चारों ओर भौरे फिर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो वह परिखा
 इधर-उधर घूमते हुए भ्रमररूपी सुन्दर अंजनसे सुशोभित कमलरूपी नेत्रोंके द्वारा वहाँके
 विद्याधरोंको देख रही हो ॥१०८॥ उस नगरीके चारों ओर परिखासे घिरा हुआ जो
 कोट है वह केवल उसकी शोभाके लिए ही है क्योंकि उस नगरीका पालन करने-
 वाला विद्याधर नरेश अपनी मुजाओंसे ही प्रजाकी रक्षा करता है ॥१०९॥ उस नगरी-
 के बड़े-बड़े पक्के मकानोंके शिखरोंपर फहराती हुई पताकाएँ, कैलासके शिखरपर
 उतरती हुई हंसमालाको तिरस्कृत करती हैं ॥११०॥ उस नगरीके प्रत्येक घरमें फूले हुए
 कमलोंसे शोभायमान अनेक बापिकाएँ हैं । उनमें कलहंस (वत्सल) पक्षी मनोहर शब्द करते
 हैं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो मानसरोवरकी हँसी ही कर रही हों ॥१११॥

१. अदीर्घः । २. यदा अ०, स०, द० । ३. माङ् माने लृङ् । ४. विशुद्धित्वात् म०, प०, द०, ल० ।
 ५. सतोऽस्त्यु-अ०, स० । ६. उत्तरस्याम् । ७. खचरी म०, द० । ८. व्याकरणशास्त्रे । ९. वीक्ष्यमाणैव म०,
 प०, द०, ल० । १०. सपरिखावृत्तः स० । ११. यस्याः अ०, स०, द०, प०, म० । १२. मानसनाम सरोवरम् ।

स्वच्छाम्बुवसना धाप्यो नीलोत्पलवर्तसकाः^१ । भाम्नि पद्मानना यत्र लसत्कुवलयक्षणाः ॥११२॥

यत्र भर्त्सा न सत्यवज्ञा नाङ्गनाः श्लोकवर्जिताः । नानारामा निवेशाश्च नारामाः फलवर्जिताः ॥११३॥

विनाहृत्युभवा आशु जायन्ते न जमोत्सवाः । विना संन्यासविधिना मरणं यत्र नाङ्गिनाम् ॥११४॥

सस्वाम्यकृष्टपद्मानि यत्र निरयं चकासति । प्रजानां सुकृतानीव^२ वितरन्ति महत्फलम् ॥११५॥

यत्रोद्यानेषु पायवन्ते^३ पयोदैर्बलपावपाः । स्तनन्धया ह्वाप्राप्तस्थेमानी^४ यत्नरक्षिताः ॥११६॥

महाकषाधिष्व सध्वाने स्फुरद्गन्धे वणिकपथे । विचरन्ति जना यस्यां^५ मत्स्या इव समन्ततः ॥११७॥

पद्मेष्वेव विकोशत्वं^६ प्रमदास्वेव भीरुता^७ । वृन्तच्छदेवधरता^८ यत्र^९ निश्चिंशतामिश्र ॥११८॥

धाष्वाकरप्रह्वी यस्यां विधाहेष्वेव केवलम् । मालास्वेव परिमलानिर्दिशेष्वेव बन्धनम् ॥११९॥

जगैरसुसुकैर्विद्यं^{१०} वयस्कान्तं^{११} सपुष्पकम् ।^{१२} बाणाङ्कितं यदुद्यानं वधूवरमिव प्रियम् ॥१२०॥

उस नगरीमें अनेक बापिकाएँ स्त्रियोंके समान शोभायमान हो रही हैं क्योंकि स्वच्छ जल ही उनका वस्त्र है, नील कमल ही कर्णफूल है, कमल ही मुख है और शोभायमान कुवलय ही नेत्र हैं ॥ ११२ ॥ उस नगरीमें कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो अज्ञानी हो, कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो शीलसे रहित हो, कोई ऐसा धर नहीं है जो बगोचेसे रहित हो और कोई ऐसा बगोचा नहीं है जो फलोंसे रहित हो ॥ ११३ ॥ उस नगरीमें कभी ऐसे उत्सव नहीं होते जो जिन-पूजाके बिना ही किये जाते हों तथा मनुष्योंका ऐसा मरण भी नहीं होता जो संन्यासकी विधिसे रहित हो ॥ ११४ ॥ उस नगरीमें धानके ऐसे खेत निरन्तर शोभायमान रहते हैं जो बिना बोये-बखरे ही समयपर पक जाते हैं और पुण्यके समान प्रजाको महाफल देते हैं ॥ ११५ ॥ उस नगरीके उपवनोंमें ऐसे अनेक छोटे-छोटे वृक्ष (पीचे) हैं जिन्हें अभी पूरी स्थिरता-दृढ़ता प्राप्त नहीं हुई है । अन्य लोग उनकी यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं तथा बालकोंको भौंति उन्हें पब-जल (पक्षमें दूध) पिलाते हैं ॥ ११६ ॥ उस नगरीके बाजार किसी महासागरके समान शोभायमान हैं क्योंकि उनमें महासागरके समान ही शब्द होता रहता है, महासागरके समान ही रत्न चमकते रहते हैं और महासागरमें जिस प्रकार जलजन्तु सब ओर घूमते रहते हैं उसी प्रकार उनमें भी मनुष्य घूमते रहते हैं ॥ ११७ ॥ उस नगरीमें विकोशत्व-(खिल जानेपर कुङ्कुमल-बौद्धीका अभाव) कमलोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें विकोशत्व-(खजानोंका अभाव) नहीं होता । भीरुता केवल स्त्रियोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें नहीं, अधरता ओठोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें अधरता-नीचता नहीं है । निश्चिंशता-खङ्गपना तलबारोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें निश्चिंशता-क्रूरता नहीं है । याच्यता-वधूकी याचना करना और करग्रह-पाणिग्रहण (विवाह-कालमें होनेवाला संस्कारविशेष) विवाहमें ही होता है वहाँके मनुष्योंमें याच्यता-भिक्षा माँगना और करग्रह-टैक्स वसूल करना अथवा अपराध होनेपर जंजीर आदिसे हाथोंका पकड़ा जाना नहीं होता । म्लानता-सुरक्षा जाना पुष्पमालाओंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें म्लानता-उदासीनता अथवा निष्प्रभता नहीं है और बन्धन-रस्सी बगैरहसे बाँधा जाना केवल हाथियोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें बन्धन-कारागार आदिका बन्धन नहीं है ॥ ११८-११९ ॥ उस नगरीके उपवन ठीक वधूवर अर्थात् दम्पतिके समान सखीको अतिशय प्रिय लगते हैं क्योंकि वधूवरको लोग जैसे

* १. कर्णभरणानि । -वर्तसिकाः द० । २. चकासते म०, ल० । ३. ददति । ४. पयोऽग्नौ-अ०, द०, स०, प० । ५. अप्राप्तस्थिरत्वाः । ६. यस्यां यादांसीव अ०, प०, द०, म०, स०, ल० । ७. भण्डाररहित-त्वम्, पक्षे विकुङ्कुमलत्वम् । ८. स्त्रीत्वं भीतिष्व । ९. नीचत्वं च । १०. निश्चिंशत्वं खङ्गत्वम्, पक्षे क्रूरत्वं च । ११. पक्षिभिः कान्तं च । १२. सपुष्पमस्तकम् । १३. बाणः क्षिप्रः वधूवर, पक्षे धारः ।

इति प्रसीतमाहात्म्या विजयार्धमहीभूतः । ^१सद्वृत्तवर्णसंकीर्णं सा पुरी तिलकायते ॥१२१॥
 तस्याः ^२पतिरभूत् खेन्द्रमुकुटारूढशासनः ^३ । खगेन्द्रोऽतिबलको नाम्ना प्रतिपक्षबलक्षयः ^४ ॥१२२॥
 स धर्मविजयी ^५शूरो जिगीषुररिमण्डले । ^६षाड्गुण्येताजयत् कृत्स्नं विपक्षमनुपेक्षितम् ^७ ॥१२३॥
 स कुर्वन् वृद्धसंयोगं विजितेन्द्रियसाधनः ^८ । ^९साधनैः प्रतिसामन्तान् लीलवैवोदमूकयत् ॥१२४॥
^{१०}महोदयो महोत्तमवंशः मास्वन्महाकरः । महादानेन सोऽपुष्पादाश्रितानिब दिग्विषः ॥१२५॥
 लसन्तांशु तस्योत्सवं ^{११}सज्योत्सवं विम्बसैन्दवम् । जित्वेव भूपताकाम्यामुत्क्षिप्ताभ्यां प्यराजत ॥१२६॥

बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं उसी प्रकार वहाँके उपवनोको भी लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं । वधूवर जिस प्रकार वयस्कान्त-तरुण अवस्थासे सुन्दर होते हैं उसी प्रकार उपवन भी वयस्कान्त-पक्षियोंसे सुन्दर होते हैं । वधूवर जिस प्रकार सपुष्पक-पुष्पमालाओंसे सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी सपुष्पक-फूलोंसे सहित होते हैं । और वधूवर जिस प्रकार बाणोंकित-बाण-चिह्नसे चिह्नित अथवा धनुषबाणसे सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी बाण जातिके वृक्षोंसे सहित होते हैं ॥ १२० ॥ इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और जो अनेक प्रकारके सशस्त्र ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंसे व्याप्त है ऐसी वह अलका नगरी उस विजयार्ध पर्वतरूपी राजाके मस्तकपर गोल तथा उत्तम रंगवाले तिलकके समान सुशोभित होती है ॥१२१॥ उस अलकापुरीका राजा अतिबल नामका विद्याधर था जो कि शत्रुओंके बलका क्षय करनेवाला था और जिसकी आज्ञाको समस्त विद्याधर राजा मुकुटके समान अपने मस्तकपर धारण करते थे ॥१२२॥ वह अतिबल राजा धर्मसे ही (धर्मसे अथवा स्वभावसे) विजयलाभ करता था शूरवीर था और शत्रुसमूहको जीतनेवाला था । उसने सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन छह गुणोंसे बड़े-बड़े शत्रुओंको जीत लिया था ॥१२३॥ वह राजा हमेशा वृद्ध मनुष्योंकी संगति करता था तथा उसने इन्द्रियोंके सब विषय जीत लिये थे इसीलिए वह अपनी सेना-द्वारा बड़े-बड़े शत्रुओंको लीलामात्रमें ही उखाड़ देता था-नष्ट कर देता था ॥१२४॥ वह राजा दिग्गजके समान था क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज महान् उदयसे सहित होता है उसी प्रकार वह राजा भी महान् उदय (वैभव) से सहित था, दिग्गज जिस प्रकार ऊँचे वंश (पीठकी रीढ़) का धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी सर्वश्रेष्ठ वंश-कुलका धारक था—उच्च कुलमें पैदा हुआ था । दिग्गज जिस प्रकार भास्वन्महाकर-प्रकाशमान लम्बी सूँझका धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी वेदीप्यमान लम्बी मुजाओंका धारक था तथा दिग्गज जिस प्रकार अपने महादानसे—भारी मदजलसे भ्रमर आदि आश्रित प्राणियोंका पोषण करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने महादान-विपुल दानसे शरणमें आये हुए पुरुषोंका पोषण करता था ॥ १२५ ॥ उस राजाके मुखसे शोभायमान दाँतोंकी किरणें निकल रही थीं तथा दोनों भौहें कुछ ऊपरको उठी हुई थीं इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो उसके मुखने चन्द्रिकासे शोभित चन्द्रमाको जीत लिया है और इसीलिए उसने अपनी

१. सद्वृत्तं येषां ते तैः संकीर्णः, सद्वृत्तं च वर्णं च इति सद्वृत्तवर्णो ताभ्यां संकीर्णं च । २. प्रभु-
 व०, द०, स०, द० । ३. आरोपिताङ्गः । ४. क्षयः प्रलयकालः । ५. देवबलवान् । ६. 'संधिविग्रह-
 यानासनद्वैधाध्या इति षड्गुणाः' षड्गुणा एव षाड्गुण्यं तेन । ७. सावधानं यथा भवति । ८. करणग्रामः ।
 ९. सेनाभिः । सामन्तैः प० । १०. पक्षे पृष्ठास्थि । ११. सज्योत्सवं द० ।

सपुष्पकेशमस्याभादुत्तमाङ्गं सदानवम् । त्रिकूटाग्रमिवोपान्तपतच्छामरनिर्झरम् ॥१२०॥

पृथु वक्षःस्थलं द्वारि^१ हारवल्लीपरिष्कृतम्^२ । क्रीडाद्विपायितं लक्ष्म्याः स बभार गुणाम्बुधिः ॥१२१॥

करी करिकराकाराबूरु कामेयुधीबिती । कुरुविन्द्राकृती जङ्गे क्रमावम्बुजसच्छवी ॥१२२॥

प्रतिप्रतीकमित्यस्य^३ कृतं वर्णनयामया । यशस्वरूपमावस्तु तत्तत्स्वाङ्गजिगीषतः^४ ॥१२३॥

मनोहराङ्गी तस्याभूत् प्रिया नाम्ना मनोहरा । मनोभवस्य जैत्रेयुरिव या रूपशोभया ॥१२४॥

स्मितपुष्पोज्ज्वला भर्तुः प्रियासील्ललितिकेव सा । हितानुबन्धिनी जैनी^५ चिद्येव च यशस्करी ॥१२५॥

तयोर्महावलक्यातिरभूत् सूनुर्महोदयः । यस्य^६ जातावभूत् प्रीतिः पिण्डीभूतेव वम्बुधु ॥१२६॥

कलासु कौशलं शौर्व्यं त्यागः प्रज्ञा क्षमा दया ।^७ प्रीतिः सत्यं च शौचं च गुणास्तस्य निसर्गजाः ॥१२७॥

स्पर्धयेव वपुर्धृदौ विवृद्धाः प्रस्यहं गुणाः । स्पृष्ट्वा ह्येकत्र भूष्णूनां^८ क्रियासाम्याद् विवर्धते ॥१२८॥

भौंहोरूप दोनों पताकाएँ फहरा रखी हों ॥१२६॥ महाराज अतिबलका मस्तक ठीक त्रिकूटा-चलके शिखरके समान शोभायमान था क्योंकि जिस प्रकार त्रिकूटाचल-सपुष्पकेश-पुष्पक विमानके स्वामी रावणसे सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सपुष्पकेश-अर्थात् पुष्प-युक्त केशोंसे सहित था । त्रिकूटाचलका शिखर जिस प्रकार सदानव-दानवोंसे-राक्षसोंसे सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सदानव-हमेशा तखीन था-श्याम केशोंसे सहित था । और त्रिकूटाचलके समीप जिस प्रकार जलके झरने झरा करते हैं उसी प्रकार उनके मस्तकके समीप चौर हुल रहे थे ॥१२७॥ वह राजा गुणोंका समुद्र था, उसका वक्षःस्थल अत्यन्त विस्तृत था, सुन्दर था और हाररूपी लताओंसे घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीका क्रीडाद्वीप ही हो ॥१२८॥ उस राजाकी दोनों भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान थीं, जबें कामदेवके तरकसके समान थीं, पिंडरियाँ पद्मरागमणिके समान सुदृढ़ थीं और चरण-कमलोंके समान सुन्दर कान्तिके धारक थे ॥१२९॥ अथवा इस राजाके प्रत्येक अंगका वर्णन करना व्यर्थ है क्योंकि संसारमें सुन्दर वस्तुओंकी उपमा देने योग्य जो भी वस्तुएँ हैं उन सबको वह अपने अंगोंके द्वारा जीतता चाहता है । भावार्थ—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा देकर उस राजाके अंगोंका वर्णन किया जाये ॥१३०॥ उस राजाकी मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली मनोहरा नामकी रानी थी जो अपनी सौन्दर्य-शोभाके द्वारा ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवका विजयी बाण ही हो ॥१३१॥ वह रानी अपने पतिके लिए हास्यरूपी पुष्पसे शोभायमान लताके समान प्रिय थी और जिनवाणीके समान हित चाहनेवाली तथा यशको बढ़ानेवाली थी ॥१३२॥ उन दोनोंके अतिशय भाग्यशाली महाबल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, उस पुत्रके उत्पन्न होते ही उसके समस्त सहोदरोंमें प्रेमभाव एकत्रित हो गया था ॥१३३॥ कलाओंमें कुशलता, शूरवीरता, धान, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य, सत्य और शौच ये उनके स्वाभाविक गुण थे ॥१३४॥ उस महाबलका शरीर तथा गुण ये दोनों प्रतिदिन परस्परकी ईर्ष्या-से वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे अर्थात् गुणोंकी वृद्धि देखकर शरीर बढ़ रहा था और शरीरकी वृद्धिसे गुण बढ़ रहे थे । सो ठीक ही है क्योंकि एक स्थानपर रहनेवालोंमें क्रियाका समानता होनेसे ईर्ष्या

१. पुष्पकचसहितम् पुष्पकविमानाघोषसहितं च । सरावणमिति यावत् । २. नित्यं नूतनं सरावणं च ।

३. हारावलि-स० । ४. अलङ्कृतम् । ५. पद्मरागरत्नाङ्कुराकृती । “कुरुविन्द्रस्तु मुस्तायां कुत्मावन्नीहिभेदयोः । हिङ्गुं पद्मरागे च मुकुरेऽपि समीरितः ॥” ६. अवयवं प्रति । ७. अलम् । ८. जिगीषति स०, म०, ल० ।

९. जैनागम इव । १०. उत्तन्तो । ११. संतोषः । १२. भूतानां स०, म०, ल० ।

‘राजविद्याश्चतस्रोऽपि सोऽध्वैष्ट गुरुसंनिधौ । स तामिर्विजमौ भाभिः स्वामिक्षुविषांशुमान् ॥१३६॥
 ‘सोऽधीयन्’ निलिलां विद्यां ^१‘गुरुसंस्कारयोगतः । द्वितीयेऽभिषेकमर्चिष्मा’ निवानिकसमन्वितः ^२ ॥१३७॥
 प्रश्रयाद्यान् गुणानस्य मर्या योऽस्वस्वपोषकान् । यौवराज्यपदं तस्मै साऽनुमेने लृगाधिपः ॥१३८॥
 संविनक्ता तपोर्लक्ष्मीक्षिरं रेखे धृतायतिः । हिमवत्स्थम्भराशौ च श्मोमगजेन संगता ॥१३९॥
 स राजा तेन पुत्रेण ^३‘पुत्री बहुसुतोऽप्यभूत् । नमोमातो यथाकण श्योतिष्मान्नापरैर्ग्रहैः ॥१४०॥
 अथान्येद्युरसौ राजा निर्वेदं विषयेष्वगात् । विदुष्यः कामभोगेषु प्रवृज्यायै कृतोद्यमः ॥१४१॥
 विषपुष्पमिवात्यन्तविषमं प्राणहारकम् । ^४‘महादृष्टिविषस्थानमिव चात्यन्तभीषणम् ॥१४२॥
 ‘निर्भुङ्क्षमात्मवद् भूयो न भोग्यं मानशाक्षिनाम् । दुष्कलत्रमिवापायि हेचं राज्यममस्त तः ॥१४३॥
 भूयोऽप्यचिन्तयद् धीर्मानिमा संसारयत्नरीम । ^५‘उत्संस्थामि महाध्यामकुठारेण ^६‘क्षमीभवन् ॥१४४॥
 मूल्यं मिथ्यात्वमेतस्याः पुष्पं ^७‘जात्यादिकं फलम् । ^८‘व्यसनान्मसुभृद्भृङ्गैः सेव्येयं ^९‘विषयालये ॥१४५॥

हुआ ही करती है ॥१३५॥ उस पुत्रने गुरुओंके समीप आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओंका अध्ययन किया था तथा वह पुत्र उन विद्याओंसे ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि उदित होता हुआ सूर्य अपनी प्रभाओंसे शोभायमान होता है ॥१३६॥ उसे पूर्वभयके प्रबल संस्कारके योगसे समस्त विद्याएँ स्मृत हो उठीं जिनसे वह वायुके समागमसे अग्निके समान और भी अधिक वेदीप्यमान हो गया ॥१३७॥ महाराज अतिबलने अपने पुत्रकी योग्यता प्रकट करनेवाले विनय आदि गुण देखकर उसके लिए युवराज पद देना स्वीकार किया ॥१३८॥ उस समय पिता, पुत्र दोनोंमें विभक्त हुई राज्यलक्ष्मी पहलेसे कहीं अधिक विस्तृत हो हिमालय और समुद्र दोनोंमें पड़ती हुई आकाशगंगाकी तरह चिरकाल तक शोभायमान होती रही ॥१३९॥ यद्यपि राजा अतिबलके और भी अनेक पुत्र थे तथापि वे उस एक महाबल पुत्रसे ही अपने-आपको पुत्रवान् माना करते थे जिस प्रकार कि आकाशमें यद्यपि अनेक ग्रह होते हैं तथापि वह एक सूर्यग्रहके द्वारा ही प्रकाशमान होता है अन्य ग्रहोंसे नहीं ॥१४०॥ इसके अनन्तर किसी दिन राजा अतिबल विषयभोगोंसे विरक्त हुए और कामभोगोंसे तृष्णारहित होकर वीक्षा-ग्रहण करनेके लिए उद्यम करने लगे ॥१४१॥ उस समय उन्होंने विचार किया कि यह राज्य विषपुष्पके समान अत्यन्त विषम और प्राणहरण करनेवाला है । दृष्टिविष सर्पके समान महा भयानक है, व्यभिचारिणी स्त्रीके समान नाश करनेवाला है तथा भोगी हुई पुष्पमालाके समान उच्छिष्ट है अतः सर्वथा हेय है-छोड़ने योग्य है, स्वाभिमानी पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं है ॥१४२-१४३॥ वे बुद्धिमान् महाराज अतिबल फिर भी विचार करने लगे कि मैं उत्तम क्षमा धारण कर अथवा ध्यान, अध्ययन आदिके द्वारा समर्थ होकर अपनी आत्म-शक्तिको बढ़ाकर इस संसाररूपी बेलको अवश्य ही उखाड़ूँगा ॥१४४॥ इस संसाररूपी बेलकी मिथ्यात्व ही जड़ है, जन्म-मरण आदि ही इसके पुष्प हैं और अनेक व्यसन अर्थात्

१. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः । आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयी-स्थितौ । अथनिधौ च वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयी ॥” २. सोऽध्वयार्थिल्लं अ०, । सोऽध्वयार्थिल्लं विद्या द०, प०, म०, स० । ३. अधीयानः [अधीयन्] स्मरन् । ४. उपनयनादि । ५. अग्निः । ६. समन्वितः स० । समागमात् म०, ल० । ७. पुत्रवान् । ८. दृष्टिविषादिप्रदेशम् । ९. अनुभूतम् । १०. छेदं करिष्यामि । उच्छेत्-स्यामि द०, ट० । ११. अक्षमः क्षमो भवन् क्षमोभवन् क्षमावान् । १२. आतिशयादिकम् । १३. दुःखानि । ‘व्यसनं विपरिभ्रंशे’ इत्यभिधानात् । १४. विषयपुष्परसनिमित्तम् । ‘हेतौ कर्मणः’ इति सूत्राग्निमित्ते सप्तमी । अत्र सेव्येयम् [सेव्या इयम् इति पदच्छेदः] इत्येतदेव प्रधानं कर्म ।

यौवनं क्षणभङ्गोयं भोगा मुक्ता न नृस्ये । प्रत्युतात्मन्तमेवैतैस्तृष्णाधिभिरभिवर्द्धते ॥१४६॥
 शरीरनिवमस्यन्त^१ प्रतिधीमस्वशाश्वतम् ।^२ विनाश्यतेऽथ वा श्वो वा मृत्युवज्रविचूर्णितम् ॥१४७॥
 शरीरवेषुरस्वन्तकको^३ दुर्गन्धिसंततः^४ ।^५ प्लुष्टः क्षालापिना सद्यो^६ मस्मसात् स्वात् स्फुरद्भवनिः ॥१४८॥
 बन्धवो बन्धनान्येते धनं दुःखानुबन्धनम् । विषया विषयंयुक्तविषमाश्लसंनिमाः ॥१४९॥
 त्वलं राज्यमोगेन लक्ष्मीरतिचलाचला^७ । संपदो जलकलोलविलोलाः सर्वमभुवम् ॥१५०॥
 इति निश्चित्य धीरोऽसाधमिवैकपुरस्सरम् । सुनवे राज्यसर्वस्वमदि^८ तातिवकस्तदा ॥१५१॥
 ततो गज इवापेतबन्धनो निःसृतो गृह्णात् । बहुभिः क्षेत्रैः सार्द्धं दीक्षां स समुपावदे ॥१५२॥
 जिगीषु बलवद्गुण्या^९ समिधा च सुसंवृतम् । महानागफणारक्षमिव चान्यैर्दुरासदम् ॥१५३॥
 नामिकाकोजबलकपतकजालमिवान्वरैः । भूषणैश्च परित्यक्तमपेतं दोषवत्तथा ॥१५४॥
^{११} उदकमुत्तरेतुवाद् गुरुणामिव सदृशः । निवतावासश्चून्मरवात्^{१२} एततामिव मण्डलम् ॥१५५॥

दुःख प्राप्त होना ही इसके फल हैं। केवल विषयरूपी आसवका पान करनेके लिए ये प्राणीरूपी भौरे निरन्तर इस लताकी सेवा किया करते हैं। यह यौवन क्षणभंगुर है और ये पञ्चेन्द्रियोंके भोग यद्यपि अनेक बार भोगे गये हैं तथापि इनसे तृप्ति नहीं होती, तृप्ति होना तो दूर रही किन्तु तृष्णारूपी अग्निकी सातिशय वृद्धि होती है। यह शरीर भी अत्यन्त अपवित्र, घृणाका स्थान और नश्वर है। आज अथवा कल बहुत शीघ्र ही मृत्यु-रूपी वज्रसे पिसकर नष्ट हो जायेगा। अथवा दुःखरूपी फलसे युक्त और परिग्रहरूपी गौंठोंसे भरा हुआ यह शरीररूपी बाँस मृत्युरूपी अग्निसे जलकर चट-चट शब्द करता हुआ शीघ्र ही भस्मरूप हो जायेगा। ये बन्धुजन बन्धनके समान हैं, धन दुःखको बढ़ानेवाला है और विषय विष मिले हुए भोजनके समान विषम हैं। लक्ष्मी अत्यन्त चञ्चल है, सम्पदाएँ जलकी लहरोंके समान क्षणभंगुर हैं, अथवा कहाँतक कहा जाये यह सभी कुछ तो अस्थिर है इसलिए राज्य भोगना अच्छा नहीं—इसे हर एक प्रकारसे छोड़ ही देना चाहिए ॥१४४-१५०॥ इस प्रकार निश्चय कर धीर-वीर महाराज अतिबलने राज्याभिषेकपूर्वक अपना समस्त राज्य पुत्र-महाबलके लिए सौंप दिया। और अपने बन्धनसे छुटकारा पाये हुए हाथीके समान घरसे निकलकर अनेक विद्याधरोंके साथ वनमें जाकर दीक्षा ले ली ॥१५१-१५२॥ इसके पश्चात् महाराज अतिबल पवित्र जिन-लिङ्ग धारण कर चिरकाल तक कठिन तपश्चरण करने लगे। उनका वह तपश्चरण किसी विजिगीषु (शत्रुओंपर विजय पानेकी अभिलाषी) सेनाके समान था क्योंकि वह सेना जिस प्रकार गुप्ति-वरछा आदि हथियारों तथा समितियों-समूहोंसे सुसंवृत रहती है, उसी प्रकार उनका वह तपश्चरण भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे तथा ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंसे सुसंवृत—सुरक्षित था। अथवा उनका वह तपश्चरण किसी महासर्पके फणमें लगे हुए रत्नोंके समान अन्य साधारण मनुष्योंको दुर्लभ था। उनका यह तपश्चरण दोषोंसे रहित था तथा नाभिराजाके समय होनेवाले वस्त्राभूषणरहित कल्पवृक्षके समान

१. पुनः किमिति चेत् । २. दुर्गन्धि । ३. विनाश्यते । विनाश्यते अ०, स० । विनश्यते म०, द० ।
 ४ प्राणास्तफलः दुःखास्तफलश्च । ५. संस्थितः । ६. दग्धः । ७. भस्माघोर्न भवेत् । ८. अतिशयेन
 चञ्चला । 'चल कमाने' इति घातोः कर्तव्यप्रत्यये 'चलितव्यतिवशोऽपीति द्विभावे अभ्यागिति पूर्वस्य अगा-
 त्तमः । ९. ददी । १०. [योगविग्रहतया] पक्षे रक्षया । ११. उत्तरकालः । १२. विहगानाम् ।

विषादभयदैन्यादिहानेः सिद्धास्पदोपमम् । क्षमाधारतथा वातबल्यस्थितिमुद्बुधत् ॥१५६॥

निःसंगत्वादिवाग्यस्तपरमाणुविशेषितम् । निर्वाणसाधनत्वाच्च रत्नत्रयमिवावलम्बम् ॥१५७॥

सौन्दर्युदारगुणं भूरिसेजोभासुरमूर्जितम् । पुण्यं जैनेश्वरं रूपं दधत्तेपे^१ चिरं तपः ॥१५८॥

ततः कृताभिषेकोऽसौ बलशाली महाबलः । राज्यभारं दधे नम्रस्त्रेचराभ्यर्चितक्रमः ॥१५९॥

स दैवबलसंपन्नः कृतधीरविशेषितः । दीर्घलं प्रथयामास संहारन् क्षिपतां बलम् ॥१६०॥

मन्त्रशक्त्या परिश्रवणं सभास्यस्तस्य विद्विषः । महाद्वय इवाभूदन् विक्रियाविमुखास्तदा ॥१६१॥

तस्मिन्नाकृतमाधुर्यं दधुः प्रीतिं प्रजादत्तः । चूतद्रुम इव स्वादुसुपक्वकलशालिनि ॥१६२॥

नायधर्ममवसीक्ष्णो न चाति मृदुतां दधे । मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स जगद्गणमानयत् ॥१६३॥

उभयेऽपि द्विषस्तेन शमिता भूतिमिच्छता । कालादौदृश्यमायाता जलदेनेव पांसवः ॥१६४॥

सिद्धिर्धर्मार्थकामानां नावाधिष्ट परस्परम् । तस्य प्रयोगनैपुण्याद् बन्धुभूयमिवागताः ॥१६५॥

शोभायमान था । अथवा यों कहिए कि वह तपश्चरण भविष्यत्कालमें सुखका कारण होनेसे गुरुओंके सद्वचनोंके समान था । निश्चित निवास स्थानसे रहित होनेके कारण पक्षियोंके मण्डलके समान था । विषाद, भय, दीनता आदिका अभाव हो जानेसे सिद्धस्थान-मोक्ष-मन्दिरके समान था । क्षमा-शान्तिका आधार होनेके कारण (पक्षमें पृथिवीका आधार होनेके कारण) वातबल्यकी उपमाको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता था । तथा परिग्रहरहित होनेके कारण पृथक् रहनेवाले परमाणुके समान था । मोक्षका कारण होनेसे निर्मल रत्नत्रयके तुल्य था । अतिशय उदार गुणोंसे सहित था, विपुल तेजसे प्रकाशमान और आत्मबलसे संयुक्त था ॥१५३-१५८॥ इस प्रकार अतिबलके दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् उसके बलशाली पुत्र महाबलने राज्यका भार धारण किया । उस समय अनेक विद्याधर नम्र होकर उसके चरणकमलोंकी पूजा किया करते थे ॥१५९॥ वह महाबल दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे सम्पन्न था, उसकी चेष्टाएँ वीर मानवके समान थीं तथा उसने शत्रुओंके बलका संहार कर अपनी भुजाओंका बल प्रसिद्ध किया था ॥१६०॥ जिस प्रकार मन्त्रशक्तिके प्रभावसे बड़े-बड़े सर्प सामर्थ्यहीन होकर विकारसे रहित हो जाते हैं-वशीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार उसकी मन्त्रशक्ति (विमर्शशक्ति) के प्रभावसे बड़े-बड़े शत्रु सामर्थ्यहीन होकर विकारसे रहित (वशीभूत) हो जाते थे ॥१६१॥ जिस प्रकार स्वादिष्ट और पके हुए फलोंसे शोभायमान आम्रवृक्षपर प्रजाकी प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ती है उसी प्रकार माधुर्य आदि अनेक गुणोंसे शोभायमान राजा महाबलपर भी प्रजाकी प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ करती थी ॥१६२॥ वह न तो अत्यन्त कठोर था और न अतिशय कोमलताको ही धारण किये था किन्तु मध्यम वृत्तिका आश्रय कर उसने समस्त जगत्को वशीभूत कर लिया था ॥१६३॥ जिस प्रकार मीधम कालके आश्रयसे उड़ती हुई धूलिकी मेघ शान्त कर दिया करते हैं उसी प्रकार समृद्धि चाहनेवाले उस राजाने समथानुसार उद्धृत हुए-गर्वको प्राप्त हुए अन्तरंग(काम, क्रोध, भद, मात्सर्य, लोभ और मोह) तथा बाह्य दोनों प्रकारके शत्रुओंको शान्त कर दिया था ॥१६४॥ उस राजाके धर्म, अर्थ और काम, परस्परमें किसीको बाधा नहीं पहुँचाते थे-वह समानरूप

१. क्षान्तेराधारत्वेन, पक्षे क्षितेराधारत्वेन । २. मुद्बुधन् अ०, स०, म०, ल० । ३. अग्न्यस्त परमाणुविशेषितं येन । ४. तपश्चकार । ५. निष्पन्नबुद्धिः । कृतधीरविशेषितः प० । वीरविशेषितः ल० । ६. परिवृष्ट-अ०, द०, स०, म०, प० । ७ धृतप्रियत्वे । 'स्वादुप्रियो च मधुरावित्यभिधानात् । ८. बाह्याभ्यन्तरशत्रवः । 'अयुक्तः प्रणीताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः क्षितीशामन्तरङ्गोऽरिपद्वर्गः । ९. बन्धुत्वम् ।

प्रायेण राज्यमासाद्य भवन्ति मदकंशाः । नृपेमाः स तु नामाद्यत् प्रत्युतासीत् प्रसन्नधीः ॥१६६॥
 वयसा रूपसम्पत्त्या कुलजात्यादिभिः परे । यजन्ति मदसंस्पृष्टे गुणाः प्रशमभादधुः ॥१६७॥
 राज्यलक्ष्म्याः परं पर्वमुद्वहन्ति नृपात्मजाः । कामविद्येव निर्मोक्षोः साभूत्तस्योपशान्तये ॥१६८॥
 अन्थायध्वनिरुत्सवः^१ पाति^२ तस्मिन् सुराजनि । प्रजानां मयसंक्षोभाः स्वप्नेऽप्यासन्न जातुचित् ॥१६९॥
 चक्षुश्चारी^३ विचारश्च तस्यासीत् कार्यदर्शने । चक्षुषी पुनरस्यास्यमण्डने^४ दृश्यदर्शने ॥१७०॥
 अथास्य यौवनास्मिन् रूपमासीजगत्प्रियम् । पूर्णस्येव शशाङ्कस्थ दधत्तः सकलाः कलाः ॥१७१॥
 भवस्यो मदनोऽनङ्गो दस्योऽसौ चारुविग्रहः । तदस्य मदनो दूरमौपम्यपदमप्यमार्त् ॥१७२॥
 तस्याभादलिसङ्काशं मुहुकुञ्चितमूर्धजम् । शिरोविन्यस्तमकुटं^५ मेरोः कूटमिवाभितम्^६ ॥१७३॥
 ललाटमस्य विस्तीर्णमुन्नतं रुचिमादधे । लक्ष्म्या विश्रामस्तये^७ क्लृप्तमिव हैमं शिलातलम् ॥१७४॥
 भूरेखे तस्य रेखाते कुटिले भृशमावते । मदनस्यास्त्रशालायां धनुषोरिव यष्टिके ॥१७५॥
 चक्षुषी रेजतुस्तस्य भूषापोपान्तवर्तिनी । विषमेषोरिवाशेषजिगीषोरिषुयन्त्रके^८ ॥१७६॥

से तीनोंका पालन करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इसके कार्यकी चतुराईसे उक्त तीनों वर्ग परस्परमें मित्रताको ही प्राप्त हुए हों ॥१६५॥ राजारूपी हस्ती राज्य पाकर प्रायः मदसे (गर्वसे पक्षमें मदजलसे) कठोर हो जाते हैं परन्तु वह महाबल मदसे कठोर नहीं हुआ था बल्कि स्वच्छ बुद्धिका धारक हुआ था ॥१६६॥ अन्य राजा लोग जबानी, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणोंसे सब-गर्व करने लगते हैं परन्तु महाबलके उक्त गुणोंने एक शान्ति भाव ही धारण किया था ॥१६७॥ प्रायः राजपुत्र राज्यलक्ष्मीके निमित्तसे परम अहंकारको प्राप्त हो जाते हैं परन्तु महाबल राज्यलक्ष्मीको पाकर भी शान्त रहता था जैसे कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि कामविद्यासे सदा निर्विकार और शान्त रहते हैं ॥१६८॥ राजा महाबलके राज्य करनेपर 'अन्याय' शब्द ही नष्ट हो गया था तथा भय और क्रोध प्रजाको कभी स्वप्नमें भी नहीं होते थे ॥१६९॥ उस राजाके राज्यकार्यके देखनेमें गुप्तचर और विचारशक्ति ही नेत्रका काम देते थे । नेत्र तो केवल मुखकी शोभाके लिए अथवा पदार्थोंके देखनेके लिए ही थे ॥१७०॥ कुछ समय बाद यौवनका प्रारम्भ होनेपर समस्त कलाओंके धारक महाबलका रूप उतना ही लोकप्रिय हो गया था जितना कि सोलहों कलाओंको धारण करनेवाले चन्द्रमाका होता है ॥१७१॥ राजा महाबल और कामदेव दोनों ही सुन्दर शरीरके धारक थे । अभीतक राजाको कामदेवकी उपमा ही दी जाती थी परन्तु कामदेव अदृश्य हो गया और राजा महाबल दृश्य ही रहे इससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवने उसकी उपमाको दूरसे ही छोड़ दिया था ॥१७२॥ उस राजाके मस्तकपर भ्रमरके समान काले, कोमल और धुँधराले बाल थे, ऊपरसे मुकुट लगा था जिससे वह मस्तक ऐसा मालूम होता था मानो काले मेघोंसे सहित मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥१७३॥ इस राजाका ललाट अतिशय विस्तृत और ऊँचा था जिससे ऐसा शोभायमान होता था मानो लक्ष्मीके विश्रामके लिए एक सुवर्णमय शिला ही बनायी गयी हो ॥१७४॥ उस राजाकी अतिशय लम्बी और टेढ़ी भौंहोंकी रेखाएँ ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवकी अस्त्रशालामें रखी हुई दो धनुषयष्टि ही हों ॥१७५॥ भौंहरूपी चापके समीपमें रहनेवाली उसकी दोनों आँखें ऐसी शोभायमान होती थी मानो समस्त जगत्-

१. पुनः किमिति चेत् । २. कामशास्त्रम् । ३. निर्मोक्तुमिच्छोः । ४. नष्टः । ५. रक्षति सति । ६. गूढपुरुषः । ७. दृश्यं द्रष्टुं योग्यं घटपटादि । ८. —मम्यगात् प०, म०, स०, द०, ल० । ९. सदृशम् । १०. मुकुटं अ०, ल० । ११. सञ्जाताभ्रम् । १२. कृतम् । १३. बाणौ ।

सकृन्पालिके चाह रत्नकुण्डलमण्डिते । भुताङ्गनासमाक्रीड^१ लीला^२ दोलायिते^३ दधी ॥१७७॥
 दधेऽसौ नासिकावंशं तुङ्गं^४ मध्येविलोचनम् । तद्बुद्धिस्पन्दं^५ रोधार्थं^६ बद्धं सेतुमिवायतम् ॥१७८॥
 मुक्तमस्य लसन्तद्दीप्तिकेशरमाधमौ । महोत्पलमिवामोदशालि^७ दम्भच्छदच्छदम्^८ ॥१७९॥
 पृथुवक्षो बभारासौ हाररोचिर्जलप्लवम् । धारागृहमिवोदारं लक्ष्म्या^९ निर्वापणं परम् ॥१८०॥
 केयूररुचिरावंसौ^{१०} तस्य शोभासुपेयतुः^{११} क्रीडादौ रुचिरौ^{१२} लक्ष्म्या विहारोद्विष्ट^{१३} निर्मितौ ॥१८१॥
 युगायतौ विमर्शि स्म बाहू चास्तलाङ्गितौ । स^{१४} सुराग इवोदग्रचिट्पौ पल्लवोऽवकौ ॥१८२॥
 गम्भीरनाभिकं मध्यं^{१५} सवल्लि ललितं दधी । महाक्षिरिव सावर्त्तं^{१६} सतरङ्गं च^{१७} सैकतम् ॥१८३॥
 वनं च जघनं तस्य^{१८} मेखलादामवेष्टितम् । वमौ वेदिकया जम्बूद्वीपस्थलमिवावृतम् ॥१८४॥
 रम्भास्तम्भनिमावूरु स धत्ते स्म कनदधृती । कामिनीदृष्टिबाणानां लक्ष्म्याविव निवेशितौ ॥१८५॥
 वज्रशाणस्थिरे जङ्घे सोऽधस्त रुचिराकृतौ । मनोजैत्रबाणानां^{१९} निशानायेव कक्ष्यते ॥१८६॥
 पदतामरसद्वन्द्वं^{२०} लसद्गुलिपत्रकम् । नलीशुकेशरं दधे लक्ष्म्याः कुङ्कुमायितम् ॥१८७॥

को जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाण चलानेके दो यन्त्र ही हों ॥१७७॥ रत्नजड़ित कुण्डलोंसे शोभायमान उसके दोनों मनोहर कान ऐसे मालूम होते थे मानो सरस्वती देवीके झूलनेके लिए दो झूले ही पड़े हों ॥१७८॥ दोनों नेत्रोंके बीचमें उसकी ऊँची नाक ऐसी आन पड़ती थी मानो नेत्रोंकी बुद्धिविषयक स्पर्धाको रोकनेके लिए बीचमें एक लम्बा पुल ही बाँध दिया हो ॥१७८॥ उस राजाका मुख सुगन्धित कमलके समान शोभायमान था । जिसमें दाँतोंकी सुन्दर किरणें ही केशर थीं और ओठ ही जिसके पत्ते थे ॥१७९॥ हारकी किरणोंसे शोभायमान उसका विस्तीर्ण वक्षःस्थल ऐसा मालूम होता था मानो जलसे भरा हुआ विस्तृत, उत्कृष्ट और सन्तोषको देनेवाला लक्ष्मीका स्नानगृह ही हो ॥१८०॥ केयूर (बाहुबन्ध) की कान्तिसे सहित उसके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान होते थे मानो लक्ष्मीके विहारके लिए बनाये गये दो मनोहर क्रीडाचल ही हों ॥१८१॥ वह युग (जुआँरी) के समान लम्बी और मनोहर हथेलियोंसे अंकित भुजाओंको धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम हो रहा था मानो कोंपलोंसे शोभायमान दो बड़ी-बड़ी शाखाओंको धारण करनेवाला कल्पवृक्ष ही हो ॥१८२॥ वह राजा गम्भीर नाभिसे युक्त और त्रिवलिसे शोभायमान मध्य भागको धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो भँवर और तरंगोंसे सहित बालूके ढीलेको धारण करनेवाला समुद्र ही हो ॥१८३॥ करधनीसे घिरा हुआ उसका स्थूल नितम्ब ऐसा शोभायमान होता था मानो वेदिकासे घिरा हुआ जम्बूद्वीप ही हो ॥१८४॥ देदीप्यमान कान्तिको धारण करने और कदली स्तम्भकी समानता रखनेवाली उसकी दोनों आँखें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो स्त्रियोंके दृष्टिरूपी बाण चलानेके लिए खड़े किये गये दो निशानें ही हों ॥१८५॥ वह महाबल वज्रके समान स्थिर तथा सुन्दर आकृतिवाली पिंडरियोंको धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवके विजयी बाणोंको तीक्ष्ण करनेके लिए दो शाण ही धारण किये हो ॥१८६॥ वह अंगुलीरूपी पत्तोंसे युक्त शोभायमान तथा नखोंकी किरणोंरूपी केशरसे युक्त जिन दो चरणकमलोंको धारण कर रहा था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीके रहनेके लिए कुलपरम्परासे

१. आक्रीडः उद्यानम् । २. लीलां दो-स०, ल० । ३. विलोचनयोर्मध्ये । ४. स्पष्टि-म० । ५. छदं पत्रम् । ६. सुखहेतुम् । ७. सकेयूररुचिरावंसौ व०, प०, द०, स०, ल० । ८. भुजशिशिरौ । ९. कल्पवृक्षः । १०. गम्भीर-प०, द०, ल० । ११. स बली व०, प०, द०, म०, स० । १२. पुलिनम् । १३. कारुण्योदाम । १४. निशातनाय [तीक्ष्णोकरणाय] । १५. लसद्गुलि-म०, द० ।

इत्यस्य रूपमुद्भूतनयधौवनविभ्रमम् । कामनीयकमैक्यमुपनीतमिवाचमौ ॥१८८॥

न केवलमसौ रूपशोभयैवाजयज्जगत् । व्यजेष्ट मन्त्रशक्त्यापि वृद्धसंयोगलक्ष्यम् ॥१८९॥

तस्याभूवन् महाप्रज्ञाश्चत्वारो मन्त्रिपुङ्गवाः । बहिश्चरा इव प्राणाः सुस्निग्धा दीर्घदर्शिनः^१ ॥१९०॥

महाप्रतिष्ठा संभिन्नमतिः शतमतिस्तथा । स्वयंबुद्धश्च राज्यस्य मूलस्तम्भा इव स्थिराः ॥१९१॥

स्वयंबुद्धोऽभवत् तेषु सम्यग्दर्शनशुद्धधीः । शेषा मिथ्यादृष्टेऽस्मी सर्वे स्वामिहिदोषताः ॥१९२॥

चतुर्भिः स्वीरमाच्यैस्तैः पादैरिव सुयोजितैः । महाबलस्य तत्राख्यं पश्ये समवृत्तवत् ॥१९३॥

स मन्त्रिनिश्चतुर्भिस्तैः कदाचिच्च समं त्रिभिः । द्वाभ्यमेकेन वा मन्त्रमविसंधादिनाऽमजत् ॥१९४॥

स्वयं निश्चितकार्यस्य मन्त्रिणोऽस्थानुशासनम्^२ । चक्रुः स्वयं प्रबुद्धस्य जिनस्येवामरोत्तमाः^३ ॥१९५॥

न्यस्तराज्यमरस्तेषु स स्त्रीभिः तचरोचितान् । बुभुजे सुखिरं भोगान् नभोगानामधीक्षिता^४ ॥१९६॥

चले आये दो चर ही हों ॥१८८॥ इस प्रकार महाबलका रूप बहुत ही सुन्दर था, उसमें नव-यौवनके कारण अनेक हाव-भाव विलास उत्पन्न होते रहते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सब अगहका सौन्दर्य यहाँपर ही इकट्ठा हुआ हो ॥१८८॥ उस राजाने केवल अपने रूपकी शोभासे ही जगत्को नहीं जीता था किन्तु वृद्ध जनोकी संगतिसे प्राप्त हुई मन्त्र-शक्तिके द्वारा भी जीता था ॥१८९॥ उस राजाके चार मन्त्री थे जो महाबुद्धिमान्, स्नेही और दीर्घदर्शी थे^१ वे चारों ही मन्त्री राजाके दो चार पादोंके लक्षणोंके समान मालूम होते थे ॥१९०॥ उनके नाम क्रमसे महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे । ये चारों ही मन्त्री राज्यके स्थिर मूलस्तम्भके समान थे ॥१९१॥ उन चारों मन्त्रियोंमें स्वयंबुद्धनामक मन्त्री शुद्ध सम्यग्दृष्टि था और बाकी तीन मन्त्री मिथ्यादृष्टि थे । यद्यपि उनमें इस प्रकारका मतभेद था परन्तु स्वामीके हितसाधन करनेमें वे चारों ही तत्पर रहा करते थे ॥१९२॥ वे चारों ही मन्त्री उस राज्यके चरणके समान थे । उनकी उत्तम योजना करनेसे महाबलका राज्य समवृत्तके समान अतिशय विस्तारको प्राप्त हुआ था । भावार्थ—वृत्त छन्दको कहते हैं, उसके तीन भेद हैं—सम-वृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त । जिसके चारों पाद—चरण एक समान लक्षणके धारक होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं । जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एक समान लक्षणके धारक हों उसे अर्धसमवृत्त कहते हैं और जिसके चारों पाद भिन्न-भिन्न लक्षणोंके धारक होते हैं उन्हें विषमवृत्त कहते हैं । जिस प्रकार एक समान लक्षणके धारक चारों पादों—चरणोंकी योजनासे—रचनासे समवृत्त नामक छन्दका भेद प्रसिद्ध होता है तथा प्रस्तार आदिकी अपेक्षासे विस्तारको प्राप्त होता है उसी प्रकार उन चारों मन्त्रियोंकी योजनासे—सम्यक् कार्यविभागसे राजा महाबलका राज्य प्रसिद्ध हुआ था तथा अपने अवान्तरविभागोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ था ॥१९३॥ राजा महाबल कभी पूर्वोक्त चारों मन्त्रियोंके साथ, कभी तीनके साथ, कभी दोके साथ और कभी यथाथंवादी एक स्वयंबुद्ध मन्त्रीके साथ अपने राज्यका विस्तार किया करता था ॥१९४॥ वह राजा स्वयं ही कार्यका निश्चय कर लेता था । मन्त्री उसके निश्चित किये हुए कार्यकी प्रशंसा मात्र किया करते थे जिस प्रकार कि तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेते समय स्वयं विरक्त होते हैं, लौकान्तिक देव मात्र उनके वैराग्यकी प्रशंसा ही किया करते हैं ॥१९५॥ भावार्थ—राजा महाबल इतने अधिक बुद्धिमान् और दीर्घदर्शी-विचारक थे

१. एकधा भावः ऐक्यम् । २. विद्वान्तः । 'निरोद्ध एव वक्तव्यं श्रुतव्यं पुनरुक्तम् । इति यो वक्ति लोकेऽस्मिन् दीर्घदर्शी स उच्यते ॥' ३. नृसंसनम् म०, द०, ल० । ४. लौकान्तिकाः । ५. अघोशः ।

मालिनीच्छन्दः

सुदुसुरभिसमीरैः सान्द्रमन्दारवीथी

परिचयसुगन्धीसैर्धूतसंभोगस्नेदः ।

मुहुषपवनदेशान् नन्दनोद्देशदेशान्^१

जितमदननिवेशान् स्त्रीसहायः स भेजे ॥१९७॥

इति^२ सुकृतविपाकादानमस्त्रोचरोद्यन्

मकुटमकरिकामिः^३ स्पृष्टपादारविन्दः ।

चिरमरमत तस्मिन् जेचराज्ञौ सुराज्ञौ

सुरपतिरिव स्तोऽयं भाविभास्वज्जिनश्रीः ॥१९८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमहाबलाभ्युदय-
वर्णनं नाम चतुर्थं पर्व ॥४॥



आदिपुराणम् ... आदिपुराणम् ... आदिपुराणम् ...

कि उनके निश्चित विचारोंको कोई मन्त्री सदोष नहीं कर सकता था ॥१९६॥ अनेक विद्या-
धरोंका स्वामी राजा महाबल उपर्युक्त चारों मन्त्रियोंपर राज्यभार रखकर अनेक स्त्रियोंके
साथ चिरकाल तक कामदेवके निवासस्थानको जीतने और नन्दनवनके प्रदेशोंकी समानता
रखनेवाले उपवनोंमें बार-बार विहार करता था । विहार करते समय घनीभूत मन्दार
वृक्षोंके मध्यमें भ्रमण करनेके कारण सुखप्रद शीतल, मन्द तथा सुगन्धित वायुके द्वारा उसका
संभोगजन्य समस्त स्नेह दूर हो जाता था ॥१९७॥ इस प्रकार पुण्यके उदयसे नमस्कार करने-
वाले विद्याधरोंके वेदीप्यमान मुकुटोंमें लगे हुए मकर आदिके चिह्नोंसे जिसके चरणकमल
बार-बार स्पृष्ट हो रहे थे—छुए जा रहे थे और जिसे आगे चलकर तीर्थंकरकी महनीय विभूति
प्राप्त होनेवाली थी ऐसा वह महाबल राजा, मेरुपर्वतपर इन्द्रके समान, विजयार्ध पर्वतपर
चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥१९८॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्य रचित, त्रिषष्टिलक्षण-
महापुराण संग्रहमें 'श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन' नामका
चतुर्थ पर्व पूर्ण हुआ ॥४॥



पञ्चमं पर्व

महाभारत :- आश्वमेध और कुम्भमेधपर ५३१-५३२

कदाचिद्भ तस्याऽऽसीद् वर्षवृद्धिदिनोत्सवः^१ । मङ्गलैर्गौतवादिन्नृत्यारम्भैश्च संभृतः ॥१॥
 सिंहासने तमासीनं तदानीं खचराधिपम् ।^२ दुधुवुश्चामरैर्वारिणार्यः क्षीरोदपाण्डुरैः ॥२॥
 मदनद्रुममञ्जरीं छावण्याम्भोधिबीचयः । सौन्दर्यकलिका रंजुस्तरुण्यस्तसमीपगाः ॥३॥
 पृथुवक्षःस्थलपक्षः पर्यन्तैर्मकुटोज्ज्वलैः । खगेन्द्रैः परिवर्जैस्तैर्गिरिराज इवाद्रिभिः ॥४॥
 तस्य वक्षःस्थले हारो^३ नोहारानुसमद्युतिः । वसासे हिमवत्सानो प्रपतन्निव निम्नरः ॥५॥
 तद्वत्सि पृथाविन्द्रनीलमध्यमणिर्वभौ । कण्टिका हंसमालेव श्योम्नि^४ दात्यूहमध्यगा ॥६॥
 मन्त्रिणश्च तदामात्यसेनापतिपुरोहिताः । श्रेष्ठिनोऽधिकृताश्चान्ये तं परीत्यावतस्थिरे ॥७॥
 स्मितैः संभाषितैः स्थानैर्दानैः संमाननैरपि । तानसौ तर्पयामास^५ वीक्षितैरपि सादरैः ॥८॥
 स गोष्ठोर्भावयन् भूयो गन्धर्वादिक्कटाविदाम् । स्पृष्टमानाश्च तान् पश्यन्नुप श्रोतृसमक्षतः ॥९॥
 सामन्तप्रहितान् दूतान् द्वाःस्थैरानीयमानकान् । संभावयन् यथोक्तेन संमानेन पुनः पुनः ॥१०॥

तदनन्तर, किसी दिन राजा महाबलकी जन्मगाँठका उत्सव हो रहा था । वह उत्सव मंगलगीत, वादित्र तथा नृत्य आदिके आरम्भसे भरा हुआ था ॥१॥ उस समय विद्याधरोंके अधिपति राजा महाबल सिंहासनपर बैठे हुए थे । अनेक वारागिनाएँ उनपर क्षीरसमुद्रके समान श्वेतवर्ण चामर ढोर रही थीं ॥२॥ उनके समीप खड़ी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी भालूम होती थीं मानो कामदेवरूपी वृक्षकी मंजरियाँ ही हों, अथवा सौन्दर्यरूपी सागरकी तरंगें ही हों अथवा सुन्दरताकी कलिकाएँ ही हों ॥३॥ अपने-अपने विशाल वक्षःस्थलोंसे समीपके प्रदेशको आच्छादित करनेवाले तथा मुकुटोंसे शोभायमान अनेक विद्याधर राजा महाबलको घेरकर बैठे हुए थे । उनके बीचमें बैठे हुए महाबल ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अनेक पर्वतोंसे घिरा हुआ या उनके बीचमें स्थित सुमेरुपर्वत हो हो । ॥४॥ उनके वक्षःस्थलपर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिका धारक—श्वेत हार पड़ा हुआ था जो कि हिमवत् पर्वतके शिखरपर पड़ते हुए झरनेके समान शोभायमान हो रहा था ॥५॥ जिस प्रकार विस्तृत आकाशमें जलकाकके इधर-उधर चलती हुई हंसोंकी पंक्ति शोभायमान होती है उसी प्रकार राजा महाबलके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर इन्द्रनीलमणिसे सहित मोतियोंकी कण्ठी शोभायमान हो रही थी ॥६॥ उस समय मन्त्री, सेनापति, पुरोहित, सेठ तथा अन्य अधिकारी लोग राजा महाबलको घेरकर बैठे हुए थे ॥७॥ वे राजा किसीके साथ हँसकर, किसीके साथ सम्भाषण कर, किसीको स्थान देकर, किसीको दान देकर, किसीका सम्मान कर और किसीकी ओर आदर-सहित देखकर उन समस्त सभासदोंको सन्तुष्ट कर रहे थे ॥८॥ वे महाबल संगीत आदि अनेक कलाओंके जानकार विद्वान् पुरुषोंकी गोष्ठीका बार-बार अनुभव करते जाते थे । तथा श्रोताओंके समक्ष कलाविद् पुरुष परस्परमें जो स्पर्धा करते थे उसे भी देखते जाते थे । इसी बीचमें सामन्तों-द्वारा भेजे हुए दूतोंको द्वारपालोंके हाथ बुलवाकर उनका बार-बार यथायोग्य

१. जननदिवसक्रियमाणोत्सवः । २. धुनन्ति स्म । धूय कम्पने । ३. आच्छादिनः । ४.—मुकुटो अ० ।

५. चन्द्रः । ६. कृष्णपक्षविशेषः । ७. वीक्षणैः । ८. सम्भाषि ।

परधननरेभ्याणामानीतानि 'महत्तरैः । उपायनामि संपश्यन् यथास्वं तान् पृथक् ॥११॥
 इत्यसौ परमानन्दमातन्वन्मुदमुतोदयः । यथेष्टं मन्त्रिवर्गेण सहास्तामभ्यमण्डपे ॥१२॥
 तं तदा प्रीतमासीक्य स्वयंबुद्धः समिद्धदीपैः । अग्निमैत्रिमुत्तमैः परमाभिष्टुतं दृष्ट्वा ॥१३॥
 इतः शृणु खगाधीश वक्ष्ये श्रेयोऽनुबन्धि ते । वैद्याधरीमिसां लक्ष्मीं विद्धि पुण्यफलं विभो ॥१४॥
 धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः । स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परम्परा ॥१५॥
 राज्यं च संपद्दो भोगाः कुले जन्म सुरूपता । पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्वैतत् फलं विदुः ॥१६॥
 न कारणाद् विना कार्यनिष्पत्तिरिह जातुष्वित् । प्रदीपेन विना दीप्तिरिह पूर्वा किमु बबधित् ॥१७॥
 नाङ्कुरः स्याद् विना बीजाद् विना वृष्टिर्न पारिदात् । छत्राद् विनापि मच्छाया विना धर्माच्च संपदः ॥१८॥
 नाधर्माद् सुखसंप्राप्तिर्न विषादस्ति जीवितम् । मोक्षरात् सत्यनिष्पत्तिर्नाग्नेराह्लादनं भवेत् ॥१९॥
 यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता । स धर्मस्तस्य धर्मस्य विस्तरं शृणु सांप्रतम् ॥२०॥
 दयाभूक्तो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् । दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शोभाः प्रकीर्तिताः ॥२१॥
 धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दसः क्षान्तिरहिंसा । तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च ॥२२॥
 अहिंसा सत्यवादिदमचर्यं त्यक्तकामता । निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः समाप्ततः ॥२३॥

सत्कार कर लेते थे । तथा अन्य देशोंके राजाओंके प्रतिष्ठित पुरुषों-द्वारा लायी हुई भेंटका अवलोकन कर उनका सम्मान भी करते जाते थे । इस प्रकार परम आनन्दको विस्मृत करते हुए, आश्चर्यकारी विभवसे सहित वे महाराज महाबल मन्त्रिमण्डलके साथ-साथ स्वेच्छा-नुसार समामण्डपमें बैठे हुए थे ॥१२॥ उस समय तीक्ष्णबुद्धिके धारक तथा इष्ट और मनोहर वचन बोलनेवाले स्वयंबुद्ध मन्त्रीने राजाको अतिशय प्रसन्न देखकर स्वामीका हित करनेवाले नीचे लिखे वचन कहे ॥१३॥ हे विद्याधरोंके स्वामी, जरा इधर सुनिए, मैं आपके कल्याण करनेवाले कुछ वचन कहूँगा । हे प्रभो, आपको जो यह विद्याधरोंकी लक्ष्मी प्राप्त हुई है उसे आप केवल पुण्यका ही फल समझिए ॥१४॥ हे राजन्, धर्मसे इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है, उससे इच्छानुसार सुखकी प्राप्ति होती है और उससे भनुष्य प्रसन्न रहते हैं इसलिए यह परम्परा केवल धर्मसे ही प्राप्त होती है ॥१५॥ राज्य, सम्पदाएँ, भोग, योग्य कुलमें जन्म, सुन्दरता, पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य, यह सब पुण्यका ही फल समझिए ॥१६॥ हे विभो, जिस प्रकार कारणके बिना कभी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, दीपके बिना कभी किसीने कहीं प्रकाश नहीं देखा, बीजके बिना अङ्कुर नहीं होता, मेघके बिना वृष्टि नहीं होती और छत्रके बिना छाया नहीं होती उसी प्रकार धर्मके बिना सम्पदाएँ प्राप्त नहीं होती ॥१७-१८॥ जिस प्रकार बिण्डु खानेसे जीवन नहीं होता, ऊसर जमीनसे धान्य उत्पन्न नहीं होते और अग्निसे आह्लाद उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार अधर्मसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती ॥१९॥ जिससे स्यर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षपुरुषार्थकी निश्चित रूपसे सिद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं । हे राजन्, मैं इस समय उसी धर्मका विस्तारके साथ वर्णन करता हूँ उसे सुनिए ॥२०॥ धर्म यही है जिसका मूल दया हो और सम्पूर्ण प्राणियोंपर अनुकम्पा करना दया है । इस दयाकी रक्षाके लिए ही उत्तम क्षमा आदि शेष गुण कहे गये हैं ॥२१॥ इन्द्रियोंका दमन करना, क्षमा धारण करना, हिंसा नहीं करना, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य ये उस दयारूप धर्मके चिह्न हैं ॥ २२ ॥ अहिंसा, सत्य, अचर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग

१. महत्तरैः अ०, अ०, स०, द०, प०, ल०, ट० । २. शुद्धवाक् । ३. पूर्वस्मिन् दृष्टा । ४. अर्थः प्रयोजनम् । ५. प्राणानु - अ०, ब०, स०, प०, द०, ल० । ६. -रहिंसता अ०, प०, स०, द० । ७. ध्यानम् ।

१. विरामम् । २. भूतचतुष्टयवादम् । ३. लोकायतिकसंबन्धिशङ्काम् । ४. प्रकृतं कुर्वन् । ५. भवेत् अ०, म०, स०, द०, प०, ल० । ६. गुडघातक्रीपिष्टपादयः । ७. चेतनायाः । ८. कायतन्त्र-व्यतिरेकेण । ९. तस्मात् कारणात् । १०. अधर्मः । ११. सुखच्युताः म०, ल० । -च्युतः अ० । १२. परलोक-प्रयोजना । १३. वाञ्छा । १४. जम्बुकस्य । १५. मरत्यवाञ्छया उत्पन्नम् ।

तस्माद् धर्मफलं ज्ञात्वा सर्वं राज्यादिलक्षणम् । तदर्थिना महाभाग धर्मे कार्यं मतिः स्थिरा ॥२४॥
धीमक्षिमां घलां लक्ष्मीं शान्तीं कर्तुमिच्छता । स्वया धर्मोऽनुमन्तव्यः सोऽनुष्ठेयश्च शक्तिः ॥२५॥
हृष्युक्त्वाथ स्वयंबुद्धे स्वामिन्नेवोऽनुबन्धिनि । धर्म्यमर्घ्यं यशस्थं च धर्मो विरतिमीयुषि ॥२६॥
ततस्तद्वचनं लोबुमक्षको कुर्मतोद्धतः । द्वितीयः सन्निधौ वाचमिष्युवाच महामतिः ॥२७॥
भूतवादमयालम्ब्य स लोकायतिकीं श्रुतिम् । प्रस्तुवर्जवतश्च दूषणे मतिमातनोत् ॥२८॥
सति धर्मिणि धर्मस्य घटते देव चिन्तनम् । स एव तावन्नास्यात्मा कुतो धर्मफलं भजेत् ॥२९॥
पृथिव्यप्यवनाग्नीनां संघातादिह चेतना । प्रादुर्भवति यथाऽसंगमान्मदशक्तिवत् ॥३०॥
ततो न चेतना कायतन्त्रात् पृथगिहास्ति नः । तस्यास्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेः खपुष्पवत् ॥३१॥
ततो न धर्मः पार्थ^१ वा परलोकश्च कस्यचित् । जलबुद्बुदवज्जीवा विलीयन्ते तनुक्षयात् ॥३२॥
तस्माद् ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा परलोकसुखाधिपतः । व्यर्थंक्लेशा मरत्येते लोकद्वयसुखाच्युताः^२ ॥३३॥
तदेषां परलोकायां^३ समीहा^४ क्रोष्टुं^५ रामिषम् । त्यक्त्वा सुखागतं मोहान्^६ मोनापोत्पतनायते ॥३४॥

करना ये सब सनातन (अनादिकालसे चले आये) धर्म कहलाते हैं ॥ २३ ॥ इसलिए हे महाभाग, राज्य आदि समस्त विभूतिको धर्मका फल जानकर उसके अभिलाषी पुरुषोंको अपनी बुद्धि हमेशा धर्ममें स्थिर रखनी चाहिए ॥ २४ ॥ हे बुद्धिमन्, यदि आप इस चंचल लक्ष्मीको स्थिर करना चाहते हैं तो आपको यह अहिंसादि रूप धर्म मानना चाहिए तथा शक्तिके अनुसार उसका पालन भी करना चाहिए ॥ २५ ॥ इस प्रकार स्वामीका कल्याण चाहने-वाला स्वयंबुद्ध मन्त्री जब धर्मसे सहित, अर्थसे भरे हुए और यशको बढ़ानेवाले वचन कहकर चुप हो रहा तब उसके वचनोंको सुननेके लिए असमर्थ महामति नामका दूसरा मिथ्यादृष्टि मन्त्री नीचे लिखे अनुसार बोला ॥ २६-२७ ॥ महामति मन्त्री, भूतवादका आलम्बन कर चार्वाक मतका पोषण करता हुआ जीवतत्त्वके विषयमें दूषण देने लगा ॥ २८ ॥ वह बोला-हे देव, धर्मोंके रहते हुए ही उसके धर्मका विचार करना संगत (ठीक) होता है परन्तु आत्मा नामक धर्मोंका अस्तित्व सिद्ध नहीं है इसलिए धर्मका फल कैसे हो सकता है ? ॥ २९ ॥ जिस प्रकार महुआ, गुड़, जल आदि पदार्थोंके मिला देनेसे उसमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्निके संयोगसे उनमें चेतना उत्पन्न होती है ॥ ३० ॥ इसलिए इस लोकमें पृथिवी आदि तत्त्वोंसे बने हुए हमारे शरीरसे पृथक् रहनेवाला चेतना नामका कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि शरीरसे पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं देखी जाती । संसारमें जो पदार्थ प्रत्यक्षरूपसे पृथक् सिद्ध नहीं होते उनका अस्तित्व नहीं माना जाता, जैसे कि आकाशके फूलका ॥ ३१ ॥ जब कि चेतनाशक्ति नामका जीव पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता तब किसीके पुण्य-पाप और परलोक आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? शरीरका नाश हो जानेसे ये जीव जलके बबूलेके समान एक क्षणमें विलीन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ इसलिए जो मनुष्य प्रत्यक्षका सुख छोड़कर परलोकसम्बन्धी सुख चाहते हैं वे दोनों लोकोंके सुखसे च्युत होकर व्यर्थ ही क्लेश उठाते हैं ॥ ३३ ॥ अत एव वर्तमानके सुख छोड़कर परलोकके सुखोंकी इच्छा करना ऐसा है जैसे कि मुखमें आये हुए मांसको छोड़कर मोहवश किसी शृगालका मछलीके

१. विरामम् । २. भूतचतुष्टयवादम् । ३. लोकायतिकसंबन्धिशङ्काम् । ४. प्रकृतं कुर्वन् । ५. भवेत् अ०, म०, स०, द०, प०, ल० । ६. गुडघातक्रीपिष्टपादयः । ७. चेतनायाः । ८. कायतन्त्र-व्यतिरेकेण । ९. तस्मात् कारणात् । १०. अधर्मः । ११. सुखच्युताः म०, ल० । -च्युतः अ० । १२. परलोक-प्रयोजना । १३. वाञ्छा । १४. जम्बुकस्य । १५. मरत्यवाञ्छया उत्पन्नम् ।

पिण्डस्यागाह्निहन्तीमे हस्तं प्रेत्य सुखेप्सया । विप्रलब्धाः समुत्सृष्टमोगा विचेतसः ॥३५॥

स्वमते युक्तिमित्युक्त्वा^१ विरते भूतवादिनि । विज्ञानमात्रमाश्रित्य प्रस्तुतज्जीवनास्तिताम् ॥३६॥

^२संभिन्नो वादकण्डूयाविजृम्भितमथोद्बुधन् । स्मितं स्वमतसंसिद्धिमियुपन्यस्यति^३ स्म सः ॥३७॥

जीववादिन ते कश्चिज्जीवोऽस्त्यनुपलब्धतः^४ । विज्ञप्तिमात्रमेवेदं क्षणमङ्गि यतो जगत् ॥३८॥

^५निरंशं तच्च विज्ञानं^६ निरन्वयविनश्वरम् । वेद्यवेदकसंवित्तिभागमिदं प्रकाशते ॥३९॥

सन्तानावस्थितेस्तस्य स्मृत्याद्यपि^७ वदामहे^८ ।^९ संवृत्त्या स च सन्तानः सन्तानिभ्यो न भिद्यते ॥४०॥

^{१०}प्रत्यभिज्ञादिकं भ्रान्तं^{११} वस्तुनि क्षणनश्वरे । यथा लूतपुनर्जातनखकेशादिषु वधश्चित्^{१२} ॥४१॥

लिए छल्लाँग भरना है । अर्थात् जिस प्रकार भृगाल मछलीकी आशासे मुख्यमें आये हुए मांसको छोड़कर पछताता है उसी प्रकार परलोकके सुखोंकी आशासे वर्तमानके सुखोंको छोड़नेवाला पुरुष भी पछताता है 'आधी छोड़ एकको धावै, ऐसा बूबा थाह न पावै' ॥३४॥ परलोकके सुखोंकी चाहसे ठगाये हुए जो मूर्ख मानव प्रत्यक्षके भागोंको छोड़ देते हैं वे मानो सामने परोसा हुआ भोजन छोड़कर हाथ ही चाटते हैं अर्थात् परोक्ष सुखकी आशासे वर्तमानके सुख छोड़ना भोजन छोड़कर हाथ चाटनेके तुल्य है ॥३५॥

इस प्रकार भूतवादी महामति मन्त्री अपने पक्षकी युक्तियाँ देकर जब थुप हो रहा तब बाद करनेकी खोजलीसे उत्पन्न हुए कुछ हास्यको धारण करनेवाला सम्भिन्नमति नामका तीसरा मन्त्री भी केवल विज्ञानवाक्का आश्रय लेकर जीवका अभाव सिद्ध करता हुआ नीचे लिखे अनुसार अपने मतकी सिद्धि करने लगा ॥३६-३७॥ वह बोला—हे जीववादिन् स्वयंबुद्ध, आपका कहा हुआ जीव नामका कोई पृथक् पदार्थ नहीं है क्योंकि उसको पृथक् उपलब्धि नहीं होती । यह समस्त जगत् विज्ञानमात्र है क्योंकि क्षणभंगुर है । जो-जो क्षण-भंगुर होते हैं वे सब ज्ञानके विकार होते हैं । यदि ज्ञानके विकार न होकर स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ होते तो वे नित्य होते, परन्तु संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है इसलिए वे सब ज्ञानके विकारमात्र हैं ॥३८॥ वह विज्ञान निरंश है—अयान्तर भागोंसे रहित है, बिना परस्परा उत्पन्न किये ही उसका नाश हो जाता है और वेद्य-वेदक तथा संवित्तिरूपसे भिन्न प्रकाशित होता है । अर्थात् वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है और न किसीको जानता ही है, एक क्षण रहकर समूल नष्ट हो जाता है ॥३९॥ वह ज्ञान नष्ट होनेके पहले ही अपनी सांश्रुतिक सन्तान छोड़ जाता है जिससे पदार्थोंका स्मरण होता रहता है । वह सन्तान अपने सन्तानों ज्ञानसे भिन्न नहीं है ॥४०॥ यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विज्ञानकी सन्तान प्रतिसन्तान मान लेनेसे पदार्थका स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिके लिए पदार्थको

१. भवान्तरे । २. विरामे सति । तूष्णीं स्थिते । ३. संभिन्नमतिः । ४. उपन्यासं करोति स्म । ५. अदर्शनात् । ६. वेद्यवेदकाद्यंशरहितम् । ७. अन्वयाधिष्णान्तं निरन्वयं, निरन्वयं विनश्यतीत्येवं शीलं निरन्वयविनश्वरम् । ८. संवित्तिभागाः संवित्तिभागाः वेद्याश्च वेदकाश्च वेद्यवेदका वेद्यवेदका एव संवित्तिभागास्तैः भिन्नं पृथक् । ९. घटनाम् । १०. गच्छतु । ११. भ्रान्त्या । १२. दर्शनस्मरणकारकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं यथा स एवाऽयं देवदत्तः । आदिशब्देन स्मृतिर्ग्राह्या । तद्यथा संस्कारोद्बोधनिवृत्तना सवित्याकारा स्मृतिः स देवदत्तो यथा ज्ञानम् । १३. भ्रान्तिः । १४. एकचत्वारिंशत्तमाच्छ्लोकादशे द्वापुस्तके निम्नाङ्कितः पाठोऽधिको वर्तते— "दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः । विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥१॥ पञ्चवेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया पञ्च मानसम् । धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥२॥ समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः । स चास्मात्मीयभावाकृपः समुदायसमाहृतः ॥३॥ अणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना मता । समानं इह विज्ञेयो तिरोधो मोक्ष उच्यते ॥४॥" 'ल' पुस्तकेऽपि प्रथमश्लोकस्य पूर्वार्द्धं त्यक्त्वा अर्धचतुर्थाः श्लोका उद्धृताः । अन्यत्र त०, ब०, प०, म०, स०, अ०, ट० पुस्तकेषु नास्त्येवासी पाठः ।

ततो विज्ञानसन्तान^१व्यतिरिक्तो न कश्चन । जीवसंज्ञः पदार्थोऽस्ति^२ प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥४२॥
 तदमुत्रात्मनो दुःखविज्ञानार्थं^३ प्रयस्यतः^४ । टिटिभस्येव^५ भीतिस्ते गगनादापतिष्यतः ॥४३॥
 ह्युदीर्य स्थिते तस्मिन् मन्त्रो शतमतिस्ततः । नैरात्म्यवादमालम्ब्य प्रोवाचेत्थं विकथनः^६ ॥४४॥
 शून्यमेव जगद्विश्वमिदं मिथ्यावभासते । भ्रान्तेः स्वप्नेन्द्रजालादौ हस्त्यादिप्रतिभासवन् ॥४५॥
 ततः कुतोऽस्ति^७ को जीवः परलोकः कुतोऽस्ति वा । असत्सर्वमिदं यस्माद् गन्धर्वनगरादिवत् ॥४६॥
 अतोऽमी परलोकार्थं तपोऽनुष्ठानतत्पराः । वृथैव क्लेशमायान्ति परमार्थानमिश्रकाः ॥४७॥
 धर्माश्चे यथा बहूद् दृष्ट्वा मरुमरीचिकाः । जलाशयानुधावन्ति तद्वद्भोगार्थिनोऽप्यमी ॥४८॥

अनेक क्षणस्थायी मानना चाहिए जो कि आपने माना नहीं है । पूर्व क्षणमें अनुभूत पदार्थका द्वितीयादि क्षणमें प्रत्यक्ष होनेपर जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । उक्त प्रश्नका समाधान इस प्रकार है—क्षणभंगुर पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान आदि होता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु भ्रान्त है । जिस प्रकारकी काटे जानेपर फिरसे बढ़े हुए नखों और केशोंमें 'ये वे ही नख केश हैं' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है ॥४१॥ * [संसारो स्कन्ध दुःख कहे जाते हैं । वे स्कन्ध विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूपके भेदसे पाँच प्रकारके कहे गये हैं । पाँचों इन्द्रियाँ, शब्द, रस, स्पर्श, धर्म उनके विषय हैं, जिनसे वे उत्पन्न होते हैं (क्षणीक) ये धारह आयतन हैं । जिस आत्मा और आत्मीय भावसे संसारमें हलानेवाले रागादि उत्पन्न होते हैं उसे समुदय सत्य कहते हैं । 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' इस प्रकारकी क्षणिक नैरात्म्यभाषना मार्ग सत्य है तथा इन स्कन्धोंके नाश होनेको निरोध अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥४१॥] इसलिए विज्ञानको सन्तानसे अतिरिक्त जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है जो कि परलोकरूप फलको भोगनेवाला हो ॥४२॥ अतएव परलोकसम्बन्धी दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेवाले पुरुषोंका परलोकभय वैसा ही है जैसा कि टिटिहरीको अपने ऊपर आकाशके पड़नेका भय होता है ॥४३॥

इस प्रकार विज्ञानवादी सम्भिन्नमति मन्त्री जब अपना अभिप्राय प्रकट कर चुप हो गया तब अपनी प्रशंसा करता हुआ शतमति नामका चौथा मन्त्री नैरात्म्यवाद (शून्यवाद) का आलम्बन कर नीचे लिखे अनुसार कहने लगा ॥४४॥ यह समस्त जगत् शून्यरूप है । इसमें नर, पशु-पक्षी, घट-पट आदि पदार्थोंका जो प्रतिभास होता है वह सब मिथ्या है । भ्रान्तिसे ही वैसा प्रतिभास होता है जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदिमें हाथी आदिका मिथ्या प्रतिभास होता है ॥४५॥ इसलिए जब कि सारा जगत् मिथ्या है तब तुम्हारा माना हुआ जीव कैसे सिद्ध हो सकता है और उसके अभावमें परलोक भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि यह सब गन्धर्वनगरकी तरह असत्स्वरूप है ॥४६॥ अतः जो पुरुष परलोकके लिए तपश्चरण तथा अनेक अनुष्ठान आदि करते हैं वे व्यर्थ ही क्लेशको प्राप्त होते हैं । ऐसे जीव यथार्थज्ञानसे रहित हैं ॥४७॥ जिस प्रकार ग्रीष्मऋतुमें मरुभूमिपर पड़ती हुई सूर्यकी चमकीली किरणोंको जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं उसी प्रकार ये भोगाभिलाषी मनुष्य परलोकके सुखोंको सब्बा सुख समझकर व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं—

१. भिन्नः । २. मृतोत्पत्तिः । ३. उत्तरभवे । ४. हानुमिच्छाये । ५. प्रयत्नं कुर्वतः । ६. कोयटिकस्य । ७. आत्मस्वाभावान् । ८. वा म०, क० । ९. यथा गन्धर्वनगरादयः शून्या भवन्ति तथैवेत्यर्थः ।
 * कोष्टकके अन्तर्गत भाग केवल 'व' और 'क' प्रतिके आधारपर है ।

इत्युद्ग्राह्य^१ कुदृष्टान्तकुहेतुभिरपार्थक्यम् । श्वरमत् सोऽप्यतो वक्तुं स्वयंबुद्धः^२ प्रचक्रमे ॥४९॥
 भूतवादिन् सृष्ट्या वक्ति स भवानात्मधूम्यस्ताम् । भूतेभ्यो अतिरिक्तस्य चैतन्यस्य प्रतीतितः ॥५०॥
 कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः । मिथो विरुद्धधर्मत्वात् तयोश्चिद्विदात्मनोः ॥५१॥
 कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगतः । तयोरन्तर्यहीरूपनिर्भासा^३ अवासि^४ कोशवत् ॥५२॥
 न भूतकार्यं चैतन्यं घटते तद्गुणोऽपि वा । ततो जात्यन्तरीभावात्तद्विभागेन^५ तद्ग्रहात्^६ ॥५३॥
 न विकारोऽपि देहस्य संविद्भवितुमर्हति । मस्मादि तद्विकारेभ्यो वैधर्म्यान्मूर्त्यनम्बवात् ॥५४॥
 गृहप्रदीपयोर्वदत् सन्बन्धो युतसिद्धयोः ।^७ आधाराधेयरूपत्वात् तद्देहोपयोगयोः ॥५५॥

उनकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं ॥४८॥ इस प्रकार खोटे दृष्टान्त और खोटे हेतुओं-द्वारा सारहीन वस्तुका प्रतिपादन कर जब शतमति भी चुप हो रहा तब स्वयंबुद्ध मन्त्री कहनेके लिए उद्यत हुए ॥४९॥

ये भूतवानि^१ 'आत्मा शरीर' हैं यह अज्ञ-विध्या कह रहे हैं क्योंकि पृथ्वी आदि भूतचतुष्टयके अतिरिक्त ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यकी भी प्रतीति होती है ॥५०॥ वह चैतन्य शरीररूप नहीं है और न शरीर चैतन्यरूप ही है क्योंकि दोनोंका परस्पर विरुद्ध स्वभाव है । चैतन्य चित्स्यरूप है—ज्ञान दर्शनरूप है और शरीर अचित्स्यरूप है—जड़ है ॥५१॥ शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते क्योंकि दोनोंमें परस्परविरोधी गुणोंका योग पाया जाता है । चैतन्यका प्रतिभास तलवारके समान अन्तरंगरूप होता है और शरीरका प्रतिभास म्यानके समान बहिरंगरूप होता है । भावार्थ—जिस प्रकार म्यानमें तलवार रहती है । यहाँ म्यान और तलवार दोनोंमें अभेद नहीं होता वसी प्रकार 'शरीरमें चैतन्य है' यहाँ शरीर और आत्मामें अभेद नहीं होता । प्रतिभासभेद होनेसे दोनों ही पृथक्-पृथक् पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥५२॥ यह चैतन्य न तो पृथिवी आदि भूतचतुष्टयका कार्य है और न उनका कोई गुण ही है । क्योंकि दोनोंकी जातियाँ पृथक्-पृथक् हैं । एक चैतन्यरूप है तो दूसरा जड़रूप है । यथार्थमें कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थोंमें ही होता है विजातीय पदार्थोंमें नहीं होता । इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि पृथिवी आदिसे बने हुए शरीरका ग्रहण उसके एक अंशरूप इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है जब कि ज्ञानरूप चैतन्यका स्वरूप अतीन्द्रिय है—ज्ञानमात्रसे ही जाना जाता है । यदि चैतन्य, पृथिवी आदिका कार्य अथवा स्वभाव होता तो पृथिवी आदिसे निर्मित शरीरके साथ-ही-साथ इन्द्रियों-द्वारा उसका भी ग्रहण अवश्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर और चैतन्य पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं ॥५३॥ वह चैतन्य शरीरका भी विकार नहीं हो सकता क्योंकि भस्म आदि जो शरीरके विकार हैं उनसे वह विसदृश होता है । यदि चैतन्य शरीरका विकार होता तो उसके भस्म आदि विकाररूप ही चैतन्य होना चाहिए या परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि चैतन्य शरीरका विकार नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि शरीरका विकार मूर्तिक होगा परन्तु यह चैतन्य अमूर्तिक है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित है—इन्द्रियों-द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता ॥५४॥ शरीर और आत्माका सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि धर और दीपकका होता

१. उक्त्वा । २. अनर्थकवचनम् । ३. उपक्रमं वकार । ४. दर्शनात् । ५. असिश्च कोशश्च असिकोला-
 विव । ६. तद्भूतविभागेन । ७. तच्चैतन्यस्वीकारात् । ८. असंबन्धात् । ९. पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धत्वम् ।
 "तावेवायुतसिद्धौ तो विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः । अवश्यमेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥" १०. आत्मा ।

‘सर्वाङ्गीकृतचैतन्यप्रतिभासाद्व्याधितात् । प्रत्यङ्गप्रविभक्त्यो भूतेभ्यः संविदो मिदा’ ॥५६॥
 कथं मूर्तिमतो देहाच्चैतन्यमतदारमकम्^१ । स्यादेतुफलभावो^२ हि न मूर्तामूर्तयोः कश्चित् ॥५७॥
 अमूर्तमक्षविज्ञानं मूर्तादक्षकदम्बकात् । दृष्टमुत्पद्यमानं चेन्नास्य मूर्तत्वसङ्गरात्^३ ॥५८॥
 बन्धं प्रत्येकतां विभज्यात्मा मूर्तेन कर्मणा । मूर्तः कथंचिदाक्षोऽपि^४ बोधः स्यान्मूर्तिमानतः ॥५९॥
 कायाकारेण भूतानां परिणामोऽन्यहेतुकः । कर्मसारथिमात्मानं^५ व्यतिरिच्य स कोऽपरः ॥६०॥
 अभूत्वा भवनाद्देहे भूत्वा च^६ भवनात् पुनः । जलबुद्बुदवर्जीवं मा मंस्थास्तद्विलक्षणम् ॥६१॥

है। आधार और आवेय रूप होनेसे घर और दीपक जिस प्रकार पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं ॥ ५५ ॥ आपका सिद्धान्त है कि शरीरके प्रत्येक अंगोपांगकी रचना पृथक्-पृथक् भूतचतुष्टयसे होती है सो इस सिद्धान्तके अनुसार शरीरके प्रत्येक अंगोपांगमें पृथक्-पृथक् चैतन्य होना चाहिए क्योंकि आपका मत है कि चैतन्य भूतचतुष्टयका ही कार्य है। परन्तु देखा इससे विपरीत जाता है। शरीरके सब अंगोपांगोंमें एक ही चैतन्यका प्रतिभास होता है, उसका कारण यह भी है कि जब शरीरके किसी एक अंगमें कण्टकादि चुभ जाता है तब सारे शरीरमें दुःखका अनुभव होता है। इससे मालूम होता है कि सब अंगोपांगोंमें व्याप्त होकर रहनेवाला चैतन्य भूतचतुष्टयका कार्य होता तो वह भी प्रत्येक अंगोंमें पृथक्-पृथक् ही होता ॥५६॥ इसके सिवाय इस बातका भी विचार करना चाहिए कि मूर्तिमान् शरीरसे मूर्तिरहित चैतन्यकी उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् पदार्थोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता ॥५७॥ कदाचित् आप यह कहें कि मूर्तिमान् पदार्थसे भी अमूर्तिमान् पदार्थकी उत्पत्ति हो सकती है, जैसे कि मूर्तिमान् इन्द्रियोंसे अमूर्तिमान् ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको हम मूर्तिक ही मानते हैं ॥५८॥ उसका कारण भी यह है कि यह आत्मा मूर्तिक कर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त कर एक रूप हो गया है इसलिए कथंचित् मूर्तिक माना जाता है। जब कि आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक माना जाता है तब इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको भी मूर्तिक मानना उचित है। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्तिक पदार्थोंसे अमूर्तिक पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥५९॥ इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयमें जो शरीरके आकार परिणमन हुआ है वह भी किसी अन्य निमित्तसे हुआ है। यदि उस निमित्तपर विचार किया जाये तो कर्मसहित संसारी आत्माको छोड़कर और दूसरा क्या निमित्त हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। भावार्थ—कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदि-को शरीररूप परिणमन करता है, इससे शरीर और आत्माकी सत्ता पृथक् सिद्ध होती है ॥६०॥ यदि कहो कि जीव पहले नहीं था, शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है और शरीरके साथ ही नष्ट हो जाता है इसलिए जलके बबूलेके समान है जैसे जलका बबूला जलमें ही उत्पन्न होकर उसीमें नष्ट हो जाता है वैसे ही यह जीव भी शरीरके साथ उत्पन्न होकर उसीके साथ नष्ट हो जाता है सो आपका यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर और जीव दोनों ही विलक्षण-विसदृश पदार्थ हैं। विसदृश पदार्थसे विसदृश पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती ॥६१॥

१. सर्वाङ्गभवम् । २. मिदा भेदः । ३. अमूर्तमक्षम् । ४. कारणकार्यभावः । ५. प्रतिज्ञायाः । ६. अक्षेप्पो भवः । ७. त्यक्त्वा । ८. वा अ०, स०, द०, ल० ।

शरीरं किमुपादानं संविदः सहकारि वा । नोपादानमुपादेयाद् विजातीयत्वदर्शनात् ॥६२॥

^१सहकारीति चेदिष्टमुपादानं तु सृज्यताम् । ^२सूक्ष्मभूतसमाहारस्तदुपादानमित्यसत् ॥६३॥

ततो भूतमयाद् देहाद् व्यतिभिन्नं स्वलक्षणम्^३ । जीवद्रव्यमुपादानं चैतन्यस्येति गृह्यताम् ॥६४॥

एतेनैव प्रतिक्षिप्तं^४ मदिराक्लृप्तनिदर्शनम् । मदिराक्लेषविशेषिण्या मदशक्तेर्विभावनात्^५ ॥६५॥

सत्त्वं^६ भूतोपसृष्टोज्यं भूतवादी कुतोऽन्यथा । भूतमात्रमिदं विश्वमभूतं प्रतिपादयेत् ॥६६॥

पृथिव्यादिष्वनुद्भूतं चैतन्यं पूर्वमस्ति चेत् । नाचेतनेषु चैतन्यशक्तेर्व्यक्तमनन्वयान्^७ ॥६७॥

^८आद्यन्तौ देहिनां देहौ न विना भवतिस्तन् । पूर्वोत्तरे सविष्यद्विधानत्वात्तन्मध्यदेहवत् ॥६८॥

आपका कहना है कि शरीरसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है—यहाँ हम पूछते हैं कि शरीर चैतन्य-की उत्पत्तिमें उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण ? उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उपादेय—चैतन्यसे शरीर विजातीय पदार्थ है । यदि सहकारी कारण मानो तो यह हमें भी इष्ट है परन्तु उपादान कारणकी खोज फिर भी करनी चाहिए । कदाचित् यह कहो कि सूक्ष्म रूपसे परिणत भूतचतुष्टयका समुदाय ही उपादान कारण है तो आपका यह कहना असत् है क्योंकि सूक्ष्म भूतचतुष्टयके संयोग-द्वारा उत्पन्न हुए शरीरसे वह चैतन्य पृथक् ही प्रतिभासित होता है । इसलिए जीवद्रव्यको ही चैतन्यका उपादान कारण मानना ठीक है चूँकि वही उसका सजातीय और स्वलक्षण है ॥६२-६४॥ भूतवादीने जो पुष्प, गुड़, पानी आदिके मिलनेसे मदशक्तिके उत्पन्न होनेका दृष्टान्त दिया है, उपर्युक्त कथनसे उसका भी निराकरण हो जाता है क्योंकि मदिराके कारण जो गुड़ आदि हैं वे जड़ और मूर्तिक हैं तथा उनसे जो मादक शक्ति उत्पन्न होती है वह भी जड़ और मूर्तिक है । भावार्थ—मादक शक्तिका उदाहरण विषम है । क्योंकि प्रकृतमें आप सिद्ध करना चाहते हैं विजातीय द्रव्यसे विजातीयकी उत्पत्ति और उदाहरण दे रहे हैं सजातीय द्रव्यसे सजातीयकी उत्पत्तिका ॥६५॥ वास्तवमें भूतवादी चार्वाक भूत-पिशाचोंसे प्रसित हुआ जान पड़ता है । यदि ऐसा नहीं होता तो इस संसारको जीवरहित केवल पृथिवी, जल, तेज, वायुरूप ही कैसे कहता ? ॥६६॥ कदाचित् भूतवादी यह कहे कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयमें चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूपसे पहलेसे ही रहती है सो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन पदार्थमें चेतनशक्ति नहीं पायी जाती, यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥६७॥ इस उपर्युक्त कथनसे सिद्ध हुआ कि जोष कोई भिन्न पदार्थ है और ज्ञान उसका लक्षण है । जैसे इस वर्तमान शरीरमें जीवका अस्तित्व है उसी प्रकार पिछले और आगेके शरीरमें भी उसका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि जीवोंका वर्तमान शरीर पिछले शरीरके बिना नहीं हो सकता । उसका कारण यह है कि वर्तमान शरीरमें स्थित आत्मामें जो दुग्धपानादि क्रियाएँ देखी जाती हैं वे पूर्वभवका संस्कार ही हैं । यदि वर्तमान शरीरके पहले इस जीवका कोई शरीर नहीं होता और यह नवीन ही उत्पन्न हुआ होता तो जीवकी सहसा दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार वर्तमान शरीरके बाद भी यह जीव कोई-न-कोई शरीर धारण करेगा क्योंकि ऐन्द्रियिक ज्ञानसहित आत्मा बिना शरीरके रह नहीं सकता ॥६८॥

१. शरीरम् । २. सूक्ष्मभूतचतुष्टयसंयोगः । ३. चैतन्यम् । ४. निराकृतम् । ५. सद्भावात्, वा संभवात् । ६. ग्रहाविष्टः । ७. असंवन्यात् । ८. "आद्यन्तौ देहिनां देहौ" इत्यत्र देहिनामाद्यन्तदेहौ पूर्वोत्तरे तन् विना न भवतः । सविष्यद्विधानत्वात् मध्यदेहवत् इत्यस्मिन् अनुमाने आदिभूतो देहः उत्तरतन् विना न भवति अन्तदेहस्तु पूर्वतन् विना न भवति" इत्यर्थः ।

^१तौ देहौ यत्र तं विद्धि परलोकसंशयम् । तद्वाञ्छ परलोको स्यात् प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥६९॥

जात्यनुस्मरणाजीवगतागतविनिश्चयात् । आप्तोक्तिसंभवाच्चैव जीवास्तित्वविनिश्चयः ॥७०॥

अन्यप्रेरितमेतस्य शरीरस्य विचेष्टितम् । हिताहितामिसंधा^२नाद्यन्त्रस्येव विचेष्टितम् ॥७१॥

चैतन्यं भूतसंयोगाद् यदि चेत्थं प्रजायते । ^३पिष्टे ^४स्थितायाधिष्ठिते स्यात्तत्समुद्भवः ॥७२॥

इत्यादिभूतवादीदृढतदुपपत्तिसंभवात् । मुख्यप्रलपितं ^५तस्य मतमित्यवधीर्यताम् ॥७३॥

विज्ञप्तिमात्रसंतिद्धिर्न विज्ञानादिहास्ति ते । साध्यसाधनयोरैक्यात् कुतस्तत्त्वविनिश्चितिः ॥७४॥

विज्ञानव्यतिरिक्तस्य ^६वाक्यस्येह प्रयोगतः । बहिरर्थस्य संसिद्धिर्विज्ञानं तद्वच्चोऽपि चेत् ॥७५॥

^७किं केन साधितं ^८तस्यान्मुख्यविज्ञप्तिमात्रकम् । कुतो प्राद्यादिभेदोऽपि ^९विज्ञानैक्ये निरंशके ॥७६॥

अहाँ यह जीव अपने अगले-पिछले शरीरोंसे युक्त होता है वही उसका परलोक कहलाता है और उन शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा परलोको कहा जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोक-सम्बन्धी पुण्य-पापोंके फलको भोगता है ॥६९॥ इसके सिवाय, जातिस्मरणसे जीवन-मरण-रूप आवागमनसे और आप्तप्रणीत आगमसे भी जीवका पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है ॥७०॥ जिस प्रकार किसी यन्त्रमें जो हलन-चलन होता है वह किसी अन्य चालककी प्रेरणासे होता है। इसी प्रकार इस शरीरमें भी जो यातायातरूपी हलन-चलन हो रहा है वह भी किसी अन्य चालककी प्रेरणासे ही हो रहा है वह चालक आत्मा ही है। इसके सिवाय शरीरकी जो चेष्टाएँ होती हैं सो हित-अहितके विचारपूर्वक होती हैं—इससे भी जीवका अस्तित्व पृथक् जाना जाता है ॥७१॥ यदि आपके कहे अनुसार पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकानेके लिए आगपर रखी हुई बटलोईमें भी जीवकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि, पानी, वायु और पृथिवीरूप भूतचतुष्टयका संयोग होता है ॥७२॥ इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भूतवादियोंके मतमें अनेक दूषण हैं इसलिए यह निश्चय समझिए कि भूतवादियोंका मत निरे मुखोंका प्रलाप है उसमें कुछ भी सार नहीं है ॥७३॥

इसके अनन्तर स्वयंबुद्धने विज्ञानवादीसे कहा कि आप इस जगत्को विज्ञान मात्र मानते हैं—विज्ञानसे अतिरिक्त किसी पदार्थका सद्भाव नहीं मानते परन्तु विज्ञानसे ही विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आपके मतानुसार साध्य, साधन दोनों एक हो जाते हैं—विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही साधन होता है। ऐसी हालतमें तत्त्वका निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥७४॥ एक बात यह भी है कि संसारमें बाह्यपदार्थोंकी सिद्धि वाक्योंके प्रयोगसे ही होती है। यदि वाक्योंका प्रयोग न किया जाये तो किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होगी और उस अवस्थामें संसारका व्यवहार बन्द हो जायेगा। यदि वह वाक्य विज्ञानसे भिन्न है तो वाक्योंका प्रयोग रहते हुए विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। यदि वह कहो कि वे वाक्य भी विज्ञान ही हैं तो हे मूर्ख, बता कि तूने 'यह संसार विज्ञान मात्र है' इस विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि किसके द्वारा की है ? इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि जब तू निरंश निर्विभाग विज्ञानको ही मानता है तब प्राण आदिका भेदव्यवहार किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? भावार्थ—विज्ञान पदार्थोंको जानता है इसलिए

१. देहौ नो अ०, द०, स०, प० । तौ पूर्वोत्तरी । २. अभिप्रायात् । ३. स्यात्वायम् । ४. पचनाय । ५. चार्वाकस्य । ६. अवज्ञाक्रियताम् ।—वाच्यताम् म०, ल० । ७. विज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति वक्ति । ८. विज्ञानम् । ९. विज्ञप्तिप्रतिपादकस्य । १०. किं किं न प० । ११. विज्ञानम् । १२. विज्ञानाद्वैते ।

विज्ञप्तिविषयाकारशून्यत्वा न प्रतिमासते । प्रकाश्येन विना सिद्ध्येत् क्वचित् किन्तु प्रकाशकम् ॥७७॥
 विज्ञप्त्या परसंबित्तेर्ग्रहः स्याद् वा न वा तत्र । तद्ग्रहे सर्वविज्ञाननिरालम्बनताक्षतिः ॥७८॥
 तद्ग्रहेऽन्यसंतानसाधने का गतिस्तत्र । अनुमानेन तत्सिद्धौ ननु बाह्यार्थमस्थितिः ७९॥
 विज्ञं विज्ञप्तिमात्रं चेद् वाग्विज्ञानं भृषाखिलम् । भवेद् बाह्यार्थशून्यत्वात् कुतः सत्येतरस्थितिः ॥८०॥
 ततोऽस्ति बहिरर्थोऽपि साधनादिप्रयोगतः । तस्माद् विज्ञप्तिबाहोऽयं कालालपितपेक्षवः ॥८१॥
 शून्यत्वादेऽपि शून्यत्वप्रतिपादि वक्षस्तत्र । विज्ञानं चास्ति वा नेति विकल्पद्वयकल्पना ॥८२॥
 वाग्विज्ञानं समस्तीदमिति हन्त हतो भवान् । तद्वक्तृस्त्वस्य संसिद्धेरन्यथा^१ शून्यता कुतः ॥८३॥

ग्राहक कहलाता है और पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं जब तू ग्राह्य-पदार्थोंको सत्ता ही स्वीकृत नहीं करता तो ज्ञान-ग्राहक किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? यदि ग्राह्यको स्वीकार करता है तो विज्ञानका अद्वैत नष्ट हुआ जाता है ॥७५-७६॥ ज्ञानका प्रतिभास घट-पटादि विषयोंके आकारसे शून्य नहीं होता अर्थात् घट-पटादि विषयोंके रहते हुए ही ज्ञान उन्हें जान सकता है, अतः घट-पटादि विषयोंके होनेसे ज्ञान भी नहीं हो सकता । क्या कभी प्रकाश करने योग्य पदार्थोंके बिना भी कहीं कोई प्रकाशक प्रकाश करनेवाला होता है ? अर्थात् नहीं होता । इस प्रकार यदि ज्ञानको मानते हो तो उसके विषयभूत पदार्थोंको भी मानना चाहिए ॥७७॥ हम पूछते हैं कि आपके मतमें एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानका ग्रहण होता है अथवा नहीं ? यदि होता है तो आपके माने हुए विज्ञानमें निरालम्बनताका अभाव हुआ अर्थात् वह विज्ञान निरालम्ब नहीं रहा, उसने द्वितीय विज्ञानको जाना इसलिए उन दोनोंमें ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो गया जो कि विज्ञानाद्वैतका बाधक है । यदि यह कहो कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञानको ग्रहण नहीं करता तो फिर आप उस द्वितीय विज्ञानको जो कि अन्य सन्तान-रूप है, सिद्ध करनेके लिए क्या हेतु देंगे ? कदाचित् अनुमानसे उसे सिद्ध करोगे तो घट-पट आदि बाह्य पदार्थोंकी स्थिति भी अवश्य सिद्ध हो जायेगी क्योंकि जब साध्य-साधनरूप अनुमान मान लिया तब विज्ञानाद्वैत कहाँ रहा ? उसके अभावमें अनुमानके विषयभूत घट-पटादि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥७८-७९॥ यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही है तो फिर समस्त वाक्य और ज्ञान मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि जब बाह्य घट-पटादि पदार्थ ही नहीं है तो 'ये वाक्य और ज्ञान सत्य हैं तथा ये असत्य' यह सत्यासत्य व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? ॥ ८० ॥ जब आप साधन आदिका प्रयोग करते हैं तब साधनसे भिन्न साध्य भी मानना पड़ेगा और वह साध्य घट-पट आदि बाह्य पदार्थ ही होगा । इस तरह विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका भी सद्भाव सिद्ध हो जाता है । इसलिए आपका यह विज्ञानाद्वैतवाद केवल बालकोंकी बोलीके समान सुननेमें ही मनोहर लगता है ॥८१॥

इस प्रकार विज्ञानवादका खण्डन कर स्वयम्बुद्ध शून्यवादका खण्डन करनेके लिए तत्पर हुए । वे बोले कि-आपके शून्यवादमें भी, शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वचन और उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है, या नहीं ? इस प्रकार वो विकल्प उत्पन्न होते हैं ॥८२॥ यदि आप इन विकल्पोंके उत्तरमें यह कहें कि हाँ, शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वचन और ज्ञान दोनों ही हैं; तब खेदके साथ कहना पड़ता है कि आप जीत लिये गये क्योंकि वाक्य और

१. परा चासौ संबित्तिश्च । २. उपायः । ३. अविलोषः, अथवा क्षीणः ।-पेशलः ल० । ४. वाक् च विज्ञानं च वाग्विज्ञानम् । ५. वाग्विज्ञानाभावे सति ।

तदस्या^१ कपितं शून्यसुन्मत्तं^२ निहतोपमम् । ततोऽस्ति जीवो धर्मश्च दयासंयमलक्षणः ॥८४॥
 'सर्वज्ञोपज्ञमेवैतत् तत्त्वं तत्त्वविदां मतम् । 'आत्मन्मन्यमताम्यम्यान्यवहेयान्यतो बुधैः ॥८५॥
 इति तद्वचनाज्जाता परिधरसकलैश्च सा । 'निरांकात्मसद्भावे' संप्रीतश्च सभापतिः ॥८६॥
 परवादिनगास्तेऽपि स्वयंभुद्वयचोऽज्ञानेः । निष्ठुरापातमासाद्य सद्यः प्रग्लानिमागताः ॥८७॥
 पुनः प्रधानतगम्भीरे स्थिते तस्मिन् सदस्यसौ । दृष्टश्रुतानुभूतार्थसंबन्धीदमभाषत ॥८८॥
 शृणु मोक्षं महाराज वृत्तमाख्यानकं पुरा । खेन्द्रोऽभूदरविन्द्राख्यो भवद्वंशशिखामणिः ॥८९॥
 स ह्यमां पुण्यपाकेन शास्ति स्म परमां पुरीम् । उद्भूतप्रतिसामन्तदोर्दपोभवसर्पवन्^३ ॥९०॥
 विषयानम्बभूद् दिव्यानसौ खेचरगोचरान् । अभूतो हरिचन्द्रश्च कुरुविन्दश्च तत्सुतौ ॥९१॥
 स बह्मरश्मसंरे^४ भ्रमरौद्रध्यानाभिसंधिना । बन्ध नरकायुष्यं तीव्रासातफलोदयम् ॥९२॥
 प्रयासप्रसृतेस्तस्य दाहज्वरविज्झितः । बबूधे तनुसंतापः कदाचिदितिदुःसहः ॥९३॥

विज्ञानकी तरह आपको सब पदार्थ मानने पड़ेंगे। यदि यह कहो कि हम वाक्य और विज्ञान-
 को नहीं मानते तो फिर शून्यताकी सिद्धि किस प्रकार होगी? भावार्थ—यदि आप शून्यता
 प्रतिपादक वचन और विज्ञानको स्वीकार करते हैं तो वचन और विज्ञानके विषयभूत जीवादि
 समस्त पदार्थ भी स्वीकृत करने पड़ेंगे। इसलिए शून्यवाद नष्ट हो जायेगा और यदि वचन
 तथा विज्ञानको स्वीकृत नहीं करते हैं, तब शून्यवादका समर्थन व मनन किसके द्वारा करेंगे?
 ॥८३॥ ऐसी अवस्थामें आपका यह शून्यवादका प्रतिपादन करना उन्मत्त पुरुषके रोनेके समान
 व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादिसे पृथक् पदार्थ है तथा दया, संयम
 आदि लक्षणवाला धर्म भी अवश्य है ॥८४॥

तत्त्वज्ञ मनुष्य उन्हीं तत्त्वोंको मानते हैं जो सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे हुए हों। इसलिए
 विद्वानोंको चाहिए कि वे आत्माभास पुरुषों-द्वारा कहे हुए तत्त्वोंको हेय समझें ॥८५॥ इस
 प्रकार स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके वचनोंसे वह सम्पूर्ण सभा आत्माके सद्भावके विषयमें संशयरहित
 हो गयी अर्थात् सभीने आत्माका पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया और सभाके अधिपति
 राजा महाबल भी अतिशय प्रसन्न हुए ॥ ८६ ॥ वे परवादीरूपी वृद्ध भी स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके
 वचनरूपी वज्रके कठोर प्रहारसे शीघ्र ही म्लान हो गये ॥८७॥ इसके अनन्तर जब सब सभा
 शान्तभावसे चुपचाप बैठ गयी तब स्वयम्बुद्ध मन्त्री दृष्ट श्रुत और अनुभूत पदार्थसे सम्बन्ध
 रखनेवाली कथा कहने लगे ॥८८॥

हे महाराज, मैं एक कथा कहता हूँ उसे सुनिए। कुछ समय पहले आपके वंशमें घृङ्गा-
 मणिके समान एक अरविन्द नामका विद्याधर हुआ था ॥८९॥ वह अपने पुण्योदयसे
 अहंकारी शत्रुओंके मुजाओंका गर्व दूर करता हुआ इस उत्कृष्ट अलका नगरीका शासन करता
 था ॥९०॥ वह राजा विद्याधरोंके योग्य अनेक उत्तमोत्तम भोगोंका अनुभव करता रहता था।
 उसके दो पुत्र हुए, एकका नाम हरिचन्द्र और दूसरेका नाम कुरुविन्द था ॥९१॥ उस
 अरविन्द राजाने बहुत आरम्भको बढ़ानेवाले रौद्रध्यानके चिन्तनसे तीव्र दुःख देनेवाली
 नरकआयुका बन्ध कर लिया था ॥९२॥ जब उसके मरनेके दिन निकट आये तब

१. तत् कारणात् । २. शून्यवादिनः । ३. वचः । ४. सर्वज्ञेन प्रथमोपदिष्टम् । ५. आत्मानमाप्तं
 मन्यन्ते इत्याप्तम्मन्याः तेषां मतानि । ६. निरसन्देहा । ७. आत्मास्तित्वे । ८. कथाम् । ९. अपसारयन् ।
 १०. प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादतः प्रयत्नावेशः संरम्भ इत्युच्यते ।

कङ्कारवारिभिर्भूतशीतलीतलिकानिलैः । न निर्बृतिमसौ लेभे हरिश्चन्द्र हरिचन्दनैः ॥९४॥

विधासु विमुखीभावं स्वासु यातासु दुर्मदी । पुण्यक्षयात् परिक्षीणमवशक्तिरिवेमराट् ॥९५॥

दाहज्वरपरीताङ्गः संतापं लोकुमक्षमः । हरिचन्द्रमथाहूय सुतमित्यादिशब्दं वचः ॥९६॥

अङ्ग पुत्र ममाङ्गेषु संतापो वर्द्धतेतराम् । पश्य कङ्कारहाराणां परिम्लानि तत्पर्पणात् ॥९७॥

तन्मासुदक्कुरुन् पुत्र प्रापयाशु स्वविद्यया । तद्वच शीताम् वनोद्देशान् सोलानद्यास्तटाश्रितान् ॥९८॥

तत्र कल्पतरुन् धुन्वन् सीतावीचिचयोस्थितः । दाहान्मां मातरिदृष्ट्वास्मादुपशान्तिं स नेष्यति ॥९९॥

इति तद्वचनाद् विद्यां प्रैषिषद् व्योमगामिनीम् । स सूनुः साप्यपुण्यस्य नामूतस्योपकारिणी ॥१००॥

विद्यावैमुख्यतो ज्ञात्वा पितुर्व्याघरेसाध्यताम् । सुतः कर्तव्यतामूढः सोऽमूढद्विग्नमानसः ॥१०१॥

अथान्येचुरमुष्याङ्गे पेतुः शोणितविन्दवः । मिथःकलहविशिलष्टगृहकोकिलबालधेः ॥१०२॥

तैश्च तस्य कलङ्गिणि निवृत्तुः पापदोषतः । सोऽमुष्यचेति दिष्ट्याद्य परं लब्धं मयौषधम् ॥१०३॥

ततोऽभ्यं कुरुविन्दारुचं सुनुमाहूय सोऽववत् । पुत्र मे रुधिरापूर्णा वाप्येका क्रियतामिति ॥१०४॥

उसके दाहज्वर उत्पन्न हो गया जिससे दिनों-दिन शरीरका अत्यन्त दुःसह सन्ताप बढ़ने लगा ॥९३॥ वह राजा न तो लाल कमलोंसे सुवासित जलके द्वारा, न पंखोंकी शीतल हवाके द्वारा, न मणियोंके हारके द्वारा और न चन्दनके लेपके द्वारा ही सुख-शान्तिको पा सका था ॥९४॥ उस समय पुण्यक्षय होनेसे उसकी समस्त विद्याएँ उसे छोड़कर चली गयी थीं इसलिए वह उस गजराजके समान अशक्त हो गया था जिसकी कि मदशक्ति सर्वथा क्षीण हो गयी हो ॥९५॥ जब वह दाहज्वरसे समस्त शरीरमें बेचैनी पैदा करनेवाले सन्तापको नहीं सह सका तब उसने एक दिन अपने हरिचन्द्र पुत्रको बुलाकर कहा ॥९६॥ हे पुत्र, मेरे शरीरमें यह सन्ताप बढ़ता ही जाता है । देखो तो, लाल कमलोंकी जो मालाएँ सन्ताप दूर करनेके लिए शरीरपर रखी गयी थीं वे कैसी मुरझा गयी हैं ॥९७॥ इसलिए हे पुत्र, तुम मुझे अपनी विद्याके द्वारा शीघ्र ही उत्तरकुह देशमें भेज दो और उत्तरकुहमें भी उन वनोंमें भेजना जो कि सांतोदा नदीके तटपर स्थित हैं तथा अत्यन्त शीतल हैं ॥९८॥ कल्पवृक्षोंको हिलानेवाली तथा सीता नदीकी तरंगोंसे उठी हुई वहाँकी शीतल वायु मेरे इस सन्तापको अवश्य ही शान्त कर देगी ॥९९॥ पिताके ऐसे वचन सुनकर राजपुत्र हरिचन्द्रने अपनी आकाशगामिनी विद्या भेजी परन्तु राजा अरविन्दका पुण्य क्षीण हो चुका था इसलिए वह विद्या भी उसका उपकार नहीं कर सकी अर्थात् उसे उत्तरकुह देश नहीं भेज सकी ॥१००॥ जब आकाशगामिनी विद्या भी अपने कार्यसे विमुख हो गयी तब पुत्रने समझ लिया कि पिताकी बीमारी असाध्य है । इससे वह बहुत उदास हुआ और किंकर्तव्यविमूढ-सा हो गया ॥१०१॥ अनन्तर किसी एक दिन दो छिपकली परस्परमें लड़ रही थीं । लड़ते-लड़ते एककी पूँछ टूट गयी, पूँछसे निकली हुई खूनकी कुछ बूँदें राजा अरविन्दके शरीरपर आकर पड़ीं ॥१०२॥ उन खूनकी बूँदोंसे उसका शरीर ठण्डा हो गया-दाहज्वरकी व्यथा शान्त हो गयी । पापके उदयसे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और विचारने लगा कि आज मैंने दैवयोगसे बड़ी अच्छी ओषधि पा ली है ॥१०३॥ उसने कुरुविन्द नामके दूसरे पुत्रको बुलाकर कहा कि हे पुत्र, मेरे

१. कङ्कारं सौगन्धिकं कमलम् । २. तालवृन्तकम् । ३. सुखम् । ४. परीताङ्गं ल० । ५. शरीरार्पणात् । ६. उत्तरकुहम् । ७. प्रेषयति स्म । ८. दृष्ट गत्यामिति घातुः । ८. उद्वेगयुक्तमनाः । ९. गृह-गोधिक-म०, ल० । १०. गृहगोधिका । ११. शैत्यं ववुरित्यर्थः । १२. सोऽमुष्यचेति ल० । १३. दैवेन । १४. कार्यतामिति ।

पुनरप्यवलम्ब्य विमलं स्मिन् वनान्तरे । मृगा बहुविधाः सन्ति तैस्त्वं प्रकृतमाचरः ॥१०५॥
 स तद्ब्रूयमाकर्ण्य पाप्मीरुर्विचिन्त्य च । तत्कर्मोपायं वन् कर्तुं मूर्खभूतः क्षणं स्थितः ॥१०६॥
 प्रत्यासन्नमृतिं बुद्ध्वा तं बद्धनरकायुषम् । दिव्यज्ञानदशः साधोस्तत्कार्येऽभूत् स शीतकः ॥१०७॥
 अनुल्लङ्घ्यं पितुर्वीर्यं मन्यमानस्तथाप्यसौ । कृत्रिमैः^१ क्षतजैः पूर्णां वापीमेकामकारयत् ॥१०८॥
 स तदाकर्णनात् प्रीतिमगमत् पापपण्डितः । अलङ्घ्यपूर्वमासाद्य निधानमिव दुर्गतः^२ ॥१०९॥
 कारिमारुणरामेश चारिणा विप्रतारितः । बहु मेने^३ स तां पापो वापीं वैतरणीमिव ॥११०॥
 तन्नानीतश्च तन्मध्ये यथेष्टं शयितोऽमुतः । चिक्रीड कृतगण्डूयः कृतकं तदनुद्ध च ॥१११॥
 नरकायुरपर्याप्तं^४ पर्यापिपयिषश्चिव । दधे स^५ तुग्बधे चित्तमधीः पापोदधेर्विधुः ॥११२॥
 स हृष्टः पुत्रमाहन्तुमाधावन् पतितोऽन्तरे । स्वासिधेनुकया^६ दीर्णहृदयो मृत्तिमासदत् ॥११३॥
 स तथा^७ दुर्मृतिं प्राप्य गतः^८ श्वाभीमधर्मतः । कथेयमधुनाप्यस्यां नगर्यां स्मर्यते जनैः ॥११४॥
 ततो भग्नैर्हरदनो दन्तीवानमिताननः । उरुतातफणमाणिक्यो महाहिरिव निष्पन्नः ॥११५॥

लिए खूनसे भरी हुई एक बावड़ी बनवा दो ॥१०४॥ राजा अरविन्दको विभंगायधि ज्ञान था इसलिए विचार कर फिर बोला-इसी समीपवर्ती वनमें अनेक प्रकारके मृग रहते हैं वहींसे तू अपना काम कर अर्थात् उन्हें मारकर उनके खूनसे बावड़ी भर दे ॥१०५॥ वह कुहविन्द पापसे डरता रहता था इसलिए पिताके ऐसे वचन सुनकर तथा कुछ विचारकर पापमय कार्य करनेके लिए असमर्थ होता हुआ क्षण-भर चुपचाप खड़ा रहा ॥१०६॥ तत्पश्चात् वनमें गया वहाँ किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिसे जब उसे मालूम हुआ कि हमारे पिताकी मृत्यु अत्यन्त निकट है तथा उन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है तब वह उस पापकर्मके करनेसे रुक गया ॥१०७॥ परन्तु पिताके वचन भी उल्लंघन करने योग्य नहीं हैं ऐसा मानकर उसने कृत्रिम रुधिर अर्थात् लाखके रंगसे भरी हुई एक बावड़ी बनवायी ॥१०८॥ पापकार्य करनेमें अतिशय चतुर राजा अरविन्दने जब बावड़ी तैयार होनेका समाचार सुना तब वह बहुत ही हर्षित हुआ जैसे कोई दरिद्र पुरुष पहले कमी प्राप्त नहीं हुए निधानको देखकर हर्षित होता है ॥१०९॥ जिस प्रकार पापी-नारकी जीव वैतरणी नदीको बहुत अच्छी मानता है उसी प्रकार वह पापी अरविन्द राजा भी लाखके लाल रंगसे धोखा खाकर अर्थात् सचमुचका रुधिर समझकर उस बावड़ीको बहुत अच्छी मान रहा था ॥११०॥ जब वह उस बावड़ीके पास लाया गया तो आते ही उसके बीचमें सो गया और इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा । परन्तु कुल्ला करते ही उसे मालूम हो गया कि यह कृत्रिम रुधिर है ॥१११॥ यह जानकर पापरूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान वह बुद्धिरहित राजा अरविन्द, मानो नरककी पूर्ण आयु प्राप्त करनेकी इच्छासे ही हृष्ट होकर पुत्रको मारनेके लिए दौड़ा परन्तु बीचमें इस तरह गिरा कि अपनी ही तलवारसे उसका हृदय विदीर्ण हो गया तथा मर गया ॥११२-११३॥ वह कुमरणको पाकर पापके योगसे नरकगतिको प्राप्त हुआ । हे राजन् ! यह कथा इस अलका नगरीमें लोगोंको आजतक याद है ॥११४॥ जिस प्रकार दौत दूट जानेसे हाथी अपना सुँह नीचा कर लेता है अथवा जिस प्रकार फणका मणि उखाड़ लेनेसे सर्प तेज-

१. अतीरयन् असमर्थो भवन्नित्यर्थः । २. मन्दः । 'शीतकोऽलसोऽनुष्णः' इत्यमरः । ३. रक्तेः । ४. दरिद्रः । ५. कृत्रिम । ६. वञ्चितः । ७. बहुमन्यते स्म । ८. तां वर्यां वापीं वै-अ० । ९. नरकनदीम् । १०. नरकायुरपर्याप्तं ५०, ६०, ७० । ११. पर्याप्तं कर्तुमिच्छन् । १२. पुत्रहिसायाम् । १३. स्वच्छुरिकया । १४. दीर्णं विदारितम् । १५. तदा ६०, ५०, ७० । १६ नरकगतिम् ।

पितुर्मानोरिवापायात् कुरुषिन्दोऽरविन्दवत् । परिम्लान्तनुच्छायः स शोच्याभगमद् दशाम् ॥११६॥
तथात्रैव भवद्वंशे विस्तीर्णं जलधाविष । दण्डो नास्नामवत् खेन्द्रो दण्डितारातिमण्डलः ॥११७॥
मणिमालीत्यभूतस्मात् सूनुमंसिरिवाम्बुधेः । नियोज्य पौत्रराज्ये तं स्वेष्टान् भोगानभुङ्क्त सः ॥११८॥
भुक्त्वापि सुचिरं भोगान्नातृप्यद् विषयोऽसुकः । प्रत्युतासक्तिममजत् स्त्रीवस्त्राभरणादिषु ॥११९॥
सोऽत्यन्तविषयासक्तिकृतकौटिल्यं चेष्टितः । वयम्ब तीव्रसंकलेशात् तिरश्चात्मायुरार्सधीः ॥१२०॥
जीवितान्ते स कुप्यन्मासार्त्तमापूर्य कुर्मतेः । भण्डागारे निजे मोहान् महानजगरोऽजनि ॥१२१॥
स जातिस्मरतां गत्वा भण्डागारिकवद् भूतम् । तत्प्रवेशे निजं सूनुमन्वमस्त न चापरम् ॥१२२॥
अन्येषुरवधिज्ञानलोचनान्मुनिपुङ्गवात् । मणिमाली पितुर्ज्ञात्वा तं वृक्षान्त्रमशेषतः ॥१२३॥
पितृवक्त्या स तन्मूर्च्छामपहर्तुमनाः सुधीः । शयोरप्य शनैः स्थित्वा स्नेहार्द्रां गिरमभ्यधात् ॥१२४॥
पितः पतिव्रतानस्यां कुपोनावधुना त्वकम् । विषयासंक्रोधेन धृतमूर्च्छो धनर्क्षिषु ॥१२५॥
ततो धिगिदमत्यन्तकटुकं विषयामिषम् । चमैतद् दुर्जगरं तात किम्पाकफलसन्निभम् ॥१२६॥

रहित हो जाता है अथवा सूर्य अस्त हो जानेसे जिस प्रकार कमल मुरझा जाता है उसी प्रकार पिताकी मृत्युसे कुरुषिन्दने अपना मुँह नीचा कर लिया, उसका सत्र तेज जाता रहा तथा सारा शरीर मुरझा गया—शिथिल हो गया । इस प्रकार वह शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥११५-११६॥

हे राजन्, अब दूसरी कथा सुनिए—समुद्रके समान विस्तीर्ण आपके इस वंशमें एक दण्ड नामका विद्याधर हो गया है । वह बड़ा प्रतापी था । उसने अपने समस्त शत्रुओंको दण्डित किया था ॥११७॥ जिस प्रकार समुद्रसे मणि उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस दण्ड विद्याधरसे भी मणिमाली नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । जब वह बड़ा हुआ तब राजा दण्डने उसे युवराज-पदपर नियुक्त कर दिया और आप इच्छानुसार भोग भोगने लगा ॥११८॥ वह विषयोंमें इतना अधिक उत्सुक हो रहा था कि चिरकाल तक भोगोंको भोगकर भी तृप्त नहीं होता था बल्कि स्त्री, वस्त्र तथा आभूषण आदिमें पहलेकी अपेक्षा अधिक आसक्त होता जाता था ॥११९॥ अत्यन्त विषयासक्तिके कारण मायाचारी चेष्टाओंको करनेवाले उस आर्तध्यानी राजाने तीव्र संक्लेश भावोंसे तिर्यक्ष आधुका बन्ध किया ॥१२०॥ चूँकि भरते समय उसका आर्तध्यान नामका कुप्यान पूर्णताको प्राप्त हो रहा था, इसलिए कुमरणसे मरकर वह मोहके उदयसे अपने भण्डारमें बड़ा भारी अजगर हुआ ॥१२१॥ उसे जातिस्मरण भी हो गया था इसलिए वह भण्डारीकी तरह भण्डारमें केवल अपने पुत्रको ही प्रवेश करने देता था अन्यको नहीं ॥१२२॥ एक दिन अतिशय बुद्धिमान् राजा मणिमाली किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराजसे पिताके अजगर होने आदिका समस्त वृत्तान्त मालूम कर पितृ-भक्तिसे उनका मोह दूर करनेके लिए भण्डारमें गया और धीरेसे अजगरके आगे खड़ा होकर स्नेहयुक्त वचन कहने लगा ॥१२३-१२४॥ हे पिता, तुमने धन, ऋद्धि आदिमें अत्यन्त ममत्त्व और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति की थी इसी दोषसे तुम इस समय इस कुयोनिमें—सर्पपर्यायमें आकर पड़े हो ॥१२५॥ यह विषय-रूपी आमिष अत्यन्त कटुक है, दुर्जर है और किम्पाक (विषफल) फलके समान है इसलिए धिक्कारके योग्य है । हे पिताजी, इस विषयरूपी आमिषको अब भी छोड़ दो ॥१२६॥

१. अवस्थाम् । २. पुनः किमिति चेत् । ३. कौटिल्यं माया । ४. अज्ञानम् । ५. अजगरस्य । ६. आसन्नः भासितः । ७. धृतमोहः । ८. संमोगः । 'आमिषं पल्लवे लोभे संमोगोत्कोचयोरपि' इत्यभिधानात् । ९. उद्गारं कृत्वा ।

रथाङ्गमिव संसारमनुबध्नाति संततम् । कुल्लजं त्यजन्त्येतत् कण्ठस्थमिव जीवितम् ॥१२७॥
 प्रकटोक्तविभासं प्राणहारि मयावहम् । नृगयोरिव दुर्गीतं नृगणैर्गल्लम्बकम् ॥१२८॥
 ताम्बूलमिव संयोगादिदं रागविचर्जनम् । अन्धकारमिवोत्सर्पत् सम्मार्गस्य निरोधनम् ॥१२९॥
 जैनं मतमिव प्रायः परिभूतमतान्तरम् । तद्विलसितबल्लोलं वैचित्र्यात् सुरचापवत् ॥१३०॥
 किं वात्र बहुनोक्तेन पश्येदं विषयोक्तवम् । सुखं संसारकान्तारे परिभ्रमयतीप्सितम् ॥१३१॥
 नमोऽस्तु तदसासंगविमुखाय स्थिरात्मने^१ । तपोधमगणादेति निनिन्द विषयानली ॥१३२॥
 अधासौ पुत्रनिर्विद्धमन्वाक्यांशुमालिना । गलिताशेषमोहान्धतमसः^२ समजायत ॥१३३॥
 ततो धर्मोपधं प्राप्य स कृतानुशयः^३ बाधुः । यवाम विषयौसुक्यं महाविषमिवोत्प्लवम्^४ ॥१३४॥
 स परित्यज्य संवेगाद्वाहारं सशरीरकम् । जीवितान्ते तनुं हिरवा दिविजोऽभून्महर्षिकः ॥१३५॥
 ज्ञात्वा च भवमागत्य संपूज्य मणिमालिने । मणिहारमदत्तालाबुन्मिषन्मणिदीधितिम् ॥१३६॥
 स एव भवतः कण्ठे हारो रत्नांशुमासुरः । लक्ष्यतेऽङ्गुलिजो लक्ष्म्याः^५ अक्षय्यं^६ विवर्धयति^७ ॥१३७॥
 तथैवमपरं^८ राजन् यथावृत्तं^९ निगद्यते । सन्ति यद्वर्णिनोऽद्यापि वृद्धाः केचन खेचराः ॥१३८॥
 आसौच्छतबलो नाम्ना भवद्दीयः^{१०} पितामहः । प्रजा राजन्वतोः कुर्वन् स्वगुणैः^{११} रामिगामिकैः^{१२} ॥१३९॥

हे ताव, जिस प्रकार रथका पहिया निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है-चलता रहता है उसी प्रकार यह विषय भी निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है-स्थिर नहीं रहता अथवा संसार चतुर्गतिरूप संसारका बन्ध करता रहता है । यद्यपि यह कण्ठस्थ प्राणोंके समान कठिनाईसे छोड़े जाते हैं परन्तु त्याज्य अवश्य हैं ॥१२७॥ ये विषय शिकारीके गानेके समान हैं जो पहले मनुष्यरूपी हरिणोंको ठगनेके लिए विश्वास दिलाते हैं और बादमें भयंकर हो प्राणोंका हरण किया करते हैं ॥१२८॥ जिस प्रकार ताम्बूल घूना, खैर और सुपारीका संयोग पाकर राग-लालिमाको बढ़ाते हैं उसी प्रकार ये विषय भी स्त्री-पुत्रादिका संयोग पाकर राग-स्नेहको बढ़ाते हैं और बढ़ते हुए अन्धकारके समान समीचीन मार्गको रोक देते हैं ॥१२९॥ जिस प्रकार जैनमत मतान्तरोंका खण्डन कर देता है उसी प्रकार ये विषय भी पिता, गुरु आदिके हितोपदेशरूपी मतोंका खण्डन कर देते हैं । ये बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और इन्द्रधनुषके समान विचित्र हैं ॥ १३० ॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ ? देखो, विषयोंसे उत्पन्न हुआ यह विषयसुख इस जीवको संसाररूपी अटवीमें घुमाता है ॥१३१॥ जो इस विषयरसकी आसक्तिसे विमुख रहकर अपने आत्माको अपने-आपमें स्थिर रखते हैं ऐसे मुनियोंके समूहको नमस्कार हो । इस प्रकार राजा मणिमालीने विषयोंकी निन्दा की ॥१३२॥ तदनन्तर अपने पुत्रके धर्मवाक्यरूपी सूर्यके द्वारा उस अजगरका सम्पूर्ण मोहरूपी गाढ़ अन्धकार नष्ट हो गया ॥१३३॥ उस अजगरको अपने पिछले जीवनपर भारी पश्चात्ताप हुआ और उसने धर्मरूपी ओषधि ग्रहण कर महाविषके समान भयंकर विषयासक्ति छोड़ दी ॥१३४॥ उसने संसारसे भयभीत होकर आहार-पानी छोड़ दिया, शरीरसे भी ममत्व त्याग दिया और उसके प्रभावसे वह आयुके अन्तमें शरीर त्याग कर बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥१३५॥ उस देवने अथविज्ञानके द्वारा अपने पूर्व भव जान मणिमालीके पास आकर उसका सत्कार किया तथा उसे प्रकाशमान मणियोंसे शोभायमान एक मणियोंका हार दिया ॥१३६॥ रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान तथा लक्ष्मीके हासके समान निर्मल वह हार आज भी आपके कण्ठमें दिखायी दे रहा है ॥१३७॥

हे राजन्, इसके सिवाय एक और भी वृत्तान्त मैं ज्योंका-त्यों कहता हूँ । उस वृत्तान्तके देखने-वाले कितने ही वृद्ध मिथाधर आज भी विद्यमान हैं ॥१३८॥ शतबल नामके आपके दादा हो

१. शकटवक्रवत् । २. व्याघ्रस्य । ३. विषयसुखानुरागासक्तिः । ४. स्थिरबुद्धये । ५. तामसः ल० । ६. पद्मालापः । ७. उत्कटम् । ८. प्रकाशमानः । ९. कथेत्यर्थः । १०. यथावद् बतितम् । ११. पितृपिता । १२. -नैरभिरामकैः अ० । -रामिरामिकैः स०, प० । १३. अत्यादरणीयैः ।

स राज्यं सुखिरं भुक्त्वा कदाचिद् भोगमिच्छति । भवत्पितरि निक्षिप्रात्प्रभारो महोदयः ॥१४०॥
 सत्यगुणैर्नृणां पूतात्मा गृहीतोपासकवतः । निबद्धसुरलोकाधुर्विशुद्धपरिणामतः ॥१४१॥
 कृत्वा नृणां सत्त्वमोक्षमोक्षमप्यदः । यथोचितनियोगेन^१ योगेनान्तेऽत्यजत् तनुम् ॥१४२॥
 माहेन्द्रकक्ष्येऽनल्पद्विभूतेश्च सुराग्रणीः । अणिमादिगुणोदेतः सहाभ्युधिमितस्थितिः ॥१४३॥
 स चान्यदा महामेरौ नन्दने त्वासुपागतम् । क्रीडाहेतोर्मया सार्द्धं दृष्ट्वा तस्नेहनिर्भरः ॥१४४॥
 कुमार परमो धर्मो जैनाभ्युदयसाधनः । न चिन्तयन्त्येवेत्येवं त्वां तदाभ्युदयसाधनम्^२ ॥१४५॥
 नमस्कृत्य चरन्नेन्द्रमस्तकास्त्रधासनः । सहस्रबल इत्यासीद् भवत्पितृपितामहः ॥१४६॥
 स देव देवे^३ निक्षिप्य कक्ष्मीं शतबले सुते । अग्राह परमां दीक्षां जैनीं निर्वाणसाधनीम् ॥१४७॥
 विजहार महीं कृत्स्नां शोतयन् स तपोऽश्रुभिः । मिथ्यान्धकारघटनां विघटयन् श्रुमानिव ॥१४८॥
 क्रमात् कैवल्यमुत्पाद्य पूजितो नृसुरासुरैः । ततोऽनन्तमपारं च संप्रापच्छाश्वतं पदम् ॥१४९॥
 तथा युष्मत्पितायुष्मन् राज्यभूरिभरं^४ वशी । त्वयि निक्षिप्य वैराग्यात् महाप्राप्ताज्यमास्थितः^५ ॥१५०॥
 पुत्रनप्तृमिरन्यैश्च नमस्कृत्य राधियैः । सार्द्धं तपस्करन्नेव मुक्तिकक्ष्मीं^६ जिघृक्षति ॥१५१॥
 धर्माधर्मफलस्थिते दृष्टान्तत्वेन वर्णिताः । युष्मद्वंश्याः^७ त्वगाधीनाः^८ सुप्रतीतकथानकाः ॥१५२॥

गये हैं जो अपने मनोहर गुणोंके द्वारा प्रजाको हमेशा सुयोग्य राजासे युक्त करते थे ॥१३९॥ उन भाग्यशाली शतबलने चिरकाल तक राज्य भोग कर आपके पिताके लिए राज्यका भार सौंप दिया था और स्वयं भोगोंसे निःस्पृह हो गये थे ॥१४०॥ उन्होंने सत्यगुणोंसे परिष्कृत होकर शिवकी ओर प्रवृत्त होकर भगवत्पूजा की थी और विशुद्ध परिणामोंसे देवायुका बन्ध किया था ॥१४१॥ उनसे उपवास अवमोक्ष आदि सत्प्रभुत्वको धारण कर आयुके अन्तमें यथायोग्य रीतिसे समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़ा ॥१४२॥ जिससे माहेन्द्रस्वर्गमें बड़ी-बड़ी श्रद्धियोंके धारक श्रेष्ठ देव हुए । वहाँ वे अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे सहित थे तथा सात सागर प्रमाण उनकी स्थिति थी ॥१४३॥ किसी एक दिन आप सुमेरु पर्वतके नन्दनवनमें क्रीडा करनेके लिए मेरे साथ गये हुए थे वहींपर वह देव भी आया था । आपको देखकर बड़े स्नेहके साथ उसने उपदेश दिया था कि 'हे कुमार, यह जैनधर्म ही उत्तम धर्म है, यही स्वर्ग आदि अभ्युदयोंकी प्राप्ति साधन है इसे तुम कभी नहीं भूलना' ॥१४४-१४५॥ यह कथा कहकर स्वयंबुद्ध कहने लगा कि—

“हे राजन्, आपके पिताके दादाका नाम सहस्रबल था । अनेक विद्याधर राजा उन्हें नमस्कार करते थे और अपने मस्तकपर उनकी आज्ञा धारण करते थे ॥१४६॥ उन्होंने भी अपने पुत्र शतबल महाराजको राज्य देकर मोक्षप्राप्त करनेवाली उत्कृष्ट जिनदीक्षा ग्रहण की थी ॥१४७॥ वे तपस्वी किरणोंके द्वारा समस्त पृथिवीको प्रकाशित करते और मिथ्यात्वरूपी अन्धकारकी घटाको विघटित करते हुए सूर्यके समान विहार करते रहे ॥१४८॥ फिर क्रमसे कैवल्यज्ञान प्राप्त कर मनुष्य, देव और धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित हो अनन्त अपार और नित्य मोक्ष पदको प्राप्त हुए ॥१४९॥ हे आयुष्मन्, इसी प्रकार इन्द्रियोंको बशमें करनेवाले आपके पिता भी आपके लिए राज्यभार सौंप कर वैराग्यभावसे उत्कृष्ट जिनदीक्षाको प्राप्त हुए हैं और पुत्र, पौत्र तथा अनेक विद्याधर राजाओंके साथ तपस्या करते हुए मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करना चाहते हैं ॥१५०-१५१॥ हे राजन्, मैंने धर्म और अधर्मके फलका दृष्टान्त देनेके लिए ही आपके वंशमें उत्पन्न हुए उन

१. कुर्येन । २. समाधिना । ३. नितरामनुशास्ति स्म । ४. —क्षेत्र—ग०, ल० । ५. विजिगीषी (जयनशीले इत्यर्थः) 'पुत्रान्ये राज्ञि निर्माणे व्यवहर्तारि भर्तारि । मूर्खे बाले जिगीषी च देवोक्तिर्नरकुण्ठिति ॥' इत्यभिधानात् । ६. इन्द्रियजयी । ७. आधितः । ८. गृहीतुमिच्छति । ९. वंशे भवाः । १०. कथैव ज्ञानकः पट्टः कथानकः सुप्रतीतः प्रसिद्धः कथानको येषां ते तथोक्ताः ।

विद्धि ध्यानचतुष्कस्य कलमेतद्विदितम् । पूर्व ध्यानद्वयं पापं शुभोदकं परं द्वयम् ॥१५३॥
 तस्माद् धर्मशुभां पुंसां भुक्तिभुक्ता न दुर्लभा । अत्यन्तप्रदेशाभ्यामिदं विद्विषु बोधन ॥१५४॥
 इति प्रतीतमाहात्म्यो धर्मोऽयं जिनदेवितः । स्वयापि शक्तिः सेव्यः फलं विपुलमिच्छता ॥१५५॥
 शुभोदारं च गम्भीरं स्वयंभुवोदितं तदा । सभा समाजयामास परमास्तिक्यमास्थिता ॥१५६॥
 इदमेवाहृतं तत्त्वमितोऽन्यत्र भवान्तरम् । प्रतीतिरिति तद्वाक्यादाविरासीत् सदा ॥१५७॥
 सुदृष्टिर्बलसंपन्नो गुणशीलविभूषितः । मन्त्रगुप्तो गुरो मन्तः श्रुताभिज्ञः प्रगल्भधीः ॥१५८॥
 स्थाप्य एव गुणैरेभिः परमभावकोचितैः । स्वयंभुवे महात्मेति तुष्टुबुस्तं सभासदः ॥१५९॥
 प्रशस्य स्वचरादीशः प्रतिपद्य च तद्वचः । प्रीतः संपूजयामास स्वयंभुवं महाधियम् ॥१६०॥
 अथान्यदा स्वयंभुवो महामेकगिरिं ययौ । विचन्द्रियुर्जिनेन्द्राणो चैत्यवेश्मनि मण्डितः ॥१६१॥
 वैश्रवणमिरामास जिमस्येव शुभोदयम् । धृतस्कन्धमिवानादिनिधनं सममाणकम् ॥१६२॥

विद्याधर राजाओंका वर्णन किया है जिनके कि कथारूपी दुन्दुभि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ॥१५२॥
 आप ऊपर कहे हुए चारों दृष्टान्तोंको चारों ध्यानोंका फल समझिए क्योंकि राजा अरविन्द
 रौद्रध्यानके कारण नरक गया । दण्ड नामका राजा आर्तध्यानसे भाण्डारमें अजगर हुआ,
 राजा शतबल धर्मध्यानके प्रतापसे देव हुआ और राजा सहस्रबलने शुक्रध्यानके माहात्म्यसे
 मोक्ष प्राप्त किया । इन चारों ध्यानोमेंसे पहलेके दो—आर्त और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान हैं जो
 कुगतिके कारण हैं और आगेके दो—धर्म तथा शुक्रध्यान शुद्ध हैं, वे स्वर्ग और मोक्षके कारण
 हैं ॥१५३॥ इसलिए हे बुद्धिमान् महाराज, धर्मसेवन करनेवाले पुरुषोंको न तो स्वर्गादिकके
 भोग दुर्लभ हैं और न मोक्ष ही । यह बात आप प्रत्यक्ष प्रमाण तथा सर्वज्ञ चीतरागके
 उपदेशसे निश्चित कर सकते हैं ॥१५४॥ हे राजन्, यदि आप निर्दोष फल चाहते हैं तो आपको
 भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए प्रसिद्ध महिमासे युक्त इस जैन धर्मकी उपासना करनी चाहिए
 ॥१५५॥ इस प्रकार स्वयम्भुद्ध मन्त्रीके कहे हुए उदार और गम्भीर वचन सुनकर वह सम्पूर्ण
 सभा खड़ी प्रसन्न हुई तथा परम आस्तिक्य भावको प्राप्त हुई ॥१५६॥ स्वयम्भुद्धके वचनोंसे
 समस्त सभासदोंको यह विश्वास हो गया कि यह जिनेन्द्रप्रणीत धर्म ही वास्तविक तत्त्व है
 अन्य मत-मतान्तर नहीं ॥१५७॥ तत्त्वज्ञात् समस्त सभासद् उसकी इस प्रकार स्तुति करने लगे
 कि यह स्वयम्भुद्ध सम्यग्दृष्टि है, प्रती है, गुण और शीलसे सुशोभित है, मन, वचन, कायका सरल
 है, गुरुभक्त है, शास्त्रोंका वेत्ता है, अतिशय बुद्धिमान् है, उत्कृष्ट श्रावकोंके योग्य उत्तम गुणोंसे
 प्रशंसनीय है और महात्मा है ॥१५८-१५९॥ विद्याधरोंके अधिपति महाराज महाबलने भी महा-
 बुद्धिमान् स्वयम्भुद्धकी प्रशंसा कर उसके कहे हुए वचनोंको स्वीकार किया तथा प्रसन्न होकर उसका
 अतिशय सत्कार किया ॥१६०॥ इसके बाद किसी एक दिन स्वयम्भुद्ध मन्त्री अकृत्रिम चैत्यालय-
 में विराजमान जिन-प्रतिमाओंकी भक्तिपूर्वक वन्दना करनेकी इच्छासे मेरुपर्वतपर गया ॥१६१॥
 वह पर्वत जिसेन्द्र भगवान्के समवसरणके समान शोभायमान हो रहा है क्योंकि जिस

१. पापहेतुः । २. शुभोदकं त० ब० पुस्तकयोः पाठान्तरं पादर्वके लिखितम् । शुभोत्तरफलम् । 'उदकं फलमुत्तरम्' इत्यमरः । ३. विमल-प०, ल० । ४. वचनम् । ५. तुतोष । 'समाज प्रीतिवर्धनयोः' इति शानुदबोरादिकः । ६. जोशस्तित्वम् । ७. आधिता । ८. निवचयः । ९. सभा । १०.-सनाम् ट० । सरपुष्पाणाम् । ११. मनोगुण्यादिमान् । १२. -गुप्तो-ट० । १३. प्रीतिबुद्धिः । १४. सम्याः । १५. अङ्गीकृत्य । १६. बन्धितु-मिच्छुः । १७. भद्रशालनन्दनसौमनसपाण्डुकेः, पक्षे अशोकसप्तच्छदवम्पकात्रैः । १८. आराजन्तम् । १९. समो-दयम् द०, ट० । समवसरणम् ।

महीभूतामधीशत्वात्^१ सद्वृत्तत्वात्^२ सदास्थितः ।^३ प्रवृद्धकटकवाक् सुराजानमिषोक्तम् ॥१६३॥
 सर्वलोकोत्तरत्वाच्च ज्येष्ठत्वात् सर्वभूताम् । महत्त्वात् स्वर्णवर्णत्वात् तमाथमिषं^४ पूरुषम् ॥१६४॥
 समासादितवज्रत्वादप्सरः^५ संश्रयादपि । ज्योतिःपरीतमूर्तित्वात् सुराजमिषापरम् ॥१६५॥
 चूलिकाग्रसमाससौधमैन्द्रविमानकम् । स्वर्लोकधारणे न्यस्तमिवैकं स्तम्भमुच्छ्रितम् ॥१६६॥
 मेखलाभिर्वनश्रेणोर्दधानं कुसुमोज्ज्वलाः । स्वर्गवेव कुरुमाजैः सर्वर्तुकलदायिनीः^६ ॥१६७॥
 हिरण्यममहोदभवपुत्रं रत्नमाजुधम् । जिनजन्माभिषेकाय बद्धं पीठमिदमहैः ॥१६८॥
 जिनाभिषेकसंवन्धाजिनायतनधारणात् । स्वीकृतेनेव पुण्येन प्राप्तं स्वर्गमनर्गकम्^७ ॥१६९॥

प्रकार समवसरण (अशोक, समच्छद, आम्र और चम्पक) चार बनोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चार (भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक) बनोंसे सुशोभित है । वह अनादि निधन है तथा प्रमाणसे (एक लाख योजन) सहित है इसलिए अतस्कन्धके समान है क्योंकि आर्यवृष्टिसे श्रुतस्कन्ध भी अनादिनिधन है और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे सहित है । अथवा वह पर्वत किसी उत्तम महाराजके समान है क्योंकि जिस प्रकार महाराज अनेक महीभूतों (राजाओं) का अधीश होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अनेक महीभूतों (पर्वतों) का अधीश है । महाराज जिस प्रकार सुवृत्त (सदाचारी) और सदास्थिति (समीचीन समासे युक्त) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवृत्त (गोलाकार) और सदास्थिति (सदा विद्यमान) रहता है । तथा महाराज जिस प्रकार प्रवृद्धकटक (बड़ी सेनाका नायक) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रवृद्धकटक (ऊँचे शिखरवाला) है । अथवा वह पर्वत आवि पुरुष श्री वृषभदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि भगवान् वृषभदेव जिस प्रकार सर्वलोकोत्तर हैं — लोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी सर्वलोकोत्तर है — सब देशोंसे उत्तर दिशामें विद्यमान है । भगवान् जिस प्रकार सब भूभूतोंमें (सब राजाओंमें) ज्येष्ठ थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सब भूभूतों (पर्वतों)में ज्येष्ठ-उत्कृष्ट है । भगवान् जिस प्रकार महान् थे उसी प्रकार वह पर्वत भी महान् है और भगवान् जिस प्रकार सुवर्ण वर्णके थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवर्ण वर्णका है । अथवा वह मेरु पर्वत इन्द्रके समान सुशोभित है क्योंकि इन्द्र जिस प्रकार वज्र (वज्रमयी शस्त्र) से सहित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी वज्र (हीरों) से सहित होता है । इन्द्र जिस प्रकार अप्सरःसंश्रय (अप्सराओंका आश्रय) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अप्सरःसंश्रय (जलसे भरे हुए तालाबोंका आधार) है । और इन्द्रका शरीर जैसे चारों ओर फैलती हुई ज्योति (तेज) से सुशोभित होता है उसी प्रकार उस पर्वतका शरीर भी चारों ओर फैले हुए ज्योतिषी देवोंसे सुशोभित है । सौधर्म स्वर्गका इन्द्रक विमान इस पर्वतकी चूलिकाके अत्यन्त निकट है (बालमात्रके अन्तरसे विद्यमान है) इसलिए ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोकको धारण करनेके लिए एक ऊँचा स्तम्भ ही खड़ा हो । वह पर्वत अपनी कटनियोंसे जिन वन-पत्तियोंको धारण किये हुए है वे हमेशा फूलोंसे उज्ज्वल रहती हैं तथा ऐसी मालूम होती हैं मानो कल्पवृक्षोंके साथ स्पर्धा करके ही सब ऋतुओंके फल फूल दे रही हों । वह पर्वत सुवर्णमय है, ऊँचा है और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे सहित है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिए देवोंके द्वारा बनाया हुआ सुवर्णमय ऊँचा और रत्नसूचित सिंहासन ही हो । उस पर्वतपर श्री जिनेन्द्रदेवका अभिषेक होता है तथा अनेक चैत्यालय विद्यमान हैं मानो इन्हीं दो

१. सुवृत्तत्वात् । २. नित्यस्थितः । सताम् वा समन्तात् स्थितिर्यस्मिन् । ३. प्रवृद्धवानुत्वात् प्रवृद्ध-सैन्यत्वाच्च । ४. सर्वजनस्योत्तरविषयत्वात् सर्वजनोत्तमत्वाच्च । ५. पुरुषपरमेस्वरम् । ६. अत्रिहृषणक्षितसरो-वरसंश्रयात् देवगणिकासंश्रयाच्च । ७. ज्योतिर्गणः पक्षे कायकान्तिः । ८. -दायिभिः म० । ९. प्राप्तस्वर्ग-अ०, स०, द०, म०, ल० । १०. अप्रतिशब्धं यथा भवति तथा ।

^१लवणाम्मोचिवेकाम्मोचलवद्वक्त्रवाससः । ^२जम्बूद्वीपमहीमर्तुः किरीटमिव सुस्थितम् ॥१७०॥

कुलाचलपृथुतुङ्गवीचीमङ्गोपशोभिनः । संगीतप्रहृतोद्यविहङ्गदत्त^३शालिनः ॥१७१॥

महानदीजलालोलमृणालविलसद्भुतेः । नन्दनादिमहोद्यानविसर्पत्पत्रसंपदः^४ ॥१७२॥

^५सुरासुरसभावासमाहितामरसश्रियः । ^६सुखासवरसासक्तजीवभृङ्गावलीभृतः ॥१७३॥

जगत् पद्माकरस्थास्य मध्ये ^७कालानिकोद्भूतम् । विबुद्धमिव किञ्जरुक्पुञ्जमापिज्वरच्छविम् ॥१७४॥

^८सरसकटकं भास्वच्छूलिकामुकुटोज्ज्वलम् । सोऽर्द्धाद् गिरिराजं तं रातम्तं जिनमन्दिरैः ॥१७५॥

^९तमद्भुतश्रियं पश्यन् भगवन् स परं सुवन् । न्यरूपयकष पर्यन्तदेशानस्येति विस्मयात् ॥१७६॥

गिरीमहोऽयं स्वशृङ्गाग्रैः समाकान्तनमोऽङ्गयः । लोकनाडीगलायाम^{१०} ^{११}मिमान^{१२} इव राजते ॥१७७॥

अस्य ^{१३}सानुनिमे रम्यच्छायानोकहशोभिनः । सार्द्धं वधूजनेः सववशावसन्ति दिवौकसः ॥१७८॥

अस्य ^{१४}पादादयोऽप्यस्मा^{१५} दानोलनिषधं गताः । महतां पादसंसेवी को वा नायतिमाप्नुयात् ॥१७९॥

कारणोंसे उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा वह बिना किसी रोक-टोकके स्वर्गको प्राप्त हुआ है अर्थात् स्वर्ग तक ऊँचा चला गया है। अथवा वह पर्वत लवणसमुद्रके नीले जलरूपी सुन्दर वस्त्रोंको धारण किये हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराजके अच्छी तरह लगाये गये मुकुटके समान मालूम होता है। अथवा यह जगत् एक सरोवरके समान है क्योंकि यह सरोवरकी भाँति ही कुलाचलरूपी बड़ी ऊँची लहरोंसे शोभायमान है, संगीतके लिए बजते हुए बाजोंके शब्दरूपी पक्षियोंके शब्दोंसे सुशोभित है, गङ्गा, सिन्धु आदि महानदियोंके जलरूपी मृणालसे विभूषित है, नन्दनादि महावन-रूपी कमलपत्रोंसे आच्छन्न है, सुर और असुरोंके सभाभवनरूपी कमलोंसे शोभित है, तथा सुखरूप मकरन्दके प्रेमी जीवरूपी भ्रमरावलीको धारण किये हुए है। ऐसे इस जगत् रूपी सरो-वरके बीचमें वह पीत वर्णका सुवर्णमय मेरु पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो प्रलयकालके पवन-से उड़ा हुआ तथा एक जगह इकट्ठा हुआ कमलोंकी केशरका समूह हो। वास्तवमें वह पर्वत, पर्वतोंका राजा है क्योंकि राजा जिस प्रकार रत्नजडित कटकों (कड़ों) से युक्त होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी रत्नजडित कटकों (शिखरों) से युक्त है और राजा जिस प्रकार मुकुट-से शोभायमान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चूलिकारूपी देवीप्यमान मुकुटसे शोभायमान है। इस प्रकार वर्णयुक्त तथा जिनमन्दिरोंसे शोभायमान वह मेरु पर्वत स्वयम्बुद्ध मन्त्रीने देखा ॥१६२-१७५॥ अद्भुत शोभायुक्त उस मेरु पर्वतको देखता हुआ वह मन्त्री अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुआ और बड़े आश्चर्यसे उसके समीपवर्ती प्रदेशोंका नीचे लिखे अनुसार निरूपण करने लगा ॥१७६॥ इस गिरिराजने अपने शिखरोंके अग्रभागसे समस्त आकाशरूपी आँगनको घेर लिया है जिससे ऐसा शोभायमान होता है मानो लोकनाडीकी लम्बाई ही नाप रहा हो ॥१७७॥ मनोहर तथा घनी छायावाले वृक्षोंसे शोभायमान इस पर्वतके शिखरोंपर वे देव लोग अपनी-अपनी देवियोंके साथ सदा निवास करते हैं ॥१७८॥ इस पर्वतके प्रत्यन्त पर्वत (समीप-

१. धिनीलाम्मो—अ०, म०, द०, स०, प०, ल० । २. जम्बूद्वीपमहीमर्तुः सादृश्याभावात् जम्बूद्वीपमहीमर्तुरिति रूपकमयुक्तमिति न शङ्कामोयम् । मभाजनैरिबानेकद्वीपैर्विहितत्वेन साम्यसद्भावात् । 'यथा कथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते' इति वचनात् । नन्विदमुपलक्षणं न तु रूपकस्यैवेति बाध्यम् 'उपमैव तिरोभूतभेदा करकमिष्यते' इति वचनात् । ३. व्रतिः । ४. अथ श्लोके पञ्चशब्देन कमलिनीपत्राणि गृह्यन्ते । ५. सुरासुरसभागुहोद्भासिकमलश्रियः । ६. सुखमेव आसवरसः मकरम्बरसः तत्र आसक्ता जीवा एव भृङ्गावल्याः ता विभति तस्य । ७. काल एवानिलस्तेनोद्भूतम् । ८. रत्नमयसानुसहितम् । पक्षे रत्नमयकरवल्लसहितम् । ९. पक्षे कलशोपलक्षितमुकुटम् । १०. तमुद्भूत—अ०, ल० । ११. उत्प्रेषम् । १२. प्रमाता । १३. शृङ्गेषु । 'वसोऽनुपाध्याह' इति सूत्रात् सप्तम्यर्थे द्वितीया विभक्तिर्भवति । १४. प्रत्यन्त-पर्वताः । १५. मेरोः । १६. नायाति—म०, ल० ।

गजदन्तादयोऽस्यैते 'कक्ष्यन्ते पादसंभिताः ।' भक्त्या निषधनीलाभ्यामिव इस्ताः प्रसारिताः ॥१८०॥
 इमे चैनं महानदीं सीतासीतोदकाद्वये । कोशद्वयादनास्पृश्य 'चातोऽम्भोधिं भयादिव ॥१८१॥
 अस्य पर्यन्तभूभागं सदाऽलंकुरुते व्रमैः । भद्रशालपरिक्षेपः^१ कुलक्षमोमभिक्षिपन्^२ ॥१८२॥
 इतो नन्दनमुद्यानमितं सौमनसं वनम् । इतः पाण्डुकमामाति शङ्खकुसुमितद्रुमम् ॥१८३॥
 इतोऽर्धचन्द्राकारः^३ कुलक्षोऽसी^४ कुलक्षणे^५ । इतो जम्बूद्वीपः श्रीमानितः शाश्वतकिपादपः ॥१८४॥
 अमी चैत्यगृहा मान्ति वनेष्वस्य जिनेश्वरानाम् । रत्नभाभासिभिः कूटैः शीतयन्तो नमोऽङ्गणम् ॥१८५॥
 शङ्खवत् पुण्यजनाकीर्णः सोद्यानः सजिमालयः । पर्यन्तस्थसरिक्षेत्रो नगोऽयं नगरायते ॥१८६॥
 संगतस्याङ्गभृद्भृङ्गैः क्षेत्रपत्रोपशोभिनः । अम्बूद्वीपाङ्गुजस्यास्य नगोऽयं कणिकायते ॥१८७॥
 इति प्रकटितोदारमहिमा भूभृता पतिः । मध्ये जगत्प्रयायाममथाप्येष विलङ्घते ॥१८८॥
 तमिरयावर्णयन् दूरात् स्वयं बुद्धः समासदत् । ध्वजइस्तैरिवाहृतः सावरं जिनमन्दिरैः ॥१८९॥
 अकृत्रिमानकायन्तान् निर्यालोकान् सुराचितान् । जिनालयान् समासाद्य स परां सुदमाययौ ॥१९०॥
 'सपर्यया स' पर्येत्य भूयो नक्त्या प्रणम्य च । भद्रशालादिचैत्यानि वन्दते स्म यथाक्रमम् ॥१९१॥

वर्ती छोटी-छोटी पर्वतश्रेणियाँ) यहाँसे लेकर निषध और नील पर्वत तक चले गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़ोंकी चरणसेवा करनेवाला कौन पुरुष बड़प्पनको प्राप्त नहीं होता ? ॥१७९॥ इसके चरणों (प्रत्यन्त पर्वतों)के आश्रित रहनेवाले ये गजदन्त पर्वत ऐसे जान पड़ते हैं मानो निषध और नील पर्वतने भक्तिपूर्वक सेवाके लिए अपने हाथ ही फैलाये हों ॥१८०॥ ये सीता, सीतोदा नामकी महानदियाँ मानो भयसे ही इसके पास नहीं आकर दो कोशकी दूरीसे समुद्रकी ओर जा रही हैं ॥१८१॥ इस पर्वतके चारों ओर यह भद्रशाल वन है जो अपनी शोभासे देवकुल तथा उत्तर-कुलकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा है और अपने वृक्षोंके द्वारा इस पर्वतसम्बन्धी चारों ओरके भूमिभागको सदा अलंकृत करता रहता है ॥१८२॥ इधर नन्दनवन, इधर सौमनस वन और इधर पाण्डुक वन शोभायमान हैं । ये तीनों ही वन सदा फूले हुए वृक्षोंसे अत्यन्त मनोहर हैं ॥१८३॥ इधर ये अर्धचन्द्राकार देवकुल तथा उत्तरकुल शोभायमान हो रहे हैं, इधर शोभावाम् जम्बूद्वीप है और इधर यह शालमल्लो वृक्ष है ॥१८४॥ इस पर्वतके चारों वनोंमें ये जिनेन्द्रदेवके चैत्यालय शोभायमान हैं जो कि रत्नोंकी कान्तिसे भासमान अपने शिखरोंके द्वारा आकाश-रूपी आँगनको प्रकाशित कर रहे हैं ॥१८५॥ यह पर्वत सदा पुण्यजनों (यक्षों) से व्याप्त रहता है । अनेक बाग-बगीचे तथा जिनालयोंसे सहित है तथा इसके समीप ही अनेक नदियाँ और विदेह क्षेत्र विद्यमान हैं इसलिए यह किसी नगरके समान मालूम हो रहा है । क्योंकि नगर भी सदा पुण्यजनों (धर्मात्मा लोगों) से व्याप्त रहता है, बाग-बगीचे और जिन-मन्दिरोंसे सहित होता है तथा उसके समीप अनेक नदियाँ और खेत विद्यमान रहते हैं ॥१८६॥ अथवा यह पर्वत संसारी जीवरूपी भ्रमरोंसे सहित तथा भरतादि क्षेत्ररूपी पत्रोंसे शोभायमान इस जम्बूद्वीपरूपी कमल-की कणिकाके समान भासित होता है ॥१८७॥ इस प्रकार उत्कृष्ट महिमासे युक्त यह सुमेरु पर्वत, जान पड़ता है कि आज भी तीनों लोकोंकी लम्बाईका उल्लंघन कर रहा है ॥१८८॥ इस तरह दूरसे ही वर्णन करता हुआ स्वयम्बुद्ध मन्त्री उस मेरु पर्वतपर ऐसा जा पहुँचा मानो जिन-मन्दिरोंने अपने ध्वजारूपी हाथोंसे उसे आदरसहित बुलाया ही हो ॥१८९॥ वहाँ अनादिनिधन, हमेशा प्रकाशित रहनेवाले और देवोंसे पूजित अकृत्रिम चैत्यालयोंको पाकर वह स्वयं बुद्ध मन्त्री परम आनन्दको प्राप्त हुआ ॥१९०॥ उसने पहले प्रदक्षिणा दी । फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और फिर पूजा की । इस प्रकार यथाक्रमसे भद्रशाल आदि वनोंकी समस्त अकृत्रिम

१. लक्षन्ते ल० । २. भक्त्यै द०, ट० । मज्जाय । ३. गच्छतः । ४. परिवलयः । परिक्षेपं स०, ब० । ५. तिरस्कृवन् । अधिश्रियत् अ०, अ० । ६. भद्रशालादुपरि । ७. सस्ततः प्रकाशकान् । ८. पूजया । ९. प्रवक्षिषीकृत्य ।

स सौमनसपौरस्यदिग्भागजिनवेदमनि^१ । कृतार्चनविधिर्भक्त्या प्रणम्य क्षणमासितः^२ ॥१९२॥

^३प्राग्बिदेहमहाकच्छविषयारिहसत्पुरात् । आगतौ सहसौक्षिप्त मुनी गगनचारिणौ ॥१९३॥

आदित्यगतिमप्रणयं^४ तथारिअवशश्चनम्^५ । युगम्बरमहातीर्थसरसीहंसनायकौ ॥१९४॥

तादभ्येत्य समभ्यर्च्य प्रणम्य च पुनः पुनः । पप्रच्छेति^६ सुखासीनौ मनोषी^७ स्वमनीषितम् ॥१९५॥

भगवन्तौ युवां मृतं किञ्चित् पृच्छामि हृद्गतम् । भवन्तौ हि जगद्बोधविधौ^८ भक्तोऽवधित्विषम् ॥१९६॥

अस्मत्स्वामी खगाधीशः कयातोऽस्तीह महाबलः । स भव्यसिद्धिराहोस्विदभ्यः संशयोऽत्र मे ॥१९७॥

जिनोपदिष्टसन्मार्गमस्मद्वाक्यात्^९ प्रमाणयन् । स किं^{१०} श्वात्स्यते नेति^{११} जिज्ञासे^{१२} वामनुग्रहात् ॥१९८॥

इति प्रश्नमुपम्यस्य^{१३} तस्मिन् विश्राम्भिमौयुषि^{१४} । तयोरादित्यगत्याख्यः समाख्यद्वधीभजः ॥१९९॥

नो भव्यः^{१५} कृत्यासी^{१६} जलोन्मयि^{१७} स^{१८} वैभवाः^{१९} । युगम्बरमहातीर्थकृत्वमवाप्त्यति ॥२००॥

द्वीपे जम्बूमतोदैव विषये भारताङ्गये ।^{२०} जमितैष्यद्^{२१} युगारम्भे भगवानादितोर्थकृत् ॥२०१॥

इतोऽतीतमवं चास्य वक्ष्ये शृणु समासतः । धर्मबीजमनेनोसं यत्र मोरोच्छयाम्बितम् ॥२०२॥

इहैवापरलो मेरोर्विदेहे गन्धिलामिधे । पुरे सिंहपुराभिम्ये पुरम्बरपुरोपमे ॥२०३॥

श्रीषेण इत्यभूद् राजा^{२२} राजेव प्रियदर्शनः । देवी च सुन्दरी तस्य बभूवात्यन्तसुन्दरी ॥२०४॥

जयवर्माह्वयः सोऽयं तयोः सूनुरजायत । श्रीधर्मेति च तस्याभूत्तनुजो जनताम्रिषः ॥२०५॥

प्रतिमाओंकी वन्दना की ॥१९१॥ वन्दनाके बाद उसने सौमनसधनके पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालयमें पूजा की तथा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके क्षण-भरके लिए वह वहीं बैठ गया ॥१९२॥

इतनेमें ही उसने पूर्व बिदेह क्षेत्रसम्बन्धी महाकच्छ देशके अरिष्ट नामक नगरसे आये हुए, आकाशमें चलनेवाले आदित्यगति और अरिजय नामके दो मुनि अकस्मात् देखे । वे दोनों ही मुनि युगम्बर स्वामीके समवसरणरूपी सरोवरके मुख्य हंस थे ॥१९३-१९४॥ अतिशय बुद्धिमान् स्वयम्बुद्ध मन्त्रीने सम्मुख जाकर उनकी पूजा की, बार-बार प्रणाम किया और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये तब उनसे नीचे लिखे अनुसार अपने मनोरथ पूछे ॥१९५॥ हे भगवन्, आप जगत्को जाननेके लिए अवधिज्ञानरूपी प्रकाश धारण करते हैं इसलिए आपसे मैं कुछ मनोगत बात पूछता हूँ, कृपाकर उसे कहिए ॥१९६॥ हे स्वामिन्, इस लोकमें अत्यन्त प्रसिद्ध विद्याधरोंका अधिपति राजा महाबल हमारा स्वामी है वह भव्य है अथवा अभव्य ? इस विषयमें मुझे संशय है ॥१९७॥ जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सन्मार्गका स्वरूप दिखानेवाले हमारे बचनोंको जैसे वह प्रमाणभूत मानता है वैसे अज्ञान भी करेगा या नहीं ? यह बात मैं आप दोनोंके अनुग्रहसे जानना चाहता हूँ ॥१९८॥ इस प्रकार प्रश्न कर जब स्वयम्बुद्ध मन्त्री चुप हो गया तब उनमें-से आदित्यगति नामके अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे ॥१९९॥ हे भव्य, तुम्हारा स्वामी भव्य ही है, वह तुम्हारे बचनोंपर विश्वास करेगा और दसवें भवमें तीर्थकर पद भी प्राप्त करेगा ॥२००॥ वह इसी जम्बूद्वीपके भरत नामक क्षेत्रमें आनेवाले युगके प्रारम्भमें ऐश्वर्य-वान् प्रथम-तीर्थकर होगा ॥२०१॥ अब मैं संक्षेपसे इसके उस पूर्वभवका वर्णन करता हूँ जहाँ कि इसने भोगोंकी इच्छाके साथ-साथ धर्मका बीज बोया था । हे राजन्, तुम सुनो ॥२०२॥

इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर बिदेह क्षेत्रमें एक गन्धिला नामका देश है उसमें सिंहपुर नामका नगर है जो कि इन्द्रके नगरके समान सुन्दर है । उस नगरमें एक श्रीषेण नामका राजा हो गया है । वह राजा चन्द्रमाके समान सबको प्रिय था । उसकी एक अत्यन्त सुन्दर सुन्दरी नामकी स्त्री थी ॥२०३-२०४॥ उन दोनोंके पहले जयवर्मा नामका पुत्र हुआ

१. पूर्वदिग्भागस्थजिनगृहे । २. स्थितः । -भास्वितः ६०, म० । ३. पूर्वबिदेहः । ४. मुख्यम् । ५. मरि-
ज्याख्यम् । ६. सुखोपविष्टौ । ७. स्नेहितम् । ८. बोधविधाने । ९. वाक्यं प्र-अ०, ६०, स०, प० ।
१०. अज्ञानं करिष्यते । ११. ज्ञातुमिच्छामि । १२. युवयोः । १३. उपन्यासं कृत्वा । १४. गच्छति सति ।
१५. निश्वासं करिष्यति । १६. च तद्वचः म० । १७. मविष्यति । १८. भविष्यद्युगप्रारम्भे । १९. यत्र इव ।

'पित्रोरपि निसर्गेषु कनीयानभवत् प्रियः । प्रायः प्रजास्वसाभ्येऽपि कचित् प्रीतिः प्रजायते ॥२०६॥
 जनानुरागमुत्साहं^३ पिता दृष्ट्वा कनोयसि । रात्र्यपहं बभूवस्य ज्यायांसमवधीरयन्^४ ॥२०७॥
 जयवर्माथ निर्वैकुं परं प्राप्य तपोऽग्रहीत् । स्वयंप्रभुगुरोः पाश्वे^५ स्वमपुण्यं विगर्हयन् ॥२०८॥
 नवसंवत् पृथालौ^६ बान्तवृद्ध्या^७ महीधरम् । से सेखरेशमुच्चध्रुवीदयासीत् सनिदामकः ॥२०९॥
 महासेखरमो^८ रा हि भूयासुर्मेऽव्यजन्मनि । इति ध्यायन्नसौ दृष्टौ बलमीकाद् सीमभोगिना ॥२१०॥
 भोगं^९ काम्यन् विसृष्टासुरिह भूत्वा महाबकः सोऽ^{१०} नाशितभवान्^{११} भोगान् भुङ्क्तेऽथ स्वचरोचितान् २११
 ततो भोगेष्वसावेवं चिरकालमरज्जत । भवद्वचोऽधुना सुत्वा क्षिप्रमेभ्यो^{१२} विरस्यति ॥२१२॥
 सोऽथ रात्रौ समैक्षिष्ट स्वप्ने दुर्गन्धिभिस्त्रिभिः । निमज्जमानमात्मानं बाकात् पङ्के दुरुतरे ॥२१३॥
 ततो^{१३} निर्मत्स्यं तान् दुष्टान् दुःपद्मान् दुःशतं स्वया । अभिषिक्तं^{१४} स्वमैक्षिष्ट निविष्टं हरिविष्टरे ॥२१४॥
 दृष्ट्वा स्वभावतिस्पष्टं स्वामेव^{१५} प्रतिपाकयन् । आस्ते तस्मात् स्वमाश्वेव गत्वेनं प्रतिबोधय ॥२१५॥
 स्वप्नद्वयमदः पूर्व स्वप्नः श्रुत्वातिविस्मितः । प्रीतो भवद्वचःकृत्स्नं^{१६} स करिष्यत्यसंशयम् ॥२१६॥
 और उसके बाद उसका छोटा भाई श्रीवर्मा हुआ । वह श्रीवर्मा सब लोगोंको अतिशय प्रिय
 था ॥२०५॥ वह छोटा पुत्र माता-पिताके लिए भी स्वभावसे ही प्यारा था सो ठीक ही है
 सन्तानपना समान रहनेपर भी किसीपर अधिक प्रेम होता ही है ॥२०६॥ पिता श्रीवर्माणे
 ममुष्योका अनुराग तथा उत्साह देखकर छोटे पुत्र श्रीवर्माके मस्तकपर ही रात्र्यपह बाँधा और
 इसके बड़े भाई जयवर्माकी अपेक्षा कर दी ॥२०७॥ पिताकी इस अपेक्षासे जयवर्माको बड़ा
 वैराग्य हुआ जिससे वह अपने पापोंकी निन्दा करता हुआ स्वयंप्रभुगुरुसे दीक्षा लेकर तपस्या
 करने लगा ॥२०८॥ जयवर्मा अभी नवदीक्षित ही था—उसे दीक्षा लिये बहुत समय नहीं हुआ
 था कि उसने विभूतिके साथ आकाशमें जाते हुए महीधर नामके विद्याधरको आँख उठाकर
 देखा । उस विद्याधरको देखकर जयवर्माणे निदान किया कि मुझे आगामी भवमें बड़े-बड़े
 विद्याधरोंके भोग प्राप्त हों । वह ऐसा विचार ही रहा था कि इतनेमें एक भयंकर सर्पने
 वामीसे निकलकर उसे इस लिया । वह भोगोंकी इच्छा करते हुए ही मरा था इसलिए
 यहाँ महाबल हुआ है और कभी तृप्त न करनेवाले विद्याधरोंके उचित भोगोंको भोग रहा है ।
 पूर्वभवके संस्कारसे ही वह चिरकाल तक भोगोंमें अनुरक्त रहा है किन्तु आपके वचन सुनकर
 शीघ्र ही इनसे विरक्त होगा ॥२०९-२१२॥ आज रातको उसने स्वप्नमें देखा है कि कि तुम्हारे
 सिवाय अन्य तीन दुष्ट मन्त्रियोंने उसे बलात्कार किसी भारी कीचड़में फँसा दिया है
 और तुमने उन दुष्टों मन्त्रियोंकी भर्त्सना कर उसे कीचड़से निकाला है और सिंहासनपर
 बैठाकर उसका अभिषेक किया है ॥२१३-२१४॥ इसके सिवाय दूसरे स्वप्नमें देखा है कि
 अग्निकी एक प्रदीप्त ज्वाला विजलीके समान चंचल और प्रलक्षण क्षीण होती जा रही है ।
 उसने ये दोनों स्वप्न आज ही रात्रिके अन्तिम समयमें देखे हैं ॥२१५॥ अत्यन्त स्पष्ट रूपसे
 दोनों स्वप्नोंको देख वह तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ ही बैठा है इसलिए तुम शीघ्र ही जाकर
 उसे समझाओ ॥२१६॥ वह पूछनेके पहले ही आपसे इन दोनों स्वप्नोंको सुनकर अत्यन्त
 विस्मित होगा और प्रसन्न होकर निःसन्देह आपके समस्त वचनोंको स्वीकृत करेगा ॥२१७॥

१. जननीजनकयोः । २. पुत्रत्वसमानेऽपि । ३. अवसायम् । 'उत्साहो व्यवसायः स्यात् सर्वोयमति-
 यक्षितभाक्' इत्यमरः । ४. अवर्णा कुर्वन् । ५. आत्मीयम् । ६. निन्दन् । ७. गच्छन् । ८. महीधरनामानम् ।
 ९. भोगस्ते ५०, ६०, ८०, । १०. भोगं काम्यतीति भोगं काम्यम् । भोगकाम-अ०, स० । भोगकाम्यन् ६० ।
 ११. सोऽनाशितभव भोगान् अ०, स०, ६० । १२. अनुत्तिकरान् । १३. कारणात् । १४. विरक्तो भविष्यति ।
 १५. संतप्य । १६. आत्मानम् । १७. अन्तरक्षणमेव । १८. तद्धि । १९. रात्र्यन्ते । २०. प्रतीक्षमाणः ।
 २१. -कः सूक्ष्मं स०, अ०, ६०, स० ।

तुषितः पयसीवान्दात् पतिते चातकोऽधिकम् ।^१ जनुषाम्भ इवान्भंकरणे परमौषधे^२ ॥२१८॥
 रुचिमेव्यति सद्धमे त्वत्तः सोऽद्य प्रबुद्धधीः । वृत्त्येव मुक्तिकामिन्याः काललब्ध्या प्रबोधितः ॥२१९॥
 विदि तद्गाविपुण्यविपिशुनं स्वप्नमादिमम् । द्वितीयं च तदीयायुरतिहासं निवेदकम् ॥२२०॥
 मासमात्रावधिं च जीवितं तस्य निश्चिनु । तदस्य श्रेयसे भद्रं^३ वदेथास्त्वमशोतकः^४ ॥२२१॥
 इत्युदीर्य^५ ततोऽन्तर्द्धिमगात् सोऽम्बरधारणः । समं सधर्मणादित्यगतिराशास्य^६ मन्त्रिणम्^७ ॥२२२॥
 स्वयंबुद्धोऽपि तद्वाक्यश्रवणात् किञ्चिदाकुलः । द्रुतं प्रै^८ त्याकृतत् तस्य प्रतिबोधविधायकः ॥२२३॥
 सत्वरं च समासाद्य तं च दृष्ट्वा महाबलम् । आरण्यवचोऽशेषमाख्यत् स्वप्नफलावधि ॥२२४॥
^{१३} हन्त दुःखानुबन्धानां हे^९ म्ता धर्मो जिनोदितः । तस्मात् तस्मिन् मतिं धत्स्व मतिमञ्जिति चान्वशात्^{१०} ॥
 ततः स्वायुःक्षयं बुद्ध्वा स्वयंबुद्धान्महाबलः । तमुत्थागे मतिं धीमानघस विधिवत् तदा ॥२२५॥
 कृत्वाष्टाद्विकमिन्द्रिः महामहमहापयत्^{११} । दिवसाम् स्वगृहोद्यानजिनवेदमनि भक्तितः ॥२२७॥
 सुतायातिबलाख्याय वृत्त्वा राज्यं समृद्धिमत् । सर्वानापृच्छत्य^{१२} मन्त्र्यादीन् परं स्वातन्त्र्यमाश्रितः ॥२२८॥
 सिद्धकूटसुपेत्याशु परार्धे जिनमन्दिरम् । सिद्धार्थ्यास्तत्र संपूज्य स^{१३} संन्यास्यदसाध्वसः ॥२२९॥
 यावज्जीवं कृताहारशरीरस्यागसंगरः^{१४} । गुरुलाक्षि समाश्रित् वीर्याश्वाममूतधीः ॥२३०॥

जिस प्रकार प्यासा चातक मेघसे पड़े हुए जलमें, और जन्मान्ध पुरुष तिमिर रोग दूर करने-
 वाली श्रेष्ठ ओषधिमें अतिशय प्रेम करता है उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतके समान काल-
 लब्धिके द्वारा प्रेरित हुआ महाबल आपसे प्रबोध पाकर सभीचीन धर्ममें अतिशय प्रेम करेगा
 ॥२१८-२१९॥ राजा महाबलने जो पहला स्वप्न देखा है उसे तुम उसके आगामी भवमें प्राप्त होने-
 वाली विभूतिका सूचक समझो और द्वितीय स्वप्नको उसकी आयुके अतिशय हासको सूचित
 करनेवाला जानो ॥२२०॥ यह निश्चित है कि अब उसकी आयु एक माहकी ही शेष रह गयी
 है इसलिए हे भद्र, इसके कल्याणके लिए शीघ्र ही प्रयत्न करो, प्रमादी न होओ ॥२२१॥ यह
 कहकर और स्वयंबुद्ध मन्त्रीको आशीर्वाद देकर गगनगामी आदित्यगति नामके मुनिराज अपने
 साथी अरिजयके साथ-साथ अन्तर्हित हो गये ॥२२२॥ मुनिराजके वचन सुननेसे कुछ व्याकुल
 हुआ स्वयंबुद्ध भी महाबलको समझानेके लिए शीघ्र ही वहाँसे लौट आया ॥२२३॥ और तत्काल
 ही महाबलके पास जाकर उसे प्रतीक्षामें बैठा हुआ देख प्रारम्भसे लेकर स्वप्नोंके फल पर्यन्त
 विषयको सूचित करनेवाले ऋषिराजके समस्त वचन सुनाने लगा ॥२२४॥ तदनन्तर उसने यह
 उपदेश भी दिया कि हे बुद्धिमन्, जिनेन्द्र भगवान्का कहा हुआ यह धर्म ही समस्त दुःखोंकी
 परम्पराका नाश करनेवाला है इसलिए उसीमें बुद्धि लगाइए, उसीका पालन कीजिए ॥२२५॥ बुद्धि-
 मान् महाबलने स्वयंबुद्धसे अपनी आयुका क्षय जानकर विधिपूर्वक शरीर छोड़ने-समाधिमरण
 धारण करनेमें अपना चित्त लगाया ॥२२६॥ अतिशय समृद्धिशाली राजा अपने घरके बगीचेके
 जिनमन्दिरमें भक्तिपूर्वक आष्टाद्विक महायज्ञ करके वहीं दिन व्यतीत करने लगा ॥२२७॥ वह
 अपना वैभवशाली राज्य अतिबल नामक पुत्रको सौंपकर तथा मन्त्री आदि समस्त लोगोंसे
 पूछकर परम स्वतन्त्रताको प्राप्त हो गया ॥२२८॥ तत्पश्चात् वह शीघ्र ही परमपूज्य सिद्धकूट
 चैत्यालय पहुँचा । वहाँ उसने सिद्ध प्रतिमाओंकी पूजा कर निर्भय हो संन्यास धारण किया
 ॥२२९॥ बुद्धिमान् महाबलने गुरुकी साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्तके लिए आहार पानी तथा शरीर-

१. जन्मान्धः । २. अन्धमन्त्रं करणमन्त्रंकरणं तस्मिन् । ३. -करणं परमौषधम् अ० । ४. स्वस्वत्वम् ।
 ५. निश्चितम् अ०, स० । ६. वेष्टां कुह । ७. अमन्दः । ८. उक्तवा । ९. तिरोष्ठानम् । १०. माशीर्वादं दत्वा ।
 -शेषस्य अ० । ११. तन्मतम् अ०, प०, ट० । तदभीष्टम् । धर्मबुद्धिमिति यावत् । १२. निजपुरं प्रत्यागतः ।
 १३. हन्त संबोधने, हे महाबल । १४. चातकः । १५. पितामकरोत् । १६. अनयत् । -महापयन् अ०,
 स० । १७. संतोषं नीत्वा । १८. संन्यसनमकरोत् । १९. प्रतिज्ञा ।

आरुह्याराधनामात्रं तिलीर्षुर्मयसागरम् । निर्यापकं स्वयंबुद्धं बहु मेने महाबलः ॥२३१॥
 सर्वत्र समतां मैत्रीमनोऽसुख्यं च साधयन् । सोऽभूत्सुनिरिवासंगत्यक्तबाह्येतरोपधिः ॥२३२॥
 देहाहारपरित्यागव्रतमास्थाय धीरधीः । परमाराधनाशुद्धिं स भेजे सुसमाहितः ॥२३३॥
 प्रायोपगमनं कृत्वा धीरः स्वपरशोचरात् । उपकारानसौ नैच्छत् शरीरेऽनिच्छत्तां गतः ॥२३४॥
 तीक्ष्णं तपस्थतस्तस्य तनिमानमगात् तनुः । परिणामस्त्वन्धिष्ठ स्मरतः परमेष्ठिनाम् ॥२३५॥
 'मनाशुषोऽस्य गात्राणो परं शिथिलताऽभवत् । नारुदायाः प्रतिज्ञाया व्रतं हि महतामिदम् ॥२३६॥
 शरदन इवारुहकाश्चोऽभूत् सर्व रसक्षयात् । मोसासृजकियुक्तं च देहं सुर इवाधिमः ॥२३७॥
 गृहीतमरणारम्भव्रतं तं वीक्ष्य चक्षुषी । क्षुब्धेन क्वापि संलीने प्राग्बिक्कासात् ॥२३८॥
 कपोलावस्थ संक्षुब्धदसकृन्मस्तवचावपि । रुद्धौ काम्यानपायिन्या नौजिह्वां प्राक्तनीं श्रियम् ॥२३९॥

से ममत्व छोड़ने की प्रतिज्ञा की और वीरशक्त्या आसन धारण की ॥२३०॥ वह महाबल आराधनारूपी नावपर आरुढ़ होकर संसाररूपी सागरको तैरना चाहता था इसलिए उसने स्वयंबुद्ध मन्त्रीको निर्यापकाचार्य (सल्लेखनाकी विधि करानेवाले आचार्य, पक्षमें-नाव चलानेवाला खेवटिया) बनाकर उसका बहुत ही सम्मान किया ॥२३१॥ वह शत्रु, मित्र आदिमें समता धारण करने लगा, सब जीवोंके साथ मैत्रीभावका विचार करने लगा, हमेशा अनुत्सुक रहने लगा और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर परिग्रहत्यागी मुनिके समान मालूम होने लगा ॥२३२॥ वह धीर-वीर महाबल शरीर तथा आहार त्याग करनेका व्रत धारण कर आराधनाओंकी परम विशुद्धिको प्राप्त हुआ था, उस समय उसका चित्त भी अत्यन्त स्थिर था ॥२३३॥ उस धीर-वीरने प्रायोपगमन नामका संन्यास धारण कर शरीरसे बिल्कुल ही स्नेह छोड़ दिया था इसलिए वह शरीररक्षाके लिए न तो स्वकृत उपकारोंकी इच्छा रखता था और न परकृत उपकारोंकी ॥२३४॥ भावार्थ-संन्यास मरणके तीन भेद हैं-१ भक्त प्रत्याख्यान, २ इंगिनीमरण और ३ प्रायोपगमन। (१) भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भोजनकी प्रतिज्ञा कर जो संन्यासमरण हो उसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्ष तकका है। (२) अपने शरीरकी सेवा स्वयं करे, किसी दूसरेसे रोगादिका उपचार न करावे। ऐसे विधानसे जो संन्यास धारण किया जाता है उसे इंगिनीमरण कहते हैं। (३) और जिसमें स्वकृत और परकृत दोनों प्रकारके उपचार न हों उसे प्रायोपगमन कहते हैं। राजा महाबलने प्रायोपगमन नामका तीसरा संन्यास धारण किया था ॥२३४॥ कठिन तपस्या करनेवाले महाबल महाराजका शरीर तो कुश हो गया था परन्तु पञ्च-परमेष्ठियोंका स्मरण करते रहनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढ़ गयी थी ॥२३५॥ निरन्तर उपवास करनेवाले उन महाबलके शरीरमें शिथिलता अवश्य आ गयी थी परन्तु ग्रहण की हुई प्रतिज्ञामें रंधमात्र भी शिथिलता नहीं आयी थी, सो ठीक है क्योंकि प्रतिज्ञामें शिथिलता नहीं करना ही महापुरुषोंका व्रत है ॥२३६॥ शरीरके रक्त, मांस आदि रसोंका क्षय हो जानेसे वह महाबल शरद् ऋतुके मेघोंके समान अत्यन्त दुर्बल हो गया था। अथवा यों समझिए कि उस समय वह राजा देवोंके समान रक्त, मांस आदिसे रहित शरीरको धारण कर रहा था ॥२३७॥ राजा महाबलने मरणका प्रारम्भ करनेवाले व्रत धारण किये हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानो शोकसे ही कहीं आ छिपे थे और पहलेके हाव-भाव आदि बिलासोंसे विरत हो गये थे ॥२३८॥ यद्यपि उसके दोनों गालोंके रक्त, मांस तथा चमड़ा आदि सब सूख गये थे तथापि

१. विषयेष्वलाम्पट्यम् । २. परिग्रहः । ३. सुष्ठु सप्तद्वयः । ४. तपस्कूर्धतः । ५. धर्तिकृष्टत्वम् ।

६. अक्ष्णातीत्येवंशीलः अश्वान् न मरुतान् अतस्थान् तस्य अनाशुषः । ७. कुशस्य भावः । ८. देहो महाबलस्य ।

९. बिभ्रति स्म । १०. अपसरतः स्म ।

मितामृतपीवरावंसौ केयूरकिणककंसौ । तदास्वोज्झितकादिन्यौ भृदिमानमुपेयतुः ॥२४०॥

^१आभुग्नमुदरं चास्य ^२त्रिवलीमङ्गसंगमम् । निवातनिस्तरङ्गान्धुसरः शुष्यविचामयत् ॥२४१॥

^३तपस्तनूनपात्तापाद् दिदीपेऽधिकमेव सः । कमकाक्षम इवाध्मातः ^४परी क्षुब्धं समुद्रद्वन्द्वम् ॥२४२॥

असह्यं तनुसंतापं सहमानस्य हेलया । ययुः परीषहामङ्गमभङ्गस्यास्य ^५संगरे ॥२४३॥

त्वगस्मीभूतवेहोऽपि मद् व्यजेष्ट परीषहान् । स्वसमाधिबलाद् व्यक्तं स तदासीम्भवाबलः ॥२४४॥

^६मूर्ध्नि लोकोत्तमान् शिक्षान् स्थापयन् हृदयेऽर्हतः । शिरःकवचमस्त्रं च स चक्रे साधुभिस्त्रिभिः ॥२४५॥

चक्षुषी ^७परमात्मानमद्राष्टामस्य योगतः । ^८अश्रौहो परमं मन्त्रं श्रोत्रे जिह्वा तमापन्नम् ॥२४६॥

मनोगर्भगृहेऽर्हन्तं विधायासौ निरञ्जनम् । प्रदीपमिव निर्धूतध्वास्तोऽमृद् ध्यानतेजसा ॥२४७॥

द्वाविंशतिदिनान्येष कृतसल्लेखनाविधिः । जीवितास्ते ^९समाधाय मनः स्वं परमेष्ठिषु ॥२४८॥

नमस्कारपदान्यन्तर्जल्पेन ^{१०}निभूतं जपन् । ललाटपटविन्पस्तहस्तपङ्कजकुङ्कुमलः ॥२४९॥

कोष्ठादसेरिवाम्बुत्वं देहाजीवस्य भावयन् । मावितारमा सुखं प्राणानीक्यत् सन्मन्त्रिसाक्षिकम् ॥२५०॥

उन्होंने अपनी अविनाशिनी कान्तिके द्वारा पहलेकी शोभा नहीं छोड़ी थी, वे उस समय भी पहलेकी ही भाँति सुन्दर थे ॥२३९॥ समाधिग्रहणके पहले उसके जो कन्धे अत्यन्त स्थूल तथा धाजूबन्दकी रगड़से अत्यन्त कठोर थे उस समय वे भी कठोरताको छोड़कर अतिशय कोमलता को प्राप्त हो गये थे ॥२४०॥ उसका उदर कुछ भीतरकी ओर झुक गया था और त्रिवली भी नष्ट हो गयी थी इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो हवाके न चलनेसे तरंगरहित सूखता हुआ तालाब ही हो ॥२४१॥ जिस गलतार जलमें गलाया हुआ सुगन्धद्रव्य अत्यन्त शुद्धिको धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता है उसी प्रकार यह महाबल भी तपरूपी अग्निसे तप्त हो अत्यन्त शुद्धिको धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता था ॥२४२॥ राजा असह्य शरीर-सन्तापको लीलामात्रमें ही सहन कर लेता था तथा कभी किसी विपत्तिसे पराजित नहीं होता था इसलिए उसके साथ युद्ध करते समय परीषह ही पराजयको प्राप्त हुए थे, परीषह उसे अपने कर्तव्यमार्गसे अभ्युत नहीं कर सके थे ॥२४३॥ यद्यपि उसके शरीरमें मात्र चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी तथापि उसने अपनी समाधिके बलसे अनेक परीषहोंको जीत लिया था इसलिए उस समय वह यथार्थमें 'महाबल' सिंह हुआ था ॥२४४॥ उसने अपने मस्तकपर लोकोत्तम परमेष्ठीको तथा हृदयमें अर्हन्त परमेष्ठीको विराजमान किया था और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन तीन परमेष्ठियोंके ध्यानरूपी टोप-कवच और अस्त्र धारण किये थे ॥२४५॥ ध्यानके द्वारा उसके दोनों नेत्र मात्र परमात्माको ही देखते थे, कान परम मन्त्र (णमोकार मन्त्र) को ही सुनते थे और जिह्वा उसीका पाठ करती थी ॥२४६॥ यह राजा महाबल अपने मनरूपी गर्भगृहमें निर्धूम दीपकके समान कर्ममलकलंकसे रहित अर्हन्त परमेष्ठीको विराजमान कर ध्यानरूपी तेजके द्वारा मोह अथवा अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित हो गया था ॥२४७॥ इस प्रकार महाराज महाबल निरन्तर बाईस दिन तक सल्लेखनाकी विधि करते रहे । जब आयुका अन्तिम समय आया तब उन्होंने अपना मन विशेष रूपसे पञ्चपरमेष्ठियोंमें लगाया । उसने हस्तकमल जोड़कर ललाटपर स्थापित किये और मन-ही-मन निश्चल रूपसे नमस्कार मन्त्रका जाप करते हुए, ध्यानसे तलवारके समान शरीरसे जीवको पृथक् चिन्तन करते हुए और अपने

१. आकुञ्चितम् । २. विगतवलीमङ्गः । ३. अग्निनापात् । ४. संतप्तः । ५. प्रतिज्ञायामुद्धे च ।

६. शिक्षायाम् । 'शिक्षा हृदयं शिरः कवचम् अस्त्रम्' चेति पञ्च स्थानानि तत्र पञ्च नमस्कारं पञ्चधा कृत्वा योजयन् इत्यर्थः । ७. 'परमात्मानमद्राष्टामस्य योगतः' अत्र परमात्मशब्देन अर्हन् प्रतिपाद्यते । ध्यानसामर्थ्यादहन् चक्षुषियोऽभूदित्यर्थः । विहिते कारागारे इत्यादिवत् । ८. अमृणुताम् । ९. समाधानं कृत्वा ।

१०. निश्चलं यथा भवति तथा ।

मन्त्रशक्त्या यथा पूर्वं स्वयंभुवो न्यभाद् बलम्^१ । तत्रापि मन्त्रशक्त्यैव बलं न्यास्यन् महाबले ॥२५१॥
 साचिद्व्यं सचिदेवेति कृतमस्य^२ निरत्ययम् । तदा धर्मसहायत्वं निर्व्यपेक्षं प्रकुर्वतः ॥२५२॥
 देहभारमथोत्सृज्य लघुभूत इव क्षणात् । प्रापत् स कल्पसैशानर्मेन स्य सुखसंनिधिम् ॥२५३॥
 तत्रोपपादशय्यायामुपपादि महोदयः । विमाने श्रीप्रभे रम्ये ललिताङ्गः सुरोत्तमः ॥२५४॥
 यथा विपत्ति वीर्याभे सात्रा विद्युद् विरोचते । तथा वैक्रियिकी दिव्यः तनुरस्याचिराद्भात् ॥२५५॥
 नवयौवनपूर्णो^३ ना सर्वलक्षणसंभृतः । सुसोध्यितो यथा भाति तथा सोज्ज्वलमुहूर्ततः ॥२५६॥
^४उत्कृष्टकुण्डलकेयूरमुकुटाङ्गदभूषणः । सगन्धी सर्वशुक्लधरः प्रातुरासीन्महाशक्तिः ॥२५७॥
 तस्य रूपं तदा रेजे निमेषालसकोचनम् । क्षयद्वयेन निष्कम्पस्थितेनेव सरोजकम् ॥२५८॥
 बाहुवाग्लोज्ज्वलं श्रीमत्पद्मपङ्कजकोमलम् । नेत्रभृङ्गं वपुस्तस्य भेजे कल्पवृक्षपञ्चिमम् ॥२५९॥
 ललितं ललिताङ्गस्य दिव्यं रूपमयोनिजम् । इत्येष वर्णनास्यास्तु किं वा वर्णनयानया ॥२६०॥
 पुष्पवृष्टिस्तवापमन्मुक्ता कल्पवृक्षैः स्वयम् । दुन्दुभिरुत्थितं मन्दं जगृग्मे रुद्रदिकृतदम् ॥२६१॥
 मृदुराभूतमन्दारनगदनादाहरन् रजः । शुगन्धिरावबौ मन्वभनिष्ठोऽम्बुकणान् किरन् ॥२६२॥
 ततोऽसौ वलितः किञ्चिद् दृशं व्यापारयन्^५ दिशाम् । समस्ताग्राममद्देवकोटिदेवप्रमाजुषाम् ॥२६३॥

शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावना करते हुए, स्वयम्भुद्ध मन्त्रोके समस्त सुखपूर्वक प्राण छोड़े ॥२४८-२५०॥
 स्वयम्भुद्ध मन्त्री जिस प्रकार पहले अपनी मन्त्रशक्ति (विचारशक्ति) के द्वारा महाबलमें बल (शक्ति अथवा सेना) सन्निहित करता रहता था, उसी प्रकार उस समय भी वह मन्त्रशक्ति (पञ्चनमस्कार मन्त्रके जापके प्रभाव)के द्वारा उसमें आत्मबल सन्निहित करता रहा, उसका धैर्य नष्ट नहीं होने दिया ॥२५१॥ इस प्रकार निःस्वार्थ भावसे महाराज महाबलकी धर्मसहायता करनेवाले स्वयम्भुद्ध मन्त्रीने अन्त तक अपने मन्त्रांपनेका कार्य किया ॥२५२॥ तदनन्तर वह महाबलका जीव शरीररूपी भार छोड़ देनेके कारण मानो हलका होकर विशाल सुख-सामग्रीसे भरे हुए ऐशान स्वर्गको प्राप्त हुआ । वहाँ वह श्रीप्रभ नामके अतिशय सुन्दर विमानमें उपपाद शय्या-पर बड़ी ऋद्धिका धारक ललिताङ्ग नामका उत्तम देव हुआ ॥२५३-२५४॥ मेघरहित आकाशमें श्वेत बादलोंसहित बिजलीकी तरह उपपाद शय्यापर शीघ्र ही उसका वैक्रियिक शरीर शोभायमान होने लगा ॥२५५॥ वह देव अन्तर्मुहूर्तमें ही नवयौवनसे पूर्ण तथा सम्पूर्ण लक्षणोंसे सम्पन्न होकर उपपाद शय्यापर ऐसा सुशोभित होने लगा मानो सब लक्षणोंसे सहित कोई तरुण पुरुष सोकर उठा हो ॥२५६॥ देदीप्यमान कुण्डल, केयूर, मुकुट और बाजूबन्द आदि आभूषण पहने हुए, मालासे सहित और उत्तम वस्त्रोंको धारण किये हुए ही वह अतिशय कान्तिमान् ललिताङ्ग नामक देव उत्पन्न हुआ ॥२५७॥ उस समय टिमकाररहित नेत्रोंसे सहित उसका रूप निश्चल बैठो हुई दो मछलियोंसहित सरोवरके जलकी तरह शोभायमान हो रहा था ॥२५८॥ अथवा उसका शरीर कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि उसकी दोनों भुजाएँ उज्ज्वल शाखाओंके समान थीं, अतिशय शोभायमान हाथोंकी हथेलियाँ कोमल पद्मबोंके समान थीं और नेत्र भ्रमरोंके समान थे ॥२५९॥ अथवा ललिताङ्गदेवके रूपका और अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ है ? उसका वर्णन तो इतना ही पर्याप्त है कि वह योनिके बिना ही उत्पन्न हुआ था और अतिशय सुन्दर था ॥२६०॥ उस समय स्वयं कल्पवृक्षोंके द्वारा ऊपरसे छोड़ी हुई पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी और दुन्दुभिका गम्भीर शब्द दिशाओंको व्याप्त करता हुआ निरन्तर बढ़ रहा था ॥२६१॥ जलकी छोटी-छोटी बूँदोंको बिखेरता और नन्दन बनके हिलते हुए कल्पवृक्षोंसे पुष्प-पराग ग्रहण करता हुआ अतिशय सुहावना पवन धीरे-धीरे बढ़ रहा था ॥२६२॥ तदनन्तर सब

१. बलं बतुरङ्गं बलं सामर्थ्यम् । २. तदापि ब०, अ०, छ०, प० । ३. निरतिक्रमम् । ४. सम्पत्स्थानम् ।

५. शुभ्रमेघसमन्विता । ६. पुरुषः । ७. अयं श्लोकः 'म' पुस्तके नास्ति । ८. विधु ।

अहो परमैश्वर्यं किमेतत् कोऽस्मि^१ किं स्वमे । आनन्दमयस्य मा त्वादिश्यासीद् विस्मितः क्षणम् ॥२६४॥
 कथायातोऽस्मि कुतो वाऽद्य प्रपसीदति मे मनः । शय्यातलमिदं कस्य रस्यः कोऽयं^२ महाश्रमः ॥२६५॥
 इति चिन्तयतस्तस्य क्षयादवधिहस्यौ । तेनाबुद्ध सुरः सर्वं स्वयं बुद्धादिवृत्तकम् ॥२६६॥
^३अये, तपःफलं दिव्यमयं स्वर्गो महाधुतिः । इमे देवास्तमुत्सर्पद्देहोद्योताः प्रणामिनः ॥२६७॥
 विमानमेतदुज्जसि कल्पपादपवेष्टितम् । इमा मन्त्रजिरो देव्या शिञ्जानमणिमूषुराः ॥२६८॥
 अप्सरःपरिवारोऽयं मितो नृत्यति सस्मितम् । गीयते कलमामन्दमितश्च^४ मुरज्ज्वनिः ॥२६९॥
 इति निश्चित्य तत्सर्वं भवप्रत्ययतोऽवधेः । शय्योत्सर्गे सुखासोमो नानारत्नोऽशुभासुरं ॥२७०॥
 जपेश विजयिन् नन्द^५ नेत्रानन्द महाधुते । वर्धस्वेयुद्धिरो^६ नम्रास्तमासीदन्^७ दिवौकसः ॥२७१॥
 सप्रसन्नमधोपेत्य^८ स्थनियोगप्रचोदितः । ते तं विज्ञापयामासुरिति प्रणतमौल्यः ॥२७२॥
 प्रतीक्य प्रथमं नाथ^९ सज्जं मञ्जनमङ्गलम् । ततः पूजां जिनेन्द्राणां कुरु पुण्यानुबन्धिनीम् ॥२७३॥
 ततो बलमिदं देवं^{१०} भवदैवबलजितम् । समाकोक्य^{११} संवहः समापतदितस्ततः ॥२७४॥
 इतः^{१२} प्रेक्षस्व^{१३} संप्रेक्ष्याः^{१४} प्रेक्षागृहमुपागतः । सलीलजूलोत्सर्गे नटन्तीः सुरनर्तकीः ॥२७५॥
 मनोऽशेषभूषाश्च देवीर्देवाश्च^{१५} मानय । देवभूषणसंप्राप्तौ फलमेतावदेव हि ॥२७६॥

ओरसे नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके शरीरकी प्रभासे व्याप्त दिशाओंमें दृष्टि धुमाकर ललिताङ्गदेवने देखा कि यह परम ऐश्वर्य क्या है ? मैं कौन हूँ ? और ये सब कौन हैं ? जो मुझे दूर-दूरसे आकर नमस्कार कर रहे हैं । ललिताङ्गदेव यह सब देखकर क्षण-भरके लिए आश्चर्यसे चकित हो गया ॥२६३-२६४॥ मैं यहाँ कहाँ आ गया ? कहाँसे आया ? आज मेरा मन प्रसन्न क्यों हो रहा है ? यह शय्यातल किसका है ? और यह मनोहर महान् आश्रम कौन-सा है ? इस प्रकार चिन्तन कर ही रहा था कि उसे उसी क्षण अवधिज्ञान प्रकट हो गया । उस अवधिज्ञानके द्वारा ललिताङ्गदेवने स्वयम्बुद्ध मन्त्री आदिके सब समाचार जान लिये ॥२६५-२६६॥ 'यह हमारे तपका मनोहर फल है, यह अतिशय कान्तिमान् स्वर्ग है, ये प्रणाम करते हुए तथा शरीरका प्रकाश सब ओर फैलाते हुए देव हैं, यह कल्पवृक्षोंसे घिरा हुआ शोभायमान विमान है, ये मनोहर शब्द करती तथा रुनझुन शब्द करनेवाले मणिमय नूपुर पहने हुई देवियाँ हैं, इधर यह अप्सराओंका समूह मन्द-मन्द हँसता हुआ नृत्य कर रहा है, इधर मनोहर और गम्भीर गान हो रहा है, और इधर यह मृदंग बज रहा है ।' इस प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञानसे पूर्वोक्त सभी बातोंका निश्चय कर वह ललिताङ्गदेव अनेक रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान शय्यापर सुखसे बैठा ही था कि नमस्कार करते हुए अनेक देव उसके पास आये । वे देव ऊँचे स्वरसे कह रहे थे कि हे स्वामिन्, आपको जय हो । हे विजयशील, आप समृद्धिमान् हैं । हे नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, महाकान्तिमान्, आप सदा बढ़ते रहें—आपके बल-विद्या, ऋद्धि आदिकी सदा वृद्धि होती रहे ॥२६७-२७१॥ तत्पश्चात् अपने-अपने नियोगसे प्रेरित हुए अनेक देव विनय-सहित उसके पास आये और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कहने लगे कि हे नाथ, स्नानकी सामग्री तैयार है इसलिए सबसे पहले मङ्गलमय स्नान कीजिए फिर पुण्यको बढ़ानेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कीजिए । तदनन्तर आपके भाग्यसे प्राप्त हुई तथा अपने-अपने गुटों (छोटी दुकड़ियों)के साथ जहाँ-तहाँ (सब ओरसे) आनेवाली देवोंकी सब सेनाका अवलोकन कीजिए । इधर नाट्यशालामें आकर, लीलासहित भौंह नचाकर नृत्य करती हुई, दर्शनीय सुन्दर देव नर्तकियोंको देखिए । हे देव, आज मनोहर देव-भूषासे युक्त देवियोंका सम्मान कीजिए क्योंकि

१. के स्वमे अ०, प०, व०, स० । २. आश्रयः । ३. अहो । इदं अ०, स० । ४. मुरज्ज्वनिः व०, अ०, प० । ५. नेत्रानन्दिन् प० । नेत्रानन्दिमहा—व०, स० । ६. उज्ज्वलचताः । ७. आगच्छन्ति स्म । ८. —गति-वेदनः अ०, स०, व० । ९. सज्जीकृतम् । १०. सुकृतम् । ११. संवहः । १२. आलोक्य । १३. दर्शनीयाः । १४. नाट्यशालाम् । १५. सत्कुरु । १६. देवत्वस्य ।

इति तद्वचनादेतत् स सर्वमकरोत् कृती । स्वनियोगानतिशान्तिः महती भूषणं परम् ॥२७७॥
 निहसकनकच्छायाः सप्तहस्तोच्चविग्रहः । वस्त्रामरणमाकाशैः सहजैरेव भूषितः ॥२७८॥
 सुगन्धबन्धुरामोद^१निःश्वासो कक्षोज्ज्वलः । स दिव्यान्वभूद् भोगान् अणिमादिगुणैर्युतः ॥२७९॥
 भेजे वर्षसहस्रेण मानसी स^२ तनुस्थितिम् । पक्षेणैकेन चोच्छ्वासं प्रदोषारोऽस्य कायिकः ॥२८०॥
 तनुच्छायाभिवास्तानि दधानः क्षजमुज्ज्वलाम् । शरत्काक इवावत् स दिव्यमरजोऽम्बरम्^३ ॥२८१॥
 सहस्राण्यभवन्^४ देव्यः चत्वार्यस्य परिग्रहः । चतस्रश्च महादेव्यः चारुतावन्धविभ्रमाः ॥२८२॥
 स्वयंप्रभाप्रिया देवी द्वितीया कनकप्रभा । कनकादिकताम्यासीद् देवी विद्युल्लतापरा ॥२८३॥
 रामामिरभिरामामिराभिर्मौगाननारतम् । भुजानस्यास्य कालोऽगादनल्पः पुण्यपाकजान् ॥२८४॥
 तदायुर्जलधर्मध्ये^५ वीचीमाला इवाकुलाः । बिलीयन्ते स्म भूयस्यो देव्यः स्वायुःस्थितिच्युतेः ॥२८५॥
 पश्योपमपृथक्त्वा^६ वशिष्ठमायुर्यदास्य च । तयोदपादि पुण्यैः स्वैः प्रेयस्यस्य स्वयंप्रभा ॥२८६॥
 अथ सा^७ कृतनेपथ्या प्रमातरलविग्रहा । पत्युर^८ क्लृप्ता रेजे कक्ष्यश्रीरिव रूपिणी ॥२८७॥
 सैवा स्वयंप्रभाऽस्यासीत् परा^९ सौहार्दभूमिका । चिरं मधुकरस्येव^{१०} प्रत्यग्रा चूतमञ्जरी ॥२८८॥
 स्वयंप्रभाननालोकतद्गात्रस्पर्शनोत्सवैः । स रेमे करिणीलक्तः करीव सुचिरं सुरः ॥२८९॥

निम्नयसे देवपर्वणिकी प्राप्तिश्च इतनी ही लैफल है । इस प्रकार कार्यकुशल ललिताङ्गदेवने उन देवोंके कहे अनुसार सभी कार्य किये सो ठीक ही है क्योंकि अपने नियोगोंका उत्लंघन नहीं करता ही महापुरुषोंका श्रेष्ठ भूषण है ॥२७७-२७७॥ वह ललिताङ्गदेव तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था, सात हाथ ऊँचे शरीरकाधारक था, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, आभूषण और माला आदिसे विभूषित था, सुगन्धित^१ इवासोच्छ्वाससे सहित था, अनेक लक्षणोंसे उज्ज्वल था और अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे युक्त था । ऐसा वह ललिताङ्गदेव निरन्तर दिव्य भोगोंका अनुभव करने लगा ॥२७८-२७९॥ वह एक हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, एक पक्षमें इवासोच्छ्वास लेता था तथा स्त्रीसंभोग शरीर-द्वारा करता था ॥२८०॥ वह शरीरकी कान्तिके समान कभी नहीं सुरक्षानेवाली उज्ज्वल माला तथा शरत्कालके समान निर्मल दिव्य अम्बर (वस्त्र, पक्षमें आकाश) धारण करता था ॥२८१॥ उस देवके चार हजार देवियाँ थीं तथा सुन्दर लावण्य और विलास-चेष्टाओंसे सहित चार महादेवियाँ थीं ॥२८२॥ उन चारों महादेवियोंमें पहली स्वयंप्रभा, दूसरी कनकप्रभा, तीसरी कनकलता और चौथी विद्युल्लता थी ॥२८३॥ इन सुन्दर स्त्रियोंके साथ पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाले भोगको निरन्तर भोगते हुए इस ललिताङ्गदेवका बहुत काल बीत गया ॥२८४॥ उसके आयुरूपी समुद्रमें अनेक देवियाँ अपनी-अपनी आयुको स्थिति पूर्ण हो जानेसे चञ्चल तरङ्गोंके समान बिलीन हो चुकी थीं ॥२८५॥ जब उसकी आयु क्षणवत्त्वपत्यके बराबर अवशिष्ट रह गयी तब उसके अपने पुण्यके उदयसे एक स्वयंप्रभा नामकी प्रियपत्नी प्राप्त हुई ॥२८६॥ वेद-भूषासे सुसजित तथा कान्तियुक्त शरीरको धारण करनेवाली वह स्वयंप्रभा पतिके समीप ऐसी सुशोभित होती थी मानो रूपवती स्वर्गकी लक्ष्मी ही हो ॥२८७॥ जिस प्रकार आमकी नवीन मंजरी भ्रमरको अतिशय प्यारी होती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा ललिताङ्गदेवको अतिशय प्यारी थी ॥२८८॥ वह देव स्वयंप्रभाका मुख देखकर तथा उसके शरीरका स्पर्श कर हस्तिनीमें आसक्त रहनेवाले

१. - जेरिव म०, ल० । २. मनोहरः । ३. आहारम् । ४. वस्त्रम् आकाशं च । ५. - पृथक्पृथक्-
 म० । ६. वीचीमा-प० । ७. सप्ताष्ट पञ्चवद्वा [त्रयाणामुपरि नवानामधः संस्था] । ८. प्रियतमा ।
 ९. कृतान्तरणा । १०. समीप । ११. सुहृत्त्वम् । १२. अमित्रता ।

॥ तीनसे अधिक और नौसे कम संख्याको पृथक्त्व कहते हैं ।

स तथा मन्दरे^१ कान्तचन्द्रकान्तशिलातले ।^२ भृङ्गकोकिलवाचाकनम्वनादिवनाञ्जिते^३ ॥२९०॥
नीलादिष्वचलेभ्रेषु स्वचराचलसानुषु । कुण्डले रुचके चाद्रौ मानुषोत्तरपर्वते ॥२९१॥
नन्दीश्वरमहाद्वीपे द्वीपेष्वन्येषु^४ साविधेषु । भोगभूम्यादिवेशेषु दिव्यं देवोऽवसत् सुखम् ॥२९२॥

मालिनीच्छन्दः

इति परमसुदारं दिव्यभोगं^५ महर्षिः सत्सप्ततन्मधूमिः सोऽन्वभूतः^६ ॥२९३॥
स्मितहसितविलासस्पष्टचेष्टामिरिष्टं स्वकृतसुकृतपाकात् साधिकं^७ वार्द्धिमेकम् ॥२९३॥
स्वतन्ममत्तुं तीव्रासह्यतापैस्तपोभिर्यदयमकृत धीमान् निष्कलङ्कममुत्र ।
तदिह रुचिरमामिः स्वर्वधूमिः^८ सहायं सुखममजत तस्माद्धर्मं^९ एवार्जनीयः ॥२९४॥
कुत तपसि तृष्णां भोगतृष्णाभपास्य श्रियमधिकतरां चेद् वाञ्छथ^{१०} प्राञ्जलेशम् ।
जिनमवज्जिनमार्यास्तद्वचः श्रद्धधीष्वं^{११} कुकविः^{१२} विरुतमन्यच्छासनं माभिगीध्वम् ॥२९५॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं^{१३} विक्रम्यपुरुषार्थसमर्थनो यो धर्मः कुर्मकुटिलाटविसृकुठारः^{१४} ।
तं सेवितुं बुधजनाः^{१५} प्रयतन्वमाश्वं^{१६} जैने मते^{१७} कुमतिभेदिनि सौख्यकामाः ॥२९६॥
इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ललिताङ्गस्वर्गभोग-
वर्णनं नाम पञ्चमं पर्व ॥५॥

हस्तीके समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहता था ॥२८९॥ वह देव उस स्वयंभूतके साथ कभी मनोहर चन्द्रकान्त शिलाओंसे युक्त तथा भ्रमर, कोयल आदि पक्षियों-द्वारा वाचालित नन्दन आदि वनोंसे सहित मेरुपर्वतपर, कभी नील निषध आदि बड़े-बड़े पर्वतोंपर, कभी विजयार्ध-के शिखरोंपर, कभी कुण्डलगिरिपर, कभी रुचकगिरिपर, कभी मानुषोत्तर पर्वतपर, कभी नन्दीश्वर महाद्वीपमें, कभी अन्य अनेक द्वीपसमुद्रोंमें और कभी भोगभूमि आदि प्रदेशोंमें दिव्यसुख भोगता हुआ निवास करता था ॥२९०-२९२॥ इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंका धारक और अद्भुत शोभासे युक्त वह ललिताङ्गदेव, अपने किये हुए पुण्य कर्मके उदयसे, मन्द-मन्द मुसकान, हास्य और विलास आदिके द्वारा स्पष्ट चेष्टा करनेवाली अनेक देवाङ्गनाओंके साथ कुछ अधिक एक सागर तक अपनी इच्छानुसार उदार और उत्कृष्ट दिव्यभोग भोगता रहा ॥२९३॥ उस बुद्धिमान् ललिताङ्गदेवने पूर्वभक्षमें अत्यन्त तीव्र असह्य सन्तापको देनेवाले तपश्चरणोंके द्वारा अपने शरीरको निष्कलङ्क किया था इसलिए ही उसने इस भक्षमें मनोहर कान्तकी धारक देवियोंके साथ सुख भोगे अर्थात् सुखका कारण तपश्चरण वगैरहसे उत्पन्न हुआ धर्म है अतः सुख चाहनेवालोंको हमेशा धर्मका ही उपार्जन करना चाहिए ॥२९४॥ हे आर्य पुरुषो, यदि अतिशय लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हो तो भोगोंकी तृष्णा छोड़कर तपमें तृष्णा करो तथा निष्पाप श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करो और उन्हींके वचनोंका श्रद्धान करो, अन्य मिथ्यादृष्टि कुकवियोंके कहे हुए मिथ्यामर्तोंका अध्ययन मत करो ॥२९५॥ इस प्रकार जो प्रशंसनीय पुरुषार्थोंका देने-वाला है और कर्मरूपी कुटिल वनको नष्ट करनेके लिए तीक्ष्ण कुठारके समान है ऐसे इस जैन-धर्मकी सेवाके लिए हे सुखाभिलाषी पण्डितजनो, सदा प्रयत्न करो और दुर्बुद्धिको नष्ट करने-वाले जैनमतमें आस्था-श्रद्धा करो ॥२९६॥

इस प्रकार आर्षे नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन नामका पञ्चम पर्व पूर्ण हुआ ॥५॥

१. कान्तं चन्द्रकान्तशिलातले यस्मिन् मन्दरे स तथोक्तस्तस्मिन् । २. इवमपि मन्दरस्य विशेषणम् ।
३. --वनाञ्जिते अ०, ल० । ४. साविधेषु प०, ल० । ५. अग्निमादिऋद्धिमान् । ६. गर्वयुक्तम् । ७. अवधः ।
८. इह स्वर्गः । ९. सहायः ट० । भाग्यसहितः । (सह + अयम् इति छेदोऽन्यत्र) १०. पूजयत । ११. कथितम् ।
१२. श्लाघ्यः । १३. --सकुठारः प० । १४. यतश्च प्रयत्ने । १५. आस उपवेशने । १६. कुमतिमे-प०, द०, म० ।

षष्ठं पर्व

कदाचिदथ तस्यासन् भूषासंयन्धिनोऽमलाः । मणयस्तेजसा मन्दा निशापायप्रदीपवत् ॥१॥
माला च सहजा तस्य महोरःस्थलसंगिनी । स्कानिमार्गोदमुच्येव कक्षमोर्विश्लेषसौलुका ॥२॥
प्रचकन्दे तदावाससंयन्धी कल्पपादपः । तद्विबोमहावातभूतः^१ साध्वसमाध्वत् ॥३॥
तनुच्छाया च तस्यासीत् सद्यो मन्दाचिता तदा । पुण्यातपत्रविश्लेषे तच्छाया^२ क्वावतिष्ठताम् ॥४॥
^५तमालोक्त्य^६ तदाध्वस्तकर्मित^७ विच्छाद्यतां गतम् । न होकुर्द्रष्टुमैशानकल्पजः दिविजाः शुचा ॥५॥
तस्य वैभवात् परिप्राप्ता वैभवं तत्परिचारकाः । तस्य चलन्ति सास्त्राद्या विशेषाच्च चलन्ति किम् ॥६॥
आजन्मनो यदेतेन^८ निविष्टं सुखमामरम्^९ । तदा विविधं सर्वं^{१०} दुःखमयं^{११} मिवागमत् ॥७॥
^{१२}तत्कण्ठमाफिकामलानिवचः^{१३} कस्यान्तमागते । कीदृक्कस्य कोकान्तमणोरिव विचेष्टितम् ॥८॥
अथ सामाजिका देवाः तमुपेत्य तपोचितम् । तद्विवादापनोदीवं^{१४} पुष्कलं वचनं जगुः ॥९॥
मो धीर धीरतामेव भाषयाच्च शुभं त्यज । जन्ममृत्युजरातङ्कमवानां को न गोचरः ॥१०॥
^{१५}साधारणीभिर्भां विद्धि सर्वेषां प्रच्युतिं दिवः ।^{१६}धौरायुषि परिक्षीणे न वोक्षुं क्षमते क्षणम् ॥११॥

इसके अनन्तर किसी समय* उस ललिताङ्गदेवके आभूषणसम्बन्धी निर्मलमणि अकस्मात् प्रातःकालके दीपकके समान निस्तेज हो गये ॥१॥ जन्मसे ही उसके विशाल वस्त्रःस्थलपर पड़ी हुई माला ऐसी म्लान हो गयी मानो उसके वियोगसे भयभीत हो उसकी लक्ष्मी ही म्लान हो गयी हो ॥२॥ उसके विमानसम्बन्धी कल्पवृक्ष भी ऐसे काँपने लगे मानो उसके वियोगरूपी महा-वायुसे कम्पित होकर भयको ही धारण कर रहे हों ॥३॥ उस समय उसके शरीरकी कान्ति भी शीघ्र ही मन्द पड़ गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यरूपी छत्रका अभाव होनेपर उसकी छाया कहाँ रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥४॥ उस समय कान्तिसे रहित तथा निष्प्रभताको प्राप्त हुए ललिताङ्गदेवको देखकर ऐशानस्वर्गमें उत्पन्न हुए देव शोकके कारण उसे पुनः देखनेके लिए समर्थ न हो सके ॥५॥ ललिताङ्गदेवकी दोनता देखकर उसके सेवक लोग भी दीनताको प्राप्त हो गये सो ठीक है वृक्षके चलनेपर उसकी शाखा उपशाखा आदि क्या विशेष रूपसे नहीं चलने लगते ? अर्थात् अवश्य चलने लगते हैं ॥६॥ उस समय ऐसा मालूम होता था कि इस देवने जन्मसे लेकर आज तक जो देवों सम्बन्धी सुख भोगे हैं वे सबके-सब दुःख बनकर ही आये हों ॥७॥ जिस प्रकार शीघ्र गतिवाला परमाणु एक ही समयमें लोकके अन्त तक पहुँच जाता है उसी प्रकार ललिताङ्गदेवकी कण्ठमालाकी म्लानताका समाचार भी उस स्वर्गके अन्त तक व्याप्त हो गया था ॥८॥ अथानन्तर सामाजिक जातिके देवोंने उसके समीप आकर उस समयके योग्य तथा उसका विषाद दूर करनेवाले नीचे लिखे अनेक वचन कहे ॥९॥ हे धीर, आज अपनी धीरताका स्मरण कीजिए और शोकको छोड़ दीजिए । क्योंकि जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग और भय किसे प्राप्त नहीं होते ? ॥१०॥ स्वर्गसे च्युत होना सबके लिए साधारण बात है क्योंकि आयु क्षीण होनेपर यह स्वर्ग क्षण-भर भी धारण करने के लिए

१. निजायुषि वण्मासावशिष्टकाले । २. -मगाद-ज०, प० । ३. मयम् । ४. क्वावतिष्ठते । ५. तदा-लोक्य म०, ल० । ६. तमाध्वस्त म०, ल० । ७. विवर्णत्वम् । ८. अनुमुक्तम् । ९. देवसंयन्धि । १०. दुःख-त्वम् । ११.-मिवागतम् म०, ल० । १२. कण्ठस्थितत्वम् । १३. ईशानकल्यान्तम् । १४. मनोहरम् । १५. समा-नाम् । १६. स्वर्गः । * आपके छह माह बाकी रहनेपर ।

निष्कालोऽप्यनालोको^१ शुक्लोः प्रतिभासते । विगमात् पुण्यदीपस्य समन्तादन्धकारितः ॥१२॥
 यथा रतिरभूत् स्वर्गे पुण्यपाकादभारतम् । तथैवात्रारतिर्भूयः क्षीणपुण्यस्य आयते ॥१३॥
 न केवलं परिम्लानिः मालायाः सहजन्मनः । पापात्पदे तपर्यन्ते जन्तोर्मलानिस्तनोरपि ॥१४॥
 कम्पते हृदयं^२ पूर्व^३ चरमं कल्पपादपः । गलति श्रीः^४ पश्चात् तनुच्छाया समं द्विधा ॥१५॥
^५जनापराग एवाद्यौ जृम्भते जृम्भिका परम् । वाससोरपरागश्च^६ पश्चात्^७ पापेपरागतः ॥१६॥
 कामरागावमङ्गश्च^८ मानमङ्गादनन्तरम् । मनः पूर्व तमो^९ रुन्दे दशौ पश्चादनीदशम् ॥१७॥
 प्रत्यासक्तच्युतेरेवं यद् दौःस्वित्यं^{१०} दिवौकसः । न तत् स्वाभारकस्यापि प्रत्यक्षं तत्त्व लेऽपुना ॥१८॥
 यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः^{११} पुरा । तथा पातोन्मुखः स्वर्गे जन्तोरभ्युदयोऽप्ययम् ॥१९॥
 तस्मात् मा स्म गमः शोकं कुयोन्मावर्त्तयति नम् । धर्मे मतिं निधत्स्वार्थं धर्मो हि शरणं परम् ॥२०॥
 तत्पुण्यसाधने जने शासने मतिमावधत्^{१२} । विषादमुत्सृजानू^{१३} येनानेनो^{१४} भविष्यसि ॥२१॥
 इति तद्वचनाद् धैर्यमवलम्ब्य स धर्मधीः । मालार्द्धं मुचने कूरस्ते जिनवेष्टामप्यपूजयत् ॥२२॥
 ततोऽभ्युतस्य कल्पस्य जिनविम्बानि^{१५} पूजयत् । तच्चैत्यद्वयमूलस्थः स्वायुरन्ते^{१६} समाहितः ॥२३॥

समर्थ नहीं है ॥११॥ सदा प्रकाशमान रहनेवाला यह स्वर्ग भी कदाचित् अन्धकाररूप प्रतिभासित होने लगता है क्योंकि जब पुण्यरूपी दीपक कुछ जाता है तब यह सब ओरसे अन्धकारमय हो जाता है ॥१२॥ जिस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गमें निरन्तर प्रीति रहा करती है उसी प्रकार पुण्य क्षीण हो जानेपर उसमें अप्रीति होने लगती है ॥१३॥ आयुके अन्तमें देवों के साथ उत्पन्न होनेवाली माला ही म्लान नहीं होती है किन्तु पापरूपी आतपके तपसे रहनेपर जीवोंका शरीर भी म्लान हो जाता है ॥१४॥ देवोंके अन्त समयमें पहले हृदय कम्पायमान होता है, पीछे कल्पवृक्ष कम्पायमान होते हैं। पहले लक्ष्मी नष्ट होती है फिर लज्जाके साथ शरीरकी प्रभा नष्ट होती है ॥१५॥ पापके उदयसे पहले लोगोंमें अस्नेह बढ़ता है फिर जैभाईकी वृद्धि होती है, फिर शरीरके बखोंमें भी अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥१६॥ पहले मान भंग होता है पश्चात् विषयोंकी इच्छा नष्ट होती है । अज्ञानान्धकार पहले मनको रोकता है पश्चात् नेत्रोंको रोकता है ॥१७॥ अधिक कहूँतक कहा जाये, स्वर्गसे च्युत होनेके सम्मुख देवकी जो तीव्र दुःख होता है वह नारकोंको भी नहीं हो सकता । इस समय उस भारी दुःखका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं ॥१८॥ जिस प्रकार उदित हुए सूर्यका अस्त होना निश्चित है उसी प्रकार स्वर्गमें प्राप्त हुए जीवोंके अभ्युदयोंका पतन होना भी निश्चित है ॥१९॥ इसलिए हे आर्य, कुयोनिरूपी आवर्त्तमें गिरानेवाले शोकको प्राप्त न होइए तथा धर्ममें मन लगाइए, क्योंकि धर्म ही परम शरण है ॥२०॥ हे आर्य, कारणके बिना कभी कोई कार्य नहीं होता है और चूँकि पण्डितजन पुण्यको ही स्वर्ग तथा मोक्षका कारण कहते हैं ॥२१॥ इसलिए पुण्यके साधनभूत जैनधर्ममें ही अपनी बुद्धि लगाकर खेदको छोड़िए, ऐसा करनेसे तुम निश्चय ही पापरहित हो जाओगे ॥२२॥ इस प्रकार सामानिक देवोंके कहनेसे ललिताङ्गदेवने धैर्यका अवलम्बन किया, धर्ममें बुद्धि लगायी और पन्द्रह दिन तक समस्त लोकके जिन-चैत्यालयोंकी पूजा की ॥२३॥ तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गकी जिनप्रतिमाओंकी पूजा करता हुआ वह आयुके अन्तमें वहीं साव-

१. संततप्रकाशः । २. प्रकाशरहितः । ३. विगमात् अ०, प०, ल० । ४. आदी । ५. पश्चात् । ६. प्रमे म०, द० । पूर्वम् । ७. जनानां विरागः । ८. पश्चात् । ९. अपगतरागः । १०. पापग्रहणात् । ११. अव समन्ताद् भङ्गः । १२. रुणद्धि । १३. -रयं त्रिविधो-स०, द०, अ०, प०, ल० । १४. पुराः अ०, स०, द०, प० । पुराः ल० । १५. -मादधे ल० । १६. -मुरसुजेनूनं ल० । १७. विषादत्यजनेन । १८. पापरहितः । १९. -विम्बानपूजयत ल० । २०. समाधानचितः ।

नमस्कारपदान्युच्चैरनुध्यायस्तथाभवत् । साध्वसौ मुकुलीकृत्य करौ प्रायाददृश्यताम् ॥२५॥
 जम्बूद्वीपे महामेरोर्विदेहे पूर्वदिगात् । या पुष्कलावतीत्यासीत् 'जानभूमिर्मनोरमा ॥२६॥
 स्वर्गभूनिर्विशेषा^१ तां पुरमुत्पलखेटकम् । भूषयत्युत्पलच्छन्नशालिवप्रादिसंपदा ॥२७॥
 वज्रबाहुः पतिस्तस्य वज्रीवाङ्मापरोऽभवत् । कान्ता वसुन्धरास्यासाद् द्वितीयेव वसुन्धरा ॥२८॥
 तयोः सूतुरमूर्ध्वो कलिताङ्गस्ततश्च्युतः । वज्रजङ्घ इति ख्यातिं वज्रदन्वर्थां गताम् ॥२९॥
 स बन्धुकुसुमानन्दी प्रप्यहं वर्द्धयन् कलाः । संकोचयन् द्विषत्यग्रान् ववृधे बालचन्द्रमाः ॥३०॥
 आरूढयौवनस्यास्य रूपसंपदनीदृशी । जाता कान्तिरिवापूर्णमण्डलस्य निशाकृतः ॥३१॥
 शिरस्वस्य बभुर्नीला मूर्ध्वाः कुञ्चितायताः । कामकृष्णभुजङ्गस्य शिखरो नु विजृम्भिताः ॥३२॥
 नेत्रभृजे मुखार्धे 'स स्मितांशकरकेसरे । धत्ते स्म सधुरां वाणीं मकरन्दरसोपमाम् ॥३३॥
 नेत्रयोर्द्वितीयं रंजे संसक्तं तस्य केर्णयोः । 'सधुती ताविवाश्रित्य 'शिक्षितुं सूक्ष्मदर्शितान् ॥३४॥
 'उपकण्ठमसौ दध्ने हारं नीहारसच्छविम् । तारानिकरमास्येन्दोरिव सेवार्थमागतम् ॥३५॥
 वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाबन्धनधर्विकाम् । मेरुर्निजतटीलग्ना^२ सारदोमिव चम्बिकाम् ॥३६॥

धान चित्त होकर चैत्यवृक्षके नीचे बैठ गया तथा वहीं निर्भय हो हाथ जोड़कर उच्चस्वरसे नमस्कार मन्त्रका ठोक-ठीक उच्चारण करता हुआ अदृश्यताको प्राप्त हो गया ॥२४-२५॥

इसी जम्बूद्वीपके महामेरुसे पूर्व दिशाकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें जो महामनोहर पुष्क-
 लावती नामका देश है वह स्वर्गभूमिके समान सुन्दर है । उसी देशमें एक उत्पलखेटक नामका
 नगर है जो कि कमलोंसे आच्छादित धानके खेतों, कोट और परिखा आदिकी शोभासे उस पुष्क-
 लावती देशको भूषित करता रहता है ॥२६-२७॥ उस नगरका राजा वज्रबाहु था जो कि इन्द्र-
 के समान आज्ञा चलानेमें सदा तत्पर रहता था । उसकी रानीका नाम वसुन्धरा था । वह वसु-
 न्धरा सहनशीलता आदि गुणोंसे ऐसी शोभायमान होती थी मानो दूसरी वसुन्धरा-पृथिवी ही
 हो ॥२८॥ वह ललिताङ्गनामका देव स्वर्गसे च्युत होकर उन्हीं-वज्रबाहु और वसुन्धराके, वज्रके
 समान जंघा होनेसे 'वज्रजंघ' इस सार्थक नामको धारण करनेवाला पुत्र हुआ ॥२९॥ वह वज्र-
 जंघ शत्रुरूपी कमलोंको संकुचित करता हुआ बन्धुरूपी कुसुमोंको हर्षित (विकसित) करता था
 तथा प्रतिदिन कलाओं (चतुराई, पक्षमें चन्द्रमाका सोलहवाँ भाग) को वृद्धि करता था इसलिए
 द्वितीयांके चन्द्रमाके समान बढ़ने लगा ॥३०॥ जब वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसकी
 रूपसंपत्ति अनुपम हो गयी जैसे कि चन्द्रमा क्रम-क्रमसे बढ़कर जब पूर्ण हो जाता है तब उसकी
 कान्ति अनुपम हो जाती है ॥३१॥ उसके शिरपर काले कुटिल और लम्बे बाल ऐसे सुशोभित हो
 रहे थे मानो कामदेवरूपी काले सर्पके बड़े हुए बच्चे ही हों ॥३२॥ वह वज्रजंघ, नेत्ररूपी भ्रमर और
 हास्यकी किरणरूपी केशरसे सहित अपने मुखकमलमें मकरन्दरसके समान मनोहर वाणीको
 धारण करता था ॥३३॥ कानोंसे मिले हुए उसके दोनों नेत्र ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो वे
 अनेक शास्त्रोंका श्रवण करनेवाले कानोंके समीप जाकर उनसे सूक्ष्मदर्शिता (पाण्डित्य और
 बारीक पदार्थको देखनेकी शक्ति)का अभ्यास ही कर रहे हों ॥३४॥ वह वज्रजंघ अपने कण्ठके
 समीप जिस हारको धारण किये हुए था वह नीहार-बरफके समान स्थच्छ कान्तिका धारक
 था तथा ऐसा मालूम होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमाकी सेवाके लिए तारोंका समूह ही
 आया हो ॥३५॥ वह अपने विशाल वक्षस्थलपर चन्दनका विलेपन धारण कर रहा था जिससे
 ऐसा मालूम होता था मानो अपने तटपर शरद् ऋतुकी चाँदनी धारण किये हुए मेरु पर्वत ही

१. आगतम् । २. विषयः । जनसंबन्धिभूमिः, जनपद इत्यर्थः । जन्मभूमिः अ०, स०, द० । जनभूमिः
 ल० । ३. समानाम् । ४. कुटिल । ५. इव । ६. मुखार्धेऽप्य ल०, म० । ७. शास्त्रश्रवणसहितो । ८. अभ्यासं
 कर्तुम् । ९. कण्ठस्य समीपे । १०. -तटालग्नौ अ०, प०, द०, स० । -तटे लग्नां म० ।

मुकुटोद्भासिनो ^१भैरवमन्वस्य शिरसोऽन्तिके । बाहु ^२तस्यायतौ नीलनिषधविष रेजतुः ॥३०॥
 सरिदावर्गगम्भीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्वसौ । नारोत्करिणीरोधे ^३वारीखातेव हृद्गुहा ॥३१॥
^४रसनावेष्टितं तस्य कटीमण्डलमावसौ । हेमवेदीपरिक्षिप्तमिव अम्बु ^५मस्थलम् ॥३२॥
 ऊरुद्वयममास्तस्य स्थिरं वृत्तं सुसंहतम् ^६। रामाभनोगजालामस्तम्भलोकां ^७समुद्रहत् ॥३३॥
 जङ्घे वज्रस्थिरे नास्य ^८व्यावर्ष्यते मयाधुना । तन्नामैव ^९गतार्थत्वात् पौनरुक्त्यविशङ्कया ॥३४॥
 चरणद्वितयं सोऽधादारकत्वं ^{१०}मृदिमान्वितम् । श्रितं श्रियानवाधिष्या ^{११}संचारीव स्थलान्मुजम् ॥३५॥
 रूपसंपदमुख्यैषा भूषिता श्रुतसंपदा । शरच्चन्द्रिक्येवेन्दोः मूर्तिरानन्दिनी दृष्टान् ॥३६॥
^{१२}पदवाक्यप्रमाणेषु परं प्रावीक्ष्यमागता । तस्य धीः सर्वशास्त्रेषु ^{१३}दीपिकेव स्वदीप्यत ॥३७॥
 स कलाः सकला ^{१४}विद्वान् विनीतात्मा जितेन्द्रियः । राज्यलक्ष्मीकटाक्षाणां लक्ष्यतामगमत् कृती ॥३८॥
 निसर्गजा गुणास्तस्य विद्वं जनमरञ्जयन् । जनानुरागः सोऽपुष्यात् महतीमस्य योग्यताम् ॥३९॥
 अनुरागं सरस्वत्या कीर्त्या ^{१५}प्रणयनिघ्नताम् । लक्ष्म्या ^{१६}बाल्लभ्यमातन्वन् विदुषांमूर्ध्नि सोऽमवत् ॥४०॥
 स तथापि कृतप्रज्ञो यौवनं परिमापिवान् । स्वयंप्रभानुरागेण ^{१७}प्रायोऽमत् स्त्रीषु निःस्पृहः ॥४१॥

हो ॥३६॥ मुकुटसे शोभायमान उसका मस्तक ठीक मेरु पर्वतके समान मालूम होता था और उसके समीप लम्बी भुजाएँ नील तथा निषध गिरिके समान शोभायमान होती थीं ॥३७॥ उसके मध्य भागमें नदीकी सँवरके समान गम्भीर नाभि ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियोंको दृष्टिरूपी हथिनियोंको रोकनेके लिए कामदेवके द्वारा खोदा हुआ एक गड्ढा ही हो ॥३८॥ करधनीसे घिरा हुआ उसका कटिभाग ऐसा शोभायमान था मानो सुवर्णकी वेदिकासे घिरा हुआ जम्बूद्वीपके रहनेका स्थान ही हो ॥३९॥ स्थिर गोल और एक दूसरेसे मिली हुई उसकी दोनों जाँघें ऐसी जान पड़ती थीं मानो स्त्रियोंके मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए दो स्तम्भ ही हों ॥४०॥ उसकी वज्रके समान स्थिर जंघाओं (पिंडरियों) का तो मैं वर्णन ही नहीं करता क्योंकि वह उसके वज्रजंघ नामसे ही गतार्थ हो जाता है । इतना होनेपर भी यदि वर्णन करूँ तो मुझे पुनरुक्ति दोषकी आशंका है ॥४१॥ उस वज्रजंघके कुछ लाल और कोमल दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो अविनाशिनी लक्ष्मीसे आश्रित चलते-फिरते दो स्थलकमल ही हों ॥४२॥ शास्त्रज्ञानसे भूषित उसकी यह रूपसम्पत्ति नेत्रोंको उतना ही आनन्द देती थी जितना कि शरद् ऋतुकी चाँदनीसे भूषित चन्द्रमाकी मूर्ति देती है ॥४३॥ पद वाक्य और प्रमाण आदिके विषयमें अतिशय प्रवीणताको प्राप्त हुई उसकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें दीपिकाके समान देदीप्यमान रहती थी ॥४४॥ वह समस्त कलाओंका ज्ञाता विनयी जितेन्द्रिय और कुशल था इसलिए राज्यलक्ष्मीके कटाक्षोंका भी आश्रय हुआ था, वह उसे प्राप्त करना चाहती थी ॥४५॥ उसके स्वाभाविक गुण सब लोगोंको प्रसन्न करते थे तथा उसका स्वाभाविक मनुष्य-प्रेम उसकी बड़ी भारी योग्यताको पुष्ट करना था ॥४६॥ वह वज्रजंघ सरस्वतीमें अनुराग, कीर्तिमें स्नेह और राज्यलक्ष्मीपर भोग करनेका अधिकार (स्वामित्व) रखता था इसलिए विद्वानोंमें सिरमौर समझा जाता था ॥४७॥ यद्यपि वह बुद्धिमान् वज्रजंघ उत्कृष्ट यौवनको प्राप्त हो गया था तथापि स्वयंप्रभाके अनुरागसे वह प्रायः अन्य स्त्रियोंमें निःस्पृह ही रहता था ॥४८॥

१. आत्मानं मेरुमिव मण्डत इति भैरवमन्वस्तस्य । २. तस्यायितौ ल० । ३. वारीः गजवारणगर्तः 'वारी तु गजवन्धिनी' इत्यभिधानात् । ४. रशना-२० । ५. निविडम् । ६. वज्रस्तम्भशोभाम् । ७. विष्वक्ते अ०, स० । ८. जातार्थत्वात् । ९. मृदुत्वम् । १०. संचरणशीलम् । ११. शरदागमपरमाणमयुक्त्याममेधु । १२. टिप्पणवत् । १३. ज्ञानवान् । १४. स्नेहाधीनताम् । १५. बल्लभत्वम् । १६. इव ।

॥४९॥ ॥५०॥ ॥५१॥ ॥५२॥ ॥५३॥ ॥५४॥ ॥५५॥ ॥५६॥ ॥५७॥ ॥५८॥ ॥५९॥ ॥६०॥ ॥६१॥

तस्येति परमाण्वात् काले गच्छति धीमतः । स्वयंप्रभा इव दृष्टुं वा वयोत्पन्नेत्यधुनोच्यते ॥४९॥

अथ स्वयंप्रभादेवी ^२ तस्मिन् प्रभुतिमीयुषि । तद्विवोगाच्चिरं त्विवा यत्नाद्देव विमर्शका ॥५०॥

^३ शुभ्राविह च संतापधारिणी भूरभूदमाः ^४ । समुज्जितकलाकापा कोकिलेव धनागमे ॥५१॥

दिव्यस्येदौषधस्थास्य विरहात् तया सतीम् ^५ । आधयोऽपीहवन् गात्रं व्याधिकल्पः ^६ सुदुःसहाः ॥५२॥

ततोऽस्या दृढधर्माधयो वेकोऽन्तःपरिचयः ^७ । शुचं स्वपोष्य सन्मार्गे मतिमासजयचराम् ॥५३॥

सा चित्रप्रतिमेवासीत् तदा भोगेषु निःस्पृहा ^८ । विमुक्तमृतिर्भास्वरपुलकस्थेव दोमुषी ॥५४॥

श्रीमती सा भविष्यन्ती मन्वमालेव ^९ धर्मभाक् । वपमास्तान् जिनपूजायामुद्यताऽभून्मनस्विनी ^{१०} ॥५५॥

ततः सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमन्दिरं । मूले चैत्यतरोः सम्यक् स्मरन्ती गुरुपञ्चकम् ॥५६॥

समाधिना कृतप्राणत्वाया ^{११} प्राच्योष्ट सा दिवः । तारकं निशापावे सहसाऽदृश्यता गता ॥५७॥

प्राग्भाषिते विदेहेऽस्ति नगरी पुण्डरीकिणी । तस्याः पतिरभूच्चाम्ना वज्रदन्तो महीपतिः ॥५८॥

लक्ष्मीरिवास्तु काम्नाङ्गी लक्ष्मीमतिरभूत् प्रिया । स तथा कल्पवल्ग्वेव ^{१२} सुरागोऽलङ्कृतो नृपः ॥५९॥

तयोः पुत्री बभूवासौ विधुता श्रीमतीति या । पताकं च मनोज्ञं रूपसौन्दर्यलीलया ^{१३} ॥६०॥

नवयौवनमासाद्य मधुमाश्रमिवाधिकम् । लोकस्य प्रमदं तेने वाका कथिक्छेव सा ॥६१॥

इस प्रकार उस बुद्धिमान् वज्रजंघका समय बड़े आनन्दसे व्यतीत हो रहा था। अब स्वयंप्रभा महादेवी स्वर्गसे च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुई इस बातका वर्णन किया जाता है ॥४९॥ ललिताङ्गदेवके स्वर्गसे च्युत होनेपर वह स्वयंप्रभा देवी उसके वियोगसे चकवाके बिना चकवीकी तरह बहुत ही खेदलिख हुई ॥५०॥ अथवा प्रीष्मश्रुतमें जिस प्रकार पृथ्वी प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा भी पतिके विरहमें प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगी और जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें कोयल अपना मनोहर आलाप छोड़ देती है वसी प्रकार उसने भी अपना मनोहर आलाप छोड़ दिया था— वह पतिके विरहमें चुपचाप बैठी रहती थी ॥५१॥ जिस प्रकार दिव्य ओषधियोंके अभावमें अनेक कठिन बीमारियाँ दुःख देने लगती हैं उसी प्रकार ललिताङ्गदेवके अभावमें उस पतिव्रता स्वयंप्रभाको अनेक मानसिक व्यथाएँ दुःख देने लगी थी ॥५२॥ तदनन्तर उसकी अन्तःपरि- षद्के सदस्य दृढधर्म नामके देवने उसका शोक दूर कर सन्मार्गमें उसकी मति लगायी ॥५३॥ उस समय वह स्वयंप्रभा चित्रलिखित प्रतिमाके समान अथवा मरणके भयसे रहित शूर-वीर मनुष्यकी बुद्धिके समान भोगोंसे निस्पृह हो गयी थी ॥५४॥ जो आगामी कालमें श्रीमती होने- वाली है ऐसी वह मनस्विनी (चिन्तारशक्तिसे सहित) स्वयंप्रभा, भव्य जीवोंकी श्रेणीके समान धर्म सेवन करती हुई छह महीने तक बराबर जिनपूजा करनेमें व्यस्त रही ॥५५॥ तद- नन्तर सौमनस बनसम्बन्धी पूर्वदिशाके जिनमन्दिरमें चैत्यवृक्षके नीचे पञ्चपरमेष्ठियोंका भले प्रकार स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर स्वर्गसे च्युत हो गयी। वहाँसे च्युत होते ही वह रात्रिका अन्त होनेपर तारिकाकी तरह क्षण एकमें अदृश्य हो गयी ॥५६-५७॥

जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है। वज्रदन्त नामक राजा उसका अधिपति था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था जो वास्तवमें लक्ष्मीके समान ही सुन्दर शरीरवाली थी। वह राजा उस रानीसे ऐसा शोभायमान होता था जैसे कि कल्पलतासे कल्पवृक्ष ॥५८-५९॥ वह स्वयंप्रभा उन दोनोंके श्रीमती नामसे प्रसिद्ध पुत्री हुई। वह श्रीमती अपने रूप और सौन्दर्यकी लीलासे कामदेवकी पताकाके समान मालूम होती थी ॥६०॥ जिस प्रकार चैत्र मासको पाकर चन्द्रमाकी कला लोगोंको अधिक आनन्दित

१. इति प्रश्ने कृते । २. ललिताङ्गे । ३. आधादे । ४. विगतकान्तिः । ५. मनःपोहाः । ६.—शेषिणम् व०, प०, स०, द० । ७. संदृशाः । ८. परिवर्त्यदेवेष्वन्यन्तरपरिषदि भवः । ९. नितरां संसक्तामकरोत् । १०. समूहः । ११. प्रोढा । १२. च्युतवती । च्युद् गताविति धातोः । १३. कल्पतरुः । पक्षे शोभनरागः । १४. शोभया ।

नखैरापाटले^१स्तस्या जिरये^२ कुरवकच्छविः । अशोकपल्लवच्छाया पादभासाभरीकृता^३ ॥६२॥

रणन्पूरुमत्तालोत्तकारमुखरीकृते । पादारविन्दे साऽधस्त लक्ष्म्या^४ शङ्खकृतास्पदे ॥६३॥

चिरं यक्षुद्वासेन^५ दधत्कण्टकिता^६ तनुम् । व्रतं^७ चचार तेनावर्जं मध्येऽग्रात् तत्पदोपमाम् ॥६४॥

जह्वे रराजतुस्तस्याः कुसुमेषोरिवेषुधी । ऊरुदण्डौ च विभ्राते कामेमाकामयद्विताम्^८ ॥६५॥

मितम्बविम्बमेतस्याः सरस्या इव सैकतम्^९ । कसद्वुक्कलनीरेण^{१०} स्थणितं रुचिमानशे ॥६६॥

^{११}वल्लिभं दक्षिणावर्त्तनाभिमध्यं वमार सा । नदीव जलमावर्त्तसंघोभिततरङ्गकम्^{१३} ॥६७॥

मध्यं स्तनभराक्रान्ति^{१४} चिन्तयैवाप्ततानवम्^{१५} । त्रेणान्तिकलनेनारुणा^{१६} जलेऽवकुम्भतद्विजितम्^{१७} ॥६८॥

नाभिरन्ध्रादधस्तम्बी रोमराजीमसौ दधे ।^{१८} उपधान्तरमग्निषण्डोः^{१९} कामाहः^{२०} पदवीमिव ॥६९॥

लतेवासौ शृङ्ख बाहु दधौ^{२१} विटपस्यच्छयी । नखांशुमजरी चास्या धत्ते स्म कुसुमधियम् ॥७०॥

भाभीलचूषुकी तस्याः कुचकुम्भौ विरेजतुः । पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नामिमुद्रितौ ॥७१॥

स्तनांशुकं शुक्लछायं तस्याः स्तनतटाश्रितम् । वभासे रुद्रपद्मेऽकुटमलं^{२२} शैवलं यथा ॥७२॥

करने लगती है उसी प्रकार नवयौवनको पाकर वह श्रीमती भी लोगोंको अधिक आनन्दित करने लगती थी ॥६१॥ उसके गुलाबी नखोंने कुरवक पुष्पकी कान्तिको जीत लिया था और चरणोंको आभाने अशोकपल्लवोंकी कान्तिको तिरस्कृत कर दिया था ॥६२॥ वह श्रीमती, रुनझुन शब्द करते हुए नूपुररूपी मत्त भ्रमरोंकी झंकारसे मुखरित तथा लक्ष्मीके सदा निवास-स्थानस्वरूप चरणकमलोंको धारण कर रही थी ॥६३॥ मैं मानता हूँ कि कमलने चिरकाल तक पानीमें रहकर कण्टकित (रोमाञ्चित, पक्षमें काँटेदार) शरीर धारण किये हुए जो व्रताचरण किया था उसीसे वह श्रीमतीके चरणोंकी उपमा प्राप्त कर सका था ॥६४॥ उसकी दोनों जंघाएँ कामदेवके तरकसके समान शोभित थीं, और ऊरुदण्ड (जाँघें) कामदेवरूपी हस्तीके बन्धन-स्तम्भकी शोभा धारण कर रहे थे ॥६५॥ शोभायमान वल्लरूपी जलसे तिरोहित हुआ उसका नितम्बखण्डल किसी सरसीके बालूके टीलेके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥६६॥ वह त्रिव-लियोंसे सुशोभित तथा दक्षिणावर्त्त नाभिसे युक्त मध्यभागको धारण कर रही थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो भँवरसे शोभायमान और लहरोंसे युक्त जलको धारण करनेवाली नदी ही हो ॥६७॥ उसका मध्यभाग स्तनोंका धोझ बढ़ जानेकी चिन्तासे ही मानो कृश हो गया था और इसीलिए उसने रोमावलिके छलसे मानो सहारेकी लकड़ी धारण की थी ॥६८॥ वह नाभि-रन्ध्रके नीचे एक पतलो रोमराजिको धारण कर रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो दूसरा आश्रय चाहनेवाले कामदेवरूपी सर्पका मार्ग ही हो ॥६९॥ वह श्रीमती स्वयं लताके समान थी, उसकी भुजाएँ शाखाओंके समान थी और नखोंकी किरणें फूलोंकी शोभा धारण करती थी ॥७०॥ जिनका अग्रभाग कुछ-कुछ श्यामवर्ण है ऐसे उसके दोनों स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानो कामरससे भरे हुए और नीलरत्नकी मुद्रासे अंकित दो कलश ही हों ॥७१॥ उसके स्तन-तटपर पड़ी हुई हरे रंगकी चोली ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कमलमुकुलपर पड़ा हुआ

१. ईषदहणैः । 'इवेतरवतस्तु पाटलः' । २. अरणसरेयकः । ३. अधःकृता । ४. लक्ष्मीवाच्य -अ०, स० । ५. उदके आवासः उदवासः तेन । ६. रोमहृषिताम् । पक्षे संजातकण्टकाम् । 'रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यभिधानात् । ७. चचारि म०, ल० । ८. व्रतेन । ९. बन्धस्तम्भताम् । १०. पुलिनम् । ११. आच्छा-वितम् । १२. वलयः अस्य मन्तीति वलिभः तम् । वलितं अ०, प०, स०, द० । १३. -भिसतरङ्गकम् द०, स०, म०, ल०, अ० । १४. आक्रमणम् । १५. स्वीकृततनुत्वम् । १६ आधारयष्टिम् । १७. आश्र-यान्तरम् । 'स्यादुपल्लोऽन्तिकाश्रये' इत्यभिधानात् । १८. अग्नेष्टुमिषण्डोः त्रयेणशीलस्य । १९. मार्गः । २०. शाखा । २१. -कुट्टमलं अ०, स०, द०, म०, ल० ।

हारस्तस्याः स्तनोपाभ्यो नीहाररुचिनिर्मलः । श्रियमाधत्त फेनस्य कमलकुटुम्बसंस्पृशः ॥७३॥
 ग्रीवास्या राजिभिर्मणे कम्बुबन्धुरविभ्रमम् । खस्तावसौ च हंसीव पक्षती सा दधे शुभो ॥७४॥
 मुखमस्या दधे चन्द्रपद्मयोः श्रियमक्रमात् । नेत्रानब्धि स्मितज्योत्स्नं स्फुरन्तांशुकेशरम् ॥७५॥
 स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चान्द्रायणं तपः । कृत्वा नूनं प्राप्ता तद्बन्धस्योपमानतान् ॥७६॥
 कर्णौ सहोत्पलौ तस्या नेत्राभ्यां लङ्कितौ भूषाम् । स्वायत्त्यारोपितं को वा सहेतोपान्तवर्तिनम् ॥७७॥
 चामरैरेणुलं प्रदधे नेत्रोरन्ते स्फुरन्तरे । विदधन्माणमस्येव शोभां स्वश्रीविहासिनीम् ॥७८॥
 मुखपङ्कजसंसक्तानलकालीन्^१ वभार सा । मणिनामपि नो धत्ते कः श्रिताननपायिनः ॥७९॥
^२ भूमिसमारमाभस्त^३ सा दधे स्रुजुञ्जितम् । चन्दनद्रुमवल्लीव कृष्णाद्भेर्गो^४ मायतम् ॥८०॥
 हृत्पत्नी मदनोन्मादजनिका^५ रूपसंपदम् । बभार स्वर्भूषणसारीशैरिव निमित्तम् ॥८१॥
 लक्ष्मीं चलां विनिर्माय यदागो वेधसार्जितम् । तन्निर्मलेन सम्भूतं तेन प्रक्षालितं तदा ॥८२॥
 पितरौ तां प्रपश्यन्तौ नितरं प्रीतिमापतुः । कलामिव सुधासूतेः जनतानन्दकारिणीम् ॥८३॥

शैल ही हो ॥७२॥ उसके स्तनोंके अग्रभागपर पड़ा हुआ बरफके समान श्वेत और निर्मल हार कमलकुटुम्ब (कमल पुष्पकी बौड़ी) को छूनेवाले फेनकी शोभा धारण कर रहा था ॥७३॥ अनेक रेखाओंसे उपलक्षित उसकी ग्रीवा रेखासहित शंखकी शोभा धारण कर रही थी तथा वह स्वयं मनोहर कन्धोंको धारण किये हुए थी जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो निर्मल पंखोंके मूलभागको धारण किये हुए हंसी हो ॥७४॥ नेत्रोंको आनन्द देनेवाला उसका मुख एक ही साथ चन्द्रमा और कमल दोनोंकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि वह हास्यरूपी चाँदनीसे चन्द्रमाके समान जान पड़ता था और दंतोंकी किरणरूपी केशरसे कमलके समान मालूम होता था ॥७५॥ चन्द्रमाने, अपनी कलाओंकी वृद्धि और हानिके द्वारा चिरकाल तक चान्द्रायण व्रत किया था इसलिए मानो उसके फलस्वरूप ही वह श्रीमतीके मुखकी उपमाको प्राप्त हुआ था ॥७६॥ उसके नेत्र इतने बड़े थे कि उन्होंने उत्पल धारण किये हुए कानोंका भी उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है अपना विस्तार रोकनेवालेको कौन सह संकता है ? भले ही वह समीपवर्ती क्यों न हो ॥७७॥ उसके नेत्रोंके समीप कर्णफूलरूपी कमल ऐसे दिखाई देते थे मानो अपनी शोभापर हँसनेवाले नेत्रोंकी शोभाको देखना ही चाहते हैं ॥७८॥ वह श्रीमती अपने मुखकमलके ऊपर (मस्तकपर) काली अलकाबलीको धारण किये हुए थी सो ठीक ही है, आश्रयमें आये हुए निरुपद्रवी मलिन पदार्थोंको भी कौन धारण नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ॥७९॥ वह कुछ नीचेकी ओर लटके हुए, कोमल और कुटिल केशपाशको धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो काले सर्पके लम्बायमान शरीरको धारण किये हुए चन्दनवृक्षकी लता ही हो ॥८०॥ इस प्रकार वह श्रीमती कामदेवकी भी उन्मत्त बनानेवाली रूपसम्पत्तिको धारण करनेके कारण ऐसी मालूम होती थी मानो देवांगनाओंके रूपके सारभूत अंशोंसे ही बनायी गयी हो ॥८१॥ ऐसा मालूम पड़ता था कि ब्रह्माने लक्ष्मीको चंचल बनाकर जो पाप उपार्जन किया था वह उसने श्रीमतीको बनाकर धो डाला था ॥८२॥ चन्द्रमाकी कलाके समान जनसमूहको आनन्द देनेवाली उस श्रीमतीको देख-देखकर उसके माता-पिता अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते थे ॥८३॥

१. चन्द्रः । २. —कुटुम्ब —ब्र०, स०, द०, म०, ल० । ३. रेखाभिः । ४. कम्बुकन्धुरविभ्रमम् प०, द०, म०, ट० । शङ्खस्य ग्रीवाविलासम् । ५. ईष्यती । खस्तावसौ द०, स०, ल० । ६. सामुद्रिकलक्षणोक्त-
 बोधरहिता, पक्षे शुभो । ७. युगपत् । ८. कर्णमिरण्यवृक्षो । ९. 'स्मृदध' इति तडो विधानात् आनन् ।
 १०. हसन्तीम् । ११. —वतामलकालीं अ०, प०, स०, द० । १२. कचबन्धः । १३. आनतम् । १४. शरीरम् ।
 १५. जननीम् । १६. श्रीमन्निर्मणिन ।

अथान्येष्टुरसौ सुता हर्म्ये हंसांशुनिर्मले^१ । परार्धरत्नसंशोभे स्वर्णिमानाः पद्मासिनि ॥८४॥
 तदैवदभवत्तस्याः^२ संविधानकमीदृशम् । यशोधरगुणैस्तस्मिन् पुरे कैवल्यसंभवे^३ ॥८५॥
 मनोहराक्यसुषानमध्यासीनं तमर्चिषुम् । देवाः संप्रापुरारुद्रनिमानाः सह संपदा ॥८६॥
 पुष्पवृद्धिर्दिशो रुद्ध्वा^४ तदापस्तत् सहालिभिः । स्वर्गलक्ष्म्येव तं द्रष्टुं प्रहिता नयनावली ॥८७॥
 मन्दमाधूतमन्दारसान्द्रकिञ्चलकपिभरः । पुञ्जितालिक्ता मञ्जरा गुञ्जन् मरुदावधौ ॥८८॥
 दध्वनदुन्दुभिभ्रानै^५ ररुधन्त दिशो दश । सुराणां प्रमदीभूतो महान् कलकलोऽप्यभूत् ॥८९॥
 सा तदा तदध्वनिं श्रुत्वा निशान्ते सहस्रोत्थिता । भेजे हंसीव संशसं श्रुतपर्जन्यनिःस्वना^६ ॥९०॥
 देवागमे क्षणात्तस्याः प्राग्जम्भस्त्वतिराश्रभूत्^७ । सा स्मृत्वा ललिताङ्गं तं मुमूर्खोत्कण्ठिता मुहुः ॥९१॥
 सर्लोमिरथ सोपायमाश्रास्य व्यजनानिलैः^८ । प्रत्यापत्तिं समानीता साभूद् भूयोऽप्यवाङ्मुखा^९ ॥९२॥
 मनोहरं प्रमोदासि सुन्दरं^{१०} चारुलक्षणम् । तदुपमनसोवास्या ललितं निर्वमौ तदा ॥९३॥
 परिपृष्ट्वापि साशङ्कं^{११} सर्लोमिर्जोषमास्त^{१२} सा । मुक्तीभूता किलाप्राप्ते^{१३} स्तस्य मौनं ममेत्यलम् ॥९४॥
 ततः पर्याकुलाः सख्यः तमुदन्तमशेषतः । गत्वा पितृव्यामाचल्युः सख्यो^{१४} वषधरैः समम् ॥९५॥

ललितान्तर किरीटारूढिनि चहलीमणी सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल, महामूल्य रत्नोंसे शोभायमान और स्वर्गविमानको भी लज्जित करनेवाले राजभवनमें सो रही थी ॥८४॥ उसी दिन उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह विचित्र घटना हुई कि उसी नगरके मनोहर नामक उद्यानमें श्रीयशोधर गुरु विराजमान थे उन्हें उसी दिन कैवल्यज्ञान प्राप्त हुआ इसलिये स्वर्गके देव अपनी विभूतिके साथ विमानोंपर आरुढ़ होकर उनकी पूजा करनेके लिए आये थे ॥८५-८६॥ उस समय भ्रमरोंके साथ-साथ, दिशाओंको व्याप्त करनेवाली जो पुष्पवर्षा हो रही थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो यशोधर महाराजके दर्शन करनेके लिए स्वर्गलक्ष्मी-द्वारा भेजी हुई नेत्रोंकी परस्पर हो हो ॥८७॥ उस समय मन्द-मन्द हिलते हुए मन्दारवृक्षोंकी सघन केशरसे कुछ पीटा हुआ तथा इकट्ठे हुए भ्रमरोंकी गुंजारसे मनोहर वायु शब्द करता हुआ बह रहा था ॥८८॥ और बजते हुए दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे दशों दिशाओंको व्याप्त करता हुआ देवोंके हर्षसे उत्पन्न होनेवाला बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥८९॥ वह श्रीमती प्रातःकालके समय अकस्मात् उस कोलाहलको सुनकर उठी और मेघोंकी गर्जना सुनकर डरो हुई हंसिनीके समान भयभीत हो गयी ॥९०॥ उस समय देवोंका आगमन देखकर उसे शीघ्र ही पूर्वजन्मका स्मरण हो आया, जिससे वह ललिताङ्गदेवका स्मरण कर बार-बार उत्कण्ठित होती हुई मूर्च्छित हो गयी ॥९१॥ तत्पश्चात् सखियोंने अनेक शीतलोपचार और पंखाकी वायुसे आश्वासन देकर उसे सचेत किया परन्तु फिर भी उसने अपना मुँह ऊपर नहीं उठाया ॥९२॥ उस समय मनोहर, प्रभासे देदीप्यमान, सुन्दर और अनेक उत्तम-उत्तम लक्षणोंसे सहित उस ललिताङ्गका शरीर श्रीमतोके हृदयमें लिखे हुएके समान शोभायमान हो रहा था ॥९३॥ अनेक आशंकाएँ करती हुई सखियोंने उससे उसका कारण भी पूछा परन्तु वह चुपचाप बैठी रही । ललिताङ्गकी प्राप्ति पर्यन्त मुझे मौन रखना ही श्रेयस्कर है ऐसा सोचकर मौन रह गयी ॥९४॥ तदनन्तर घबड़ायी हुई सखियोंने पहरेदारोंके साथ जाकर उसके माता-पितासे सब वृत्तान्त कह सुनाया

१. हंसांशुनिर्मले ८०, ८० । हंसपञ्चवन्धुभे । २. परार्धम् उत्कृष्टम् । ३. सामग्री । ४. उत्पन्ने सति । ५. वृद्धा ल० । ६. मनोज्ञः । ७-नैराकर्ण्यैस्तद्दिशो दश अ०, ल० । ८. जयजयारावकोलाहलः । ९. अशानिः । [रसदब्दः गर्जनमेव इत्यर्थः] १०. तिरन्वभूत् अ० । ११. पूर्वस्थितिम् । १२. अधोमुखी । १३. हलङ्गुलिशादि । १४. आशङ्कया सहितं यथा भवति तथा । १५. तूष्णीमास्त । १६. प्राप्तिपर्यन्तम् । १७. वृद्धकण्ठुकीभिः ।

तद्द्वार्ताकर्णनात्तृणं^१ तदभ्यर्णं^२ मुपागतौ । पितरौ तन्वस्थां^३ च दृष्ट्वा शुचमीयतुः ॥९६॥
 एकं पुत्रिं^४ परिब्रूय विधेयुस्तर्कं^५ मेहिनीं^६ । इति निर्वाच्यमानापि मोमुह्यैव यदास्त सा ॥९७॥
 लक्ष्मीमतिमयावाच प्रभुरिहिव कोविदः । जाता ते पुत्रिका तन्वी सेयमापूर्णयौवना ॥९८॥
 अस्याः सुदति पश्येदं वपुरत्यस्तकान्तिमत् । अनीशमभूत् स्वगंगारीभिरपि दुर्लभम् ॥९९॥
 ततो विकृतिरेवास्या न वृष्यत्यथ सुन्दरि । तेन मा स्म मयं देवि शङ्कमानान्यथा गमः ॥१००॥
 प्राग्जन्मानुमयः कोऽपि नूतमस्या हृदिस्थितः । संस्कारान् प्राक्कनान् प्रायः स्मृत्वा मूर्च्छंस्ति जन्तवः ॥१०१॥
 इति श्रुवाण एवामौ उत्तस्थौ सह कान्तया । निबोध पण्डितो धात्रीं कन्याश्वासनसंविधौ ॥१०२॥
 तदा कार्यद्वयं तस्य युगपत् समुपस्थितम्^७ । कैवल्यं स्वगुरोश्चकसंभूतिश्चायुधालये ॥१०३॥
 तत्कार्यद्वैतमासाद्य बभूव क्षणमाकुलः । प्राग्बोधेन किमत्रेति स निश्चेतुमशक्नुवन् ॥१०४॥
 ततः किमत्र कर्तव्यमित्यसौ^८ संशयारयन् । गुरोः कैवल्यसंपूजामादौ निश्चितवान् सुधीः ॥१०५॥
 यतो^९ दूरात् समासन्नं कार्यं^{१०} कार्यं मनीषिभिः ।^{११} व्यतिपाति ततस्तस्मात् प्रधानं कार्यमाचरन् ॥१०६॥
 ततः शक्यं शुभं तस्मात् तस्माच्च विपुलोदयम् । धर्मात्मकं च यत् कार्यमर्हत्पूजादिलक्षणम् ॥१०७॥

॥९५॥ सखियोंकी बात सुनकर उसके माता-पिता शीघ्र ही उसके पास गये और उसकी वह अवस्था देखकर शोकको प्राप्त हुए ॥९६॥ 'हे पुत्री, हमारा आलिंगन कर, गोदमें आ' इस प्रकार समझाये जानेपर भी जब वह मूर्च्छित हो चुक्याप गयी रही तब राजा जेष्ठायों और मन्त्रोंके अधिकारोंको जाननेवाले बज्रदन्त महाराज रानी लक्ष्मीमतीसे बोले—हे तन्वी, अब यह तुम्हारी पुत्री पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो गयी है ॥९७-९८॥ हे सुन्दर दाँतोवाली, देख, यह इसका शरीर कैसा अनुपम और कान्तियुक्त हो गया है । ऐसा शरीर स्वर्गकी दिव्यांगनाओंको भी दुर्लभ है ॥ ९९ ॥ इसलिए हे सुन्दरि, इस समय इसका यह विकार कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता । अतएव हे देवि, तू अन्य-रोग आदिकी शंका करती हुई व्यर्थ ही भयको प्राप्त न हो ॥ १०० ॥ निश्चय ही आज इसके हृदयमें कोई पूर्वभवका स्मरण हो आया है क्योंकि संसारी जीव प्रायः पुरातन संस्कारोंका स्मरण कर मूर्च्छित हो ही जाते हैं ॥ १०१ ॥ यह कहते-कहते बज्रदन्त महाराज कन्याको आश्वासन देनेके लिए पण्डिता नामक धायको नियुक्त कर लक्ष्मीमतीके साथ उठ खड़े हुए ॥१०२॥ कन्याके पाससे वापस आनेपर महाराज बज्रदन्तके सामने एक साथ दो कार्य आ उपस्थित हुए । एक तो अपने गुरु यशोधर महाराजको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी अतएव उनकी पूजाके लिए जाना और दूसरा आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था अतएव विविजयके लिए जाना ॥ १०३ ॥ महाराज बज्रदन्त एक साथ इन दोनों कार्योंका प्रसंग आनेपर निश्चय नहीं कर सके कि इनमें पहले किसे करना चाहिए और इसीलिए वे क्षण-भरके लिए व्याकुल हो उठे ॥१०४॥ तत्पश्चात् 'इनमें पहले किसे करना चाहिए' इस बातका विचार करते हुए बुद्धिमान् बज्रदन्तने निश्चय किया कि सबसे पहले गुरुदेव-यशोधर महाराजके केवलज्ञानकी पूजा करनी चाहिए ॥ १०५ ॥ क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोंको दूरवर्ती कार्यकी अपेक्षा निकटवर्ती कार्य ही पहले करना चाहिए, उसके बाद दूरवर्ती मुख्य कार्य करना चाहिए ॥१०६॥ इसलिए जिस अर्हन्त पूजासे पुण्य होता है, जिससे बड़े-बड़े अभ्युदय प्राप्त होते हैं, तथा जो धर्ममय आवश्यक कार्य हैं ऐसे अर्हन्तपूजा आदि प्रधान कार्यको ही पहले करना चाहिए ॥ १०७ ॥

१. शोधम् । २. समीपम् । ३. तां दृष्ट्वा ५०, ६० । ४. आलिंगनम् । ५. अङ्गम् । ६. आवयोः । ७. निर्वाच्यमानापि अ०, ५० । निर्वाच्यमानाऽपि ६० । ८. मोमुह्यते इति मोमुह्या । मोमुह्येव ८० । मोमुह्येव ६०, ८० । ९. चित्तविकृतिः । १०. आगतम् । ११. विचारयन् । १२. दूरादासन्नम् आगतं स्थिरमित्यर्थः । १३. कर्तव्यम् । १४. विनयवरम् ।

मनसीत्याकलय्यासौ यशोधरगुरोः पराम् । पूजां कर्तुं समुत्तरथौ नृपः पुण्यानुबन्धिनीम् ॥१०८॥
 ततः पूतनया स्वाहंमुपसृत्य जगद्गुरुम् । पूजयामास संप्रातिप्रोत्फुल्लमुखपङ्कजः ॥१०९॥
 तत्प्राप्तौ प्रणमन्नेव सोऽलम्बावधिभिदधीः । विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति ॥११०॥
 देनाबुद्धाच्युतेन्द्रत्वमात्मनः प्राप्तेने भवे । ललिताङ्गप्रियायाश्च दुहितृत्वमिहाजसा ॥१११॥
 कृताभिवन्दनस्तस्माच्चिद्वृत्त्यै कृतधाः सुताम् । पण्डितायै समर्प्यास्तु प्रतस्थे दिग्जयाय सः ॥११२॥
 चक्रपूजो ततः कृत्वा चक्रां शक्रसमश्रुतिः । प्रास्थितासौ दिशां जेतुं भवजिन्या सप्तदङ्गया ॥११३॥
 अथ पण्डितिकान्येषु निपुणा निपुणं वचः । श्रीमत्याः प्रतिबोधाय रहस्येवमभाषत ॥११४॥
 भक्तोक्तविक्रामध्ये चन्द्रकान्तशिलातले । स्थित्वा सरनेहमज्ञानि स्पृशन्ती मृदुपाणिना ॥११५॥
 भुसपङ्कजसंसर्पदशनाङ्गजलप्लवः । तस्या हृदयसन्तापमिव निर्वापयन्त्यसौ ॥११६॥
 अहं पण्डितिका सस्यं पण्डिता कार्ययुक्तिषु । जननीनिर्बिषोषास्मि तव प्रणसमा सखी ॥११७॥
 ततो ब्रूहि मिथः कन्ये धन्ये त्वं मौनकारणम् । नामयो गोपनीयो हि जन्मया इति विश्रुतम् ॥११८॥
 मया सुनिपुणं चित्ते पर्यलोचितमोहितम् । तवामीक तु विज्ञातं त्वमे वद पतिवरे ॥११९॥
 किमेष मदनोन्मादः किमालि ग्रहविप्लवः । प्रायो हि यौवनारम्भे जृम्भते मदनग्रहः ॥१२०॥

मनमें ऐसा विचार कर वह राजा बज्रदन्त पुण्य बढ़ानेवाली यशोधर महाराजकी उत्कृष्ट पूजा करनेके लिए उठ खड़ा हुआ ॥१०८॥ तदनन्तर सेनाके साथ जाकर उसने जगद्गुरु यशोधर महाराजकी पूजा की। पूजा करते समय उसका मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहा था ॥१०९॥ प्रकाशमान बुद्धिके धारक बज्रदन्तने ज्यों ही यशोधर गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया त्यों ही उसे अबधिज्ञान प्राप्त हो गया, सो ठीक ही है, विशुद्ध परिणामोंसे की गयी भक्ति क्या फलीभूत नहीं होगी? अथवा क्या-क्या फल नहीं देगी? ॥११०॥ उस अबधिज्ञानसे राजाने जान लिया कि पूर्वभवमें मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र था और यह मेरी पुत्री श्रीमती ललिताङ्गदेवकी स्वयंप्रभा नामक प्रिया थी ॥१११॥ वह बुद्धिमान् बज्रदन्त बन्दना आदि करके वहाँसे लौटा और पुत्री श्रीमतीको पण्डिता धायके लिए सौंपकर शीघ्र ही दिग्बिजयके लिए चल पड़ा ॥११२॥ इन्द्रके समान कान्तिका धारक वह चक्रधर्ती चक्ररत्नकी पूजा करके हाथी, घोड़ा, रथ, पियादे, देव और बिद्याधर इस प्रकार पङ्क सेनाके साथ दिशाओंको जीतनेके लिए गया ॥११३॥

तदनन्तर अनिशय चतुर पण्डिता नामकी धाय किसी एक दिन एकान्तमें श्रीमतीको समझानेके लिए इस प्रकार चातुर्यसे भरे वचन कहने लगी ॥११४॥ वह उस समय अशोकधाटिकाके मध्यमें चन्द्रकान्त शिलातलपर बैठी हुई थी तथा अपने कोमल हाथोंसे [सामने बैठी हुई] श्रीमतीके अङ्गोंका बड़े प्यारसे स्पर्श कर रही थी। बोलते समय उसके मुख-कमलसे जो दाँतोंकी किरणरूपी जलका प्रवाह बह रहा था उससे ऐसी मालूम होती थी मानो वह श्रीमतीके हृदयका सन्ताप ही दूर कर रही हो ॥११५-११६॥ वह कहने लगी-हे पुत्रि, मैं समस्त कार्योंकी योजनामें पण्डिता हूँ-अतिशय चतुर हूँ। इसलिए मेरा पण्डिता यह नाम सत्य है-सार्थक है। इसके सिवाय मैं तुम्हारी माताके समान हूँ और प्राणोंके समान सदा साथ रहनेवाली प्रियसखी हूँ ॥११७॥ इसलिए हे धन्य कन्ये, तू यहाँ मुझसे अपने मौनका कारण कह। क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि रोग मातासे नहीं छिपाया जाता ॥११८॥ मैंने अपने चित्तमें तेरी इस चेष्टाका अच्छी तरहसे विचार किया है परन्तु मुझे कुछ भी मालूम नहीं हुआ इसलिए हे कन्ये, ठीक-ठीक कह ॥११९॥ हे सखि, क्या यह कामका उन्माद है अथवा किसी ग्रहकी पीड़ा है? प्रायः करके यौवनके प्रारम्भ-

१. विचार्य । २. उद्युक्तोऽभूत् । ३. जिनस्त्वानात् । ४. सम्पूर्णबुद्धिः । ५. इन्द्रसमसेजाः । ६. वशोक-
 वनम् । ७. कार्यघटनाम् । ८. रहसि । ९. पीडा ।

इति पृष्टा तथा किञ्चिदामस्य मुखपङ्कजम् । पद्मिनीव दिनापाये परिष्कृतं सहोत्पलम् ॥१२१॥
जगात् श्रीमती सत्यं न शक्तास्मीदृशं वचः । कस्यापि पुरतो वक्तुं लज्जाविवशमानसा ॥१२२॥
किंतु तेऽद्य पुरो नाहं जिह्वेऽयार्ता लपस्यलम् । जननीनिर्विशेषा एवं चिरं परिचिता च मे ॥१२३॥
तद् वक्ष्ये शृणु सौम्याङ्गि महतीधं कथा मम । मया प्राग्जन्मचरितं स्मृतं देवागमेक्षणान् ॥१२४॥
तत्कीदृशं कथा वेति सर्वं वक्ष्ये सविस्तरम् । स्वप्नानुभूतमिव मे स्मृतौ तत्प्रतिभासते ॥१२५॥
अहं पूर्वभवोऽभूवं धातकीखण्डनामनि । महाद्वीपे सरोजाङ्गि स्वर्गभूम्यतिशायिनि ॥१२६॥
तत्रास्ति मन्दरात् पूर्वाद् विदेहे ^१प्रत्यगाश्रिते । विषयो गन्धिलाभिल्यो यः कुरुनपि निर्जयेत् ॥१२७॥
तत्रासीत् पाटलीग्रामे नागदत्तो वणिक्कुतः । सुमतिस्तस्य कान्ताभूत् तयोर्जाताः सुता इमे ॥१२८॥
नन्दश्च नन्दिमित्रश्च नन्दिषेणाङ्गयः परः । वरसेनो जयादिश्च सेनस्तरसूनवः क्रमात् ॥१२९॥
पुत्रिके च तयोर्जाते ^२मदनश्रीपदादिके । कान्ते तयोरहं जाता निर्नामेति कनीयसी ॥१३०॥
कदाचित् कानने रम्ये ^३चरिते चारणादिके । गिरावम्बरपूर्वेऽहं तिलकं पिहितास्त्रवम् ॥१३१॥
नानर्क्षिभूषणं दृष्ट्वा मुनिं सावधिवोधनम् । इदमप्राक्षमानस्य ^४संशोध्य भगवन्निति ॥१३२॥
केनास्मि कर्मणा जाता कुले ^५दौर्गत्यशालिनि । ब्रह्मोदमतिनिर्विण्णा ^६द्वीनामनुगृहाण माम् ॥१३३॥
इति पृष्ट्वा मुनान्द्वीपिणी जगौ मधुरया गिरा । इदं विषयेऽमुत्र ^७पुत्रि जातासि कर्मणा ॥१३४॥

मैं कामरूपी प्रह्लादा उपद्रव हुआ ही करता हूँ ॥१२०॥ इस तरह पण्डिता धायके द्वारा पूछे जानेपर श्रीमतीने अपना मुरझाया हुआ मुख इस प्रकार नीचा कर लिया जिस प्रकार कि सूर्यास्तके समय कमलितो मुरझाकर नीचे झुक जाती है । वह मुख नीचा करके कहने लगी—यह सच है कि मैं ऐसे वचन किसीके भी सामने नहीं कह सकती क्योंकि मेरा हृदय लज्जासे पराधीन हो रहा है ॥१२१-१२२॥ किंतु आज मैं तुम्हारे सामने कहती हुई लज्जित नहीं होती हूँ उसका कारण भी है कि मैं इस समय अत्यन्त दुःखी हो रही हूँ और आप हमारी माताके तुल्य तथा चिरपरिचिता हैं ॥१२३॥ इसलिए हे मनोहरांगि, सुन, मैं कहती हूँ । यह मेरी कथा बहुत बड़ी है । आज देवोंका आगमन देखनेसे मुझे अपने पूर्वभवके चरित्रका स्मरण हो आया है ॥१२४॥ वह पूर्वभवका चरित्र कैसा है अथवा वह कथा कैसी है ? इन सब बातोंको मैं विस्तारके साथ कहती हूँ । वह सब विषय मेरी स्मृतिमें अनुभव कियेके समान स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है ॥१२५॥

हे कमलनयने, इसी मध्यलोकमें एक धातकीखण्ड नामका महाद्वीप है जो अपनी शोभासे स्वर्गभूमिको तिरस्कृत करता है । इस द्वीपके पूर्व मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिला नामका देश है जो कि अपनी शोभासे देवकुल और उत्तरकुलको भी जीत सकता है । उस देशमें एक पाटली नामका ग्राम है उसमें नागदत्त नामका एक वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम सुमति था और उन दोनोंके क्रमसे नन्द, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, वरसेन और अयसेन ये पाँच पुत्र तथा मदनकान्ता और श्रीकान्ता नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं । पूर्वभवमें मैं इन्हींके घर निर्नामा नामकी सबसे छोटी पुत्री हुई थी ॥१२६-१३०॥ किसी दिन मैंने चारणचरित नामक मनोहर वनमें अम्बरतिलक पर्वतपर विराजमान अवधिष्ठातसे सहित तथा अनेक ऋद्धियोंसे भूषित पिहितास्त्र नामक मुनिराजके दर्शन किये । दर्शन और नमस्कार कर मैंने उनसे पूछा कि हे भगवन्, मैं किस कर्मसे इस दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई हूँ । हे प्रभो, कृपा कर इसका कारण कहिए और मुझ दीन तथा अतिशय उद्विग्न स्त्री-जनपर अनुग्रह कीजिए ॥१३१-१३३॥ इस प्रकार पूछे जानेपर वे मुनिराज मधुर वाणीसे कहने लगे कि हे पुत्रि, पूर्वभवमें तू अपने कर्मोदयसे इसी देशके पलालपर्वत नामक ग्राममें देविलग्राम नामक

१. लज्जाधीनम् । २. अपरम् । ३. मदनकान्ता श्रीकान्तेत्यर्थः । ४. चारणचरिते । ५. ओ भगवन्नित्यभिमुखीकृत्य । ६. दारिद्र्य । ७. उद्वेगवतीम् । ८. अनाथाम् । ९. पूर्वजन्मनि । 'प्रेत्यामुष भवान्तरे' ।

पल्लवपर्वप्रसंगे दक्षिणप्रदेशप्रसंगे । सुखेऽदो दुःखे च श्रीविजयि श्रुता ॥१३५॥
 अम्येषु स्वमज्ञानात् मुनः पुतिकलेवरम् । मुनेः समाधिगुप्तस्य पठतोऽन्ते न्ययो मुदा ॥१३६॥
 मुनिस्तद्वक्तोक्त्यासौ स्वामित्यन्वशिष्यतदा । स्वयेदं बालिके कर्म विरूपकमनुष्ठितम् ॥१३७॥
 फलिष्यति विपार्के ते दुरन्तं कटुकं फलम् । दृष्टव्यधिकमन्यस्मिन् माननीयविमानता ॥१३८॥
 इति भुवन्तमभ्येत्य क्षमामग्राहयस्तदा । भगवच्चिदमज्ञानात् क्षमस्व कृतमित्यरम् ॥१३९॥
 तेनोपशमभावेन जातात्पुं पुण्यमाश्रिता । मनुष्यजन्मनोद्वाद्य कुले परमधुरांते ॥१४०॥
 ततः कल्याणि कल्याणं गृहाणोपोषितं व्रतम् । जिनेन्द्रगुणसंपत्तिं श्रुतज्ञानमपि क्रमात् ॥१४१॥
 कृतानां कर्मणाभार्ये सहसा परिपाचनम् । तपोऽनशनमाभ्यातं विधियुक्तमुपोषितम् ॥१४२॥
 तीर्थं कृत्वस्य पुण्यस्य कारणानीह षोडश । कल्याणान्यत्र पञ्चैव प्रातिहार्याष्टकं तथा ॥१४३॥
 प्रतिशोषाश्चतुस्त्रिंशदिमानुद्विष्य सद्गुणान् । या साऽनुष्ठायते मयैः संपन्नगुणादिकः ॥१४४॥
 उपवासदिनान्यत्र त्रिषष्टिर्मुनिमर्मता । श्रुतज्ञानोपवासस्य स्वरूपमधुनोच्यते ॥१४५॥
 अष्टाविंशतिमप्येकादश द्वौ च यथाक्रमम् । अष्टाशोतिमथैकं च चतुर्दश च पञ्च च ॥१४६॥

पटेलकी सुमति स्त्रीके उदरसे धनश्री नामसे प्रसिद्ध पुत्री हुई थी ॥१३४-१३५॥ किसी दिन तूने पाठ करते हुए समाधिगुप्त मुनिराजके समीप भरे हुए कुत्तेका दुर्गन्धित कलेवर डाला था और अपने इस अज्ञानपूर्ण कार्यसे खुश भी हुई थी । यह देखकर मुनिराजने उस समय तुझे उपदेश दिया था कि बालिके, तूने यह बहुत ही विरुद्ध कार्य किया है, भविष्यमें उदयके समय यह तुझे दुःखदायी और कटुक फल देगा क्योंकि पूज्य पुरुषोंका किया हुआ अपमान अन्य पर्यायमें अधिक सन्ताप देता है ॥१३६-१३८॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर धनश्रीने उसी समय उनके सामने जाकर अपना अपराध क्षमा कराया और कहा कि हे भगवन्, मैंने यह कार्य अज्ञानवश ही किया है इसलिए क्षमा कर दीजिए ॥१३९॥ उस उपशम भावसे-क्षमा माँग लेनेसे तुझे कुछ थोड़ा-सा पुण्य प्राप्त हुआ था उसीसे तू इस समय मनुष्ययोनिमें इस अतिशय वरिद्ध कुलमें उत्पन्न हुई है ॥१४०॥ इसलिए हे कल्याणि, कल्याण करनेवाले जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान इन दो उपवास व्रतोंको क्रमसे ग्रहण करो ॥१४१॥ हे आर्ये, विधिपूर्वक किया गया यह अनशन तप, किये हुए कर्मोंको बहुत शीघ्र नष्ट करनेवाला माना गया है ॥१४२॥ तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके कारणभूत सोलह भावनाएँ, पाँच कल्याणक, आठ प्रातिहार्य तथा चौतीस अतिशय इन तिरसठ गुणोंको उद्देश्य कर जो उपवास व्रत किया जाता है उसे जिनेन्द्रगुण-सम्पत्ति कहते हैं । भावार्थ-इस व्रतमें जिनेन्द्र भगवान्के तिरसठ गुणोंको लक्ष्य कर तिरसठ उपवास किये जाते हैं जिनकी व्यवस्था इस प्रकार है-सोलह कारण भावनाओंकी सोलह प्रतिपदा, पंच कल्याणकोंकी पाँच पंचमी, आठ प्रातिहार्योंकी आठ अष्टमी और चौतीस अतिशयोंकी बीस दशमी तथा चौदह चतुर्दशी इस प्रकार तिरसठ उपवास होते हैं ॥१४३-१४४॥ पूर्वोक्त प्रकारसे जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति नामक व्रतमें तिरसठ उपवास करना चाहिए ऐसा गणधरादि मुनियोंने कहा है । अब इस समय श्रुतज्ञान नामक उपवास व्रतका स्वरूप कहा जाता है ॥१४५॥ अष्टाईस, ग्यारह,

१. न्यधान्मुदा । २. निकृष्टम् । ३. पूज्यावज्ञा । ४. -ग्राहयत् तदा अ०, स० । -मन्येत्याक्षमयस्त्वममुं तवा प० । ५. शिष्यम् । 'लघु शिष्यमरं द्रुतम्' इत्यमरः । ६. उत्कृष्टदर्शने । ७. तदनन्तरम् । ८. हे पुण्यवति । ९. गुणम् । १०. यत् । ११. एतद्वचननामकम् । १२. क्रममनतिक्रम्य । गृहाणेति यावत् । १३. परिपाचयतीति परिपाचनम् । १४. कथितम् । १५. उपोषितव्रते । १६. अतिशयाश्चतु - अ०, प०, स० । अतिशयाश्च-ल० । अतिशयाः । १७. जिनगुणसंपत्तौ । १८. मतिज्ञानम् अष्टाविंशतिप्रकारम् । एकादश इति एकादशाङ्गानि इत्यर्थः । परिकर्म च द्विप्रकारमित्यर्थः । सूत्रमष्टाशीतिप्रकारमित्यर्थः । आश्विनयोगम् एक प्रकारमिति यावत् । चतुर्दश पूर्वाणि इत्यर्थः । चूलिकाश्च पञ्चप्रकारा इत्यर्थः । सप्तपर्ययश्च द्विप्रकार इत्यर्थः । केवलज्ञानम् एकप्रकारमिति यावत् । १९. पञ्चकम् प०, द०, ल० ।

विद्धि षड्विधैकसंख्यां च^१ मस्याविज्ञानपर्ययात् । नामोद्देशक्रमश्चैषां ज्ञानानामित्यनुस्मृतः ॥१४७॥
 मतिज्ञानमर्थैकादशाङ्गानि परिक्रमे च । सूत्रमाद्यनुयोगं च पूर्वाण्यपि च शूलिकाम् ॥१४८॥
 अवधिं च मनःपर्ययज्ञानं केवलमेव च । ज्ञानभेदान् प्रतीत्येमान् श्रुतज्ञानमुपोष्यते ॥१४९॥
 दिनामां शतमन्त्रेष्टमष्टापञ्चाशताधिकम् । विद्धि रघुरेतावालम्ब्य तपोऽनशनमाचर ॥१५०॥
 उद्यन्ति ज्ञानसाध्याज्यं त्रिध्वोः फलमथैतयोः । स्वर्गाद्यपि फलं प्रादुरेतयोरनुषङ्गजम् ॥१५१॥
 मुनयः पश्य कल्याणि शापानुग्रहयोः क्षमाः । अतिकान्तिरतस्तेषां लोकद्वयविरोधिनी ॥१५२॥
 वाचातिलङ्घनं वाचं निरुणद्धि भवे परे । मनसोऽलङ्घनं चापि स्मृतिमाहन्ति मानसीम् ॥१५३॥
 कायेनातिक्रमस्तेषां कायार्त्ताः साधयेत्तराम् । तस्मात्तपोधनेन्द्राणां कार्यो नातिक्रमो बुधैः ॥१५४॥
 क्षमाधनानां क्रोधाग्निं जनाः संधुक्षयन्ति ये । क्षमामस्मप्रतिच्छन्नं दुर्वचो विस्तुल्लिङ्गकम् ॥१५५॥
 संमोहकाष्टजनितं^{१०} प्राप्तीप्यै^{११} पवनेरितम् । किं तेन नाशितं मुग्धे हितं लोकद्वयाभितम् ॥१५६॥
 इत्थं मुनिवचः पथ्यमनुमत्य यथाविधि । उपोष्य तद्वयं स्वायुस्ते स्वर्गमयासिषम् ॥१५७॥
 ललिताङ्गस्य तत्रासं कान्तादेवी स्वयंप्रभा । साङ्गं सपर्ययागत्य ततो गुरुमपूजयम् ॥१५८॥
 कल्पेऽनल्पहिंरशांशे श्रीप्रभाधिपसंयुता । भोगान्^{१२} भुक्त्वात्र जातेति कथापर्यवसानकम् ॥१५९॥

दो, अठासी, एक, चौदह, पाँच, छह, दो और एक इस प्रकार मतिज्ञान आदि भेदोंकी एक सौ अठावन संख्या होती है। उनका नामानुसार क्रम इस प्रकार है कि मतिज्ञानके अष्टाईस, अंगोंके ग्यारह, परिक्रमेके दो, सूत्रके अष्टासी, अनुयोगका एक, पूर्वके चौदह, शूलिकाके पाँच, अवधिज्ञानके छह, मनःपर्ययज्ञानके दो और केवलज्ञानके एक-इस प्रकार ज्ञानके इन एक सौ अष्टावन भेदोंकी प्रतीतिकर जो एक सौ अष्टावन दिनका उपवास किया जाता है उसे श्रुतज्ञान उपवास व्रत कहते हैं। हे पुत्रि, तू भी विधिपूर्वक ऊपर कहे हुए दोनों अनशन व्रतोंको आचरण कर ॥१४६-१५०॥ हे पुत्रि, इन दोनों व्रतोंका मुख्य फल केवलज्ञानकी प्राप्ति और गौण फल स्वर्गादिकी प्राप्ति है ॥१५१॥ हे कल्याणि, देख, मुनि शाप देने तथा अनुग्रह करने-दोनोंमें समर्थ होते हैं, इसलिए उनका अपमान करना दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाला है ॥१५२॥ जो पुरुष वचन-द्वारा मुनियोंका उल्लंघन-अनादर करते हैं वे दूसरे भयमें गूँगे होते हैं। जो मनसे निरादर करते हैं उनकी मनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और जो शरीरसे तिरस्कार करते हैं उन्हें ऐसे कौन-से दुःख हैं जो प्राप्त नहीं होते हैं? इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको तपस्वी मुनियोंका कभी अनादर नहीं करना चाहिए। हे मुग्धे, जो मनुष्य, क्षमारूपी धनको धारण करनेवाले मुनियोंकी, मोहरूपी काष्ठसे उत्पन्न हुई, विरोधरूपी वायुसे प्रेरित हुई, दुर्वचनरूपी तिलगोंसे भरी हुई और क्षमारूपी भस्मसे ढकी हुई क्रोधरूपी अग्निको प्रज्वलित करते हैं उनके द्वारा, दोनों लोकोंमें होनेवाला अपना कौन-सा हित नष्ट नहीं किया जाता? ॥१५३-१५६॥ इस प्रकार मैं मुनिराजके हितकारी वचन मानकर और जिनेन्द्रगुण-सम्पत्ति तथा श्रुतज्ञान नामक दोनों व्रतोंके विधिपूर्वक उपवास कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गयी ॥१५७॥ वहाँ ललिताङ्गदेवकी स्वयंप्रभा नामकी मनोहर महादेवी हुई और वहाँसे ललिताङ्गदेवके साथ मध्यलोकमें आकर मैंने व्रत देनेवाले पिहितालव गुरुकी पूजा की ॥१५८॥ बड़ी-बड़ी श्रद्धियोंको धारण करनेवाली मैंने उस ऐशान स्वर्गमें श्रीप्रभविमानके अधिपति ललिताङ्ग-

१. संख्याश्च अ०, प०, स०, द०, ल० । २. पर्यायान् अ०, प०, स०, द०, ल० । ३. विधौ व०, अ०, द०, म०, प०, ल०, ट० । ४. त्रिध्वो । ५. -योरनुषङ्गजम् अ०, प०, द०, म०, ल०, ट० । ६. आनुषङ्गिकम् । ७. समर्थाः । ८. अतिक्रमणम् । ९. कायेनातिक्रमे तेषां कर्त्ताः सा या न ढीकते । अ०, प०, स०, द० । कायेनातिक्रमस्तेषां कार्यानि साधयेत्तराम् म० । १०. प्रतीप-अ०, स०, द० । ११. प्रातिकूल्यमेव वाम् । १२. भुक्त्वा तु ।

ललिताङ्गद्युतो तस्मात् पणमासान् जिमपूजयम् । कृत्वा प्रक्षुत्प्य संभूतिमिहालप्सि तनुदरि ॥१६०॥
 तमिदानीमनुस्मृत्य तदन्वेषणसंविधौ । यतः१ प्रयता संन वाचयमविधि दधे ॥१६१॥
 उत्कीर्ण इव देवोऽग्नौ पश्चाद्यापि मनो मम । अधितिष्ठति दिव्येन रूपेणानङ्गता२ गतः ॥ १६२ ॥
 ललिताङ्गवपुः सौम्यं ललितं३ ललितानने । सहजाताम्बरं लग्वि स्फुरदाभरणोज्ज्वलम् ॥ १६३ ॥
 पश्चामीव सुखस्पर्शं ताकरस्पर्शालालिता४ । तदलाभे च मदगात्रं क्षामतां नैतदुज्जति ॥१६४॥
 इमेऽश्रुविन्दवोऽजस्रं निर्यान्ति मम लोचनात् । मददुःखमक्षमा वृन्दुं तमग्वेदुमिवोद्यताः ॥१६५॥
 इत्युक्त्वा पुनरप्येवमवादीत् श्रीमती सखीम् । शक्ता रवमेव नान्यास्ति मत्प्रियान्वेषणं प्रति ॥१६६॥
 रवयि सत्यां सरोजाक्षि कुतोऽयं स्यान्ममासुखम् । नलिन्याः किमु दौःस्थित्यं तपस्यां तपनद्युतां ॥१६७॥
 सत्यं त्वं पण्डिता कार्यवटनास्वतिपण्डिता । तन्ममैतस्य कार्यस्य संसिद्धिस्त्वयि५ तिष्ठते ॥१६८॥
 ततो रक्ष मम प्राणान् प्राणेशस्य गवेषणात् । स्त्रीणां विपत्तीकारे स्त्रिय एवावलम्बनम् ॥१६९॥
 ११ तदुपायं च तेऽद्याहं भुवे १२ प्रस्तुतसिद्धये । मया विलिखितं पूर्वभवसंनिधौपट्टकम् ॥१७०॥

देवके साथ अनेक भोग भोगे तथा वहाँसे च्युत होकर यहाँ ब्रह्मदन्त चक्रवर्तीके श्रीमती नामकी पुत्री हुई हूँ । हे सखि, यहाँतक ही मेरी पूर्वभवकी कथा है ॥१५९॥ हे कृशोदरि, ललिताङ्ग-देवके स्वर्गसे च्युत होनेपर मैं छह महीने तक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करती रही फिर वहाँसे चलकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ ॥१६०॥ मैं इस समय उसीका स्मरण कर उसके अन्वेषणके लिए प्रयत्न कर रही हूँ और इसीलिए मैंने मौन धारण किया है ॥१६१॥ हे सखि, देख, यह ललिताङ्ग अब भी मेरे मनमें निवास कर रहा है । ऐसा मालूम होता है मानो किसीने टाँकी-द्वारा उकेरकर सदाके लिए मेरे मनमें स्थिर कर दिया हो । यद्यपि आज उसका वह दिव्य-वैक्रियिक शरीर नहीं है तथापि वह अपनी दिव्य शक्तिसे अतंगता (शरीरका अभाव और कामदेवपना) धारण कर मेरे मनमें अधिष्ठित है ॥१६२॥ हे सुमुखि, जो अतिशय सौम्य हैं, सुन्दर हैं, साथ-साथ उत्पन्न हुए ब्रह्म तथा भाला आदिसे सहित हैं, प्रकाशमान आभरणोंसे उज्ज्वल हैं और सुखकर स्पर्शसे सहित हैं ऐसे ललिताङ्गदेवके शरीरको मैं सामने देख रही हूँ, उसके हाथके स्पर्शसे ललित सुखद स्पर्शको भी देख रही हूँ परन्तु उसकी प्राप्तिके बिना मेरा यह शरीर कृशताको नहीं छोड़ रहा है ॥१६३-१६४॥ ये अश्रुविन्दु निरन्तर मेरे नेत्रोंसे निकल रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है कि ये हमारा दुःख देखनेके लिए असमर्थ होकर उस ललिताङ्गको खोजनेके लिए ही मानो उद्यत हुए हैं ॥१६५॥ इतना कहकर वह श्रीमती फिर भी पण्डिता सखीसे कहने लगी कि हे प्रिय सखि, तू ही मेरे पतिको खोजनेके लिए समर्थ है । तेरे सिखाय और कोई यह कार्य नहीं कर सकता ॥१६६॥ हे कमलनयने, आज तेरे रहते हुए मुझे दुःख कैसे हो सकता है ? सूर्यकी प्रभाके देदीप्यमान रहते हुए भी क्या कमलिनीको दुःख होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥१६७॥ हे सखि, तू समस्त कार्योंके करनेमें अतिशय निपुण है अतएव तू सचमुचमें पण्डिता है—तेरा पण्डिता नाम सार्थक है । इसलिए मेरे इस कार्यकी सिद्धि तुझपर ही अवलम्बित है ॥१६८॥ हे सखि, मेरे प्राणपति ललिताङ्गको खोजकर मेरे प्राणोंकी रक्षा कर क्योंकि स्त्रियोंकी विपत्ति दूर करनेके लिए स्त्रियाँ ही अवलम्बन होती हैं ॥१६९॥ इस कार्यकी सिद्धिके लिए मैं आज

१. पवित्रा । २. मौनम् । ३. देवेन म० ल० । ४. अशरीरत्वम् । ५. नलिनानने अ०, व०, स०, ल०, म० । ल०, व०, पुस्तकयोः 'ललितानने' 'नलिनानने' इत्युभयथा पाठोऽस्ति । ६. सहजाताम्बरसम्बो म०, ल० । ७. ललितम् प०, ल० । ८. ललिताङ्गस्यालाभे । ९. कृशत्वम् । १०. स्वयंप्रकाशनेति सूत्रात् प्रतिज्ञा-निर्णयप्रकाशनेषु आत्मनेपदी । तिष्ठति स० । ११. गवेषणोपायम् । १२. प्रकृत ।

कचित् किञ्चिन्निगूढान्नः प्रकृतं चित्तमजनम् । तद्वज्राक्षय धूर्तानां मनःसंमोहकारणम् ॥१७१॥
 पतिप्रवाचं य मित्थं वधात्यादित्तुदयः । तान् स्मितांशुपटच्छत्रान् कुरु गूढार्थसङ्कटे ॥१७२॥
 इत्युक्त्वा पण्डिताचोचत् तच्छिन्नाश्वासनं वचः । स्मितांशु मञ्जरीपुष्पैः किरतीचोद्गमाञ्जलिम् ॥१७३॥
 मयि सत्यां मनस्तापो मा भूत् ते कलभाषिणि । लसत्यां चूतमञ्जरी कोकिलायाः कुतोऽसुखम् ॥१७४॥
 कवेर्धोरिव सुदिलिप्तमर्थं ते मृगये पतिम् । सखि लक्ष्मीरिषोद्योगशालिनं पुरुषं परम् ॥१७५॥
 घटयिष्यामि ते कार्यं पदुधीरहमुद्यता । दुर्वटं नास्ति मे किञ्चित् प्रतोहीह जगत्त्रये ॥१७६॥
 नानाभरणविन्यासमती धारय सुन्दरि । वसन्तलतिकेवोद्यत्प्रवा लाङ्कुरसंकुलम् ॥१७७॥
 तदत्र संशयो नैव कार्यः कार्यस्य साधने । श्रीमतीप्रार्थितार्थानां ननु सिद्धिरसंशयम् ॥१७८॥
 इत्युक्त्वा पण्डिताश्वास्य तां तदर्पितपट्टकम् । गृहीत्वागमदाश्वेन महापूतजिनालयम् ॥१७९॥
 यः सुदूरोच्छ्रितैः कूटैर्लक्ष्यते रत्नमासुरैः । पातालादुत्फणस्तोषात् किमप्युद्यमिवाहिराट् ॥१८०॥
 वर्णसाङ्कर्यसंभूतं चित्रकर्मान्विता अपि । यद्विस्तयो जगत्त्रिषत्तहारिण्यो गणिका इव ॥१८१॥

तुलसे एक उपाय बताती हूँ । वह यह है कि मैंने पूर्वभवसम्बन्धी चरित्रको बतानेवाला एक चित्रपट बनाया है ॥ १७० ॥ उसमें कहीं-कहीं चित्त प्रसन्न करनेवाले गूढ़ विषय भी लिखे गये हैं । इसके सिवाय वह धूर्त मनुष्योंके मनको भ्रान्तिमें डालनेवाला है । हे सखि, तू इसे लेकर जा ॥१७१॥ धृष्टताके कारण उद्धत बुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष झूठमूठ ही यदि अपने-आपको पति कहें—मेरा पति बनना चाहें उन्हें गूढ़ विषयोंके संकटमें हास्यकिरणरूपी वस्त्रसे आच्छादित करना अर्थात् चित्रपट देखकर झूठमूठ ही हमारा पति बनना चाहें उनसे तू गूढ़ विषय पूछना जब वे उत्तर न दे सकें तो अपने मन्द हास्यसे उन्हें लजित करना ॥१७२॥ इस प्रकार जब श्रीमती कह चुकी तब ईषत् हास्यकी किरणोंके बहाने पुष्पाञ्जलि बिखेरती हुई पण्डिता सखी, उसके चित्तको आश्वासन देनेवाले बचन कहने लगी ॥१७३॥ हे मधुरभाषिणि, मेरे रहते हुए तेरे चित्तको सन्ताप नहीं हो सकता क्योंकि आम्रमञ्जरीके रहते हुए कोयलको दुःख कैसे हो सकता है ? ॥१७४॥ हे सखि, जिस प्रकार कविकी बुद्धि सुदिलिप्त—अनेक भावोंको सूचित करनेवाले उत्तम अर्थको और लक्ष्मी जिस प्रकार उद्योगशाली मनुष्यको खोज लाती है उसी प्रकार मैं भी तेरे पतिको खोज लाती हूँ ॥१७५॥ हे सखि, मैं चतुर बुद्धिकी धारक हूँ तथा कार्य करनेमें हमेशा उद्यत रहती हूँ इसलिए तेरा यह कार्य अवश्य सिद्ध कर दूँगी । तू यह निश्चित जान कि मुझे इन तीनों लोकोंमें कोई भी कार्य कठिन नहीं है ॥१७६॥ इसलिए हे सुन्दरि, जिस प्रकार माधवी लता प्रकट होते हुए प्रवालों और अंकुरोंके समूहको धारण करती है उसी प्रकार अब तू अनेक प्रकारके आभरणोंके विन्यासको धारण कर ॥१७७॥ इस कार्यकी सिद्धिमें तुझे संशय नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रीमतीके द्वारा चाहे हुए पदार्थोंकी सिद्धि निःसन्देह ही होती है ॥१७८॥ यह पण्डिता इस प्रकार कहकर तथा उस श्रीमतीको समझाकर उसके द्वारा दिये हुए चित्रपटको लेकर शीघ्र ही महापूत नामक अथवा अत्यन्त पवित्र जिनमन्दिर गयी ॥१७९॥ वह जिनमन्दिर रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान अपने ऊँचे उठे हुए शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो फण ऊँचा किये हुए शेषनाग ही सन्तुष्ट होकर पाताललोकसे निकला हो ॥१८०॥ उस मन्दिरकी दीवालें ठीक वेश्याओंके समान थीं क्योंकि जिस प्रकार वेश्याएँ वर्णसंकरता (आङ्गणादि वर्णोंके साथ व्यभिचार)से उत्पन्न हुई तथा अनेक आश्चर्यकारी कार्योंसे सहित

१. आत्मानं पतिं भुवते इति पतिप्रवाः । २. धार्ष्ट्यम् । ३. पुण्यस्तवकः । ४. किरन्ती अ०, स०, द०, ल० । ५. पुण्यम् । ६. उत्कृष्टम् । ७. जानोहि । ८. वसन्तलतिकेवोद्यत् ल० । माधवीलता । ९. नवपल्लवः । १०. कर्तव्यः । ११. धीरस्यास्तीति श्रीमती तथा वाञ्छितपदार्थानाम् । १२. येन केनापि प्रकारेण । १३. [आलेख्य कर्म] पक्षे नानाप्रकारपापकर्म ।

^१ दिवामभ्यां निशां हर्तुं क्षमैर्मणिविचित्रितैः । तुङ्गः शृङ्गः स्म यो भाति ^२ दिवमुन्माळयैश्चिव ॥१८२॥

पठन्निरनिशं साधुवृन्दैरामन्दन्तिःस्वनम् । ^३ प्रजल्पन्ति च यो मन्ये ^४ भ्येभ्यस्त समागतेः ॥१८३॥

यस्य कृटाग्रसंसक्ताः केतवोऽनिलघटिताः । विषभुर्वन्दनाभक्त्यै ^५ व्याह्वयन्त इवामरान् ॥१८४॥

^६ यद्वातायननिर्याता धूपधूमाश्रकातिरे । स्वर्गस्थोपायनीकतु ^७ निमिमाणा ^८ वनानिव ॥१८५॥

यस्य कूटतटाळगताः तारास्तरलरोचिषः । पुष्पोपहारसंमोहमौलन्वज्जमोजुषाम् ^९ ॥१८६॥

^{१०} सद्वृत्तसंगता ^{११} श्रिष्टसंदर्भचिराकृतिः । यः सु ^{१२} शब्दो महान्मह्यो ^{१३} काव्यबन्ध इवात्मो ॥१८७॥

सपताको रणद्वण्डो यो हवस्तस्मसंभृतः ^{१४} । स्वभाद् गम्भीरनिघोषैः सञ्चित इवेमशट् ॥१८८॥

पठतां पुष्पनिघोषैः वन्दारुणां च निःस्वनैः । यः संदभावकालेऽपि सवारम्भं शिखण्डेषु ॥१८९॥

वस्तुक्राशिखरः शश्वच्चारणैः ^{१५} कृतसंस्तवः ^{१६} । ^{१७} विद्याधरैः समासेष्यो मन्दराद्विरिवाद्युतम् ॥१९०॥

होकर जगत्के कामी पुरुषोंका चित्त हरण करती हैं उसी प्रकार वे दीवालें भी वर्ण-संकरता (काले पीले नीले लाल आदि रंगोंके मेल)से बने हुए अनेक चित्रोंसे सहित होकर जगत्के साथ जीवोंका चित्त हरण करती थीं ॥१८१॥ रातको भी दिन बनानेमें समर्थ और मणियोंसे चित्र-विचित्र रहनेवाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे वह मन्दिर ऐसा भालूम होता था मानो स्वर्गका वन्मीलन ही कर रहा है-स्वर्गको भी प्रकाशित कर रहा हो ॥१८२॥ उस मन्दिरमें निरन्तर अनेक मुनियोंके समूह गम्भीर शब्दोंसे स्तोत्रादिकका पाठ करते रहते थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह आये हुए भव्य जीवोंके साथ सम्भाषण ही कर रहा हो ॥१८३॥ उसकी शिखरोंके अग्रभागपर लगी हुई तथा वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वन्दना भक्ति आदिके लिए देवोंको ही बुला रही हों ॥१८४॥ उस मन्दिरके शिखरोंसे निकलते हुए धूपके धूम ऐसे भालूम होते थे मानो स्वर्गको भेंट देनेके लिए नवीन मेघोंको ही बना रहे हों ॥१८५॥ उस मन्दिरके शिखरोंके चारों ओर जो चंचल किरणोंके धारक तारागण चमक रहे थे वे ऊपर आकाशमें स्थित रहनेवाले देवोंको पुष्पोपहारकी भ्रान्ति उत्पन्न किया करते थे अर्थात् देव लोग यह समझते थे कि कहीं शिखरपर किसीने फूलोंका उपहार तो नहीं चढ़ाया है ॥१८६॥ वह चैत्यालय सद्वृत्तसंगत-सम्यक्चारित्रके धारक मुनियोंसे सहित था, अनेक चित्रोंके समूहसे शोभायमान था, और स्तोत्रपाठ आदिके शब्दोंसे सहित था इसलिए किसी महाकाव्य-के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि महाकाव्य भी, सद्वृत्त-वसन्ततिलका आदि सुन्दर-सुन्दर छन्दोंसे सहित होता है, मुरज कमल छत्र हार आदि चित्रश्लोकोंसे मनोहर होता है और उत्तम-उत्तम शब्दोंसे सहित होता है ॥१८७॥ उस चैत्यालयपर पताकाएँ फहरा रही थीं, भीतर बजते हुए घण्टे लटक रहे थे, स्तोत्र आदिके पढ़नेसे गम्भीर शब्द हो रहा था, और स्वयं अनेक मजबूत स्वम्भोंसे स्थिर था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा हाथों ही हो क्योंकि हाथीपर भी पताका फहराती है, उसके गलेमें मनोहर शब्द करता हुआ घण्टा बँधा रहता है। वह स्वयं गम्भीर गर्जनाके शब्दसे सहित होता है तथा मजबूत स्वम्भोंसे बँधा रहनेके कारण स्थिर होता है ॥१८८॥ वह चैत्यालय पाठ करनेवाले मनुष्योंके पवित्र शब्दों तथा वन्दना करनेवाले मनुष्योंकी जय जय ध्वनिसे अस्मयमें ही मयूरोंको मदनोन्मत्त बना देता था अर्थात् मन्दिरमें होनेवाले शब्दको मेघका शब्द समझकर मयूर वर्षाके बिना ही मदनोन्मत्त हो जाते

१. आत्मानं दिवा मन्यत इति दिवामभ्या ताम् । २. स्वर्गम् । ३. पश्यन्ति । ४. संभाषणं कुर्वन् ।

५. मन्येः सह । ६. व्याह्वयन्त अ०, स० । ७. तद्वाता-ल० । ८. निमिमोत इति निमिमाणा । ९. वना इव ल० ।

१०. संभ्रान्तिम् । ११. मातन्वन्ति नभोजुषाम् द० । १२. सञ्चारित्रवद्भव्यजनसहितः, पक्षे समीचीनवृत्तजाति-

सहितः । १३. चित्रपुत्रिकासन्धर्मः, पक्षे चित्रार्थसन्धर्मरचना । १४. सुशब्दी । १५. भूमौ । १६. सम्यग् धृतः ।

१७. कुशीलवैः पक्षे चारणमुनिभिः । १८. पक्षे परिषदः । १९. शब्दागमपरमागमादिविद्याधरैः स्वधैश्च ।

तत्र पट्टकशालायां पण्डिता कृतवन्दना । प्रसार्य पट्टकं तदर्थं^१ परिचिक्षिपुरागतान् ॥१९१॥

प्रेक्षन्त केचिदागत्य सावधानं महाभिषः । केचित् किमेतदिच्छुष्यैः जज्ञेत्पूर्वोदय पट्टकम् ॥१९२॥

तेषां समुचितैर्वाक्यैर्ददती पण्डितोत्तरम् । तत्रास्ते स्म स्मितोद्योतैः किरन्तो^२ पण्डितायितान् ॥१९३॥

अथ दिग्विजयवाक्यकी म्यवृत्तत् कृतद्विजयः । प्रसूतीकृतमिःशेषनरविद्याधरामरः ॥१९४॥

ततोऽभिषेकं द्वात्रिंशत्सहस्रधरणीश्वरैः^३ । चक्रवर्ती परं प्रापत् पुण्यैः किं न लभ्यते ॥१९५॥

स च ते च समाकाराः कराङ्गप्रियवदनादिभिः । तथापि सैः समम्यर्च्यैः सोऽभूत् पुण्यानुभावतः ॥१९६॥

अनीदृशवपुश्चन्द्रसौम्यास्यः कमलक्षेणः । पुण्येन स बभौ सर्वानतिशय्य नरामरान् ॥१९७॥

शङ्खचक्राकुशादीनि लक्षणाभ्यस्य पादयोः । धनुरालिखितामीष लक्ष्म्या लक्ष्माणि चक्रिणः ॥१९८॥

अमोघशासने तस्मिन् सुखं शासति भूभुजि । न^४ दण्ड्यपक्षः कोऽप्यासीत् प्रजानामकृतागसाम् ॥१९९॥

स विभ्रद् वक्षसा लक्ष्मीं वक्त्राब्जेन च वाग्वभूत् । प्रणाम्याभिव कोंकान्तं प्राहिणोत् कीर्तिमेकिकाम् ॥२००॥

थे ॥१८९॥ वह चैत्यालय अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे सहित था, अनेक चारण (मागध स्तुतिपाठक) सब उसकी स्तुति किया करते थे और अनेक विद्याधर (परमागमके जाननेवाले) उसकी सेवा करते थे इसलिए ऐसा शोभायमान होता था मानो मेरु पर्वत ही हो क्योंकि मेरु पर्वत भी अत्यन्त ऊँचे शिखरोंसे सहित है, अनेक चारण (बुद्धिके धारक मुनिजन) उसकी स्तुति करते रहते हैं तथा अनेक विद्याधर उसकी सेवा करते हैं ॥१९०॥ इत्यादि वर्णन-युक्त उस चैत्यालयमें जाकर पण्डिता धायने पहले जिनेन्द्र देवकी वन्दना की फिर वह वहाँकी चित्रशालामें अपना चित्रपट फैलाकर आये हुए लोगोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे बैठ गयी ॥१९१॥ विशाल बुद्धिके धारक कितने ही पुरुष आकर बड़ी सावधानीसे उस चित्रपटको देखने लगे और कितने ही उसे देखकर यह क्या है ? इस प्रकार जोरसे बोलने लगे ॥१९२॥ वह पण्डिता समुचित वाक्योंसे उन सबका उत्तर देती हुई और पण्डिताभास-मूर्ख लोगोंपर मन्द हास्यका प्रकाश डालती हुई गम्भीर भावसे वहाँ बैठी थी ॥१९३॥

अनन्तर जिसने समस्त विशाओंको जीत लिया है और जिसे समस्त मनुष्य विद्याधर और देव नमस्कार करते हैं ऐसा बज्रवन्त चक्रवर्ती दिग्विजयसे वापस लौटा ॥१९४॥ उस समय चक्रवर्तीने बत्तीस हजार राजाओं-द्वारा किये हुए राज्याभिषेकमहोत्सवको प्राप्त किया था सो ठीक ही है, पुण्यसे क्या-क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥१९५॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती और वे बत्तीस हजार राजा हाथ, पाँव, मुख आदि अवयवोंसे समान आकारके धारक थे तथापि वह चक्रवर्ती अपने पुण्यके माहात्म्यसे उन सबके द्वारा पूज्य हुआ था ॥१९६॥ इसका शरीर अनुपम था, मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था, और नेत्र कमलके समान सुन्दर थे । पुण्यके उदयसे वह समस्त मनुष्य और देवोंसे बढ़कर शोभायमान हो रहा था ॥१९७॥ इसके दोनों पाँवोंमें जो शंख, चक्र, अंकुश आदिके चिह्न शोभायमान थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीने ही चक्रवर्तीके ये सब लक्षण लिखे हैं ॥१९८॥ अन्यर्थ आज्ञाके धारक महाराज बज्रवन्त जब पृथ्वीका शासन करते थे तब कोई भी प्रजा अपराध नहीं करती थी इसलिए कोई भी पुरुष वण्डका भागी नहीं होता था ॥१९९॥ वह चक्रवर्ती वक्षःस्थलपर लक्ष्मीको और मुखकमलमें सरस्वतीको धारण करता था परन्तु अत्यन्त प्रिय कीर्तिको धारण करनेके लिए उसके पास कोई स्थान ही नहीं रहा इसलिए उसने अकेली कीर्तिको लोकके अन्त तक पहुँचा दिया था । अर्थात् लक्ष्मी और सरस्वती तो

१. परोक्षितुमिच्छुः । २. प्रेक्षन्ते. अ०, स० । प्रेक्षन्त म०, ल० । ३. पण्डिता इवाचरितान् । ४. धरणीश्वरैः अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ५. चिह्नानि । ६. दण्डयितुं योग्यो दण्ड्यः स वासो पक्षश्च । ७. असम्मताम् । 'वाग्वयार्थासन्नावनिकाव्यप्रणाम्यानामर्थं मानर्थाविनिवासासम्मत्यनित्ये' इति सूत्रात् असम्मत्यर्थे ध्येयान्तिपातनम् । प्रणाम्याभिव द०, ल० ।

सुधासूतिरिषोदंशुरंशुमानिव चोत्करः । त कान्ति दीप्तिमप्युच्चैः स्रधावप्यद्भुतोदयः ॥२०१॥
पुण्यकल्पतरोरुचैः कलानीव महान्त्यलम् । बभूवुस्तस्य रत्नानि सनुर्दश^१ विशां विभोः ॥२०२॥
निधयो न च तस्यासन् पुण्यानामिव राशयः । वैरक्षवैरमुष्यासीद् गृहवार्ता^२ महोदया ॥२०३॥
षट्स्रपञ्चमण्डिता पृथ्वीमिति संपालयस्सी । दशाङ्गयोगसंभूतिम^३ भुङ्क्ते सुकृती चिरम् ॥२०४॥

हरिणीच्छुन्दः

इति कतिपयैरेवाहोमिः कृती कृतद्विजयो जयपूतनया साई चक्री निवृत्य पुरीं विशम् ।
सुरपूतनया साकं शक्री विशचमेरावतीमिव स सहच मास्वभ्भालज्वलन्मणिकुण्डलः ॥२०५॥

मालिनी

विहितनिखिलकृत्योऽन्यात्मपुत्रीविवाह^४ व्यतिकरकरणाये किञ्चिदन्तःसन्निभः ।
पुरमविशदुदारश्रीपराध्वं पुरुधीर्मुदुपवनविधूतप्रोक्तसत्केतुमालम् ॥२०६॥

शार्दूलचिकीडितम्

क्षुब्धन्तो लवलीलतास्तटवने सिन्धोर्लवङ्गातते

तन्नासीनसुराङ्गनालसलसन्नेत्रैः सदैर्वीक्षिताः ।

भाभेर्दुर्विजयार्द्धकन्दरदरीराश्रय^५ सेनाचरा

यस्यासी विजयी स्वपुण्यफलतां दीर्घं मुनक्ति स्म गाम्^६ ॥२०७॥

उसके समीप रहती थी और कीर्ति सभस्त लोकमें फैली हुई थी ॥२००॥ वह राजा चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और सूर्यके समान उत्कर (तेजस्वी अथवा उत्कृष्ट टैंक्स बसूल करनेवाला) था । आश्चर्यकारी उदयको धारण करनेवाला वह राजा कान्ति और तेज दोनोंको उत्कृष्ट रूपसे धारण करता था ॥२०१॥ पुण्यरूपी कल्पवृक्षके बड़े-बड़े फल इतने ही होते हैं यह बात सूचित करनेके लिए ही मानो उस चक्रवर्तीके चौदह महारत्न प्रकट हुए थे ॥२०२॥ उसके यहाँ पुण्यकी राशिके समान नौ अश्वय निधियाँ प्रकट हुई थीं, उन निधियोंसे उसका भण्डार हमेशा भरा रहता था ॥२०३॥ इस प्रकार वह पुण्यवान् चक्रवर्ती छह स्वर्णोंसे शोभित पृथिवीका पालन करता हुआ चिरकाल तक वस प्रकारके भोग* भोगता रहा ॥२०४॥ इस प्रकार देदीप्यमान मुकुट और प्रकाशमान रत्नोंके कुण्डल धारण करनेवाला वह कार्यकुशल चक्रवर्ती कुछ ही दिनोंमें दिग्विजय कर लौटा और अपनी विजयसेनाके साथ राजधानीमें प्रविष्ट हुआ । उस समय वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि देदीप्यमान मुकुट और रत्न-कुण्डलोंको धारण करनेवाला कार्यकुशल इन्द्र अपनी देवसेनाके साथ अमरावतीमें प्रवेश करते समय शोभित होता है ॥२०५॥ समस्त कार्य कर चुकनेपर भी जिसके हृदयमें पुत्री-श्रीमतीके विवाहकी कुछ चिन्ता विद्यमान है, ऐसे उत्कृष्ट शोभाके धारक उस वज्रदन्त चक्रवर्तीने मन्द-मन्द वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे शोभायमान तथा अन्य अनेक उत्तम-उत्तम शोभासे श्रेष्ठ अपने नगरमें प्रवेश किया था ॥२०६॥ जिसकी सेनाके लोगोंने लवंगकी लताओंसे व्याप्त समुद्रतटके बनोंमें ध्वन्दन लताओंका चूर्ण किया है, उन बनोंमें बैठी हुई देवागिनाओंने जिन्हें अपने आलस्य-भरे सुशोभित नेत्रोंसे धीरे-धीरे देखा है और जिन्होंने विजयार्थ पर्यतकी गुफाओंको स्वच्छ कर उनमें आश्रय प्राप्त किया है ऐसा वह सर्वत्र विजय प्राप्त करनेवाला वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने

१. मनुजपतेः । २. द्वौ विशौ वैश्वमनुजौ इत्यभिधानात् । ३. वृत्तिः । ४. भोगाः "दिव्यपुरं रमणं निहि चमुभाषणभोगा य सयणं च । आसणवाहणं जलं दसंगं इमे ताणं ॥ [सरत्ता निधयो दिव्याः पुरं शय्यासने चमूः । नाट्यं सभाजनं भोज्यं वाहनं चेति तानि वै ॥] ५-मभुक्ता म०, ल० । ६. सह । ७. बह्वृच्छरादीनां मत्पनजिरादेरिति दीर्घः । ८. श्रीमतीविवाहसंबन्धकरणोपे । ९. संचूर्णयन्तः । १०. विजयार्द्धस्व कन्दरदर्यः गुहाः श्रेष्ठाः ताः । ११. आमुष्ट द०, ट० । संचूर्ण्य । १२. भूमिम् । *१ चौदह रत्न, २ नौ निधि, ३ सुन्दर स्त्रियाँ, ४ नगर, ५ आसन, ६ शय्या, ७ सेना, ८ भोजन, ९ पात्र और १० नाट्यशाला ।

आक्रामन् वनवेदिकान्तरगतस्तां वैजयाह्वीं तटी-

मुखलङ्घ्याब्धिवधूं तरङ्गतरलां गङ्गां च सिन्धुं ^१धुनीम् ।

^२जित्वाशाः कुलभूतदुष्टमपि ^३न्यक्कृत्य चक्राङ्कितां

लेभेऽसौ जिनशासनार्पितमतिः श्रीवज्रदन्तः श्रियम् ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

ललिताङ्गस्वर्गव्यवनवर्णनं नाम षष्ठं पर्व ॥६॥

पुण्यके फलसे प्राप्त हुई पृथिवीका धिरकाल तक पालन करता रहा ॥२०७॥ दिग्विजयके समय जो समुद्रके समीप वनवेदिकाके मध्यभागको प्राप्त हुआ, जिसने विजयार्ध पर्वतके तटोंका उल्लंघन किया, जिसने तरंगोंसे चंचल समुद्रकी स्त्रीरूप गंगा और सिन्धु नदीको पार किया और हिमवत् कुलाचलकी ऊँचाईको तिरस्कृत किया—उसपर अपना अधिकार किया ऐसा वह जिनशासनका ज्ञाता वज्रदन्त चक्रवर्ती समस्त दिशाओंको जीतकर चक्रवर्तीकी पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त हुआ ॥२०८॥

इस प्रकार आदिपुराणसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण

महापुराणसंग्रहमें ललिताङ्गदेवका स्वर्गसे व्युत् होने आदिका

वर्णन करनेवाला षष्ठ पर्व पूर्ण हुआ ॥६॥

सप्तमं पर्व

अभाहूय सुतां चकी तामित्यन्वशिषत् कृती । स्मितांशुसलिलैः सिञ्चन्निबैनामाभिवाधिताम् ॥१॥
 पुत्रि मा स्म गमः शोकमुपसंहर मौनिताम् । जानामि त्वत्पतेः सर्वं कृतान्तमवधित्विषा ॥२॥
^१त्वकं पुत्रि सुखं ^२स्नाहि ^३प्रसाधनविधिं कुरु । चन्द्रबिम्बविधे पश्य दर्पणे मुखमण्डनम् ॥३॥
^४भोजनं मधुरालापैः तर्पयेहं सखीजनम् । त्वष्टिसंगमोऽवश्यमद्य इवो वा मविध्यति ॥४॥
 यशोधरमहायोगिकैवस्ये स मयावधिः । समासादि ततोऽजानमभिज्ञं समखावधि ॥५॥
 ऋणु पुत्रि तवास्माकं त्वत्कान्तस्यापि वृत्तकम् । जन्मान्तरनिबद्धं ते वक्ष्यामीदृश्या पृथक् ॥६॥
 इतोऽहं पञ्चमेऽभूवं जन्मम्यस्यां महापुत्री । नगर्यां पुण्डरीकिण्यां स्वर्णगर्भाभिर्वर्द्धिभिः ॥७॥
 सुतोऽहं चक्रिणश्चन्द्रकीर्तिरित्याप्तं कीर्तनम् । जयकीर्तिर्वयस्यो मे तदासीत् सहवर्द्धितः ॥८॥
 पितुः क्रमागतां लक्ष्मीमासाद्य परमोदयाम् । समं वयं ^९वयस्येन विश्रमप्रारम्भावहि ॥९॥
 गृहमेधी गृहीताणुव्रतः सोऽहं क्रमात्ततः । कालान्ते चन्द्रसेनाख्यं गुरुं श्रित्वा समाधये ॥१०॥
 त्वत्प्रहारशरीरः सन्नुद्याने प्रीतिवर्द्धने । संन्यासविधिनाऽजाये कल्पे माहेश्वरसंज्ञिके ^{११} ॥११॥
 सप्तसागरकालायुःस्थितिः सामानिकः सुरः । जयकीर्तिश्च तत्रैव जातो मत्सदृशसंज्ञिकः ॥१२॥
 ततः प्रथुष्य कालान्ते द्वीपे पुष्करसंज्ञके ^{१२} । पूर्वमन्दरपौ ^{१३}रस्थविदेहे प्राजनिष्वहि ॥१३॥

अनन्तर कार्य-कुशल चक्रवर्तिनि मानसिक पीडासे पीडित पुत्रीको बुलाकर मन्द हास्यकी किरणरूपी जलके द्वारा सिंचन करते हुए की तरह नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया ॥ १ ॥ हे पुत्रि, शोकको मत प्राप्त हो, मौनका संकोच कर, मैं अबधिज्ञानके द्वारा तेरे पतिका सब वृत्तान्त जानता हूँ ॥ २ ॥ हे पुत्रि, तू शीघ्र ही मुखपूर्वक स्नान कर, अलंकार धारण कर और चन्द्रबिम्बके समान उज्ज्वल दर्पणमें अपने मुखकी शोभा देख ॥ ३ ॥ भोजन कर और मधुर बातचीतसे प्रिय सखीजनोंको सन्तुष्ट कर । तेरे इष्ट पतिका समागम आज या कल अवश्य ही होगा ॥ ४ ॥ श्रीयशोधर महायोगीके केवलज्ञान महोत्सवके समय मुझे अबधिज्ञान प्राप्त हुआ था, उसीसे मैं कुछ भवोंका वृत्तान्त जानने लगा हूँ ॥ ५ ॥ हे पुत्रि, तू अपने, मेरे और अपने पतिके पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त सुन । मैं तेरे लिए पृथक्-पृथक् कहता हूँ ॥ ६ ॥ इस भवसे पहले पाँचवें भवमें मैं अपनी ऋद्धियोंसे स्वर्गपुरीके समान शोभायमान और महादेदीप्यमान इसी पुण्डरीकिणी नगरीमें अर्धचक्रवर्तीका पुत्र चन्द्रकीर्ति नामसे प्रसिद्ध हुआ था । उस समय जयकीर्ति नामका मेरा एक मित्र था जो हमारे ही साथ वृद्धिको प्राप्त हुआ था ॥ ७-८ ॥ समयानुसार पितासे कुलपरम्परासे चली आयी उत्कृष्ट राज्यविभूतिको पाकर मैं इसी नगरमें अपने मित्रके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥ ९ ॥ उस समय मैं अणुव्रत धारण करनेवाला गृहस्थ था । फिर क्रमसे समय बीतनेपर आयुके अन्त समयमें समाधि धारण करनेके लिए चन्द्रसेन नामक गुरुके पास पहुँचा । वहाँ प्रीतिवर्धन नामके उद्यानमें आहार तथा शरीरका त्याग कर संन्यास विधिके प्रभावसे चौथे माहेश्वर स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥ १०-११ ॥ वहाँ मैं सात सागरकी आयुका धारक सामानिक जातिका देव हुआ । मेरा मित्र जयकीर्ति भी वहीं उत्पन्न हुआ । वह भी मेरे ही समान ऋद्धियोंका धारक हुआ था ॥ १२ ॥ आयुके अन्तमें वहाँसे क्युल होकर

१. त्वरं ल०, म० । २. स्नानं कुरु । ३. अलंकारः । ४. भोजनं कुरु । ५. प्राप्तः । ६. अजातिवम् । ७. पुनस्तद्व्यपेक्षकालभावसीम इत्यर्थः । ८. अनेन प्रकारेण-मीरं तथा प०, म०, द०, ल० । ९. आत्मस्वीकुनम् । १०. मित्रेण । ११.-संज्ञिते अ०, प०, द०, ल० । १२.-संज्ञिते प० । १३. पूर्व ।

विषये मङ्गलावस्थां नगरं रत्नसञ्चयं । श्रीधरस्य महीभर्तुः तनयां बलकेशवी ॥१४॥

मनोहरातद्रमयोः श्रीधर्मा च विभीषणः । ततो राज्यपदं प्राप्य दीर्घं तत्रारमावहे [ति] ॥१५॥

पिता तु मयि निश्चिन्तयामारः सुधर्मनः । श्रीक्षेत्रीयोपस्य सिद्धोऽभू उपवासविधौ न बहुन ॥१६॥

मनोहरा मयि स्नेहात् स्थितागारं शशिधरा । सुधर्मगुरुनिर्दिष्टमाचरन्ती चिरं तपः ॥१७॥

उपास्य विधिवत्कर्मक्षपणं विधिमुत्तमम् । जीवितान्ते समाराध्य ललिताङ्गसुरोऽभवत् ॥१८॥

ललिताङ्गस्ततोऽसौ मां विभीषणवियोगतः । शुचभाषणमासाद्य सोपायं प्रत्यबोधयत् ॥१९॥

अङ्ग पुत्रं त्वरं मागाः शुचमज्ञो यथा जनः । जननादिभिर्योऽवश्यंभावुकां विद्धि संसृता ॥२०॥

इति मातृचरस्यास्य ललिताङ्गस्य बोधनान् । शुचमुत्सृज्य धर्मेकसोऽभूत् प्रसन्नधीः ॥२१॥

ततो युगन्धरस्यान्ते दीक्षां जनेश्वरीमहम् । नृपदेशमहज्ज्ञानोन्मिलितः सार्द्धमुपादिधि ॥२२॥

यथाविधि तपस्तपसा सिंहनिष्क्रान्तितं तपः । सुदुश्चरं महोदक्कं सर्वतोभद्रमप्यदः ॥२३॥

विज्ञानविमलालोकः कालान्ते प्रापमिन्द्रताम् । कल्पेऽच्युते ह्यनल्पनीं द्वाविंशत्यब्धिर्जायितः ॥२४॥

दिव्यानुभवन् भोगान् तत्र कल्पं महायुतां । गत्वा च जननीस्नेहात् ललिताङ्गमपूजयम् ॥२५॥

हम दोनों पुष्कर नामक द्वीपमें पूर्वमेरुसन्ध्यान्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमें मंगलायती देशके रत्न-संचय नगरमें श्रीधर राजाके पुत्र हुए । मैं बलभद्र हुआ और जयकीर्तिका जीव नारायण हुआ । मेरा जन्म श्रीधर महाराजकी मनोहरा नामकी रानीसे हुआ था और श्रीधर्मा मेरा नाम था तथा जयकीर्तिका जन्म उसी राजाकी दूसरी रानी सनोरमासे हुआ था और उसका नाम विभीषण था । हम दोनों भाई राज्य पाकर वहाँ दीर्घकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥१३-१५॥ हमारे पिता श्रीधर महाराजने मुझे राज्यभार सौंपकर सुधर्माचार्यसे दीक्षा ले ली और अनेक प्रकारके उपवास करके सिद्ध पद प्राप्त कर लिया ॥१६॥ मेरी माता मनोहरा मुझपर बहुत स्नेह रखती थी इसलिए पवित्र व्रतोंका पालन करती हुई और सुधर्माचार्यके द्वारा बताये हुए तपोंका आचरण करती हुई वह चिरकाल तक घरमें ही रही ॥१७॥ उसने विधिपूर्वक *कर्मक्षपण नामक व्रतके उपवास किये थे और आयुके अन्तमें समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा था जिससे मरकर स्वर्गमें ललिताङ्गदेवी हुई ॥१८॥ तदनन्तर कुछ समय बाद मेरे भाई विभीषणकी मृत्यु हो गयी और उसके वियोगसे मैं जब बहुत शोक कर रहा था तब ललिताङ्गदेवने आकर अनेक उपायोंसे मुझे समझाया था ॥१९॥ कि हे पुत्र, तू अज्ञानी पुत्रके समान शोक मत कर और यह निश्चय समझ कि इस संसारमें जन्म-मरण आदिके भय अवश्य ही हुआ करते हैं ॥२०॥ इस प्रकार जो पहले मेरी माता थी उस ललिताङ्गदेवके समझानेसे मैंने शोक छोड़ा और प्रसन्नचित्त होकर धर्ममें मन लगाया ॥२१॥ तत्पश्चात् मैंने श्री युगन्धर मुनिके समीप पाँच हजार राजाओंके साथ जिनदीक्षा ग्रहण की ॥२२॥ और अत्यन्त कठिन, किन्तु उत्तम फल देनेवाले सिंहनिष्क्रान्तित तथा सर्वतोभद्र नामक तपकी विधिपूर्वक तपकर मति धृत अवधिज्ञानरूपी निर्मल प्रकाशको प्राप्त किया । फिर आयुके अन्तमें मरकर अनल्प ऋद्धियोंसे युक्त अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र पत्नी प्राप्त की । वहाँ मेरी आयु चाईस सागर प्रमाण थी ॥२३-२४॥ अत्यन्त कान्तिमान् उस अच्युत स्वर्गमें मैं दिव्य भोगोंको भोगता रहा । किसी दिन मैंने माताके

१. मनोहरामनोहरयोः श्रीधरस्य भार्ययोः । २. तत्रारमावहि ब०, प०, अ०, द०, म०, स०, ल० । त्वकं ब०, स०, प०, । ३. नियमेन भवितुं शीलं यासां ताः । ४. भीलुका म० । ५. रसः अनुरागः । ६. जान-प० । ७. कल्यान्ते ल० । ८. अगमम् । *—कर्मक्षपण व्रतमें १४८ उपवास करने पड़ते हैं जिनका क्रम इस प्रकार है । सात चतुर्थी, तीन सप्तमी, छतीस नवमी, एक दशमी, सोलह एकादशी और पचासी द्वादशी । कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंके नाशको उद्देश्य कर इस व्रतमें १४८ उपवास किये जाते हैं इसलिए इसका 'कर्मक्ष-पण' नाम है । † यह ललिताङ्ग स्वयंप्रभा (श्रीमती) के पति ललिताङ्गदेवसे भिन्न था ।

प्रीतिवर्द्धनमारोप्य विमानमतिभास्वरम् । नीत्वास्मत्कल्पमेवास्य कृतवानशिम सन्क्रियाम् ॥२६॥
 स नो मातृचरस्तस्मिन् कल्पेऽनल्पसुखोदये । भोगाननुमयम् विश्वानसकृच्च मयाक्षितः ॥२७॥
 ललिताङ्गस्ततश्च्युत्वा जम्बूद्वीपस्य पूर्वके । विदेहे मङ्गलावत्यां सौम्यस्याङ्गेरुदक्षतटे ॥२८॥
 गन्धर्वपुरनायस्य वासवस्य खगेतिनः । खनुरासीम् प्रभावार्था देव्यां नाम्ना महीधरः ॥२९॥
 महीधरे निजं राज्यभारं निक्षिप्य वासवः । निरुदेऽरिजयाद्यस्य तपसा मुक्तावलीं^१ तपः ॥३०॥
 निर्वाणमगमत् पद्मावत्यायां च प्रभावती । समाश्रित्य तपस्तपसा परं रत्नावलीमसौ ॥३१॥
 अच्युतं कल्पमासाद्य प्रतीन्द्रपद्मागभूत् । महीधरोऽपि संसिद्धविद्योऽभूदद्भुतोदयः ॥३२॥
 क्वाचिदथ गन्वाहं पुष्करादस्थ पश्चिमे । भागे पूर्वविदेहं तं विषयं वत्सकावतीम् ॥३३॥
 तत्र प्रभाकरीपुर्वां विनयन्धरयोगिनः । निर्वाणपूजां निष्ठाप्य महामेरुमध्यागमम् ॥३४॥
 तत्र नन्दनपूर्वाशाचैत्यालयमुपाश्रितम् । महीधरं समालोक्य विद्यापूजोद्यतं तदा ॥३५॥
 प्रपद्युष्यमिष्युष्यैः अहो खेन्द्रं^२ महीधरम् । विद्धि मामच्युताधीशं ललिताङ्गस्त्वमप्यसौ ॥३६॥
 त्वत्सलाधारणी प्रीतिः ममास्ति जननीचरे । तद्वन्न विषयासक्त्याद्^३ दुरन्ताद् विरमाधुना ॥३७॥
 इत्युक्तमात्र एवासौ निर्विण्णः^४ कामभोगतः । महीकम्पं सुते ज्येष्ठे राज्यभारं स्वमर्पयन्^५ ॥३८॥
 बहुभिः खेचरैः सार्द्धं^६ जगन्नन्दनशिष्यताम् । प्रपद्य कनकावल्या प्राणतेन्द्रोऽभवद् विभुः ॥३९॥
 विशत्यन्धिस्थितिस्तत्र भोगाच्चिद्विषय निश्च्युतः । धातकीखण्डपूर्वाशापश्चिमोरुविदेहगे ॥४०॥

स्नेहसे ललिताङ्गदेवके समीप जाकर उसकी पूजा की ॥ २५ ॥ मैं उसे अत्यन्त चमकीले प्रीतिवर्धन नामके विमानमें बैठाकर अपने स्वर्ग (सोलहवाँ स्वर्ग) ले गया और वहाँ उसका मैंने बहुत ही सत्कार किया ॥ २६ ॥ इस प्रकार मेरी माताका जीव ललिताङ्ग, अत्यन्त सुख संयुक्त स्वर्गमें दिव्य भोगोंको भोगता हुआ जबतक विश्रामान रहा तबतक मैंने कई बार उसका सत्कार किया ॥ २७ ॥ तदनन्तर ललिताङ्गदेव वहाँसे च्यकर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें मङ्गलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें गन्धर्वपुरके राजा वासव विद्याधरके घर उसकी प्रभावती नामकी महादेवीसे महीधर नामका पुत्र हुआ ॥ २८-२९ ॥ राजा वासव अपना सब राज्यभार महीधर पुत्रके लिए सौंपकर तथा अरिजय नामक मुनिराजके समीप मुक्तावली तप तपकर निर्वाणको प्राप्त हुए । रानी प्रभावती पद्मावती आर्यिकाके समीप दीक्षित हो उत्कृष्ट रत्नावली तप तपकर अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुई और तबतक इधर महीधर भी अनेक विद्याओंको सिद्ध कर आश्चर्यकारी विभवसे सम्पन्न हो गया ॥ ३०-३२ ॥ तदनन्तर किसी दिन मैं पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम भागके पूर्व विदेहसम्बन्धी वत्सकावती देशमें गया वहाँ प्रभाकरी नगरीमें श्री विनयन्धर मुनिराजकी निर्वाण-कल्याणकी पूजा की और पूजा समाप्त कर मेरु पर्वतपर गया । वहाँ उस समय नन्दनवनके पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालयमें स्थित राजा महीधरको (ललिताङ्गका जीव) विद्याओंकी पूजा करनेके लिए उद्यत देखकर मैंने उसे उग्रस्वरमें इस प्रकार समझाया—अहो भद्र, जानते हो, मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र हूँ और तू ललिताङ्ग है । तू मेरी माताका जीव है इसलिए तुझपर मेरा असाधारण प्रेम है । हे भद्र, तुम्हें देनेवाले इन विषयोंकी आसक्तिसे अब विरक्त हो ॥ ३३-३७ ॥ इस प्रकार मैंने उससे कहा ही था कि वह विषयभोगोंसे विरक्त हो गया और महीकम्प नामक ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्यभार सौंपकर अनेक विद्याधरोंके साथ जगन्नन्दन मुनिका शिष्य हो गया, तथा कनकावली तप तपकर उसके प्रभावसे प्राणत स्वर्गमें बस सागरकी स्थितिका धारक इन्द्र हुआ । वहाँ वह अनेक भोगोंको भोगकर धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व दिशासम्बन्धी पश्चिमविदेह क्षेत्रमें स्थित गन्धिलदेशके

१. स मे मा-सु०, प० । २. उत्तरश्रेण्याम् । ३. -बलि तपः प० । ४. प्रतिबोधयामि स्म । ५. भद्र ल० । ६. विषयासक्तेः । ७. निर्वेगपरः । ८. समर्पयत् अ०, प०, ब०, स० । समर्पयन् ल० । ९. मुनिः ।

गन्धिले विषयेऽयोध्यानगरे जयवर्मणः । सुप्रभायाश्च पुत्रोऽमृत अजितंजय इत्यसौ^१ ॥४१॥
जयवर्माथ निक्षिप्य स्वं राज्यमजितंजये । पार्श्वेऽभिनन्दनस्याध्यात् तपः^२ साचाम्लवर्धनम् ॥४२॥
कर्मबन्धननिर्मुक्तो लेभेऽसौ परमं पदम् । यत्रात्यन्तिकमक्षय्यमव्यायाधं परं सुखम् ॥४३॥
सुप्रभा च समासाद्य गणिनीं तां सुदर्शनाम् । रत्नावलीमुपोष्याभूद् व्युत्तानुदिशाधिपः ॥४४॥
ततोऽजितंजयश्चक्री भूत्वा भक्त्याभिनन्दनम् । विवन्दिषुर्जितं जातः पिहितस्रवनामभाक् ॥४५॥
तदा पापास्त्रवद्धारिधानाम्नाम तादृशम् । लब्ध्वासौ सुचिरं कालं साम्राज्यसुखमन्वभूत् ॥४६॥
प्रबोधितश्च सोऽप्येषुः मयैव^३ स्नेहनिर्भरम् । सो मय्य मा भवान् साक्षीद् विषयेष्वपहारिषु ॥४७॥
पश्य निर्विचारां तृप्तिमुपस्थाप्यैतन्वी बुधाः^४ तत्तत्स्वविषयेषु कैः दिव्यमानुषगोचरैः ॥४८॥
भूयो भुञ्जेदु भोगेषु भवेन्नैव^५ रसान्तरम् । स एव चेद् रसः पूर्वः किं तैश्चर्वितचर्वणैः ॥४९॥
भोगैरेन्द्रेण यस्तुतः स किं तत्पर्यन्ति^६ मर्त्यजैः । अनाशितमवैरेभिस्तदलं मज्जुरैः सुखैः ॥५०॥
इत्यस्मद्वचनाज्जातवैराग्यः पिहितस्रवः । सहस्रगुणविशया समं पार्थिवकुञ्जरैः ॥५१॥
मन्दरस्थचिरस्यान्ते वीक्षामादाय सोऽवधिम् । चारण्यद्भिं च संप्राप्य तिलकान्ते^७ऽम्बरे गिरौ ॥५२॥
तपो जिनगुणद्भिं च श्रुतज्ञानविधिं च ते । तदादादाददानायै^८ स्वर्गाग्रसुखसाधनम् ॥५३॥

अयोध्या नामक नगरमें जयवर्मा राजाके घर उसकी सुप्रभा रानीसे अजितंजय नामक पुत्र हुआ ॥४१॥ कुछ समय बाद राजा जयवर्माने अपना समस्त राज्य अजितंजय पुत्रके लिए सौंपकर अभिनन्दन मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली और आचाम्लवर्धन तप तपकर कर्म-बन्धनसे रहित हो मोक्षरूप उत्कृष्ट पदको प्राप्त कर लिया । उस मोक्षमें आत्यन्तिक, अविनाशी और अव्यायाध उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है ॥४२-४३॥ रानी सुप्रभा भी सुदर्शना नामकी गणिनी-के पास जाकर तथा रत्नावली व्रतके उपवास कर अच्युत स्वर्गके अनुदिश यिमानमें देव हुई ॥४४॥ तदनन्तर अजितंजय राजा चक्रवर्ती होकर किसी दिन भक्तिपूर्वक अभिनन्दन स्वामीकी वन्दनाके लिए गया । वन्दना करते समय उसके पापास्त्रवके द्वार रुक गये थे इसलिए उसका पिहितस्रव नाम पड़ गया । 'पिहितस्रव' इस सार्थक नामको पाकर वह सुदीर्घ काल तक राज्यसुखका अनुभव करता रहा ॥४५-४६॥ किसी दिन स्नेहपूर्वक मैंने उसे इस प्रकार सम-झाया—हे भव्य, तू इन नष्ट हो जानेवाले विषयोंमें आसक्त मत हो । देख, पण्डित जन उस तृप्तिको ही सुख कहते हैं जो विषयोंसे उत्पन्न न हुई हो तथा अन्तसे रहित हो । वह तृप्ति मनुष्य तथा देवोंके उत्तमोत्तम विषय भोगनेपर भी नहीं हो सकती । ये भोग बार-बार भोगे जा चुके हैं, इनमें कुछ भी रस नहीं बदलता । जब इनमें वही पहलेका रस है तब फिर चर्वण किये हुए का पुनः चर्वण करनेमें क्या लाभ है ? जो इन्द्रसम्बन्धी भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ वह क्या मनुष्योंके भोगोंसे तृप्त हो सकेगा ? इसलिए तृप्ति नहीं करनेवाले इन विनाशीक सुखोंसे बाज आओ, इन्हें छोड़ो ॥४७-५०॥ इस प्रकार मेरे वचनोंसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ऐसे पिहितस्रव राजाने बीस हजार बड़े-बड़े राजाओंके साथ मन्दिरस्थचिर नामक मुनिराजके समीप दीक्षा लेकर अवधिज्ञान तथा चारण ऋद्धि प्राप्त की । उन्हीं पिहितस्रव मुनिराजने अम्बरतिलक नामक पर्वतपर पृथभवमें तुम्हें स्वर्गके श्रेष्ठ सुख देनेवाले जिनगुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान सम्पत्ति नामके व्रत दिये थे । इस प्रकार हे पुत्रि, जो पिहितस्रव पहले मेरे गुरु थे—माताके जीव थे वही पिहितस्रव

१. -यसाङ्गयः प०, अ०, द०, स०, ल० । २. तपस्या चाम्ल अ०, स०, म०, ल० । तपस्व्याचाम्ल-द० । ३. अच्युतकल्पेऽनुदिशयिमानाधिपः । ४. मयैव अ०, प०, द०, ल० । ५. त्वं संगं मा गाः 'सञ्ज संगे' इति धातुः । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुष एव भवति । -न् काङ्क्षीत् प०, द०, स० । ६. -त्रैषु अ०, प०, द०, स०, ल० । ७. तृप्तिमेष्टयति । ८. अतृप्तिकरैः । अनाशितमवैः अ०, प०, द०, स०, ल० । ९. तिलका-म्बरे व० । १०. आदत्त इत्याददाना तस्यै ।

ततोऽस्मद्गुरुं वासीत् तवाभ्यभ्यर्हितो^१ गुरुः । द्वाविंशति^२ गुरुस्नेहाल्ललिताज्ञानथार्थम् ॥५४॥
 लेण्वस्थो भवतीमर्ता^३ प्राग्भवेऽभून्महाबलः । स्वयंबुद्धोपदेशेन सोऽन्वभूतामरीं श्रियम् ॥५५॥
 कफिताङ्गश्च्युतः स्वर्गान्मर्त्यमात्रे स्थितोऽद्य नः । प्रत्यासक्तमो बन्धुः स ते मर्ता भविष्यति ॥५६॥
 तवामिज्ञानं मम्यच्च वक्ष्ये पद्मानने शृणु । ब्रह्मेन्द्रलान्तवेशाभ्यां भक्त्या पृष्ठस्तद्व्यहम् ॥५७॥
 युगम्भरजिनेन्द्रस्य^४ तीर्थेऽलप्स्यहि^५ दर्शनम् । ततस्तत्त्वरितं कृत्स्नं संबुभूत्सावहेऽधुना ॥५८॥
 ततोऽबोधमहं ताभ्यामिति तत्त्वरितं तदा । दम्पतिभ्यां समेताभ्यां^६ युवाभ्यां च बह्वलया ॥५९॥
 जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्मिन् विदेहे वत्सकाक्ष्ये । विषये भोगभूदेष्ट्ये^७ सीतादक्षिणदिग्गते ॥६०॥
 सुसीमानगरे नित्यं^८ वास्तव्यां जामवित्तकौ । जातौ प्रहसितालयश्च तथा विकसिताह्वयः ॥६१॥
 तत्पुत्राधिपतेः श्रीमदजितंजयभूभृतः । नाम्नामृतमतिमन्त्री सत्यभामा प्रियास्य च ॥६२॥
 तयोः प्रहसितालयोऽयमभूत् सूनुर्विचक्षणः । सखा विकसितो^९ ज्ञ्यासी सदेमौ^{१०} सहचारिणौ ॥६३॥
 जात्या^{११} हेतुतदाभासच्छलजात्यादिकोविदौ^{१२} । तीर्णव्याकरणाम्मोधी सभारजनतत्परौ ॥६४॥

व्रतदानकी अपेक्षा तेरे भी पूज्य गुरु हुए । मेरी माताके जीव ललितांगने मुझे उपदेश दिया था इसलिए मैंने गुरुके स्नेहसे अपने समयमें होनेवाले बाईस ललितांग देवोंकी पूजा की थी ॥५१-५४॥ [उन बाईस ललितांगोंमेंसे पहला ललितांग तो मेरी माता मनोहराका जीव था जो कि क्रमसे जन्मान्तरमें पिहितारूप हुआ] और अन्तका ललितांग तेरा पति था जो कि पूर्वभवमें महाबल था तथा स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके उपदेशसे देवोंकी विभूतिका अनुभव करनेवाला हुआ था ॥५५॥ वह बाईसवाँ ललितांग स्वर्गसे च्युत होकर इस समय मनुष्यलोकमें स्थित है । वह हमारा अत्यन्त निकटसम्बन्धी है । हे पुत्रि, वही तेरा पति होगा ॥५६॥ हे कमलानने, मैं उस विषयका परिचय करानेवाली एक कथा और कहता हूँ उसे भी सुन । जब मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र था तब एक बार ब्रह्मेन्द्र और लान्तव स्वर्गके इन्द्रोंने भक्तिपूर्वक मुझसे पूछा था कि हम दोनोंने युगन्धर तीर्थकरके तीर्थमें सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है इसलिए इस समय उनका पूर्ण चरित्र जानना चाहते हैं ॥५७-५८॥ उस समय मैंने उन दोनों इन्द्रों तथा अपनी इच्छासे साथ-साथ आये हुए तुम दोनों दम्पतियों (ललितांग और स्वयंप्रभा) के लिए युगन्धर स्वामीका चरित्र इस प्रकार कहा था ॥५९॥

जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक वत्सकाक्षी देश है जो कि भोगभूमिके समान है । इसी देशमें सीता नदीकी दक्षिण दिशाकी ओर एक सुसीमा नामका नगर है । उसमें किसी समय प्रहसित और विकसित नामके दो विद्वान् रहते थे, वे दोनों ज्ञानरूपी धनसे सहित अत्यन्त बुद्धिमान् थे ॥६०-६१॥ उस नगरके अधिपति श्रीमान् अजितंजय राजा थे । उनके मन्त्रीका नाम अमितमति और अमितमतिकी स्त्रीका नाम सत्यभामा था । प्रहसित, इन दोनोंका ही बुद्धिमान् पुत्र था और विकसित इसका मित्र था । ये दोनों सदा साथ-साथ रहते थे ॥६२-६३॥ ये दोनों विद्वान्, हेतु हेत्वाभास, छल, जाति आदि सब विषयोंके पण्डित, व्याकरणरूपी समुद्रके

१. पूज्यः । २. मातृस्नेहात् । ३. त्वत्पुरुषः । ४. चिह्नम् । ५. जिनेशस्य म०, ल० । ६. लब्धवन्तो । ७. सम्यग्दर्शनम् । ८. सम्यग्बोद्धुमिच्छामः । ९. समागताभ्याम् । १०. भोगभूमिसदृशः । 'ईषदसमाप्ते कल्पम् देव्यपदेशीयम्' । ११. नित्यवास्तव्यौ ६०, ८० । सखा निवसन्ती । १२. नाम्नामितमति-अ०, द०, ल० । १३. विकसितास्योऽसौ म०, ल० । १४. सदा सौ ५० । सद्योमौ ६० । १५. जन्मना जननादारम्य इत्यर्थः । जातो अ०, प०, स०, द०, ल० । १६. जात्येति वचनेन परोपदेशमन्तरेणीक । हेतुतदाभासच्छलजात्यादिकोविदौ साधनसाधनाच्छलजातिनिग्रहप्रवीणौ । "कम्यर्थमभिप्रेत्य प्रवृत्ते वचने पुनः । अग्निरुमर्थमारोप्य तन्निषेधः छलं मतम् ।" "प्रवृत्ते स्थापनाहेतो दूषणासक्तमुत्तरम् । जातिमाहुरस्याग्रे तु सोऽव्याघातकमुत्तरम् ।" "अलपिताहंकृतिनां पराहंकारखण्डनम् । निग्रहस्तन्निमित्तस्य निग्रहस्यागतोच्यते" । १७. लङ्कितः ।

नो राजसम्मतो वादकः कण्डूयाकाण्डपण्डितो । विद्यासंवाद्गोष्ठीषु निकषोपलतां गमो ॥६५॥
 कदाचिच्च नरन्द्रेण समं गत्वा मुनीश्वरम् । मत्तिसागरमद्राष्टममृतस्ववर्णविक्रम् ॥६६॥
 नृपप्रश्नवशात्तस्मिन् जीवतत्त्वविरूपणम् । कुर्वाणे^३ शेषं सुञ्जुत्वात् इत्यधुना प्रसह्य^४ तौ ॥६७॥
 वितोपलब्ध्या^५ सद्भाव^६ प्रतीमः^७ कथमात्मनः । स नास्त्यतः कुतस्तस्य प्रेत्यभावफलाधिकम् ॥६८॥
 तदुपालम्भमित्युच्चैराकर्ण्य मुनिपुङ्गवः । वचनं तत्प्रबोधीदं धीरधीः प्रत्यभाषत ॥६९॥
 यदुक्तं जीवनास्तित्वेऽनुपलब्धिः प्रसाधनम् । तदसद्वेतुदोषाणां भूयसां तत्र संभवात् ॥७०॥
 छद्मस्थानुपलब्धिभ्यः^८ सूक्ष्मादिषु^९ कुतो गतिः । अभावस्य ततो हेतुः^{१०} साध्यं व्यभिचारस्ययम् ॥७१॥
 भवता किं तु दृष्टोऽसौ त्वत्पितुर्यः पितामहः । तथापि सोऽस्ति चेदस्तु जीवस्याप्येवमस्तिता ॥७२॥
 अभावेऽपि विवक्षणां^{११} जीवस्थानुपलब्धितः । स नास्तीति सृष्टास्तिरवात् सौक्ष्म्यस्यैव विवक्षणा^{१२} ॥७३॥
 जीवज्ञानमिधेयस्य वचसः प्रत्ययस्य^{१३} च । यथास्तित्वं तथा बाह्योऽप्यर्थस्तस्यास्तु काऽक्षमा ॥७४॥

पारगामी, सभाको प्रसन्न करनेमें तत्पर, राजमान्य, वादविद्यादरूपी स्त्रुजलीको नष्ट करनेके लिए उत्तम वैद्य तथा विद्वानोंकी गोष्ठीमें यथार्थ ज्ञानकी परीक्षाके लिए कसौटीके समान थे ॥६४-६५॥ किसी दिन उन दोनों विद्वानोंने राजाके साथ अमृतस्राविणी ऋद्धिके धारक मत्तिसागर नामक मुनिराजके वर्णन किये ॥६६॥ राजाके मुनिराजसे जीवतत्त्वका स्वरूप पूछा, उत्तरमें वे मुनिराज जीवतत्त्वका निरूपण करने लगे, उसी समय प्रश्न करनेमें चतुर होनेके कारण वे दोनों विद्वान् प्रहसित और विकसित हठपूर्वक बोले कि उपलब्धि के बिना हम जीवतत्त्वपर विश्वास कैसे करें ? जब कि जीव ही नहीं है तब मरनेके बाद होनेवाला परलोक और पुण्य-पाप आदिका फल कैसे हो सकता है ? ॥६७-६८॥ वे धीर-वीर मुनिराज उन विद्वानोंके ऐसे उपालम्भरूप वचन सुनकर उन्हें समझानेवाले नीचे लिखे वचन कहने लगे ॥६९॥

आप लोगोंने जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए जो अनुपलब्धि हेतु दिया है (जीव नहीं है क्योंकि वह अनुपलब्ध है) वह असत् हेतु है क्योंकि उसमें हेतुसम्बन्धी अनेक दोष पाये जाते हैं ॥७०॥ उपलब्धि पदार्थोंके सद्भावका कारण नहीं हो सकता क्योंकि अल्प ज्ञानियोंको परमाणु आदि सूक्ष्म, राम, रावण आदि अन्तरित तथा मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थोंकी भी उपलब्धि नहीं होती परन्तु इन सबका सद्भाव माना जाता है इसलिए जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए आपने जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है ॥७१॥ इसके सिवाय एक बात हम आपसे पूछते हैं कि आपने अपने पिताके पितामहको देखा है या नहीं ? यदि नहीं देखा है, तो वे थे या नहीं ? यदि नहीं थे तो आप कहाँसे उत्पन्न हुए ? और थे, तो जब आपने उन्हें देखा ही नहीं है—आपको उनकी उपलब्धि हुई ही नहीं; तब उसका सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? यदि उनका सद्भाव मानते हों तो उन्हींकी भाँति जीवका भी सद्भाव मानना चाहिए ॥७२॥ यदि यह मान भी लिया जाये कि जीवका अभाव है; तो अनुपलब्धि होनेसे ही उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनका अस्तित्व तो है परन्तु उपलब्धि नहीं होती ॥७३॥ जैसे जीव अर्थको कहनेवाले 'जीव' शब्द और उसके ज्ञानका जीवज्ञान-सद्भाव माना जाता है, उसी प्रकार उसके वाच्यभूत बाह्य-जीव अर्थके भी सद्भावको माननेमें क्या हानि है ? क्योंकि जब 'जीव' पदार्थ ही नहीं होता तो उसके वाचक शब्द कहाँसे आते और उनके सुननेसे वैसा ज्ञान भी कैसे होता ? ॥७४॥

१. वादस्य कण्डूया वादकण्डूया तस्या काण्डः काण्डनं तत्र पण्डितो निपुणो । २. साक्षेपप्रश्नप्रतीतत्वात् । ३. चञ्जुत्वात् अ०, प०, व०, ल० । ४. बलात्कारेण । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यभिधानात् । ५. दर्शनेन । ६. अस्तित्वम् । ७. विश्वासं कुर्मः । ८. प्रेत्य उत्तरभवः । ९. तज्जीवदूषणम् । १०. —नुपलब्धिर्वचेत् अ०, प०, व०, ल० । ११. परमाणुविज्ञानादिषु । १२. साधनम् । १३. शरीरादीनाम् । विवक्षणां प०, द०, स० । १४. सम्पत्कस्य । १५. ज्ञानस्य ।

जीवशब्दोऽयमभ्रान्तं बाह्यमर्थमपेक्षते । संज्ञात्वाल्लौकिकं भ्रान्तिं मतहेत्वादिवशब्दवत् ॥७५॥
 इत्यादियुक्तिभिर्जीवं तत्त्वं स निरणोतयत् । तावपि ज्ञानजं धर्ममुज्जित्वा नेभतुर्मुनिम् ॥७६॥
 गुरोस्तस्यैव पाद्वे लौ गृहीत्वा परमं तपः । सुदर्शनमथाचाम्लवर्द्धनं चाप्युपोषतुः ॥७७॥
 निदानं वासुदेवस्य व्यधाद् विकसितोऽप्यमुत् । कालान्ते तावजायेतां महाशुकसुरोत्तमौ ॥७८॥
 इन्द्रप्रतीन्द्रपदयोः षोडशाव्युपमस्थितौ । तौ तत्र सुखसाङ्गतावन्वभूतां सुराग्रिमम् ॥७९॥
 स्वायुरन्ते ततश्च्युत्वा धातकीखण्डगोचरे । विदेहे पुष्कलावत्या पश्चिमार्द्धपुरोगते ॥८०॥
 त्रिविधे पुण्डरीकिण्यां पुर्यां राज्ञो धनंजयात् । जयसेनायशस्वरथोः देवयोर्व्यस्यसितकर्मौ ॥८१॥
 अजाते तनयी रामकेशवस्थानमागिनौ । ज्यायान् महाबलोऽन्यश्च क्वातोऽतिबलसंज्ञया ॥८२॥
 राज्यान्ते केशवेऽतीतं तपस्तप्यथा महाबलः । पाद्वे समाधिगुप्तस्य प्राणतेऽस्ततोऽभवत् ॥८३॥
 सुखशामरीं श्रियं तत्र विंशत्यव्युपमास्थये । धातकीखण्डपश्चार्द्धे पुरोवर्त्तिविदेहजे ॥८४॥
 विषये वत्सकावत्या प्रभाकर्याः पुरः प्रभोः । महासेनस्य भूमर्तुः प्रतापानतविद्विषः ॥८५॥
 देव्यां वसुन्धराख्यायां जयसेनाद्वयोऽजनि । प्रजानां जनितानम्वदन्ममा इव नन्दनः ॥८६॥
 क्रमाककधरो भूत्वा प्रजाः स चिरमन्वशात् । विरक्तधीश्च भोगेषु प्रजज्जामार्हतीं श्रितः ॥८७॥

जीव शब्द अभ्रान्त बाह्य पदार्थकी अपेक्षा रखता है क्योंकि वह संज्ञावाचक शब्द है। जो-जो संज्ञावाचक शब्द होते हैं, वे किसी संज्ञासे अपना सम्बन्ध रखते हैं जैसे लौकिक घट आदि शब्द, भ्रान्ति शब्द, मत शब्द और हेतु आदि शब्द। इत्यादि युक्तियोंसे मुनिराजने जीवतत्त्वका निर्णय किया, जिसे सुनकर उन दोनों विद्वानोंने ज्ञानका अहंकार छोड़कर मुनिको नमस्कार किया ॥७५-७६॥ उन दोनों विद्वानोंने उन्हीं मुनिके समीप उत्कृष्ट तप ग्रहण कर सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन व्रतोंके उपवास किये ॥७७॥ विकसितने नारायण पद प्राप्त होनेका निदान भी किया। आयुके अन्तमें दोनों शरीर छोड़कर महाशुक स्वर्गमें इन्द्र और प्रतीन्द्र पदपर सोलह सागर प्रमाण स्थितिके धारक उत्तम देव हुए। वे वहाँ सुखमें तन्मय होकर स्वर्ग-लक्ष्मीका अनुभव करने लगे ॥७८-७९॥ अपनी आयुके अन्तमें दोनों वहाँसे चयकर धातकीखण्ड द्वीपके पश्चिम भागसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा धनंजयकी जयसेना और यशस्वती रानीके बलभद्र और नारायणका पद धारण करनेवाले पुत्र उत्पन्न हुए। अब उत्पत्तिकी अपेक्षा दोनोंके क्रममें विपर्यय हो गया था। अर्थात् बलभद्र ऊर्ध्वगामी था और नारायण अधोगामी था। बड़े पुत्रका नाम महाबल था और छोटेका नाम अतिबल था (महाबल प्रहसितका जीव था और अतिबल विकसितका जीव था) ॥८०-८२॥ राज्यके अन्तमें जब नारायण अतिबलकी आयु पूर्ण हो गयी तब महाबलने समाधिगुप्त मुनिराजके पास शीघ्र लेकर अनेक तप तपे, जिससे आयुके अन्तमें शरीर छोड़कर वह प्राणत नामक शीघ्रवै स्वर्गमें इन्द्र हुआ ॥८३॥ वहाँ वह बीस सागर तक देवोंकी लक्ष्मीका उपभोग करता रहा। आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे चयकर धातकीखण्ड द्वीपके पश्चिम भागसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके अधिपति तथा अपने प्रतापसे समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाले महासेन राजाकी वसुन्धरा नामक रानीसे जयसेन नामका पुत्र हुआ। वह पुत्र चन्द्रमाके समान समस्त प्रजाको आनन्दित करता था ॥८४-८६॥ अनुक्रमसे उसने अकवर्ती

१. वाचकत्वात् । २. लौकिकं घटमानयेत्यादि । ३. भ्रान्तमतहेत्वादिव-म० ।-भ्रान्ति मत-म०, त० ।
 -भ्रान्तमतं हेत्वादिव-३०, ल० । इष्टमिप्रायः । ४. धूलित्वादिशब्दवत् । ५. निदधमकारयत् ।
 ६. वज्रानी । -यसत् ३० । -व्यभूत् ल० । ७. सुखाशीनौ । ८. पूर्वदिश्यते । ९. अनुवर्त्तितक्रमो
 ऊर्ध्वगाम्यधोगामिनौ इति 'व'पुस्तके । १०. पूर्वदिश्यते । ११. पुरस्य ।

सीमन्धराहृत्पादाब्जमूले^१ षोडशकारणीम्^२ । भावयन् सुचिरं तेषु तपो निरतिशारकम् ॥८८॥
 स्वायुस्तेऽहमिन्द्रोऽभूद् प्रवेयेषुर्ध्वमध्यमे । त्रिंशदब्धुपमं कालं दिव्यं तत्रान्वभूत् सुखम् ॥८९॥
 ततोऽवतीर्णः स्वर्गाग्रात् पुष्करार्धपुरोगते । विदेहे मङ्गलावत्यां प्राक्पुरे रक्षसंक्षये ॥९०॥
 अजितंजयमूपात्ताद् वसुमत्याः सुतोऽभवत् । युगन्धर इति ख्यातिमुद्रहन् नृसुरार्चितः ॥९१॥
 कल्याणत्रिलये वर्षा स सपर्यामवापिवात् । क्रमात् कैवल्यमुत्पाद्य महानेव महीवते ॥९२॥
 शुभानुबन्धिना सोऽयं कर्मणाऽभ्युदयं सुखम् । षट्षण्ण्युपमं कालं सुक्त्वाहंभ्यमथासदत् ॥९३॥
 'युगयो धर्मरथस्यायं युगज्येष्ठो युगन्धरः । तीर्थकृत् त्रायते' सोऽस्मान् मध्याब्जवतमानुमान् ॥९४॥
 तदेति मङ्गलः श्रुत्वा बहवो दर्शनं श्रिताः । युधां च धर्मसंवेगं परमं समुपागतौ ॥९५॥
 पिहितास्त्रवमद्वारकैवल्योपजनक्षणे^३ । समं गत्वार्चयिष्यामस्तदा पुत्रि स्मरस्यद् ॥९६॥
 अमिजानासि तत्पुत्रि स्वयंभूरमणोदधिम् । क्रीडाहेतोर्ग्रजिस्थाभो^४ गिरिं चाञ्जनसंज्ञकम् ॥९७॥
 श्रीमती गुरुण्युक्ता तात युष्मत्प्रसादवः । अमिजानामि तत्सर्वमिरयसौ^५ प्रत्यमाषत ॥९८॥
 'गुरोः स्मरामि' कैवल्यपूजां^६ द्युतिलके गिरौ । 'विहृतिं चाञ्जने शैले स्वयंभूरमणे च यत् ॥९९॥

होकर पहले तो चिरकाल तक प्रजाका शासन किया और फिर भोगोंसे विरक्त हो जिनवीक्षा धारण की ॥ ८७ ॥ सीमन्धर स्वामीके चरणकमलोंके मूलमें सोलह कारणभावनाओंका चिन्तन करते हुए उसने बहुत समय तक निर्दोष तपश्चरण किया ॥ ८८ ॥ फिर आयुका अन्त होनेपर उपरिम प्रवेयकके मध्यभाग अर्थात् आठवें प्रवेयकमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया । वहाँ तीस सागर तक दिव्य सुखोंका अनुभव कर वहाँसे अवतीर्ण हुआ और पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व-विदेह क्षेत्रमें मङ्गलावती देशके रक्ष-संचय नगरमें अजितंजय राजाकी वसुमती रानीसे युगन्धर नामका प्रसिद्ध पुत्र हुआ । वह पुत्र मनुष्य तथा देवों-द्वारा पूजित था ॥ ८९-९१ ॥ वही पुत्र गर्भ, जन्म और तप इन तीनों कल्याणोंमें इन्द्र आदि देवों-द्वारा की हुई पूजाको प्राप्त कर आज अनुक्रमसे कैवल्यज्ञानी हो सबके द्वारा पूजित हो रहा है ॥ ९२ ॥ इस प्रकार उस प्रहसितके जीवने पुण्यकर्मसे छयासठ सागर (१६+२०+३०=६६) तक स्वर्गोंके सुख भोग कर अरहन्त पद प्राप्त किया है ॥ ९३ ॥ ये युगन्धर स्वामी इस युगके सबसे श्रेष्ठ पुरुष हैं, तीर्थकर हैं, धर्म-रूपी रथके चलानेवाले हैं तथा भक्त्य जीवरूप कमल वनको धिकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं । ऐसे ये तीर्थकर देख हमारी रक्षा करें—संसारके दुःख दूर कर मोक्ष पद प्रदान करें ॥ ९४ ॥ उस समय मेरे ये वचन सुनकर अनेक जोष सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए थे तथा आप दोनों भी (छलितांग और स्वयम्प्रभा) परम धर्मप्रेमको प्राप्त हुए थे ॥ ९५ ॥ हे पुत्रि, तुम्हें इस बातका स्मरण होगा कि जब पिहितास्त्र भट्टारकको कैवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय हम लोगोंने साथ-साथ जाकर ही उनकी पूजा की थी ॥ ९६ ॥ हे पुत्रि, तू यह भी जानती होगी कि हमलोग क्रीड़ा करनेके लिए स्वयम्भूरमण समुद्र तथा अञ्जनगिरिपर जाया करते थे ॥ ९७ ॥ इस प्रकार पिताके कह चुकनेपर श्रीमतीने कहा कि हे तात, आपके प्रसादसे मैं यह सब जानती हूँ ॥ ९८ ॥ अम्बरतिलक पर्वतपर गुरुदेव पिहितास्त्र मुनिके कैवल्यज्ञानकी जो पूजा की थी वह भी

१. षोडशकारणानि । षोडशकारणानां समाहारः । २-कारणम् अ०, प०, व० स, ल० । ३. षट्षण्ण्युपमम् इत्यस्य पदस्य निर्वाहः क्रियते । महाणुक्रे स्वर्गे षोडशाब्धुपमस्थितिः । प्राणते कल्पे विंशत्यब्धुपमायुः स्थितिः । ऊर्ध्वप्रवेयेषु ऊर्ध्वमध्यमे त्रिंशदब्धुपमायुः स्थितिः । एतेषामायुधां सम्मेलने षट्षण्ण्युपमः कालो जात इति यावत् । ४. युगवाहः । ५. त्रायतां सो-प०, म०, व०, स०, ल० । तस्मात् अ०, ल० । ६. धर्म धर्मफले चानुरागः संवेगस्तम् । ७. कैवल्यज्ञानोत्पत्तिसमये । ८. पूजयिष्यामः । 'स्मृत्यर्थे यदि कृडिति' भूतानघतने लट् । ९. अगमाम । १०. प्रत्युत्तरमदात् । ११. पिहितास्त्रवम । १२. अम्बरतिलके । १३. विहृतं व०, ट० । विहरणम् ।

प्रत्यक्षमित्त तत्सर्वं परिस्फुरति मे हृदि । किंतु कान्तः क मे जात इति दीप्तायते मतिः^१ ॥१००॥
 इति भुवाणां तां भूयः प्रत्युवाच नराधिपः । पुत्रि स्वर्गस्थयोरेव^२ युवयोः प्राक्च्युतोऽच्युतात् ॥१०१॥
 मर्त्यामिह^३ धुर्योऽहं यशोधरमहीपतेः । देव्या वसुंधरायाश्च वज्रदन्तः सुतोऽभवम् ॥१०२॥
 'नियुताद्धेप्रसंख्यानि'^४ पूर्वाण्याबुःस्थितौ यदा । 'भवतोः परिशिष्टानि तदाहं प्रच्युतो दिवः ॥१०३॥
 युवां च परिशिष्टायुभुंक्त्वान्ते त्रिदिवाच्युतौ । जातौ यथास्वमर्त्रेव विषये राजदारकौ ॥१०४॥
 'जनितेतस्तृतीयेऽह्नि कलितारुचरेण ते । संगमोऽयैव तद्वार्ता पण्डितानेव्यति'^५ स्फुरन् ॥१०५॥
 'पैतृव्यस्त्रीय एवाथं तव'^६ भर्ता भविष्यति । तदिधं सूच्यमाणैव वल्ली पादेऽवसज्यते'^७ ॥१०६॥
 मातुलान्धास्तवाधान्धा वयमप्यस्य पुत्रिके । प्रत्युहृष्टाम'^८ हस्तुक्त्वा राजोत्थाय ततोऽगमत् ॥१०७॥
 पण्डिता तत्क्षणं प्राप्ता प्रकुलवदनाम्बुजा । सुखरागेण संलक्ष्यकार्यसिद्धिरुवाच ताम् ॥१०८॥
 त्वं दिष्ट्या वर्जसे कन्ये पूर्णस्तेऽथ मनोरथः । सप्रपञ्चं च तद्वच्चि सावधानमितः शृणु ॥१०९॥
 'यदा पट्टकमादाय गताहं'^९ त्वन्निवेशतः । तदास्थां विपुलाक्ष्ये महापूतजिनालये ॥११०॥
 मया तत्र विचित्रस्य पट्टकस्य प्रसारणे । बह्वस्तद्विज्ञाय गताः पण्डितमानिनः ॥१११॥

मुझे याद है तथा अंजनगिरि और स्वयम्भूरमण समुद्रमें जो बिहार किये थे वे सब मुझे याद है ॥ १०९ ॥ हे पिताजी, वे सब बातें प्रत्यक्षकी तरह मेरे हृदयमें प्रतिभासित हो रही हैं किन्तु मेरा पति ललितान्ग कहीं उत्पन्न हुआ है । इसी विषयमें मेरा चित्त चंचल हो रहा है ॥ १०० ॥ इस प्रकार कहती हुई श्रीमतीसे वज्रदन्त पुनः कहने लगे कि हे पुत्रि, जब तुम दोनों स्वर्गमें स्थित थे तब मैं तुम्हारे च्युत होनेके पहले ही अच्युत स्वर्गसे च्युत हो गया था और इस नगरीमें यशोधर महाराज तथा वसुन्धरा रानीके वज्रदन्त नामका श्रेष्ठ पुत्र हुआ हूँ ॥ १०१-१०२ ॥ जब आप दोनोंकी आयुमें पचास हजार पूर्ण वर्ष बाकी थे तब मैं स्वर्गसे च्युत हुआ था ॥ १०३ ॥ तुम दोनों भी अपनी बाकी आयु भोगकर स्वर्गसे च्युत हुए और इसी देशमें यथायोग्य राजपुत्र और राजपुत्री हुए हो ॥ १०४ ॥ आजसे तीसरे दिन तेरा ललितान्गके जीव राजपुत्रके साथ समागम हो जायेगा । तेरी पण्डिता सखी आज ही उसके सब समाचार स्पष्ट रूपसे लायेगी ॥ १०५ ॥ हे पुत्रि, वह ललितान्ग तेरी बुआके ही पुत्र उत्पन्न हुआ है और वही तेरा भर्ता होगा । यह समागम ऐसा आ मिला है मानो जिस बेलको खोज रहे हों वह स्वयं ही अपने पाँवमें आ लगी हो ॥ १०६ ॥ हे पुत्रि, तेरी मामी आज आ रही हैं इसलिए उन्हें लानेके लिए हम लोग भी उनके सम्मुख जाते हैं ऐसा कहकर राजा वज्रदन्त उठकर वहाँसे बाहर चले गये ॥ १०७ ॥

राजा गये ही थे कि उसी क्षण पण्डिता सखी आ पहुँची । उस समय उसका मुख प्रफुल्लित हो रहा था और मुखकी प्रसन्न कान्ति कार्यकी सफलताको सूचित कर रही थी । वह आकर श्रीमतीसे बोली ॥ १०८ ॥ हे कन्ये, तू भाग्यसे बढ रही है (तेरा भाग्य बड़ा बलवान् है) । आज तेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है । मैं विस्तारके साथ सब समाचार कहती हूँ, सावधान होकर सुन ॥ १०९ ॥ उस समय मैं तेरी आज्ञासे चित्रपट लेकर वहाँसे गयी और अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए महापूत नामक जिनालयमें जा ठहरी ॥ ११० ॥ मैंने वहाँ जाकर तेरा विचित्र चित्रपट फैलाकर रख दिया । अपने-आपको पण्डित माननेवाले कितने ही मूर्ख लोग उसका आशय नहीं

१. ममः म०, ल० । २. सतोः । ३. धुरंधरः । ४. वियुताद्धे-ल० । ५. पञ्चाशत्सहस्र-संख्यानि । ६. युवयोः । ७. भविष्यति । ८. गृहीत्वा आगमिष्यति । ९. पितृभंगिन्याः पुत्रः । १०. इदं पदं देहलीदीपन्यायेन संबन्धनीयम् । ११. संसक्ता भवति । १२. अभिमुखं गच्छामः । १३. तदा ल० । १४. तवाज्ञातः ।

तौ तु वासवदुर्दान्तौ वायवी कविचक्षणौ । इहास्मत्पट्टकं दृष्ट्वा स्वानुमानादवोचताम् ॥११२॥
 पट्टकार्थं स्फुटं विज्ञौ जातिस्मृतिमुपेक्षुः । व्यक्तित्वाजपुत्रीत्वं स्वपूर्वभवचेष्टितम् ॥११३॥
 इति नागरिकत्वेन प्रवृत्तौ नायकबुद्धौ । तोषयोर्यं विहस्याहं विस्तारं स्वादिभ्योऽप्यहम् ॥११४॥
 हठात् प्रकृतगूढार्थं संप्रश्ने च भवा कृते । ओषमास्तां विलक्षौ तौ मूकीभूय ततो गतौ ॥११५॥
 'इवश्रुयस्ते युवा वज्रजहस्तप्रागमत् ततः । दिव्येन वपुषा कान्त्या वीर्या चानुपमो भुवि ॥११६॥
 अथ प्रदक्षिणीकृत्य मध्यस्तजिनमन्दिरम् । स्तुतवा प्रणम्य चाभ्यर्च्य पट्टशालामुपासदत् ॥११७॥
 निर्वर्ण्य पट्टकं तत्र श्रीमानिदमवोचत् । 'ज्ञातपूर्वमिवेदं मे चरितं पट्टकस्थितम् ॥११८॥
 वर्णनासीतमग्रे' चित्रकर्म विराजते । 'मानोऽमानप्रमाणाणां निम्नोऽन्नतविभागावत् ॥११९॥
 अहो सुनिपुणं चित्रकर्मदं विलसच्छविः । रसभावान्वितं हारि रेखाभाधुर्यसंगतम् ॥१२०॥
 अत्रास्मद्वसंबन्धः पूर्वोऽलेखि सविस्तरम् । 'श्रीप्रभाधिपतां साक्षात् पश्यामीवेह मामिकाम् ॥१२१॥
 अहो स्त्रीरूपमग्रेदं नितरामभिरोचते । स्वयंप्रमादसंवादि विचित्राभरणोज्ज्वलम् ॥१२२॥

समझ सके । इसलिय देखकर ही वापस चले गये थे ॥ १११ ॥ हाँ, वासव और दुर्दान्त, जो झूठ बोलनेमें बहुत ही चतुर थे, हमारा चित्रपट देखकर बहुत प्रसन्न हुए और फिर अपने अनुमानसे बोले कि हम दोनों चित्रपटका स्पष्ट आशय जानते हैं । किसी राजपुत्रीको जाति-स्मरण हुआ है, इसलिय उसने अपने पूर्वभवकी समस्त चेष्टाएँ लिखी हैं ॥ ११२-११३ ॥ इस प्रकार कहते-कहते वे बड़ी चतुराईसे बोले कि इस राजपुत्रीके पूर्व जन्मके पति हम ही हैं । मैंने बहुत देर तक हँसकर कहा कि कदाचित् ऐसा हो सकता है ॥ ११४ ॥ अनन्तर जब मैंने उनसे चित्रपटके गूढ़ अर्थोंके विषयमें प्रश्न किये और उन्हें उत्तर देनेके लिये बाध्य किया तब वे चुप रह गये और लज्जित हो चुपचाप वहाँसे चले गये ॥ ११५ ॥ तत्पश्चात् तेरे श्वशुरका तरुण पुत्र वज्रजंघ बहाँ आया, जो अपने दिव्य शरीर, कान्ति और तेजके द्वारा समस्त भूतलमें अनुपम था ॥ ११६ ॥ उस भव्यने आकर पहले जिनमन्दिरकी प्रदक्षिणा दी । फिर जिनेन्द्रदेवकी स्तुति कर उन्हें प्रणाम किया, उनकी पूजा की और फिर चित्रशालामें प्रवेश किया ॥ ११७ ॥ वह श्रीमान् इस चित्रपटको देखकर बोला कि ऐसा मालूम होता है मानो इस चित्रपटमें लिखा हुआ चरित्र मेरा पहलेका जाना हुआ हो ॥ ११८ ॥ इस चित्रपटपर जो यह चित्र चित्रित किया गया है इसकी शोभा बाणीके अगोचर है । यह चित्र लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई आदिके ठीक-ठीक प्रमाणसे सहित है तथा इसमें ऊँचे-नीचे सभी प्रवेशोंका विभाग ठीक-ठीक बिखलाया गया है ॥ ११९ ॥ अहा, यह चित्र बड़ी चतुराईसे भरा हुआ है, इसकी दीप्ति बहुत ही शोभायमान है, यह रस और भावोंसे सहित है, मनोहर है तथा रेखाओंकी मधुरतासे संगत है ॥ १२० ॥ इस चित्रमें मेरे पूर्वभवका सम्बन्ध विस्तारके साथ लिखा गया है । ऐसा जान पड़ता है मानो मैं अपने पूर्वभवमें होनेवाले श्रीप्रभ विमानके अधिपति ललितागदेवके स्वामित्वको साक्षात् देख रहा हूँ ॥ १२१ ॥ अहा, यहाँ यह स्त्रीका रूप अत्यन्त शोभायमान हो रहा है । यह अनेक प्रकारके आभरणोंसे

१. मूषा । २. पट्टे सितार्थम् । ३. आनीयः । ४. आत्मानं नायकं बुवात् इति । ५. तूष्णीम् ।
 ६. लज्जितौ । उक्तं च विदग्धबूढामणी-‘विलक्षौ विस्मयान्वितः’ इत्येतस्य व्याख्यानावसरे ‘आत्मनश्चरितं सम्याग्ज्ञातेऽन्तर्यस्य जायते । अपत्रपातिमहती स विलक्ष इति स्मृतः ॥’ इति । ७. वरः । ८. तेजसा ।
 ९. अवलोक्य । ‘निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनलोकनेक्षणम् ।’ इत्यमरः । १०. पूर्वस्मिन् जातम् । ११. पटे ।
 १२. ‘आयामसंश्रितं मानमिह मानं निगद्यते । नाहसंभितमुन्मानं प्रमाणं व्याससंश्रितम् ॥’
 १३. संबन्धं ल० । १४. पूर्वोऽलेखि म० । १५. श्रीप्रभविमानाधिपतित्वं ललिताङ्गत्वम् ।
 १६. समानम् ।

किञ्च कतिचित् कस्माद् गूढानि प्रकृतानि ज्ञोः । मध्ये संभोदनायेद् अनाभामिति चित्रितम् ॥१२३॥
 ऐशानो लिखितः कल्पः श्रोत्रमं च प्रभास्वरम् । श्रोत्रभाविपतेः पार्श्वे दर्शितेयं स्वयंप्रभा ॥१२४॥
 कम्पानोकद्वयीथोयमिदमुत्पङ्कजं सरः । दोलागृहमिदं रम्यं रम्योऽयं कृतकाचलः ॥१२५॥
 कृतप्रणयकोपेयं दर्शितान्न पराङ्मुखो । मन्दारवनदीध्वन्से क्लेशेव पवनाहता ॥१२६॥
 कनकाद्रितटे श्रीहा ललिता दर्शितावयोः । इतो मणितटोत्तरपद्मभाकान्धपटावृते ॥१२७॥
 निगूढं प्रेमसन्नायकैतवापादितेर्ध्या । शब्दोत्सर्जं मधुत्सङ्गात् चकाल् पादोऽर्पितोऽनया ॥१२८॥
 मणिपुरप्रहारचारुणा चरणेन माम् । ताडयन्तीह संहृदा काञ्चया सख्येव गौरवात् ॥१२९॥
 कृतम्यलीककोपं मां प्रसादयितुमत्नता । स्वोत्तमाङ्गेन पादौ मे घटयन्तीह दर्शिता ॥१३०॥
 भक्षुतेन्द्रसमायोगगुरु पूजादिविस्तरः । दर्शितोऽत्र निगूढस्तु भावः प्रणयजो मिथः ॥१३१॥
 इह प्रणयकोपेऽस्याः पादयोर्निपतन्निह । कर्णोत्पलेन मृदुमा ताडयमानो न दर्शितः ॥१३२॥
 सालवत्कपटाङ्गुलमुद्रयाऽस्मदुरःस्थले । बाह्वभ्यक्षान्धमे^१ इत्थं प्रियया नाम दर्शितम् ॥१३३॥

कल्पित है और ऐशान ज्ञान-पदना है मन्त्रो-स्वयंप्रभा का ही रूप हो ॥१२३॥ किन्तु इस चित्रमें कितने ही गूढ़ विषय क्यों दिखलाये गये हैं ? मालूम होता है कि अन्य लोगोंको मोहित करने-के लिए ही यह चित्र बनाया गया है ॥१२३॥ यह ऐशान स्वर्ग लिखा गया है । यह देवोप्यमान श्रोत्रभविमान चित्रित किया गया है और यह श्रोत्रभविमानके अधिपति ललिताग देवके समीप स्वयंप्रभादेवी दिखलायी गयी हैं ॥१२४॥ यह कल्पवृक्षोंकी पंक्ति है, यह फूले हुए कमलोंसे शोभायमान सरोवर है, यह मनोहर दोलागृह है और यह अत्यन्त सुन्दर कृत्रिम पर्वत है ॥१२५॥ इधर यह प्रणय-कोप कर पराङ्मुख बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलायी गयी है जो कल्पवृक्षोंके समीप वायुसे झकोरी हुई लताके समान शोभायमान हो रही है ॥१२६॥ इधर तट भागपर लगे हुए मणियोंकी फैलती हुई प्रभारूपी परदासे तिरोहित मेरुपर्वतके तटपर हम दोनोंकी मनोहर कीड़ा दिखलायी गयी है ॥१२७॥ इधर, अन्तःकरणमें छिपे हुए प्रेमके साथ कपटसे कुछ ईर्ष्या करती हुई स्वयंप्रभाने यह अपना पैर हठपूर्वक मेरी गोदीसे हटाकर शय्याके मध्यभागपर रखा है ॥१२८॥ इधर, यह स्वयंप्रभा मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे मनोहर अपने चरणकमलके द्वारा मेरा ताड़न करना चाहती है परन्तु गौरवके कारण ही मानो सखी-के समान इस करधनीने उसे रोक दिया है ॥१२९॥ इधर दिखलाया गया है कि मैं बनाबटी कोप किये हुए बैठा हूँ और मुझे प्रसन्न करनेके लिए अति नम्रीभूत हुई स्वयंप्रभा अपना मस्तक मेरे चरणोंपर रख रही है ॥१३०॥ इधर यह अक्युत स्वर्गके इन्द्रके साथ हुई भेंट तथा पिहितास्त्र गुरुकी पूजा आदिका विस्तार दिखलाया गया है और इस स्थानपर परस्परके प्रेमभावसे उत्पन्न हुआ रति आदि भाव दिखलाया गया है ॥१३१॥ यद्यपि इस चित्रमें अनेक बातें दिखला दी गयी हैं; परन्तु कुछ बातें छूट भी गयी हैं । जैसे कि एक दिन मैं प्रणय-कोपके समय इस स्वयंप्रभाके चरणोंपर पड़ा था और यह अपने कोमल कर्णफूलसे मेरा ताड़न कर रही थी; परन्तु वह विषय इसमें नहीं दिखलाया गया है ॥१३२॥ एक दिन इसने मेरे वक्षःस्थलपर महाचर लगे हुए अपने पैरके अँगूठेसे छाप लगायी थी । वह क्या थी मानो 'यह हमारा पति है' इस बातको सूचित करनेवाला चिह्न ही था । परन्तु वह विषय भी यहाँ

१. प्रभास्वरम् अ० । २. विमानम् । ३. मेरु । ४. यमनिका । ५. नितरां गूढो निगूढः, प्रेम्णः सद्भावः अस्तित्वं प्रेमसद्भावः । निगूढः प्रेमसद्भावो यस्याः सा । कैतवेनापादिता ईर्ष्या यस्याः सा । निगूढ-प्रेमसद्भावा चासौ कैतवापादितेर्ध्या च तथा । ६. मध्ये । ७. अङ्काल् । ८. गुरुः पिहितास्त्रः । ९. रहसि । १०. बल्लभाया भावो बाललम्य तस्य चिह्नम् ।

कपोलफलके चास्याः^१ फलिनीफलसत्त्विति । लिखकालेन^२ पत्राणि नाहमत्र निदर्शितः ॥१३४॥
 नूनं स्वयंप्रभाषया^३ हस्तनैपुण्यमोदशम् । नान्यस्य स्त्रीजनस्येष्टक प्रावीण्यं स्यात् कलाविधौ ॥१३५॥
 इति प्रतर्कयन्नेव पर्याकुल इव क्षणम् । शून्यान्तःकरणाऽऽयासीत्^४ किमप्यामोलितेक्षणः ॥१३६॥
 उदभ्रलोचनश्रावं दशामन्या^५ मिबोपयम् । दिव्या संधारितोऽभ्येत्य तदा सत्येव मूर्च्छया ॥१३७॥
 तदवस्थं तमालाक्ष्य नाहमेवोन्मनायिता^६ । चित्रस्थान्यपि रूपाणि प्रायाः प्रायोऽन्तराङ्गताम् ॥१३८॥
 प्रस्थात्वा लभयानीतः सोपार्थं परिचारिभिः । स्वदर्पितमनोवृत्तिः सोऽदर्शधन्मयीर्विशः ॥१३९॥
 अचिरालम्बसंज्ञश्च^७ पृष्ठवानिति मामसौ । भद्रे केनेदमालेख्ये^८ लिखितं नः पुरहितम्^९ ॥१४०॥
 प्रत्युक्तश्च मयेत्यस्ति स्त्रीसर्ग^{१०} स्वैकनायिका । दुहिता मातुलान्यास्तं श्रीमतीति पतिपरा^{११} ॥१४१॥
 तां चिन्ति मदनस्येव पताकामुज्ज्वलांशुकाम्^{१२} । स्त्रीमृष्टेरिव निर्माणं^{१३} रेखां माधुर्यशालिनीम् ॥१४२॥
 सभमयौवनारम्भसूत्रपातैरिवापतैः । इष्टिपातैः^{१४} स्वभूस्तस्याः इलाघते शरकांशलम् ॥१४३॥
 तदमीकराग्रसंसक्तलीलाम्बुजजिगीषया । तद्वज्रेन्दुः सदा भाति नूनं दन्तांशुपेशलः ॥१४४॥

नहीं दिखाया गया है ॥१३३॥ मैंने इसके प्रियंगु फलके समान कान्तिमान् कपोलफलकपर कितनी ही बार पत्र-रचना की थी, परन्तु वह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया है ॥१३४॥ निश्चयसे यह हाथकी ऐसी चतुराई स्वयंप्रभाके जीवकी ही है क्योंकि चित्रकलाके विषयमें ऐसी चतुराई अन्य किसी स्त्रीके नहीं हो सकती ॥१३५॥ इस प्रकार तर्क-वितर्क करता हुआ वह राजकुमार व्याकुलकी तरह शून्यहृदय और निर्मलितनयन होकर क्षण-भर कुछ सोचता रहा ॥१३६॥ उस समय उसकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे, वह अन्तकी मरण अवस्थाको प्राप्त हुआ ही चाहता था कि देव योगसे उसी समय मूर्च्छाने सखीके समान आकर उसे पकड़ लिया, अर्थात् वह मूर्च्छित हो गया ॥१३७॥ उसकी वैसी अवस्था देखकर केवल मुझे ही विषाद नहीं हुआ था; किन्तु चित्रमें स्थित मूर्तियोंका अन्तःकरण भी आर्द्र हो गया था ॥१३८॥ अनन्तर परिचारकोंने उसे अनेक उपायोंसे सचेत किया किन्तु उसकी चिन्तवृत्ति तेरी ही ओर लगी रही। उसे समस्त दिशाएँ ऐसी दिखती थीं मानो तुझसे ही व्याप्त हों ॥१३९॥ थोड़ी ही देर बाद जब वह सचेत हुआ तो मुझसे इस प्रकार पूछने लगा कि हे भद्रे, इस चित्रमें मेरे पूर्वभवकी ये चेष्टाएँ किसने लिखी हैं ? ॥१४०॥ मैंने उत्तर दिया कि तुम्हारी मामीकी एक श्रीमती नामकी पुत्री है, वह स्त्रियोंकी सृष्टिकी एक मात्र मुख्य नायिका है—वह स्त्रियोंमें सबसे अधिक सुन्दर है और पति-वरण करनेके योग्य अवस्थामें विद्यमान है—अविवाहित है ॥१४१॥ हे राजकुमार, तुम उसे उज्ज्वल वस्त्रसे शोभायमान कामदेवकी पताका ही समझो, अथवा स्त्रीसृष्टिकी माधुर्यसे शोभायमान अन्तिम निर्माणरेखा ही जानो अर्थात् स्त्रियोंमें इससे बढ़कर सुन्दर स्त्रियोंकी रचना नहीं हो सकती ॥१४२॥ उसके लम्बायमान कटाक्ष क्या हैं मानो पूर्ण यौवनके प्रारम्भको सूचित करनेवाले सूत्रपात ही हैं। उसके ऐसे कटाक्षोंसे ही कामदेव अपने बाणोंके कौशलकी प्रशंसा करता है अर्थात् उसके लम्बायमान कटाक्षोंको देखकर मालूम होता है कि उसके शरीरमें पूर्ण यौवनका प्रारम्भ हो गया है तथा कामदेव जो अपने बाणोंकी प्रशंसा किया करता है सो उसके कटाक्षोंके भरोसे ही किया करता है ॥१४३॥ उसका मुखरूपी चन्द्रमा सदा दाँतोंकी उज्ज्वल किरणोंसे शोभाय-

१. फलिनी प्रियङ्गुः । २. मकरिकापत्राणि । ३. चिन्तयति स्म । ४. ईषत् । ५. मरणवस्थाम् ।
 'सुविदूषायतोच्छ्रवामा उवरदाहाशनारुचीः । सम्मूर्च्छोन्मादमोहास्ताः कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना ॥' । ६. दुर्मन
 इवाचरिता । ७. अगच्छन् । ८. पुनरुज्जीवनम् । ९. स्वया निर्वृताः । १०. लम्बचैतन्यः । ११. पटे
 १२. पूर्वभववेष्टितम् । पुरहितम् म०, ट० । १३. स्त्रीमृष्टेः । १४. कन्यका । १५. उज्ज्वलवस्त्राम् । उज्ज्वल-
 कान्ति च । १६. जीवरेखाम् । १७. स्मरः ।

तस्याश्रयत्रिन्यासे लाक्षारवतां पदावलीम् । अमरः लक्ष्म्यन्याश्रु रक्ताम्बुजविशङ्कया ॥१४५॥
 कामविद्यामिवाद्भु^१ अमर्यः कलनिस्वनाः । तस्याः कर्णोत्पले लरना^२ नापयाम्यपि ताडिताः ॥१४६॥
 देवस्य वज्रवन्तस्य प्रियपुत्र्या तयावरात् । कलाकौशलमात्मीयमिहालेख्ये प्रवर्णितम् ॥१४७॥
 लक्ष्मीरिवाथिनां प्रार्थ्या सैषा कन्या घनस्तनी । भृग्या मृगयते त्वार्थं^३ नान्यस्त्वमित्र पुण्यवान् ॥१४८॥
 ललिताङ्गं प्रवीति त्वां प्रिया^४ दिव्येव तन्मृषा । येनेहापि भवान् सीम्यो लक्ष्यते ललिताङ्गकः^५ ॥१४९॥
 इत्युक्तस्तु मया साधु पण्डिते साधु जल्पितम् । विधेर्विलसितं^६ चित्रम^७ इष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥१५०॥
 पश्य जन्मान्तराजन्तूनामीयैवमनन्तरं । मये संघटयत्वा^८ विधिर्यातोऽनुलोमताम्^९ ॥१५१॥
 द्वीपान्तराद् दिक्षामस्ता^{१०} अन्तरीपावपीभिधेः । विधिर्येदयतीष्टार्थमानीशाम्पीपती^{११} गतः ॥१५२॥
 इतीरयन्^{१२} वचो भूयः प्रस्विद्यत्करपल्लवः । तदस्मत्पट्टकं पाजौ कृतवान् स कुतूहली ॥१५३॥
 स्वपट्टकमिदं चाम्यत् मम हस्ते^{१३} समर्पयत् । यत्र त्वचित्रसंवादि^{१४} सर्वमालक्ष्यते स्फुटम् ॥१५४॥
 सूत्रक्रमः स्फुटोऽप्राप्ति व्यक्तो वर्णक्रमोऽप्ययम् । क्रमो^{१५} भवानुबन्धस्य^{१६} प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥१५५॥

मान रहता है । इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मीके हाथमें स्थित क्रीडाकमलको ही जीतना चाहता हो ॥१४४॥ चलते समय, उसके लाक्षा रससे रँगो हुए चरणोंको लालकमल समझकर अमर शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥१४५॥ उसके कर्णफूलपर बैठी तथा मनोहर शब्द करती हुई अमरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो उसे कामशास्त्रका उपदेश ही दे रही हों और इसी-लिए वे ताड़ना करनेपर भी नहीं हटती हों ॥१४६॥ राजा वज्रवन्तकी प्रियपुत्री उस श्रीमतीने ही इस चित्रमें अपना कलाकौशल दिखालाया है ॥१४७॥ जो लक्ष्मीकी तरह अनेक अर्थीजनो-के द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् जिसे अनेक अर्थीजन चाहते हैं । जो यौवनवती होनेके कारण स्थूल और कठोर स्तनोंसे सहित है तथा जो अच्छे-अच्छे मनुष्यों-द्वारा खोज करनेके योग्य है अर्थात् दुर्लभ है, ऐसी वह श्रीमती आज आपकी खोज कर रही है । आपकी खोजके लिए ही उसने मुझे यहाँ भेजा है । इसलिए समझना चाहिए कि आपके समान और कोई पुण्यवान् नहीं है ॥१४८॥ वह प्यारी श्रीमती आपका स्वर्गका (पूर्वभवका) नाम ललिताङ्ग बतलाती है । परन्तु वह सूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य-भवमें भी सौम्य तथा सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे साक्षात् ललिताङ्ग दिखायी पड़ते हैं ॥१४९॥ इस प्रकार मेरे कहनेपर वह राज-कुमार कहने लगा कि ठीक पण्डिते, ठीक, तुमने बहुत अच्छा कहा । अभिलषित पदार्थोंकी सिद्धिमें कर्मोंका उद्योग भी बड़ा विचित्र होता है ॥१५०॥ देखो, अनुकूलताको प्राप्त हुआ कर्मों-का उद्योग जोवोंको जन्मान्तरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी शीघ्र मिला देता है ॥१५१॥ अनुकूलताको प्राप्त हुआ देव अभीष्ट पदार्थको किसी दूसरे द्वीपसे, दिशाओंके अन्तसे, किसी अन्तरीप (टापू) से अथवा समुद्रसे भी लाकर उसका संयोग करा देता है ॥१५२॥ इस प्रकार जो अनेक वचन कह रहा था, जिसके हाथसे पसीना निकल रहा था तथा जिसे कौतूहल उत्पन्न हो रहा था, ऐसे उस राजकुमार वज्रजंघने हमारा चित्रपट अपने हाथमें ले लिया और यह अपना चित्र हमारे हाथमें सौंप दिया । देख, इस चित्रमें तेरे चित्रसे मिलते-जुलते सभी विषय स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥१५३-१५४॥ जिस प्रकार प्रत्याहारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में

१. उपदेशं कर्तुम् । २. नापसरान्त । ३. मृगयितुं योग्या । ४. स्वर्गं ।
 ५. कारणेन । ६. मनोजावयवः । ७. चेष्टितम् । ८. अदृष्टपदार्थः ।—ममीष्टार्थ—अ०, प०, स०, ल० ।
 ९. संघट्टयत्माशु अ०, प०, स०, द० । १०. अनुकूलताम् । ११. वारिमध्यद्वीपात् । १२. अनुकूलताम् ।
 १३. ब्रुवन् । १४. समर्पयत् अ०, प०, स०, द० । १५. सद्गुणम् । १६. भाषानु—अ०, प०, स०, द०, ल० ।
 १७. अञ्जालित्यादि ।

इदमर्पयतामूनमशुशयो मनोगतः । त्वन्मनोरथसंसिद्धौ सत्यकारोऽर्वितोऽमुना ॥१५६॥
 ततः करं प्रसारयत् पुनर्दर्शनमस्तु ते । वन नजाम इत्युद्वीः निरगात् स जिनालयात् ॥१५७॥
 गृहीत्वाहं च तद्वातामिहागामिति पण्डिता । प्रसारितवती तस्याः पुरस्ताच्चित्रपटुकम् ॥१५८॥
 लोभ्यते चिरं वातप्रस्थपां सोऽस्मात्प्रसृजः । चिरोदप्रौढसंतापा चातकीव घनावनम् ॥१५९॥
 यथा शरज्जदीतीरपुलिनं हंसकामिनी । मध्यावली यथाध्यात्मवाक्त्रं प्राप्य प्रभोवते ॥१६०॥
 यथा कुसुमितं चूतकाननं कलकण्डिका । द्वीपं मन्दोद्वरं प्राप्य यथा वा पृतनामरी ॥१६१॥
 तथेदं पटुकं प्राप्य श्रीमत्यासीदनाकुला । मनोऽपेक्षार्थसंपत्तिः कस्य वा नोत्कतां हरेत् ॥१६२॥
 ततः कृतार्थतां तस्या समर्थयितुकामया । प्रोक्षे पण्डितया वाचं श्रीमत्यवसरोचितम् ॥१६३॥
 दिष्ट्या कस्यापि कल्याणान्यचिराद् स्वमवाप्नुहि । प्रतीहि प्राणनाथेन प्रत्यासक्तं समागमम् ॥१६४॥
 नागमस्त्वमनाह्वासं स^१ ओषं^२ गतवानिति । मया सुनिपुणं तस्य भावस्त्वय्युपलक्षितः ॥१६५॥
 चिरं विलम्बितो द्वारि बोधते मां मुहुर्मुहुः । वज्रजपि सुगो^३ मार्गे स्तलत्येव पदे पदे ॥१६६॥

सूत्र, वर्ण और धातुओंके अनुबन्धका क्रम स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इस चित्रमें भी रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावोंका क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखाई दे रहा है अर्थात् जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रेखा खींची गयी है; जहाँ जो रंग चाहिए वहाँ वही रंग भरा गया है और जहाँ जैसा भाव दिखाना चाहिए वहाँ वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥१५५॥ राजकुमारने मुझे यह चित्र क्या सौंपा है मानो अपने मनका अनुराग ही सौंपा है अथवा तेरे मनोरथको सिद्ध करनेके लिए सत्यकार (बयाना) हो दिया है ॥१५६॥ अपना चित्र मुझे सौंप देनेके बाद राजकुमारने हाथ फैलाकर कहा कि हे आर्ये, तेरा दर्शन फिर भी कभी हो, इस समय जाओ, हम भी जाते हैं । इस प्रकार कहकर वह जिनालयसे निकलकर बाहर चला गया ॥१५७॥ और मैं उस समाचारको ग्रहण कर यहाँ आयी हूँ । ऐसा कहकर पण्डिताने वज्रजंघका दिया हुआ चित्रपट फैलाकर श्रीमतीके सामने रख दिया ॥१५८॥

उस चित्रपटको उसने बड़ी देर तक गौरसे देखा, देखकर उसे अपने मनोरथ पूर्ण होनेका विश्वास हो गया और उसने सुखकी साँस ली । जिस प्रकार चिरकालसे संतप्त हुई चातकी मेघका आगमन देखकर हर्षित होती है, जिस प्रकार हंसी शरद् ऋतुमें किनारेकी निकली हुई जमीन देखकर प्रसन्न होती है, जिस प्रकार भय्य जीवोंकी पंक्ति अध्यात्मशास्त्रको देखकर प्रमुदित होती है, जिस प्रकार कोयल फूले हुए आमोंका वन देखकर आनन्दित होती है और जिस प्रकार देवोंकी सेना मन्दोद्वर द्वीपको पाकर प्रसन्न होती है; वसी प्रकार श्रीमती उस चित्रपटको पाकर प्रसन्न हुई थी । उसकी सब आकुलता दूर हो गयी थी । सो ठीक ही है अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति किसकी उत्कण्ठा दूर नहीं करती ? ॥१५९-१६२॥ तत्पश्चात् श्रीमती इच्छानुसार वर प्राप्त होनेसे कृतार्थ हो जायेगी इस बातका समर्थन करनेके लिए पण्डिता श्रीमतीसे उस अवसरके योग्य वचन कहने लगी ॥१६३॥ कि हे कल्याणि, वैद्ययोगसे अब तू शीघ्र ही अनेक कल्याण प्राप्त कर । तू विश्वास रख कि अब तेरा प्राणनाथके साथ समागम शीघ्र ही होगा ॥१६४॥ वह राजकुमार वहाँसे चुपचाप चला गया इसलिए अविश्वास मत कर, क्योंकि उस समय भी उसका चित्त तुझमें ही लगा हुआ था । इस बातका मैंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है ॥१६५॥ वह जाते समय दरवाजेपर बहुत देर तक विलम्ब करता रहा, बार-बार मुझे देखता था

१. सत्यावनम् । २. प्रसारयति स्म । ३. प्रवृद्धः । ४. उन्मत्तस्कतां चित्तव्याकुलताम् ।
 ५. प्रोध्यते स्म । ६. श्रेयसि । ७. विषयासं कुरु । ८. संयोगम् । ९. अधिष्ठासम् । १०. वज्रजङ्घः ।
 ११. तूष्णीम् । १२. सुखेन गम्यतेऽस्मिन्निति सुगस्तस्मिन् ।

स्मरते जृम्भते किञ्चिन् स्मरत्यारात् विलोकते । इवसिखुण्णं च दीर्घं च पटुरस्मिन् स्मरत्वरः ॥१६०॥
 तमेव बहुमन्यते पितरौ^१ ते मरोत्तमम् । नृपेन्द्रो^२ मागिनेयत्वाद् आश्रीयत्वाच्च^३ देख्यसौ^४ ॥१६८॥
 लक्ष्मीवान् कुलजो वृक्षः स्वरूपोऽभिमतः सताम् । इत्यनेको गुणप्राप्तः तस्मिन्नस्ति चरोचितः ॥१६९॥
 सपत्नी श्रीसरस्वत्योर्भूत्वा त्वं तदुरोगृहे । चिरं निवस कल्याणि कल्याणशतभागिनी ॥१७०॥
 'सामान्येनापमानं ते लक्ष्मीनैव सरस्वती । यतोऽपूर्वैव लक्ष्मीस्तन्मन्यैव च सरस्वती ॥१७१॥
 मिदेलिमदले^५ शश्वत्संकोचिनि रजोद्विषि । सा श्रीरश्मि^६ रिवोद्भूता कुशेशयकुटीरके^७ ॥१७२॥
 सरस्वती च सोच्छिष्टे^८ चलजिह्वाप्रपल्लवे । 'लब्धजन्मा तयोः कस्य^९ तवैवाभिजनः^{१०} शुचिः ॥१७३॥
 लताङ्गि ललिताङ्गस्य विविक्ते^{११} तस्य मानसे । रमस्व राजहंसीच^{१२} लताङ्गमितवत्सरान् ॥१७४॥
 ध्रुवयोरुचितं योगं कृत्वा यातु कृतार्थताम् । विधाता जननिर्वादात्^{१३} मुच्येत कथमन्यथा ॥१७५॥
 समाधिसिद्धिं लब्ध्वाहे भिषमैर्यदि ते परः^{१४} लब्ध्वाऽसमाधिर्यथा पुनरुदेत्तौतुकम्^{१५} ॥१७६॥

और मुख्यपूर्वक गमन करने योग्य उत्तम मार्गमें चलता हुआ भी पद-पदपर रखलित हो जाता था । वह हँसता था, जँभाई लेता था, कुछ स्मरण करता था, दूर तक देखता था और उष्ण तथा लम्बी साँस छोड़ता था । इन सब चिह्नोंसे जान पड़ता था कि उसमें कामध्वर बढ़ रहा है ॥१६६-१६७॥ वह वज्रजंघ राजा वज्रदन्तका भानजा है और लक्ष्मीमती देवीके भाईका पुत्र (भतीजा) है । इसलिए तेरे माता-पिता भी उसे श्रेष्ठ घर समझते हैं ॥१६८॥ इसके सिवाय वह लक्ष्मीमान् है, उष्णकुलमें उत्पन्न हुआ है, चतुर है, सुन्दर है और सज्जनोंका मान्य है । इस प्रकार उसमें घरके योग्य अनेक गुण विद्यमान हैं ॥१६९॥ हे कल्याणि, तू लक्ष्मी और सरस्वतीकी सपत्नी (सौत) होकर सैकड़ों सुखोंका अनुभव करती हुई चिरकाल तक उसके हृदयरूपी घरमें निवास कर ॥१७०॥ यदि सामान्य (गुणोंकी बराबरी) की अपेक्षा विचार किया जाये तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही तेरी उपमाको नहीं पा सकती, क्योंकि तू अनोखी लक्ष्मी है और अनोखी ही सरस्वती है । जिसके पत्ते फटे हुए हैं, जो सदा संकुचित (संकीर्ण) होता रहता है और जो परागरूपी धूलिसे सहित है ऐसे कमलरूपी झोंपड़ोंमें जिस लक्ष्मीका जन्म हुआ है उसे लक्ष्मी नहीं कह सकते वह तो अलक्ष्मी है—दरिद्रा है । भली, तुम्हें उसकी उपमा कैसे दी जा सकती है ? इसी प्रकार उच्छिष्ट तथा चलजिह्वाके अपभाररूपी पल्लव-पर जिसका जन्म हुआ है वह सरस्वती भी नीच कुलमें उत्पन्न होनेके कारण तेरी उपमाको प्राप्त नहीं हो सकती । क्योंकि तेरा कुल अतिशय शुद्ध है—उत्तम कुलमें ही तू उत्पन्न हुई है ॥१७१-१७३॥ हे लताङ्गि (लताके समान कृश अंगोंको धारण करनेवाली) जिस प्रकार पवित्र मानस-सरोवरमें राजहंसी क्रीड़ा किया करती है उसी प्रकार तू भी ललिताङ्ग (वज्रजंघ) के पवित्र और एकान्त मनमें अनेक वर्षों तक क्रीड़ा कर ॥१७४॥ विधाता तुम दोनोंका योग्य समागम-कर कृतकृत्यपनेको प्राप्त हो; क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता अर्थात् तुम दोनोंका समागम नहीं करता तो लोकनिन्द्यासे कैसे छूटता ? ॥१७५॥ इसलिए हे भद्रे, धैर्य धर, तेरा पति शीघ्र ही आयेगा, देख, तेरे पतिके आगमनके लिए सारा नगर कैसा अतिशय कौतुकपूर्ण हो रहा है

१. ईषदसति । २. जननीजनको । ३. चक्री । ४. भ्रातृपुत्रत्वात् । ५. लक्ष्मीमतिः । ६. सामान्यमर्षण । सामान्येन इति पदविभागः । ७. मिश्रकपाटे भिन्नवर्णं च । ८. अश्रीः दरिद्रा । ९. तृणकुटीरे । १०. चलजिह्वाय—अ०, द०, म०, ल० । ११. मुखे जन्म तयोः द० । १२. कुत आगतः । १३. कुलम् । १४. पवित्रे । 'विविक्ती-पूतविजनो' इत्यभिधानात् । १५. संस्थाविशेषः । लतांगमिव म०, ल० । १६. 'कणिका-रमयवा जनितान्तम्लानगन्धगुणतो जनितान्तम् । सज्जने हि विधिरप्रतिमोदस्तस्य युक्तिघटनां प्रतिमोदः ॥' इत्यभिजनापवादात् । १७. उत्साहम् ।

इत्यादितद् गतालायैः अन्यैस्तां सुखमानयत् । पण्डिता सा तु तत्प्राप्तौ नाथाप्यासीन्निराकुला ॥१७७॥
 तावच्च चक्रिणा बन्धुप्रीतिमातन्वता पराम् । गत्वाधपथमानीतो वज्रबाहुर्महीपतिः ॥१७८॥
 स्वसुः पतिं स्वसारं च स्वस्वीयं च विलोकयन् । प्रापच्छक्री परां प्रीतिं प्रेम्णे दृष्टा हि बन्धुता ॥१७९॥
 सुखसंकथया कांचिन् स्थित्वा कालकलां पुनः । प्रापूर्णकोशितां तेऽमी सत्क्रियां तेन लम्बिताः ॥१८०॥
 चक्रवर्तिकृतां प्राप्य वज्रबाहुः स माननाम् १ । पिप्रिये ननु तं प्रीत्यै सत्कारः प्रमुखा कृतः ॥१८१॥
 यदा सुखं च संतोषात् स्थितेभ्येवं सनामिषु । ततश्चक्रधरो वाचमित्यवोचत् स्वसुः पतिम् ॥१८२॥
 यत् किंचिद् रुक्षितं तुभ्यं वस्तुजाले २ समालये । तद् गृहाण यदि प्रीतिमं वि तेऽस्त्यनियन्त्रणा ३ ॥१८३॥
 प्रीतेरयं परां ४ कोटिमधिरोहति मे मनः । त्वं सतृष्कः ५ सदाश्च यस्मिन्माभ्यागतो गृहम् ॥१८४॥
 त्वमिष्टबन्धुरायातां गृहं मेऽद्य सवारकः । ६ संविभागोचितः कोऽन्यः प्रस्तावः स्यान्ममैव ७ ॥१८५॥
 तदत्रावसरे वस्तु तन्न मे यन्न दीयते । प्रणयिन् प्रणयस्यास्य मा कृथा भङ्गमर्थिनः ८ ॥१८६॥
 इत्युक्तः प्रेमनिधनेन ९ चक्रिणा प्रत्युवाच सः । त्वत्प्रसादान्ममास्त्येव सर्वं किं प्रार्थयिष्य मे ॥१८७॥
 १० साम्नानेनापितः स्वेन प्रयुक्तेनेति सादरम् । प्रणयस्य परां भूमिसहसारां ११ तत्स्वया ॥१८८॥

॥१७६॥ इस तरह पण्डिताने वज्रजंघसम्बन्धी अनेक मनोहर बातें कहकर श्रीमतीको सुखी किया, परन्तु वह उसकी प्राप्तिके विषयमें अबतक भी निराकुल नहीं हुई ॥१७७॥

इधर पण्डिताने श्रीमतीसे जबतक सब समाचार कहे तबतक महाराज वज्रदन्त, विशाल भ्रातृप्रेमको विस्तृत करते हुए आधी दूर तक जाकर वज्रबाहु राजाको ले आये ॥१७८॥ राजा वज्रदन्त अपने बहनोई, बहन और भानजेको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि इष्टजनोका दर्शन प्रीतिके लिए ही होता है ॥१७९॥ तदनन्तर कुछ देर तक कुशल-मंगलकी बातें होती रहीं और फिर चक्रवर्तीकी ओरसे सब पाहुनोंका उचित सत्कार किया गया ॥१८०॥ स्वयं चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारको पाकर राजा वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ । सच है, स्वामीके द्वारा किया हुआ सत्कार सेवकोंकी प्रीतिके लिए ही होता है ॥१८१॥ इस प्रकार जब सब बन्धु संतोषपूर्वक सुखसे बैठे हुए थे तब चक्रवर्तीने अपने बहनोई राजा वज्रबाहुसे नीचे लिखे हुए वचन कहे ॥१८२॥ यदि आपकी मुझपर असाधारण प्रीति है तो मेरे घरमें जो कुछ वस्तु आपको अच्छी लगती हो वही ले लीजिए ॥१८३॥ आज आप पुत्र और स्त्रीसहित मेरे घर पधारे हैं इसलिए मेरा मन प्रीतिकी अन्तिम अवधिको प्राप्त हो रहा है ॥१८४॥ आप मेरे इष्ट बन्धु हैं और आज पुत्रसहित मेरे घर आये हुए हैं इसलिए देनेके योग्य इससे बढ़कर और ऐसा कौन-सा अवसर मुझे प्राप्त हो सकता है ? ॥१८५॥ इसलिए इस अवसरपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपके लिए न दे सकूँ । हे प्रणयिन्, मुझ प्रार्थीके इस प्रेमको भंग मन कीजिए ॥१८६॥ इस प्रकार प्रेमके वशीभूत चक्रवर्तीके वचन सुनकर राजा वज्रबाहुने इस प्रकार उत्तर दिया । हे चक्रिन्, आपके प्रसादसे मेरे यहाँ सब कुछ है, आज मैं आपसे किस वस्तुकी प्रार्थना कहूँ ? ॥१८७॥ आज आपने सम्मानपूर्वक जो मेरे साथ स्वयं सामका प्रयोग किया है—भेंट आदि करके स्नेह प्रकट किया है सो मानो आपने मुझे

१. वज्रजङ्घसः । २. श्रीमती । ३. तत्प्राप्त्यै द०, ल० । ४. भगिन्याः । ५. भगिनीपुत्रम् । ६. बन्धुसमूहः । ७. अतिथियोग्याम् । ८. सत्कारविशेषम् । ९. प्रापिताः । १०. मानताम् प०, स०, द०, ल०, ट० । सम्मानम् । ११. —जातं प०, अ०, स०, द०, ल० । १२. अनिर्वन्धा । १३. परमप्रकर्षम् । १४. सपुत्रः । सतृष्कः म०, ल० । सपुत्रः अ०, द०, स० । १५. संविभागः त्यागः सम्भावना वा । १६. मम । १७. स्नेहाधीनेन । १८. प्रियवचनेन । १९. प्रापितः ।

कियन्मात्रमिदं देव स्वापत्तये परिक्षयि । स्वथाक्यङ्कुरणा दृष्टिरुमेधार्पिता मयि ॥१८९॥
 अहमद्य कृती धन्यो जीवितं श्लाघ्यमद्य मे । यद् वीक्षितोऽस्मि देवेन स्नेहनिर्मरया इशा ॥१९०॥
 परोपकृतये^१ विभ्रत्यर्थवत्ता^२ भवद्विधाः । लोके^३ प्रसिद्धसाधुत्वाः शब्दा इव कृतागमाः^४ ॥१९१॥
 तदेव वस्तु^५ वस्तुष्वै सोपयोगं यदधिनार्^६ । अविमर्शधनयास्तु^७ वन्धुताभि^८ विमोक्षता^९ ॥१९२॥
 तदेतत् स्वरसंभोग्यमास्तां^{१०} सांन्यासिकं धनम् । न मे मानग्रहः कोऽपि त्वयि नानादरोऽपि वा ॥१९३॥
 प्रार्थयेऽहं तथाप्येतद् युष्मदाज्ञां प्रपूजयन् । श्रीमती वज्रजङ्घाय देया कन्योत्तमा त्वया ॥१९४॥
 भागिनेयस्त्वमस्यैकमाभिजात्य^{११} च^{१२} तत्कृतम् । योग्यतां चास्य पुण्याति सत्कारोऽयं त्वया कृतः ॥१९५॥
 अथैतत् खलुस्वार्थ^{१३} सर्वथाहंति कन्यकाम् । हसन्त्याश्च^{१४} रुदन्याश्च प्राचूर्णक^{१५} इति श्रुतेः ॥१९६॥
 तत्प्रसीद विभो दातुं भागिनेयाय कन्यकाम् । सफला प्रार्थना मेऽस्तु कुमारः सोऽस्तु तत्पतिः ॥१९७॥

स्नेहकी सबसे ऊँची भूमिपर ही चढ़ा दिया है ॥ १८८ ॥ हे देव, नष्ट हो जानेवाला यह धन कितनीन्सी वस्तु है ? यह आपने सम्पन्न बनानेवाली अपनी दृष्टि मुखपर अर्पित कर दी है मेरे लिए यही बहुत है ॥ १८९ ॥ हे देव, आज आपने मुझे स्नेहसे भरी हुई दृष्टिसे देखा है इसलिए मैं आज कृतकृत्य हुआ हूँ, धन्य हुआ हूँ और मेरा जीवन भी आज सफल हुआ है ॥ १९० ॥ हे देव, जिस प्रकार लोकमें शास्त्रोंकी रचना करनेवाले तथा प्रसिद्ध धातुओंसे बने हुए जीव अजीव आदि शब्द परोपकार करनेके लिए ही अर्थोंको धारण करते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे उत्तम पुरुष भी परोपकार करनेके लिए ही अर्थों (धन-धान्यादि विभूतियों) को धारण करते हैं ॥ १९१ ॥

हे देव, आपको उसी वस्तुसे सन्तोष होता है जो कि याचकोंके उपयोगमें आती है और इससे भी बढ़कर सन्तोष उस वस्तुसे होता है जो कि धन आदिके विभागसे रहित (सम्मिलित रूपसे रहनेवाले) बन्धुओंके उपयोगमें आती है ॥ १९२ ॥ इसलिए, आपके जिस धनको मैं अपनी इच्छानुसार भोग सकता हूँ ऐसा वह धन धरोहररूपसे आपके ही पास रहे, इस समय मुझे आवश्यकता नहीं है । हे देव, आपसे धन नहीं माँगनेमें मुझे कुछ अहंकार नहीं है और न आपके विषयमें कुछ अनादर ही है ॥ १९३ ॥ हे देव, यद्यपि मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है तथापि आपकी आज्ञाको पूज्य मानता हुआ आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी श्रीमती नामकी उत्तम कन्या मेरे पुत्र वज्रजंघके लिए दे दीजिए ॥ १९४ ॥ यह वज्रजंघ प्रथम तो आपका भानजा है, और दूसरे आपका भानजा होनेसे ही इसका उच्चकुल प्रसिद्ध है । तीसरे आज आपने जो इसका सत्कार किया है वह इसको योग्यताको पुष्ट कर रहा है ॥ १९५ ॥ अथवा यह सब कहना व्यर्थ है । वज्रजंघ हर प्रकारसे आपकी कन्या ग्रहण करनेके योग्य है । क्योंकि लोकमें ऐसी कहावत प्रसिद्ध है कि कन्या चाहे हँसती हो चाहे रोती हो, अतिथि उसका अधिकारी होता है ॥ १९६ ॥ इसलिए हे

१. अनाढ्यः आढ्यः कियते यथा सा । 'कृत् करणे' खनट् । २. उरकाराय । ३. धनिकताम् । पक्षे अभिधेयत्वम् । 'अर्थोऽभिधेयरेवस्तुप्रयोजननिवृत्तिपु' इत्यमरः । ४. -प्रसिद्धसाधुत्वात् अ०, ल० । लोकप्रसिद्धसाधुत्वात् स० । ५. सूत्रानुसारेण निष्पन्नाः । कृती ग०ः म० । कृतागताः ट० । ६. युष्माकम् । ७. बन्धुसमूहस्य 'ग्रामजनबन्धुपुत्रसहायात्तल्' इति समूहे तल् । ८. तत्कारणात् । ९. निक्षिप्तम् । १०. कुलजत्वम् । ११. भागिनेयत्वकृतम् । १२. वचनेनालम् । 'निषेधेऽलंखलो क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः । १३. -यचारुदन्याश्च प०, म०, ल० । १४. अस्यागतः । प्राचूर्णिकः ट० । १५. 'कुमारः कौमारः' इति द्वौ पाठौ 'त०, व०' पुस्तकयोः । कौमारः अ०, प०, स०, द०, म०, ल०, ट० । कुमारीहृदयं प्राप्य ।

वस्तुवाहनसर्वस्वं लब्धमेवासकुम्भया । किं तेनालम्ब्यपूर्वं नः कन्यारत्नं प्रदीयताम् ॥१९८॥
 इति विज्ञापितस्तेन चक्रवर्त्तु प्रस्थपद्यत । तथास्तु संगमो यूनोरुत्तुख्योऽन्योरिति ॥१९९॥
 प्रकृत्या सुन्दराकारो वज्रजङ्घोऽस्त्वयं वरः । पतिवरा गुणैर्युक्ता श्रीमती चास्तु ता वधूः ॥२००॥
 जन्मान्तरानुबन्धं च प्रेमास्स्यैकानयोरतः^१ । समागमोऽस्तु चन्द्रस्य ज्योत्स्नायास्तु यथोचितः ॥२०१॥
 प्रागेव चिन्तितं कार्यं मयैदमतिमानुषम्^२ । विधिस्तु प्राक्तरामेव सावधानोऽग्र के वयम् ॥२०२॥
 इति चक्रवर्त्तेणोक्ता वाचं संपूज्य पुण्यधीः । वज्रबाहुः परां कोटिं प्रीतिरध्याहरोह सः ॥२०३॥
 वस्तुः^३ महादेवी पुत्रकल्याणसंपदा । तथा प्रमदपूर्णाङ्गी न स्वाङ्गे नन्वमात्ता^४ ॥२०४॥
 सा तदा सुतकल्याणमहोत्सवसमुद्गतम् । रोमाञ्चमन्वितं^५ भेजे प्रमदाकुरसभिभम् ॥२०५॥
 मन्त्रिमुख्यमहामात्यसेनापतिपुरोहिताः । सामन्ताश्च^६ सपौरास्तकल्याणं बहुमेनिरे ॥२०६॥
 कुमारी वज्रजङ्घोऽवमनसस्तदाकृतिः । श्रीमतीयं रतिं रूपसंपदा निर्जिगीषति ॥२०७॥
 अभिरूपः^७ कुमारोऽयं सुखा कन्यकानयोः । अनुरूपोऽस्तु संबन्धः सुरदम्पतिलीलयोः ॥२०८॥
 इति प्रमदविस्तारमुद्धत तत्पुरं तदा । राजवेश्म च संवृत्तं श्रियमन्यामिवाश्रितम् ॥२०९॥

स्वामिन्, अपने भानजे वज्रजंघको पुत्री देनेके लिए प्रसन्न होइए । मैं आशा करता हूँ कि मेरी प्रार्थना सफल हो और यह कुमार वज्रजंघ ही उसका पति हो ॥१९७॥ हे देव, धन, सचारी आदि वस्तुएँ तो मुझे आपसे अनेक बार मिल चुकी हैं इसलिए उनसे क्या प्रयोजन है ? अबकी बार तो कन्या-रत्न दोजिए जो कि पहले कभी नहीं मिला था ॥१९८॥ इस प्रकार राजा वज्रबाहुने जो प्रार्थना की थी उसे चक्रवर्त्तने यह कहते हुए स्वीकार कर लिया कि आपने जैसा कहा है वैसा ही हो, युवावस्थाको प्राप्त हुए इन दोनोंका यह समागम अनुकूल ही है ॥१९९॥ स्वभावसे ही सुन्दर शरीरको धारण करनेवाला यह वज्रजंघ वर हो और अनेक गुणोंसे युक्त कन्या श्रीमती उसकी वधू हो ॥२००॥ इन दोनोंका प्रेम जन्मान्तरसे चला आ रहा है इसलिए इस जन्ममें भी चन्द्रमा और चाँदनीके समान इन दोनोंका योग्य समागम हो ॥२०१॥ इस लोकोत्तर कार्यका मैंने पहलेसे ही विचार कर लिया था । अथवा इन दोनोंका दैव (कर्मोंका उदय) इस विषयमें पहलेसे ही सावधान हो रहा है । इस विषयमें हम लोग कौन हो सकते हैं ? ॥२०२॥ इस प्रकार चक्रवर्त्तकि द्वारा कहे हुए वचनोंका सत्कार कर वह पवित्र बुद्धिका धारक राजा वज्रबाहु प्रीतिकी परम सीमापर आरुढ़ हुआ-अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥२०३॥ उस समय वज्रजंघकी माता वसुन्धरा महादेवी अपने पुत्रकी विवाहरूप सम्पदासे इतनी अधिक हर्षित हुई कि अपने अंगमें भी नहीं समा रही थी ॥२०४॥ उस समय वसुन्धराके शरीरमें पुत्रके विवाहरूप महोत्सवसे रोमांच उठ आवे थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो हर्षके अंकुर ही हों ॥२०५॥ मंत्री, महामंत्री, सेनापति, पुरोहित, सामन्त तथा नगरवासी आदि सभी लोगोंने उस विवाहकी प्रशंसा की ॥२०६॥ यह कुमार वज्रजंघ कामदेवके समान सुन्दर आकृतिका धारक है और यह श्रीमती अपनी सौन्दर्य-सम्पत्तिसे रतिको जीतना चाहती है ॥२०७॥ यह कुमार सुन्दर है और यह कन्या भी सुन्दरी है इसलिए देव-देवाङ्गनाओंकी लीलाको धारण करनेवाले इन दोनोंका योग्य समागम होना चाहिए ॥२०८॥ इस प्रकार आनन्दके विस्तारको धारण करता हुआ वह नगर बहुत ही शोभायमान हो रहा था और

१.-नयोरिव प० । -नयोरति अ० । २. मानुषमतिक्रान्तः । ३. सभमात्तादा अ०, प०, स०, द० ल० । माति स्म । ४. व्याप्तम् । ५. नायकाः । ६. सपौरास्तु स० । ७. मनोज्ञः । ८. मनोज्ञा । प्राप्त्यरूप-सुरुपाभिरूपा बुभमनोज्ञयोरित्यभिधानात् । ९. सायम् वर्तते स्म ।

विवाहमण्डपारम्भं चक्रवर्तिनिर्देशतः^१ । महास्थपतिराज्ञेन परार्थमणिकाक्रमैः ॥२१०॥
 चामीकरमयाः स्तम्भाः^२ तलकुम्भैर्महोदयैः^३ । रत्नोज्ज्वलैः धियं तेनुर्मुपा इव नृपासवैः ॥२११॥
 स्फटिकयो सिधयस्तस्मिन् जनानां प्रतिबिम्बकैः^४ । चित्रिता इव संरेजुः प्रेक्षिणी चित्ररजिकाः ॥२१२॥
 मणिकुट्टिमभूरस्मिन् नालरत्नैर्विनिर्मिता । पुष्पोपहारैर्व्यवृचद् र्यारिवातततारका ॥२१३॥
 मुक्तादामानि लम्बानि तद्गार्भे व्यद्यतंहराम् । सफेनानि मृणालानि लम्बितानीव कौतुकान् ॥२१४॥
 पद्मरागमयस्तस्मिन् वेदिवन्धोऽभवत्^५ पृथुः । ललानामिव चित्रस्थो रागस्तन्मयतां गतः ॥२१५॥
 सुषोज्ज्वलानि कूटानि पर्यन्तेष्वन्य रेजिरे । सौपात सुरविमानानि हसन्तीनामशोभया ॥२१६॥
 वेदिका^६ कटिसूत्रेण पर्यन्ते स परिष्कृतः । रामणीयकसाम्नेय हृदयिकेन विद्वतः ॥२१७॥
 रत्नैर्विरचितं तस्य वसौ गोपुरमुच्चकैः । प्रोत्सर्पद्भनमाजालरचितेन्द्रशरासनम् ॥२१८॥
 सर्वरत्नमयस्तस्य द्वारचम्भो निवेशितः । लक्ष्म्याः प्रवेशनायेव पर्यन्तार्पितमङ्गलः ॥२१९॥
 स तदाद्याक्षिकीं पूजां चक्रे चक्रधरः पराम् । कल्पवृक्षमहाकृदि महापूतजिनालये ॥२२०॥
 ततः शुभदिने सोम्ये लग्ने शुभमुहूर्तके । चन्द्रताराबलांपते तज्जैः^७ सम्यग्निरूपिते ॥२२१॥

राजमहलका तो कहना ही क्या था ? वह तो मानो दूसरी ही शोभाको प्राप्त हो रहा था, उसकी शोभा ही बढ़ल गयी थी ॥२०९॥ चक्रवर्तीकी आज्ञासे विश्वकर्मा नामक मनुष्यरत्नने महामूल्य रत्नों और सुवर्णसे विवाहमण्डप तैयार किया था ॥२१०॥ उस विवाहमण्डपमें सुवर्णके खम्भे लगे हुए थे और उनके नीचे रत्नोंसे शोभायमान बड़े-बड़े तलकुम्भ लगे हुए थे, उन तलकुम्भोंसे वे सुवर्णके खम्भे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि सिंहासनोंसे राजा सुशोभित होते हैं ॥२११॥ उस मण्डपमें स्फटिककी दीवालोंपर अनेक मनुष्योंके प्रतिबिम्ब पड़ते थे जिनसे वे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थीं और इसीलिए दर्शकोंका मन अनुरक्षित कर रही थीं ॥२१२॥ उस मण्डपकी भूमि नाल रत्नोंसे बनी हुई थी, उसपर जहाँ-तहाँ फूल बिखरे गये थे । उन फूलोंसे वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ताराओंसे व्याप्त नाला आकाश ही हो ॥२१३॥ उस मण्डपके भीतर जो मोतियोंकी मालाएँ लटकती थीं वे ऐसी भली मालूम होती थीं मानो किसीने कौतुकवश फेनसहित मृणाल ही लटका दिये हों ॥२१४॥ उस मण्डपके मध्यमें पद्मराग मणियोंकी एक बड़ी वेदी बनी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो मनुष्योंके हृदयका अनुराग ही वेदीके आकारमें परिणत हो गया हो ॥२१५॥ उस मण्डपके पर्यन्त भागमें चूनासे पुते हुए सफेद शिखर ऐसे शोभायमान होते थे मानो अपनी शोभासे सन्तुष्ट होकर देवोंके विमानोंकी हँसी ही उड़ा रहे हों ॥२१६॥ उस मण्डपके सब ओर एक छोटी-सी वेदिका बनी हुई थी, वह वेदिका उसके कटिसूत्रके समान जान पड़ती थी । उस वेदिकारूप कटिसूत्रसे घिरा हुआ मण्डप ऐसा मालूम होता था मानो सब ओरसे दिशाओंको रोकनेवाली सौन्दर्यकी सीमासे ही घिरा हो ॥२१७॥ अनेक प्रकारके रत्नोंसे बहुत ऊँचा बना हुआ उसका गोपुर-द्वार ऐसा मालूम होता था मानो रत्नोंकी फैलती हुई कान्तिके समूहसे इन्द्रधनुष ही बना रहा हो । ॥२१८॥ उस मण्डपका भीतरी दरवाजा सब प्रकारके रत्नोंसे बनाया गया था और उसके दोनों ओर मङ्गल-द्रव्य रखे गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीके प्रवेशके लिए ही बनाया गया हो ॥२१९॥ उसी समय चक्रदन्त चक्रवर्तिनि महापूत चैत्यालयमें आठ दिन तक कल्पवृक्ष नामक महापूजा की थी ॥२२०॥ तदनन्तर उद्योतिषियोंके द्वारा बताया हुआ शुभ

१. शामनात् । २. विश्वकर्मा । ३. आश्विनीभूतवाणीः । ४. पश्यताम् । ५. तन्मण्डपान्तरे ।
 ६. वेदिकानाम्ना हेमसूत्रवयेण । ७. उद्योतिःशास्त्रज्ञैः ।

कृतोपक्षोभे नगरे समस्ताद्बद्धतोरणे । सुरलोक इवामाति परां दधति संपदम् ॥२२२॥
 राजवेष्माङ्गणे सान्द्रचन्दनच्छटपोक्षिते^१ । पुष्पोपहारैरागुञ्जलिभिः कृतरोचिभिः ॥२२३॥
 सौवर्णकलशैः पूर्णैः पुष्पलोचैः सरसकैः । अभ्यवेष्टि विधानशैर्विधिवत् तद्वधूवरम् ॥२२४॥
 तदा महानकध्वानः शङ्खकोलाहलाकुलः^२ । धनादम्बरमाक्रम्य जङ्गमे नृपमन्दिरं ॥२२५॥
 कल्याणानिवशे तस्मिन् श्रीमतीवज्रजङ्घयोः । स नान्तर्वैश्विकस्तोषनिर्मरं न ननर्त यः ॥२२६॥
 वाराङ्गनाः पुरन्ध्रस्य पौरवर्गश्च तत्क्षणम् । पुष्पैः पुष्पाक्षतैः शेषा^३ साक्षिषं तावत्कम्पयन् ॥२२७॥
 इक्ष्णुपट्टकुलाभि निष्यवाणीनि^४ तौ तदा । श्रीशेदोर्मिमयानीव^५ पर्यधस्तामनन्तरम् ॥२२८॥
 प्रसाधनगृहं^६ रम्ये प्राङ्मुखं सुनिवेशितौ । तावत्कारस्वस्वं भेजतुर्मङ्गलोचितम् ॥२२९॥
 चन्दनेनाशुलिसौ तौ ललाटेन^७ ललाटिकाम् । चन्दनद्रवविन्ध्यस्तां दधतुः कौतुकोचिताम्^८ ॥२३०॥
 वक्षसा हारयष्टिं तौ हरिचन्दनशोभिना । अधस्तां मौक्तिकैः स्थूलैः^९ दृत्ततारावलिभिवम् ॥२३१॥
 पुष्पमाला बभौ मूर्ध्नि तयोः कुञ्चितमूर्द्धजे । सांतापगेव नीलाद्रिशिखरोपान्तवत्तिनी ॥२३२॥
 कर्णिकामरणम्यासं^{१०} कर्णयोर्विशिष्टकम्^{११} ।^{१२} महताभीष्टुनिर्वेशो^{१३} वक्षसावलीं^{१४} पश्यन्निवम् ॥२३३॥

दिन शुभ लग्न और चन्द्रमा तथा ताराओंके धूलसे सहित शुभ मुहूर्त आया । उस दिन नगर विशेषरूपसे सजाया गया । चारों ओर तोरण लगाये गये तथा और भी अनेक विभूति प्रकट की गयी जिससे वह स्वर्गलोकके समान शोभायमान होने लगा । राजभवनके आँगनमें सब ओर सघन चन्दन छिड़का गया तथा गुंजार करते हुए अमरोंसे सुशोभित पुष्प सब ओर बिखेरे गये । इन सब कारणोंसे वह राजभवनका आँगन बहुत ही शोभायमान हो रहा था । उस आँगनमें वधू-वर बैठायें गये तथा विधि-विधानके जाननेवाले लोगोंने पवित्र जलसे भरे हुए रत्नजड़ित सुवर्णमय कलशोंसे उनका अभिषेक किया ॥२२१-२२४॥ उस समय राजमन्दिरमें शङ्खके शब्दसे मिला हुआ बड़े-बड़े तुन्दुभियोंका भारी कोलाहल हो रहा था और वह आकाशको भी उल्लंघन कर सब ओर फैल गया था ॥२२५॥ श्रीमती और वज्रजंघके उस विवाहाभिषेकके समय अन्तःपुरका ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जो हर्षसे सन्तुष्ट होकर नृत्य न कर रहा हो ॥२२६॥ उस समय वाराङ्गनाएँ, कुलधुएँ और समस्त नगर-निवासी जन उन दोनों वर-वधुओंको आशीर्वादके साथ-साथ पवित्र पुष्प और अक्षतोंके द्वारा प्रसाद प्राप्त करा रहे थे ॥२२७॥ अभिषेकके बाद उन दोनों वर-वधूने क्षीरसागरकी लहरोंके समान अत्यन्त उज्ज्वल, महीन और नवीन रेशमी वस्त्र धारण किये ॥२२८॥ तत्पश्चात् दोनों वर-वधू अतिशय मनोहर प्रसाधन-गृहमें जाकर पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठ गये और वहाँ उन्होंने विवाह मंगलके योग्य उत्तम-उत्तम आभूषण धारण किये ॥२२९॥ पहले उन्होंने अपने सारे शरीरमें चन्दनका लेप किया । फिर ललाटपर विवाहोत्सवके योग्य, घिसे हुए चन्दनका तिलक लगाया ॥२३०॥ तदनन्तर सफेद चन्दन अथवा केशरसे शोभायमान वक्षःस्थलपर गोल नक्षत्र-मालाके समान सुशोभित बड़े-बड़े मोतियोंके बने हुए हार धारण किये ॥२३१॥ कुटिल केशोंसे सुशोभित उनके मस्तकपर धारण की हुई पुष्पमाला नीलगिरिके शिखरके समीप बहती हुई सीता नदीके समान शोभायमान हो रही थी ॥२३२॥ उन दोनोंने कानोंमें ऐसे कर्णभूषण

१. प्रोक्षिते । २. आकीर्णः । ३. अन्तःपुरेण्वधिकृतः । ४. बाशीःसहिताम् । ५. प्रापयन्ति स्म ।

६. नवयस्त्राणि । -नि तत्प्रमाणानि स० । ७. परिधानमकार्षाम् । ८. अलंकारगृहे । ९. प्राङ्मुखी स० । १०. तिलकम् । ११. उत्सवोचिताम् । १२. वृत्ततारा-अ०, स०, ल० । १३. कर्णभरणम् । १४. अधस्ताम् । 'निर्वेशो भूतिभोगयोः' इत्यमरः । १५. यदस्ताम्यंशुभि-य० । यदस्ताम्यंशुभि-अ० ।

आजानुलम्बसाधनेन तौ प्रालम्बेन^१ रेजतुः । शरज्ज्यास्नामयेनेव मृणालवक्त्रविचारणा ॥२३४॥
^२कटकाङ्गदकेयूर^३मुद्रिकादिविभूषणेः । बाहु^४व्यरुचतां कक्षतरुशाखाख्यौ तयोः ॥२३५॥
^५जघने रसनाषष्ठं^६ किङ्किणीकृतनिःस्वनम् । तावनङ्गद्विपस्थेव जयद्विपिडममृदुतुः ॥२३६॥
 मणिनूपुरझङ्कारैः कमौ शिश्रियतुः ध्रियम् । श्रीमत्याः पद्मयोर्भृङ्गकलनिःस्वणशोभिनीः ॥२३७॥
 महालङ्कृतिमाचार इत्येष^७ विभ्रतः स्म तौ । अन्यथा सुन्दराकारशोभैवालङ्कृतिस्तयोः ॥२३८॥
 लक्ष्मीमतिः स्वयं लक्ष्मीरिव पुत्रीमभूषयत् । पुत्रं च भूषयामास वसुधेव वसुधरा ॥२३९॥
 प्रसाधनविधेरन्ते यथास्वं तौ निवेशितौ । रत्नवेदीतटे पूर्व कृतमङ्गलसंक्रिये ॥२४०॥
 मणिप्रदीपखचिरा मङ्गलैरुपशोभिता । बभौ वेदी तदाकान्ता^८ सामरेवाद्रिराट्पटौ ॥२४१॥
 ततो मधुरगम्भीरमानकाः^९ कोणताडिताः । दध्वनुध्वनदम्बोधि^{१०} गमोरध्वनयस्तदा ॥२४२॥
 मङ्गलौद्गानभातेनुर्धारवध्वः कलं तदा ।^{११}उत्साहान् पेटुरभितौ चन्दिनः^{१२} सह^{१३} मागधाः ॥२४३॥
 बद्धमानलवैर्भुक्तमारुते ललितं तदा । वाराङ्गनामिकद्भुमी रणभूपुरमेखलम् ॥२४४॥

धारण किये थे कि जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे उनका मुख-कमल उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥२३३॥ वे दोनों शरद्वृक्षतुकी चाँदनी अथवा मृणाल तन्तुके समान सुशोभित सफेद, घुटनों तक लटकती हुई पुष्पमालाओंसे अतिशय शोभायमान हो रहे थे ॥२३४॥ कड़े, बाजूबंद, केयर और अँगूठी आदि आभूषण धारण करनेसे उन दोनोंकी भुजाएँ भूषणाग जातिके कल्प-वृक्षकी शाखाओंकी तरह अतिशय सुशोभित हो रही थीं ॥२३५॥ उन दोनोंने अपने-अपने नितम्ब भागपर करधनी पहनी थी । उसमें लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ (बोरा) मधुर शब्द कर रही थीं । उन करधानियोंसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उन्होंने कामदेवरूपी हस्तीके विजय-सूचक बाजे ही धारण किये हों ॥२३६॥ श्रीमतीके दोनों चरण मणिमय नूपुरोंकी शंकारसे ऐसे मालूम होते थे मानो भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे शोभायमान कमल ही हों ॥२३७॥ विवाहके समय आभूषण धारण करना चाहिए, केवल इसी पद्धतिको पूर्ण करनेके लिए उन्होंने बड़े-बड़े आभूषण धारण किये थे नहीं तो उनके सुन्दर शरीरकी शोभा ही उनका आभूषण थी ॥२३८॥ साक्षात् लक्ष्मीके समान लक्ष्मीमतिने स्वयं अपनी पुत्री श्रीमतीको अलङ्कृत किया था और साक्षात् वसुधरा (पृथिवी)के समान वसुधराने अपने पुत्र वज्रजंघको आभूषण पहनाये थे ॥२३९॥ इस प्रकार अलंकार धारण करनेके बाद वे दोनों जिसकी मंगलक्रिया पहले ही की जा चुकी है ऐसी रत्न-वेदीपर यथायोग्य रीतिसे बैठाये गये ॥२४०॥ मणिमय दीपकोंके प्रकाशसे जगमगाती हुई और मङ्गल-द्रव्योंसे सुशोभित यह वेदी उन दोनोंके बैठ जानेसे ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो देव-देवियोंसे सहित मेरु पर्वतका तट ही हो ॥२४१॥ उस समय समुद्रके समान गम्भीर शब्द करते हुए, डंडोंसे बजाये गये नगाड़े बड़ा ही मधुर शब्द कर रहे थे ॥२४२॥ वाराङ्गनाएँ मधुर मंगल गीत गा रही थीं और बन्दीजन मागध जनोंके साथ मिलकर चारों ओर उत्साहवर्धक मङ्गल पाठ पढ़ रहे थे ॥ २४३ ॥ जिनकी भौंहें कुछ-कुछ ऊपरकी लठी हुई हैं ऐसी वाराङ्गनाएँ लय-तान आदिसे सुशोभित तथा रत्न-मृग शब्द

१. हारविशेषण । 'प्रालम्बमजुलम्बि' स्यात् इत्यमरः । २. भुजाभरणम् । ३. भुजशिखराभरणम् । ४. जघनं अ०, प०, स०, द०, ल० । ५. काञ्चीदामवलयम् । ६. सुदृषष्टिका । ७. इत्येष अ०, प०, स०, द० । ८. आचाराभावे । ९. तदध्वराकान्ता । १०. कोणः वाद्यताडनोपकरणम् । 'कोणः कोणादिवादनम्' इत्यभिधानात् । ११. -गम्भीर-अ०, प०, स०, द०, ल० । १२. मङ्गलाष्टकान् । १३. स्तुतिपाठकाः । १४. वंशकीर्त्यादिस्तुत्युपजीविनः । सहमागधौ अ०, प०, स०, द०, ल० ।

ततो वधूवरं सिद्ध^१ स्नानाम्भःपूतमस्तकम् । निवेशितं महाभाति^२ सखामाकरपट्टकं ॥२४५॥
 स्वयं स्म करकं भक्ते चक्रवर्ती महाकरः । हिरण्यं महारत्नम्वितं भौतिकोज्ज्वलम् ॥२४६॥
 अशोकपल्लवैर्वक्त्रनिहितैः करको^३ बभौ । करपल्लवसङ्घायामनुकुर्वन्निवानयोः^४ ॥२४७॥
 ततो न्यपाति^५ करकाधारा तत्करपल्लवे^६ । दूरमावर्जिता^७ दीर्घं भवन्ती जीवतामिति ॥२४८॥
 ततः पाणी महाबाहुर्वज्रजङ्घोऽग्रही^८ मुदा । श्रीमती तन्मृदुस्पर्शसुखामीलितलोचनः ॥२४९॥
 'श्रीमती तत्करस्पर्शाद् धर्मविम्बूनधारयत् । चन्द्रकान्तशिलापुत्री^९ चन्द्रांशुस्पर्शनादिव ॥२५०॥
 वज्रजङ्घकरस्पर्शात्^{१०} तमुतोऽस्याश्विरं घृतः । संतापः कापि याति स्म भूमेरिव वनागमे ॥२५१॥
 वज्रजङ्घसमासंगात् श्रीमती स्पृष्टतत्तराम् । कल्पवल्लीव संश्लिष्टगुणकल्पमहीरुदा ॥२५२॥
 सोऽपि पर्यस्तवर्तिना^{११} जंघां जङ्घनीं पञ्चजंघात्^{१२} । कोशुष्टे^{१३} परयां कोष्ठां रत्येव कुसुमायुधः ॥२५३॥
 गुरुसाक्षि तयोस्तिथं विवाहः परमोदयः । निरवर्तत^{१४} लोकस्य परमानन्दमादधत् ॥२५४॥
 ततः पाणिगृहीती^{१५} तां ते जना बहुमेनिरे । श्रीमती सत्यमेवेयं श्रीमतीमुद्दिगस्तदा ॥२५५॥
 तां दम्पती सदाकारी सुरदम्पतिविभ्रमी । जनानां पश्यतां चित्तं निर्व^{१६} वारामृतायिती ॥२५६॥

करते हुए नूपुर और मेखलाओंसे मनोहर नृत्य कर रही थीं ॥२४४॥ तदनन्तर जिनके मस्तक सिद्ध प्रतिमाके जलसे पवित्र किये गये हैं ऐसे वधू-वर अतिशय शोभायमान सुवर्णके पाटेपर बैठायें गये ॥२४५॥ घुटनों तक लम्बी मुजाओंके धारक चक्रवर्तीने स्वयं अपने हाथमें भृंगार धारण किया । वह भृंगार सुवर्णसे बना हुआ था, बड़े-बड़े रत्नोंसे सजित था तथा मोतियोंसे अतिशय उज्ज्वल था ॥२४६॥ मुखपर रखे हुए अशोक वृक्षके पल्लवोंसे वह भृंगार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो इन दोनों वर-वधुओंके हस्तपल्लवकी उत्तम कान्तिका अनुकरण ही कर रहा हो ॥२४७॥ तदनन्तर आप दोनों दीर्घकाल तक जोधित रहें, मानो यह सूचित करनेके लिए ही ऊँचे भृंगारसे छोड़ी गयी जलधारा वज्रजंघके हस्तपर पड़ी ॥२४८॥

तत्पश्चात् बड़ी-बड़ी मुजाओंको धारण करनेवाले वज्रजंघने हर्षके साथ श्रीमतीका पाणिग्रहण किया । उस समय उसके कोमल स्पर्शके सुखसे वज्रजंघके दोनों नेत्र बन्द हो गये थे ॥२४९॥ वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीके शरीरमें भी पसीना आ गया था जैसे कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणिको बनी हुई पुतलीमें जलबिन्दु उत्पन्न हो जाते हैं ॥२५०॥ जिस प्रकार मेघोंकी वृष्टिसे पृथ्वीका सन्ताप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीके शरीरका चिरकालीन सन्ताप भी नष्ट हो गया था ॥२५१॥ उस समय वज्रजंघके समागमसे श्रीमती किसी बड़े कल्पवृक्षसे छिपटी हुई कल्प-लताकी तरह सुशोभित हो रही थी ॥२५२॥ वह श्रीमती स्त्री-संसारमें सचसे श्रेष्ठ थी, समीपमें बैठी हुई उस श्रीमतीसे वह वज्रजंघ भी ऐसा सुशोभित होता था जैसे रतिसे कामदेव सुशोभित होता है ॥२५३॥ इस प्रकार लोगोंको परमानन्द देनेवाला उन दोनोंका विवाह गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक बड़े वैभवके साथ समाप्त हुआ ॥२५४॥ उस समय सब लोग उस विवाहिता श्रीमतीका बड़ा आदर करते थे और कहते थे कि यह श्रीमती सचमुचमें श्रीमती है अर्थात् लक्ष्मीमती है ॥२५५॥ उत्तम आकृतिके धारक, देव-देवाङ्ग-

१. सिद्धप्रतिमाभिषेकजलम् । २. सौवर्णे वधूवरासने । ३. भृङ्गारः । ४. दम्पत्योः । ५. पतितम् । ६. वज्रजङ्घहस्ते । ७. विसृष्टा । ८. अयं पल्लोकः 'धर्मविम्बून' इत्यस्य स्थाने 'स्वेदविम्बून' इति परिवर्त्य द्वितीयस्तवके चन्द्रप्रभववर्ति स्वकीयपण्याङ्गतां नीतः । ९. पुत्रिका । १०. शरीरे । ११. वर्तितम् । १२. पाणिगृहीतां ५०, अ०, स०, म०, द०, ल० । १३. अनुषत् । 'वृत्' वरणे' लिट् । निर्वृत्ति संतोष भवत् इत्यर्थः ।

तत्कल्याणं तमाशोक्य देवलोकैऽपि दुर्लभम् । प्रशंससुमुदं प्राप्ताः परमां प्रेक्षका जनाः ॥२५०॥
 चक्रवर्ती महाभागः^१ स्त्रीरत्नमिदमुज्जितम् । योग्ये नियोजयामास जनश्लाघारूपं पर्वं^२ ॥२५१॥
 जननी पुण्यवत्यस्या मूर्ध्नि^३ सुप्रजसामसौ । सत्प्रसूतिरियं सूता यया कश्चिदसममृतिः ॥२५२॥
 कुमारेण तपस्तप्तं किमेतेनाभ्यजस्मनि । येनासादि^४ जगत्सारं स्त्रीरत्नममितश्रुति ॥२५३॥
 धन्येयं कन्यका भाग्या नान्या पुण्यवतीदरी । कल्याणमागिनी यैषा वज्रजङ्घं पतिं^५ वृत्ता ॥२५४॥
 उपोषितं किमेताभ्यां किं वा तप्तं तपो महत् । किं नु दत्तं किमिष्टं^६ वा कीदृग् वाचरितं व्रतम् ॥२५५॥
 अहो धर्मस्य माहात्म्यमहो सत्साधनं तपः । अहो दत्तिर्महोदकी दयावल्ली फलवद्वा ॥२५६॥
 नूनमाभ्यां कृता पूजा महतामर्हतां पराम् [रा] । पूज्यपूजानुसंधत्ते ननु संपरम्पराम् ॥२५७॥
 यतः^७ कल्याणमागित्वं धनं विविपुलं सुखम् । वाञ्छज्जिरर्हतां मार्गं मतिः कार्या महाफले ॥२५८॥
 एतद्विजयसंजलौः लक्ष्मीर्वा दम्पती तदा । सुलक्ष्मीं प्रसज्यायां^८ बन्धुभिः परिवारितौ ॥२५९॥
 दीर्घैर्दम्प्यं समुत्सृष्टं कार्पण्यं^९ कृपणजंहे^{१०} । अनाथैश्च समाधत्तं भेजे तस्मिन् महोत्सवे ॥२६०॥
 बन्धवो मानिताः^{११} सर्वे^{१२} दानमानामिजस्वनैः । भृत्याश्च तर्पिता मन्त्रा चक्रिणास्मिन् महोत्सवे ॥२६१॥

नार्थोंके समान क्रीड़ा करनेवाले तथा अमृतके समान आनन्द देनेवाले उन यधू और वरको जो भी देखता था उसीका चित्त आनन्दसे सन्तुष्ट हो जाता था ॥ २५६ ॥ जो स्वर्गलोकमें दुर्लभ है ऐसे उस विवाहोत्सवको देखकर देखनेवाले पुरुष परम आनन्दको प्राप्त हुए थे और सभी लोग उसकी प्रशंसा करते थे ॥ २५७ ॥ वे कहते थे कि चक्रवर्ती बड़ा भाग्यशाली है जिसके यह ऐसा उत्तम स्त्री-रत्न उत्पन्न हुआ है और वह उसने सब लोगोंकी प्रशंसाके स्थान-भूत वज्रजंघरूप योग्य स्थानमें नियुक्त किया है ॥ २५८ ॥ इसकी यह पुण्यवती माता पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है जिसने लक्ष्मीके समान कान्तिवाली यह उत्तम सन्तान उत्पन्न की है ॥ २५९ ॥ इस वज्रजंघकुमारने पूर्व जन्ममें कौन-सा तप तपा था जिससे कि संसारका सारभूत और अतिशय कान्तिका धारक यह स्त्री-रत्न इसे प्राप्त हुआ है ॥ २६० ॥ चूँकि इस कन्याने वज्रजंघ-को पति बनाया है इसलिए यह कन्या धन्य है, मान्य है और भाग्यशालिनी है । इसके समान और दूसरी कन्या पुण्यवती नहीं हो सकती ॥ २६१ ॥ पूर्व जन्ममें इन दोनोंने न जाने कौन-सा उपवास किया था, कौन-सा भारी तप तपा था, कौन-सा दान दिया था, कौन-सी पूजा की थी अथवा कौन-सा व्रत पालन किया था ॥ २६२ ॥ अहो, धर्मका बड़ा माहात्म्य है, तपश्चरणसे उत्तम सामग्री प्राप्त होती है, दान देनेसे बड़े-बड़े फल प्राप्त होते हैं और दयारूपी बेलपर उत्तम-उत्तम फल फलते हैं ॥ २६३ ॥ अवश्य ही इन दोनोंने पूर्वजन्ममें महापूज्य अर्हन्त देवकी उत्कृष्ट पूजा की होगी क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजा अवश्य ही सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त कराती रहती है ॥ २६४ ॥ इसलिए जो पुरुष अनेक कल्याण, धन-श्रद्धा तथा विपुल सुख चाहते हैं उन्हें स्वर्ग आदि महाफल देनेवाले श्री अरहन्त देवके कहे हुए मार्गमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए ॥ २६५ ॥ इस प्रकार दर्शक लोगोंके वार्तालापसे प्रशंसनीय वे दोनों वर-वधू अपने इष्ट बन्धुओंसे परिवारित हो सभा-मण्डपमें सुखसे बैठे थे ॥ २६६ ॥ उस विवाहोत्सवमें दरिद्र लोगोंने अपनी दरिद्रता छोड़ दी थी, कृपण लोगोंने अपनी कृपणता छोड़ दी थी और अनाथ लोग सनाथताको प्राप्त हो गये थे ॥ २६७ ॥ चक्रवर्तीने इस महोत्सवमें दान, मान, सम्भाषण आदिके द्वारा अपने

१. महापुण्यवान् । २. स्थाने । ३. शोभनपुत्रवतीनाम् । ४. सती प्रसूतिर्यस्याः सा । ५. प्राप्तम् । ६. वृणीते स्म । ७. पूजितम् । ८. परा अ० प०, ब०, द०, स०, ल० । ९. कारणात् । १०. दम्पत्यासने । प्रसज्यायां स० । प्रशस्यायां ल० । ११. निर्धनैः । १२. लुब्धैः । १३. त्यक्तम् । १४. अगतिकैः । १५. सत्कृताः । १६. दत्तिपूजाभिसम्भाषणैः ।

गृहे गृहे महास्तोत्रः केतुबन्धो गृहे गृहे । गृहे गृहे वराकावो बधूलांता गृहे गृहे ॥२६९॥
 दिने दिने महास्तोत्रो धर्मभक्तिर्दिने दिने । दिने दिने महेन्द्रधर्मा पूज्यते स्म बधूवरम् ॥२७०॥
 अथापरं धरुणावभुष्योत्थितमुद्यमी । प्रदोषे दीपिकोद्योतैः महापूतं ययौ वरः ॥२७१॥
 प्रयान्तमनुयाति स्म श्रीमती तं महाद्युतिम् । सास्वस्तमिव रुद्रान्धतमसं मासुरा प्रमा ॥२७२॥
 पूजाविभूतिं महतीं पुरस्कृत्य जिनमलयम् । प्रापदुःखकृदाग्रं स सुमेरुमिषोच्छ्रितम् ॥२७३॥
 स तं प्रदक्षिणीकुर्वन् सज्जनिर्विधमौ नृपः । मेरुमर्क इव श्रीमान् महादीप्य परिष्कृतः ॥२७४॥
 कृतेर्याशुदिरिद्विः प्रविष्टः जिनमन्दिरम् । तत्रागच्छन् दीप्यमानः कृतकृत्यः ॥२७५॥
 ततो गन्धकुटीमध्ये जिनेन्द्रार्चां हिरण्ययीम् । पूजयामास गन्धाक्षरभिषेकपुरस्सरम् ॥२७६॥
 कृतार्चनस्ततः स्तोतुं प्रारंभेऽसौ महामतिः । अर्पयामास स्तुतिभिः साक्षात्कृत्य स्तुत्यं जिनेश्वरम् ॥२७७॥
 तमो जिनेश्वरे तुभ्यमनन्यस्तदुराधये । एवमप्याराधयामीह कर्मशत्रुभिस्तया ॥२७८॥
 अनन्तास्त्वद्गुणाः स्तोतुमशक्या गणपैरपि । भक्त्या तु प्रस्तुये स्तोत्रं भक्तिः श्रेयोऽनुबन्धिनी ॥२७९॥

समस्त बन्धुओंका सम्मान किया था तथा दासी दास आदि भृत्योंको भी सन्तुष्ट किया था ॥२६८॥ उस समय घर-घर बड़ा सन्तोष हुआ था, घर-घर पताकाएँ फहरायी गयी थीं, घर-घर वरके विषयमें बात हो रही थी और घर-घर बधूकी प्रशंसा हो रही थी ॥२६९॥ उस समय प्रत्येक दिन बड़ा सन्तोष होता था, प्रत्येक दिन धर्ममें भक्ति होती थी और प्रत्येक दिन इन्द्र-जैसी विभूतिसे बधू-वरका सत्कार किया जाता था ॥ २७० ॥

तत्पश्चात् दूसरे दिन अपना धार्मिक उत्साह प्रकट करनेके लिए उद्युक्त हुआ वज्रजंघ सायंकालके समय अनेक दीपकोंका प्रकाश कर महापूत चैत्यालयको गया ॥२७१॥ अतिशय कान्तिका धारक वज्रजंघ आगे-आगे जा रहा था और श्रीमती उसके पीछे-पीछे जा रही थी । जैसे कि अन्धकारको नष्ट करनेवाले सूर्यके पीछे-पीछे उसकी देखीप्यमान प्रभा जाती है ॥ २७२ ॥ वह वज्रजंघ पूजाकी बड़ी भारी सामग्री साथ लेकर जिनमन्दिर पहुँचा । वह मन्दिर मेरु पर्वतके समान ऊँचा था, क्योंकि उसके शिखर भी अत्यन्त ऊँचे थे ॥ २७३ ॥ श्रीमतीके साथ-साथ चैत्यालयकी प्रदक्षिणा देता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि महाकान्तिसे युक्त सूर्य मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता हुआ शोभायमान होता है ॥२७४॥ प्रदक्षिणाके बाद उसने ईर्यापथशुद्धि की अर्थात् मार्ग चलते समय होनेवाली शारीरिक अशुद्धताको दूर किया तथा प्रसादवश होनेवाली जीवहिंसाको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त आदि किया । अनन्तर, अनेक विभूतियोंको धारण करनेवाले जिनमन्दिरके भीतर प्रवेश कर वहाँ महातपस्वी मुनियोंके दर्शन किये और उनकी वन्दना की । फिर गन्धकुटीके मध्यमें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी सुवर्णमयी प्रतिमाकी अभिषेकपूर्वक चन्दन आदि द्रव्योंसे पूजा की ॥२७५-२७६॥ पूजा करनेके बाद उस महाबुद्धिमान् वज्रजंघने स्तुति करनेके योग्य जिनेन्द्रदेवको साक्षात् कर (प्रतिमाको साक्षात् जिनेन्द्रदेव मानकर) उत्तम अर्थोंसे भरे हुए स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ २७७ ॥ हे देव ! आप कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, और मानसिक व्यथाओंसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । हे ईश, आज मैं कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेकी इच्छासे आपकी आराधना करता हूँ ॥ २७८ ॥ हे देव, आपके अनन्त गुणोंकी

१. वज्रजङ्घालापः । २. श्रीमती । बधूलास्या अ०, प०, द०, स०, ल० । ३. महेन्द्रधर्मा ल० । ४. उत्साहम् । ५. उद्युक्तः । ६. रात्री । ७. महापूतजिनमलयम् । ८. रविम् । ९. पूजासामग्रीम् । १०. कुल-बधूसहितः । ११. -निर्वमौ म०, ल० । १२. अलंकृतः । १३. ईर्यापथशुद्धिः । १४. सदयत्वात् स्पृहणी-यामिः । १५. प्रत्यक्षीकृत्य । १६. स्तोतुं योग्यम् । १७. आधिः मनःपीडा । १८. भेत्तुमिच्छया । १९. गणधरेः । २०. प्रारंभे ।

लक्ष्मः सुरसमभ्येति लक्ष्मीस्त्वन्नक्तमश्नुते । त्वन्नक्तिर्भुक्तये पुंसां भुक्तये वा स्थवीयसी ॥२८०॥
 जतो भजन्ति महयास्त्वा मनोवाक्कायशुद्धिभिः । फलाधिभिर्भवान् सेव्यो व्यक्तं कल्पतस्यते ॥२८१॥
 त्वया प्रवर्षता धर्मवृष्टिं दुष्कर्मधर्मतः । प्रोदन्वज्रवह्नुत्पादित्वा नन्दान्नयितरः ॥२८२॥
 त्वया प्रदर्शितं मार्गमासेवन्ते हितैषिणः । भास्वता शीतितं मार्गमिव कार्पाथिनी जनाः ॥२८३॥
 संसारोच्छेदने बीजं त्वया तत्त्वं निदर्शितम् । आत्रिकासुत्रिकार्थानां यतः सिद्धिरिहाङ्गिनाम् ॥२८४॥
 लक्ष्मीसर्वस्वमुज्जित्वा साम्राज्यं प्राप्यबैभवम् । त्वया चित्रमुदङ्गालौ मुक्तिभीः स्पृहयालुना ॥२८५॥
 दयावर्णापरिष्वक्तो महोदको महोन्नतः । प्रार्थितार्थान् प्रपुष्पाति भवान् कल्पद्रुमो यथा ॥२८६॥
 त्वया कर्ममहाशत्रून्नुत्थापुच्छेत् मिच्छता । धर्मचक्रं तपोधारं पाणौकृतमसंभ्रमम् ॥२८७॥
 न बद्धो अकुटिन्वासो न दृष्टोऽर्थं सुखान्भुजम् । न भिन्नसौष्टवं स्थानं व्यरूपरिजये त्वया ॥२८८॥
 दयालुनापि दुःसाध्यमोहशत्रुजगीषया । तपःकुठारे कठिने त्वया व्यापारितः करः ॥२८९॥
 त्वया संसारदुर्वह्नी कदाऽज्ञानजलोक्ष्मैः । नाना दुःखफला चित्रं वर्धितापि न वर्द्धते ॥२९०॥

स्तुति स्वयं गणधरदेव भी नहीं कर सकते तथापि मैं भक्तिवश आपकी स्तुति प्रारम्भ करता हूँ क्योंकि भक्ति ही कल्याण करनेवाली है ॥२७९॥ हे प्रभो, आपका भक्त सदा सुखी रहता है, लक्ष्मी भी आपके भक्त पुरुषके समीप ही जाती है, आपमें अत्यन्त स्थिर भक्ति स्वर्गादिके भोग प्रदान करती है और अन्तमें मोक्ष भी प्राप्त कराती है ॥२८०॥ इसलिए ही भव्य जीव शुद्ध मन, वचन, कायसे आपकी स्तुति करते हैं । हे देव, फल चाहनेवाले जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं उनके लिए आप स्पष्ट रूपसे कल्पवृक्षके समान आचरण करते हैं अर्थात् मन बाँधित फल देते हैं ॥२८१॥ हे प्रभो, आपने धर्मोपदेशरूपी वर्षा करके, दुष्कर्मरूपी सन्तापसे अत्यन्त व्यासे संसारी जीवरूपी चातकोंको नवीन मेघके समान आनन्दित किया है ॥२८२॥ हे देव, जिस प्रकार कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष सूर्यके द्वारा प्रकाशित हुए मार्गकी सेवा करते हैं—वसी मार्गसे आते-जाते हैं उसी प्रकार आत्महित चाहनेवाले पुरुष आपके द्वारा दिखलाये हुए मोक्षमार्गकी सेवा करते हैं ॥२८३॥ हे देव, आपके द्वारा निरूपित तत्त्व जन्म-मरणरूपी संसारके नाश करनेका कारण है तथा इसीसे प्राणियोंकी इस लोक और परलोक-सम्बन्धी समस्त कार्योंकी सिद्धि होती है ॥२८४॥ हे प्रभो, आपने लक्ष्मीके सर्वस्वभूत तथा उत्कृष्ट वैभवसे युक्त साम्राज्यको छोड़कर भी इच्छासे सहित हो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका वरण किया है, यह एक आश्चर्यकी बात है ॥२८५॥ हे देव, आप दयारूपी लतासे वेष्टित हैं, स्वर्ग आदि बड़े-बड़े फल देनेवाले हैं, अत्यन्त उन्नत हैं—उदार हैं और मनबाँधित पदार्थ प्रदान करनेवाले हैं इसलिए आप कल्पवृक्षके समान हैं ॥२८६॥ हे देव, आपने कर्मरूपी बड़े-बड़े शत्रुओंको नष्ट करनेकी इच्छासे तपरूपी धारसे शोभायमान धर्मरूपी चक्रको भिन्ना किसी घबरा-हटके अपने हाथमें धारण किया है ॥२८७॥ हे देव, कर्मरूपी शत्रुओंको जोतते समय आपने न तो अपनी भौंह ही चढ़ायी, न ओठ ही चबाये, न मुखकी शोभा नष्ट की और न अपना स्थान ही छोड़ा है ॥२८८॥ हे देव, आपने दयालु होकर भी मोहरूपी प्रबल शत्रुको नष्ट करनेकी इच्छासे अतिशय कठिन तपश्चरणरूपी कुठारपर अपना हाथ चलाया है अर्थात् उसे अपने हाथमें धारण किया है ॥२८९॥ हे देव, अज्ञानरूपी जलके सींचनेसे उत्पन्न हुई और अनेक दुःखरूपी फलको देनेवाली संसाररूपी लता आपके द्वारा वर्धित होनेपर भी—बढ़ाये जानेपर भी बढ़ती

१. भोगाय । २. स्थूलतरा । ३. पिपासतसंसारचातकानाम् । ४. भण्डारः । ५. भूरि । ६. विवाहिता ।
 ७. आलिङ्गितः । ८. महोत्तरफलः । ९. महोन्नतः म०, ल० । १०. —नुच्चेरुच्छेत्—म०, प०, स०, ल०, द०
 ११. अभ्यधम् । १२. वर्धिता छेदिता च ।

प्रसीदति भवत्पादपद्मे पद्मा^१ प्रसीदति । विमुखं याति वैमुख्यं भवन्माभ्यस्यर्मादशम् ॥२९१॥
 प्रातिहार्यमयी भूतिं त्वं दधानोऽप्यनन्यगाम् । वीतरागो मद्भांश्चासि जगत्प्रेतज्जिनामृतम् ॥२९२॥
 तवायं^२ शिशिरच्छायो मासमशोकतरुमहात् । शोकमाश्रितमध्यानी विभूर^३ भवद्विस्तयन् ॥२९३॥
 पुष्पवृष्टिं दिवो देवाः किरन्ति त्वां जिनाभितः । परितो मेरुमुत्फुल्ला यथा कल्पमहीरुहाः ॥२९४॥
 दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । विकरोति मनोभ्वान्तमवाचामपि देहिनाम् ॥२९५॥
 प्रकीर्णकैयुगं भाति त्वां जिनोमयतो धृतम् । पतञ्जिर्हरसंवादि^४ शशाङ्ककरनिर्मलम् ॥२९६॥
 चामोकरविनिर्माणं हरिभिर्धृतमासनम् । गिरीन्द्रशिखर स्पृष्टिं राखते जिनराज ते ॥२९७॥
 ज्योतिर्मण्डलमुत्सर्पन् तवालंकुरुते तनुम् । मार्तण्डमण्डलद्वेषि विधुम्बजगतां तमः ॥२९८॥
 तवोद्घोषयन्तोद्घोषैः जगतामेकमर्तुताम् । दुन्दुभिस्तनितं मन्द्रमुच्चरन्पयि चामुचास् ॥२९९॥
 तवाविष्कुरुते देव प्रामवं भुवनातिगम् । विधुबिम्बप्रतिस्पर्ष्टिं छत्रत्रितयमुच्छ्रितम् ॥३००॥
 विभ्राजते जिनैतसे प्रातिहार्यकदम्बकम् । त्रिजगत्सारसर्वस्वभिर्बैकत्र समुचितम् ॥३०१॥

नहीं है यह भारी आश्चर्यकी बात है (पक्षमें आपके द्वारा छेदी जानेपर बढ़ती नहीं है अर्थात् आपने संसाररूपी लताका इस प्रकार छेदन किया है कि वह फिर कभी नहीं बढ़ती ।) भावार्थ-संस्कृतमें 'वृधु' धातुका प्रयोग छेदना और बढ़ाना इन दो अर्थोंमें होता है । श्लोकमें आये हुए वर्धिता शब्दका जब 'बढ़ाना' अर्थमें प्रयोग किया जाता है तब विरोध होता है, और जब 'छेदन' अर्थमें प्रयोग किया जाता है तब उसका परिहार हो जाता है । ॥२९०॥ हे भगवन्, आपके चरण-कमलके प्रसन्न होनेपर लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती है और उनके विमुख होनेपर लक्ष्मी भी विमुख हो आती है । हे देव, आपका यह मध्यस्थ वृत्ति ऐसी ही विलक्षण है ॥२९१॥ हे जिनेन्द्र, यद्यपि आप अन्यत्र नहीं पायी जानेवाली प्रातिहार्यरूप विभूतिको धारण करते हैं तथापि संसारमें परम वीतराग कहलाते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥२९२॥ शीतल छायासे युक्त तथा आश्रय लेनेवाले भव्य जीवोंके शोकको दूर करता हुआ यह आपका अतिशय उत्तम अशोकवृक्ष बहुत ही शोभायमान हो रहा है ॥२९३॥

हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार फूले हुए कल्पवृक्ष मेरु पर्वतके सब तरफ पुष्पवृष्टि करते हैं उसी प्रकार ये देव लोग भी आपके सब ओर आकाशसे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं । ॥२९४॥ हे देव, समस्त भाषारूप परिणत होनेवाली आपकी दिव्य ध्वनि उन जीवोंके भी मनका अज्ञानान्धकार दूर कर देती है जो कि मनुष्योंकी भाँति स्पष्ट वचन नहीं बोल सकते ॥२९५॥ हे जिन, आपके दोनों तरफ दुराये जानेवाले, चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल दोनों चमर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो ऊपरसे पड़ते हुए पानीके झरने ही हों ॥२९६॥ हे जिनराज, मेरु पर्वतके शिखरके साथ ईर्ष्या करनेवाला और सुवर्णका बना हुआ आपका यह सिंहासन बड़ा ही भला मालूम होता है ॥२९७॥ हे देव, सूर्यमण्डलके साथ विद्वेष करनेवाला तथा जगत्के अन्धकारको दूर करनेवाला और सब ओर फैलता हुआ आपका यह भामण्डल आपके शरीरको अलंकृत कर रहा है ॥२९८॥ हे देव, आकाशमें जो दुन्दुभिका गम्भीर शब्द हो रहा है वह मानो जोर-जोरसे यही घोषणा कर रहा है कि संसारके एक मात्र स्वामी आप ही हैं ॥२९९॥ हे देव, चन्द्र-बिम्बके साथ स्पर्धा करनेवाले और अत्यन्त ऊँचे आपके तीनों छत्र आपके सर्वश्रेष्ठ प्रभावको प्रकट कर रहे हैं ॥३००॥ हे जिन, ऊपर कहे हुए आपके इन आठ प्रातिहार्योंका समूह ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो एक जगह इकट्ठे हुए तीनों लोकोंके सर्वश्रेष्ठ पदार्थोंका सार ही

१. प्रसन्ने सति । २. लक्ष्मीः । ३. शीत । ४. अपसारयन् । ५. नाशयति । ६. चामर । ७. सदृशम् ।

नोपरोद्धमलं^१ देव तव वैराग्यसंपदम् । सुरैर्विरचितं भक्त्या प्रातिहार्यपरिच्छदं ॥३०२॥
 करिकेशरिषावाहिनिषादं^२ विषमान्धमः । रोगा दग्धाश्च^३ वाग्यस्ति त्वत्पदानुस्मृतैर्जिन ॥३०३॥
 करधरं^४ बुधामसदाशुक्रतदुर्दिनम् । गजमाघातुकं मर्या जयन्ति त्वदनुस्मृतेः ॥३०४॥
 करीन्द्रकुम्भमिन्दकठोरनखरो हरिः । कर्मऽपि^५ पतितं जन्तुं न हन्ति त्वत्पदस्मृतेः ॥३०५॥
 गोपद्वयं दीप्ताचिरप्यधिमान्^६ समुत्थितः । त्वत्पदस्मृतिर्जिताम्बुधराप्रशमितोदयः ॥३०६॥
 कणी कृतकणो^७ रोषादुद्दिगन्तं गरमुखवणम् । त्वत्पदागदं^८ संस्मृत्या सद्यो भवति निविषः ॥३०७॥
 वने प्रचण्डलुण्टाककोटण्डरवमोषणे । सार्थाः^९ सार्थाधिपाः स्वैरं प्रयान्ति त्वत्पदानुगाः^{१०} ॥३०८॥
 अपि चण्डानिलाकाण्डं^{११} जूम्भणाघूर्णितार्णसम् । तरन्त्यर्णवमुद्वेलं हेलया त्वत्कमाश्रिताः ॥३०९॥
 अभ्यस्थानकृतोत्थागतोम्रवणहजो जनाः । सद्योमघन्त्यनातङ्काः स्मृतस्त्वत्पदभेषजाः ॥३१०॥
 कर्मबन्धविनिर्मुक्तं स्वामनुस्मृत्य मानवः । दहबन्धनबन्धोऽपि भवत्याशु विश्वक्षलः ॥३११॥
 इति^{१२} विमिश्रविघ्नीषं^{१३} मक्तिनिष्पेन चेतसा । पयुं पासे जिनेन्द्र त्वां विघ्नयर्गोपशान्तये ॥३१२॥
 त्वमेको जगतां ज्योतिस्त्वमेको जगतां पतिः । त्वमेको जगतां बन्धुरत्वमेको जगतां गुरुः^{१४} ॥३१३॥

हो ॥३०१॥ हे देव, यह प्रातिहार्योका समूह आपकी वैराग्यरूपी संपात्तको रोकनेके लिए समर्थ नहीं है क्योंकि यह भक्तिवश देवोंके द्वारा रचा गया है ॥३०२॥ हे जिनदेव, आपके चरणोंके स्मरण मात्रसे हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, भील, विषम समुद्र, रोग और बन्धन आदि सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥३०३॥ जिसके गण्डस्थलसे झरते हुए मदरूपी जलके द्वारा दुर्दिन प्रकट किया जा रहा है तथा जो आघात करनेके लिए उद्यत है ऐसे हाथीको पुरुष आपके स्मरण मात्रसे ही जीत लेते हैं ॥३०४॥ बड़े-बड़े हाथियोंके गण्डस्थल भेदन करनेसे जिसके नख अतिशय कठिन हो गये हैं ऐसा सिंह भी आपके चरणोंका स्मरण करनेसे अपने पैरोंमें पड़े हुए जीधको नहीं मार सकता है ॥३०५॥ हे देव, जिसको ज्वालाएँ बहुत ही प्रदीप्त हो रही हैं तथा जो उन बढ़ती हुई ज्वालाओंके कारण ऊँची उठ रही है ऐसी अग्नि यदि आपके चरण-कमलोंके स्मरणरूपी जलसे शान्त कर दी जाये तो फिर वह अग्नि भी उपद्रव नहीं कर सकती ॥३०६॥ क्रोधसे जिसका कण ऊपर उठा हुआ है और जो भयंकर विष उगल रहा है ऐसा सर्प भी आपके चरणरूपी औषधके स्मरणसे शीघ्र ही विषरहित हो जाता है ॥३०७॥ हे देव, आपके चरणोंके अनुगामी धनी व्यापारी जन प्रचण्ड लुटेरोंके धनुषोंकी टंकारसे भयंकर वनमें भी निर्भय होकर इच्छानुसार चले जाते हैं ॥३०८॥ जो प्रबल वायुकी असामयिक अधानक वृद्धिसे कम्पित हो रहा है ऐसे बड़ी-बड़ी लहरोंवाले समुद्रको भी आपके चरणोंकी सेवा करनेवाले पुरुष लीलामात्रमें पार हो जाते हैं ॥३०९॥ जो मनुष्य कुदंगे स्थानोंमें उत्पन्न हुए फोड़ों आदिके बड़े-बड़े धावोंसे रोगी हो रहे हैं वे भी आपके चरणरूपी औषधका स्मरण करने मात्रसे शीघ्र ही नीराग हो जाते हैं ॥३१०॥ हे भगवन्, आप कर्मरूपी बन्धनोंसे रहित हैं । इसलिए मजबूत बन्धनोंसे बँधा हुआ भी मनुष्य आपका स्मरण कर तत्काल ही बन्धनरहित हो जाता है ॥३११॥ हे जिनेन्द्रदेव, आपने विघ्नोंके समूहको भी विमिश्र किया है—उन्हें नष्ट किया है इसलिए अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट करनेके लिए मैं मक्तिपूर्ण हृदयसे आपकी उपासना करता हूँ ॥३१२॥ हे देव, एकमात्र आप ही तीनों लोकोंको

१. समर्थः । २. परिकरः । ३. व्याघ्रः । ४. बन्धनानि । ५. गण्डस्थलम् । ६. आहितम् ।
 आघातकं द०, ल० । ७. पादे । ८. समुच्छिन्नः प०, स० । ९. उत्थितकणः । १०. विषम् । ११. अगदं
 भेषजम् । १२. अर्थेन सहिताः । १३. त्वत्पदोपगाः ट० । त्वत्पदसमीपस्थाः । १४. अकाण्डः अकालः ।
 १५. विहतान्तरायसमुदायम् । १६. भक्तघवीनेन । १७. पिता ।

स्वभाविः सर्वविद्यानां स्वभाविः सर्वयोगिनाम् । स्वभाविर्धर्मतीर्थस्य स्वभाविर्गुरुर्ह्यनाम् ॥३१४॥
स्वं 'सायं' सर्वविशेषः सर्वलोकानलोकथाः । स्तुतिवाद्स्तवैतावानलमास्तां सविस्तरः ॥३१५॥

ससन्ततिवकम्

स्वां देशमिस्थमभिषन्ध कृतप्रणामो नाभ्यत् कलं परिमितं परिमार्गयामि ।

स्वयमेव भक्तिमखलां जिन मे दिश त्वं सा सर्वमभ्युदयमुक्तिफलं प्रसूते ॥३१६॥

शार्दूलधिकीकृतम्

इत्युच्यैः प्रणिपत्य तं जिनपतिं स्तुत्वा कृतार्घ्यचक्रः, स श्रीमान् मुनिवृन्दसभ्यनुगमात् संपूज्य निष्कम्पम् ।

श्रीमत्या सह वज्रजंघनपतिस्तामुत्तमर्द्धिं पुरीम्, प्राविक्षत् प्रमदोदयाजिनगुणात् भूयः स्मरन् भूतये ॥३१७॥

लक्ष्मीमानमिषेकपूर्वकमसौ श्रीवज्रजङ्घी भुवि, द्वार्त्रिगन्मुकुटप्रबद्धमहितं क्षमाभृत्सहस्रैर्मुहुः ।

तां कल्याणपरम्पराभ्युभवन् भोगान् पराङ्मुखिनाम्, श्रीमत्या सह दीर्घकालमवसत्तस्मिन् पुरेऽर्चन् जिनान् ॥३१८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजङ्घसमागमवर्णने
नाम सप्तमं पर्व ॥७॥

प्रकाशित करनेवाली ज्योति हैं, आप ही समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी हैं, आप ही समस्त संसारके एकमात्र बन्धु हैं और आप ही समस्त लोकके एकमात्र गुरु हैं ॥ ३१३ ॥ आप ही सम्पूर्ण विद्याओंके आदिस्थान हैं, आप ही समस्त योगियोंमें प्रथम योगी हैं, आप ही धर्मरूपी तीर्थके प्रथम प्रवर्तक हैं, और आप ही प्राणियोंके प्रथम गुरु हैं ॥ ३१४ ॥ आप ही सबका हित करनेवाले हैं, आप ही सब विद्याओंके स्वामी हैं और आप ही समस्त लोकको देखनेवाले हैं । हे देव, आपकी स्तुतिका विस्तार कहाँतक किया जाये । अबतक जितनी स्तुति कर चुका हूँ मुझ-जैसे अल्पज्ञके लिए उतनी ही बहुत है ॥ ३१५ ॥ हे देव, इस प्रकार आपकी वन्दना कर मैं आपको प्रणाम करता हूँ और उसके फलस्वरूप आपसे किसी सीमित अन्य फलकी याचना नहीं करता हूँ । किन्तु हे जिन, आपमें ही मेरी भक्ति सदा अवल रहै यही प्रदान कीजिए क्योंकि वह भक्ति ही स्वर्ग तथा मोक्षके उत्तम फल उत्पन्न कर देती है ॥ ३१६ ॥ इस प्रकार श्रीमान् वज्रजंघ राजाने जिनेन्द्र देवको उत्तम रीतिसे नमस्कार किया, उनकी स्तुति और पूजा की । फिर राग-द्वेषसे रहित मुनिसमूहकी भी क्रमसे पूजा की । तदनन्तर श्रीजिनेन्द्रदेवके गुणोंका बार-बार स्मरण करता हुआ वह वज्रजंघ राज्यादिकी विभूति प्राप्त करनेके लिए हर्षसे श्रीमतीके साथ-साथ अनेक ऋद्धियोंसे शोभायमान पुण्डरीकिणी नगरीमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३१७ ॥ वहाँ भरतभूमिके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंने उस लक्ष्मीवान् वज्रजंघका राज्याभिषेकपूर्वक भारी सम्मान किया था । इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करते हुए हजारों राजाओंके द्वारा बार-बार प्राप्त हुई कल्याण-परम्पराका अनुभव करते हुए और श्रीमतीके साथ उत्तमोत्तम भोग भोगते हुए वज्रजंघने दीर्घकाल तक उसी पुण्डरीकिणी नगरीमें निवास किया था ॥ ३१८ ॥

इस प्रकार आर्षे नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजंघके समागमका वर्णन करनेवाला सातवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥७॥

अष्टमं पर्व

अथ तत्रावसदीर्घं स कालं चक्रिमन्दिरे । निर्यात्सवे महाभोगसंपदा सोपमोगया ॥१॥
 श्रीमतीस्तनसंस्पर्शात् तन्मुलाब्जविलोकनात् । तस्यासीममहती प्रीतिः प्रेम्णे वसिष्ठमाश्रितम् ॥२॥
 तन्मुलाब्जाद् रसामोदा^१ बाहरात्पद् नृपः । मधुरत इवाम्भोजात् कामसेवा^२ न तृप्तये ॥३॥
 मुखेन्दुसस्याः सोऽपश्यन् निर्निमेषोत्कथा^३ दृशा । कान्तिमद्भानज्योतिर्व्योस्नया सततोऽज्ज्वलम् ॥४॥
 भपाङ्गवीक्षितै^४ लीलास्मितैश्च कलभाषितैः^५ । मनो बन्ध सा तस्य^६ स्वस्मिन्त्यन्तभासुरैः ॥५॥
 त्रिवलीवीचिरम्येऽसौ नामिकावर्तशोभिनि । उदरे कुशमध्याया रेमे नद्या इव हृदे ॥६॥
 नितम्बपुलिने तस्याः स चिरं^७ दृष्टिमातनोत् । काञ्चीविहङ्गविरुते^८ रम्ये हंसयुवायितः ॥७॥
 तस्त्वनो^९ कमाहृत्य तत्र व्यापारयन् करम् । मदेम इव सोऽभासीत् पशिन्याः कुङ्कुमं स्पृशन् ॥८॥
 स्तनचक्राद्वये तस्याः श्रीखण्डद्वयकर्दमे । उरःसरसि रेमेऽसौ सत्कुचांशुकशैवले ॥९॥

विवाह हो जानेके बाद वज्रजंघने, जहाँ सिख ही अनेक-बार होते रहते-ऐसे ऐसे चक्र-वर्तीके भवनमें उत्तम-उत्तम भोगोपभोग सम्पदाओंके द्वारा भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक निवास किया था ॥१॥ वहाँ श्रीमतीके स्तनोंका स्पर्श करने तथा मुखरूपी कमल-के देखनेसे उसे बड़ी प्रसन्नता होती थी सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट वस्तुके आश्रयसे सभीको प्रसन्नता होती है ॥२॥ जिस प्रकार भौरा कमलसे रस और सुवासको ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार राजा वज्रजंघ भी श्रीमतीके मुखरूपी कमलसे रस और सुवासको ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता था । सच है, कामसेवनसे कभी सन्तोष नहीं होता है ॥३॥ श्रीमतीका मुखरूपी चन्द्रमा चमकीले दाँतोंकी किरणरूपी चाँदनीसे हमेशा उज्ज्वल रहता था इसलिए वज्रजंघ उसे टिमकाररहित लालसापूर्ण दृष्टिसे देखता रहता था ॥४॥ श्रीमतीने अत्यन्त मनोहर कटाक्षावलोकन, लीलासहित मुसकान और मधुर भाषणोंके द्वारा उसका चित्त अपने अधीन कर लिया था ॥५॥ श्रीमतीको कमर पतली थी और उदर किसी नदीके गहरे कुण्डके समान था । क्योंकि कुण्ड जिस प्रकार लहरोंसे मनोहर होता है उसी प्रकार उसका उदर भी त्रिवलिसे (नाभिके नीचे रहनेवाली तीन रेखाओंसे) मनोहर था और कुण्ड जिस प्रकार आवर्तसे शोभायमान होता है उसी प्रकार उसका उदर भी नाभिरूपी आवर्तसे शोभायमान था । इस तरह जिसका मध्य भाग कृश है ऐसी किसी नदीके कुण्डके समान श्रीमतीके उदर प्रदेशपर वह वज्रजंघ रमण करता था ॥६॥ तरुण हंसके समान वह वज्रजंघ, करधनी-रूपी पक्षियोंके शब्दसे शब्दायमान उस श्रीमतीके मनोहर नितम्बरूपी पुलिनपर चिरकाल तक क्रीडा करके सन्तुष्ट रहता था ॥७॥ स्तनोंसे बल्ल हटाकर उनपर हाथ फेरता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि कमलिनीके कुङ्कुम (बौड़ी)का स्पर्श करता हुआ मदोन्मत्त हाथी शोभायमान होता है ॥८॥ जो स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंसे सहित है, चन्दनद्रवरूपी

१.—नाहरना—६० । —दादाहरना—अ०, प० । २. इष्टविषयोपभोगः । ३. उत्कण्ठया । ४. कान्तिरेषा-भस्तीति कान्तिमन्तः ते च ते दशनाब्ज तेषां ज्योतिरेव ज्योत्स्ना तया । ५. वीक्षणैः । ६. कलभाषणैः । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलो मन्द्रस्तु गम्भीरे' । ७. आत्मनि । ८.—त्यन्तबन्धुरैः अ०, प०, म०, स०, द० । ९. इवाल्लदे अ०, स० । १०. संतोषम् । ११. ध्वनौ । १२. कुचांशुक—८० । उरोजाब्ज-वनवस्त्रविशेषः ।

मृदुबाहुलसे कण्ठे गाडमासज्य^१ सुन्दरी । कामपाशायिते तस्य मनोऽवधनान् मनस्विनी^२ ॥१०॥
 मृदुपाणितले स्पर्श रसरन्धो मुखाम्बुजे । शब्दमालपिते तस्याः तनौ^३ रूपं निरूपयन्^४ ॥११॥
 सुचिरं तर्पयामास^५ श्रोक्षग्राममशेषतः । सुखमैन्द्रियिकं^६ प्रेप्सोः^७ गतिं नीतः पराङ्मनः ॥१२॥
 काञ्चीद्राममहानागसंरुद्धेऽन्यैर्दुरासदे । रमे तस्याः कटिस्थाने सहतीव निधानकं ॥१३॥
 कचमर्हैर्मुदीयोभिः कर्णोत्पलविताडितैः^८ । अभूत् प्रणयकोपोऽस्या धृतः प्रीयै सुखाय च ॥१४॥
 गलितामरणस्यामे रतिधर्मभुक्कर्म^९ । तस्यासीद्गतिं^{१०} स्नेहस्याः सुखोत्कर्षः स कामिनाम् ॥१५॥
 सौधवातायनोपान्तकृतशयौ रतिश्रमम् । अपनिन्यतुराष्टृष्टौ^{११} तौ शनैर्मृदुमारुतैः ॥१६॥
 तस्या सुस्नेहुराह्लादं लोचने नयनोत्सवम् । स्तनी स्पर्शसुखार्थगमस्य तेनुरासदम् ॥१७॥
 तत्कन्यामृतमासाध दिव्यौषधमिवातुरः^{१२} । स काले सेवमानोऽभूत् सुखी निर्मदनञ्जरः ॥१८॥
 कदाचिन्नन्दनस्पदिपराद्धर्तस्त्वोभिषु । गृहोष्ठानेषु रमेऽसी कान्तयामा महद्विषु ॥१९॥
 कदाचिद् बहिर्हयाने लनागृहविराजिनि । क्रीडाद्विसहितेऽप्यव्यत् प्रियया^{१३} सममुत्सुकः ॥२०॥

कीचड़से युक्त है और स्तनवस्त्र (कंचुकी) रूपी शंवालसे शोभित है ऐसे उस श्रीमतीके वक्षः-स्थलरूपी सरोवरमें वह वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा करता था ॥१०॥ उस सुन्दरी तथा सहृदया श्रीमती-ने कामपाशके समान अपनी कोमल भुजलताओंको वज्रजंघके गलेमें ढालकर उसका मन बाँध लिया था—अपने वश कर लिया था ॥१०॥ वह वज्रजंघ श्रीमतीकी कोमल बाहुओंके स्पर्शसे स्पर्शन इन्द्रियको, मुखरूपी कमलके रस और गन्धसे रसना तथा घ्राण इन्द्रियको, सम्भाषणके समय मधुर शब्दोंको सुनकर कर्ण इन्द्रियको और शरीरके सौन्दर्यको निरखकर नेत्र इन्द्रियको लुप्त करता था । इस प्रकार वह पाँचों इन्द्रियोंको सब प्रकारसे चिरकाल तक सन्तुष्ट करता था सो ठीक ही है इन्द्रियसुख चाहनेवाले जीवोंको इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है ॥११-१२॥ करधनी-रूपी महासर्पसे घिरे हुए होनेके कारण अन्यपुरुषोंको अप्राप्य श्रीमतीके कटिभागरूपी बड़े खजाने-पर वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा किया करता था ॥१३॥ जब कभी श्रीमती प्रणयकोपसे कुपित होती थी तब वह धीरे-धीरे वज्रजंघके केश पकड़कर खींचने लगती थी तथा कर्णोत्पलके कोमल प्रहारोंसे उसका ताड़न करने लगती थी । उसकी इन चेष्टाओंसे वज्रजंघको बड़ा ही सन्तोष और सुख होता था ॥१४॥ परस्परकी खीचातानीसे जिसके आभरण अस्त-न्यस्त होकर गिर पड़े हैं तथा जो रतिकालीन स्वेद-बिन्दुओंसे कर्म युक्त हो गया है ऐसे श्रीमतीके शरीरमें उसे बड़ा सन्तोष होता था । सो ठीक है कामीजन इसीको उत्कृष्ट सुख समझते हैं ॥१५॥ राजमहलमें श्रोत्रोत्पलके समीप ही इनकी शय्या थी इसलिए श्रोत्रोत्पलसे आनेवाली मन्द-मन्द वायुसे इनका रति-श्रम दूर होता रहता था ॥१६॥ श्रीमतीका सुखरूपी चन्द्रमा वज्रजंघके आनन्दको बढ़ाता था, उसके नेत्र, नेत्रोंका सुख विस्तृत करते थे तथा उसके दोनों स्तन अपूर्व स्पर्श-सुखको बढ़ाते थे ॥१७॥ जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष उत्तम औषध पाकर समयपर उसका सेवन करता हुआ अरि-आदिसे रहित होकर सुखी हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघ भी उस कन्यारूपी अमृतको पाकर समयपर उसका सेवन करता हुआ काम-अरिसे रहित होकर सुखी हो गया था ॥१८॥ वह वज्रजंघ कभी तो नन्दन बनके साथ स्पर्धा करनेवाले श्रेष्ठ वृक्षोंसे शोभायमान और महाविभूतिसे युक्त घरके उद्यानोंमें श्रीमतीके साथ रमण करता था और कभी लतागृहों

१. संसर्गती कृत्वा । २. 'क्लेशैरुपहतस्यापि मानसं सुखिनो यथा । स्वकार्येषु स्थिरं यस्य मनस्वी-त्युच्यते बुधैः ॥' ३. शरीरे । ४. पश्यन् । ५. इन्द्रियसमुदायम् । ६. —मैन्द्रियकं द०, स०, म०, ल० । ७. प्राप्तुमिच्छोः । ८. उपायः । ९. 'त' पुस्तके 'विताडनैः' इत्यपि पाठः । १०. मुद । ११. ईवत्स्पृष्टौ । १२. व्याधिपीडितः । १३. स समुत्सुकः म०, ल० ।

नदीपुकिनदेशेषु कदाचिद् विजहार सः । स्वयंगलसंकुलकताकुसुमशोभिषु ॥२१॥
 कदाचिद् दीर्घिकाभ्रस्तु जलक्रीडां समाप्तनोत् । भक्तस्मरजःपुञ्जपिञ्जरेषु स सप्रियः ॥२२॥
 घामोकरमयैर्यम्यैर्जलकेलिभिधानसौ । प्रियामुखान्जमम्भोभिरसिञ्चन् कृणितेक्षणम् ॥२३॥
 साध्यस्य सुखमासेक्तुं कृतवाञ्छापि नाशकम् । स्तनोद्भुके गलत्याविमंघद्वीं वापराङ्मुखी ॥२४॥
 जलकेलिभिधौ तस्या लग्नं स्तनतटेषु कम् । जलच्छायां^१ दधे इलक्ष्णं^२ स्तनशोभामकर्शयत् ॥२५॥
 स्तनकुटुम्भलं संशोभा मृदुवाहुमृणालिका । सा दधे नलिनीशोभां मुखाम्बुजविराजिनी ॥२६॥
 कर्णोत्पलं स्वमित्यस्या विलोलेरादधे जलैः । तन्मुखाम्बुजच्छायां स्वाब्जेर्जतुमिवाक्षमैः ॥२७॥
 धारागृहे स निपतद्वारावद्वचनागमे । प्रियया विद्युतेवोच्चैः चिक्रीड सुखनिर्घृतः^३ ॥२८॥
 तद्विचारीषुषुषु तद्वक्तृगतिविचिन्तैः^४ । कृतार्थमेतत्सौ मेमे ज्योत्स्नां राष्ट्रिषु निर्विशन्^५ ॥२९॥
 इति तत्र चिरं मोगीरूपमोगैश्च हारिमिः । बभूवरमरंस्तीक्ष्णं स्वर्गमोगातिशायिमिः ॥३०॥
 तयोस्तथाविधैर्मोगैर्जितेन्द्रमहिमोत्सवैः^६ । पायदानविनोदैश्च तत्र कालोऽगमद् बहुः ॥३१॥
^{११}नित्यप्रसादं^{१२} लाभेन तयोर्नित्यमहोत्सवैः । पुत्रोत्पत्त्यादिसर्गैश्च स कालोऽविदितोऽगमत् ॥३२॥

(निकुञ्जों) से शोभायमान तथा क्रीडान्प्रवर्तोंसे सहित बाहरके उद्यानोंमें उत्सुक होकर क्रीड़ा करता था ॥ १९-२०॥ कभी फूली हुई लताओंसे घरे हुए पुष्पोंसे शोभायमान नदीतटके प्रदेशोंमें बिहार करता था ॥२१॥ और कभी कमलोंकी परागरजके समूहसे पीले हुए बावड़ीके जलमें प्रियाके साथ जल-क्रीड़ा करता था ॥२२॥ वह वज्रजंघ जल-क्रीड़ाके समय सुवर्णमय पिच-कारियोंसे अपनी प्रिया श्रीमतीके तीखे कटाक्षोंवाले मुख-कमलका सिंचन करता था ॥२३॥ पर श्रीमती जब प्रियपर जल छालनेके लिए पिचकारी उठाती थी तब उसके स्तनोंका आँचल खिसक जाता था और इससे वह लज्जासे विमुख हो जाती थी ॥ २४ ॥ जल-क्रीड़ा करते समय श्रीमतीके स्तनतटपर जो महीन वज्र पानीसे भोगकर चिपक गया था वह जलकी छायाके समान मालूम होता था । तथा उसने उसके स्तनोंकी शोभा कम कर दी थी ॥ २५ ॥ श्रीमतीके स्तन कुटुम्भल (बौड़ी) के समान, कोमल भुजाएँ मृणालके समान और मुख कमलके समान शोभायमान था इसलिए वह जलके भीतर कमलिनीकी शोभा धारण कर रही थी ॥२६॥ हमारे ये कमल श्रीमतीके मुखकमलकी कान्तिको जीतनेके लिए समर्थ नहीं हैं—वह विचार कर ही मानो चंचल जलने श्रीमतीके कर्णोत्पलको वापस बुला लिया था ॥ २७ ॥ ऊपरसे पड़ती हुई जलधारासे जिसमें सदा वर्षाश्चतु बनी रहती है ऐसे धारागृहमें (फव्वाराके घरमें) वह वज्रजंघ बिजलीके समान अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करता था ॥२८॥ और कभी ताराओंके प्रतिबिम्बके वहाने जिनपर उपहारके फूल बिसरे गये हैं ऐसे राजमहलोंकी रत्नमयी छतोंपर रातके समय चाँदनीका उपभोग करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥ २९ ॥ इस प्रकार दोनों बभू-वर उस पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वर्गलोकके भोगोंसे भी बढ़कर मनोहर भोगोपभोगोंके द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥ ३० ॥ ऊपर कहे हुए भोगोंके द्वारा, जिनेन्द्रदेवकी पूजा आदि उत्सवोंके द्वारा और पान दान आदि माङ्गलिक कार्योंके द्वारा उन दोनोंका वहाँ बहुत समय व्यतीत हो गया था ॥ ३१ ॥ वहाँ अनेक लोग आकर वज्रजंघके लिए उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भेंट करते थे, पूजा आदिके उत्सव होते रहते थे तथा पुत्र-जन्म आदिके समय अनेक उत्सव मनाये जाते थे जिससे उन दोनोंका दीर्घ समय अनायास ही व्यतीत हो गया था ॥ ३२ ॥

१. कृणितं सङ्कोचितम् । कोणितेक्षणम् म०, ल० । २. लग्ना । ३. जलच्छायां प०, अ०, स० । जल-छाया ल० । ४. इलक्ष्णं प० । ५. कुशमकुर्वत् । ६. कुटुम्भल-अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ७. सुख-तृप्तः । ८. प्रतिबिम्बैः । ९. अनुमन् । 'निर्वशी मतिभोगयोः' । १०. पूजोत्सवैः । ११. तस्य प्रसाद-म०, ल० । १२. प्रसन्नता ।

वज्रजङ्घानुजां कन्यामनुरूपामनुन्धरीम् । वज्रबाहुर्विभूत्यासाधितामिततेजसे ॥३३॥
 चक्रिमुर्जु तमासाद्य सुतरां पिप्रिये सती । अनुन्धरी नवोदासी वसन्तमिव कोकिला ॥३४॥
 अथ चक्रधरः पूजासत्कारैरभिपूजितम् । स्वपुरं प्रति यानायै व्यैसृजत् तद्वधूवरम् ॥३५॥
 हस्त्यश्वरथपादात् रत्नं देशं सकोशकम् । तदाम्बयिनिकं पुण्यै ददौ चक्रधरो महत् ॥३६॥
 अथ प्रयाणतंक्षोभान् दम्पत्योस्तत्पुरं तदा । परमाकुलतां भेजे तद्गुणैरुन्मनायितम् ॥३७॥
 ततः प्रस्थानगराम्भोरभेरीध्वनैः शुभे दिने । प्रयाणमकरोच्छीमान् वज्रजङ्घः सहाङ्गिनः ॥३८॥
 वज्रबाहुमहाराजो देवी चास्य वसुन्धरा । वज्रजङ्घं सपत्नीकं वज्रन्तमनुजग्मतुः ॥३९॥
 पौरवर्गं तथा मन्त्रिसेनापतिपुरोहितान् । सोऽनुजङ्घजितुमायातायां तिवूराद् व्यसर्जयत् ॥४०॥
 हस्त्यश्वरथभूयिष्ठं साधनं सहपत्तिकम् । संवाहयन् स संप्रापत् पुरमुत्पलखेटकम् ॥४१॥
 पराङ्गं रथनोपेतं सोत्सवं प्रविशन् पुरम् । पुरन्दर इवामासीद् वज्रजङ्घोऽमितद्युतिः ॥४२॥
 पौराङ्गना महावीथीविशन्तं तं प्रियान्वितम् । सुमनोऽङ्गकिमिः प्रीत्या चक्रः सौधसंश्रिताः ॥४३॥
 पुष्पाक्षतयुतां पुण्यां शेषां पुण्याशिषा समम् । प्रजाः समस्ततोऽभ्येक्ष्य दम्पती तावत्समयन् ॥४४॥

वज्रजङ्घकी एक अनुन्धरी नामकी छोटी बहन थी जो उसीके समान सुन्दरी थी । राजा वज्रबाहुने वह बड़ी विभूतिके साथ चक्रवर्तीके बड़े पुत्र अमिततेजके लिए प्रदान की थी ॥३३॥ जिस प्रकार कोयल वसन्तको पाकर प्रसन्न होती है उसी प्रकार वह नवविवाहिता सती अनुन्धरी, चक्रवर्तीके पुत्रको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई थी ॥ ३४ ॥ इस प्रकार जब सब कार्य पूर्ण हो चुके तब चक्रवर्ती वज्रदन्त महाराजने अपने नगरको वापस जानेके लिए पूजा सत्कार आदिसे सबका सम्मान कर वधू-वरको विदा कर दिया ॥ ३५ ॥ उस समय चक्रवर्तीने पुत्रीके लिए हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, रत्न, देश और स्वजाना आदि कुलपरम्परासे चला आया बहुत-सा धन दहेजमें दिया था ॥ ३६ ॥

वज्रजङ्घ और श्रीमतीने अपने गुणोंसे समस्त पुरवासियोंको उन्मुग्ध कर लिया था इस-लिए उनके जानेका श्लोभकारक समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अत्यन्त व्याकुल हो उठे थे ॥३७॥ तदनन्तर किसी शुभदिन श्रीमान् वज्रजङ्घने अपनी पत्नी श्रीमतीके साथ प्रस्थान किया । उस समय उनके प्रस्थानकी सूचित करनेवाले नगादोंका गम्भीर शब्द हो रहा था ॥३८॥ वज्र-जङ्घ अपनी पत्नीके साथ आगे चलने लगे और महाराज वज्रबाहु तथा उनकी पत्नी वसुन्धरा महाराज्ञी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥३९॥ पुरवासी, मन्त्री, सेनापति तथा पुरोहित आदि जो भी उन्हें पहुँचाने गये थे वज्रजङ्घने उन्हें थोड़ी दूरसे वापस विदा कर दिया था ॥४०॥ हाथी, घोड़े, रथ और पियादे आदिकी विशाल सेनाका संचालन करता हुआ वज्रजङ्घ क्रम-क्रमसे उत्पलखेटक नगरमें पहुँचा ॥४१॥ उस समय उस नगरीमें अनेक उत्तम-उत्तम रचनाएँ की गयी थीं, कई प्रकारके उत्सव मनाये जा रहे थे । उस नगरमें प्रवेश करता हुआ अतिशय देवी-प्यमान वज्रजङ्घ इन्द्रके समान शोभायमान हो रहा था ॥ ४२ ॥ जब वज्रजङ्घने अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ नगरकी प्रधान-प्रधान गलियोंमें प्रवेश किया तब पुरसुन्दरियोंने महलोंकी छतों-पर चढ़कर उन दोनोंपर बड़े प्रेमके साथ अंजलि भर-भरकर फूल बरसाये थे ॥४३॥ उस समय सभी ओरसे प्रजाजन आते थे और शुभ आशीर्वादके साथ-साथ पुष्प तथा अक्षतसे मिला

१. गमनाय । २. प्राहिणोत् । ३. अनु पश्चात्, अयः अयनं गमनम् अन्वयः स्यादित्यर्थः । अनवस्थितम् अन्वयः अनुगमनम् अस्माः अस्तीत्यस्मिन्नर्थे इन् प्रत्यये अन्वयिन् इति शब्दः, ततः लोप्रत्यये सति अन्वयि-
 नोति सिद्धम् । अन्वयिन्याः सम्बन्धि द्रव्यमित्यस्मिन्नर्थे ठणि सति आन्वयिनिकमिति सिद्धम् । [जामातृदेवं
 म्यमित्यर्थः] । ४. अनुगन्तुम् । ५. अनतिदूरात् । ६. सम्यग् गमयन् । ७. किरन्ति स्म । ८. प्रापयन्ति स्म ।

ततः प्रहृतगम्भीरपटहध्वानसंकुलम् । पुरमुत्तोरणं पश्यन् स विवेश नृपालयम् ॥४५॥
 तत्र श्रीभवनं^१ रम्यं सर्वतुल्यवाणिनि । श्रीमत्या सह संप्रीत्या वज्रजङ्घोऽवसत् सुखम् ॥४६॥
 स राजसदृशं रम्यं प्रीत्यासुख्यै प्रदर्शयत् । तत्र तां रमयामास स्निग्धो गुरुवियोगतः^२ ॥४७॥
 पण्डिता सममायाता सखीनामग्रणीः सती^३ । तामसौ रञ्जयामास विनोदैर्नर्तनादिभिः ॥४८॥
 भोगैरनारतैरेवं काले गच्छत्यमुकमात् । श्रीमती सुषुप्ते पुत्रान् व्येकैपञ्चाशत् यमान^४ ॥४९॥
 भयान्येष्टुर्महाराजो वज्रबाहुर्महाश्रुतिः । शरदम्बुचरोत्थानं सौभाग्यस्यो निरूपयन् ॥५०॥
 दृष्ट्वा तद्विलयं सद्यो निर्वेदं परमागतः । विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिन्ता गरीयसी ॥५१॥
 पश्य नः पश्यतामेव कथमेव शरन्नः । प्रासादाकृतिकदम्भूलो विलीनश्च क्षणान्तरे ॥५२॥
^१मन्दविलासं नः अणावेषा विलास्यते । लक्ष्मीस्तद्विलोलेयं इत्यर्थो यौवनश्रियः ॥५३॥
^२भापातमात्ररम्याश्च भोगाः पर्यस्ततापिनः । प्रतिक्षणं गलत्यायुर्गलक्षालिजलं^५ यथा ॥५४॥
 रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टवन्धुसमागमः । प्रियाङ्गनारतिक्षेति सर्वमप्यनवस्थितम्^६ ॥५५॥
 विचिन्त्येति चलां लक्ष्मीं प्रजिहासुः^७ सुधीरसौ । अभिदिष्य सुतं राज्ये वज्रजङ्घमतिष्ठित् ॥५६॥
 स राज्यभोगनिर्विण्णस्तूर्ण^८ यमधराम्तिके । नृपैः सार्धं सहजातं^९ मितैर्दीक्षासुपादये ॥५७॥

हुआ पवित्र प्रसाद उन दोनों दम्पतियोंके समीप पहुँचाते थे ॥४४॥ तदनन्तर वज्रजङ्घा हुई भेरियों-
 के गम्भीर शब्दसे व्याप्त तथा अनेक तोरणोंसे अलंकृत नरैरकी शोभा देखते हुए वज्रजङ्घने
 राजभवनमें प्रवेश किया ॥४५॥ वह राजभवन अनेक प्रकारकी लक्ष्मीसे शोभित था, महा-
 मनोहर था और सर्व ऋतुओंमें सुख देनेवाली सामग्रीसे सहित था । ऐसे ही राजमहलमें
 वज्रजङ्घ श्रीमतीके साथ-साथ बड़े प्रेम और सुखसे निवास करता था ॥४६॥ यद्यपि माता-पिता
 आवि गुरुजनोंके वियोगसे श्रीमती खिन्न रहती थी परन्तु वज्रजङ्घ बड़े प्रेमसे अत्यन्त सुन्दर
 राजमहल दिखलाकर उसका चित्त बहलाता रहता था ॥४७॥ शीलव्रत धारण करनेवाली तथा
 सब सखियोंमें श्रेष्ठ पण्डिता नामकी सखी भी उसके साथ आयी थी । वह भी नृत्य आदि अनेक
 प्रकारके विनोदोंसे उसे प्रसन्न रखती थी ॥४८॥ इस प्रकार निरन्तर भोगोपभोगोंके द्वारा समय
 व्यतीत करते हुए उसके क्रमशः उनचास युगल अर्थात् अष्टानवे पुत्र उत्पन्न हुए ॥४९॥

तदनन्तर किसी एक दिन महाकान्तिमान् महाराज वज्रबाहु महलकी छतपर बैठे हुए
 शरद् ऋतुके बादलोंका उठाव देख रहे थे ॥५०॥ उन्होंने पहले जिस बादलको उठता हुआ
 देखा था उसे तत्कालमें विलीन हुआ देखकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया । वे उसी समय
 संसारके सब भोगोंसे विरक्त हो गये और मनमें इस प्रकार गम्भीर विचार करने लगे ॥५१॥
 देखो, यह शरद् ऋतुका बादल हमारे देखते-देखते राजमहलकी आकृतिको धारण किये हुए था
 और देखते-देखते ही क्षण-भरमें विलीन हो गया ॥५२॥ ठीक, इसी प्रकार हमारी यह सम्पदा
 भी मेघके समान क्षण-भरमें विलीन हो जायेगी । वास्तवमें यह लक्ष्मी बिजलीके समान चंचल
 है और यौवनकी शोभा भी शीघ्र चली जानेवाली है ॥५३॥ वे भोग प्रारम्भ कालमें ही
 मनोहर लगते हैं किन्तु अन्तकालमें (फल देनेके समय) भारी सन्ताप देते हैं । यह आयु भी
 फूटी हुई नालीके जलके समान प्रत्येक क्षण नष्ट होती जाती है ॥५४॥ रूप, आरोग्य, ऐश्वर्य,
 इष्ट-वन्धुओंका समागम और प्रिय स्त्रीका प्रेम आदि सभी कुछ अनवस्थित हैं—क्षणान्तरे
 हैं ॥५५॥ इस प्रकार विचार कर चंचल लक्ष्मीको छोड़नेके अभिलाषी बुद्धिमान् राजा वज्र-
 बाहुने अपने पुत्र वज्रजङ्घका अभिषेक कर उसे राज्यकार्यमें नियुक्त किया ॥५६॥ और स्वयं

१. राजालये । २. लक्ष्मीनिवासे । ३. मातापितृवियोगात् । ४. प्रशस्ता । ५. गलीनम् । ६. युगलान् ।
 ७. घनकनकसमृद्धिः । ८. अश्रमिव विलास्यते विलयमेव्यति । ९. व्यभिचारिण्यः । १०. अनुभवकालमायम् ।
 ११ पतदवाटीनीरम् । १२. अस्थिरम् । १३. प्रहातुमिच्छुः । १४. शीघ्रम् । १५. पञ्चशतप्रमिताः ।

श्रीमतीतनवाश्चामी वीरबाहुपुरोगमाः^१ । समं राजर्षिणाऽमेन तदा संयमिनोऽभवन् ॥५८॥

यमैः सममुपाकृतं^२ सुखिभिर्विहरन्मत्सौ । क्रमादुपाशं कैवल्यं परं धाम समासदत् ॥५९॥

वज्रजङ्घस्ततो राज्यसंपदं प्राप्य पैतृकीम्^३ । निरपि क्षत्रिं भोगान् प्रकृतीरनुरञ्जयत् ॥६०॥

अथान्यदा महाराजो वज्रदन्तो महर्षिकः । सिंहासने सुखासीनो नरेभ्यैः परिवेष्टितः ॥६१॥

तथासीनस्य^४ चोद्यानपालो विकसितं नवम् । सुगन्धिपद्ममानीय तस्य हस्ते ददी मुदा ॥६२॥

पाणौकृत्य^५ तदाजिघ्रन् स्वाननामोदसुन्दरम् । संग्रीतः करपद्मेन लविभ्रममविभ्रमम्^६ ॥६३॥

तद्गन्धलोलुपं तत्र स्वं लोकान्तराश्रितम्^७ । दृष्ट्वा किं विषयासंगाद्^८ विरराम^९ सुधीरसौ ॥६४॥

अहो मदाकिरेषोऽत्र गन्धाकुशल्या रसं^{१०} पिबन् । दिनापाये निरुद्धोऽभूद्^{११} व्यसुर्धिग्विषयैश्चिताम्^{१२} ॥६५॥

विषया विषमाः पाके किम्पाकसदृशा इमे । आपातरम्या^{१३} धिगिमाननिष्ठफलदायिनः ॥६६॥

अहो धिगस्तु भोगाऽमिदमङ्गं^{१४} कारीरिणाम् ।^{१५} विलीयते^{१६} शरमेण विकार्यमतिपेक्षम्^{१७} ॥६७॥

तद्विदुर्मिषिता^{१८} लोला लक्ष्मीराकालिकं^{१९} सुखम् । इमाः स्वप्नविदेशीया^{२०} विमर्शयो धनन्दयः ॥६८॥

राज्य तथा भोगोंसे विरक्त हो शीघ्र ही श्रीयमधरमुनिके समीप जाकर पाँच सौ राजाओंके साथ जिनदीक्षा ले ली ॥५७॥ उसी समय वीरबाहु आदि श्रीमतीके अट्टानवे पुत्र भी इन्हीं राजाओंके वज्रबाहुके साथ दीक्षा लेकर संयमी हो गये ॥५८॥ वज्रबाहु मुनिराजने विशुद्ध परिणामोंके धारक वीरबाहु आदि मुनियोंके साथ चिरकाल तक विहार किया फिर क्रम-क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षरूपी परमधामको प्राप्त किया ॥५९॥ उधर वज्रजंघ भी पिताकी राज्य-विभूति प्राप्त कर प्रजाको प्रसन्न करता हुआ चिरकाल तक अनेक प्रकारके भोग भोगता रहा ॥६०॥

अनन्तर किसी एक दिन बड़ी विभूतिके धारक तथा अनेक राजाओंसे घिरे हुए महाराज वज्रदन्त सिंहासनपर सुखसे बैठे हुए थे ॥६१॥ कि इतनेमें ही वनपालने एक नयीन खिला हुआ सुगन्धित कमल लाकर बड़े हर्षसे उनके हाथपर अर्पित किया ॥६२॥ वह कमल राजाके मुखकी सुगन्धके समान सुगन्धित और बहुत ही सुन्दर था। उन्होंने उसे अपने हाथमें लिया और अपने करकमलसे घुमाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सूँघा ॥६३॥ उस कमलके भीतर उसकी सुगन्धिका लोभी एक भ्रमर रुककर मरा हुआ पड़ा था। ज्यों ही बुद्धिमान महाराजने उसे देखा त्यों ही वे विषयभोगोंसे विरक्त हो गये ॥६४॥ वे विचारने लगे कि—अहो, यह मदनमत्त भ्रमर इसकी सुगन्धिसे आकृष्ट होकर यहाँ आया था और रस पीते-पीते ही सूर्यास्त हो जानेसे इसीमें घिरकर मर गया। ऐसी विषयोंकी चाहको धिक्कार हो ॥६५॥ ये विषय किंपाक फलके समान विषम हैं। प्रारम्भकालमें अर्थात् सेवन करते समय तो अच्छे मालूम होते हैं परन्तु फल देते समय अनिष्ट फल देते हैं इसलिए इन्हें धिक्कार हो ॥६६॥ प्राणियोंका यह शरीर जो कि विषय-भोगोंका साधन है शरद् ऋतुके बादलके समान क्षण-भरमें बिलीन हो जाता है इसलिए ऐसे शरीरको भी धिक्कार हो ॥६७॥ यह लक्ष्मी विजलीकी चमकके समान चंचल है, यह इन्द्रिय-सुख भी अस्थिर है और धन-धान्य आदिकी विभूति भी स्वप्नमें प्राप्त हुई विभूतिके

१. प्रमुखाः । २. मुगलैः, श्रीमतीपुत्रैः । ३. धृता । ४. पितुः सकाशादागता पैतृकी ताम् । 'उष्णम्' इति सूत्रेण आगतार्थे ऽन् । ततः स्त्रियां ङोप्प्रत्ययः । ५. अम्बभूत् । ६. प्रजापरिवारान् । ७. तथासीनस्य म०, ल० । ८. स्वीकृत्य । 'नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृती' इति निरयं तिसंज्ञी भवतः । ९. —मतिभ्रमात् प० । —मविभ्रमन् ल० । १०. तत् कमलम् । ११. मरणमाश्रितम् । १२. विषयासक्तः । १३. अपसरति स्म । १४. मकरन्दम् । १५. गतप्राणः । १६. विषयवाञ्छाम् । १७. अनुभवकालः । १८. भोगकारणम् । १९. विलीयते ल० । २०. शरदभ्रमिव । २१. अस्थिरम् । २२. वान्तिः । २३. वज्रजङ्घम् । २४. स्वप्नसंपत्समानाः ।

जगान् भो गालु^१ सीहन्ते कथमेतान् मनस्विनः । ये विलोभयितुं जन्तूनायान्ति च विधन्ति^२ च ॥६९॥
 वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसंपदः । वस्तुवाहनमण्यस्य सुरक्षापवदस्थिरम् ॥७०॥
 गृध्राग्रलवनवाविन्नुर्विनिपातोऽमुल्लो यथा । तथा प्राणभृतामायुर्विलोभो विनिपातकः ॥७१॥
 भग्रेसरीजरातङ्गाः^३ पार्ष्णिग्राहा^४ स्तरस्विनः^५ । कषायाटविकैः^६ सार्द्धं यमराङ्गमरोधमा^७ ॥७२॥
 अक्षग्रामं वृद्धस्थेते^८ संतर्पयिषमार्जिया । विषया विषमोऽन्धानवेदना^९ लुब्धयन्त्ययान् ॥७३॥
 प्राणिनां सुखमक्षयीषो भूयिष्ठं दुःखमेव तु । संसृतौ तद्विहावासः कस्कः^{१०} कौतस्कुतोऽप्यथा ॥७४॥
 तनुमात्रं विषयानीप्सन् क्लेशैः प्रागेव ताम्बति । मुञ्जानरसूतयोगेन वियोगेऽनुशयानकः^{११} ॥७५॥
 यद्यथाक्षतरं नृपं यस्तदाक्षवरं भवेत् । यथायं यथसैन्यभुक्तं तत्कुलं^{१२} शोचसीयसम्^{१३} ॥७६॥
 सुखं दुःखानुगन्धीदं सदा सनिधनं धनम् । संयोगा विप्रयोगान्ता विपदन्ताश्च संपदः ॥७७॥
 इत्यशाश्वतिकं विषयं जीवलोकं^{१४} विलोकयन्^{१५} । विषयान् विषयन्मेने पर्यन्तविरसानसी ॥७८॥
 इति निर्विघ्नं^{१६} मोगेषु साम्राज्यभरमात्मनः । सूनवेऽमिततेजोऽभिधानाय स्म प्रदित्यति^{१७} ॥७९॥

समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली है ॥६८॥ जो भोग संसारी जीवोंको लुभानेके लिए आते हैं और लुभाकर तुरन्त ही चले जाते हैं ऐसे इन विषयभोगोंकी भास करनेके लिए हे विद्वज्जनो, तुम क्यों भारी प्रयत्न करते हो ॥६९॥ शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसम्पदाएँ, गृह, सवारी आदि सभी कुछ इन्द्रधनुषके समान अस्थिर हैं ॥७०॥ जिस प्रकार तृणके अग्रभागपर लगा हुआ जलका बिन्दु पतनके सम्मुख होता है उसी प्रकार प्राणियोंकी आयुका विलास पतनके सम्मुख होता है ॥७१॥ यह यमराज संसारी जीवोंके साथ सदा युद्ध करनेके लिए तत्पर रहता है । वृद्धावस्था इसकी सबसे आगे चलनेवाली सेना है, अनेक प्रकारके रोग पीछेसे सहायता करनेवाले बलवान् सैनिक हैं और कषायरूपी भील सदा इसके साथ रहते हैं ॥७२॥ ये विषय-वृष्णारूपी विषम ज्वालाओंके द्वारा इन्द्रिय-समूहको जला देते हैं और विषमरूपसे उत्पन्न हुई वेदना प्राणोंको नष्ट कर देती है ॥७३॥ जब कि इस संसारमें प्राणियोंको सुख तो अत्यन्त अल्प है और दुःख ही बहुत है तब फिर इसमें सन्तोष क्या है ? और कैसे हो सकता है ? ॥७४॥ विषय प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ यह प्राणी पहले तो अनेक क्लेशोंसे दुःखी होता है फिर भोगते समय तृप्ति न होनेसे दुःखी होता है और फिर वियोग हो जानेपर पश्चात्ताप करता हुआ दुःखी होता है । भावार्थ—विषय-सामग्रीकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—१ अर्जन, २ भोग और ३ वियोग । यह जीव उक्त तीनों ही अवस्थाओंमें दुःखी रहता है ॥७५॥ जो कुल आज अत्यन्त धनाढ्य और सुखी माना जाता है वह कल दरिद्र हो सकता है और जो आज अत्यन्त दुःखी है वही कल धनाढ्य और सुखी हो सकता है ॥७६॥ यह सांसारिक सुख दुःख उत्पन्न करनेवाला है, धन विनाशसे सहित है, संयोगके बाद वियोग अवश्य होता है और सम्पत्तियोंके अनन्तर विपत्तियाँ आती हैं ॥७७॥ इस प्रकार समस्त संसारको अनित्यरूपसे देखते हुए चक्रवर्तिने अन्तमें नीरस होनेवाले विषयोंको विषयके समान माना था ॥७८॥

इस तरह विषयभोगोंसे विरक्त होकर चक्रवर्तिने अपने साम्राज्यका भार अपने

१. प्रवेष्टुम् । २. प्राप्नुमिष्यर्थः । ३. नश्यन्ति । ४. जीवितस्फूर्तिः । ५. पतनशीलः । ६. व्याजयः । ७. पृष्ठवर्तिनः । ८. वेगिनः । 'तरस्वी स्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः' । ९. अटवीचरः । १०. यमराङ्गमरोधनी अ० । ११. युद्धसन्नद्धो भवति । १२. वाञ्छा । १३. चोरमस्ति । १४. 'कस्काक्षिपु' इति सूत्रात् सिद्धः । १५. जयमपि तथैव । १६. अनुशयान एव अनुशयानकः, पश्चात्तापवान् । १७. 'कुलमन्त्रयसङ्घातगृहीत्यस्याश्रमेषु च' । १८. मंगलार्थं निपातोऽयम् । १९. मर्त्यलोकम् । २०. विचारयन् । २१. निर्बेदपरो भूत्वा । २२. प्रदातुमिच्छति ।

प्रक्षिप्ततामुना राज्यं भूयो भूयोऽनुबन्धता । समाविष्टोऽप्यसौ वैष्णवः सामुजो राज्यसंपदम् ॥८०॥
 सैवैव यदिदं राज्यं युष्माभिः प्रजिहासितम्^२ । नेष्ट्याभ्यलम्भेनार्थं मा भूदाज्ञाप्रतीपता^३ ॥८१॥
 युष्माभिः सममेवाहं प्रवास्यामि तपोवनम् । यौष्माकी या गतिः सा^४ वै समापीत्यमणीद् गिरम् ॥८२॥
 ततस्तन्निश्चयं शारवा राज्यं तस्मिन्ने ददौ । पुण्डरीकाय बालाय सन्तानस्थितिपाकिने ॥८३॥
 स यशोधरयोगीन्द्रशिष्यं गुणधरं श्रितः । सपुत्रदारो राजर्षिरदीक्षिष्ट धृपैः समम् ॥८४॥
 देव्यः वदितव्यत्वाच्च तत्पुत्रप्रमिता^५ नृपाः । प्रभू^६ तमन्वदीक्षन्त सवर्षं च सुतोषमाः ॥८५॥
 पण्डितापि तदात्मानुरूपं दीक्षां समावदौ । तदेव ननु पाण्डित्यं यत् संसारात् समुद्धरेत् ॥८६॥
 ततश्चक्रधरापाषाणक्ष्मीमतिरगाचक्षुषम् । अनुन्धर्वा सहोष्णाद्युवियोगाक्षलिनी यथा ॥८७॥
 पुण्डरीकमथादाय बालं मन्त्रिपुरस्कृतम्^७ । तं प्रविष्टाः^८ पुरीं कोकाद् विच्छाद्यत्स्वमुपागताम् ॥८८॥
 ततोऽभून्महती चिन्ता लक्ष्मीमत्या महामरे । राज्ये बाळोऽयमव्यक्तः स्थापितो नप्तृमाण्डकम्^९ ॥८९॥
 कथं नु पालयाम्येवं विना पक्ष^{१०} बलादहम् । वज्रजङ्घस्थ तन्मूलं^{११} प्रहिणोम्यद्य^{१२} धीमतः ॥९०॥
 तेनाधिष्ठितं^{१३} मध्येदं राज्यं निष्कण्टकं सधेत् । अन्यथा गतं^{१४} मेवैतदाकान्तं बलिभिर्नृपैः ॥९१॥

अमिततेज नामक पुत्रके लिए देना चाहता ॥७९॥ और राज्य देनेकी इच्छासे उससे बार-बार आप्रह भी किया परन्तु वह राज्य लेनेके लिए तैयार नहीं हुआ । इसके तैयार न होनेपर इसके छोटे भाइयोंसे कहा गया परन्तु वे भी तैयार नहीं हुए ॥८०॥ अमिततेजने कहा—हे देव, जब आप ही इस राज्यको छोड़ना चाहते हैं तब यह हमें भी नहीं चाहिए । मुझे यह राज्यभार व्यर्थ मालूम होता है । हे पूज्य, मैं आपके साथ ही तपोवनको चलींगा इससे आपकी आज्ञा भंग करनेका दोष नहीं लगेगा । हमने यह निश्चय किया है कि जो गति आपकी है वही गति मेरी भी है ॥८१-८२॥ तदनन्तर, वज्रदन्त चक्रवर्तिने पुत्रोंका राज्य नहीं लेनेका हृद निश्चय जानकर अपना राज्य, अमिततेजके पुत्र पुण्डरीकके लिए दे दिया । उस समय वह पुण्डरीक छोटी अवस्थाका था और वही सन्तानकी परिपाटीका पालन करनेवाला था ॥८३॥ राज्यकी व्यवस्था कर राजर्षि वज्रदन्त यशोधर तीर्थकरके शिष्य गुणधर मुनिके समीप गये और वहाँ अपने पुत्र, स्त्रियों तथा अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो गये ॥८४॥ महाराज वज्रदन्तके साथ साठ हजार रानियोंने, बीस हजार राजाओंने और एक हजार पुत्रोंने दीक्षा धारण की थी ॥८५॥ उसी समय श्रोमतीकी सखी पण्डिताने भी अपने अनुरूप दीक्षा धारण की थी—व्रत ग्रहण किये थे । वास्तवमें पाण्डित्य वही है जो संसारसे उद्धार कर दे ॥८६॥

तदनन्तर, जिस प्रकार सूर्यके विद्योगसे कमलिनी शोकको प्राप्त होती है उसी प्रकार चक्रवर्ती वज्रदन्त और अमिततेजके विद्योगसे लक्ष्मीमती और अनुन्धरी शोकको प्राप्त हुई थी ॥८७॥ पश्चात् जिन्होंने दीक्षा नहीं ली थी मात्र दीक्षाका उत्सव देखनेके लिए उनके साथ-साथ गये थे ऐसे प्रजाके लोग, मन्त्रियों-द्वारा अपने आगे किये गये पुण्डरीक बालकको साथ लेकर नगर-में प्रविष्ट हुए । उस समय वे सब शोकसे कान्तिशून्य हो रहे थे ॥८८॥ तदनन्तर लक्ष्मीमतीको इस बातकी भारी चिन्ता हुई कि इतने बड़े राज्यपर एक छोटा-सा अप्रसिद्ध बालक स्थापित किया गया है । यह हमारा पौत्र (नाती) है । बिना किसी पक्षकी सहायताके मैं इसकी रक्षा किस प्रकार कर सकूंगी । मैं यह सब समाचार आज ही बुद्धिमान् वज्रजङ्घके पास भेजती हूँ । उनके

१. समीचीनमेव । २. प्रहातुमिष्टम् । ३. प्रतिकूलता । ४. सैव द०, स०, म०, ल० । ५. विनाशित-सहस्रप्रमिताः । ६. 'दायैऽनुता' इति द्वितीया । ७. अङ्गीकृतम् । ८. तं प्रविष्टे पुरीं कोकाद्विच्छाद्यत्स्वमुपागते द०, ट० । ९. तं प्रविष्टाः पुरीं कोकाद्विच्छाद्यत्स्वमुपागताः स० । १०. लक्ष्मीमत्यनुन्धर्वा । ११. प्रविष्टे प्रविशितः । १२. नप्तृमाण्डकः अ० । १३. एव मूलधनम् । १४. सहायबलाद् । १५. तत्कारणम् । १६. प्राहिणोम्यद्य अ०, प० । १७. वज्रजङ्घेन । १८. स्थापितम् । १९. नष्टम् ।

निश्चित्येति समाहूय सुतौ मन्दरमालिनः । सुन्दर्याश्च स्वगाभीरौ गन्धर्वपुरपालिनः ॥९२॥
 चिन्तामनोगती स्निग्धौ^१ शुची^२ वक्षौ महाश्वयौ । अनुरक्तौ^३ श्रुताशेषशास्त्राभौ कार्यकोविदौ ॥९३॥
 कश्चिद्विद्यतत्कार्यपत्री सोपायनी तदा । प्रहिणोद् वज्रजङ्घस्य पार्श्वे सन्देशपूर्वकम् ॥९४॥
 चक्रवर्ती^४ वनं यातः सपुत्रपरिवारकः । पुण्डरीकस्तु राज्येऽस्मिन् पुण्डरीकाननः स्थितः ॥९५॥
 न चक्रवर्तिनो राज्यं नवायं बालोऽसिदुर्बलः । तदर्थं^५ पुङ्गवैर्धायै^६ भरे^७ दम्बो^८ नियोजितः ॥९६॥
 बालोऽयमबले चावां राज्यं चेदमनायकम् ।^९ विशीर्णप्रायमेतस्य पालनं त्वयि तिष्ठते^{१०} ॥९७॥
^{११} अकालहरणं तस्मादागन्तव्यं महाधिया । त्वया स्वस्वविधानेन भूयाद् राज्यमविप्लवम्^{१३} ॥९८॥
 इति^{१२} वाचिकमादाय तौ तदोत्पेततुर्नमः । पयोदाक्षरव्या^{१४} दूरमाकर्षन्तौ समीपगान् ॥९९॥
 स्वचिज्जलधरास्तुङ्गान् स्वमार्गस्थ निरोधिनः । विमिन्दन्तौ पयोविन्वून् क्षरतोऽध्रुलवानिष ॥१००॥
 तौ पश्यन्तौ नदीदूरात्^{१५} तन्वीर्यन्तपाण्डुराः । घनागमस्थ कान्तस्य विरहेणैव क्लिप्ताः ॥१०१॥
 भग्वानौ दूरभावेन^{१६} पारिमाण्डवमागतान्^{१७} । भूमाविष निमग्नाङ्गानर्कतापमयाद् गिरीन् ॥१०२॥

द्वारा अधिष्ठित (व्यवस्थित) हुआ इस बालकका यह राज्य अवश्य ही निष्कटंक हो जायेगा
 अन्यथा इसपर आक्रमण कर बलवान् राजा इसे अवश्य ही नष्ट कर देंगे ॥ ८९-९१ ॥ ऐसा
 निश्चय कर लक्ष्मीमतीने गन्धर्वपुरके राजा मन्दरमाली और रानी सुन्दरीके चिन्तागति और
 मनोगति नामक दो विद्याधर पुत्र बुलाये । वे दोनों ही पुत्र चक्रवर्तीसे भारी स्नेह रखते थे, पवित्र
 हृदयवाले, चतुर, उज्जकुलमें उत्पन्न, परस्परमें अनुरक्त, समस्त शास्त्रोंके जानकार और कार्य
 करनेमें बड़े ही कुशल थे ॥ ९२-९३ ॥ इन दोनोंको, एक पिटारेमें रखकर समाचारपत्र दिया तथा
 दामाद और पुत्रीको देनेके लिए अनेक प्रकारकी भेंट दी और नीचे लिखा हुआ सन्देश कहकर
 दोनोंको वज्रजङ्घके पास भेज दिया ॥ ९४ ॥ 'वज्रजङ्घ' चक्रवर्ती अपने पुत्र और परिवारके
 साथ वनको चले गये हैं—वनमें आकर दीक्षित हो गये हैं । उनके राज्यपर कमलके समान
 मुखवाला पुण्डरीक बैठाया गया है । परन्तु कहाँ तो चक्रवर्तीका राज्य और कहाँ यह दुर्बल
 बालक ? सचमुच एक बड़े भारी बैलके द्वारा उठाने योग्य भारके लिए एक छोटा-सा बछड़ा नियुक्त
 किया गया । यह पुण्डरीक बालक है और हम दोनों सास बहू स्त्री हैं इसलिए यह बिना स्वामी-
 का राज्य प्रायः नष्ट हो रहा है । अब इसकी रक्षा आपपर ही अवलम्बित है । अतएव अविचलन्व
 आइए । आप अत्यन्त बुद्धिमान् हैं । इसलिए आपके सन्निधानसे यह राज्य निरुपद्रव हो
 जायेगा' ॥ ९५-९८ ॥ ऐसा सन्देश लेकर वे दोनों उसी समय आकाशमार्गसे चलने लगे । उस
 समय वे समीपमें स्थित मेघोंको अपने वेगसे दूर तक स्वीचकर ले जाते थे ॥ ९९ ॥ वे कहींपर
 अपने मार्गमें रुकावट डालनेवाले ऊँचे-ऊँचे मेघोंको चीरते हुए जाते थे । उस समय उन मेघोंसे
 जो पानीकी बूँदें पड़ रही थीं उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो आँसू ही बहा रहे हों । कहीं
 नदियोंको देखते जाते थे, वे नदियाँ दूर होनेके कारण ऊपरसे अत्यन्त कृश और श्वेतवर्ण दिखाई
 पड़ती थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वर्षाकालरूपी पतिके विरहसे कृश और पाण्डुरवर्ण
 हो गयी हों । वे पर्वत भी देखते जाते थे उन्हें दूरीके कारण वे पर्वत गोल-गोल दिखाई पड़ते थे

१. विद्याधरपतेः । २. चिन्तागतिमनोगतिनामानौ । ३. स्नेहितौ । ४. संस्कारयुक्तौ । ५. सन्देशः
 वाचिकम् । 'सन्देशवाग् वाचिकं स्यात् ।' ६. वृषभश्रेष्ठैः । ७. पुंगवौ धायै अ०, प०, स० । ८. भारे अ०,
 ल० । ९. बालवत्सः । १०. जीर्णसदृशम् । ११. निर्णयो भवति । १२. कालहरणं न कर्तव्यम् । १३. बाधा-
 रहितम् । १४. 'सन्देशवाग् वाचिकं स्यात् ।' १५. वेगेन । १६. दूरत्वात् । १७. परमसूक्ष्मत्वम् ।
 १८.—त्यसंगतान् प०, ल० ।

दोषिकाम्भो भुवो न्यस्तमिबैकमतिवर्तुलम् । तिलकं कूरताहंनोः प्रेक्षमाणावनुक्षणम् ॥१०३॥
 क्रमादापततामेतौ पुरमुत्पलखेटकम् । मन्दसंगीतनिर्घोषवधिरोकृतदिङ्मुखम् ॥१०४॥
 द्वाःस्यैः प्रणोयमानौ च प्रविश्य नृपमन्दिरम् । महानृपसमासीनं वज्रजङ्घमदर्शिताम् ॥१०५॥
 कतप्रणामौ तौ तस्य पुरो रत्नकरपटकम् । निष्किपतुरन्तस्थपत्रकं सहुपाचनम् ॥१०६॥
 तदुन्मुद्रय तदस्तस्य गृहीत्वा कार्यपत्रकम् । निरूप्य विस्मितश्चक्रवर्तिप्राज्यैर्निर्णयात् ॥१०७॥
 अहो चक्रवरः पुण्यभागी साम्राज्यवैभवम् । त्यक्त्वा दीक्षासुपायंस्तु विचिन्ताङ्गी वधूमिव ॥१०८॥
 अहो पुण्यधनाः पुत्राश्चविणोऽचिन्त्यसाहसः । अवमत्याधिराज्यं ये समं पित्रा दिदीक्षिरे ॥१०९॥
 पुण्डरीकस्तु संकुलपुण्डरीकाननघुतिः । राज्ये निवेशितो धुर्यै रुडमारै स्तनम्भयः ॥११०॥
 मामी च 'सक्तिशाली' ते प्रतिपालयति हतम् । तदुन्मुद्रयमायेति दुर्वोधः कार्यसम्भवः ॥१११॥
 इति निश्चितलेखार्थः कृतधीः कृत्यकोविदः । स्वयं निर्णयमर्थं तं श्रीमतीमप्यबोधयत् ॥११२॥
 वाचिकेन च संवादं लेखार्थस्य विभावयन् । प्रस्थाने पुण्डरीकिण्या मतिमाधात् स भीषणः ॥११३॥
 श्रीमती च समाधास्य तद्वाक्ताकर्णनाकुलाम् । तया समं समालोच्य प्रयाणं निश्चिन्तय सः ॥११४॥

जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सूर्यके सन्तापसे डरकर जमीनमें ही छिपे जा रहे हों । वे बाढ़-
 डियोंका जल भी देखते जाते थे । दूरीके कारण वह जल उन्हें अत्यन्त गोल मालूम होता था
 जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीरूप स्त्रीने चन्दनका सफेद तिलक ही लगाया हो ।
 इस प्रकार प्रत्येक क्षण मार्गकी शोभा देखते हुए वे दोनों अनुक्रमसे उत्पलखेटक नगर जा पहुँचे ।
 वह नगर संगीत कालमें होनेवाले गम्भीर शब्दोंसे दिशाओंको बधिर (बहरा) कर रहा था ॥१००-
 १०४॥ जब वे दोनों भाई राजमन्दिरके समीप पहुँचे तब द्वारपाल उन्हें भीतर ले गये । उन्होंने
 राजमन्दिरमें प्रवेश कर राजसभामें बैठे हुए वज्रजङ्घके दर्शन किये ॥१०५॥ उन दोनों विद्याधरों-
 ने उन्हें प्रणाम किया और फिर उनके सामने, लायी हुई भेंट तथा जिसके भीतर पत्र रखा हुआ
 है ऐसा रत्नमय पिटारा रख दिया ॥१०६॥ महाराज वज्रजङ्घने पिटारा खोलकर उसके भीतर
 रखा हुआ आवश्यक पत्र ले लिया । उसे देखकर उन्हें चक्रवर्तीके दीक्षा लेनेका निर्णय हो गया
 और इस बातसे वे बहुत ही विस्मित हुए ॥१०७॥ वे विचारने लगे कि अहो, चक्रवर्ती बड़ा ही
 पुण्यात्मा है जिसने इतने बड़े साम्राज्यके वैभवको छोड़कर पवित्र अंगवाली स्त्रीके समान दीक्षा
 धारण की है ॥१०८॥ अहो ! चक्रवर्तीके पुत्र भी बड़े पुण्यशाली और अचिन्त्य साहसके धारक
 हैं जिन्होंने इतने बड़े राज्यको ठुकराकर पिताके साथ ही दीक्षा धारण की है ॥१०९॥ फूले हुए
 कमलके समान मुखकी कान्तिका धारक बालक पुण्डरीक राज्यके इन महान् भारको वहन करनेसे
 लिए निश्चुक्त किया गया है और मामो लक्ष्मीमती 'कार्य चलाना कठिन है' यह समझकर राज्यमें
 शान्ति रखनेके लिए शीघ्र ही मेरा सन्निधान चाहती हैं अर्थात् मुझे बुला रही हैं ॥११०-१११॥
 इस प्रकार कार्य करनेमें चतुर बुद्धिमान् वज्रजङ्घने पत्रके अर्थका निश्चय कर स्वयं निर्णय कर
 लिया और अपना निर्णय श्रीमतीको भी समझा दिया ॥११२॥ पत्रके सिवाय उन विद्याधरोंने
 लक्ष्मीमतीका कहा हुआ मौखिक सन्देश भी सुनाया था जिससे वज्रजङ्घको पत्रके अर्थका
 ठीक-ठीक निर्णय हो गया था । तदनन्तर बुद्धिमान् वज्रजङ्घने पुण्डरीकिणी पुरी जानेका
 विचार किया ॥११३॥ पिता और भाईके दीक्षा लेने आदिके समाचार सुनकर श्रीमतीको
 बहुत दुःख हुआ था परन्तु वज्रजङ्घने उसे समझा दिया और उसके साथ भी गुण-दोषका

१. तदुन्मुद्रितमस्तःस्थं प० । तदुन्मुद्रय ल० । २. प्रावाज्य-प०, म०, द०, ल०, म० । ३. उपपन्नते
 स्म । स्वीकरोति स्म । 'यसो विवाहे' उपाद्यमेस्तल्लो भवति विवाहे इति तद् । ४. पवित्राङ्गीम् । ५. अवज्ञा
 कृत्वा । अवमत्याधि-प० । ६. चरन्वरैः । ७. मातुलानो । ८. सामोप्यम् । ९. प्रतीक्षते ।

विभूष्य च पुरो दूतमुत्थौ तौ कृतसक्रियौ । स्वयं तदनुमार्गेण प्रयाणायोद्यतो नृपः ॥११५॥
 ततो मतिवरानन्दौ धनमित्रोऽप्यकम्पनः । महामन्त्रिपुरोधोऽप्यश्रेष्ठिसेनाधिनाथकाः ॥११६॥
 प्रधानपुरुषाश्चाप्ये प्रयाणोद्यतबुद्धयः । परिवर्जनेन्द्रे तं शतक्रतुमिवामराः ॥११७॥
 तस्मिन्नेवाहि सोऽह्वाय^१ प्रस्थानमकरोत् कृती । महान् प्रयाणसंक्षोभस्तदाभूत्तक्रियोगिताम् ॥११८॥
 यूयमावदसौवर्णप्रवेष्टादिपरिच्छदाः^२ । करेणुर्मवृषैमुख्यात्^३ सतीः कुलवधूरिव ॥११९॥
 राज्ञीनामधिरोहाय सखाः प्रापयत दूतम् । यूयमन्वतरीराशु पर्याणयत^४ शीघ्रम् ॥१२०॥
 नृपवल्लभिकामा च यूयमर्पयताश्चिमाः । कायवाहजनान्^५ यूयं मवेष्टयत दुर्दमान् ॥१२१॥
 तुरङ्गमकुलं चेदमापाव्योदकमाशुगम्^६ । बद्धपर्षाणिकं यूयं कुरुष्व सुवयोऽन्वितम् ॥१२२॥
 भुजिष्वाः सर्वकर्मिणा^७ यूयमाह्वयत दूतम्^८ । पाकधान्यपरिक्षोभ^९ शोधनादिनियोगिनीः ॥ २३॥
 यूयं महानसे राज्ञी नियुक्ताः सर्वसंपदाः । समग्रयत^{१०} तद्योग्या सामग्रीं निरवग्रहाः^{११} ॥१२५॥
 यूयं गोमण्डलं चारु चारुसकं बहुधेनुकम् । सोदकेषु प्रदेशेषु सज्जायेध्वभिरक्षत ॥१२६॥
 यूयमारक्षत जैण^{१२} राजकीयं प्रयकतः । सपाठीना इवाम्मोघेस्तरङ्गा भासुरातपः^{१३} ॥१२७॥

विचार कर साथ-साथ वहाँ जानेका निश्चय किया ॥ ११४ ॥ तदनन्तर सूख आदर-सत्कारके साथ उन दोनों विद्याधर दूतोंको उन्होंने आगे भेज दिया और स्वयं उनके पीछे प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥११५॥

तदनन्तर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन इन चारों महामन्त्री, पुरोहित, राजसेठ और सेनापतियोंने तथा और भी चलनेके लिए उद्यत हुए प्रधान पुरुषोंने आकर राजा वज्रजंघको उस प्रकार घेर लिया था जिस प्रकार कि कहीं जाते समय इन्द्रको देव लोग घेर लेते हैं ॥११६-११७॥ उस कार्यक्षुशल वज्रजंघने उसी दिन शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया । प्रस्थान करते समय अधिकारी कर्मचारियोंमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ११८ ॥ वे अपने सेवकोंसे कह रहे थे कि तुम रानियोंके सवार होनेके लिए शीघ्र ही ऐसी हथिनियाँ लाओ जिनके गलेमें सुवर्णमय मालाएँ पड़ी हों, पीठपर सुवर्णमय झूलें पड़ी हों और जो मवरहित होनेके कारण कुलीन स्त्रियोंके समान साध्वी हों । तुम लोग शीघ्र चलनेवाली खबरियोंको जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो । तुम स्त्रियोंके चढ़नेके लिए पालकी लाओ और तुम पालकी ले जानेवाले सज्जुत कहारोंको खोजो । तुम शीघ्रगामी तरुण घोड़ोंको पानी पिलाकर और जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो । तुम शीघ्र ही ऐसी दासियाँ धुलाओ जो सब काम करनेमें चतुर हों और खासकर रसोई बनाना, अनाज कूटना, शोधना आदिका आर्य कर सकें । तुम सेनाके आगे-आगे जाकर ठहरनेकी जगहपर डेरा-तम्बू आदि तैयार करो तथा घास-भुस आदिके ऊँचे-ऊँचे ढेर लगाकर भी तैयार करो । तुम लोग सब सम्पदाओंके अधिकारी हो इसलिए महाराजकी भोजनशालामें नियुक्त किये जाते हो । तुम बिना किसी प्रतिबन्धके भोजनशालाकी समस्त योग्य सामग्री इकट्ठी करो । तुम बहुत दूध देनेवाली और बल्लडोंसहित सुन्दर-सुन्दर गायें ले जाओ, मार्गमें उन्हें जल-सहित और छायावाले प्रदेशोंमें सुरक्षित रखना । तुम लोग हाथमें चमकीली तलवार लेकर

१. सपदि । २. कण्ठभूषादिपरिकराः । ३. विमुखत्वात् । ४. वेसरीः । ५. बद्धपर्षाणाः कुत । ६. कायटिजनान् । ७. निरकुशान् । ८. शीघ्रगमनम् । ९. चेटीः । १०. सर्वकर्मणि समर्थाः । ११. दूताः अ०, प०, द०, स० । १२. सोदः कुट्टनम् । १३. सूच्छिन्नीः द०, प० । सोच्छिन्नीः अ०, स० । १४. उदुताः । १५. कुत । १६. कायमानं तृणग्रहम् । 'कायमानं तृणौकसि' इत्यभिधान्वित्तामणिः । १७. समग्रं कुरुष्वम् । १८. निर्वाधाः । १९. स्त्रोसमूहम् । २०. राज इदम् । २१. भासुरलङ्काः ।

यूयं कञ्चुकिनो वृद्धा मध्येऽन्तःपुरयोषिताम् । अङ्गरक्षानियोगं स्वमद्युन्यं कुरुतादताः ॥१२८॥
 यूयमग्रेव पात्राण्य^२ कर्मण्येवानुतिष्ठत । यूयं समं समागत्य स्वान् जियोगान् प्रपश्यत ॥१२९॥
 देशाधिकारिणो गणना नूनं सोऽयत्नं ददन्तः । प्रतिप्रहीतुं भूनाथं सामग्रीं स्वातुरूपथा ॥१३०॥
 यूयं विभृत्^३ हस्तयश्च यूयं पालयतीहकम् । यूयं सथास्तकं भूरिक्षीरं रक्षत धेनुकम् ॥१३१॥
 यूयं जैनेश्वरीमर्ष्यां रत्नत्रयपुरस्सराम् । यजेत शान्तिकं कर्म समाधाय^४ महीक्षितः ॥१३२॥
 कृताभिषेचनाः सिद्धिषोषां गन्धाम्बुमिश्रिताम् । यूयं क्षिपेत् पुण्याशोः शान्तिघोषैः समं प्रभोः ॥१३३॥
 यूयं नैमित्तिकाः सन्ध्यां^५ निरूपितधुमोदयाः । प्रस्थानसमयं ब्रूत राज्ञो यात्राप्रसिद्धये^६ ॥१३४॥
 इति^७ तन्त्रनियुक्तानां^८ तदा कोलाहलो महान् । उद्दिष्टत् प्रमाणाय सामग्रीमनुतिष्ठताम् ॥१३५॥
 ततः करीमैस्तुरगैः पत्तिभिश्चोद्यतायुधैः । नृपाजिरमभूद् रुद्धं स्वन्दनैश्च समन्ततः ॥१३६॥
 सितातपत्रैर्मायूरपि^९ च्छं छत्रैश्च सूचिभूतैः । निरुद्धमभवद् व्योम अनैरिव सितासितैः ॥१३७॥
 छत्राणां निकुरम्बेण रुद्धं तेजोऽपि मास्थतः । सद्वृत्तसंनिधौ नूनं नाभा^{१०} तेजस्विनामपि ॥१३८॥
 रथानां वारणानां च केतवोऽ^{११}न्योऽन्यतोऽक्षिपन्^{१२} । पवनान्दोलिता दीर्घकालाद् दृष्ट्वै^{१३} तोषिणः ॥१३९॥

मछलियोंसहित समुद्रकी तरङ्गोंके समान शोभायमान होते हुए बड़े प्रयत्नसे राजाके रनवासकी रक्षा करना । तुम वृद्ध कंचुकी लोग अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मध्यमें रहकर बड़े आदरके साथ अंगरक्षाका कार्य करना । तुम लोग यहाँ ही रहना और पीछेके कार्य बड़ी सावधानीसे करना । तुम साथ-साथ जाओ और अपने-अपने कार्य देखो । तुम लोग जाकर देशके अधिकारियोंसे इस बातकी शीघ्र ही प्रेरणा करो कि वे अपनी योग्यतानुसार सामग्री लेकर महाराजको लेनेके लिए आयें । मार्गमें तुम हाथियों और घोड़ोंकी रक्षा करना, तुम ऊँटोंका पालन करना और तुम बहुत दूध देनेवाली बछड़ोंसहित गायोंकी रक्षा करना । तुम महाराजके लिए शान्ति-वाचन करके रत्नत्रयके साथ-साथ जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी पूजा करो । तुम पहले जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करो और फिर शान्तिवाचनके साथ-साथ पवित्र आशीर्वाद देते हुए महाराजके मस्तकपर गन्धोदकसे मिले हुए सिद्धोंके शेषाक्षत क्षेपण करो । तुम ज्योतिषी लोग मर्होंके शुभोदय आदिका अच्छा निरूपण करते हो इसलिए महाराजकी यात्राकी सफलताके लिए प्रस्थानका उत्तम समय बतलाओ । इस प्रकार उस समय वहाँ महाराज वज्रजंघके प्रस्थानके लिए सामग्री इकट्ठी करनेवाले कर्मचारियोंका भारी कोलाहल हो रहा था ॥ १२९-१३५ ॥ तदनन्तर राजभवनके आगेका चौक हाथी, घोड़े, रथ और हथियार लिये हुए पियादोंसे खचाखच भर गया था ॥ १३६ ॥ उस समय ऊपर उठे हुए सफेद छत्रोंसे तथा मयूरपिच्छके बने हुए नीले नीले छत्रोंसे आकाश व्याप्त हो गया था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ सफेद और कुछ काले मेघोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १३७ ॥ उस समय तने हुए छत्रोंके समूहसे सूर्यका तेज भी रुक गया था सो ठीक ही है । सद्धत—सदाचारी पुरुषोंके समीप तेजस्वी पुरुषोंका भी तेज नहीं ठहर पाता । छत्र भी सद्धत—सदाचारी (पक्षमें) गोल थे इसलिए उनके समीप सूर्यका तेज नहीं ठहर पाया था ॥ १३८ ॥ उस समय रथों और हाथियों-पर लगी हुई पताकाएँ बाधुके वेगसे हिलती हुई आपसमें मिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो बहुत समय बाद एक दूसरेकी देखकर सन्तुष्ट हो परस्परमें मिल ही रही

१. सादराः । २. पश्चात्कर्तुं योग्यानि कार्याणि । ३. सम्मुखागन्तुम् । ४. पोषयत । ५. धेनुसमूहम् । ६.—पुरस्सराः अ०, स० । ७. समाधानं कृत्वा । ८. क्षिपत द० । ९. प्रस्थाने समयं अ०, स० । १०. सिद्धिर्घयम् । ११. तन्त्रः परिच्छेदः । १२. तन्त्रनियुक्तानां प० । १३. उदेति स्म । १४.—पिच्छच्छत्रै- अ०, प०, द०, स०, म० । १५. आभा तेजः । १६.—न्योग्यमाक्षिपन् प०, अ०, स०, द०, म०, ल० । १७. आलिङ्गनं चक्रिरे । १८. दृष्ट्वैव ।

तुरङ्गमसुराद्भूताः प्रासपन् रणवः पुरः । मार्गमस्येव निर्देष्टुं नमोभागविलङ्घिनः ॥१४०॥
 करिणो मदधाराभिः शीकरैश्च करोजिह्वैः । हयलालाजलैश्चापि प्रणनाश महोरजः ॥१४१॥
 ततः पुरात् त्रिनिर्यान्ती सा चमूर्ध्वदधद् मृशम् । महानदीव सच्छत्रकेना वाजितरङ्गिका ॥१४२॥
 करीन्द्रध्रुवादीभिः^१ तुरङ्गमतरङ्गकैः । विलोलासिकतामस्यैः शुशुभे सा चमूर्ध्वनी ॥१४३॥
 ततः समीकृताशेषस्थलनिम्नमद्गीतला । अपर्याप्तमहामार्गा यथास्त्वं प्रसृता चमूः ॥१४४॥
 वनेमकटमुज्जित्वा दानसक्ता^२ मदाकिनः । न्यल्योयन्त नृपभेन्नकरटे^३ प्रक्षरन्मदे ॥१४५॥
 रम्यान् वनतलान् हित्वा राजस्तम्बेरमानमूर्त् । आश्रयन्मधुपाः प्रायः प्रत्यग्रं लोकरञ्जनम् ॥१४६॥
 नृपं वनानि रम्याणि प्रत्यगृह्णन्निवाध्वनि । फलपुष्पभरानघैः सान्द्रच्छाद्यैर्महाद्रुमैः ॥१४७॥
 तथा वनलतापुष्पपल्लवान् करपल्लवैः । भावहारवर्तसादिविन्ध्यासाय वधूजनः ॥१४८॥
 ध्रुवमक्षीणपुष्पदिं प्रासास्ते वनशाश्विनः । यत्सैनिकोपभोगेऽपि न जडुः पुष्पसंपदम् ॥१४९॥
 हयहेषितमातङ्ग-वृहद्वृद्धितनिस्वनैः । सुखरं तद्वलं शष्पसरोवरमथासदत् ॥१५०॥
 वधन्नुवरजःपुञ्जपिञ्जरीकृतवीचिकम् । कनकद्रवसच्छायं विमत्तिं स्माम्बुगीतलम् ॥१५१॥

हैं ॥१३९॥ घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूल आगे-आगे उड़ रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह बज्रजंघकी मार्ग दिखानेके लिए ही आकाश प्रदेशका उल्लंघन कर रही हो ॥१४०॥ हाथियोंकी मदधारासे, उनकी सूँडसे निकले हुए जलके छींटोंसे और घोड़ोंकी लार तथा फेनसे पृथ्वीकी सब धूल जहाँकी तहाँ शान्त हो गयी थी ॥१४१॥ तदनन्तर, नगरसे बाहर निकलती हुई वह सेना किसी महानदीके समान अत्यन्त शोभायमान हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार महानदीमें फेन होता है उसी प्रकार उस सेनामें सफेद छत्र थे और नदीमें जिस प्रकार लहरें होती हैं उसी प्रकार उसमें अनेक घोड़े थे ॥१४२॥ अथवा बड़े-बड़े हाथी ही जिसमें बड़े-बड़े जलजन्तु थे, घोड़े ही जिसमें तरंगें थीं और चंचल तलवारें ही जिसमें मल्लियाँ थीं ऐसी वह सेनारूपी नदी बड़ी ही सुशोभित हो रही थी ॥१४३॥ उस सेनाने ऊँची-नीची जमीनको सम कर दिया था तथा वह चलते समय बड़े भारी मार्गमें भी नहीं समाती थी इसलिए वह अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ फैलकर जा रही थी ॥१४४॥ 'प्रायः नवीन वस्तु ही लोगोंको अधिक आनन्द देती है, लोकमें जो यह कहावत प्रसिद्ध है वह बिलकुल ठीक है इसीलिए तो मदके लोभी भ्रमर जंगली हाथियोंके गण्डस्थल छोड़-छोड़कर राजा बज्रजंघकी सेनाके हाथियोंके मद बहानेवाले गण्डस्थलोंमें निलीन हो रहे थे और सुगन्धके लोभो कितने ही भ्रमर वनके मनोहर वृक्षोंको छोड़कर महाराजके हाथियोंपर आ लगे थे ॥१४५-१४६॥ मार्गमें जगह-जगह-पर फल और फूलोंके भारसे झुके हुए तथा घनो छायावाले बड़े-बड़े वृक्ष लगे हुए थे । उनसे ऐसा मालूम होता था मानो मनोहर वन उन वृक्षोंके द्वारा मार्गमें महाराज बज्रजंघका सत्कार ही कर रहे हों ॥१४७॥ उस समय स्त्रियोंने कर्णफूल आदि आभूषण बनानेके लिए अपने कर-पल्लवोंसे वनलताओंके बहुत-से फूल और पत्ते तोड़ लिये थे ॥१४८॥ मालूम होता है कि उन वनके वृक्षोंको अवश्य ही अक्षीणपुष्प नामकी ऋद्धि प्राप्त हो गयी थी इसीलिए तो सैनिकों-द्वारा बहुत-से फूल तोड़ लिये जानेपर भी उन्होंने फूलोंकी शोभाका परित्याग नहीं किया था ॥१४९॥ अथानन्तर घोड़ोंके हींसने और हाथियोंकी गम्भीर गर्जनाके शब्दोंसे शब्दायमान वह सेना क्रम-क्रमसे शष्प नामक सरोवरपर जा पहुँची ॥१५०॥

उस सरोवरकी लहरें कमलोंकी परागके समूहसे पीली-पीली हो रही थीं और इसीलिए वह पिघले हुए सुवर्णके समान पीले तथा शीतल जलको धारण कर रहा था ॥ १५१ ॥

१. प्रक्षरन्ति स्म । २. सर्पद्वरेणवः अ०, प०, स० । ३. उपदेष्टुम् । ४. जलचरैः । ५. मदासक्ताः ।

-सक्ताः अ०, प०, द० । ६. तिलीना वधूवुः । ७. गण्डस्थले । ८. आयन्ति स्म ।

वनपण्डितप्राप्तं यदकंस्थानाधो भृशम् । न तेषु संवृतं^१ को वा तपेदाग्निरात्मकम् ॥१५२॥
 विहङ्गमस्तैर्नूनं तस्सरो नृपसाधनम् । आजुहाव विवेकस्यमिहेत्युद्गीचिबाहुकम् ॥१५३॥
 ततस्तस्मिन् सरस्यस्य भवविधत्त बलं प्रभोः । तदगुह्यमलताच्छन्नपर्यन्ते^२ मृदुमारुते ॥१५४॥
 दुर्बलाः स्वं जडुः स्थानं बलवद्विरभिद्रुताः । आदेशैरिष संप्राप्तैः स्थानिनो हन्तिपूर्वकाः^३ ॥१५५॥
 विजडुर्निजनीडानि विहगास्तत्रसुर्मृगाः । मृगेश्वा बलसंक्षोभात् शनैः समुदभीलयन्^४ ॥१५६॥
 शाखाविषक्त भूषादि-रुचिरा वनपादपाः । कल्पद्रुमश्रियं भेजुराश्रितैर्मितुर्नैर्मिथः ॥१५७॥
 कुसुमापचये^५ तेषां पादपा विटपैर्नताः । भानुकूलमिवातेनः संभतातिथ्यसत्किधाः ॥१५८॥
 कृतावगाहनाः स्नातुं स्तनद्वर्जं सरोजलम् । रूपसौन्दर्यलोभेन^६ तदगारी^७ दिवाज्जनाः ॥१५९॥
^१ किणोभूतदृढस्कन्धान् विमतः ^२ काचबाहुकान् । ^३ दृष्टव्येऽतिथ्ययमीत्येव चकम्पे वीक्ष्य तत्सरः ॥१६०॥
 विषयम्^८ दृष्टिरे ^९ मृदुमृदुमेषां विवेकितानां पल्लवाः ^{१०} दृष्टव्येऽतिथ्ययमीत्येव चकम्पे वीक्ष्य तत्सरः ॥१६१॥

उस सरोवरके किनारेके प्रदेश हरे-हरे वनखण्डोंसे घिरे हुए थे इसलिए सूर्यकी किरणें उसे सन्तप्त नहीं कर सकती थीं सो ठीक ही है जो संवृत है—वन आदिसे घिरा हुआ है (पक्षमें गुप्ति समिति आदिसे कर्मोंका संवर करनेवाला है) और जिसका अन्तःकरण—मध्यभाग (पक्षमें हृदय) आर्द्र है—जलसे सहित होनेके कारण गीला है (पक्षमें दयासे भीगा है) उसे कौन सन्तप्त कर सकता है ? ॥१५२॥ उस सरोवरमें लहरें उठ रही थीं और किनारेपर हंस, चकवा आदि पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो यह सरोवर लहररूपी हाथ उठाकर पक्षियोंके द्वारा मधुर शब्द करता हुआ 'यहाँ ठहरिए' इस तरह वज्रजंघकी सेनाको बुला ही रहा हो ॥१५३॥ तदनन्तर, जिसके किनारे छोटे-बड़े वृक्ष और लताओंसे घिरे हुए हैं तथा जहाँ मन्द-मन्द वायु बहती रहती है ऐसे उस सरोवरके तटपर वज्रजंघकी सेना ठहर गयी ॥१५४॥ जिस प्रकार व्याकरणमें 'बध' 'घस्तु' आदि आदेश होनेपर हन् आदि स्थानी अपना स्थान छोड़ देते हैं उसी प्रकार उस तालाबके किनारे बलवान् प्राणियों-द्वारा ताड़ित हुए दुर्बल प्राणियोंने अपने स्थान छोड़ दिये थे । भावार्थ—सैनिकोंसे डरकर हरिण आदि निर्बल प्राणी अन्यत्र चले गये थे और उनके स्थानपर सैनिक ठहर गये थे ॥१५५॥ उस सेनाके क्षोभसे पक्षियोंने अपने घोंसले छोड़ दिये थे, मृग भयभीत हो गये थे और सिंहोंने धीरे-धीरे आँखें खोली थीं ॥१५६॥ सेनाके जो स्त्री-पुरुष वनवृक्षोंके नीचे ठहरे थे उन्होंने उनकी डालियोंपर अपने आभूषण, वस्त्र आदि टाँग दिये थे इसलिए वे वृक्ष कल्पवृक्षकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥१५७॥ पुष्प तोड़ते समय वे वृक्ष अपनी डालियोंसे झुक जाते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे वृक्ष आतिथ्य-सत्कारको उत्तम समझकर उन पुष्प तोड़नेवालोंके प्रति अपनी अनुकूलता ही प्रकट कर रहे हों ॥१५८॥ सेनाकी स्त्रियाँ उस सरोवरके जलमें स्नान पर्यन्त प्रवेश कर स्नान कर रही थीं, उस समय वे ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो सरोवरका जल अदृष्टपूर्व सौन्दर्यका लाभ समझकर उन्हें अपने-आपमें निगल ही रहा हो ॥१५९॥ भार ढोनेसे जिनके मजबूत कन्धोंमें बड़ी-बड़ी भट्टें पड़ गयी हैं, ऐसे कहार लोगोंको प्रवेश करते हुए देखकर वह तालाब 'इनके नहानेसे हमारा बहुत-सा जल व्यर्थ ही खर्च हो जायगा' मानो इस भयसे ही काँप उठा था ॥१६०॥ इस तालाबके किनारे चारों ओर लगे हुए तन्मू ऐसे मालूम होते थे मानो वनलक्ष्मीने भविष्यत्कालमें तीर्थकर होनेवाले वज्रजंघके

१. वनखण्ड अ०, द०, स०, म०, ल० । २. निभृतम् । ३. पर्यन्तमृदु अ०, ल० । ४. हनिपूर्वकाः ब, प०, अ०, म, द०, ल०, ट । हन् हितागस्त्योरित्यादिघातवः । ५. नयनोन्मीलनं चक्रिरे । ६. लग्नम् । ७. कुसुमापचये अ०, प०, द० स० । ८. स्तनप्रमाणम् । ९. —लाभेन म०, ल० । १०. सरः । ११. गिलति स्म । १२. ब्रवीभूतदृढभुजशिखरान् । १३. काचटिकान् । १४. दृष्टव्येऽतिथ्ययमीत्येव चकम्पे वीक्ष्य तत्सरः । १५. भविष्यजिजनस्य ।

निपत्य^१ मुनि भूषोऽपि प्रोत्थाय कृतबलाशनाः^२ । रेजिरे वाजिनः स्नेहैः^३ पुष्टा मल्ला इवोद्धताः ॥१६२॥
 'मधुपानादिषु क्रुद्धा बद्धाः'^४ शाखिषु दन्तिनः । सुकंशा जगतां पूज्या बलादाधोरणैः^५ स्तदा ॥१६३॥
 बधाश्च सखिविष्टेषु सैन्येषु स ततो नृपः । शिविरं प्रापदृष्वन्वै^६ ह्यैरविदितान्तरम् ॥१६४॥
 पुरस्कृत्युरोद्धूतरेषु कथितं मूर्त्तयः । स्थित्यन्तः सादिनः^७ प्राप्तास्ते ललाटस्तपे रवौ ॥१६५॥
 'कायमाने महामाने राजा तत्रावसत् सुखम् । सरोजलतरङ्गोत्थमुदुमाकृतकोतले ॥१६६॥
 ततो दमधराभिषयः श्रीमानम्बरधारणः । समं सागरसेनेन तन्निवेशमुपापयौ ॥१६७॥
 काम्पारश्चर्या संगीर्यै^८ पर्वटस्तौ यदृच्छया । वज्रजङ्घमहीमर्तुरावासं ताडुपेयतुः ॥१६८॥
 दूरादेव मुनीन्द्रौ तौ राजापश्यन्महाधुती । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गाविव प्रक्षीणकलमघौ ॥१६९॥
 स्वाङ्गदीप्तिविनिर्धूततमसौ तौ ततो मुनी । ससंभ्रमं समुत्थाय प्रतिजग्माह भूमिपः ॥१७०॥
 हृताञ्जलिपुटो मन्त्रया वृत्ताभ्यः प्रणिपत्य तौ । गृहं प्रवेशयामास श्रीमत्या सह पुण्यभाक् ॥१७१॥
 प्रक्षालिताकुली संपूज्य मान्ये स्थाने निवेश्य तौ । प्रणिपत्य मनाःकायवचोभिः शुचिसुव्रतम् ॥१७२॥

लिए उत्तम मन्त्र ही बना दिये हैं ॥१६८॥ जमीनमें लोटनेके बाद यदि होकर हीसते हुए घोड़े ऐसे मालूम होते थे मानो तेल लगाकर पुष्ट हुए उद्धत मञ्ज ही हों ॥१६९॥ पीठकी उत्तम रीढ़वाले हाथी भी भ्रमरोंके द्वारा मदपान करनेके कारण कुपित होनेपर ही मानो महाबलों-द्वारा बाँध दिये गये थे जैसे कि जगत्पूज्य और कुलीन भी पुरुष मद्यपानके कारण बाँधे जाते हैं ॥१७०॥

तदनन्तर जब समस्त सेना अपने-अपने स्थानपर ठहर गयी तब राजा वज्रजंघ मार्ग तय करनेमें चतुर-शीघ्रगामी घोड़ेपर बैठकर शीघ्र ही अपने डेरेमें जा पहुँचे ॥१७१॥ घोड़ोंके कुरोंसे उठी हुई धूलिसे जिसके शरीर रूक्ष हो रहे हैं ऐसे घुड़सवार लोग पसीनेसे युक्त होकर उस समय डेरेमें पहुँचे थे जिस समय कि सूर्य उनके ललाटको तपा रहा था ॥१७२॥ जहाँ सरोवरके जलकी तरंगोंसे उठती हुई मन्द वायुके द्वारा भारी शीतलता विद्यमान थी ऐसे तालाबके किनारेपर बहुत ऊँचे तन्मूमें राजा वज्रजंघने सुखपूर्वक निवास किया ॥१७३॥

तदनन्तर आकाशमें गमन करनेवाले श्रीमान् दमधर नामक मुनिराज, सागरसेन नामक मुनिराजके साथ-साथ वज्रजंघके पड़ावमें पधारे ॥१७४॥ उन दोनों मुनियोंने वनमें ही आहार लेनेकी प्रतिज्ञा की थी इसलिए इच्छानुसार विहार करते हुए वज्रजंघके डेरेके समीप आये ॥१७५॥ वे मुनिराज अतिशय कान्तिके धारक थे, और पापकर्मोंसे रहित थे इसलिए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्वर्ग और मोक्षके साक्षात् मार्ग ही हों ऐसे दोनों मुनियोंको राजा वज्रजंघने दूरसे ही देखा ॥१७६॥ जिन्होंने अपने शरीरकी दीप्तिसे वनका अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे दोनों मुनियोंको राजा वज्रजंघने संभ्रमके साथ उठकर पङ्कगाहन किया ॥१७७॥ पुण्यात्मा वज्रजंघने रानी श्रीमतीके साथ बड़ी भक्तिसे उन दोनों मुनियोंको हाथ जोड़ अर्घ्य दिया और फिर नमस्कार कर भोजनशालामें प्रवेश कराया ॥१७८॥ वहाँ वज्रजंघने उन्हें ऊँचे स्थानपर बैठाया, उनके चरणकमलोंका प्रक्षालन किया, पूजा की, नमस्कार किया, अपने मन,

१. पतित्वा । २. प्रोत्थाय कृतबलाशनाः प०, स० । ३. तैलैः । ४. मधुनो मद्यस्य पानात् । ५. क्षे मद्यपरक्षणयात् । ६. क्रुद्धैर्बद्धाः स०, द०, स० । ७. हस्तिपदैः । ८. पथिकैः । ९. आच्छादितः । १०. अस्वा-रोहाः । ११. पठकुट्याम् । १२. प्रतिज्ञां कृत्वा ।

श्रद्धादिगुणसंपत्त्या गुणवद्भ्यां विशुद्धिमाक । दत्त्वा विधिवदाहारं पञ्चाश्रयाण्यवाप सः ॥१७३॥
 वसुधारां दिवो देवाः पुष्पवृक्षा सहाकिरन् । मन्दं व्योमापगावारि^१ कणकोर्मरुदाववौ ॥१७४॥
 मन्ददुन्दुभिनिर्घोषैः घोषणां च प्रचक्रिरे । अहो दानमहो दानमित्युच्चैरुददिह्मुलम् ॥१७५॥
 ततोऽभिवन्द्य संपूज्य विसर्ज्य मुनिपुङ्गवौ । काञ्चुकीयादशुद्धौ चरमावात्मनः सुतौ ॥१७६॥
 श्रीमत्या सह संश्रित्य संप्रीत्या निकटं तयोः । म धर्ममशृणोत् पुण्यकामः सद्गृहमेधिनाम् ॥१७७॥
 दानं पूजां च शीलं च प्रोषधं च प्रपञ्चतः । श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छत् सकान्तः स्वां भगवलीम् ॥१७८॥
 मुनिर्दमधरः प्रारब्धत् तस्य अन्त्याखलीमिति । दानानांशुभिह्योक्तमातन्वन् दिह्मुखेषु सः ॥१७९॥
 चतुर्थे जन्मनीतस्त्वं जम्बूद्वीपविदेहगे । गन्धिले विषये सिंहपुरे श्रीषेणपार्थिवात् ॥१८०॥
 सुन्दर्यामितिसुन्दर्या व्याप्यान् सूरुरजायथाः । निर्वेदादार्हतीं दीक्षामावायान्यक्तसंयतः^४ ॥१८१॥
 विद्याधरेन्द्रभोगेषु न्यस्तधीर्भृतिमापिवान् । प्रागुक्ते गन्धिले रूप्यगिरेरुत्तरसतटे ॥१८२॥
 नगर्यामलकाख्यायां व्योमगानामधीशिता । महाबल्लोभभूमिर्गात्र दधाकामं त्वमन्वभूः ॥१८३॥
 स्वयंभुवात् प्रबुद्धात्मा जिनपूजापुरस्सरम् । त्वत्त्वा संन्यासतो देहं ललिताङ्गः सुरोऽभवः^५ ॥१८४॥
 ततश्च्युत्वाधुनाभूस्त्वं वज्रजङ्गमहीपतिः । श्रीमती च^६ पुरैकस्मिन् भवे द्वीपे द्वितीयके ॥१८५॥

वचन, कायको शुद्ध किया और फिर श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ, क्षमा, ज्ञान और शक्ति इन गुणोंसे विभूषित होकर विशुद्ध परिणामोंसे उन गुणवान् दोनों मुनियोंको विधिपूर्वक आहार दिया। उसके फलस्वरूप नीचे लिखे हुए पञ्चाश्रय्य हुए। देव लोग आकाशसे रत्नवर्षा करते थे, पुष्प-वर्षा करते थे, आकाशगंगाके जलके छोटोंको बरसाता हुआ मन्द-मन्द वायु चल रहा था, दुन्दुभि बाजोंकी गम्भीर गर्जना हो रही थी और दिशाओंको व्याप्त करनेवाले 'अहो दानम् अहो दानम्' इस प्रकारके शब्द कहे जा रहे थे ॥१७३-१७५॥ तदनन्तर वज्रजंघ, जब दोनों मुनिराजोंकी वन्दना और पूजा कर वापस भेज चुका तब उसे अपने कंचुकीके कहनेसे मालूम हुआ कि उक्त दोनों मुनि हमारे ही अन्तिम पुत्र हैं ॥१७६॥ राजा वज्रजंघ श्रीमतीके साथ-साथ बड़े प्रेमसे उनके निकट गया और पुण्यप्राप्तिकी इच्छासे सद्गृहस्थोंका धर्म सुनने लगा ॥१७७॥ दान, पूजा, शील और प्रोषध आदि धर्मोंका विस्तृत स्वरूप सुन चुकनेके बाद वज्रजंघने उनसे अपने तथा श्रीमतीके पूर्वभव पूछे ॥१७८॥ उनमेंसे दमधर नामके मुनि अपने दाँतोंकी किरणोंसे दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुए उन दोनोंके पूर्वभव कहने लगे ॥१७९॥

हे राजन्, तू इस जन्मसे चौथे जन्ममें जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें स्थित गन्धिल देशके सिंहपुर नगरमें राजा श्रीषेण और अतिशय मनोहर सुन्दरी नामकी रानीके ज्येष्ठ पुत्र हुआ था। वहाँ तूने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। परन्तु संयम प्रकट नहीं कर सका और विद्याधर राजाओंके भोगोंमें चित्त लगाकर मृत्युको प्राप्त हुआ जिससे पूर्वोक्त गन्धिल देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर अलका नामकी नगरमें महाबल हुआ। वहाँ तूने मनचाहे भोगोंका अनुभव किया। फिर स्वयम्भुद्ध मन्त्रीके उपदेशसे आत्मज्ञान प्राप्त कर तूने जिनपूजा कर समाधिमरणसे शरीर छोड़ा और ललितागदेव हुआ। वहाँसे च्युत होकर अब वज्रजंघ नामका राजा हुआ है ॥१८०-१८४॥

यह श्रीमती भी पहले एक भवमें धातकीखण्डद्वीपमें पूर्व मेरुसे पश्चिमकी ओर गन्धिल देशके पलालपर्वत नामक ग्राममें किसी गृहस्थकी पुत्री थी। वहाँ कुछ पुण्यके उदयसे तू उसी देशके पाटली

१. घारा दिवो अ०, प०, द०, स०, ल० । २. वारिकणान् किरतीति वारिकणकोः । ३. वृद्धकञ्चु-
 कितः सकाशात् । ४. प्रारब्धयोगी । ५. -भवत् अ० । ६. पूर्वस्मिन् ।

प्राग्मेरोर्गन्धिले देशे प्रत्यक्षपुत्री कुटुम्बिनः । पलाकपर्वतग्रामे जाताल्पसुकृतोदयात् ॥१८६॥
 तत्रैव विषये भूयः पाटलोग्रामकेऽभवत् । निर्नामिका वणिक्पुत्री संध्रिय पिहितान्नवम् ॥१८७॥
 विधिनोपोप्य तन्नासीत् तव देवी स्वयंप्रभा । श्रीप्रभेऽभूद्विदानीं च श्रीमती वज्रदन्ततः ॥१८८॥
 भुवनेति श्रुत्वा प्रवृत्तः भूतो भूतनाः प्रियया समस्तः । पृष्टवानिष्टवर्गस्य भवानतिकृतहलात् ॥१८९॥
 स्ववन्धुनिर्विशेषा मे स्निग्धा मतिवरावयः । तत्प्रसीद भवानेषां ब्रूहीत्याख्यस्य तान् मुनिः ॥१९०॥
 भवं मतिवरोऽग्रेव जम्बूद्वीपे पुरोगते । विदेहो वत्सकावर्था विषये त्रिविधोपमे ॥१९१॥
 तत्र पुर्वा प्रमाकर्था मतिगृध्रो नृपोऽभवत् । विषयेषु विषक्तात्मा बह्मरम्भपरिग्रहैः ॥१९२॥
 बद्ध्वायुर्नारकं जातः सञ्जे पङ्कजभाङ्गये । दशाब्धयुपमितं कालं नारकं वेदनामगात् ॥१९३॥
 ततो निष्पत्य पूर्वोक्तनगरस्य समीपगे । व्याघ्रोऽभूत् प्राक्तनामीधननिक्षेपपर्वते ॥१९४॥
 अयाम्यदा पुराधोशस्तत्रागत्य समावसत् । निवर्त्य स्वानुजन्मानं स्युस्थितं विजिगीषया ॥१९५॥
 स्वानुजन्मानमग्रस्थं नृपमाख्यत् पुरोहितः । अत्रैव ते ब्रह्मल्लामो भविता मुनिदानतः ॥१९६॥
 स मुनिः कथमेवात्र लभ्यश्चेच्छृणु पार्थिव । वक्ष्ये तदागमोपायं दिव्यज्ञानावलोकितम् ॥१९७॥

नामक ग्राममें किसी वणिक्के निर्नामिका नामकी पुत्री हुई। वहाँ उसने पिहितान्नव नामक मुनिराजके आश्रयसे विधिपूर्वक जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक व्रतोंके उपवास किये जिसके फलस्वरूप श्रीप्रभ विमानमें स्वयंप्रभा देवी हुई। जब तुम ललितगिदेयकी पर्यायमें ये तब यह तुम्हारी प्रिय देवी थी और अब वहाँसे चयकर वज्रदन्त चक्रवर्तीके श्रीमती पुत्री हुई है ॥१८५-१८८॥ इस प्रकार राजा वज्रजंघने श्रीमतीके साथ अपने पूर्वभव सुनकर कौतूहलसे अपने इष्ट सम्बन्धियोंके पूर्वभव पूछे ॥१८९॥ हे नाथ, ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझे अपने भाईके समान अतिशय प्यारे हैं इसलिए आप प्रसन्न होइए और इनके पूर्वभव कहिए। इस प्रकार राजाका प्रश्न सुनकर उत्तरमें मुनिराज कहने लगे ॥१९०॥

हे राजन्, इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक वत्सकावती नामका देश है जो कि स्वर्गके समान सुन्दर है, उसमें एक प्रभाकरी नामकी नगरी है। यह मतिवर पूर्वभवमें इसी नगरीमें अतिगृध्र नामका राजा था। वह विषयोंमें अत्यन्त आसक्त रहता था। उसने बहुत आरम्भ और परिग्रहके कारण नरक आयुका बन्ध कर लिया था जिससे वह मरकर पङ्कजभा नामके चौथे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ दशसागर तक नरकोंके दुःख भोगता रहा ॥१९१-१९३॥ उसने पूर्वभवमें पूर्वोक्त प्रभाकरी नगरीके समीप एक पर्वतपर अपना बहुत-सा धन गाढ़ रखा था। वह नरकसे निकलकर इसी पर्वतपर व्याघ्र हुआ ॥१९४॥ तत्पश्चात् किसी एक दिन प्रभाकरी नगरीका राजा प्रीतिवर्धन अपने प्रतिकूल खड़े हुए छोटे भाईको जीतकर लौटा और उसी पर्वतपर ठहर गया ॥१९५॥ वह वहाँ अपने छोटे भाईके साथ बैठा हुआ था कि इतनेमें पुरोहितने आकर उससे कहा कि आज यहाँ आपको मुनिदानके प्रभावसे बड़ा भारी लाभ होनेवाला है ॥१९६॥ हे राजन्, वे मुनिराज यहाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे। इसका उपाय मैं अपने दिव्यज्ञानसे जानकर आपके लिए कहता हूँ। सुनिए—॥१९७॥

हम लोग नगरमें यह घोषणा दिलाये देते हैं कि आज राजाके बड़े भारी हर्षका समय है इसलिए समस्त नगरवासी लोग अपने-अपने घरोंपर पताकाएँ फहराओ, तोरण बाँधो और

१. पूर्वमन्दरस्य । २. अपरविदेहे । ३. गन्धिलविषये । ४. समानाः । ५. कारणात् । ६. पूर्वभवान् ।
 ७. विषयेष्वभिध- ट० । ८. असक्तः । ९. -नरकं यातः ल० । १०. निर्गत्य अ०, प०, द०, स०, ल० ।
 ११. तत्प्रेताः प्रीतिवर्धननामा । १२. तत्पर्वतसमीपे । १३. पुनरावर्त्य । १४. सानुजन्मान-प०, ल०, म०, ट० । अनुजसहितम् । १५. माख्यात् अ०, स०, द० । १६. भविष्यति । १७. महानिमित्तम् ।

महानद्य नरेन्द्रस्य प्रमदस्तेम^१ नागराः । सर्वे यूयं स्वगोहेषु बद्ध्वा केतून् सतीरणान् ॥१९८॥
 गृहाङ्ग्यानि शृण्वाम^२ कुरुतास्तु प्रसूनकैः । सोपहाराणि नीरन्ध्रमि^३ति दृष्टः प्रधोषयाम् ॥१९९॥
 ततो मुनिरसौ श्रवत्वा पुरमन्वागमिष्यति । विचिन्त्वाप्रासुकत्वेन विहारयोग्यमगमनः ॥२००॥
 पुरोधोवचनात् सुष्टो भृषोऽसौ प्रीतिवर्धनः । तत् तथैवाकरोत् प्रीतो मुनिरव्यागमत् तथा^४ ॥२०१॥
 पिहितान्नवनामालौ भासन्नपण^५ संयुतः । प्रविष्टो नृपतेः सद्यं चरं चर्य^६ मनुकमात् ॥२०२॥
 ततो नृपतिना तस्मै वत्तं दानं यथाविधि । पातितान् च दिवौ देवैः वसुधारा कृतारवम् ॥२०३॥
 ततस्तदवलीकयासौ शार्ङ्गको अतिमस्मरत् । उपशास्तश्च निर्मू^७र्छः शरीराहासमयजत् ॥२०४॥
 शिलातले निविष्टं च^८ संन्यस्तनिखिलोपधिम् । विष्यन्नामयेनाक्ष्ण सङ्गसाधुद त^९ मुनिः ॥२०५॥
 ततो नृपमुवाचेऽथ^{१०} सिन्धुप्राप्तमाम् । संन्यासं कुरुते कोऽपि स स्वर्गं परिचर्यताम् ॥२०६॥
 स चक्रवर्तितामेव्य चरमाङ्गः पुरोः पुरा । सूनुभूत्वा परं धाम भजत्यत्र न संशयः ॥२०७॥
 इति तद्वचमाज्ज्ञातविस्मयो मुनिना समम् । गत्वा नृपस्तमद्राक्षोत् शार्ङ्गं कृतसाहसम् ॥२०८॥
 ततस्तस्य सपर्याया^{११} साधिष्वमकरोन्मुपः । मुनिश्चास्मै वदौ^{१२} कर्णजापं स्वर्गो भवेत्यसौ^{१३} ॥२०९॥
 ध्यात्रोऽष्टादशनिमग्नमहोमिहपसंहरन् । दिवाकरप्रभो नाम्ना देवोऽभूत्^{१४} तद्विमानके ॥२१०॥

घरके आँगन तथा नगरकी गलियोंमें सुगन्धित जल सोँचकर इस प्रकार फूँल बिखेर दो कि बीच-
 में कहीं कोई रन्ध्र खाली न रहे ॥१९८-१९९॥ ऐसा करनेसे नगरमें जानेवाले मुनि अप्रासुक
 होनेके कारण नगरको अपने विहारके अयोग्य समझ छोटकर थहाँपर अवश्य ही आयेंगे ॥२००॥
 पुरोहितके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर राजा प्रीतिवर्धनने वैसा ही किया जिससे मुनिराज
 छोटकर वहाँ आये ॥२०१॥ पिहितान्नव नामके मुनिराज एक महीनेके उपवास समाप्त कर
 आहारके लिए भ्रमण करते हुए क्रम-क्रमसे राजा प्रीतिवर्धनके घरमें प्रविष्ट हुए ॥२०२॥ राजाने
 उन्हें विधिपूर्वक आहार दान दिया जिससे देवोंने आकाशसे रत्नोंकी वर्षा की और वे रत्न
 मनोहर शब्द करते हुए भूमिपर पड़े ॥२०३॥ राजा अतिगृध्रके जीब सिंहने भी वहाँ यह सब
 देखा जिससे उसे जाति-स्मरण हो गया । वह अतिशय शान्त हो गया, उसकी मूर्च्छा (मोह)
 जाती रही और यहाँतक कि उसने शरीर और आहारसे भी ममत्व छोड़ दिया ॥२०४॥ वह
 सब परिग्रह अथवा कषायोंका त्याग कर एक शिलातलपर बैठ गया । मुनिराज पिहितान्नवने भी
 अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे अकस्मात् सिंहका सब कृतान्त जान लिया ॥२०५॥ और जानकर
 उन्होंने राजा प्रीतिवर्धनसे कहा कि—हे राजन्, इस पर्वतपर कोई स्त्रावक होकर (स्त्रावकके
 व्रत धारण कर) संन्यास कर रहा है तुम्हें उसकी सेवा करनी चाहिए ॥२०६॥ वह आगामी
 कालमें भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थकर श्रीवृषभदेवके चक्रवर्ती पदका धारक पुत्र होगा और उसी
 भवसे मोक्ष प्राप्त करेगा इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२०७॥ मुनिराजके इन वचनोंसे
 राजा प्रीतिवर्धनको भारी आश्चर्य हुआ । उसने मुनिराजके साथ वहाँ जाकर अतिशय साहस
 करनेवाले सिंहको देखा ॥२०८॥ तत्पश्चात् राजाने उसकी सेवा अथवा समाधिमें योग्य सहा-
 यता की और यह वेव होनेवाला है यह समझकर मुनिराजने भी उसके कानमें नमस्कार मन्त्र
 सुनाया ॥२०९॥ वह सिंह अठारह दिन तक आहारका त्याग कर समाधिसे शरीर छोड़ दूसरे

१. तेन कारणेन । २. नगरे भवाः । ३. वीथीः । ४. निविष्टम् । ५. -रप्यगमत्तथा प० । -रप्यागम-
 सदा म०, ल० । ६. सपण उपवासः । ७. वीरवर्धमाचरन् । ८. निर्मोहः । ९. संन्यस्ताखिलपरिग्रहम् ।
 १०. सन्मुनिः स०, अ० । तन्मुनिः प०, ब० । ११. -मुवाचे-प० । १२. आराधनायाम् । १३. सहाय-
 त्वम् । १४. पञ्चममस्कारम् । १५. भवत्यसौ अ०, स०, ल० । १६. दिवाकरप्रभविमाने ।

तदाश्चर्यं महद् दृष्ट्वा नृपस्यास्य चमूपतिः । मन्त्री पुरोहितश्च द्वापुपशान्तिं परां गताः ॥२११॥
 नृपवानामुमोदेन कुक्ष्यार्थास्ततोऽभवन् । कालान्ते ते ततो गत्वा श्रीमदैवानकक्ष्मणाः ॥२१२॥
 सुरा जाता विमानेशा मन्त्री काञ्चनसंज्ञके । विमाने कनकाभोऽभूत् रुचिताचये पुरोहितः ॥२१३॥
 प्रमञ्जनोऽभूत् सेनानीः प्रमानान्नि प्रभाकरः । ललिताङ्गमवे युष्मत्परिवारामरा इमे ॥२१४॥
 ततः प्रच्युत्य शार्दूलचरो देवोऽभवत् स तः । मन्त्री नितिवरः सूनुः श्रीमत्या नतिसागरात् ॥२१५॥
 अपराजितसेनान्यः च्युतः स्वर्गात् प्रभाकरः । आर्जवावाश्च पुत्रोऽभूदकम्पनसमाह्वयः ॥२१६॥
 श्रुतकीर्तिरथानन्तमस्थाश्च कनकप्रभः । सुतोऽभूदयमानन्दः पुरोधास्तव संमतः ॥२१७॥
 प्रमञ्जनश्च्युतस्तस्मात् श्रेष्ठोऽभूद् धनमित्रकः । धनदत्तोदरे जातो धनदत्ताद् धनविमान् ॥२१८॥
 इति तस्य मुनीन्द्रस्य वचः श्रुत्वा मराधिपः । श्रीमती च तदा धर्मे परं संवेगमापतुः ॥२१९॥
 राजा सविस्मयं भूयोऽन्यपृच्छत् तं मुनीश्वरम् । अमी नकुलशार्दूलगोलङ्गूलाः ससूकराः ॥२२०॥
 कस्मादस्मिज्जनाकीर्णं देवी तिष्ठन्त्यनाकुलाः । भवन्मुखाविन्दावलोकने दृष्टदृष्टयः ॥२२१॥
 इति राजाभ्युक्तोऽसौ चारणविरवोवत । शार्दूलोऽयं ममेऽन्यस्मिन् देशोऽस्मिन्नेव विभ्रुते ॥२२२॥
 हास्तिनाभवपुरे क्वाते वैश्यात् सागरवत्ततः । धनवत्यामभूत् सूनुकम्पसेनसमाह्वयः ॥२२३॥
 सोऽप्रत्याकृषानतः क्लोधात् पृथिवीभेदसन्निभात् । तिर्यंगाशुर्बन्धाऽहो निसर्गादतिरोषणः ॥२२४॥

स्वर्गके दिवाकरप्रभ नामक विमानमें दिवाकरप्रभ नामका देव हुआ ॥२१०॥ इस आश्चर्यको देखकर राजा प्रीतिवर्धनके सेनापति, मन्त्री और पुरोहित भी शीघ्र ही अतिशय शान्त हो गये ॥२११॥ इन सभीने राजाके द्वारा दिये हुए पात्रदानकी अनुमोदना की थी इसलिए आयु समाप्त होनेपर वे उत्तरकुल भोगभूमिमें आये हुए ॥२१२॥ और आयुके अन्तमें ऐशान स्वर्गमें लक्ष्मीमान् देव हुए । उनमें-से मन्त्री, कांचन नामक विमानमें कनकाभ नामका देव हुआ, पुरोहित रुचित नामके विमानमें प्रमंजन नामका देव हुआ और सेनापति प्रभानामक विमानमें प्रभाकर नामका देव हुआ । आपकी ललितांगदेवकी पर्यायमें ये सब आपके ही परिवारके देव थे ॥२१३-२१४॥ सिंहका जीव वहाँसे च्युत हो मतिसागर और श्रीमतीका पुत्र होकर आपका नितिवर नामका मन्त्री हुआ है ॥२१५॥ प्रभाकरका जीव स्वर्गसे च्युत होकर अपराजित सेनानी और आर्जवाका पुत्र होकर आपका अकम्पन नामका सेनापति हुआ है ॥२१६॥ कनकप्रभका जीव श्रुतकीर्ति और अनन्तमतीका पुत्र होकर आपका आनन्द नामका प्रिय पुरोहित हुआ है ॥२१७॥ तथा प्रमंजन देव वहाँसे च्युत होकर धनदत्त और धनदत्ताका पुत्र होकर आपका धनमित्र नामका सन्पत्तिशाली सेठ हुआ है ॥२१८॥ इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमती—दोनों ही धर्मके विषयमें अतिशय प्रीतिको प्राप्त हुए ॥२१९॥

राजा वज्रजंघने फिर भी बड़े आश्चर्यके साथ उन मुनिराजसे पूछा कि ये नकुल, सिंह, वानर और शूकर चारों जीव आपके सुख-कमलको देखनेमें दृष्टि लगाये हुए इन मनुष्योंसे भरे हुए स्थानमें भी निर्भय होकर क्यों बैठे हैं ? ॥२२०-२२१॥ इस प्रकार राजाके पूछनेपर चारण ऋद्धिके धारक ऋषिराज बोले,

हे राजन्, यह सिंह पूर्वभयमें इसी देशके प्रसिद्ध हस्तिनापुर नामक नगरमें सागरवत् वैश्यसे उसकी धनवती नामक स्त्रीमें उग्रसेन नामका पुत्र हुआ था ॥२२२-२२३॥ वह उग्रसेन स्वभावसे ही अत्यन्त क्रोधी था इसलिए उस अज्ञानीने पृथिवीभेदके समान अप्रत्याख्यानावरण

१. रुचिताचये अ०, स०, द० । २. प्रमञ्जने विमाने च नाम्नि तस्य प्रभाकरः अ० ।

३. प्रभाविमाने प्रभाकरो देवः । ४. सेनापतेः । ५. धर्मे धर्मपदे चानुरागः संवेगस्तम् । ६. ससूकराः अ०, प० । ७. परिपष्टः ।

कोडागार^१नियुक्तांश्च निर्मरस्य^२ धृतलण्डुकम् । बलादादाय वेद्यामिः^३ संप्रायच्छतं^४ दुर्मदी ॥२२५॥
 तद्दार्ताकर्णनाद् राशौ बन्धितस्तीक्ष्णवेदनः । चपेटाचरणाधत्तैः सृत्वा व्याघ्र इहामवत् ॥२२६॥
 वराहोऽयं भवेऽतीते पुरे विजयनामनि । सूनूर्वसन्तसेनायां महामन्दनूपावभूत् ॥२२७॥
 हरिवाहननामासौ अप्रत्याख्यातमानतः । नाममस्थिसमं विभ्रत् पित्रोरप्यविनीतकः ॥२२८॥
 तिर्यगायुरतो बद्ध्वा^५ नैच्छत् पित्रनुशासनम्^६ । धायमानः शिलास्तम्भजर्जरीकृतमस्तकः ॥२२९॥
 आसीत् मृत्वा वराहोऽभूद् वानरोऽयं पुरा मवे । पुरे धाम्याह्वये^७ जातः कुबेराख्यवणिक्सुतः ॥२३०॥
 सुदत्तागर्भसंभूतो नागदत्तसमाह्वयः । अप्रत्याख्यातमायां तो मेघशृङ्गसमां श्रितः ॥२३१॥
 स्वानुजाया विवाहार्थं स्वापणे^८ स्वापतेयकम् । स्वास्यायामादृशानायां सुपरीक्ष्य यथेप्सितम् ॥२३२॥
 तत्तत्तद्वन्नोपायम^९ जानन्नात्तधीर्मुतः । तिर्यगायुर्वशेनासौ गोलाङ्गूलखमिष्यगात् ॥२३३॥
 नकुलोऽयं भवेन्न्यस्मिन् सुप्रतिष्ठितपत्तने । अभूत् कादम्बिको^{१०} नाम्ना लोलुपो धनलोलुपः ॥२३४॥
 सोऽन्यदा नृपतौ चैत्यगृहनिर्माणोद्यते^{११} । इष्टका^{१२} विष्टिपुरुषैरानाययति लुब्धकोः ॥२३५॥

क्रोधके निमित्तसे तिर्यच आयुका बन्ध कर लिया था ॥२२४॥ एक दिन उस दुष्टने राजाके भण्डारकी रक्षा करनेवाले लोगोंको धुड़ककर वहाँसे बलपूर्वक बहुत-सा धी और चावल निकालकर वेद्याओंको दे दिया ॥२२५॥ जब राजाने यह समाचार सुना तब उसने उसे बँधवा कर थप्पड़, लात, घूँसा आदिकी बहुत ही मार दिलायी जिससे वह तीव्र वेदना सहकर मरा और यहाँ यह व्याघ्र हुआ है ॥२२६॥

हे राजन्, यह सूकर पूर्वभबमें विजय नामक नगरमें राजा महानन्दसे उसकी रानी वसन्तसेनामें हरिवाहन नामका पुत्र हुआ था । वह अप्रत्याख्यानावरण मानके उदयसे इष्टीके समान मानको धारण करता था इसलिए माता-पिताका भी विनय नहीं करता था ॥२२७-२२८॥ और इसीलिए उसे तिर्यच आयुका बन्ध हो गया था । एक दिन यह माता-पिताका अनुशासन नहीं मानकर दौड़ा जा रहा था कि पत्थरके खम्भेसे टकराकर उसका शिर फूट गया और इसी वेदनामें आर्तध्यानसे मरकर यह सूकर हुआ है ॥२२९॥

हे राजन्, यह वानर पूर्वभबमें धन्यपुर नामके नगरमें कुबेर नामक वणिकके घर उसकी सुदत्ता नामकी स्त्रीके गर्भसे नागदत्त नामका पुत्र हुआ था वह भेंड़ेके सींगके समान अप्रत्याख्यानावरण मायाको धारण करता था ॥२३०-२३१॥ एक दिन इसकी माता, नागदत्तकी छोटी बहनके विवाहके लिए अपनी दूकानसे इच्छानुसार छोट-छोटकर कुछ सामान ले रही थी । नागदत्त उसे ठगना चाहता था परन्तु किस प्रकार ठगना चाहिए ? इसका उपाय वह नहीं जानता था इसलिए उसी उधेड़बुनमें लगा रहा और अचानक आर्तध्यानसे मरकर तिर्यच आयुका बन्ध होनेसे यहाँ यह वानर अवस्थाको प्राप्त हुआ है ॥२३२-२३३॥ और—

हे राजन्, यह नकुल (नेवला) भी पूर्वभबमें इसी सुप्रतिष्ठित नगरमें लोलुप नामका हलवाई था । वह धनका बड़ा लोभी था ॥२३४॥ किसी समय वहाँका राजा जिनमन्दिर बनवा रहा था और उसके लिए वह मजदूरोंसे ईंटें जुटाता था । वह लोभी मूर्ख हलवाई उन

१. भाण्डागारिकान् । २. सन्तर्ज्य । ३. वेद्याभ्यः । 'दाणाद्धर्मे तज्जवेयः' इति वतुर्धर्मो तृतीया । वेद्यायै अ०, प०, द०, स० । ४. प्रयच्छति स्म । तेनैव सूत्रेणात्मनेपदी । ५. हस्ततलपावताङ्गनैः । ६. नैच्छत् प०, व० । ७. पित्रानुशासनम् प० । ८. धाम्याह्वये ल० । ९. कुबेराख्यवणिक्सुतः । कुबेराख्यो वणिक्सुतः अ० । १०. निजविषयाम् । ११. कञ्चनापाय-अ० । १२. मक्ष्यकारः । १३. -णोद्यमे ल० । १४. इष्टिकाविष्ट-प०, द० । इष्टिकाविष्ट-अ० । १५. जेतनपुरुषैः ।

दत्त्वापूर्णं निगूढं स्वं मूढः प्रावेशयद् गृहम् । इष्टकास्तत्र कासांचित् भेदेऽपश्यच्च काञ्चनम् ॥२३६॥
 तल्लोभादिष्टका मूयोऽप्यामाययितुमुद्यतः । पुरुषैर्वैष्टिकैस्तेभ्यो दत्त्वापूपादिभोजनम् ॥२३७॥
 स्वसुताग्रामसम्बन्धुः स गच्छन् पुत्रमात्मनः । म्ययुक्तं पुत्रकाहारं दत्त्वाऽऽनाध्यास्त्वयेष्टकाः ॥२३८॥
 इत्युक्त्वास्मिन् गते पुत्रः तत्तथा नाकरोवतः । स निवृत्त्य सुतं पृष्ट्वा कष्टोऽसौ दुष्टमानसः ॥२३९॥
 शिरः पुत्रस्य निर्मिष्टं^१ लकुटोपकृताङ्गैः । अरयो स्वी च निर्वेदाद् बभञ्ज किल मूढधीः ॥२४०॥
 राज्ञा च धारितो मृत्वा नकुलत्वमुपागमत् । अप्रत्याख्यानालोभेन नीतः सोऽयं दक्षाभिमानम् ॥२४१॥
 युष्मद्गमं समीक्ष्यैवं श्लोके^२ वरसागलाः^३ आहूः^४ अद्विष्टा^५ न निर्वेदसन्धिं^६ श्रिताः ॥२४२॥
 भवदानानुमोदेन बद्धायुक्ताः कुरुवमी । ततोऽमी भीतिभुत्सुज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः ॥२४३॥
 इतोऽष्टमं भवे माविन्ध्यपुनर्भवतां^७ भवान् । भवितामी च तत्रैव भवे^८ सेत्स्यन्त्यसंशयम् ॥२४४॥
 तावन्माभ्युदयं सौख्यं विध्यमानुषगोचरम् । त्वयैव सममेतेऽनुभोक्तारः^९ पुण्यमागिनः ॥२४५॥
 श्रीमती च भवतीर्थे^{१०} दानतीर्थप्रवर्त्तकः । श्रेयान् भूत्वा परं श्रेयः श्रमिष्यति न संशयः ॥२४६॥
 इति चारणयोगीश्वरवचः श्रुत्वा नराधिपः । दधे रोमाञ्चितं गात्रं^{११} तर्त प्रेमाकुर्वैरिव ॥२४७॥

मजदूरोको कुछ पुआ बगैरह देकर उनसे छिपकर कुछ ईंटें अपने घरमें डलवा लेता था । उन ईंटोंके फोड़नेपर उनमेंसे कुछमें सुवर्ण निकला । यह देखकर इसका लोभ और भी बढ़ गया । उस सुवर्णके लोभसे उसने बार-बार मजदूरोको पुआ आदि देकर उनसे बहुत-सी ईंटें अपने घर डलवाना प्रारम्भ किया ॥२३५-२३७॥ एक दिन उसे अपनी पुत्रीके गाँव जाना पड़ा । जाते समय वह पुत्रसे कह गया कि हे पुत्र, तुम भी मजदूरोको कुछ भोजन देकर उनसे अपने घर ईंटें डलवा लेना ॥२३८॥ यह कहकर वह तो चला गया परन्तु पुत्रने उसके कहे अनुसार घरपर ईंटें नहीं डलवायीं । जब वह दुष्ट लौटकर घर आया और पुत्रसे पूछनेपर जब उसे सब हाल मालूम हुआ तब वह पुत्रसे भारी कुपित हुआ ॥२३९॥ उस मूर्खने लकड़ी तथा पत्थरोको मारसे पुत्रका शिर फोड़ डाला और उस दुःखसे दुःखी होकर अपने पैर भी काट डाले ॥२४०॥ अन्तमें वह राजाके द्वारा मारा गया और मरकर इस नकुल पर्यायको प्राप्त हुआ है । वह हलवाई अप्रत्याख्यानाचरण लोभके उदयसे ही इस दशा तक पहुँचा है ॥२४१॥

हे राजन्, आपके दानको देखकर ये चारों ही परम हर्षको प्राप्त हो रहे हैं और इन चारोंको ही जाति-स्मरण हो गया है जिससे ये संसारसे बहुत ही विरक्त हो गये हैं ॥२४२॥ आपके दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे इन सभीने उत्तम भोगभूमिकी आयुक्ता बन्ध किया है । इसलिए ये भय छोड़कर धर्मश्रवण करनेकी इच्छासे यहाँ बैठे हुए हैं ॥२४३॥ हे राजन्, इस भवसे आठवें आगामी भवमें तुम वृषभनाथ तीर्थकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भवमें ये सब भी सिद्ध होंगे, इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२४४॥ और तबतक ये पुण्यशील जीव आपके साथ-साथ ही देव और मनुष्योंके उत्तम-उत्तम सुख तथा विभूतियोंका अनुभोग करते रहेंगे ॥२४५॥ इस श्रीमतीका जीव भी आपके तीर्थमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति चलानेवाला राजा श्रेयान्स होगा और उसी भवसे उत्कृष्ट कल्याण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥२४६॥ इस प्रकार चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके वचन सुनकर राजा

१. दत्त्वापूर्णं द०, अ०, स०, प० । अपूर्णं भक्ष्यम् । २. दृष्ट्वा अ० । ३. निर्भेष अ०, स० । ४. लकुटो दण्डः । ५. अवस्थायाम् । ६. भवः श्रवणम् । ७. पुनर्भवरहितत्वम्, सिद्धत्वमित्यर्थः । ८. प्राप्स्यति । अथ प्राप्स्यतिः शाकटायनापेक्षया तदन्तो वा अतदन्तो वाऽस्तु । 'भुवः प्राप्ताविधि' इति सूत्रव्याख्यानं वाऽऽजनेपदीति मूत्रातुः तदन्त एव । ९. सिद्धिं प्राप्स्यन्ति । सेत्स्यत्यसं-ल० । १०. अनुभविष्यन्ति । ११. भवतीर्थदान-स०, अ० । १२. विस्तृतम् ।

ततोऽभिदन्ध योगोन्दौ नरेन्द्रः दिव्यभार्यान्वितः । स्थावात् प्रत्यगात् प्रीतिः समं मातृवरादिभिः ॥२४८॥
 मुनीं च वातरशनौ^२ वायुमन्वीयतुस्तदा । मुनिद्वन्द्वे रसंगत्वं^३ व्यापयन्तौ नभोगती ॥२४९॥
 नृपांऽपि तद्गुणध्यामन्मुत्कण्ठितमानसः । तत्रैव तद्वहःशेषम^४ विधाह्य^५ संसाधनः ॥२५०॥
 ततः प्रयाणकैः कैश्चित् संप्रापत् पुण्डरीकिणीम् । तत्रापश्यच्च शोकात्तां देवीं लक्ष्मीमतीं सतीम् ॥२५१॥
 अनुन्धरीं च सौत्कण्ठ्यं समाश्वास्य शनैरसौ । पुण्डरीकस्य तद्राज्यमकरोन्निरूपकवम्^६ ॥२५२॥
 प्रकृतोरपि सामाग्यै^७ रूपायैः सौज्वरजयत् । सामन्तानपि संमाल्य^८ यथापूर्वमलिङ्गयत् ॥२५३॥
 समन्त्रिकं ततो राज्ये बाह्यं आलार्कसप्रमम्^९ । निवेश्य पुनरावृत्तः प्रापदुत्पलखेटकम् ॥२५४॥

मालिनीच्छन्दः

अथ परमविभूत्या वज्रजङ्घः क्षितीषाः

पुरममरपुराणं त्वं^१ विशान्^२ कान्तयामा ।

शातमख इव शङ्खा संभृतश्रीः^३ स रेजे

पुरधरवनिजानां लोचनैः पीयमानः ॥२५५॥

वज्रजङ्घका शरीर हर्षसे रोमाञ्चित हो उठा जिससे ऐसा मालूम होता था मानो प्रेमके अंकुरों-
 से व्याप्त ही हो गया हो ॥२४८॥ तदनन्तर राजा उन दोनों मुनिराजोंको नमस्कार कर रानी
 श्रीमती और अतिशय प्रसन्न हुए मतिवर आदिके साथ अपने डेरेपर लौट आया ॥२४८॥
 तत्पश्चात् वायुरूपी वज्रको धारण करनेवाले (दिगम्बर) वे दोनों मुनिराज 'मुनियोंकी वृत्ति
 परिग्रहरहित होती है' इस बातको प्रकट करते हुए वायुके साथ-साथ ही आकाशमार्गसे
 विहार कर गये ॥२४९॥ राजा वज्रजङ्घने उन मुनियोंके गुणोंका ध्यान करते हुए उत्कण्ठित
 चित्त होकर उस दिनका शेष भाग अपनी सेनाके साथ उसी शष्प नामक सरोवरके किनारे
 व्यतीत किया ॥२५०॥ तदनन्तर वहाँसे कितने ही पड़ाव चलकर वे पुण्डरीकिणी नगरीमें
 जा पहुँचे । वहाँ जाकर राजा वज्रजङ्घने शोकसे पीड़ित हुई सती लक्ष्मीमती देवीको देखा
 और भाईके मिलनेकी उत्कण्ठासे सहित अपनी छोटी बहन अनुन्धरीको भी देखा । दोनोंको
 धीरे-धीरे आश्वासन देकर समझाया तथा पुण्डरीकके राज्यको निष्कण्टक कर दिया
 ॥२५१-२५२॥ उसने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायोंसे समस्त प्रजाको अनुरक्त किया
 और सरदारों तथा आश्रित राजाओंका भी सम्मान कर उन्हें पहलेकी भाँति (चक्रवर्तीके
 समयके समान) अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त कर दिया ॥२५३॥ तत्पश्चात् प्रातःकालीन सूर्यके
 समान देदीप्यमान पुण्डरीक बालकको राज्य-सिंहासनपर बैठाकर और राज्यकी सब व्यवस्था
 सुयोग्य मन्त्रियोंके हाथ सौंपकर राजा वज्रजङ्घ लौटकर अपने उत्पलखेटक नगरमें आ
 पहुँचे ॥२५४॥ उत्कृष्ट शोभासे सुशोभित महाराज वज्रजङ्घने प्रिया श्रीमतीके साथ बड़े ठाट-
 बाटसे स्वर्गपुरीके समान सुन्दर अपने उत्पलखेटक नगरमें प्रवेश किया । प्रवेश करते समय
 नगरकी मनोहर स्त्रियाँ अपने नेत्रों-द्वारा उनके सौन्दर्य-रसका पान कर रही थीं । नगरमें
 प्रवेश करता हुआ वज्रजङ्घ 'ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो स्वर्गमें प्रवेश करता हुआ
 इन्द्र ही हो ॥२५५॥

१. प्रीत्यै समं-ब० । २. वातवसनी द०, ल० । वास्तवसनी प० । वातरसनी अ० । ३. कथयन्तौ ।

४. दिवसावशेषम् । ५. अतीत्य । ६. निरूपकवम् । ७. प्रजाः । ८. सामभेददानदण्डैः । ९. सत्कृत्य ।

१०. सदृशम् । ११. आत्मोद्यम् । १२. विराट्का-अ०, प०, स०, म० । १३. सम्पन्नवृत्तश्रीः ।

किमयममरनाथः किंस्विकीर्णो धनानां

किमुक्तं ऋणिगणैः किं वयुष्माननङ्गः ।

इति पुरमरनारीजल्पनैः^१ कथ्यमानो

गृहमविशदुवारधीः पराङ्मुखो महर्षिः ॥२५६॥

शार्ङ्गसधिविकीर्णतम्

तत्रासौ^२ सुखमावसत् स्वरुचिताम्^३ भोगान् एवंपुण्योजिष्ठान्

भुञ्जानः पङ्क्तुप्रमोदजनने हर्ष्यो मनोहारिणि ।

संभोगैरुचिस्तैः शचीमिव हरिः संभावयन् प्रेयसी^४

जैनं धर्ममनुस्मरन् स्मरनिभः कीर्तिं च तन्वन् दिशि^५ ॥२५७॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

श्रीमतीवज्रजंघपात्रदानानुवर्णनं नामाष्टमं पर्व ॥८॥



क्या यह इन्द्र है ? अथवा कुबेर है ? अथवा धरणेन्द्र है ? अथवा शरीरधारी कामदेव है ? इस प्रकार नगरकी नर-नारियोंकी बातचीतके द्वारा जिनकी प्रशंसा हो रही है ऐसे अत्यन्त शोभायमान और उत्कृष्ट विभूतिके धारक वज्रजंघने अपने श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया ॥२५६॥ उहाँ ऋतुओंमें हर्ष उत्पन्न करनेवाले उस मनोहर राजमहलमें कामदेवके समान सुन्दर वज्रजंघ अपने पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए मनवाञ्छित भोगोंको भोगता हुआ सुखसे निवास करता था । तथा जिस प्रकार संभोगादि उचित उपायोंके द्वारा इन्द्र इन्द्राणीको प्रसन्न रखता है वसी प्रकार वह वज्रजंघ संभोग आदि उपायोंसे श्रीमतीको प्रसन्न रखता था । यह सदा जैन धर्मका स्मरण रखता था और दिशाओंमें अपनी कीर्ति फैलाता रहता था ॥२५७॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण

महापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजंघके पात्रदानका वर्णन

करनेवाला आठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥८॥



नवमं पर्व

अथ त्रिवर्गसंसर्गस्य राज्यं प्रकुर्वतः । तस्य कालोऽगमद् भूयान् भोगैः षड्भानुसुन्दरैः ॥१॥
 स रेमे^१ शरदारम्भे प्रकुल्लान्नसरोजले । वनेष्वयुक्तेष्वामोदसुमगेषु प्रियाम्बितः ॥२॥
 सरिषुलिनदेशेषु प्रियाजवनहारिषु । राजहंसो^२ धृति^३ लेभे^४ सघ्नीचीमनुयज्यम्^५ ॥३॥
 कुर्वन्नीलोत्पलं कर्णे स कान्ताया वसंसकम्^६ । शोभामिव दक्षोरस्याः^७ सेनाभूत् सन्निकर्षयन्^८ ॥४॥
 सरसान्नरजःपुष्पपिञ्जरं स्तनमण्डलम् । स पश्यन् बहुभेने^९ऽस्याः कामस्येव करण्डकम् ॥५॥
 वासरोहे^{१०} समुत्सर्पद् धूपामोदसुगन्धिनि । प्रिवास्तनोष्मणा^{११} भेजे हिमतीं स परो धृतिम् ॥६॥
 कुङ्कुमालिप्तलङ्गीमम्लानमुखवारिजाम् । प्रियामरमयद् गाढमाश्लिष्यन्^{१२} किशिरागमे ॥७॥
 मधौ^{१३} मधुमदामचकामिनीजनसुन्दरे । वनेषु सहकाराणां स रेमे रामया समम् ॥८॥
 अशोककलिकां कर्णे न्यस्यन्नस्या मनोमवः । जनचेतोमिदो दध्यौ^{१४} शोणितान्ताः^{१५} स तीरिकाः^{१६} ॥९॥
 धर्मे धर्माभ्युविच्छेदिसरोऽनिलहृतक्कमः । जलकेलिविधौ कान्ता रमयन् विजहार तः ॥१०॥
 चन्दनद्रवसिक्ताङ्गीं प्रियां हारविभूषणाम् । कण्ठे गृह्णन् स चर्मोत्थं नाजासीत् कमपि श्रमम् ॥११॥

तदनन्तर धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गोंके संसर्गसे मनोहर राज्य करनेवाले महाराज वज्रजंघका छहों ऋतुओंके सुन्दर भोग भोगते हुए बहुत-सा समय व्यतीत हो गया ॥१॥ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ वह राजा शरदृष्टुके प्रारम्भकालमें फूले हुए कमलोंसे सुशोभित तालाबोंके जलमें और सप्तपर्ण जलिके वृक्षोंकी सुगन्धिसे मनोहर वनोंमें क्रीड़ा करता था ॥२॥ कभी वह श्रेष्ठ राजा, राजहंस पक्षीके समान अपनी सहचरीके पीछे-पीछे चलता हुआ प्रियाके नितम्बके समान मनोहर नदियोंके तटप्रदेशोंपर सन्तुष्ट होता था ॥३॥ कभी श्रीमतीके कानोंमें नील कमलका आभूषण पहनाता था । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस नील कमलके आभूषणोंके छलसे उसके नेत्रोंकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥४॥ श्रीमतीका स्तनमण्डल तालाबोंकी परागके समूहसे पीला पड़ गया था इसलिए कामदेवके पिटारेके समान जान पड़ता था । राजा वज्रजंघ उस स्तन-मण्डलको देखता हुआ बहुत ही हर्षित होता था ॥५॥ हेमन्त ऋतुमें वह वज्रजंघ धूपकी फैलती हुई सुगन्धिसे सुगन्धित शयनागारमें श्रीमतीके स्तनोंकी उष्णतासे परम धैर्यको प्राप्त होता था ॥६॥ तथा शिशिर ऋतुका आगमन होनेपर जिसका सम्पूर्ण शरीर केशरसे लिप्त हो रहा है और जिसका मुख-कमल प्रसन्नतासे खिल रहा है ऐसी प्रिया श्रीमतीको गाढ़ आलिंगनसे प्रसन्न करता था ॥७॥ मधुके मदसे उन्मत्त हुई स्त्रियोंसे हरे-भरे सुन्दर वसन्तमें वज्रजंघ अपनी स्त्रीके साथ-साथ आमोंके वनोंमें क्रीड़ा करता था ॥८॥ कभी श्रीमतीके कानोंमें अशोक वृक्षकी नयी कली पहनाता था । उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था मानो मनुष्यके चित्तको भेदन करनेवाले और खूनसे रंगे हुए अपने लाल-लाल बाण पहनाता हुआ कामदेव ही हो ॥९॥ ग्रीष्म ऋतुमें पसीनेकी सुखानेवाली तालाबोंके समीपवर्ती वायुसे जिसकी सब थकावट दूर हो गयी है ऐसा वज्रजंघ जलक्रीड़ा कर श्रीमतीको प्रसन्न करता हुआ विहार करता था ॥१०॥ चन्दनके द्रवसे जिसका सारा शरीर लिप्त हो रहा है और जो कण्ठमें हार पहने हुई है

१. रेजे म०, ल० । २. सप्तपर्णः । ३. संतोषम् । ४. सहायां श्रीमतीमित्यर्थः । ५. अनुगच्छन् । ६. कर्णपूरम् । ७. कर्णपूरकरणेन । ८. संनिधोजयन् । ९. वाद्यगृहे । १०. उष्णेन । ११. स हिमाममे अ०, प०, द०, स० । १२. मधुमदायत्त—प०, द० । मधुमहामत्त—अ० । १३. व्यायति स्म । १४. रक्तलिप्तान् । १५. बाणान् । तीरिकाः ल० । तीरकान् म० ।

शरीषकुसुमैः कान्तामलकुर्वन् वतंसितैः । रुपिणोमिव नैदाघीं श्रियं तां बद्धमस्त सः ॥१२॥
 वनागमे वनोपास्तस्फुरत्तडित्ति साध्वसात् । काञ्चन्याश्लेषि विश्लेषमीतया धनमेव^१ सः ॥१३॥
 इन्द्रगोपचिता भूमिरामश्रुतनिता वनाः । ऐश्वर्यार्पं च पान्थानां चक्रुस्तकण्ठितं मनः ॥१४॥
 नमः^२ स्थगितमस्मानिः सुरगोपैस्त्वता^३ मही । क्व^४ यायेति^५ न्यषेधं नु पथिकान् गर्जितैर्वनाः^६ ॥१५॥
 विकासिकुटजरुक्षा भूधराणासुपत्यकाः^७ । मनोऽस्य निम्युरीस्तुक्थं स्वनैरुन्मदकेकिनाम् ॥१६॥
 कदम्बानिलसंवासं सुरमीकृतसानवः । गिरयोऽस्य मनो जहः काले^८ नृत्यच्छिखावले ॥१७॥
 धनेहसि^९ कसन्विद्युदुधोत्तितविहायसि । स रेमे रम्यहर्ष्याग्रमे^{१०} भिष्यत् प्रियातरणः ॥१८॥
 सरितामुद्धताम्भोमिः प्रियामानप्रभाविमिः^{११} । प्रवाहैर्धृतिरस्यासीद् वर्षर्तोः^{१२} समुपागमे ॥१९॥
 भोगान् षड्भुजानिस्थं भुजानोऽसौ सहाज्जनः । साक्षात्कृत्येव मूढानां तपःफलमदर्शयन् ॥२०॥
 अथ कालागुरुदामधूपधूमाधिवासिते । मणिप्रदीपकोद्योतदूरीकृततमस्तरे^{१३} ॥२१॥
^{१४} प्रतिपादिकविन्यस्तस्त्वमधोपशोमिति । वक्ष्यालम्बिभिर्मुक्ता जालकैर्ह^{१५} सितश्रियम् ॥२२॥

ऐसी श्रीमतीको गलेमें लगाता हुआ वज्रजंघ गरमीसे पैदा होनेवाले किसी भी परिश्रमको नहीं जानता था ॥११॥ वह कभी शरीषके फूलोंके आभरणोंसे श्रीमतीको सजाता था और फिर उसे साक्षात् शरीर धारण करनेवाली मीष्मश्रुतकी शोभा समझता हुआ बहुत कुछ मानता था ॥१२॥ वर्षाश्रुतमें जब मेघोंके किनारेपर बिजली चमकती थी उस समय वियोगके भयसे अत्यन्त भयभीत हुई श्रीमती बिजलीके डरसे वज्रजंघका स्वयं गाढ़ आलिंगन करने लगती थी ॥१३॥ उस समय वीरवहूटी नामके लाल-लाल कीड़ोंसे व्याप्त पृथ्वी, गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ और इन्द्रधनुष ये सब पथिकोंके मनको बहुत ही उत्कण्ठित बना रहे थे ॥१४॥ उस समय गरजते हुए बादल मानो यह कहकर ही पथिकोंको गमन करनेसे रोक रहे थे कि आकाश तो हम लोगोंने घेर लिया है और पृथ्वी वीरवहूटी कीड़ोंसे भरी हुई है अब तुम कहाँ जाओगे ? ॥१५॥ उस समय खिले हुए कुटज जातिके वृक्षोंसे व्याप्त पर्वतके समीपकी भूमि उन्मत्त हुए मयूरोंके शब्दोंसे राजा वज्रजंघका मन उत्कण्ठित कर रही थी ॥१६॥ जिस समय मयूर नृत्य कर रहे थे ऐसे उस वर्षाके समयमें कदम्बपुष्पोंकी वायुके सम्पर्कसे सुगन्धित शिखरोंवाले पर्वत राजा वज्रजंघका मन हरण कर रहे थे ॥१७॥ जिस समय चमकती हुई बिजलीसे आकाश प्रकाशमान रहता है ऐसे उस वर्षाकालमें राजा वज्रजंघ अपने सुन्दर महलके अग्रभागमें प्रिया श्रीमतीके साथ शयन करता हुआ रमण करता था ॥१८॥ वर्षाश्रुत आनेपर स्त्रियोंका मान दूर करनेवाले और उछलते हुए जलसे शोभायमान नदियोंके पूरसे उसे बहुत ही सन्तोष होता था ॥१९॥ इस प्रकार वह राजा वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ-साथ छहों श्रुतोंके भोगोंका अनुभव करता हुआ मानो मूर्ख लोगोंको पूर्वभवमें किये हुए अपने तपका साक्षात् फल ही दिखला रहा था ॥२०॥

अथानन्तर एक दिन वह वज्रजंघ अपने शयनागारमें कोमल, मनोहर और गंगा नदीके बालूदार तटके समान सुशोभित रेशमी चहरसे उज्ज्वल शय्यापर शयन कर रहा था । जिस शयनागारमें वह शयन करता था वह कृष्ण अगुरुकी बनी हुई उत्कृष्ट धूपके धूमसे अत्यन्त

१. निविडम् । २. आच्छादितम् । ३. विस्तृता । ४. कुत्र गच्छथ । ५. निषेधं वक्तिरे । ६. हव । ७. गर्जिता धनाः म०, ल० । ८. आसन्नभूमिः । ९. सहवास । १०. प्रावृषि इत्यर्थः । ११. काले । १२. सौधाग्रे 'बोडस्यासोरधेराधारः' इति सूत्रात् सप्तम्यर्थे इतीया । १३. अहंकारप्रक्षालकः । १४. वर्षर्तो ल० । १५. निविडान्धकारे । १६. प्रतिपादकेष्व स्थापिता । १७. हसितं हसनम् ।

कुन्देन्द्रीवरमन्दारसान्द्रामोदाश्रितालिनि । चित्रमितिगतानेकरूपकर्ममनोहरै ॥२३॥
 वासनेहेऽन्यदा सिध्ये तल्पे भृङ्गुनि हारिणि । गङ्गासैकतनिर्भासि दुकूलं प्रच्छन्नोऽञ्जले ॥२४॥
 प्रियास्तनतटस्पर्शसुखामीलितलोचनः । मेरुकन्दरमाश्लिष्यन् स विधुदिव वारिवः ॥२५॥
 तत्र वात्सायनद्वारपिधानारुद्धधूनके । केशसंस्कारधूपोद्यमेन क्षणमूर्च्छितौ ॥२६॥
 निरुद्धोच्छ्वासद्वीःस्थिरपादन्तः किञ्चिदिवाकुली । दम्पती तौ निशामध्ये दीर्घनिद्रामुपेयतुः ॥२७॥
 जीवापाये तथोर्द्ध्वौ क्षणाद् विच्छाद्यतां गतौ । प्रदीपापायसंवृद्धं तमस्कन्धौ यथा गृहौ ॥२८॥
 विधुतासुरसौ छायां न लेभे सहकान्तया । पर्वस्त इव कालेन सलतः कल्पपादपः ॥२९॥
 भोगाङ्गेनापि धूमेन तथोरासोत् परासुता । धिगिमान् भोगि भोगाभाक् भोगान् प्रणयहारिणः ॥३०॥
 तौ तथा सुखसाग्री तौ संमोर्गैरुपकाक्षितैः । मास्रवेकपदे शोक्वा दशां चिक्संस्तुतिस्थितिम् ॥३१॥
 भोगाङ्गेरपि जन्तूनां यदि चेदीदृशी दशा । जनाः किमेभिरस्वन्तैः कुशतात्मनो रतिम् ॥३२॥

सुगन्धित हो रहा था, भणिसय दीपकोंके प्रकाशसे उसका समस्त अन्धकार नष्ट हो गया था। जिनके प्रत्येक पायेमें रत्न जड़े हुए हैं ऐसे अनेक मंचोंसे वह शोभायमान था। उसमें जो चारों ओर मोतियोंके गुच्छे लटक रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो हँस ही रहा हो। कुन्द, नीलकमल और मन्दार जातिके फूलोंकी तीव्र सुगन्धिके कारण उसमें बहुत-से भ्रमर आकर इकट्ठे हुए थे। तथा दीवाल्लोपर बने हुए तरह तरह-तरहके चित्रोंसे वह अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥२१-२४॥ श्रीमतीके स्तनतटके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखसे जिसके नेत्र निमीलित (बन्द) हो रहे हैं ऐसा वह बज्रजंघ मेरु पर्वतकी कन्दराका स्पर्श करते हुए बिजलीसहित बादलके समान शोभायमान हो रहा था ॥२५॥ शयनागारको सुगन्धित बनाने और केशोंका संस्कार करनेके लिए उस भवनमें अनेक प्रकारका सुगन्धि धूप जल रहा था। भाग्यवश उस दिन सेवक लोग झरोखेके द्वार खोलना भूल गये थे इसलिए वह धूम उसी शयनागारमें रुकता रहा। निदान, केशोंके संस्कारके लिए जो धूप जल रहा था उसके उठते हुए धूमसे वे दोनों पति-पत्नी क्षण-भरमें मूर्च्छित हो गये ॥२६॥ उस धूमसे उन दोनोंके श्वास रुक गये जिससे अन्तःकरणमें उन दोनोंको कुछ व्याकुलता हुई। अन्तमें मध्य रात्रिके समय वे दोनों ही दम्पति दीर्घ निद्राको प्राप्त हो गये—सदाके लिए सो गये—मर गये ॥२७॥ जिस प्रकार दीपक बुझ जानेपर रुके हुए अन्धकारके समूहसे मकान निष्प्रभ—मलीन—हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव निकल जानेपर उन दोनोंके शरीर क्षण-भरमें निष्प्रभ—मलीन—हो गये ॥२८॥ जिस प्रकार समय पाकर उखड़ा हुआ कल्पवृक्ष लतासे सहित होनेपर भी शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार प्राणरहित बज्रजंघ श्रीमतीके साथ रहते हुए भी शोभायमान नहीं हो रहा था ॥२९॥ यद्यपि वह धूप उनके भोगोपभोगका साधन था तथापि उससे उनकी मृत्यु हो गयी इसलिए सर्पके फणाके समान प्राणोंका हरण करनेवाले इन भोगोंको धिक्कार हो ॥३०॥ जो श्रीमती और बज्रजंघ उत्तम-उत्तम भोगोंका अनुभव करते हुए हमेशा सुखी रहते थे वे भी उस समय एक ही साथ सोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुए थे इसलिए संसारकी ऐसी स्थितिको धिक्कार हो ॥३१॥ हे भव्यजन, जब कि भोगोप-भोगके साधनोंसे ही जीवोंकी ऐसी अवस्था हो जाती है तब अन्तमें दुःख देनेवाले इन भोगोंसे क्या प्रयोजन है? इन्हें छोड़कर जिनेन्द्रदेवके धीतराग मतमें ही प्रीति करो ॥३२॥

१. चित्रकर्म । २. शयनागृहे । ३. सदृश । ४. प्रच्छन्नो—म०, ल० । ५. संरुद्ध—म०, द०, ल० ।
 ६. विध्वस्तः । ७. भोगकारणेन । ८. धूमेन य० । ९. मृतिः । १०. सर्पशरीर । ११. तदा अ०, म०, स०, ल० । १२. सुखाधीनौ । १३. तरक्षणे । 'सहसैकपदे सद्योऽकस्मात् सपदि तत्क्षणे' इत्यभिधान-चिन्तामणिः ।
 १४. दुःखान्तिः ।

पात्रदानात्पुण्येन बद्धोदककुंठजायुषी । क्षणात् कुसुन् समासाद्य तत्र तो जन्म भोजतु ॥३३॥
जम्बूद्वीपमहामेरोरुत्तरं दिशमाभिताः । सन्त्युदकपुरवो नाम स्वर्गभोपरिहासिनः ॥३४॥
मद्यातोषविभूषास्तदीपज्योतिर्गृहाङ्गकाः । भोजनामत्र वस्त्राङ्गा इत्यन्वर्थसमाह्वयाः ॥३५॥
यत्र कल्पवृक्षा रम्या दशधा परिकीर्तिताः । नानारत्नमयाः स्फीतप्रभोद्योतितदिङ्मुखाः ॥३६॥
मद्याङ्गा मधुमैरेयसीध्वरिष्ठासवादिङ्गान् । रसभेदांस्ततामोदान् वितरन्त्यमृतोपमान् ॥३७॥
कामोदीपनसाधन्याम् मद्यमित्युपचर्यते । तारवो रसभेदोऽयं यः लेख्यो भोगभूमिजैः ॥३८॥
सर्वस्य करणं मद्यं पानशौण्डेयं वादतम् । तद्वर्जनीयमार्वाणामन्तःकरणमोहदम् ॥३९॥
पट्टहान् मर्दलास्तालं सल्लरीशङ्ककादलम् । कल्पवृक्षे वनकाशे वा मद्यभेदांस्तद्वृक्षिणः ॥४०॥
तुलाकोटिकं केयूरहृदकाङ्गद्वेषकान् । हारान् मुकुटभेदांश्च सुवते भूषणाङ्गकाः ॥४१॥
नम्रो नानाविधाः कर्णपूरभेदांश्च वैकुण्ठो । सर्वतुङ्गसुमाकीर्णाः सुमनोऽङ्गा दधत्यलम् ॥४२॥
मद्यिप्रदीपैरभानि दीपाङ्गास्तथा महाङ्गमाः । ज्योतिरङ्गाः सदा द्योतमातन्वन्ति स्फुरद्भूषः ॥४३॥
गृहाङ्गाः सौधमुत्तुङ्गं मण्डपं च सभागृहम् । चित्रनर्तनशालाश्च संनिवापयितुं क्षमाः ॥४४॥

उन दोनोंने पात्रदानसे प्राप्त हुए पुण्यके कारण उत्तरकुरु भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया था इसलिए क्षण-भरमें वहीं जाकर जन्म-धारण कर लिया ॥३३॥

जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरु पर्वतसे उत्तरको ओर उत्तरकुरु नामकी भोगभूमि है जो कि अपनी शोभासे सदा स्वर्गकी शोभाको हँसती रहती है ॥३४॥ जहाँ मद्याङ्ग, वादित्राङ्ग, भूषणाङ्ग, मालाङ्ग, वीपाङ्ग, ज्योतिरङ्ग, गृहाङ्ग, भोजनाङ्ग, भाजनाङ्ग और वस्त्राङ्ग ये सार्थक नामको धारण करनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं । ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नोंके बने हुए हैं और अपनी विस्तृत प्रभासे दशों दिशाओंको प्रकाशित करते रहते हैं ॥३५-३६॥ इनमें मद्याङ्गजातिके वृक्ष फैलती हुई सुगन्धिसे युक्त तथा अमृतके समान मोठे मधु—मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकारके रस देते हैं ॥३७॥ कामोदीपनकी समानता होनेसे शीघ्र ही इन मधु आदिको उपचारसे मद्य कहते हैं । वास्तवमें ये वृक्षोंके एक प्रकारके रस हैं जिन्हें भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं ॥३८॥ मद्यपायी लोग जिस मद्यका पान करते हैं वह नशा करनेवाला है और अन्तःकरणको मोहित करनेवाला है इसलिए आर्यपुरुषोंके लिए सर्वथा त्याज्य है ॥३९॥ वादित्राङ्ग जातिके वृक्षमें दुन्दुभि, मृदङ्ग, सल्लरी, शंख, मेरी, चंग आदि अनेक प्रकारके बाजे फलते हैं ॥४०॥ भूषणाङ्ग जातिके वृक्ष नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद(अनन्त), करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकारके आभूषण उत्पन्न करते हैं ॥४१॥ मालाङ्ग जातिके वृक्ष सब ऋतुओंके फूलोंसे व्याप्त अनेक प्रकारको मालाएँ और कर्णफूल आदि अनेक प्रकारके कर्णाभरण अधिक रूपसे धारण करते हैं ॥४२॥ दीपाङ्ग नामके कल्पवृक्ष मणिमय दीपकोंसे शोभायमान रहते हैं और प्रकाशमान कान्तिके धारक ज्योतिरङ्ग जातिके वृक्ष सदा प्रकाश फैलाते रहते हैं ॥४३॥ गृहाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष, ऊँचे-ऊँचे राजभवन, मण्डप, सभागृह, चित्रशाला और नृत्यशाला आदि अनेक प्रकारके भवन तैयार करनेके लिए समर्थ

१. स्वीकृत । २. उत्तरकुरु । ३. भाजन । ४. बहुल । ५. तत्सम्बन्धी । ६. मद्यपायिभिः । ७. मन्तःकरणमोहदम् ६०, ८०, ९० ।—मन्तःकरणमोहदम् अ० । ८. तालसल्लरी—प० । पट्टहान्मर्दलं तालसल्लरी अ० । ९. जयवृष्टा । १०. नूपुरम् । स्वकं कुण्डलं वीणाभरणं वा । 'स्वकं मङ्गलद्वये वीणाभरणदन्तयोः' इत्यभि-
धानात् । ११. वैष्णवं रक्षता । १२.—मुकुट—अ०, प०, स० । १३. अनेकधा । १४. सदा द्योतिं वितन्वन्ति अ०, स० । सदाद्योतमातन्वन्ति प०, द०, म० । १५. कर्तुम् ।

भोजनाङ्गा बराहारानमृतस्वाददायिनः । ^१वपुष्करान् फलन्यासवद्हरसानशनादिकान् ॥४५॥
 भक्षणं पानकं खाद्यं स्वाद्यं चान्नं ^२चतुर्विधम् । ^३कट्फाम्लविस्तम्भपुरकवायलवद्या रसाः ॥४६॥
 स्यालानि ^४वषकान् शुक्ति ^५भृङ्गारकरकादिकान् । भाजनाङ्गा विशम्भ्याविर्मवच्छायाविषङ्गिनः ^६॥४७॥
 चीनपद्मकुलानि ^७प्रावारपरिधानकम् । मृदुक्षुण्णमहाधीनि ^८वस्त्राङ्गा दधति व्रमाः ॥४८॥
 न वनस्पतयोऽप्येते नैव ^९दिव्यैरधिष्ठिताः ^{१०}। केवलं पृथिवीसारं ^{११}स्तन्मयस्त्वमुपागताः ^{१२}॥४९॥
 भनादिनिधनाश्चेते निसर्गान् फलदायिनः । तद्भि ^{१३}भावस्वभावानामुपालम्भः ^{१४}सुसङ्गतः ^{१५}॥५०॥
 मृणां वानफलादेते फलन्ति विपुलं फलम् । ^{१६}यथान्यपादपाः काले प्राणिनामुपकारकाः ॥५१॥
 सर्वरत्नमयं यत्र धरणीतलमुज्ज्वलं । प्रसूनैः सोपहारत्वात् मुच्यते जातु न श्रिया ॥५२॥
 यत्र तृण्या ^{१७}महीपृष्ठं चतुरङ्गुलसंमिता । शुक्लछायांशुकेनेव प्रच्छादयति हारिणी ॥५३॥
 मृगाश्चरन्ति ^{१८}यत्रत्याः ^{१९}कोमलास्तृणसंपदः । ^{२०}स्वाद्भीसुन्दर्यसोहृन्धा ^{२१}रसायनरसास्पया ॥५४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधित्तागट जी महाराज
 रहते हैं ॥४४॥ भोजनांग जातिके वृक्ष, अमृतके समान स्वाद देनेवाले, शरीरको पुष्ट करनेवाले और छहों रससहित अशन-पान आदि उत्तम-उत्तम आहार उत्पन्न करते हैं ॥४५॥ अशन (रोटी, दाल, भात आदि खानेके पदार्थ), पानक (दूध, पानी आदि पीनेके पदार्थ), खाद्य (लड्डू आदि खाने योग्य पदार्थ) और स्वाद्य (पान, सुपारी, जाबित्री आदि स्वाद लेने योग्य पदार्थ) ये चार प्रकारके आहार और कड़वा, खट्टा, चरपरा, मीठा, कसैला और खारा ये छह प्रकारके रस हैं ॥४६॥ भाजनांग जातिके वृक्ष थाली, कटोरा, सीपके आकारके बरतन, भुंगार और करक (करवा) आदि अनेक प्रकारके बरतन देते हैं। ये बरतन इन वृक्षोंकी शाखाओंमें लटकते रहते हैं ॥४७॥ और वस्त्रांग जातिके वृक्ष रेशमी वस्त्र, दुपट्टे और धोती आदि अनेक प्रकारके कोमल, चिकने और महामूल्य वस्त्र धारण करते हैं ॥४८॥ ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवोंके द्वारा अधिष्ठित ही हैं। केवल, वृक्षके आकार परिणत हुआ पृथ्वीका सार ही हैं ॥४९॥ ये सभी वृक्ष अनादिनिधन हैं और स्वभावसे ही फल देनेवाले हैं। इन वृक्षोंका यह ऐसा स्वभाव ही है इसलिए ये वृक्ष वस्त्र तथा बरतन आदि कैसे देते होंगे, इस प्रकार कुतर्क कर इनके स्वभावमें दूषण लगाना उचित नहीं है। भावार्थ—पदार्थोंके स्वभाव अनेक प्रकारके होते हैं इसलिए उनमें तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि कहा भी है, 'स्वभावोऽतर्कगोचरः' अर्थात् स्वभाव तर्कका विषय नहीं है ॥५०॥ जिस प्रकार आजकलके अन्य वृक्ष अपने-अपने फलनेका समय आनेपर अनेक प्रकारके फल देकर प्राणियोंका उपकार करते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्योंके वानके फलसे अनेक प्रकारके फल फलते हुए वहाँके प्राणियोंका उपकार करते हैं ॥५१॥ जहाँकी पृथ्वी सब प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है और उसपर उज्ज्वल फूलोंका उपहार पड़ा रहता है इसलिए उसे शोभा कभी छोड़ती ही नहीं है ॥५२॥ जहाँकी भूमिपर हमेशा चार अंगुल प्रमाण मनोहर घास लहलहाती रहती है जिससे ऐसा मालूम होता है कि मानो हरे रंगके वस्त्रसे भूषणको ढक रही हो अर्थात् जमीनपर हरे रंगका कपड़ा बिछा हो ॥५३॥ जहाँके पशु

१. पुष्टिकरान् । २. चान्धवचतुर्विधम् प०, स०, म० । वाय चतुर्विधम् अ० । ३. कट्फाम्ल-म०, ल० । ४.-भोजनभाजनानि । ५. पानपात्र । ६. शुक्ती प० । शुक्तीन् अ०, स०, द० । ७. संसक्तान् । ८. उत्तरीयवस्त्र । ९. अधोऽशुक । १०. महामूल्यानि । ११. देव-म०, ल० । १२. स्यापिताः । १३. पृथिवीसारस्तन्मयस्त्व-म०, अ०, प०, स०, द०, ल० । १४. -मुपागतः म०, अ०, प०, स०, द० । १५. पदार्थ । १६. वृक्षणम् । १७. मनोजः । १८. यथाय अ०, प०, स०, द० । १९. वनसंहतिः । २०. अक्षयन्ति । २१. यत्र भवाः । तत्रत्याः अ०, स० । २२. अतिशयेन कृष्या । २३. अमृतरसबुद्ध्या ।

सोष्णं दीर्घिका यत्र विदलत्कनकाम्बुजाः । हंसानां कलमन्द्रेण विहतेन मनोहराः ॥५५॥
 सरोस्तुस्फुल्लपद्मानि वनमुन्मत्तकोकिलम् । कीडादयश्च रुचिराः सन्ति यत्र पदे पदे ॥५६॥
 यन्नाथ्य तस्मिन्मन्वावाति मृदुमारुतः । पटवासमिधातन्वन् मकरन्दरजोऽभितः ॥५७॥
 यत्र गन्धवद्वाधूसैराकीर्णा पुष्परेणुभिः । वसुधा राजते पीतक्षौमेणैवावकुण्ठिता ॥५८॥
 यत्रामोदितदिग्भागाः सरुजिः पुष्पजं रजः । नभसि श्रियमाधत्ते वितानस्याभितो हृतम् ॥५९॥
 यत्र नातपसवाधा न वृष्टिर्न हिमादयः । नेतयो दन्दशूका वा प्राणिनां भयहेतवः ॥६०॥
 न ज्योत्स्ना नाप्यहोरात्रविभागा न तु संक्रमः । नित्यैकवृत्तयो भावा यत्रैषां सुखहेतवः ॥६१॥
 वनानि नित्यपुष्पाणि नलिन्यो नित्यपङ्कजाः । यत्र नित्यसुखा देशा रंगपांसुभिराचिताः ॥६२॥
 यत्रोत्पलवता विन्यमङ्गुल्याहारमुद्रसम् । वदन्त्युत्तानशय्यायामासप्ताहव्यतिक्रमात् ॥६३॥
 ततो वृक्षान्तरं तेषामामनन्ति मनीषिणः । दम्पतीनां सहारङ्गरिङ्गिणां दिनसप्तकम् ॥६४॥
 सप्ताहेन परेणाथ प्रोत्थाय कलभाषिणः । स्खलद्गति सङ्केतं च संचरन्ति महीतले ॥६५॥
 ततः स्थिरपद्म्यासैर्घञन्ति दिनसप्तकम् । कलाज्ञानेन सप्ताहं निर्विशिष्टं गुणैश्च ते ॥६६॥
 परेण सप्तात्रेण सम्पूर्णनवयौवनाः । लसदंशुकसङ्गृहा जायन्ते भोगभागिनः ॥६७॥

स्वादिष्ट, कोमल और मनोहर तृणरूपी सम्पत्तिको रसायन समझकर बड़े हर्षसे चरा करते हैं ॥५५॥ जहाँ अनेक वायिकाएँ हैं जो कमलोंसे सहित हैं, उनमें सुवर्णके समान पीले कमल फूल रहे हैं और जो हंसोंके मधुर तथा गम्भीर शब्दोंसे अतिशय मनोहर जान पड़ती हैं ॥५५॥ जहाँ जगह-जगहपर फूले हुए कमलोंसे सुशोभित तालाव, उन्मत्त कोकिलाओंसे भरे हुए वन और सुन्दर कीड़ापर्वत हैं ॥५६॥ जहाँ कोमल वायु वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे-धीरे बहता रहता है । वह वायु बहते समय सब ओर कमलोंकी परागको उड़ाता रहता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो सब ओर सुगन्धित चूर्ण ही फैला रहा हो ॥ ५७ ॥ जहाँ वायुके द्वारा उड़कर आये हुए पुष्पपरागसे ढकी हुई पृथ्वी ऐसी शोभायमान हो रही है मानो पीले रंगके रेशमी वस्त्रसे ढकी हो ॥ ५८ ॥ जहाँ दशों दिशाओंमें वायुके द्वारा उड़-उड़कर आकाशमें इकट्ठा हुआ पुष्पपराग सब ओरसे तने हुए चँदोवाकी शोभा धारण करता है ॥ ५९ ॥ जहाँ न गरमीका क्लेश होता है, न पानी बरसता है, न तुषार आदि पड़ता है, न अतिवृष्टि आदि ईनियाँ हैं और न प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेवाले साँप, बिच्छू, खटमल आदि दुष्ट जन्तु ही हुआ करते हैं ॥६०॥ जहाँ न चाँदनी है, न रात-दिनका विभाग और न ऋतुओंका परिवर्तन ही है, जहाँ सुख देनेवाले सब पदार्थ सदा एक-से रहते हैं ॥६१॥ जहाँके वन सदा फूलोंसे युक्त रहते हैं, कमलिनियोंमें सदा कमल लगे रहते हैं, और रत्नकी धूलिसे व्याप्त हुए देश सदा सुखी रहते हैं ॥ ६२ ॥ जहाँ उत्पन्न हुए आर्य लोग प्रथम सात दिन तक अपनी शय्यापर चित्त पड़े रहते हैं । उस समय आचार्योंने हाथका रसीला अंगूठा चूसना ही उनका दिव्य आहार बतलाया है ॥६३॥ तत्पश्चात् विद्वानोंका मत है कि वे दोनों दम्पती द्वितीय सप्ताहमें पृथ्वीरूपी रंगभूमिमें घुटनोंके बल चलते हुए एक स्थानसे दूसरे स्थान तक जाने लगते हैं ॥ ६४ ॥ तदनन्तर तीसरे सप्ताहमें वे खड़े होकर अस्पष्ट किन्तु मीठी-मीठी बातें कहने लगते हैं और गिरते-पड़ते खेलते हुए जमीनपर चलने लगते हैं ॥६५॥ फिर चौथे सप्ताहमें अपने पैर स्थिरतासे रखते हुए चलने लगते हैं तथा पाँचवें सप्ताहमें अनेक कलाओं और गुणोंसे सहित हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ छठे सप्ताहमें पूर्ण जवान हो जाते हैं और सातवें सप्ताहमें अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण कर भोग भोगनेवाले

१. वासचूर्णम् । २. स्वर्णवर्णपट्टवस्त्रेण । ३. आचछादित । -गुणितं अ०, प०, स०, द० ।

४. पदार्थाः । ५. उदगततरसम् । ६. अनुभवन्ति ।

नवमासं स्थिता गर्भे स्वगर्भगृहोपमे । यत्र दम्पतितामेत्य जायन्ते दानिनो नराः ॥६८॥
 यदा दम्पतिसंभूतिर्जनयित्रीः परासुता । तदैव तत्र पुत्रादिसंकल्पो यत्र देहिनाम् ॥६९॥
 क्षुत्तृभित्तमात्रेण यत्राहुर्भूतिमङ्गिताम् । स्वभावमार्दवाद् यान्ति विवमेव यदुद्भवाः ॥७०॥
 देहोच्छ्रायं नृणां यत्र नानाकक्ष्यासुन्दरम् । धनुषां षट्सहस्राणि विवृण्वन्त्यासूक्तयः ॥७१॥
 पत्युश्चयमितं यत्र देहिनामायुषिष्यते । दिनत्रयेण चाहारः कुक्कुलीफलमात्रकः ॥७२॥
 यदुवां न जरातक्ता न वियोगो न शोचनम् । नानिष्टसंप्रयोगश्च न चिन्ता वैम्यमेव च ॥७३॥
 न निद्रा नातितन्द्राणां नात्युष्मेषनिमेषणम् । न शरीरमलं यत्र न लालास्वेदसंभवः ॥७४॥
 न यत्र विरहोष्मादो न यत्र मदनञ्जरः । न यत्र खण्डना भोगे सुखं यत्र निरन्तरम् ॥७५॥
 न विषादो भयं ग्लानिर्नारुचिः कुपितं च न । न कार्पण्यमनाचारो न बली यत्र नाबलः ॥७६॥
 बाह्यार्कसमनिर्भाषा निःस्वेदा नीरजोऽम्बराः । यत्र पुण्योदयाश्रित्यं रंरम्यन्ते नराः सुखम् ॥७७॥
 दशाङ्गतस्मिन्भूतभोगाश्रुमयनोज्ज्वलम् । सुखं यत्रातिशोते तां चक्रिणो भोगसंपदम् ॥७८॥
 यत्र दीर्घायुषां नृणां नाकाण्डे मृत्युसंभवः । निरुपद्रवमायुः सर्व जीवन्त्युक्तप्रमाणकम् ॥७९॥

हो जाते हैं ॥६७॥ पूर्वभयमें दान देनेवाले मनुष्य ही जहाँ उत्पन्न होते हैं । वे उत्पन्न होनेके पहले नौ माह तक गर्भमें इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि कोई रत्नोंके महलमें रहता है । उन्हें गर्भमें कुछ भी दुःख नहीं होता । और स्त्री-पुरुष साथ-साथ ही पैदा होते हैं । वे दोनों स्त्री-पुरुष दम्पतिपनेको प्राप्त होकर ही रहते हैं ॥६८॥ चूँकि वहाँ जिस समय दम्पतिका जन्म होता है उसी समय उनके माता-पिताका देहान्त हो जाता है इसलिए वहाँके जीवोंमें पुत्र आदिका संकल्प नहीं होता ॥६९॥ जहाँ केवल स्त्री और जँभाई लेने मात्रसे ही प्राणियोंकी मृत्यु हो जाती है अर्थात् अन्त समयमें माताको स्त्री और पुरुषको जँभाई आती है । जहाँ उत्पन्न होनेवाले जीव स्वभावसे कोमलपरिणामी होनेके कारण स्वर्गको ही जाते हैं ७० ॥ जहाँ उत्पन्न होनेवाले लोगोंका शरीर अनेक लक्षणोंसे सुशोभित तथा छह हजार धनुष ऊँचा होता है ऐसा आप्त-प्रणीत आगम स्पष्ट वर्णन करते हैं ॥ ७१ ॥ जहाँ जीवोंकी आयु तीन पत्य प्रमाण होती है और आहार तीन दिनके बाद होता है, वह भी बदरीफल (छोटे बेरके) बराबर ॥ ७२ ॥ जहाँ उत्पन्न हुए जीवोंके न बुढ़ापा आता है, न रोग होता है, न विरह होता है, न शोक होता है, न अनिष्टका संयोग होता है, न चिन्ता होती है, न दीनता होती है, न नींद आती है, न आलस्य आता है, न नेत्रोंके पलक झपते हैं, न शरीरमें मल होता है, न लार बहती है और न पसीना ही आता है ॥ ७३-७४ ॥ जहाँ न विरहका उन्माद है, न कामञ्जर है, न भोगोंका विच्छेद है किन्तु निरन्तर सुख-ही-सुख रहता है ॥ ७५ ॥ जहाँ न विषाद है, न भय है, न ग्लानि है, न अरुचि है, न क्रोध है, न कृपणता है, न अनाचार है, न कोई बलवान् है और न कोई निर्बल है ॥७६॥ जहाँके मनुष्य बालसूर्यके समान देदीप्यमान, पसीनारहित और स्वच्छ बस्त्रोंके धारक होते हैं तथा पुण्यके उदयसे सदा सुखपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥७७॥ जहाँ दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंके अनुभव करनेसे उत्पन्न हुआ सुख चक्रवर्तीकी भोग-सम्पदाओंका भी उल्लंघन करता है अर्थात् वहाँके जीव चक्रवर्तीकी अपेक्षा अधिक सुखी रहते हैं ॥७८॥ जहाँ मनुष्य बड़ी लम्बी आयुके धारक होते हैं उनकी असमयमें मृत्यु नहीं होती । वे अपनी तीन पत्य प्रमाण आयु तक निर्विघ्न रूपसे जीवित रहते हैं ॥ ७९ ॥

१. जननीजनकयोः । २. जन्मण । ३. शिवरणं कुर्वन्ति । ४. बदरम् । ५. यत्रोत्पन्नानाम् ।
 ६. तन्द्रा । ७. हर्षणयः । ८. कोपः । ९. तदणार्कसदृशशरीरवः । १०. अकाले ।

सर्वेऽपि समस्तभोगाः सर्वे समसुखोदयाः । सर्वे सर्वतुजान् भोगान् यत्र विन्दन्त्यनामयाः ॥८०॥
 सर्वेऽपि सुन्दराकाराः सर्वे वज्रास्थिवन्धनाः । सर्वे चिरायुषः काम्या गोर्वाणा इव मधुवः^२ ॥८१॥
 यत्र कल्पतरुच्छायासुपेयं ललितस्मितौ । दम्पती गीतवादित्रै रमेते^३ सततोत्सवैः ॥८२॥
 कलाकुशलता कस्य देहत्वं कलकण्ठता^४ । मात्सर्येर्व्यादिवैकल्यमपि यत्र निसर्गजम् ॥८३॥
 स्वभावसुन्दराकाराः स्वभावललितेहिताः^५ । स्वभावमधुरालापा मोदन्ते यत्र देहिनः ॥८४॥
 दानाद् दानानुमोदाद् वा यत्र पात्रसमाभितात् । प्राणिनः सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः ॥८५॥
 कुण्डयो मत्तैर्हीनाः केवलं भोगकाक्षिणः । दत्त्वा दानान्यपात्रेषु तिर्यक्त्वं यत्र याम्यमो^६ ॥८६॥
 कुशीलाः कुसिताचाराः कुवेदा दुरुपेयिताः । मायाचाराश्च जायन्ते मृगा यत्र व्रतयुताः ॥८७॥
 मिथुनं मिथुनं तेषां मृगाणामपि जायते । न मिथोऽस्ति विरोधो^७ वा वैरं^८ वैरस्यमेव वा ॥८८॥
 इत्यत्यन्तसुखे तस्मिन् अत्रे पात्रप्रदानतः । श्रीमती वज्रजङ्घश्च दम्पतित्वमुपेयतुः ॥८९॥
 प्रागुक्तश्च मृगा जन्म भेषुस्तत्रैव भद्रकाः । पात्रदानानुमोदेन दिव्यं मानुष्यमाश्रिताः ॥९०॥
 तथा सतिवराणाश्च तद्वियोगाद् गताः क्षुधम् । इदधर्मान्तिके दोक्षां जैनीमाशिश्रियन् पराम् ॥९१॥
 ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याचारसंपदम् । समाराध्य यथाकालं स्वर्गलोकमयासिषुः ॥९२॥

जहाँ सब जीव समान रूपसे भोगोंका अनुभव करते हैं, सबके एक समान सुखका उदय होता है, सभी नीरोग रहकर छहों ऋतुओंके भोगोपभोग प्राप्त करते हैं ॥८०॥ जहाँ उत्पन्न हुए सभी जीव सुन्दर आकारके धारक हैं, सभी वज्रवृषभनाराचसंहननसे सहित हैं, सभी दीर्घ आयुके धारक हैं और सभी कान्तिसे देवोंके समान हैं ॥८१॥ जहाँ स्त्री-पुरुष कल्पवृक्षको छायामें जाकर लीलापूर्यक मन्द-मन्द हँसते हुए, गाना-बजाना आदि उत्सवोंसे सदा क्रीड़ा करते रहते हैं ॥८२॥ जहाँ कलाओंमें कुशल होना, स्वर्गके समान सुन्दर शरीर प्राप्त होना, मधुर कण्ठ होना और मात्सर्य, ईर्ष्या आदि दोषोंका अभाव होना आदि बातें स्वभावसे ही होती हैं ॥८३॥ जहाँके जीव स्वभावसे ही सुन्दर आकारवाले, स्वभावसे ही मनोहर चेष्टाओंवाले और स्वभावसे ही मधुर वचन बोलनेवाले होते हैं । इस प्रकार वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥८४॥ उत्तम पात्रके लिए दान देने अथवा उनके लिए दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे जीव जिस भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं और जीवनपर्यन्त नीरोग रहकर सुखसे बढ़ते रहते हैं ॥८५॥ जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, व्रतोंसे हीन हैं और केवल भोगोंके अभिलाषी हैं वे अपात्रोंमें दान देकर वहाँ तिर्यक् पर्यायको प्राप्त होते हैं ॥८६॥ जो जीव कुशील हैं—छोटे स्वभावके धारक हैं, मिथ्या आचारके पालक हैं, कुवेदी हैं, मिथ्या उपवास करनेवाले हैं, मायाचारी हैं और व्रतभ्रष्ट हैं वे जिस भोगभूमिमें हरिण आदि पशु होते हैं ॥८७॥ और जहाँ पशुओंके युगल भी आनन्दसे क्रीड़ा करते हैं । उनके परस्परमें न विरोध होता है न वैर होता है और न उनका जीवन ही नीरस होता है ॥८८॥ इस प्रकार अत्यन्त सुखोंसे भरे हुए उस उत्तरकुरुक्षेत्रमें पात्रदानके प्रभावसे वे दोनों श्रीमती और वज्रजङ्घ अवस्थाको प्राप्त हुए—स्त्री और पुरुषरूपसे उत्पन्न हुए ॥८९॥ जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे नकुल, सिंह, बानर और शूकर भी पात्रदानकी अनुमोदनाके प्रभावसे वहींपर दिव्य मनुष्यशरीरको पाकर भद्र-परिणामी आर्य हुए ॥९०॥ इधर सतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन ये चारों ही जीव श्रीमती और वज्रजङ्घके विरहसे भारी शोकको प्राप्त हुए और अन्तमें चारोंने ही श्रीवृद्धधर्म नामके आचार्यके समीप उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारण कर ली ॥९१॥ और चारों ही सम्यग्दर्शन,

१. लभन्ते । 'विदुः लाभे' । २. यत्रोत्पन्नाः । ३. रमेते अ०, प०, द०, स०, म० । ४. निरामय । कल्पदेहत्वं अ०, प०, द०, स० । ५. मनोजकण्ठत्वम् । ६. चेष्टाः । ७. मैथुनं मि-स०, द०, ल० । ८. वध्य-वशकादिभावः । ९. मानसिको द्वेषः । १०. रसक्षयः ।

अधो प्रैवेयकस्याधो विमाने तेऽहमिन्द्रताम् । प्राप्तास्तपोऽनुभावेन तपो हि फलताप्सितम् ॥९३॥
 अधातो वज्रजङ्घायः कान्तया सममेकदा । कल्पपादपजा लक्ष्मीमीश्रमाणः क्षणं स्थितः ॥९४॥
 सूर्यप्रभस्य देवस्य नमोयायि विमानकम् । दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा प्रबुद्धः प्रियया सतम् ॥९५॥
 तावच्चाण्ययोर्युग्मं दूरादागच्छदैक्षत । तं च तावदुगृह्णन्तौ व्योम्नः समवतैरतुः ॥९६॥
 दृष्ट्वा तौ सहस्राण्यासोदभ्युत्थानादिसंभ्रमः । संस्काराः प्राक्तना नूनं प्रेरयन्त्यङ्गिनो हिते ॥९७॥
 अभ्युत्तिष्ठन्तौ रेजे मुनीन्द्री सह कान्तया । नलिन्या दिवसः सूर्यप्रतिसूर्याविवोद्गता ॥९८॥
 नयोरधिपदहन्तुं दत्तार्घः प्रणनाम सः । आनन्दश्रुज्वैः सन्तैः क्षालयन्निव तत्क्रमौ ॥९९॥
 तामाशीर्भिरथाश्वाभ्य प्रणतं प्रमदाम्बितम् । यती समुचितं देशमध्यासीनां यथाक्रमम् ॥१००॥
 ततः सुलोपविष्टौ तौ सोऽपृच्छदिति चारणौ । लसद्गन्तांशुसंतानैः पुष्पाञ्जलिमिवाकिरन् ॥१०१॥
 भगवन्तौ युवां क्वय्यौ कुतस्थौ किं नु कारणम् । युष्मदागगने ब्रूतमिदमेतत्तथाय ॥१०२॥
 युष्मत्संदर्शनाज्जातसौहार्दं मम मानसम् । प्रसीदति किमु ज्ञातपूर्वो ज्ञातो युवां मम ॥१०३॥

सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र्यरूपां सम्पदाकी आराधना कर अपनी-अपनी आयुके अनुसार स्वर्गलोक गये ॥९२॥ वहाँ तपके प्रभावसे अधोप्रैवेयकके सबसे नीचेके विमानमें (पहले प्रैवेयकमें) अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए । सो ठीक ही है । तप सबके अभीष्ट फलोंको फलता है ॥९३॥

अनन्तर एक समय वज्रजंघ आर्य अपनी स्त्रीके साथ कल्पवृक्षकी शोभा निहारता हुआ क्षण-भर बैठा ही था ॥९४॥ कि इतनेमें आकाशमें जाते हुए सूर्यप्रभ देवके विमानको देखकर उसने अपनी स्त्रीके साथ-साथ ही जातिस्मरण हो गया और उसी क्षण दोनोंको संसारके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो गया ॥९५॥ उसी समय वज्रजंघके जीवने दूरसे आते हुए दो चारण मुनि देखे । वे मुनि भी उसपर अनुग्रह करते हुए आकाशमार्गसे उतर पड़े ॥९६॥ वज्रजंघका जीव उन्हें आता हुआ देखकर शीघ्र ही खड़ा हो गया । सच है, पूर्व जन्मके संस्कार ही जीवोंको हित-कार्यमें प्रेरित करते रहते हैं ॥९७॥ दोनों मुनियोंके समक्ष अपनी स्त्रीके साथ खड़ा होता हुआ वज्रजंघका जीव ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे उदित होते हुए सूर्य और प्रतिसूर्यके समक्ष कमलिनीके साथ दिन शोभायमान होता है ॥९८॥ वज्रजंघके जीवने दोनों मुनियोंके चरणयुगलमें अर्घ्य चढ़ाया और नमस्कार किया । उस समय उसके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकल निकल कर मुनिराजके चरणोंपर पड़ रहे थे जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो अश्रुजलसे उनके चरणोंका प्रक्षालन ही कर रहा हो ॥९९॥ वे दोनों मुनि स्त्रीके साथ प्रणाम करते हुए आर्य वज्रजंघको आशीर्वाद-द्वारा आश्वासन देकर मुनियोंके योग्य स्थानपर यथाक्रम बैठ गये ॥१००॥ तदनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए दोनों चारण मुनियोंसे वज्रजंघ नीचे लिखे अनुसार पृच्छने लगा । पृच्छते समय उसके मुखसे दाँतोंकी किरणोंका समूह निकल रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह पुष्पाञ्जलि ही बिखेर रहा हो ॥१०१॥ वह बोला—हे भगवन्, आप कहाँ के रहनेवाले हैं ? आप कहाँसे आये हैं और आपके आनेका क्या कारण है ? यह सब आज मुझसे कहिए ॥१०२॥ हे प्रभो, आपके दर्शनसे मेरे हृदयमें मित्रताका भाव उमड़ रहा है, चित्त बहुत ही प्रसन्न हो रहा है और मुझे ऐसा मालूम होता है कि मानो आप मेरे परि-

१. अनन्तरम् । २. अवतरतः स्म । ३. -विवोदतो प० । ४. पदयुगले । ५. यते. म०, ल० । ६. वज्र भवी । ७. कुत आगतौ । 'क्वेहःमातस्वात् त्वच्' इति यथाक्रमः भवायै आगतार्थे च त्यच्प्रत्ययः । ८. प्रत्यक्षतया । -मेतत्तथाय. मे म० ल० । ९. पूर्वस्मिन् ज्ञातो । १०. वन्धू ।

इति प्रज्ञावसानेऽस्य मुनिर्ज्यायानभाषत । दशनांशुजलोत्पीडैः^१ क्षालयन्निव तत्तनुम् ॥१०३॥
 त्वं विद्धि मां स्वयंनुद्धं यतो^२ ऽनुद्धाः प्रबुद्धधीः । महाबलभवे जैनं धर्मं कर्मानिवर्हणम्^३ ॥१०४॥
 त्वद्वियोगावहं जातनिर्वेदो बाधमाश्रितः । दोक्षित्वाऽभूवमुत्सृष्टदेहः सौधर्मकल्पजः ॥१०५॥
 स्वयंप्रभावंमानेऽग्रं मणिचूलाह्वयः सुरः । साधिकाकृत्पुमायुष्कः तत्तद्व्युत्था सुवं श्रितः ॥१०६॥
 जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्मिन् विदेहे^४ पीष्कलावसे^५ । नगर्यां पुण्डरीकिण्यां प्रियसेनमहीभृतः ॥१०७॥
 सुन्दर्याश्च सुतोऽभूवं ज्यायान् प्रीतिकराह्वयः । प्रीतिदेवः कनीयान् मे मुनिरेव महातपाः ॥१०८॥
 स्वयंप्रभजिनोपान्ते दीक्षित्वा वामलङ्घनं^६ । सावधिज्ञानमाकाशचारणत्वं तपोबलात् ॥१०९॥
 बुद्ध्याऽवधिमयं चक्षुर्भ्यां पापी^७ जयसंगतम्^८ । स्वामार्यमिह संभूतं प्रबोधयितुमागतौ ॥११०॥
 विदाहृह^९ कुरुव्यायं पात्रदानविशेषतः । समुत्पन्नमिहात्मानं विशुद्धाद् दर्शनाद् विना ॥१११॥
 महाबलभवेऽस्मसो बुद्ध्या त्यक्ततनुस्थितिः । नालब्धो^{१०} दर्शने शुद्धिं भोगकाक्षानुबन्धतः ॥११२॥
 तस्मात्ते दर्शनं सम्यग्दर्शनमनुत्तरम् । आयातौ दातुकामौ स्वः^{११} स्वमोक्षसुखसाधनम् ॥११३॥
 तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लभे कालं पृथ ते । काललब्ध्या विना नार्यं तदुत्पत्तिरिहाहिनाम् ॥११४॥
 देवनाकाललब्ध्यादियाह्यकारणसंपत्तिः^{१२} । अन्तःकरणसामग्र्यां मध्यात्मा स्याद् विशुद्धकृत्^{१३} [८६] ॥११५॥

चित्त बन्धु हैं ॥१०३॥ इस प्रकार वज्रजंघका प्रश्न समाप्त होते ही ज्येष्ठ मुनि अपने दाँतोंकी किरणोंरूपी जलके समूहसे उसके शरीरका प्रक्षालन करते हुए नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥१०४॥ हे आर्य, तू मुझे स्वयंनुद्ध मन्त्रीका जोष जान, जिससे कि तूने महाबलके भवमें सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर कर्मोंका क्षय करनेवाले जैनधर्मका ज्ञान प्राप्त किया था ॥१०५॥ उस भवमें तेरे वियोगसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर मैंने दीक्षा धारण की थी और आयुके अन्तमें संन्यास-पूर्वक शरीर छोड़ सौधर्म स्वर्गके स्वयम्प्रभ बिमानमें मणिचूल नामका देव हुआ था । वहाँमेरी आयु एक सागरसे कुछ अधिक थी । तत्पश्चात् वहाँसे व्युत्त होकर भूलोकमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥१०६-१०७॥ जम्बू द्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित पुष्कलावती देशसम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरी-में प्रियसेन राजा और उनकी महाराज्ञी सुन्दरी देवीके प्रीतिकर नामका बड़ा पुत्र हुआ हूँ और यह महातपस्वी प्रीतिदेव मेरा छोटा भाई है ॥१०८-१०९॥ हम दोनों भाइयोंने भी स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर तपोबलसे अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी चारण ऋद्धि प्राप्त की है ॥११०॥ हे आर्य, हम दोनोंने अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे जाना है कि आप यहाँ उत्पन्न हुए हैं । चूँकि आप हमारे परम मित्र थे इसलिए आपको समझानेके लिए हम लोग यहाँ आये हैं ॥१११॥ हे आर्य, तू निर्मल सम्यग्दर्शनके बिना केवल पात्रदानकी विशेषतासे ही यहाँ उत्पन्न हुआ है यह निश्चय समझ ॥११२॥ महाबलके भवमें तूने हमसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शरीर छोड़ा था परन्तु उस समय भोगोंकी आकांक्षाके बशसे तू सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताको प्राप्त नहीं कर सका था ॥११३॥ अब हम दोनों, सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग और मोक्षसम्बन्धी सुखके प्रधान कारणरूप सम्यग्दर्शनको देनेकी इच्छासे यहाँ आये हैं ॥११४॥ इसलिए हे आर्य, आज सम्यग्दर्शन ग्रहण कर । उसके ग्रहण करनेका यह समय है क्योंकि काललब्धिके बिना इस संसारमें जीवोंको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥११५॥ जब देशनालब्धि और काललब्धि आवि बहिरङ्ग कारण तथा करणलब्धिरूप अन्तरङ्ग कारण सामग्रीकी प्राप्ति होती है तभी

१. प्रवाहैः । २. बुद्ध्या अ० । ३. विनाशकम् । ४. पुष्कलावत्या अयं पीष्कलावतः तस्मिन् । ५. वदिनाशितसंगमम् । ६. -संगतः अ०, प० । ७. स्वामावाविह ल०, अ० । ८. विद्धि । ९. भोगभूमिषु । १०. नालब्धो- म०, ल० । ११. भवावः । १२. अन्तःकरण । 'करण' साधकतम क्षेत्रगान्धेय्येव्यदि' इत्यभिधानात् । १३. विशुद्धकृत् ब०, अ०, प०, द०, स०, म०, ल० ।

शमाद् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः^१ । जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्ककलिं^२ लात्मनः ॥११७॥
 यथा पित्तोदयोद्भ्रान्तस्वान्तवृत्तेस्तद्व्ययात् । यथार्थदर्शनं तद्वदन्तमोहोपशान्तिः ॥११८॥
 अनिर्दूय तमो नैश^३ तथा नोदयतेऽशुमान् । तथानुज्ञिष्य मिथ्यात्वतमो नोद्रेति दर्शनम् ॥११९॥
 त्रिधा^४ विपाक्य मिथ्यात्वप्रकृतिं करणैस्त्रिभिः । मिथ्यात्मा हासयन् कर्मस्थितिं सम्यक्त्वभाग् भवेत् ॥१२०॥
 आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाप्नातं तन्मूले^५ ज्ञानवेष्टिते^६ ॥१२१॥
 आत्मादिमुक्तिपर्यन्ततत्त्वश्रद्धानमभया । त्रिभिर्मूर्धैरमालीवमष्टाङ्गं विद्धि दर्शनम् ॥१२२॥
 तस्य प्रशमसंवेगावास्तिक्यं चानुकम्पनम् । गुणाः श्रद्धाहचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः ॥१२३॥
 तस्य निःशङ्कितत्वादीभ्यश्चावज्ञानि निश्चिनु । वैरंशुभिरिवाभाति रत्नं सदृदर्शनाङ्ग्यम् ॥१२४॥
 शङ्कां जहोहि सन्मार्गं मोगकाङ्क्षामपाकुरु । विचिकित्साद्वयं हित्वा भजस्वामूढदृष्टिताम् ॥१२५॥
 कुरुपशूहणं धर्मं मलस्थाननिगूहनैः । मार्गाच्चलति धर्मस्थे स्थितीकरणमाचर ॥१२६॥
 रत्नत्रितयवत्पार्षसहं वात्सल्यमातनु । विधेहि शासने जैने यथाशक्ति प्रभावनाम् ॥१२७॥
 देवतालोकपाषण्डव्यामोहांश्च समुत्सृज । मोहान्धो हि जनस्तत्त्वं पश्यन्नपि न पश्यति ॥१२८॥

यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो सकता है ॥११६॥ जिस जीवका आत्मा अनादि-
 कालसे लगे हुए मिथ्यास्वरूपी कलंकसे दूषित हो रहा है, उस जीवको सबसे पहले दर्शनमोह-
 नीय कर्मका उपशम होनेसे औपनिषदिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥११७॥ जिस प्रकार पित्तके
 उदयसे उद्भ्रान्त हुई चित्तवृत्तिका अभाव होनेपर क्षीर आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका
 परिज्ञान होने लगता है उसी प्रकार अन्तरङ्ग कारणरूप मोहनीय कर्मका उपशम होनेपर
 जीव आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान होने लगता है ॥११८॥ जिस प्रकार सूर्य
 रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको दूर किये बिना उदित नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व-
 रूपी अन्धकारको दूर किये बिना उदित नहीं होता—प्राप्त नहीं होता ॥११९॥ यह भव्य
 जीव, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों-द्वारा मिथ्यात्वप्रकृतिके
 मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन खण्ड करके कर्मोंकी स्थिति कम
 करता हुआ सम्यग्दृष्टि होता है ॥१२०॥ वीतराग सर्वज्ञ देव, आप्तोपज्ञ, आगम और
 जीवादि पदार्थोंका बड़ी निष्ठासे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है । यह सम्यग्दर्शन,
 सम्यग्ज्ञान और सम्यक्धारित्रका मूल कारण है । इसके बिना वे दोनों नहीं हो सकते
 ॥१२१॥ जीवादि सात तत्त्वोंका तीन मूढतारहित और आठ अंगसहित यथार्थ श्रद्धान
 करना सम्यग्दर्शन है ॥१२२॥ प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये चार सम्यग्दर्शनके
 गुण हैं और श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय ये उसके पर्याय हैं ॥१२३॥ निःशङ्कित, निःका-
 क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना ये सम्य-
 ग्दर्शनके आठ अंग हैं । इन आठ अंगरूपी किरणोंसे सम्यग्दर्शनरूपी रत्न बहुत ही शोभाय-
 मान होता है ॥१२४॥ हे आर्य, तू इस श्रेष्ठ जैनमार्गमें शंकाको छोड़—किसी प्रकारका
 सन्देह मत कर, मोगोंकी इच्छा दूर कर, रत्नानिको छोड़कर अमूढदृष्टि (विवेकपूर्ण दृष्टि)
 को प्राप्त कर दोषके स्थानोंको छिपाकर समीचीन धर्मकी वृद्धि कर, मार्गसे विचलित होते हुए
 धर्मात्माका स्थितीकरण कर, रत्नत्रयके धारक आर्य पुरुषोंके संघमें प्रेमभावका विस्तार कर
 और जैन-शासनकी शक्तिके अनुसार प्रभावना कर ॥१२५-१२७॥ देवमूढता, लोकमूढता और

१. प्रथमोपशमसम्यक्त्वादानम् । २. दूषित । ३. निशामा इवम् । ४. मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्व-
 सम्यक्त्वप्रकृतिभेदेन । ५. सदृदर्शनं मूलं कारणं ययोः । ६. ज्ञानचारित्र्ये । ७. जीवादिमोक्षपर्यन्तसप्ततत्त्व-
 श्रद्धानम् । ८. स्वपराध्यभेदेन द्वयम् ।

‘प्रताहि धर्मसर्वस्वं दर्शनं चारुदर्शनं’ । तस्मिन्प्राप्ते^१ दुरापाणि^२ न सुखानीह देहिनाम् ॥१२९॥
 लब्धं तेनैव सज्जन्म स कृतार्थः स पण्डितः । परिस्फुरति तिर्य्याजं यस्य सदर्शनं हृदि ॥१३०॥
 सिद्धिप्रसादसोपानं विद्धि दर्शनमग्रिमम् । दुर्गतिद्वारसंशोधि^३ कवाटपुटमूर्जितम् ॥१३१॥
 स्थिरं धर्मतरोर्मूलं द्वारं स्वमोक्षवेष्टमानः । शीलाभरणहारस्य तरलं^४ तरलोपमम् ॥१३२॥
 अलंकरिष्णु रोचिष्णु रत्नसारमनुत्तरम् । सम्यक्त्वं हृदये धत्स्व मुक्तिश्रीहारविभ्रमम् ॥१३३॥
 सम्यग्दर्शनसम्पन्नं येनासादि^५ दुरासदम् । सोऽचिराम्मुक्तिपर्यन्तो^६ सुखतातिमन्त्रापनुयात् ॥१३४॥
 लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्तमपि पश्यत्यः । संसारलुप्तिकां क्षिप्या कुहते दासिनीमसौ ॥१३५॥
 सुदेवत्वसुमानुष्यं जन्मनी तस्य नेतरत् । दुर्जन्म जायते जातु हृदि यस्यास्ति दर्शनम् ॥१३६॥
 किं वा बहुमिरालापैः श्लाघैपैवास्तु दर्शने । लब्धेन येन संसारो यात्यन्तोऽपि सान्तताम् ॥१३७॥
 तत्त्वं जैनैश्चरीमाश्रामस्मद्वाक्यात् प्रमाणयन् । अनन्यशरणो भूत्वा प्रतिपद्यस्व दर्शनम् ॥१३८॥
 उत्तमाङ्गभिवाङ्गेषु नेत्रद्वयमिवानमे । मुख्यङ्गेषु प्रधानाङ्गभासाः सद्दर्शनं विदुः ॥१३९॥

पाषण्ड, मूढ़ता इन तीन मूढ़ताओंको छोड़ क्योंकि मूढ़ताओंसे अन्धा हुआ प्राणी तत्त्वोंको देखता हुआ भी नहीं देखता ॥१२८॥ हे आर्य, पदार्थके ठीक-ठीक स्वरूपका दर्शन करनेवाले सम्यग्दर्शनको ही तू धर्मका सर्वस्व समझ, उस सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो चुकनेपर संसारमें ऐसा कोई सुख नहीं रहता जो जीवोंको प्राप्त नहीं होता हो ॥१२९॥ इस संसारमें उसी पुरुषने श्रेष्ठ जन्म पाया है, वही कृतार्थ है और वही पण्डित है जिसके हृदयमें छलरहित-वास्तविक सम्यग्दर्शन प्रकाशमान रहता है ॥१३०॥ हे आर्य, तू यह निश्चित जान कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महलकी पहली सीढ़ी है । नरकादि दुर्गतियोंके द्वारको रोकनेवाले मजबूत किवाड़ हैं, धर्मरूपी वृक्षकी स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है और शीलरूपी रत्नहारके मध्यमें लगा हुआ श्रेष्ठ रत्न है ॥१३१-१३२॥ यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अलंकृत करने-वाला है, स्वयं देदीप्यमान है, रत्नोंमें श्रेष्ठ है, सबसे उत्कृष्ट है और मुक्तिरूपी लक्ष्मीके द्वारके समान है । ऐसे इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नहारको हे भग्य, तू अपने हृदयमें धारण कर ॥१३३॥ जिस पुरुषने अत्यन्त दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्नको पा लिया है वह शीघ्र ही मोक्ष तकके सुखको पा लेता है ॥१३४॥ देखो, जो पुरुष एक मुहूर्तके लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह इस संसाररूपी बेलको फाटकर बहुत ही छोटी कर देता है अर्थात् वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तनसे अधिक समय तक संसारमें नहीं रहता ॥१३५॥ जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन विद्यमान है वह उत्तम देव और उत्तम मनुष्य पर्यायमें ही उत्पन्न होता है । उसके नारकी और तिर्य्यक्षोंके छोटे जन्म कभी भी नहीं होते ॥१३६॥ इस सम्यग्दर्शनके विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? इसकी तो यही प्रशंसा पर्याप्त है कि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनन्त संसार भी सान्त (अन्तःसहित) हो जाता है ॥१३७॥ हे आर्य, तू मेरे कहनेसे अर्हन्त देवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ अनन्यशरण होकर अन्य रागी द्वेषी देवताओंकी शरणमें न जाकर सम्यग्दर्शन स्वीकार कर ॥१३८॥ जिस प्रकार शरीरके हस्त, पाद आदि अंगोंमें मस्तक प्रधान है और मुखमें नेत्र प्रधान है उसी प्रकार मोक्षके समस्त अंगोंमें गण-

१. जानीहि । २. चारुदर्शनम् ब०, अ०, प०, म०, स०, ल० । ३. प्राप्ते सति । ४. दुर्लभानि । ५. कवाटपट- म०, ल० । ६. कान्तिमत् । ७. तरलोपलम् ब०, ट० । मध्यमणिः ‘उपलौ रत्नपाषाणौ उपलौ शर्कराणि च’ इति । ‘तरलो द्वारमध्यगः’ इत्यमरः । ‘हारगव्यस्थितं रत्नं तरलं नायकं विदुः’ इति हलायुधः । ८. शोभाम् । ९. प्राप्तम् । १०. सुखपरम्पराम् ।

अपास्य लोकपाषण्डदेवतासु विमूढताम् ।^१ परतीर्थैरनासीदमुज्ज्वलीकुरु दर्शनम् ॥१४०॥
 संसारकृतिकायामं त्रिभिः सदृशनासिना । नासि नास्तमद्वयस्त्वं सविष्यतीर्षनायकः ॥१४१॥
 सम्यग्दर्शनमधि कृत्यैवमाप्तसूक्तनुसारतः । कृतार्थं देवतास्माभिर्प्राप्तिवैवा श्रेयसे त्वया ॥१४२॥
 स्वमप्यग्राहकनन्देनः सम्यक्दर्शनमिति श्रुत्वा ।^२ त्रिपु देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु^३ चाम्बिके ॥१४३॥
 सदृष्टेः स्त्रीष्वनुत्पत्तिः पृथिवीष्वपि षट्स्वधः । त्रिपु देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु^४ चाम्बिके ॥१४४॥
 विगिदं क्षेणमहलाभ्यं नैर्ग्रन्थपतिवन्धि यत् । कारीषाग्निनिभं तापं निराहुस्तत्र तद्विवः ॥१४५॥
 तदेतत् क्षेणमुत्सृज्य सम्यगाराध्य दर्शनम् । प्राप्तासि^५ परमस्थानससर्कं^६ स्वममुक्त्वात् ॥१४६॥
 युवां कतिपर्यैरेव भवैः श्रेयोऽनुबन्धिभिः । ध्यानाग्निदग्धकर्माणौ प्राप्तास्थः^७ परमं पदम् ॥१४७॥
 इति प्रीतिकराचार्यवचनं स प्रमादयन् ।^८ सजानिराद्धे सम्यग्दर्शनं प्रीतमानसः ॥१४८॥
 स सदृशं नमासाथ सप्रियः पिप्रियेतराम् । पुण्यात्यकन्धलाभो हि देहिनां महती धृतिम् ॥१४९॥
 प्राप्य^९ सूत्रानुगां ह्यहं सम्यग्दर्शनकण्ठिकाम् । औवराज्यपदं सोऽस्थान् मुक्तिसाम्राज्यसम्पदः ॥१५०॥

धरादि देव सम्यग्दर्शनको ही प्रधान अंग मानते हैं ॥१३९॥ हे आर्य, तू लोकमूढ़ता, पाषण्डि-
 मूढ़ता और देवमूढ़ताका परित्याग कर जिसे मिथ्यादृष्टि प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे सम्यग्दर्शन-
 को उज्ज्वल कर-विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर ॥१४०॥ तू सम्यग्दर्शनरूपी तलवारके द्वारा
 संसाररूपी लताकी दीर्घताको काट । तू अवश्य ही निकट भव्य है और भविष्यत्कालमें
 तीर्थंकर होनेवाला है ॥१४१॥ हे आर्य, इस प्रकार मैंने अरहन्त देवके कहे अनुसार, सम्यग्-
 दर्शन विषयको लेकर, यह उपदेश किया है सो मोक्षरूपी कल्याणकी प्राप्तिके लिए तुझे यह
 अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए ॥१४२॥ इस प्रकार वे मुनिराज आर्य वज्रजंघको समझाकर
 आर्या श्रीमतीसे कहने लगे कि माता, तू भी बहुत शीघ्र हो संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके
 लिए नौकाके समान इस सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर । वृथा ही क्षीपर्यायमें क्यों खेद-खिन्न हो
 रही है ? ॥१४३॥ हे माता, सब क्षियोंमें, रत्नप्रभाको छोड़कर नीचेकी छह पृथिवियोंमें भवन-
 वासी व्यन्तर और ज्योतिषी देशोंमें तथा अन्य नीच पर्यायोंमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति
 नहीं होती ॥१४४॥ इस निन्ध क्षीपर्यायको धिक्कार है जो कि निर्ग्रन्थ-दिग्गम्बर मुनिधर्म पालन
 करनेके लिए बाधक है और जिसमें विद्वानोंने करीष (कण्डाकी आग) की अग्निके समान
 कामका सन्ताप कहा है ॥१४५॥ हे माता, अब तू निर्दोष सम्यग्दर्शनकी आराधना कर और
 इस क्षीपर्यायको छोड़कर क्रमसे सप्त परम स्थानोंको प्राप्त कर । भावार्थ—१ 'सज्जाति',
 २ 'सदृगृहस्थता' (आवकके व्रत), ३ 'पारिव्रज्य' (मुनियोंके व्रत), ४ 'सुरेन्द्र पद', ५ 'राज्यपद'
 ६ 'अरहन्तपद', ७ 'सिद्धपद' ये सात परम स्थान (उत्कृष्टपद) कहलाते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव
 क्रम-क्रमसे इन परम स्थानोंको प्राप्त होता है ॥१४६॥ आप लोग कुछ पुण्य भवोंको धारण कर
 ध्यानरूपी अग्निसे समस्त कर्मोंको भस्म कर परम पदको प्राप्त करोगे ॥१४७॥

इस प्रकार प्रीतिकर आचार्यके वचनोंको प्रमाण मानते हुए आर्य वज्रजंघने अपनी स्त्रीके
 साथ-साथ प्रसन्नचित्त होकर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥१४८॥ वह वज्रजंघका जीव अपनी
 प्रियाके साथ-साथ सम्यग्दर्शन पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । सो ठीक ही है, अपूर्व वस्तुका लाभ
 प्राणियोंके महान् सन्तोषको पुष्ट करता ही है ॥१४९॥ जिस प्रकार कोई राजकुमार सूत्र (तन्तु)

१. पाषण्ड-५०, ६० । पाषण्डि-५०, ६० । २. परशास्त्रेः परवादिविर्वा । ३. अधिकारं कृत्वा ।
 ४. शीघ्रम् । ५. कारणात् । ६. स्त्रीत्वात् । ७. विकलेन्द्रियजातिषु । ८. चाम्बिके ६० । ९. लुटि
 मध्यमपुरुषैकवचनम् । १०. 'सज्जातिः सदृगृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं
 चेति सप्तधा ॥' ११. आप्लु व्याप्तौ लुटि । १२. सवनितः । १३. आगम ।

सापि सम्यक्त्वलाभेन नितरामनुषन् सती । विशुद्धपुरुषवयोगेन निर्वाणमभिलाषुका ॥१५१॥
 अक्षजंघपूर्वमास्वाद्य सद्दर्शनरसायनम् । प्रापतुस्ती परं पुष्टिं धर्मे कर्मनिवर्हणे ॥१५२॥
 शार्ङ्गलायां दयोऽप्याभ्यां समं सद्दर्शनामृतम् । तथा भेजुर्गुरोरस्य पादमूलमुपाश्रिताः ॥१५३॥
 सौ दम्पती कृतानन्दसंवर्धितमनोरथौ । मुनीन्द्रौ धर्मसंवेगाच्चिरस्यास्पृक्षतां मुहुः ॥१५४॥
 जन्मान्तरनिबन्धेन प्रेम्णा विस्फारितेक्षणः । क्षणं मुनिपदाभोजनसंस्पर्शात् सोऽन्वभूद् द्युतिम् ॥१५५॥
 कृतप्रणाममाशीर्भिराकाशस्य तमनुस्थितम् । ततो यथोचितं देशं तावृषी गन्तुमुद्यती ॥१५६॥
 पुनर्दर्शनमस्त्वार्यं सद्धर्मं मा स्म विस्मरः । इत्युक्त्वा न्तर्हितौ सद्यश्चारणौ व्योमचारिणौ ॥१५७॥
 गतेऽथ चारणद्वन्द्वे सोऽभूदुत्कण्ठितः क्षणम् । प्रेयसा विप्रयोगो हि मनस्तापाय कल्प्यते ॥१५८॥
 मुहुर्मुनिगुणाश्चार्थैर्दृष्ट्यस्मात्समो भवति । इति विभक्तमसौ प्रेमे चिरं वर्ज्यमुपनिधीतम् ॥१५९॥
 धुनोति दबधुं स्वान्तात् तनोत्यानन्दधुं परम् । धिनोति च मनोवृत्तिमहो साधुसमागमः ॥१६०॥
 मुष्णाति दुरितं दूरात् परं पुष्णाति योग्यताम् । मूयः श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागमः ॥१६१॥

में पिरोयी हुई मनोहर मालाको प्राप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मीके युवराज पदपर स्थित होता है उसी प्रकार वह वज्रजंघका जीव भी सूत्र (जैन सिद्धान्त) में पिरोयी हुई मनोहर सम्यग्दर्शन-रूपी कण्ठमालाको प्राप्त कर मुक्तिरूपी राज्यसम्पदाके युवराज-पदपर स्थित हुआ था ॥१५०॥ विशुद्ध पुरुषपर्यायके संयोगसे निर्वाण प्राप्त करनेकी इच्छा करती हुई वह सती आर्या भी सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुई थी ॥ १५१ ॥ जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रसायनका आस्वाद कर वे दोनों ही दम्पती कर्म नष्ट करनेवाले जैन धर्ममें बड़ी वृद्धताको प्राप्त हुए ॥ १५२ ॥ पहले कहे हुए सिंह, धानर, नकुल और सूकरके जीव भी गुरुदेव-प्रीतिकर मुनिके चरण-मूलका आश्रय लेकर आर्य वज्रजंघ और आर्या श्रीमतीके साथ-साथ ही सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको प्राप्त हुए थे ॥ १५३ ॥ जिन्होंने हर्षसूचक चिह्नोंसे अपने मनोरथकी सिद्धिको प्रकट किया है ऐसे दोनों दम्पतियोंको दोनों ही मुनिराज धर्म-प्रेमसे बार-बार स्पर्श कर रहे थे ॥ १५४ ॥ वह वज्रजंघका जीव जन्मान्तरसम्बन्धी प्रेमसे आँखें काड़-काड़कर श्री प्रीतिकर मुनिके चरण-कमलोंकी ओर देख रहा था और उनके क्षण-भरके स्पर्शसे बहुत ही सन्तुष्ट हो रहा था ॥१५५॥ तत्पश्चात् वे दोनों चारण मुनि अपने योग्य देशमें जानेके लिए तैयार हुए । उस समय वज्रजंघके जीवने उन्हें प्रणाम किया और कुछ दूर तक भेजनेके लिए वह उनके पीछे खड़ा हो गया । चलते समय दोनों मुनियोंने उसे आशीर्वाद देकर हितका उपदेश दिया और कहा कि हे आर्य, फिर भी तेरा दर्शन हो, तू इस सम्यग्दर्शनरूपी समीचीन धर्मको नहीं भूलना । यह कहकर वे दोनों गगनगामी मुनि शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये ॥ १५६-१५७ ॥

अनन्तर जब दोनों चारण मुनिराज चले गये तब वह वज्रजंघका जीव क्षण एक तक बहुत ही उत्कण्ठित होता रहा । सो ठीक ही है, प्रिय मनुष्योंका विरह मनके सन्तापके लिए ही होता है ॥ १५८ ॥ वह बार बार मुनियोंके गुणोंका चिन्तन कर अपने मनको आर्द्र करता हुआ चिर कालतक धर्म बढ़ानेवाले नीचे लिखे हुए विचार करने लगा ॥१५९॥ अहा ! कैसा आश्चर्य है कि साधु पुरुषोंका समागम हृदयसे सन्तापको दूर करता है, परम आनन्दको बढ़ाता है और मनकी वृत्तिको सन्तुष्ट कर देता है ॥ १६० ॥ प्रायः साधु पुरुषोंका समागम दूरसे ही पापको नष्ट कर देता है, उत्कृष्ट योग्यताको पुष्ट करता है, और अत्यधिक कल्याणको

१. धृतानन्द-प०, अ०, द०, स० । २. विस्फारितेक्षणः अ० । ३. अन्तर्धिमगाताम् । ४. स्मरणः ।

५. सन्तापम् । ६. आनन्दम् । ७. प्रीणयति ।

साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पितधीधनाः । लोकानुवृत्तिसाध्यांशो नैषां कश्चन पुष्कलः^२ ॥११२॥
 पराबुधबुद्ध्या तु केवलं मार्गदेशनाम्^३ । कुर्वन्तेऽमी प्रगत्यापि^४ निसर्गोऽयं महात्मनाम् ॥११३॥
 स्वदुःखे निर्धनारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः । निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकथा^५ सुमुक्षवः ॥११४॥
 क्व वयं निस्पृहाः क्वमे क्वेयं मूमिः सुखोचिता । तथाप्यनुग्रहेऽस्माकं सावधानास्तपोधनाः ॥११५॥
 भवन्तु सुखिनः सर्वे सत्त्वा इत्येष केवलम् । यतो यतन्ते तेषां यतित्वं सक्तिरुच्यते ॥११६॥
 एवं नाम महीयांसः परार्थं कुर्वन्ते रतिम् । दूरादपि समागत्य ययैतौ चारणाबुधौ^६ ॥११७॥
 अद्यापि चारणौ साक्षात् पश्चात्परीक पुरःस्थितौ । तस्मात्तुल्यप्राप्त्यैव नृकृततनू मुनी ॥११८॥
 चारणौ चरणद्वन्द्वे प्रणतं स्तुतुपाणिना । स्पृशन्तौ स्नेहनिष्पन्नं मां भ्यधात्माभिमस्तकम् ॥११९॥
 अविप्यतां च मां धर्मनृपितं दर्शनासुतम् । अपास्य भोगसंतापं निवृत्तं येन मे मनः ॥१२०॥
 सत्यं प्रीतिकरो उवाचान् मुनिर्योऽस्मात्स्वदर्शयत् । प्रीतिं सर्वत्र^७ प्रीतिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥१२१॥

बढ़ाता है ॥११६॥ ये साधु पुरुष मोक्षमार्गको सिद्ध करनेमें सदा दत्तचित्त रहते हैं । इन्हें सांसारिक लोगोंको प्रसन्न करनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता ॥११७॥ ये मुनिजन केवल परोपकार करनेकी बुद्धिसे ही उनके पास जा-जाकर मोक्षमार्गका उपदेश दिया करते हैं । वास्तवमें यह महापुरुषोंका स्वभाव ही है ॥११८॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले ये साधुजन अपने दुःख दूर करनेके लिए सदा निर्दय रहते हैं अर्थात् अपने दुःख दूर करनेके लिए किसी प्रकारका कोई आरम्भ नहीं करते । परके दुःखोंमें सदा दुःखी रहते हैं अर्थात् उनके दुःख दूर करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं । और दूसरोंके कार्य सिद्ध करनेके लिए निःस्वार्थ भावसे सदा तैयार रहते हैं ॥११९॥ कहाँ हम और कहाँ ये अत्यन्त निःस्पृह साधु ? और कहाँ यह मात्र सुखोंका स्थान भोगभूमि अर्थात् निःस्पृह मुनियोंका भोगभूमिमें जाकर वहाँ के मनुष्योंको उपदेश देना सहज कार्य नहीं है तथापि ये तपस्वी हम लोगोंके उपकारमें कैसे सावधान हैं ? ॥१२०॥ ये साधुजन सदा यही प्रयत्न किया करते हैं कि संसारके समस्त जीव सदा सुखी रहें और इसीलिए वे यति (यतते इति यतिः) कहलाते हैं ॥ १२१ ॥ जिस प्रकार इन चारण ऋद्धिधारी पुरुषोंने दूरसे आकर हम लोगोंका उपकार किया उसी प्रकार महापुरुष दूसरोंका उपकार करनेमें सदा प्रीति रखते हैं ॥१२२॥ तपस्वी अग्निके सन्तापसे जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है ऐसे उन चारण मुनियोंको मैं अब भी साक्षात् देख रहा हूँ, मानो वे अब भी मेरे सामने ही खड़े हैं ॥१२३॥ मैं उनके चरण-कमलोंमें प्रणाम कर रहा हूँ और वे दोनों चारणमुनि कोमल हाथसे मस्तकपर स्पर्श करते हुए मुझे स्नेहके बशीभूत कर रहे हैं ॥ १२४ ॥ मुझ, धर्मके प्यासे मानवको उन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी अमृत पिलाया है, इसीलिए मेरा मन भोगजन्य सन्तापको छोड़कर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ॥१२५॥ वे प्रीतिकर नामके वृषेष्ट मुनि सबमुचमें प्रीतिकर हैं क्योंकि उनकी प्रीति सर्वत्र-गामी है और मार्गका उपदेश देकर उन्होंने हम लोगोंपर अपार प्रेम वरशाया है । भावार्थ— जो मनुष्य सब जगह जानेकी सामर्थ्य होनेपर भी किसी खास जगह किसी खास व्यक्तिके पास जाकर उसे उपदेश आदि देवे तो उससे उसकी अपार प्रीतिका पता चलता है । यहाँपर भी उन मुनियोंमें चारण ऋद्धि होनेसे सब जगह जानेकी सामर्थ्य थी परन्तु उस समय अन्य जगह न जाकर वे ब्रह्मजंघके जीवके पास पहुँचे इससे उसके विषयमें उनकी अपार प्रीतिका पता

१. जनानुवर्तनम् । २. श्रेष्ठः । ३.—दर्शनम् अ०, स० । —देशनम् म०, ल० । ४. पुनरुत्पद्य । ५. वाञ्छा । ६. चारणर्षभौ अ०, स० । ७. तापोऽग्निः । ८. पानमकारयताम् । ९. भोगसन्तर्षम् प०, अ०, द०, स०, म० । १०. सर्वत्रगः प्रीतिः म०, ल० ।

महाबलस्यैवासीत् स्वयम्बुद्धो गुरुः स नः । त्रितयं दर्शनं सम्यग्गुणानां तु विशेषतः ॥१७२॥
 'गुरुणा यदि संसर्गो न स्यात् स्याद् गुणार्जनम् । विना गुणार्जनात् क्वास्य जन्तोः सफलजन्मता ॥१७३॥
 रसोपविद्धः सन् धातुर्यथा याति सुवर्णताम् । तथा गुरुगुणाद्विद्धो भव्यात्मा शुद्धिसृजति ॥१७४॥
 न विना धानपात्रेण सरितुं शक्यतेऽर्णवः । नर्ते गुरुरपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥१७५॥
 यवान्धतमसच्छन्नान् नार्थान् दीपाद् विनेक्षते । तथा जीवादिमावांश्च नोपदेष्टुर्विनेक्षते ॥१७६॥
 बन्धवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीत्येव गृह्याम् । बन्धवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुञ्च स्वात्र च ॥१७७॥
 यतो गुरुनिदेशेन जाता नः शुद्धिरीदृशी । ततो गुरुपदे भक्तिर्भूयाज्जन्मान्तरेऽपि नः ॥१७८॥
 इति चिन्तयतोऽस्यासीद् दृढा सम्यक्त्वभावना । सा तु कल्पलतेवास्मै सर्वमिदं फलिष्यति ॥१७९॥
 समानभावभावेन साप्यमूच्छीमतीचरी । समानशीलयोश्चासीदाश्रित्वा प्रीतिरेतयोः ॥१८०॥
 दम्पत्योरिति संप्रीत्या भोगातिर्विशतोक्षिरम् । भोगकालस्तयोर्निष्ठा^१ प्रापत् पत्युश्चयोश्चितः^२ ॥१८१॥
 जीवितान्ते सुखं प्राणान् हित्वा तौ पुण्यशेषवः । प्रापतुः कल्पमैशानं गुहादिव गृहान्तरम् ॥१८२॥
 विहीयन्ते यथा मेधा यथाकालं कृतोदयाः । भोगभूमिभुजां देहास्तथान्ते^३ विशरारवः^४ ॥१८३॥
 यथा वैक्रियिके देहे न दोषमलसंभवः । तथा दिव्यमनुष्याणां^५ देहे शुद्धिरुदाहृता ॥१८४॥

चलता है ॥१७९॥ महाबल भवमें भी वे मेरे स्वयम्बुद्ध नामक गुरु हुए थे और आज इस भवमें भी सम्यग्दर्शन देकर विशेष गुरु हुए हैं ॥१७९॥ यदि संसारमें गुरुओंकी संगति न हो तो गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती और गुणोंकी प्राप्तिके बिना इस जीवके जन्मकी सफलता कहाँ हो सकती है ? ॥१७३॥ जिस प्रकार सिद्ध रसके संयोगसे ताँबा आदि धातुएँ सुवर्णपनेको प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार गुरुदेवके उपदेशसे प्रकट हुए गुणोंके संयोगसे भव्य जीव भी शुद्धि-को प्राप्त हो जाते हैं ॥१७४॥ जिस प्रकार जहाजके बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है उसी प्रकार गुरुके उपदेशके बिना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता ॥१७५॥ जिस प्रकार कोई पुरुष दीपकके बिना गाढ़ अन्धकारमें छिपे हुए घट, पट आदि पदार्थोंको नहीं देख सकता उसी प्रकार यह जीव भी उपदेश देनेवाले गुरुके बिना जीव, अजीव आदि पदार्थोंको नहीं जान सकता ॥१७६॥ इस संसारमें भाई और गुरु ये दोनों ही पदार्थ मनुष्योंकी प्रीतिके लिए हैं । पर भाई तो इस लोकमें ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु इस लोक तथा परलोक, दोनों ही लोकोंमें विशेष रूपसे प्रीति उत्पन्न करते हैं ॥१७७॥ जब कि गुरुके उपदेशसे ही हम लोगों-को इस प्रकारकी विशुद्धि प्राप्त हुई है तब हम चाहते हैं कि जन्मान्तरमें भी मेरी भक्ति गुरुदेवके चरण-कमलोंमें बनी रहे ॥१७८॥ इस प्रकार चिन्तन करते हुए वज्रजंघकी सम्यक्त्व भावना अत्यन्त दृढ़ हो गयी । यही भावना आगे चलकर इस वज्रजंघके लिए कल्पलताके समान समस्त इष्ट फल देनेवाली होगी ॥१७९॥ श्रीमतीके जीवने भी वज्रजंघके जीवके समान ऊपर लिखे अनुसार चिन्तन किया था इसलिए इसकी सम्यक्त्व भावना भी सुवृद्ध हो गयी थी । इन दोनों पति-पत्नियोंका स्वभाव एक-सा था इसलिए दोनोंमें एक-सी अखण्ड प्रीति रहती थी ॥१८०॥ इस प्रकार प्रीतिपूर्वक भोग भोगते हुए उन दोनों दम्पतियोंका तीन पत्यु प्रमाण भारी काल व्यतीत हो गया ॥१८१॥ और दोनों जीवनके अन्तमें सुखपूर्वक प्राण छोड़कर बाकी बचे हुए पुण्यसे एक घरसे दूसरे घरके समान ऐशान स्वर्गमें जा पहुँचे ॥१८२॥ जिस प्रकार वर्षाकालमें मेघ अपने-आप ही उत्पन्न हो जाते हैं और समय पाकर आप ही बिलीन हो जाते हैं उसी प्रकार भोगभूमिज जीवोंके शरीर अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं और जीवनके अन्तमें अपने-आप ही विलीन हो जाते हैं ॥१८३॥ जिस प्रकार वैक्रियिक

१. गुरुणा यदि- अ०, प०, स० । २. -पत्युश्च योश्चितः, ल० । ३. अन्तम् । ४. प्रमितः । ५. तदन्ते म०, ल० । ६. विशरणशीलः । ७. भोगभूमिजानाम् ।

विमाने श्रीप्रभे तत्र^१ निर्यालोकं स्फुरत्प्रभः । स श्रीमान् वज्रजकार्यः श्रीधराख्यः सुरोऽभवत् ॥१८५॥
 सापि सस्यकश्चमाहात्म्यात् स्त्रेणाद्-विह्वलेषमोयुषी । स्वयंप्रभविमानेऽभूत् तरसनामा^२ सुरोत्तमः ॥१८६॥
 नार्जुलार्थादयोऽप्यस्मिन् कल्पेऽनश्यसुखोदये । महर्षिकाः सुरा जाताः पुण्यैः किं नु दुरासदम् ॥१८७॥
 ऋते धर्मात् कृतः स्वर्गः कृतः स्वर्गादृते सुखम् । तस्मात् सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुधिरम् ॥१८८॥
 शार्ङ्गलभूतपूर्वो यः स विमाने मनोहरः । चित्राङ्गदे उवलम्भीलिरभूच्चित्राङ्गवोऽमरः ॥१८९॥
 वराहार्यश्च नन्दाख्ये विमाने मणिकुण्डली । उवलम्भकुटैकेयूरमणिकुण्डलभूषितः ॥१९०॥
 नन्दावर्त्तविमानेऽभूद् वानरायो मनोहरः^३ । सुराङ्गनामनोहारिचतुराकारसुन्दरः ॥१९१॥
 प्रभाकरविमानेऽभूच्चकुलार्थो मनोरथः । मनोरथशतावासदिभ्यः भोगोऽमृताशनः^४ ॥१९२॥
 इति पुण्योदयात्तेषां स्वर्गलोकसुखभोगिनाम्^५ । रूपसौन्दर्यभोगादिवर्णना ललिताङ्गवत् ॥१९३॥

आदौलाधिकाङ्कितम्

इत्युच्चैः प्रमदोदयात् सुरवरः श्रीमानसी श्रीधरः

स्वर्गश्रीनयनोत्सवं शुचितरं विभ्रद्वपुर्मास्वरम् ।

कान्ताभिः कलभाषिणीभिरुचितान् भोगान् मनोरञ्जनान्

भुञ्जानः सततोरसवैररमत स्वस्मिन् विमानांस्सवे ॥१९४॥

शरीरमें दोष और मल नहीं होते उसी प्रकार भोगभूमिज जीवोंके शरीरमें भी दोष और मल नहीं होते । उनका शरीर भी देवोंके शरीरके समान ही शुद्ध रहता है ॥१८४॥ वह वज्रजंघ आर्य ऐशान स्वर्गमें हमेशा प्रकाशमान रहनेवाले श्रीप्रभ विमानमें देदीप्यमान कान्तिका धारक श्रीधर नामका ऋद्धिधारी देव हुआ ॥१८५॥ और आर्य श्रीमता भी सस्यगर्जनके प्रभावसे खोलिङ्गसे छुटकारा पाकर उसी ऐशान स्वर्गके स्वयम्प्रभ विमानमें स्वयम्प्रभ नामका उत्तम देव हुई ॥१८६॥ सिंह, नकुल, वानर और शूकरके जीव भी अत्यन्त सुखमय इसी ऐशान स्वर्गमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देव हुए । सो ठीक ही है पुण्यसे क्या दुर्लभ है ? ॥१८७॥ इस संसारमें धर्मके बिना स्वर्ग कहाँ ? और स्वर्गके बिना सुख कहाँ इसलिए सुख चाहनेवाले पुरुषोंको चिरकाल तक धर्मरूपी कल्पवृक्षकी ही सेवा करनी चाहिए ॥१८८॥ जो जीव पहले सिंह था वह चित्राङ्गद नामके मनोहर विमानमें प्रकाशमान मुकुटका धारक चित्राङ्गद नामका देव हुआ ॥१८९॥ शूकरका जीव नन्द नामक विमानमें प्रकाशमान मुकुट, बाजूबन्द और मणिमय कुण्डलोंसे भूषित मणिकुण्डली नामका देव हुआ ॥१९०॥ वानरका जीव नन्दावर्त्त नामक विमानमें मनोहर नामका देव हुआ जो कि देवाङ्गनाओंके मनको हरण करनेवाले सुन्दर आकारसे शोभायमान था ॥१९१॥ और नकुलका जीव प्रभाकर विमानमें मनोरथ नामका देव हुआ जो कि सैकड़ों मनोरथोंसे प्राप्त हुए दिव्य भोगरूपी अमृतका सेवन करनेवाला था ॥१९२॥ इस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गलोकके सुख भोगनेवाले उन छह जीवोंके रूप, सौन्दर्य, भोग आदिका वर्णन ललिताङ्गदेवके समान जानना चाहिए ॥१९३॥ इस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गलक्ष्मीके नेत्रोंको उत्सव देनेवाले, अत्यन्त पवित्र और चमकीले शरीरको धारण करनेवाला वह ऋद्धिधारी श्रीधर देव मधुर बचन बोलनेवाली देवाङ्गनाओंके साथ मनोहर भोग भोगता हुआ अपने ही विमानमें अनेक उत्सवों-द्वारा क्रीड़ा करता था ॥१९४॥

१. ऐशानकल्पे । २. तेन विमानेन समानं नाम यस्यासी श्रीस्वयंप्रभ इत्यर्थः । ३. -मुकुट- अ०, प०, द० । ४. मनोहरनामा । ५. -भोगामृताशनः । ६. देवः । ७. -सुखभोगिनाम् अ०, प०, स०, द०, म० । ८. -भर्तुरम् अ०, स० ।

कान्तानां करपल्लवैर्मृदुतलैः संवाह्यमानक्रमः

तद्वक्त्रेन्दुशुचिस्मितांशुसलिलैः संसिच्यमानो मुहुः ।

^१ सञ्ज्विभ्रमलत्कटाक्षविशिलैर्लक्ष्योक्तोऽनुक्षणं

भोगाङ्गैरपि सोऽनुपत् प्रसुदितो वत्स्यजिनः श्रीधरः ॥१९५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिवष्टिलक्षणे श्रीमहापुराणसंग्रहे

श्रीमतीवज्रजङ्घार्यसम्बन्धदर्शनोत्पत्तिवर्णनं नाम

नवमं पर्व ॥६॥

कभी देखाङ्गनाएँ अपने कोमल करपल्लवोंसे उसके चरण दयाती थीं, कभी अपने मुखरूपी चन्द्रमासे निकलती हुई मन्द मुसकानकी किरणोंरूपी जलसे बार-बार उसका अभिषेक करती थी और कभी भौंहोंके विलाससे युक्त कटाक्षरूपी बाणोंका उसे लक्ष्य बनाती थीं । इस प्रकार आगामी कालमें तीर्थंकर होनेवाला वह प्रसन्नचित्त श्रीधरदेव भोगोपभोगकी सामग्रीसे प्रत्येक क्षण सन्तुष्ट रहता था ॥१९५॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यमणीत त्रिवष्टिलक्षणे श्रीमहापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजङ्घ आर्यको सम्बन्धदर्शनकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला नवौं पर्व समाप्त हुआ ॥६॥

दशमं पर्व

अथान्येधुरबुद्धासौ^१ प्रयुक्तावविरजसा^२ । स्वगुरुं प्राप्तकैवल्यं श्रीप्रमाद्विमधिष्ठितम् ॥१॥
जगत्प्रीतिकरो^३ योऽस्य^४ गुरुः प्रीतिकराङ्गयः । तमर्चितुमभीयाय^५ वर्जया ससपर्यया ॥२॥
श्रीप्रमादौ तमभ्यर्च्य सर्वजन्मनिबन्ध च । अत्वा धर्मं ततोऽपृच्छदित्यसौ स्वमनीषितम् ॥३॥
महाबलभवे येऽस्मन्मन्त्रिणो बुद्धेशस्त्रयः । कांथं ते लब्धजन्मानः कीदृशीं वा गतिं श्रिताः ॥४॥
इति पृष्टवते तस्मै सोऽबोवत् सर्वभाषवित् । तन्ममोभयान्तसंतानमपाकुर्वन् वधोऽग्रामिः ॥५॥
त्वयि^६ स्वर्गगतेऽस्मासु लब्धबोधिषु ते तदा । प्रपद्य दुर्गतिं^७ याता वियाता वत दुर्गतिम् ॥६॥
द्वौ निगोतास्पदं^८ यातौ तमोऽन्धं यत्र केवलम् । तत्ताद्विश्रयणोद्वर्तमयिष्ठैर्मन्मसृषुभिः ॥७॥
^{१०}गतं [तः] शतमतिः^९ अन्नं मिथ्यात्वपरिपाकतः । विपाकक्षेत्रमाप्नातं^{११} तसि दुष्कृतकर्मणाम् ॥८॥
मिथ्यात्वविधिसंसुप्ता ये^{१२} मार्गपरिपन्थिनः । ते यान्ति दीर्घमध्वानं^{१३} कुयोन्यावत्संसकुलम् ॥९॥
तमस्यन्धे निमज्जन्ति^{१४} सज्ज्ञानद्वेषिणो नराः । भातोपशमतो^{१५} ज्ञानं बुधोऽभ्यस्वेदनारतम् ॥१०॥

अथानन्तर किसी एक दिन श्रीधरदेवका अधाधज्ञानका प्रयोग करनेपर यथार्थ रूपसे मालूम हुआ कि हमारे गुरु श्रीप्रभ पर्वतपर विराजमान हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ॥१॥ संसारके समस्त प्राणियोंके साथ प्रीति करनेवाले जो प्रीतिकर मुनिराज थे वे ही इसके गुरु थे । इन्हींकी पूजा करनेके लिए अच्छी-अच्छी सामग्री लेकर श्रीधरदेव उनके सम्मुख गया ॥२॥ जाते ही उसने श्रीप्रभ पर्वतपर विद्यमान सर्वज्ञ प्रीतिकर महाराजको पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, धर्मका स्वरूप सुना और फिर नीचे लिखे अनुसार अपने मनकी बात पूछी ॥३॥ हे प्रभो, मेरे महाबल भवमें जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मन्त्री थे वे इस समय कहाँ उत्पन्न हुए हैं, वे कौन-सी गतिको प्राप्त हुए हैं ? ॥४॥ इस प्रकार पूछनेवाले श्रीधरदेवसे सर्वज्ञदेव, अपने वचनरूपी किरणोंके द्वारा उसके हृदयगत समस्त अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हुए कहने लगे ॥५॥ कि हे भव्य, जब तू महाबलका शरीर छोड़कर स्वर्ग चला गया और मैंने रत्नत्रयको प्राप्त कर दीक्षा धारण कर ली तब खेद है कि वे तीनों ढीठ मन्त्री कुमरणसे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुए थे ॥६॥ उन तीनोंमें-से महामति और संभिन्नमति ये दो तो उस निगोद स्थानको प्राप्त हुए हैं जहाँ मात्र सधन अज्ञानान्धकारका ही अधिकार है और जहाँ अत्यन्त तप्त खौलते हुए जलमें उठनेवाली खलबलाहटके समान अनेक बार जन्म-मरण होते रहते हैं ॥७॥ तथा शतमति मन्त्री अपने मिथ्यात्वके कारण नरक गति गया है । यथार्थमें छोटे कर्मोंका फल भोगनेके लिए नरक ही मुख्य क्षेत्र है ॥८॥ जो जीव मिथ्यात्वरूपी विषसे मूर्च्छित होकर समीचीन जैन मार्गका विरोध करते हैं वे कुयोनिरूपी भँवरोंसे व्याप्त इस संसाररूपी मार्गमें दीर्घकाल तक घूमते रहते हैं ॥९॥ चूँकि सम्यग्ज्ञानके विरोधी जीव अवश्य ही नरकरूपी गाढ़ अन्धकारमें

१. —येद्युः प्राबुद्धासौ अ० । —प्रबुद्धासौ स० । २. अदिति । ३. जगत्प्रीतिकरो स० । ४. श्रीधरस्य । ५. अभिमुखमगच्छत् । ६. स्वर्गे गते अ०, प०, स० । ७. याता वत बुद्धयापि दुर्गतिम् अ०, स० । वियाता घृष्टाः । ८. निगोदास्पदं द०, म०, स० । ९. निकृष्टपीडाधयलेपप्रचुरैः । तप्ताविश्रय-म०, ल० । १०. गतः शत-व०, अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । ११. कथितम् । १२. सन्मार्गविरोधिनः । १३. कालम् । १४. अन्धः वर्त्मनि संस्थाने सासवस्कन्धकलयोः । इत्यभिधानात् । १५. सतां ज्ञानम् । संज्ञान-द०, स०, अ०, प० । १५. अतः कारणात् ।

धर्मेणात्मा ब्रजत्यूर्ध्वमधर्मेण पतत्यधः । मिश्रस्तु याति मानुष्यमित्याप्तोक्तिं^१ विनिश्चिनु ॥११॥
 स एष शतबुद्धिस्ते मिथ्याज्ञानस्य दार्ढ्यतः । द्वितीयनरकं दुःखमनुभुङ्क्तेऽतिदाहणम् ॥१२॥
 सोऽयं स्वयंकृतोऽनर्थो जन्तोरेवजितात्मनः^२ । यदयं विद्विषन् धर्ममधर्मं कुरुते रतिम् ॥१३॥
 धर्मात् सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः^३ । धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया^४ ॥१४॥
 धर्मः प्राणिदया स्वस्य क्षान्तिः शौचं वितृष्णता । ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥१५॥
 तनोति विषयासंगः^५ सुखसंतर्धमङ्गिनः । स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्त इवानलः ॥१६॥
 संतप्तस्तत्प्रतीकारमोप्सन् पापेऽनुरज्यते । द्वेष्टि पापरतां धर्ममधर्माच्च पतत्यधः ॥१७॥
 विपश्यते यथाकालं नरकं दुरनुष्ठितम् । अनेहसि^६ समभ्यर्णे यथाऽल्लर्कगुणो^७ विषम् ॥१८॥
 ययोपय^८ रितैर्जन्तुं तीव्रं उव्रयति क्वरः । तथा दुरीहितैः पाप्मा यादीभवति दुर्दशः ॥१९॥
 दुरन्तः कर्मणां पाको ददाति कटुकं फलम् । येनात्मा पतितः शब्दे क्षणं दुःखान्न मुच्यते ॥२०॥
 कीदृशं नरकं दुःखं तत्रोत्पत्तिः कुतोऽङ्गिनाम् । इति चेच्छृणु तत्सम्यक् प्रणिधाय मनः क्षणम् ॥२१॥
 हिंसायां निरता ये स्युर्धेः सृषावादतत्पराः । सुराशोलाः परस्त्रोपु ये रता मद्यपाश्र ये ॥२२॥

निमग्न होते हैं इसलिये विद्वान् पुरुषोंको आप्त प्रणीत सम्यग्ज्ञानका ही निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥१०॥ यह आत्मा धर्मके प्रभावसे स्वर्ग-मोक्ष रूप उच्च स्थानोंको प्राप्त होता है । अधर्म-के प्रभावसे अधोगति अथान् नरकको प्राप्त होता है । और धर्म, अधर्म दोनोंके संयोगसे मनुष्य-पर्यायको प्राप्त होता है । हे भद्र, तू उपर्युक्त अर्हन्तदेवके वचनोंका निश्चय कर ॥११॥ यह तुम्हारा शतबुद्धि मंत्री मिथ्याज्ञानकी वृद्धतासे दूसरे नरकमें अत्यन्त भयंकर दुःख भोग रहा है ॥१२॥ पापसे पराजित आत्माको स्वयं किये हुए अनर्थका यह फल है जो उसका धर्मसे द्वेष और अधर्मसे प्रेम होता है ॥१३॥ 'धर्मसे सुख प्राप्त होता है और अधर्मसे दुःख मिलता है' यह बात निर्विवाद प्रसिद्ध है इसीलिए तो बुद्धिमान् पुरुष अनर्थोंको छोड़नेकी इच्छासे धर्ममें ही तत्परता धारण करते हैं ॥१४॥ प्राणियोंपर दया करना, सच बोलना, क्षमा धारण करना, लोभका त्याग करना, तृष्णाका अभाव करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्यरूपी संपत्तिका इकट्ठा करना ही धर्म हैं और उससे उलटे अदया आदि भाव अधर्म हैं ॥१५॥ विषयासक्ति जीवोंके इन्द्रियजन्य सुखकी तृष्णाको बढ़ाती है, इन्द्रियजन्य सुखकी तृष्णा प्रज्वलित अग्निके समान भारी सन्ताप पैदा करती है । तृष्णासे सन्तप्त हुआ प्राणी उसे दूर करनेकी इच्छासे पापमें अनुरक्त हो जाता है, पापमें अनुराग करनेवाला प्राणी धर्मसे द्वेष करने लगता है और धर्मसे द्वेष करनेवाला जीव अधर्मके कारण अधोगतिको प्राप्त होता है ॥१६-१७॥

जिस प्रकार समय आनेपर (प्रायः वर्षाकालमें) पागल कुत्तेका बिष अपना असर दिखलाने लगता है उसी प्रकार किये हुए पापकर्म भी समय पाकर नरकमें भारी दुःख देने लगते हैं ॥१८॥ जिस प्रकार अपथ्य सेवनसे मूर्ख मनुष्योंका उव्र बढ़ जाता है उसी प्रकार पापाचरणसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका पाप भी बहुत बड़ा हो जाता है ॥१९॥ किये हुए कर्मोंका परिपाक बहुत ही बुरा होता है । वह सदा कटु फल देता रहता है; उसीसे यह जीव नरकमें पहुँचकर वहाँ क्षण-भरके लिए भी दुःखसे नहीं छूटता ॥२०॥ नरकोंमें कैसा दुःख है ? और वहाँ जीवोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ? यदि तू यह जानना चाहता है तो क्षण-भरके लिए मन स्थिर कर सुन ॥२१॥ जो जीव हिंसा करनेमें आसक्त रहते हैं, झूठ बोलनेमें तत्पर होते हैं, चोरी

१. -मिथ्याप्तोक्तविनिश्चितम् अ०, स० । २. रविजितान्मतः द०, स०, अ०, ल० । ३. अविप्रतिपत्तितः ।

४. हातुमिच्छया । ५. ज्ञानं वै- स० । ६. विषयासक्तिः । ७. अमिलायम् । ८. दुराचारः । ९. काले ।

१०. उन्मत्तजनकस्य । ११. अपथ्यभोजनैः ।

ये च मिथ्यादृष्टः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः । सत्त्वेषु निरमुकोशा बह्मरम्भपरिग्रहाः ॥२३॥
 धर्मद्रुहश्च ये नित्यमधर्मपरिपोषकाः^१ । दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहृताश्च ये ॥२४॥
 स्वयन्त्यकारणं ये च निर्ग्रन्थेभ्योऽतिपातकाः । मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाक्षाने रताः ॥२५॥
^२वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः । खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥२६॥
 ते नराः पापभारेण प्रविशन्ति रसातलम् । विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणाम् ॥२७॥
 जलस्यलक्षराः क्रूराः सोरगाश्च सरीसृपाः । पापशीलाश्च मानिन्यः पक्षिणश्च प्रयान्त्यधः ॥२८॥
 प्रयान्त्यसंज्ञिनो घर्मा तां वंशां च सरीसृपाः । पक्षिणस्ते^३ तृतीयां च तां चतुर्थीं च पक्षगाः ॥२९॥
 सिंहास्तां पञ्चमीं चैव तां षष्ठीं च योषितः । प्रयान्ति सप्तमीं साक्ष मर्त्या मत्स्यश्च पापिनः ॥३०॥
 रत्नशर्करबालुक्यः पङ्कधूमतमःप्रभाः । तमस्तमःप्रभा^४ चेति सप्ताधः श्वभ्रभूमयः ॥३१॥
 तासां पर्यायनामानि घर्मा वंशा शिलाञ्जना ।^५अरिष्टा मघवी चैव माघवी चेत्यनुक्रमात् ॥३२॥
 तत्र बीमा^६सुनि स्थाने जाले^७ मधुकृतामिव^८ । तेऽधोमुखाः प्रजायन्ते पापिनामुच्चतिः कुतः ॥३३॥
 तेऽन्तर्मुहूर्ततो गार्ग्यं पृथिव्यान्धि सुगुप्तिमतम् ।^९पर्यावरितं दुष्टैर्दुःश्रिताकृति दुष्कृता^{१०} ॥३४॥
 पर्याप्ताश्च महीपृष्ठे^{११} ज्वलन्मयतिदुःसह । विच्छिन्नबन्धनानीव पत्राणि विलुण्ठ्यधः ॥३५॥
 निपत्य च महीपृष्ठे निशितायुधभूर्धसु । पूकुर्वन्ति दुरात्मानश्छिन्नसर्वाङ्गसन्धयः ॥३६॥

करते हैं, परस्त्रीरमण करते हैं, मद्य पीते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यानमें तत्पर हैं, प्राणियोंमें सदा निर्दय रहते हैं, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते हैं, सदा धर्मसे द्रोह करते हैं, अधर्ममें सन्तोष रखते हैं, साधुओंकी निन्दा करते हैं, मात्सर्यसे उपहृत हैं, धर्मसेवन करने-वाले परिग्रह रहित मुनियोंसे बिना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, मधु और मांस खानेमें तत्पर हैं, अन्य जीवोंकी हिंसा करनेवाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओंको पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं, स्वयं मधु, मांस खाते हैं और उनके खानेवालोंकी अनुमोदना करते हैं वे जीव पापके भारसे नरकमें प्रवेश करते हैं । इस नरकको ही खोटे कर्मोंके फल देनेका क्षेत्र जानना चाहिए ॥२२-२७॥ क्रूर जलचर, थलचर, सर्प, सरीसृप, पाप करनेवाली स्त्रियाँ और क्रूर पक्षी आदि जीव नरकमें जाते हैं ॥२८॥ असेनी पञ्चेन्द्रिय जीव घर्मानामक पहली पृथ्वी तक जाते हैं, सरीसृप-सरकनेवाले-गुहा दूसरी पृथ्वी तक जाते हैं, पक्षी तीसरी पृथ्वी तक, सर्प चौथी पृथ्वी तक, सिंह पाँचवीं पृथ्वी तक, स्त्रियाँ छठवीं पृथ्वी तक और पापी मनुष्य तथा मच्छ सातवीं पृथ्वी तक जाते हैं ॥२९-३०॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, भूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात पृथिवियाँ हैं जो कि क्रम-क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥३१॥ घर्मा, वंशा, शिला, (मेघा), अञ्जना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये सात पृथिवियोंके क्रमसे नामान्तर हैं ॥३२॥ उन पृथिवियोंमें वे जीव मधुमक्खियोंके छत्तेके समान लटकते हुए घृणित स्थानोंमें नीचेकी ओर मुख करके पैदा होते हैं । सो ठीक ही है पापी जीवोंकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥३३॥ वे जीव पापकर्मके उदयसे अन्तर्मुहूर्तमें ही दुर्गन्धित, घृणित, देखनेके अयोग्य और बुरी आकृतिवाले शरीरकी पूर्ण रचना कर लेते हैं ॥३४॥ जिस प्रकार वृक्षके पत्ते शाखासे बन्धन टूट जानेपर नीचे गिर पड़ते हैं उसी प्रकार वे नारकी जीव शरीरकी पूर्ण रचना होते ही उस उत्पत्तिस्थानसे जलती हुई अत्यन्त दुःसह नरककी भूमिपर गिर पड़ते हैं ॥३५॥ वहाँकी भूमिपर अनेक तीक्ष्ण हथियार गड़े हुए हैं, नारकी उन हथियारोंकी नोकपर गिरते हैं

१. निर्घृणाः । २. धर्मघातकाः । ३. -परितोषकाः ल० । ४. धुनकादीन् । ५. घर्मावंशी । ६. महातमः-प्रभा । ७. सारिष्टा अ०, प०, द०, स० । ८. गोलके । ९. मधुमक्षिणाम् । १०. दुःकृतात् द०, अ०, प०, द०, स० । ११. ज्वलन्मयति-अ०, द०, ज्वलति मयति-अ०, प०, द०, स०, ल० ।

भूम्युष्मणा च संतप्ता दुःस्सहेनाकुलीकृताः । तप्तभाष्टे तिला यद्भूत् निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥३७॥
 ततस्तेषां निकृन्तन्ति गात्राणि निशितायुधैः । नारकाः परबक्रोधास्तर्जयन्तोऽतिभीषणम् ॥३८॥
 तेषां छिन्नानि गात्राणि संधानं^१ यान्ति तत्क्षणम् । दण्डाहतानि वारीणि यद्बहुविक्षिप्य प्राक्कशः^२ ॥३९॥
 वैरमन्त्रोऽभ्यसम्बन्धि निवेशानुभवान् गतम् । दण्डास्तदनुस्वास्ते योजयन्ति परस्परम् ॥४०॥
 बोधयन्त्यसुराश्चैवान् यूयं युध्यन्त्वमित्थरम् । संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्णाः सुदारुणाः^३ ॥४१॥
 वज्रधनुर्गुणैः कृतमन्येतान् भयङ्कराः । श्वानश्चानर्जुनाः^४ दूता^५ इजन्ति^६ नखैः खरैः ॥४२॥
 मूषाकथितताम्रादिरसान् केचित् प्रपायिताः । प्रयाप्तिं विलयं सद्यो रसन्तो^७ घिरसस्वनम् ॥४३॥
 इक्षुयन्त्रेषु निक्षिप्य पीडयन्ते खण्डशः कृताः ।^८ उट्टिकासु च निष्काप्य नीयन्ते रसतां परे ॥४४॥
 केचित् स्वाभ्येव मांसानि खाद्यन्ते बलिभिः परैः । विशास्य^९ निशितैः शस्त्रैः परमांसाशिनः पुरा ॥४५॥
^{१०}संदंशकैर्विदायास्थं गले पाटिकया^{११} बलात् । प्रास्यन्ते तापिताः श्लोहपिण्डान् मांसप्रियाः पुरा ॥४६॥
 तेषां तव प्रियेऽप्युच्चैः तलायः पुत्रिका गले^{१२} । आलिङ्गन्ते बलाद्वैरनलाधिः कणाक्षिताम् ॥४७॥

जिसमें उनके शरीरकी सब सन्धियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और इस दुःखसे दुःखी होकर वे पापी जीव रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥३६॥ वहाँकी भूमिकी असह्य गरमीसे सन्तप्त होकर व्याकुल हुए नारकी गरम भाड़में डाले हुए तिलोंके समान पहले तो उछलते हैं और फिर नीचे गिर पड़ते हैं ॥ ३७ ॥ वहाँ पड़ते ही अतिशय क्रोधी नारकी भयंकर तर्जना करते हुए तीक्ष्ण शस्त्रोंसे उन नवीन नारकियोंके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥३८॥ जिस प्रकार किसी डण्डेसे ताड़ित हुआ ऊल बूँद-बूँद होकर बिखर जाता है और फिर क्षण-भरमें मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार उन नारकियोंका शरीर भी हथियारोंके प्रहारसे छिन्न-भिन्न होकर जहाँ-तहाँ बिखर जाता है और फिर क्षण-भरमें मिलकर एक हो जाता है ॥३९॥ उन नारकियोंको अबधिज्ञान होनेसे अपनी पूर्वभवसम्बन्धी घटनाओंका अनुभव होता रहता है, उस अनुभवसे वे परस्पर एक दूसरेको अपना पूर्व वैर बतलाकर आपसमें दण्ड देते रहते हैं ॥४०॥ पहलेकी तीन पृथिवियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जातिके देव आकर वहाँके नारकियोंको उनके पूर्वभवके वैरका स्मरण कराकर परस्परमें लड़नेके लिए प्रेरणा करते रहते हैं ॥ ४१ ॥ वहाँके भयंकर गीध अपनी बज्रमयी चोंचसे उन नारकियोंके शरीरको चीर डालते हैं और काले-काले कुत्ते अपने पैने नखोंसे फाड़ डालते हैं ॥ ४२ ॥ कितने ही नारकियोंको खौलती हुई ताँबा आदि धातुएँ पिलायी जाती हैं जिसके दुःखसे वे बुरी तरह चिल्ला-चिल्लाकर शीघ्र ही बिलीन (नष्ट) हो जाते हैं ॥४३॥ कितने ही नारकियोंके टुकड़े-टुकड़े कर कोलहू (गन्ना पेलनेके यन्त्र) में डालकर पेलते हैं । कितने ही नारकियोंको कढ़ाईमें खौलाकर उनका रस बनाते हैं ॥४४॥ जो जीव पूर्वपर्यायमें मांसभक्षी थे उन नारकियोंके शरीरको बलवान् नारकी अपने पैने शस्त्रोंसे काट-काटकर उनका मांस उन्हें ही खिलाते हैं ॥४५॥ जो जीव पहले बड़े शौकसे मांस खाया करते थे, सँझासोसे उनका मुख फाड़कर उनके गलेमें जबरदस्ती तपाये हुए लोहेके गोले निगलाये जाते हैं ॥४६॥ 'यह वही तुम्हारी उत्तमप्रिया है' ऐसा कहते हुए बलवान् नारकी अग्निके फुलिंगोंसे

१. दुस्सहेणाकुली-अ० । २. अभ्यरीषे । ३. स्थालीपत्र्यमानतण्डुलोत्पतननिपतनवत् । ४. पर्याः क्रोधाः अ०, स०, द० । ५. सम्बन्धम् । ६. विकीर्य । ७. खण्डशः । ८. चतुर्थनरकात् प्राक् । ९. सुदारुणम् प० । १०. कृष्णाः । ११. स्थूलाः । १२. विशारयन्ति । १३. ज्वनन्तः । १४. कटाहेषु । १५. छिन्ना । १६. कङ्कमुखैः । १७. पाकिष्य अ०, प०, स०, द० । १८. परे द० । परैः स० ।

*ये गीध, कुत्ते आदि जीव तिर्यग्भूतकृति के नहीं हैं किन्तु नारकी ही विक्रिया शक्तिसे अपने शरीरमें वसा परिणमन कर लेते हैं ।

संकेतकेतकोचाने^१ कर्कशककचच्छदे । त्वामिहोपहरे^२ कान्ता^३ ह्यस्यभिसिसीर्षया^४ ॥४८॥
पुरा पराङ्गनासंगरति^५ बुल्ललितानिति । संयोजयन्ति तस्यायःपुत्रिकामिबल्लात् परं ॥४९॥
तांस्तदाकिङ्कनासंगात्^६ क्षणमूर्च्छामुपागतान् । तुदन्त्ययोमयस्तोत्रैरन्ये मर्मसु नारकाः ॥५०॥
तदङ्गालिङ्कनासंगात्^७ क्षणमोलितकोचनाः । निपतन्ति महीरङ्गे^८ तेऽङ्गारोद्धतविग्रहाः ॥५१॥
‘मन्त्राग्निदीपितान् केचिदा^९ यसान् शाफ्मलीवमान् ।’ आरोग्यन्ते हृदयैश्चित्तीक्ष्णोर्ध्वाधोऽप्रकण्टकान्^{१०}
ते तदारोपणोर्ध्वाधः कर्षणैरतिकर्षिताः । मुच्यन्ते नारकैः कच्छात् क्षरक्षतजमूर्त्तयः ॥५२॥
‘अरुक्करद्रवापूर्णनदीरन्ये विगाहिताः । क्षणाद् विशीर्णसर्वाङ्गा^{११} विलुप्यन्ते^{१२} ऽम्बुवारिभिः ॥५३॥
विस्फुलिङ्गमयीं शय्यां ज्वलन्तीमधिशायिताः । शेरते प्लुष्यमाणाङ्गा दीर्घनिद्रासुखेप्सया ॥५४॥
असिपत्रवनान्यन्ये भयनयुष्णादिता यदा । तदा वाति महतोषो विस्फुलिङ्गकणान् किरन् ॥५५॥
तेन पद्माणि^{१३} पात्यन्ते सर्वायुधमयान्वरम् । तैश्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः पूकुर्वन्ति वराककाः ॥५६॥

व्याप्त तपायी हुई लोहेकी पुतलीका जबरदस्ती गलेसे आलिंगन कराते हैं ॥४८॥ जिनोंने पूर्वभष-
में परस्त्रियोंके साथ रति-कीड़ा की थी ऐसे नारकी जीवोंसे अन्य नारकी आकर कहते हैं कि
'तुम्हें तुम्हारी प्रिया अभिसार करनेकी इच्छासे संकेत किये हुए केतकीवनके एकान्तमें बुला रहा
है, इस प्रकार कहकर उन्हें कठोर करोंत-जैसे पत्तेवाले केतकीवनमें ले जाकर तपायी हुई लोहेकी
पुतलियोंके साथ आलिङ्गन कराते हैं ॥४९-४९॥ उन लोहेकी पुतलियोंके आलिङ्गनसे तत्क्षण ही
भूर्च्छित हुए उन नारकियोंको अन्य नारकी लोहेके परेनोंसे मर्मस्थानोंमें पीटने हैं ॥ ५० ॥ उन
लोहेकी पुतलियोंके आलिंगनकालमें ही जिनके नेत्र दुःखसे बन्द हो गये हैं तथा जिनका
शरीर अंगारोंसे जल रहा है ऐसे वे नारकी उसी क्षण जमीनपर गिर पड़ते हैं ॥ ५१ ॥ कितने
ही नारकी, जिनपर ऊपरसे नीचे तक पैने काँटे लगे हुए हैं और जो धौंकनीसे प्रदीप्त किये गये हैं
ऐसे लोहेके बने हुए सेमरके वृक्षोंपर अन्य नारकियोंको जबरदस्ती चढ़ाते हैं ॥५२॥ वे नारकी
उन वृक्षोंपर चढ़ते हैं, कोई नारकी उन्हें ऊपरसे नीचेकी ओर घसीट देता है और कोई नीचेसे
ऊपरको घसीट ले जाता है । इस तरह जब उनका सारा शरीर छिल जाता है और उससे रुधिर
बहने लगता है तब कहीं कहीं कठिनाईसे छुटकारा पाते हैं ॥ ५३ ॥ कितने ही नारकियोंको
भिलावेके रससे भरी हुई नदीमें जबरदस्ती पटक देते हैं जिससे आप क्षण भरमें उनका सारा
शरीर गल जाता है और उसके खारे जलकी लहरें उन्हें लिप्त कर उनके धावोंको भारी दुःख
पहुँचाती हैं ॥ ५४ ॥ कितने ही नारकियोंको फुलिङ्गोंसे व्याप्त जलती हुई अग्निकी शय्यापर
सुलाते हैं । दीर्घनिद्रा लेकर सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे वे नारकी उसपर सोते हैं जिससे
उनका सारा शरीर जलने लगता है ॥५५॥ गरमोंके दुःखसे पीड़ित हुए नारकी ज्यों ही असिपत्र
वनमें (तलवारकी धारके समान पैने पत्तोंवाले वनमें) पहुँचते हैं त्यों ही वहाँ अग्निके
फुलिङ्गोंको बरसाता हुआ प्रचण्ड वायु बहने लगता है । उस वायुके आघातसे अनेक आयुधमय
पत्ते शीघ्र ही गिरने लगते हैं जिनसे उन नारकियोंका सम्पूर्ण शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है
और उस दुःखसे दुःखी होकर बेचारे दीन नारकी रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥ ५६-५७ ॥

१. केतकीवने । २. रहसि । ३. आह्वानं करोति । ४. अभिसर्तुमिच्छा अभिसिसीर्षा तथा । निघृणने-
कृष्येत्यर्थः । ५. दृष्टान् । ६. तोदनैः । 'प्राजनं तोदनं तोत्रम्' इत्याभिधानात् । तुदन्त्यनेनेति तोत्रम् 'तुद
व्यपने' इति धातोः करणे षड् प्रत्ययः । ७. -संग- अ०, प०, द०, स०, ल० । ८. तेऽङ्गाराद्धतविग्रहाः
प०, द०, स०, अ०, ल० । ९. जर्मप्रसेविकाग्नि । 'मन्त्रा चर्मप्रसेविका' इत्याभिधानात् । १०. अयोमयान् ।
११. 'रह् बीजजन्मति' णिङ् परि हा पा इति नुत्रेण हकारस्य प्रकारः । १२. भल्लातकीतलम् । १३. छिन्नते ।
१४. विलिप्यन्तेऽम्बु ल० । १५. सात्यन्ते स०, द०, अ०, प०, ल०, ।

‘वल्लरीकृत्य शोष्यन्ते’ शूल्यमांसीकृताः परैः । पात्यन्ते च गिरेरमादधःकृतमुखाः परैः^३ ॥५८॥
 दार्यन्ते ककचैस्तीक्ष्णैः केचिन्मर्मास्थिसन्धिषु । तत्रायःसूचिनिर्मिन्ननखाग्रो^४ हव्यवेदनाः ॥५९॥
 काश्चिन्निशातशूलाग्रैः प्रोत्तोल्यन्ते^५ न्नसन्ततीन् । भ्रमयत्युच्छलच्छोणशोणितारुणविग्रहान् ॥६०॥
 नृणजजरितान् काश्चित् सिञ्चन्ति क्षारवारिभिः । तत्किलाप्यायनं तेषां मूर्च्छाविह्वलितारमनाम् ॥६१॥
 काश्चिदुसुप्तशैलाग्रान् पातितानतिनिष्ठुराः । नारकाः परुषं वनन्ति शतशो वज्रमुष्टिभिः^६ ॥६२॥
 अन्यानन्ये विनिघ्नन्ति^७ द्रुवणैरतिनिष्ठुराः । विच्छिन्नप्रोच्छलच्चक्षुर्गोलोकानधिमस्तकम् ॥६३॥
 ‘भोरभैश्च’^८ रणैरन्यान्योद्ययन्ति मिथोऽसुराः । स्फुरद्ध्वनिदलन्मूर्धैः^९ गलन्मस्तिष्ककर्दमान् ॥६४॥
 तसलोहासनेष्वन्यानां^{१०} सयन्ति पुरोद्वृत्तान् । शाययन्ति च^{११} विन्यासैः^{१२} शितायःकण्टकास्तरैः^{१३} ॥६५॥
 इत्यसङ्गतं धीरां नारकीं प्राप्य^{१४} यातनाम् । उद्विग्नानां मनस्येषामेषा चिन्तोपजायते ॥६६॥
 अहो दुरासदा^{१५} भूमिः प्रदीप्ता ज्वलनाग्निषा । वायवो वान्ति दुःस्पर्शाः स्फुल्लिकणवाहिनः ॥६७॥
 दोसा दिशश्च दिग्दाहशङ्को संजनयन्त्यसूः । तत्सुप्तसुमयीं वृष्टिं किरम्यन्मुमुचोऽम्बरात् ॥६८॥

वे नारकी कितने ही नारकियोंको लोहेकी सलाईपर लगाये हुए मांसके समान लोहदण्डोंपर टाँगकर अग्निमें इतना सुखाते हैं कि वे सूखकर बल्लूर (शुष्क मांस) की तरह हो जाते हैं और कितने ही नारकियोंको नीचेकी ओर मुँह कर पहाड़की चोटीपर-से पटक देते हैं ॥५८॥ कितने ही नारकियोंके मर्मस्थान और हड्डियोंके सन्धिस्थानोंको पैनी करांतसे विदीर्ण कर डालते हैं और उनके नखोंके अग्रभागमें तपायी हुई लोहेकी सुइयाँ चुभाकर उन्हें भयंकर वेदना पहुँचाते हैं ॥५९॥ कितने ही नारकियोंको पैने शूलके अग्रभागपर चढ़ाकर घुमाते हैं जिससे उनकी अँतड़ियाँ निकलकर लटकने लगती हैं और लटकते हुए खूनसे उनका सारा शरीर लाल-लाल हो जाता है ॥ ६० ॥ इस प्रकार अनेक धावोंसे जिनका शरीर जर्जर हो रहा है ऐसे नारकियोंको वे बलिष्ठ नारकी खारे पानीसे सींचते हैं । जो नारकी धावोंकी व्यथासे मूर्च्छित हो जाते हैं खारे पानीके सींचनेसे वे पुनः सचेत हो जाते हैं ॥ ६१ ॥ कितने ही नारकियोंको पहाड़की ऊँची चोटीसे नीचे पटक देते हैं और फिर नीचे आनेपर उन्हें अनेक निर्दय नारकी बड़ी कठोरताके साथ सैकड़ों वज्रमय मुष्टियोंसे मारते हैं ॥६२॥ कितने ही निर्दय नारकी अन्य नारकियोंको उनके मस्तकपर मुद्गरोंसे पीटते हैं जिससे उनके नेत्रोंके गोलक (गटेना) निकलकर बाहर गिर पड़ते हैं ॥ ६३ ॥ तीसरी पृथिवी तक असुर कुमारदेव नारकियोंको मेढ़ा बनाकर परस्परमें लड़ाते हैं जिससे उनके मस्तक शब्द करते हुए फट जाते हैं और उनसे रक्त मांस आदि बहुत-सा मल बाहर निकलने लगता है ॥६४॥ जो जीव पहले बड़े उद्विग्न थे उन्हें वे नारकी तपाये हुए लोहेके आसनपर बैठाते हैं और विधिपूर्वक पैने काँटोंके थिछौनेपर सुलाते हैं ॥ ६५ ॥ इस प्रकार नरककी अत्यन्त असह्य और भयंकर वेदना पाकर भयभीत हुए नारकियोंके मनमें यह चिन्ता उत्पन्न होती है ॥६६॥ कि अहो ! अग्निकी ज्वालाओंसे तपी हुई यह भूमि बड़ी ही दुरासद (सुखपूर्वक ठहरनेके अयोग्य) है । यहाँपर सदा अग्निके फुलिंगोंको धारण करनेवाला यह वायु बहता रहता है जिसका कि स्पर्श भी सुखसे नहीं किया जा सकता ॥६७॥ ये जलती हुई दिशाएँ दिशाओंमें आग लगानेका सन्देह उत्पन्न कर रही हैं

१. शुष्कमांसीकृत्य । ‘उत्तप्तं शुष्कमांसं स्यात् तद्वल्लूरं त्रिलोकम्’ । २. शूले संस्कृतं दशं शूल्यं तच्च मांसं च शूल्यमांसम् । ३. परे म०, ल० । ४. उत्कट । ५. शूलाग्रेण निक्षिप्तान् । ६. आन्त्रं परीतम् । ७. क्षाराम्बुसेवनम् । ८. वज्रमुष्टिप्रहारैः । ९. मुद्गरैः । १०. मेषसम्बन्धिभिः । ‘मेढोरभोरणोर्णायुमेषवृणव एषके ।’ इत्यभिधानात् । ११. युद्धैः । १२. कट्टः । -मस्तिष्क- प०, म०, स० । -मस्तक-अ० । -मास्तिक- ल० । १३. ‘आस उपवेशने’ । १४. विविन्यासैः । १५. शितं निशितम् ‘तीक्ष्णम्’ । १६. शय्याविशेषे । १७. तीव्रवेदनाम् । १८. भीतानाम् । १९. दुर्गमा ।

विषारण्यमिदं विह्वलं विषवल्लीनिशततम् । असिपत्रवनं चेदसिपत्रैर्मयानकम् ॥६९॥
 मृषामिसारिकाश्चेमास्तसायोमयपुत्रिकाः । काममुदीपयन्त्यस्मानालिङ्गन्त्यो बलाद् गले ॥७०॥
 योधयन्ति बलादस्मानिमे केऽपि महत्तराः । नूनं प्रेताभिना येन प्रयुक्ताः कर्मसाक्षिणः ॥७१॥
 खरारटिक्मुग्रोयं उग्रलज्जबालाकराकितम् । गिलितुमनलोद्गारि खरोष्ट्रं नोऽभिधावति ॥७२॥
 अभी च मीषणाकाराः कृपाणोद्यतवाणयः । पुरुषास्तर्जयन्त्यस्मानकारणरणोद्धराः ॥७३॥
 इमे च परुषापाता गृध्रा नोऽभि द्रव्यत्यरम् । मयम्भः सारमेयाश्च मीषयन्तेतरामिमे ॥७४॥
 नूनमेतन्निभे नास्मद्दुरिताभ्येव निर्दयम् । पीडाभुत्वाद्यन्त्येवमहो मयसमसन्निधिः ॥७५॥
 इतः स्वरति पद्मोषो नारकाणां प्रधावताम् । इतश्च कुरुणाक्रमद्गमः पूकारनिःस्वनः ॥७६॥
 इतोऽयं प्रध्वनद्ध्वाङ्क्ष कठोरारावमूर्च्छितः । शिवानामशि बाध्वानः प्रध्वानयति रोदसी ॥७७॥
 इतः परुषसंपातपङ्क्तनाधूनोत्थितः । असिपत्रवने पत्रनिर्मोक्षपरुषध्वनिः ॥७८॥
 सोऽयं कण्टकितस्कन्धः कूटशाढमक्षिपादपः । यस्मिन् स्पृतेऽपि मोऽङ्गानि तुद्यन्त इव कण्टकैः ॥७९॥

और ये मेघ तप्तधूलिकी वर्षा कर रहे हैं ॥ ६८ ॥ यह विषवन है जो कि सब ओरसे विष लताओंसे व्याप्त है और यह तलवारकी धारके समान पैने पत्तोंसे भयंकर असिपत्र वन है ॥ ६९ ॥ ये गरम की हुई लोहेकी पुतलियाँ नीच व्यभिचारिणी स्त्रियोंके समान जबरदस्ती गलेका आलिङ्गन करती हुई हम लोगोंको अतिशय सन्ताप देती हैं (पक्षमें कामोत्तेजन करती हैं) ॥ ७० ॥ ये कोई महाबलवान् पुरुष हम लोगोंको जबरदस्ती लड़ा रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो हमारे पूर्वजन्मसम्बन्धी दुष्टकर्मोंकी साक्षी देनेके लिए यमराजके द्वारा ही भेजे गये हों ॥ ७१ ॥ जिनके शब्द बड़े ही भयानक हैं, जो अपनी नासिका ऊपरको उठाये हुए हैं, जो जलती हुई ज्वालाओंसे भयंकर हैं और जो मुँहसे अग्नि उगल रहे हैं ऐसे ऊँट और गधोंका यह समूह हम लोगोंको निगलनेके लिए ही सामने दौड़ा आ रहा है ॥ ७२ ॥ जिनका आकार अत्यन्त भयानक है जिन्होंने अपने हाथमें तलवार उठा रखी है और जो बिना कारण ही, लड़नेके लिए तैयार हैं, ऐसे ये पुरुष हम लोगोंकी तर्जना कर रहे हैं—हम लोगोंको धुड़क रहे हैं—छोट दिखला रहे हैं ॥ ७३ ॥ भयंकर रूपसे आकाशसे पड़ते हुए ये गीध शीघ्र ही हमारे सामने क्षपट रहे हैं और ये भौंकते हुए कुत्ते हमें अतिशय भयभीत कर रहे हैं ॥ ७४ ॥ निश्चय ही इन दुष्ट जीवोंके ललसे हमारे पूर्वभयके पाप ही हमें इस प्रकार दुःख उत्पन्न कर रहे हैं । बड़े आश्चर्यकी बात है कि हम लोगोंको सब ओरसे दुष्टोंने घेर रखा है ॥ ७५ ॥ इधर यह दौड़ते हुए नारकियोंके पैरोंकी आवाज सन्ताप उत्पन्न कर रही है और इधर यह कुरुण विलापसे भरा हुआ किसीके रोनेका शब्द आ रहा है ॥ ७६ ॥ इधर यह काँव-काँव करते हुए कौबोंके कठोर शब्दसे विस्तारको प्राप्त हुआ शृगालोंका अमंगलकारी शब्द आकाश-पातालको शब्दायमान कर रहा है ॥ ७७ ॥ इधर यह असिपत्र वनमें कठिन रूपसे चलनेवाले वायुके प्रकम्पनसे उत्पन्न हुआ शब्द तथा उस वायुके आघातसे गिरते हुए पत्तोंका कठोर शब्द हो रहा है ॥ ७८ ॥ जिसके स्कन्ध भागपर काँटे लगे हुए हैं ऐसा यह वही कृत्रिम सेमरका पेड़

१. भयंकरम् । २. मिथ्यागणिका । ३. -वर्चता-म०, ल० । ४. अत्यर्थम् । ५. असुराः । ६. यमेन । ७. कृताव्यक्षाः । ८. कटुरवं भवति तथा । ९. नासिका । १०. चर्वितुम् । 'गु निगरणे' घातोस्तुमुन् प्रत्ययः । ११. गर्दभोष्टसमूहः । १२. दपीविष्टाः । १३. अभिमुखमागच्छन्ति । १४. तर्जयन्तः । १५. संत्रासयन्ति । १६. अहमेवं मन्ये । १७. व्याजेन । १८. समीपः । १९. स्फुरति अ०, प०, स० । स्वरति 'ओस्व्' शब्दोप-
 तानयोः । २०. पादरवः । २१. प्रध्वनद्ध्वाङ्क्षः अ०, स०, ल० । ध्वाङ्क्षः वायसः । २२. मिथितः । २३. शृगालानाम् । २४. अमङ्गल । २५. आकाशभूमी ।

सैषा वैतरणी नाम सरित् साहसकरद्वया^१ । आस्तां तरणमेतस्याः स्मरणं च भयावहम् ॥८०॥
एते^२ च नारकावासाः प्रज्वलन्त्यन्तरात्मणा । अन्धमृषास्त्रिवाचनं नीयन्ते यत्र नारकाः ॥८१॥
दुस्सहो वेदनास्तायाः प्रहारा दुधरा इमे । अकाले दुस्त्यजाः प्राणा दुर्निवाराश्च नारकाः ॥८२॥
क्व यामः क्व तु तिष्ठामः^३ क्वास्महे क्व नु^४ शोमहे । यत्र यत्रोपसर्पामस्तत्र तत्राधयोऽधिकाः ॥८३॥
इत्यपारमिदं दुःखं तरिष्यामः कदा वयम् । नाधयोऽप्युपमानं नो जीवितस्थालधीयसः ॥८४॥
इत्यनुध्यायतां तेषां योऽन्तस्तापोऽनुसन्ततः^५ । स एव प्राणसंशीतिं^६ तानारोपयितुं क्षमः ॥८५॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदुःखं सुदारुणम् । तत्तत्पिण्डीकृतं तेषु दुर्मोचैः पापकर्मभिः ॥८६॥
अक्षोर्निमेषमात्रं च न तेषां सुखसंगतिः । दुःखमेवानुबन्धोऽहम् नारकाणामहर्निशम् ॥८७॥
नानादुःखशतावर्ते मग्नानां नरकाण्ये । तेषामास्तां सुखावाप्तिस्तस्मृतिश्च दवीयसी^७ ॥८८॥
शीतोष्णनरकेष्वेषां दुःखं यदुपजायते । तत्सह्यमचिन्त्यं च वत केनोपमीयते ॥८९॥
शीतं षष्ठ्यां च सप्तम्यां पञ्चम्यां तद्द्वयं सप्तमं^८ । पृथिवीपृष्णमुद्दिष्टं चतस्रधादिमासु च ॥९०॥
त्रिंशत्पञ्चहताः पञ्चविंशच्च दश च क्रमात् । सिद्धः पञ्चमिरुनैका लक्षाः पञ्च च सप्तसु ॥९१॥

हैं जिसकी याद आते ही हम लोगोंके समस्त अंग काँटे चुभनेके समान दुःखी होने लगते हैं ॥७९॥
इधर यह भिलावेके रससे भरी हुई वैतरणी नामकी नदी है । इसमें तैरना तो दूर रहा
इसका स्मरण करना भी भयका देनेवाला है ॥८०॥ वे वही नारकियोंके रहनेके घर (बिल)
हैं जो कि गरमीसे भीतर-ही-भीतर जल रहे हैं और जिनमें ये नारकी छिद्ररहित साँचेमें
गली हुई सुवर्ण, चाँदी आदि धातुओंकी तरह घुमाये जाते हैं ॥८१॥ यहाँकी वेदना इतनी तीव्र
है कि उसे कोई सह नहीं सकता, मार भी इतनी कठिन है कि उसे कोई बरदाश्त नहीं कर
सकता । ये प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूट नहीं सकते और ये नारकी भी किसीसे रोके
नहीं जा सकते ॥८२॥ ऐसी अवस्थामें हम लोग कहाँ जायें ? कहाँ खड़े हों ? कहाँ बैठें ? और
कहाँ सोवें ? हम लोग जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ अधिक-ही-अधिक दुःख पाते हैं ॥८३॥
इस प्रकार यहाँके इस अपार दुःखसे हम कब तिरेंगे ?-कब पार होंगे ? हम लोगोंकी आयु
भी इतनी अधिक है कि सागर भी उसके उपमान नहीं हो सकते ॥८४॥ इस प्रकार प्रतिक्षण
चिन्तन करते हुए नारकियोंको जो निरन्तर मानसिक सन्ताप होता रहता है वही उनके
प्राणोंको संशयमें डाले रखनेके लिए समर्थ है अर्थात् उक्त प्रकारके सन्तापसे उन्हें मरनेका
संशय बना रहता है ॥८५॥ इस विषयमें और अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? इतना ही पर्याप्त
है कि संसारमें जो-जो भयंकर दुःख होते हैं उन सभीको, कठिनतासे दूर होने योग्य कर्मोंने
नरकोंमें इकट्ठा कर दिया है ॥८६॥ उन नारकियोंको नेत्रोंके निमेष मात्र भी सुख नहीं है ।
उन्हें रात-दिन इसी प्रकार दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है ॥८७॥ नाना प्रकारके दुःखरूपी
सैकड़ों आवतोंसे भरे हुए नरकरूपी समुद्रमें डूबे हुए नारकियोंको सुखकी प्राप्ति तो दूर रही
इसका स्मरण होना भी बहुत दूर रहता है ॥८८॥ शीत अथवा उष्ण नरकोंमें इन नारकियोंको
जो दुःख होता है यह सर्वथा असह्य और अचिन्त्य है । संसारमें ऐसा कोई पदार्थ भी तो
नहीं है जिसके साथ उस दुःखकी उपमा दी जा सके ॥८९॥ पहलेकी चार पृथिवियोंमें उष्ण
वेदना है । पाँचवीं पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों वेदनाएँ हैं अर्थात् ऊपरके दो लाख बिलोंमें
उष्ण वेदना है और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत वेदना है । छठी और सातवीं पृथिवीमें
शीत वेदना है । यह उष्ण और शीतकी वेदना नीचे-नीचेके नरकोंमें क्रम-क्रमसे बढ़ती हुई है ॥९०॥
उन सातों पृथिवियोंमें क्रमसे तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख,

१. भस्मातकसैलसहिता । २. एते ते अ०, प०, द०, स० । ३. 'आस उपवेशने' । ४. 'शीघ्र स्वप्ने' ।

५. विस्तृतः । ६. संदेहः । ७. नितरां दूरा । ८ -यं सप्तम् ल० ।

नरकेषु विलानि स्युः प्रवृत्तान्ति महान्ति च । नारका येषु पच्यन्ते^१ कुम्भीष्विव दुरारमकाः ॥९२॥
 एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशापि च । द्वाविंशतिश्चयस्त्रिंशदायुस्तत्राविधसंख्यया ॥९३॥
 धनुषि सप्त तिलः स्युररन्ध्रयोऽङ्गुलश्च^२ षट् । वर्माणां नारकास्तेषां^३ द्विद्विंशतीषु कथ्यताम् ॥९४॥
^४पोण्डा हुण्डसंस्थानाः षण्डकाः पूतिगन्धयः । दुर्वर्णाश्च दुःस्पर्शा दुःस्वरा दुर्मगाश्च ते ॥९५॥
 तमोमयैरिवारब्धा विस्त्रैः परमाणुभिः । जायन्ते कालकालायाः^५ नारका द्रव्यलेश्यया ॥९६॥
 भावलेश्या तु कापोती^६ जघन्या मध्यमोत्तमा । नीला च मध्यमा नीला नीलोत्कृष्टा च कृष्णया ॥९७॥
 कृष्णा च मध्यमोत्कृष्टा कृष्णा चेति यथाक्रमम् । वर्मादिसप्तमीं यावत् तावत्पृथिवीषु वर्णिताः ॥९८॥
 यादशः कटुकालाहुकाजीरादिसमागमे^७ । रसः कटुरनिष्टश्च तद्गन्धेष्वपि तादृशः ॥९९॥
 श्मार्जार्खरीष्टादिकुणपानां^८ समाहृतौ । यद्बैगन्ध्यं तदप्येषो देहगन्धस्य नोपमा ॥१००॥
 यादशः करपत्रेषु^९ गोक्षुरेषु^{१०} च यादशः । तादृशः कर्कशः स्पर्शः तदङ्गेष्वपि जायते ॥१०१॥

पाँच कम एक लाख और पाँच बिल हैं । ये बिल सदा ही जाग्नवल्ग्यमान रहते हैं और बड़े-बड़े हैं । इन बिलोंमें पापी नारकी जीव हमेशा कुम्भीपाक (बन्द घड़ेमें पकाये जानेवाले जल आदि) के समान पकते रहते हैं ॥९१-९२॥ उन नरकोंमें क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥९३॥ पहली पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है । और द्वितीय आदि पृथिवियोंमें क्रम-क्रमसे दूनी-दूनी समझनी चाहिए । अर्थात् दूसरी पृथिवीमें पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल, तीसरी पृथिवीमें इकतीस धनुष एक हाथ, चौथी पृथिवीमें बासठ धनुष दो हाथ, पाँचवीं पृथिवीमें एक सौ पचीस धनुष, छठी पृथिवीमें दो सौ पचास हाथ और सातवीं पृथिवीमें पाँच सौ धनुष शरीरकी ऊँचाई है ॥९४॥ वे नारकी विकलांग, हुण्डक संस्थानवाले, नपुंसक, दुर्गन्धयुक्त, बुरे काले रंगके धारक, कठिन स्पर्शवाले, कठोर स्वरसहित तथा दुर्मग (देखनेमें अप्रिय) होते हैं ॥९५॥ उन नारकियोंका शरीर अन्धकारके समान काले और रूखे परमाणुओंसे बना हुआ होता है । उन सबकी द्रव्यलेश्या अत्यन्त कृष्ण होती है ॥९६॥ परन्तु भावलेश्यामें अन्तर है जो कि इस प्रकार है—पहली पृथिवीमें जघन्य कापोती भावलेश्या है, दूसरी पृथिवीमें मध्यम कापोती लेश्या है, तीसरी पृथिवीमें उत्कृष्ट कापोती लेश्या और जघन्य नील लेश्या है, चौथी पृथिवीमें मध्यम नील लेश्या है, पाँचवींमें उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या है, छठी पृथिवीमें मध्यम कृष्ण लेश्या है और सातवीं पृथिवीमें उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है । इस प्रकार वर्मा आदि सात पृथिवियोंमें क्रमसे भावलेश्याका वर्णन किया ॥९७-९८॥ कटुई तूम्ही और कांजीरके संयोगसे जैसा कटुआ और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है वैसा ही रस नारकियोंके शरीरमें भी उत्पन्न होता है ॥९९॥ कुत्ता, बिल्लाव, गधा, ऊँट आदि जीवोंके मृतक कलेवरोंको इकट्ठा करनेसे जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है वह भी इन नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धकी बराबरी नहीं कर सकती ॥१००॥ करोंत और गोखुरुमें जैसा कठोर स्पर्श होता है वैसा ही कठोर स्पर्श नार-

१. पिठरेषु । 'कुम्भी तु पाटला वारो पर्णे पिठरकदफले' इत्यभिधानात् । कुम्भेष्विव म०, ल० ।
 २. द्विगुणः द्विगुणः । ३. विकलाङ्गाः । ४. षण्डकाः ब०, अ०, प० । ५. अतिकृष्णाभाः । ६. वर्माणां कापोती जघन्या । वंशायां मध्यमा कापोती लेश्या मेघायाम्—उत्तमा कापोती लेश्या जघन्या नीललेश्या च । अञ्जनायां मध्यमा नीललेश्या अरिष्टायाम् उत्कृष्टा नीललेश्या जघन्या कृष्णलेश्या च । मध्यमा कृष्णा भावव्यां मघव्यां सप्तम्यां भूमौ उत्कृष्टा कृष्णलेश्या । ७. संयोगे । ८. संग्रहे । ९. क्रकचेषु । १०. गोकष्टकेषु ।

अपृथग्विक्रियास्तेषामशुभाद् दुरितोदधात् । ततो^१ विकृतबीमस्त्रविरूपाश्चैव^२ सा मता ॥१०२॥
 विभोभोऽस्ति विभङ्गाख्यस्तेषां पर्याप्त्यनन्तरम् । तेनान्यजन्मवैरागां स्मरन्त्युद्वहन्ति^३ च ॥१०३॥
 यन्मी प्राकृतने जन्मन्वासन् पापेषु पण्डिताः । कद्वाश्च^४ दुराचारास्तद्विपाकोऽयमुत्खणः^५ ॥१०४॥
 ईदृग्विधं महादुःखं द्वितीयनरकाश्रितम् । पापेन कर्मणा प्रापन् शतबुद्धिरसौ सुर ॥१०५॥
 तस्माद्दुःखमनिच्छूनां नारकं तीव्रमीदृशम् । उपास्योऽयं जिनेन्द्राणां धर्मो मतिमतां नृणाम् ॥१०६॥
 धर्मः प्रपाति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तमोऽयम् । धर्मो नैःश्रेयसं सौख्यं दधे कर्मक्षयोद्धवम् ॥१०७॥
 धर्मदिव सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गणेन्द्रता । धर्मातीर्थकरत्वं च परमानन्दसंघं च ॥१०८॥
 धर्मो बन्धुश्च मित्रं च धर्मोऽयं गुरुः कृत्स्नात् । तस्माद्धर्मं भक्तिं भस्त्रं स्वर्गोक्षसुखदायिनि ॥१०९॥
 तदा प्रीतिकरस्येति वचः श्रुत्वा जिनेशिनः । श्रीधरो धर्मसंवेगं परं प्रापन् स पुण्यधीः ॥११०॥
 गत्वा गुरुनिदेशेन शतबुद्धिमबोधयत् । किं मद्मुखं मां वेत्ति शतबुद्धे महाबलम् ॥१११॥
 तदासीत् तत्र मिथ्यात्वमुद्दिष्टं दुर्न्याश्रयात् । पश्य तत्परीपाकोऽयमस्वस्तस्ते^६ पुरःस्थितः ॥११२॥
 इत्यसौ बोधितस्तेन शुद्धं दर्शनमवाप्नोत् । मिथ्यात्वकलुषापाघात् परां शुद्धिमुपाश्रितः ॥११३॥
 कालान्ते नरकाद्गीमान्निर्गत्य शतधीश्वरः । पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धप्राग्विदेहमुपागतः ॥११४॥

कियाँके शरीरमें भी होता है ॥१०२॥ इन नारकीयोंके अशुभ कर्मका उदय होनेसे अपृथक् विक्रिया ही होती है और वह भी अत्यन्त विकृत, घृणित तथा कुरूप हुआ करती है । भावार्थ— एक नारकी एक समयमें अपने शरीरका एक ही आकार बना सकता है सो वह भी अत्यन्त विकृत, घृणाका स्थान और कुरूप आकार बनाता है, देवोंके समान मनचाहे अनेक रूप बनानेकी सामर्थ्य नारकी जीवोंमें नहीं होती ॥१०३॥ पर्याप्तक होते ही उन्हें विभङ्गावधि ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे वे पूर्वभयके वैरोंका स्मरण कर लेते हैं और उन्हें प्रकट भी करने लगते हैं ॥१०४॥ जो जीव पूर्वजन्ममें पाप करनेमें बहुत ही पण्डित थे, जो खोटे वचन कहनेमें चतुर थे और दुराचारी थे यह उन्हींके दुष्कर्मोंका फल है ॥१०५॥ हे देव, वह शतबुद्धि मन्त्रीका जीव अपने पापकर्मके उदयसे ऊपर कहे अनुसार द्वितीय नरकसम्बन्धी बड़े-बड़े दुःखोंको प्राप्त हुआ है ॥१०६॥ इसलिए जो जीव ऊपर कहे हुए नरकोंके तीव्र दुःख नहीं चाहते वन बुद्धिमान् पुरुषोंको इस जिनेन्द्रप्रणीत धर्मकी उपासना करनी चाहिए ॥१०७॥ यही जैन धर्म ही दुःखोंसे रक्षा करता है, यही धर्म सुख विस्तृत करता है, और यही धर्म कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले मोक्षसुखको देता है ॥१०८॥ इस जैन धर्मसे इन्द्र चक्रवर्ती और गणधरके पद प्राप्त होते हैं । तीर्थंकर पद भी इसी धर्मसे प्राप्त होता है और सर्वोत्कृष्ट सिद्ध पद भी इसीसे मिलता है ॥१०९॥ यह जैन धर्म ही जीवोंका बन्धु है, यही मित्र है और यही गुरु है, इसलिए हे देव, स्वर्ग और मोक्षके सुख देनेवाले इस जैनधर्ममें ही तू अपनी बुद्धि लगा ॥११०॥ उस समय प्रीतिकर जिनेन्द्रके ऊपर कहे वचन सुनकर पवित्र बुद्धिका धारक श्रीधरदेव अतिशय धर्मप्रेमको प्राप्त हुआ ॥१११॥ और गुरुके आज्ञानुसार दूसरे नरकमें जाकर शतबुद्धिकी संमझाने लगा कि हे भोले मूर्ख शतबुद्धि, क्या तू मुझ महाबलको जानता है ? ॥११२॥ उस भवमें अनेक मिथ्यानयोंके आश्रयसे तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल हो रहा था । देख, उसी मिथ्यात्वका यह दुःख देनेवाला फल तेरे सामने है ॥११३॥ इस प्रकार श्रीधरदेवके द्वारा संमझाये हुए शतबुद्धिके जीवने शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया और मिथ्यात्वरूपी मैलके नष्ट हो जानेसे उत्कृष्ट विशुद्धि प्राप्त की ॥११४॥ तत्पश्चात् वह शतबुद्धिका जीव आयुके अन्तमें

१. ततः कारणात् । २. विकृत दुर्बल । ३. उद्वहन्ति । ४. दुर्वचनाः । ५. उत्कटः । ६. द्वितीय-नरकमेव । ७. भद्रश्रेष्ठ । भद्रश्रेष्ठ अ०, प०, प० । ८. उत्कटम् । ९. दुःखावसानः ।

विषयं मङ्गलावस्थां नगरीं रत्नसञ्चये । गङ्गाधरस्य सन्नाजः सुन्दर्याश्च सुतोऽभवत् ॥११५॥
जयसेनश्रुतिर्बुद्ध्या विद्याहससये सुरात् । श्रीधराख्यात् प्रवधाजं गुरुं यमधरं धितः ॥११६॥
नारकीं वेदनां घोरां तेनासौ किञ्च बोधितः । निर्विघ्नं विषयामंगात् तपो दुश्चरमाचरत् ॥११७॥
ततो ब्रह्मेन्द्रतां सोऽगात् जीवितान्ते समाहितः^१ । क नारकः क देवोऽयं विचित्रा कर्मणा गतिः ॥११८॥
नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चैः स्थितिं भजेत् । तस्माद्बुद्धैः पदं चाच्छन् नरो धर्मपरो भवेत् ॥११९॥
ब्रह्मलोकावस्थां ब्रह्मेन्द्रः सोऽवधोक्षयः । श्रीधरं पूजयामास गतं कल्याणमित्रताम् ॥१२०॥
श्रीधरोऽथ दिवश्च्युत्वा जम्बूद्वीपमुपाश्रिते । प्राग्विदेहे महावत्सविषये स्वर्गसन्निभे ॥१२१॥
सुसीमानगरे^२ जजे सुदृष्टिमृषेः सुतः । मातुः सुन्दरनन्दायाः सुविधिर्नाम पुण्यधीः ॥१२२॥
बाल्यात् प्रभृति सर्वासां कलानां सोऽभवन्निधिः । शरीरं जगतस्तन्वत्तन्वहं नयनोत्सवम् ॥१२३॥
स बाल्य^३ एव सद्धर्ममनुज प्रतिबुद्धधीः । प्रायेणात्मवतो^४ चित्तमात्मश्रेयसि रज्यते ॥१२४॥
शैशवेऽपि स संप्रापज्जनतानन्ददायिनी । क्वलंपदमापूर्णयौवनस्तु विशेषतः ॥१२५॥
‘मकुटाङ्कृतप्रांशु^५ मूर्त्ति’ प्राकृतिमादधे । मेरुः कुलमहीधराणामिव मध्ये स भूभृतान् ॥१२६॥

भयंकर नरकसे निकलकर पूर्वादिदक्षिणदिशि स्थित नरकसंघ-
नगरमें महीधर चक्रवर्तीके सुन्दरी नामक रानीसे जयसेन नामका पुत्र हुआ । जिस समय
उसका विवाह हो रहा था उसी समय श्रीधरदेवने आकर उसे समझाया जिससे विरक्त
होकर उसने यमधर मुनिराजके समीप दीक्षा धारण कर ली । श्रीधरदेवने उसे नरकोंके
भयंकर दुःखकी याद दिलायी जिससे वह विषयोंसे विरक्त होकर कठिन तपश्चरण करने
लगा ॥११४-११७॥ तदनन्तर आयुके अन्त समयमें समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर ब्रह्मस्वर्गमें इन्द्र
पदको प्राप्त हुआ । देखो, कहाँ तो नारकी होना और कहाँ इन्द्र पद प्राप्त होता । वास्तवमें
कर्मोंकी गति बड़ी ही विचित्र है ॥११८॥ यह जीव हिंसा आदि अधर्मकार्योंसे नरकादि नीच
गतियोंमें उत्पन्न होता है और अहिंसा आदि धर्मकार्योंसे स्वर्ग आदि उच्च गतियोंको प्राप्त होता
है इसलिए उच्च पदकी इच्छा करनेवाले पुण्यको सदा धर्ममें तत्पर रहना चाहिए ॥११९॥
अनन्तर अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे युक्त उस ब्रह्मेन्द्रने (शतबुद्धि या जयसेनके जीवने) ब्रह्म
स्वर्गसे आकर अपने कल्याणकारी मित्र श्रीधरदेवकी पूजा की ॥१२०॥

अनन्तर वह श्रीधरदेव स्वर्गसे क्युत होकर जम्बूद्वीपसम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्रमें स्वर्गके
समान शोभायमान होनेवाले महावत्स देशके सुसीमानगरमें सुदृष्टि राजाकी सुन्दरनन्दा
नामकी रानीसे पवित्रबुद्धिका धारक सुविधि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२१-१२२॥ वह
सुविधि बाल्यावस्थासे ही चन्द्रमाके समान समस्त कलाओंका भाण्डार था और प्रतिदिन
लोगोंके नेत्रोंका आनन्द बढ़ाता रहता था ॥१२३॥ उस बुद्धिमान सुविधिने बाल्य अवस्थामें
ही समीचीन धर्मका स्वरूप समझ लिया था । सो ठीक ही है, आत्मज्ञानी पुरुषोंका चित्त
आत्मकल्याणमें ही अनुरक्त रहता है ॥१२४॥ वह बाल्य अवस्थामें ही लोगोंको आनन्द देनेवाली
रूपसम्पदाको प्राप्त था और पूर्ण युवा होनेपर विशेष रूपसे मनोहर सम्पदाको प्राप्त हो गया
था ॥१२५॥ उस सुविधिका ऊँचा मस्तक सदा मुकुटसे अलंकृत रहता था इसलिए अन्य
राजाओंके बीचमें वह सुविधि उस प्रकार उच्चता धारण करता था जिस प्रकार कि कुलाचलोंके

१. समाधानयुक्तः । २. सीतानद्युत्तरतटवर्तिनि । ३. यौवने । ४. बुद्धिमताम् । ५. मकुटा-अ०,
५० । ६. उन्नतः । ७. मूर्त्ति द०, म०, स०, ल० ।

कुण्डलोद्भासि तस्यामान् मुखमुद्भूषिलोचनम् । सचन्द्रार्क सतारं च सेन्द्रापमिवाश्रयम् ॥१२०॥
 मुखं सुरमिनिश्वासं कान्ताभरममाद् विमोः । महोत्पलमिवोन्नितदलं सुरभिगन्धि च ॥१२१॥
 नासिका प्रातुमस्येव^१ गन्धमायतिमादधे । अवाह^२मुखा^३ विरेकाभ्यामौपिवन्ती च तद्वसम् ॥१२२॥
 कम्बरस्तन्मुखाब्जस्य नाललीलां दधे परान् । मृणालवल्लभं मेघ हारं परिश्रजितः^४ ॥१२३॥
 महोरःस्थलमस्यामान्महारतांशुपेशलम्^५ । ज्वलद्दीपमिवाभोज^६ वासिण्या वासगृहकम् ॥१२४॥
 अंशवभ्युन्नती तस्य दिग्गजस्येव सद्गतेः । कुम्भादिव रराजते सुवंशस्य महोन्नतेः ॥१२५॥
 'व्याधामशाकिनावस्य रेजतुर्भुजो भुजौ । भूलोकापायरक्षार्थं क्लृप्तौ वाय्राचिवार्गौ ॥१२६॥
 नखताराभिहृद्भूतचन्द्रार्कस्फुटलक्षणम् । चारुहस्ततलं तस्य नमस्थलमिवावमौ ॥१२७॥
 मध्यमस्य जगन्मध्यविभ्रमं^७ विभ्रदधुतत् । धृतता^८ नवमूर्ध्वधोविस्तीर्णपरिमण्डलम्^९ ॥१२८॥

बीचमें चूलिकासहित मेरु पर्वत है ॥१२६॥ उसका मुख, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और इन्द्रधनुषसे सुशोभित आकाशके समान शोभायमान हो रहा था । क्योंकि वह दो कुण्डलोंसे शोभायमान था जो कि सूर्य और चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे तथा कुछ ऊँची उठी हुई भौहोंसहित चमकते हुए नेत्रोंसे युक्त हुआ था इसलिए इन्द्रधनुष और ताराओंसे युक्त हुआ-सा जान पड़ता था ॥१२७॥ अथवा उसका मुख एक फूले हुए कमलके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि फूले हुए कमलमें जिस प्रकार उसकी कलिकाएँ विकसित होती हैं उसी प्रकार उसके मुखमें मनोहर ओठ शोभायमान थे और फूला हुआ कमल जिस प्रकार मनोह्र गन्धसे युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी श्वासोच्छ्वासकी मनोह्र गन्धसे युक्त था ॥१२८॥ उसकी नाक स्वभावसे ही लम्बी थी, इसीलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने मुख-कमलकी सुगन्धि सूँघनेके लिए ही लम्बाई धारण की हो । और उसमें जो दो छिद्र थे उनसे ऐसी माछूम होती थी मानो नीचेकी ओर मुँह करके उन छिद्रों-द्वारा उसका रसपान ही कर रही हो ॥१२९॥ उसका गला मृणालवल्लभके समान श्वेत हारसे शोभायमान था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मुखरूपी कमलकी उत्तम नालकी ही धारण कर रहा हो ॥१३०॥ बड़े-बड़े रत्नोंकी किरणोंसे मनोहर उसका विशाल वज्रःस्थल ऐसा शोभायमान होता था मानो कमलवासिनी लक्ष्मीका जलते हुए दीपकोंसे शोभायमान निवासगृह ही हो ॥१३१॥ वह सुविधि स्वयं दिग्गजके समान शोभायमान था और उसके ऊँचे उठे हुए दोनों कन्धे दिग्गजके कुम्भस्थलके समान शोभायमान हो रहे थे । क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज सद्गति अर्थात् समीचीन चालका धारक होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सद्गति अर्थात् समीचीन आचरणोंका धारक अथवा सत्पुरुषोंका आश्रय था । दिग्गज जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठकी रीढ़से सहित होता है इसी प्रकार वह सुविधि भी सुवंश अर्थात् उच्च कुलवाला था और दिग्गज जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट था ॥१३२॥ उस राजाकी अत्यन्त लम्बी दोनों भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उपद्रवोंसे लोककी रक्षा करनेके लिए वज्रके बने हुए दो अर्गलदण्ड ही हों ॥१३३॥ उसकी दोनों सुन्दर हथेलियाँ नखरूपी ताराओंसे शोभायमान थीं और सूर्य तथा चन्द्रमाके चिह्नोंसे सहित थीं इसलिए तारे और सूर्य-चन्द्रमासे सहित आकाशके समान शोभायमान हो रही थीं ॥१३४॥ उसका मध्य भाग लोकके मध्य भागकी शोभाको धारण करता हुआ अत्यन्त शोभायमान था, क्योंकि लोकका मध्य भाग जिस प्रकार

१. -मस्येवं म०, ल० । २. अघोमुखी । ३. रन्ध्राभ्याम् । ४. कण्ठः । ५. परिरञ्जितः म० । ६. मनोज्ञम् । ७. लक्ष्म्या । ८. देह्यं । ९. शोभा । १०. कृशत्वम् । ११. परिधिः ।

जघनामोगमामुक्त^१ कटिसूत्रमसौ दधे । मेरुनिर्गन्धमाकम्बिसेन्वत्पापाशुनं यथा ॥१३६॥
 सोऽथात् कनकराजीवकिञ्चलपरिपिभरौ । ऊरु जगद्गृहोदग्रतोरणस्तम्भसन्निभौ ॥१३७॥
 जङ्घाद्वयं च सुश्लिष्टं^२ नृणां चित्तस्थ रञ्जकम् । सालङ्कारं व्यजेष्टास्य सुकवेः काव्यबन्धनम् ॥१३८॥
 तत्कमाब्जं मृदुस्पर्शं लक्ष्मीं संघाहनोचितम् । शोणिमानं दधे लग्नमिव तत्करपल्लवात् ॥१३९॥
 इत्याविष्कृतरूपेण हारिणा चारुलक्ष्मणा । मनांसि जगतां जडे स बालाद् बालकोऽपि सन् ॥१४०॥
 स तथा यौवनारम्भे मदनोक्तो^३ चकारिणो । वशी युवजरत्नासीद्वं रिषड्वर्गमिग्रहात् ॥१४१॥
 सोऽनुमने यथाकालं सत्कलत्रपरिग्रहम् । उपरोभाद् गुरोः प्रातराज्यलक्ष्मीपरिच्छिदः ॥१४२॥
 चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्त्रीयोऽयं यतो युवा । तत्तत्प्रकृतिसुतामेव परिणिन्ये मनोरमा ॥१४३॥
 तयानुकूलया सत्या^४ स रमे सुचिरं नृपः । सुशीलमनुकूलं च कलत्रं रमयेन्नरम् ॥१४४॥
 तयोरत्यन्तसंप्राप्त्या काले गच्छत्यनन्तरम् । स्वयंप्रभो दिवश्च्युत्वा केशवाक्यः सुतोऽजनि ॥१४५॥

कृश है उसी प्रकार उसका मध्य भाग भी कृश था और जिस प्रकार लोकके मध्य भागसे ऊपर और नीचेका हिस्सा विस्तीर्ण होता है उसी प्रकार उसके मध्य भागसे ऊपर नीचेका हिस्सा भी विस्तीर्ण था ॥१३५॥ जिस प्रकार मेरु पर्वत इन्द्रधनुषसहित मेघोंसे घिरे हुए नितम्ब भाग (मध्य भागको) धारण करता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सुवर्णमय करधनोंको धारण किये हुए नितम्ब भाग (जघन भाग) को धारण करता था ॥१३६॥ वह सुविधि, सुवर्ण कमलकी केशरके समान पीली जिन दो ऊरुओंको धारण कर रहा था वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत् रूपी घरके दो तोरण-स्तम्भ (तोरण बाँधनेके खम्भे) ही हों ॥१३७॥ उसकी दोनों जंघाएँ सुश्लिष्ट थीं अर्थात् संगठित होनेके कारण परस्परमें सटी हुई थीं, मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली थीं और उनके अलंकारों (आभूषणोंसे) सहित थीं इसलिए किसी उत्तम कविकी सुश्लिष्ट अर्थात् श्लेषगुणसे सहित मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली और उपमा, रूपक आदि अलंकारोंसे युक्त काव्य-रचनाको भी जीतती थीं ॥१३८॥ अत्यन्त कोमल स्पर्शके धारक और लक्ष्मीके द्वारा सेवा करने योग्य (दायनेके योग्य) उसके दोनों चरण-कमल जिस स्वाभाविक लालिमाको धारण कर रहे थे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सेवा करते समय लक्ष्मीके कर-पल्लवसे छूटकर ही लग गयी हो ॥१३९॥ इस प्रकार वह सुविधि बालक होनेपर भी अनेक सामुद्रिक चिह्नोंसे युक्त प्रकट हुए अपने मनोहर रूपके द्वारा संसारके समस्त जीवोंके मनको जबरदस्ती हरण करता था ॥१४०॥ उस जितेन्द्रिय राजकुमारने कामका उद्रेक करनेवाले यौवनके प्रारम्भ समयमें ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इत छह अन्तरङ्ग शत्रुओं-का निग्रह कर दिया था इसलिए वह तरुण होकर भी वृद्धोंके समान जान पड़ता था ॥१४१॥ उसने यथायोग्य समयपर गुरुजनोंके आग्रहसे उत्तम स्त्रीके साथ पाणिग्रहण करानेकी अनुमति दी थी और छत्र, चमर आदि राज्य-लक्ष्मीके चिह्न भी धारण किये थे, राज्य-पद स्वीकृत किया था ॥१४२॥ तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था इसलिए उसने उन्हीं चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ विवाह किया था ॥१४३॥ सदा अनुकूल सती मनोरमाके साथ वह राजा चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा सो ठीक है । सुशील और अनुकूल स्त्री ही पतिको प्रसन्न कर सकती है ॥१४४॥ इस प्रकार प्रीतिपूर्वक क्रीड़ा करते हुए उन दोनोंका समय बीत रहा था कि स्वयंप्रभ नामका देव (श्रीमती-

१. पितृकटिसूत्रम् । २. सुसम्बद्धम् । ३. सम्मर्दन । ४. शोणित्वम् । ५. यथा प० । ६. उद्रेक ।
 ७. 'अगुणिततः प्रणीताः कामक्रोधलोभमदमदहर्षाः' इत्यरिषड्वर्गः । ८. स्वसुः पुत्रः भागिनेय इत्यर्थः ।
 ९. यतः कारणात् । १०. पतिव्रतमा ।

वज्रजङ्घमे यासी श्रीमती तस्य बलमा ।^१ सैवास्य पुत्रतां याता संसृतिस्थितिरीदृशी ॥१४६॥
 तस्मिन् पुत्रे नृपस्यास्य प्रीतिरासीद् गरीषिणा^२ दुःप्रमात्रं^३ च संश्रयैकमुत्तमं^४ ॥१४७॥
 शार्ङ्गलार्घ्यचरायाश्च देवोऽथैव नृपात्मजाः । जाताः समानपुण्यत्वादन्योऽभ्यसदकार्यः ॥१४८॥
 विभीषणनृपान् पुत्रः प्रियवत्तोदरेऽजनि । देवश्चित्राङ्गद^५ इत्युत्वा वरदत्ताङ्गयो दिवः ॥१४९॥
 नन्दिपेणनृपानन्तमत्योः सूनुरजायत । मणिकुण्डलनामासौ^६ वरसेनसमाह्वयः ॥१५०॥
 रतिपेणमहीमर्तुश्चन्द्रमत्स्यां सुतोऽजनि । मनोहरो^७ दिवश्च्युत्वा चित्राङ्गदसमाख्यया ॥१५१॥
 प्रमञ्जननृपाश्चित्रमालिन्यो स मनोरथः । प्रशान्तमदनः सूनुरजनिष्ट दिवश्च्युतः ॥१५२॥
 ते सर्वे सदृशाकाररूपलावण्यसंपदः । स्वोचितां श्रियमासाद्य चिरं भोगानभुञ्जत ॥१५३॥
 ततोऽमी चक्रिणान्धेयरमिवन्ध समं जितम् । भक्त्या विमलवाहाख्यं महाप्राघाज्यमाश्रिताः ॥१५४॥
 नृपैरष्टादशभ्यस्त^८ सहस्रप्रमितैरमा^९ । सहस्रैः पद्मभिः पुत्रैः प्राप्ताजीश्वकवत्स्यसौ ॥१५५॥
 परं संवेगनिर्वेदपरिणाममुपागतः । ते तेषिरे तपस्वीषं^{१०} मार्गः स्वर्गापवर्गयोः ॥१५६॥
 संवेगः परमा प्रीतिर्धर्मं धर्मफलेषु च । निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥१५७॥

का जीव) स्वर्गसे च्युत होकर उन दोनोंके केशव नामका पुत्र हुआ ॥ १४५ ॥ वज्रजंघ पर्यायमें जो इसकी श्रीमती नामकी प्यारी स्त्री थी वही इस भवमें इसका पुत्र हुई है । क्या कहा जावे ? संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥ १४६ ॥ उस पुत्रपर सुविधि राजाका भारी प्रेम था सो ठीक ही है । जब कि पुत्र मात्र ही प्रीतिके लिए होता है तब यदि पूर्वभवका प्रेमपात्र स्त्रीका जीव ही आकर पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो फिर कहना ही क्या है ? उसपर तो सबसे अधिक प्रेम होता ही है ॥ १४७ ॥ सिंह, नकुल, बानर और शूकरके जीव जो कि भोगभूमिके बाद द्वितीय स्वर्गमें देव हुए थे वे भी वहाँसे चय कर इसी वत्सकावती देशमें सुविधिके समान पुण्याधिकारी होनेसे उसीके समान विभूतिके धारक राजपुत्र हुए ॥ १४८ ॥ सिंहका जीव-चित्राङ्गद देव स्वर्गसे च्युत होकर विभीषण राजासे उसकी प्रियवत्ता नामकी पत्नीके उदरमें वरदत्त नामका पुत्र हुआ ॥ १४९ ॥ शूकरका जीव—मणिकुण्डल नामका देव नन्दिपेण राजा और अनन्तमती रानीके वरसेन नामका पुत्र हुआ ॥ १५० ॥ बानरका जीव—मनोहर नामका देव स्वर्गसे च्युत होकर रतिपेण राजाकी चन्द्रमती रानीके चित्राङ्गद नामका पुत्र हुआ ॥ १५१ ॥ और नकुलका जीव—मनोरथ नामका देव स्वर्गसे च्युत होकर प्रमञ्जन राजाकी चित्रमालिनी रानीके प्रशान्तमदन नामका पुत्र हुआ ॥ १५२ ॥ समान आकार, समान रूप, समान सौन्दर्य और समान सम्पत्तिके धारण करनेवाले वे सभी राजपुत्र अपने-अपने योग्य राज्यलक्ष्मी पाकर चिरकाल तक भोगोंका अनुभव करते रहे ॥ १५३ ॥

तदनन्तर किसी दिन वे चारों ही राजा, चक्रवर्ती अभयघोषके साथ विमलवाह जिनेन्द्र देवकी वन्दना करनेके लिए गये । वहाँ सबने भक्तिपूर्वक वन्दना की और फिर सभीने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥ १५४ ॥ वह चक्रवर्ती अठारह हजार राजाओं और पाँच हजार पुत्रोंके साथ दीक्षित हुआ था ॥ १५५ ॥ वे सब मुनीश्वर उत्कृष्ट संवेग और निर्वेदरूप परिणामोंको प्राप्त होकर स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत कठिन तप तपने लगे ॥ १५६ ॥ धर्म और धर्मके फलोंमें उत्कृष्ट प्रीति करना संवेग कहलाता है और शरीर, भोग तथा संसारसे विरक्त

१. सैवास्य प०, द०, स०, अ० । २. किमु तेष्वङ्गना- ल० । ३. व्याघ्रवरः । ४. वराहवरः ।
 ५. रतिपेण- अ०, प०, स० । ६. मर्कटचरः । ७. अभ्यस्तं गुणितम् । ८-रमी प०, ल० ।
 ९. मार्ग द०, स०, म०, ल० ।

नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमत्यजन् । उत्कृष्टोपासकस्थानं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥१५८॥
 सदर्शनं ब्रह्मोद्योतं समतां प्रोषधव्रतम् । सचित्तसेवाविरतिं महःश्रीसंगवर्जनम् ॥१५९॥
 ब्रह्मचर्यमधारम्परिमहपरिव्युतिम् । तत्रानुमननमार्गं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥१६०॥
 स्थानानि गृहिणां प्राहुरेकादशगणाधिपाः^१ । स तेषु पश्चिमं स्थानमाससाद् क्रमान्नुपः ॥१६१॥
 पञ्चैवाणुव्रतान्येषां त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्याहुर्गृहाश्रमे ॥१६२॥
 स्थूलात् प्राण्यतिपाताच्च सृषावादाच्च चौर्यतः । परस्त्रीसेवनात्तृण्यप्रकर्षाच्च निवृत्तयः ॥१६३॥
 व्रतान्येतानि पञ्च स्युर्मावनासंस्कृतानि वै । सम्यक्स्वशुद्धियुक्तानि महोदकाण्यगारिणाम् ॥१६४॥
 दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम् । भोगोपभोगसंख्यामप्याहुस्तद्गुणव्रतम् ॥१६५॥
 समतां प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रहम् । मरणान्ते च संन्यासं प्राहुः शिक्षाव्रतान्यपि ॥१६६॥
 राजप्राप्तकमेतत्किञ्चन स्मृतं ब्रह्मविधिनाम् । स्वतःसौख्येन उपानं पिधानमपि दुर्गतेः ॥१६७॥
 ततो दर्शनसंपत्तां व्रतशुद्धिमुपेयिवान् । उपासिष्ट^२ स मोक्षस्य मार्गं राजर्षिरुज्जितम् ॥१६८॥
 अथावसाने वैश्वन्थीं प्रवश्यामुपसेदिवान् । सुविधिविधिगाराध्य^३ सुक्तिमार्गमनुत्तरम् ॥१६९॥
 समाधिता तनुस्यागादव्युत्प्रेक्ष्य भवद् विभुः । द्वाविंशत्यब्धिसंख्यात् परमायुर्महर्षिकः ॥१७०॥

होनेको निर्वेद कहते हैं ॥१५७॥ राजा सुविधि केशव पुत्रके स्नेहसे गृहस्थ अवस्थाका परित्याग नहीं कर सका था, इसलिए आचरके उत्कृष्ट पदमें स्थित रहकर कठिन तप तपता था ॥१५८॥ जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोंके नीचे लिखे अनुसार ग्यारह स्थान या प्रतिमाएँ कही हैं (१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिकप्रतिमा (४) प्रोषधप्रतिमा (५) सचित्तत्यागप्रतिमा (६) दिवामैथुनत्यागप्रतिमा (७) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) परिग्रह-त्यागप्रतिमा (१०) अनुमतित्यागप्रतिमा और (११) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा । इनमेंसे सुविधि राजाने क्रम-क्रमसे ग्यारहवाँ स्थान-उद्दिष्टत्यागप्रतिमा धारण की थी ॥१५९-१६१॥ जिनेन्द्र-देवने गृहस्थाश्रमके उक्त ग्यारह स्थानोंमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंका निरूपण किया है ॥१६२॥ स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे निवृत्त होनेको क्रमसे अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणानुव्रत कहते हैं ॥१६३॥ यदि इन पाँच अणुव्रतोंको हरएक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंसे सुसंस्कृत और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे युक्त कर धारण किया जाये तो उनसे गृहस्थोंको बड़े-बड़े फलोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥१६४॥ दिग्विरति, देशविरति और अनर्थ-दण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं । कोई-कोई आचार्य भोगोपभोगसे परिमाणव्रतको भी गुणव्रत कहते हैं [और देशव्रतको शिक्षाव्रतमें शामिल करते हैं] ॥१६५॥ सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और मरण समयमें संन्यास धारण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं । [अनेक आचार्योंने देशव्रतको शिक्षाव्रतमें शामिल किया है और संन्यासका बारह व्रतोंसे भिन्न वर्णन किया है] ॥१६६॥ गृहस्थोंके ये उपर्युक्त बारह व्रत स्वर्गरूपी राजमहलपर चढ़नेके लिए सीढ़ीके समान हैं और नरकादि दुर्गतिचोंका आचरण करनेवाले हैं ॥१६७॥ इस प्रकार सम्यग्-दर्शनसे पवित्र व्रतोंकी शुद्धताकी प्राप्ति हुए राजर्षि सुविधि चिरकाल तक श्रेष्ठ मोक्षमार्गकी उपासना करते रहे ॥१६८॥ अनन्तर जीवनके अन्त समयमें परिग्रहरहित दिगम्बर दीक्षाको प्राप्त हुए सुविधि महाराजने विधिपूर्वक उत्कृष्ट मोक्षमार्गकी आराधना कर समाधि-भरणपूर्वक शरीर छोड़ा जिससे अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुए ॥१६९॥ वहाँ उनकी आयु बीस सागर प्रमाण थी

१. सामायिकम् । २.-महर्षि स्त्री- अ०, द०, स०, म० । -महि स्त्रीसंगवर्जितम् प०, । ३. जिना-
 धिपः म०, ल० । ४. महोत्तरफलानि । ५. भोगोपभोगपरिमाणम् । ६. सामायिकम् । ७. आराधयति स्म ।
 ८.-विधिगाराध्य प० । ९.-संख्यान-अ०, स० ।

केशवश्च परित्यक्तकस्तनवाञ्छेतरोपधिः । नैःसंगीम्नाश्रितो दीक्षामतीन्द्रोऽमवदच्युते ॥१७१॥
 पूर्वोक्ता नृपपुत्राश्च वरदत्तादयः क्रमात् । समजायन्त पुण्यैः स्वैस्तत्र सामानिकाः सुराः ॥१७२॥
 तत्राष्टगुणमैश्वर्यं दिव्यं भोगं च निर्विशन् । स रेजे सुचिरं कालमच्युतेन्द्रोऽच्युतस्थितिः ॥१७३॥
 दिव्यानुभावमस्यासीद् वपुरग्याजसुन्दरम् । विषशस्त्रादिबाधाभिरस्पृष्टमतिनिर्मलम् ॥१७४॥
 सन्तानकुसुमोत्तमसौ धत्ते स्म मौलिना । तपः फलमतिस्फीतं मूर्ध्नेवोद्धृत्य दर्शयन् ॥१७५॥
 सहजैर्मूषणैरस्य रुक्ते रुचिरं वपुः । दयावल्लीफलैरुद्धैः प्रत्यङ्गमिव संगतैः ॥१७६॥
 समं सुप्रविमलाङ्गः स रेजे दिव्यलक्षणैः । सुरद्रुम इवाकीर्णः पुष्पैश्चचावचात्मभिः ॥१७७॥
 शिरः सकुन्तलं तस्य रेजे सोष्णीषपट्टकम् । सतमालमित्राद्रीन्द्रकूटं व्योमापगाश्रितम् ॥१७८॥
 मुखमस्य लसन्नेत्रभृङ्गसंगतमावसौ । स्मितान्शुभिर्जलाक्रान्तं प्रमुदमिव पङ्कजम् ॥१७९॥
 वक्षःस्थले पृथ्वी रम्ये द्वारं सोऽधत्त निर्मलम् । शरदम्बोदमंचातमिव मेरोस्तटाश्रितम् ॥१८०॥
 लसदंशुकसंवीनं जघनं तस्य निर्धमी । तरङ्गाक्रान्तमम्बोधेरिव सैकतमण्डलम् ॥१८१॥
 सुवर्णकदलीस्तम्भविभ्रमं रुचिमानशे । तस्योरुद्वितीयं चारु सुरनारीमनोहरम् ॥१८२॥

और उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं ॥ १७० ॥ श्रीमतीके जीव केशवने भी समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और आयुके अन्तमें अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया ॥ १७१ ॥ जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसे वरदत्त आदि राजपुत्र भी अपने-अपने पुण्यके उदयसे उसी अच्युत स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए ॥ १७२ ॥ पूर्ण आयुको धारण करनेवाला वह अच्युत स्वर्गका इन्द्र अणिमा, महिमा आदि आठ गुण, ऐश्वर्य और दिव्य भोगोंका अनुभव करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥ १७३ ॥ उसका शरीर दिव्य प्रभावसे सहित था, स्वभावसे ही सुन्दर था, विष-शस्त्र आदिकी बाधासे रहित था और अत्यन्त निर्मल था ॥ १७४ ॥ वह अपने मस्तकपर कल्प-वृक्षके पुष्पोंका सेहरा धारण करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पूर्वभवमें किये हुए तपश्चरणके विशाल फलको मस्तकपर उठाकर सबको दिखा ही रहा हो ॥ १७५ ॥ उसका सुन्दर शरीर साथ-साथ उत्पन्न हुए आभूषणोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उसके प्रत्येक अंग-पर दयारूपी लताके प्रशंसनीय फल ही लग रहे हैं ॥ १७६ ॥ समचतुरस्र संस्थानका धारक वह इन्द्र अपने अनेक दिव्य लक्षणोंसे ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशोंमें स्थित फूलोंसे व्याप्त हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है ॥ १७७ ॥ काले-काले केश और श्वेतवर्णकी पगड़ीसे सहित उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो तापिच्छ पुष्पसे सहित और आकाशगंगाके पूरसे युक्त हिमालयका शिखर ही हो ॥ १७८ ॥ उस इन्द्रका मुख-कमल फूले हुए कमलके समान शोभायमान था, क्योंकि जिस प्रकार कमलपर भौंरे होते हैं उसी प्रकार उसके मुखपर शोभायमान नेत्र थे और कमल जिस प्रकार जलसे आक्रान्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी मुसकानकी सफेद-सफेद किरणोंसे आक्रान्त था ॥ १७९ ॥ वह अपने मनोहर और विशाल वक्षःस्थलपर जिस निर्मल द्वारको धारण कर रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो मेरु पर्वतके तटपर अवलम्बित शरद् ऋतुके बादलोंका समूह ही हो ॥ १८० ॥ शोभायमान वक्षसे ढँका हुआ उसका नितम्बमण्डल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो लहरोंसे ढँका हुआ समुद्रका बालूदार टीला ही हो ॥ १८१ ॥ देवाङ्गनाओंके मनको हरण करनेवाले उसके दोनों सुन्दर ऊरु सुवर्ण कदलीके स्तम्भोंका सन्देह करते हुए अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥ १८२ ॥

तस्य पादद्वये लक्ष्मीः^१ काप्यभूदब्जशोभिनि । मखांशुस्वच्छसलिले सरसीव प्रपङ्क्तिः^२ ॥१८३॥
 इत्युदारतरं विभ्रद् दिव्यं वैक्लिषिकं वपुः । स तत्र बुभुजे भोगानच्युतेन्द्रः स्वकल्पजान् ॥१८४॥
 हतो रज्जुः पङ्क्त्यस्य कल्योऽस्त्यच्युतसंज्ञकः । सोऽस्य भुक्तिरभूत् पुण्यात् पुण्यैः किं तु न कम्प्यते ॥१८५॥
 तस्य भुक्तौ^३ विमानानां परिसंख्या मता जिनेः । शतमंकमश्रैकान्तं षष्टिश्च परमागमे ॥१८६॥
 त्रयोविंशं शतं तेषु विमानेषु प्रकीर्णकाः । श्रेणीकद्वास्ततोऽप्ये ह्युरतिरुन्द्राः सहेन्द्रकाः ॥१८७॥
 त्रयस्त्रिंशदध्यास्य स्युस्त्रायस्त्रिंशः सुरोत्तमाः । ते च पुत्रोचितास्तेन स्नेहनिर्भरया धिया ॥१८८॥
 अच्युतप्रमिताश्चास्य सामानिकसुरा मताः । ते ह्यस्य सख्याः सर्वैः भोगैराज्ञा तु मिश्रते ॥१८९॥
 आत्मरक्षाश्च तस्योक्ताश्चत्वार्यवायुतानि वै । तेष्वङ्गरक्षकैस्तुल्या विमात्रायैव वर्णिताः ॥१९०॥
 अन्तःपरिषद्स्याद्या सपादं^४ शतमिष्यते । मध्यमार्द्धं^५ तृतीयं स्याद् बाह्या तद्विगुणा मता ॥१९१॥
 चत्वारो लोकपालाश्च तल्लोकास्तप्रपालकाः । प्रत्येकं च तथैतेषां देव्यो द्वात्रिंशदेव हि ॥१९२॥
 अष्टावस्य महादेव्यो रूपसौन्दर्यसंपदा । तन्मनोकोहमाकण्डं बहुसायस्कान्तपुत्रिकाः ॥१९३॥
 अन्या बहलभिकास्तस्य विषष्टिः पारकातताः । द्वात्रिंशद्भिमहिष्यैर्नृपैश्च त्रिंशत्सैवृता ॥१९४॥

उस इन्द्रके दोनों चरण किसी तालाबके समान मालूम पड़ते थे क्योंकि तालाब जिस प्रकार जलसे सुशोभित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी मखोंकी किरणोंरूपी निर्मल जलसे सुशोभित थे, तालाब जिस प्रकार कमलोंसे शोभायमान होता है उसी प्रकार उसके चरण भी कमलके चिह्नोंसे सहित थे और तालाब जिस प्रकार मच्छ बगैरहसे सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी मत्स्यरेखा आदिसे युक्त थे । इस प्रकार उसके चरणोंमें कोई अपूर्व ही शोभा थी ॥१८३॥ इस तरह अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर वैक्लिषिक शरीरको धारण करता हुआ वह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्गमें उत्पन्न हुए भोगोंका अनुभव करता था ॥१८४॥ वह अच्युत स्वर्ग इस मध्यलोकसे छह राजु ऊपर चलकर है तथापि पुण्यके उदयसे वह सुविधि राजाके भोगोपभोगका स्थान हुआ सो ठीक ही है । पुण्यके उदयसे क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥१८५॥ उस इन्द्रके उपभोगमें आनेवाले विमानोंकी संख्या सर्वज्ञ प्रणीत आगममें जिनेन्द्रदेवने एक-सी उनसठ कही है ॥१८६॥ उन एक सौ उनसठ विमानोंमें एक सौ तेईस विमान प्रकीर्णक हैं, एक इन्द्रक विमान है और बाक्योंके पैंतीस बड़े-बड़े श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥१८७॥ उन इन्द्रके तैंतीस त्रायस्त्रिंश जातिके उत्तम देव थे । वह उन्हें अपनी स्नेह-भरी बुद्धिसे पुत्रके समान समझता था ॥१८८॥ उसके दश हजार सामानिक देव थे । वे सब देव भोगोपभोगकी सामग्रीसे इन्द्रके ही समान थे परन्तु इन्द्रके समान उनकी आज्ञा नहीं चलती ॥१८९॥ उसके अंगरक्षकोंके समान चालीस हजार आत्मरक्षक देव थे । यद्यपि स्वर्गमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता तथापि इन्द्रकी विभूति दिखलानेके लिए ही वे होते हैं ॥१९०॥ अन्तःपरिषद्, मध्यमपरिषद् और बाह्यपरिषद्के भेदसे उस इन्द्रकी तीन सभाएँ थीं । उनमें-से पहली परिषद्में एक सौ पचीस देव थे, दूसरी परिषद्में दो सौ पचास देव थे और तीसरी परिषद्में पाँच सौ देव थे ॥१९१॥ उस अच्युत स्वर्गके अन्तभागकी रक्षा करनेवाले चारों दिशाओंसम्बन्धी चार लोकपाल थे और प्रत्येक लोकपालकी बत्तीस-बत्तीस देवियाँ थीं ॥१९२॥ उस अच्युतेन्द्रकी आठ महादेवियाँ थीं जो कि अपने वर्ण और सौन्दर्यरूपी सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रके मनरूपी लोहेको खींचनेके लिए बनी हुई पुतलियोंके समान शोभायमान होती थीं ॥१९३॥ इन आठ महादेवियोंके सिवाय उसके तिरसठ बल्लभिका देवियाँ और थी

१. अब्जं लक्षणरूपकमलम् । २. मत्स्ययुक्ते । मत्स्यादिशुभलक्षणयुक्ते च । ३. भुक्तिः भुक्ति-
 क्षेत्रम् । ४. —मथैकोन— अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ५. त्रयोविंशत्पुत्रशतम् । ६. दशसहस्र ।
 ७. चत्वारिंशत्सहस्राणि । ८. —स्यान्या अ०, प०, स०, द० । ९. पञ्चविंशत्पुत्रशतम् । १०. पञ्चास-
 वधिकद्विशतैः ।

हे सहस्रे तथैकाग्रा सप्ततिश्च समुच्चिताः । सर्वा देव्योऽस्य याः स्मृत्वा याति चेतोऽस्य निर्दुनिम् ॥१९५॥
 वासां मृदुकरस्पृशैस्तद्वक्त्राञ्जनिरीक्षणैः । स लेभेऽभ्यधिकां तृप्तिं संभोगैरपि मानसैः ॥१९६॥
 'षट्चतुष्कं सहस्राणि नियुक्तानि दशैव च । विक्रोत्येकशो देवी दिव्यरूपाणि योषिताम् ॥१९७॥
 'चमूनां सप्तकक्षाः' स्युराद्याप्रायुतयोर्द्वयम् । त्रिभिः शेषनिकायेषु महाब्धेरिव वीचयः ॥१९८॥
 इत्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकी । सप्तानीकान्युशन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम् ॥१९९॥
 एकैकस्याश्च देव्याः स्यात्पुनरप्यष्टयम् । पञ्चवर्गश्च पञ्चाशच्छतं चैव यथाक्रमम् ॥२००॥
 इत्युक्तपरिवारेण सार्द्धमच्युतकल्पजाम् । लक्ष्मीं निर्विशतस्तस्य' 'स्यावर्णालं परां श्रियम् ॥२०१॥
 मानसोऽस्य प्रबोधारो 'विष्वाणोऽप्यस्य मानसः । द्वाविंशतिसहस्रैश्च 'समानां सकृदाहरेण ॥२०२॥
 तथैकादशमिमांसैः सकृदुच्छ्वसितं भजेत् । स्मरन्निप्रमितोत्सेधदिव्यदेहधरः स च ॥२०३॥
 धर्मणोऽच्युतेन्द्रोऽसौ प्रापत् सत्परम्परान् । तस्मात्तद्विभिर्धर्मैर्भक्तिः कार्या जिनोदिते ॥२०४॥

मालिनीच्छन्दः

अथ सुललितवेषा' दिव्यवेषाः सभूषाः सुरभिकुसुममालाः' अस्तचूलाः सलीलाः ।
 मधुरविरहतगानारब्ध' तानाः' 'समानाः प्रमदमरमनूनं निभ्युरेनं सुरेनम्' ॥२०५॥

तथा एक-एक महादेवी अढ़ाईसौ-अढ़ाईसौ अन्य देवियोंसे घिरी रहती थी ॥१९४॥ इस प्रकार
 सब मिलाकर उसकी दो हजार इकहत्तर देवियाँ थीं । इन देवियोंका स्मरण करने मात्रसे ही
 उसका चित्त सन्तुष्ट हो जाता था—उसकी कामव्यथा नष्ट हो जाती थी ॥१९५॥ वह इन्द्र उन
 देवियोंके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, मुखकमलके देखनेसे और मानसिक संभोगसे अत्यन्त तृप्तिको
 प्राप्त होता था ॥१९६॥ इस इन्द्रकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा सुन्दर स्त्रियोंके
 इस लाख चौबीस हजार सुन्दर रूप बना सकती थी ॥१९७॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियावे, बैल,
 गन्धर्व और नृत्यकारिणीके भेदसे उसकी सेनाकी सात कक्षाएँ थीं । उनमेंसे पहली कक्षामें
 बीस हजार हाथी थे, फिर आगेकी कक्षाओंमें दूनी-दूनी संख्या थी । उसकी यह विशाल
 सेना किसी बड़े समुद्रकी लहरोंके समान जान पड़ती थी । यह सातों ही प्रकारकी सेना अपने-
 अपने महत्तर (सर्वश्रेष्ठ) के अधीन रहती थी ॥१९८-१९९॥ उस इन्द्रकी एक-एक देवीकी तीन-
 तीन सभाएँ थीं । उनमेंसे पहली सभामें २५ अप्सराएँ थीं, दूसरी सभामें ५० अप्सराएँ थीं,
 और तीसरी सभामें सौ अप्सराएँ थीं ॥२००॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए परिवारके साथ अच्युत
 स्वर्गमें उत्पन्न हुई लक्ष्मीका उपभोग करनेवाले उस अच्युतेन्द्रकी उत्कृष्ट विभूतिका वर्णन करना
 कठिन है—जितना वर्णन किया जा चुका है उतना ही पर्याप्त है ॥२०१॥ उस अच्युतेन्द्रका मैथुन
 मानसिक था और आहार भी मानसिक था तथा वह बाईस हजार वर्षोंमें एक बार आहार
 करता था ॥२०२॥ ग्यारह महीनेमें एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था और तीन हाथ ऊँचे सुन्दर
 शरीरको धारण करनेवाला था ॥२०३॥ वह अच्युतेन्द्र धर्मके द्वारा ही उत्तम-उत्तम विभूतिको
 प्राप्त हुआ था इसलिए उत्तम-उत्तम विभूतियोंके अभिलाषी जनोको जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे
 धर्ममें ही बुद्धि लगानी चाहिए ॥२०४॥ उस अच्युत स्वर्गमें, जिनके वेष बहुत ही सुन्दर हैं जो
 उत्तम-उत्तम आभूषण पहने हुए हैं, जो सुगन्धित पुष्पोंकी मालाओंसे सहित हैं, जिनके लम्बी
 चोटी नीचेकी ओर लटक रही है, जो अनेक प्रकारकी लोलाओंसे सहित हैं, जो मधुर शब्दोंसे

१. सुखम् । २. चतुर्विंशतिसहस्रोत्तरदशलक्षरूपाणि । ३. अनीकानाम् । ४. कक्षाभेदः । ५. महावि-
 र्वि म०, ल० । ६. अनुभवतः । ७. वर्णनयाऽलम् । ८. आहारः । ९. संवत्सराणाम् । १०. आकारवेषा ।
 ११. श्लघधम्मिलाः । १२. उपक्रमितस्वरविश्रमहृषानभेदाः । १३. अहङ्कारपुङ्गवाः । १४. सुरेशम् ।

$$*८ \times २५० = २००० । २००० + ६३ + ८ = २०७१ ।$$

कलितपदविहारैर्भूविकारैरुद्रास्नयनयुगविलासैरङ्गलासैः^१ सुहासैः ।

प्रकटितमृदुभावैः सानुभावैश्च^२ भावैः^३ जगद्गुरुमनोऽस्याब्जोपमान्या वयस्याः^४ ॥२०६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तासामिन्दुकलामले स्ववदनं पश्यन् कपोलावदके

तद्वक्त्राभ्युज्जभृङ्गतां च घटयन्नाघातवक्त्रानिलाः ।

तन्नेत्रैश्च मनोजबाससदृशैर्भूषापमुक्तैर्भूषां

विह्वं स्वं हृदयं तदीयकरसंस्पर्शः समाश्वासयन् ॥२०७॥

स्नग्धरा

रमे रामाननेभ्युद्युतिरुचिरतरे स्वे विमाने विमाने^५

मुआनो दिव्यभोगानमरपरिवृतो यान्^६ सुरैर्भैः^७ सुरैर्भैः^८ ।

जैनी पूजां^९ च तन्वन् मुदुरतनुदया भासमानोऽसमानो

लक्ष्मीवानच्युतेन्द्रः सुचिरसुरतर^{१०} स्वान्तकान्तः सकान्तः ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

श्रीमदच्युतेन्द्रैश्वर्यवर्णनं नाम दशमं पर्व ॥१०॥

पारसकीति :- ॥२०६॥ श्री अच्युतेन्द्रदेवः श्री महापुराणम्

गाती हुई राग-रागिनियोंका प्रारम्भ कर रही हैं, और जो हरप्रकारसे समान हैं—सदृश हैं अथवा गर्वसे युक्त हैं ऐसी देवाङ्गनाएँ उस अच्युतेन्द्रको बड़ा आनन्द प्राप्त करा रही थीं ॥२०६॥ जिनके मुख कमलके समान सुन्दर हैं ऐसी देवाङ्गनाएँ, अपने मनोहर चरणोंके गमन, भौंहोंके विकार, सुन्दर दोनों नेत्रोंके कटाक्ष, अंगोपांगोंकी लचक, सुन्दर हास्य, स्पष्ट और कोमल हाव तथा रोमाञ्च आदि अनुभावोंसे सहित रति आदि अनेक भावोंके द्वारा उस अच्युतेन्द्रका मन ग्रहण करती रहती थीं ॥२०६॥ जो अपनी विशाल कान्तिसे शोभायमान है, जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता, और जो अपने स्थूल कन्धोंसे शोभायमान है ऐसा वह समृद्धिशाली अच्युतेन्द्र, स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमासे अत्यन्त देदीप्यमान अपने विस्तृत विमानमें कभी देवाङ्गनाओंके चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल कपोलरूपी दर्पणमें अपना मुख देखता हुआ, कभी उनके मुखकी आसको सूँघकर उनके मुखरूपी कमलपर भ्रमर-जैसी शोभाको प्राप्त होता हुआ, कभी भौंहरूपी धनुषसे छोड़े हुए उनके नेत्रोंके कटाक्षोंसे बायल हुए अपने हृदयको उन्हींके कोमल हाथोंके स्पर्शसे धैर्य बँधाता हुआ, कभी दिव्य भोगोंका अनुभव करता हुआ, कभी अनेक देवोंसे परिवृत होकर हाथीके आकार विक्रिया किये हुए देवोंपर चढ़कर गमन करता हुआ और कभी बार-बार जिनेन्द्रदेवकी पूजाका विस्तार करता हुआ अपनी देवाङ्गनाओंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥२०७-२०८॥

इस प्रकार आर्चनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें श्रीमान् अच्युतेन्द्रके ऐश्वर्यका वर्णन करनेवाला दशमो पर्व समाप्त हुआ ॥१०॥

१. बलनैः । २. मृदुत्वैः । ३. ससामर्थ्यैः । ४. विकारैः । ५. वयस्विन्याः । ६. विगुप्तप्रमाणे । ७. पञ्चनू । ८. देवगजैः । ९. शोभनशब्दैः । १०. पूजां वितम्बन् ५० । ११. निजभूजाशिलरम । १२. स्वान्तकान्तः स० ।

एकादशं पर्व

स्फुरन्ति यस्य वाक्पूजा^१ प्राप्त्युपायगुणांशवः । स वः पुनातु मयादयवनकोधी जिनांशुमान् ॥१॥
 अथ तस्मिन् दिवं मुक्त्वा मुदोऽपरि^२ तस्तनौ । स्तनीमा^३ प्राप्तिरस्यैवपूर्वा^४ सन्तारमालिका ॥२॥
 स्वर्गप्रच्युतिलिङ्गानि यथान्येषां सुधाशिनाम् । स्पष्टानि न तथेन्द्राणां किं तु लेप्तेन केनचित् ॥३॥
 ततोऽधोधि सुरेन्द्रोऽग्री स्वर्गप्रच्युतिमात्मनः । तथापि न^५ स्वसीदम् स तद्धि धैर्यं महात्मनाम् ॥४॥
 यथासाशेषमात्रायुः सपर्यामर्हतामसौ । प्रारम्भे पुण्यधीः कर्तुं प्रायः क्षेयोऽधिनीं बुधाः ॥५॥
 स मनः^६ प्राणिधायान्ते पदेषु परमेष्ठिनाम् । निष्ठितायु^७ रभूत् पुण्यैः परिक्षिप्तैरधिष्ठितः ॥६॥
 तथापि सुखसाद्भूता महाधैर्या महद्व^८ । प्रच्यवन्ते दिवो देवा^९ धिगेनां संसृतिस्थितिम् ॥७॥
 ततोऽच्युतेन्द्रः प्रच्युत्य जम्बूद्वीपं महासुतो ।^{१०} प्राप्तिविदेहाश्रिते देशे पुष्कलावर्यमिष्टवे^{११} ॥८॥

❖ स्तोत्रों-द्वारा की हुई पूजा ही जिनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य आदि अनेक गुणरूपी जिसकी किरणें प्रकाशमान हो रही हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलोंके बदनको विकसित करनेवाला है ऐसा वह जिनेन्द्ररूपी सूर्य तुम सब श्रोताओं-को पवित्र करे ॥१॥

अनन्तर जब वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग छोड़कर पृथिवीपर आनेके सम्मुख हुआ तब उसके शरीरपर पड़ी हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला अचानक मुरझा गयी । वह माला इससे पहले कभी नहीं मुरझायी थी ॥२॥ स्वर्गसे च्युत होनेके चिह्न जैसे अन्य साधारण देवोंके स्पष्ट प्रकट होते हैं वैसे इन्द्रोंके नहीं होते किन्तु कुछ-कुछ ही प्रकट होते हैं ॥३॥ माला मुरझानेसे यद्यपि इन्द्रको मालूम हो गया था कि अब मैं स्वर्गसे च्युत होनेवाला हूँ तथापि वह कुछ भी दुःखी नहीं हुआ सो ठीक है । वास्तवमें महापुरुषोंका ऐसा ही धैर्य होता है ॥४॥ जब उसकी आयु मात्र छह माहकी बाकी रह गयी तब उस पवित्र बुद्धिके धारक अच्युतेन्द्रने अर्हन्तदेवकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया सो ठीक ही है, प्रायः पण्डितजन आत्मकल्याणके अभिलाषी हुआ ही करते हैं ॥५॥ आयुके अन्त समयमें उत्तने अपना चित्त पञ्चपरमेष्ठियोंके चरणोंमें लगाया और उप-भोग करनेसे बाकी बचे हुए पुण्यकर्मसे अधिष्ठित होकर वहाँकी आयु समाप्त की ॥६॥ यद्यपि स्वर्गोंके देव सदा सुखके अधीन रहते हैं, महाधैर्यवान् और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक होते हैं तथापि वे स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं इसलिए संसारकी इस स्थितिको धिक्कार हो ॥७॥ तत्पश्चात् वह अच्युतेन्द्र स्वर्गसे च्युत होकर महाकान्तिमान् जम्बूद्वीपके पूर्य विदेह क्षेत्रमें

१. प्राप्तिः अन्तर्बतुष्टयस्य प्राप्तिरित्यर्थः । अपायः घातिकर्मणां वियोगः, अपाय इति यावत् । अपायप्राप्तिः । वाक्पूजा—विहारस्यायिका तनू प्रवृत्तय इति क्वाता जिनस्यातिशया इमे । २. प्राप्त्युपाय-गुणांशवः ८० । ३. आनमिष्वति सति । ४. पूर्वस्मिन्नस्लाना । ५. कानिचित् अ०, प०, स०, द० । ६. न बुध्यभूत् । ७. एकाग्रिकृत्य । ८. नाशितायुः । ९. धिगिमां प०, अ०, स० । १०. पूर्वः । ११. अभिष्टवः स्तवनं यस्य ।

* एक अर्थ यह भी होता है कि 'वचनमें प्रतिष्ठा करानेके कारणभूत गुणरूप किरणें जिसके प्रकाशमान हो रही हैं—' इसके सिवाय 'ट' नामकी टिप्पणप्रतिमें 'वाक्पूजाप्राप्त्युपायगुणांशवः' ऐसा पाठ स्वीकृत किया गया है, जिसका उसी टिप्पणके आधारपर यह अर्थ होता है कि दिव्यजनि, अनन्त-बतुष्टयकी प्राप्ति और घातिभनुष्णका क्षय आदि गुण ही—अतिशय ही जिसकी किरणें हैं—

नगर्यां पुण्डरीकिण्यां वज्रसेनस्य भूभुजः । श्रीकान्तायाश्च पुत्रोऽभूद् वज्रनाभिरिति प्रभुः ॥१॥
 तयोरेव सुता जाता वरदत्तादयः क्रमात् । विजयो वैजयन्तश्च जयन्तोऽप्यपराजितः ॥१०॥
 तदाभूवस्तथोरेव प्रियाः पुत्रा महोदयाः । पूर्वोद्दिष्टाहमिन्द्रास्तेऽप्यधोप्रैवेयकाच्युताः ॥११॥
 सुबाहुरहमिन्द्रोऽभूद् यः प्राग्मतित्वरः कृती । आनन्दश्च महाबाहुः पीठाङ्कोऽभूदकम्पनः ॥१२॥
 महापीठोऽभवत् सोऽपि धनमित्रधरः सुरः । संस्कारैः प्राप्तैरेव चटनैकत्र देहिनाम् ॥१३॥
 नगर्यां केशवोऽत्रैव धनदेवाङ्गयोऽभवत् । कुबेरदत्तवणिजोऽनन्तमत्तोऽयं नन्दनः ॥१४॥
 वज्रनाभिरथापूर्णयौवनो हरुचं भूशम् । बालार्क इव निष्ठस्यामीकरसमधुतिः ॥१५॥
 चिनीकृच्छ्रजिह्वैः संसृजितोऽस्तु रश्मिनामये । एतद्वेषेण्याम्बुदच्छन्नमिव भङ्गं महीभृतः ॥१६॥
 कुण्डलार्ककरस्पृष्टगण्डपर्यन्तशोभिना । स वभासे मुखान्त्रेण पद्माकर इवोन्मिषन् ॥१७॥
 ललाटाद्विन्दते तस्य भूलते रेजतुस्तराम् । नेत्रांशुपुष्पमञ्जरी मधुपायिततारया ॥१८॥
 कामिनीनेत्रभृङ्गालिमाकर्षन् मुखपङ्कजम् । स्वासोदमाविरस्थाभूत् स्मितकेशरनिर्गमम् ॥१९॥
 कान्त्यासवमिवापातुमापतन्त्यनूपतराम् । जनतानेत्रभृङ्गाली तन्मुखाब्जे विकसिनि ॥२०॥
 नासिकास्य रुचिं दधे नेत्रयोर्मध्यवर्तिनी । सीमेव रचिता धात्रा तयोः क्षेत्रानतिक्रमे ॥२१॥

स्थित पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता नामकी रानीके वज्रनाभि नामका समर्थ पुत्र उत्पन्न हुआ ॥८-९॥ पहले कहे हुए व्याघ्र आदिके जीव वरदत्त आदि भी क्रमसे उन्हीं राजा-रानीके विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके पुत्र हुए ॥१०॥ जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे मतिवर मन्त्री आदिके जीव जो अधो-प्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए थे वहाँसे च्युत होकर उन्हीं राजा-रानीके सम्पत्तिशाली पुत्र हुए ॥११॥ जो पहले (वज्रजंघके समयमें) मतिवर नामका बुद्धिमान् मन्त्री था वह अधोप्रैवेयकसे च्युत होकर उनके सुबाहु नामका पुत्र हुआ । आनन्द पुरोहितका जीव महाबाहु नामका पुत्र हुआ । सेनापति अकम्पनका जीव पीठ नामका पुत्र हुआ और धनमित्र सेठका जीव महापीठ नामका पुत्र हुआ । सो ठीक ही है, जीव पूर्वभवके संस्कारोंसे ही एक जगह इकट्ठे होते हैं ॥१२-१३॥ श्रीमतीका जीव केशव, जो कि अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ था वह भी वहाँसे च्युत होकर इसी नगरीमें कुबेरदत्त वणिक्के उसकी स्त्री अनन्तमतोसे धनदेव नामका पुत्र हुआ ॥१४॥

अथानन्तर जब वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान अतिशय वेदीप्यमान हो उठा और इसीलिए वह प्रातःकालके सूर्यके समान बड़ा ही सुशोभित होने लगा ॥१५॥ अत्यन्त काले और टेढ़े बालोंसे उसका शिर ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि वर्षा ऋतुके बादलोंसे ढका हुआ पर्वतका शिखर ॥१६॥ कुण्डलरूपी सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे जिसके कपोलोंका पर्यन्त भाग शोभायमान हो रहा है ऐसे मुखरूपी कमलसे वह वज्रनाभि फूले हुए कमलोंसे सुशोभित किसी सरोवरके समान शोभायमान हो रहा था ॥१७॥ उसके ललाटरूपी पर्वतके तटपर दोनों भौंहरूपी लताएँ नेत्रोंकी किरणों-रूपी पुष्पमंजरियों और ताररूप भ्रमरोंसे बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥१८॥ उसका मुख श्वासोच्छ्वासकी सुगन्धिसे सहित था, मुसकानरूपी केशरसे युक्त था और स्त्रियोंके नेत्ररूपी भ्रमरोंका आकर्षण करता था इसलिए ठीक कमलके समान जान पड़ता था ॥१९॥ सदा विकसित रहनेवाले उसके मुख-कमलपर जनसमूहके नेत्ररूपी भ्रमरोंकी पंक्ति मानो कान्तिरूपी आसवको पीनेके लिए ही सब ओरसे आकर झपटती थी और उसका पान कर अत्यन्त तृप्त होती थी ॥२०॥ दोनों नेत्रोंके मध्यभागमें रहनेवाली उसकी नाक ऐसी

१. शाङ्खार्यचरवरदत्त-वराहार्थचरवरसेन-गोलाङ्ग-लार्थचरवित्राङ्गद-नकुलार्थचरप्रदान्तमदनाः । २. मति-वरादिधराः । ३. न्यभूत् ल०, म० । ४. प्रावृषि भवः । ५. विकसन् ।

हारेण कण्ठपर्यन्तवर्तिनासौ श्रियं दधे । मृणालवलयेनेव लक्ष्म्यालिङ्गनसंगिना ॥२२॥
 वक्षोऽस्य पद्मरागांशुच्छुरितं^१ रुचिमानशो । सान्द्रवालातपच्छन्नसानोः कनकशृङ्गिणः ॥२३॥
 वक्षःस्थलस्य पर्यन्ते तस्यांसौ रुचिमापतुः । लक्ष्म्याः क्रीडार्थमुत्तुङ्गौ क्रीडादौ घटितायिव ॥२४॥
 वक्षोभवनपर्यन्ते तोरणस्तम्भविभ्रमम् । बाहु दधतुरस्योच्चैर्हारितोरणधारिणौ ॥२५॥
 देवाङ्गबन्धनस्यास्य^२ मध्येनाभि समैक्ष्यत । वज्रकाण्ठनमुज्जृतं वक्ष्येत्साम्राज्यलाञ्छनम् ॥२६॥
 लसद्गुल्फपुकिनं^३ रतिहंसीनिषेवितम् । परां श्रियं मधादस्य कटिस्थानसरोवरम् ॥२७॥
 सुवृत्तमसृणाधूरु तस्य कान्तिमवापताम् । सञ्चरत्कामगन्धेमरोधे कल्लताविवागंलौ ॥२८॥
 जानुं गुल्फं स्पृशौ जङ्घे तस्य शिश्रियतुः श्रियम् । सन्धिमेव युवां धत्तमित्यादंष्टुमिबोधते ॥२९॥
 पद्मकाङ्तिभ्रितावस्य पादावङ्गलिपद्मकौ । सिषेधे सुचिरं लक्ष्मीर्नखेन्दुघुतिकंसरो ॥३०॥
 इति लक्ष्मीपरिष्वङ्गाद^४ स्थाति रुचिरं वयुः । नूनं सुराङ्गनानां च कुर्यात् स्वे^५ स्पृहयालुताम् ॥३१॥
 तथापि यौवनारम्भे मदनञ्जरकोपिनि । नास्याजनि मदः कोऽपि स्वभ्यस्तश्चुतसंपदः ॥३२॥
 सोऽधीते स्म त्रिवर्गार्थसाधनीर्विपुलोदयाः । समन्त्रा राजविद्यास्ता लक्ष्म्याकर्षविधौ श्रमाः ॥३३॥

मालूम होती थी मानो अपने-अपने क्षेत्रका उल्लंघन न करनेके लिए ब्रह्माने उनके बीचमें सीमा ही बना दी हो ॥ २१ ॥ गलेके समीप पड़े हुए हारसे वह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो वक्षःस्थलवासिनी लक्ष्मीका आलिंगन करनेवाले मृणालवलय (गोल कमरमाल) से ही शोभायमान हो रहा हो ॥ २२ ॥ पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका वक्षःस्थल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उदय होते हुए सूर्यकी लाल-लाल सघन प्रभासे आच्छादित हुआ मेरु पर्वतका तट ही हो ॥ २३ ॥ वक्षःस्थलके दोनों ओर उसके ऊँचे कन्धे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए अतिशय ऊँचे दो क्रीडा-पर्वत ही बनाये गये हों ॥ २४ ॥ हार-रूपी तोरणको धारण करनेवाली उसकी दोनों भुजाएँ वक्षःस्थलरूपी महलके दोनों ओर खड़े किये गये तोरण बाँधनेके खम्भोंका सन्देह पैदा कर रही थीं ॥ २५ ॥ जिसके शरीरका संगठन वज्रके समान मजबूत है ऐसे उस वज्रनाभिकी नाभिके बीचमें एक अत्यन्त स्पष्ट वज्रका चिह्न दिखाई देता था जो कि आगामी कालमें होनेवाले साम्राज्य (चक्रवर्तित्व) का मानो चिह्न ही था ॥ २६ ॥ जो रेशमी वस्त्ररूपी तटसे शोभायमान था और रतिरूपी हंसीसे सेवित था ऐसा उसका कटिप्रदेश किसी सरोवरकी शोभा धारण कर रहा था ॥ २७ ॥ उसके अतिशय गोल और चिकने ऊरु, यहाँ-वहाँ फिरनेवाले कामदेवरूपी हस्तीको रोकनेके लिए बनाये गये अर्गल-दण्डोंके समान शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ २८ ॥ घुटनों और पैरके ऊपरकी गाँठोंसे मिली हुई उसकी दोनों जङ्घाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो लोगोंको यह उपदेश देनेके लिए ही उद्यत हुई हों कि हमारे समान तुम लोग भी सन्धि (मेल) धारण करो ॥ २९ ॥ अँगुलीरूपी पत्तोंसे सहित और नखरूपी चन्द्रमाकी कान्तिरूपी केशरसे युक्त उसके दोनों चरण, कमलकी शोभा धारण कर रहे थे और इसीलिए लक्ष्मी चिरकालसे उनकी सेवा करती थी ॥ ३० ॥ इस प्रकार लक्ष्मीका आलिंगन करनेसे अतिशय मुन्दरताको प्राप्त हुआ उसका शरीर अपनेमें देवाङ्गनाओंकी भी रुचि उत्पन्न करता था—देवाङ्गनाएँ भी उसे देखकर कोमातुर हो जाती थीं ॥ ३१ ॥ उसने शास्त्ररूपी सम्पत्तिका अच्छी तरह अभ्यास किया था इसलिए कामञ्जरका प्रकोप बढ़ानेवाले यौवनके प्रारम्भ समयमें भी उसे कोई मद उत्पन्न नहीं हुआ था ॥ ३२ ॥ जो

१. मिश्रितम् । २. वज्रशरीरबन्धनस्य । ३. नाभिमध्ये । ४. रतिरूपमराली । ५. परश्रिय-द०, म०, ल० । ६. -श्रियमगाव-अ०, स० । ७. ऊरुपर्व । ८. गुल्फः पुण्डिका । ९. विभूतम् । १०. आलिङ्गनात् । ११. आरपनि ।

तस्मिन्लक्ष्मीसरस्वतीरतिवः^१ स्लब्धमाश्रिते । ईर्ष्ययेषामजन्तु कीर्तिर्दिगन्तान् विधुनिर्मला ॥३४॥
 नूनं तद्गुणसंख्यानं वेधसा मंत्रिचिन्तुना । शलाका स्थापिता व्योम्नि तारकानिकर^२ षष्ठलात् ॥३५॥
 तस्य तद्रूपमाहार्य^३ सा विद्या तच्च यौवनम् । जनानावर्जयन्ति स्म गुणैरावर्ज्यते न कः ॥३६॥
 गुणैरस्यैव शेषाश्च कुमाराः कृतवर्णनाः । ननु चन्द्रगुणानंशैः मजरयुक्ताणोऽप्ययम् ॥३७॥
 ततोऽस्य योग्यतां मत्वा वज्रसेनमहाप्रभुः । राज्यलक्ष्मीं समग्रां स्वामस्मिन्नेव न्ययोजयत् ॥३८॥
 नृपोऽभिषेकमस्थोषैः स्वसमक्षमकारयत् । पट्टवन्धं च^४ सामास्यैः नृपैर्मकुटधारिभिः ॥३९॥
 नृपासमस्थमेनं च धीमयन्ति स्म चामरैः । गङ्गातरङ्गसञ्छाद्यैः^५ भक्तिमिल्लिताङ्गनाः ॥४०॥
 धुन्वानाश्चाभ्यराप्यस्य तां समोत्प्रेक्षते मनः । जनापवादजं लक्ष्म्या रजोऽपामितुमुद्यताः ॥४१॥
 वक्षसि प्रक्षयं लक्ष्मीर्ददमस्याकरोत्तदा । पट्टवन्धापदेष्टेन तस्मिन् प्राध्वंकृतं^६ सा ॥४२॥
 मकुटं मूर्ध्नि तस्याधान् नृपैर्नृपवरः समम् । एवं भारमवतार्यास्मिन् सस्ताक्षिकमिषार्पयत्^७ ॥४३॥
 हारिणालंकृतं वक्षो भुजावस्थाङ्गशशिभिः^८ । पट्टिकाकटिसूत्रेण कटी पट्टांशुकेन च ॥४४॥

धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाली हैं, जो बड़े-बड़े फलोंको देनेवाली हैं और जो लक्ष्मीका आकर्षण करनेमें समर्थ हैं ऐसी मन्त्रसहित समस्त राजविद्याएँ उसने पढ़ ली थीं ॥३३॥ उसपर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही अतिशय प्रेम रखती थीं इसलिए चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्ति मानो उन दोनोंकी ईर्ष्यासे ही दशों विशाओंके अन्त तक भाग गयी थीं ॥ ३४ ॥ मालूम होता है कि ब्रह्माने उसके गुणोंकी संख्या करनेकी इच्छासे ही आकाशमें ताराओंके समूहके छलसे अनेक रेखाएँ बनायी थीं ॥३५॥ उसका वह मनोहर रूप, वह विद्या और वह यौवन, सभी कुछ लोगोंको बशीभूत कर लेते थे, सो ठीक ही है । गुणोंसे कीन बशीभूत नहीं होता ? ॥३६॥ यहाँ जो वज्रनाभिके गुणोंका वर्णन किया है उसीसे अन्य राजकुमारोंका भी वर्णन समझ लेना चाहिए । क्योंकि जिस प्रकार तारागण कुछ अंशोंमें चन्द्रमाके गुणोंको धारण करते हैं उसी प्रकार वे शेष राजकुमार भी कुछ अंशोंमें वज्रनाभिके गुण धारण करते थे ॥ ३७ ॥ तदनन्तर, इसकी योग्यता जानकर वज्रसेन महाराजने अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी इसे ही सौंप दी ॥३८॥ राजाने अपने ही सामने बड़े ठाट-बाटसे इसका राज्याभिषेक कराया तथा मन्त्री और मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा उसका पट्टवन्ध कराया ॥३९॥ पट्टवन्धके समय वह राजसिंहासनपर बैठा हुआ था और अनेक सुन्दर स्त्रियाँ गंगा नदीके तरंगोंके समान निर्मल चमर ढोर रही थीं ॥४०॥ चमर ढोरती हुई उन स्त्रियोंको देखकर मेरा मन यही उत्प्रेक्षा करता है कि वे मानो राज्यलक्ष्मीके संसर्गसे वज्रनाभिपर पड़नेवाली लोकाप-बादरूपी धूलिको ही दूर करनेके लिए उद्यत हुई हों ॥४१॥ उस समय राज्यलक्ष्मी भी उसके वक्षःस्थलपर गाढ़ प्रेम करती थी और ऐसी मालूम होती थी मानो पट्टवन्धके छलसे वह उसपर बाँध ही दी गयी हो ॥४२॥ राजाओंमें श्रेष्ठ वज्रसेन महाराजने अनेक राजाओंके साथ अपना मुकुट वज्रनाभिके मस्तकपर रखा था । उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सबकी साक्षी-पूर्वक अपना भार ही उतारकर उसे समर्पण कर रहे हों ॥४३॥ उस समय उसका वक्षःस्थल हारसे अलंकृत हो रहा था, भुजाएँ बाजूबन्द आदि आभूषणोंसे सुशोभित हो रही थीं और

१. वल्लभस्वम् । २. व्याजात् । ३. मनोहरम् । ४. नामयन्ति स्म । ५. नृपाभिषेक— अ०, प०, ब०, द० । ६. सप्रधानैः । ७. समानैः । ८. चामरग्राहिणीः । ९. अपसारणाय । १०. आनुकूल्यं कृता । 'आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्' इत्यभिधानात् । अथवा बद्धा प्राध्वमित्यव्ययः । ११. मुकुटं अ०, प०, द०, स०, ल०, । १२.—मिषार्पयन् अ०, द०, म०, ल० । १३.—वस्थाङ्गदांशुभिः अ०, प०, ब०, स०, द० । १४. काञ्चीविशेषेण ।

कृता कृतानिवेकाय सोऽस्मै^१ नार्पणमर्पितम् । नृपैः समं समाशास्य^२ महान् सत्ताह् भवेत्यमुम् ॥४५॥
 अनन्तरं च लौकान्तिकामरैः^३ प्रतिकोभितः । वज्रसेनमहाराजो न्यधाञ्चिष्क्रमणे मतिम् ॥४६॥
 यथोचितमपचितिं^४ तन्वत्सूतमनाकिपुं । परिनिष्क्रम्य चक्रेऽसौ मुक्तिलक्ष्मीं प्रसोदिनीम् ॥४७॥
 समं मगवतानेन सहस्रगणनामिताः । महत्वात्प्रबलोधाने नृपाः प्राप्ताजिघ्रस्तदा ॥४८॥
 राज्यं निष्कण्टकीकृत्य वज्रनाभिरपालयत् । भगवानपि योगीन्द्रस्तपश्चक्रे विक्रमधम् ॥४९॥
 राज्यलक्ष्मीपरिष्वङ्गाद्^५ वज्रनाभिस्तुतोष सः । तपोलक्ष्मीसमागमाद्^६ गुरुरस्यातिविप्रिये ॥५०॥
 भ्रातृभिर्दत्तिरस्यासीद् वज्रनाभेः समाहितैः^७ । गुणैस्तु दृष्टिमातेने योगी श्रेयोऽनुबन्धिभिः ॥५१॥
 वज्रनाभिस्तुतोऽमात्यैः^८ संविधसे स्म राजकम्^९ । मुनीन्द्रोऽपि तपोयोगैर्गुणग्राममपोषयत् ॥५२॥
 निजे राज्याश्रमे पुत्रो गुरुरन्त्याश्रमे^{१०} स्थितः । परार्थवत्कक्ष्यौ^{११} तौ पालयामासमुः प्रजाः^{१२} ॥५३॥
 वज्रनाभेर्जयागारे^{१३} चक्रे भास्वरभुङ्क्षौ । योगिनोऽपि मनोगारे ध्यानचक्रे स्फुरद्भुतिः ॥५४॥
 ततो न्यजेष्ट निश्लोषां महीमेघ महीपतिः । मुनिः कर्मजयावासमहिमा जगतीव्रयीम्^{१४} ॥५५॥

कमर करधनी तथा रेशमी चक्रकी पट्टीसे लोचनस्थानां^१ हो रही थी ॥४५॥ अत्यन्त कुशल वज्र-
 सेन महाराजने, जिसका राज्याभिषेक हो चुका है ऐसे वज्रनाभिके लिए 'तू बड़ा भारी
 चक्रवर्ती हो' इस प्रकार अनेक राजाओंके साथ-साथ आशीर्वाद देकर अपना समस्त राज्य-
 भार सौंप दिया ॥४५॥

तदनन्तर लौकान्तिक देवोंने आकर महाराज वज्रसेनको समझाया जिससे प्रबुद्ध होकर
 उन्होंने दीक्षा धारण करनेमें अपनी बुद्धि लगायी ॥४६॥ जिस समय इन्द्र आदि उत्तम-उत्तम
 देव भगवान् वज्रसेनकी यथायोग्य पूजा कर रहे थे उसी समय उन्होंने दीक्षा लेकर मुक्तिरूपी
 लक्ष्मीको प्रसन्न किया था ॥४७॥ उस समय भगवान् वज्रसेनके साथ-साथ आश्रवन नामके
 बड़े भारी उपवनमें एक हजार अन्य राजाओंने भी दीक्षा ली थी ॥४८॥ इधर राजा वज्रनाभि
 राज्यको निष्कण्टक कर उसका पालन करता था और उधर योगिराज भगवान् वज्रसेन भी
 निर्दोष तपस्या करते थे ॥४९॥ इधर वज्रनाभि राज्यलक्ष्मीके समागमसे अतिशय सन्तुष्ट होता
 था और उधर उसके पिता भगवान् वज्रसेन भी तपोलक्ष्मीके समागमसे अत्यन्त प्रसन्न होते
 थे ॥५०॥ इधर वज्रनाभिको अपने सम्मिलित भाइयोंसे बड़ा धैर्य (सन्तोष) प्राप्त होता था
 और उधर भगवान् वज्रसेन मुनि कल्याण करनेवाले गुणोंसे धैर्य (सन्तोष) को विस्तृत करते
 थे ॥५१॥ इधर वज्रनाभि मंत्रियोंके द्वारा राजाओंके समूहको अपने अनुकूल करता था और
 उधर मुनीन्द्र वज्रसेन भी तप और ध्यानके द्वारा गुणोंके समूहका पालन करते थे ॥५२॥ इधर
 पुत्र वज्रनाभि अपने राज्याश्रममें स्थित था और उधर पिता भगवान् वज्रसेन अन्तिम मुनि
 आश्रममें स्थित थे । इस प्रकार वे दोनों ही परोपकारके लिए कमर बाँधे हुए थे और दोनों
 ही प्रजाकी रक्षा करते थे । भावार्थ—वज्रनाभि दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका
 अनुग्रह कर प्रजाका पालन करता था और भगवान् वज्रसेन हितका उपदेश देकर प्रजा
 (जीवों) की रक्षा करते थे ॥५३॥ वज्रनाभिके आयुधगृहमें वेदीप्यमान चक्ररत्न प्रकट हुआ
 था और मुनिराज वज्रसेनके मनरूपी गृहमें प्रकाशमान तेजका धारक ध्यानरूपी चक्र प्रकट
 हुआ था ॥५४॥ राजा वज्रनाभिने उस चक्ररत्नसे समस्त पृथिवीको जीता था और मुनिराज

१. नृपतिस्वम् । २. समाशास्य अ०, प०, द०, म०, । ३. पूजाम् । ४. लौकान्तिकेषु देवेषु ।
 ५. आलिङ्गनात् । ६. संयोगात् । ७. समाधानयुक्तः । ८. अनुकूलं करोति स्म, सम्यगकरोत् । ९. राज्यकम्
 प०, अ० । १०. ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुरिति चतुराश्रमेषु अग्न्ये । ११. कृतमहायो । १२. औवसम्-
 हृदय । १३. शस्त्रशालायाम् । १४. जगतीव्रयम् ।

स्पर्द्धमानावित्रान्योन्यमित्यास्तां तौ जघोदधुरौ^१ । किन्त्वेकस्य जघोऽत्यल्पः परस्य भुवनातिगः ॥५६॥
 धनदेवोऽपि तस्यासीच्चक्रियो रत्नमूर्जितम् । राज्यार्हं गृहपत्याख्यं निधौ रत्ने च योजितम् ॥५७॥
 ततः कुर्ये मतिर्भुक्त्वा चिरं पृथ्वीं पृथुदयः । गुरोस्तीर्थकृतोऽबोधि बोधि^२ मत्यन्तदुर्लभाम् ॥५८॥
 सद्दृष्टिज्ञानचारित्र्यं यः सेवते कृती । रसायनमिवातन्य^३ सोऽसृतं पदमश्नुते ॥५९॥
 इत्याकलयन्^४ मनसा चक्री चक्रे तपोमतिम् । जरत्तणमिवाशेषं साम्राज्यमवमत्य^५ सः ॥६०॥
 वज्रदन्ताङ्गये सूनौ कृतरात्र्यसमर्पणः । तपैः^६ स्वभौलिबद्धा^७ स्तुग्मिश्च दशभिश्चतैः ॥६१॥
 समं आतृभिरष्टाभिर्धनदेवेन चादधे । दीक्षां सम्यजमोदीक्ष्या^८ मुक्त्यै स्वगुरुसन्निधौ ॥६२॥
^९ तमम्बीयुर्नुपा जन्मदुःखार्तास्तपसे वनम् । शीतार्तः को न कुर्वीत सुधीरातपसेवनम् ॥६३॥
 त्रिधा^{१०} प्राणिवधान् मिथ्यावादान् स्तेयात् पद्मिहात् । विरतिं क्षीप्रसंगाच्च स यावज्जीवमग्रहीत् ॥६४॥
 प्रतस्थः समितींस्तोरादधेऽसौ समावनाः ।^{११} मात्राष्टकमिदं प्राहुः मुनेस्त्रिंश^{१२} समावनाः ॥६५॥

.....

वज्रसेनने कर्मोंकी विजयसे अनुपम प्रभाव प्राप्त कर तीनों लोकोंको जीत लिया था ॥५५॥
 इस प्रकार विजय प्राप्त करनेसे उत्कट (श्रेष्ठ) वे दोनों ही पिता-पुत्र परस्पर स्पर्धा करते हुए-
 से जान पड़ते थे । किन्तु एक (वज्रनाभि) की विजय अत्यन्त अल्प थी—छह खण्ड तक
 सीमित थी और दूसरे (वज्रसेन) की विजय संसार-भरको अतिक्रान्त करनेवाली थी—
 सबसे महान् थी ॥५६॥ धनदेव (श्रीमती और केशवका जीव) भी उस चक्रवर्तीकी निधियों
 और रत्नोंमें शामिल होनेवाला तथा राज्यका अङ्गभूत गृहपति नामका तेजस्वी रत्न
 हुआ ॥५७॥ इस प्रकार उस बुद्धिमान् और विशाल अभ्युदयके धारक वज्रनाभि चक्रवर्तीने
 चिरकाल तक पृथ्वीका उपभोग कर किसी दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थकरसे अत्यन्त दुर्लभ
 रत्नत्रयका स्वरूप जाना ॥५८॥ जो चतुर पुरुष रसायनके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्-
 ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य इन तीनोंका सेवन करता है वह अचिन्त्य और अविनाशी मोक्ष-
 रूपी पदको प्राप्त होता है ॥५९॥ हृदयसे ऐसा विचार कर उस चक्रवर्तीने अपने सम्पूर्ण
 साम्राज्यको जीर्ण तृणके समान माना और तप धारण करनेमें बुद्धि लगायी ॥६०॥ उसने
 वज्रदन्त नामके अपने पुत्रके लिए राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक
 हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेवके साथ-साथ मोक्ष प्राप्तिके उद्देश्यसे पिता वज्रसेन
 तीर्थकरके समीप भक्त्य जीवोंके द्वारा आदर करने योग्य जिनदीक्षा धारण की ॥६१-६२॥
 जन्म-मरणके दुःखोंसे दुःखी हुए अन्य अनेक राजा तप करनेके लिए उसके साथ वनको गये थे
 सो ठीक ही है, शीतसे पीड़ित हुआ कौन बुद्धिमान् धूपका सेवन नहीं करेगा ? ॥६३॥ महाराज
 वज्रनाभिने दीक्षित होकर जीवन पर्यन्तके लिए मन, वचन, कायसे हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-सेवन
 और परिग्रहसे विरति धारण की थी अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह
 ये पाँचों महाव्रत धारण किये थे ॥६४॥ व्रतोंमें स्थिर होकर उसने पाँच महाव्रतोंकी पच्चीस
 भावनाओं, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंको भी धारण किया था । ईर्ष्या, भाषा, एषणा,
 आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति
 ये तीन गुप्तियाँ दोनों मिलाकर आठ प्रवचनमातृकाएँ कहलाती हैं । प्रत्येक मुनिको इनका
 पालन अवश्य ही करना चाहिए ऐसा इन्द्रसभा (समवसरण) की रक्षा करनेवाले गणधरादि

१. उत्तप्ती । २. सम्पूर्णबुद्धिः । ३. तीर्थकरस्य । ४. रत्नत्रयम् । ५. अचिन्त्यम् । ६. विचार्य ।
 ७. अवज्ञां कृत्वा । ८. पोषणसहस्रैः । ९. पुत्रैः । १०. अभिलषणीयाम् । जनोदीक्षां अ०, स० । ११. तेन
 सह गताः । 'टाऽप्येऽनुना' । १२. मनोवाककायेन । १३. प्रवचनमातृकाष्टकम् । १४. गणधरादयः ।

उत्कृष्टतपसो धीरान् मुनीन् ध्यायन्नेनसः^१ । एकचर्यां ततो भेजे युक्तः सदर्शनेन सः ॥६६॥
 स एकचर्यां^२ प्राप्य चिरं गज इवागजः^३ । मन्थरं^४ विजहारोर्वीं प्रपश्यन् सवन्^५ वनम् ॥६७॥
 ततोऽसौ भावयामास मावितात्मा सुधीरधीः । स्वगरोर्निकटे तीर्थं कुरुष्याद्भ्यानि बोधश ॥६८॥
 सदृष्टिं विनयं शीलव्रतेष्वनतिचारताम् । ज्ञानोपयोगमामोक्षण्यात्^६ संवेगं चाप्यभावयत् ॥६९॥
 यथाशक्ति तपस्तेपे स्वयं वीर्यमहापयन्^७ । त्यागं^८ च भक्तिमाधत्त शान्तसंभ्रमसंभ्रमः^९ ॥७०॥
 सावधानः समाधाने^{१०} साधूनां सोऽभवन् मुहुः । समाधये हि सर्वोऽयं^{११} परिस्पन्दो हितार्थिनाम् ॥७१॥
 स वैद्यावृत्त्यमातेने द्रव्येष्वप्यामयादिषु । अनात्मतरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत् ॥७२॥
 स तेने भक्तिमर्हसु^{१२} पूजामर्हसु^{१३} निश्चलाम् । आचार्यान् प्रश्रयो भेजे मुनीनपि बहुश्रुतान् ॥७३॥
 परां प्रवचने भक्तिमा^{१४} सोपजे ततान सः । न^{१५} पारयति रागादीन् विजेलुं^{१६} सन्ततानसः^{१७} ॥७४॥
 अवश्यम^{१८} वशोऽप्येष वशी स्वावश्यकं दधी । धर्मभेदं देशकालादिसम्यपेक्षमनयन् ॥७५॥
 मार्गं प्रकाशयामास तपोशलादिदीधितिः । दधानोऽसौ मुनीनेनो^{१९} भक्त्याब्जानां प्रबोधकः ॥७६॥

देवोंने कहा है ॥६४-६५॥ तदनन्तर उत्कृष्ट तपस्वी, धीर, वीर तथा पापरहित मुनियोंका चिन्तन करनेवाला और सम्यग्दर्शनसे युक्त वह चक्रवर्ती एकचर्याव्रतको प्राप्त हुआ अर्थात् एकाकी विहार करने लगा ॥६६॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती एकचर्याव्रत प्राप्त कर किसी पहाड़ी हाथीके समान तालाब और वनकी शोभा देखता हुआ चिरकाल तक मन्द गतिसे (ईर्यासमितिपूर्वक) पृथिवीपर विहार करता रहा ॥६७॥ तदनन्तर आत्माके स्वरूपका चिन्तन करनेवाले धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराजने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरके निकट उन सोलह भावनाओंका चिन्तन किया जो कि तीर्थंकर पद प्राप्त होनेमें कारण हैं ॥६८॥ उसने शंकादि दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, विनय धारण की, शील और व्रतोंके अतिचार दूर किये, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग किया, संसारसे भय प्राप्त किया ॥६९॥ अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर सामर्थ्यके अनुसार तपश्चरण किया, ज्ञान और संयमके साधनभूत त्यागमें चित्त लगाया ॥७०॥ साधुओंके व्रत, शील आदिमें विघ्न आनेपर उनके दूर करनेमें वह बार-बार सावधान रहता था क्योंकि हितैषी पुरुषोंकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ समाधि अर्थात् दूसरोंके विघ्न दूर करनेके लिए ही होती हैं ॥७१॥ किसी व्रती पुरुषके रोगादि होनेपर वह उसे अपनेसे अभिन्न मानता हुआ उसका वैद्यावृत्य (सेवा) करता था क्योंकि वैद्यावृत्य ही तपका हृदय है—सारभूत तत्त्व है ॥७२॥ वह पूज्य अरहन्त भगवान्में अपनी निश्चल भक्तिको विस्तृत करता था, विनयी होकर आचार्योंकी भक्ति करता था, तथा अधिक ज्ञानवान् मुनियोंकी भी सेवा करता था ॥७३॥ वह सब देवके कहे हुए शास्त्रोंमें भी अपनी उत्कृष्ट भक्ति बढ़ाता रहता था, क्योंकि जो पुरुष प्रवचन भक्ति (शास्त्रभक्ति) से रहित होता है वह बढ़े हुए रागादि शत्रुओंको नहीं जीत सकता है ॥७४॥ वह अवश (अपराधीन) होकर भी वश-पराधीन (पक्षमें जितेन्द्रिय) था और द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा रखनेवाले, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका पूर्ण रूपसे पालन करता था ॥७५॥ तप, ज्ञान आदि किरणोंको धारण करनेवाला और भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाला वह मुनिराजरूपी सूर्य सदा जैनमार्गको प्रकाशित

१. अपापान् । २-३. एकविहारित्वम् । ४. पर्वतप्रातः । ५. शनैः । ६. सजलभरण्यम् । ७. सातत्यात् । 'अभीक्षणं शश्वदनारते' इत्यभिधानान् । ८. अगोपयन् । ९. समाधी । १०. चेष्टा । ११. अमारम-बन्धकः । अनात्मन्तरको— ६०, ल० । १२. इन्द्रादिकृत-पूजायोग्येषु । १३. निर्मलाम् प०, द० । १४. आप्तेन प्रयमोपक्रमे । १५. समर्थो न भवति । १६. विस्तृतान् । १७. अनाप्तः । स न भवतित्यसः । प्रवचनभक्तिरहित इत्यर्थः । १८. अतिच्छुः । १९. मुनीन्द्रसूर्यः ।

वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः । दिनेवान् स्थापयन् धर्मं जिनप्रवचनाभितान् ॥७७॥

इहामूनि महाधैर्यो मुनिश्चिरमभावयत् । तीर्थं कुरुवस्थं संप्राप्तौ कारणान्येष षोडश ॥७८॥

ततोऽमूर्भावनाः सम्यग् भावयन् मुनिसत्तमः^१ । स वचनं महत् पुण्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥७९॥

सकोष्ठबुद्धिसमलां बीजबुद्धिं च किञ्चिदे । पदानुसारिणीं बुद्धिं संभिन्नश्रोतृतामिति ॥८०॥

तामिर्बुद्धिमिरिबुद्धिः^२ परलोकगतागतम् । राजर्षी राजविधामिरिच सम्यगयुद्ध सः ॥८१॥

स दीप्ततपसा दीप्तो भेजे [भेजे] तप्ततपाः परमः । तपे तपोऽग्रयमुग्रं च चोराघो [घोऽ] रातिमर्मभिः ॥८२॥

स तपामन्त्रिभिर्द्वन्द्वमन्त्रयते मन्त्रावत् । परलोकजयोद्युक्तो विजिगीषुः पुरा यथा ॥८३॥

अणिमादिगुणोपेतां विक्रियद्विसमाप सः । पदं धाम्दृष्ट तामैच्छन् महेश्वरो गरिमास्पदम् ॥८४॥

जल्लाघोषधिसंप्राप्तिरस्यास्तीज्जगते^३ हिता । कल्पद्रुमफलावाप्तिः कस्य वा नोपकारिणी ॥८५॥

रसस्यागप्रतिज्ञस्य रससिद्धिरभून्मुनेः । सूते निवृत्तिरिष्टार्थादधिकं हि महत् फलम् ॥८६॥

(प्रभावित) करता था ॥७६॥ जैनशास्त्रोंके अनुसार चलनेवाले शिष्योंको धर्ममें स्थिर रखता हुआ और धर्ममें प्रेम रखनेवाला वह वज्रनाभि सभी धर्मात्मा जीवोंपर अधिक प्रेम रखता था ॥७७॥ इस प्रकार महा धीर-वीर मुनिराज वज्रनाभिने तीर्थंकरत्वकी प्राप्तिके कारणभूत एक सोलह भावनाओंका चिरकाल तक चिन्तन किया था ॥७८॥ तदनन्तर इन भावनाओंका उत्तम रीतिसे चिन्तन करते हुए उन श्रेष्ठ मुनिराजने तीन लोकमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृतिका बन्ध किया ॥७९॥ वह निर्मल कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणीबुद्धि और संभिन्नश्रोतृबुद्धि इन चार ऋद्धियोंको भी प्राप्त हुआ था ॥८०॥ जिस प्रकार कोई राजर्षि राजविद्याओंके द्वारा अपने शत्रुओंके समस्त गमनागमनको जान लेता है ठीक उसी प्रकार प्रकाशमान ऋद्धियोंके धारक वज्रनाभि मुनिराजने भी ऊपर कही हुई चार प्रकारकी बुद्धि नामक ऋद्धियोंके द्वारा अपने परभव-सम्बन्धी गमनागमनको जान लिया था ॥८१॥ वह दीप्त ऋद्धिके प्रभावसे उत्कृष्ट दीप्तिको प्राप्त हुआ था, तप्त ऋद्धिके प्रभावसे उत्कृष्ट तप तपता था, उग्र ऋद्धिके प्रभावसे उग्र तपश्चरण करता था और मयानक कर्मरूप शत्रुओंके मर्मको भेदन करता हुआ घोर ऋद्धिके प्रभावसे घोर तप तपता था ॥८२॥ मन्त्र (परामर्श)-को जाननेवाला वह वज्रनाभि जिस प्रकार पहले राज्य-अवस्थामें विजयका अभिलाषी होकर परलोक (शत्रुसमूह) जो जीतनेके लिए तत्पर होता हुआ मन्त्रियोंके साथ बैठकर द्वन्द्व (युद्ध) का विचार किया करता था, उसी प्रकार अब मुनि अवस्थामें भी पञ्चनमस्कारादि मन्त्रोंका जाननेवाला, वह वज्रनाभि कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेका अभिलाषी होकर परलोक (नरकादि पर्यायोंको, जीतनेके लिए तत्पर होता हुआ तपरूपी मन्त्रियों (मन्त्रशास्त्रके जानकार योगियों)के साथ द्वन्द्व (आत्मा और कर्म अथवा राग और द्वेष आदि) का विचार किया करता था ॥८३॥ उदार आशयको धारण करनेवाला वज्रनाभि केवल गौरवशाली सिद्ध पदकी ही इच्छा रखता था । उसे ऋद्धियोंकी बिलकुल ही इच्छा नहीं थी फिर भी अणिमा, महिमा आदि अनेक गुणोंसहित विक्रिया ऋद्धि उसे प्राप्त हुई थी ॥८४॥ जगत्का हित करनेवाली जल्ल आदि ओषधि ऋद्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई थीं सो ठीक ही है । कल्पवृक्षपर लगे हुए फल किसका उपकार नहीं करते ? ॥८५॥ यद्यपि उन मुनिराजके धी, दूध आदि रसोंके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा थी तथापि धी, दूध आदिको क्षरानेवाली अनेक रस ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं । सो ठीक ही

१. इहामूनि ल० । २. सत्तमः श्रेष्ठः । ३. परलोकगमनागमनम् । ४. दीप्तिः । ५. चोराधारा - ६० । चोराघोराति - ल० । ६. परिग्रहम् । इष्टानिष्टादिकं च । पक्षे कलहं च । ७. -ज्जगतीहिता म०, ल० । ८. अमृतादिरससिद्धिः ।

स बलद्विर्बलाधानादसोढोपान्त्तः परीषद्धान् । अन्यथा तादृशं हृन्द् कः सहेतु सुबुद्धसहम् ॥८७॥
 सोऽक्षीणद्विप्रभावेष्टाक्षीणान्तावसथोऽभवत् । भुजं तपोऽकृष्टं तप्तं १ पम्फलीत्वक्षयं फलम् ॥८८॥
 विशुद्धभावः सम्पन्नं विशुद्धं स्वच्छिद्युद्धिभिः २ । तदोपशमकश्रेणीमारुह मुनीश्वरः ॥८९॥
 अपूर्वकरणं श्रित्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् । स सूक्ष्मरागः ३ संप्रापदुपशान्तकथायताम् ॥९०॥
 कृत्स्नस्य मोहनीयस्य प्रशमादुपपादितम् । तत्रौपशमिकं प्रापचारित्र्यं सुनिवृद्धिकम् ॥९१॥
 सोऽन्तर्मुहूर्तार्त्तं भूयोऽपि स्वस्थानस्थोऽभवत् यतिः । नोद्वेगं मुहूर्तार्त्तं तत्रास्ति ४ निसर्गात् स्थितिरात्मनः
 सोऽबुद्ध परमं मन्त्रं सोऽबुद्ध परमं तपः । सोऽबुद्ध परमाभिष्टि ५ सोऽबुद्ध परमं पदम् ॥९२॥
 ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभादौ समुत्पले । प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजम् ॥९३॥
 रत्नत्रयमयीं अश्यामभिशास्य तपोनिधिः । प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमापिवत् ॥९४॥
 प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः । प्रायेणापगमो ६ यस्मिन् दुरितारिक्त्वम्भकान् १० ॥९५॥

है, इष्ट पदार्थोंके त्याग करनेसे उनसे भी अधिक महाफलोंकी प्राप्ति होती है ॥८६॥ बल ऋद्धिके प्रभावसे बल प्राप्त होनेके कारण वह कठिन-कठिन परीषद्धान्को भी सह लेता था सो ठीक ही है क्योंकि उसके बिना शीत, उष्ण आदिकी व्यथाको कौन सह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥८७॥ उसे अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हुई थी इसीलिए वह जिस दिन जिस घरमें भोजन ग्रहण करता था उस दिन उस घरमें अन्न अक्षय हो जाता था—चक्रवर्तिक कटकको भोजन करनेपर भी वह भोजन क्षीण नहीं होता था । सो ठीक ही है, वास्तवमें तपा हुआ महान् तप अविनाशी फलको फलता ही है ॥८८॥ विशुद्ध भावनाओंको धारण करनेवाले वज्रनाभि मुनिराज जब अपने विशुद्ध परिणामोंसे उत्तरोत्तर विशुद्ध हो रहे थे तब वे उपशम श्रेणीपर आरुढ़ हुए ॥८९॥ वे अधःकरणके बाद आठवें अपूर्वकरणका आश्रय कर नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानको प्राप्त हुए और उसके बाद जहाँ राग अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है ऐसे सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानको प्राप्त कर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए । वहाँ उनका मोहनीय कर्म बिलकुल ही उपशान्त हो गया था ॥९०॥ सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे वहाँ उन्हें अतिशय विशुद्ध औपशमिक चारित्र्य प्राप्त हुआ ॥९१॥ अन्तर्मुहूर्तके बाद वे मुनि फिर भी स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थानमें स्थित हो गये अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्त ठहरकर वहाँसे च्युत हो उसी गुणस्थानमें आ पहुँचे जहाँसे कि आगे बढ़ना शुरू किया था । उसका खास कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानमें आत्माकी स्वाभाविक स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे आगे है ही नहीं ॥९२॥ मुनिराज वज्रनाभि उत्कृष्ट मन्त्रको जानते थे, उत्कृष्ट तपको जानते थे, उत्कृष्ट पूजाको जानते थे और उत्कृष्ट पद (सिद्धपद) को जानते थे ॥९३॥ तत्पश्चात् आयुके अन्त समयमें उस बुद्धिमान् वज्रनाभिने श्रीप्रभनामक ऊँचे पर्वतपर प्रायोपवेशन (प्रायोपगमन नामका संन्यास) धारण कर शरीर और आहारसे ममत्व छोड़ दिया ॥९४॥ चूँकि इस संन्यासमें तपस्वी साधु रत्नत्रयरूपी शय्यापर उपविष्ट होता है—बैठता है, इसलिए इसका प्रायोपवेशन नाम सार्थक है ॥९५॥ इस संन्यासमें अधिकतर रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसलिए इसे प्रायेणोपगम भी कहते हैं । अथवा इस संन्यासके धारण करनेपर अधिकतर कर्मरूपी शत्रुओंका अपगम-नाश-हो जाता है इसलिए इसे प्रायेणापगम भी कहते

१. इष्टानिष्टादिकम् । २. पम्फली-३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८० । भुजं फलति । ३. आत्म-
 शुद्धिभिः । ४. सूक्ष्मसाम्परायः । ५. अप्रमत्तगुणस्थानस्य । ६. उपशान्तकथायगुणस्थाने । ७. भावपूजां ।
 ८. प्रापय । ९. गमः गमनम् । १०. पापारिसमूहान् ।

प्रायेणास्माज्जनस्थानादपस्थ^१ गमोऽटवेः । प्रायोपगमनं तज्ज्ञैर्निर्दुक्तं धमणोत्तमैः ॥९७॥
 स्वपरोपकृतां देहे सोऽनिच्छस्तां प्रतिक्रियाम् । रिपोरिव शवं त्यक्त्वा देहमास्त निराकुलः ॥९८॥
 स्वगस्थिभूतसर्वाङ्गो मुनिः परिकुशोदरः । सखमेवावलम्ब्यास्थाद्^२ गणरात्रानकम्पधीः^३ ॥९९॥
 क्षुधं पिपासां शीतं च तथोष्णं दशमक्षिकम्^४ । नाग्न्यं तथा रतिं स्त्रीं^५ चर्यां शय्यां निषद्याकाम् ॥१००॥
 आक्रोशं वधयात्रं च तथा लाभमदर्शनम् । रोगं च तृणस्पर्शं प्रज्ञाज्ञाने मलं तथा ॥१०१॥
 ससत्कारपुरस्कारमसौदैतान् परीषद्धान् । मार्गाव्यवहनमार्गान्शुः^६ महतीं निर्जरामपि ॥१०२॥
 स भोजे मतिमान् क्षान्तिं परं भार्दवमार्जवम् । शौचं च संयमं सत्यं तपस्यागौ च निर्मदः ॥१०३॥
 आकिञ्चन्यमथ ब्रह्मचर्यं च वदतां वरः । धर्मो^७ दशतयोऽयं हि गणेशामभिसम्मतः^८ ॥१०४॥
 सोऽनु^९ दध्यावनित्यत्वं सुखायुर्वलसंपदाम् । तथाऽशरणतां मृत्युजराजभ्रमये नृणाम् ॥१०५॥
 संसृतेर्दुःस्वभावत्वं विचित्रपरिवर्तनैः । एकत्वमात्मनो ज्ञानदर्शनात्मस्वमीयुषः ॥१०६॥
 अन्यत्वमात्मनो देहधनबन्धुकलत्रतः । तथाऽशौचं शरीरस्य नवहृदिर्मलक्षुतः^{१०} ॥१०७॥
 आसवं पुण्यपापात्मककर्मां सह संवरम् । निर्जरां विपुलां चोद्येर्दुर्लभत्वं भवाम्बुधौ ॥१०८॥

हैं ॥९६॥ उस विषयके जानकर उत्तम मुनियोंने इस संन्यासका एक नाम प्रायोपगमन भी बतलाया है और उसका अर्थ यह कहा है कि जिसमें प्रायः करके (अधिकतर) संसारी जीवोंके रहने योग्य नगर, ग्राम आदिसे हटकर किसी वनमें जाना पड़े उसे प्रायोपगमन कहते हैं ॥९७॥ इस प्रकार प्रायोपगमन संन्यास धारण कर वज्रनाभि मुनिराज अपने शरीरका न तो स्वयं ही कुछ उपचार करते थे और न किसी दूसरेसे ही उपचार करानेकी चाह रखते थे। वे तो शरीरसे समस्त छोड़कर उस प्रकार निराकुल हो गये थे जिस प्रकार कि कोई शत्रुके मृतक शरीरको छोड़कर निराकुल हो जाता है ॥९८॥ यद्यपि उस समय उनके शरीरमें चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी एवं उनका उदर भी अत्यन्त कृश हो गया था तथापि वे अपने स्वाभाविक धैर्यका अवलम्बन कर बहुत दिन तक निश्चलचित्त होकर बैठे रहे ॥९९॥ मुनिमार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी विशाल निर्जरा होनेकी इच्छा करते हुए वज्रनाभि मुनिराजने क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कारपुरस्कार ये बाईस परिषद् सहन किये थे ॥१००-१०२॥ बुद्धिमान्, मदरहित और विद्वानोंमें श्रेष्ठ वज्रनाभि मुनिने उत्तम क्षमा, भार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म धारण किये थे। वास्तवमें ये ऊपर कहे हुए दश धर्म गणधरोंको अत्यन्त इष्ट हैं ॥१०३-१०४॥ इनके सिवाय वे प्रति समय बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करते रहते थे जैसे कि संसारके सुख, आयु, बल और सम्पदाएँ सभी अनित्य हैं। तथा मृत्यु, बुढ़ापा और जन्मका भय उपस्थित होनेपर मनुष्योंको कुछ भी शरण नहीं है; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप विचित्र परिवर्तनोंके कारण यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है। ज्ञानदर्शन स्वरूपको प्राप्त होनेवाला आत्मा सदा अकेला रहता है। शरीर, धन, भाई और स्त्री वगैरहसे यह आत्मा सदा पृथक् रहता है। इस शरीरके नव द्वारोंसे सदा मल झरता रहता है इसलिए यह अपवित्र है। इस जीवके पुण्य पापरूप कर्मोंका आस्रव होता रहता है। गुप्ति समिति आदि कारणोंसे उन कर्मोंका संवर होता है। तपसे निर्जरा होती है। यह लोक चौदह राजूप्रमाण ऊँचा है। संसाररूपी समुद्रमें रत्नत्रयकी

१. निर्गत्य । २. मनीबलम् । ३. बहुनिशाः । ४. निष्कम्पबुद्धिः । ५. मशकम् । ६. नग्नत्वम् । ७. स्त्रीगम्बन्धि । ८. शयनम् । ९. इच्छन् । १०. दशप्रकारः 'प्रकारवाची तयप्' । दशतयायं ८०, ५०, ८० । ११. -मपि सम्मतः अ०, स०, म०, द, ल० । १२. अन्वचिन्तयत् । १३. मलत्वाविणः ।

धर्मस्वाख्याततां वेति तस्मानुद्धानमावनाः । लेख्याविशुद्धिमधिको दधानः शुभभावनः ॥१०९॥
 द्वितीयवारमारुह्य श्रेणीमुपशमादिकाम् । पृथक्त्वध्यानमापूय समाधिं परमं श्रितः ॥११०॥
 उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः । सर्वार्थसिद्धिमासाद्य संप्रापत् सोऽहमिन्द्रताम् ॥१११॥
 द्विषटकयोजनैर्लोकप्रान्तमप्राप्य यस्तिथतम् । सर्वार्थसिद्धिनामाग्र्यं विमानं तदनुत्तरम् ॥११२॥
 जम्बूद्वीपसमायामविस्तारपरिमण्डलम् । त्रिषष्टिपटलप्रान्ते चूडारत्नमिव स्थितम् ॥११३॥
 यत्रोत्पन्नवतामर्थाः सर्वे सिद्ध्यन्त्ययस्मृतः । इति सर्वार्थसिद्ध्याख्यां यद्बिभर्त्यर्थयोगिनाम् ॥११४॥
 महाधिष्ठानमुत्तुङ्गशिखरोल्लासिकंतनैः । समाह्वयदिकामासि यन्मुनीन् सुखदिसखा ॥११५॥
 इन्द्रनीलमयी यत्र भुवं पुष्पोपहारिणीम् । दद्यात्तारकितं ह्योम स्मरन्ति त्रिदिवीकसः ॥११६॥
 घुसत्रां प्रतिविम्बानि धारयन्त्यश्वासति । सिसृक्षुर्व ह्वापूवं स्वर्गं यन्मणिमिषयः ॥११७॥
 किरणैर्यत्र रत्नानां तमोभूतं चिकूरतः । पदं न कुर्वते सख्यं निर्मला मलिनैः सह ॥११८॥
 रत्नांशुमिर्जटिलैर्यत्र शक्रशरासनम् । पर्यन्ते लक्ष्यते दीप्तसाललीलां विदुर्मयतः ॥११९॥
 सान्ति पुष्पखजो यत्र लम्बमानाः सुगन्धयः । सौमनस्यमिवेन्द्राणां सूचयन्तोऽतिकोमलाः ॥१२०॥
 मुक्तमयाणि दामोनि यत्रामान्ते निरन्तरम् । विश्वलङ्घनोद्गुणि ह्वातिनीच तच्छिष्यः ॥१२१॥

प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है और दयारूपी धर्मसे ही जीवोंका कल्याण हो सकता है । इस प्रकार तस्वोंका चिन्तन करते हुए उन्होंने बारह भावनाओंको भाया । उस समय शुभ भावोंको धारण करनेवाले वे मुनिराज लेख्याओंकी अतिशय विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥१०५-१०९॥ वे द्वितीय बार उपशम श्रेणीपर आरुढ़ हुए और पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यानको पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधिको प्राप्त हुए ॥ ११० ॥ अन्तमें उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए ॥ १११ ॥ यह सर्वार्थसिद्धि नामका विमान लोकके अन्त भागसे बारह योजन नीचा है । सबसे अग्रभागमें स्थित और सबसे उत्कृष्ट है ॥११२॥ इसकी लम्बाई, चौड़ाई और गोलाई जम्बूद्वीपके बराबर है । यह स्वर्गके तिरैसठ पटलोंके अन्तमें चूडामणि रत्नके समान स्थित है ॥११३॥ चूँकि उस विमानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सब मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए यह सर्वार्थसिद्धि इस सार्थक नामको धारण करता है ॥ ११४ ॥ वह विमान बहुत ही ऊँचा है तथा फहराती हुई पताकाओंसे शोभायमान है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो सुख देनेकी इच्छासे मुनियोंको झुला ही रहा हो ॥११५॥ जिसपर अनेक फूल बिखरे हुए हैं ऐसी वहाँकी नीलमणिकी बनी हुई भूमिको देखकर देवता लोगोंको ताराओंसे व्याप्त आकाशका स्मरण हो आता है ॥११६॥ देवोंके प्रतिविम्बको धारण करनेवाली वहाँकी रत्नमयी दीवालें ऐसी जान पड़ती हैं मानो किसी नये स्वर्गको सृष्टि ही करना चाहती हों ॥ ११७ ॥ वहाँपर रत्नोंकी किरणोंने अन्धकारको दूर भगा दिया है । सो ठीक ही है, वास्तवमें निर्मल पदार्थ मलिन पदार्थोंके साथ संगति नहीं करते हैं ॥११८॥ उस विमानके चारों ओर रत्नोंकी किरणोंसे जो इन्द्रधनुष बन रहा है उससे ऐसा मालूम होता है मानो चारों ओर चमकीला कोट ही बनाया गया हो ॥ ११९ ॥ वहाँपर लटकती हुई सुगन्धित और सुकोमल फूलोंकी मालायें ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वहाँके इन्द्रोंके सौमनस्य (फूलोंके बने हुए, उत्तम मन)को ही सूचित कर रही हों ॥ १२० ॥ उस विमानमें निरन्तर रूपसे लगी हुई मोतियोंकी मालायें ऐसी जान पड़ती हैं मानो दाँतोंकी स्पष्ट

१. तस्वानुस्मृतिरूपभावनाः । २. प्रथमशुक्लध्यानं सम्पूर्णकृत्य । ३. समाधानम् । ४. परिधिः । ५. अर्थयुक्ताम् । ६. दानुमिच्छया । ७. देवानाम् । ८. स्रष्टुमिच्छवः । ९. हसनानि ।

इत्यकृत्रिमनिक्षेपपराङ्मूर्च्छनाञ्जिते । समोपपादशयने^१ पर्याप्तिं स क्षणाद् ययौ ॥१२२॥
 दोषधातुमलस्पर्शवर्जितं चादकक्षयम् । क्षणादाविरभूदस्म क्लृप्तापूर्णचौवनम् ॥१२३॥
 अम्कानशोभमस्याभाद् वपुरभ्याजसुन्दरम्^२ । दृशोऽस्तवमातन्वदकृतेनेव निमित्तम् ॥१२४॥
 शुभाः सुगन्धयः स्निग्धा^३ लोके ये केचनानवः । तैरस्य देहनिर्माणमभूत् पुण्यानुभावतः ॥१२५॥
 पर्याप्त्यनन्तरं सोऽभात् स्वदेहं ज्योत्स्नया द्रुतः । शब्दोत्सङ्गे नभोरङ्गे वाशीवात्तन्मण्डलः ॥१२६॥
^४ दिव्यहंसः स क्लृप्तमावसन् क्षणमावमौ । गङ्गासैकतमाश्लिष्यन्निव हंसयुवैककः ॥१२७॥
 सिंहासनमवाभ्यर्ज्य^५ लङ्कुर्वन्मयादसी । परार्ध^६ निषधोत्सङ्गमाश्रयन्निव मातुमान् ॥१२८॥
 स्वपुण्याम्बुभिरेवायमभ्यषेचि न केवलम् । अलङ्घ्यते च सारीर्यैर्गुणैरिव^७ विभूयते ॥१२९॥
 सोऽधिवज्रःस्थलं दधे अजमेव न केवलम् । सहजां दिव्यरुद्रीं च वायदायुरविष्णुताम्^८ ॥१३०॥
 अस्नातलितदीप्ताङ्गः सङ्गाम्बरभूषणः । सोऽद्युतद्^९ द्युसदां मूर्ध्नि शुलोर्ध्वैकशित्तामणिः ॥१३१॥
^{१०} शुचिस्फटिकनिर्भासिनिर्मकोदारविग्रहः । स वमौ प्रज्वलन्मौलिः पुष्कराशिरिवोच्छ्रितः ॥१३२॥

किरणोंसे शोभायमान वहाँकी लक्ष्मीका हास्य ही हो ॥ १२१ ॥ इस प्रकार अकृत्रिम और श्रेष्ठ रचनासे शोभायमान रहनेवाले उस विमानमें उपपाद शय्यापर वह देव क्षण-भरमें पूर्ण शरीरको प्राप्त हो गया ॥ १२२ ॥ दोष, धातु और मलके स्पर्शसे रहित, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त तथा पूर्ण चौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ उसका शरीर क्षण-भरमें ही प्रकट हो गया था ॥ १२३ ॥ जिसकी स्नेहा कभी ग्लान नहीं होती, जो स्वभावसे ही सुन्दर है और जो नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है ऐसा उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानो अमृतके द्वारा ही बनाया गया हो ॥ १२४ ॥ इस संसारमें जो शुभ सुगन्धित और चिकने परमाणु थे, पुण्योदयके कारण उन्हीं परमाणुओंसे उसके शरीरकी रचना हुई थी ॥ १२५ ॥ पर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद उपपाद शय्यापर अपने ही शरीरकी कान्तिरूपी चाँदनीसे घिरा हुआ वह अहमिन्द्र ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि आकाशमें चाँदनीसे घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ १२६ ॥ उस उपपाद शय्यापर बैठा हुआ वह दिव्यहंस (अहमिन्द्र) क्षण-भर तक ऐसा शोभायमान होता रहा जैसा कि गंगा नदीके बालूके टीलेपर अकेला बैठा हुआ तरुण हंस शोभायमान होता है ॥ १२७ ॥ उत्पन्न होनेके बाद वह अहमिन्द्र निकटवर्ती सिंहासनपर आरुढ़ हुआ था । उस समय वह ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि अत्यन्त श्रेष्ठ निषध पर्वतके मध्यपर आश्रित हुआ सूर्य शोभायमान होता है ॥ १२८ ॥ वह अहमिन्द्र अपने पुण्यरूपी जलके द्वारा केवल अभिषिक्त ही नहीं हुआ था किन्तु शारीरिक गुणोंके समान अनेक अलङ्कारोंके द्वारा अलङ्कृत भी हुआ था ॥ १२९ ॥ उसने अपने वल्लःस्थलपर केवल फूलोंकी माला ही धारण नहीं की थी किन्तु जीवन्तपर्यन्त नष्ट नहीं होनेवाली, साथ-साथ उत्पन्न हुई स्वर्गकी लक्ष्मी भी धारण की थी ॥ १३० ॥ स्नान और विलेपनके बिना ही जिसका शरीर सदा देदीप्यमान रहता है और जो स्वयं साथ-साथ उत्पन्न हुए वज्र तथा आभूषणोंसे शोभायमान है ऐसा वह अहमिन्द्र देवोंके मस्तकपर (अग्रभागमें) ऐसा सुशोभित होता था मानो स्वर्गलोकका एक शिखामणि ही हो अथवा सूर्य ही हो क्योंकि शिखामणि अथवा सूर्य भी स्नान और विलेपनके बिना ही देदीप्यमान रहता है और स्वभावसे ही अपनी प्रभा-द्वारा आकाशको भूषित करता रहता है ॥ १३१ ॥

जिसका निर्मल और उत्कृष्ट शरीर शुद्ध स्फटिकके समान अत्यन्त शोभायमान था तथा जिसके मस्तकपर देदीप्यमान मुकुट शोभायमान हो रहा था ऐसा वह अहमिन्द्र, जिसकी शिखा

१. स पर्याप्ति अ-ब०, द०, स०, म० । २. अनुपाधिमञ्जुलम् । ३. चिक्कणाः । ४. देवश्रेष्ठः ।

५. समोपस्थम् । ६. परार्धनिषधो-अ०, प०, द०, स०, ल० । ७. सौकुमार्यादिभिः । ८. ववाभाम् ।

९. देवानामग्रे । १०. द्युतः ।

किरीटाङ्कुरकुण्डलादिपरिष्कृतः । सखी सर्वशुकः शोभान् सोऽध्यात् कल्पद्रुमश्रियम् ॥१३३॥
 अणिमादिगुणैः इलाप्या दधन्वैक्रियिको तनुम् । स्वश्रेष्ठे विजहारासौ जिनेन्द्रार्चाः समर्चयन् ॥१३४॥
 सङ्कल्पमाग्रनिर्घुसैः^३ दिव्यैर्गन्धाक्षतादिभिः । पुण्यानुबन्धिनीं पूजां स जैनीं विधिवद् स्वधात् ॥१३५॥
 तत्रस्थ एव चाशेषभुवनोदरवर्तिनीः । भानर्चां जिनेन्द्राणां सोऽग्रणीः पुण्यकर्मणाम् ॥१३६॥
 जिनार्चास्तुतिवाग्दु वाग्बुद्धिं तद्गुणस्मृतौ । एवं मनस्तन्नर्ता कार्यं पुण्यधीः सन्न्ययोजयत् ॥१३७॥
 धर्मगोष्ठ्येवनाहुतमिलितैः स्वसमृद्धिभिः । संभाषणादरोऽस्यासीदहमिन्द्रैः शुभंशुभिः ॥१३८॥
 क्षालयन्निव दिग्भिर्त्ताः स्मितांशुसलिलप्लवैः । सहाहमिन्द्रैरुद्ग्रीः स चक्रे धर्मसंकथाम् ॥१३९॥
 स्वावासोपान्तिकोद्यानसरःपुलितभूमिषु । दिव्यहंसधिरं रमे विहरन् स यदृच्छया ॥१४०॥
 परक्षेत्रविहारस्तु नाहमिन्द्रेषु विद्यते । शुक्ललेण्यानुभावेन स्वमोर्ध्वतिमापुषाम्^४ ॥१४१॥
 स्वस्थाने वा य संप्रीतिः निरयायसुखोदये । न साम्यत्र ततोऽन्येषां [नैदा] रिरंसा परभुक्तिषु^५ ॥१४२॥
 अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो भक्तोऽस्तौत्यासैः करधराः । अहमिन्द्राकथया स्वानि गतास्ते हि सुतोत्तमाः ॥
 नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न भस्मरः । केवलं सुलसाद्भूता दीव्यन्ते ते प्रमोदिमः ॥१४४॥

ऊँची बढी हुई है ऐसी पुण्यकी राशिके समान सुशोभित होता था ॥१३२॥ वह अहमिन्द्र, सुकुट, अनन्त, बाजूबन्द और कुण्डल आदि आभूषणोंसे सुशोभित था, सुन्दर मालाएँ धारण कर रहा था, उत्तम-उत्तम वस्त्रोंसे युक्त था और स्वयं शोभासे सम्पन्न था इसलिए अनेक आभूषण, माला और वस्त्र आदिको धारण करनेवाले किसी कल्पवृक्षके समान जान पड़ता था ॥१३३॥ अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे प्रशंसनीय वैक्रियिक शरीरको धारण करनेवाला वह अहमिन्द्र जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम प्रतिमाओंकी पूजा करता हुआ अपने ही क्षेत्रमें विहार करता था ॥१३४॥ और इच्छामात्रसे प्राप्त हुए मनोहर गन्ध, अक्षत आदिके द्वारा विधिपूर्वक पुण्यका बन्ध करनेवाली श्री जिनदेवकी पूजा करता था ॥१३५॥ वह अहमिन्द्र पुण्यात्मा जीवोंमें सबसे प्रधान था इसलिए उसी सर्वार्थसिद्धि विमानमें स्थित रहकर ही समस्त लोकके मध्यमें वर्तमान जिनप्रतिमाओंकी पूजा करता था ॥१३६॥ उस पुण्यात्मा अहमिन्द्रने अपने वचनोंकी प्रवृत्ति जिनप्रतिमाओंके स्तवन करनेमें लगायी थी, अपना मन उनके गुण-चिन्तन करनेमें लगाया था और अपना शरीर उन्हें नमस्कार करनेमें लगाया था ॥१३७॥ धर्मगोष्ठियोंमें बिना बुलाये सम्मिलित होनेवाले, अपने ही समान ऋद्धियोंकी धारण करनेवाले और शुभ भावोंसे युक्त अन्य अहमिन्द्रोंके साथ संभाषण करनेमें उसे बड़ा आदर होता था ॥१३८॥ अतिशय शोभाका धारक वह अहमिन्द्र कभी तो अपने मन्दहास्यके किरणरूपी जलके पुरोंसे विशारूपी दीवालोंका प्रक्षालन करता हुआ अहमिन्द्रोंके साथ तत्त्ववार्त्ता करता था और कभी अपने निवासस्थानके समीपवर्ती उपवनके सरोवरके किनारेकी भूमिमें राजहंस पक्षीके समान अपने इच्छानुसार विहार करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥१३९-१४०॥ अहमिन्द्रोंका परक्षेत्रमें विहार नहीं होता क्योंकि शुक्ललेण्याके प्रभावसे अपने ही भोगों-द्वारा सन्तोषको प्राप्त होनेवाले अहमिन्द्रोंको अपने निरुपद्रव सुखमय स्थानमें जो उत्तम प्रीति होती है वह उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती । यही कारण है कि उनकी परक्षेत्रमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा नहीं होती है ॥१४१-१४२॥ 'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई इन्द्र नहीं है' इस प्रकार वे अपनी निरन्तर प्रशंसा करते रहते हैं और इसलिए वे उत्तमदेव अहमिन्द्र नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१४३॥ उन अहमिन्द्रके न तो परस्परमें असूझा है, न परनिन्दा है, न आत्मप्रशंसा

१. किरीटा- अ० । २. भूषितः । ३. निष्पलैः । ४. शुभकर्मवताम् । ५. शुभावहेः । 'स' पुस्तके टिप्पणे पाठान्तरम् । शुभेषुभिः म०, ल० । ६. स्वक्षेत्रैः । ७. संतोषं गतवताम् । -भीषुषाम् अ०, प०, स०, द० । ८. रमणेच्छा । ९. परक्षेत्रेषु । १०. मत् । ११. स्वीकृतश्लाघाः ।

स एष परमानन्दं स्वसाद्गतं समुद्रहन् । अयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाप्रतिः ॥१४५॥
 समेन चतुरस्रेण संस्थानेनातिसुन्दरम् । हस्तमात्रोच्छ्रितं देहं हंसार्म भवत् ॥१४६॥
 सहजाशुक्रदिव्यस्त्रग्विभूषाभिरलङ्कितम् ॥ १. अमृतस्यैव तन्मोहं दान्तो रुद्धिं तपः ॥१४७॥
 प्रशान्तललितोदात्तधीरनेपथ्यविभ्रमः । स्वदेहप्रसरज्योत्स्नाक्षीराब्धौ मग्नविग्रहः ॥१४८॥
 स्फुरदामरणोद्योतद्योतिताखिलदिग्मुखः । तेजोराशिरिचैक्यमुपनीतोऽतिमास्वरः ॥१४९॥
 विशुद्धलेश्यः शुद्धेददेहदीधितिदिग्बद्धिः । सौधेनेव रसेनालनिर्माणः सुखनिर्भूतः ॥१५०॥
 सुभाशिनीं सुनासीरप्रमुखाणामगोचरम् । संप्राप्तः परमानन्दप्रदं पद्मनुसरम् ॥१५१॥
 त्रिसहस्राधिकं त्रिंशत्सहस्राब्दव्यतिक्रमे । मानसं दिव्यमाहारं स्वसात्कुर्वन् धृतिं दधौ ॥१५२॥
 मासैः षोडशभिः पञ्चदशभिश्च त्रिनैमैः ॥ १. प्राप्नोष्यत्वासस्थितिस्तत्र सोऽहमिन्द्रोऽवसत् सुखम् ॥१५३॥
 लोकनाडीगतं योग्यं मूर्तिद्रव्यं सपर्ययम् । स्वावधिज्ञानदीपेन शीलयन् सोऽद्युत्तराम् ॥१५४॥
 तन्मात्रां विक्रियां कर्तुमस्य सामर्थ्यमस्यदः । वीतरागस्तु तन्मैवं कुरुते निष्प्रयोजनः ॥१५५॥
 नलिनार्मं मुखं तस्य नेत्रे नीलोत्पलोपमे । कपोलाविन्दुं सच्छायौ विम्बकान्तिधरोऽधरः ॥१५६॥

है और न ईर्ष्या ही है । वे केवल सुखमय होकर हर्षयुक्त होते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं ॥१४४॥ वह वज्रनाभिका जीव अहमिन्द्र अपने आत्माके अधीन उत्पन्न हुए उत्कृष्ट सुखको धारण करता था, तैतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी और स्वयं अतिशय देवीप्यमान था ॥१४५॥ वह समचतुरस्र संस्थानसे अत्यन्त सुन्दर, एक हाथ ऊँचे और हंसके समान श्वेत शरीरको धारण करता था ॥१४६॥ वह साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, दिव्य माला और दिव्य आभूषणोंसे विभूषित जिस मनोहर शरीरको धारण करता था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सौन्दर्यका समूह ही हो ॥१४७॥ उस अहमिन्द्रकी वेपभूषा तथा विलास-चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशान्त थीं, ललित (मनोहर) थीं, उदात्त (उत्कृष्ट) थीं और धीर थीं । इसके सिवाय वह स्वयं अपने शरीरकी फैलती हुई प्रभारूपी क्षीरसागरमें सदा निमग्न रहता था ॥१४८॥ जिसने अपने चमकते हुए आभूषणोंके प्रकाशसे दसों दिशाओंको प्रकाशित कर दिया था ऐसा वह अहमिन्द्र ऐसा जान पड़ता था मानो एकरूपताको प्राप्त हुआ अतिशय प्रकाशमान तेजका समूह ही हो ॥१४९॥ वह विशुद्ध लेश्याका धारक था और अपने शरीरकी शुद्ध तथा प्रकाशमान किरणोंसे दसों दिशाओंको लिप्त करता था, इसलिए सदा सुखी रहनेवाला वह अहमिन्द्र ऐसा मालूम होता था मानो अमृतरसके द्वारा ही बनाया गया हो ॥१५०॥ इस प्रकार वह अहमिन्द्र ऐसे उत्कृष्ट पदको प्राप्त हुआ जो इन्द्रादि देवोंके भी अगोचर है, परमानन्द देनेवाला है और सबसे श्रेष्ठ है ॥१५१॥ वह अहमिन्द्र तैतीस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करता हुआ धैर्य धारण करता था ॥१५२॥ और सोलह महीने पन्द्रह दिन व्यतीत होनेपर स्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था । इस प्रकार वह अहमिन्द्र वहाँ (सर्वार्थ-सिद्धिमें) सुखपूर्वक निवास करता था ॥१५३॥ अपने अवधिज्ञानरूपी दीपकके द्वारा त्रसनाडी-में रहनेवाले जामने योग्य मूर्तिक द्रव्योंको उनकी पर्यायोंसहित प्रकाशित करता हुआ वह अहमिन्द्र अतिशय शोभायमान होता था ॥१५४॥ उस अहमिन्द्रके अपने अवधि-ज्ञानके क्षेत्र बराबर विक्रिया करनेकी भी सामर्थ्य थी, परन्तु वह रागरहित होनेके कारण बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था ॥१५५॥ उसका मुख कमलके समान था, नेत्र नील कमलके समान थे, गाल चन्द्रमाके तुल्य थे और

१. प्रशान्तललितोदात्तधीरा इति चत्वारो नेपथ्यभेदाः । २. एकरूपमिति यावत् । एकधा शब्दस्य भावः । ३. अमृतसम्बन्धिनेत्यर्थः । ४. सुखसन्तप्तः । ५. त्रिसहस्रादिकं त्रिंशत् म०, ल० । ६. त्रिनैमैः ३०, ६०, ९० । ७. स्वावधिज्ञानमात्रम् । ८. सद्गती । ९. विम्बिकापवकफलकान्तिधरः ।

इत्यादि वर्णनातीतं च पुरस्तात्तिभास्वरम् । कामनीयकसर्वस्वमेकीभूतामिवारुधन् ॥१५०॥
 आहारकशरीरं यन्निरलेकारभास्वरम् । योगिनामृद्भिर्जं तेन सद्यस्याचकाद् वपुः ॥१५१॥
 एकान्तशान्तिरूपं यत् सुखमाप्तैर्निरुपितम् । तदेकध्वनिपञ्चमं भूतस्मिन् सुरोत्तमं ॥१५२॥
 तेऽप्यष्टौ आतरस्तस्य धनदेवोऽप्यनल्पधीः । जातास्तस्मिन् दशा एव देवाः पुण्यानुभावनः ॥१५३॥
 इति तत्राहमिन्द्रास्ते सुखं मोक्षसुखोपमम् । भुञ्जाना निष्प्रबोचाराश्रिरमायन् प्रमोदिनः ॥१५४॥
 पूर्वोक्तप्रवीचारासुखानन्तगुणात्मकम् । सुखमन्याहतं तेषां शुभकर्मोदयोद्भवम् ॥१५५॥
 संसारे स्नातमासंगाद् जिज्ञासां सुखसंगमः । तदभावे कृतस्तेषां सुखमित्यत्र चर्च्यते ॥१५६॥
 निहन्तवृत्तितामासाः शमुशन्तीह देहिनाम् । तत्कृतस्यं सरागाणां द्वन्द्वोपहतचेतसाम् ॥१५७॥
 स्त्रीभोगो न सुखं चेतःसंमोहाद् गात्रसादृशात् । तृणानुबन्धान् संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥१५८॥
 मदनज्वरसंतप्तस्तपतीकारवान्छया । स्त्रीरूपं सेवते ध्रान्तो यथा कट्वपि भेषजम् ॥१५९॥
 मनोजविषयासेवा तृणायै न वितृष्ये । तृणार्चिषा च संतप्तः कथं नाम सुखी जनः ॥१६०॥

अधर विम्वफलको कान्तिको धारण करता था ॥ १५६ ॥ अभीतक जितना वर्णन किया है उससे भी अधिक सुन्दर और अतिशय चमकीला उसका शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो एक जगह इकट्ठा किया गया सौन्दर्यका सर्वस्व (सार) ही हो ॥ १५७ ॥ छठे गुण-स्थानवर्ती मुनियोंके आहारक ऋद्धिसे उत्पन्न होनेवाला और आभूषणोंके बिना ही देदीप्यमान रहनेवाला जो आहारक शरीर होता है ठीक उसके समान ही उस अहमिन्द्रका शरीर देदीप्यमान हो रहा था [विशेषता इतनी ही थी कि वह आभूषणोंसे प्रकाशमान था] ॥ १५८ ॥ जिनेन्द्रदेवने जिस एकान्त और शान्तरूप सुखका निरूपण किया है मालूम पड़ता है वह सभी सुख उस अहमिन्द्रमें जाकर इकट्ठा हुआ था ॥ १५९ ॥ वज्रनाभिके वे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नामके आठों भाई तथा विशाल बुद्धिका धारक धनदेव ये नौ जीव भी अपने पुण्यके प्रभावसे उसी सर्वार्थसिद्धिमें वज्रनाभिके समान ही अहमिन्द्र हुए ॥ १६० ॥ इस प्रकार उस सर्वार्थसिद्धिमें वे अहमिन्द्र मोक्षतुल्य सुखका अनुभव करते हुए प्रवीचार (मैथुन) के बिना ही चिरकाल तक सुखी रहते थे ॥ १६१ ॥ उन अहमिन्द्रोंके शुभ कर्मके उदयसे जो निर्वाच्य सुख प्राप्त होता है वह पहले कहे हुए प्रवीचारसहित सुखसे अनन्त गुना होता है ॥ १६२ ॥ जब कि संसारमें स्त्री-समागमसे ही जीवोंको सुखकी प्राप्ति होती है तब उन अहमिन्द्रोंके स्त्री-समागम न होनेपर सुख कैसे हो सकता है ? यदि इस प्रकार कोई प्रश्न करे तो उसके समाधानके लिए इस प्रकार विचार किया जाता है ॥ १६३ ॥ चूँकि इस संसारमें जिनेन्द्रदेवने आकुलतारहित वृत्तिको ही सुख कहा है, इसलिए वह सुख उन सरागी जीवोंके कैसे हो सकता है जिनके कि चित्त अनेक प्रकारकी आकुलताओंसे व्याकुल हो रहे हैं ॥ १६४ ॥ जिस प्रकार चित्तमें मोह उत्पन्न करनेसे, शरीरमें शिथिलता लानेसे, तृष्णा (प्यास) बढ़ानेसे और सन्ताप रूप होनेसे ज्वर सुखरूप नहीं होता उसी प्रकार चित्तमें मोह, शरीरमें शिथिलता, लालसा और सन्ताप बढ़ानेका कारण होनेसे स्त्री-संभोग भी सुख रूप नहीं हो सकता ॥ १६५ ॥ जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष कड़वी ओषधिका भी सेवन करता है उसी प्रकार कामज्वरसे संतप्त हुआ यह प्राणी भी उसे दूर करनेकी इच्छासे स्त्रीरूप ओषधिका सेवन करता है ॥ १६६ ॥ जब कि मनोहर विषयोंका सेवन केवल तृष्णाके लिए है न कि सन्तोषके लिए भी, तब तृष्णारूपी ज्वालासे संतप्त हुआ यह जीव सुखी कैसे हो सकता है ? ॥ १६७ ॥

१. वसो । २. प्राप्तम् । ३. संयोगात् । ४. विचार्यते । ५. निष्परिग्रहवृत्तित्वम् । ६. शरीरकलेजात् ।

७. नेऽप्यर्थात् १० । नेऽप्यर्थात् अ०, द०, म०, म०, ल०, । श्रेणी ।

प्रियाङ्गनाङ्गसंसर्गो यदीह सुखमङ्गिनाम् । ननु पक्षिमृगादीनां तिरश्चामस्तु तत्सुखम् ॥१७७॥
 शुनीमिन्द्रमहं पूतिघणाभूतकुथोनिकाम् । अवशं सेवमानः स्त्री सुखी चेत् स्त्रीशुषां सुखम् ॥१७८॥
 निम्बद्रुमे यथात्पन्नः कीटकस्तद्रसोपभुक् । मधुरं तद्रसं वेत्ति तथा विषमिणोऽप्यमी ॥१७९॥
 संभोगजनितं खेदं इलायमानः सुखास्थया^१ । तत्रैव रतिमायान्ति मषावस्करकीटकाः ॥१८०॥
 विषयानुभवात् पुंसां रतिमात्रं प्रजायते । रतिश्चेत् सुखमायातं^२ तन्व मध्यादनेऽपि तत् ॥१८१॥
 यथामो रतिमासाद्य विषयाननुभुजने । तथा श्वशूकरकुलं तद्रथैवाश्वसेनधकम् ॥१८२॥
 गूधकृमेर्यथा गूधरससेवा परं सुखम् । तथैव विषयानीप्सोः^३ सुखं जन्तोर्विगर्हितम् ॥१८३॥
 विषयाननुभुजामः स्त्रीप्रधानान् सखेपथुः^४ । श्वसन् प्रस्विन्नसर्वाङ्गः सुखी चेदसुखीह कः ॥१८४॥
 आयासमात्रमश्राजः सुखमित्यभिमन्यते । विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थि दशनैर्दशनम् ॥१८५॥

धारयुक्त शस्त्रसे चीरने आदिका उपक्रम किया जाता है उसी प्रकार विषयोंकी चाहरूपी रोग उत्पन्न होनेपर उसे दूर करनेके लिए विषय-सेवन किया जाता है और इस तरह जीवोंका यह विषय-सेवन केवल रोगोंका प्रतिकार ही ठहरता है ॥१७६॥ यदि इस संसारमें प्रिय स्त्रियोंके स्तन, योनि आदि अंगके संसर्गसे ही जीवोंको सुख होता हो तो वह सुख पक्षी, हरिण आदि तिर्यङ्गोंको भी होना चाहिए ॥१७७॥ यदि स्त्रीसेवन करनेवाले जीवोंको सुख होता हो तो कार्तिकके महीनेमें जिसकी योनि अतिशय दुर्गन्धयुक्त फोड़ोंके समान हो रही है ऐसी कुत्तीको स्वच्छन्दतापूर्वक सेवन करता हुआ कुत्ता भी सुखी होना चाहिए ॥१७८॥ जिस प्रकार नीमके वृक्षमें उत्पन्न हुआ कीड़ा उसके कड़वे रसको पीता हुआ उसे मीठा जानता है उसी प्रकार संसाररूपी विष्टामें उत्पन्न हुए ये मनुष्यरूपी कीड़े स्त्री-संभोगसे उत्पन्न हुए खेदको ही सुख मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं और उसीमें प्रीतिको प्राप्त होते हैं । भावार्थ—जिस प्रकार नीमका कीड़ा नीमके कड़वे रसको आनन्ददायी मानकर उसीमें तल्लीन रहता है अथवा जिस प्रकार विष्टाका कीड़ा उसके दुर्गन्धयुक्त अपवित्र रसको उत्तम समझकर उसीमें रहता हुआ आनन्द मानता है उसी प्रकार यह संसारी जीव संभोगजनित दुःख को सुख मानकर उसीमें तल्लीन रहता है ॥१७९-१८०॥ विषयोंका सेवन करनेसे प्राणियोंको केवल प्रेम ही उत्पन्न होता है । यदि वह प्रेम ही सुख माना जाये तो विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओंके स्नानमें भी सुख मानना चाहिए क्योंकि विषयों मनुष्य जिस प्रकार प्रेमको पाकर अर्थात् प्रसन्नताके विषयोंका उपभोग करते हैं उसी प्रकार कुत्ता और शूकरोंका समूह भी तो प्रसन्नताके साथ विष्टा आदि अपवित्र वस्तुएँ खाता है ॥१८१-१८२॥ अथवा जिस प्रकार विष्टाके कीड़ेको विष्टाके रसका पान करना ही उत्कृष्ट सुख मालूम होता है उसी प्रकार विषय-सेवनकी इच्छा करनेवाले जन्तुको भी निन्द्य विषयोंका सेवन करना उत्कृष्ट सुख मालूम होता है ॥१८३॥ जो पुरुष, स्त्री आदि विषयोंका उपभोग करता है उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र हो जाती है और सारा शरीर पसीनेसे तर हो जाता है । यदि संसारमें ऐसा जीव भी सुखी माना जाये तो फिर दुखी कौन होगा ? ॥१८४॥ जिस प्रकार दाँतोंसे हड्डी चचाता हुआ कुत्ता अपनेको सुखी मानता है उसी प्रकार जिसकी आत्मा विषयोंसे मोहित हो रही है ऐसा मूर्ख प्राणी भी विषय-सेवन करनेसे उत्पन्न हुए परिश्रम मात्रको ही सुख मानता है । भावार्थ—जिस प्रकार सूखी हड्डी चचानेसे कुत्तेको कुछ भी रसकी प्राप्ति नहीं होती वह व्यर्थ ही अपनेको सुखी मानता है उसी प्रकार विषय-सेवन करनेसे प्राणीको कुछ भी यथार्थ सुखका प्राप्ति नहीं होती, वह व्यर्थ ही अपनेको सुखी मान लेता है । प्राणियोंको इस विपरीत मान्यताका

१. कार्तिकमासे । २. गुणवृद्ध्या । ३. आगतम् । ४. विद्भक्षणम् । ५. प्राप्नुमिच्छाः । ६. सकम्पः ।

ततः स्वाभाविकं कर्म क्षयात् तत्प्रशमादपि । यदाह्लादनमंतत् स्यात् सुखं नाप्यव्यपाश्रयम् ॥१८९॥
 परिवारद्विसामग्रीया सुखं स्यात् कल्पवासिनाम् । तदभावेऽहमिन्द्राणां कुतस्त्यमिति चेत् सुखम् ॥१९०॥
 परिवारद्विसत्तैव किं सुखं किमु तद्वताम् । तत्सेवा सुखमित्येवमत्र स्याद् द्वितया गतिः ॥१९१॥
 सान्तःपुरो धनर्द्धाद्विपरिवारो अग्री नृपः । सुखी स्याद् यदि सन्मात्राद् विषयात् सुखमीप्सितम् ॥१९२॥
 तत्सेवासुखमित्यत्र दत्तमेषोत्तरं पुरा । तत्सेवा तीव्रमायस्तः कथं वा सुखभाग् भवेत् ॥१९३॥
 पश्यते विषयाः स्वप्नभोगाभा विप्रलम्भकाः । अस्थायिकाः कुतस्तेभ्यः सुखमार्तधियां नृणाम् ॥१९४॥
 विषयानर्जयन्नेव तावद्दुःखं महद् भवेत् । तदभाविन्यने भूयां भवेदत्यन्तमार्तधीः ॥१९५॥
 तद् विमोहं पुनर्दुःखमपारं परिवर्त्तते । पूर्वानुभूतविषयान् स्मृत्वा स्मृत्वावसीदतः ॥१९६॥
 अनाशितं भवानेतान् विषयान् धिगपययिनः । येषामासेवमं जन्तानां संतापोपशान्तये ॥१९७॥
 वक्षिरिधेन्धनेः सिन्धोः क्षीर्तोमिरिव सारितैः । न आमु विपयैर्जन्तोरुपमुक्तैर्वितृष्णता ॥१९८॥
 आरमन्तु यथा पीत्वा नृप्यत्यतितप्तं नरः । तथा विषयसंमोहः परं संतर्प्यमृच्छति ॥१९९॥

कारण विषयोंसे आत्माका मोहित हो जाना ही है ॥१८५॥ इसलिए कर्मोंके क्षयसे अथवा उप-
 शमसे जो स्वाभाविक आह्लाद उत्पन्न होता है वही सुख है । वह सुख अन्य वस्तुओंके आश्रयसे
 कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥१८६॥ अब कदाचित् यह कहो कि स्वर्गमें रहनेवाले देवोंको परि-
 वार तथा ऋद्धि आदि सामग्रीसे सुख होता है परन्तु अहमिन्द्रोंके वह सामग्री नहीं है इसलिए
 उसके अभावमें उन्हें सुख कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? तो इस प्रश्नके समाधानमें हम दो
 प्रश्न उपस्थित करते हैं । ये ये हैं—जिनके पास परिवार आदि सामग्री विद्यमान है उन्हें उस
 सामग्रीकी सत्तामात्रसे सुख होता है अथवा उसके उपभोग करनेसे ? ॥१८७-१८८॥ यदि सामग्री-
 की सत्तामात्रसे ही आपको सुख मानना इष्ट है तो उस राजाको भी सुखी होना चाहिए जिसे
 ज्वर चढ़ा हुआ है और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, धन, ऋद्धि तथा प्रतापी परिवार आदि सामग्री
 जिसके समीप ही विद्यमान हैं ॥१८९॥ कदाचित् यह कहो कि सामग्रीके उपभोगसे सुख होता
 है तो उसका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि परिवार आदि सामग्रीका उपभोग करनेवाला,
 उसकी सेवा करनेवाला पुरुष अत्यन्त श्रम और क्लमको प्राप्त होता है अतः ऐसा पुरुष सुखी
 कैसे हो सकता है ? ॥१९०॥ देखो, ये विषय स्वप्नमें प्राप्त हुए भोगोंके समान अस्थायी और
 धोखा देनेवाले हैं । इसलिए निरन्तर आर्तध्यान रूप रहनेवाले पुरुषोंको उन विषयोंसे सुख
 कैसे प्राप्त हो सकता है ? भाषार्थ—पहले तो विषय-सामग्री इच्छानुसार सबको प्राप्त होती
 नहीं है इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए निरन्तर आर्तध्यान करना पड़ता है और दूसरे प्राप्त
 होकर स्वप्नमें दिखे हुए भोगोंके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाती है इसलिए निरन्तर इष्ट विषय-
 गज आर्तध्यान होता रहता है । इस प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि विषय-सामग्री
 सुखका कारण नहीं है ॥१९१॥ प्रथम तो यह जीव विषयोंके इकट्ठे करनेमें बड़े भारी दुःखको
 प्राप्त होता है और फिर इकट्ठे हो चुकनेपर उनकी रक्षाकी चिन्ता करता हुआ अत्यन्त दुःखी
 होता है ॥१९२॥ तदनन्तर इन विषयोंके नष्ट हो जानेसे अपार दुःख होता है क्योंकि
 पहले भोगे हुए विषयोंका बार-बार स्मरण करके यह प्राणी बहुत ही दुःखी होता
 है ॥ १९३ ॥ जो अतृप्तिकर है, विनाशशाली है और जिनका सेवन जीवोंके सन्तापको
 दूर नहीं कर सकता ऐसे इन विषयोंको धिक्कार है ॥ १९४ ॥ जिस प्रकार ईधनसे
 अग्निकी तृष्णा नहीं मिटती और नदियोंके पूरसे समुद्रकी तृष्णा दूर नहीं होती उसी
 प्रकार भोगे हुए विषयोंसे कभी जीवोंकी तृष्णा दूर नहीं होती ॥ १९५ ॥ जिस प्रकार

१. अस्तित्वमेव । २. वक्ष्यकाः । ३. अस्थिराः । ४. अनुपलब्धकान् । अनाशितभवान् अ०, प०,
 स० । ५. सतिस्त्वन्विभिः । ६. अभिलाषम् ।

अहो विषयिणी व्यापस्वच्छेन्द्रिवशस्मिन्नाम् । विषयानिषगृध्नामचिन्त्यं दुःखमाप्नुषाम् ॥१९७॥
 वने वनगजास्तुङ्गा यूथपाः प्रोन्मदिष्णावः । भवपातेषु सोदन्ति करिणीस्पर्शमोहिताः ॥१९८॥
 सरन् सरसि संकुलकङ्कारस्थादुवारिणि । मत्स्यो^१ वद्विशमांसाधो^२ जीवनाशं प्रणश्यति ॥१९९॥
 मधुवतो सवामोदमाजिघ्रन् मददन्तिनाम् । मृत्युमाङ्गयते गुञ्जन् कर्णतालामिताङ्गैः ॥२००॥
 पतङ्गः पवनालोलदापाधिषि पतन् मुहुः । मृत्युमिच्छत्यनिच्छोऽपि मयिसाङ्ग तविग्रहः ॥२०१॥
 यथेष्टगतिका^३ पुष्टा मृदुस्वादुतृणाङ्गुरः । गीतासंगा^४ न्मृतिं यान्ति भृगुशोर्भृगुशोऽपि ॥२०२॥
 हृथेकशो^५ऽपि विषये बह्वपायो निषेधितः । किं पुनर्विषयाः प्रसां सामन्त्येन निषेधिताः ॥२०३॥
 हतोऽयं विषयैर्जन्तुः स्रोतोमि सरितामिष । ह्यञ्जं पतिस्वा सम्मारे दुःखावर्त्तेषु सादति ॥२०४॥
 विषयैर्विप्रलब्धोऽयम^६ धीरतिथनायति^७ । धनायामासितो^८ जन्तुः क्लेशानाप्नोति दुस्तहान् ॥२०५॥
 विलोभोऽसौ सुदुरातः स्वादिष्टालाभे क्षुधं गतः । तस्य लाभेऽन्यसंनुष्टो दुःखमवानुधावति ॥२०६॥

मनुष्य खारा पानी पीकर और भी अधिक प्यासा हो जाता है उसी प्रकार यह जीव, विषयोंके संभोगसे और भी अधिक लुब्धाको प्राप्त हो जाता है ॥१९६॥ अहो, जिनकी आत्मा पंचेन्द्रियोंके विषयोंके अधीन हो रही है जो विषयरूपी मांसकी तीव्र लालसा रखते हैं और जो अचिन्त्य दुःखको प्राप्त हो रहे हैं ऐसे विषयी जीवोंको बड़ा भारी दुःख है ॥१९७॥ वनोंमें बड़े-बड़े जंगली हाथी जो कि अपने झुण्डके अधिपति होते हैं और अत्यन्त मदोन्मत्त होते हैं वे भी हथिनीके स्पर्शसे मोहित होकर गड्ढोंमें गिरकर दुःखी होते हैं ॥१९८॥ जिसका जल फूले हुए कमलोंसे अत्यन्त स्वादिष्ट हो रहा है ऐसे तालाबमें अपने इच्छानुसार विहार करनेवाली मछली बंशीमें लगे हुए मांसकी अभिलाषासे प्राण खो बैठती है—बंशीमें फँसकर मर जाती है ॥१९९॥ मदोन्मत्त हाथियोंके मदकी बास महण करनेवाला भौरा गुंजार करता हुआ उन हाथियोंके कर्णरूपी बीजनोंके प्रहारसे मृत्युका आह्वान करता है ॥२००॥ पतंग वायुसे हिलती हुई दीपककी शिखापर बार-बार पड़ता है जिससे उसका शरीर स्वादिके समान काला हो जाता है और वह इच्छा न रखता हुआ भी मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥२०१॥ इसी प्रकार जो हरिणियाँ जंगलमें अपने इच्छानुसार जहाँ-तहाँ घूमती हैं तथा कोमल और स्वादिष्ट तृणके अंकुर चरकर पुष्ट रहती हैं वे भी शिकारीके गीतोंमें आसक्त होनेसे मृत्युको प्राप्त हो जाती हैं ॥२०२॥ इस प्रकार जब सेवन किया हुआ एक-एक इन्द्रियका विषय अनेक दुःखोंसे भरा हुआ है तब फिर समस्त रूपसे सेवन किये हुए पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंका क्या कहना है? ॥२०३॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे खींचा हुआ पदार्थ किसी गहरे गड्ढेमें पड़कर उसकी भँवरोंमें फिरा करता है उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे खींचा हुआ यह जन्तु नरकरूपी गहरे गड्ढेमें पड़कर दुःखरूपी भँवरोंमें फिरा करता है और दुःखी होता रहता है ॥२०४॥ विषयोंसे ठगा हुआ यह मूर्ख जन्तु पहले तो अधिक धनकी इच्छा करता है और उस धनके लिए प्रयत्न करते समय दुःखी होकर अनेक क्लेशोंको प्राप्त होता है। उस समय विलष्ट होनेसे यह भारी दुःखी होता है। यदि कदाचित् मनचाही वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं हुई तो शोकको प्राप्त होता है। और यदि मनचाही वस्तुकी प्राप्ति भी हो गयी तो उतनेसे सन्तुष्ट नहीं होता जिससे फिर भी उसी दुःखके

१. लुब्धानाम् । २. -मोयुषाम् अ०, प०, द०, स०, ल० । ३. जलपातनायमर्तेषु । ४. 'वद्विशं मत्स्यबन्धनम्' । ५. जीवन्नेव नश्यतीत्यर्थः । ६. -हमेतिकाः द०, ट० । एतिकाः चरन्त्यः । आ सम्मन्तात् इतिर्गमनं यासां ताः, अथवा एतिकाः नानावर्णाः । ७. आसक्तेः । ८. व्याघ्रस्य । ९. एकैकम् । १०. नरके गते च । ११. विप्रलुब्धोऽय-अ० । १२. अतिक्षयेन वाञ्छति । १३. धनवाञ्छया आयस्तः ।

ततस्तद्वागतद्वेष्टदूषितात्मा^१ जडाशयः । कर्म बध्नाति दुर्मोक्षं येनामुत्रावसीदति ॥२००॥
 कर्मबानेन^२ दौःस्थित्यं दुर्गतावनुसंश्रितः । दुःखासिकामवाप्नोति महतोमक्षिगार्हिताम् ॥२०१॥
 विषयानीहते दुःखी तत्प्राप्तावतिगृहिमान्^३ । ततोऽतिदुरनुष्ठानैः कर्म बध्नात्यशर्मदम् ॥२०२॥
 इति भूयोऽपि तेनैव चक्रकेण परिभ्रमन् । संसारापारदुर्वाह्यं पतयत्यन्तदुस्तरे ॥२०३॥
 तस्माद् विषयजामेनां मत्त्वानर्थपरम्पराम् । विषयेषु रतिस्त्वान्ना तामदुःखानुश्रव्यम् ॥२०४॥
 कारीषाग्नौष्टकापाकतार्णामिसदृशा मताः । त्रयोऽमी वेदसंतापास्तद्वाञ्छन्तुः कथं सुखी ॥२०५॥
 ततोऽधिकमिदं दिव्यं सुखमप्रविचारकम् । देवानामहमिन्द्राणामिति निश्चिनु सोमध ॥२०६॥
 सुखमेतेन^४ सिद्धानामयुक्तं^५ विषयातिगम् । अप्रमेयमनन्तं च यदात्मोत्थमनीदृशम् ॥२०७॥
 यद्विष्यं यच्च मानुष्यं सुखं त्रैकाल्यगोचरम् । तत्सर्वं पिण्डितं तार्यः^६ सिद्धक्षणमुखस्य च ॥२०८॥
 सिद्धानां सुखमात्मोत्थमन्यावाधमकर्मजम् । परमाह्लादरूपं तदर्नोपममनुत्तरम् ॥२०९॥
 सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः^७ शीतीभूता निरुत्सुकाः । सिद्धाश्चेत् सुखिनः सिद्धमहमिन्द्रास्थदे सुखम् ॥२१०॥

लिए दौड़ता है ॥२०५-२०६॥ इस प्रकार यह जीव राग-द्वेषसे अपनी आत्माको दूषित कर ऐसे कर्मोंका बन्ध करता है जो बड़ी कठिनाईसे टूटते हैं और जिस कर्मबन्धके कारण यह जीव परलोकमें अत्यन्त दुःखी होता है ॥२०७॥ इस कर्मबन्धके कारण ही यह जीव नरकादि दुर्ग-तियोंमें दुःखमय स्थितिको प्राप्त होता है और वहाँ चिरकाल तक अतिशय निन्दनीय बड़े-बड़े दुःख पाता रहता है ॥२०८॥ वहाँ दुःखी होकर यह जीव फिर भी विषयोंकी इच्छा करता है और उनके प्राप्त होनेमें तीव्र लालसा रखता हुआ अनेक दुष्कर्म करता है जिससे दुःख देने-वाले कर्मोंका फिर भी बन्ध करना है । इस प्रकार दुःखी होकर फिर भी विषयोंकी इच्छा करता है, उसके लिए दुष्कर्म करता है, छोटे कर्मोंका बन्ध करता है और उनके उदयसे दुःख भोगता है । इस प्रकार चक्रक रूपसे परिभ्रमण करता हुआ जीव अत्यन्त दुःखसे तैरने योग्य संसार-रूपी जपार समुद्रमें पड़ता है ॥२०९-२१०॥ इसलिए इस समस्त अनर्थ-परम्पराको विषयोंसे उत्पन्न हुआ मानकर तीव्र दुःख होनेवाले विषयोंमें प्रीतिका परित्याग कर देना चाहिए ॥२११॥ जब कि स्रोवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों ही वेदोंके सन्ताप-क्रमसे सूखे हुए कण्डे-की अग्नि, ईंटोंके अँवाकी अग्नि और तृणकी अग्निके समान माने जाते हैं तब उन वेदोंको धारण करनेवाला जीव सुखी कैसे हो सकता है ॥२१२॥ इसलिए हे श्रेणिक, तू निश्चय कर कि अह-मिन्द्र देवोंका जो प्रवीचाररहित दिव्य सुख है वह विषयजन्य सुखसे कहीं अधिक है ॥२१३॥ इस उपर्युक्त कथनसे सिद्धोंके उस सुखका भी कथन हो जाता है जो कि विषयोंसे रहित है, प्रमाणरहित है, अन्तरहित है, उपमौरहित है और केवल आत्मासे ही उत्पन्न होता है ॥२१४॥ जो स्वर्गलोक और मनुष्यलोकसम्बन्धी तीनों कालोंका इकट्ठा किया हुआ सुख है वह सिद्ध पर-मेष्ठीके एक क्षणके सुखके बराबर भी नहीं है ॥२१५॥ सिद्धोंका वह सुख केवल आत्मासे ही उत्पन्न होता है, बाधारहित है, कर्मोंके श्रयसे उत्पन्न होता है, परम आह्लाद रूप है, अनुपम है और सबसे श्रेष्ठ है ॥२१६॥ जो सिद्ध परमेष्ठी सब परिग्रहोंसे रहित है, शान्त है और उत्कण्ठासे रहित है जब वे भी सुखी माने जाते हैं तब अहमिन्द्र पदमें तो सुख अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है । भावार्थ—जिसके परिग्रहका एक अंश मात्र भी नहीं है ऐसे सिद्ध भगवान् ही जब

१. ततः कारणात् । २. इष्टलाभालाभराशद्वेष्ट । ३. कर्मणा तेन अ०, प०, स०, द० । ४. दुःस्थितिम्, दुःखेनावस्थानम् । ५. विषयप्राप्ती । ६. लोभवान् । ७. ततः लोभात् । ८. तद्वज्जन्तुः म०, ल० । ९. ततः कारणात् । १०. अहमिन्द्रसुखप्रतिपादनप्रकारेण । ११. अतिशयेनोक्तम् । १२. मृत्युम् । १३. द्वन्द्वः परिग्रहः ।

मालिनीवृत्तम्

निरतिशयमुदारं निष्प्रवीचारमात्रि-

सुकृतसुकृतफलानां^१ कल्पलोकौत्तराणाम् ।

सुखममरधराणां दिव्यमन्याजरस्यं^२

शिवसुखमिव तेषां संमुखायातमासीत् ॥२१८॥

सुखमसुखमितीदं संसृतां देहमाजां

हितयमुदितमासैः कर्मबन्धानुरूपम् ।

सुकृत^३विकृतभेदात्तच्च कर्म द्विधोक्तं

मधुरकटुकफर्कं^४ मुक्तमेकं तथाज्ञम् ॥२१९॥

सुकृतफलमुदारं चिद्धि सर्वार्थसिद्धौ

दुरितफलमुदयं सप्तमीनारकाणाम् ।

शान्तमयमयोर्गैरिदमं^५ पुण्यमाजा—

महाप्रदमयमानां कर्मणा दुष्कृतेन ॥२२०॥

सुखी कहलाते हैं तब जिनके शरीर अथवा अन्य अल्प परिग्रह विद्यमान हैं ऐसे अहमिन्द्र भी अपेक्षाकृत सुखी क्यों न कहलायें ? ॥२१८॥ जिनके पुण्यका फल प्रकट हुआ है ऐसे स्वर्गलोक-से आगे (सर्वार्थसिद्धिमें) रहनेवाले उन वज्रनाभि आदि अहमिन्द्रोंको जो सुख प्राप्त हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो मोक्षका सुख ही उनके सम्मुख प्राप्त हुआ हो क्योंकि जिस प्रकार मोक्षका सुख अतिशयरहित, उदार, प्रवीचाररहित, दिव्य (उत्तम) और स्वभावसे ही मनोहर रहता है उसी प्रकार उन अहमिन्द्रोंका सुख भी अनिशयरहित, उदार, प्रवीचार-रहित, दिव्य (स्वर्गसम्बन्धी) और स्वभावसे ही मनोहर था ॥ भावार्थ—मोक्षके सुख और अहमिन्द्र अवस्थाके सुखमें भारी अन्तर रहता है तथापि यहाँ श्रेष्ठता दिखानेके लिए अहमिन्द्रोंके सुखमें मोक्षके सुखका सादृश्य बताया है ॥ २१८॥ इस संसारमें जीवोंको सुख-दुःख होते हैं वे दोनों ही अपने-अपने कर्मबन्धके अनुसार हुआ करते हैं ऐसा श्री अरहन्त देवने कहा है । वह कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । जिस प्रकार खाये हुए एक ही अन्नका मधुर और कटुक रूपसे दो प्रकारका विपाक देखा जाता है उसी प्रकार उन पुण्य और पापरूपी कर्मोंका भी क्रमसे मधुर (सुखदायी) और कटुक (दुःखदायी) विपाक-फल-देखा जाता है ॥२१९॥ पुण्यकर्मोंका उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धिमें और पापकर्मोंका उत्कृष्ट फल सप्तम पृथिवीके नारकियोंके जानना चाहिए । पुण्यका उत्कृष्ट फल परिणामोंको शान्त रखने, इन्द्रियोंका दमन करने और निर्दोष चारित्र्य पालन करनेसे पुण्यात्मा जीवोंको प्राप्त होता है और पापका उत्कृष्ट फल परिणामोंको शान्त नहीं रखने, इन्द्रियोंका दमन नहीं करने तथा निर्दोष चारित्र्य पालन नहीं करनेसे पापी जीवोंको प्राप्त होता है ॥ २२० ॥ जिस प्रकार

१. कल्पानीकानाम् । २. अनुपाधिमनोजम् । ३. —तदुरितभेदा— अ०, प०, म०, द०, म०, ल०

४. परिणमनम् । ५. योगः ध्यानम् । ६. प्रथमम् ।

कृतमनिरिति धीमान्^१ शंकरां तां जिनाज्ञां^३
 शमदमयमशुद्धै^५ भावयेदस्ततन्मः ।
 सुखमनुलमभोऽपुर्दुःखभारं जिहासु-
 निकटतरजिनश्रोर्वज्रनाभिर्यथायम् ॥ २२६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
 भगवद्बज्रनाभिसर्वार्थसिद्धिगमनवर्णनं नाम
 एकादशं पर्व ॥ ११ ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

बहुत ही शीघ्र जिनेन्द्र लक्ष्मी (तीर्थंकर पद) प्राप्त करनेवाले इस वज्रनाभिने शम, दम और यम (चारित्र) की विशुद्धि के लिए आलस्यरहित होकर श्री जिनेन्द्रदेवकी कल्याण करनेवाली आज्ञाका चिन्तन किया था उसी प्रकार अनुपम सुख के अभिलाषी दुःखके भारको छोड़नेकी इच्छा करनेवाले, बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषोंको भी शम, दम, यमकी विशुद्धि के लिए आलस्य (प्रमाद) रहित होकर कल्याण करनेवाली श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका चिन्तन करना चाहिए—दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका चिन्तन करना चाहिए ॥ २२१ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण
 महापुराणसंग्रहमें श्री भगवान् वज्रनाभिके सर्वार्थसिद्धिगमनका
 वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

१. सम्पूर्णबुद्धिः । २. विद्वान् । ३. श्रीजिनाज्ञां भ०, ल० । ४. —सिद्धयं अ०, स० ।
 ५. दातुमिच्छुः ।

द्वादशं पर्व

अथ तस्मिन् महाभागे^१ स्वर्लोकाद् भुवमेध्वति^२ । यद्वृत्तकं जगत्स्मिन् तद्वक्ष्ये शृणु भावुना ॥१॥
 अग्रान्तरं^३ पुराणार्थकां चिदं वदतां वरम् । पप्रच्छ मुनयो नम्रा गीतमं गणनायकम् ॥२॥
 भगवन् भारते वर्णे भोगभूमिस्थितिच्युती । कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रसूतायां यथायथम् ॥३॥
 तथा^४ कुलधरोत्पत्तिस्त्वया प्रागेव वर्णिता । नाभिराजश्च तत्रान्यो^५ विश्वक्षत्रगणाग्रणोः ॥४॥
 स एव धर्मसर्गस्य^६ सूत्रधारं^७ महाधिपम् । इक्ष्वाकुज्येष्ठसृषमं काश्रमे^८ समजीजनत् ॥५॥
 तस्य स्वर्गावतारादिकल्याणार्थं कीदृशी । इदमेतत् स्वप्ना बोद्धमिच्छामस्वदनुग्रहात् ॥६॥
^{१०} तत्प्रश्नावसितानि स्थं व्याजहार गणाधिपः । स^{११} तान् निकलमवान् कुर्वन् शुचिर्मिर्दशनांशुभिः ॥७॥
 इह जन्ममपि द्वीपे भरते खचराचलात् । दक्षिणे मध्यमे^{१२} खण्डे कालसन्धौ पुरोदिते ॥८॥
 पूर्वोक्तकुलहस्त्वन्वयो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् । स्वावर्णितायुस्तेधरूपसौन्दर्यविभ्रमः ॥९॥
 सनाभिर्मावितां राज्ञां^{१३} सनाभिः^{१४} स्वगुणान्शुभिः । मास्वानिव बभौ लोके मास्वन्मौलिर्महाश्रुतिः^{१५} ॥१०॥
 शशोव स कलाधारस्तेजस्वी भालुमानिव । प्रभुः शक्र इवाभीष्टफलदः कल्पशाखिवत् ॥११॥

अनन्तर गौतम स्वामी कहने लगे कि जब वह वज्रनाभिका जीव अहमिन्द्र, स्वर्गलोकसे पृथ्वीपर अवतार लेनेके सम्मुख हुआ तब इस संसारमें जो वृत्तान्त हुआ था अब मैं उसे ही कहूँगा । आप लोग ध्यान देकर सुनिए ॥१॥ इसी बीचमें मुनियोंने नम्र होकर पुराणके अर्थको जाननेवाले और वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्री गौतम भगवत्से प्रश्न किया ॥२॥ कि हे भगवन्, जब इस भारतवर्षमें भोगभूमिकी स्थिति नष्ट हो गयी थी और क्रम-क्रमसे कर्मभूमिकी व्यवस्था फैल चुकी थी उस समय जो कुलकरोंकी उत्पत्ति हुई थी उसका वर्णन आप पहले ही कर चुके हैं । उन कुलकरोंमें अन्तिम कुलकर नाभिराज हुए थे जो कि समस्त क्षत्रिय-समूहके अगुआ (प्रधान) थे । उन नाभिराजने धर्मरूपी सृष्टिके सूत्रधार, महाबुद्धिमान् और इक्ष्वाकु कुलके सर्वश्रेष्ठ भगवान् ऋषभदेवको किस आश्रममें उत्पन्न किया था ? उनके स्वर्गावतार आदि कल्याणकोंका ऐश्वर्य कैसा था ? आपके अनुग्रहसे हम लोग यह सब जानना चाहते हैं ॥३-६॥ इस प्रकार जब उन मुनियोंका प्रश्न समाप्त हो चुका तब गणनायक गौतम स्वामी अपने दाँतोंकी निर्मल किरणोंके द्वारा मुनिजनोंको पापरहित करते हुए बोले ॥७॥ कि हम पहले जिस कालसन्धिकी वर्णन कर चुके हैं उस कालसन्धि (भोगभूमिका अन्त और कर्मभूमिका प्रारम्भ होने) के समय इसी जम्बू द्वीपके भरत क्षेत्रमें विजयार्थ पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यम-आर्य खण्डमें नाभिराज हुए थे । वे नाभिराज चौदह कुलकरोंमें अन्तिम कुलकर होनेपर भी सबसे अग्रिम (पहले) थे (पश्चमें सबसे श्रेष्ठ थे) । उनकी आयु, शरीरकी ऊँचाई, रूप, सौन्दर्य और विलास आदिका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥८-९॥ देदीप्यमान मुकुटसे शोभायमान और महाकान्तिके धारण करनेवाले वे नाभिराज आगामी कालमें होनेवाले राजाओंके बन्धु थे और अपने गुणरूपी किरणोंसे लोकमें सूर्यके समान शोभायमान हो रहे थे ॥१०॥ वे चन्द्रमाके समान कलाओं (अनेक विद्याओं) के आधार थे, सूर्यके समान तेजस्वी थे, इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली थे और कल्पवृक्षके समान मनचाहे फल देनेवाले थे ॥११॥

१. महाभागवति । २. आगमिष्यति सति । ३. अवसरे । ४. स्थितौ । ५. तदा अ०, प०, स०, म०, व०, ल० । ६. सकलक्षत्रियसमूहः । ७. मुष्टेः । ८. प्रवर्तकम् । ९. स्थाने । १०. तन्मुनीनां प्रश्नावसाने । ११. मुनीन् । १२. आर्यखण्डे । १३. बन्धुः । १४.-भिद्वय गुणा-प०, व० । १५. तेजः ।

तस्यासौन्मरुदेवीनि देवी देवीव सा शर्षा । रूपलावण्यकान्तिश्रीमतिच्युतिविभूतिभिः ॥१२॥
 सा कलेवैन्दवी कान्त्या जनतानन्ददायिनी । स्वर्गस्त्रीरूपसर्वस्वमुच्चिन्वेव विनिर्मिता ॥१३॥
 तन्वङ्गी पञ्चविम्बोष्ठी सुभ्रूआरुपयोधरा । मनोभुवा जगज्जेतुं सा पताकैव दक्षिता ॥१४॥
 तद्रूपमौष्ठवं तस्याः 'हाव' भावं च विभ्रमम् । भावयित्वा कृतो कोऽपि नाट्यशास्त्रं व्यधाद् भुवम् ॥१५॥
 नूनं तस्याः कलालापं 'भावयन्' स्वरमण्डलम् । 'प्रणीत'गीतशास्त्रार्थो जनो जगति सम्मतः ॥१६॥
 रूपसर्वस्वहरणं कृत्यान्यस्त्रीजनस्य सा । 'वैरूप्यं' कुर्वता व्यक्तं 'किराशं' वृत्तिमन्वयात् ॥१७॥
 सा दधेऽधिपदद्वन्द्वं लक्षणानि विचक्षणा । 'प्रणिन्युलक्षणं' स्त्रीणां वैरुदाहरणीकृतैः ॥१८॥
 मृदङ्गुलिदले तस्याः 'पदाब्जे' श्रियमूढतुः^१ । नखदीधितिसन्मानलसक्रेमरशोभिनी ॥१९॥
 जित्वा रक्तान्जनेतस्याः क्रमौ मङ्गलानिद्वौ^२ । अलोक्युमन्त्रैरीवजगत्स्मिन्मातेनतुभुवम् ॥२०॥

उन नाभिराजके मरुदेवी नामकी रानी थी जो कि अपने रूप, सौन्दर्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, वृत्ति और विभूति आदि गुणोंसे इन्द्राणी देवोंके समान थी ॥१२॥ वह अपनी कान्तिसे चन्द्रमाकी कलाके समान सब लोगोंको आनन्द देनेवाली थी और ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्गकी स्त्रियोंके रूपका सार इकट्ठा करके ही बनायी गयी हो ॥१३॥ उसका शरीर कृश था, ओठ पके हुए विश्वफलके समान थे, भौंहें अच्छी थीं और स्तन भी मनोहर थे। उन सबसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवने जगत्को जीननेके लिए पताका ही दिखायी हो ॥१४॥ ऐसा मालूम होता है कि किसी चतुर विद्वान्ने उसके रूपकी सुन्दरता, उसके हाव, भाव और विलासका अच्छी तरह विचार करके ही नाट्यशास्त्रकी रचना की हो। भावार्थ—नाट्यशास्त्रमें जिन हाव, भाव और विलासका वर्णन किया गया है वह मानो मरुदेवीके हाव, भाव और विलासको देखकर ही किया गया है ॥१५॥ मालूम होता है कि संगीतशास्त्रकी रचना करनेवाले विद्वान्ने मरुदेवीकी मधुर वाणीमें ही मंगीतके निपाद, ऋषभ, गान्धार आदि समस्त स्वरोंका विचार कर लिया था। इसीलिए तो वह जगत्में प्रसिद्ध हुआ है ॥१६॥ उस मरुदेवीने अन्य स्त्रियोंके सौन्दर्यरूपी सर्वस्व धनका अपहरण कर उन्हें दरिद्र बना दिया था, इसलिए स्पष्ट ही मालूम होता था कि उसने किसी दुष्ट राजाकी प्रवृत्तिका अनुसरण किया था क्योंकि दुष्ट राजा भी तो प्रजाका धन अपहरण कर उसे दरिद्र बना देता है ॥१७॥ वह चतुर मरुदेवी अपने दोनों चरणोंमें अनेक सामुद्रिक लक्षण धारण किये हुए थीं। मालूम होता है कि उन लक्षणोंको ही उदाहरण मानकर कवियोंने अन्य स्त्रियोंके लक्षणोंका निरूपण किया है ॥१८॥ उसके दोनों ही चरण कोमल अँगुलियोंरूपी दलोंसे सहित थे और नखोंकी किरणरूपी देदीप्यमान केशरसे सुशोभित थे इसलिए कमलके समान जान पड़ते थे और दोनों ही साक्षात् लक्ष्मी (शोभा) को धारण कर रहे थे ॥१९॥ मालूम होता है कि मरुदेवीके चरणोंने लाल कमलोंको जीत लिया इसीलिए तो वे सन्तुष्ट होकर नखोंकी किरणरूपी मंजरीके छलसे कुछ-कुछ हँस रहे थे ॥२०॥

१. विभूतिः अणिमादिः । २. इन्दोरियम् । ३. 'हावो मुखविकारः स्वाद् भावः स्वाध्विससंभवः । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥' ४. संस्कारं कुर्वन् । ५. प्रणीतः प्रोक्तः । ६. विरूपस्व विरुद्धं च । ७. किनृपाणाम् । ८. —मन्त्रियात् प०, म०, ल० । 'प' पुस्तके सप्तदशश्लोकानन्तरमयं श्लोकः समुद्धृतः—उक्तं च काव्यं [सामुद्रिके] 'भृङ्गराश' [स] न वाजिकुञ्जररथयोवृक्षयूपेषु च [धी] मालाकुण्डल-चामराकुशयव [चामराकुशयवाः] शैलध्वजा तोरणाः । मत्स्यस्वस्तिकवेदिका वयजिनिका शङ्खद्वयपद्माभ्युजं पादौ पाणितलेऽथवा युवतयो गच्छन्ति राज्ञः [राज्ञी] पदम् ॥' ९. ऊवृः । १०. पादाब्जे अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ११. विभ्रमः । १२. मङ्गलानिद्वौ ।

नखैः कुरयकच्छायां क्रमौ जिह्वाप्यनिर्वृत्तौ^१ । विजिगीषाते गतेनास्या हंसीनां गतिविभ्रमम् ॥२१॥

मणिनूपुरसङ्कारमुखरौ सुभ्रुवः क्रमौ । पञ्चाविव रणद्भृङ्गसंगतौ रुचिमापनुः ॥२२॥

^३विगूढगुह्यसंधिषात् युक्तपार्ष्णिपरिमहात् । श्रितौ यानासनाभ्यां च तत्क्रमौ विजिगीषुताम् ॥२३॥

शोभा जङ्गाद्वये यास्याः काप्यन्यत्र न सास्वतः । अन्योऽन्योपमवैवाह्यवर्णनं तन्न वर्ण्यते ॥२४॥

जानुद्वयं^४ समाहितं यदस्याः कामनीयकम् । तदेवाहं जगज्जेतुं किं तरां चिन्तयामवा ॥२५॥

ऊरुद्वयमुदारलि चारु हारि सुखावहम्^५ । स्वर्द्वयेव सुरक्षीभिरतिरम्यं वमार सा ॥२६॥

वामोहरिति या रुद्रिस्तां स्वसात् कर्तुमन्यथा । वामवृत्ती कृतावूरु मन्येऽन्यस्त्रीजयेऽमुषा ॥२७॥

उसके दोनों चरण नखोंके द्वारा कुरयक जातिके वृक्षोंको जीतकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए थे इसीलिए उन्होंने अपनी गतिसे हंसीनीकी गतिके बिलासको भी जीत लिया था ॥२१॥ सुन्दर भौंहोंवाली उस मरुदेवीके दोनों चरण मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे सदा शब्दायमान रहते थे इसलिये गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे सहित कमलोंके समान सुभोभित होते थे ॥२२॥ उसके दोनों चरण किसी विजिगीषु (शत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले) राजाकी शोभा धारण कर रहे थे, क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा सन्धिबार्ताको गुप्त रखता है अर्थात् युद्ध करते हुए भी मनमें सन्धि करनेकी भावना रखता है, पार्ष्णि (पीछेसे सहायता करनेवाली) सेनासे युक्त होता है, शत्रुके प्रति यान (युद्धके लिए प्रस्थान) करता है और आसन (परिस्थितिबश अपनेही स्थानपर चुपचाप रहना) गुणसे सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी गाँठोंकी सन्धियाँ गुप्त रखते थे अर्थात् पुष्टकाय होनेके कारण गाँठोंकी सन्धियाँ मांसपिण्डमें बिलीन थीं इसलिये बाहर नहीं दिखती थीं, पार्ष्णि (पीछे) से युक्त थे, मनोहर यान (गमन) करते और सुन्दर आसन (बैठना आदिसे) सहित थे । इसके सिवाय जैसे विजिगीषु राजा अन्य शत्रु राजाओंको जीतना चाहता है वैसे ही उसके चरण भी अन्य स्त्रियोंके चरणोंकी शोभा जीतना चाहते थे ॥ २३ ॥ उसकी दोनों जंघाओंमें जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी । उन दोनोंकी उपमा परस्पर ही दी जाती थी अर्थात् उसकी वाम जंघा उसकी दक्षिण जंघाके समान थी और दक्षिण जंघा वाम जंघाके समान थी । इसलिए ही उन दोनोंका वर्णन अन्य किसीकी उपमा देकर नहीं किया जा सकता था ॥२४॥ 'अत्यन्त मनोहर और परस्परमें एक दूसरेसे मिले हुए उसके दोनों धुटने ही क्या जगत्को जीतनेके लिए समर्थ हैं, इस चिन्तासे कोई लाभ नहीं था क्योंकि वे अपने सौन्दर्यसे जगत्को जीत ही रहे थे ॥२५॥ उसके दोनों ही ऊरु उत्कृष्ट शोभाके धारक थे, सुन्दर थे, मनोहर थे और सुख देनेवाले थे, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो देवांगनाओंके साथ स्पर्धा करके ही उसने ऐसे सुन्दर ऊरु धारण किये हों ॥ २६ ॥ मैं ऐसा मानता हूँ कि अभीतक संसारमें जो 'वामोरु' (मनोहर ऊरुवाली) शब्द प्रसिद्ध था उसे उस मरुदेवीने अन्य प्रकारसे अपने स्वाधीन करनेके लिए ही मानो अन्य स्त्रियोंके विजय करनेमें अपने दोनों ऊरुओंको वामवृत्ति (शत्रुके समान बरताव करनेवाले) कर लिया था । भावार्थ—कोशकारोंने स्त्रियोंका एक नाम 'वामोरु' भी लिखा है जिसका अर्थ होता है सुन्दर ऊरुवाली स्त्री । परन्तु मरुदेवीने 'वामोरु' शब्दको अन्य प्रकारसे (दूसरे अर्थसे) अपनाया था । वह 'वामोरु' शब्दका अर्थ करती थी 'जिसके ऊरु शत्रुभूत हों ऐसी स्त्री' । मानो उसने अपनी उक्त मान्यताको सफल बनानेके लिए ही अपने ऊरुओंको अन्य स्त्रियोंके ऊरुओंके सामने वामवृत्ति अर्थात् शत्रुरूप बना लिया था । संक्षेपमें भाव यह है कि उसने अपने ऊरुओंकी शोभासे अन्य स्त्रियोंकी

१. अनुजो । २. गमनेन । ३. गुणिका [घुटिका] । ४. —स्यात् म०, ल० । ५. प्राप्तकीर्तनम् ।

६. जानु ऊरुपर्व । ७. सुखाहरम् द०, सं० । ८. वक्रवृत्ती ।

^१ कलत्रस्थानमेतस्याः स्थानीकृत्य मनोभुवा । विनिर्जितं जगन्मूलमनूपरिमण्डलम् ॥२८॥

^२ कटीमण्डलमेतस्याः काञ्चीसालपरिकृतम् । मन्ये दुर्गमनङ्गस्य जगद्भरकारिणः ॥२९॥

कसदङ्गुलसंसक्तं काञ्चीवेष्टं वभार सा । फणितं स्वस्तनिर्मोकमिव चन्दनवह्नी ॥३०॥

रोमराजो विनीलास्या रेजे मध्येतनुदम् । हरिनीलमधोवाक्पद्ममधोद्विजोन्मुखा ॥३१॥

तनुमध्यं वभारासौ बलिभं निम्ननाभिकम् । शरद्वीच सावर्त्त स्रोतः प्रतनुर्वाचिकम् ॥३२॥

स्तनावस्थाः समुत्तुङ्गी रेजतुः परिणाहिनी^{१०} । यौवनप्रीविलासाय बलसौ क्रीडाचलाचिव ॥३३॥

धृताङ्गुकमसौ दध्ने कुङ्कुमाङ्कं^{११} कुचद्वयम् । वीचिरुदमिवानोङ्गमिधुनं^{१२} सुरनिम्नगा ॥३४॥

स्तनावलान^{१३} संलग्नहारोच्चिरसौ वसौ । सरोजं^{१४} कुङ्कुमलाभ्यर्णस्थितफेना यथाच्छिनी ॥३५॥

^{१५} धराजि कन्धरेणास्था^{१६} स्तनुराजीविराजिना^{१७} । उल्लिख्य^{१८} घटितेनेव धात्रा^{१९} निर्माणकौशलान् ॥३६॥

अधिकन्धरमावह^{२०} हारयश्चिर्यभादसौ । पतद्गिरिसिख्रोतः^{२१} सानुलेखेव शृङ्गिणः ॥३७॥

पराजित कर दिया था ॥२८॥ इसमें कोई सन्देह नहीं कि कामदेवने मरुदेवीके स्थूल नितम्ब-मण्डलको ही अपना स्थान बनाकर इतने बड़े विस्तृत संसारको पराजित किया था ॥२८॥ करधनीरूपी कोटसे घिरा हुआ उसका कटिमण्डल ऐसा मालूम होता था मानो जगत्-भरमें विप्लव करनेवाले कामदेवका किला ही हो ॥ २९ ॥ जिस प्रकार चन्दनकी छता, जिसकी काँचली निकल गयी है ऐसे सर्पको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी शोभायमान अधोवस्त्रसे सटी हुई करधनीको धारण कर रही थी ॥३०॥ उस मरुदेवीके कुक्ष उदरभागपर अत्यन्त काली रोमोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो इन्द्रनील मणिकी बनी हुई काम-देवकी आलम्बनयष्टि (सहारा लेनेकी लकड़ी) ही हो ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार शरद्वीचकी नदी भँवरसे युक्त और पतली-पतली लहरोंसे सुशोभित प्रवाहको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी त्रिवलिसे युक्त और गम्भीर नाभिसे शोभायमान, अपने शरीरके मध्यभागको धारण करती थी ॥३२॥ उसके अतिशय ऊँचे और विशाल स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानो तारुण्य-लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए बनाये हुए दो क्रीडाचल ही हो ॥३३॥ जिस प्रकार आकाशगंगा लहरोंमें रुके हुए दो चक्रवाक पक्षियोंको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी जिनपर केशर लगी हुई है और जो वस्त्रसे ढके हुए हैं ऐसे दोनों स्तनोंको धारण कर रही थी ॥३४॥ जिसके स्तनोंके मध्य भागमें हारकी सफेद-सफेद किरणें लग रही थीं ऐसी वह मरुदेवी उस कमलिनीकी तरह सुशोभित हो रही थी जिसके कि कमलोंकी चाँदियोंके समीप सफेद-सफेद फेन लग रहा है ॥ ३५ ॥ सूक्ष्म रेखाओंसे उसका शोभायमान कण्ठ बहुत ही सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो विधाताने अपना निर्माणसम्बन्धी कौशल दिखानेके लिए ही सूक्ष्म रेखाएँ उकेरकर उसकी रचना की हो ॥३६॥ जिसके गलेमें रत्नमय हार लटक रहा है ऐसी वह मरुदेवी, पर्वतकी उस शिखरके समान शोभायमान होती थी जिसपर कि ऊपरसे

१. कलत्र नितम्ब । 'कलत्रं थोणिभार्ययोः' इत्यभिधानात् । २. निश्चयेन । ३. अयं प्लोकः पुण्ड्रेवचम्पूकारेण अर्हदासेन स्वकीये पुण्ड्रेवचम्पूकाव्ये चतुर्थस्तवके षष्ठशोतिपृष्ठे ग्रन्थाङ्कतां प्रापितः । ४. अलंकृतम् । ५. वभारः विप्लवः । ६. स्वस्त—व्युत् । ७. बलिरस्यास्तीति बलिभम् । ८. प्रवाहः । ९. स्वल्पतरङ्गकम् । १०. विशालवन्ती 'परिणाहो विशालता' इत्यभिधानात् । परिणाहिनी ५०, स०, द० । ११. कुङ्कुमाङ्कम् ५०, अ० । १२. रथाङ्गमिधुनम् । चक्रवाकयुगलमित्यर्थः 'बलीवेदनः शक्रदोऽस्त्री स्यात्' इत्यभिधानात् । १३. अवलान मध्य । १४. कुङ्कुमला—द०, स०, म०, ल०, । १५. भावे लुङ् । १६. स्त्रवरेखा । १७. विभासिता अ०, स०, म०, ल० । १८. उत्कीर्ण । १९. निर्माण सर्वज । २०—मारण्य-ब० । २१ नितम्बरेखा ।

शिरीषसुकुमाराङ्गास्तस्या बाहु विरेजतुः । कल्पवल्ग्व्या हवावाग्री विटपो मणिभूषणौ ॥३८॥
 मृदुबाहुकते तस्याः करपल्लवसंभितान् । नखाण्डुलसितव्याजाद् दधतुः पुष्पमञ्जरीम् ॥३९॥
 भ्रमोक्पल्लवच्छायं विभ्रती करपल्लवम् । पाणौ कृतमिवाशेषं मनोरागमुवाह सा ॥४०॥
 सा वक्षे किमपि स्तुतावसौ हंसोव पक्षती । आसस्तकबरोमारै बाहिकाखेदितान्विव ॥४१॥
 सुखमस्याः सरोजाद्या जहास क्षणमञ्जलम् । सकलं विकलङ्कं च विकलं सकलङ्ककम् ॥४२॥
 वैधव्यं दूषितेन्दुधोरम्भज्योः पङ्कदूषिता । तस्याः सदोऽञ्जलास्यश्रीर्बद केनोपमीयते ॥४३॥
 दशानच्छदरागोऽस्याः स्मितान्धुमिरनुदुतः । पयःकणावकीर्णस्य विद्रुमस्याजयः खिल्यम् ॥४४॥
 सुकण्ठ्याः कण्ठरागोऽस्या गीतगोष्ठीषु पप्रथे । मौर्वीरव ह्वाकृष्टधनुषः पुष्पधन्वनः ॥४५॥
 कपोलावलकानस्या दधतुः प्रतिकिम्बितान् । सुद्धिमाजोऽमुगृह्णन्ति मलिनानपि संभितान् ॥४६॥
 तस्या नासाग्रमव्यग्रं बभौ मुखमभिस्थितम् । उदामोदविधाऽङ्गुलि उदितयोनिरनुदुषिलम् ॥४७॥
 नयनोत्पल्लयोः कान्तिस्तस्याः कर्णान्तमाश्रयत् । कर्णेजपस्वमन्योऽन्यस्पर्धयेव चिकीर्षतोः ॥४८॥

पहाड़ी नदीके जलका प्रवाह पड़ रहा हो ॥ ३७ ॥ शिरीषके फूलके समान अतिशय कोमल अंगोंवाली उस मरुदेवीकी मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित दोनों भुजाएँ ऐसी भली जान पड़ती थीं मानो मणियोंके आभूषणोंसे सहित कल्पवृक्षकी दो मुख्य शाखाएँ ही हों ॥ ३८ ॥ उसकी दोनों कोमल भुजाएँ लताओंके समान थीं और वे नखोंकी शोभायमान किरणोंके यहाने हस्तरूपी पल्लवोंके पास लगी हुई पुष्पमञ्जरियाँ धारण कर रही थीं ॥ ३९ ॥ अशोक वृक्षके किसलयके समान लाल-लाल हस्तरूपी पल्लवोंको धारण करती हुई वह मरुदेवी ऐसी जान पड़ती थी मानो हाथोंमें इकट्ठे हुए अपने मनके समस्त अनुरागको ही धारण कर रही हो ॥ ४० ॥ जिस प्रकार हंसिनी कुछ नीचेकी ओर ढले हुए पंखोंके मूल भागको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी कुछ नीचेकी ओर झुके हुए दोनों कन्धोंको धारण कर रही थी, उसके वे झुके हुए कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो लटकते हुए केशोंका भार धारण करनेके कारण खेद-खिन्न होकर ही नीचेकी ओर झुक गये हों ॥ ४१ ॥ उस कमलनयनोका मुख चन्द्रमण्डलका हँसी उड़ा रहा था क्योंकि उसका मुख सदा कलाओंसे सहित रहता था और चन्द्रमाका मण्डल एक पूर्णिमाको छोड़कर बाकी दिनोंमें कलाओंसे रहित होने लगता है, उसका मुख कलङ्करहित था और चन्द्रमण्डल कलङ्कसे सहित था ॥ ४२ ॥ चन्द्रमाकी शोभा दिनमें चन्द्रमाके नष्ट हो जानेके कारण वैधव्य दोषसे दूषित हो जाती है और कमलिनीकी चढ़से दूषित रहती है इसलिए सदा उज्ज्वल रहनेवाले उसके मुखकी शोभाकी तुलना किस पदार्थसे की जाये ? तुम्हीं कहो ॥ ४३ ॥ उसके मन्दहास्यकी किरणोंसे सहित दोनों ओठोंकी लाली जलके कणोंसे व्याप्त भूँगाकी भी शोभा जीत रही थी ॥ ४४ ॥ उत्तम कण्ठवाली उस मरुदेवीके कण्ठका राग (स्वर) संगीतकी गोष्ठियोंमें ऐसा प्रसिद्ध था मानो कामदेवके स्त्रीचे हुए धनुषकी डोरीका शब्द ही हो ॥ ४५ ॥ उसके दोनों ही कपोल अपनेमें प्रतिकिम्बित हुए काले केशोंको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है सुद्धि को प्राप्त हुए पदार्थ शरणमें आये हुए मलिन पदार्थोंपर भी अनुग्रह करते हैं—उन्हें स्वीकार करते हैं ॥ ४६ ॥ लम्बा और मुखके सम्मुख स्थित हुआ उसकी नासिकाका अग्रभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसके श्वासकी सुगन्धिको सूँघनेके लिए ही उद्यत हो ॥ ४७ ॥ उसके नयन-कमलोंकी कान्ति कानके समीप तक पहुँच गयी थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो दोनों ही नयन-कमल परस्परकी स्पर्धासे एक दूसरेकी चुगली करना

१. भ्रमती । इवावग्री ल० । २. शास्त्रे । ३. ईष्यती । ४. पक्षमूले । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्' इत्यभिधानात् । ५. बाहनम् । ६. सम्पूर्णम् । ७. विषवात्स्व विधुत्व वा । ८. अनुगतः । ९. -जयत् श्रियम् व०, स०, म०, ल० । १०. स्थिरम् । ११. कर्णसमीपम् ।

१ श्रुतेनालंकृतावस्थाः कर्णा पुनरलंकृतौ । कर्णाभरणविन्यासैः श्रुतदेव्या इवाचर्चनैः ॥४९॥
 ललाटेनाष्टमीचन्द्रचारुणास्या विविद्युते । मनोजश्रीविलासिन्या दर्पणेनेव हारिणा ॥५०॥
 विनीलैरलकैरस्या मुखाम्बु मधुपायितम् । भ्रूम्यां च निर्जिता सज्या मदनस्य अनुलता ॥५१॥
 कचभारो बभौ तस्या विनीलकुटिलायतः । मुखेन्दुप्रासलोभेन विधुतुर्देहवाश्रितः ॥५२॥
 विस्मस्तकवरीबन्धविगलकुसुमोत्कर्षैः । सोपहारामिव क्षोणीं चक्रे चक्रमणेषु सा ॥५३॥
 समसुप्रविभक्ताङ्गमित्यस्या वपुरुर्जितम् । स्त्रीसर्गस्य प्रतिच्छब्दभावेनेव विविच्यधत् ॥५४॥
 सुयशः सुचिरायुश्च सुप्रजाश्च सुमङ्गलाः । पतिवत्सी च या नारी सा तु तामनुवर्णिता ॥५५॥
 सा खनिगुणरत्नानां साऽवनिः पुण्यसंपदाम् । पावनी श्रुतदेवी च साऽनघीत्वैव पण्डिता ॥५६॥
 सौभाग्यस्य परा कोटिः सौख्यस्य परा धृतिः १२ । सौहार्दस्य परा प्रीतिः सौजन्यस्य परा गतिः १३ ॥५७॥
 कुसृतिः १४ कामतत्त्वस्य १५ कलागमसरित्सृतिः । प्रसूतिर्यशसां साऽऽसीत् सतीत्वस्य पराभृतिः १६ ॥५८॥
 तस्याः किल समुद्राहं १७ सुरराजेन कीदिताः । सुरोत्तमा महाभूत्वा चक्रुः कल्याणकौतुकम् १८ ॥५९॥

चाहते हैं ॥४८॥ यद्यपि उसके दोनों कान शास्त्र श्रवण करनेसे अलंकृत थे, तथापि सरस्वती देवीकी पूजाके पुष्पोंके समान कर्णभूषण पहनाकर फिर भी अलंकृत किये गये थे ॥ ४९ ॥ अष्टमीके चन्द्रमाके समान सुन्दर उसका ललाट अतिशय देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम पड़ता था मानो कामदेवकी लक्ष्मीरूपी स्त्रीका मनोहर दर्पण ही हो ॥ ५० ॥ उसके अत्यन्त काले केश मुखकमलपर इकट्ठे हुए भौरोंके समान जान पड़ते थे और उसकी भौंहोंने कामदेवकी डोरीसहित धनुष-लताको भी जीत लिया था ॥ ५१ ॥ उसके अतिशय काले, टेढ़े और लम्बे केशोंका समूह ऐसा शोभायमान होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमाको प्रसन्नेके लोभसे राहु ही आया हो ॥ ५२ ॥ वह मरुदेवी चलते समय कुछ-कुछ ढीली हुई अपनी चोटीसे नीचे गिरते हुए फूलोंके समूहसे पृथ्वीको उपहार सहित करता थी ॥ ५३ ॥ इस प्रकार जिसके प्रत्येक अंग उपागको रचना सुन्दर है ऐसा उसका सुदृढ़ शरीर ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो विधाताने स्त्रियोंकी सृष्टि करनेके लिए एक सुन्दर प्रतिबिम्ब ही बनाया हो ॥ ५४ ॥ संसारमें जो स्त्रियाँ अतिशय यशवाली, दीर्घ आयुवाली, उत्तम सन्तानवाली, मंगलरूपिणी और उत्तम पतिवाली थीं वे सब मरुदेवीसे पीछे थीं, अर्थात् मरुदेवी उन सबमें मुख्य थी ॥ ५५ ॥ वह गुणरूपी रत्नोंकी खान थी, पुण्यरूपी सम्पत्तियोंकी पृथिवी थी, पवित्र सरस्वती देवी थी और विना पदों ही पण्डिता थी ॥ ५६ ॥ वह सौभाग्यकी परम सीमा थी, सुन्दरताकी उत्कृष्ट पुष्टि थी, मित्रताकी परम प्रीति थी और सज्जनताकी उत्कृष्ट गति (आश्रय) थी ॥ ५७ ॥ वह कामशास्त्रकी स्रजेता थी, कलाशास्त्ररूपी नदीका प्रवाह थी, कीर्तिका उत्पत्तिस्थान थी और पातिव्रत्य धर्मकी परम सीमा थी ॥ ५८ ॥ उस मरुदेवीके विवाहके समय इन्द्रके द्वारा

१. शास्त्रश्रवणेन । २. भ्रूम्यां विनि—५०, म०, ल० । ३. सगुणा । ४. राहुः । ५. विस्मस्त विशलथ । ६. पुनः पुनर्गमनेषु । ७. समानं यथा भवति तथा सुष्ठु विभक्ताश्रयवम् । ८. प्रतिनिधि । ९. सत्पुत्रवती । १०. सभर्तृका । ११. श्रुतदेवी च म०, ल० । १२. धृतिः धारणम् । भृतिः ल० । १३. सुहृदयत्वस्य । १४. आधारः । १५. 'त०, ब०' पुस्तकसम्मतोऽयं पाठः । कुसृति-स्थाने 'प्रसूतिः प्रसूतिः' इति वा पाठः । इत्यपि 'त०, ब०' पुस्तकयोः पाद्वर्गे लिखितम् । 'प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्सृतिः । प्रसूतिर्यशसां साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा भृतिः ॥' स०, अ० । 'प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्सृतिः । प्रसूतिर्यशसां साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा धृतिः ॥' द० । 'प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्सृतिः । प्रसूतिर्यशसां साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा भृतिः ॥' ल० । 'कुसृतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्सृतिः ॥' ट० । कुसृतिः शाठ्यम् । १६. कामतत्त्वस्य । १७. कलाशास्त्रनद्याः प्रवाहः । १८. प्रसरणम् । १९. पातिव्रत्यस्य । २०. विवाहे । २१. विवाहोत्साहम् ।

पुण्यसम्पत्तिरेवास्या जननीस्वसृष्टागता । सखीभूयं गता लज्जा गृणाः परिजनाग्रिताः ॥६०॥
 रूपप्रभावविज्ञानैरिति रुद्धिं पशंगता । भर्तुर्मनोगजालाने^१ भेजे साऽऽलान^२ यष्टिनाम् ॥६१॥
 तद्वक्त्रेभ्यः स्मितज्योत्स्ना तन्वर्त्ता नयनोन्मेषम् । भर्तुश्चेतोऽम्बुधेः क्षोभमनुबेत्तं समावर्त्तन् ॥६२॥
 रूपलावण्यसम्पत्त्या पत्न्या श्रीरित्र सा मया । मन्त्रात्रिय मुनिस्तस्यामतानीत स परां श्रुतिम् ॥६३॥
 परिहासेष्वसमंस्पृक् सम्भोगेष्वनुवर्त्तिनी । साचिद्व्यमकरोत्तस्थ^३ तर्मण प्रणयस्य च ॥६४॥
 सामवत् प्रेयसां तस्य प्राणेश्याऽपि गरीयसा । शचीव देवराजस्य परा^४ प्रणयभूमिका ॥६५॥
 स तथा कल्पवृक्षस्यैव लसदंशुकभूषया । समाश्लिष्टतनुः शोभान् कल्पद्रुम इवाद्युतन् ॥६६॥
 स एव पुण्यवृक्षलोकं सैव पुण्यवती सर्ता । ययोरयोनिजन्मा^५ सौ वृषभो^६ भवितामजः ॥६७॥
 तौ दम्पती तदा तत्र^७ मोगैकरसतां गतौ । भोगभूमिश्रियं साक्षाच्छतुर्विद्युतामपि^८ ॥६८॥
 ताभ्यामलंकृते पुण्यं देशे कल्पांघ्रिपात्यये । तत्पुण्यमुद्वुराहुतः पुरुहुतः पुरी न्यधात् ॥६९॥
 सुराः ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासनशासनात् । तां पुरीं परमानन्दाद् व्यधुः सुरपुरीनिभाम् ॥७०॥

प्रेरित हुए उत्तम देवोंने बड़े विभूतिके साथ उसका विवाहोत्सव किया था ॥ ५९ ॥ पुण्यरूपी सम्पत्ति उसके मातृभावको प्राप्त हुई थी, लज्जा सखी अवस्थाको प्राप्त हुई थी और अनेक गुण उसके परिजनोंके समान थे । भर्ता है-पुण्यरूपी सम्पत्ति-ही देवकी-शास्य थी, लज्जा ही उसकी सखी थी और दया, उदारता आदि गुण ही उसके परिवारके लोग थे ॥६०॥ रूप प्रभाव और विज्ञान आदिके द्वारा वह बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुई थी तथा अपने स्वामी नाभिराजके मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए खम्भेके समान मालूम पड़ती थी ॥ ६१ ॥ उसके मुखरूपी चन्द्रमाकी मुसकानरूपी चाँदनी, नेत्रोंके उत्सवको बढ़ानी हुई अपने पति नाभिराजके मनरूपी समुद्रके ओभको हर समय विस्तृत करती रहती थी ॥ ६२ ॥ महाराज नाभिराज रूप और लावण्यरूपी सम्पदाके द्वारा उसे साक्षात् लक्ष्मीके समान मानते थे और उसके विषयमें अपने उत्कृष्ट सन्तोषको उस तरह विस्तृत करते रहते थे जिस तरह कि निर्मल बुद्धिके विषयमें मुनि अपना उत्कृष्ट सन्तोष विस्तृत करते रहते हैं ॥६३॥ वह परिहासके समय कुञ्चन बोलकर पतिके मर्म स्थानको कष्ट नहीं पहुँचाती थी और सम्भोग-कालमें सदा उनके अनुकूल प्रवृत्ति करती थी इसलिए वह अपने पति नाभिराजके परिहास्य और स्नेहके विषयमें मन्त्रिणीका काम करती थी ॥ ६४ ॥ वह मरुदेवी नाभिराजको प्राणोंसे भी अधिक प्यारी थी, वे उससे उतना ही स्नेह करते थे जितना कि इन्द्र इन्द्राणीसे करता है ॥ ६५ ॥ अतिशय शोभायुक्त महाराज नाभिराज देदीप्यमान बख और आभूषणोंसे सुशोभित उस मरुदेवीसे आलिंगित शरीर होकर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे देदीप्यमान बख और आभूषणोंको धारण करनेवाली कल्पलतासे वेष्टित हुआ (लिपटा हुआ) कल्पवृक्ष ही हो ॥६६॥ संसारमें महाराज नाभिराज ही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती थी । क्योंकि जिनके स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव पुत्र होंगे उनके समान और कौन हो सकता है ? ॥ ६७ ॥ उस समय भोगोपभोगोंमें अतिशय तल्लीनताको प्राप्त हुए वे दोनों दम्पती ऐसे जान पड़ते थे मानो भोगभूमिकी नष्ट हुई लक्ष्मीको ही साक्षात् दिखला रहे हों ॥ ६८ ॥ मरुदेवी और नाभिराजसे अलंकृत पवित्र स्थानमें जब कल्पवृक्षोंका अभाव हो गया तब वहाँ उनके पुण्यके द्वारा बार-बार बुलाये हुए इन्द्रने एक नगरीकी रचना की ॥६९॥ इन्द्रकी आज्ञासे शीघ्र ही अनेक उत्साही देवोंने बड़े आनन्दके साथ

१. सखीत्वम् । २. नैरतिरुद्धि ४०, ५०, ६०, । ३. बाधने । ४. बन्धस्तम्भत्वम् ।

५. भर्ता । ६. वृद्धो । ७. सन्तोषम् । ८. सहायत्वम् । ९. -मकरोत्सास्य अ०, ५०, स०, द०, म०, ल० ।
 १०. क्रीडायाः । ११. स्नेहस्थानम् । १२. स्वयम्भूः । १३. भविष्यति । १४. भोगभूम्यानुरागताम् ।
 १५. त्रिपुक्ताम् । अपेनामित्यर्थः ।

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छन्द^१ मूलोकेऽस्मिन्निधि^२सुभिः^३ । विशेषरमणायैव^४ निर्ममे सामरैः पुरी ॥७१॥
 'स्वस्वर्गस्त्रिदश^५ वासः स्वरूप^६ इत्यवमन्य तम् ।' परश्शतजनावासभूमिकं तां नु ते व्यधुः ॥७२॥
 इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान् । पुरीं निवेशयामासुर्विम्यासैर्विविधैः सुराः ॥७३॥
 नरेन्द्रमवनं चास्याः सुरैर्मध्ये निवेशितम् । सुरेन्द्रमवनं स्पृष्ट्विपराद्ध^७ विभवान्वितम् ॥७४॥
 'सुत्रामा सूत्र^८ धारोऽभ्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः ।' वास्तुजातं महो कृत्स्ना सोढा^९ नास्तु कथं पुरी ॥७५॥
 'संस्वरकृत्श्च तां वप्रप्राकारपरिखादिभिः ।' अयोध्यां न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥७६॥
 'साकेतकृद्विरप्यस्याः श्लाघ्यैव^{१०} स्वैर्निकेतनैः ।' स्वनिकेतमिवाद्धानु^{११} साकेतैः केतुवाहुभिः ॥७७॥
 'सुकोशलेति च ख्यातिं सा देशाभिलषया^{१२} गता ।' विनीतजनताकार्णा विनीतेति च सा मता ॥७८॥

स्वर्गपुरीके समान उस नगरीकी रचना की ॥७०॥ उन देवोंने वह नगरी विशेष सुन्दर बनायी थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इस मध्यम लोकमें स्वर्गलोकका प्रतिबिम्ब रखनेकी इच्छासे ही उन्होंने उसे अत्यन्त सुन्दर बनाया हो ॥७१॥ 'हमारा स्वर्ग बहुत ही छोटा है क्योंकि यह त्रिदशवास है अर्थात् सिर्फ त्रिदश = तीस व्यक्तियोंके रहने योग्य स्थान है (पक्षमें त्रिदश = देवोंके रहने योग्य स्थान है)'—ऐसा मानकर ही मानो उन्होंने सैकड़ों हजारों मनुष्योंके रहने योग्य उस नगरी (विसृत स्वर्ग) की रचना की थी ॥७२॥ उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवोंने उन सबको लाकर उस नगरीमें बसाया और सबके सुभीते-के लिए अनेक प्रकारके उपयोगी स्थानोंकी रचना की ॥७३॥ उस नगरीके मध्य भागमें देवोंने राजमहल बनाया था वह राजमहल इन्द्रपुरीके साथ स्पर्धा करनेवाला था और बहुमूल्य अनेक विभूतियोंसे सहित था ॥७४॥ जब कि उस नगरीकी रचना करनेवाले कारीगर स्वर्गके देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार (मैंट) इन्द्र था और मकान वगैरह बनानेके लिए सम्पूर्ण पृथिवी पड़ी थी तब वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न हो ? ॥७५॥ देवोंने उस नगरीको वप्र (धूलिके बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजोंसे सहित, पत्थरके बने हुए मजबूत कोट) और परिखा आदिसे सुशोभित किया था । उस नगरीका नाम अयोध्या था । वह केवल नाममात्रसे अयोध्या नहीं थी किन्तु गुणोंसे भी अयोध्या थी । कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकते थे इसलिए उसका वह नाम सार्थक था [अरिभिः योद्धुं न शक्या—अयोध्या] ॥७६॥ उस नगरीका दूसरा नाम साकेत भी था क्योंकि वह अपने अच्छे-अच्छे मकानोंसे बड़ी ही प्रशंसनीय थी । उन मकानोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्गलोकके मकानोंको बुलानेके लिए अपनी पताकारूपी भुजाओंके द्वारा संकेत ही कर रहे हों । [आकेतैः गृहैः सह वर्तमाना = साकेता, 'स + आकेता'—घरोंसे सहित] ॥७७॥ वह नगरी सुकोशल देशमें थी इसलिए देशके नामसे 'सुकोशला' इस प्रसिद्धिको भी प्राप्त हुई थी । तथा वह नगरी अनेक विनीत-शिक्षित-पढ़े-लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्योंसे व्याप्त थी इसलिए

१. प्रतिनिधिम् । २. विधिसुभिः व० । निर्वातुमिच्छुभिः । ३. निर्मिता । ४. स्वः आत्मीयः ।
 ५. ध्वनी त्रिदशजनावासः त्रयोदशजनावासो वा इत्यर्थः । ६. अवज्ञां कृत्वा । इत्यवमन्य प०, अ०, स० ।
 ७. शतोपरितनसंख्यावज्जनावासाधारस्थानभूताम् । ८. —न्द्रनगररूप—म०, ल० । ९. अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धः पुरदेवचम्प्याश्चतुर्थस्तवकेऽष्टादशश्लोकस्य पूर्वार्धार्द्धतां प्रापितस्तत्कर्ता । १०. शिल्पाचार्यैः ।
 ११. अगारसमूहम् । १२. उद्धा प्रशस्ता । सोढा— ल० । १३. अलङ्घ्यकृः । १४. योद्धुमयोग्याम् ।
 १५. आकेतैः गृहैः सह आवर्तत इति साकेतम् । १६. स्वनिकेतनैः म०, ल०, । १७. स्पर्दां कर्तुम् ।
 १८. सामिप्रायैः । १९. शौरभः कोशलो यस्याः सा । २०. अभिलषया शोभया ।

वभौ सुकोशला भाविदियस्यस्यालवीयस्यः । नाभिलक्ष्मीं^१ दधानाम्नां राजधानीं मुनिधना ॥७५॥
 सन्ध्यालयमुदग्रं^२ दीपशालं सन्ध्यातिकम् । तद्वत्स्वर्गगरारम्भे प्रतिच्छन्दायितं पुरम् ॥७६॥
 पुण्याहनि मुहूर्ते च शुभयोगे शुभोदये^३ । पुण्याहवाचनां तत्र सुराश्रयः प्रसोदितः ॥७७॥
^४अधवात्तां तदानीं तां तमयोध्यां महर्षिकाम् । दम्पती परमानन्दादौ ससम्पदपरम्परा ॥७८॥
 विश्वदृष्टैतयोः पुत्रो^५ जनितेति शतक्रतुः । तयोः पुत्रां व्यधत्तौच्चैरभिपेकपुरस्सरम्^६ ॥७९॥
 पद्मिनीरश्मैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति^७ । रत्नवृष्टिं दिव्यो देवाः पातयामासुरादरात् ॥८०॥
 संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता । सामात् स्वसंपदां सुकथात्^८ प्रस्थितेवाधनां विभोः ॥८१॥
^९हरिन्मणिमहानीलपद्मरागांशुसंकरः^{१०} । माधुनत् सुरचापश्रांः^{११} प्रगुणत्वमिवाश्रिता ॥८२॥
^{१२}रेधरेरावतस्थूल^{१३} सगरावकलाकृतिः ।^{१४}वसो पुण्यरूपमलोकं^{१५} दृष्टुं ततोऽहमन्वजि^{१६} ॥८३॥
^{१७}नीरम्भं रोदसी^{१८} रुद्ध्वा रायां^{१९} धारा पतन्त्यमात् । सुरदुर्मैरिवोन्मुक्ता सा प्रारोहपरम्परा ॥८४॥
 रजे हिरण्यमयी वृष्टिः स्वाकृणाञ्जितन्त्रयसी । उद्योतिर्गणप्रभेवास्वैरायान्ती सुरसद्मनः ॥८५॥

वह 'विनीता' भी मानी गयी थी—उसका एक नाम 'विनीता' भी था ॥७८॥ वह सुकोशला नामकी राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और आगे होनेवाले बड़े भारी देशकी नाभि (मध्यभागकी) शोभा धारण करती हुई सुशोभित होती थी ॥७९॥ राजभवन, चम्र, कोट और खाईसे सहित वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो आगे—कर्मभूमिके समयमें होनेवाले नगरोंकी रचना प्रारम्भ करनेके लिए एक प्रतिबिम्ब—नकशा ही बनाया गया हो ॥८०॥ अनन्तर उस अयोध्या नगरीमें सब देवोंने मिलकर किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्नमें हर्षित होकर पुण्याहवाचन किया ॥८१॥ जिन्हें अनेक सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त हुई थी ऐसे महाराज नाभिराज और मरुदेवीने अत्यन्त आनन्दित होकर पुण्याहवाचनके समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरीमें निवास करना प्रारम्भ किया था ॥८२॥ “इन दोनोंके सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे” यह समझकर इन्द्रने अभिपेकपूर्वक उन दोनोंकी बड़ी पूजा की थी ॥८३॥

तदनन्तर छह महीने बाद ही भगवान् वृषभदेव यहाँ स्वर्गसे अवतार लेंगे ऐसा जानकर देवोंने बड़े आदरके साथ आकाशसे रत्नोंकी वर्षा की ॥८४॥ इन्द्रके द्वारा नियुक्त हुए कुवेरने जो रत्नकी वर्षा की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो वृषभदेवकी सम्पत्ति उत्सुकताके कारण उनके आनेसे पहले ही आ गयी हो ॥८५॥ वह रत्नवृष्टि हरिन्मणि इन्द्रनील मणि और पद्मराग आदि मणियोंकी किरणोंके समूहसे ऐसी देदीप्यमान हो रही थी मानो सरलताको प्राप्त होकर (एक रेखामें सीधी होकर) इन्द्रधनुषकी शोभा ही आ रही हो ॥८६॥ ऐरावत हाथीकी सूँझके समान स्थूल, गोल और लम्बी आकृतिकी धारण करनेवाली वह रत्नोंकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो पुण्यरूपी वृक्षके बड़े मोटे अंकुरोंकी सन्तति ही हो ॥८७॥ अथवा अतिशय सघन तथा आकाश पृथिवीको रोककर पड़ती हुई वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानो कल्पवृक्षोंके द्वारा छोड़े हुए अंकुरोंकी परम्परा ही हो ॥८८॥ अथवा आकाश रूपी आँगनसे पड़ती हुई वह सुवर्णमयी वृष्टि ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो स्वर्गसे

१. दीपवशा म०, ल० । २. प्रतिनिधिरिवाचरितम् । ३. शुभग्रहोदये शुभलग्ने इत्यर्थः । ‘राज्ञीनामृदयो लग्ने ते तु मेघवृषादयः’ इत्यभिधानात् । ४. ‘वस निवासे’ लुङ् । ५. नन्दावाप्त अ०, प०, द०, स०, म० । ६. भविष्यति । ७. पुरस्सराम् अ०, द०, स०, म०, ल० । ८. आगमिष्यति सति । ९. आधता । १०. मरकत । ११. शुकेसरः म०, ल० । १२. ऋजुत्वम् । १३. ‘प’ पुस्तके ८६-८७ श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति । १४. समानायाम् । १५. निकाममहः । १६. निविडम् । १७. भूम्याकाशे । १८. रत्नमुवर्णनाम् ।

खाद् भ्रष्टा रत्नवृष्टिः सा क्षणमुत्प्रेक्षिता जवैः । गर्भस्रुतिर्निधीना किं जगत्क्षोमादभूदिति ॥९०॥
 खाङ्गणे विप्रकीर्णानि रत्नानि क्षणमावधुः । शुशालिनां फलानीव^३ शाक्तितानि सुरद्विपैः ॥९१॥
 खाङ्गणे गणनातोता रत्नपाश शराज सा । विप्रकीर्णैव कालेन तरला तारकावली ॥९२॥
 विद्युद्दिन्द्रायुधे किञ्चित् जडिके^४ सुरनाथकैः । दिवौ विगलिते स्यातामित्यसौ क्षणमैक्ष्यत ॥९३॥
 क्रिमेया वैद्यता^५ दीप्तिः किञ्चित् वृषदा^६ वृष्टिः । इति श्योमचरैरक्षि क्षणमाशङ्क्य ताम्बरे ॥९४॥
 सेवा हिरण्ययो वृष्टिमेक्ष्यन् विपातता । विमोहिरण्यगर्भस्त्वमिष बोधयितुं जगत् ॥९५॥
 वण्मासानिति सापहत्य पुण्ये नामिनृपालये । स्वर्गावतरणाद् मर्तुः प्राक्तरां^७ घुम्नसन्ततिः ॥९६॥
 पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तदा^८ मता । अहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थंकृत्स्वस्य माविनः ॥९७॥
 रत्नगर्भा भरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः । क्षोमसायाजगद्गर्भो गर्माधानोत्सवे^९ विमोः^{१०} ॥९८॥
 सिक्ता जलकण्ठगङ्गाः संहो रत्नैरलंकृता । गर्माधाने^{११} जगत्तु नैर्मिणीवामवद् गुरुः ॥९९॥
 रत्नैः कीर्णा प्रसूयैश्च सिक्ता गन्धासुभिर्वभौ ।^{१२} तदास्मातानुलिप्तेव भूविताङ्गी भराङ्गना ॥१००॥

अथवा विमानोसे ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट प्रभा ही आ रही हो ॥९०॥ अथवा आकाशसे बरसती हुई रत्नवृष्टिको देखकर लोग यही उत्प्रेक्षा करते थे कि क्या जगत्में क्षोभ होनेसे निधियोंका गर्भपात हो रहा है ॥९०॥ आकाशरूपी आँगनमें जहाँ-तहाँ फैले हुए वे रत्न क्षण-भरके लिए ऐसे शोभायमान होते थे मानो देवोंके हाथियोंने कल्पवृक्षोंके फल ही तोड़-तोड़कर डाले हों ॥९१॥ आकाशरूपी आँगनमें वह असंख्यात रत्नोंकी धारा ऐसी जान पड़ती थी मानो समय पाकर फैली हुई नक्षत्रोंकी चंचल और चमकीली पङ्क्ति ही हो ॥९२॥ अथवा उस रत्न-वर्षाको देखकर क्षणभरके लिए यही उत्प्रेक्षा होती थी कि स्वर्गसे मानो परस्पर मिले हुए बिजली और इन्द्रधनुष ही देवोंने नीचे गिरा दिये हों ॥९३॥ अथवा देव और विद्याधर उसे देखकर क्षणभरके लिए यही आशंका करते थे कि यह क्या आकाशमें बिजलीकी कान्ति है अथवा देवोंकी प्रभा है ? ॥९४॥ कुबेरने जो यह हिरण्य अर्थात् सुवर्णकी वृष्टि की थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो जगत्की भगवान्की 'हिरण्यगर्भता' बतलानेके लिए ही कां हो [जिसके गर्भमें रहते हुए हिरण्य-सुवर्णकी वर्षा आदि हो वह हिरण्यगर्भ कहलाता है] ॥९५॥ इस प्रकार स्वामी वृषभदेवके स्वर्गावतरणसे छह महीने पहलेसे लेकर अतिशय पवित्र नाभिराजके घरपर रत्न और सुवर्णकी वर्षा हुई थी ॥९६॥ और इस प्रकार गर्भावतरणसे पीछे भी नौ महीने तक रत्न तथा सुवर्णकी वर्षा होती रही थी सो ठीक ही है क्योंकि होनेवाले तीर्थंकरका आश्चर्यकारक बड़ा भारी प्रभाव होता है ॥९७॥ भगवान्के गर्भावतरण-उत्सवके समय यह समस्त पृथिवी रत्नोंसे व्याप्त हो गयी थी, देव हर्षित हो गये थे और समस्त लोक क्षोभको प्राप्त हो गया था ॥९८॥ भगवान्के गर्भावतरणके समय यह पृथिवी गंगा नदीके जलके कणोंसे सींची गयी थी तथा अनेक प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत की गयी थी इसलिए वह भी किसी गर्भिणी स्त्रीके समान भारी हो गयी थी ॥९९॥ उस समय रत्न और फूलोंसे व्याप्त तथा सुगन्धित जलसे सींची गयी यह पृथिवीरूपी स्त्री स्नान कर चन्दनका विलेपन लगाये और आभूषणोंसे

१. खाद् वृष्टा ल० । भ्रष्टा पातता । २. स्रुति स्रवः । ३. पातितानि । 'शङ्खु' वातने । ४. घनतां तोते । ५. विद्युत्सम्बन्धिनी । ६. देवानाम् । ७. हिरण्यसमूहः 'हिरण्यं द्विविधं घुम्नम्' । ८. तथा स०, म०, द०, ल० । ९. जागच्छत् । १०. गर्मादानोत्सवे म०, ल० । ११. अयं श्लोकः पुरुषदेवचम्पूकर्त्रा स्वकीयग्रन्थस्य चतुर्थस्तवकस्यैकविंशस्थाने स्थापितः । १२. गर्मादाने म०, ल० । १३. स्नानानुलिप्तेव अ०, ल० । स०, म० पुस्तकयोश्चमयथा पाठः ।

सम्भवा नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला । वसुधरा तदा भेजे जिनमातुरनुक्रियाम् ॥१०१॥
 अथ सुप्तैकदा देवी सौधे मृदुनि तल्पके । गङ्गातरङ्गसञ्चार्यदुकूलप्रच्छदोज्ज्वले ॥१०२॥
 सापश्यत् षोडशस्वप्नाभिमानं शुभकलोदयान् । निशायाः पश्चिमं यामे जिनजम्मानुशंसिनः ॥१०३॥
 गजेन्द्रमैत्रमामन्त्रबृंहितं त्रिमद्व्युतम्^१ । ध्वनस्तमिव मासारं^२ सा ददर्श शरद्भवनम् ॥१०४॥
 गजेन्द्रं दुन्दुभिस्तन्धं कुसुदापाण्डुरद्युतिम् । पीयूषराशिर्नाकाशं^३ सापश्यन्मन्दनिःस्वनम्^४ ॥१०५॥
 मृतेन्द्रमिन्दुसखायवपुषं रक्तकन्धारम् । ज्योत्स्नया संध्यया चैव घटितामिवैक्षत् ॥१०६॥
 पद्मां पद्ममथोत्तुङ्गविष्टरे सुरवारणैः । स्नाप्यां हिरण्ययैः कुम्भैरदृशात् स्वामिव श्रियम् ॥१०७॥
 दामनी कुसुमामोदं^५ समालम्बनमदालिनी । तज्जङ्गकृतैरिवारब्धगात्रे सानन्दमैक्षत् ॥१०८॥
 समग्रमिष्वयुज्ज्योत्स्नं ताराधोशं सतास्कम् । स्मरं स्वमिव वक्त्राब्जं समौषितकमलोकयम् ॥१०९॥
 विभूतध्वान्तमुद्यन्तं भास्वन्तमुदयाचलात् । क्षातकुम्भमयं कुम्भमिवादाश्रान् स्वमङ्गले ॥११०॥
 कुम्भो हिरण्ययो पद्मपिहितस्यौ व्यलोकतः^६ । स्तनकुम्भाविचारमार्थी समासक्तकराम्बुजौ ॥१११॥

सुसज्जित-सी जान पड़ती थी ॥१००॥ अथवा उस समय वह पृथिवी भगवान् वृषभदेवकी माता मरुदेवीकी सदृशताको प्राप्त हो रही थी क्योंकि मरुदेवी जिस प्रकार नाभिराजकी प्रिय थी वसी प्रकार वह पृथिवी उन्हें प्रिय थी और मरुदेवी जिस प्रकार रजस्वला न होकर पुष्पवती थी उसी प्रकार वह पृथिवी भी रजस्वला (धूलिसे युक्त) न होकर पुष्पवती (जिसपर फूल बिखरे हुए थे) थी ॥१०१॥

अनन्तर किसी दिन मरुदेवी राजमहलमें गंगाकी लहरोंके समान सफेद और रेशमी बहरसे उज्ज्वल कोमल शय्या पर सो रही थी । सोते समय उसने रात्रिके पिछले प्रहरमें जिनेन्द्र देवके जन्मके लुचित कालेवाल लक्ष्य सुक्त तत्त्व देवैवादि लीले लिखे हुए सोलह स्वप्न देखे ॥१०२-१०३॥ सत्रसे पहले उसने इन्द्रका परावत हाथी देखा । वह गम्भीर गर्जना कर रहा था तथा उसके दोनों कंधों और सूँड़ इन तीन स्थानोंसे मद छर रहा था इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो गरजना और बरसता हुआ शरद् ऋतुका बादल ही हो ॥१०४॥ दूसरे स्वप्नमें उसने एक बैल देखा । उस बैलके कन्धे नगाड़ेके समान विस्तृत थे, वह सफेद कमलके समान कुल-कुल शुक्ल वर्ण था । अमृतको राशिके समान गुहोभित था और मन्द गम्भीर शब्द कर रहा था ॥१०५॥ तीसरे स्वप्नमें उसने एक सिंह देखा । उस सिंहका शरीर चन्द्रमाके समान शुक्लवर्ण था और कन्धे लाल रंगके थे इसलिए वह ऐसा मालूम होता था मानो चाँदनी और सन्ध्याके द्वारा ही उसका शरीर बना हो ॥१०६॥ चौथे स्वप्नमें उसने अपनी शोभाके समान लक्ष्मीको देखा । वह लक्ष्मी कमलोंके बने हुए ऊँचे आसनपर बैठी थी और देवोंके हाथी सुवर्णमय कलशोंसे उसका अभिषेक कर रहे थे ॥१०७॥ पाँचवें स्वप्नमें उसने बड़े ही आनन्दके साथ दो पुष्प-मालाएँ देखीं । उन मालाओंपर फूलोंकी सुगन्धिके कारण बड़े-बड़े भौरे आ लगे थे और वे मनोहर शंकाश शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन मालाओंने गाना ही प्रारम्भ किया हो ॥१०८॥ छठे स्वप्नमें उसने पूर्ण चन्द्रमण्डल देखा । वह चन्द्रमण्डल ताराओंसे सहित था और उत्कृष्ट चाँदनीसे युक्त था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मोतियोंसे सहित हँसता हुआ अपना (मरुदेवीका) मुख-कमल ही हो ॥१०९॥ सातवें स्वप्नमें उसने उदयाचलसे उदित होते हुए तथा अन्धकारको नष्ट करते हुए सूर्यको देखा । वह सूर्य ऐसा मालूम होता था मानो मरुदेवीके माङ्गलिक कार्यमें रखा हुआ सुवर्णमय कलश ही हो ॥११०॥ आठवें स्वप्नमें उसने सुवर्णके दो कलश देखे । उन कलशोंके मुख कमलोंसे ढके हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हस्तकमलसे आच्छादित

१. यादवम् । २. मच्छाये अ०, म०, म०, ल० । ३. कपीलद्वनामिकाशमिति विश्वानमदस्ता-
 विणाम् । ४. आनारण्य गङ्गायम् । ५. सदनाम् । ६. मन्दानिःस्वनम् म०, ल० । ७. समालम्बनमदालिनी ।

शर्षा सरसि संकुलकुमुदोत्पलपङ्कजे । सापश्यच्चयनायाम् तर्पयन्ताविवात्मनः ॥११२॥
 तरस्तरांजकिञ्चलकपिअरोदकमैक्षत । सुवर्णद्रवसंपूर्णमिव दिव्यं सरोवरम् ॥११३॥
 क्षुब्धन्तमन्विमुदेलं चलत्कलोलकाहलम् । सादर्शच्छीकरैर्मोक्तुमदृहासमिवाद्यतम् ॥११४॥
 सैहमासनमुत्तुङ्गं स्फुरन्मणिहिरण्ययम् । सापश्यन्मेरुशङ्खस्य वैदग्ध्यं^१ दध्नुर्जिताम् ॥११५॥
 नाकालयं व्यलीकित पराश्वमणिभासुरम् । स्वसूनोः प्रसवागारमिव^२ दैवैरुपाहृतम् ॥११६॥
 फणीन्द्रभवनं भूमिसुजिद्योद्गतमैक्षत । प्रागृष्टस्वविमानेन स्पन्दं^३ कर्तुमिच्छीद्यतम् ॥११७॥
 रत्नानां राशिमुत्सर्पदंष्ट्रपल्लविताम्बरम् । सा निदृश्यो^४ भरादेभ्यो निधानमिव दर्शितम् ॥११८॥
 अवलङ्गासुरनिर्धूमवपुषं विषभाक्षिपम्^५ । प्रतापमिव पुत्रस्य मूर्तिरूपं न्यच्छाद्यत^६ ॥११९॥
 न्यशामयच्च^७ तुङ्गाङ्गं पुङ्गवं रुक्मसच्छविम् । प्रविशन्तं स्वपञ्चश्रावजं स्वप्नान्ते पीतकन्धरम् ॥१२०॥
 ततः^८ प्रायोधिकस्तूर्यध्वनन्निः प्रत्यबुध सा । बन्दिनां मङ्गलोद्गातोः शृण्वतीति सुमङ्गलाः ॥१२१॥
 सुखप्रबोधमाधातुमेतस्याः पुण्यपाठकाः । तदा प्रपेदुरिष्युर्ध्वमङ्गलान्यस्तलजिरः ॥१२२॥

हुए अपने दोनों स्तनकलश ही हो ॥१११॥ नौवें स्वप्नमें फूले हुए कुमुद और कमलोंसे शोभा-
 यमान तालाबमें क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ देखीं । वे मछलियाँ ऐसी मालूम होती थीं
 मानो अपने (मरुदेवीके) नेत्रोंकी लम्बाई ही दिखला रही हों ॥११२॥ दसवें स्वप्नमें उसने
 एक सुन्दर तालाब देखा । उस तालाबका पानी तैरते हुए कमलोंको केसरसे पीला-पीला हो
 रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पिछले हुए सुवर्णसे ही भरा हो ॥११३॥ ग्यारहवें
 स्वप्नमें उसने क्षुभित हो बेला (तट) को उल्लंघन करता हुआ समुद्र देखा । उस समय उस
 समुद्रमें उठती हुई लहरोंसे कुछ-कुछ गम्भीर शब्द हो रहा था और जलके छोटे-छोटे कण
 उड़कर उसके चारों ओर पड़ रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अदृहास ही
 कर रहा हो ॥११४॥ बारहवें स्वप्नमें उसने एक ऊँचा सिंहासन देखा । वह सिंहासन सुवर्ण-
 का बना हुआ था और उसमें अनेक प्रकारके चमकीले मणि लगे हुए थे जिससे ऐसा मालूम
 होता था मानो वह मेरु पर्वतके शिखरकी उत्कृष्ट शोभा ही धारण कर रहा हो ॥११५॥ तेरहवें
 स्वप्नमें उसने एक स्वर्गका विमान देखा । वह विमान बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्नोंसे देदीप्यमान था
 और ऐसा मालूम होता था मानो देवोंके द्वारा उपहारमें दिया हुआ, अपने पुत्रका प्रसूतिगृह
 (उत्पत्तिस्थान) ही हो ॥११६॥ चौदहवें स्वप्नमें उसने पृथिवीको भेदन कर ऊपर आया
 हुआ नागेन्द्रका भवन देखा । वह भवन ऐसा मालूम होता था मानो पहले दिखे हुए स्वर्गके
 विमानके साथैस्पर्धा करनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥११७॥ पन्द्रहवें स्वप्नमें उसने अपनी
 उठती हुई किरणोंसे आकाशको पल्लवित करनेवाली रत्नोंकी राशि देखी । उस रत्नोंकी राशि-
 को मरुदेवीने ऐसा समझा था मानो पृथिवी देवीने उसे अपना खजाना ही दिखाया हो ॥११८॥
 और सोलहवें स्वप्नमें उसने जलती हुई प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्नि देखी । वह अग्नि
 ऐसी मालूम होती थी मानो होनेवाले पुत्रका मूर्तिधारी प्रताप ही हो ॥११९॥ इस प्रकार
 सोलह स्वप्न देखनेके बाद उसने देखा कि सुवर्णके समान पीली कान्तिका धारक और
 ऊँचे कन्धोंवाला एक ऊँचा बैल हमारे मुख-कमलमें प्रवेश कर रहा है ॥१२०॥

तदनन्तर वह बजते हुए बाजोंकी ध्वनिसे जग गयी और बन्दीजनोंके नीचे लिखे हुए मंगल-
 कारक मंगल-गीत सुनने लगी ॥१२१॥ उस समय मरुदेवीको मुख-पूर्वक जगानेके लिए, जिनकी
 वाणी अत्यन्त स्पष्ट है ऐसे पुण्य पाठ करनेवाले बन्दीजन उच्च स्वरसे नीचे लिखे अनुसार मंगल-

१. वैदग्ध्यम् । २. अव्यक्तशब्दम् । ३. शोभाम् । ४. प्रसूतिगृहम् । ५. उपायतोक्त्यानीतम् ।
 ६. ददर्श । ७. सप्ताक्षिपम् अग्निम् इति यावत् । ८. ऐक्षत 'वायु पूजायां च' । ९. अनश्यत् ।
 १०. प्रबोधे नियुक्ताः ।

प्रबोधसमर्थोऽयं ते देवि सम्मुखमागतः । रचयन्^१ परविशिष्टदलैरञ्जैरिवाञ्जलिम् ॥१२३॥
 विमावरो विभात्येषा दधती विम्वमैन्दवम् । जितं त्वन्मुखकान्त्येव गलज्ज्योत्स्नोपरिच्छदम् ॥१२४॥
 विच्छाद्यतां गते चन्द्रविम्बे मन्वीकृतादरम् । जगदानन्दरसघ्नं विबुधं त्वन्मुखाम्बुजम् ॥१२५॥
 दिगङ्गनामुखानोन्दुः संस्पृशन्तस्फुटैः करैः । आपिगृच्छिष्यते नूनं प्रवसन्त्रप्रियाङ्गनाः ॥१२६॥
 तारावतिरियं ज्योतिरिचलं लक्ष्यतेऽधुना । विप्रकीर्णं हारभीषीमिन्या गतिसंभ्रमात् ॥१२७॥
 रुयते^२ कलमामन्दमितः सरसि सारसैः । स्तोतुकामैरिवास्माभिः समं त्वाम्नातं मङ्गलैः ॥१२८॥
 उच्छ्वसत्कमलास्येवमितोऽधिगृहं^३ दीर्घिकम् । भवन्तीं गायत्रीबोच्चैरञ्जिनी भ्रमरारवैः ॥१२९॥
 निशादिरहसंतप्तमितश्चक्राङ्गयुगम् । सरस्तरङ्गसंस्पर्शैरिदमाश्वास्यतेऽधुना ॥१३०॥
 रधाङ्गमिधुनैरयं प्राप्यते^४ मित्रसन्निधिः । तीव्रमायासितैरन्तः करैरिन्दोर्विदाहिभिः ॥१३१॥
 दुनोति^५ चकवाचूणां ध्वनिरेव समुच्चरन् । काष्ठासन्नवियोगार्त्तिपिशुनः कामिनां मनः ॥१३२॥
 यदिन्दोः प्राप्तमान्धस्य^६ नोदस्तं सृष्टुमिः करैः । तत्प्रलीनं तमो मैत्रं^७ खराणानुदयोन्मुखे ॥१३३॥

पाठ पढ़ रहे थे ॥१२२॥ हे देवि, यह तेरे जागनेका समय है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो कुछ-कुछ फूले हुए कमलोंके द्वारा तुम्हें हाथ ही जोड़ रहा हो ॥१२३॥ तुम्हारे मुखकी कान्तिसे पराजित होनेके कारण ही मानो जिसकी समस्त चाँदनी नष्ट हो गयी है ऐसे चन्द्र-मण्डलको धारण करती हुई यह रात्रि कैसी विचित्र शोभायमान हो रही है ॥१२४॥ हे देवि, अब कान्तिरहित चन्द्रमामें जगत्का आदर कम हो गया है इसलिए प्रफुल्लित हुआ यह तेरा मुख-कमल ही समस्त जगत्को आनन्दित करे ॥१२५॥ यह चन्द्रमा छिपी हुई किरणों (पक्षमें हाथों) से अपनी दिशारूपी स्त्रियोंके मुखका स्पर्श कर रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो परदेश जानेके लिए अपनी प्यारी स्त्रियोंसे आज्ञा हो लेना चाहता हो ॥१२६॥ ताराओंका समूह भी अब आकाशमें कहीं-कहीं दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है मानो जानेकी जल्दीसे रात्रिके द्वारकी शोभा ही टूट-टूटकर बिखर गयी हो ॥१२७॥ हे देवि, इधर तालाबोंपर ये सारस पक्षी मनोहर और गम्भीर शब्द कर रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो मंगल-पाठ करते हुए हम लोगोंके साथ-साथ तुम्हारी स्तुति ही करना चाहते हों ॥१२८॥ इधर बरकी बावड़ीमें भी कमलिनीके कमलरूपी मुख प्रफुल्लित हो गये हैं और उनपर भौरे शब्द कर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कमलिनी उच्च-स्वरसे आपका यश गा रही हो ॥१२९॥ इधर रात्रिमें परस्परके विरहसे अतिशय सन्तप्त हुआ यह चकवा-चकवीका युगल अब तालाबकी तरंगोंके स्पर्शसे कुछ-कुछ आश्वासन प्राप्त कर रहा है ॥१३०॥ अतिशय दाह करने-वाली चन्द्रमाकी किरणोंसे हृदयमें अत्यन्त दुःखी हुए चकवा-चकवी अब मित्र (सूर्य) के समा-गमकी प्रार्थना कर रहे हैं, भावार्थ—जैसे जब कोई किसीके द्वारा सताया जाता है तब वह अपने मित्रके साथ समागमकी इच्छा करता है वैसे ही चकवा-चकवी चन्द्रमाके द्वारा सताये जानेपर मित्र अर्थात् सूर्यके समागमकी इच्छा कर रहे हैं ॥१३१॥ इधर बहुत जल्दी होनेवाले स्त्रियोंके वियोगसे उत्पन्न हुए दुःखकी सूचना करनेवाली मुर्गोंकी तेज आवाज कामी पुरुषोंके मनको सन्ताप पहुँचा रही है ॥१३२॥ शान्तस्वभावी चन्द्रमाकी कोमल किरणोंसे रात्रिका जो अन्धकार

१. ईपद् विकसित । २. परिकरः । ३. विकसितम् । ४. अनुज्ञापयितुमिच्छति । ५. गच्छन् । ६. शब्दयते । 'रु शब्दे' । ७. त्वा त्वाम् । ८. आम्नात अभ्यस्त । त्वामात्तमङ्गलैः अ०, प०, म०, ल० । ९. विकसत्कमलानना । १०. गृहदीर्घिकायाम् । ११. सूर्यसमीपम् सहायसमीपं वा । १२. परितारयति 'दुष्टु परितारि' । १३. न नाशितम् । १४. निशाया इदम् । १५. रवौ ।

तमः शार्वरमुद्रित करमानोरुदेश्वतः । सनेवाग्रेसरी सन्ध्या स्फुरत्येवानुरागिणी ॥१३४॥
 मित्रमण्डलमुद्रच्छदिदमातनुते द्वयम् । विकासमग्निनीषण्डे ग्लानिं च कुमुदाकरे ॥१३५॥
 विकस्वरं समालोक्य पश्चिन्याः पङ्कजावनम् । सासूयेव परिभ्रान्तिं प्रयात्येव कुमुदती ॥१३६॥
 पुरः प्रसारयन्नुच्चैः करानुधाति मानुमान् । प्राचीदिगङ्गतागर्भात् तेजोगर्भं इवार्भकः ॥१३७॥
 लक्ष्यते निपथोऽक्षं मानुरारक्तमण्डलः । पुञ्जीकृत ह्रैकत्र सान्ध्यो रागः सुरेश्वरः ॥१३८॥
 तमो विभूतमुद्भूत चक्रवाकपरिक्रमः । प्रयोधिताग्निनी मानो जन्मनोन्मीलितं जगत् ॥१३९॥
 समन्ताद्वापनन्धेयं प्रमाते शिशिरो मरुत् । कमलामोदमाकर्षन् प्रफुल्लादग्निनीवनात् ॥१४०॥
 इति परपष्ट पञ्चाशं प्रयोधसमयस्तथ । देवि मुञ्जाधुना तरुणं शुचि हंसीव सैकतम् ॥१४१॥
 सुप्रानमस्तु ते नित्यं कल्याणशतभारमथ । प्राचीवाकं प्रसोषीष्याः पुत्रं त्रेलोक्यदोषकम् ॥१४२॥
 स्वप्नमदर्शनादेव प्रबुद्धा प्राक्तरो पुनः । प्रयोधितेत्यदर्शत् सा संप्रमोदमथ जगत् ॥१४३॥
 प्रबुद्धा च शुभस्वप्नदर्शनानन्दनिभेरात् । तनुं कण्टकितामूहं साग्निनीव विकासिनी ॥१४४॥

नष्ट नहीं हो सका था वह अब तेज किरणवाले सूर्यके उदयके सम्मुख होते ही नष्ट हो गया है ॥१३३॥ अपनी किरणोंके द्वारा रात्रि सम्बन्धी अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य आगे चलकर उदित होगा परन्तु उससे अनुराग (प्रेम और लाली) करनेवाली सन्ध्या पहलेसे ही प्रकट हो गयी है और ऐसी जान पड़ती है मानो सूर्यरूपी सेनापतिकी आगे चलनेवाली सेना ही हो ॥१३४॥ यह उदित होता हुआ सूर्यमण्डल एक साथ दो काम करता है—एक तो कमलिनीयोंके समूहमें विकासको विस्तृत करता है और दूसरा कुमुदिनीयोंके समूहमें ग्लानताको विस्तार करता है ॥१३५॥ अथवा कमलिनीके कमलरूपी मुखको प्रफुल्लित हुआ देखकर यह कुमुदिनी मानो ईर्ष्यासे ग्लानताको प्राप्त हो रही है ॥१३६॥ यह सूर्य अपने ऊँचे कर अर्थात् किरणोंको (पक्षमें हाथोंको) सामने फैलाना हुआ उदित हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो पूर्व दिशारूपी स्त्रीके गर्भमें कोई तेजस्वी बालक ही पैदा हो रहा हो ॥१३७॥ निपथ पर्वतके समीप आरक्त (लाल) मण्डलका धारक यह सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो इन्द्रोंके द्वारा इकट्ठा किया हुआ मय मन्ध्याओंका राग (लालिमा) ही हो ॥१३८॥ सूर्यका उदय होते ही समस्त अन्धकार नष्ट हो गया, चक्रवाचकवियोंका क्लेश दूर हो गया, कमलिनी विकसित हो गयी और सारा जगत् प्रकाशमान हो गया ॥१३९॥ अब प्रभातके समय फूल हुए कमलिनीयोंके वनसे कमलोंकी सुगन्ध ग्रहण करता हुआ यह शीतल पवन सथ ओर बढ़ रहा है ॥१४०॥ इसलिए हे देव, स्पष्ट ही यह तेरे जागनेका समय आ गया है । अतएव जिस प्रकार हंसिनी बालूके टीलेको छोड़ देती है उसी प्रकार तू भी अब अपनी निर्मल शय्या छोड़ ॥१४१॥ तेरा प्रभात सदा मंगलमय हो, तू संकष्टों कल्याणोंको प्राप्त हो और जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्यको उत्पन्न करती है उसी प्रकार तू भी तीन लोकको प्रकाशित करनेवाले पुत्रको उत्पन्न कर ॥१४२॥ यद्यपि वह मरुदेवी स्वप्न देखनेके कारण, बन्दीजनोंके संगल-गानसे बहुत पहले ही जाग चुकी थी, तथापि उन्होंने उसे फिरसे जगाया । इस प्रकार जागृत होकर उसने समस्त संसारको आनन्दमय देखा ॥१४३॥ शुभ स्वप्न देखनेसे जिसे अत्यन्त आनन्द हो रहा है ऐसी जागी हुई मरुदेवी फूली हुई कमलिनीके समान कण्टकिन अर्थात् रोमांचित (पक्षमें काँटोंसे व्याप्त) शरीर धारण कर रही थी ॥१४४॥

१. मण्ड ३०, ४०, २०, ४०, ८० । २. विकसनशीलम् । ३. विभूत ४०, ८० । ४. उदयेन । ५. प्रकाशितम् । ६. आवाति । ७. दीभतं प्रातःकल्यं यस्याह्नः तत् । ८. 'प्राणिग्रमये' लिट् । ९. निर्मल ८० ।

ततस्तदर्शनानन्दं वोक्तुं स्वाङ्गेऽपिवाक्षमा । कृतमङ्गलनेपथ्या सा भजे पर्युरन्तिकम् ॥१४५॥
 उचितेन नियोगेन दृष्ट्वा सा नाभिभूभुजम् । तस्मै नृपासनस्थाय सुखासीना व्यजिज्ञपत् ॥१४६॥
 त्रेधाद्य यामिनीभागे पश्चिमे सुखनिद्रिता । अद्राक्षं षोडश स्वप्नानिमानस्यजुतोदयान् ॥१४७॥
 गजेन्द्रभवदाताङ्गं वृषम्^१ दुन्दुभिस्वनम् । सिंहमुल्लङ्घिताप्रयत्नं लक्ष्मीं स्ताप्यां सुरद्विपैः ॥१४८॥
 दामिनीं लम्बमाने खे प्रोताङ्गुं द्योतिताम्बरम् । प्रोद्यन्तमग्निनीबन्धुं बन्धुरं प्रषयुग्मकम् ॥१४९॥
 कलसावमुतापूर्णौ सरः स्वच्छाम्बु साम्भुजम् । वाराशिं क्षुभितावर्त्तं सैहं मासुरमासनम् ॥१५०॥
 विमानमापतन् स्वर्गाद् भुवो^२ भैवनमुज्जवत् । रत्नराशिं स्फुरद्भिर्म ज्वलनं प्रज्वलद्भुतिम् ॥१५१॥
 दृष्ट्वान् षोडशस्वप्नानथादर्शं महोपते । वदन् मे विशन्त तं गवेन्द्रं कनकच्छविम् ॥१५२॥
 वदतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते । अपूर्वदर्शनात् कस्य न स्यात् कौतुकवन्मनः ॥१५३॥
 अधासावचिञ्जानचिञ्जुदस्वप्नसत्फलः । प्रोवाच तत्फलं देव्यै लसद्दशनदाभितिः ॥१५४॥
 शृणु देवि महान् पुत्रो भविता ते गजेक्षणान् । समस्तभुवनज्येष्ठो महापुष्यभदर्शनात् ॥१५५॥
 सिद्धान्तान्नवीर्योऽसौ दास्या सद्धर्मतीर्थकृत् । लक्ष्याभिवेकमाप्तासौ^३ मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमैः ॥१५६॥
 पूर्णेन्दुना जनाङ्गादी मास्वता मास्वरघुतिः । कुम्भाभ्यां निधिमानी स्यात् सुखी मत्स्ययुगेक्षणात् ॥१५७॥
 सरसा लक्षणोद्गासी सोऽग्निना केवली भवेत् । सिंहासनेन साम्राज्यमवाप्स्यति जगद्गुरुः ॥१५८॥

तदनन्तर वह् मरुदेवी स्वप्न देखनेसे उत्पन्न हुए आनन्दको मानो अपने शरीरमें धारण करनेके लिए समर्थ नहीं हुई थी इसीलिए वह मंगलमय स्नान कर और वस्त्राभूषण धारण कर अपने पतिके समीप पहुँची ॥१४५॥ उसने वहाँ जाकर उचित विनयसे महाराज नाभिराजके दर्शन किये और फिर सुखपूर्वक बैठकर, राज्यसिंहासनपर बैठे हुए महाराजसे इस प्रकार निवेदन किया ॥१४६॥ हे देव, आज मैं सुखसे सो रही थी, सोते ही सोते मैंने रात्रिके पिछले भागमें आश्चर्यजनक फल देनेवाले ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥१४७॥ स्वच्छ और सफेद शरीर धारण करनेवाला ऐरावत हाथी, दुन्दुभिके समान शब्द करता हुआ बैल, पहाड़की चोटीको उल्लंघन करनेवाला सिंह, देवोंके हाथियों-द्वारा नहलायी गयी लक्ष्मी, आकाशमें लटकती हुई दो मालाएँ, आकाशको प्रकाशमान करता हुआ चन्द्रमा, उदय होता हुआ सूर्य, मनोहर मछलियोंका युगल, जलसे भरे हुए दो कलश, स्वच्छ जल और कमलोंसे सहित सरोवर, क्षुभित और भँवरसे युक्त समुद्र, देदीप्यमान सिंहासन, स्वर्गसे आता हुआ विमान, पृथिवीसे प्रकट होता हुआ नागेन्द्रका भवन, प्रकाशमान किरणोंसे शोभित रत्नोंकी राशि और जलती हुई देदीप्यमान अग्नि। इन सोलह स्वप्नोंको देखनेके बाद हे राजन्, मैंने देखा है कि एक सुवर्णके समान पीला बैल मेरे मुखमें प्रवेश कर रहा है। हे देव, आप इन स्वप्नोंके फल कहिए। इनके फल सुननेकी मेरी इच्छा निरन्तर बढ़ रही है सो ठीक ही है अपूर्व वस्तुके देखनेसे किसका मन कौतुक-युक्त नहीं होता है ? ॥१४८-१४९॥ तदनन्तर, अबधिज्ञानके द्वारा जिन्होंने स्वप्नोंका उत्तम फल जान लिया है और जिनकी दाँतोंकी किरणें अतिशय शोभायमान हो रही हैं ऐसे महाराज नाभिराज मरुदेवीके लिए स्वप्नोंका फल कहने लगे ॥१५०॥ हे देवि, पुत्र, हाथीके देखनेसे तेरे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम बैल देखनेसे वह समस्त लोकमें ज्येष्ठ होगा ॥१५१॥ सिंहके देखनेसे वह अनन्त बलसे युक्त होगा, मालाओंके देखनेसे समोचीन धर्मके तीर्थ (आम्नाय) का चलानेवाला होगा, लक्ष्मीके देखनेसे वह सुमेरु पर्वतके मस्तकपर देवोंके द्वारा अभिवेकको प्राप्त होगा ॥१५२॥ पूर्ण चन्द्रमाके देखनेसे समस्त लोगोंको आनन्द देनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे देदीप्यमान प्रभाका धारक होगा, दो कलश देखनेसे अनेक निधियोंको प्राप्त होगा, मछलियोंका युगल देखनेसे सुखी होगा ॥१५३॥ सरोवरके देखनेसे अनेक लक्षणोंसे शोभित होगा, समुद्रके देखनेसे केवली होगा, सिंहासनके देखनेसे जगत्का गुरु होकर साम्राज्य-

१. वृषं दुन्दुभिनिःस्वनम् अ०, प०, स०, व०, म०, ल० । २. भूमेः सकाशात् । ३. नागालयम् ।
 ४. प्राप्स्यति । -माप्तोऽसौ अ०, प०, स०, म०, ल० ।

स्वविमानावलोकने स्वर्गादवतरिष्यति । कर्णोन्मस्रवनालोकान् साधविज्ञानलोचनः ॥१५५॥

गुणानामाकरः प्रोथद्वन्द्वशशिनिशामनात् । कर्मन्धनं भगव्येष निर्धूमज्जलनेक्षणान् ॥१५६॥

वृषभाकारमादाय भवत्यास्यप्रवेशनान् । स्वर्गमे वृषभो देवः स्वमाधास्यति निर्मले ॥१५७॥

इति तद्वचनाद् देवी दध्ने रोमाञ्चितं वपुः । हर्षाङ्कुरैरिवार्काणं परमानन्दनिर्भरम् ॥१५८॥

तदाप्रसूतिः सुषमदुःषमः सुषेतिरे । दिव्यभार्योऽनुचारिण्यः तत्कालोच्चिनकर्मभिः ॥१५९॥

को प्राप्त करेगा ॥ १५८ ॥ देवीका विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतीर्ण होगा, नागेन्द्रका भवन देखनेसे अवधि-ज्ञान रूपी लोचनोंसे सहित होगा ॥ १५९ ॥ चमकते हुए रत्नोंकी राशि देखनेसे गुणोंकी खान होगा, और निर्धूम अग्निके देखनेसे कर्मरूपी इन्धनको जलानेवाला होगा ॥ १६० ॥ तथा तुम्हारे मुखमें जो वृषभने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भमें भगवान् वृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे ॥ १६१ ॥ इस प्रकार नाभिराजके वचन सुनकर उसका सारा शरीर हर्षसे रोमांचित हो गया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो परम आनन्दसे निर्भर होकर हर्षके अंकुरोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १६२ ॥ [* तत्र अवसर्पिणा कालके तीसरे सुषमदुःषम नामक कालमें चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें वज्र-नाभि अहमिन्द्र, देवायुका अन्त होनेपर सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत होकर मरुदेवीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ और वहाँ सीपके सम्पुटमें मोलोंकी तरह सब बाधाओंसे निर्मुक्त होकर स्थित हो गया ॥ १-३ ॥ उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होनेवाले चिह्नोंसे भगवान् के गर्भावतारका समय जानकर वहाँ आये और सभीने नगरकी प्रदक्षिणा देकर भगवान् के माता-पिताको नमस्कार किया ॥ ४ ॥ सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने देवोंके साथ-साथ संगीत प्रारम्भ किया । उस समय कहीं गीत हो रहे थे, कहीं वाजे बज रहे थे और कहीं मनोहर नृत्य हो रहे थे ॥ ५ ॥ नाभिराजके महलका आँगन स्वर्गलोकसे आये हुए देवोंके द्वारा खचाखच भर गया था । इस प्रकार गर्भकल्याणकका उत्सव कर वे देव अपने-अपने स्थानोंपर वापस चले गये ॥ ६ ॥] उसी समयसे लेकर इन्द्रकी आज्ञासे दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्योंके द्वारा दासियोंके समान मरुदेवीकी सेवा करने लगी ॥ १६३ ॥

१. दर्शनम् । २. कर्मन्धनहरोऽप्येष अ०, प० । ३. कर्मन्धनदात्री । ४. भवत्यास्य तब मुख । ५. स्वम् आत्मानम् । ६. धारयिष्यति । ७. दध्ने प० । ८. १६२९श्लोकादन्तरम् अ०, प०, स०, द०, म०, ल० पुस्तकेष्वधस्तनः पाठोऽधिको दृश्यते । अयं पाठः 'त० ब०' पुस्तकयोर्नीस्ति । प्रायेणान्येष्वपि कर्णाटकपुस्तकेषु नास्त्ययं पाठः । कर्णाटकपुस्तकेष्वज्ञातेन केनचित् कारणेन छुटितोऽप्ययं पाठः प्रकरणसंगतार्थमावश्यकः प्रतिभाति । स च पाठ ईदृशः—एष श्लोको हरिवंशपुराणस्याश्रममर्मे सप्तनवतितमः श्लोको वर्तते । तृतीयकाल-शेषेऽनावशीतिश्चतुष्टयः । पूर्वलक्षास्त्रिवर्गाष्टमासपक्षयुतास्तदा ॥१॥ अवतीर्य युगाद्यन्ते ह्यखिलार्थविमानतः । आषाढासितपक्षस्य द्वितीयायां सूर्योत्तमः ॥२॥ उत्तराषाढनक्षत्रे देव्या गर्भसमाश्रितः । स्थितो यथा विवाभोऽसौ मौक्तिकं मुक्तिमम्पुटे ॥३॥ ज्ञात्वा तदा स्वबिह्वलेन सर्वेऽप्यागुः सुरेश्वराः । पुनः प्रदक्षिणीकृत्य तद्गुह्यं ववन्दिरे ॥४॥ संगीतकं समारब्धं वज्रिणा हि सहामरैः । ववन्दिमीने ववन्दिद्वार्य ववन्दिनृत्यं मनोहरम् ॥५॥ तत्प्राज्ञं समाक्रान्तं नाकलोकैरिहागतेः । कृत्वागर्भककल्याणं पुनर्जन्मव्याययम् ॥६॥ अयं पाठः 'प' पुस्तकस्यः । 'द' पुस्तके द्वितीयश्लोकस्य 'युगाद्यन्ते' इत्यस्य स्थाने 'सुराद्यन्ते' इति पाठो विद्यते तस्य मिश्रितव संस्कृतश्लोकाकारेण शकन्वादित्वात् पररूपं विधाय विहिता । 'अ०, स०' पुस्तकयोर्निम्नाङ्कितः पाठोऽस्ति प्रथमद्वितीयश्लोकस्थाने—'पूर्वलक्षेण कालेऽसौ शेषे चतुरशीतिके । तृतीये हि त्रिवर्गाष्टमासपक्षयुते सति ॥१॥ आगुरन्ते तनश्चतुष्टयः ह्यखिलार्थविमानतः । आषाढासितपक्षस्य द्वितीयायां सूर्योत्तमः ॥२॥' १ चेटयः ।

* कोष्ठके भीतरका पाठ अ०, प०, द०, स०, म० और ल० प्रतिके आधारपर दिया है । कर्णाटककी 'त०' 'ब०' तथा 'द' प्रतिमें यह पाठ नहीं पाया जाता है ।

श्रीह्रीं धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्या च देवताः । श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुतिबोधं च वैभवम् ॥१६४॥
 तस्यामादयुरभ्यर्णवत्तिन्यः स्वानिमान् गुणान् । तत्संस्काराच्च सा रंजे संस्कृतेवाग्निना मणिः ॥१६५॥
 तास्तस्याः परिचर्यायां गर्भशोधनमादितः । प्रचक्रुः शुचिभिर्द्रव्यैः स्वर्गलोकादुपाहृतैः ॥१६६॥
 स्वभायनिर्मला चार्वा भूयस्तामिर्विशोभिता । सा शुचिस्फटिकेनेव वटिताङ्गी तदा बभौ ॥१६७॥
 काश्चिन्मङ्गलधारिण्यः काश्चित्ताम्बूलदायिकाः । काश्चिन्मज्जनपालिन्यः काश्चिन्वातन् प्रसाधिकाः ॥१६८॥
 काश्चिन्महानसे युक्ताः शय्याविरचने पराः । पादसंवाहने काश्चित् काश्चिन्माह्वरूपाचरन् ॥१६९॥
 प्रसाधनविधौ काश्चित् स्पृशन्ता तन्मुखाभ्युजम् । सानुरागं व्यधात् सौरी प्रमेवारजं सरोरुहः ॥१७०॥
 ताम्बूलदायिका काश्चित् बभौ पत्रैः करस्थितैः । शुकाध्यासितशाखाया लतेवासरकामिनी ॥१७१॥
 काचिदामरणान्धस्यै ददती मृदुपाणिना । विबभौ कल्पवल्लीव शाखाग्रोन्मिन् भूषणाः ॥१७२॥
 वासः क्षीमः सजो दिव्याः सुमनामञ्जरीरपि । तस्यै समर्पयामासुः काश्चित् कल्पलता हव ॥१७३॥
 काचित् सीगन्धिकाह्वयद्रव्यैः कुलेपनैः । स्वकरस्थैः कृतामोदाद् गन्धैर्युक्तिरिवाहवत् ॥१७४॥

श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन षट्कुमारी देवियोंने मरुदेवीके समीप रह-
 कर उसमें क्रमसे अपने-अपने शोभा, लज्जा, धैर्य, स्तुति, बोध और विभूति नामक गुणोंका
 संचार किया था । अर्थात् श्री देवीने मरुदेवीकी शोभा बढ़ा दी, ह्री देवीने लज्जा बढ़ा दी, धृति
 देवीने धैर्य बढ़ाया, कीर्ति देवीने स्तुति की, बुद्धि देवीने बोध (ज्ञान) को निर्मल कर दिया और
 लक्ष्मी देवीने विभूति बढ़ा दी । इस प्रकार उन देवियोंके सेवा-संस्कारसे वह मरुदेवी ऐसी
 सुशोभित होने लगी थी जैसे कि अग्निके संस्कारसे मणि सुशोभित होने लगता है ॥१६४-१६५॥
 परिचर्या करते समय देवियोंने सबसे पहले स्वर्गसे लाये हुए पवित्र पदार्थोंके द्वारा माताका
 गर्भ शोधन किया था ॥१६६॥ वह माता प्रथम तो स्वभायसे ही निर्मल और सुन्दर थी इतने-
 पर देवियोंने उसे विशुद्ध किया था । इन सब कारणोंसे वह उस समय ऐसी शोभायमान होने
 लगी थी मानो उसका शरीर स्फटिक मणिसे ही बनाया गया हो ॥१६७॥ उन देवियोंमें कोई
 तो माताके आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करती थी, कोई उसे ताम्बूल देती थी, कोई स्नान
 कराती थी और कोई वस्त्राभूषण आदि पहनाती थी ॥१६८॥ कोई भोजनशालाके काममें
 नियुक्त हुई, कोई शय्या बिछानेके काममें नियुक्त हुई, कोई पैर दाबनेके काममें नियुक्त हुई
 और कोई तरह-तरहकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ पहनाकर माताकी सेवा करनेमें नियुक्त
 हुई ॥१६९॥ जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा कमलिनीके कमलका स्पर्श कर उसे अनुरागसहित
 (लालीसहित) कर देती है उसी प्रकार शृङ्गारित करते समय कोई देवी मरुदेवीके मुखका
 स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (प्रेमसहित) कर रही थी ॥१७०॥ ताम्बूल देनेवाली देवी हाथमें
 पान लिये हुए ऐसी सुशोभित होती थी मानो जिसकी शाखाके अग्रभागपर तोता बैठा हो ऐसी
 कोई लता ही हो ॥१७१॥ कोई देवी अपने कोमल हाथसे माताके लिए आभूषण दे रही थी
 जिससे वह ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो जिसकी शाखाके अग्रभागपर आभूषण प्रकट
 हुए हों ऐसी कल्पलता ही हो ॥१७२॥ मरुदेवीके लिए कोई देवियाँ कल्पलताके समान रेशमी
 वस्त्र दे रही थी, कोई दिव्य मालाएँ दे रही थी ॥१७३॥ कोई देवी अपने हाथपर रखे हुए
 सुगन्धित द्रव्योंके विलेपनसे मरुदेवीके शरीरको सुवासित कर रही थी । विलेपनकी सुगन्धिके

१. आनीतः । २. अलङ्कारे नियुक्ताः । ३. पादमर्दने । ४. उपचारमकुर्वन् । ५. अलंकारविधाने ।
 ६. सूर्यस्यैव सौरी । ७. सरोजिन्याः । सरोवरे प० । -वाजं सरोरुहम् म० । -वाज्यसरोरुहम् अ० । ८. ताम्बूल-
 दायिनी द०, स०, म०, ल० । ९. उद्भिन्न उद्भूत । १०. दुकूलम् । ११. सीगन्धिकाः सीगन्ध्याः ।
 सीगन्धिकाद्रुत सुगन्धसमूहाद्रुत । 'कवचिहस्यचित्ताच्च ठणोति ठणि' अथवा 'गुग्गुधाद्रुतविनयादिभ्यः' इति
 स्वार्थे ण् । १२. गन्धममष्टिः । गन्धद्रव्यकरणप्रतिपादकशास्त्रविशेषः ।

भङ्गरक्षाविधौ काश्चिदुत्सावासिलता वसुः । सरस्य इव विप्रस्तपाडीनाः सुरयोधितः ॥१७५॥
 संममार्जुमर्हो काश्चिदाकीर्णो पुष्परेणुभिः । तद्गन्धासङ्गिभ्यो भृङ्गानाधुनानाः स्तनांशुकैः ॥१७६॥
 कुर्वन्ति स्मापराः सान्द्रचन्दनच्छटयोक्षिताम्^१ । क्षितिमाद्रांशुकैरन्याः निर्ममार्जुतन्दिताः ॥१७७॥
 कुर्वन्ते^२ बलिबिन्द्यासं रत्नचूर्णैः पुरोऽपराः । पुष्पैरुपहरन्त्यन्यास्तत्तामोर्दुर्गुशाखिनाम्^३ ॥१७८॥
 काश्चिद्विशितविष्यानुभावाः^४ प्रच्छन्नविमहाः । निचोरीरुचितैरेनामनारतमुपाचरन् ॥१७९॥
 प्रभातरलिलां काश्चिद् दधानास्तनुयष्टिकाम् । सौदामिभ्य इवानिन्युरुचितं रुचिरं च यत् ॥१८०॥
 काश्चिदन्तर्हिता^५ देव्यो देव्यै दिव्यानुभावतः । अजमशुकमाहारं भूषां चास्यै समर्पयन् ॥१८१॥
 भस्तरिक्षस्थिताः काश्चिदनालक्षितमूर्त्यः । परस्मै रक्ष्यतां देवीत्युच्यैर्निरमुदाहरन्^६ ॥१८२॥
 गतेष्वंशुकसंधानमा^७ सितेष्वानना^८ हतिम् । स्थितेषु परितः सेवां चक्रुस्त्वाः सुराङ्गनाः ॥१८३॥
 काश्चिदुचिचक्षिपु^९ ज्योतिस्तरला मणिदीपिकाः । निष्तामुत्प्रे^{१०} हस्यग्राद्विभुश्वानास्तमोऽमितः ॥१८४॥
 काश्चिन्नीराजयामासुरुचितैर्बलिकर्मभिः । न्यास्यन्मन्त्राक्षरैः काश्चिदस्यै रक्षामुपाक्षिपन्^{११} ॥१८५॥

कारण उस देवीके हाथपर अनेक भौरे आकर गुंजार करते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सुगन्धित द्रव्योंकी उत्पत्ति आदिका वर्णन करनेवाले गन्धशास्त्रकी युक्ति ही हो ॥१७४॥ माताकी अंग-रक्षाके लिए हाथमें नंगी तलवार धारण किये हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी शोभायमान होती थी मानो जिनमें मछलियों चल रही हैं ऐसी सरसो (तलैया) ही हों ॥१७५॥ कितनी ही देवियाँ पुष्पकी परागसे भरी हुई राजमहलकी भूमिको जुहार रही थी और उस परागकी सुगन्धसे आकर झट्टे हुए भौरीको अपने स्तन ढकनेके बख्खसे उड़ाती भी जाती थी ॥१७६॥ कितनी ही देवियाँ आलस्यरहित होकर पृथिवीकी गीले कपड़ेसे साफ कर रही थी और कितनी ही देवियाँ घिसे हुए गाढ़े चन्दनसे पृथिवीकी सींच रही थी ॥१७७॥ कोई देवियाँ माताके आगे रत्नोंके चूर्णसे रंगावलीका विन्यास करती थी—रंग-विरंगे चौक पूरती थी, बेल-बूटा खींचती थी और कोई सुगन्धि फैलानेवाले, कल्पवृक्षोंके फूलोंसे माताकी पूजा करती थी—उन्हें फूलोंका उपहार देती थी ॥१७८॥ कितनी ही देवियाँ अपना शरीर छिपाकर दिव्य प्रभाव दिखलाती हुई योग्य सेवाओंके द्वारा निरन्तर माताकी शुश्रूषा करती थी ॥१७९॥ बिजलीके समान प्रभासे चमकते हुए शरीरको धारण करनेवाली कितनी ही देवियाँ माताके योग्य और अच्छे लगनेवाले पदार्थ लाकर उपस्थित करती थी ॥१८०॥ कितनी ही देवियाँ अन्तर्हित होकर अपने दिव्य प्रभावसे माताके लिए माला, वस्त्र, आहार और आभूषण आदि देती थी ॥१८१॥ जिनका शरीर नहीं दिख रहा है वेसो कितनी ही देवियाँ आकाशमें स्थित होकर बड़े जोरसे कहती थी कि माता मरुदेवीकी रक्षा बड़े ही प्रयत्नसे की जाये ॥१८२॥ जब माता चलती थी तब वे देवियाँ उसके बखोंको कुछ ऊपर उठा लेती थी, जब बैठती थी तब आसन लाकर उपस्थित करती थी और जब खड़ी होती थी तब सब ओर खड़ी होकर उनकी सेवा करती थी ॥१८३॥ कितनी ही देवियाँ रात्रिके प्रारम्भकालमें राजमहलके अग्रभागपर अतिशय चमकीले मणियोंके दीपक रखती थीं । वे दीपक सब ओरसे अन्धकारको नष्ट कर रहे थे ॥१८४॥ कितनी ही देवियाँ सायंकालके समय योग्य वस्तुओंके द्वारा माताकी आरती उतारती थी, कितनी ही देवियाँ दृष्टिशेष दूर करनेके लिए उतारना उतारती थी और कितनी ही

१. प्रोक्षिताम्, सिक्तमित्यर्थः । २. रङ्गविरचनाम् । ३. कल्पवृक्षाणाम् । ४. मनुष्यदेहधारिणः । ५. अन्तर्धानं गताः । ६. वदन्ति स्म । ७. गमनेषु । ८. वस्त्रप्रसरणम् । ९. उपवेशनेषु । १०. पीठानयनम् । ११. स्थानेषु । १२. उद्दालयन्ति स्म । १३. प्रासावाग्रमावाह । १४. न्यसन्ति स्म । १५. निक्षिपन्ति स्मित्यर्थः ।
 -गुणक्षयम् ६०, स०, म०, ट० । उपक्षेपं रात्रिमुखे ।

निरव्यजागरितैः काश्चित् निमेषालसलोचनाः^१ । 'उपासांचक्रिरे' नक्तं तां देव्यो विभृतायुधाः ॥१८१॥
 कदाचिज्जलकैलीनिर्वनकीडाभिरन्यथा । कथागोष्ठीभिरन्वेष्टुर्वैश्यस्तस्यै प्रति बधुः ॥१८२॥
 कदाचिद् गीतगोष्ठीभिर्बाधगोष्ठीभिरन्यथा । कर्हिचिन्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तां पयुं^२ पासत ॥१८३॥
 काश्चित् प्रेक्षणगोष्ठीषु^३ सलीलातर्कितज्वरः^४ । तर्कसागरवर्नेष्टुः^५ साकृज्ज्वाराः सुराङ्गनाः ॥१८४॥
 काश्चिन्मृत्तविनोदेन^६ रेजिरे कृतरेचकाः^७ । तमोरङ्गे^८ विलोलाङ्गयः सौदामिन्य इवोद्वचः^९ ॥१८५॥
 काश्चिदारचितैः स्थानैश्चमुविक्षितकाइवः । शिक्षमाणा इवानङ्गाद् धनुर्वेद^{१०} जगज्जयै ॥१८६॥
 पुष्पाञ्जलिं किरन्त्येका^{११} परितो रङ्गमण्डलम् । मदनग्रहमावेशो योक्नुकामेव लक्षिता ॥१८७॥
 तदुरोअसरोजातमुकुलानि चकम्पिरे । अनुनर्तितुमन्तासामिव नृतं कुतूहलात् ॥१८८॥
 अपाङ्गशरसन्धानैश्चूलताचापकर्षणैः । धनुर्गुणनिकेवासीत् नृत्यगोष्ठी समोभुवः ॥१८९॥
 रिमतमुद्भिन्नदन्तांशु पात्र्यं कलमनाकुलम् । सापाङ्गवीक्षितं चक्षुः सलयश्च^{१२} परिक्रमः ॥१९०॥
 इतीदमन्यदप्यासां^{१३} धत्तेऽनङ्गशराङ्गताम् । किमङ्गं संगतं^{१४} माचै^{१५} रात्रिकैरसतां^{१६} गतेः ॥१९१॥

देवियाँ मन्त्राक्षरीके द्वारा उसका रक्षाबन्धन करती थीं ॥१८५॥ निरन्तरके जागरणसे जिनके नेत्र टिमकाररहित हो गये हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ रातके समय अनेक प्रकारके हथियार धारण कर माताकी सेवा करती थीं अथवा उनके समीप बैठकर पहरा देती थीं ॥१८६॥ वे वेवांगनाएँ कभी जलक्रीड़ासे और कभी बलक्रीड़ासे, कभी कथा-गोष्ठीसे (इकट्ठे बैठकर कहानी आदि कहनेसे) उन्हें सन्तुष्ट करती थीं ॥१८७॥ वे कभी संगीतगोष्ठीसे, कभी वादित्तगोष्ठीसे और कभी नृत्यगोष्ठीसे उनकी सेवा करती थीं ॥१८८॥ कितनी ही देवियाँ नेत्रोंके द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट करनेवाली गोष्ठियोंमें लीलापूर्वक भौंह नचाती हुई और बढ़ते हुए लयके साथ शरीरको लचकाती हुई नृत्य करती थीं ॥१८९॥ कितनी ही देवियाँ नृत्यक्रीड़ाके समय आकाशमें जाकर फिरकी लेती थीं और वहाँ अपने चंचल अंगों तथा शरीरकी उत्कृष्ट कान्तिसे ठीक बिजलीके समान शोभायमान होती थीं ॥१९०॥ नृत्य करते समय नाट्य-शास्त्रमें निश्चित किये हुए स्थानोंपर हाथ फैलाती हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्को जीतनेके लिए साक्षात् कामदेवसे धनुर्वेद ही सीख रही हों ॥१९१॥ कोई देवी रंग-धिरंगे चौकके चारों ओर फूल बिखेर रही थी और उस समय वह ऐसी मालूम होती थी मानो चित्रशालामें काम-देवरूपी महर्षी नियुक्त ही करना चाहती हो ॥१९२॥ नृत्य करते समय उन देवांगनाओंके स्तनरूपी कमलोंकी बोंड़ियाँ भी झिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन देवांगनाओंके नृत्यका कौतूहलवश अनुकरण ही कर रही हों ॥१९३॥ देवांगनाओंकी उस नृत्यगोष्ठीमें बार-बार भौंहरूपी चाप खींचे जाते थे और उनपर बार-बार कटाक्षरूपी बाण चढ़ाये जाते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवकी धनुषविद्याका किया हुआ अभ्यास ही हो ॥१९४॥ नृत्य करते समय वे देवियाँ दाँतोंकी किरणें फैलाती हुई मुसकराती जाती थीं, स्पष्ट और मधुर गाना गाती थीं, नेत्रोंसे कटाक्ष करती हुई देखती थीं और लयके साथ फिरकी लगाती थीं, इस प्रकार उन देवियोंका वह नृत्य तथा हाव-भाव आदि अनेक प्रकारके विलास, सभी कामदेवके बाणोंके सहायक बाण मालूम होते थे और रसिकताको प्राप्त हुई शरीर-सम्बन्धी चेष्टाओंसे मिले हुए उनके शरीरकी तो कहना ही क्या है—यह तो हरएक प्रकारसे

१. निमेषालस-निर्मिमेप । २. सेवां चक्रुः । ३. रज्ज्याम् । ४. सेवां चक्रिरे । ५. प्रेक्षण-समुदायनृत्यः । ६. ताललयेः । ७. अङ्गविशेषसहिताः । ८. -विनोदेषु अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । ९. कृतवल्गनाः । १०. नमोभागे अ०, म०, द०, स० । ११. उदगतप्रभाः । १२. चापविद्याम् । १३. किरन्त्येका अ०, म० । १४. अनुवर्तितु-प०, द०, म०, ल० । १५. अभ्यासः । १६. पादविशेषः । १७. इतीदमन्यदप्यासां प०, अ०, द०, स० । १८. संयुक्तं चेत् । १९. चेष्टितैः । २०. रसिकत्वम् ।

चारिभिः करणैश्चित्रैः साङ्गहारैश्च देवैः^१ । मनोहराः सुरनन्दनकुलं संप्रेमयोगेभ्यः^२ ॥१९७॥
 काश्चित् संगीतगोप्त्राणु^३ दरोद्भिन्नस्मितमुखैः । बभूवुः पद्मैरिवादिजन्याः विरलोलिखितकर्मैः ॥१९८॥
 काश्चिदोष्ठाग्रसंदृष्टवेणवाऽणुश्रुवो बभूवुः । सदनगनिमिवाध्मातुं कृतयत्नाः सफूकृतम् ॥१९९॥
 वेणुध्मा^४ वेणवा^५ वंशीमर्जित्यः करपदलवैः । चित्रं पल्लवितोश्चक्रुः प्रेक्षकाणां मनोदुमान् ॥२००॥
 संगीतकविषौ काश्चित् स्पृशन्त्यः परिव्रादिनीः^६ । करज्जुलीलिरातेनुर्गतिमभ्यन्तमूर्च्छनाः ॥२०१॥
 तन्त्यो मधुरमारेणु^७ स्तकराज्जुलिताङ्गिताः । अयं तान्त्रो^८ गुणः कोऽपि ताडनत् याति यद्वशम् ॥२०२॥
 वंशैः संदृष्टमालोक्य तासां तु दशनच्छदम् । वीणाज्जुलि^९ रादलेषि वनं तत्स्तनमण्डलम् ॥२०३॥
 मृदङ्गवादनैः काश्चित् बभूवुस्त्वित्तवाहवः । तत्कलाकौशलैः स्थायां कर्तुंकामा इवात्मनः ॥२०४॥
 मृदङ्गास्तरकरस्पृशात् तदा भग्नं विसस्वजुः । तत्कलाकौशलं तासामुत्कर्षाणां^{१०} इवाव्ययैः ॥२०५॥

अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता था ॥१९५-१९६॥ वे नृत्य करनेवाली देवियाँ अनेक प्रकारकी गति, तरह-तरहके गीत अथवा नृत्यविशेष, और विचित्र शरीरकी चेष्टासहित फिरकी आदिके द्वारा माताके मनको नृत्य देखनेके लिए उत्कण्ठित करती थीं ॥१९७॥ कितनी ही देवांगनाएँ संगीतगोष्ठियोंमें कुछ-कुछ हँसते हुए मुखोंसे ऐसी सुशोभित होती थीं जैसे कुछ-कुछ विकसित हुए कमलोंसे कमलिनियाँ सुशोभित होती हैं ॥१९८॥ जिनकी भीड़ बहुत ही छोटी-छोटी है ऐसी कितनी ही देवियाँ ओठोंके अग्रभागसे वीणा बजाती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो फूँककर कामदेवरूपा अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए ही प्रयत्न कर रही हों ॥१९९॥ यह एक बड़े आश्चर्यकी बात थी कि वीणा बजातेवाली कितनी ही देवियाँ अपने हस्तरूपी पल्लवोंसे वीणाकी लकड़ीको साफ करती हुई देखनेवालोंके मनरूपी वृक्षोंको पल्लवित अर्थात् पल्लवोंसे युक्त कर रही थीं । (पक्षमें हर्षित अथवा शृंगार रससे सहित कर रही थीं ।) भावार्थ—उन देवाङ्गनाओंके हाथ पल्लवोंके समान थे, वीणा बजाते समय उनके हाथरूपी पल्लव वीणाकी लकड़ी अथवा उसके तारोंपर पड़ते थे । जिससे वह वीणा पल्लवित अर्थात् नवीन पत्तोंसे व्याप्त हुई-सी जान पड़ती थी परन्तु आचार्यने यहाँपर वीणाको पल्लवित न बताकर देखनेवालोंके मनरूप वृक्षोंको पल्लवित बतलाया है जिससे विरोधमूलक अलंकार प्रकट हो गया है, परन्तु पल्लवित शब्दका हर्षित अथवा शृंगार रससे सहित अर्थ बदल देनेपर वह विरोध दूर हो जाता है । संक्षेपमें भाव यह है कि वीणा बजाते समय उन देवियोंके हाथोंकी चंचलता, सुन्दरता और बजानेकी कुशलता आदि देखकर दर्शक पुरुषोंका मन हर्षित हो जाता था ॥२००॥ कितनी ही देवियाँ संगीतके समय गम्भीर शब्द करनेवाली वीणाओंको हाथकी अँगुलियोंसे बजाती हुई गा रही थीं ॥२०१॥ उन देवियोंके हाथकी अँगुलियोंसे ताडित हुई वीणाएँ मनोहर शब्द कर रही थीं सो ठीक ही है वीणाका यह एक आश्चर्यकारी गुण है कि ताडनसे ही वक्त्र होती है ॥२०२॥ उन देवाङ्गनाओंके ओठोंको वंशों (बाँसुरी)के द्वारा बसा हुआ देखकर ही मानो वीणाओंके तूँबे उनके कठिन स्तनमण्डलसे आ लगे थे । भावार्थ—वे देवियाँ मुँहसे बाँसुरी और हाथसे वीणा बजा रही थीं ॥२०३॥ कितनी ही देवियाँ मृदंग बजाते समय अपनी भुजाएँ ऊपर उठाती थीं जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो उस कला-कौशलके विषयमें अपनी प्रशंसा ही करना चाहती हों ॥२०४॥ उस समय उन बजानेवाली देवियोंके हाथके स्पर्शसे वे मृदंग गम्भीर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो

१. चारिभिः ४०, स० । चारिभिः गतिविशेषैः । २. पुष्पघटादिभिः । ३. बल्लनैः । ४. दरोद्भिन्न - ईषदुद्भिन्न । ५. संधुक्षितुम् । ६. वेणविकाः । ७. वेणोरिमाः । ८. -संस्तव्य अ०, स०, म०, ल० । ९. सप्ततन्त्री वीणा । 'तन्त्रीभिः सप्तभिः परिव्रादिनी' इत्यभिधानात् । १०. ध्वनन्ति स्म । ११. बोधव-सम्बन्धो तन्त्रोभ्यम्बन्धो च । १२. अलानु-शुम्बी । -लाम्बुभिः ५० । १३. उत्कर्षं कुर्वाणाः ।

मृदङ्गा^१ न वयं सत्यं पश्यतास्मान् हिरण्मयान् । इतीवारसितं^२ चक्रस्ते सुदुस्तस्कराश्च^३ ॥२०३॥

मुरजाः^४ कुरवा^५ नैते वदनीयाः कृतश्रमम् । इतीव सस्वनुर्मन्त्रं^६ पणवाताः सुरानकाः ॥२०४॥

प्रभातमङ्गले काश्चित् शङ्खानाभ्यासिषुः^७ पृथून् । स्वकरोत्पीडनं सोढुमक्षमानिव सारवान्^८ ॥२०५॥

काश्चित् प्राचींधिकैस्तूर्यैः सममुत्तालतालकैः । जगुः कलं च मन्दं च मङ्गलानि सुराङ्गनाः ॥२०६॥

इति तत्कृतया देवी स बभौ परिचर्यया । त्रिजगत्पूजितैकध्वमु^९पनीता कथंचन ॥२०७॥

दिवकुमारोभिरित्यात्तसंभ्रमं समुपासिता । तत्प्रभातैरिवाविष्टैः^{१०} सा वभार पसं ध्रियम् ॥२०८॥

अन्तर्वन्तोमथाभ्यर्णं नष्टमे मासि सादरम् । विशिष्टकाव्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तामिरथरञ्जयन् ॥२०९॥

निगूढार्थक्रियापादैः^{११} चिन्दुमात्राक्षरच्युतैः^{१२} । देव्यस्तां रत्नयामासुः श्लोकरन्वैश्च कैश्चन ॥२१०॥

किमिन्दुरेको लोकेऽस्मिन् त्वयाम्य मृदुरीक्षितः । आङ्गितस्ति बलादस्य^{१३} यदशेषं कलाधनम् ॥२११॥

ऊँचे स्वरसे उस गजानेवाली देवियोंके कला-कौशलको ही प्रकट कर रहे हों ॥२०५॥ उन देवियोंके

हाथसे बार-बार ताड़ित हुए मृदंग मानो यही ध्वनि कर रहे थे कि देखो, हम लोग वास्तवमें

मृदंग (सूत+अङ्ग) अर्थात् मिट्टीके अङ्ग (मिट्टीसे बने हुए) नहीं हैं किन्तु सुवर्णके बने हुए

हैं । भावार्थ—मृदंग शब्द रूढ़िसे ही मृदंग (वाद्यविशेष) अर्थको प्रकट करता है ॥२०६॥

उस समय पणव आदि देवोंके बाजे बड़ी गम्भीर ध्वनिसे बज रहे थे मानो लोगोंसे यही कह

रहे थे कि हम लोग सदा सुन्दर शब्द ही करते हैं, बुरे शब्द कभी नहीं करते और इसीलिए

आपके परिश्रमसे बचनेके लिये हमें प्रसन्न करने की ही देवियाँ बड़े-बड़े शंख बजा

रही थीं और वे ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवियोंके हाथोंसे होनेवाली पीड़ाको सहन करनेके

लिए असमर्थ होकर ही चिल्ला रहे हों ॥२०८॥ प्रातःकालमें माताको जगानेके लिए जो ऊँची

तालके साथ तुरही बाजे बज रहे थे उनके साथ कितनी ही देवियाँ मनोहर और गम्भीर रूपसे

मंगलगान गाती थीं ॥२०९॥ इस प्रकार उन देवियोंके द्वारा की हुई सेवासे मरुदेवी ऐसी

शोभायमान होती थी मानो किसी प्रकार एकरूपताको प्राप्त हुईं तीनों लोकोंकी लक्ष्मी ही

हो ॥२१०॥ इस तरह बड़े संभ्रमके साथ दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित हुई उस मरुदेवाने

बड़ी ही उत्कृष्ट शोभा धारण की थी और वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानो शरीरमें प्रविष्ट हुए

देवियोंके प्रभावसे ही उसने ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण की हो ॥२११॥

अथानन्तर, नीचाँ महीना निकट आनेपर वे देवियाँ नीचे लिखे अनुसार विशिष्ट-विशिष्ट

काव्य-गोष्ठियोंके द्वारा बड़े आदरके साथ गर्भिणी मरुदेवीको प्रसन्न करने लगीं ॥२१२॥ जिनमें

अर्थ गूढ़ है, क्रिया गूढ़ है, पाद (श्लोकका चौथा हिस्सा) गूढ़ है अथवा जिनमें चिन्दु छूटा

हुआ है, मात्रा छूटी हुई या अक्षर छूटा हुआ है ऐसे कितने ही श्लोकोंसे तथा कितने ही

प्रकारके अन्य श्लोकोंसे वे देवियाँ मरुदेवीको प्रसन्न करती थीं ॥२१३॥ वे देवियाँ कहने लगीं कि

हे माता, क्या तुमने इस संसारमें एक चन्द्रमाको ही कोमल (दुर्बल) देखा है जो इसके समस्त

कलारूपी धनको जबरदस्ती लीन रही हो । भावार्थ—इस श्लोकमें व्याजस्तुति अलंकार है

अर्थात् निन्दाके छलसे देवीकी स्तुति की गयी है । देवियोंके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपके

मुखकी कान्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही चन्द्रमाकी कान्ति घटती जाती है अर्थात्

आपके कान्तिमान् मुखके सामने चन्द्रमा कान्तिरहित मालूम होने लगता है । इससे जान पड़ता

है कि आपने चन्द्रमाको दुर्बल समझकर उसके कलारूपी समस्त धनका अपहरण कर लिया

१. मृण्मयावयवाः । २. ध्वनितम् । ३. मुरजाः । ४. कुरवाः अ०, ५०, स०, द०, ल० ।

५. कुतिसतरवाः । ६. पूरयन्ति स्म । ७. तत्करोत्पीडनं म०, ल० । ८. आरवेन सहितान् । ९. एकत्वम् ।

१०. प्रविष्टैः । ११. अर्थाश्च क्रियाश्च पादाश्च अर्थक्रियापादाः निगूढा अर्थक्रियापादा ये च्युतैः । १२. चिन्दुच्युतकमाश्च्युतकाक्षरच्युतकैः । १३. यत् कारणात् ।

मुखेन्दुना जितं नूनं^१ तवाब्जं^२ सोढुमक्षमम् । विम्बमप्येन्दवं^३ साम्यात्^४ संकोचं यात्यदोऽनिकम्^५ ॥२१५॥

राजीवमलिभिर्जुष्टं साककेन^६ मुखेन ते । जितं मोक्षतयाद्यापि याति सांकोचनं^७ मुहुः ॥२१६॥

आजिघ्रनमुहुरभ्येत्य^८ त्वन्मुखं कमलास्थया^९ । नाभ्यभिजनी^{१०} समभ्येति सशङ्क इव षट्पदः ॥२१७॥

नाभिर्पार्थिवमभ्येति नलिनं नकिनानने ।^{११} त्वन्मुखाब्जमुपाग्राय कृतार्थोऽयं मधुमत्तः ॥२१८॥

नाभेरमिमतो राजरूपयि रक्तो न कामुकः । न कुतोऽप्यधरः^{१२} काम्या यः सदोजोधरः^{१३} स कः ॥२१९॥

[प्रहेलिका]

क कीदृक् शस्यते रेखा तवागुभू सुविभ्रमे । करिणी च वदाम्येन पर्यायेण करेणुका^{१४} ॥२२०॥

[एकालापकम्]

हे ॥२१४॥ हे माता, आपके मुखरूपी चन्द्रमाके द्वारा यह कमल अवश्य ही जीता गया है क्योंकि इसीलिए वह सदा संकुचित होता रहता है । कमलकी इस पराजयको चन्द्रमण्डल भी नहीं सह सका है और न आपके मुखको ही जीत सका है इसलिए कमलके समान होनेसे वह भी सदा संकोचको प्राप्त होता रहता है ॥२१५॥ हे माता, चूर्ण कुन्तलसहित आपके मुखकमलने भ्रमरसहित कमलको अवश्य ही जीत लिया है इसीलिए तो वह भयसे मानो आज तक बार-बार संकोचको प्राप्त होता रहता है ॥२१६॥ हे माता, ये भ्रमर तुम्हारे मुखको कमल समझ बार-बार सम्मुख आकर इसे सूँघते हैं और संकुचित होनेवाली कमलिनीसे अपने मरने आदिकी शंका करते हुए फिर कभी उसके सम्मुख नहीं जाते हैं । भावार्थ—आपका मुख-कमल सदा प्रफुल्लित रहता है और कमलिनीका कमल रातके समय निर्मालित हो जाता है । कमलके निर्मालित होनेसे भ्रमरको हमेशा उसमें बन्द होकर मरनेका भय बना रहता है । आज उस भ्रमरको सुगन्ध ग्रहण करनेके लिए सदा प्रफुल्लित रहनेवाला आपका मुख कमलरूपी निर्बाध स्थान मिल गया है इसलिए अब वह लौटकर कमलिनीके पास नहीं जाता है ॥२१७॥ हे कमलनयनी ! ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूँघकर ही कृतार्थ हो जाते हैं इसीलिए वे फिर पृथ्वीसे उत्पन्न हुए अन्य कमलके पास नहीं जाते अथवा ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूँघकर कृतार्थ होते हुए महाराज नाभिराजका ही अनुकरण करते हैं । भावार्थ—जिस प्रकार आपका मुख सूँघकर आपके पति महाराज नाभिराज सन्तुष्ट हो जाते हैं वसी प्रकार ये भ्रमर भी आपका मुख सूँघकर सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥२१८॥ तदनन्तर वे देवियाँ मातासे पहेलियाँ पूछने लगीं । एकने पूछा कि हे माता, बताइए वह कौन पदार्थ है ? जो कि आपमें रक्त अर्थात् आसक्त है और आसक्त होनेपर भी महाराज नाभिराजको अत्यन्त प्रिय है, कामी भी नहीं है, नीच भी नहीं है, और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है । इसके उत्तरमें माता-ने कहा कि मेरा 'अधर' (नीचेका ओठ) ही है क्योंकि वह रक्त अर्थात् लाल वर्णका है, महाराज नाभिराजको प्रिय है, कामी भी नहीं है, शरीरके उच्च भागपर रहनेके कारण नीच भी नहीं है और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है ॥२१९॥ किसी दूसरी देवीने पूछा कि हे पतली भौंहों-वाली और सुन्दर विलासोंसे युक्त माता, बताइए आपके शरीरके किस स्थानमें कैसी रेखा अच्छी समझी जाती है और हस्तिनीका दूसरा नाम क्या है ? दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर दीजिए ।

१. अत्यर्थम् । २. कमलं चन्द्रम् । ३. चन्द्रमादृश्यात् अब्जसादृश्याच्च । ४. मञ्जम् इन्दुविम्बं च । ५. चूर्णकुन्तलसहितेन । ६. संकोचनं ल०, प०, म०, स०, द० । सांकोचनं संकोचित्वम् । राजीवं मोक्षतया अद्यापि सांकोचीनं यातीत्यर्थः । ७. कमलबुद्ध्या । ८. आजिघ्र्याः अभिमुखम् । ९. पृथिव्यां भवं नाभिराजं च । १०. त्वन्मुखाब्जमुपाग्राय अ०, प०, ल० । ११. नीचः । १२. सततं तंजोधरः सामर्थ्यात्स्लिम्बोऽधरः । १३. करिणी हस्ते मूक्षरेखा च ।

❧ इस श्लोकमें अधर शब्द आया है इसलिए इसे 'अन्तर्लीपिका' भी कह सकते हैं ।

किमाहुः सरलोत्तुङ्गं सञ्छायतरुमकुलम् । कलमाधिषि किं कान्तं तवाङ्गे सालकाननम्^१ ॥२२१॥

[एकालापकमेव]

नयनानन्दिनीं रूपसंपदं ग्लानिमन्त्रिके । आहाररतिमुत्सृज्य^२ नाभाधानामृतं^३ सति^४ ॥२२२॥

[क्रियागोपितम्]

अधुना^५ हरमुत्सृज्य केसरी गिरिकन्दरम्^६ । समुत्पित्तुर्गिरिरत्नं सदाभारं^७ भवानकम् ॥२२३॥

अधुना^८ जगतस्तापसमुना गर्भजग्मना^९ । एवं देवि जगतामेकपावनी भुवनाम्बिका ॥२२४॥

अधुनामरसगंस्य^{१०} बह्वेऽधिकमुत्सवः । अधुनामरसगंस्य^{११} हैत्यचके घटामिति^{१२} ॥२२५॥

[गूढक्रियमिदं श्लोकत्रयम्]

माताने उत्तर दिया 'करेणुका*' । भावार्थ—पहले प्रश्नका उत्तर है 'करे+अणुका' अर्थात् हाथमें पतली रेखा अच्छी समझी जाती है और दूसरे प्रश्नका उत्तर है 'करेणुका' अर्थात् हस्तिनीका दूसरा नाम करेणुका है ॥२२०॥ किसी देवीने पूछा—हे मधुर-भाषिणी माता, बताओ कि सीधे, ऊँचे और छायादार वृक्षोंसे भरे हुए स्थानको क्या कहते हैं ? और तुम्हारे शरीरमें सबसे सुन्दर अंग क्या है ? दोनोंका एक ही उत्तर दीजिए । माताने उत्तर दिया 'साल-कानन †' अर्थात् सीधे ऊँचे और छायादार वृक्षोंसे व्याप्त स्थानको 'साल-कानन' (सागौन वृक्षोंका वन) कहते हैं और हमारे शरीरमें सबसे सुन्दर अङ्ग 'सालकानन' (स+अलक +आनन) अर्थात् चूर्णकुन्तल [सुगन्धित चूर्ण लगानेके योग्य आगेके बाल—जुल्फें] सहित मेरा मुख है ॥२२१॥ किसी देवीने कहा—हे माता, हे सति, आप आनन्द देनेवाली अपनी रूप-सम्पत्तिको ग्लानि प्राप्त न कराइए और आहारसे प्रेम छोड़कर अनेक प्रकारका असृत भोजन कीजिए [इस श्लोकमें 'नय' और 'अज्ञान' ये दोनों क्रियाएँ गूढ़ हैं इसलिए इसे क्रियागुप्त कहते हैं] ॥२२२॥ हे माता, यह सिंह शीघ्र ही पहाड़की गुफाको छोड़कर उसकी चोटीपर चढ़ना चाहता है और इसलिए अपनी भयंकर सटाओं (गरदनपरके बाल—अयाल) हिला रहा है । [इस श्लोकमें 'अधुनात्' यह क्रिया गूढ़ रखी गयी है इसलिए यह भी 'क्रियागुप्त' कहलाता है] ॥२२३॥ हे देवि, गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रके द्वारा आपने ही जगत्का सन्ताप नष्ट किया है इसलिए आप एकही, जगत्को पवित्र करनेवाली हैं और आप ही जगत्की माता हैं । [इस श्लोकमें 'अधुनाः' यह क्रिया गूढ़ है अतः यह भी क्रियागुप्त श्लोक है] ॥२२४॥ हे देवि, इस समय देवोंका उत्सव अधिक बढ़ रहा है इसलिए मैं दैत्योंके चक्रमें अरवर्ग अर्थात् अरोंके समूहकी रचना बिलकुल बन्द कर देती हूँ । [चक्रके बीचमें जो खड़ी लकड़ियाँ लगी रहती हैं उन्हें अर कहते हैं । इस श्लोकमें 'अधुनाम्' यह क्रिया गूढ़ है इसलिए यह भी क्रियागुप्त कह-

१. सरल ऋजु । २. अलकसहितमुखम् । प्रथमप्रश्नोत्तरपक्षे सालवनम् । ३. नेत्रोत्सवकरीम् । पक्षे नय प्रापय । न मा स्म । आनन्दिनीम् आनन्दकरीम् । ४. आहाररसमु-बन्धः । ५. बहुविधम् । ६. भुङ्क्ष्व । ७. पतिव्रते । ८. अधुना अद्य । पक्षे अधुनात् धुनाति स्म । हरं भवं यथा भवति तथा । ९. गुह्यम् । १०. समुत्पित्तुमिच्छुः । ११. केसरसमूहम् । १२. इदानीम् पक्षे धुनाति स्म । १३. गर्भार्मकेन । १४. -वर्गस्य बन्धः । अमरसमूहस्य । १५. अधुना अद्य अधुनाम् धुनोमि स्म । १६. अमरसर्गस्य देवसमूहस्य । पक्षे अरसर्गस्य चक्रस्य अराणां धाराणां सर्गः सृष्टिर्यस्य तत् तस्य चक्रस्य । १७. घटनाम् ।

* यह एकालापक है । जहाँ दो या उससे भी अधिक प्रश्नोंका एक ही उत्तर दिया जाता है उसे एकालापक कहते हैं ।

† यह भी एकालापक है ।

वटवृक्षः पुरोऽयं ते जनच्छायः स्थिता महान् । इत्युक्तोऽपि न तं घम^१ श्रितः कोऽपि वदामृतम् ॥२२६॥

[स्पष्टान्धकम्]

मुक्ताहाररुचिः सोऽपि हरिचन्दनचर्चितः । आपाण्डुररुचिराभाति विरहोऽव तव स्तनः ॥२२७॥

[समानोपमम्]

जगतां जनितानन्दो^२ निरस्तदुरितेन्धनः । स^३ यः कनकसच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः ॥२२८॥

[गूढचतुर्थकम्]

जगजयी जितानन्दः सतां^४ गतिरनन्तरम् । तीर्थकृत्कृतकृत्यश्च जयतास्तनयः स ते ॥२२९॥

[निरौष्ठयम्]

स ते कल्याणि कल्याणशतं संदर्श्य नन्दनः । यास्यस्यैनागतिस्थानं^५ धृतिं^६ चेहि ततः सति ॥२३०॥

[निरौष्ठयमेव]

लाता है] ॥२२५॥ कुछ आदमी कड़कती हुई धूपमें खड़े हुए थे उनसे किसीने कहा कि 'यह तुम्हारे सामने बनी छायावाला बड़ा भारी बड़का वृक्ष खड़ा है' ऐसा कहनेपर भी उनमेंसे कोई भी वहाँ नहीं गया । हे माता, कहिए यह कैसा आश्चर्य है ? इसके उत्तरमें माताने कहा कि इस श्लोकमें जो 'वटवृक्षः' शब्द है उसकी सन्धि बटो+वृक्षः इस प्रकार तोड़ना चाहिए और उसका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'रे लड़के, तेरे सामने यह मेघके समान कान्तिवाला (काला) बड़ा भारी रीछ (भालू) बैठा है' ऐसा कहनेपर कहीं धूपमें भी उसके पास कोई मनुष्य नहीं गया तो क्या आश्चर्य है [यह स्पष्टान्धक श्लोक है] ॥२२६॥ हे माता, आपका स्तन मुक्ताहाररुचि है अर्थात् मोतियोंके हारसे शोभायमान है, उष्णतासे सहित है, सफेद चन्दनसे चर्चित है और कुछ-कुछ सफेद वर्ण है इसलिए किसी विरही मनुष्यके समान जान पड़ता है क्योंकि विरही मनुष्य भी मुक्ताहाररुचि होता है, अर्थात् आहारसे प्रेम छोड़ देता है, काम-ज्वरसम्बन्धी उष्णतासे सहित होता है, शरीरका सन्ताप दूर करनेके लिए चन्दनका लेप लगाये रहता है और विरहकी पीड़ासे कुछ-कुछ सफेद वर्ण हो जाता है । [यह श्लेषोप-मालंकार है] ॥२२७॥ हे माता, तुम्हारे संसारको आनन्द उत्पन्न करनेवाला, कर्मरूपी ईधन-को जलानेवाला और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति धारण करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा । [यह श्लोक गूढचतुर्थक कहलाता है क्योंकि इस श्लोकके चतुर्थ पादमें जितने अक्षर हैं वे सषके-सब पहलेके तीन पादोंमें आ चुके हैं जैसे 'जगतां जनितानन्दो निरस्तदुरितेन्धनः । संतप्तकनकच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः ॥'] ॥२२८॥ हे माता, आपका वह पुत्र सदा जयवन्त रहे जो कि जगत्को जीतनेवाला है, कामको पराजित करनेवाला है, सजनोंका आधार है, सर्वज्ञ है, तीर्थकर है और कृतकृत्य है [यह निरौष्ठय श्लोक है क्योंकि इसमें ओठसे उच्चारण होनेवाले 'उकार, पवर्ग और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं] ॥२२९॥ हे कल्याणि, हे पतिव्रते, आपका वह पुत्र सैकड़ों कल्याण दिखाकर ऐसे स्थानको (मोक्ष) प्राप्त करेगा जहाँसे पुनरागमन नहीं होता इसलिए आप सन्तोषको प्राप्त होओ [यह

१. वटवृक्षः न्यग्रोधपादपः । पक्षे बटो भी माणवक, वृक्षः भल्लूकः । 'वृक्षाच्छभल्लभल्लूकाः' ।

२. धूर्यनातपः पक्षे मेघच्छायः । ३. निदाघे । ४. मोक्षितकहारकान्तिः । पक्षे त्यक्ताशनरुचिः । ५. जनिता भविष्यति । 'जनिता ते स्तनन्धयः' इति चतुर्थः पादः प्रथमादित्रिषु पादेषु गूढमास्ते । ६. सन्तप्तकनकच्छायः ६०, स०, म०, ल० । ७. सतां गतिः सत्पुरुषाणामाधारः । ८. ओष्ठस्पर्शनमन्तरेण पाठयम् । ९. भूषित-स्थानम् । १०. सन्तोषं घर । ११. चेहि स०, म०, ल० ।

द्वीपं नन्दीश्वरं देवा मन्दरागं च सेविषुम् । सुदन्तीन्द्रैः समं यान्ति सुन्दरोभिः समुत्सुकाः ॥२३१॥
[विन्दुमान्]

कस्यचिन्मुभिरामान्ति सुखैरमरवारणाः । घटावटनया व्योम्नि विचरन्तस्त्रिधा स्तुतः ॥२३२॥
[विन्दुच्युतकम्]

मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरस्तातिका । साम्भुजं क्वचिदुद्बिन्दुजलं [चलन्] मकरदारुणम् ॥२३३॥
[विन्दुच्युतकमेव]

श्लोक भी निरौष्ठ्य है ॥ २३० ॥ हे सुन्दर दाँतोंवाली देवि, देखो, ये देव इन्द्रोंके साथ अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये हुए बड़े उत्सुक होकर नन्दीश्वर द्वीप और पर्यंतपर कीड़ा करनेके लिए जा रहे हैं । [यह श्लोक विन्दुमान् है अर्थात् 'सुदन्तीन्द्रैः' की जगह 'सुदन्तीन्द्रैः' ऐसा इकारपर बिन्दु रखकर पाठ दिया है, इसी प्रकार 'नन्दीश्वर'के स्थानपर बिन्दु रखकर 'नन्दीश्वर' कर दिया है और 'मन्दरागं' की जगह बिन्दु रखकर 'मन्दरागं' कर दिया है इसलिए बिन्दुच्युत होनेपर इस श्लोकका दूसरा अर्थ इस प्रकार होता है, हे देवि, ये देवदन्तो अर्थात् हाथियोंके इन्द्रों (बड़े-बड़े हाथियों) पर चढ़कर अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये हुए मन्दरागं सेवितुं अर्थात् कीड़ा करनेके लिए उत्सुक होकर द्वीप और नन्दीश्वर (समुद्र)को जा रहे हैं ॥२३१॥ हे माता, जिनके दो-कण्ठ और एक मुँह इस जलधाराओंमें बह कर रहा है तथा जो मेघोंकी घटाके समान आकाशमें इधर-उधर विचर रहे हैं ऐसे ये देवोंके हाथी जिनपर अनेक बिन्दु शोभायमान हो रहे हैं ऐसे अपने मुखोंसे बड़े ही सुशोभित हो रहे हैं । [यह बिन्दुच्युतक श्लोक है इसमें बिन्दु शब्दका बिन्दु हटा देने और घटा शब्दपर रख देनेसे दूसरा अर्थ हो जाता है, चित्रालंकारमें श और स में कोई अन्तर नहीं माना जाता, इसलिए दूसरे अर्थमें 'त्रिधा श्रुताः'की जगह 'त्रिधा श्रुताः' पाठ समझा जायेगा । दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि 'हे देवि ! वो, अनेक तथा बारह इस तरह तीन भेदरूप श्रुतज्ञानके धारण करनेवाले तथा घण्टानाद करते हुए आकाशमें विचरनेवाले ये श्रेष्ठदेव, ज्ञानको धारण करनेवाले अपने सुशोभित मुखसे बड़े ही शोभायमान हो रहे हैं ।] ॥२३२॥ हे देवि, देवोंके नगरकी परिखा ऐसा जल धारण कर रही है जो कहीं तो लाल कमलोंकी परागसे लाल हो रहा है, कहीं कमलोंसे सहित है, कहीं उड़ती हुई जलकी छोटी-छोटी बूंदोंसे शोभायमान है और कहीं जलमें विद्यमान रहनेवाले मगर-मच्छ आदि जलजन्तुओंसे भयंकर है । [इस श्लोकमें जलके वाचक 'तोय' और 'जल' दो शब्द हैं इन दोनोंमें एक व्यर्थ अवश्य है इसलिए जल शब्दके बिन्दुको हटाकर 'जलमकरदारुणं' ऐसा पद बना लेते हैं जिसका अर्थ होता है जलमें विद्यमान मगरमच्छोंसे भयंकर । इस प्रकार यह भी बिन्दुच्युतक श्लोक है । परन्तु 'अलंकारचिन्तामणि'में इस श्लोकको इस प्रकार पढ़ा है 'मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरस्तातिका । साम्भुजं क्वचिदुद्बिन्दु चलन्मकरदारुणम् ।' और इसे 'विन्दुमान् बिन्दुच्युतक'का उदाहरण दिया है जो कि इस प्रकार घटित होता है—श्लोकके प्रारम्भमें 'मकरदारुणं' पाठ था वहाँ बिन्दु देकर 'मकरन्दारुणं' ऐसा पाठ कर दिया और अन्तमें 'चलन्मकरदारुणं' ऐसा पाठ था वहाँ बिन्दुको च्युत कर चलन्मकरदारुणं (चलते हुए मगर-

१. सुदन्ति भी कान्ते । सुदन्तीन्द्रैरिति सविन्दुकं पाठ्यम् । २. उच्चारणकाले बिन्दुं संयोज्य अविप्राय-कषणे त्यजेत् । उच्चारणकाले विद्यमानबिन्दुत्वात् विन्दुमानित्युक्तम् । ३. पद्मकी । 'पद्मकं बिन्दुजालकम्' इत्यभिधानात् । ४. घटानां समूहानां घटना तथा । पक्षे घण्टासंघटनया । ५. त्रिमदलाविणः । ६. चलन्मकर—६०, ८० । चलन्मकरन्दारुणमित्यत्र बिन्दुलोपः ।

‘समजं घातुकं बालं क्षणं नोपेक्षते हरिः । का तु कं खो हिमे वाञ्छेत् समजङ्गा तुकं बलम् ॥२३४॥
[मात्राच्युतकप्रश्नोत्तरम्]

जगले^३ कयापि सोऽक्षुण्ठं^४ किमप्याकुलं^५ मूर्च्छनम् । विरहेऽङ्गनया कान्तसमागमनिराशया ॥२३५॥
[व्यञ्जनच्युतकम्]

...कः पञ्जरमध्यास्ते...कः पशुपतिस्वनः ।...कः प्रतिष्ठा जीवानां...कः पाञ्चोऽक्षरच्युतः ॥२३६॥
[शुकः पञ्जरमध्यास्ते काकः पशुपतिस्वनः ।...लोकः प्रतिष्ठा जीवानां...कः पाञ्चोऽक्षरच्युतः ॥२३६॥
[अक्षरच्युतकप्रश्नोत्तरम्]

मच्छोसे भयंकर) ऐसा पाठ कर दिया है ।] ॥२३३॥ हे माता, सिंह अपने ऊपर घात करने-
वाली हाथियोंकी सेनाकी क्षण-भरके लिए भी उपेक्षा नहीं करता और हे देवि, शीत ऋतुमें
कौन-सी स्त्री क्या चाहती है ? माताने उत्तर दिया कि समान जंघाओंवाली स्त्री शीत ऋतुमें पुत्र
ही चाहती है । [इस श्लोकमें पहले चरणके ‘बालं’ शब्दमें आकारकी मात्रा च्युत कर ‘बलं’
पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका ‘सेना’ अर्थ होने लगता है और अन्तिम चरणके ‘बलं’ शब्दमें
आकारकी मात्रा बढ़ाकर ‘बालं’ पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका अर्थ पुत्र होने लगता है ।
इसी प्रकार प्रथम चरणमें ‘समजं’के स्थानमें आकारकी मात्रा बढ़ाकर ‘सामजं’ पाठ समझना
चाहिए जिससे उसका अर्थ ‘हाथियोंकी’ होने लगता है । इन कारणोंसे यह श्लोक मात्राच्युतक
कहलाता है ।] ॥२३४॥ हे माता, कोई स्त्री अपने पतिके साथ विरह होनेपर उसके समागमसे
निराश होकर व्याकुल और मूर्च्छित होती हुई गद्गद स्वरसे कुछ भी खेदस्त्रिज हो रही है ।
[इस श्लोकमें जत्रतक ‘जगले’ पाठ रहता है और उसका अर्थ ‘खेदस्त्रिज होना’ किया जाता
है तत्रतक श्लोकका अर्थ सुसंगत नहीं होता, क्योंकि पतिके समागमकी निराशा होनेपर किसी
स्त्रीका गद्गद स्वर नहीं होता और न खेदस्त्रिज होनेके साथ ‘कुछ भी’ विशेषणकी सार्थकता
दिखती है इसलिए ‘जगले’ पाठमें ‘ल’ व्यञ्जनको च्युत कर ‘जगे’ ऐसा पाठ करना चाहिए ।
उस समय श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा कि—‘हे देवि, कोई स्त्री पतिका विरह होनेपर
उसके समागमसे निराश होकर स्वरोंके चढ़ाव-उतारको कुछ अव्यवस्थित करती हुई उत्सुकता-
पूर्वक कुछ भी गा रही है ।’ इस तरह यह श्लोक ‘व्यञ्जनच्युतक’ कहलाता है] ॥२३५॥ किसी
देवीने पूछा कि हे माता, पिंजरेमें कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? जीवोंका
आधार क्या है ? और अक्षरच्युत होनेपर भी पढ़ने योग्य क्या है ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने
प्रश्नवाचक ‘कः’ शब्दके पहले एक-एक अक्षर और लगाकर उत्तर दे दिया और इस प्रकार करनेसे
श्लोकके प्रत्येक पादमें जो एक एक अक्षर कम रहता था उसको भी पूर्ति कर दी जैसे देवीने
पूछा था ‘कः पञ्जर मध्यास्ते’ अर्थात् पिंजरेमें कौन रहता है ? माताने उत्तर दिया ‘शुकः पञ्जर-
मध्यास्ते’ अर्थात् पिंजरेमें तोता रहता है । ‘कः पशुपतिस्वनः’ कठोर शब्द करनेवाला कौन है ?
माताने उत्तर दिया ‘काकः पशुपतिस्वनः’ अर्थात् कौवा कठोर शब्द करनेवाला है । ‘कः प्रतिष्ठा
जीवानाम्’ अर्थात् जीवोंका आधार क्या है ? माताने उत्तर दिया ‘लोकः प्रतिष्ठा जीवानाम्’ अर्थात्
जीवोंका आधार लोक है । और ‘कः पाञ्चोऽक्षरच्युतः’ अर्थात् अक्षरोंसे च्युत होनेपर भी

१. समजं सामजम् । घातुकं हितकम् । का तुकं का स्त्री तुकम् । समजंया समजं घातुकं बालम् । समजंया
तुकं बालमिति पदच्छेदः । समाने जङ्घे यस्याः सा । समं जङ्गा कम्बलमिति त्रिस्थाने मात्रालोपः । २. उच्चारण-
काले मात्राच्युतिः अभिप्रायकथने मेलयेत् । यथा समजमित्यत्र सामजम् । ३. गानपक्षे लकारे लुप्ते जगे, गानं
चकार । तदितरपक्षे ‘पले हर्षसये’ क्लेशं चकार । उच्चारणकाले व्यञ्जनं नास्ति । अभिप्रायकथने व्यञ्जनमस्ति ।
यथा जगे इत्यस्य जगले क्लेशं चकार । ४. गद्गदकण्ठम् । ५. ईषदाकुलस्वरविभ्रामं यथा भवति तथा । ६. ‘कः
सुपञ्जरमध्यास्ते कः सुपशुपतिस्वनः । कः प्रतिष्ठा तुजीवानां कः [तु] पाञ्चोऽक्षरच्युतः ॥’ प० ।
७. आश्रयः । एतच्छ्लोकस्य प्रश्नोत्तरमुपरिमल्लोके द्रष्टव्यम् ।

के...मधुरारावाः के...^३पुष्पशाखिनः । के...नोहाते गन्धः के...नाखिलार्थदक् ॥२३७॥

[केकिनो मधुरारावाः केसराः पुष्पशाखिनः । केतकेनोहाते गन्धः केवलनाखिलार्थदक् ॥२३७॥]

[द्व्यक्षरच्युतकप्रश्नोत्तरम्]

को...मञ्जुलालापः को...विटपी जरन् । को...नृपतिर्ज्यः को...विदुषां मतः ॥२३८॥

[कोकिलो मञ्जुलालः कोटपी विटपी जरन् । कोपः नृपतिर्ज्यः कोविदो विदुषां मतः ॥२३८॥]

[तदेव]

का...स्वरभेदेषु का...रुचिहा रुजा । का...रमथेस्कान्तं का...तारनिस्वना ॥२३९॥

[काकली स्वरभेदेषु कामला रुचिहा रुजा । कामुकी रमथेस्कान्तं काहला तारनिस्वना ॥२३९॥]

का कला स्वरभेदेषु का मता रुचिहा रुजा । का मुह रमथेस्कान्तं का हता तारनिस्वना ॥२४०॥

[एकाक्षरच्युतकेनो (एकाक्षरच्युतकदसकेनो)सरं तदेव]

पढ़ने योग्य क्या है ? माताने उत्तर दिया कि 'इलोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षरच्युत होनेपर भी इलोक पढ़ने योग्य है । [यह एकाक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३६॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, मधुर शब्द करनेवाला कौन है ? सिंहकी प्रीथापर क्या होते हैं ? उत्तम गन्ध कौन धारण करता है और यह जीव सर्वज्ञ किसके द्वारा होता है ? इन प्रश्नोंका उत्तर देते समय माताने प्रश्नके साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दे दिया और ऐसा करनेसे इलोकके प्रत्येक पादमें जो दो-दो अक्षर कम थे उन्हें पूर्ण कर दिया । जैसे माताने उत्तर दिया— मधुर शब्द करनेवाले केकी अर्थात् मयूर होते हैं, सिंहकी प्रीथापर केसर होते हैं, उत्तम गन्ध केतकीका पुष्प धारण करता है, और यह जीव केवलज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ हो जाता है [यह द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३७॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, मधुर आलाप करनेवाला कौन है ? पुराना वृक्ष कौन है ? छोड़ देने योग्य राजा कौन है ? और विद्वानोंको प्रिय कौन है ? माताने पूर्व इलोककी तरह यहाँ भी प्रश्नके साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दिया और प्रत्येक पादके दो-दो कम अक्षरोंको पूर्ण कर दिया । जैसे माताने उत्तर दिया— मधुर आलाप करनेवाला कोयल है, कोटरवाला वृक्ष पुराना वृक्ष है, क्रोधो राजा छोड़ देने योग्य है और विद्वानोंको विद्वान् ही प्रिय अथवा मान्य है । [यह भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३८॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, स्वरके समस्त भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है ? शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट कर देनेवाला रोग कौन-सा है ? पतिको कौन प्रसन्न कर सकती है ? और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाला कौन है ? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर माताने दो-दो अक्षर जोड़कर दिया जैसे कि स्वरके समस्त भेदोंमें घीणाका स्वर उत्तम है, शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला कामला (पीलिया) रोग है, कामिनी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाली भेरी है । [यह इलोक भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३९॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, स्वरके भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है ? कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला रोग कौन-सा है ? कौन-सी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और ताड़ित होनेपर गम्भीर

१. वद के मधुरारावाः वद के पुष्पशाखिनः । वद केनोहाते गन्धो वद केनाखिलार्थदक् ॥ ५० ।

२. के मधुरारावाः एतच्छ्लोकेऽपि तथैव । ३. हरिकण्वरे अ०, ल० । ४. नागकेसराः । ५. केवलज्ञानेन ।

६. सकलपदार्थदर्शो । ७. को मञ्जुलालापः एतस्मिन्नपि तथैव । 'प' पुस्तके प्रत्येकपादादौ 'वद' शब्दोऽधिको

विद्यते । ८. मञ्जुलालापी द० । ९. 'प' पुस्तके प्रतिपादादौ 'वद' शब्दोऽधिको दृश्यते । १०. स्वरभेदेषु का

प्रथमा । ११. कान्तिघ्ना । १२. उच्चरवा । एतस्मिन्नपि तथा । का कला स्वरभेदेष्विति इलोकस्थप्रश्नेषु

तृतीयतृतीयाधराप्यनन्योय त्यक्त्वा काकली कलिभेदेष्विति इलोकस्थोत्तरेषु तृतीयतृतीयाधराप्यादाय तत्र मिलिते

सप्तोत्तरं भवति । १३. कामिनी अ०, प०; ल० । १४. 'अ' पुस्तके नास्त्येवार्थ इलोकः ।

का...कः श्रयते नित्यं का... कीं सुरतप्रियाम् । 'का...नने वन्देदानीं च'...रक्षरविच्युतम् ॥२४१॥

[कामुकः श्रयते नित्यं कामुकीं सुरतप्रियाम् । कान्तानने वन्देदानीं चतुरक्षरविच्युतम् ॥२४१॥]

[एकाक्षरच्युतकपादम्]

तथाप्य किं वसत्यन्तः^१ का नास्त्यविभवे रषयि । का हन्ति जलमाद्यन्^२ वदाद्यैर्व्यञ्जनैः पृथक्^३ ॥२४२॥

[तुक्^४ शुक्^५ रुक्^६]

वराशनेषु को रुच्यः को गम्भीरो जलाशयः । कः कान्तस्तव तन्वंगि वदादिव्यञ्जनैः पृथक्^७ ॥२४३॥

[सूपः कूपः भूपः]

कः समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यस्य को घटम् । 'वृषान् दशति'^८ कः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक्^९ ॥२४४॥

['पलालः, कुलालः, बिलालः'^{१०}]

सम्बोधये कथं देवि किमस्यर्थ^{११} क्रियापदम् । शोभा च कीदृशि^{१२} व्योम्नि भवती^{१३} निगद्यताम् ॥२४५॥

['भवति', निष्कृतालापकम्]

तथा उच्च शब्द करनेवाला बाजा कौन-सा है ? इस श्लोकमें पहले ही प्रश्न है । माताने इस श्लोकके तृतीय अक्षरको हटाकर उसके स्थानपर पहले श्लोकका तृतीय अक्षर बोलकर उत्तर दिया [यह श्लोक एकाक्षरच्युतक और एकाक्षरच्युतक है] ॥२४०॥ कोई देवी पूछती है कि हे माता, 'किसी वनमें एक कौआ संभोगप्रिय कारालीका निरन्तर सेवन करता है' । इस श्लोकमें 'का' अक्षर जुड़ा है जो है 'क' अक्षर उच्चारित होने पर 'का' अक्षर को हटाकर 'क' अक्षर बोलकर उत्तर दिया कि हे कान्तानने, (हे सुन्दर मुखवाली), कामी पुरुष संभोगप्रिय कामिनीका सदा सेवन करता है [यह श्लोक एकाक्षरच्युतक है] ॥२४१॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, तुम्हारे गर्भमें कौन निवास करता है ? हे सौभाग्यवती, ऐसा कौन-सी वस्तु है जो तुम्हारे पास नहीं है ? और बहुत खानेवाले मनुष्यको कौन-सी वस्तु मारती है ? इन प्रश्नोंका उत्तर ऐसा दीजिए कि जिसमें अन्तका व्यञ्जन एक-सा हो और आदिका व्यञ्जन भिन्न-भिन्न प्रकारका हो । माताने उत्तर दिया 'तुक्' 'शुक्' 'रुक्' अर्थात् हमारे गर्भमें पुत्र निवास करता है, हमारे समीप शोक नहीं है और अधिक खानेवालेको रोग मार डालता है । [इन तीनों उत्तरोंका प्रथम व्यञ्जन अक्षर जुदा-जुदा है और अन्तिम व्यञ्जन सबका एक-सा है ॥२४२॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, उत्तम भोजनोंमें रुचि बढ़ानेवाला क्या है ? गहरा जलाशय क्या है ? और तुम्हारा पति कौन है ? हे तन्वंगि, इन प्रश्नोंका उत्तर ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दोंमें दीजिए जिनका पहला व्यञ्जन एक समान न हो । माताने उत्तर दिया कि 'सूप' 'कूप' और 'भूप', अर्थात् उत्तम भोजनोंमें रुचि बढ़ानेवाला सूप (दाल) है, गहरा जलाशय कुआँ है और हमारा पति भूप (राजा नाभिराज) है ॥२४३॥ किसी देवीने फिर कहा कि हे माता, अनाजमें-से कौन-सी वस्तु छोड़ दी जाती है ? घड़ा कौन बनाता है ? और कौन पापी चूहोंको खाता है ? इनका उत्तर भी ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दोंमें कहिए जिनके पहलेके दो अक्षर भिन्न-भिन्न प्रकारके हों । माताने कहा 'पलाल', 'कुलाल' और 'बिलाल' अर्थात् अनाजमें-से पिचाल छोड़ दिया जाता है, घड़ा कुम्हार बनाता है और बिलाव चूहोंको खाता है ॥२४४॥ कोई देवी फिर पूछती है कि हे देवी, तुम्हारा सम्बोधन क्या है ? सत्ता अर्थको कहनेवाला क्रियापद कौन-सा है ? और कैसे आकाशमें शोभा होती है ? माताने उत्तर दिया 'भवति', अर्थात् मेरा सम्बोधन भवति, (भवती शब्दका सम्बोधनका एकवचन) है, सत्ता अर्थको

१. कान्त कुरितकरन । २. चर रतम् । पक्षे रतविशेषः । एती व्यञ्जनी । एतच्छ्लोकार्थः उपरिम-
श्लोके स्फुटं भवति । ३. गर्भे । ४. औदरिकम् । ५. भिन्नप्रथमव्यञ्जनैः । ६. पुत्रः । ७. शोकः । ८. रोगः ।
९. मूषकान् । १०. भवति । ११. निष्कृतधान्यम् । १२. मार्जारः । १३. अस्तीत्यर्थो यस्य तत् । १४. कीदृशे
द०, ल० । १५. भवति इति सम्बोधयते । भवति इति क्रियापदम् । भवति भाति नक्षत्राण्यस्य मन्तीति
भवत् तस्मिन् भवति ।

जिनमानसनाकां नायकाचित्तसकम् । कमाहुः करिणं चोद्धलक्षणं कोदशं विदुः ॥२४६॥

['सुरवरद', बहिर्यापिका]

भो केतकादिवर्णनं सन्ध्यादिसज्जुषामुना । शरीरमध्यवर्णनं त्वं सिंहमुपलक्ष्य ॥२४७॥

['कैसरी' अन्तर्लपिका]

कः कोदशं न नृपैर्दण्ड्यः कः खे माति कुतोऽयं भीः । भीरोः कीदृग्निवेशस्ते ना नागारविराजितः ॥२४८॥

[आदिविषममन्तरालापकं प्रश्नोत्तरम्]

कहनेवाला क्रियापद 'भवति' है (भू-धातुके प्रथम पुरुषका एकवचन) और भवति अर्थात् नम्र सहित आकाशमें शोभा होती है (भवत् शब्दका सप्तमाके एकवचनमें भवति रूप बनता है) [इन प्रश्नोंका 'भवति' उत्तर इसी श्लोकमें छिपा है इसलिए इसे 'निहू तैकालापक' कहते हैं] ॥२४५॥ कोई देवी फिर पूछती है कि माता, देवोंके नायक इन्द्र भी अतिशय नम्र होकर जिनके उत्तम चरणोंकी पूजा करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवको क्या कहते हैं ? और कैसे हाथीको उत्तम लक्षणवाला जानना चाहिए ? माताने उत्तर दिया 'सुरवरद' अर्थात् जिनेन्द्रदेवको 'सुरवरद'-देवोंको वर देनेवाला कहते हैं और सुर-वरद अर्थात् उत्तम शब्द और दाँतोंवाले हाथीको उत्तम लक्षणवाला जानना चाहिए । [इन प्रश्नोंका उत्तर बाहरसे देना पड़ा है इसलिए इसे 'बहिर्यापिका' कहते हैं] ॥२४६॥ किसी देवीने कहा कि हे माता, केतकी आदि फूलोंके वर्णसे, सन्ध्या आदिके वर्णसे और शरीरके मध्यवर्ती वर्णसे तू अपने पुत्रको सिंह ही समझ । यह सुनकर माताने कहा कि ठीक है, केतकीका आदि अक्षर 'के' सन्ध्याका आदि अक्षर 'स' और शरीरका मध्यवर्ती अक्षर 'री' इन तीनों अक्षरोंको मिलानेसे 'कैसरी' यह सिंहवाचक शब्द बनता है इसलिए तुम्हारा कहना सच है । [इसे शब्दग्रहेलिका कहते हैं] ॥२४७॥ [किसी देवीने फिर कहा कि हे कमलपत्रके समान नेत्रोंवाली माता, 'करेणु' शब्दमें-से क्, र् और ण् अक्षर घटा देनेपर जो शेष रूप बचता है वह आपके लिए अक्षय और अविनाशी हो । हे देवि ! बताइए वह कौन-सा रूप है ? माताने कहा 'आयुः', अर्थात् करेणुः शब्दमें-से क् र् और ण् व्यंजन दूर कर देनेपर अ+ए+उः ये तीन स्वर शेष बचते हैं । अ और ए के बोच व्याकरणके नियमानुसार सन्धि कर देनेसे दोनोंके स्थानमें 'ऐ' आदेश हो जायेगा । इसलिए 'ऐ+उः' ऐसा रूप होगा । फिर इस दोनोंके बोच सन्धि होकर अर्थात् 'ऐ' के स्थानमें 'आय्' आदेश करनेपर आय्+उः=आयुः ऐसा रूप बनेगा । तुम लोगोंने हमारी आयुके अक्षय और अविनाशी होनेकी भावना की है सो उचित ही है ।] फिर कोई देवी पूछती है कि हे माता, कौन और कैसा पुरुष राजाओंके द्वारा दण्डनीय नहीं होता ? आकाशमें कौन शोभा-यमान होता है ? डर किससे लगता है और हे भीरु ! तेरा निवासस्थान कैसा है ? इन

१. प्रशस्तलक्षणम् । चोद्धलक्षणं अ०, प०, ल० । चोद्धं लक्षणं व० । २. सुरेभ्यः वरसभीष्टं ददातीति सुरवरदः तम् । गजपक्षे शोभना रवरदा यस्य स सुरवरदः तम् । ध्वनद्वन्तम् । ३. केतककुन्दनद्याल-
तविषर्णनं । पक्षे केतकीशब्दस्यादिवर्णनं 'के' इत्यक्षरेण । ४. जुषा रागेण सहितः सजुट् सन्ध्या आदिर्यस्यासी
सन्ध्यादिसजुट् तेन । पक्षे सन्ध्याशब्दस्यादिवर्णनं सकारं जुषते सेवते इति सन्ध्यासजुट् तेन सकारयुक्तेनैत्यर्थः ।
५. शरीरमध्यप्रदेशगतस्वरक्तवर्णनं । पक्षे शरीरशब्दस्य मध्यवर्ति 'री'त्यक्षरेण । ६. इतोऽग्रे त-बातिरिवतेषु
'पुस्तकेषु निम्नाङ्कितः श्लोकोऽधिको दृश्यते-आसादयति यद्रूपं करेणुः करणीदिना । तत्ते कमलपत्राक्षि भवत्यक्ष-
यमव्ययम् । ७. नानागाः विविधावराधः । 'आगोऽपराधो मन्तुः' आनामाः ना निर्दोषः पुमान् । रविः । आजितः
सङ्ग्रामात् ।

* अनुस्वार और विसर्गोंका अन्तर रहनेपर चित्रालंकारका भंग नहीं होता ।

स्वसम्बन्धे खितं वैश्यपेटकं सुरसारितम् ॥

वसुधारानिभे नारात्^१ स्वर्गोस्त्वामुपायिनुम् । सेवमायानि पश्यन्तां नानारत्नांशुचित्रिताम् ॥२५३॥
 सुदेऽस्तु वसुधारा तं देवताशीरस्वरा^२ स्तुत^३ देवीं नमोऽर्चयेत्^४ । स्वस्वनस्तु ॥२५४॥
 इति तामिः^५ प्रयुक्तानि दुष्कराणि^६ विशेषतः । जानाना सुचिरं भेजे सान्तर्वली^७ सुखासिकाम् ॥२५५॥
 निसर्गाच्च^८ दृतिस्तस्याः परिज्ञानेऽभवत् परा । प्रज्ञामयं परं ज्योतिरुद्वहन्त्या निजोदरे ॥२५६॥
 सा तदास्मीयगर्भान्तर्गतं^९ तेजोऽतिमासुरम् । दधानाकर्णशुगर्भेव प्राची^{१०} प्राप परं रुचिम्^{११} ॥२५७॥
 सूचिता वसुधारोरुदीपेनाधः^{१२} कृताचिंथा । निविगर्भस्थलीधार्सी रेजे राजोबलाचना ॥२५८॥

ओरकी भूमि ऐसी शोभायमान हो रही है मानो किसी बड़े खजानेकी ही धारण कर रही हो ॥२५२॥ हे देवि ! इधर अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र पड़नी हुई यह रत्नधारा देखिए । इसे देखकर मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो रत्नधाराके छलसे यह स्वर्गकी लक्ष्मी ही आपकी उपासना करनेके लिए आपके समीप आ रही है ॥२५३॥ जिसकी आज्ञा अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो जितेन्द्रिय पुरुषोंमें अतिशय श्रेष्ठ है ऐसी हे माता ! देवताओंके आशीर्वादसे आकाशको व्याप्त करनेवाली अत्यन्त सुशोभित, जीवोंकी हरिद्रताको नष्ट करनेवाली और नष्ट होकर आकाशसे पड़ती हुई यह रत्नोंकी वर्षा तुम्हारे आनन्दके लिए हो [यह *अर्धभ्रम श्लोक है—इस श्लोकके तृतीय और चतुर्थ चरणके अक्षर प्रथम तथा द्वितीय चरणमें ही आ गये हैं ।] ॥२५४॥ इस प्रकार उन देवियोंके द्वारा पूछे हुए कठिन-कठिन प्रश्नोंको विशेष रूपसे जानती हुई वह गर्भवती मरुदेवी चिरकाल तक सुखपूर्वक निवास करती रही ॥२५५॥ वह मरुदेवी स्वभावसे ही सन्तुष्ट रहती थी और जब उसे इस बातका परिज्ञान हो गया कि मैं अपने उदरमें ज्ञानमय तथा उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप तीर्थकर पुत्रको धारण कर रही हूँ तब उसे और भी अधिक सन्तोष हुआ था ॥२५६॥ वह मरुदेवी उस समय अपने गर्भके अन्तर्गत अतिशय देदीप्यमान तेजको धारण कर रही थी इसलिए सूर्यकी किरणोंको धारण करनेवाली पूर्व दिशाके समान अतिशय शोभाको प्राप्त हुई थी ॥२५७॥ अन्य सब कान्तियोंको तिरस्कृत करनेवाली रत्नोंकी धारारूपी विशाल दीपकसे जिसका पूर्ण प्रभाव जान लिया गया है ऐसी वह कमलनयनी मरुदेवी किसी

१. व्याजेन । २. 'आरादुहुरसमीपयोः' । ३. नताताया द० । नखाताया व० । नभाताया ट० ।
 भायाः भावः भाता तां दधातीति भाताधा । भातं दीप्तिः ताम् आदधातीति वा । ४. वशिनां मुनीनाम् ईशाः
 वशीशः सर्वज्ञः सः अस्यास्तोति वशीशा मरुदेशी तस्याः सम्शोधनम् वशीशी, वशिनो जिनस्य ईशा स्वामिनी
 तस्याः सम्शोधनं वशीशे । ५. सुष्ठु अमुभिः प्राणैः अनस्तं सूते या सा स्वस्वनस्तमूः तस्याः सम्शोधनं स्वस्वन-
 स्तमु । ६. देवीभिः । ७. दुष्करसंज्ञानि । ८. सुखास्थिताम् । ९. संतोषः । १०. तेजःपिण्डरूपार्भकम् ।
 ११. पूर्वदिक् । १२. शोभाम् । १३. अधःकृत अधोमुख ।

*

सु	दे	स्तु	व	सु	धा	रा	ते
दे	व	ता	शी	स्त	ता	स्व	रा
स्तु	ता	दे	शे	न	भा	ता	धा
व	शी	शे	स्व	स्व	न	स्त	सु

महासत्त्वेन तेनासी गर्भस्थेन परां श्रियम् । वभार स्तनगर्भेय भूमिराकरगोचरा ॥२५९॥
 स मातृदरस्थोऽपि तस्याः पीडाप्रजीवितम् । दर्पणस्थोऽपि किं वल्लिर्दहेत्सं प्रतिबिम्बितः ॥२६०॥
 त्रिवलीमङ्गुरं तस्यास्तयैवास्थात्तनूदरम् । तथापि वनृधे गर्भस्तेजसः प्रामत्रं हि तन् ॥२६१॥
 नोदरे विकृतिः कापि स्तनौ न नीलचूषुकौ । न पाण्डुवदनं तस्या गर्भोऽप्यवृषदद्भुतम् ॥२६२॥
 स्वामोदं^१ सुलमेतस्याः राजाघ्रायैव सोऽनृपम् । मद्गालिरिव पश्चिन्याः पद्ममस्पष्टकेसरम् ॥२६३॥
 सोऽमाद् विशुद्धगर्भस्थस्त्रिबोधविमलाशयः । स्फटिकागारमध्यस्थः प्रदीप इव निश्चलः ॥२६४॥
 कुशेशयशयं^२ देवं सा दधानोदरेणयम्^३ । कुशेशयशयंवासीन्माननीया दिवौकसाम् ॥२६५॥
 निगूढं च शची देवी सिन्धवे किल साप्सराः । मवोनावत्रिघाताय^४ प्रहिता तां महासतीम् ॥२६६॥
 सानंसीच्च^५ परं कंचित्^६ नम्यते स्म स्वयं जनैः । चान्द्री कलेव रुन्ध्री^७ देवी च सरस्वती ॥२६७॥
 बहुनात्र किमुक्तेन इलाद्या सैका जगत्त्रये । या^८ सप्तजंगतां स्वष्टी^९ भूव भुवनाम्बिका ॥२६८॥

दीपकविशेषसे जानी हुई स्वजानेकी मध्यभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥२५८॥ जिसके भीतर अनेक रत्न भरे हुए हैं ऐसी रत्नोंकी खानिकी भूमि जिस प्रकार अतिशय शोभाको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी गर्भमें स्थित महाबलशाली पुत्रसे अतिशय शोभा धारण कर रही थी ॥२५९॥ वे भगवान् वृषभदेव माताके उदरमें स्थित होकर भी उसे किसी प्रकारका कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे सो ठीक ही है दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुई अग्नि क्या कभी दर्पणको जला सकती है ? अर्थात् नहीं जला सकती ॥२६०॥ यद्यपि माता मरुदेवीका कुश उदर पहलेके समान ही त्रिवलियोंसे सुशोभित बना रहा तथापि गर्भ वृद्धिको प्राप्त होता गया सो यह भगवान् के तेजका प्रभाव ही था ॥२६१॥ न तो माताके उदरमें कोई चिकार हुआ था, न उसके स्तनोंके अग्रभाग ही काले हुए थे और न उसका मुख ही सफेद हुआ था फिर भी गर्भ बढ़ता जाता था यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥२६२॥ जिस प्रकार मदोन्मत्त भ्रमर कमलिनीके केसरको बिना छुए ही उसकी सुगन्ध साग्रसे सन्तुष्ट हो जाता है उसी प्रकार उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवीके सुगन्धयुक्त मुखको सूँघकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे ॥२६३॥ मरुदेवीके निर्मल गर्भमें स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे विशुद्ध अन्तःकरणको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसा कि स्फटिक मणिके घने हुए घरके बीचमें रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है ॥२६४॥ अनेक देव-देवियाँ जिसका सत्कार कर रही हैं और जो अपने उदरमें नाभि-कमलके ऊपर भगवान् वृषभदेवको धारण कर रही हैं ऐसी वह मरुदेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान शोभायमान हो रही थी ॥२६५॥ अपने समस्त पापोंका नाश करनेके लिए इन्द्रके द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी भी अप्सराओंके साथ-साथ गुप्तरूपसे महासती मरुदेवीकी सेवा किया करती थी ॥२६६॥ जिस प्रकार अतिशय शोभायमान चन्द्रमाकी कला और सरस्वती देवी किसीको नमस्कार नहीं करती किन्तु सब लोग उन्हें ही नमस्कार करते हैं इसी प्रकार वह मरुदेवी भी किसीको नमस्कार नहीं करती थी, किन्तु संसारके अन्य समस्त लोग स्वयं उसे ही नमस्कार करते थे ॥२६७॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? इतना कहना ही बस है कि तीनों लोकोंमें वही एक प्रशंसनीय थी । वह जगत्के लक्ष्मी अर्थात् भोगभूमिके बाद कर्मभूमिकी व्यवस्था करनेवाले श्रीवृषभदेवकी

१. शोभनगन्धम् । २. आदिब्रह्माणम् । ३. उदरे सेते इति उदरेशयस्तम् । जठरस्थमिति यावत् ।

४. लक्ष्मीः । ५. पूज्या । ६. इन्द्रेण । ७. -विनाशाय म०, ल० । ८. प्रेषिता । ९. नमन्ति स्म । १०. अन्य किमपि । ११. जनयितुः । १२. जनयित्री ।

बोधकवृत्तम्

सा विवभावनिरामतराङ्गी श्रीमिह्यासितमूर्तिरमृमिः ।

श्रीभवने भुवचैककलान्ति श्रीभृति भृभृति तन्वति सेवाम् ॥२६९॥

मालिनी

अतिरुधिरतराङ्गी कल्पवल्लीव साभूत्

स्मितकुसुममनूनं दर्शयन्ती कलाव ।

नृपतिरपि तदास्थाः पार्श्ववर्ती रराजे

सुरतरविच तुङ्गो मङ्गलश्रीविभूषः ॥२७०॥

लज्जिततरमधास्था वक्त्रपद्मं सुगन्धि

स्फुरितदधानरोधिर्महरीकेसराब्जम् ।

वचनमधुरसाकारसंज्ञजगजहंस

मृदाजनयत बोधं बालमानुस्त्वमुद्यन् ॥२७१॥

मुहुर्मृगमिवास्था वक्त्रपूर्णं मुरुधन्-

वचनमसृजदुर्बेकोकधेतोऽभिनन्दी ।

नृपतिरपि सतृष्णस्तृपिपासन् स रमे

स्वजनकुमुदघण्टैः रश् विभक्तं यथास्वम् ॥२७२॥

जननी थी इसलिए कहना चाहिए कि वह समस्त लोककी जननी थी ॥ २६८ ॥ इस प्रकार जो स्वभावसे ही मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली है, श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी उपासना करती हैं तथा अनेक प्रकारकी शोभा व लक्ष्मीको धारण करनेवाले महाराज भी स्वयं जिसकी सेवा करते हैं ऐसी वह मरुदेवी, तीनों लोकोंमें अत्यन्त सुन्दर श्रीभवनमें रहती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २६९ ॥ अत्यन्त सुन्दर अंगोंको धारण करनेवाली वह मरुदेवी मानो एक कल्पलता ही थी और मन्द हास्यरूपी पुष्पोंसे मानो लोगोंको दिखला रही थी कि अब शीघ्र ही फल लगनेवाला है । तथा इसके समीप ही बैठे हुए मङ्गलमय शोभा धारण करनेवाले महाराज नाभिराज भी एक ऊँचे कल्पवृक्षके समान शोभायमान होते थे ॥ २७० ॥ उस समय मरुदेवीका मुख एक कमलके समान जान पड़ता था क्योंकि वह कमलके समान ही अत्यन्त सुन्दर था, सुगन्धित था और प्रकाशमान दाँतोंकी किरणमंजरीरूप केशरसे सहित था तथा वचनरूपी परागके रसकी आशासे उसमें अत्यन्त आसक्त हुए महाराज नाभिराज ही पास बैठे हुए राजहंस पक्षी थे । इस प्रकार उसके मुखरूपी कमलको उदित (उत्पन्न) होते हुए बालकरूपी सूर्यने अत्यन्त हर्षको प्राप्त कराया था ॥ २७१ ॥ अथवा उस मरुदेवीका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान था क्योंकि वह भी पूर्ण चन्द्रमाके समान सब लोगोंके मनको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाला था और चन्द्रमा जिस प्रकार अमृतकी सृष्टि करता है उसी प्रकार उसका मुख भी बार-बार उत्कृष्ट वचनरूपी अमृतकी सृष्टि करता था । महाराज नाभिराज उसके वचनरूपी अमृतको पीनेमें बड़े सतृष्ण थे इसलिए वे अपने परिवाररूपी कुमुद-समूहके द्वारा विभक्त कर दिये हुए अपने भागका इच्छानुसार पान करते हुए रमण करते थे । भावार्थ—मरुदेवीकी आज्ञा पालन

१. सावित्रभा—म० । सातिवभा—ल० । २. श्रीह्रीधृयादिदेवीभिः । ३. तिलके । ४. मङ्गलार्थ— ।

५. मकरन्दरसवाञ्छा । ६. तद्वचनमृतम् । ७. पातुमिच्छन् । ८.—स्रष्टैः अ०, स०, म०, व०, ल० ।

९. संविभक्तं स० ।

शार्दूलक्षिकीकृतम्

इत्यादिष्कृतमङ्गला मगवती^१ देवासिरासादरं

वधेऽप्यः परमोदयं त्रिभुवनेऽप्याश्चर्यभूतं^२ महः^३ ।

राजैर्जिह्मजिनं^४ सुतर्हि एवाकृतस्त्वहोदे^५

साकाक्षः प्रतिपालयन् धृतिमधात् प्राप्तोदयं^६ भूयसीम् ॥२७३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंमहे

भगवत्स्वर्गावतरणवर्णनं नाम

द्वादशं पर्व ॥१२॥

करनेके लिए महाराज नाभिराज तथा उनका समस्त परिवार तैयार रहता था ॥ २७२ ॥ इस प्रकार जो प्रकटरूपसे अनेक मंगल धारण किये हुए हैं और अनेक देवियाँ आदरके साथ जिसकी सेवा करती हैं ऐसी मरुदेवी परम सुख देनेवाले और तीनों लोकोंमें आश्चर्य करनेवाले भगवान् ऋषभदेवरूपी तेजःपुञ्जको धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलोंसे सुशोभित तालाबके समान जिनेन्द्र होनेवाले पुत्ररूपी सूर्यकी प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकाशाके साथ परम सुख देनेवाले भारो धैर्यको धारण कर रहे थे ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीभार्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टि-

लक्षणमहापुराणसंग्रहमें भगवान्के स्वर्गावतरणका वर्णन

करनेवाला बारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

१. माग्यवती । २. —ने सापक्ष्यं— ल०, म० । ३. तेजः । ४. भाकी यासो जिमवच जिमभावी तम् ।
५. पद्माकरमनुकुर्वन् । ६. प्रतीक्षमाणः । ७. प्राप्तोदया अ०, प०, स०, द०, ल० ।

अथातो नवमासानामस्य च सुषुप्ते विशुम् । देवी देवाभिरुक्तमिषं धास्वं परिवारिता ॥१॥
 प्राचीव^१ बभ्रुमज्जानां सा लेभे^२ मास्वरं सुतम् । चैत्रे मास्यसिते^३ पक्षे नवम्यामुद्ये रवेः ॥२॥
 विश्वे^४ ब्रह्ममहायोगे जगतामेकवस्त्रमम् । भासमानं^५ त्रिमित्रोद्यैः शिशुमप्यशिशुं गुणैः ॥३॥
 त्रिशोभकिरणोज्जासिवाकाकोऽर्सा स्फुरद्भुतिः । नाभिराजोदयादिन्द्रादुदितो विबभौ विशुः ॥४॥
 दिशः^६ प्रसन्तिमासेषु^७ रासीन्निर्मलमम्बरम् । गुणानामस्यैवैमप्यमनुकतुमिव प्रभोः ॥५॥
 प्रजानां वनृषे हर्षः सुरा विस्मयमाश्रयन् । अम्भानिकुसुमान्युच्चैर्मुमुक्षुः सुरभूरुहाः ॥६॥
 अनादृताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः । सुदुः सुगन्धिः शिशिरो मरुमम्भं^८ तदा बभौ ॥७॥
 प्रचचाल मही तोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः । उद्वेलो जलधिर्नमगमत् प्रमदं परम् ॥८॥
 ततोऽबुद्ध सुराधोशः सिंहासनविकम्पनात् । प्रयुक्तावधिष्भूर्तिं जितस्य विजितैमसः ॥९॥
 ततो जन्माभिषेकाय मतिं चक्रे शतक्रतुः । तीर्थं कृत्वा विमज्ज्याऽऽवधौ तस्मिन्नुदेयुषि ॥१०॥
 तदासनानि देवानामकस्मात्^९ प्रचकम्पिरे । देवानुष्वांसनेभ्योऽधः पातयन्तीव संज्रमात् ॥११॥

अथानन्तर, ऊपर कही हुई श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी सेवा करनेके लिए सदा समोपमें विद्यमान रहती हैं ऐसी माता मरुदेवीने नव महीने व्यतीत होनेपर भगवान् वृषभदेवको उत्पन्न किया ॥१॥ जिस प्रकार प्रातःकालके समय पूर्व दिशा कमलोंको विकसित करनेवाले प्रकाशमान सूर्यको प्राप्त करती है उसी प्रकार मायादेवी भी चैत्र कृष्ण नवमीके दिन सूर्योदयके समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोगमें मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे शोभायमान, बालक होनेपर भी गुणोंसे युद्ध तथा तीनों लोकोंके एक मात्र स्वामी देदीप्यमान पुत्रको प्राप्त किया ॥ २-३ ॥ तीन ज्ञानरूपी किरणोंसे शोभायमान, अतिशय कान्तिका धारक और नाभिराजरूपी उदयाचलसे उदयको प्राप्त हुआ वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही शोभायमान होता था ॥४॥ उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छताको प्राप्त हुई थीं और आकाश निर्मल हो गया था । ऐसा मालूम होता था मानो भगवान्के गुणोंकी निर्मलताका अनुकरण करनेके लिए ही दिशाएँ और आकाश स्वच्छताको प्राप्त हुए हों ॥५॥ उस समय प्रजाका हर्ष बढ़ रहा था, देव आश्चर्यको प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचेसे प्रफुल्लित फूल बरसा रहे थे ॥६॥ देवोंके दुन्दुभि बाजे बिना बजाये ही ऊँचा शब्द करते हुए बज रहे थे और कोमल, शीतल तथा सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥७॥ उस समय पहाड़ोंको हिलाती हुई पृथिवी भी हिलने लगी थी मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रही हो और समुद्र भी लहरा रहा था मानो परम आनन्दको प्राप्त हुआ हो ॥८॥ तदनन्तर सिंहासन कम्पायमान होनेसे अवधि-ज्ञान जोड़कर इन्द्रने जान लिया कि समस्त पापोंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवका जन्म हुआ ॥९॥ आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाले मल्ल जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले श्री तीर्थंकररूपी सूर्यके उदित होते ही इन्द्रने उनका जन्माभिषेक करनेका विचार किया ॥१०॥ उस समय अकस्मात् सब देवोंके आसन कम्पित होने लगे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवोंको

१. पूर्वदिक् । २. लब्धवती । ३. कृष्णे । ४. उत्तराषाढ़नक्षत्रे । ५. शोभमानम् । ६. प्रसन्नताम् । ७. गताः । ८. निर्मल्यम् । ९. अताड्यमानाः । १०. उत्तरसिम् । ११. आकस्मिकात् ।

निर्गन्धिं प्रचक्षते सर्वस्यैव निःस्वनम् । ध्रुवास्तु तेषां भावयन्तां विस्मयात् ॥१२॥
 घण्टाकण्ठीरवध्वानभेरीशङ्खाः प्रदध्वन्तुः । कल्पेशज्योतिषां बन्धुभाजनानां च वेदमसु ॥१३॥
 तेषामुज्ज्वलानामवधोनामिव निःस्वनम् । श्रुत्वा बुभुधिर जन्म विबुधा भुवनेशिनः ॥१४॥
 ततः शकाजया द्रव्य पूतना^१ निर्ययुर्दिशः । तारतम्येन साध्वाना महाब्धेरिव वीक्ष्यः ॥१५॥
 इत्यश्वरूपगन्धर्वनर्तकापत्तयो वृषाः । इत्यमूनि सुरेन्द्राणां महानीकानि निर्ययुः ॥१६॥
 अथ सौधमंकल्पेशो महाराजदन्तिनम् । समारुह्य समं वाच्या प्रतस्थे विबुधैर्दृतः ॥१७॥
 ततः सामानिकाश्चाथस्त्रिंशः^२ पारिव्रजामराः । आत्मरक्षैः समं लोकपालास्तं परिवम्रिरे ॥१८॥
 दुन्दुभीनां महाध्वानैः सुराणां जयघोषणैः^३ । महानभूतदा ध्वानः सुरानीकेषु विस्फुरन् ॥१९॥
 हसन्ति केचिन्मृत्यन्ति वरुगन्धार्शकोट्यन्धपि^४ । पुरो धावन्ति गायन्ति सुरास्तत्र प्रमोदिनः ॥२०॥
 नमोऽङ्गणं नदा कृत्स्नमारुह्य त्रिदशाभिषाः । स्वैः स्वैर्विमारैराजमुखांश्चैव^५ पृथग्विधैः ॥२१॥
 तेषामापत्तां^६ वानविमानैराततं^७ नमः । त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥२२॥
 नमः परसि नाकीन्द्रदेहोद्योतायुक्तावारिणि । स्मेराण्यप्सरसां वक्त्राधवातेनः पङ्कजश्रियम् ॥२३॥

बड़े सभ्रमके साथ ऊँचे सिंहासनोसे नीचे ही उतर रहे हों ॥११॥ जिनके मुकुटोंमें लगे हुए मणि कुछ-कुछ झिल रहे हैं ऐसे देवोंके मस्तक स्वयमेव नम्रोभूत हो गये थे और ऐसे मालूम होते थे मानो बड़े आश्चर्यसे सुर, असुर आदि सबके गुरु भगवान् जिनेंद्रदेवके जन्मकी भावना हो कर रहे हों ॥१२॥ उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंके घरोंमें क्रमसे अपने-आप ही घण्टा, सिंहनाद, भेरी और शंखोंके शब्द होने लगे थे ॥१३॥ उठी हुई लहरोंसे शोभायमान समुद्रके समान उन बाजोंका गम्भीर शब्द सुनकर देवोंने जान लिया कि तीन लोकके स्वामी तीर्थङ्कर भगवान्का जन्म हुआ है ॥१४॥ तदनन्तर महासागरकी लहरोंके समान शब्द करती हुई देवोंकी सेनाएँ इन्द्रकी आज्ञा पाकर अनुक्रमसे स्वर्गसे निकलीं ॥१५॥ हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नृत्य करनेवाली, पियादे और बैल इस प्रकार इन्द्रकी ये सान बड़ी-बड़ी सेनाएँ निकलीं ॥१६॥

तदनन्तर सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने इन्द्राणीसहित बड़े भारी (एक लाख योजन विस्तृत) पैरावत हाथीपर चढ़कर अनेक देवोंसे परिचृत हो प्रस्थान किया ॥१७॥ तत्पश्चात् सामानिक, आयस्त्रिंश, पारिव्रज, अस्मरक्ष और लोकपाल जातिके देवोंने उस सौधर्म इन्द्रको चारों ओरसे घेर लिया अर्थात् उसके चारों ओर चलने लगे ॥१८॥ उस समय दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर शब्दोंसे तथा देवोंके जय-जय शब्दके उच्चारणसे उस देवसेनामें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥१९॥ उस सेनामें आनन्दित हुए कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही उछल रहे थे, कितने ही विशाल शब्द कर रहे थे, कितने ही आगे दौड़ते थे, और कितने ही गाते थे ॥२०॥ वे सब देव-देवेन्द्र अपने-अपने विमानों और पृथक्-पृथक् वाहनोंपर चढ़कर समस्त आकाशरूपी आँगनको व्याप्त कर आ रहे थे ॥२१॥ उन आते हुए देवोंके विमान और वाहनोंसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा मालूम होता था मानो तिरसठ पटलबाले स्वर्गसे भिन्न किसी दूसरे स्वर्गकी ही सृष्टि कर रहा हो ॥२२॥ उस समय इन्द्रके शरीरकी कान्तिरूपी स्वच्छ जलसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अप्सराओंके मन्द-मन्द हँसते हुए मुख, कमलोंकी

१. अनीकिनी । २. -निकषाप्रस्त्रिंशत्पारि- स०, म०, ल० । सामानिकाश्चायस्त्रिंशत्पारि-द०, प० अ० । सामानिकाश्चायस्त्रिंशत्पारि- ब० । ३. जयघोषणैः म० ल० । ४. मर्जन्ति । ५. नानाप्रकारैः । ६. आपञ्च-ताम् । ७. व्याप्तम् ।

ममोऽम्बुधौ सुराधोऽपृष्ठनावलकीचिके । मकरा इव स्वेतुस्तकराः सुस्वाहणाः ॥२४॥
 क्रमाध्वं सुरानीकाम्यस्वरावधिराद् भुवम् । अवतीर्य पुरीं प्रापुरधोध्यां परमर्द्धिकाम् ॥२५॥
 तत्पुरं विध्वगावेष्टय तदास्थुः सुरसैनिकाः । राजाङ्गणं च संलब्धमभूदिन्द्रैर्महोरसवैः ॥२६॥
 प्रसवागारमिन्द्राणी ततः प्राविशदुत्सवात् । तत्रापश्यत् कुमारेण सार्द्धं तां जिनमातरम् ॥२७॥
 जिनमाता तदा शय्या दृष्टा सा सानुरागया । संध्यवेव हस्तिप्रार्थी संगता बालमासुता ॥२८॥
 मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च जगद्गुरुम् । जिनमातुः पुरः स्थित्वा श्लाघते स्मेति तां शची ॥२९॥
 त्वमग्रे भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमङ्गला । महादेवी त्वमवाद्य त्वं सपुत्र्या यशस्विनी ॥३०॥
 इत्यभिष्टुत्य गूढाङ्गी तां मायानिद्रयायुजत् । पुरो निधाय सा तस्या मायाशिशुमथापरम् ॥३१॥
 जगद्गुरुं सप्तदशकुराभ्यां सायामस्तुतम् । सप्तमणिमिवोत्तर्पणेजसा श्वास्तविष्टम् ॥३२॥
 तद्गात्रस्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसी तदा । मेमे त्रिभुवनैश्वर्यं त्वसात्कृतमिवालिखम् ॥३३॥
 मुहुस्तन्मुखमालोक्य स्तुष्टाघ्राय च तद्वपुः । परं प्रीतिमसी भेजे हर्षविस्फारितेक्षणा ॥३४॥
 ततः कुमारमादाय व्रजन्ती सा बभौ भृशम् । घोरिवाकर्मनिम्याहनमसं भासुराशुभिः ॥३५॥

शोभा विस्तृत कर रहे थे ॥२३॥ अथवा इन्द्रकी सेनारूपी चञ्चल लहरोंसे भरे हुए आकाशरूपी समुद्रमें ऊपरको सूँढ़ किये हुए देवोंके हाथी मगरमच्छोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२४॥ अनन्तर वे देवोंकी सेनाएँ क्रम-क्रमसे बहुत ही शीघ्र आकाशसे जमीनपर उतरकर उत्कृष्ट विभूतियोंसे शोभायमान अयोध्यापुरीमें जा पहुँची ॥२५॥ देवोंके सैनिक चारों ओरसे अयोध्यापुरीको घेरकर स्थित हो गये और बड़े उत्सवके साथ आये हुए इन्द्रोंसे राजा नाभि-राजका आँगन भर गया ॥२६॥ तत्पश्चात् इन्द्राणीने बड़े ही उत्सवसे प्रसूतिगृहमें प्रवेश किया और वहाँ कुमारके साथ-साथ जिनमाता मरुदेवीके दर्शन किये ॥२७॥ जिस प्रकार अनुराग (लाली) सहित सन्ध्या बालसूर्यसे युक्त पूर्व दिशाको बड़े ही हर्षसे देखती है उसी प्रकार अनुराग (प्रेम) सहित इन्द्राणीने जिनबालकसे युक्त जिनमाताको बड़े ही प्रेमसे देखा ॥२८॥ इन्द्राणीने वहाँ आकर पहले कई बार प्रदक्षिणा दी फिर जगत्के गुरु जिनैन्द्रदेवको नमस्कार किया और फिर जिनमाताके सामने खड़े होकर इस प्रकार स्तुति की ॥२९॥ कि हे माता, तू तीनों लोकोंकी कल्याणकारिणी माता है, तू ही मंगल करनेवाली है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्य-वती है और तू ही यशस्विनी है ॥३०॥ जिसने अपने शरीरको गुप्त कर रखा है ऐसी इन्द्राणीने ऊपर लिखे अनुसार जिनमाताकी स्तुति कर उसे मायामयी नीदसे युक्त कर दिया । तदनन्तर उसके आगे मायामयी दूसरा बालक रखकर शरीरसे निकलते हुए तेजके द्वारा लोकको व्याप्त करनेवाले चूडामणि रत्नके समान जगद्गुरु जिनबालकको दोनों हाथोंसे उठाकर वह परम आनन्दको प्राप्त हुई ॥३१-३२॥ उस समय अत्यन्त दुर्लभ भगवान्के शरीरका स्पर्श पाकर इन्द्राणीने ऐसा माना था मानो मैंने तीनों लोकोंका समस्त ऐश्वर्य ही अपने अधीन कर लिया हो ॥३३॥ वह इन्द्राणी बार-बार उनका मुख देखती थी, बार-बार उनके शरीरका स्पर्श करती थी और बार-बार उनके शरीरको सूँघती थी जिससे उसके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो गये थे और वह उत्कृष्ट प्रीतिको प्राप्त हुई थी ॥३४॥ तदनन्तर जिनबालकको लेकर जाती हुई वह इन्द्राणी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो अपनी देदीप्यमान किरणोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाले सूर्यको

तदा मङ्गलधारिण्यो दिक्कुमार्यः पुरो ययुः । त्रिजगन्मङ्गलस्यास्य समुद्रस्य हवोच्छिताः ॥३६॥
 छत्रं ध्वजं सकलशं चामरं सुप्रतिष्ठकम् । शृङ्गारं दर्पणं तालमि त्वाहुर्मङ्गलाष्टकम् ॥३७॥
 स तदा मङ्गलानां च मङ्गलार्थं परं वदन् । स्वदीप्या दीपिकालोकान्^१ अरुणं तरुणांशुमान् ॥३८॥
 ततः करतले दृष्ट्वा देवराजस्य तं न्यधात् । बालार्कमौदृयं^२ सानीं प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ॥३९॥
 गीर्वाणेन्द्रस्तमिन्द्राण्याः करादादाय सादरम् । व्यलोकयत् स तद्वर्णं संग्रीतिस्फारितक्षयः ॥४०॥
 त्वं देव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः । त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ॥४१॥
 त्वामामनन्ति सुधियः केवलज्ञानमास्थतः^३ । उदयाद्रिं^४ सुनीन्द्राणामभिवन्धं महोक्तम् ॥४२॥
 त्वया जगदिदं मिथ्याज्ञानान्धतमसावृतम् । प्रबोधं नेष्यते भव्यकमलाकरवन्धुना ॥४३॥
 तुभ्यं नमोऽधिगुरवे नमस्तुभ्यं महाधिये । तुभ्यं नमोऽस्तु भव्याब्जवन्धवे गुणसिन्धवे ॥४४॥
 त्वत्तः प्रबोधमिच्छन्तः प्रबुद्धमुवनयवात् । तव पादाब्जं देव मूर्ध्ना दध्मो हृतादरम् ॥४५॥
 त्वयि प्रणयमाधसे मुक्तिरुक्ष्मीः समुत्सुका । त्वयि सर्वे गुणाः स्फूर्तिं^५ वाग्यब्धौ मणयो यथा ॥४६॥

लेकर जाता हुआ आकाश ही सुशोभित हो रहा है ॥३५॥ उस समय तीनों लोकोंमें मंगल करनेवाले भगवान्के आगे-आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करनेवाले दिक्कुमारी देवियाँ चल रही थीं और ऐसी जान पड़ती थी मानो इकट्ठी हुई भगवान्की उत्तम श्रद्धियाँ ही हों ॥३६॥ छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, सुप्रतिष्ठक (मोहरा-ठोना), शृङ्गार, दर्पण और तालका पंखा ये आठ मंगलद्रव्य कहलाते हैं ॥३७॥ उस समय मंगलोंमें भी मंगलपनेको प्राप्त करानेवाले और तरुण सूर्यके समान शोभायमान भगवान् अपनी दीप्तिसे दीपकोंके प्रकाशको रोक रहे थे । भावार्थ—भगवान्के शरीरकी दीप्तिके सामने दीपकोंका प्रकाश नहीं फैल रहा था ॥३८॥ तत्पश्चात् जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियोंसे सुशोभित उदयाचलके शिखरपर आल सूर्यको विराजमान कर देती है उसी प्रकार इन्द्राणीने जिनबालकको इन्द्रकी हथेलीपर विराजमान कर दिया ॥३९॥ इन्द्र आदरसहित इन्द्राणीके हाथसे भगवान्को लेकर दृष्टसे नेत्रोंको प्रफुल्लित करता हुआ उनका सुन्दर रूप देखने लगा ॥४०॥ तथा नीचे लिखे अनुसार उनकी स्तुति करने लगा—हे देव, आप तीनों जगत्की ज्योति हैं; हे देव, आप तीनों जगत्के गुरु हैं; हे देव, आप तीनों जगत्के विधाता हैं और हे देव, आप तीनों जगत्के स्वामी हैं ॥४१॥ हे नाथ, विद्वान् लोग, केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होनेके लिए आपको ही बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा वन्दनीय और अतिशय उन्नत उदयाचल पर्वत मानते हैं ॥४२॥ हे नाथ, आप भव्य जीवरूपी कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं । मिथ्या ज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारसे ढका हुआ यह संसार अब आपके द्वारा ही प्रबोधको प्राप्त होगा ॥४३॥ हे नाथ, आप गुरुओंके भी गुरु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप महाशुद्धिमान हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं और गुणोंके समुद्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४४॥ हे भगवन्, आपने तीनों लोकोंको जान लिया है इसलिए आपसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए हम लोग आपके चरणकमलोंको बड़े आदरसे अपने सस्तकपर धारण करते हैं ॥४५॥ हे नाथ, मुक्तिरूपी लक्ष्मी उत्कण्ठित होकर आपमें स्नेह रखती है और जिस प्रकार समुद्रमें

१. हवोच्छिताः अ०, स०, द०, ल० । २. तालवृन्तकम् । ३. दीपप्रकाशान् । ४. उदयति स्म । ५. उदयाद्रिसम्बन्धिनि । ६. वदन्ति । ७. सूर्यस्य । ८. वृद्धिम् । 'स्फूर्तिं वृद्धौ' इति धातोः क्तः । स्फूर्तिः प०, अ०, द०, स०, द० ।

स्तुतिं स तमारोप्य स्वमङ्गं सुरजायकः । हस्तमुच्चालयामास मेरुप्रस्थानं^१ संभ्रमी ॥४७॥
 वंशं नन्दं बद्धं त्वमित्युच्चैर्गिरः सुराः । तदा कलकलं चक्रुर्बधिराकृतदिरुमुखम् ॥४८॥
 नभोज्झणमधोत्पंतुरुच्चरज्जयघोषणाः । सुरभाषानि तन्वन्तः प्रसरद्भूषणांशुभिः ॥४९॥
 गन्धर्वारब्धसंगीता नेदुरप्सरसः पुरः । भूपताका समुत्क्षिप्य नभोरङ्गे चलत्कुचाः ॥५०॥
 इतोऽमुतः समार्कीर्णं विमानैर्धुंसदां नभः । सरस्वैरुन्मिषन्नेत्रमिव^२ रंजे विनिर्मलम् ॥५१॥
 सिताः पयोधरा नीलैः करीन्द्रैः सितकंतनैः । सबलाकैर्विनीलाभैः संगता इव रेजिरे ॥५२॥
 महाविमानसंघट्टैः^३ ध्रुवणा जलधराः कश्चिद् । 'प्रणेशुर्महतां रोधाकश्यन्त्येव जलात्मकाः'^४ ॥५३॥
 सुरेभकटदानाम्बुगन्धाकृष्टमधुमताः । 'वनाभोगान् जहुर्लोकः सत्यमेव नवप्रियः'^५ ॥५४॥
 अङ्गनाभिः^६ सुरेन्द्राणां तेजोऽक्षैश्च पदाहृतम्^७ । 'दिलीपं वाश्लेषं दिशतं लज्जामिव परी'गतम् ॥५५॥
 दिवाकरकराश्लेषं^८ विघटरथं^९ सुरेशिनाम् । वैदोषोत्ता^{१०} दिशो मेघुर्मौग्या हि बलिनां स्त्रियः ॥५६॥

मणि बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार आपमें अनेक गुण बढ़ते रहते हैं ॥४६॥ इस प्रकार देवोंके अधिपति इन्द्रने स्तुति कर भगवान्को अपनी गोदमें धारण किया और मेरु पर्वतपर चलनेकी शीघ्रतासे इशारा करनेके लिए अपना हाथ ऊँचा उठाया ॥४७॥ हे ईश ! आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और आप सदा बढ़ते रहें इस प्रकार जोर-जोरसे कहते हुए देवोंने उस समय इतना अधिक कोलाहल किया था कि उससे समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थी ॥४८॥ तदनन्तर जय-जय शब्दका उच्चारण करते हुए और अपने आभूषणोंकी फैलती हुई किरणोंसे इन्द्रधनुषको विस्तृत करते हुए देव लोग आकाशरूपी आँगनमें ऊपरको ओर चलने लगे ॥४९॥ उस समय जिनके स्तन कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसी अप्सराएँ अपनी भीहरूपी पताकाएँ ऊपर उठाकर आकाशरूपी रंगभूमिमें सबके आगे नृत्य कर रही थीं और गन्धर्वदेव उनके साथ अपना संगीत प्रारम्भ कर रहे थे ॥५०॥ रत्न-सज्जित देवोंने विमानोंसे जहाँ-तहाँ सभी ओर व्याप्त हुआ निर्मल आकाश ऐसा शोभायमान होता था मानो भगवान्के दर्शन करनेके लिए उसने अपने नेत्र ही खोल रखे हों ॥५१॥ उस समय सफेद बादल सफेद पताकाओंसहित काले हाथियोंसे मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो बगुला पक्षियोंसहित काले-काले बादलोंसे मिल रहे हों ॥५२॥ कहीं-कहींपर अनेक मेघ देवोंके बड़े-बड़े विमानोंकी टक्करसे चूर-चूर होकर नष्ट हो गये थे सो ठीक ही है; क्योंकि जो जड़ (जल और मूर्ख) रूप होकर भी बड़ोंसे वैर रखते हैं वे नष्ट होते ही हैं ॥५३॥ देवोंके हाथियोंके गण्डस्थलसे झरनेवाले सबकी सुगन्धसे आकृष्ट हुए भौरोंने वनके प्रदेशोंको छोड़ दिया था सो ठीक है क्योंकि यह कहावत सत्य है कि लोग नवप्रिय होते हैं—उन्हें नयी-नयी वस्तु अच्छी लगती है ॥५४॥ उस समय इन्द्रोंके शरीरकी प्रभासे सूर्यका तेज पराहत हो गया था—फोका पड़ गया था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लज्जाको प्राप्त होकर चुपचाप कहींपर जा छिपा हो ॥५५॥ पहले सूर्य अपने किरणरूपी हाथोंके द्वारा दिशारूपी अंगनाओंका आलिङ्गन किया करता था, किन्तु उस समय इन्द्रोंके शरीरोंका लघोग सूर्यके उस आलिङ्गनको छुड़ाकर स्वयं दिशारूपी अंगनाओंके समीप जा पहुँचा था, सो ठीक ही है स्त्रियाँ बलवान् पुरुषोंके ही भोग्य होती हैं । भावार्थ—इन्द्रोंके शरीरकी कान्ति सूर्यकी

१. गमन । 'प्रस्थानं गमनं गमः' इत्यमरः । २. विवृतवक्षुरिव । ३. सविताः । ४. नन्दाः । ५. जहा-
 त्मकाः ल० । ६. वनाभोगा—अ० । वनविस्तारान् । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः । ७. अङ्गनाभिः ।
 ८. पराभूतम् । ९. दिलीपमभूत् । १०. वाश्लेषम् आलिङ्गनम् । ११. मोचयित्वा । १२. उद्योता दीप्तयः ।

यो धत्ते स्थनितम्बेन सदृशालवनं यत्नम् । परिधानसिद्धालनं वनच्छायेर्महाद्रुमेः ॥ ६८ ॥
 मेखलायामथाद्यायां विभर्ति नन्दनं वनम् । यः कटीसूत्रदामेव नामारत्नमयाक्षिपम् ॥ ६९ ॥
 यश्च सौमनसोद्यानं विभर्ति शुक्लसच्छवि । सपुष्पमुपसंभ्यन्मिबोहसितपल्लवम् ॥ ७० ॥
 यस्यालंकुहते कूटपर्यन्तं पाण्डुकं वनम् । आहूतमधुपैः पुष्पैः दधामं शोत्तरभियम् ॥ ७१ ॥
 यस्मिन् प्रतिवने^१ दिक्षु चैत्यवेश्मानि सान्त्वलयन् । हस्तमतीव सुसज्जानि प्रोन्मिषम्मणिदोसिभिः ॥ ७२ ॥
 हिरण्यमयः समुत्तुङ्गा धत्ते यो मौलिविभ्रमम् । जम्बूद्वीपमहीमसुर्लवणाम्भोधिवाससः ॥ ७३ ॥
 ज्योतिर्गणश्च सातत्यात्^२ यं पर्यति^३ महोदयम् । पुण्याभिषेकसंभारैः^४ पवित्रीकृतमहताम् ॥ ७४ ॥
 आराधयन्ति यं नित्यं चारणाः पुण्यब्रह्मण्या । विद्याधराश्च सुदिता जिनेन्द्रमिव सूततम् ॥ ७५ ॥
 देवोत्तरकुसुन् यश्च स्वपादगिरिभिः^५ सदा । आवृत्त्य पाति निर्वाधं तद्धि माहात्म्यमुन्नतः ॥ ७६ ॥
 यस्य कन्दरभागेषु निवसन्ति सुरासुराः । साङ्गनाः स्वर्गमुत्सृज्य नाकशोमापहासिषु ॥ ७७ ॥
 यः पाण्डुकवनोद्देशे शुचीः स्फटिकनिर्मिताः । शिला विभर्ति तीर्थेशामभिषेकक्रियोचिताः ॥ ७८ ॥

जिसके ऊपर सौधर्म स्वर्गका ऋतुविमान चूड़ामणिकी शोभा धारण करता है ॥ ६७ ॥ जो अपने नितम्ब भागपर (मध्यभागपर) बनी छायावाले बड़े-बड़े वृक्षोंसे व्याप्त भद्रशाल नामक महावनको ऐसा धारण करता है मानो हरे रंगकी धोती ही धारण किये हो ॥ ६८ ॥ उससे आगे चलकर अपनी पहली मेखलापर जो अनेक रत्नमयी वृक्षोंसे सुशोभित नन्दन वनको ऐसा धारण कर रहा है मानो उसकी करधनी ही हो ॥ ६९ ॥ जो पुष्प और पल्लवोंसे शोभायमान हरे रंगके सौमनस वनको ऐसा धारण करता है मानो उसका ओढ़नेका दुपट्टा ही हो ॥ ७० ॥ अपनी सुगन्धिसे भौरोंको बुलानेवाले फूलोंके द्वारा मुकुटकी शोभा धारण करता हुआ पाण्डुक वन जिसके शिखर पर्यन्तके भागको सदा अलङ्कृत करता रहता है ॥ ७१ ॥ इस प्रकार जिसके चारों वनोंकी प्रत्येक दिशामें एक-एक जिनमन्दिर चमकते हुए मणियोंकी कान्तिसे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो स्वर्गके विमानोंकी हँसी ही कर रहे हों ॥ ७२ ॥ जो पर्वत सुवर्णमय है और बहुत ही ऊँचा है इसलिए जो लवणसमुद्ररूपी वस्त्र पहने हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराजके सुवर्णमय मुकुटका सन्देश पैदा करता रहता है ॥ ७३ ॥ जो तीर्थकर भगवान्के पवित्र अभिषेककी सामग्री धारण करनेसे सदा पवित्र रहता है और अतिशय ऊँचा अथवा समृद्धिशाली है इसीलिए मानो ज्योतिषी देवोंका समूह सदा जिसकी प्रदक्षिणा दिया करता है ॥ ७४ ॥ जो पर्वत जिनेन्द्र-देवके समान अत्यन्त उन्नत (श्रेष्ठ और ऊँचा) है इसीलिए अनेक चारण मुनि हर्षित होकर पुण्य प्राप्त करनेकी इच्छासे सदा जिसकी सेवा किया करते हैं ॥ ७५ ॥ जो देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियोंको अपने समीपवर्ती पर्वतोंसे घेरकर सदा निर्वाधरूपसे उनकी रक्षा किया करता है सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्टताका यही माहात्म्य है ॥ ७६ ॥ स्वर्गलोककी शोभाकी हँसी करनेवाली जिस पर्वतकी गुफाओंमें देव और धरणेन्द्र स्वर्ग छोड़कर अपनी स्त्रियोंके साथ निवास किया करते हैं ॥ ७७ ॥ जो पाण्डुकवनके स्थानोंमें स्फटिक मणिकी बनी हुई और तीर्थकरोंके अभिषेक

१. अधोऽङ्गकम् । 'परिधानान्यधोऽङ्गके' इत्यभिधानात् । २. विभूते अ०, स०, द०, म० । विभ्रते ल० ।
 ३. यत्कटी-अ०, म०, द० । ४. काञ्चीदाम । ५. उत्तरीयवसनम् । -संख्यात-ल० । ६. चूलिकापर्यन्तभूमिम् ।
 ७. प्रतिवनं द०, म० । ८. दीपमान । ९. सततमेव सान्त्वयं तस्मात् । १०. प्रदक्षिणीकरोति । ११. समूहः ।
 १२. गजदन्तपर्वतः ।

यस्तुहो विबुधाराध्यः सततर्तुसमाश्रयः^१ । सौधमेन्द्र इवाभाति संसेव्योऽप्सरसां^२ गणैः ॥७९॥
 तमासाद्य सुराः प्रापुः प्रीतिमुन्नतिशालिनम् । रामणीयकर्मभूतिं^३ स्वर्गस्थाधिदेवतान्^४ ॥८०॥
 ततः परीत्य तं प्रीत्या सुरराजः सुरैः समम् । गिरिराजं जिनेन्द्राकं मूर्तेश्वरस्य न्येधान्मुदा ॥८१॥
 तस्य प्रागुत्तराशायां^५ महती पाण्डुकाक्ष्या । शिलास्ति जिननाथानामभिषेकं विभसि या ॥८२॥
 शुचिः सुरभिरत्यन्तरामणीया^६ मनोहरा । पृथिवीवाहमी भाति या युक्तपरिमण्डला^७ ॥८३॥
 शतायता^८ तद्वद् च विस्तीर्णाष्टोच्छ्रिता^९ मता । जिनैर्योजनमानेन सा शिलाद्धेन्दुसंस्थितिः^{१०} ॥८४॥
 क्षीरोदवारिमिथूयः क्षालिता या सुरोत्तमैः । शुचित्वस्य परा^{११} काष्ठा संविभर्ति सद्योज्ज्वला ॥८५॥
 शुचित्वान्महनीयत्वात् पवित्रत्वाच्च^{१२} भाति या । धारणाच्च जिनेन्द्राणां जितमात्रं निर्मला ॥८६॥
 यस्यां पुष्पोपहारश्चा^{१३} न्यज्यते ज्ञानं नाश्रया^{१४} । सावर्णादिसरोरमुक्तै^{१५} व्यक्तमुक्ताफलच्छविः ॥८७॥

क्रियाके योग्य निर्मल (पाण्डुकाक्षि) शिलाओंको धारण कर रहा है ॥७९॥ और जो मेरु पर्वत सौधमेन्द्रके समान शोभायमान होता है क्योंकि जिस प्रकार सौधमेन्द्र तुंग अर्थात् श्रेष्ठ अथवा उदार है उसी प्रकार वह सुमेरु पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, सौधमेन्द्रकी जिस प्रकार अनेक विबुध (देव) सेवा किया करते हैं उसी प्रकार मेरु पर्वतकी भी अनेक देव अथवा विद्वान् सेवा किया करते हैं, सौधमेन्द्र जिस प्रकार सततर्तुसमाश्रय अर्थात् ऋतुविमानका आधार अथवा छहों ऋतुओंका आश्रय है और सौधमेन्द्र जिस प्रकार अनेक अप्सराओंके समूहसे सेवनीय है उसी प्रकार सुमेरु पर्वत भी अप्सराओं अथवा जलसे भरे हुए सरोवरोंसे शोभायमान है ॥७९॥ इस प्रकार जो ऊँचाईसे शोभायमान है, सुन्दरताकी स्थानि है और स्वर्गका मानो अधिष्ठाना देव ही है ऐसे उस सुमेरु पर्वतको पाकर देव लोग बहुत ही प्रमत्त हुए ॥८०॥

तदनन्तर इन्द्रने बड़े प्रेमसे देवोंके साथ-साथ उक्त गिरिराज सुमेरु पर्वतकी प्रवृत्तिणा देकर उसके मस्तकपर हर्षपूर्वक श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्यको विराजमान किया ॥८१॥ उस मेरु पर्वतके पाण्डुक वनमें पूर्व और उत्तर दिशाके बीच अर्थात् पेशान दिशामें एक बड़ी भारी पाण्डुक नामकी शिला है जो कि तीर्थंकर भगवान्के जन्माभिषेकको धारण करती है अर्थात् जिसपर तीर्थंकरोंका अभिषेक हुआ करता है ॥८२॥ वह शिला अत्यन्त पवित्र है, मनोज्ञ है, रमणीय है, मनोहर है, गोल है और अष्टमः पृथिवी सिद्धिशिलाके समान शोभायमान है ॥८३॥ वह शिला सौ योजन लम्बी है, पचास योजन चौड़ी है, आठ योजन ऊँची है और अर्ध चन्द्रमाके समान आकारवाली है ऐसा जिनेन्द्रदेवने माना है—कहा है ॥८४॥ वह पाण्डुकशिला सदा निर्मल रहती है । उसपर इन्द्रोंने श्रीरसमुद्रके जलसे उसका कई बार प्रक्षालन किया है इसलिम् वह पवित्रताकी चरम सीमाको धारण कर रहा है ॥८५॥ निर्मलता, पूज्यता, पवित्रता और जिनेन्द्रदेवको धारण करनेकी अपेक्षा वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेवकी माताके समान शोभायमान होती है ॥८६॥ वह शिला देवोंके द्वारा ऊपरसे छोड़े हुए मुक्ताफलोंके समान उज्ज्वल कान्तिवाली है और देव लोग जो उसपर पुष्प चढ़ाते हैं वे सद्गताके कारण उसीमें छिप

१. सततं पङ्क्तुसमाश्रयः । २. जलभरितसरोवरसमूहैः । ३. स्वर्गस्थासमूहैः । ४. उत्पत्तिम् ।
 ५. —दक्षतम् ५०, मा०, ५०, ५० । स्वर्गस्थासमूहैः ७० । ५. स्थापयति स्म । ६. ऐताभ्यां दिशि ।
 ७. —रमणीया ५०, ५०, ५०, ५०, ५० । ८. योग्यपरिधिः । ९. शतयोजनदैर्घ्या । १०. —छोच्छ्रिता ५० ।
 ११. संन्यासम् । [आकार इत्यर्थः] । १२. परमोत्कर्षम् । १३. पवित्रं करोतीति पवित्रा तस्य भावः ।
 १४. प्रकटीक्रियते । १५. नगानवर्णत्वात् १६. —सुवताव्य संतफलच्छविः ।

जिनानामभिषेकाय या धत्ते सिंहविष्टरम् । मेरोरिचोपरि परं परार्धं मेरुमुख्यैः ॥८८॥
 तत्पर्यन्ते च या धत्ते सुस्थिते दिव्यविष्टरे । जिनाभिषेचने क्लृप्ते सौधर्मज्ञाननाथयोः ॥८९॥
 नित्योपहारचिरा सुरैर्नित्यं कृताचनम् । नित्यमङ्गलमङ्गीतनृतवादित्रशोभिनी ॥९०॥
 छत्रचामरभृङ्गारसुप्रतिष्ठकदर्पणम्^३ । कलशध्वजतालानि^४ मङ्गलानि विभर्ति या ॥९१॥
 यामला शीलमालेव मुनीनाममिममता । जैनी तनुरिवात्यन्तमास्वरा सुरभिः शुचिः ॥९२॥
 स्वयं धौतापि^५ वा धौता शतशः सुरनायकैः । क्षीरार्णवाम्बुभिः पुण्यैः पुण्यस्थेवाकरक्षितिः ॥९३॥
 यस्याः पर्यन्तदेशेषु रत्नालोकेर्वितन्यते । परितः सुरचापश्रीरन्योऽन्यस्यतिष्ठति^६ ॥९४॥
 तामावेष्ट्य सुरास्तस्त्पुत्रधास्यं^७ दिक्ष्वनुक्रमात् । वन्दुकामा जिनस्याम् जन्मकल्याणसंपदम् ॥९५॥
 दिक्पालाश्च यथायोग्यदिग्विद्विद्भिर्मागसंश्रिताः^८ । तिष्ठन्ति स्म निकायैः स्वैर्जिनोत्सवदिदृक्षवा ॥९६॥
 गगनाङ्गणमाकृष्य^९ व्याप्य^{१०} मेरोरधित्यकाम्^{११} । निवेशः सुरसैन्यानाममवत् पाण्डुकं वने ॥९७॥
 पाण्डुकं वनमाकृष्टं समन्तात् सुरनायकैः । अहासेव दिवो लक्ष्मीं क्ष्माकृष्टां कुसुमोत्करैः ॥९८॥

जाते हैं—पृथक् रूपसे कभी भी प्रकट नहीं दिखते ॥ ८७ ॥ वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिए सदा बहुमूल्य और श्रेष्ठ सिंह-आसन धारण किये रहती है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मेरु पर्वतके ऊपर दूसरा मेरु पर्वत ही रखा हो ॥ ८८ ॥ वह शिला उस मुख्य सिंहासनके दोनों ओर रखे हुए दो सुन्दर आसनोंको और भी धारण किये हुए है । वे दोनों आसन जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करनेके लिए सौधर्म और ऐशान इन्द्रके लिए निश्चित रहते हैं ॥ ८९ ॥ देव लोग सदा उस पाण्डुकशिलाकी पूजा करते हैं, वह देवों-द्वारा चढ़ाई हुई सामग्रीसे निरन्तर मनोहर रहती है और नित्य ही मङ्गलमय संगीत, नृत्य, वादित्र आदिसे शोभायमान रहती है ॥ ९० ॥ वह शिला, छत्र, चमर, सारी, ठोना (मोदरा), दर्पण, कलश, ध्वजा और ताड़का पंखा इन आठ मङ्गल द्रव्योंको धारण किये हुई है ॥ ९१ ॥ वह निर्मल पाण्डुकशिला शीलव्रतकी परम्पराके समान मुनियोंको बहुत ही श्रेष्ठ है और जिनेन्द्रदेवके शरीरके समान अत्यन्त देदीप्यमान, मनोह्र अथवा सुगन्धित और पवित्र है ॥ ९२ ॥ यद्यपि वह पाण्डुकशिला स्वयं धौत है अर्थात् श्वेतवर्ण अथवा उज्ज्वल है तथापि इन्द्रोंने क्षीरसागरके पवित्र जलसे उसका सैकड़ों बार प्रक्षालन किया है । वास्तवमें वह शिला पुण्य उत्पन्न करनेके लिए खानकी भूमिके समान है ॥ ९३ ॥ उस शिलाके सर्वापवर्ती प्रदेशोंमें चारों ओर परस्परमें मिले हुए रत्नोंके प्रकाशसे इन्द्रधनुषकी शोभाका विस्तार किया जाता है ॥ ९४ ॥ जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणकर्त्री विभूतिको देखनेके अभिलाषी देव लोग उस पाण्डुकशिलाको घेरकर सभी दिशाओंमें क्रम-क्रमसे यथायोग्य रूपमें बैठ गये ॥ ९५ ॥ दिक्पाल जातिके देव भी अपने-अपने समूह (परिवार) के साथ जिनेन्द्र भगवान्का उत्सव देखनेकी इच्छासे दिशा-विदिशामें जाकर यथायोग्य रूपसे बैठ गये ॥ ९६ ॥ देवोंकी सेना भी उस पाण्डुक वनमें आकाशरूपी आँगनको रोककर मेरु पर्वतके ऊपरी भागमें व्याप्त होकर जा ठहरी ॥ ९७ ॥ इस प्रकार चारों ओरसे देव और इन्द्रोंसे व्याप्त हुआ वह पाण्डुक वन ऐसा मालूम होता था मानो वृक्षोंके फूलोंके समूहसे स्वर्गकी शोभाकी हँसी ही उड़ा रहा हो ॥ ९८ ॥

१. तदुभयपार्श्वयोः । २. जिनाभिषेकाय । हेतो 'कर्मणा' इति सूत्रात् । ३. दर्शनात् ४०, स० ।
 ४. तालवृन्त । ५. धुधा वृद्धा च । ६. क्षालिता । ७. रत्नीचोतैः । ८. परस्परसंयुक्तैः । ९. यथास्थानम् ।
 १०. -माध्रिनाः १०, ४० । ११. -माकृष्ट १० । १२. व्याप्य स० । १३. अर्धभूमिम् ।

स्वस्थानाच्चलितः स्वर्गः सत्यमुद्रासितस्तदा । मेरुस्तु स्वर्गतां प्राप भूतमाकेशवैभवः ॥१०१॥
 ततोऽभिषेचनं मर्तुः कर्तुमिन्द्रः प्रचक्रमे । निवेद्याधिशिलं मेढं विष्टरं प्राङ्मुखं प्रभुम् ॥१०२॥
 नमोऽशेषं तदापुनः सुरदुन्दुमयोऽभवत् । समस्तात् सुरनारीमिरारेभे नृत्यमूर्जितम् ॥१०३॥
 महान् कालागुरुदामैर्धूपधूमस्तदादगात् । कलङ्क इव निर्धूतः पुण्यैः पुण्यजनाशयात् ॥१०४॥
 विक्षिप्यन्ते स्म पुण्यार्चाः साक्षतांदकपुष्पकाः । शान्तिपुष्टिपुष्कामैर्विषयकपुण्यांशका इव ॥१०५॥
 महामण्डपविभ्यास्तत्र चक्रे सुरेश्वरः । यत्र त्रिभुवनं कृत्स्नमास्तं स्मावाधितं मिथः ॥१०६॥
 सुराणांकदसंभूता मालास्तत्रावलम्बिताः । रेजुअमस्संगीतैर्गानुकामा इवैशिनम् ॥१०७॥
 अथ प्रथमकल्पेन्द्रः प्रभोः प्रथममञ्जने । प्रथमे कलशोद्धातुं कृतकस्तत्राववापि ॥१०८॥
 ऐशानेन्द्रोऽपि रुद्राः सान्द्रचन्दनचचितम् । प्रोदास्थत् कलशं पूर्णं कलशोद्धारमन्त्रवित् ॥१०९॥
 शेषैरपि च कल्पेन्द्रैः सान्द्रजयघोषणैः । परिचारकतां भजे यथोक्तपरिचर्यया ॥११०॥
 इन्द्राणीप्रमुखा देव्यः साप्सरःपरिवारिकाः । बभूवुः परिवारिण्यो मङ्गलद्रव्यसंपदा ॥१११॥
 शातकुम्भमयैः कुम्भैरम्भः क्षीराभुधैः शुचि । सुराः श्रेणीकृतास्तांषादानंतुं प्रसृतास्ततः ॥११२॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था कि स्वर्ग अवश्य ही अपने स्थानसे विचलित होकर खाली हो गया है और इन्द्रका समस्त वैभव धारण करनेसे सुमेरु पर्यंत ही स्वर्गपनेका प्राप्त हो गया है ॥ १०१ ॥ तदनन्तर सौधर्म स्वर्गका इन्द्र भगवान्को पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके पाण्डुक शिलापर रखे हुए सिंहासनपर विराजमान कर उनका अभिषेक करनेके लिए तत्पर हुआ ॥ १०२ ॥ उस समय समस्त आकाशको व्याप्त कर देवोंके दुन्दुभि बज रहे थे और अप्सराओंने चारों ओर उत्कृष्ट नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १०३ ॥ उसी समय कालागुरु नामक उत्कृष्ट धूपका धुआँ बड़े परिमाणमें निकलने लगा था और ऐसा मालूम होता था मानो भगवान्के जन्माभिषेकके उत्सवमें शामिल होनेसे उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा पुण्यात्मा जनोके अन्तःकरणसे हटाया गया कलंक ही हो ॥ १०४ ॥ उसी समय शान्ति, पुष्टि और शरीरकी कान्तिकी इच्छा करनेवाले देव चारों ओरसे अञ्जत, जल और पुष्पसहित पवित्र अर्घ्य चढ़ा रहे थे जो कि ऐसे मालूम होते थे मानो पुण्यके अंश ही हों ॥ १०५ ॥ उस समय वहींपर इन्द्रोंने एक ऐसे बड़े भारी मण्डपकी रचना की थी कि जिसमें तीनों लोकके समस्त प्राणी परस्पर बाधा न देते हुए बैठ सकते थे ॥ १०६ ॥ उस मण्डपमें कल्पवृक्षके फूलोंसे बनी हुई अनेक मालाएँ लटक रही थीं और उनपर बैठे हुए भ्रमर गा रहे थे । उन भ्रमरोंके संगीतसे वे मालाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो भगवान्का यश ही गाना चाहती हों ॥ १०७ ॥

तदनन्तर प्रथम स्वर्गके इन्द्रने उस अवसरकी समस्त विधि करके भगवान्का प्रथम अभिषेक करनेके लिए प्रथम कलश उठाया ॥ १०८ ॥ और अतिशय शोभायुक्त तथा कलश उठानेके मन्त्रको जाननेवाले दूसरे ऐशानेन्द्रने भी सघन चन्दनसे चर्चित, भरा हुआ दूसरा कलश उठाया ॥ १०९ ॥ आनन्दसहित जय-जय शब्दका उच्चारण करते हुए शेष इन्द्र उन दोनों इन्द्रोंके कहे अनुसार परिचर्या करते हुए परिचारक (सेवक) वृत्तिको प्राप्त हुए ॥ ११० ॥ अपनी-अपनी अप्सराओं तथा परिवारसे सहित इन्द्राणी आदि मुख्य-मुख्य देवियाँ भी मंगलद्रव्य धारण कर परिचर्या करनेवाली हुई थीं ॥ १११ ॥ तत्पश्चात् बहुत-से देव सुवर्णमय कलशोंसे क्षीरसागरका पवित्र जल लानेके लिए श्रेणीबद्ध होकर बड़े सन्तोषसे

पूतं स्वायम्भुवं गात्रं स्पृष्टुं क्षीराच्छशोणितम् । तान्मदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धिसलिलारते ॥१११॥
 मत्वेति नास्मिन्मनूनप्रमदोदयैः । पञ्चमस्याणवस्याम्भः स्नानीयमुपकल्पितम् ॥११२॥
 अष्टयोजनगम्भीरमुंसे योजनविस्तृतैः । प्रारम्भे काञ्चनैः कुम्भैः जन्माभिषेकणोत्सवः ॥११३॥
 महामाना विरजुस्ते सुराणामुद्भृताः करैः । कलशाः कल्पवृक्षमेषमोक्षिणो विघ्नकापिणः ॥११४॥
 प्रादुरासक्तभोगो स्पर्णकुम्भा धृतार्णवः^१ । सुक्ताफलाञ्जितग्रीवाश्चन्दनद्रवचर्चिताः ॥११५॥
 तेषामन्योज्यहस्ताग्रमंशान्तैर्जलपूरितैः । कलशैर्व्यानजो व्योमहैर्मैः सौधैरिवाम्बुदैः ॥११६॥
 विनिर्ममं पट्टन् बाहुन् तानादिसुः^२ शताध्वरः । स तैः^३ सामरणीभ्रंजं भूषणाङ्ग इवाङ्घ्रिपः ॥११७॥
 दोःसहस्रोद्भृतैः कुम्भैः रौक्मैर्मुक्ताफलाञ्जितैः । भेजे पुलोमजाजानिः^४ भाजनाङ्गद्रुमोपमाम् ॥११८॥
 जयति प्रथमां धारां सौधर्मन्द्रो न्यपातयत् । तथा कलकलो भूयान् प्रचक्रे सुरकोटिभिः ॥११९॥
 सैषा धारा जिनस्याधिमूर्द्धं रंजे पतन्त्यपाम् । हिमाद्रेः निरसीवाञ्चरैः^५ च्छिन्नाम्बुर्बुनिम्नगा ॥१२०॥
 ततः कल्पधरः सर्वः समः^६ धारा निपातितः । संध्याभ्रैरिव सौवर्णः कलशैरम्बुमंभृतैः ॥१२१॥

निकले ॥११०॥ 'जो स्वयं पवित्र है और जिसमें रुधिर भी श्रीरके समान अत्यन्त स्वच्छ है ऐसे भगवान् के शरीरका स्पर्श करनेके लिए श्रीरसागरके जलके सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं है ऐसा मानकर ही मानो देवोंने बड़े हर्षके साथ पाँचवें क्षीरसागरके जलसे ही भगवान् का अभिषेक करनेका निश्चय किया था ॥१११-११२॥ आठ योजन गहरे, मुखपर एक योजन चौड़े (और उदरमें चार योजन चौड़े) सुवर्णमय कलशोंसे भगवान् के जन्माभिषेकका उत्सव प्रारम्भ किया गया था ॥११३॥ कालिमा अथवा पापके विकासको चुरानेवाले, विघ्नोंको दूर करनेवाले और देवोंके द्वारा हाथों-हाथ उठाये हुए वे बड़े भारी कलश बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥११४॥ जिनके कण्ठभाग अनेक प्रकारके मोतियोंसे शोभायमान हैं, जो घिसे हुए चन्दनसे चर्चित हो रहे हैं और जो जलसे लबालब भरे हुए हैं ऐसे वे सुवर्ण-कलश अनुक्रमसे आकाशमें प्रकट होने लगे ॥११५॥ देवोंके परस्पर एकके हाथसे दूसरेके हाथमें जानेवाले और जलसे भरे हुए उन सुवर्णमय कलशोंसे आकाश ऐसा व्याप्त हो गया था मानो वह कुछ-कुछ लालिमायुक्त सन्ध्याकालीन बादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥११६॥ उन सब कलशोंको हाथमें लेनेकी इच्छासे इन्द्रने अपने विक्रिया-बलसे अनेक मुजाएँ बना लीं । उस समय आभूषण-सहित उन अनेक मुजाओंसे वह इन्द्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भूषणांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥११७॥ अथवा वह इन्द्र एक साथ हजार मुजाओं-द्वारा उठाये हुए और मोतियोंसे सुशोभित उन सुवर्णमय कलशोंसे ऐसा शोभायमान होता था मानो भाजनांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥११८॥ सौधर्मन्द्रने जय-जय शब्दका उच्चारण कर भगवान् के मस्तकपर पड़ली जलधारा छोड़ी उसी समय जय जय जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवोंने भी बड़ा भारी कोलाहल किया था ॥११९॥ जिनेन्द्रदेवके मस्तकपर पड़ती हुई वह जलकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो हिमवान् पर्वतके शिखरपर ऊँचेसे पड़ती हुई अखाण्ड जल-वाली आकाशगंगा ही हो ॥१२०॥ तदनन्तर अन्य सभी स्वर्गोंके इन्द्रोंने सन्ध्या समयके बादलों-के समान शोभायमान, जलसे भरे हुए सुवर्णमय कलशोंसे भगवान् के मस्तकपर एक साथ जल-धारा छोड़ी । यद्यपि वह जलधारा भगवान् के मस्तकपर ऐसी पड़ रही थी मानो गंगा सिन्धु

१. छेदकालादिशायप्राकटपरहिताः । २. विघ्ननाशकाः । विघ्नकापिणः अ० । विघ्नकापिणः स०, म०, प० । ३. धृतजलाः । ४. विनिर्मितवान् । ५. पुल.शान् । ६. स्वीकर्तुमिच्छुः । ७. बाहुभिः । ८.-भेजे अ०, प०, म० । म०, ल० । ९. कलोमजा जाया गस्थासी, इन्द्र इत्यर्थः । १०. भाजनाङ्गसमो-ल० । ११. -रञ्जिताम्बु-ब०, प० । १२. युगपत् ।

महानद्य इवापपन्न धारागता मर्धनीशितुः । हेलयैव महिम्नासौ ताः^१ प्रत्येच्छद् गिरान्द्रवत् ॥१२२॥
 विरेचुरच्छटा दूरमुच्छलन्त्यो नभोऽङ्गणे । जिनाङ्गस्यर्शसंसर्गात् पापान्मुक्ता इवोद्भवाः ॥१२३॥
 काश्चनोक्षलिता श्योम्नि विचभुः शोकरच्छटाः । छटामिषामरावासप्राङ्गणेपु^२ तितोसवः ॥१२४॥
 तिर्यग्विसारिणः केचित् स्नानाभ्यर्शकरोत्कराः । कर्णपूरश्रियं तेनुर्दिग्धसुखसङ्गिनीम् ॥१२५॥
 निर्मले श्रोपतेरङ्गे पतित्वा^३ प्रतिबिम्बिताः । जलधाराः स्फुरन्ति स्म दिष्टिदृढयेव^४ संगताः ॥१२६॥
 गिरैरिव विमोसूर्ध्नि सुरेन्द्राभैर्निपातिताः । विरेजुर्निर्झराकारा धाराः क्षीरार्णवाभ्यसाम् ॥१२७॥
 तोषादिव खमुत्पत्य भूयोऽपि निपतन्त्यधः । जलानि^५ जहसुर्नूनं^६ जडतां^७ स्वां स्वकीकरैः ॥१२८॥
 स्वर्धुनीशोकरैः सार्धं स्पन्दां कर्तुमिवोर्ध्वगैः । शीकरैर्द्राक्पुनाति स्म^८ स्वर्धमान्यभृतप्लवः^९ ॥१२९॥
 पवित्रो भगवान् पूतैरङ्गैस्तदपुना^{१०} जलम् । तपुनर्जगदेवेदम्^{११} पावीद् व्याघ्रदिक्मुखम् ॥१३०॥
 तेनाभ्यसा सुरेन्द्राणां घृतनाः^{१२} क्लविताः क्षणम् । लक्ष्यन्ते स्म पयोवार्द्धा निमगनाङ्गव इवाकुलाः ॥१३१॥
 तदभ्यः कलशास्यस्यैः सरोजैः स्सममापतत् । हंसैरिव परां कान्तिमवापाद्रीन्द्रमस्तकं ॥१३२॥
 अशोकपल्लवैः कुम्भैर्मुखमुक्तेस्ततः^{१३} पयः । सच्छायमभवत् कीर्णं विद्रमाणामिवाङ्कुरैः ॥१३३॥

आदि महानदियाँ ही मिलकर एक साथ पड़ रही हों तथापि मेरु पर्वतके समान स्थिर रहने-
 वाले जिनेन्द्रदेव उसे अपने माहात्म्यसे लीलामात्रमें ही सहन कर रहे थे ॥१२१-१२२॥ उस
 समय कितनी ही जलकी बूँदें भगवान्‌के शरीरका स्पर्श कर आकाशरूपी आँगनमें दूर तक
 उछल रही थीं और ऐसी सालूम होती थीं मानो उनके शरीरके स्पर्शसे पापरहित होकर ऊपरको
 ही जा रही हों ॥१२३॥ आकाशमें उछलती हुई कितनी ही पानीकी बूँदें ऐसी शोभायमान हो
 रही थीं मानो देवोंके निवासगृहोंमें छींटे ही देना चाहती हों ॥१२४॥ भगवान्‌के अभिषेक
 जलके कितने ही छींटे दिशा-विदिशाओंमें तिरछे फैल रहे थे और वे ऐसे सालूम होते थे मानो
 दिशारूपी स्त्रियोंके मुखोंपर कर्णफूलोंकी शोभा ही बढ़ा रहे हों ॥१२५॥ भगवान्‌के निर्मल
 शरीरपर पड़कर उसीमें प्रतिबिम्बित हुई जलकी धाराएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो
 अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानकर उन्हींके शरीरके साथ मिल गयी हों ॥१२६॥ भगवान्‌के
 मस्तकपर इन्द्रों-द्वारा छोड़ी हुई क्षीरसमुद्रके जलकी धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो
 किसी पर्वतके शिखरपर मेघों-द्वारा छोड़े हुए सफेद झरने ही पड़ रहे हों ॥१२७॥ भगवान्‌के
 अभिषेकका जल सन्तुष्ट होकर पहले तो आकाशमें उछलता था और फिर नीचे गिर पड़ता था ।
 उस समय जो उसमें जलके बारीक छींटे रहते थे उनसे वह ऐसा सालूम होता था मानो
 अपनी मूर्खतापर हँस ही रहा हो ॥१२८॥ वह क्षीरसागरके जलका प्रदाह आकाशगंगाके
 जलचिन्दुओंके साथ स्पर्धा करनेके लिए ही मानो ऊपर जाते हुए अपने जलकणोंसे स्वर्गके
 विमानोंको शीघ्र ही पवित्र कर रहा था ॥१२९॥ भगवान् स्वयं पवित्र थे, उन्होंने अपने पवित्र
 अंगोंसे उस जलको पवित्र कर दिया था और उस जलने समस्त दिशाओंमें फैलकर इस सारे
 संसारको पवित्र कर दिया था ॥१३०॥ उस अभिषेकके जलमें डूबी हुई देवोंकी सेना क्षण-भरके
 लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो क्षीरसमुद्रमें डूबकर व्याकुल ही हो रही हो ॥१३१॥ वह जल
 कलशोंके मुखपर रखे हुए कमलोंके साथ सुमेरु पर्वतके मस्तकपर पड़ रहा था इसलिए ऐसी
 शोभाको प्राप्त हो रहा था मानो हंसोंके साथ ही पड़ रहा हो ॥१३२॥ कलशोंके मुखसे गिरे हुए
 अशोकपुष्पके लाल-लाल पल्लवोंसे व्याप्त हुआ वह स्वच्छ जल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो

१. प्रत्यग्रहीत् । २. -च्छलन्त्यो स०, द०, प०, अ० । ३. विस्तारं कर्तुमिच्छवः । ४. -तिपवित्रिताः
 म० । ५. दिष्टिषा वृद्धया भाष्यातिशयेन इत्यर्थः । दिष्टिदृढयेव प०, द० । ६. हसन्ति स्म । ७. इव ।
 ८. जडतां जडत्वं च । ९. क्षणिति । १०. स्वर्गगृहाणि [स्वर्गविधिपर्यन्तमित्यर्थः] । ११. क्षीरप्रवाहः ।
 १२. पवित्रमकरात् । १३. पुनाति स्म । १४. अवगाहीकृताः । १५. विस्तृतम् ।

स्फटिके स्नानपाटे तत् स्वच्छशोभममाजलम् । भर्तुः पादप्रसादेन^१ प्रसन्निवादिवाधिकम् ॥१३४॥
 रत्नांशुभिः कचिद् व्याप्तं विचित्रैस्तद्भवमौ पयः । आपमैन्द्रं^२ द्रवीभूय पयोभावंमिवागतम् ॥१३५॥
 कचिन्महो^३ पलोत्सर्पत्प्रभाभिररुणीकृतम् । संध्याम्बुद्वयच्छायां भेजे तत्पावनं^४ वनम् ॥१३६॥
 हरिनीलोपलच्छायाततं कचिद्दं जलम् । तमो घनमिवैक्यं निलीनं समदृश्यत ॥१३७॥
 कचिन्मरकताभाषु^५ प्रतानैरनुरजितम् । हरितांशुकसच्छायममवत् स्नपनोदकम् ॥१३८॥
 तदम्बुशोकरंभ्यो^६म समाकामद्गिरावमौ । जिताङ्गस्पर्शसंतीषात् प्रहासमिव नाटयत् ॥१३९॥
 स्नानाश्लुशीकराः केचिद्वायसीमविलङ्घिनः । व्यात्सुक्षीं^७ स्वर्गलक्ष्म्येव कर्तुकामाश्चकाशिरे ॥१४०॥
 विश्वगुञ्जलिताः काश्चिदप्लुता^८ रुद्धिद्विषतदाः । व्यावहासीमिवानन्दाद् दिग्वधूभिः समं व्यधुः^९ ॥१४१॥
 दूरमुत्सारयन् स्वैरमासीनान् सुरदम्पतीन् । स्नानपूरः स पर्यन्ता^{१०} न्येरोराशिश्चिथद् द्रुतम् ॥१४२॥
 उदभारः^{११} पयोवाहैरापतन्मन्दरादधः । आभूतलं तदुन्मानं^{१२} मिमान इव दिद्युते ॥१४३॥
 गुहामुखैरिवापीतः शिखरैरिव खाकृतः^{१३} । कन्दरैरिव निष्ठयूतः^{१४} प्राधर्नोन्मेरी पयःप्लवः ॥१४४॥

मूंगाके अंकुरोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥१३३॥ स्फटिक मणिके बने हुए निर्मल सिंहासनपर जो स्वच्छ जल पड़ रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो भगवान् के चरणोंके प्रसादसे और भी अधिक स्वच्छ हो गया हो ॥१३४॥ कहींपर चित्र-विचित्र रत्नोंको किरणोंसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा शोभायमान होता था, मानो इन्द्रधनुष ही गलकर जलरूप हो गया हो ॥१३५॥ कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई कान्तिसे लाल-लाल हुआ वह पवित्र जल सन्ध्याकालके पिघले हुए बादलोंको शोभा धारण कर रहा था ॥१३६॥ कहींपर इन्द्रनीलमणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानो किसी एक जगह छिपा हुआ गौड़ अन्धकार ही हो ॥१३७॥ कहींपर मरकतमणियों (हरे रंगके मणियों) की किरणोंके समूहसे मिला हुआ वह अभिषेकका जल ठीक हरे वस्त्रके समान हो रहा था ॥१३८॥ भगवान् के अभिषेक जलके उड़ते हुए छोटोंसे आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवान् के शरीरके स्पर्शसे सन्तुष्ट होकर हँस ही रहा हो ॥१३९॥ भगवान् के स्नान-जलकी कितनी ही बूँदें आकाशकी सीमाका उल्लंघन करती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो स्वर्गकी लक्ष्मीके साथ जल-कीड़ा (फाग) ही करमा चाहती हों ॥१४०॥ सब दिशाओंको रोककर सब ओर उछलती हुई कितनी ही जलकी बूँदें ऐसी मालूम होती थीं मानो आनन्दसे दिशारूपी स्त्रियोंके साथ हँसी ही कर रही हों ॥१४१॥ वह अभिषेकजलका प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुए सुरदम्पतियोंको दूर हटाना हुआ शीघ्र ही मेरुपर्वतके निकट जा पहुँचा ॥१४२॥ और मेरु पर्वतसे नीचे भूमि तक पड़ता हुआ वह श्रीरसागरके जलका प्रवाह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरु पर्वतको खड़े नापसे नाप ही रहा हो ॥१४३॥ उस जलका प्रवाह मेरु पर्वतपर ऐसा बढ़ रहा था मानो शिखरोंके द्वारा खकारकर दूर किया जा रहा हो, गुहारूप मुखोंके द्वारा पिथा

१. प्रसन्नतावत् । २. पद्मरागमणिकप्रम् । ३. पवित्र जलम् । ४. किरणसमूहः । 'अमीषुः प्रग्रहे रसमौ' इत्यभिधानात् । ५. आकाशादभिपर्यन्तम् । ६. अन्योन्यजलसेचनम् । ७. जलत्रेण्यः । ८. अन्योन्यहसनम् ।
 —व्यावहासी— अ०, प०, द०, स० । स० पुस्तके द्विविधः पाठः । ९. दधुः स०, द० । १०. परिसरान् ।
 'पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यभिधानात् । ११. जलप्रवाहः । १२. मेरोहत्सेधप्रमाणम् । १३. खात्कारं कृत्वा निष्ठयूतः । सस्वनं दूरं निष्ठयूत इत्यर्थः । १४. अवृषत् । 'ऋधू बृद्धौ' ।

किं 'गायंस्त्रिदशैर्मुक्तो युक्ता मे स्वर्गताधुना । नूनमित्यकर्षा^१न्मेरुः दिवं^२ स्नानास्तुनिर्गमैः^३ ॥१४५॥
 'अह्नीदखिलं^४ स्याम ज्योतिश्चक्रं समस्थगीत् । प्रोणवीन्मेरुमारुन्धन् क्षीरपूरः स रोदसी^५ ॥१४६॥
 'क्षीरमक्षणीयेषु^६ वनेषु कृतविभ्रमेः^७ प्राप्तिक्षणे^८ इवैन्येन^९ व्याप^{१०} सोऽम्भःप्लवः क्षणात् ॥१४७॥
 तरुषण्डनिरुद्धत्वादस्तर्धणमनुलवणः^{११} । वयवीथीरतीत्यारात्^{१२} प्रससार महाप्लवः ॥१४८॥
 स वमासे पयःपूरः प्रसर्पक्षधिशैलराट्^{१३} । सितैरिवाङ्गुकैरेन^{१४} स्थगयन् स्थगिताम्बरः^{१५} ॥१४९॥
 विष्वगाद्दीप्तमूर्णित्वा[मूर्णित्वा]^{१६} पयोऽणवजलप्लवः^{१७} । प्रवहन्नवह^{१८} च्छाया^{१९} स्वःस्ववन्ती^{२०} पयःस्रुतेः^{२१} ॥१५०॥
 'शब्दाद्वैतमिवातन्वन् कुर्वन् सृष्टिमिवाम्मयीम्^{२२} ।^{२३} तिललाल पयःपूरः प्रध्वनन्नितकुक्षिपु^{२४} ॥१५१॥
 विश्वगाप्लावितो मेरु^{२५} प्लवैरामहीतलम् । अज्ञातपूर्वतां भेजे^{२६} मनसाज्ञानिनामपि ॥१५२॥

जा रहा हो और कन्दराओंके द्वारा बाहर उगला जा रहा हो ॥१४४॥ उस समय मेरु पर्वत-
 पर अभिषेक जलके जो झरने पड़ रहे थे उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वह यह कहता
 हुआ स्वर्गको धिक्कार ही दे रहा हो कि अब स्वर्ग क्या वस्तु है ? उसे तो देवोंने भी छोड़ दिया
 है । इस समय समस्त देव हमारे यहाँ आ गये हैं इसलिए हमें ही साक्षात् स्वर्ग मानना योग्य
 है ॥ १४५ ॥ उस जलके प्रवाहने समस्त आकाशको ढक लिया था, ज्योतिष्पटलको घेर लिया
 था, मेरु पर्वतको आच्छादित कर लिया था और पृथिवी तथा आकाशके अन्तरालको रोक
 लिया था ॥१४६॥ उस जलके प्रवाहने मेरु पर्वतके अच्छे वनोंमें क्षणभर विश्राम किया और फिर
 सन्तुष्ट हुए के समान वह दूसरे ही क्षणमें वहाँसे दूसरी जगह व्याप्त हो गया ॥१४७॥ वह
 जलका बड़ा भारी प्रवाह वनके भीतर वृक्षोंके समूहसे रुक जानेके कारण धीरे-धीरे चलता था
 परन्तु ज्यों ही उसने वनके मार्गको पार किया त्यों ही वह शीघ्र ही दूर तक फैल गया ॥१४८॥
 मेरु पर्वतपर फैलता और आकाशको आच्छादित करता हुआ वह जलका प्रवाह ऐसा सुशोभित
 हो रहा था मानो मेरु पर्वतको सफेद वस्त्रोंसे ढक ही रहा हो ॥१४९॥ सब ओरसे मेरु पर्वतको
 आच्छादित कर बहता हुआ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह आकाशगंगाके जलप्रवाहकी
 शोभा धारण कर रहा था ॥१५०॥ मेरु पर्वतकी गुफाओंमें शब्द करता हुआ वह जलका प्रवाह
 ऐसा मालूम होता था मानो शब्दाद्वैतका ही विस्तार कर रहा हो अथवा सारी सृष्टिको जलरूप
 ही सिद्ध कर रहा हो ॥ भावार्थ—शब्दाद्वैतवादियोंका कहना है कि संसारमें शब्द ही शब्द है
 शब्दके सिवाय और कुछ भी नहीं है । उस समय सुमेरुकी गुफाओंमें पड़ता हुआ जलप्रवाह
 भी भारी शब्द कर रहा था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो शब्दाद्वैतवादका समर्थन ही
 कर रहा हो । ईश्वरसृष्टिवादियोंका कहना है कि यह समस्त सृष्टि पहले जलमयी थी, उसके
 बाव ही स्थल आदिकी रचना हुई है उस समय सब ओर जल-ही-जल दिखलाई पड़ रहा था
 इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो वह सारी सृष्टिको जलमय ही सिद्ध करना चाहता
 हो ॥१५१॥ वह मेरु पर्वत ऊपरसे लेकर नीचे पृथिवीतल तक सभी ओर जलप्रवाहसे तर हो रहा
 था इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी देवोंको भी अज्ञात पूर्व मालूम होता था अर्थात् ऐसा जान पड़ता था

१. स्वर्गः । २. हसति स्म । —मित्यकर्षा— ५०, ६० । —मित्यकषन्— ५०, ६० । ३. स्वर्गम् ।
 ४. 'ह्नी'ने संवरणे । ५. 'ऊर्णुज् आच्छादने' । ६. व्यापपृषिव्यौ । ७. अङ्गिस्तेषु । अच्छेद्येवित्यर्थः । ८. प्राप्ति-
 सन्तोष इव । ९. व्यानयो । १०. अनुत्कटः । ११. 'आराद् दूरसमीपयोः' । १२. मेरौ । १३. आच्छादयन् ।
 १४. आच्छादिताकाशः । १५. छादयित्वा । १६. प्रवाहकूपेण गच्छन् । १७. धरति स्म । १८. स्वः स्ववन्त्याः
 ५०, ५०, ६०, ६०, ६०, ६० । १९. गङ्गाजलप्रवाहस्य । २०. स्फोटवादम् । २१. —मिवापमयीम् ५०, ६० ।
 जलमयीन् । २२. लसति स्म । २३. —नन्नाद्रिकुक्षिपु ६०, ६०, ६० । दीप्तगुहामु । २४. जलप्रवाहैः ।
 २५. प्रत्यक्षज्ञानिनाम् ।

न मेरुसमुत्फुल्लनमेरुतराजिनः । राजनो गिरिरंज स्यादुल्लसज्जिमपापडरः^१ ॥१५३॥
 पीयूषस्यैव राशिर्नु स्फाटिको नु शिलोत्थयः^२ । सुधाधवलिनः किं नु प्रासादस्त्रिजगच्छ्रियः ॥१५४॥
 वितर्कमिति तन्वानो गिरिराजं पयःप्लवः^३ । व्यानको विश्वदिक्कान्तो दिक्कान्ताः स्तपयञ्जिव ॥१५५॥
 ऊर्ध्वमुच्चलिताः केचित् शांकरा विश्वदिग्गताः^४ । श्वेतच्छत्रश्रियं मेरोरातेनुविधुनिर्मलाः ॥१५६॥
 हारनीहारकङ्काकुमुदाम्भोजयस्त्रिधः । प्रावर्तन्त पयःपूरा यशःपूरा इवार्हतः ॥१५७॥
 गगनाङ्गणपुष्पोपहारा हारामलस्त्रिधः । दिग्बभूवर्णपूरास्ते बभुः स्तपानाम्बुशोकराः ॥१५८॥
 शोकरैराकिरन्ताकमालोकान्तविसर्पिभिः । ज्योतिलोकमनुप्राप्य जजृम्भे सोऽम्भसां प्लवः ॥१५९॥
 स्नानपुरे निम्गनाङ्गवस्तारास्तरलोचिधः । सुक्तामलश्रियं मेजुर्विप्रकीर्णाः समन्ततः ॥१६०॥
 तारकाः अणमध्यास्य स्नानपुरं विनिस्सृताः । पयोप्लवस्तुतो^५ रेजुः करकाणामिवालयः^६ ॥१६१॥
 स्नानाम्भसि बभौ मास्वान् तत्क्षणं^७ कृतनिवृत्तिः । तसः पिण्डो महाह्रीहः पानोयमिव पायितः ॥१६२॥
 पयःपूरे बह्व्यस्मिन् श्वेतभानु^८ व्योमाव्यत । जरत्स इवोद्भूत^९ जडिमा^{१०} मन्थरं तरन् ॥१६३॥

जैसे उसे पहले कभी देखा ही न हो ॥१५२॥ उस समय वह पर्वत शोभायमान मृणालके समान सफेद हो रहा था और फूले हुए नमेरु वृक्षोंसे सुशोभित था इसलिए यही मालूम होता था कि वह मेरु नहीं है किन्तु कोई दूसरा चाँदीका पर्वत है ॥१५३॥ क्या यह अमृतकी राशि है ? अथवा स्फटिकमणिका पर्वत है ? अथवा चूनेसे सफेद किया गया तीनों जगत्की लक्ष्मीका महल है—इस प्रकार मेरु पर्वतके विषयमें वितर्क पैदा करता हुआ वह जलका प्रवाह सभी दिशाओंके अन्त तक इस प्रकार फैल गया मानो दिशारूपी स्त्रियोंका अभिषेक ही कर रहा हो ॥१५४-१५५॥ चन्द्रमाके समान निर्मल उस अभिषेकजलकी कितनी ही बूँदें ऊपरकी उल्लङ्घन सब दिशाओंमें फैल गयी थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो मेरु पर्वतपर सफेद छत्रकी शोभा ही बढ़ा रही हो ॥१५६॥ हार, बर्ष, सफेद कमल और कुमुदोंके समान सफेद जलके प्रवाह सब ओर प्रवृत्त हो रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्के यशके प्रवाह ही हो ॥१५७॥ हारके समान निर्मल कान्तिवाले वे अभिषेकजलके छींटे ऐसे मालूम होते थे मानो आकाशरूपी आँगनमें फूलोंके उपहार ही चढ़ाये गये हो अथवा दिशारूपी स्त्रियोंके कानोंके कर्णफूल ही हो ॥१५८॥ वह जलका प्रवाह लोकके अन्त तक फैलनेवाली अपनी बूँदोंसे ऊपर स्वर्ग तक व्याप्त होकर नीचेकी ओर ज्योतिष्पटल तक पहुँचकर सब ओर वृद्धिको प्राप्त हो गया था ॥१५९॥ उस समय आकाशमें चारों ओर फैले हुए तारागण अभिषेकके जलमें डूबकर कुछ चंचल प्रभाके धारक हो गये थे इसलिए बिखरे हुए मोतियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१६०॥ वे तारागण अभिषेकजलके प्रवाहमें क्षण-भर रहकर उससे बाहर निकल आये थे परन्तु उस समय भी उनसे कुछ-कुछ पानी चू रहा था इसलिए ओलोंकी पङ्क्तिके समान शोभायमान हो रहे थे ॥१६१॥ सूर्य भी उस जलप्रवाहमें क्षण-भर रहकर उससे अलग हो गया था, उस समय वह ठण्डा भी हो गया था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कोई तपा हुआ लोहेका बड़ा भारी गोला पानीमें डालकर निकाला गया हो ॥१६२॥ उस बहते हुए जलप्रवाहमें चन्द्रमा ऐसा मालूम होता था मानो ठण्डसे जड़ होकर (ठिठुरकर) धीरे-धीरे तैरता हुआ एक बड़ा हंस ही हो ॥१६३॥ उस समय प्रहमण्डल भी चारों ओर फैले हुए जलके प्रवाहसे आकुप्ट होकर (खिंचकर) विपरीत गतिको प्राप्त हो गया था । मालूम होता है कि उसी कारणसे

१. रजतमयः । २. मणिनपाण्डुरः अ०, प०, ल०, ट० । किमवधवलः । ३. पर्वतः । ४. विश्व दिग्बन्तः । ५. -दिग्गताः म० । ६. तवन्तः । ७. धर्षोपलानाम् । 'धर्षोपलस्तु करकः' इत्यभिधानात् । ८. पङ्क्तयः । ९. तत्क्षणान् प०, द० । १०. कृतमुलः । ११. चन्द्रः । १२. धृतजडत्वम् । १३. मन्दं मन्दम् ।

ग्रहसङ्कलमाकृष्टं^१ पर्यस्तैः सलिलश्रवैः । विषयस्तां गतिं भेजं^२ वक्रचारमिवाश्रितम् ॥१६४॥
 'भगणः प्रगुणीभूत' किरणं जलविप्लुतम्^३ । सिधेवे पूर्णं^४ मोहान् 'प्रालेयांशुविशङ्कया ॥१६५॥
 उद्योतिश्चक्रं क्षरज्ज्योतिः क्षीरपूरमनुभ्रमत् । वेलातिक्रमभीत्येव नास्थादेकमपि क्षणम् ॥१६६॥
 उद्योतिःपटलमिरयासीत् समानौघैः^५ क्षणमाकुलम् । कुलाकषक्रमाविद्धमिव तिर्यक्परिभ्रमत्^६ ॥१६७॥
 पर्याप्तजलसंगाद् गिरेः स्वर्लोकधारिणः । विरलैः स्नानपूरस्तैर्नृलोकः पावनीकुलः ॥१६८॥
 निर्वापिता मर्द्दा कृत्स्ना कुलशैलाः पवित्रिताः । कृता निरीतयो देशाः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥१६९॥
 कृत्स्नामिति जगन्नाडीं पवित्रीकुर्वतामुना । किं नाम स्नानपूरेण श्रेयः शेषितमङ्गिनाम् ॥१७०॥
 अथ तस्मिन् महापूरे ध्वानापुरितद्विक्रमुखे । प्रशान्ते शमितादोषभुवनोष्मण्य^७ शेषतः ॥१७१॥
 'रेचितेषु महामेरुः' कन्दरेषु जलश्रवैः^८ । प्रसव्य^९ शर्वजिदिवसि वैरैः^{१०} सङ्घमस्वप्ने ॥१७२॥
 धूपेषु दह्यमानेषु सुगन्धीन्धनयोनिषु । ज्वलत्सु मणिदीपेषु^{११} मन्त्रिमन्त्रोपयोगिषु ॥१७३॥
 'पुण्यपाठान् पठत्सूचैः संपाठं'^{१२} सुरबन्धिषु । गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् ॥१७४॥
 जिनकल्याणसंबन्धि^{१३} मङ्गलोद्गीतिनिस्स्रवैः । कुर्वाणे विश्वगीर्वाण^{१४} लोकस्य श्रवणोत्सवम् ॥१७५॥

वह अब भी वक्रगतिका आश्रय लिये हुए है ॥१६४॥ उस समय जलमें डूबे हुए तथा सीधी और शान्त किरणोंसे युक्त सूर्यको ध्रान्तिते चन्द्रमा समझकर तारागण भी उसकी सेवा करने लगे थे ॥१६५॥ सम्पूर्ण उद्योतिश्चक्र जलप्रवाहमें डूबकर कान्तिरहित हो गया था और उस जलप्रवाहके पीछे-पीछे चलने लगा था मानो अधसर चूक जानेके भयसे एक क्षण भी नहीं ठहर सका हो ॥१६६॥ इस प्रकार स्नानजलके प्रवाहसे व्याकुल हुआ उद्योतिष्पटल क्षण-भरके लिए घुमाये हुए कुम्हारके चक्रके समान तिरछा चलने लगा था ॥१६७॥ स्वर्गलोकको धारण करनेवाले मेरु पर्वतके मध्य भागसे सब ओर पड़ते हुए भगवान् के स्नानजलने जहाँ-तहाँ फैलकर समस्त मनुष्यलोकको पवित्र कर दिया था ॥१६८॥ उस जलप्रवाहने समस्त पृथिवी सन्तुष्ट (सुखरूप) कर दी थी, सब कुलाचल पवित्र कर दिये थे, सब देश अतिवृष्टि आदि ईत्थियोंसे रहित कर दिये थे, और समस्त प्रजा कल्याणसे युक्त कर दी थी । इस प्रकार समस्त लोकभाडीको पवित्र करते हुए उस अभिवेकजलके प्रवाहने प्राणियोंका ऐसा कौन-सा कल्याण बाकी रख छोड़ा था जिसे उसने न किया हो ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१६९-१७०॥

अथानन्तर अपने 'छलछल' शब्दोंसे समस्त दिशाओंको भरनेवाला, तथा समस्त लोककी उष्णता शान्त करनेवाला वह जलका बड़ा भारी प्रवाह जब थिलकुल ही शान्त हो गया ॥१७१॥ जब मेरु पर्वतकी गुफाएँ जलसे रिक्त (खाली) हो गयीं, जल और वनसहित मेरु पर्वतने कुछ विश्राम लिया ॥१७२॥ जब सुगन्धित लकड़ियोंकी अग्निमें अनेक प्रकारके धूप जलाये जाने लगे और मात्र भक्ति प्रकट करनेके लिए मणिमय दीपक प्रज्वलित किये गये ॥१७३॥ जब देवोंके बन्दीजन अच्छी तरह उच्च स्वरसे पुण्य बढ़ानेवाले अनेक स्तोत्र पढ़ रहे थे, मनोहर आवाजवाली किन्नरी देवियाँ मधुर शब्द करती हुई गीत गा रही थीं १७४॥ जब जिनेन्द्र भगवान् के कल्याणकसम्बन्धी मंगल गानेके शब्द समस्त देव लोगोंके कानोंका उत्सव

१. परितः धिपतैः । २. विप्रकीर्णम् । ३. वक्रगमनम् । ४. नक्षत्रसमूहः । ५. ऋजुभूतकरम् । ६. धीतम् ।
 ७. सूर्यम् । ८. चन्द्रः । ९. स्नानजलप्रवाहः । १०. -परिभ्रमम् । ११. जप्ते । १२. परित्यक्तेषु ।
 १३. सजलवने । १४. जिनदेहदीप्तेः सकाशात् निजदीप्तैर्व्यर्थत्वात् । १५. प्रसव्यगद्य-पद्यादिमङ्गलान् ।
 १६. मण्यकपाठं यथा भवति तथा । १७. मङ्गलगीत । १८. जनस्य ।

जिनजन्मानिनेकार्थं प्रतिबन्धेनिर्देशनैः^१ । नाट्यवेदं प्रयुज्जामे^२ सुरसौख्यपेटके^३ ॥१७६॥
 गन्धर्वारिभसंगीतसृङ्गध्वनिभूषिते^४ । दुन्दुभिध्वनिते मन्त्रे ओजानन्दं प्रतप्सवति^५ ॥१७७॥
 कुचकुम्भैः सुरसौणो^६ कुङ्कुमाङ्कुरलङ्किते । हाररोचिःप्रसूनौघकृतपुष्पोपहारके^७ ॥१७८॥
 मेरुङ्गेऽपसरौचुन्दे सलीलं परिचरयति । कर्णैरङ्गहारैश्च^८ सलयेषु परिक्रमैः^९ ॥१७९॥
 शृण्वन्सु मङ्गलोद्गीतोः सावधानं सुधाशिशु^{१०} । वृत्तेषु जनजल्पेषु जिनप्राभजणसिषु^{११} ॥१८०॥
 नान्दोत्तूर्यरवे विश्वगापूरयति रोदसी^{१२} । जयघोषप्रतिध्वनैः स्तुवान इव मन्दरे^{१३} ॥१८१॥
 सञ्चरत्सचरी^{१४} वक्त्रवर्माश्रुकणचुम्बिनि । धूलोपान्तवने वाति मध्वं मन्दं^{१५} नमस्वति^{१६} ॥१८२॥
 सुरदीवारिकैश्चित्रवेद्यदण्डधरैर्मुहुः । सामाजिकजने विष्वक्^{१७} सार्यमाणं सङ्कुलकृतम्^{१८} ॥१८३॥
 तरसमुत्सारणप्रासात्सुकीर्णवमुपागते । अनियुक्तजने सद्यश्चित्रापित इव स्थिते^{१९} ॥१८४॥
 सुदाम्बुस्तपने निष्ठा^{२०} गते गन्धाम्बुभिः शुभैः । ततोऽभिषेकुमीशान^{२१} शतयज्वा^{२२} प्रचकमे^{२३} ॥१८५॥

[दशभिः कुलकम्]

भोमज्जन्मोदकं द्रव्यं^{२४} गन्धाङ्कुरमधुवर्तैः । अभ्यषिञ्चद् विधानज्ञो विधातारं शताध्वरः^{२५} ॥१८६॥
 पूता गन्धाम्बुधारासावापतन्ती ततो विभोः । तद्गन्धातिशयात् प्रासलज्जेवासोदवाङ्मुखी^{२६} ॥१८७॥

कर रहे थे ॥१७५॥ जब नृत्य करनेवाले देवोंका समूह जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणकसम्बन्धी अर्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उदाहरणोंके द्वारा नाट्यवेदका प्रयोग कर रहा था—नृत्य कर रहा था ॥१७६॥ जब गन्धर्व देवोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए संगीत और सृदंगकी ध्वनिसे मिला हुआ दुन्दुभि बाजोंका गम्भीर शब्द कानोंका आनन्द बढ़ा रहा था ॥१७७॥ अब केसर लगे हुए देवांगनाओंके स्तरूपी कलशोंसे शोभायमान तथा हारोंकी फिरणरूपी पुष्पोंके उपहारसे युक्त सुमेरु पर्वतरूपी रंगभूमिमें अप्सराओंका समूह हाथ उठाकर, शरीर हिलाकर और तालके साथ-साथ फिरकी लगाकर लीलासहित नृत्य कर रहा था ॥१७८-१७९॥ जब देव लोग सावधान होकर मंगलगान सुन रहे थे और अनेक जनोके बीच भगवान्के प्रभावकी प्रशंसा करनेवाली बात-चीत हो रही थी ॥१८०॥ जब नान्दी, तुरही आदि बाजोंके शब्द सब ओर आकाश और पृथिवीके बीचके अन्तरालको भर रहे थे, जब जय-घोषणाकी प्रतिध्वनियोंसे मानो मेरु पर्वत ही भगवान्की स्तुति कर रहा था ॥ १८१॥ जब सब ओर घूमती हुई विशा-धरियोंके मुखके स्वेदजलके कणोंका सुम्बन करनेवाला वायु समीपवर्ती वनोंको हिलाता हुआ धीरे-धीरे बह रहा था ॥१८२॥ जब विचित्र वेशके दण्ड हाथमें लिये हुए देवोंके द्वारपाल सभाके लोगोंको हुंकार शब्द करते हुए चारों ओर पीछे हटा रहे थे ॥१८३॥ 'हमें द्वारपाल पीछे न हटा दें' इस डरसे कितने ही लोग चित्रलिखितके समान जब चुपचाप बैठे हुए थे ॥१८४॥ और जब शुद्ध जलका अभिषेक समाप्त हो गया था तब इन्द्रने शुभ सुगन्धित जलसे भगवान्का अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥१८५॥ विधिबिधानको जाननेवाले इन्द्रने अपनी सुगन्धिसे भ्रमरोंका आह्वान करनेवाले सुगन्धित जलरूपी द्रव्यसे भगवान्का अभिषेक किया ॥१८६॥ भगवान्के शरीरपर पड़ती हुई वह सुगन्धित जलकी पवित्र धारा ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्के शरीरकी उत्कृष्ट सुगन्धिसे लज्जित होकर ही अधोमुखी (नीचेको

१. सम्बद्धः । २. भूमिकाभिः । ३. नाट्यशास्त्रम् । ४. देवतर्तकबन्धे । 'सौलालिनस्तु संलवजाया जीवाः कुशाश्विनः' इत्यभिधानात् । बहुरूपास्त्यनृत्यविशेषविशामिन इत्यर्थः । ५. मिश्रिते । ६. कुङ्कुमाङ्कुरैः प०, द०, म०, ल० । ७. करन्यासैः । ८. अङ्गविशेषैः । ९. तालमानसहितैः । १०. पादविन्यासैः । ११. बंबेषु । १२. भूम्याकाशे । १३. सञ्चरत्सचरी—ल० । १४. धूलोपान्त—ग०, ब०, म०, ल० । १५. पवने । १६. सभाजने । १७. उत्सार्यमाणे । १८. स्वरमागत्य नियोगमन्तरण स्थितजने । १९. निर्वर्ण पयस्वि-मित्यर्थः । २०. सर्वजम् । २१. इन्द्रः । २२. प्रारम्भे । दशकोऽयमहं देवासकविना स्वकीयपुत्रदेवचम्पूकाव्यस्य पञ्चमस्तयकस्य एकादशतमस्त्योक्तो नोक्तः । २३. —द्रव्य—त०, द० । २४. अधोमुखी ।

कनकनक्तमृत्कारनालाहारा पतन्मयसौ । रेजे भक्तिभरेणैव जिनमानस्तु सुयता ॥१८८॥
विमोदं ह्रस्वमोत्सर्वैस्तद्विद्यापिअस्तुता । सामाद् विभावसौ^२ दीप्ते प्रयुक्तेषु घृताहुतिः ॥१८९॥
निसर्गसुरभिष्यङ्गे विमोस्त्यन्तपायने । पतिव्वा चरितार्थी सा^३ स्वसादकृत तद्गुणान् ॥१९०॥
सुगन्धिकुसुमैर्गन्धद्रव्यैरपि सुवासिता । साधाकृतिशयं कंचिद् विमोरङ्गेऽम्भसां ततिः ॥१९१॥
समस्ताः पूरयन्त्याशा जगदानन्दवाचिनी । वसुधारेव भारासौ क्षीरधारा मुदेऽस्तु नः ॥१९२॥
या पुण्यास्त्रवधारेव सूते संपत्परम्पराम् । सास्माभ्यान्धपथोभारा^४ धिनोत्वनिधने^५ धनैः ॥१९३॥
या निशातासिधारैश्च विध्नवरां विनिध्नती^६ । पुण्यगन्धोऽम्भसौ धारा सा शिवार्यं सदास्तु नः ॥१९४॥
माननीया सुनीन्द्राणां जगतामेकपावनी । साध्याद् गन्धाभ्युधारास्मान् या स्म व्योमापगायते ॥१९५॥
तनुं सगद्यतः प्राप्य याता यातिपवित्रिताम् । पवित्रयतु नः स्वान्तं धारा गन्धास्मसामसौ ॥१९६॥
कृत्वा गन्धोदकैरित्यममिपेकं सुरोत्तमाः । जगतां शान्तये^७ शान्तिं घोषयामासुरुचकैः ॥१९७॥
प्रचक्रुस्तमाङ्गेषु चक्रः सर्वाङ्गसंगतम् । स्वर्गस्थोपायनं चक्रस्तद्वंधाभ्युद्विगीकृतः ॥१९८॥
गन्धाभ्युत्थनपनस्यागते जयकीलाहलैः समम् ।^८ स्वात्सुर्क्षामिमराश्रकुः सधूर्णैर्गन्धवारिभिः ॥१९९॥

सुख किये हुई) हो गयी हो ॥१८७॥ देदीप्यमान सुवर्णकी झारीके नालसे पड़ती हुई वह सुगन्धित जलकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो भक्तिके भारसे भगवान्को नमस्कार करनेके लिए ही उद्यत हुई हो ॥१८८॥ विजलाके समान कुछ-कुछ पीले भगवान्के शरीरकी प्रभाके समूहसे व्याप्त हुई वह धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जलनी हुई अग्निमें थोकी आहुति ही डाली जा रही हो ॥१८९॥ स्वभावसे सुगन्धित और अत्यन्त पवित्र भगवान्के शरीरपर पड़कर वह धारा चरितार्थ हो गयी थी और उसने भगवान्के उक्त दोनों ही गुण अपने अधीन कर लिये थे—ग्रहण कर लिये थे ॥१९०॥ यद्यपि वह जलका समूह सुगन्धित फूलों और सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित किया गया था तथापि वह भगवान्के शरीरपर कुछ भी विशेषता धारण नहीं कर सका था—उनके शरीरकी सुगन्धिके सामने उस जलकी सुगन्धि तुच्छ जान पड़ती थी ॥१९१॥ वह दूधके समान श्वेत जलकी धारा हम सबके आनन्दके लिए हो जो कि रत्नोंकी धाराके समान समस्त आशाओं (इच्छाओं और दिशाओं) को पूर्ण करनेवाली तथा समस्त जगत्को आनन्द देनेवाली थी ॥१९२॥ जो पुण्यास्त्रकी धाराके समान अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाली है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम लोगोंको कभी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयरूपी धनसे सन्तुष्ट करे ॥१९३॥ जो पैनी तलवारकी धारके समान विघ्नोंका समूह नष्ट कर देती है ऐसी वह पवित्र सुगन्धित जलकी धारा सदा हम लोगोंके मोक्षके लिए हो ॥१९४॥ जो बड़े-बड़े मुनियोंको मान्य है, जो जगत्को एकमात्र पवित्र करनेवाली है और जो आकाशगंगाके समान शोभायमान है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम सबकी रक्षा करे ॥१९५॥ और जो भगवान्के शरीरको पाकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम सबके मनको पवित्र करे ॥१९६॥ इस प्रकार इन्द्र सुगन्धित जलसे भगवान्का अभिषेक कर जगत्की शान्तिके लिए उच्च स्वरसे शान्ति-मन्त्र पढ़ने लगे ॥१९७॥ तदनन्तर देवोंने उस गन्धोदकको पहले अपने मस्तकोंपर लगाया, फिर सारे शरीरमें लगाया और फिर बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जानेके लिए रख लिया ॥१९८॥ सुगन्धित जलका अभिषेक समाप्त होनेपर देवोंने जय-जय शब्दके कोलाहलके साथ-साथ चूर्ण मिले हुए सुगन्धित

१. नमस्कृतुम् । २. अग्नौ । ३. स्वाधोनमकरोत् । ४. तद् द्रव्यसौगन्ध्यसौकुमार्यादिगुणान् । ५. प्रीणयतु । ६. रत्नत्रयात्मकवनेः । ७. विनाशयती । ८. निर्यमुखाय । ९. रक्षतु । १०. शान्तिमन्त्रम् । ११. अन्योन्य-जलसेवनम् ।

निर्वृत्ता^१ अभिषेकस्थ^२ कृतावभृथमज्जनाः । परीत्य परमं ज्योतिरा^३ नर्तुंभुवनान्वितम् ॥२००॥
 गन्धैर्पुष्पैश्च दीपैश्च^४ स्नातैः कुसुमोदकैः । मन्त्रपूतैः फलैः सार्धैः सुरेन्द्रा विभुमीजिरं^५ ॥२०१॥
 कृतेष्टयः कृतानिष्टविद्याताः कृतपौष्टिकाः । जन्माभिषेकमित्युच्येनाकिन्द्रा^६ निरतिष्ठिपन् ॥२०२॥
 इन्द्रेन्द्राण्यौ समं देवैः परमानन्ददायिनम् । क्षणं चूडामणि मेरोः परीत्यैर्न प्रणेमतुः ॥२०३॥
 दिवोऽपसप्तदा पौष्पा वृष्टिर्जलकणैः समम् । सुक्तानन्दाश्रुभिन्दूनां श्रेणीष त्रिदिवश्रिया ॥२०४॥
 रजःपटलमाभूय^७ सुरागसुमनोभवम् । मातरिथा वयौ मन्दं स्नानाम्भदशीकरान् किरन् ॥२०५॥
 सज्योतिर्मगवान् मेरोः कुलशैलायिताः सुराः । क्षीरमेघायिताः कुन्माः सुरनार्योऽप्सरायिताः^८ ॥२०६॥
 शक्रः स्नपयितादीन्द्रः स्नानपीठी^९ सुराङ्गनाः । नर्तक्यः किङ्करा देवाः^{१०} स्नानद्रोणी पयोऽर्णवः ॥२०७॥
 इति श्लाघ्यतमे मेरी^{११} निर्वृत्तः स्नपनोत्सवः । स यस्य भगवान् पूयात् पूतात्मा वृषभो जगत् ॥२०८॥

मालिनी

अथ पवनकुमाराः^{१३} स्वामित्र^{१४} प्राज्यमर्कि

दिशि दिशि विभजन्तो मन्दमन्दं^{१५} विषेहः ।

सुमुचुरमृतगर्भाः सांकरासारवाराः

किल^{१६} जलदकुमारा मेरुवीपु^{१७} स्थलीपु ॥२०९॥

जलसे परस्परमें फाग की अर्थात् वह सुगन्धित जल एक-दूसरेपर डाला ॥१९९॥ इस प्रकार अभिषेककी समाप्ति होनेपर सद्यः देवाने स्नान किया और फिर त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट ज्योति-स्वरूप भगवान्की प्रदक्षिणा देकर पूजा की ॥२००॥ सब इन्द्रोंने मन्त्रोंसे पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, (नैवेद्य), दीप, धूप, फल और अर्चके द्वारा भगवान्की पूजा की ॥२०१॥ इस तरह इन्द्रोंने भगवान्की पूजा की, उसके प्रभावसे अपने अनिष्ट-अमंगलोंका नाश किया और फिर पौष्टिक कर्म कर बड़े समारोहके साथ जन्माभिषेककी विधि समाप्त की ॥२०२॥ तत्पश्चात् इन्द्र इन्द्राणीने समस्त देवोंके साथ परम आनन्द देनेवाले और क्षण-भरके लिए मेरु पर्वतपर चूडामणिके समान शोभायमान होनेवाले भगवान्की प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया ॥२०३॥ उस समय स्वर्गसे पानीकी छोटी-छोटी बूंदोंके साथ फूलोंकी वर्षा हो रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्गकी लक्ष्मीके हर्षसे पड़ते हुए अश्रुओंकी बूंदें ही हों ॥२०४॥ उस समय कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे उत्पन्न हुए पराग-समूहको कँपाता हुआ और भगवान्के अभिषेक-जलकी बूंदोंको बरसाता हुआ वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥२०५॥ उस समय भगवान् वृषभदेव मेरुके समान जान पड़ते थे, देव कुलाचलोंके समान मालूम होते थे, कलश दूधके मेघोंके समान प्रतिभासित होते थे और देवियाँ जलसे भरे हुए सरोवरोंके समान आचरण करती थीं ॥२०६॥ जिनका अभिषेक करानेवाला स्वयं इन्द्र था, मेरु पर्वत स्नान करनेका सिंहासन था, देवियाँ नृत्य करनेवाली थीं, देव किंकर थे और शीरसमुद्र स्नान करनेका कटाह (टब) था । इस प्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरु पर्वतपर जिनका स्नपन महोत्सव समाप्त हुआ था वे पवित्र आत्मावाले भगवान् समस्त जगत्को पवित्र करें ॥२०७-२०८॥

अथानन्तर पवनकुमार जातिके देव अपनी उत्कृष्ट भक्तिको प्रत्येक दिशाओंमें वितरण करते हुए के समान धीरे-धीरे चलने लगे और मेघकुमार जातिके देव उस मेरु पर्वतसम्बन्धी भूमि-पर अमृतसे मिले हुए जलके छींटोंकी अखण्ड धारा छोड़ने लगे—मन्द-मन्द जलवृष्टि करने

१. परित्यक्ताः । निर्वृत्ता— अ०, प०, स०, म०, ल० । २. विहितयजुर्मन्तरक्रियमाणस्नानाः । ३. अर्चयन्ति स्म । ४. पूजयामासुः । ५. विहितपूजाः । ६. निर्वर्तयन्ति स्म । ७. कल्पवृक्ष । ८. सरोवरायिताः । ९. स्नानकारो । १०. स्नानपीठः अ०, स०, ल० । स्नानपीठं द० । ११. स्नानकटाहः । १२. निर्वर्तितः । १३. आत्मीयाम् । १४. प्रभूता । १५. विचरन्ति स्म । १६. मेघकुमाराः । १७. मेरुसम्बन्धिनीपु ।

सपदि विधुतकल्पानोर्कहर्ष्योभगवता-

शिशिरतरतरङ्गोत्क्षेपदक्षैर्महतिः ।

तटवतमनुपुष्पाव्याहरतिः समन्तात्

^१परगतिमिव कर्तुं बभूवे शैलमर्तुः ॥२१०॥

अनुचितमज्ञिवानां^२ स्थातुमद्य त्रिलोक्यां

जनयति शिषमस्मिन्नुत्सवे विश्वमर्तुः ।

इति किल शिषमुष्णैर्बोधयन् दुन्दुमीनां

सुरकरनिहतानां सुश्रुवे मन्दभादः ॥२११॥

सुरकुञ्जकुसुमानां वृष्टिरापसदुष्णै-

रमरकरविकीर्णा विश्वगाकृष्टभृङ्गा ।

जिनजगन् सपर्यालोकनार्थं समन्ता-

जयन्ततिवित्राभिर्माविता स्वर्गलक्ष्म्या ॥२१२॥

शार्दूलविश्रीडितम्

इत्थं यस्य सुरासुरैः प्रमुदितैर्जन्माभिषेकोत्सव-

ध्वजे शक्रपुरस्सरैः सुरगिरो क्षीराणवत्पान्मुनिः ।

नृत्यन्तीषु सुराङ्गनासु सल्यं नानाविधैर्लास्यकैः^३

स श्रीमान् वृषभो जगत्प्रवयुर्ज्योत्याजिनः पावनः ॥२१३॥

^४जन्मानन्तरमेव यस्य मिलितैर्देवा सुराणां गणैः

नानाथानविमानपत्तिनिबहव्याकूढरोदोऽङ्गणैः^५ ।

क्षीराब्धेः ससुपाहूतैः क्षुचिजलैः कृत्वाभिषेकं विभोः

मेरोर्भूर्धनि जालकर्म विदधे सोऽव्याजिनो नोऽग्रिमः ॥२१४॥

लगे ॥२०९॥ जो वायु शीघ्र ही कल्पवृक्षोंको हिला रहा था, जो आकाशगंगाकी अत्यन्त शीतल तरङ्गोंके उड़ानेमें समर्थ था और जो किनारेके बनोंसे पुष्पोंका अपहरण कर रहा था ऐसा वायु मेरु पर्वतके चारों ओर घूम रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उसकी प्रदक्षिणा ही कर रहा हो ॥२१०॥ देवोंके हाथोंसे ताड़ित हुए दुन्दुभि बाजोंका गम्भीर शब्द सुनाई दे रहा था और वह मानो जोर-जोरसे यह कहता हुआ कल्याणकी घोषणा ही कर रहा था कि जब त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेवका जन्ममहोत्सव तीनों लोकोंमें अनेक कल्याण उत्पन्न कर रहा है तब यहाँ अकल्याणोंका रहना अनुचित है ॥२११॥ उस समय देवोंके हाथसे बिसरे हुए कल्पवृक्षोंके फूलोंकी वर्षा बहुत ही ऊँचेसे पड़ रही थी, सुगन्धिके कारण वह चारों ओरसे भ्रमरोंको खींच रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्के जन्मकल्याणककी पूजा देखनेके लिए स्वर्गकी लक्ष्मीने चारों ओर अपने नेत्रोंकी पङ्क्ति ही प्रकट की हो ॥२१२॥ इस प्रकार जिस समय अनेक देवांगनाएँ तालसहित नाना प्रकारकी नृत्यकलाके साथ नृत्य कर रही थीं उस समय इन्द्रादि देव और धरणेन्द्रोंने हर्षित होकर मेरु पर्वतपर क्षीरसागरके जलसे जिनके जन्माभिषेकका उत्सव किया था वे परम पवित्र तथा तीनों लोकोंके गुरु श्रीवृषभनाथ जिनेन्द्र सदा जयवन्त हों ॥२१३॥ जन्म होनेके अनन्तर ही नाना प्रकारके वाहन, विमान और पयादे आदिके द्वारा आकाशको रोककर इकट्ठे हुए देव और असुरोंके समूहने मेरु पर्वतके मस्तकपर लाये हुए क्षीरसागरके पवित्र जलसे जिनका अभिषेक कर

१. कम्पित । २. प्रदक्षिणागमनम् । ३. अमङ्गलानाम् । ४. पूजा । ५. नादयकैः । ६. उत्पत्त्यनन्तरम् ।

७. गगनाङ्गणैः । ८. उपानीतैः ९. नोऽग्रिमः प०, म०, ल० ।

सद्यः संहृतमौल्यमुष्णकिरणैराग्नेदितं^१ शीकरैः
 शीतं शीतकरैस्तू^२ वसुधुभिर्बद्धोद्धुपैः^३ क्रीडितम् ।
 तारौघैस्तरलैस्तराग्निरधिकं विण्डीरपिण्डायितं
 यस्मिन् मञ्जनसंविधौ स जयताञ्जैनो जगत्पावनः ॥२१५॥
 म्यानन्दं त्रिदशेश्वरैः सखकितं देवीभिरुत्पुकरैः
 सशर्मं सुरचारणैः^४ प्रणिहितैरासादरं चारणैः ।
 साशङ्कं गगनेचरैः किमिदमिवालोक्तौ यः स्फुरन्
 मेरोर्मूद्भिः स नोऽवताञ्जिनचिभोजन्मोक्षवाग्मः प्लवः ॥२१६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे-
 भगवज्जन्माभिषेकवर्णनं नाम
 त्रयोदशं पत्रं ॥१३॥

१. द्विलिखितम् । २. धृतम् । ३. बद्धकालैः सद्भिः क्रीडितम् । 'उद्धुपं तु प्लवः कोलः' इत्यभि-
 धानात् । ४. अवधानपरैः, ध्यानरक्षैरित्यर्थः ।

जन्मोत्सव किया था वे प्रथम जिनेन्द्र तुम सबकी रक्षा करें ॥२१४॥ जिनके जन्माभिषेकके समय सूर्यने शीघ्र ही अपनी उष्णता छोड़ दी थी, जलके छींटे बार-बार उछल रहे थे, चन्द्रमाने शीतलताको धारण किया था, नक्षत्रोंने बँधी हुई छोटी-छोटी नौकाओंके समान जहाँ-तहाँ क्रीड़ा की थी, और तैरते हुए चंचल ताराओंके समूहने फेनके पिण्डके समान शोभा धारण की थी वे जगत्को पवित्र करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जयशील हों ॥ २१५ ॥ मेरु पर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवान्के जन्माभिषेकका वह जल-प्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे कि इन्द्रोंने बड़े आनन्दसे, देवियोंने आश्चर्यसे, देवोंके हाथियोंने सूँढ़ ऊँची उठाकर बड़े भयसे, चारण ऋद्धिचारी मुनियोंने एकाग्रचित्त होकर बड़े आदरसे और विद्याधरोंने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुए देखा था ॥ २१६ ॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यविरचित त्रिषष्टि-
 लक्षणमहापुराणसंग्रहमें भगवान्के जन्माभिषेकका वर्णन
 करनेवाला तेरहवाँ पत्र समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दश पर्व

अधामिषेकनिर्जृम्भितौ^१ शची देवी जगद्गुरोः । प्रसाधनविधौ यत्नमकरोत् कृतकौतुका^२ ॥१॥
तस्याभिषिक्तमात्रस्य दधतः पावनीं तनुम् । सुकलगतान्भसार्जाम्भःकणान् स्वच्छामलांशुकैः^३ ॥२॥
^४स्वासत्तापाग्नसंक्रान्तसितच्छायं विभोर्मुण्डम् । प्रसृष्टमपि सामार्जोद्भूयो जलकयास्थथा^५ ॥३॥
गन्धैः सुगन्धिभिः सान्द्रैरिन्द्राणी गात्रमीशितुः । अन्वलिम्पत लिम्पन्निरिषामोदैस्त्रिविष्टपम् ॥४॥
गन्धैतामोदिता मर्तुः शरीरसहजन्मना । गन्धास्ते न्यक्कृता^६ एव सौगन्ध्येनापि^७ संधिताः ॥५॥
तिलकं च ललाटेऽस्य शची चक्रे किलावरात् । जगतां तिलकस्तेन किमलंक्रियते विभुः ॥६॥
मन्दारमालयोत्तमैर्मिन्द्राणी विवधे विभोः । तथालंकृतमूर्ध्नासौ कीर्त्यैव स्वरुचद्भृशम् ॥७॥
जगच्चूडामणेरस्य मूर्ध्नि चूडामणिं न्यधात् । सतां मूर्ध्नाभिषिक्तस्य^८ पौलोमी भक्तिनिर्भरा^९ ॥८॥
^{१०}अनञ्जितामिते मर्तुर्लोचने सान्द्रपद्मणी । पुनरननसंस्कारमाचार इति लम्बिते^{११} ॥९॥
कर्णावविहसस्त्रिद्वौ कुण्डलाभ्यां विरेजतुः । कान्तिदीप्ती मुखे द्रष्टुमिन्द्रकाभ्यामियाश्रितौ ॥१०॥
हारिणा मणिहारेण कण्ठशोभा महस्यभूत् । मुक्तिश्रीकण्ठिकादाम^{१२} चारुणा त्रिजगत्पतेः ॥११॥

अथानन्तर, जब अधामिषेकको विधि समाप्त हो चुका तब इन्द्राणी देवीने हर्षके साथ

जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको अलंकार पहनानेका प्रयत्न किया ॥ १ ॥ जिनका अधामिषेक किया जा चुका है ऐसे पवित्र शरीर धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवके शरीरमें लगे हुए जलकणोंको इन्द्राणीने स्वच्छ एवं निर्मल वस्त्रसे पोंछा ॥२॥ भगवान्के मुखपर, अपने निकटवर्ती कटाक्षोंकी जो सफेद छाया पड़ रही थी उसे इन्द्राणी जलकण समझती थी । अतः पोंछे हुए मुखको भी वह बार-बार पोंछ रही थी ॥ ३ ॥ अपनी सुगन्धिसे स्वर्ग अथवा तीनों लोकोंको लिम्प करनेवाले अतिशय सुगन्धित गाढ़े सुगन्ध द्रव्योंसे उसने भगवान्के शरीरपर विलेपन किया था ॥ ४ ॥ यद्यपि वे सुगन्ध द्रव्य उत्कृष्ट सुगन्धिसे सहित थे तथापि भगवान्के शरीरकी स्वाभाविक तथा दूर-दूर तक फैलनेवाली सुगन्धने उन्हें तिरस्कृत कर दिया था ॥५॥ इन्द्राणीने षडे आदरसे भगवान्के ललाटपर तिलक लगाया परन्तु जगत्के तिलक-स्वरूप भगवान् क्या उस तिलकसे शोभायमान हुए थे ? ॥६॥ इन्द्राणीने भगवान्के मस्तकपर कल्पवृक्षके पुष्पोंकी मालासे बना हुआ मुकुट धारण किया था । उक्त मालाओंसे अलंकृतमस्तक होकर भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्तिसे ही अलंकृत किये गये हों ॥७॥ यद्यपि भगवान् स्वयं जगत्के चूडामणि थे और सज्जनोंमें सबसे मुख्य थे तथापि इन्द्राणीने भक्तिसे निर्भर होकर उनके मस्तक पर चूडामणि रख रखा था ॥८॥ यद्यपि भगवान्के सधन बरौनीवाले दोनों नेत्र अंजन लगाये बिना ही श्यामवर्ण थे तथापि इन्द्राणीने नित्योग मात्र समझकर उनके नेत्रोंमें अंजनका संस्कार किया था ॥९॥ भगवान्के दोनों कान बिना वेधन किये ही छिद्रसहित थे, इन्द्राणीने उनमें मणिमय कुण्डल पहनाये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान्के मुखकी कान्ति और दीप्तिको देखनेके लिए सूर्य और चन्द्रमा ही उनके पास पहुँचे हों ॥१०॥ मोक्ष-लक्ष्मीके गलेके हारके समान अतिशय सुन्दर और मनोहर मणियोंके हारसे त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेवके

१. सम्पूर्ण सति । २. अलंकारविधाने । ३. विहितसन्तोषा । ४. श्लक्ष्णनिर्मलाम्बरे । ५. निजनिर्कट-कटाक्षसंक्रमण । ६. साम्राशीत् ५० । ७० पुस्तके द्विविधः । ७. अम्बुबिन्दुबुद्ध्या । ८. अधःकृता । न्यत्कृता अ०, द०, म०, ल० । ९. समानगन्धत्वेन । १०. शीखरम् । ११. ओष्ठस्य । १२. भक्त्यतिशया । १३. वाक्जनस्रक्षमन्तरेण कृष्णं । १४. प्रापिते । इति रञ्जिते स० । १५. कण्ठमाला ।

याहोयुगं च केयूरकटकाङ्गवभूषितम् । तस्य कल्पाङ्गप्रत्येव विटपद्ममावसी ॥१२॥
 रेजे मणिमयं दामं किङ्किणीमिविराजितम् । कटीतटेऽस्य कल्पाङ्गमारोहश्रियमुद्वहत् ॥१३॥
 पादौ गोमुखनिर्मासैर्मणिभिस्तस्य रेजयुः । वाचालितौ सरस्वत्या कृतसेवाविवादरत्न ॥१४॥
 लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोद्भूतो धाम्नां राशिरिवोच्छ्रितः । भार्यानामिव संपातस्तदामाद् भूषितो विभुः ॥१५॥
 सौन्दर्यस्येव सन्दोहः सौभाग्यस्येव संनिधिः । गुणानामिव संवासः सालङ्कारो विभुर्बभौ ॥१६॥
 निसर्गवृचिरं मर्त्यैर्वपुर्भोजं सभूषणम् । सालङ्कारं कवेः काव्यमिव सुस्मिष्टवन्धनम् ॥१७॥
 प्रत्यङ्गमिति विन्यस्तैः पौलोम्या मन्त्रिभूषणैः । स रेजे कल्पशास्त्री च शालोष्ठासिचिभूषणः ॥१८॥
 इति प्रसाध्य^१ तं देवमिन्द्रोऽसंगतं शची । स्वयं विस्मयमायासीत् पश्यन्ती रूपसंपदम् ॥१९॥
 संक्रन्दनोऽपि तत्र पयोभां द्रष्टुं तदात्तनीम्^२ । सहस्राक्षोऽभवन्मूर्तं स्पृहयात्पुनस्तुतिः^३ ॥२०॥
 तदा निमेषविमुक्तै^४ लोचनैस्तं सुरासुराः । वदन्तिरिराजस्य शिखामणिमिव क्षणम् ॥२१॥
 ततस्तं स्तोतुमिन्द्राद्याः^५ प्राक्रमन्त सुरोत्तमाः । वत्स्यन्त तीर्थकरस्वस्य प्रामवं तद्वि पुष्कलम्^६ ॥२२॥

कण्ठकी शोभा बहुत भारी हो गयी थी ॥१२॥ बाजूबन्द, कड़ा, अनन्त (अणत) आदिसे शोभा-
 यमान उनकी दोनों भुजाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कल्पवृक्षकी दो शाखाएँ ही हों ॥१३॥
 भगवान् के कटिप्रदेशमें छोटी-छोटी घण्टियों (बोरों) से सुशोभित मणिसयी करधनी ऐसी
 शोभायमान हो रही थी मानो कल्पवृक्षके अंकुर ही हों ॥१४॥ गोमुखके आकारके चमकीले
 मणियोंसे शब्दायमान उनके दोनों चरण ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सरस्वती देवी ही
 आदरसहित उनकी सेवा कर रही हो ॥१५॥ उस समय अनेक आभूषणोंसे शोभायमान
 भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीका पुंज ही प्रकट हुआ हो, ऊँची शिखावाली रत्नोंकी
 राशि ही हो अथवा भोग्य वस्तुओंका समूह ही हो ॥१६॥ अथवा अलङ्कारसहित भगवान्
 ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सौन्दर्यका समूह ही हो, सौभाग्यका खजाना ही हो अथवा
 गुणोंका निवासस्थान ही हो ॥१७॥ स्वभावसे सुन्दर तथा संगठित भगवान् का शरीर
 अलङ्कारोंसे युक्त होनेपर ऐसा शोभायमान होने लगा था मानो उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों-
 से युक्त तथा सुन्दर रचनासे सहित किसी कविका काव्य ही हो ॥१८॥ इस प्रकार इन्द्राणीके
 द्वारा प्रत्येक अंगमें धारण किये हुए मणिमय आभूषणोंसे वे भगवान् उस कल्पवृक्षके समान
 शोभायमान हो रहे थे जिसकी प्रत्येक शाखापर आभूषण सुशोभित हो रहे हैं ॥१९॥ इस तरह
 इन्द्राणीने इन्द्रकी गोदीमें बैठे हुए भगवान् को अनेक वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत कर जब उनकी
 रूप-सम्पदा देखी तब वह स्वयं भारी आश्चर्यको प्राप्त हुई ॥२०॥ इन्द्रने भी भगवान् के उस
 समयकी रूपसम्बन्धी शोभा देखनी चाही, परन्तु दो नेत्रोंसे देखकर सन्तुष्ट नहीं हुआ इसीलिए
 मालूम होता है कि वह वृषक्षसे सहस्राक्ष (हजारों नेत्रोंवाला) हो गया था—उसने विक्रिया
 शक्तिसे हजार नेत्र बनाकर भगवान् का रूप देखा था ॥२०॥ उस समय देव और असुरोंने
 अपने टिमकाररहित नेत्रोंसे क्षण-भरके लिए मेरु पर्वतके शिखामणिके समान सुशोभित होने-
 वाले भगवान् को देखा ॥२१॥ तदनन्तर इन्द्र आदि श्रेष्ठ देव उनकी स्तुति करनेके लिए तत्पर
 हुए सो ठीक ही है तीर्थकर होनेवाले पुरुषका ऐसा ही अधिक प्रभाव होता है ॥२२॥

१. काञ्चीदाम । २. क्षुद्रघण्टिकाभिः । ३. कल्पाङ्ग—म०, ल० । ४. गोमुखवद्भासमानः । ५. घर्घरे ।
 ६. भोग्यानामिव म०, ल० । ७. पुञ्जः । ८. आश्रयः । ९. —भोजे प०, अ०, म०, ल० । १०. अलङ्कृतम् ।
 ११. तत्कालभवाम् । १२. —रत्नपङ्कः म०, ल० । १३. अनिमेषैः । १४. उपक्रमं चक्रिरे । १५. प्रभूतम् ।

त्वं देव परमानन्दमस्माकं कर्तुमुद्यतः^१ । किञ्च प्रबोधमाप्नोति निजार्त्तं^२ कृतकमकरः^३ ॥२३॥
 मिथ्याज्ञानान्धकूपेऽस्मिन् निपतन्तमिदं जन्म^४ । त्वमुद्यत्सुमना धर्महस्तालम्बं प्रदास्यसि ॥२४॥
 तव वाक्किरणैर्नूनमस्मच्छेतोगतं तमः^५ । पुरा प्रकीर्षते देव तमो मास्वत्करैरिव ॥२५॥
 त्वमादिदेवदेवानां त्वमादिर्जगतां गुरुः^६ । त्वमादिर्जगतां लब्ध्वा त्वमादिर्धर्मनायकः ॥२६॥
 त्वमेव जगतां मर्ता त्वमेव जगतां पिता^७ । त्वमेव जगतां प्रातां^८ त्वमेव जगतां गतिः^९ ॥२७॥
 त्वं पूतात्मा जगद्विश्वं पुनासि परमैर्गुणैः^{१०} । स्वयं धौतो^{११} यथा लोकं धवलीकुरुते शशी ॥२८॥
 त्वत्तः कल्याणमाप्स्यन्ति संसारामयलङ्घिताः^{१२} । उत्कृष्टाधिता^{१३} भवद्वाक्यमेवजैरमृतोपमैः ॥२९॥
 त्वं पूतस्त्वं पुनानोऽसि परं ज्योतिस्त्वमक्षरम्^{१४} । निर्मूय^{१५} निखिलं क्लेशं यत्प्राप्तासि^{१६} परं पदम् ॥३०॥
 कूटस्थोऽपि न कूटस्थस्त्वमद्य प्रतिमासि नः^{१७} । त्वद्यमेव^{१८} स्मृतिमेवमिति यद्वमी योगजा^{१९} गुण्याः ॥३१॥
 भस्नातपतगात्रोऽपि स्नपितोऽस्यद्य मन्दरे^{२०} । पवित्रयितुमेवैतज् जगदेनोमलीमसम् ॥३२॥
 युग्मजन्मभिषेकेण वयमेव न केवलम्^{२१} । नीताः पवित्रतां मेरुः क्षीराब्धिस्तज्जलान्यपि^{२२} ॥३३॥

हे देव, हम लोगोंको परम आनन्द देनेके लिए ही आप उदित हुए हैं । क्या सूर्यके उदित हुए बिना कभी कमलोंका समूह प्रबोधको प्राप्त होता है ? ॥२३॥ हे देव, मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकूपमें पड़े हुए इन संसारी जीवोंके उद्धार करनेकी इच्छासे आप धर्मरूपी हाथका सहारा देनेवाले हैं ॥२४॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके द्वारा उदय होनेसे पहले ही अन्धकार नष्टप्राय कर दिया जाता है उसी प्रकार आपके वचनरूपी किरणोंके द्वारा भी हम लोगोंके हृदयका अन्धकार नष्ट कर दिया गया है ॥२५॥ हे देव, आप देवोंके आदि देव हैं, तीनों जगत्के आदि गुरु हैं, जगत्के आदि विधाता हैं और धर्मके आदि नायक हैं ॥२६॥ हे देव, आप ही जगत्के स्वामी हैं, आप ही जगत्के पिता हैं, आप ही जगत्के रक्षक हैं, और आप ही जगत्के नायक हैं ॥२७॥ हे देव, जिस प्रकार स्वयं धवल रहनेवाला चन्द्रमा अपनी चाँदनीसे समस्त लोकको धवल कर देता है उसी प्रकार स्वयं पवित्र रहनेवाले आप अपने उत्कृष्ट गुणोंसे सारे संसारको पवित्र कर देते हैं ॥२८॥ हे नाथ, संसाररूपी रोगसे दुःखी हुए ये प्राणी अमृतके समान आपके वचनरूपी ओषधिके द्वारा नीरोग होकर आपसे परम कल्याणको प्राप्त होंगे ॥२९॥ हे भगवन्, आप सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट कर इस तीर्थकररूप परम पदको प्राप्त हुए हैं अतएव आप ही पवित्र हैं, आप ही दूसरोंको पवित्र करनेवाले हैं और आप ही अविनाशी उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं ॥ ३० ॥ हे नाथ, यद्यपि आप कूटस्थ हैं—नित्य हैं तथापि आज हम लोगोंको कूटस्थ नहीं मालूम होते क्योंकि ध्यानसे होनेवाले समस्त गुण आपमें ही वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं । भावार्थ—जो कूटस्थ (नित्य) होता है उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् न उनमें कोई गुण घटता है और न बढ़ता है, परन्तु हम देखते हैं कि आपमें ध्यान आदि योगाभ्याससे होनेवाले अनेक गुण प्रति समय बढ़ते रहते हैं, इस अपेक्षासे आप हमें कूटस्थ नहीं मालूम होते ॥३१॥ हे देव, यद्यपि आप बिना स्नान किये ही पवित्र हैं तथापि मेरु पर्वतपर जो आपका अभिषेक किया गया है वह पापोंसे मलिन हुए इस जगत्को पवित्र करनेके लिए ही किया गया है ॥३२॥ हे देव, आपके जन्माभिषेकसे केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुए हैं किन्तु यह मेरु पर्वत, क्षीरसमुद्र तथा उन दोनोंके वन (उपवन और

१. पश्यात्काले । २. रक्षकः । ३. आधारः । ४. पवित्रं करोति । ५. धवलः । ६. रोगाक्रान्ताः । ७. व्याधिनिर्मुक्ताः । ८. पवित्रं कुर्वाणः । ९. अनन्तरम् । १०. गमिष्यसि । 'लुट्' । ११. एकरूपतया कालव्यापी कूटस्थः, नित्य इत्यर्थः । १२. वृद्धिम् । स्कीति—अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । १३. योगतः द० । ध्यानतः । १४. तद्वनान्यपि अ०, प०, स०, द०, ल० । १५. पुस्तके द्विविधः पाठः ।

द्विमुखेवृक्षसन्ति स्म युष्मत्सनामाभ्युशीकराः । जगदानन्दिनः सान्द्रा यशसाभिव राशयः ॥३४॥
 अघिलितसुगन्धिस्रवमविभूषितसुन्दरः । भक्तैरभ्यर्चितोऽस्मामिभूषणैः सानुलेपनैः ॥३५॥
 लोकाधिकं दधद्भाम प्रादुरासीत्स्वमात्मनः^१ । मेरोर्गर्भादिषु^२ इमायास्तव देव समुद्रवः^३ ॥३६॥
 सद्योजातधृतिं विभक्तु स्वर्गावतरणेऽच्युतः । स्वमद्य वामतां^४ अक्षे कामनीयकमुद्रहन् ॥३७॥
 यथा शुद्धाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । दीप्यतेऽधिकमेव त्वं जातकर्माभिसंस्कृतः ॥३८॥
 आरामं^५ तस्य^६ पश्यन्ति न तं पश्यन्ति केचन । इत्यसद्^७ यत्परं ज्योतिः प्रत्यक्षोऽसि स्वमद्य नः ॥३९॥
 स्वामामनन्ति योगीन्द्राः पुराणपुरुषं पुरुम् । कविं पुराणमित्रादि पठन्तः स्तवविस्तरम् ॥४०॥
 पूतात्मने नमस्तुभ्यं नमः कथातुणाय ते । नमो भीतिभिर्दे^८ तुभ्यं गुणानामेकभूतये^९ ॥४१॥
^{१३} क्षमागुणप्रधानाय नमस्ते^{१४} क्षितिमूर्तये । जगदाङ्गादिने तुभ्यं नमोऽस्तु सलिलात्मने ॥४२॥

जल) भी पवित्रताको प्राप्त हो गये हैं ॥३३॥ हे देव, आपके अभिषेकके जलकण सब विशाओंमें ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो संसारको आनन्द देनेवाला और घनीभूत आपके यशका समूह ही हो ॥३४॥ हे देव, यद्यपि आप बिना लेप लगाये ही सुगन्धित हैं और बिना आभूषण पहने ही सुन्दर हैं तथापि हम भक्तोंने भक्तिवश ही सुगन्धित द्रव्योंके लेप और आभूषणोंसे आपकी पूजा की है ॥३५॥ हे भगवन्, आप तेजस्वी हैं और संसारमें सबसे अधिक तेज धारण करते हुए प्रकट हुए हैं इसलिए ऐसे मालूम होते हैं मानो मेरु पर्वतके गर्भसे संसारका एक शिखामणि—सूर्य ही उदय हुआ हो ॥३६॥ हे देव, स्वर्गावतरणके समय आप 'सद्योजात' नामको धारण कर रहे थे, 'अच्युत' (सविनाशी) आप हैं ही और आज सुन्दरताको धारण करते हुए 'वामदेव' इस नामको भी धारण कर रहे हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं ॥३७॥ जिस प्रकार शुद्ध स्वानिसे निकला हुआ मणि संस्कारके योगसे अतिशय वेदीप्यमान हो जाता है उसी प्रकार आप भी जन्माभिषेकरूपी जातकर्मसंस्कारके योगसे अतिशय वेदीप्यमान हो रहे हैं ॥३८॥ हे नाथ, यह जो ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि 'सब लोग परं ब्रह्मकी शरीर आदि पर्यायें ही देख सकते हैं उसे साक्षात् कबुई नहीं देख सकते' वह सब झूठ है क्योंकि परं ज्योतिःस्वरूप आप आज हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥३९॥ हे देव, विस्तरसे आपकी स्तुति करनेवाले योगिराज आपको पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि मानते हैं ॥४०॥ हे भगवन्, आपकी आत्मा अत्यन्त पवित्र है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपके गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्ममरणका भय नष्ट करनेवाले हैं और गुणोंके एकमात्र उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४१॥ हे नाथ, आप क्षमा (पृथ्वी) के समान क्षमा (शान्ति) गुणको ही प्रधान रूपसे धारण करते हैं इसलिए क्षमा अर्थात् पृथिवीरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, आप जलके समान जगत्को आनन्दित करनेवाले हैं इसलिए जलरूपको

१. भाक्तिकः । २. स्वयंभूः । ३. मेरोर्गर्भादिर्बोद्भूतो भुवनैकशिखामणिः अ०, प०, ३०, स०, ल० । म० पुस्तके द्विविधः पाठः । ४. उत्पत्तिः । ५. पक्षे वक्रताम् । ६. शरीरादिपर्यायम् । ७. परब्रह्मणः । ८. परब्रह्मणम् । ९. मृदा । १०. यस्मात् कारणात् । ११. विमाशकाय । १२. सूतये म०, द०, स०, ट० । म० पुस्तके 'भूतये' इत्यपि पाठः । सूतये उत्पत्त्यै । १३. क्षान्तिगुणमूल्याय । हेतुगन्धितमेतद्विशेषणम् । १४. पृथिवीमूर्तये । अयमभिप्रायः— यथा क्षित्यां क्षमागुणो विद्यते तथैव तस्मिन्नपि क्षमागुणं विलोक्य गुणसाम्यात् क्षितिमूर्तिरित्युक्तम् । एवमष्टमतिष्ठति यथायोग्यं योज्यम् ।

निसंगवृत्तये^१ तुभ्यं विभते पावनीं^२ तनुम् । नमस्तस्मिन्^३ ह्यर्णमहामोहमहीरुहं ॥४३॥

कर्मन्धनदहे^४ तुभ्यं नमः पावकमूर्त्तये । विशङ्खजटिकाङ्गाय समिद्धध्यानतेजसे ॥४४॥

अरजोऽमलसङ्गाय नमस्ते गगनात्मने । विभवेऽनाद्यनन्ताय महत्प्रवाचधमे^५ परम् ॥४५॥

सुयज्वने नमस्तुभ्यं सर्वकृतुमयामने^६ । निर्वाणदायिने तुभ्यं नमः शीतांशुमूर्त्तये ॥४६॥

नमस्तेऽनन्तबोधार्काद्विनिर्भक्तशक्तये^७ । तीर्थकृद्भाविने^८ तुभ्यं नमः स्तादृष्टमूर्त्तये^९ ॥४७॥

महाबल^{१०} नमस्तुभ्यं ललिताङ्गाय^{११} ते नमः । श्रीमते वज्रजङ्घाय^{१२} धर्मतीर्थप्रवर्त्तिने ॥४८॥

धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥४३॥ आप कालुष्य^१ उन्नात^२ धर्मिण्डरहित^३ हैं, केवलशाली^४ हैं और मोहरूपी महावृक्षको उखाड़नेवाले हैं इसलिए वायुरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४३॥ आप कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले हैं, आपका शरीर कुछ लालिमा लिये हुए पीतवर्ण तथा पुष्ट है, और आपका ध्यानरूपी तेज सदा प्रदीप्त रहता है इसलिए अग्निरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४४॥ आप आकाशको तरह पापरूपी धूलिकी संगतिसे रहित हैं, विभु हैं, व्यापक हैं, अनादि अनन्त हैं, निर्विकार हैं, सबके रक्षक हैं इसलिए आकाशरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४५॥ आप याजकके समान ध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी साकल्यका होम करनेवाले हैं इसलिए याजकरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, आप चन्द्रमाके समान निर्वाण (मोक्ष अथवा आनन्द) देनेवाले हैं इसलिए चन्द्ररूपको धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥४६॥ और आप अनन्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यसे सर्वथा अभिन्न रहते हैं इसलिए सूर्यरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो । हे नाथ, इस प्रकार आप पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, याजक, चन्द्र और सूर्य इन आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाले हैं तथा तीर्थकर होनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । भाषार्थ—अन्यमतावलम्बियोंने महादेवकी पृथ्वी, जल आदि आठ मूर्तियाँ मानी हैं, यहाँ आचार्यने ऊपर लिखे वर्णनसे भगवान् वृषभदेवको ही उन आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाला महादेव मानकर उनकी स्तुति की है ॥४७॥ हे नाथ, आप महाबल अर्थात् अतुल्य बलके धारक हैं अथवा इस भवसे पूर्व दसवें भवमें महाबल विद्याधर थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप ललितांग हैं अर्थात् सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले अथवा नौवें भवमें ऐशान स्वर्गके ललितांग देव थे, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप धर्मरूपी तीर्थको प्रवर्त्तानेवाले ऐश्वर्यशाली और वज्रजंघ हैं अर्थात् वज्रके समान मजबूत जंघाओंको धारण करनेवाले हैं अथवा आठवें भवमें 'वज्रजंघ' नामके राजा थे ऐसे आपको नमस्कार

१. निःपरिग्रहाय । २. पवित्राय । ३. पक्षे पवनसंबन्धिनीम् । ४. वेगिने वायवे वा । यथा वायुः वेगयुक्तः सन् वृक्षभङ्गं करोति तथाऽयमपि ध्यानगुणेन वेगयुक्तः सन् मोहमहीरुभङ्गं करोति । ५. भगवन्महा-अ०, प०, स०, द०, ल० । ह्यर्णो भग्नो महामोहमहीरुहं वृक्षो येन स तस्मै तेन वायुमूर्तिरित्युक्तं भवति । ६. कर्मन्धनानि दहतीति कर्मन्धनघक् तस्मै । ७. कपिलवर्ण । ८. पावरजीमलसंगरहिताय । ९. प्रभवे, पक्षे ध्यायिने । १०. निर्विकाराय तायिने अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ११. पूजकाय, आत्मने इत्यर्थः । १२. सकलपूजा-स्वकपस्वभावाय । १३. नित्यसुखदायिने, पक्षे आह्लाददायिने । १४. अपृथक्कृता । १५. भाषितीर्थकराय । १६. भित्तिमूर्त्योश्चाष्टमूर्त्ये । १७. भो अनन्ततीर्थ, पक्षे महाबल इति विद्याधरराज । १८. मनोहरावयवाय, पक्षे ललिताङ्गनाम्ने । १९. वज्रवत् स्थिरे जङ्घे यस्यासौ तस्मै, पक्षे तन्नाम्ने ।

‘नमः स्तावायं’ ते सुविधिते श्रीधरं ते नमः । नमः सुविधये तुभ्यमच्युतेन्द्र नमोऽस्तु ते ॥४५॥
 वज्रस्तम्भस्थिराङ्गाय नमस्ते वज्रनाभयं । सर्वार्थसिद्धिनाथाय सर्वार्थो सिद्धिर्मायुषे ॥४६॥
 दशावतारचरमपरमौदारिकस्त्रिषे । सूनवे नाभिराजस्य नमोऽस्तु परमंहिमे ॥४७॥
 भवन्तमिदमभिष्टुत्य नान्यदाशास्महे वयम् । भक्तिस्त्वयैव नो भूयावलमर्भ्यमितेः फलेः ॥४८॥
 इति स्तुत्वा सुरेन्द्रास्तं परमानन्दमिर्मराः^१ । अयोध्यागमने भूयो मत्ति चक्रः कुतोरस्रवाः ॥४९॥
 तथैव^२ ग्रहता भेर्यस्तथैवाघोषितो जयः । तथैवैरावतेभेन्द्रस्कन्धारुदं व्यधुर्जिनम् ॥५०॥
 महाकनककैरीर्तिनृत्तैः सजयघोषणैः । गगनाङ्गभुषणैश्च द्वागाराभ्युत्थं उरुज ॥५१॥

हो ॥४८॥ आप आर्य अर्थात् पूज्य हैं अथवा सातवें भवमें भोगभूमिज आर्य थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप दिव्य श्रीधर अर्थात् उत्तम शोभाको धारण करनेवाले हैं अथवा छठे भवमें श्रीधर नामके देव थे ऐसे आपके लिए नमस्कार हो, आप सुविधि अर्थात् उत्तम भाग्यशाली हैं अथवा पाँचवें भवमें सुविधि नामके राजा थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अच्युतेन्द्र अर्थात् अविनाशी स्वामी हैं अथवा चौथे भवमें अच्युत स्वर्गके इन्द्र थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४९॥ आपका शरीर वज्रके खम्भेके समान स्थिर है और आप वज्रनाभि अर्थात् वज्रके समान मजबूत नाभिको धारण करनेवाले हैं अथवा तीसरे भवमें वज्रनाभि नामके चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो । आप सर्वार्थसिद्धिके नाथ अर्थात् सब पदार्थोंकी सिद्धिके स्वामी तथा सर्वार्थसिद्धि अर्थात् सब प्रयोजनोंकी सिद्धिको प्राप्त हैं अथवा दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धि विमानको प्राप्त कर उसके स्वामी थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥५०॥ हे नाथ ! आप दशावतारचरम अर्थात् सांसारिक पर्यायोंमें अन्तिम अथवा ऊपर कहे हुए महा-
 बल आदि दश अवतारोंमें अन्तिम परमौदारिक शरीरको धारण करनेवाले नाभिराजके पुत्र वृषभदेव परमेष्ठी हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । भावार्थ—इस प्रकार श्लेषालंकारका आश्रय लेकर आचार्यने भगवान् वृषभदेवके दस अवतारोंका वर्णन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि अन्यमतावलम्बी श्रीकृष्ण विष्णुके दस अवतार मानते हैं । यहाँ आचार्यने दस अवतार बतलाकर भगवान् वृषभदेवको ही श्रीकृष्ण-विष्णु सिद्ध किया है ॥५१॥ हे देव, इस प्रकार आपकी स्तुति कर हम लोग इसी फलकी आशा करते हैं कि हम लोगोंकी भक्ति आपमें ही रहे । हमें अन्य परिमित फलोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥५२॥ इस प्रकार परम आनन्दसे भरे हुए इन्द्रोंने भगवान् वृषभदेवकी स्तुति कर उत्सवके साथ अयोध्या चलनेका फिर विचार किया ॥५३॥ अयोध्यासे मेरु पर्वत तक जाते समय मार्गमें जैसा उत्सव हुआ था उसी प्रकार फिर होने लगा । उसी प्रकार दुन्दुभि वजने लगे, उसी प्रकार जय-जय शब्दका उच्चारण होने लगा और उसी प्रकार इन्द्रने जिनेन्द्र भगवान्को ऐरावत हाथीके कन्वेपर विराजमान किया ॥५४॥ वे देव बड़ा भारी कोलाहल, गीत, नृत्य और जय-जय शब्दकी घोषणा करते हुए आकाशरूपी आँगनको उलँव कर शीघ्र ही अयोध्यापुरी आ पहुँचे ॥५५॥

१. नमोऽस्तु तुभ्यमायाय दिव्यश्रीधर ते नमः अ०, प०, द०, स०, ल० । म० पुस्तके द्विविधः पाठः ।
 २. पूज्य, पक्षे भोगभूमिजन । ३. दर्शनशुद्धिप्राप्तय । ४. संपन्न, पक्षे श्रीधरनामदेव । ५. शोभनदेवाय ।
 शोभनभोग्यायेत्यर्थः । ‘विधिविधाने दैवेऽपि’ इत्यभिधानात्, पक्षे सुविधिनामनृपाय । ६. अविनष्टरश्रेष्ठ-
 स्वर्य, पक्षे अच्युतकल्पामरेन्द्र । ७. वज्रस्तम्भस्थिराङ्गत्वाद् वज्रनाभिर्यस्यासौ वज्रनाभिस्तस्मै । पक्षे
 वज्रनाभिचक्रिणे । ८. महाबलादिदशावतारैर्व्यत्यपरमौदारिकदेहमरोचये । ९. फलमाशास्महे वयम् अ०, प०,
 स०, द०, ल० । म० पुस्तके द्विविधः पाठः । १०. याचामहे । ११. अस्माकम् । १२. परमानन्दातिशयाः ।
 १३. अयोध्यापुराग्नित्व मेरुस्थानसमये यथा दाशवाचनादयो जातास्तथैव ते सर्वे इदानीमपि जाताः ।

१ वाचकाद् गगनोल्लङ्घिशिखरैः पृथुगोपुरैः । स्वर्गमाङ्गयमानेषु पवनोच्छ्रितकेतनैः ॥५६॥
 यस्यां मणिमयी भूमिस्तारकाप्रतिविम्बितैः २ । दधे कुमुदतीक्ष्णमोमक्षूणो ३ क्षणदामुखे ४ ॥५७॥
 या पताकाकर्तुरसुरिक्षिप्तैः पवनाहतैः ५ । आङ्गुहपुत्रिषु स्वर्गवासिनोऽभूत् कुतूहलात् ॥५८॥
 यस्यां मणिमयैर्दृश्यैः कृतदम्पतिसंश्रयैः ६ । आक्षिप्तेव सुराधीशविमानश्रीरसंश्रमम् ७ ॥५९॥
 यत्र सौभाग्यसंलग्नैरिन्दुकान्तशिलातलैः ८ । चन्द्रपादाभिसंस्पर्शात् क्षरद्भिर्जलदायितम् ९ ॥६०॥
 या धत्ते स्म महासौधशिखरैर्मणिमासुरैः १० । सुरचापभियं विधु विततां रत्नमामयीम् ॥६१॥
 सरोजरागमाणिक्य ११ किरणैः कचिदम्बरम् १२ । यत्र संध्याम्बुदल्लज्जमिवालक्ष्यत पाटलम् ॥६२॥
 इन्द्रनीलोपलैः सौधकूटलम्बैर्विलङ्घितम् १३ । स्फुरद्भिर्व्योतिषां स्रक्तं यत्र नालक्ष्यताम्बरे ॥६३॥
 गिरिकूटतटानीष सौधकूटानि क्षारदाः १४ । घना यत्राश्रयन्ति स्म सूक्ततः कस्य नाश्रयः ॥६४॥
 प्राकारवल्लयो यस्याश्चामीकरमयोऽद्युतत् १५ । मानुषोत्तरदीप्तस्य श्रियं रत्नैरिषाहसन् १६ ॥६५॥
 यस्यातिका महामोघेलीला १७ यादोभिहस्तैः १८ । धत्ते स्म क्षुभितालोलकलोलवत्समीषणा ॥६६॥
 जिनप्रसन्नमुखिर्वा १९ या कुक्कुटशरभूमिधत् २० । यत्ते स्म पुरुषानर्घ्यमहारत्नानि कोटिभः ॥६७॥

जिनके शिखर आकाशको उल्लंघन करनेवाले हैं और जिनपर लगी हुई पताकाएँ वायुके वेगसे फहरा रही हैं ऐसे गोपुर-दरवाजोंसे वह अयोध्या नगरी ऐसी शोभायमान होती थी मानो स्वर्गपुरीकी ही बुला रही हो ॥ ५६ ॥ उस अयोध्यापुरीकी मणिमयी भूमि रात्रिके प्रारम्भ समयमें ताराओंका प्रतिविम्ब पड़नेसे ऐसी जान पड़ती थी मानो कुमुदोंसे सहित सरसीकी अखण्ड शोभा ही धारण कर रही हो ॥ ५७ ॥ दूर तक आकाशमें वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे वह अयोध्या ऐसी मालूम होती थी मानो कौतूहलवश ऊँचे उठाये हुए हाथोंसे स्वर्गवासी देवोंको बुलाना चाहती हो ॥ ५८ ॥ जिनमें अनेक सुन्दर स्त्री-पुरुष निवास करते थे ऐसे वहाँके मणिमय महलोंको देखकर निःसन्देह कहना पड़ता था कि मानो उन महलोंने इन्द्रके विमानोंकी शोभा छीन ली थी अथवा तिरस्कृत कर दी थी ॥ ५९ ॥ वहाँपर चूना गचीके बने हुए बड़े-बड़े महलोंके अग्रभागपर सैकड़ों चन्द्रकान्तमणि लगे हुए थे, रातमें चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर उसमें पानी झर रहा था जिससे वे मणि मेघके समान मालूम होते थे ॥ ६० ॥ उस नगरीके बड़े-बड़े राजमहलोंके शिखर अनेक मणियोंसे देदीप्यमान रहते थे, उनसे सब दिशाओंमें रत्नोंका प्रकाश फैलता रहता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह नगरी इन्द्रधनुष ही धारण कर रही हो ॥ ६१ ॥ उस नगरीका आकाश कहीं-कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे कुछ-कुछ लाल हो रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सन्ध्याकालके बादलोंसे आच्छादित ही हो रहा हो ॥ ६२ ॥ वहाँके राजमहलोंके शिखरोंमें लगे हुए देदीप्यमान इन्द्रनील-मणियोंसे छिपा हुआ ज्योतिश्चक्र आकाशमें दिखाई ही नहीं पड़ता था ॥ ६३ ॥ उस नगरीके राजमहलोंके शिखर पर्वतोंके शिखरोंके समान बहुत ही ऊँचे थे और उनपर शरद् ऋतुके मेघ-आश्रय लेते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अतिशय उन्नत (ऊँचा या उदार) होता है वह किसका आश्रय नहीं होता ? ॥ ६४ ॥ उस नगरीका सुवर्णका बना हुआ परकोटा ऐसा अच्छा शोभायमान हो रहा था मानो अपनेमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे सुमेरु पर्वतकी शोभाकी हँसी ही कर रहा हो ॥ ६५ ॥ अयोध्यापुरीकी परिखा उद्धत हुए जलचर जीवोंसे सदा क्षोभको प्राप्त होती रहती थी और चञ्चल लहरों तथा आवतोंसे भयंकर रहती थी इसलिए किसी बड़े भारी समुद्रकी लीला धारण करती थी ॥ ६६ ॥ भगवान् वृषभदेवकी जन्मभूमि होनेसे

१. आभात् । २. स्पन्दमाना । (आकारयन्ती वा) 'ह्वेन् स्पर्धायां शब्दे च' । ३. यस्या ५०, ल० । ४. प्रतिविम्बैः । ५. -मक्षुण्णं ल० । ६. रत्नोमुखे । ७. आङ्गुलिमुच्छ्रितः । ८. तिरस्कृता । ९. निराकुलं यथा गवति तथा । १०. -शिलाजतैः अ०, ५०, द०, म०, म०, ल० । ११. पद्मराग । १२. आक्रान्तम् । १३. -रिवाहसत् ५०, द०, स०, म०, ल० । १४. मकरादिजलजन्तुभिः ।

यस्याश्च बहिरुद्यानैरनेकानोकहाकुलैः । फलच्छा^१यमदैः कल्पतरुच्छाया रम लक्ष्यते ॥६८॥
यस्याः पर्वन्तमावेक्ष्य स्थिता सा सरयू^२र्नदी । कस्यप्युक्त्वा ससुखसारसा हंसमादिनी ॥६९॥
या^३ प्रादुरिदुर्लभ्यामयोध्यां^४ योधसंकुलाम् । विनीताखण्डमध्यस्था^५ या तन्नामिरिवावधौ ॥७०॥
तामारुह्य पुरीं विष्वगनीकानि सुधाशिनाम् । तस्थुर्जगन्ति^६ तच्छोभामायतानीव वीक्षितुम् ॥७१॥
ततः कतिपयैर्दैवैर्देवमादाय देवराट् । प्रविशेन्नृपागारं परार्थ्यश्रीपरम्परम् ॥७२॥
तत्रामरकृतानेकविन्यासे श्रीगृहाङ्गणे । ह्यासने कुमारं तं सौधमन्द्रो न्यवीक्षितम् ॥७३॥
नाभिराजः समुद्रिखपुलकं गात्रमुद्रहन् । प्रीतिविस्फारिताक्षस्तं ददर्श प्रियदर्शनम्^७ ॥७४॥
मायानिद्रामपाकृत्य देवी शक्या प्रबोधिता । देवीभिः सममैक्षित प्रहृष्टा जगतां पतिम् ॥७५॥
तेजःपुञ्जमिवोद्भूतं सापद्यत् स्वसुतं सती ।^८ बालार्कण्येण च [सा] तेन दिगैन्द्रीय विद्रिष्टुते ॥७६॥
शक्या समं च नाकेशं तावद्वाटां जगद्गुरोः । पितरौ नितरां प्रीतौ परिपूर्णमनोरथौ ॥७७॥
ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूजयामास वासवः । विचित्रैर्मूर्ध्निः स्वरिभरंशुकैश्च^९ महार्चकैः^{१०} ॥७८॥
तौ प्रीतः प्रशसंसेति सौधमन्द्रः सुरैः समम् । युवां पुण्यधवी^{११} धन्यौ ययोर्लोकप्रणीः सुतः ॥७९॥

वह नगरी शुद्ध स्वानिकी भूमिके समान थी और उसने करोड़ों पुरुषरूपी अमूल्य महाराज उत्पन्न भी किये थे ॥६७॥ अनेक प्रकारके फल तथा छाया देनेवाले और अनेक प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए वहाँके बाहरी उपवनोंने कल्पवृक्षोंकी शोभा तिरस्कृत कर दी थी ॥६८॥ उसके समीपवर्ती प्रदेशको घेरकर सरयू^२ नदी स्थिर थी जिसके सुन्दर किनारोंपर सारस पक्षी सो रहे थे और हंस मनोहर शब्द कर रहे थे ॥६९॥ वह नगरी अन्य शत्रुओंके द्वारा दुर्लभ्य थी और स्वयं अनेक योद्धाओंसे भरी हुई थी इसीलिए लोग उसे 'अयोध्या' (जिससे कोई युद्ध नहीं कर सके) कहते थे । उसका दूसरा नाम विनीता भी था और वह आर्यखण्डके मध्यमें स्थित थी इसलिए उसकी नाभिके समान शोभायमान हो रही थी ॥७०॥ देवोंकी सेनाएँ उस अयोध्यापुरीको चारों ओरसे घेरकर ठहर गयीं थी जिससे ऐसी सालूम होती थी मानो उसकी शोभा देखनेके लिए तीनों लोक ही आ गये हों ॥७१॥ तत्पश्चात् इन्द्रने भगवान् वृषभदेवको लेकर कुछ देवोंके साथ उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सुशोभित महाराज नाभिराजके घरमें प्रवेश किया ॥७२॥ और वहाँ जहाँपर देवोंने अनेक प्रकारकी सुन्दर रचना की है ऐसे श्रीगृहके आँगनमें बालकरूपधारी भगवान्को सिंहासनपर विराजमान किया ॥७३॥ महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवान्को देखने लगे, उस समय उनका सारा शरीर रोमांचित हो रहा था, नेत्र प्रीतिसे प्रफुल्लित तथा विस्तृत हो रहे थे ॥७४॥ मायामयी निद्रा दूर कर इन्द्राणीके द्वारा प्रबोधको प्राप्त हुई माता मरुदेवी भी हर्षितचित्त होकर देवियोंके साथ-साथ तीनों जगत्के स्वामी भगवान् वृषभदेवको देखने लगी ॥७५॥ वह सती मरुदेवी अपने पुत्रको उदय हुए तेजके पुंजके समान देख रही थी और वह उससे ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसी कि बालसूर्यसे पूर्व दिशा सुशोभित होती है ॥७६॥ जिनके मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके माता-पिता अतिशय प्रसन्न होते हुए इन्द्राणीके साथ-साथ इन्द्रको देखने लगे ॥७७॥ तत्पश्चात् इन्द्रने नाना-प्रकारके आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रोंसे उन जगत्पूज्य माता-पिताकी पूजा की ॥७८॥ फिर वह सौधम स्वर्गका इन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उन दोनोंकी इस प्रकार स्तुति करने लगा

१. शोभा अनातपो वा । २. यामाहु-अ०, स०, म०, । ३. शत्रुदुर्गमाम्; हेतुमभितमिवं विशेषणम् ।
४. भटसंकीर्णम् । ५. आर्यखण्डनाभिः । ६. तदायखण्डनाभिः । ७. जगत्त्रयम् । ८. अनेकरचनाविन्यासे ।
९. ह्यापयामास । १०. प्रीतिकरावलोकनम् । ११. बालार्कण्येण सा तेन प०, द०, स०, म, ल० ।
१२. नरदभूतैश्च अ०, स०, म०, ल० । १३. महामूर्ध्निः । १४. पुण्यधनी व०, अ०, प०, म०, द०, स०, ल० ।

युवामेव महाभागौ युवां कल्याणभागिनौ । युवयोर्न मुला लोके युवामधिगुरोर्गुरु ॥८०॥
 भो नाभिराज सत्यं त्वमुद्याद्विर्महोदयः । देवी प्राच्येव यज्ज्योतिर्गुप्सतः परमुद्वभौ ॥८१॥
 देवधिष्वयमिषागारमिदमाश्रयमद्य वाम् । पूज्यौ युवां च नः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः ॥८२॥
 इत्यभिष्टुत्य तौ देवमर्पयित्वा च तत्करे । शताध्वरः क्षणं तस्थौ कुर्वन्तामेव संकथाम् ॥८३॥
 तौ शक्रेण यथावृत्तमावेदितजिनोत्सवी । प्रमदस्य परां कोटिमारुहौ विस्मयस्य च ॥८४॥
 जातकर्मोत्सवं भूयश्चक्रतुस्तौ शतक्रतोः^१ । लब्धवानुमतिमिदुर्ध्व्यां समं पौरैर्धृतोत्सवैः ॥८५॥
 सा केतुमाकिकाकोर्णा^२ पुरी^३ साकेतसाङ्ख्या । तवासीत् स्वर्गमाह्वातुं^४ सा कृतेवात्तकौतुका ॥८६॥
 पुरी स्वर्गपुरीवासी सभाः पौरा दिवौकसाम् । तदा संघृतनेपथ्याः^५ पुरनार्योऽप्सरःसभाः ॥८७॥
 धूपामोर्ध्वदिशो रुद्धाः^६ पटवासैस्ततः^७ नमः । संगीतमुरज^८ ध्वनिर्विकचकं अधिरीकृतम् ॥८८॥
 पुरवीध्यस्तदाभूवन् रत्नचूर्णैरलंकृताः । मिरुद्भातपसंपाताः^९ प्रचलत्केतनाशुकैः ॥८९॥
 चलत्पताकमावदतोरणाञ्जितगोपुरम् । कृतोपशोभमारुग्रसंगीतरवस्तद्विकम् ॥९०॥

कि आप दोनों पुण्यरूपी धनसे सहित हैं तथा बड़े ही धन्य हैं क्योंकि समस्त लोकमें श्रेष्ठ पुत्र आपके ही हुआ है ॥७९॥ इस संसारमें आप दोनों ही महाभाग्यशाली हैं, आप दोनों ही अनेक कल्याणोंको प्राप्त होनेवाले हैं और लोकमें आप दोनोंकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है, क्योंकि आप जगत्के गुरुके भी गुरु अर्थात् माता-पिता हैं ॥८०॥ हे नाभिराज, सच है कि आप ऐश्वर्यशाली उद्याचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा हैं क्योंकि यह पुत्ररूपी परम ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है ॥८१॥ आज आपका यह घर हम लोगोंके लिए जिनालयके समान पूज्य है और आप जगत्पिताके भी माता-पिता हैं इसलिए हम लोगोंके सदा पूज्य हैं ॥८२॥ इस प्रकार इन्द्रने माता-पिताकी स्तुति कर उनके हाथोंमें भगवान्को सौंप दिया और फिर उन्हींके जन्माभिषेककी उत्तम कथा कहता हुआ वह क्षण-भर वहींपर खड़ा रहा ॥८३॥ इन्द्रके द्वारा जन्माभिषेककी सब कथा मालूम कर माता-पिता दोनों ही हर्ष और आश्चर्यकी अन्तिम सीमापर आरुढ़ हुए ॥८४॥ माता-पिताने इन्द्रकी अनुमति प्राप्त कर अनेक उत्सव करनेवाले पुरवासी लोगोंके साथ-साथ बड़ी विभूतिसे भगवान्का फिर भी जन्मोत्सव किया ॥८५॥ उस समय पताकाओंकी पङ्क्तिसे भरी हुई वह अयोध्यानगरी ऐसी मालूम होती थी मानो कौतुकवश स्वर्गको बुलानेके लिए इशारा ही कर रही हो ॥८६॥ उस समय वह अयोध्या नगरी स्वर्गपुरीके समान मालूम होती थी, नगरवासी लोग देवोंके तुल्य जान पड़ते थे और अनेक वस्त्राभूषण धारण किये हुई नगरनिवासिनी स्त्रियाँ अप्सराओंके समान जान पड़ती थी ॥८७॥ धूपकी सुगन्धिसे सब दिशाएँ भर गयी थी, सुगन्धित चूर्णसे आकाश व्याप्त हो गया था और संगीत तथा मृदंगोंके शब्दसे समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थी ॥८८॥ उस समय नगरको सब गलियाँ रत्नोंके चूर्णसे अलंकृत हो रही थी और हिलती हुई पताकाओंके चञ्चलसे उनमें धूपका आना रुक गया था ॥८९॥ उस समय उस नगरमें सब स्थानोंपर पताकाएँ हिल रही थी (फहरा रही थी) जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह नगर नृत्य ही कर रहा हो। उसके गोपुर-दरवाजे बँधे हुए तोरणोंसे शोभायमान हो रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अपने मुखकी सुन्दरता ही दिखला रहा हो, जगह-जगह वह नगर सजाया गया

१. महाभाग्यवन्तौ । २. जगत्त्रयगुरोः । ३. पितरौ । ४. यस्मात् कारणात् । ५. युवाम्याम् । ६. देवतागृहम् । ७. युवयोः । ८. जन्माभिषेकसंबन्धिनीम् । ९. संकथाम् अ०, म०, ल० । १०. इन्द्रात् । ११. काष्ठी-म०, ल० । १२. आहूयेन सहिता साङ्ख्या साकेतति साङ्ख्या साकेतसाङ्ख्या । १३. स्पष्टा कर्तुम् । १४. साभिप्राया । १५. तवावभूत-प० । तवा संभूत-अ० । १६. अलंकाराः । १७. पटवासचूर्णः । १८. आश्रयदितम् । १९. मुरज-स०, म०, ल० । २०. सम्पर्काः ।

प्रनृत्यद्वित्रि सौमुख्यमिष तदशयन् पुरम् । सनेपथ्यमिषान्दात् प्रजल्यद्वित्रि चामवत् ॥९१॥
 ततो गीतैश्च नृत्यैश्च वाद्वित्रैश्च समङ्गलैः । व्यग्रः^१ पारजनः सर्वोऽप्यासीदानन्दनिभरः ॥९२॥
 न तदा कोऽप्यभूद् दीनो^२ न तदा कोऽपि दुर्विधः^३ । न तदा कोऽप्यपूर्णैश्चो^४ न तदा कोऽप्यकौतुकः ॥९३॥
 सप्रमोदमयं विश्वमित्यातन्वन्महोत्सवः । यथा मेरो तथैवास्मिन् पुरे साभ्यःपुरेऽवृत्तम् ॥९४॥
 दद्यात् प्रमुदितं^५ तेषां^६ स्वं प्रमोदं प्रकाशयन् । संक्रन्दनो मनोवृत्तिमानन्दानन्दनाटके^७ ॥९५॥
 नृत्तारम्भे महोत्सवस्य सज्जः^८ संगीतविस्तरः । गन्धर्वैस्तद्विधानज्ञैः^९ माण्डोपबहनादिभिः ॥९६॥
 कृतानुकरणं^{१०} नाट्यं तत्प्रयोज्यं यथागमम्^{११} । स चागमो महेन्द्राद्यैर्यथागम्यैः^{१२} मनुस्मृतः^{१३} ॥९७॥
 वक्तव्यं तत्प्रयोजकत्वे^{१४} लालित्यं^{१५} किमु वर्णयेत् । पात्रास्तरेऽपि संक्रान्तं^{१६} यत् सतां चित्ररञ्जनम् ॥९८॥
 ततः^{१७} श्रव्यं च दृश्यं च^{१८} तत्प्रयुक्तं महात्मनाम्^{१९} । पाठ्यैर्नावाविधैश्चिन्तैः^{२०} राज्ञिकाभिनयैरपि ॥९९॥
 विकृष्टः^{२१} कुतपन्यासो^{२२} मही सकुलमूषरा । रङ्गविभुवनाभोगः^{२३} सहस्राक्षो महानटः^{२४} ॥१००॥

था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वस्त्राभूषण ही धारण किये हो और प्रारम्भ किये हुए संगीतके शब्दसे उस नगरकी समस्त दिशाएँ भर रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह आनन्दसे बातचीत हो कर रहा हो अथवा गा रहा हो ॥९०-९१॥ इस प्रकार आनन्दसे भरे हुए समस्त पुरवासी जन गीत, नृत्य, वादित्व तथा अन्य अनेक मङ्गल-कार्योंमें व्यग्र हो रहे थे ॥९२॥ उस समय उस नगरमें न तो कोई दीन रहा था, न निर्धन रहा था, न कोई ऐसा ही रहा था जिसकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई हों और न कोई ऐसा ही था जिसे आनन्द उत्पन्न नहीं हुआ हो ॥९३॥ इस तरह सारे संसारको आनन्दित करनेवाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वतपर हुआ था वैसा ही अन्तःपुरसहित इस अयोध्यानगरमें हुआ ॥९४॥ उन नगरवासियोंका आनन्द देखकर अपने आनन्दको प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करनेमें अपना मन लगाया ॥९५॥ यों ही इन्द्रने नृत्य करना प्रारम्भ किया त्यों ही संगीत-विद्याके जाननेवाले गन्धर्वोंने अपने बाजे बगैरह ठीक कर विस्तारके साथ संगीत करना प्रारम्भ कर दिया ॥९६॥ पहले किसीके द्वारा किये हुए कार्यका अनुकरण करना नाट्य कहलाता है, वह नाट्य, नाट्यशास्त्रके अनुसार ही करनेके योग्य है और उस नाट्यशास्त्रको इन्द्रादि देव ही अच्छी तरह जानते हैं ॥९७॥ जो नाट्य या नृत्य शिष्य-प्रतिशिष्यरूप अन्य पात्रोंमें संक्रान्त होकर भी सज्जनोंका मनोरंजन करता रहता है यदि उसे स्वयं उसका निरूपण करनेवाला ही करे तो फिर उसको मनोहरताका क्या वर्णन करना है ? ॥९८॥ तत्पश्चात् अनेक प्रकारके पाठों और चित्र-विचित्र शरीरकी चेष्टाओंसे इन्द्रके द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरुषोंके देखने और सुनने योग्य था ॥९९॥ उस समय अनेक प्रकारके बाजे बज रहे थे, तीनों लोकोंमें फैली हुई कुलाचलोंसहित पृथिवी ही उसकी रंगभूमि थी, स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करनेवाला था, नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्यके दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान् युपभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव थे, और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थोंकी सिद्धि तथा

१. मुमुक्षुत्वम् । २. सालंकारम् । ३. वाद्यैः । ४. आसक्तः । ५. लुब्धः । ६. दरिद्रः । ७. असम्पूर्ण-
 शङ्खः । ८. प्रमोदम् । ९. नाभिराजादीनाम् । १०. —महोत्सवानन्दनाटके ५०, ६०, ७० । आनन्द बन्ध ।
 'अदु बन्धने' लिट् । ११. कृतप्रयत्नः । १२. गीतैः देवभैरवैः । १३. वाद्यधारणादिभिः । १४. पूर्वस्मिन् कृतस्या-
 नुकरणमभिनयः । १५. नाट्यशास्त्रानतिक्रमेण । १६. सन्ततिमनतिक्रम्य । १७. जातः । १८. तत्राद्यप्रयो-
 कत्वे । १९. ललितत्वम् । २०. पात्रभेदेऽपि । २१. यत् नाट्यशास्त्रलालित्यं पात्रास्तरेऽपि संक्रान्तं चेत् ।
 २२. ततः कारणात् । २३. नाट्यम् । २४. महात्मना ६०, ८० । महोत्सवे । २५. गन्धर्वैर्यदिभिः । २६. अङ्ग-
 जनिताभिनयैः । २७. विकृतः, ताडित इत्यर्थः । २८. वाद्यानां व्यासः । 'कुतपीड्यं गवि विप्रे बल्लावतिषी
 च भागिनेये च । अस्थी दिनाष्टमांशे कुजतिलयोः छायकम्बले वाद्ये ॥' इत्यभिधानात् । २९. त्रिलोकस्याभोगो
 विस्तारो यस्य सः । ३०. महानटकः ।

प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्याः जगद्गुरुः । फलं त्रिवर्गसंमतिः परमानन्द एव च ॥१०१॥
 हृत्केसरोऽपि संप्राप्त्यै वस्तुजातमिदं सताम् । किमु तत्सर्वसंदोहः पुण्यैरेकत्र संगतः ॥१०२॥
 कृत्वा समवतारं^१ तु त्रिवर्गफलसाधनम् । जन्माभिषेकसम्बन्धं प्रा^२द्युक्त्वैतन् तदा हरिः ॥१०३॥
 तदा प्रयुक्तमन्येष रूपकं बहुरूपकम्^३ । दशावतारसंदर्भमधिकृत्य जिनेशिनः ॥१०४॥
 तत्प्रयोगविधौ पूर्वं पूर्वरङ्गं^४ समङ्गकम् । प्रारम्भे मधवाधानां विधाताय समाहितः ॥१०५॥
 पूर्वरङ्गप्रसंगेन^५ पुष्पाञ्जलिपुरस्तरम् । ताण्डवास्त्रभमेवाग्रे^६ सुरप्राग्रहरोऽग्रहीत् ॥१०६॥
 प्रयोज्य^७ नाट्यशस्त्रेऽस्मिन्^८ विधानं^९ नृत्त्ये^{१०} प्रयोज्य^{११} नाट्यवेदावतारवित्^{१२} ॥१०७॥
 स रज्जुमवतीर्णोऽभ्यात् वैशाखस्थानमास्थितः । लोकस्कन्ध इवोद्भूतो^{१३} मरुद्भिरभितो घृतः ॥१०८॥
 मध्येरङ्गमसौ रेजे क्षिपन् पुष्पाञ्जलिं हरिः । विमज्जिष्व पीताव^{१४} शेषनाट्यरसं स्वयम् ॥१०९॥
 ललितोद्गटनेपथ्यो^{१५} लसच्चयमसन्ततिः । स रेजे कल्पशास्त्रीय सप्रसूनः सम्भूषणः ॥११०॥
 पुष्पाञ्जलिः पतन् रेजे मत्तालिभिरनुवृत्तः^{१६} । नेत्रौष इव वृक्षधनः^{१७} कलमाधितनभोऽङ्गणः ॥१११॥

परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होना ही उसका फल था । इन ऊपर कही हुई वस्तुओंमें-से एक-एक वस्तु भी सज्जन पुरुषोंको प्राप्ति उत्पन्न करनेवाली है फिर पुण्योदयसे पूर्वोक्त सभी वस्तुओं-का समुदाय किसी एक जगह आ मिले तो कहना ही क्या है ? ॥१००-१०२॥ उस समय इन्द्रने पहले त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) रूप फलको सिद्ध करनेवाला गर्भावतारसम्बन्धी नाटक किया और फिर जन्माभिषेकसम्बन्धी नाटक करना प्रारम्भ किया ॥ १०३ ॥ तदनन्तर इन्द्रने भगवान्के महाबल आदि दशावतार सम्बन्धी वृत्तान्तको लेकर अनेक रूप दिखलाने-वाले अन्य अनेक नाटक करना प्रारम्भ किये ॥ १०४ ॥ उन नाटकोंका प्रयोग करते समय इन्द्रने सबसे पहले, पाषोंका नाश करनेके लिए मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्वरंगका प्रारम्भ किया ॥१०५॥ पूर्वरंग प्रारम्भ करते समय इन्द्रने पुष्पाञ्जलि क्षेपण करते हुए सबसे पहले ताण्डव नृत्य प्रारम्भ किया ॥१०६॥ ताण्डव नृत्यके प्रारम्भमें उसने नान्दी मङ्गल किया और फिर नान्दी मंगल कर चुकनेके बाद रंग-भूमिमें प्रवेश किया । उस समय नाट्यशास्त्रके अवतारको जाननेवाला और मंगलमय वस्त्राभूषण धारण करनेवाला वह इन्द्र बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥१०७॥ जिस समय वह रंग-भूमिमें अवतीर्ण हुआ था उस समय वह वैशाख-आसनसे खड़ा हुआ था अर्थात् पैर फैलाकर अपने दोनों हाथ कमरपर रखे हुए था और चारों ओरसे मरुत् अर्थात् देवोंसे घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मरुत् अर्थात् वातबलयोंसे घिरा हुआ लोकस्कन्ध ही हो ॥१०८॥ रंग-भूमिके मध्यमें पुष्पाञ्जलि बिखेरता हुआ वह इन्द्र ऐसा भला मालूम होता था मानो अपने पान करनेसे बचे हुए नाट्यरसको दूसरोंके लिए बाँट ही रहा हो ॥१०९॥ वह इन्द्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणोंसे शोभायमान था और उत्तम नेत्रोंका समूह धारण कर रहा था इसलिए पुष्पों और आभूषणोंसे सहित किसी कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहा था ॥११०॥ जिसके पीछे अनेक मदोन्मत्त भौरे दौड़ रहे हैं ऐसी वह पड़ती हुई पुष्पाञ्जलि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशको चित्र-विचित्र

१. सभापतिः । २. उत्पत्तिः । ३. गर्भावतारम् । ४. प्रयुक्तवान् । ५. भूमिकाम् । ६. महाबलादि । ७. पूर्वशुद्धिचित्रमिति । 'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविज्ञोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥' ८. अवधानपरः । ९. पूर्वरङ्गविधानेन । १०. ललितभाषणगर्भलास्यं ताण्डवं तस्यारम्भम् । ११. सुरश्रेष्ठः । १२. जगत्तरुप्रज्ञामङ्गल-पट्टहोष्चारणपुष्पाञ्जलिक्षेपणादिनान्दीविधिम् । १३. नान्दाः । १४. मङ्गलालंकारः । १५. नाट्यशास्त्रम् । १६.-वित् वत् म० पुस्तके द्वौ पाठौ । १७. देवैः । १८. रङ्गस्य मध्ये । १९. दिशि दिशि विभागोऽकुर्वन् । २०. पीतावशिष्टं नाट्य-प०, अ०, ल० । २१. मनोजोत्स्वनालङ्कारः । २२. अयं श्लोकः पुरुदेवचम्पूकारेण स्वकीये पुरुदेवचम्पूप्रबन्धे पञ्चमस्तवकस्य चतुर्विंशतिसदृशलोकां प्रापितः । २३. अनुगतः । २४. वार्षधनः अ०, प०, म०, द०, स०, ल० । २५. कर्बुरितः ।

परितः परितस्तारं तारास्थं नयनावली । रङ्गमात्मप्रमोदसर्वैः श्रितैर्जवनिकाश्रियम् ॥११२॥
 सलयैः^३ पदविन्यासैः परितो रङ्गमण्डलम् । परिक्रामन्तौ^४ रंजे विमानं^५ ह्य काश्यपीम्^६ ॥११३॥
 कृतपुष्पाञ्जलिरस्य ताण्डवारम्भसंभ्रमे । पुष्पवर्षं दिवोऽमुञ्चन् सुरास्तज्जितोषिताः^७ ॥११४॥
 तदा पुष्करवाद्यानि^८ मन्दं दधनुरकमात्^९ । दिकृतयेषु प्रतिध्वानामातम्बानि कोटिशः ॥११५॥
 वीणा मधुरमारेणुः^{१०} कलं वंशा^{११} विसस्वनुः ।^{१२} गेयाभ्यनुगतान्येषां समं तालैरराणिषुः^{१३} ॥११६॥
 उपवादकवाद्यानि परिवादकवादिनैः^{१४} । बभूवुः संगतान्येव^{१५} सांगत्यं^{१६} हि सयोनिषु ॥११७॥
 काकलीकलमामन्दतारमूर्च्छनमुज्जरो^{१७} । तदोपवीणयन्तोमिः^{१८} किञ्चरीमिरनुष्वणम्^{१९} ॥११८॥
 ध्वनद्भिर्मधुरं गौणं^{२०} संबन्धं प्राप्य शिष्यवत् । कृतं वंशोचितं^{२१} वंशैः प्रयोगेष्वविवादिभिः^{२२} ॥११९॥
 प्रयुज्य सधवा शुद्धं पूर्वैरङ्गमनुकमात्^{२३} । करणैरङ्गहारैश्च^{२४} चित्रं प्रायुक्क तं पुनः ॥१२०॥
 चित्रैश्च रचकैः^{२५} पादकटिकण्ठकराश्रितैः । ननाट ताण्डवं शक्रो दर्शयन् रसमूर्जितम् ॥१२१॥

करनेवाला इन्द्रके नेत्रोंका समूह ही हो ॥१११॥ इन्द्रके बड़े-बड़े नेत्रोंकी पङ्क्ति जवनिका (परदा) की शोभा धारण करनेवाली अपनी फैलती हुई प्रभासे रंगभूमिको चारों ओरसे आच्छादित कर रही थी ॥११२॥ वह इन्द्र तालके साथ-साथ पैर रखकर रंगभूमिके चारों ओर घूमता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो पृथिवीको नाप ही रहा हो ॥११३॥ जब इन्द्रने पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर ताण्डव नृत्य करना प्रारम्भ किया तब उसकी भक्तिसे प्रसन्न हुए देवोंने स्वर्ग अथवा आकाशसे पुष्पवर्षा की थी ॥११४॥ उस समय दिशाओंके अन्तर्भाग तक प्रतिध्वनिको विस्तृत करते हुए पुष्कर आदि करोड़ों बाजे एक साथ गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे ॥११५॥ वीणा भी मनोहर शब्द कर रही थी, मनोहर सुरली भी मधुर शब्दोंसे बज रही थी और उन बाजोंके साथ-ही-साथ तालके सहित संगीतके शब्द हो रहे थे ॥११६॥ वीणा बजानेवाले मनुष्य जिस स्वर वा शैलीसे वीणा बजा रहे थे, साथके अन्य बाजोंके बजानेवाले मनुष्य भी अपने-अपने बाजोंको उसी स्वर वा शैलीसे मिलाकर बजा रहे थे सो ठीक ही है एक-सी वस्तुओंमें मिलाप होना ही चाहिए ॥११७॥ उस समय वीणा बजाती हुई किञ्चरदेवियाँ कोमल, मनोहर, कुछ-कुछ गम्भीर, उच्च और सूक्ष्मरूपसे गा रही थीं ॥११८॥ जिस प्रकार उत्तम शिष्य गुरुका उपदेश पाकर मधुर शब्द करता है और अनुमानादिके प्रयोगमें किसी प्रकारका वाद-विवाद नहीं करता हुआ अपने उत्तम वंश (कुल) के योग्य कार्य करता है उसी प्रकार वंशी आदि बाँसोंके बाजे भी मुखका सम्बन्ध पाकर मनोहर शब्द कर रहे थे और नृत्य-संगीत आदिके प्रयोगमें किसी प्रकारका विवाद (विरोध) नहीं करते हुए अपने वंश (बाँस) के योग्य कार्य कर रहे थे ॥११९॥ इस प्रकार इन्द्रने पहले तो शुद्ध (कार्यान्तरसे रहित) पूर्वरंग का प्रयोग किया और फिर करण (हाथोंका हिलाना तथा अङ्गहार (शरीरका भटकाना) के द्वारा विविधरूपमें उसका प्रयोग किया ॥१२०॥ वह इन्द्र पाँव, कमर, कण्ठ और हाथोंको अनेक प्रकारसे घुमाकर उत्तम रस दिखलाता हुआ ताण्डव नृत्य कर रहा था ॥१२१॥ जिस

१. 'स्तब् आच्छादने' । २. स्फुरती । ३. तालमानयुतः । ४. परिभ्रमन् । ५. प्रमाणं कुर्वन् । ६. काश्यपीम् । ७. इन्द्रभक्ति । ८. चर्मसंबद्धमुखनूयानि । 'पुष्करं करिहस्तासे वाद्यभाण्डमुखे अले' इत्यभिधानात् । ९. युगपत् । १०. कलवंशाः म०, ल० । ११. वंशाः । १२. प्रबन्धाः । १३. गानं यकुरित्यर्थः । १४. उप समीपे बद्धीति उपवादकानि तानि च तानि वाद्यानि च उपवादकवाद्यानि । १५. वीणाशब्दैः । १६. संयुक्तानि । हृदयङ्गमानि वा । 'संगतं हृदयंगमम्' इत्यभिधानात् । १७. समानवर्मवस्तु । १८. 'काकली तु कके सूक्ष्मे' इत्यमरः । १९. वीणया उपगायन्तीभिः । २०. अनुरक्तं यथा भवति तथा । २१. मुखाज्जातम् । २२. वेणोरन्वयस्य बोधिनम् । २३. विवादमकुर्वद्भिः । २४. करन्यासैः । २५. अङ्गविक्षेपैः । २६. भ्रमणैः ।

तरिमन्वाहुसहस्राणि विकृत्य^१ प्रणिनृत्यति । धरा चरणविन्यासैः स्फुरन्तीव तदाचलत्^२ ॥१२२॥
 कुलाचलाश्चलन्ति स्म नृणानामिव राक्षसः । अभ्रजलधिरद्रेलः प्रमदादिषु निर्व्वनन्^३ ॥१२३॥
 लसद्वाहुर्महोदमविग्रहः सुरनायकः । कल्पान्निप इषामर्त्ताश्चलन्शुकभूषणः ॥१२४॥
 चलत्सन्मौलिरलातुपरिवेषनमःस्थलम्^४ । तदा विदिद्युते विद्युत्सहस्रैरिव सन्ततम्^५ ॥१२५॥
 विक्षिप्त^६ बाहुविक्षेपैस्तारकाः परितोऽभ्रमन् । भ्रमणाविद्युर्विच्छिन्नहारसुक्ताफलश्रियः ॥१२६॥
 नृत्यतोऽस्य भुजोल्लासैः पयोदाः परिघट्टिताः । पयोऽलवच्युतो रजः शुचेव क्षरदध्रुवः^७ ॥१२७॥
 रेचकैऽस्य^८ चलन्मौलिप्रोच्छलन्मणिरीतयः^९ । वेगाविद्धाः समं भ्रमुरलातवलयवायिताः ॥१२८॥
 नृत्यतोमान्महीक्षोभे क्षुभिता जलराशयः । क्षालयन्ति स्म दिग्भिर्त्साः^{१०} प्रोच्छलज्जलशोकरैः ॥१२९॥
 क्षणादेकः क्षणान्नेकः क्षणाद्द्व्यापी क्षणादणुः । क्षणादारात् क्षणाद्दूरे क्षणाद् व्योम्नि क्षणाद् भुवि ॥१३०॥
 इति प्रतन्वतामीयं सामर्थ्यं विक्रियोत्थितम् । इन्द्रजालमिवेन्द्रेण प्रयुक्तमभवत् तदा ॥१३१॥
 नेदराभरसः शङ्खज्जलज्जलः सन्निभः । ललीलभ्रूलतोक्षेपमङ्गहारः^{११} सचारिभिः^{१२} ॥१३२॥

समय वह इन्द्र विक्रियासे हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथिवी उसके पैरोंके रखनेसे हिलने लगी थी मानो फट रही हो, कुलपर्वत तूणोंकी राशिके समान चञ्चल हो उठे थे और समुद्र भी मानो आनन्दसे शब्द करता हुआ लहराने लगा था ॥१२२-१२३॥ उस समय इन्द्रकी चञ्चल भुजाएँ बड़ी ही मनोहर थीं, यह शरीरसे स्वयं ऊँचा था और चञ्चल वस्त्र तथा आभूषणोंसे सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिसकी शाखाएँ हिल रही हैं, जो बहुत ऊँचा है और जो हिलते हुए वस्त्र तथा आभूषणोंसे सुशोभित है ऐसा कल्पवृक्ष ही नृत्य कर रहा हो ॥१२४॥ उस समय इन्द्रके हिलते हुए मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके मण्डलसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो हजारों बिजलियोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥१२५॥ नृत्य करते समय इन्द्रकी भुजाओंके विक्षेपसे बिखरे हुए तारे चारों ओर फिर रहे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो फिरकी लगानेसे टूटे हुए हारके मोती ही हों ॥१२६॥ नृत्य करते समय इन्द्रकी भुजाओंके उल्लाससे टकराये हुए तथा पानीकी छोटी-छोटी बूँदोंको छोड़ते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे मानो शोकसे आँसू ही छोड़ रहे हों ॥१२७॥ नृत्य करते-करते जब कभी इन्द्र फिरकी लेता था तब उसके वेगके आवेशसे फिरती हुई उसके मुकुटके मणियोंकी पङ्क्तियाँ अलातचक्रकी नाई भ्रमण करने लगती थी ॥१२८॥ इन्द्रके उस नृत्यके क्षोभसे पृथिवी क्षुभित हो उठी थी, पृथिवीके क्षुभित होनेसे समुद्र भी क्षुभित हो उठे थे और उछलते हुए जलके कणोंसे दिशाओंकी भित्तियोंका प्रक्षालन करने लगे थे ॥१२९॥ नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षण-भरमें एक रह जाता था, क्षण-भरमें अनेक हो जाता था, क्षण-भरमें सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षण-भरमें छोटा-सा रह जाता था, क्षण-भरमें पास ही दिखाई देता था, क्षण-भरमें दूर पहुँच जाता था, क्षण-भरमें आकाशमें दिखाई देता था, और क्षण-भरमें फिर जमीनपर आ जाता था, इस प्रकार विक्रियासे उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्यको प्रकट करते हुए उस इन्द्रने उस समय ऐसा नृत्य किया था मानो इन्द्रजालका खेल ही किया हो ॥१३०-१३१॥ इन्द्रकी भुजारूपी शाखाओंपर मन्द-मन्द हँसती हुई अप्सराएँ लीलापूर्वक भौंहरूपी लताओंको चलाती हुई, शरीर हिलाती हुई और

१. विकुर्वणां कृत्वा-क २. चलति स्म । ३. नितरां ध्वनन् । ४.-नभस्तलम् अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ५. विस्तृतम् । ६. विप्रकीर्णाः । ७. प्रेरित । ८. गलदध्रुविन्दवः । ९. अभ्रमे । रेचकस्य ल० । १०. पङ्क्तयः । प्रवाहाः । ११. वेगेनात्ताडिताः । १२. प्रोच्छलज्जल-अ०, प०, द०, स०, ल० । १३. अङ्ग-विक्षेपः । १४. पावन्यासभेदसहितः ।

वर्द्धमानकर्मैः काञ्चित् काञ्चित् ताण्डवलासकैः^१ । ननुतुः सुरनर्तक्यः चित्रैरभिनयैस्तदा ॥१३३॥
 काञ्चिदरावली^२ पिण्डीमैत्री^३ वद्वामराजनाः^४ । ग्रानतिपुः प्रवेशैश्च निष्क्रमैश्च^५ नियन्त्रितैः ॥१३४॥
 कल्पद्रुमस्य शाखासु कल्पवल्ग्व इवोद्भवाः^६ । रेजिरे सुरराजस्य बाहुशाखासु तास्तदा ॥१३५॥
 स ताभिः सममारब्धरेचको^७ स्वरुचत्तराम् । चक्राब्दीक इव श्रीमान् चलन्मुकुटशेखरः ॥१३६॥
 सहस्राक्षसमुकुलविकसत्पद्मजाकरे । ताः पश्चिन्म इवाभवन् स्मरवक्त्राभुजाधियः ॥१३७॥
 स्मिताशुभिर्विमिश्रानि^८ तद्वक्त्राणि चकासिरे । विकस्वराणि^९ पद्मानि^{१०} प्लुतानीया^{११} मृतप्लवः^{१२} ॥१३८॥
 कुलशैलायितामस्य भुजानध्यास्य काञ्चन । रेजिरे परिभृत्यन्त्या^{१३} मूर्तिसस्य इव श्रियः ॥१३९॥
 नेदुरैरावतालान^{१४} स्तम्भयद्विषमायतान् । अध्यासीना भुजानस्य वीरलक्ष्म्य इवावराः ॥१४०॥
 हारमुक्ताफलेष्वन्याः संक्रान्तप्रतियातनाः^{१५} । ननुतुबहुरूपिणी विद्या इव विद्याजसः ॥१४१॥
 कराकुलीषु शक्रस्य न्यस्यन्त्याः क्रमपल्लवान् । सलीलमनटम् काञ्चित् सूचीनाल्यमिवास्थिताः^{१६} ॥१४२॥
 भ्रेमुः कराकुलीरम्यः^{१७} सुपर्वाक्षिद्विभिनः । अन्त्यष्टीरिवाकृष्ट तद्व्यापितनाभयः ॥१४३॥

सुन्दरतापूर्वक पैर उठाली रखती हुई (थिरक-थिरककर) नृत्य कर रही थीं ॥१३३॥ उस समय कितनी ही देवनर्तकियाँ वर्द्धमान लयके साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्यके साथ और कितनी ही अनेक प्रकारके अभिनय दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३३॥ कितनी देवियाँ पिजली-का और कितनी ही इन्द्रका शरीर धारण कर नाट्यशास्त्रके अनुसार प्रवेश तथा निष्क्रमण दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३४॥ उस समय इन्द्रकी भुजारूपी शाखाओंपर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कल्पवृक्षकी शाखाओंपर फैली हुई कल्पलताएँ ही हों ॥१३५॥ वह श्रीमान् इन्द्र नृत्य करते समय उन देवियोंके साथ जब फिरकी लगाता था तब उसके मुकुटका सेहरा भी हिल जाता था और वह ऐसा शोभायमान होता था मानो कोई चक्र ही घूम रहा हो ॥१३६॥ हजार आँखोंको धारण करनेवाला वह इन्द्र फूले हुए विकसित कमलोंसे सुशोभित तालाबके समान जान पड़ता था और मन्द-मन्द हँसते हुए मुखरूपी कमलोंसे शोभायमान, भुजाओंपर नृत्य करनेवाली वे देवियाँ कमलिनियोंके समान जान पड़ती थीं ॥१३७॥ मन्द हास्यकी किरणोंसे मिले हुए उन देवियोंके मुख ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अमृतके प्रवाहमें डूबे हुए विकसित कमल ही हों ॥१३८॥ कितनी ही देवियाँ कुलाचलोंके समान शोभायमान उस इन्द्रकी भुजाओंपर आरुढ़ होकर नृत्य कर रही थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरीरधारिणी लक्ष्मी ही हों ॥१३९॥ ऐरावत हाथोंके बाँधनेके बन्धके समान लम्बी इन्द्रकी भुजाओंपर आरुढ़ होकर कितनी ही देवियाँ नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम थी मानो कोई अन्य वीर-लक्ष्मी ही हों ॥१४०॥ नृत्य करते समय कितनी ही देवियोंका प्रतिबिम्ब उन्हींके हारके मोतियोंपर पड़ता था जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो इन्द्रकी बहुरूपिणी विद्या ही नृत्य कर रही हो ॥१४१॥ कितनी ही देवियाँ इन्द्रके हाथोंकी अँगुलियोंपर अपने चरण-पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थी मानो सूचीनाल्य (सूईकी नोकपर किया जानेवाला नृत्य) ही कर रही हों ॥१४२॥ कितनी ही देवियाँ सुन्दर पर्वोसहित इन्द्रकी अँगुलियोंके अग्रभागपर अपनी नाभि रखकर इस प्रकार फिरकी लगा रही थीं मानो किसी बाँसकी लकड़ीपर चढ़कर उसके अग्रभागपर नाभि रखकर मनोहर फिरकी लगा रही हों ॥१४३॥ देवियाँ इन्द्रकी

१. ताण्डवकपनर्तनैः । २. शरीरम् । 'संघातग्रासयोः पिण्डीद्वयोः पृथि कलेवरैः' इत्यभिधानात् ।
 ३. निर्गमनैश्च । ४. अमणः । ५. प्लुतानि । ६. विकसनशीलानि । ७. धीतानि । ८. प्रवाहः । ९. परितृत्यन्तो
 १०, १०, ल० । १०. बन्धनस्तम्भः । ११. प्रतिबिम्बाः । १२. आश्रिताः । १३. सुग्रन्थीः ।

प्रतिवाङ्मरेन्द्रस्य सङ्गतन्त्रयोऽमराङ्गनाः । सत्यं संचरन्ति स्म पञ्चवन्त्रयोऽश्विसंकुलम् ॥१४४॥

स्फुटश्चिव कटाक्षेषु कपोलेषु स्फुरश्चिव । प्रसरश्चिव पात्रेषु करेषु विलसश्चिव ॥१४५॥

विहसश्चिव वक्त्रेषु नेत्रेषु विकसश्चिव । रज्यक्षिवाङ्गरागेषु निमज्जश्चिव नाभिषु ॥१४६॥

चलश्चिव कटीष्वासां मेखलासु स्खलश्चिव । तदा नाट्यरसोऽङ्गेषु बहूधे बद्धितोऽस्यः ॥१४७॥

प्रत्यङ्गमरेन्द्रस्य याश्चेष्टा नृत्यतोऽभवन् । ता यत् तेषु पात्रेषु संविभक्ता इवारुचन् ॥१४८॥

रसास्त एव ते भावास्तेऽनुमात्रास्तद्विक्रितम् । अनुप्रवेशितो नूनमात्मा तेष्वमरेशिना ॥१४९॥

सोऽमास्वभुजदण्डेषु नर्तयन् सुरनर्तकीः । तारवीः पुत्रिका यन्त्रफलकैश्चिव यान्त्रिकः ॥१५०॥

कध्वंसुखलयन् व्योम्नि नटन्तीर्शयन् पुनः । क्षणात्कुर्वन्महद्व्यास्ताः सोऽभून्माहेन्द्रजालकः ॥१५१॥

इतश्चेतः स्वदीर्घाले गूढं संचारयन् नदीः । समवान् हस्तसंचारमिवासीदाचरन् हरिः ॥१५२॥

नर्तयन्नेकतो नूनो युवतीरन्यतो हरिः । भुजशाखासु सोऽनर्तोद् दक्षिताहुतविक्रियः ॥१५३॥

नेटुस्तनुजङ्गेषु ते च ताश्च परिक्रमेः । सुत्रामा सूत्रधारोऽभूत्ताव्यदेविदांबरः ॥१५४॥

दीप्तोद्धतरसप्रायं नृत्यं ताण्डवमेकतः । सुकुमारप्रयोगाख्यं ललितं लास्यमन्यतः ॥१५५॥

प्रत्येक भुजापर नृत्य करती हुई और अपने नेत्रोंके कटाक्षोंको फैलाती हुई बड़े यत्नसे संचार कर रही थी ॥१४४॥ उस समय उससबको बढ़ाता हुआ वह नाट्यरस उन देवियोंके शरीरमें खूब ही बढ़ रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उनके कटाक्षोंमें प्रकट हो रहा हो, कपोलोंमें स्फुरायमान हो रहा हो, पाँवोंमें फैल रहा हो, हाथोंमें विलसित हो रहा हो, मुखोंपर हँस रहा हो, नेत्रोंमें विकसित हो रहा हो, अंगरागमें लाल वर्ण हो रहा हो, नाभिमें निमग्न हो रहा हो, कटीप्रदेशोंपर चल रहा हो और मेखलाओंपर स्खलित हो रहा हो ॥१४५-१४७॥ नृत्य करते हुए इन्द्रके प्रत्येक अंगमें जो चेष्टाएँ होती थी वही चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रोंमें हो रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रने अपनी चेष्टाएँ उन सबके लिए बाँट दी थी ॥१४८॥ उस समय इन्द्रके नृत्यमें जो रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ थी वे ही रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रोंमें थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रने अपनी आत्माको ही उनमें प्रविष्ट करा दिया हो ॥१४९॥ अपने भुजदण्डोंपर देवनर्तकियोंको नृत्य कराता हुआ वह इन्द्र ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो किसी यन्त्रकी पटियोंपर लकड़ीकी पुतलियोंको नचाता हुआ कोई यान्त्रिक अर्थात् यन्त्र चलानेवाला ही हो ॥१५०॥ वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियोंको कभी ऊपर आकाशमें चलाता था, कभी सामने नृत्य करती हुई दिखला देता था और कभी क्षण-भरमें उन्हें अदृश्य कर देता था, इन सब बातोंसे वह किसी इन्द्रजालका खेल करनेवालेके समान जान पड़ता था ॥१५१॥ नृत्य करनेवाली देवियोंको अपनी भुजाओंके समूहपर गुप्तरूपसे जहाँ-तहाँ घुमाता हुआ वह इन्द्र हाथकी सफाई दिखलानेवाले किसी बाजीगरके समान जान पड़ता था ॥१५२॥ वह इन्द्र अपनी एक ओरकी भुजाओंपर तरुण देवोंको नृत्य करा रहा था और दूसरी ओरकी भुजाओंपर तरुण देवियोंको नृत्य करा रहा था तथा अद्भुत विक्रिया शक्ति दिखलाता हुआ अपनी भुजारूपी शाखाओंपर स्वयं भी नृत्य कर रहा था ॥ १५३ ॥ इन्द्रकी भुजारूपी रंगभूमिमें वे देव और देवांगनाएँ प्रदक्षिणा देती हुई नृत्य कर रही थी इसलिए वह इन्द्र नाट्यशास्त्रके जाननेवाले सूत्रधारके समान मालूम होता था ॥ १५४ ॥ उस समय एक ओर तो दीप्त और उद्धत रससे भरा हुआ

१. विस्तारयन्त्यः । 'पञ्च विस्तारवचने' । वञ्चयन्त्यो-ब०, अ०, प०, स० । २ शृङ्गारादयः । ३. ते एव भावाः चित्समुद्रतयः । ४. भावबोधकाः । ५. चित्तविकृति । ६. तरुसंबन्धिपाञ्चालिका । 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद् वस्त्रदन्तादिभिः कृता' । ७ सूत्रधारः । ८. पुरः म०, ल० । ९. पूज्यः । १०. हस्तसंचालनम् । ११. पदसंचारः । १२. दास्य ।

विनिश्चरसमित्युच्चैर्दशयन् नाट्यमद्भुतम् । सामाजिकजने शकः परां प्रतिमर्जीजनत् ॥१५६॥

गन्धर्वनायकारब्धविनिधातोद्यसंविधिः । आनन्दनृत्यमित्युच्चैर्मधवा निरवर्त्तयत् ॥१५७॥

सकंसतालमुद्देशु^१ विततध्वनिसंकुलम् । साप्सरः सरसं^२ नृत्यं तदुद्यानमिवाद्युतम् ॥१५८॥

नाभिराजः समं देव्या दृष्ट्वा तन्नाट्यमद्भुतम् । विसिस्मिये परां श्लाघां प्रापच्च सुरसत्तमैः ॥१५९॥

वृषभोऽयं जगज्ज्येष्ठो नर्षिष्यति जगद्धितम् । धर्माभूतमितीन्द्रास्तमकारुर्ध्वमाह्वयम् ॥१६०॥

वृषो हि भगवान् धर्मस्तेन यज्ञाति तीर्थकृत् । ततोऽयं वृषभस्वामीत्याह्ला^३स्तैनं पुरन्दरः ॥१६१॥

स्वर्गावतरणे दृष्टः स्वप्नेऽस्य वृषभो यतः । जनम्या तदयं देवैराहुतो वृषभाख्यया ॥१६२॥

पुरुहूतः पुरुं देवमाह्वयन्नाख्ययानया । पुरुहूत इति स्म्यति वभारान्वधत्तां गताम् ॥१६३॥

ततोऽस्थ सवयोरूपं^४ वेषाम्भुरकुमारकान् । निरूप्य परिचर्यायै^५ दिवं जरमुर्धुनायकाः ॥१६४॥

धात्र्यो नियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम् । मञ्जने मण्डने स्तन्ये^६ संस्कारे कौडनेऽपि च ॥१६५॥

ताण्डव नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर सुकुमार प्रयोगोंसे भरा हुआ लास्य नृत्य हो रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न रसवाले, उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक नृत्य दिखलाते हुए इन्द्रने सभाके लोगोंमें अतिशय प्रेम उत्पन्न किया था ॥१५६॥ इस प्रकार जिसमें श्रेष्ठ गन्धर्वोंके द्वारा अनेक प्रकारके बाजोंका बजाना प्रारम्भ किया गया था ऐसे आनन्द नामक नृत्यको इन्द्रने बड़ी सजधजके साथ समाप्त किया ॥१५७॥ उस समय वह नृत्य किसी उद्यानके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उद्यान काँस और ताल (ताड़) वृक्षोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी काँसेकी बनी हुई झाँझोंके तालसे सहित था, उद्यान जिस प्रकार ऊँचे-ऊँचे बाँसोंके फैलते हुए शाखोंसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार वह नृत्य भी उत्कृष्ट शँखोंके दूर-दूर फैलनेवाले शब्दोंसे व्याप्त था, उद्यान जिस प्रकार अप्सर अर्थात् जलके सरोवरोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी अप्सर अर्थात् देवनर्तकियोंसे सहित था और उद्यान जिस प्रकार सरस अर्थात् जलसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी सरस अर्थात् शृङ्गार आदि रसोंसे सहित था ॥१५८॥ महाराज नाभिराज मरुदेवोंके साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्रोंके द्वारा की हुई प्रशंसाको प्राप्त हुए ॥१५९॥ ये भगवान् वृषभदेव जगत्-भरमें ज्येष्ठ हैं और जगत्का हित करनेवाले धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करेंगे इसलिए ही इन्द्रोंने उनका वृषभदेव नाम रखा था ॥१६०॥ अथवा वृष श्रेष्ठ धर्मको कहते हैं और तीर्थकर भगवान् उस वृष अर्थात् श्रेष्ठ धर्मसे शोभायमान हो रहे हैं इसलिए ही इन्द्रने उन्हें 'वृषभ-स्वामी' इस नामसे पुकारा था ॥१६१॥ अथवा उनके गर्भावतरणके समय माता मरुदेवीने एक वृषभ देखा था इसलिए ही देवोंने उनका 'वृषभ' नामसे आह्वान किया था ॥१६२॥ इन्द्रने सबसे पहले भगवान् वृषभनाथको 'पुरुदेव' इस नामसे पुकारा था इसलिए इन्द्र अपने पुरुहूत (पुरु अर्थात् भगवान् वृषभदेवको आह्वान करनेवाला) नामको सार्थक ही धारण करता था ॥१६३॥ तदनन्तर वे इन्द्र भगवान्की सेवाके लिए समान अवस्था, समान रूप और समान वेषवाले देवकुमारोंको निश्चित कर अपने-अपने स्वर्गको चले गये ॥१६४॥ इन्द्रने आदरसहित भगवान्को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीरके संस्कार (तेल, कज्जल आदि लगाना) करने और क्रीडा करानेके कार्यमें अनेक देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ॥१६५॥

१. समाजने । २. सामग्री । ३. कंसतालसहितम् । ४. उद्गतवासादि उन्नतवंशं च । ५. सतचित्तव-
नृपविरभेदेन चतुर्विधवाद्येषु विततवाद्येन पटहादिकमुच्यते अमरसिंहे-तत्मानन्दशब्देनोक्तम्-आनन्दं मुरजादिकम्
इति । पटहादिवाद्यध्वनिसंकीर्णम्, पक्षे पक्षिविस्तृतध्वनिसंकीर्णम् । ६. देवश्रीसहितम्, पक्षे जलभरितसरो-
वरसहितम् । साप्सरं ल० । ७. शृङ्गारादिरसयुक्तम् । पक्षे रसयुक्तम् । ८. पृथ्वी । ९. आह्वयति स्म ।
१०. अनन्तरम् । ११. समानप्रायरूपाभरणम् । १२. शूश्रूषायै । १३. स्तनप्रायिविधौ ।

ततोऽसौ स्मितमातन्वन् संसर्पन्मणिभूमिषु । पित्रोर्मुदं तनानाद्ये वयस्यद्भुतचेष्टितः ॥१६६॥
जगदानन्दि नेत्राणामुत्सवप्रदमूर्जितम् । कलोऽज्ज्वलं तदस्यासीत् शैशवं शशिना यथा ॥१६७॥
सुगन्धस्मितमभूदस्य सुखेन्दौ चन्द्रिकामलम् । तेन पित्रोर्मनस्तोषजलधिर्वबुधेतराम् ॥१६८॥
पीठवन्धः सरस्वत्या लक्ष्म्या हसितविभ्रमः । कीर्तिवल्लीया विकासोऽस्य मुखे सुरधस्मयोऽभवत् ॥१६९॥
आमन्मुखांश्चुजेऽस्यास्तात् क्रमोन्मन्मनोभारतो । सरस्वती च तद्वाक्यममुकतुं तदाश्रिता ॥१७०॥
स्थलस्पदं शनैरिन्द्रनीलभूमिषु संचरन् । स रजे वसुधां रक्षैरञ्जैरुपहरन्निव ॥१७१॥
रत्नपांसुषु चिक्रीड स समं सुरद्वारकैः । पित्रोर्मनसि संतोषमातन्वैरुल्लिताकृतिः ॥१७२॥
प्रजानां वधदानम् गुणैराह्लादिभिर्निजैः । कीर्तिज्योत्स्नापरीताङ्गः स बभौ बालचन्द्रमाः ॥१७३॥
बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद् रुचिरं वयुः । कौमारं देवनाथानामर्चितस्य महौजसः ॥१७४॥

तदनन्तर आश्चर्यकारक चेष्टाओंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव अपनी पहली अवस्था (शैशव अवस्था) में कभी मन्द-मन्द हैंसते थे और कभी मणिमयी भूमिपर अच्छी तरह चलते थे, इस प्रकार वे माता-पिताका हर्ष बढ़ा रहे थे ॥१६६॥ भगवान्की वह बाल्य अवस्था ठीक चन्द्रमाकी बाल्य अवस्थाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमाकी बाल्य अवस्था जगत्को आनन्द देनेवाली होती है उसी प्रकार भगवान्की बाल्य अवस्था भी जगत्को आनन्द देनेवाली थी, चन्द्रमाकी बाल्य अवस्था जिस प्रकार नेत्रोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाली होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था नेत्रोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाली थी और चन्द्रमाकी बाल्यावस्था जिस प्रकार कला मात्रसे उज्ज्वल होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था भी अनेक कलाओं-विद्याओंसे उज्ज्वल थी ॥१६७॥ भगवान्के मुखरूपी चन्द्रमापर मन्द हास्यरूपी निर्मल चाँदनी प्रकट रहती थी और उससे माता-पिताका सन्तोषरूपी समुद्र अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥१६८॥ उस समय भगवान्के मुखपर जो मनोहर मन्द हास्य प्रकट हुआ था वह ऐसा ज्ञान पड़ता था मानो सरस्वतीका गीतबन्ध अर्थात् संगीतका प्रथम राग ही हो, अथवा लक्ष्मीके हास्यकी शोभा ही हो अथवा कीर्तिरूपी लताका विकास ही हो ॥१६९॥ भगवान्के शोभायमान मुख-कमलमें क्रम-क्रमसे अस्पष्ट वाणी प्रकट हुई जो कि ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्की बाल्य अवस्थाका अनुकरण करनेके लिए सरस्वती देवी ही स्वयं आयी हों ॥१७०॥ इन्द्रनील मणियोंकी भूमिपर धीरे-धीरे गिरते-पड़ते पैरोंसे चलते हुए बालक भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पृथिवीको लाल कमलोंका उपहार ही दे रहे हों ॥१७१॥ सुन्दर आकारको धारण करनेवाले वे भगवान् माता-पिताके मनमें सन्तोषको बढ़ाते हुए देव-बालकोंके साथ-साथ रत्नोंकी धूलिमें क्रीड़ा करते थे ॥ १७२ ॥ वे बाल भगवान् चन्द्रमाके समान शोभायमान होते थे, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने आह्लादकारी गुणोंसे प्रजाको आनन्द पहुँचाता है उसी प्रकार वे भी अपने आह्लादकारी गुणोंसे प्रजाको आनन्द पहुँचा रहे थे और चन्द्रमाका शरीर जिस प्रकार चाँदनीसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार उनका शरीर भी कीर्तिरूपी चाँदनीसे व्याप्त था ॥ १७३ ॥ जब भगवान्की बाल्यावस्था व्यतीत हुई तब इन्द्रोंके द्वारा पूज्य और महाप्रतापी भगवान्का कौमार अवस्थाका शरीर बहुत ही सुन्दर

१. गीतबन्धः प०, द०, म०, ल० । अयं श्लोकः पुरुषवचस्पृकाद्ये तत्कर्त्ता पञ्चमस्तबकस्य पञ्चविंशति-
तमश्लोकस्थाने स्वकीयधन्वाङ्गतां नीतः । २. दरहासः । ३. अव्ययतवाक् । ४. कुमारस्य वाक्यम् । ५. तथा-
श्रिता अ०, स०, द०, म० । यथाश्रिता प० । ६. उपहारं कुर्वन् । ७. रङ्गवन्निरत्नधूलिषु । ८. कुमार-
संनिधि । ९. 'न सदाधारे' इति पृष्ठी । देवेन्द्रैः पूजितस्य ।

वपुषो वृद्धिमन्वस्य गुणा वयुधिरं विभोः । शशाङ्कमण्डलस्येव कान्तिर्दीप्यादयोऽन्वहम् ॥१७१॥
 वपुः कान्तं प्रिया वाणी सधुरं तस्य वीक्षणम्^१ । जगतः^२ प्रीतिमार्तिनुः सस्मितं च^३ प्रजल्पितम् ॥१७२॥
 कलाश्च सकलास्तस्य वृद्धौ वृद्धिमुपाययुः । इन्दोरिव जगद्वेत्तो नन्दनस्य^४ जगत्पतेः ॥१७३॥
 मतिश्रुते सहोत्पत्ते ज्ञानं चावधिमंजकम् । ततोऽवोधि स निश्शेषा विद्या लोकस्थितोरपि ॥१७४॥
 विश्वविद्येभ्यस्तेषां विद्याऽपरिमेया^५ र्विवर्त्तुः^६ निरुज्ज्वलाऽपराध्वजः^७ स्मृतिं पुण्याति पुष्कलाम् ॥१७५॥
 कलासु कौशलं श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटवम्^८ । क्रियासु कर्मठत्वं^९ च स भजे शिक्षया विना ॥१८०॥
 वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत् । येन विश्वस्य लोकस्य^{१०} वाचस्पत्याद्भुद् गुरुः ॥१८१॥
 पुराणः स कविर्वाग्मी गमकश्चेति^{११} नोच्यते । कोष्ठबुद्ध्यादयो बोधा येन तस्य निसर्गजाः ॥१८२॥
 क्षायिकं दर्शनं^{१२} तस्य चेतोऽमलमपाहरत् । वारमलं च निसर्गेण प्रसूतास्य सरस्वती ॥१८३॥
 श्रुतं निसर्गतोऽस्यासीत् प्रसूतः^{१३} प्रशमः श्रुतात् । ततो^{१४} जगद्धितास्यासीत् चेष्टा सापालयत् प्रजाः ॥१८४॥
 यथा यथास्य दर्शनं गुणांशो वपुषा समम् । तथा तथास्य जनता बन्धुता चागमम्बुदम् ॥१८५॥

हो गया ॥१७५॥ जिस प्रकार चन्द्रमण्डलकी वृद्धिके साथ-साथ ही उसके कान्ति, दीप्ति आदि अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार भगवान्‌के शरीरकी वृद्धिके साथ-साथ ही अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते थे ॥१७५॥ उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मनोहर अवलोकन और मुसकाते हुए बातचीत करना यह सब संसारकी प्रीतिको विस्तृत कर रहे थे ॥१७६॥ जिस प्रकार जगत्‌के मनको हर्षित करनेवाले चन्द्रमाकी वृद्धि होनेपर उसकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार समस्त जीवोंके हृदयको आनन्द देनेवाले जगत्‌पति— भगवान्‌के शरीरकी वृद्धि होनेपर उनकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगी थीं ॥१७७॥ मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञान भगवान्‌के साथ-साथ ही उत्पन्न हुए थे इसलिए उन्होंने समस्त विद्याओं और लोककी स्थितिको अच्छी तरह जान लिया था ॥ १७८ ॥ वे भगवान् समस्त विद्याओंके ईश्वर थे इसलिए उन्हें समस्त विद्याएँ अपने-आप ही प्राप्त हो गयी थीं सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तरका अभ्यास स्मरण-शक्तिको अत्यन्त पुष्ट रखता है ॥१७९॥ वे भगवान् शिक्षाके बिना ही समस्त कलाओंमें प्रशंसनीय कुशलताको, समस्त विद्याओंमें प्रशंसनीय चतुराईको और समस्त क्रियाओंमें प्रशंसनीय कर्मठता (कार्य करनेकी सामर्थ्य) को प्राप्त हो गये थे ॥ १८० ॥ वे भगवान् सरस्वतीके एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें समस्त वाङ्मय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गये थे और इसलिए वे समस्त लोकके गुरु हो गये थे ॥ १८१ ॥ वे भगवान् पुराण थे अर्थात् प्राचीन इतिहासके जानकार थे, कवि थे, उत्तम वक्ता थे, गमक (टीका आदिके द्वारा पदार्थको स्पष्ट करनेवाले) थे और सबको प्रिय थे क्योंकि कोष्ठबुद्धि आदि अनेक विद्याएँ उन्हें स्वभावसे ही प्राप्त हो गयी थीं ॥१८२॥ उनके क्षायिक सम्यग्दर्शनने उनके चित्तके समस्त मलको दूर कर दिया था और स्वभावसे ही विस्तारको प्राप्त हुई सरस्वतीने उनके वचनसम्बन्धी समस्त दोषोंका अपहरण कर लिया था ॥ १८३ ॥ उन भगवान्‌के स्वभावसे ही शास्त्रज्ञान था, उस शास्त्रज्ञानसे उनके परिणाम बहुत ही शान्त रहते थे । परिणामोंके शान्त रहनेसे उनका चेष्टाएँ जगत्‌का हित करनेवाली होती थीं और उन जगत्-हितकारी चेष्टाओंसे वे प्रजाका पालन करते थे ॥ १८४ ॥ ज्यों-ज्यों शरीरके साथ-साथ उनके गुण

१. अभिवृद्ध्या सह । 'सहार्थेऽनुना' इति द्वितीया । २. किरणतेजःप्रमुखाः । ३. आलोकनम् । ४. जगतां—
 ५०, ६०, ७०, ८०, । ५. प्रवृत्तानम् । ६. आह्लादकरत्वं । ७. ज्ञानवयात् । ८. अभ्यासः संस्कारः ।
 ९. पाटवम् । १०. कर्मधूर्तत्वं । ११. वाग्जालम् । १२. वाङ्मयेन । १३. वाक्पतित्वात् । १४. बोध्यते—
 ५०, ६० । रोच्यते ७०, ८० । रुच्यते ८० । १५. सम्यक्त्वम् । १६. उत्पन्नः । १७. प्रशमतः ।

स पित्रोः परमानन्दं बन्धुतायाश्च निर्वृतिम्^१ । जगज्जनस्य संप्राप्तिं वर्द्धयन् समवर्द्धत ॥१८६॥
 परमायुरथास्याभूत् चरमं विभ्रतो वपुः । संपूर्णा पूर्वलक्षाणामंशोतिश्चतुस्तस्य ॥१८७॥
^२दीर्घदर्शी सुदीर्घायुर्दीर्घबाहुश्च दीर्घरक्^३ । स दीर्घसूत्रो^४ लोकानाममञ्जसूत्रधारताम् ॥१८८॥
 कदाचिद्विषयसंख्यायं गन्धर्वादिक्लागमम्^५ । स्वभ्यस्तत्पूर्वमभ्यस्यन् स्वयमभ्यासयत् परान् ॥१८९॥
^६छन्दोऽवचिन्त्यलङ्कारप्रस्तारादिविवेचनैः^७ । कदाचिद् भावयन् गोष्ठीश्चित्राद्यैश्च कलागमैः ॥१९०॥
 कदाचित् पदं^८ गोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा । वाचकैः समं कैश्चित् जल्पगोष्ठीभिरकदा ॥१९१॥
 कर्हिचिद् गीतगोष्ठीभिरुक्तं^९ गोष्ठीभिरकदा । कदाचिद् वाद्यगोष्ठीभिर्वीणागोष्ठीभिरन्यदा ॥१९२॥
 कर्हिचिद् बहिरूपेण नटतः सुरचेटकान् । नटयन् कर्तालेन लयमार्गानुयायिना ॥१९३॥
 कांश्चिच्च शुकलूपेण समासादितविक्रियान् । संपाठं पाठयच्छ्लोकानम्लिष्टं^{१०} मधुराक्षरम् ॥१९४॥
 हंसविक्रियया कांश्चिद् दधत्^{११} कालमी^{१२} दशाम् । सान्त्वयन्मुहुशानाथ्यं^{१३} [रानां^{१४} ध्य] करमा^{१५} क्रोडयन्मुषा^{१६}
 गजविक्रियया कांश्चिद् दधत्^{१७} कालमी^{१८} दशाम् । सान्त्वयन्मुहुशानाथ्यं^{१९} [रानां^{२०} ध्य] करमा^{२१} क्रोडयन्मुषा

बढ़ते जाते थे त्यों-त्यों समस्त जनसमूह और उनके परिवारके लोग हर्षको प्राप्त होते जाते थे ॥ १८५ ॥ इस प्रकार वे भगवान् माता-पिताके परम आनन्दको, बन्धुओंके सुखको और जगत्के समस्त जीवोंकी परम प्रीतिको बढ़ाते हुए वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ १८६ ॥ चरम शरीरको धारण करनेवाले भगवान्की सम्पूर्ण आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी ॥ १८७ ॥ वे भगवान् दीर्घदर्शी थे, दीर्घ आयुके धारक थे, दीर्घ भुजाओंसे युक्त थे, दीर्घ नेत्र धारण करनेवाले थे और दीर्घ सूत्र अर्थात् बृहद् विचारके साथ कार्य करनेवाले थे इसलिये तीनों ही लोकोंकी सूत्रधारता-गुरुत्वको प्राप्त हुए थे ॥ १८८ ॥ भगवान् वृषभदेव कभी तो, जिनका पूर्वभवंमें अच्छी तरह अभ्यास किया है ऐसे लिपि विद्या, गणित विद्या तथा संगीत आदि कलाशास्त्रोंका स्वयं अभ्यास करते थे और कभी दूसरोंको कराते थे ॥ १८९ ॥ कभी छन्दशास्त्र, कभी अलङ्कार शास्त्र, कभी प्रस्तारनष्ट उद्दिष्ट संख्या आदिका विवेचन और कभी चित्र स्त्रीचना आदि कला शास्त्रोंका मनन करते थे ॥ १९० ॥ कभी व्याकरणोंके साथ व्याकरणसम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कथियोंके साथ काव्य विषयकी चर्चा करते थे और कभी अधिक बोलनेवाले वादियोंके साथ वाद करते थे ॥ १९१ ॥ कभी गीतगोष्ठी, कभी नृत्यगोष्ठी, कभी वाद्यगोष्ठी और कभी वीणागोष्ठीके द्वारा समय व्यतीत करते थे ॥ १९२ ॥ कभी मयूरोंका रूप धरकर नृत्य करते हुए देवकिकरोंको लयके अनुसार हाथकी ताल देकर नृत्य कराते थे ॥ १९३ ॥ कभी विक्रिया शक्तिसे तोतेका रूप धारण करनेवाले देवकुमारोंको स्पष्ट और मधुर अक्षरोंसे श्लोक पढ़ाते थे ॥ १९४ ॥ कभी हंसकी विक्रिया कर धीरे-धीरे गद्गद् बोलीसे शब्द करते हुए हंसरूपधारी देवोंको अपने हाथसे सृणालके टुकड़े देकर सम्मानित करते थे ॥ १९५ ॥ कभी विक्रियासे हाथियोंके बच्चोंका रूप धारण करनेवाले देवोंको सान्त्वना देकर या सूँढ़में प्रहार कर उनके साथ आनन्दसे क्रोड़ा करते थे ॥ १९६ ॥

१. सुत्रम् । २. मम्मग् दिव्यार्थ वक्ता । ३. विशालाक्षः । ४. स्विरोभूय कार्यकारी इत्यर्थः । ५. गणि-
 तम् । -संस्करणं ५०, ६०, ८०, १०० । -संस्त्राणा-अ०, स०, । ६. कलाशस्त्रम् । ७. सुष्ठु पूर्वस्मिन् अभ्यस्तम् ।
 ८. छन्दःप्रतिपादकशास्त्रम् । छन्दोऽवचिन्त्यलङ्कार-५०, ल० । ९. विवरणः । १०. व्याकरणशास्त्रगोष्ठीभिः ।
 ११. वाचिमभिः । १२. -नृत्य-अ० । १३. व्यक्तम् । सुल्लिष्ट-५० । -नादिलिष्ट-अ, ल० । १४. ध्वनिं कुर्वतः ।
 १५. मन्द -अ०, स०, ६०, ल० । १६. विसृज्यः । १७. कलसमं बन्धिनीम् । १८. अनुनयन् । १९. -रानाथ्य
 अ०, ५०, स० । रानाथ्य द० । -रानाथ्य स०, ल० । २०. संप्राध्य । २१. शुष्कादण्डमानर्तमन ।

मणिकुट्टिमसंक्रान्तैः स्वैरेव प्रतिविम्बकैः । कृकवाकूचितान् कांश्चिद् योद्धुकामान् परामृशन् ॥१९७॥
 मल्लविक्रियया कांश्चिद् व्युत्सूनमभिद्वन्द्वः । प्रोत्साहयन्कृतस्फोटप्रलग्नानभितृष्यतः ॥१९८॥
 क्रीडमारसरूपेण तारकेश्वरकारिणाम् । शृण्वन्ननुगतं शब्दं केषांचित् श्रुतिपेक्षालम् ॥१९९॥
 खरिषणः शुचिलिप्ताङ्गान् समेतान् सुरवारकान् । दण्डां क्रीडां समायोज्य नर्तयेच्च कदाचन ॥२००॥
 अनारतं च कुम्भेन्दुमन्दाकिन्यप्लुटामलम् । सुरवन्दिमिरुज्जितं स्पर्शं समाकर्णयन् यशः ॥२०१॥
 अतन्द्रितं च देवीभिः न्यस्यमानं गृहाङ्गणे । रत्नचूर्णैर्वर्णितं चित्रं सानन्दमवलोकयन् ॥२०२॥
 संभावयन् कदाचिच्च प्रकृतीं वन्दुमागताः । वीक्षितैर्मधुरैः स्निग्धैः स्मितैः सादरभाषितैः ॥२०३॥
 कदाचिद् दीर्घिकाम्भस्तु समं सुरकुमारकैः । जलक्रीडाविनोदेन रममाणः ससंमदम् ॥२०४॥
 सारवं जलमासाधं सारवं हंसकृतैः । तारवैर्यन्त्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवैः ॥२०५॥
 जलकैलिविधावेन भवत्या मेघकुमारकाः । मेघुभारागृहीभूष स्फुरद्वाराः समन्ततः ॥२०६॥
 कदाचिन्नन्दनस्पर्धितस्वोभाञ्जिते वने । वनक्रीडां समातन्वन् वयस्यै रन्वितः सुरैः ॥२०७॥
 वनक्रीडाविनोदेऽस्य विश्रुतभूतकाः । मन्दं दुधुवुरध्वनपादपात पवनामराः ॥२०८॥
 इति कालोचिताः क्रीडा विनोदाश्च स निर्विशमः । आसांचक्रे सुखं देवः समं देवकुमारकैः ॥२०९॥

कभी मुर्गोंका रूप धारण कर रत्नमयी जमीनमें पड़ते हुए अपने प्रतिविम्बोंके साथ ही युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंको देखते थे या उनपर हाथ फेरते थे ॥१९७॥ कभी विक्रिया शक्तिसे मल्लका रूप धारण कर बैरके बिना ही मात्र क्रीड़ा करनेके लिए युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले गम्भीर गर्जना करते हुए और इधर-उधर नृत्य-सा करते हुए देवोंको प्रोत्साहित करते थे ॥१९८॥ कभी क्रीड और सारस पक्षियोंका रूप धारण कर उच्च स्वरसे केंकार शब्द करते हुए देवोंके निरन्तर होनेवाले कर्णप्रिय शब्द सुनते थे ॥१९९॥ कभी माला पहने हुए, शरीरमें चन्दन लगाये हुए और इकट्ठे होकर आये हुए देवनालकोंको दण्ड क्रीड़ा (पङ्गरका खेल) में लगाकर नचाते थे ॥२००॥ कभी स्तुति प्रदनेवाले देवोंके द्वारा निरन्तर गाये गये और कुन्द, चन्द्रमा तथा गङ्गा नदीके जलके छोटोंके समान निर्मल अपने यशको सुनते थे ॥२०१॥ कभी घरके आँगनमें आलस्यरहित देवियोंके द्वारा बनायी हुई रत्नचूर्णकी चित्रावलिफो आनन्दके साथ देखते थे ॥ २०२ ॥ कभी अपने दर्शन करनेके लिए आयी हुई प्रजाका, मधुर और स्नेहयुक्त अयलोकनके द्वारा तथा मन्द हास्य और आदरसहित संभाषणके द्वारा सत्कार करते थे ॥२०३॥ कभी वाद्यद्वियोंके जलमें देवकुमारोंके साथ-साथ आनन्दसहित जल-क्रीड़ाका विनोद करते हुए क्रीड़ा करते थे ॥२०४॥ कभी हंसोंके शब्दोंसे शब्दायमान सरयू नदीका जल प्राप्त कर उसमें पानीके आस्फालनसे शब्द करनेवाले लकड़ीके घने हुए यन्त्रोंसे जलक्रीड़ा करते थे ॥२०५॥ जलक्रीड़ाके समय मेघकुमार जातिके देव भक्तिसे धारागृह (फव्वारा) का रूप धारण कर चारों ओरसे जलकी धारा छोड़ते हुए भगवान्की सेवा करते थे ॥ २०६ ॥ कभी नन्दन-वनके साथ स्पर्धा करनेवाले वृक्षोंकी शोभासे सुशोभित नन्दन वनमें मित्ररूप हुए देवोंके साथ-साथ वनक्रीड़ा करते थे ॥२०७॥ वनक्रीड़ाके विनोदके समय पयनकुमार जातिके देव पृथिवीको धूलिरहित करते थे और उद्यानके वृक्षोंको धीरे-धीरे हिलाते थे ॥२०८॥ इस प्रकार देवकुमारोंके

१. कृकवाकव इवाचरितान् । २. स्पृशन् । ३. योद्धुमिच्छन् । ४. परस्परसंवाचकान् । ५. कुट् । ६. अत्युर्ध्वः स्वरभेदः । ७. सम्मिलितान् । ८. दण्डसंघन्धिक्रीडाम् । दण्ड्याः-५०, ६० । 'म०' पुस्तके द्विविधः पाठः । ९. आत्मीयम् । १०. अजाड्यं यथा भवति तथा । ११. प्रजापरिवारान् । १२. आलोकनैः । १३. ससंमदम् म० । १४. सरयवां भवम् । सरयूनाम नद्यां भवम् । 'देविकाया सरयवां च भवेद् दाविकृतारवः ।' १५. आरवेण सहितम् । १६. तस्मिन्निवृत्तैः । १७. द्रोण्यादिभिः । १८. कृतस्वनेः । १९. मित्रैः । २०. वम्पयन्ति स्म । २१. कलक्रीडादिकाः । २२. गजकहिरमान् । २३. अनुभवन् । २४. आसन् स्म ।

पञ्चदशं पर्व

अथास्य यौवने पूर्णं चपुरासीन्मनोहरम् । प्रकृत्यैव शशी कान्तः किं पुनः शरदागमे ॥१॥
निष्ठसकनकरलायं निःस्वेदं नीरजोऽमलम् । क्षीराच्छक्षतजं दिव्यमस्थानं वज्रमहत्तमम् ॥२॥
सौरूप्यस्य परां कोटिं दधानं सौरमस्य च । अष्टोत्तरसहस्रेण लक्षणानामलंकृतम् ॥३॥
अप्रमेयमहावीर्यं^१ दधन् प्रियहितं वचः । कान्तमाचिरभूतस्य रूपमप्राकृतं^२ प्रभोः ॥४॥
मकुटालंकृतं तस्य शिरो नीलशिरोरुहम् । सुरेन्द्रमणिभिः कान्तं मेराः शृङ्गमिवावर्मा ॥५॥
रुचिं मूर्ध्नि मालास्य कल्पानीकहसंभवा । हिमाद्रिः कूटभावेऽप्यपवन्तीवामरापणा ॥६॥
ललाटपट्टे विस्तीर्णं रुचिरस्य महस्यभूत । वारदेयाललितः क्रीडै स्थललीलां वितन्वती ॥७॥
भूलने रजतुर्नसुललाटाद्रितटाश्रिते । वागुरे मदर्शनस्य^३ संरोधार्यव^४ कल्पिते ॥८॥
नयनोत्पलयोरस्य कान्तिरानीलनारयोः^५ । आसीद् द्विरेफसंसक्तमहोत्पलदलश्रियोः ॥९॥
मणिकुण्डलभूषाभ्यां कर्णवस्य रराजतुः । पर्यन्ती गगनस्यैव चन्द्राकांभ्यामलंकृतौ ॥१०॥
मुखेन्द्री या घृतिस्तस्य न सान्यत्र त्रिविह्वं । समृते या घृतिः^६ सा किं कचिदन्यत्रलक्ष्यते ॥११॥
हिमतीकुसुचिरं तस्य मुखमावाटलाभरम् । लसद्दलस्य पद्मस्य सफेनस्य श्रियं दर्शो ॥१२॥

अतन्मर पूर्ण यौवन अवस्था होनेपर भगवानका शरीर बहुत ही मनोहर हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमा स्वभावसे ही सुन्दर होता है यदि शरीरवृक्षके अंगमन ही जाके तो फिर कहना ही क्या है ? ॥१॥ उनका रूप बहुत ही सुन्दर और असाधारण हो गया था, वह तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाला था, पर्यान्तासे रहित था, धूलि और गलसे रहित था, दूधके समान सफेद रुधिर, समचतुरस्र नामक सुन्दर संस्थान और वज्रवृषभनागाच-संहननसे सहित था, सुन्दरता और सुगन्धिकी परम सीमा धारण कर रहा था, एक हजार आठ लक्षणांसे अलंकृत था, अप्रमेय था, महाशक्तिशाली था, और प्रिय तथा हितकारी वचन धारण करता था ॥२-४॥ काले-काले केशोंसे युक्त तथा मुकुटसे अलंकृत उनका शिर ऐसा सुशोभित होता था मानो नीलमणियोंसे मनोहर मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥५॥ उनके मस्तक-पर पड़ी हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला ऐसी अच्छी मालूम होती थी मानो हिमगिरिके शिखरोंको घेरकर ऊपरसे पड़ी हुई आकाशगंगा ही हो ॥६॥ उनके चीहें ललालपट्टपर-की भारी शोभा ऐसी मालूम होती थी मानो सरस्वती देवीके सुन्दर उपवन अथवा क्रीडा करनेके स्थलकी शोभा ही बढ़ा रही हो ॥७॥ ललाटरूपी पर्वतके तटपर आश्रय लेनेवाली भगवानकी दोनों भौंहरूपी लताएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कामदेवरूपी मृगको रोकनेके लिए वो पाश ही बनाये हो ॥८॥ काली पुतलियोंसे सुशोभित भगवानके नेत्ररूपी कमलोंकी कान्ति, जिनपर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे कमलोंकी पंखुरीके समान थी ॥९॥ मणियोंके बने हुए कुण्डल-रूपी आभूषणोंसे उनके दोनों कान ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो चन्द्रमा और सूर्यसे अलंकृत आकाशके दो किनारे ही हो ॥१०॥ भगवानके मुखरूपी चन्द्रमामें जो कान्ति था वह तीन लोकमें किसी भी दूसरी जगह नहीं थी सो ठीक ही है अमृतमें जो सन्तोष होता है वह क्या किसी दूसरी जगह दिखाई देता है ? ॥११॥ उनका मुख मन्दहाससे मनोहर था, और

१. संहननम् । २. अप्रमेयं महावीर्यं प०, द०, म०, ल० । ३. असाधारणम् । ४. विभोः स० ।
५. मुकुटाल-अ०, प०, द०, ल० । ६. इन्द्रनीलमणिकर्षः । ७. उद्यान- । ८. मृगवन्धव्यो । ९. स्मरत्रिणस्य ।
१०. संधारणाय । ११. अ। गगनालीलकर्षणिकयोः । १२. संतोषः ।

दधेऽस्य नासिकोत्तुङ्गा श्रियमावर्ति शालिनीम् । सरस्वत्यवताराय कल्पितेव प्रणालिका ॥१३॥
 धत्ते स्म हचिरा रेखाः १ कम्धरोऽस्यास्यसन्नः २ उल्लिङ्ग्य घटितो धात्रा ३ रौक्मस्तम्भ हृषिकः ॥१४॥
 महानायकसंसर्गता ४ हारयष्टिमसौ दधे । वक्षसा गुणराजन्य ५ कृतनामिव संवृताम् ॥१५॥
 ६ इन्द्रच्छन्दं महाहारमधत्तासौ स्फुरद्भुतिः । वक्षसा सानुनाद्रोम्बो यथा ७ निर्झरसंकरम् ॥१६॥
 हारेण हारिणा तेन तन्वक्षो हचिमानशे । गङ्गाप्रवाहसंसक्तहिमाद्रितटसंभवाम् ॥१७॥
 वक्षस्तस्मि रम्येऽस्य हारोचिच्छटाभसा । संभृते सुचिरं रेमे दिव्यश्रीकलहंसिका ॥१८॥
 वक्षःश्रीगेहपर्वन्ते तस्यांसा ८ श्रियमापतुः । जयलक्ष्मीकृतावासा ९ तुङ्गौ अहालकाविष ॥१९॥
 बाहु केयूरसंघट्ट १० मसृणासौ दधे विभुः । कल्पाङ्गिगविवासीष्टफलदौ धोलताश्रितौ ॥२०॥
 नखानूह ११ सुखालोकान् १२ सकराङ्गुलिसंश्रितान् । १३ दशावतारसंयुक्तलक्ष्मीविभ्रमदर्पणान् ॥२१॥
 १४ मध्येकाधमसौ नाभिमदधन्नाभिनन्दनः । सरसीमिव सावर्णा लक्ष्मीहंसीनिषेविताम् ॥२२॥
 १५ समंखलमघात् कान्तिं जघनं तस्य सांशुकम् । नितम्बमिव भूमतुः १६ सतद्विच्छरदम्बुदम् ॥२३॥

लाल-लाल अधरसे सहित था इसलिए फेनसहित पाँखुरीसे युक्त कमलकी शोभा धारण कर रहा था ॥१२॥ भगवान्की लम्बी और ऊँची नाक सरस्वती देवीके अवतरणके लिए बनायी गयी प्रणालीके समान शोभायमान हो रही थी ॥१३॥ लक्ष्मीके कण्ठ मनोहर रेखाएँ धारण कर रहा था । वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो बिधाताने मुखरूपी घरके लिए उकेर कर एक सुवर्णका स्तम्भ ही बनाया हो ॥१४॥ वे भगवान् अपने वक्षःस्थलपर महानायक अर्थात् बीच-में लगे हुए श्रेष्ठ मणिसे युक्त जिस हारयष्टिकी धारण कर रहे थे वह महानायक अर्थात् श्रेष्ठ सेनापतिसे युक्त, गुणरूपी श्रत्रियोंकी सुसंगठित सेनाके समान शोभायमान हो रही थी ॥१५॥ जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अपने शिखरपर पड़ते हुए झरने धारण करता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव अपने वक्षःस्थलपर अतिशय देदीप्यमान इन्द्रच्छन्द नामक हारको धारण कर रहे थे ॥१६॥ उस मनोहर हारसे भगवान्का वक्षःस्थल गंगा नदीके प्रवाहसे युक्त हिमालय पर्वतके तटके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥१७॥ भगवान्का वक्षःस्थल सरोवरके समान सुन्दर था । वह हारकी किरणरूपी जलसे भरा हुआ था और उसपर दिव्य लक्ष्मीरूपी कलहंसी चिरकाल तक क्रीड़ा करती थी ॥१८॥ भगवान्का वक्षःस्थल लक्ष्मीके रहनेका घर था, उसके दोनों ओर ऊँचे उठे हुए उनके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जयलक्ष्मीके रहनेकी दो ऊँची अटारों ही हों ॥१९॥ बाजूबन्दके संघट्टनसे जिनके कन्धे स्निग्ध हो रहे हैं और जो शोभारूपी लतासे सहित हैं ऐसी जिन भुजाओंको भगवान् धारण कर रहे थे वे अभीष्टफल देनेवाले कल्पवृक्षोंके समान सुशोभित हो रही थी ॥२०॥ सुख देने-वाले प्रकाशसे युक्त तथा सीधी अँगुलियोंके आश्रित भगवान्के हाथोंके नखोंको मैं समझता हूँ कि वे उनके महाबल आदि दस अवतारोंमें भोगी हुई लक्ष्मीके विलास-दर्पण ही थे ॥२१॥ महाराज नाभिराजके पुत्र भगवान् वृषभदेव अपने शरीरके मध्यभागमें जिस नाभिको धारण किये हुए थे वह लक्ष्मीरूपी हंसीसे सेवित तथा आवर्तसे सहित सरसीके समान सुशोभित हो रही थी ॥२२॥ करधनी और वरुसे सहित भगवान्का जघनभाग ऐसी शोभा धारण

१. -मायाति-अ०, स० । २. श्रुतदेव्यवतरणाय । ३. प्रवेष्टादारम् । ४. ग्रीवा । ५. वन्द्यमन्दिरः ।

६. उत्कीर्त्य संघटितः । ७. सुवर्णमय । ८. महामध्वमणियुताम् । ९. गुणवद्राजपुत्रसेनाम् । गुणराजस्य ट० । १०. संयुक्ताम् । ११. एतन्नामकं हारविशेषम् । १२. निर्झरप्रवाहम् । १३. भुजशिखरी । १४. केयूरसम्पदन-कृतनयभुजशिखरी । १५. धृतवान् । १६. मुखप्रकाशान् । १७. सरलाङ्गुलि-अ०, स०, म० । १८. महाबला-दिदशावतारेष्वनुभूतलक्ष्मीविलासमुकुरान् । १९. शरीरस्य मध्ये । २०. काञ्चोदामसहितम् । २१. पर्वतस्य ।

अभारोहद्वयं धीरः कार्तस्वरविभास्वरम् । लक्ष्मीदेव्या हवान्दोलस्तम्भयुग्मकमुच्चैः ॥२४॥
जह्ने मदनमातङ्गदुर्लङ्घ्यार्गलविभ्रमे । लक्ष्म्येवोद्धर्तिते^१ मर्तुः परां कान्तिमवापताम् ॥२५॥
पादारविन्दयोः कान्तिरस्य केनोपमीयते । त्रिजगत्स्त्रीसमाश्लेषसौभाग्यमदशालिनीः ॥२६॥
इत्यस्याविरभूत्^२ कान्तिरालकाग्रं^३ नखाग्रतः^४ । नूतमन्यत्र तालञ्च सा^५ प्रतिष्ठां स्ववाञ्छिताम् ॥२७॥
निसर्गसुन्दरं तस्य वपुर्वज्रास्थिवन्धनम् । विषशस्त्राभयार्थं भजे रुक्मादिसंछाये^६ ॥२८॥
यत्र वज्रमयास्थोनि^७ वज्रैर्वलितानि च । वज्रनाराचनिश्चानि तत्संहननमोक्षिणुः ॥२९॥
^१त्रिदोषजा महातक्का नास्य देहे न्यधुः^{१०} पदम् । मरुतां^{११} चलितागानां ननु मेरुगोचरः ॥३०॥
न जरास्य न खेदो वा नोपचातोऽपि जातुचित् । केवलं सुखसागृतो^{१२} महीतल्येऽमहीयते^{१३} ॥३१॥
तदस्य रुक्मे गात्रं परमौदारिकाङ्ग्यम् । महाभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां मूलकारणम् ॥३२॥
^{१४}मानोन्मानप्रमाणांमन्यूनाधिकतां धितम् । संस्थानमाधमस्यासीच्चतुरस्रं^{१५} समन्ततः ॥३३॥

कर रहा था मानो बिजली और शरद्वृष्टि के बादलों से सहित किसी पर्वत का नितम्ब (मध्यभाग) ही हो ॥ २३ ॥ धीर-वीर भगवान् सुवर्ण के समान देदीप्यमान जिन दो ऊरुओं (घुटनों से ऊपर का भाग) को धारण कर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी देवी के मूला के दो ऊँचे स्तम्भ ही हों ॥ २४ ॥ कामदेवरूपी हार्थी के उल्लंघन न करने योग्य अर्गलों के समान शोभायमान भगवान् की दोनों जंघाएँ इस प्रकार उत्कृष्ट कान्तिको प्राप्त हो रही थीं मानो लक्ष्मी देवी ने स्वयं उबटन कर उन्हें उज्ज्वल किया हो ॥ २५ ॥ भगवान् के दोनों ही चरण कमल तीनों लोकों की लक्ष्मी के आलिंगन से उत्पन्न हुए सौभाग्य के गर्व से बहुत ही शोभायमान हो रहे थे, संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके कि साथ उनकी उपमा दी जा सके ॥ २६ ॥ इस प्रकार पैरों के नख के अग्रभाग से लेकर शिर के बालों के अग्रभाग तक भगवान् के शरीर की कान्ति प्रकट हो रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो उसे किसी दूसरी जगह अपनी इच्छानुसार स्थान प्राप्त नहीं हुआ था इसलिए वह अनन्य गति होकर भगवान् के शरीर में आ प्रकट हुई हो ॥ २७ ॥ भगवान् का शरीर स्वभाव से ही सुन्दर था, वज्रमय हस्त्रियों के बन्धन से सहित था, विष शस्त्र आदि से अभेद्य था और इसीलिए वह मेरु पर्वत की कान्तिको प्राप्त हो रहा था ॥ २८ ॥ जिस संहनन में वज्रमयी हस्त्रियाँ बलों से वेष्टित होती हैं और वज्रमयी कीलों से कीलित होती हैं, भगवान् वृषभदेव का वही वज्रवृषभनाराचसंहनन था ॥ २९ ॥ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों से उत्पन्न हुई व्याधियाँ भगवान् के शरीर में स्थान नहीं कर सकी थीं सो ठीक ही है वृह अथवा अन्य पर्वतों को हिलाने वाली वायु मेरु पर्वत पर अपना असर नहीं दिखा सकती ॥ ३० ॥ उनके शरीर में न कभी बुढ़ापा आता था, न कभी उन्हें खेद होता था और न कभी उनका उपघात (असमय में मृत्यु) ही हो सकता था । वे केवल सुख के अधीन होकर पृथिवीरूपी शय्या पर पूजित होते थे ॥ ३१ ॥ जो महाभ्युदयरूप मोक्ष का मूल कारण था ऐसा भगवान् का परमौदारिक शरीर अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥ ३२ ॥ भगवान् के शरीर का आकार, लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई आदि सब ओर हीनाधिकता से रहित था, उनका समचतुरस्रसंस्थान था ॥ ३३ ॥

१. उत्तेजिते सत्कृते च । २.-रावालाच-३०, ५०, ५०, ५०, ६०, ८० । ३. अलकाग्रादारम्य । ४. नखाग्रपर्वन्तम् । ५. आश्रयम् । ६.-सच्छविम् स० । ७. वज्रमयवैद्यनैर्वेष्टितानि । ८. वज्रनाराचकीलितानि । ९. वास्तपित्तश्लेष्मजा महाव्याधयः । १०. व्यधुः ५०, ५० । ११. कम्पितवृक्षाणाम् । १२. भूशय्यायाम् । १३. पूज्योऽभूत् । 'महीङ् बूढ़ी पूजायाम् ।' १४. उत्सेधबलव्यवस्ताराणाम् । १५. समचतुरस्रम् ।

यथास्य रूपसंपत्तिरनया सोमैश्च पप्रथे । न हि कनकाङ्घ्रिरोद्भूतिरनाभरणभासुरा ॥३४॥
 लक्षणानि वभुर्भर्तुर्देहमाश्रित्य निर्मलम् । ज्योतिषामिव विम्बानि मेरोर्मणिमयं तटम् ॥३५॥
 विभुः कल्पवृक्षश्चाजस्वस्तिकाङ्कुशतारणम् । सुमानि लक्षणान्यस्मिन् कुसुमानां च रेजरे ॥३६॥
 तानि श्रोतृशशङ्काजस्वस्तिकाङ्कुशतारणम् । प्रकीर्णकमित्यल्यस्मिन् विष्टरकेतनम् ॥३७॥
 झयी कुम्भो च कुम्भश्च चक्रमद्विधः सरोवरम् । विमानभवनं नागो नरनार्यो सुगाधिपः ॥३८॥
 याणचाणसने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा । पुरं गोपुरमिन्द्रकी जाय्यश्चस्तालवृन्तकम् ॥३९॥
 वेणुवीणा सुदृक्षश्च चर्मा पद्मशक्रापर्णा । स्फुरन्ति कुण्डलाङ्गानि विचित्राभरणानि च ॥४०॥
 उद्यानं फलितं श्रेयं गुणकलमाद्रिणम् । रत्नद्वीपश्च वज्रं च महा लक्ष्मीः सरस्वती ॥४१॥
 मूरभिः सारभेशश्च चूडारत्नं महानिधिः । कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूद्वीपश्च पक्षिराट् ॥४२॥
 उड्ढनि तारकाः स्याथ ग्रहाः सिद्धार्थपादपः । प्रातिहार्यप्यहार्याणि मङ्गलान्यपराणि च ॥४३॥
 लक्षणान्येवमाहानि विभोरष्टोत्तरं शतम् । व्यञ्जनान्यपराण्यसन् शतानि नवमंख्यया ॥४४॥
 अभिरामं वपुर्भर्तुर्लक्षणैरभिरुजितैः । ज्योतिर्मिरिव संलक्षं गगनप्राङ्गणं बभौ ॥४५॥
 लक्ष्मणां च भुवं किञ्चिदस्यन्तर्लक्षणं शुभम् । येन तैः श्रीपतेरङ्गं स्पष्टं लक्ष्यमकलमथम् ॥४६॥
 लक्ष्मीतिकामकठिने विरागस्य जगद्गुरोः । कथं कथमपि प्रापद्वकाशं मनोगृहे ॥४७॥

भगवान् वृषभदेवकी जैसी रूप-सम्पत्ति प्रसिद्ध थी वैसी ही उनकी भोगोपभोगकी सामग्री भी प्रसिद्ध थी, सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षोंकी उत्पत्ति आभरणोंसे देदीयमान हुए बिना नहीं रहती ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार सुमेरु पर्वतके मणिमय तटको पाकर ज्योतिषी देवोंके मण्डल अतिशय शोभायमान होने लगते हैं उसी प्रकार भगवान्के निर्मल शरीरको पाकर सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुए लक्षण अतिशय शोभायमान होने लगे थे ॥ ३५ ॥ अथवा अनेक आभूषणोंसे उज्ज्वल भगवान् कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहे थे और अनेक शुभ लक्षण उसपर लगे हुए फूलोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३६ ॥ श्रीवृक्ष, शङ्ख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, वैष्णवी, पुत्र, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्त-पंखा, बौसुरी, बीणा, मृदंग, मालाई, रेशमी वस्त्र, दूकान, कुण्डलको आदि लेकर चमकते हुए चित्र-विचित्र आभूषण, फलसहित उपवन, पके हुए वृक्षोंसे सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूडामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादिक मह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, और आठ मंगलद्रव्य, इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जन भगवान्के शरीरमें विद्यमान थे ॥ ३७-४४ ॥ इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणोंसे व्याप्त हुआ भगवान्का शरीर ज्योतिषी देवोंसे भरे हुए आकाश-रूपी आँगनकी तरह शोभायमान हो रहा था ॥ ४५ ॥ चूँकि उन लक्षणोंकी भगवान्का निर्मल शरीर स्पर्श करनेके लिए प्राप्त हुआ था इसलिए जान पड़ता है कि उन लक्षणोंके अन्तर्लक्षण कुछ शुभ अवश्य थे ॥ ४६ ॥ रागद्वेषरहित जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके अतिशय कठिन मनरूपी घरमें लक्ष्मी जिस प्रकार—बड़ी कठिनाईसे अवकाश पा सकी थी। भावार्थ—

- १.—तोरणः ४०, स०, १ २. प्रकीर्णकं चामरम् । ३. सुरविमाननागालयो । ४. गजः । ५. वंशः । ६. आपणः पण्यवीथी । ७. फलितं ४०, ल० । ८. कामधेनुः । ९. वृषभः । १०. जम्बूद्वीपः । ११. गरुडः । १२. नक्षत्राणि । १३. प्रकीर्णकतारकाः । १४.—दिपाः म० । १५. स्वामाविकानि । १६.—पराण्यपि ४०, स० । १७. अन्तर्लक्षणेन । १८. लक्षणैः ।

सरस्वती प्रियास्यामीत् कर्त्तिश्राकल्पवर्तिनी । लक्ष्मीं विघ्नलतालांला मन्दप्रेमणैव सोऽवदत् ॥४८॥
 तदीयरूपलावण्ययौवनादिगुणोद्गमैः^१ । आकृष्टा जनतानेग्रभृङ्गा^२ नान्यत्र रेमिरे ॥४९॥
 नाभिराजोऽन्यदा दृष्ट्वा यौवनारम्भमीशितुः ।^३ परिणययितुं देवमिति चिन्ता मनस्यधात् ॥५०॥
 देवोऽयमनिकान्ताङ्गः कास्य स्याच्चित्तहारिणी । सुन्दरी मन्दरागेऽस्मिन् प्रारम्भो दुर्बलो ह्ययम् ॥५१॥
 अपि चास्य महानस्ति^४ प्रारम्भस्तोयवर्त्तने । सांतिवर्त्ता^५ गन्धेभो नियमाप्रविशेद्वनम्^६ ॥५२॥
 तथापि काललब्धिः स्याद् यावदस्य तपस्यनुग^७ । तावत्कलत्रमुचितं चिन्त्य^८ लोकानुरोधतः ॥५३॥
 ततः पुण्यवती काचिदुचितामिजना^९ वधूः । कलहंसीव निष्पक्वमस्यावसतु मानसम् ॥५४॥
 इति निश्चित्य लक्ष्मीधान्नाभिराजोऽतिसंभ्रमी ।^{१०} ससाम्बसुपसृष्टे^{११} दमधोषद्वन्द्वं वरम् ॥५५॥
 देव किञ्चिद् विवक्षामि^{१२} सावधानमित्रः शृणु । स्वशोपकारं लोकस्य करणीयो जगत्पते ॥५६॥
 हिरण्यभस्त्रं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि^{१३} । निभमात्रं स्वनुपमां पितृमन्या^{१४} यतो वयम् ॥५७॥

भगवान् स्वभावसे ही बीतराग थे, राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करना अच्छा नहीं समझते थे ॥४८॥
 भगवान्को दो स्त्रियाँ ही अत्यन्त प्रिय थी—एक तो सरस्वती और दूसरी कल्पान्तकाल तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति । लक्ष्मी विघ्नलताके समान चंचल होती है इसलिए भगवान् उसपर बहुत थोड़ा प्रेम रखते थे ॥४९॥ भगवान्के रूप-लावण्य, यौवन आदि गुणरूपी पुष्पोंसे आकृष्ट हुए मनुष्योंके नेत्ररूपी भौरे दूसरी जगह कहीं भी रमण नहीं करते थे—आनन्द नहीं पाते थे ॥४९॥
 किसी एक दिन महाराज नाभिराज भगवान्की यौवन अवस्थाका प्रारम्भ देखकर अपने मनमें उनके विवाह करनेकी चिन्ता इस प्रकार करने लगे ॥५०॥ कि यह देव अतिशय सुन्दर शरीरके धारक हैं, इनके चित्तको हरण करनेवाली कौन-सी सुन्दर स्त्री हो सकती है ? कदाचिन् इनका चित्त हरण करनेवाली सुन्दर स्त्री मिल भी सकती है, परन्तु इनका विषयराम अत्यन्त मन्द है इसलिए इनके विवाहका प्रारम्भ करना ही कठिन कार्य है ॥५१॥ और दूसरी बात यह है कि इनका धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेमें भारी उद्योग है इसलिए ये नियमसे सब परिग्रह छोड़कर मत्त हस्तीकी नाई वनमें प्रवेश करेंगे अर्थात् वनमें जाकर दीक्षा धारण करेंगे ॥५२॥ तथापि तपस्या करनेके लिए जयतक इनकी काललब्धि आती है तबतक इनके लिए लोकव्यवहारके अनुरोधसे योग्य स्त्रीका विचार करना चाहिए ॥५३॥ इसलिए जिस प्रकार हंसी निष्पंक अर्थात् कीचड़-रहित मानस (मानसरोवर) में निवास करती है वसी प्रकार कोई योग्य और कुलीन स्त्री इनके निष्पंक अर्थात् निर्मल मानस (मन)में निवास करे ॥५४॥ यह निश्चय कर लक्ष्मीमान् महाराज नाभिराज बड़े ही आदर और हर्षके साथ भगवान्के पास जाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान्से शान्तिपूर्वक इस प्रकार कहने लगे कि ॥५५॥ हे देव, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ इसलिए आप सावधान होकर सुनिए । आप जगत्के अधिपति हैं इसलिए आपको जगत्का उपकार करना चाहिए ॥५६॥ हे देव, आप जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा हैं तथा स्वभू हैं अर्थात् अपने-आप ही उत्पन्न हुए हैं । क्योंकि आपकी उत्पत्तिमें अपने-आपको पिता माननेवाले हम

१. पूर्णः । २. जगतां नेत्र-१०, २० । ३. विवाहयितुम् । ४. विवाहोपक्रमः । ५. अतिक्रमणशीलः ।
 विघ्नलताया वल्लभान् इत्यर्थः । ६. तपोवनम् । ७. तपस्यनुं ५०, ल० । तपःसिन्तुं २०, अ० । तपस्कृतुम् ।
 ८. जवानुवर्तनान् । ९. योग्यकुलाः । १०. सामप्रहितम् । 'सामसाम्बसुपसृष्टे समी' इत्यभिधानात् । अपवा
 मान्त्वम् अतिमधुरम् 'अस्वयंमधुरं सान्त्वं संपतं हृदयंगमम्' इत्यभिधानात् । * ११. वधूनिष्ठामि ।
 १२. स्वयंभूः । १३. व्याजमात्रम् । १४. पितृमन्या अ०, ५०, म०, ल० ।

यथाकस्य समुद्रगो निमित्तमुदयाचलः । स्वतस्तु मास्वानुधाति तथैवास्मद् भवानपि ॥५८॥
 गर्भगेहे सुखौ मानुस्त्वं दिव्ये पद्मविष्टरे । निधाय स्वां परां शक्तिमुद्भूतो^१ निष्कलोऽस्यतः ॥५९॥
 गुरुमुवीडं^२ तदेव स्वामित्यभ्यर्थये^३ विभुम् । मर्ति विधेहि लोकस्य^४ सर्जनं प्रति संप्रति ॥६०॥
 स्वामादिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्तताम् । महतां मार्गयन्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसो^५ ह्यसुः ॥६१॥
 ततः कलत्रमग्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु । प्रजासन्ततिरंवे^६ हि नोच्छेत्स्यति विद्वावर ॥६२॥
 प्रजासन्तस्यविच्छेदे तनुते धर्मसन्ततिः । मनुष्व मानवं^७ धर्मं ततो देवेभ्यमप्युत^८ ॥६३॥
 देवेभ्यं गृहिणां धर्मं विद्धि वारपरिग्रहम् । सन्तानरक्षणे यत्नः कार्थो हि गृहमेधिनाम्^९ ॥६४॥
 स्वया गुरुमंतोऽयं^{१०} चेत् जनः^{११} केनापि हेतुना । यद्यो नोदलङ्घयमेवास्य नेष्टं हि गुरुलङ्घनम् ॥६५॥
 ह्यपुदीर्य गिरं धीरो^{१२} ध्वरंसीत्तामिपार्थिवः । देवस्तु सस्मिन् तस्य वचः प्रव्यच्छदोमिति^{१३} ॥६६॥
 किमेतत्पितृदाक्षिण्यं किं प्रजानुग्रहं पिता । नियोगः कोऽपि वा तादृग् वेमैच्छताश्च वशी ॥६७॥
 ततोऽस्यानुमतिं ज्ञात्वा^{१४} विशङ्को नामिभूपतिः । सहद्विवाहकल्याणमकरोत्पत्न्या मुदा ॥६८॥
 सुरेश्वरानुमतात् कम्पे सुशीले चारुलक्षणे । सत्यौ सुरशिराकारे^{१५} वरयामास नाभिराज् ॥६९॥

लोग छल मात्र हैं ॥५८॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेमें उदयाचल निमित्त मात्र है क्योंकि सूर्य स्वयं ही उदित होता है उसी प्रकार आपकी उत्पत्ति होनेमें हम निमित्त मात्र हैं क्योंकि आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं ॥५९॥ आप माताके पवित्र गर्भगृहमें कमलरूपी दिव्य आसनपर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वास्तवमें शरीररहित हैं ॥५९॥ हे देव, यद्यपि मैं आपका यथार्थमें पिता नहीं हूँ, निमित्त मात्रसे ही पिता कहलाता हूँ तथापि मैं आपसे एक अभ्यर्थना करता हूँ कि आप इस समय संसारकी सृष्टिकी ओर भी अपनी बुद्धि लगाइए ॥६०॥ आप आविपुरुष हैं इसलिए आपको देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम सन्तान होनेवाली हैं ऐसी यह प्रजा महापुरुषोंके ही मार्गका अनुगमन करती है ॥६१॥ इसलिए हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, आप इस संसारमें किसी इष्ट कन्याके साथ विवाह करनेके लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होगा ॥६२॥ प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होनेपर धर्मकी सन्तति बढ़ती रहेगी इसलिए हे देव, मनुष्योंके इस अविनाशीक विवाहरूपी धर्मको अवश्य ही स्वीकार कीजिए ॥६३॥ हे देव, आप इस विवाह कार्यको गृहस्थोंका एक धर्म समझिए क्योंकि गृहस्थोंको सन्तानकी रक्षामें प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए ॥६४॥ यदि आप मुझे किसी भी तरह गुरु मानते हैं तो आपको मेरे वचनोंका किसी भी कारणसे उल्लंघन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरुओंके वचनोंका उल्लंघन करना इष्ट नहीं है ॥६५॥ इस प्रकार वचन कहकर धीर-वीर महाराज नाभिराज चुप हो रहे और भगवान् ने हँसते हुए 'ओम्' कहकर उनके वचन स्वीकार कर लिये अर्थात् विवाह कराना स्वीकृत कर लिया ॥६६॥ इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले भगवान् ने जो विवाह करानेकी स्वीकृति दी थी वह क्या उनके पिताकी चतुराई थी, अथवा प्रजाका उपकार करनेकी इच्छा थी अथवा वैसा कोई कर्मोंका नियोग ही था ॥६७॥ तदनन्तर भगवान् की अनुमति जानकर नाभिराजने निःशंक होकर बड़े हर्षके साथ विवाहका बड़ा भारी उत्सव किया ॥६८॥ महाराज नाभिराजने इन्द्रकी अनुमतिसे सुशील, सुन्दर लक्ष्मणोंवाली, सती और मनोहर आकारवाली दो कन्याओंकी

१. अस्मत्तः । २. भवत्संबन्धिनोम् । ३. निःशरीरः, शरीररहित इत्यर्थः । ४. कारणात् । ५. प्रार्थये । ६. सृष्टिः । ७. सुप्रजवरपः । ८. एवं सति । ९. विच्छिन्ना न भविष्यति । १०. जानीहि । ११. मनुसंबन्धिनम् । १२. देवेभ्यमप्युतम् अ०, प०, व०, स० । देवेभ्यमप्युतम् ल० । १३. गृहमेधिना व० । १४. पितेति मतः । १५. अहमित्यर्थः । १६. तूष्णीं स्थितः । १७. तथास्तु । ओमेव परमं मतं । १८. नियमेन कर्तव्यः । १९. मत्वा प०, द०, म०, ल०, । २०. पतिव्रते । २१. यथाचे ।

तन्मयी^१ कच्छमहाकच्छजाभ्यां^२ सीमये पतिवरे^३ । यशस्वती सुनन्दाक्षये स पूर्व^४ पर्यर्णानयन् ॥७०॥
 पुरुः पुरुगुणो देवः^५ परिणेतृति संभ्रमात् । परं कल्याणमातेजुः सुराः प्रीतिपरायणाः ॥७१॥
 पश्यन्वाणिगृहीत्यौ^६ ते नाभिराजः सनाभिभिः^७ । समं समतुषम् प्रायः लोकधर्मप्रियो जनः ॥७२॥
 पुरुदेवस्य कल्याणे मरुदेवी तुतोष सा । दारकर्मणि पुत्राणां प्रीत्युत्कर्षो हि योयिताम् ॥७३॥
^८विष्टया स्म वर्द्धते देवी पुत्रकल्याणसंपदा । कलयेन्दोरिषाम्भोधिवेला कल्लोलमालिनी ॥७४॥
 पुरोर्विवाहकल्याणे प्रीति भेजे जनोऽखिलः ।^९स्वभोगीनतया भोक्तुं^{१०} भोगाल्लोको^{११} अनुवर्त्यते^{१२} ॥७५॥
 प्रमोदाय नृलोकस्य न परं स महोत्सवः । स्वलोकस्यापि संप्रीतिमतनादितनीयसीम्^{१३} ॥७६॥
 वरोरु चारुवहे ते^{१४} मृदुपादपयोहरे ।^{१५}सुभोगिनाभरणैः^{१६} कायेनाजयतां जगत् ॥७७॥
^{१७}वरारोहे तनूदयी रोमराजि^{१८} तनीयसीम् । अधस्तां कामगन्धेभमक्षुत्ति^{१९} मिषामिमाम्^{२०} ॥७८॥
 नामि कामरसस्यैककूपिकां विभृतः स्म ते । रोमराजीकृतामूलवद्धा^{२१} पालामिषामितः ॥७९॥

याचना की ॥६९॥ वे दोनों कन्याएँ कच्छ महाकच्छकी बहनें थीं, बड़ी ही शान्त और यौवन-वती थीं; यशस्वी और सुनन्दा उनका नाम था। उन्हीं दोनों कन्याओंके साथ नाभिराजने भगवान्का विवाह कर दिया ॥७०॥ श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव विवाह कर रहे हैं इस हर्षसे देवोंने प्रसन्न होकर अनेक उत्तम-उत्तम उत्सव किये थे ॥७१॥ महाराज नाभिराज अपने परिवारके लोगोंके साथ, दोनों पुत्रवधुओंको देखकर भारी सन्तुष्ट हुए सो ठीक ही है क्योंकि संसारी जनोंको विवाह आदि लौकिक धर्म ही प्रिय होता है ॥७२॥ भगवान् वृषभदेवके विवाहोत्सवमें मरुदेवी बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी सो ठीक ही है, पुत्रके विवाहोत्सवमें स्त्रियोंको अधिक प्रेम होता ही है ॥७३॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी कलासे लहरोंकी मालासे भरी हुई समुद्रकी वेला बढ़ने लगती है उसी प्रकार भाग्योदयसे प्राप्त होनेवाली पुत्रकी विवाहोत्सव-रूप सम्पदासे मरुदेवी बढ़ने लगी थी ॥७४॥ भगवान्के विवाहोत्सवमें सभी लोग आनन्दको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है। मनुष्य स्वयं ही भोगोंकी तृष्णा रखते हैं इसलिए वे स्वामीको भोग स्वीकार करते देखकर उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं ॥७५॥ भगवान्का वह विवाहोत्सव केवल मनुष्यलोककी प्रीतिके लिए ही नहीं हुआ था, किन्तु उसने स्वर्गलोकमें भी भारी प्रीतिको विस्तृत किया था ॥७६॥ भगवान् वृषभदेवकी दोनों महादेवियाँ उत्कृष्ट ऊरुओं, सुन्दर जंघाओं और कोमल चरण-कमलोंसे सहित थीं। यद्यपि उनका सुन्दर कटिभाग अधर अर्थात् नीचा था (पक्षमें नाभिसे नीचे रहनेवाला था) तथापि उससे संयुक्त शरीरके द्वारा उन्होंने समस्त संसारको जीत लिया था ॥७७॥ वे दोनों ही देवियाँ अत्यन्त सुन्दर थीं, उनका उदर कृश था और उस कृश उदरपर वे जिस पतली रोम-राजिको धारण कर रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी मद्योन्मत्त हाथीके मदकी अग्रधारा ही हो ॥७८॥ वे देवियाँ जिस नाभिको धारण कर रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामरूपी रसकी कूपिका ही हो

१. कृजाङ्ग्यौ । २. भगिन्यौ । ३. स्वयंवरे । ४. सरस्वती अ०, स० । ५. एते अ०, प०, म०, द०, ल० । ६. दारपरिग्रहो भविष्यति । ७. विवाहिते । ८. बन्धुभिः । ९. लौकिकधर्म । १०. आनन्देन । ११. स्वभोगहितत्वेन । १२. भर्तुः । १३. लोकेऽनु- प० । १४. अनुवर्तते । अनो ह्य कामे दिवादिः । १५. भूयसीम् । १६. कन्धे । १७. बोधनजघनेन । १८. नाभेरधःकायोऽधरकायस्तेन । १९. नीचेनापि कायेन । २०. उत्तमे, उत्तमस्त्रियो । 'वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी ।' इत्यभिधानात् । २१. -राजो द०, स० । २२. मदप्रवाहम् । २३. श्लेष्माम् । २४. आलबालम् ।

स्तनोऽजकुट्मले दीर्घरोमराज्यंकनालके । ते पद्मिण्याविवाधतां नीलचूचुकषट्पदे ॥८०॥

मुक्ताहारेण तन्नूने^१ तपस्तेपे स्वनामजम्^२ । यतोऽवाप स तत्कण्डकुचस्पर्शसुखामृतम् ॥८१॥

एकावल्या स्तनोपान्तस्पर्शिन्या ते विरेजतुः । सख्येव कण्ठसंगिन्या स्वच्छया स्निग्धमुक्ताया ॥८२॥

हारं नक्षत्रमालाख्यं ते स्तनान्तरलम्बिनम् । दधनुः कुचसंस्पर्शाद्वसन्तमिव रञ्चिषा ॥८३॥

सदृ मुजलते चान्या^३ वधिषातां सुसंहते । नखांशुकुसुमोद्देदं^४ दधाने हसितभ्रियम् ॥८४॥

मुखेन्दुरेनयोः कान्तिसधान्मुग्धस्मितांशुभिः । ज्योत्स्नालक्ष्मीं समातन्वन् जगतां कान्तदर्शवः ॥८५॥

सुपक्ष्मणो तयोर्नेत्रे रेजाते स्निग्धतारकं^५ । यथात्पले समुत्फुल्ले केसरालग्नषट्पदे ॥८६॥

नामकर्मविनिर्माणरुचिरे सुभ्रवांशुर्व्या^६ । चापयष्टिरनङ्गस्थ नानुयानुमलं तराम् ॥८७॥

अथवा रोमराजिरूपी लताके मूलमें चारों ओरसे लगे हुए पाँच पाल ही हैं ॥८०॥ जिस प्रकार कमलिनी कमलपुष्पकी बाँझियोंको धारण करती है उसी प्रकार वे देवियाँ स्तनरूपी कमलकी बाँझियोंको धारण कर रही थीं, कमलिनियोंके कमल जिस प्रकार एक नालसे सहित होते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमल भी रोमराजिरूपी एक नालसे सहित थे और कमलोंपर जिस प्रकार भौरे बैठते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमलोंपर भी चूचुकरूपी भौरे बैठे हुए थे। इस प्रकार वे दोनों ही देवियाँ ठीक कमलिनियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥८०॥ उनके गलेमें जो मुक्ताहार अर्थात् मोतियोंके हार पड़े हुए थे, मालूम होता है कि उन्होंने अवश्य ही अपने नामके अनुसार (मुक्त + आहार) आहार-त्याग अर्थात् उपवासरूप तप तपा था और इसीलिए उन मुक्ताहारोंने अपने उक्त तपके फलस्वरूप उन देवियोंके कण्ठ और कुचके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृतको प्राप्त किया था ॥८१॥

गलेमें पड़े हुए एकावली अर्थात् एक लङ्के हारसे वे दोनों ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो किसी सखीके सम्बन्धसे ही शोभायमान हो रही हों; क्योंकि जिस प्रकार सखी स्तनोंके समीपवर्ती भागका स्पर्श करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके स्तनोंके समीपवर्ती भागका स्पर्श कर रही थी, सखी जिस प्रकार कण्ठसे संसर्ग रखती है अर्थात् कण्ठालिग्न करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके कण्ठसे संसर्ग रखती थी अर्थात् कण्ठमें पड़ी हुई थी, सखी जिस प्रकार स्वच्छ अर्थात् कपटरहित-निर्मलहृदय होती है उसी प्रकार वह एकावली भी स्वच्छ—निर्मल थी और सखी जिस प्रकार स्निग्धमुक्ता होती है अर्थात् स्नेही पतिके द्वारा छोड़ी—भेजी जाती है, उसी प्रकार वह एकावली भी स्निग्धमुक्ता थी अर्थात् चिकने मोतियोंसे सहित थी ॥८२॥ वे देवियाँ अपने स्तनोंके बीचमें लटकते हुए जिस नक्षत्रमाला अर्थात् सत्ताईस मोतियोंके हारको धारण किये हुई थीं वह अपनी किरणोंसे ऐसा मालूम होता था मानो स्तनोंका स्पर्श कर आनन्दसे हँस ही रहा हो ॥८३॥ वे देवियाँ नखांकी किरणरूपी पुष्पोंके विकाससे हास्यकी शोभाको धारण करनेवाली कोमल, सुन्दर और सुसंगठित मुजलताओंको धारण कर रही थीं ॥८४॥ उन दोनोंके मुखरूपी चन्द्रमा भारी कान्तिको धारण कर रहे थे, वे अपने सुन्दर मन्द हास्यकी किरणोंके द्वारा पृथ्वीकी शोभा बढ़ा रहे थे, और देखनेमें संसारको बहुत ही सुन्दर जान पड़ते थे ॥८५॥ उत्तम बरौनी और चिकनी अथवा स्नेहयुक्त तारोंसे सहित उनके नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके केशपर भ्रमर आ लगे हैं ऐसे फूले हुए कमल ही हों ॥८६॥ सुन्दर भौंहोंवाली उन देवियोंकी दोनों भौंहें नामकर्मके द्वारा इतनी सुन्दर बनी थीं कि कामदेवकी धनुषलता भी उनकी बराबरी

१. मोचितकहारेण । २. इव । ३. मुक्ताहारनामभवम् । ४. मयूषमुक्ताया, पक्षे प्रियतमप्रेमिन्या । ५. अथत्तमित्यर्थः । ६. विकारीः । ७. कवीनिके । ८. नामकर्मकरण । नामकर्मणा विनिर्माणं तेन रुचिरे इत्यर्थः । ९. अनुकर्तुम् ।

नीलात्पल्लवतसेन^१ तत्कर्णो दधतुः श्रियम् । मिथः प्रमित्मुने^२ चाप्यराधति नयनाग्रजयोः ॥८८॥
 ते ललाटतटालम्बानलकान्^३ हनुर्भुशम् । सुवर्णपट्टपर्वतस्वचितेन्द्रोपकल्पिवः ॥८९॥
^४स्वस्तस्वकवरीवन्धस्तयोः प्रेक्षितो जनेः । कृष्णाहिरिष शुक्लाहिं निगीर्य पुनरुद्विरत्^५ ॥९०॥
 इति स्वभावमधुरामाकृतिं भूषणोज्ज्वलाम् । दधाने दधतुर्लोलां कल्पवल्क्योः स्फुरन्निवयोः ॥९१॥
 इन्द्रेणयोरदो रूपं जनानामतिरिच्यभूत् । एताभ्यां निर्जिताः सत्यं क्षियम्मन्याः सुरक्षियः ॥९२॥
 स ताभ्यां कीर्तिलक्ष्मीभ्यामिव रजे^६ बरोत्तमः । ते च तेन महानद्यौ दान्तिमेव^७ समीयतुः ॥९३॥
 सरूपं सद्युती काभ्ते ते मनो जहतुर्विमोः । मनोभुष इवाशेषं जिगीषोर्वैजयन्तिकं ॥९४॥
 तयोरपि मनस्तेन रजितं भुवनेशिता । हारयष्ट्योरिवारक्तमणिना मध्यमुदुषा ॥९५॥
 बहुसो मग्ममानोऽपि^८ यत्पुरोऽस्य मनोभवः । चचार^९ गूढसंचार^{१०} कारणं तत्र चिन्त्यताम् ॥९६॥
 नूनमेतं प्रकाशात्मा^{११} व्यद्वुं हृदिशयोऽक्षमः । अनङ्गतां तदा भजे सोपाया हि जिगीषवः^{१२} ॥९७॥

नहीं कर सकती थीं ॥ ८७ ॥ उन महादेवियोंके कान नीलकमलरूपी कर्ण-भूषणोंसे ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो नेत्ररूपी अलकोंके अतिरिक्त अलकोंकी लालकमलसे लपन्ता हो जायेंगे ॥ ८८ ॥ वे देवियाँ अपने ललाट-तटपर लटकते हुए जिन अलकोंको धारण कर रही थीं वे सुवर्णपट्टके किनारेपर जड़े हुए इन्द्रनीलमणियोंके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ ८९ ॥ जितपर-की पुष्पमालाएँ ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही थीं ऐसे उन देवियोंके केशपाशोंके विषयमें लोग ऐसी उत्प्रेक्षा करते थे कि मानो कोई काले साँप सफेद साँपको निगलकर फिरसे उगल रहे हों ॥ ९० ॥ इस प्रकार स्वभावसे मधुर और आभूषणोंसे उज्ज्वल आकृतिको धारण करनेवाली वे देवियाँ कान्तिमती कल्पलताओंकी शोभा धारण कर रही थीं ॥ ९१ ॥ इन दोनोंके उस सुन्दर रूपको देखकर लोगोंकी यही बुद्धि होती थी कि वास्तवमें इन्होंने अपने-आपको स्त्री माननेवाली देवाङ्गनाओंको जीत लिया है ॥ ९२ ॥ बरोमें उत्तम भगवान् वृषभदेव उन देवियोंसे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्ति और लक्ष्मीसे ही शोभायमान हो रहे हों और वे दोनों भगवान्से इस प्रकार मिली थीं जिस प्रकारकी महानदियाँ समुद्रसे मिलती हैं ॥ ९३ ॥ वे देवियाँ बड़ी ही रूपवती थीं, कान्तिमती थीं, सुन्दर थीं और समस्त जगत्की जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवकी पताकाके समान थीं और इसीलिए ही उन्होंने भगवान् वृषभदेवका मन हरण कर लिया था ॥ ९४ ॥ जिस प्रकार बीचमें लगा हुआ कान्तिमान् पद्मराग-मणि हारयष्टियोंके मध्यभागको अनुरंजित अर्थात् लाल वर्ण कर देता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्ति या इच्छासे युक्त भगवान् वृषभदेवने भी उन देवियोंके मनको अनुरंजित—प्रसन्न कर दिया था ॥ ९५ ॥ यद्यपि कामदेव भगवान् वृषभदेवके सामने अनेक बार अपमानित हो चुका था तथापि वह गुप्त रूपसे अपना संचार करता ही रहता था । विद्वानोंकी इसका कारण स्वयं विचार लेना चाहिए ॥ ९६ ॥ मालूम होता है कि कामदेव स्पष्टरूपसे भगवान्को बाधा देनेके लिए समर्थ नहीं था इसलिए वह उस समय शरीररहित अवस्थाको प्राप्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि विजयकी इच्छा करनेवाले पुरुष अनेक उपायोंसे सहित होते हैं—कोई-न-कोई

१. नीलोत्पलवर्तसेन ५०, ल० । २. प्रमातृमिच्छुना । ३. दधतुः । ४. गलितः । ५. उद्विगलन् ४०, ५०, ६०, ७० । ६. नरोत्तमः ४०, स० । ७. समीयतुः । ८. समानरूपे । ९. पद्मरागमणिकसेन । १०. यस्मात् कारणात् । ११. चरति स्म । एतेन प्रभोर्माहात्म्यं व्यज्यते । तत्र तयोः सौभाग्यं व्यङ्ग्यम् । १२. -संचारकारणं— ४०, ५० । १३. व्यक्तस्वरूपः । १४. जेतुमिच्छवः ।

अनङ्गत्वेन तन्नूनमनयोः प्रविशन् वपुः । दुर्गाश्रित इवानङ्गो विद्याधेन स्वसायकैः ॥९८॥
 ताभ्यामिति समं भोगान् भुञ्जानस्य जगद्गुरोः । कालो महानगादेकक्षणवद् सततक्षणैः ॥९९॥
 अथान्यदा महादेवी सांघे सुप्ता यथास्वति । स्वप्नेऽपश्यन् महीं प्रस्तां मेरुं सूर्यं च सोऽबुपम् ॥१००॥
 सरः सहस्रमण्डि च चन्द्रोच्चिकर्मक्षत । स्वप्नान्ते च व्यबुद्धासौ पदम् मागधनिःस्वर्गः ॥१०१॥
 एवं विबुध्यस्व कल्याणि कल्याणशतमाग्नि । प्रबोधनमयोऽयं ते सहाजिजन्या धृतश्रियः ॥१०२॥
 मुदे तवान्भव भूयासुरिमे स्वप्नाः शुभावहाः । महींमेरुदधीन्द्रकंसरोवरपुरस्सराः ॥१०३॥
 नभस्सरोवरैऽन्विष्य चिरं तिमिरशैवलम् । खेदादिबाधुनाभ्येति शशिहंसोऽस्तपावपम् ॥१०४॥
 ज्योत्स्नाभ्रमसि चिरं तीर्त्वा ताराहंस्यो नभो हृदं । नूनं निलेतुमस्ताप्रेः शिखराण्याश्रयन्त्यमूः ॥१०५॥
 निद्राकषायिर्ननेत्रैः कोकीनां सैष्यर्माक्षितः । तद्दृष्ट्वृक्षितामेव विधुर्विच्छायातां गतः ॥१०६॥
 प्रयाति यामिनां यामां निवान्वेतुं पुरोगतान् । ज्योत्स्नांशुकैः संवेष्ट्य तारासर्वस्वमाभनः ॥१०७॥
 हतोऽस्तमेति शीतांशुरितो भास्वानुदीयते । संसारस्येव वैशिष्यमुपदंष्टुं समुद्यता ॥१०८॥

उपाय अवश्य करते हैं ॥९७॥ अथवा कामदेव शरीररहित होनेके कारण इन देवियोंके शरीरमें प्रविष्ट हो गया था और वहाँ किलेके समान स्थित होकर अपने बाणोंके द्वारा भगवान्को घायल करता था ॥९८॥ इस प्रकार उन देवियोंके साथ भोगोंको भोगते हुए जगद्गुरु भगवान् कृपभदेवका बड़ा भारी समय निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे क्षण-भरके समान बीत गया था ॥९९॥

अथानन्तर किसी समय यशस्वती महादेवी राजमहलमें सो रही थीं । सोते समय उसने स्वप्नमें प्रसी हुई पृथिवी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमासहित सूर्य, हंससहित सरोवर तथा चञ्चल लहरोंवाला समुद्र देखा । स्वप्न देखनेके बाद मंगल-पाठ पढ़ते हुए वन्दोजनोंके शब्द सुनकर वह जाग पड़ी ॥१००-१०१॥ उस समय वन्दोजन इस प्रकार मंगल-पाठ पढ़ रहे थे कि हे दूसरोंका कल्याण करनेवाली और स्वयं सैकड़ों कल्याणोंको प्राप्त होनेवाली देवि, अब तू जाग; क्योंकि तू कमलिनीके समान शोभा धारण करनेवाली है—इसलिए यह तेरा जागनेका समय है । भावार्थ—जिस प्रकार यह समय कमलिनीके जागृत-विकसित होनेका है, उसी प्रकार तुम्हारे जागृत होनेका भी है ॥१०२॥ हे मातः, पृथिवी, मेरु, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा और सरोवर आदि जो अनेक मंगल करनेवाले शुभ स्वप्न देखे है वे तुम्हारे आनन्दके लिए हैं ॥१०३॥ हे देवि, यह चन्द्रमारूपी हंस चिरकाल तक आकाशरूपी सरोवरमें अन्धकाररूपी शैवालको खोजकर अब खेदस्त्रिज होनेसे ही मानो अस्ताचलरूपी वृक्षका आश्रय ले रहा है अर्थात् अस्त हो रहा है ॥१०४॥ ये तारारूपी हंसियाँ आकाशरूपी सरोवरमें चिरकाल तक तैरकर अब मानो निवास करनेके लिए ही अस्ताचलके शिखरोंका आश्रय ले रही हैं—अस्त हो रही हैं ॥१०५॥ हे देवि, यह चन्द्रमा कान्तिरहित हो गया है, ऐसा मालूम होता है कि रात्रिके समय चक्र-वियोंने निद्राके कारण लाल वर्ण हुए नेत्रोंसे इसे ईर्ष्याके साथ देखा है इसलिए मानो उनकी वृष्टिके बोपसे ही दूषित होकर यह कान्तिरहित हो गया है ॥१०६॥ हे देवि, अब यह रात्रि भी अपने नक्षत्ररूपी धनको चाँदनीरूपी बल्लमें लपेटकर भागी जा रही है, ऐसा मालूम होता है मानो वह आगे गये हुए (बीते हुए) प्रहरोंके पीछे ही जाना चाहती हो ॥१०७॥ इस ओर यह चन्द्रमा अस्त हो रहा है और इस ओर सूर्यका उदय हो रहा है, ऐसा जान पड़ता है मानो

१. वा नून—अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । २. नित्योत्सवैः । ३. चलवीचिक—अ०, प०, द०, म०, स०, ल०, । ४. —पुरोगमाः प० । ५. नरेऽवीक्ष्य द० । अनुप्राप्य । ६. अभिमच्छति । ७. अस्तनिर्गच्छम् । ८. तरणं कृत्वा । ९. वस्तुम् । १०. ईर्ष्या गहितम् । ११. रजनी । १२. प्रहरान् । १३. 'ई पतो' उदयनोदयार्थः ।

तारका मगनाम्भोधौ मुक्ताफलनिभभ्रियः । अरुणौर्वानिलेनेमा विलायन्ते गतरिषयः ॥१०९॥
 सरितां सैकतादेव चक्रवाको रुचन् रुचन् । अन्विच्छति निजां काण्ठी निशाघिरहविन्दवः ॥११०॥
 अयं हंसयुवा हंस्या सुपुंसति समं सति । मृणालगकलेनाङ्गं कण्डूयैश्चक्षुलम्बिता ॥१११॥
 अविजनीयमितो धत्ते विकसत्पङ्कजाननम् । इतश्च म्लानिमासाद्य नम्रास्येयं कुमुदती ॥११२॥
 सरसां पुलिनेष्वेताः कुरर्यः कुर्वते रतम् । युष्मन्नूपुरसंवादि तारं मधुरमेव च ॥११३॥
 स्वर्नीडादुत्पतन्मयश्च कृतकोलाहलस्वनाः । प्रमातमङ्गलार्नीध पठन्तोऽमी शकुन्तयः ॥११४॥
 अप्रासङ्गेयसंस्कारा परिशीणदशा इमे । काञ्चुकीयैः समं दीपा यान्ति कालेन मन्दताम् ॥११५॥
 हतो निजगृहं देवि त्वन्मङ्गलविधिसया । कुञ्जवामनिकाप्राथः परिवारः प्रतीच्छति ॥११६॥
 विमुञ्च शयनं तस्मात् नदीपुलिनसंनिभम् । हंसीव राजहंसस्य बल्लभा मानसाश्रया ॥११७॥
 इत्युच्चैर्वन्दिष्वन्दिषु पश्यन् सस्योचितम् । पादोभिकादकम्प्यन्ते सा विनिवामवच्छनैः ॥११८॥
 विमुक्तशयना चैवा कृतमङ्गलमञ्जना । प्रपटुकामा स्वहृष्टानो स्वप्नानां तत्पतः फलम् ॥११९॥

ये संसारकी विचित्रताका उपदेश देनेके लिए ही उद्यत हुए हों ॥१०८॥ हे देवि, आकाशरूपी समुद्रमें मोतियोंके समान शोभायमान रहनेवाले ये तारे सूर्यरूपी बड़वानलके द्वारा कान्ति-रहित होकर विलीन होते जा रहे हैं ॥१०९॥ रात-भर घिरहसे व्याकुल हुआ यह चक्रवा नदीके बालूके टीलेपर स्थित होकर रोता-रोता ही अपनी प्यारी स्त्री चकवीको ढूँढ़ रहा है ॥११०॥ हे सति, इधर यह जवान हंस चोंचमें दबाये हुए मृणाल-खण्डसे शरीरको खुजलाता हुआ हंसीके साथ शयन करना चाहता है ॥१११॥ हे देवि, इधर यह कमलिनो अपने विकसित कमलरूपी मुखको धारण कर रही है और इधर यह कुमुदिनी मुरझाकर नम्रमुख हो रही है अर्थात् मुरझाये हुए कुमुदको नीचा कर रही है ॥११२॥ इधर तालाबके किनारोंपर ये कुरर पक्षियोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नूपुरके समान उच्च और मधुर शब्द कर रही हैं ॥११३॥ इस समय ये पक्षी कोलाहल करते हुए अपने-अपने घोंसलोंसे उड़ रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो प्रातः-कालका मंगल-पाठ ही पढ़ रहे हों ॥११४॥ इधर प्रातःकालका समय पाकर ये दीपक कंचुकियों (राजाओंके अन्तःपुरमें रहनेवाले बृद्ध या नपुंसक पहरेदारों) के साथ-साथ ही मन्दताको प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार कंचुकी स्त्रियोंके संस्कारसे रहित होते हैं उसी प्रकार दीपक भी प्रातःकाल होनेपर स्त्रियोंके द्वारा की हुई सजावटसे रहित हो रहे हैं और कंचुकी जिस प्रकार परिशीण दशा अर्थात् बृद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार दीपक भी परिशीण दशा अर्थात् क्षीण बत्तीवाले हो रहे हैं ॥११५॥ हे देवि, इधर तुम्हारे घरमें तुम्हारा मंगल करनेकी इच्छासे यह कुञ्जक तथा वामन आदिका परिवार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ॥११६॥ इसलिए जिस प्रकार मानसरोवरपर रहनेवाली, राजहंस पक्षीकी प्रिय बल्लभा-हंसी नदीका किनारा छोड़ देती है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेवके मनमें रहनेवाली और उनकी प्रिय बल्लभा तू भी शय्या छोड़ ॥११७॥ इस प्रकार जब बन्दीजनोंके समूह जोर-जोरसे मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब वह यशस्यती महादेवी जगानेवाले दुन्दुभियोंके शब्दोंसे धीरे-धीरे निद्रारहित हुई—जाग उठी ॥११८॥ और शय्या छोड़कर प्रातःकालका मंगलस्नान कर प्रीतिसे रोमांचितशरीर हो अपने देखे हुए स्वप्नोंका यथार्थ फल पूछनेके लिए संसारके प्राणियोंके हृदयवर्ती अन्धकारको

१. सूर्यसारथिः । २. कूजन् कूजन् । ३. विह्वलः । ४. द्यपितुमिच्छति । ५. भी पतियते । ६. उत्क्रोशाः । 'उत्क्रोशकुरो समौ' इत्यभिधानात् । ७. रतिम् प० । ८. सदृशम् । ९. स्वीसंबन्धि । १०. परिशीणवतिषा । परिनष्टवयस्काः । ११. विधातुमिच्छया । १२. पश्यति । आगच्छति वा तिष्ठति वा । १३. राजश्रेष्ठस्य राजहंसस्य च । 'राजहंसास्तु ते वरुणवचरणीः लोहितैः सिताः ।' इत्यमरः ।

प्रातिकण्टकिता भेजे पश्चिनीवार्कमुद्रुचम् । प्राणनाथं जगत्प्राणिस्त्रान्तध्वान्तनुदं विभुम् ॥१२०॥
 तमुपेत्य सुखासीना स्वोचितं मद्रविष्टरे । लक्ष्मीरिव हर्षि भेजे मर्तुरभ्यर्णवसिनी ॥१२१॥
 सा पर्यै स्वप्नमालां तां यथादृष्टं न्यवेदयत् । दिव्यचक्षुरसौ देवस्तत्फलानीत्यभाषत ॥१२२॥
 त्वं देवि पुत्रमाप्तासि^१ गिरीन्द्राक्षवर्त्तिनम् । तस्य प्रतापितामर्कः शास्तीन्द्रुः कान्तिसंपदम् ॥१२३॥
 सरोजाक्षि सरोदधेरसौ पङ्कजवासिनीम् । वोढा^२ गूढोरसा पुण्यलक्षणाङ्कितविग्रहः ॥१२४॥
 महीप्रलम्बकः^३ कृष्णः^४ जर्जरी^५ आनन्दसङ्घः^६ पतिगालयिता देवि विश्वात् तव पुत्रकः ॥१२५॥
 सागराक्षरमाङ्गोऽसौ तरिता जन्मसागरम् । ज्यायान् पुत्रशतस्यायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥१२६॥
 इति श्रुत्वा वचो भर्तुः सा तदा प्रमदोदयात् । वक्षुषे जलधेर्वला यथेन्द्रौ समुदेक्ष्यति ॥१२७॥
 ततः सर्वार्थसिद्धिस्थो योऽसौ व्याघ्रचरः सुरः । सुबाहुरहमिन्द्रोऽतश्च्युत्वा तद्गर्भमावसत् ॥१२८॥
 सा गर्भमवहद् देवी देवाद् दिव्यानुभावजम् । येन नासहताकं च समाक्रामन्तमम्बरे ॥१२९॥
 सापश्यत् स्वमुखच्छायां वीरसूरसिदर्पणे । तत्र^७ प्रातीपिकीं स्वां च छायां नासोढ मानिनी ॥१३०॥
 अन्तर्वर्त्तनीमपश्यत् तां पतिरुत्सुकया दया । जलगर्भमिवाम्भोदमाकां काले शिखावलः^८ ॥१३१॥

दूर करनेवाले अतिशय प्रकाशमान और सबके स्वामी भगवान् वृषभदेवके समीप उस प्रकार पहुँची जिस प्रकार कमलिनी संसारके मध्यवर्ती अन्धकारको नष्ट करनेवाले और अतिशय प्रकाशमान सूर्यके सम्मुख पहुँचती है ॥११९-१२०॥ भगवान्के समीप जाकर वह महादेवी अपने योग्य सिंहासनपर सुखपूर्वक बैठ गयी । उस समय महादेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥१२१॥ तदनन्तर उसने रात्रिके समय देखे हुए समस्त स्वप्न भगवान्से निवेदन किये और अवधि-ज्ञानरूपी दिव्य नेत्र धारण करनेवाले भगवान्ने भी नीचे लिखे अनुसार उन स्वप्नोंका फल कहा कि ॥१२२॥ हे देवि, स्वप्नोंमें जो तूने सुमेरु पर्वत देखा है उससे मालूम होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा । सूर्य उसके प्रतापको और चन्द्रमा उसकी कान्तिरूपी सम्पदाको सूचित कर रहा है ॥१२३॥ हे कमलनयने, सरोवरके देखनेसे तेरा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणोंसे चिह्नितशरीर होकर अपने विस्तृत वक्षःस्थलपर कमलवासिनी-लक्ष्मीको धारण करनेवाला होगा ॥१२४॥ हे देवि, पृथिवीका प्रसा जाना देखनेसे मालूम होता है कि तुम्हारा वह पुत्र चक्रवर्ती होकर समुद्ररूपी वस्त्रको धारण करनेवालो समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥१२५॥ और समुद्र देखनेसे प्रकट होता है कि वह चरमशरीरी होकर संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाला होगा । इसके सिवाय इक्ष्वाकु-वंशको आनन्द देनेवाला वह पुत्र तेरे सौ पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ पुत्र होगा ॥१२६॥ इस प्रकार पतिके वचन सुनकर उस समय वह देवी हर्षके उदयसे ऐसी वृद्धिको प्राप्त हुई थी जैसी कि चन्द्रमाका उदय होनेपर समुद्रकी बेला वृद्धिको प्राप्त होती है ॥१२७॥

तदनन्तर राजा अतिगृद्धका जीव जो पहले व्याघ्र था, फिर देव हुआ, फिर सुबाहु हुआ और फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वहाँसे च्युत होकर यशस्वती महादेवीके गर्भमें आकर निवास करने लगा ॥१२८॥ वह देवी भगवान् वृषभदेवके दिव्य प्रभावसे उत्पन्न हुए गर्भको धारण कर रही थी । यही कारण था कि वह अपने ऊपर आकाशमें चलते हुए सूर्यको भी सहन नहीं करती थी ॥१२९॥ वीर पुत्रको पैदा करनेवाली वह देवी अपने मुखकी कान्ति तलवाररूपी दर्पणमें देखती थी और अतिशय मान करनेवाली वह उस तलवारमें पड़ती हुई अपनी प्रतिकूल छायाको भी नहीं सहन कर सकती थी ॥१३०॥ जिस प्रकार वर्षाका समय आनेपर मयूर जलसे भरी हुई मेघमालाको बड़ी ही उत्सुक दृष्टिसे देखते हैं उसी प्रकार भगवान्

१. पुष्पाय । २. अवधिज्ञानदृष्टिः । ३. 'लुटि' । लब्धा भविष्यसि । ४. विशालम् । ५. सागरवासनाम् । ६. प्रतिकूलम् । ७. मयूरः ।

रत्नगर्भेण सा भूमिः फलगर्भेण वल्लरी । तेजोगर्भेण दिक्प्राची नितरां रुचिमानशे ॥१३२॥
 सा मन्दं गमने भेजे मणिकुट्टिमभूमिषु । हंसाव नूपुरोदारशिञ्जानेमंजुमाषिणी ॥१३३॥
 सावष्टम्भपद्म्यासैर्मुद्रयन्तीव सा धराम् । स्वभुक्त्यै मन्थरं वातममजन् मणिभूमिषु ॥१३४॥
 उदरेऽस्या वलीभङ्गो नादश्यत यथा पुरा । अमङ्गं तस्मत्तस्यैव दिग्जयं सूचयन्मसौ ॥१३५॥
 नीलिमा तत्कुचापाग्रसास्पृशद् गर्भसंभवे । गर्भस्थोऽस्याः सुतोऽन्येषां निर्दहन् नमुषतिम् ॥१३६॥
 दोहदं परमोदात्तमाहारे मन्दिमा रुचेः । सालसं गतमायासात् सस्ताङ्गं शयनं भुवि ॥१३७॥
 सुखमापाण्डु गण्डान्तं वीक्षणं सालसेभितम् । आपाटलाधरं वक्त्रं मृत्स्तानुरभि गन्धि च ॥१३८॥
 इत्यस्या गर्भचिह्नानि मनः पथ्युररभयन् । यवूधे च शर्पेर्गर्भो द्विषच्छक्तीररत्नयन् ॥१३९॥
 नवमासेष्वतीर्तपु तदा सा सुषुप्ते सुतम् । प्राचीषाकं स्फुरत्तेजःपरिवेषं महोदयम् ॥१४०॥
 शुभे दिने शुभे लग्ने योगे ध्रुवपुराह्वये । सा प्राप्नोष्ट सुताग्रपथं स्फुरत्साम्राज्यलक्षणम् ॥१४१॥

यूपभदेव मां उस गर्भिणी यशस्वती देवीको बड़ी ही उत्सुक दृष्टिसे देखते थे ॥१३१॥ वह यशस्वती देवी, जिसके गर्भमें रत्न भरे हुए हैं ऐसी भूमिके समान, जिसके मध्यमें फल लगे हुए हैं ऐसी बेलके समान, अथवा जिसके मध्यमें सूर्यरूपी तेज छिपा हुआ है ऐसी पूर्व दिशाके समान अत्यन्त शोभाको प्राप्त हो रही थी ॥१३२॥ वह रत्नखचित पृथिवीपर हंसीकी तरह नूपुरोंके उदार शब्दोंसे मनोहर शब्द करती हुई मन्द-मन्द गमन करती थी ॥१३३॥ मणियोंसे जड़ी हुई जमीनपर स्थिरतापूर्वक पैर रखकर मन्दगतिसे चलती हुई वह यशस्वती ऐसी जान पड़ती थी मानो पृथिवी हमारे ही भोगके लिए है ऐसा मानकर उसपर मुहर ही लगाती जानी थी ॥१३४॥ उसके उदरपर गर्भावस्थासे पहल्लेकी तरह हो गर्भावस्थामें भी वलीभंग अर्थात् नाभिसे नीचे पड़नेवाली रेखाओंका भंग नहीं दिखाई देता था और उससे मानो यही सूचित होता था कि उसका पुत्र अभंग नाशरहित दिग्विजय प्राप्त करेगा (यद्यपि स्त्रियोंके गर्भावस्थामें उदरकी वृद्धि होनेसे वलीभंग हो जाता है परन्तु विशिष्ट स्त्री होनेके कारण यशस्वतीके वह चिह्न प्रकट नहीं हुआ था) ॥१३५॥ गर्भधारण करनेपर उसके स्तनोंका अप्रभाग काला हो गया था और उससे यही सूचित होता था कि उसके गर्भमें स्थित रहनेवाला बालक अन्य-शत्रुओंकी उन्नतिको अवश्य ही जला देगा—नष्ट कर देगा ॥१३६॥ परम उत्कृष्ट दोहला उत्पन्न होना, आहारमें रुचिका मन्द पड़ जाना, आलस्यसहित गमन करना, शरीरको शिथिल कर जमीनपर सोना, मुखका गालों तक कुछ-कुछ सफेद हो जाना, आलस-भरे नेत्रोंसे देखना, अधरोष्ठका कुछ सफेद और लाल होना और मुखसे मिट्टी-जैसी सुगन्ध आना । इस प्रकार यशस्वतीके गर्भके सब चिह्न भगवान् यूपभदेवके मनको अत्यन्त प्रसन्न करते थे और शत्रुओंकी शक्तियोंको शीघ्र ही विजय करता हुआ वह गर्भ धीरे-धीरे बढ़ता जाता था ॥१३७-१३९॥ जिसका मण्डल देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण है और जिसका उदय बहुत ही बड़ा है ऐसे सूर्यको जिस प्रकार पूर्व दिशा उत्पन्न करती है उसी प्रकार नौ महीने व्यतीत होनेपर उस यशस्वती महादेवीने देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्रको उत्पन्न किया ॥१४०॥ भगवान् यूपभदेवके जन्म समयमें जो शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ चन्द्रमा और शुभ नक्षत्र आदि पड़े थे वे ही शुभ दिन आदि उस समय भी पड़े थे, अर्थात् उस समय, चैत्र कृष्ण नवमीका दिन, मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धन राशिका चन्द्रमा और उत्तराषाढा नक्षत्र था । उसी दिन यशस्वती

१. -मानसे प०, अ०, ल० । २. गमनम् । -यातं मणिकुट्टिमभूमिषु म०, ल० । ३. अहमेवं मन्ये । ४. गतमायासीत् प०, द०, ल० । ५. वीक्षितं सालसेक्षणम् प०, अ०, द०, स०, ल० । ६. परिवेषमहोदयम् अ०, प०, स० । ७. योगेन्द्रमपुराह्वये प०, म०, द० । योगे ध्रुवपुराह्वये अ०, म० । ८. प्राप्नोष्ट म०, प०, ल० ।

आश्लिष्य पृथिवीं दोभ्यां यदसानुदपचय । ततोऽस्य सार्वभौमत्वं जगुर्नैमित्तिकास्तदा ॥१४२॥
 सुनेन्दुनातिसौम्येन व्यद्युतच्छर्करीव सा । बालार्केण पितृभ्रासीद् दिवसस्यैव दीप्तता ॥१४३॥
 पितामहौ च तस्यामू प्रमोदं परमीयतुः । यथा सखेलो जलविस्तृथे शशिनश्शिशोः ॥१४४॥
 तां तदा वर्धयामासुः पुण्याशीभिः पुरन्ध्रिकाः । सुखं प्रसूय पुत्राणां शतमित्यधिकोत्सवः ॥१४५॥
 तदानन्दमहाभेयः प्रहृताः कोणकोटिसिः । दध्यनुध्वनदम्भोदगमोरं नृपमन्दिरे ॥१४६॥
 तुटीपटहस्रद्वयः पणवास्तुणवास्तदा । सशङ्खकाहलास्तालाः प्रगदादिव सस्त्रजः ॥१४७॥
 तदा सुरमिरम्भानिरपतत् कुसुमोत्करः । दिषो देवकरोन्मुक्तो भ्रमद्भ्रमरसेवितः ॥१४८॥
 मृदुर्मन्दममप्येन मन्दाररजसा ततः । ववाववावा^१ रजसामपच्छाशिशिरो मरुत् ॥१४९॥
 जयेत्यमानुषी वाक्च जजृम्भे पथि वासुचाम् । जीवेति दिक्षु दिव्यानां^२ वाचः पप्रथिरं भृशम् ॥१५०॥
 वर्द्धमानलव्यं नृत्तमारप्सत जिताप्सरः^३ । नर्तक्यः सुरनर्तक्यो^४ यकामिहैलया जिताः ॥१५१॥
 पुरकीध्वस्तदा रेजुध्वन्नाम्भश्छटोक्षिताः । कृताभिरुपशोभाभिः प्रहसन्त्यो त्रिवः ध्रियम् ॥१५२॥
 रत्नतोरणचिन्त्यासाः पुरे रेजुगृहे गृहे । इन्द्रचापतडिद्वली^५ कलितं दधतोऽम्बरे ॥१५३॥

महादेवीने सम्राट्के शुभ लक्षणोंसे शोभायमान अष्ट पुत्र उत्पन्न किया था ॥१४१॥ वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओंसे पृथिवीका आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था इसलिए निमित्तज्ञानियोंने कहा था कि वह समस्त पृथिवीका अधिपति—अर्थात् चक्रवर्ती होगा ॥१४२॥ वह पुत्र चन्द्रमाके समान सौम्य था इसलिए माता-यशस्वती उस पुत्ररूपी चन्द्रमासे रात्रिके समान सुशोभित हुई थी, इसके सिवाय वह पुत्र प्रातःकालके सूर्यके समान तेजस्वी था इसलिए पिता-भगवान् वृषभदेव उस बालकरूपी सूर्यसे दिनके समान देदीप्यमान हुए थे ॥१४३॥ जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होनेपर अपनी बेलासहित समुद्र हर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार पुत्रका जन्म होनेपर उसके दादा और दादी अर्थात् महारानी महदेवी और महाराज नाभिराज दोनों ही परम हर्षको प्राप्त हुए थे ॥१४४॥ उस समय अधिक हर्षित हुई पतिपुत्रवती स्त्रियाँ 'तू इसी प्रकार सैकड़ों पुत्र उत्पन्न कर' इस प्रकारके पवित्र आशीर्वादोंसे उस यशस्वती देवीको बढ़ा रही थीं ॥१४५॥ उस समय राजमन्दिरमें करोड़ों दण्डोंसे ताड़ित हुए आनन्दके बड़े-बड़े नगाड़े गरजते हुए मेघोंके समान गम्भीर शब्द कर रहे थे ॥१४६॥ तुरही, दुन्दुभि, झल्लरी, शहनाई, सितार, शंख, काहल और ताल आदि अनेक बाजे उस समय मानो हर्षसे ही शब्द कर रहे थे—थज रहे थे ॥१४७॥ उस समय सुगन्धित, विकसित, भ्रमण करते हुए भौरोंसे सेवित और देवोंके हाथसे छोड़ा हुआ फूलोंका समूह आकाशसे पड़ रहा था—बरस रहा था ॥१४८॥ कल्पवृक्षके पुष्पोंके भारी परागसे भरा हुआ, धूलिको दूर करनेवाला और जलके छींटोंसे शीतल हुआ सुकोमल वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥१४९॥ उस समय आकाशमें जय-जय इस प्रकारकी देवोंकी बाणो बड़ रही थी और देवियोंके 'चिरंजीव रहो' इस प्रकारके शब्द समस्त दिशाओंमें अतिशय रूपसे विस्तारको प्राप्त हो रहे थे ॥१५०॥ जिन्होंने अपने सौन्दर्यसे अप्सराओंको जीत लिया है और जिन्होंने अपनी नृत्यकलासे देवोंकी नर्तकियोंको अनीयास ही पराजित कर दिया है ऐसी नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ बढ़ते हुए तालके साथ नृत्य तथा संगीत प्रारम्भ कर रही थीं ॥१५१॥ उस समय चन्द्रनके जलसे सींची गयी नगरकी गलियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अपनी सजा-बटके द्वारा स्वर्गकी शोभाकी हँसी ही कर रही हों ॥१५२॥ उस समय आकाशमें इन्द्रधनुष और त्रिजलीरूपी लताकी सुन्दरताको धारण करते हुए रत्ननिर्मित तोरणोंको

१. 'ववा + अवावा' इति छंदः । रजसामपनेता । २. देवानाम् । ३. क्रियाविशेषणम् । ४. याभिः नर्तकीभिः । ५. शोभाम् ।

कृतरञ्जवली रत्नचूर्णभूमौ महोदराः । कुम्भा हिष्मया रेजुः रौक्माजपिहिताननाः ॥१५४॥
 तस्मिन् नृपोत्सवे सासात पुरी सर्वैव सौख्यम् । यथाविश्वतो संवृद्धिं यति देवाश्रिता नदी ॥१५५॥
 न दीनोऽभूत्तदा कश्चित् नदीनोदकभूयसोम् । दानधारां नृपेन्द्रेभ्य मुक्तधारं प्रवर्धति ॥१५६॥
 इति प्रमोदमुत्पाद्य पुरे सान्तःपुरं परम् । वृषभाद्रेस्सौ बालः प्रालेयद्युतिरुत्तरो ॥१५७॥
 प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा । तमाहूद् भरतं मासि समस्तभरताधिपम् ॥१५८॥
 तस्मान्ना मारतं वर्षमिति हासीजनास्पदम् । हिमाद्रेराममुदाद्य क्षेत्रं चक्रभृताभिदम् ॥१५९॥
 स तन्वन्परमानन्दं बन्धुताकुमुदाकरे । पुन्वन् वैरिकुलध्वान्तमवृधद् बालचन्द्रमाः ॥१६०॥
 स्तनन्ध्यासौ मातुः स्तन्यं गण्डूषितं मुहुः । समुद्रगिरन् यतो दिक्षु विभजन्निदं विद्यते ॥१६१॥
 स्मितैश्च हसितैर्गुग्धैः सर्वणैर्मणिभूमिषु । मन्मथालपितैः पिश्रोः स सर्वप्रोत्थिमजीजनत् ॥१६२॥
 तस्य वृद्धावभूद् वृद्धिर्गुणानां सहजम्मनाम् । भूतं ते तस्य सोदया स्तद्बुद्धयनुविधायिनः ॥१६३॥
 अन्नप्राशनघौलोपनयनादीननुक्रमात् । क्रियाविधीन् विधानज्ञः स्रष्टव्यस्य निमृष्टवान् ॥१६४॥
 ततः क्रमभुवो बाल्यकौमारान्तभुवो भिदाः । सोऽर्ताय शौवनावस्थां प्रापदानन्दिनीं दशाम् ॥१६५॥

सुन्दर रचनाएँ घर-घर शोभायमान हो रही थी ॥१५४॥ जहाँ रत्नोंके चूर्णसे अनेक प्रकारके बेलबूटोंकी रचना की गयी है ऐसी भूमिपर बड़े-बड़े उदरवाले अनेक सुवर्णकलश रखे हुए थे । उन कलशोंके मुख सुवर्णकमलोंसे ढके हुए थे इसलिए वे बहुत ही शोभायमान हो रहे थे ॥१५५॥ जिस प्रकार समुद्रकी वृद्धि होनेसे उसके किनारेकी नदी भी वृद्धिको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार राजाके घर उत्सव होनेसे वह समस्त अयोध्यानगरी उत्सवसे सहित हो रही थी ॥१५६॥ उस समय भगवान् वृषभदेवरूपी हाथी समुद्रके जलके समान भारी दानकी धारा (सुवर्ण आदि वस्तुओंके दानकी परम्परा, पक्षमें- मदजलकी धारा) बरसा रहे थे इसलिए वहाँ कोई भी दरिद्र नहीं रहा था ॥१५६॥ इस प्रकार अन्तःपुरसहित समस्त नगरमें परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ वह बालकरूपी चन्द्रमा भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचलसे उदय हुआ था ॥१५७॥ उस समय प्रेमसे भरे हुए बन्धुओंके समूहने बड़े भारी हर्षसे, समस्त भरतक्षेत्रके अधिपति होनेवाले उस पुत्रको 'भरत' इस नामसे पुकारा था ॥१५८॥ इतिहासके जानने-वालोंका कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवत् पर्वतसे लेकर समुद्र पर्यन्तका चक्रवर्तियोंका क्षेत्र उसी 'भरत' पुत्रके नामके कारण भारतवर्ष रूपसे प्रसिद्ध हुआ है ॥१५९॥ वह बालकरूपी चन्द्रमा भाई-बन्धुरूपी कुमुदोंके समूहमें आनन्दको बढ़ाता हुआ और शत्रुओंके कुलरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ बढ़ रहा था ॥१६०॥ माता यशस्वतीके स्तनका पान करता हुआ वह भरत जब कभी दूधके कुरलेको बार-बार उगलता था तब वह ऐसा देदीप्यमान होता था मानो अपना यश ही दिशाओंमें बाँट रहा हो ॥१६१॥ वह बालक मन्द मुसकान, मनोहर हास, मणिमयी भूमिपर चलना और अव्यक्त मधुर भाषण आदि लीलाओंसे माता-पिताके परम हर्षको उत्पन्न करता था ॥१६२॥ जैसे-जैसे वह बालक बढ़ता जाता था वैसे-वैसे ही उसके साथ-साथ उत्पन्न हुए-स्थाभाविक गुण भी बढ़ते जाते थे, ऐसा मालूम होता था मानो वे गुण उसकी सुन्दरतापर मोहित होनेके कारण ही उसके साथ-साथ बढ़ रहे थे ॥ १६३ ॥ विधिको जाननेवाले भगवान् वृषभदेवने अनुक्रमसे अपने उस पुत्रके अन्नप्राशन (पहली बार अन्न खिलाना), चौल (मुण्डन) और उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार स्वयं किये थे ॥ १६४ ॥ तदनन्तर उस भरतने क्रम-क्रमसे होनेवाली बालक और कुमार अवस्थाके बीचके अनेक भेद व्यतीत कर नेत्रोंको आनन्द देनेवाली युवावस्था प्राप्त

१. कृतरञ्जवली अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । २. हेमकमल । ३. दरिद्रः । ४. समुद्रोदकम् । ५. प्रमोदानिश्चयात् । ६. बन्धुसमूहः । ७. उदर काले । ८. पिबन् । ९. औरम् । १०. अव्यक्तवचनः । ११. इव । १२. महोदराः । सौन्दर्यात् म०, ल० ।

तदेव^१ पैतृकं^२ चानं समाक्रान्तत्रिविष्टपम् । तदेवास्य वपुर्भीतं तदेव हसितं हितम् ॥१६६॥
 सैव वाणी कला सैव सा विद्या सैव च श्रुतिः । तदेव शीलं विज्ञानं सर्वमस्य तदेव तत् ॥१६७॥
 इति तन्मयतां^३ प्राप्तं पुत्रं दृष्ट्वा तदा प्रजाः । आत्मा वै पुत्रनामासीदध्वरीषत स्मृतम् ॥१६८॥
 पित्रा^४ व्याख्यातरूपादिगुणः प्रत्यक्षमन्मथः । स समस्तः सतामासीत् स्वैर्गुणैरभिगामिकैः ॥१६९॥
 मनोर्मनोऽप्ययन् प्रीतो मनुरेवोद्गतः सुतः । मनो मनोभवाकारः प्रजानामव्युवास सः ॥१७०॥
 ज्वलद्भस्मानपायिन्या वपुस्तथातिमास्थरम् । पुञ्जीकृतमिषकञ्च क्षात्रं तेजो विविद्युते ॥१७१॥
 दिव्यमानुषतामस्य व्यापयद्वपुरुजिनम् । तेजोमयस्त्विवास्वमणुमिन्दुतत्तराम् ॥१७२॥
 तस्योत्तमाङ्गमुत्तमौलिरन्तःशुपेशलम् । सचूलिकमिवादीन्द्रशिखरं भृशमद्युतम् ॥१७३॥
 क्रमोद्धतं मुवृत्तं च शिरोऽस्य रुच्येतराम् । धात्रा निवेशितं दिव्यमातपत्रमिव श्रियः ॥१७४॥
 शिरोऽस्याकुञ्चितं स्निग्धविनीलैर्कजमूर्धजम् । विनीलरत्नविन्यस्तं शिरस्त्राणमिवारुचत् ॥१७५॥
 कर्ज्वी मनोवचःकायवृत्तिमुद्बुधतः प्रभोः । केशान्तानलिसङ्काशान् भजे कुटिलता परम् ॥१७६॥
 स्मेरं वक्त्राभ्युजं तस्य दशनभाभीपुकेसरम् । बभौ सुरभिनिःश्वासपवनाहृतपट्पदम् ॥१७७॥

की ॥ १६५ ॥ इस भरतका अपने पिता भगवान् वृषभदेवके समान ही गमन था, उन्हींके समान तानों लोकोका उल्लंघन करनेवाला देदीप्यमान शरीर था और उन्हींके समान मन्द हाम्य था ॥ १६६ ॥ इस भरतकी वाणी, कला, विद्या, श्रुति, शील और विज्ञान आदि सब कुछ वही थे जो कि उसके पिता भगवान् वृषभदेवके थे ॥ १६७ ॥ इस प्रकार पिताके साथ तन्मयताको प्राप्त हुए भरत-पुत्रको देखकर उस समय प्रजा कहा करती थी कि पिताका आत्मा ही पुत्र नामसे कहा जाता है [आत्मा वै पुत्रनामासीद्] यह बात बिलकुल सच है ॥ १६८ ॥ स्वयं पिताके द्वारा जिसके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा की गयी है, जो साक्षात् कामदेवके समान है ऐसा वह भरत अपने मनोहर गुणोंके द्वारा सज्जन पुरुषोंको बहुत ही मान्य हुआ था ॥ १६९ ॥ वह भरत पन्द्रहवें मनु भगवान् वृषभनाथके मनको भी अपने प्रेमके अधीन कर लेता था इसलिए लोग कहा करते थे कि यह सोलहवाँ मनु ही उत्पन्न हुआ है और वह कामदेवके समान सुन्दर आकारवाला था इसलिए समस्त प्रजाके मनमें निवास किया करता था ॥ १७० ॥ उसका शरीर कभी नष्ट नहीं होनेवाली विजयलक्ष्मीसे सदा देदीप्यमान रहता था इसलिए ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी एक जगह इकट्ठा किया हुआ शत्रियोंका तेज ही हो ॥ १७१ ॥ 'यह कोई अलौकिक पुरुष है' ['मनुष्य रूपधारी देव है'] इस बातको प्रकट करता हुआ भरतका बलिष्ठ शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो वह तेज-रूप परमाणुओंसे ही बना हुआ हो ॥ १७२ ॥ अत्यन्त ऊँचे मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी फिरणोंसे शोभायमान उसका मस्तक चूलिका सहित मेरुपर्वतके शिखरके समान अतिशय शोभायमान होता था ॥ १७३ ॥ क्रम-क्रमसे ऊँचा होता हुआ उसका गोल शिर ऐसा अच्छा शोभायमान होता था मानो विधाताने [वक्षःस्थलपर रहनेवाला] लक्ष्मीके लिए शय्य ही बनाया हो ॥ १७४ ॥ कुछ-कुछ टेढ़े, स्निग्ध, काले और एक साथ उत्पन्न हुए केशोंसे शोभायमान उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो उसपर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई टोपी ही रखी हो ॥ १७५ ॥ भरत अपने मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको बहुत ही सरल रखता था इसलिए जान पड़ता था कि उनको कुटिलता उसके भ्रमरके समान काले केशोंके अन्त भागमें ही जाकर रहने-लगी ॥ १७६ ॥ दाँतोंकी फिरणोंरूपी केशरसे सहित और सुगन्धित श्वासोच्छ्वासके पवन-द्वारा भ्रमरोंका आह्वान करनेवाला उसका प्रकुञ्चित मुखकमल बहुत ही शोभायमान होता था ॥ १७७ ॥

१. पितृमर्त्यम् । २. गमनम् । ३. पितृस्वरूपताम् । ४. पिता सह । ५. —राभिरामकैः अ०, प०, ४०, ६० । ६. पुरीः । ७. ईषद्वक्रः । ८. पुण्यज्जातम् । लुब्धोन्नतरहिता इत्यर्थः । ९. रचितम् ।

मुखमस्य मुखालोकमखण्डपरिमण्डलम् । शशाङ्कमण्डलस्याधाहलक्ष्मी मक्ष्णकान्तिकम् ॥१८८॥
 कर्णामरणदी प्रांशुपरिवेषेण दिद्युते । मुखेन्दुरस्य दन्तोस्त्रै चन्द्रिकामसितः किरन् ॥१८९॥
 रत्ना दीप्तिर्विधा कान्तिविकासश्च महोत्पलः । इति व्यस्ता गुणाः प्रापुस्तदास्य सहयोगिताम् ॥१९०॥
 शशी परिक्षया पद्मः संकोचं यान्यनुक्षपम्^१ । सदाविकासि पूर्णं च तन्मुखं कवोपमीयते ॥१९१॥
 जितं सदा विकासिन्धा तन्मुखाब्जस्य शोभया । प्रस्थितं वनवासाय^२ गन्धे वनजमुज्ज्वलम् ॥१९२॥
 पट्टवन्धोचितस्यास्य ललाटस्या^३ हतद्युतः । तिरमांशोरंशवो नूनं^४ विनिर्माणाङ्गतां गताः ॥१९३॥
 त्रिलोक्यं त्रिलोककान्तिं त्रिलोकैर्हि मेधुतिः^५ । त्रैलोक्यजयनिर्देशाद् गतः शङ्के कलङ्किताम् ॥१९४॥
 भूलते ललिते तस्य लीलां दधतुर्जिताम् । वैजयन्त्याचिबोर्लिप्ते मदनेन जगज्जये ॥१९५॥
 मुखप्राङ्गणपुष्पोपहारः शारितं^६ दिङ्मुखः । नेत्रोत्पलविकासोऽस्य पप्रथे प्रथयन् मुदम् ॥१९६॥
 सरलापाङ्गमासास्य सश्रुतावपि लङ्कितौ । कर्णौ लीलाभनौ प्रायो नानुलङ्घ्योऽस्ति कश्चन ॥१९७॥

अथवा उसका मुख पूर्ण चन्द्रमण्डलकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डलके देखनेसे सुख होता है उसी प्रकार उसका मुख देखनेसे भी सबको सुख होता था जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड गोलाईसे सहित होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड गोलाईसे सहित था और जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड कान्तिसे युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड कान्तिसे युक्त था ॥१९८॥ चारों ओर वौतकी किरणोंरूपी चाँदनीको फैलाता हुआ उसका मुखरूपी चन्द्रमा कर्णभूषणकी देदीप्यमान किरणोंके गोल परिमण्डलसे बहुत ही शोभायमान होता था ॥१९९॥ सूर्यमें दीप्ति, चन्द्रमा में कान्ति और कमलमें विकास इस प्रकार ये सब गुण अलग-अलग रहते हैं परन्तु भरतके मुखपर ये सब गुण सहयोगिताको प्राप्त हुए थे अर्थात् साथ-साथ विद्यमान रहते थे ॥२००॥ चन्द्रमा क्षयसे सहित है और कमल प्रत्येक रात्रिमें संकोचको प्राप्त होता रहता है परन्तु उसका मुख सदा विकसित रहता था और कभी संकोचको प्राप्त नहीं होता था— पूर्ण रहता था इसलिए उसकी उपमा किसके साथ दी जाये ? उसका मुख सर्वथा अनुपम था ॥२०१॥ ऐसा मालूम होता है कि उसका मुखकमल सदा विकसित रहनेवाली लक्ष्मीसे मानो हार ही गया था अतएव वह वन अथवा जलमें निवास करनेके लिए प्रस्थान कर रहा था ॥२०२॥ पट्टवन्धके उचित और अतिशय कान्तियुक्त उसके ललाटके वननेमें अवश्य ही सूरजकी किरणें सहायक सिद्ध हुई थीं ॥२०३॥ शोभायमान कान्तिसे युक्त उसके दोनों कपोल देखकर चन्द्रमा अवश्य ही पराजित हो गया था और इसलिए ही मानो विरक्त होकर वह सकलंक अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥२०४॥ उसकी दोनों भौंहरूपी सुन्दर लताएँ ऐसी अच्छी शोभा धारण कर रही थीं मानो जगत्को जीतनेके समय कामदेवके द्वारा फहरायी हुई दो पताकाएँ ही हों ॥२०५॥ उसके नेत्ररूपी नील कमलोंका विकास मुखरूपी आँगनमें पड़े हुए फूलोंके उपहारके समान शोभायमान हो रहा था तथा समस्त दिशाओंको चित्र-विचित्र कर रहा था और इसीलिए वह आनन्दको विस्तृत कर अतिशय प्रसिद्ध हो रहा था ॥२०६॥ उसके चञ्चल कटाक्षोंकी आभासे श्रवणक्रियासे युक्त (पक्षमें उत्तम-उत्तम शास्त्रोंके ज्ञानसे युक्त) उसके दोनों कानोंका उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है चञ्चल अथवा सतृण हृदयवाले

१. -मक्ष्ण- म०, ल० । २. -दीप्तांशु- अ०, म०, द०, स० । ३. दन्तो- द०, म० । उभयः किरणः । ४. पृथग्भूताः । ५. सहवामिताम् । ६. शारिं प्रति । ७. तित्त्वविकासि । ८. जलवासाय । ९. -मुद्गिजन् स०, -मुद्गीजम् ग०, अ०, म०, ल० । १०. 'पट्टवन्धाच्चित्तस्यास्य' स० पुस्तके पाठान्तरम् । ११. हटद्युतः द०, म०, स० । १२. उपादानकारणताम् । १३. शारितदिङ्मुखः ल० । पुरितदिङ्मुखः अ०, स०, द० । शारित कथुरित ।

दग्धवीक्षितैस्तस्य शरैरिव मनोभुवः । कामिन्यां हृदये विद्धा वधुः सद्योऽतिरक्तताम् ॥१८८॥
 रत्नकुण्डलयुग्मेन गण्डपर्यन्तशुश्रूषणा । प्रतिमानं धृतार्थस्य विधिरसस्त्रिव सोऽद्युतम् ॥१८९॥
 मदनाग्नेरिवोद्वोर्ध्वं नालिका ललिताकृतिः । नासिकास्य बभौ किञ्चिद्वाग्रां शुकमुण्डरूक् ॥१९०॥
 बभौ पयःकणाकीर्णविद्रुमाङ्गुरसच्छविः । सिक्तस्तस्यामृतनेत्रे स्मितान्मुच्छ्रितोऽधरः ॥१९१॥
 कण्ठे हारलतारम्ये काप्यस्य धीरभूद् विभोः । प्रत्यगोद्भिन्नमुक्तौर्ध्वं कम्बुग्रीवोपमोक्षिता ॥१९२॥
 कण्ठाभरणरत्नांशु संभृतं तदुरःस्थलम् । रत्नद्वीपश्रियं बभौ हारवल्लीपरिष्कृतम् ॥१९३॥
 स वभार भुजस्तम्भपर्यन्तपरिलम्बिताम् । लक्ष्मीदेव्या इवान्दोलवल्लरीं हारवल्लीराम् ॥१९४॥
 जयश्रीभुजयोरस्य बबन्ध प्रेमनिघ्नताम् । केयूरकोटिसंघटकिणीभूतांसपीडयोः ॥१९५॥
 बाहुदण्डेऽस्य भूलोकमानन्दण्ड इवायते । कुलशैलास्थया नूनं तने लक्ष्मीः परां स्थितिम् ॥१९६॥
 शङ्खचक्रगदाकूर्मश्लवादिशुभलक्षणैः । रेजे हस्ततलं तस्य नमस्तथलमिवोद्भुभिः ॥१९७॥
 अंसावलम्बिता ब्रह्मसूत्रेणासौ दधे श्रियम् । हिमाद्रिरिव गाङ्गेन स्रोतसोऽसंगसंगिना ॥१९८॥

प्रायः किसका उल्लंघन नहीं करते ? अर्थात् सभोका उल्लंघन करते हैं ॥ १८७॥ कामदेवके बाणोंके समान उसके अर्थनेत्रों (कटाक्षों) के अवलोकनसे हृदयमें घायल हुई स्त्रियाँ शीघ्र ही अतिशय रक्त हो जाती थीं । भावार्थ—जिस प्रकार बाणसे घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त खूनसे लाल-लाल हो जाती हैं, उसी प्रकार उसके आधे खुले हुए नेत्रोंके अवलोकनसे घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त खूनसे लाल-लाल हो जाती थीं ॥ १८८॥ वह गालोंके समीप भाग तक लटकनेवाले रत्नमयी कुण्डलोंके जोड़ेसे ऐसा शोभायमान होता था मानो शास्त्र और अर्थकी तुलनाका प्रमाण ही करना चाहता हो ॥ १८९॥ कुछ नीचेकी ओर झुकी हुई और तोतेकी चोंचके समान लालवर्ण उसकी सुन्दर नाक ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कामदेवरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए फूँकनेकी नाली ही हो ॥ १९०॥ जिस प्रकार जलके कणोंसे व्याप्त हुआ मूँगाका अंकुर शोभायमान होता है, उसी प्रकार मन्द हास्य की किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका अधरोष्ठ ऐसा शोभायमान होता था मानो अमृतसे ही सींचा गया हो ॥ १९१॥ राजकुमार भरतके हाररूपी लतासे सुन्दर कण्ठमें कोई अनोखी ही शोभा थी । वह नवीन फूले हुए पुष्पोंके समूहसे सुशोभित शंखके कण्ठको उपमा देने योग्य हो रही थी ॥ १९२॥ कण्ठाभरणमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे भरा हुआ उसका वक्षःस्थल हाररूपी बेलसे घिरे हुए रत्नद्वीपकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १९३॥ वह अपनी भुजारूप स्त्रियोंके पर्यन्त भागमें लटकती हुई जिस हाररूपी लताको धारण कर रहा था वह ऐसी मालूम होती थी मानो लक्ष्मीदेवीके मूलाकी लता (रस्सी) ही हो ॥ १९४॥ उसकी दोनों भुजाओंके कन्धोंपर बाजूबन्दके संघटनसे भट्टे पड़ी हुई थीं और इसलिए ही विजयलक्ष्मीने प्रेमपूर्वक उसकी भुजाओंकी अधोऽनता स्वीकृत की थी ॥ १९५॥ उसके बाहुदण्ड पृथिवीको नापनेके दण्डके समान बहुत ही लम्बे थे और उन्हें कुलाचल समझकर उनपर रहनेवाली लक्ष्मी परम धैर्यको विस्तृत करती थी ॥ १९६॥ जिस प्रकार अनेक नक्षत्रोंसे आकाश शोभायमान होता है उसी प्रकार शंख, चक्र, गदा, कूर्म और मीन आदि शुभ लक्षणोंसे उसका हस्त-तल शोभायमान था ॥ १९७॥ कन्धेपर लटकते हुए यज्ञोपवीतसे वह भरत ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऊपर बहती हुई गंगा

१. अनुरागितां दधिरतां च । २. तुलाप्रभितिम् । ३. धृतं च अर्थं च धृतार्थं तस्य । ४. प्रकटीकरण-नालिका । ५. नता । ६. व्याप्तः । ७. -चतुरिताधरः स० । -स्फुरितोऽधरः ५०, ६० । ८. -पुष्पोध- ५०, ६०, ७० । ९. सहितम् । १०. दधे । ११. स्थितिम् ।

हसन्निवाधरं कायमूर्ध्वकायाऽरय दिद्युते । कटकाङ्गदकेयूरहाराद्यैः स्नेहविभूषणैः ॥१९९॥
 वर्णिते पूर्वकायेऽस्य कायो व्यावर्णितोऽधरः । यथापरि तथाधश्च ननु शोः कल्पपादपे ॥२००॥
 पुनरुक्तं तथाप्यस्य क्रियते वर्णनादरः । पङ्क्तिभेदे महान् दोषः स्यादित्युद्देशमात्रतः ॥२०१॥
 लावण्यरसनिप्यन्द्वाहिनीं नाभिकूपिकाम् । स वभारापतत्कायगन्धेमस्यैव पङ्क्तिम् ॥२०२॥
 स शाररसनोल्लासिदुकूलं जघनं दधौ । सेन्द्रचापशरन्मंघनिनम्भमिव मन्दरः ॥२०३॥
 पीधरौ स वभारोरु युक्तायामौ कनदधुती । मनोभुवेव घिन्यस्ती स्तम्भो स्वे वासवेदमनि ॥२०४॥
 जङ्घे सुसुचिराकारे चासकान्ती दधेऽधिराट् । उद्वृत्तं कणयेतेन घटितं चित्तजनमना ॥२०५॥
 तत्पदाश्रुजयोर्युग्ममध्युवासानपायिनी । लक्ष्मीभृङ्गाङ्गनेवायिर्भवदुल्लिखन्नकम् ॥२०६॥
 तत्कर्मो रजतुः कान्त्या लक्ष्मीं जिह्वाम्बुजन्मनः । प्रहासमिव तन्धानौ नखोद्योतैर्विसारिभिः ॥२०७॥
 अकच्छत्रासिदण्डादिरत्नाम्यस्य पदाब्जयोः । लग्नानि लक्षणव्याजान् पूर्वसेवामिव व्यधुः ॥२०८॥
 समाक्रान्तधराचक्रः क्रमयोरेव विक्रमः । सर्वाङ्गोणस्तु केनास्य सोढपूर्वः स मानिनः ॥२०९॥

नदीके प्रवाहसे हिमालय सुशोभित रहता है ॥१९८॥ उसके शरीरका ऊपरी भाग कड़े, अनन्त, बाजूबन्द और हार आदि अपने-अपने आभूषणोंसे ऐसा देदीप्यमान हो रहा था मानो अपने अधोभागकी ओर हँस ही रहा हो ॥१९९॥ राजकुमार भरतके शरीरके ऊपरी भागका जैसा कुछ वर्णन किया गया है वैसा ही उसके नीचेके भागका वर्णन समझ लेना चाहिए क्योंकि कल्पवृक्षकी शोभा जैसी ऊपर होती है वैसी ही उसके नीचे भी होती है ॥२००॥ यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार उसके अधोभागका वर्णन हो चुका है तथापि उद्देशके अनुसार पुनरुक्त रूपसे उसका वर्णन फिर भी किया जाता है क्योंकि वर्णन करते-करते समूहमें-से किसी एक भागका छोड़ देना भी बड़ा भारी दोष है ॥२०१॥ लावण्यरूपी रसके प्रवाहको धारण करनेवाली उसकी नाभिरूपी कूपिका ऐसी सुशोभित होती थी मानो आनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीका मार्ग ही हो ॥२०२॥ वह भरतश्रेष्ठ करधनीसे सुशोभित सफेद धोतीसे युक्त जघन भागको धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रधनुषसे सहित शरद्-ऋतुके बादलोंसे युक्त नितम्बभाग (मध्यभाग) को धारण करनेवाला मेरु पर्वत ही हो ॥२०३॥ उसके दोनों ऊरु अत्यन्त स्थूल और सुदृढ़ थे, उनकी लम्बाई भी यथायोग्य थी, और उनका वर्ण भी सुवर्णके समान पीला था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेवने अपने मन्दिरमें दो खम्भे ही लगाये हों ॥२०४॥ उस भरतकी दोनों जंघाएँ भी अतिशय मनोहर आकारवाली और सुन्दर कान्तिकी धारक थीं तथा ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवने उन्हें इथियारसे छीलकर गोल ही कर ली हो ॥२०५॥ उसके दोनों चरण प्रकट होते हुए अंगुलिरूपी पत्तोंसे सहित कमलके समान सुशोभित होते थे और उनमें कभी नष्ट नहीं होनेवाली लक्ष्मी भ्रमरीके समान सदा निवास करती थी ॥२०६॥ उसके दोनों ही पैर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अपनी कान्तिसे कमलकी शोभा जोतकर अपने फैलते हुए नखोंके प्रकाशसे उसकी हँसी ही कर रहे हों ॥२०७॥ उसके चरण-कमलोंमें चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नोंके चिह्न बने हुए थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे चौदह रत्न, लक्षणोंके छलसे भावी चक्रवर्तीकी पहलेसे ही सेवा कर रहे हों ॥२०८॥ केवल उसके चरणोंका पराक्रम समस्त पृथिवी-मण्डलपर आक्रमण करनेवाला था, फिर भला उस अभिमानो भरतके सम्पूर्ण शरीरका पराक्रम

१. प्रवाहः । २. रसकूपिकाम् म०, ल० । ३. मार्गम् । ४. शार नातावर्ण । शाररमनो प०, अ०, ल० । ५. उत्तेजितं कृत्वा । ६. आयुधविशेषेण । कनयेनेव अ० । ७. शोभाम् । ८. -कमलस्य । ९. गमनं पराक्रमश्च । १०. सर्वाङ्गवदसमुत्पन्नः विक्रमः । ११. सोढं समाः । १२. मानितः द०, प०, म० ।

चरमाङ्गतयैवास्य वर्णितं बलमाङ्गिकम् ।^१ सात्त्विकं तु यत्नं बाह्यैर्लिङ्गैर्दिग्विजयादिभिः ॥२१०॥
 यद्बलं चक्रभ्रूक्षेत्रवर्तिनां नृसुधाशिनाम् । ततोऽधिकगुणं तस्य बभूव भुजयोर्वलम् ॥२११॥
 रूपानुरूपमेवास्य^२ बभूवे गुणसंपदा । गुणैर्विमुच्यते जातु नहि तादृग्विधं वपुः ॥२१२॥
 यत्रा^३ कृतिगुणास्तत्रैवैवन्तीति न संशयः । यतोऽप्यनीदृगाकारो गुणैरेव स्वयं वृतः ॥२१३॥
 सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहो दया^४ दमः । प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषङ्गिनः ॥२१४॥
^५ वपुः कान्तिश्च दीप्तिश्च लावण्यं प्रियवाक्यता । कलाकुशलता चेति शरीरान्वयिनां गुणः ॥२१५॥
 निसर्गरुचिराकारो गुणैरेभिर्विभूषितः । स रेजे नितरां यद्वन्मणिः संस्कारयोगतः ॥२१६॥
^६ अप्राकृताकृतिर्दिव्यमनुष्यो महसां निधिः । लक्ष्म्याः पुत्रोऽयमित्युच्चैर्बभूवाऽनुत्तरेष्टितः ॥२१७॥
 रूपसंपदमित्युच्चैर्दृष्ट्वा नान्यत्रमादिनीम् । जनाः पुरातनीमस्य शशंसुः पुण्यसंपदम् ॥२१८॥
 वपुरारोग्यमैश्वर्यं धनद्विजः कामनीयकम् । बलमायुर्यशो मेधा वाक्सौभाग्यं विदग्धता ॥२१९॥
 इति यावान् जगत्स्थस्मिन् पुरुषार्थः^७ सुखोचितः । स सर्वोऽभ्युदयः पुण्यपरिपाकाविहाङ्गिनाम् ॥२२०॥
 न विनाभ्युदयः पुण्यादहित कश्चन पुष्कलः । तस्मादभ्युदयं प्रेप्सुः पुण्यं संक्षिप्तयाद् बुधः ॥२२१॥

कौन सहन कर सकता था ॥२०९॥ उसके शरीरसम्बन्धी बलका वर्णन केवल इतने ही से हो जाता है कि वह चरम शरीरी था अर्थात् उसी शरीरसे मोक्ष जानेवाला था और उसके आत्मा सम्बन्धी बलका वर्णन दिग्विजय आदि बाह्य चिह्नोंसे हो जाता है ॥२१०॥ चक्रवर्ती के क्षेत्रमें रहनेवाले समस्त मनुष्य और देवोंमें जितना बल होता है उससे कईगुना अधिक बल चक्रवर्तीकी भुजाओंमें था ॥२११॥ उस भरतके रूपके अनुरूप ही उसमें गुणरूपी सम्पदा विशमान थी सो ठीक ही है क्योंकि गुणोंसे वैसा सुन्दर शरीर कभी नहीं छोड़ा जा सकता ॥२१२॥ 'जहाँ सुन्दर आकार है वहीं गुण निवास करते हैं' इस लोकोक्तिमें कुछ भी संशय नहीं है क्योंकि गुणोंने भरतके उपसारहित—सुन्दर शरीरको स्वयं आकर स्वीकृत किया था ॥२१३॥ सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय—ये गुण सदा उसकी आत्माके साथ-साथ रहते थे ॥२१४॥ शरीरकी कान्ति, दीप्ति, लावण्य, प्रिय वचन बोलना और कलाओंमें कुशलता ये उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण थे ॥२१५॥ जिस प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर मणि संस्कारके योगसे अत्यन्त सुशोभित हो जाता है उसी प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर आकारवाला भरत ऊपर लिखे हुए गुणोंसे और भी अधिक सुशोभित हो गया था ॥२१६॥ वह भरत एक दिव्य मनुष्य था, उसकी आकृति भी असाधारण थी, वह तेजका खजाना था और उसकी सब चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली थीं इसलिए वह लक्ष्मीके अतिशय ऊँचे पुंजके समान शोभायमान होता था ॥२१७॥ दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली उसकी उत्कृष्ट रूपसम्पदा देखकर लोग उसके पूर्वभाव-सम्बन्धी पुण्यसंपदाकी प्रशंसा करते थे ॥२१८॥ सुन्दर शरीर, निरोगता, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, सुन्दरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, सर्व-प्रिय वचन और चतुरता आदि इस संसारमें जितना कुछ सुखका कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय कहलाता है और वह सब संसारी जीवोंको पुण्यके उदयसे प्राप्त होता है ॥२१९-२२०॥ पुण्यके बिना किसी भी बड़े अभ्युदयकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए जो विद्वान् पुरुष अभ्युदय

१. आत्मनि भवे मनोजनितमित्यर्थः । २. गुणसंपद् बभूव । ३. स्वरूपत्वम् । ४. दयादमी ५० ।

५. सत्त्वाविनाभाविनः । ६. वपुः पुष्टिः । ७. असाधारणाकृतिः । ८. पुरुषार्थसुखोचितः अ०, ब०, स० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्यनन्दपरम्परां प्रतिदिनं संवदन् सूर्यगुणैः पित्रोर्वन्दुजनस्य च प्रसन्नमूर्ध्नि कस्य दुःखान्निष्ठाम् ।
नाभेयोदयभूधरादधरितक्षोणीभरा [धरा] दुद्गतः प्रालेयाधुरिवाभमो भरतराद् भूलोकमुजासयन् ॥
श्रीमान् हेमशिलाधनैरपवर्तैः पांशुः प्रकृष्या गुरुः पादाकान्तधरातलो गुरुभरं ब्रीहं क्षमायाः क्षमः ॥
हारं निर्गन्धस्वकान्तिमुरसा विभ्रस्तस्पर्हिना चक्राकोदयभूधरः स रुचे मूर्त्तिलङ्करोद्गुरः ॥२२३॥
संपदयज्ञयनोत्सवं सुहृद्विरे तद्वचनमप्रीकृतं संश्लेषकं कलितकं अशिशुलं सप्रसन्नं तद्वचः ।
आश्लिष्यन् प्रणतोत्थितं सुहुरमुं स्वोत्संगमारोपयन् श्रीमातामिसुतः पशुपतिमगान् वरस्यजितश्रीविभुः ॥
इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्कुमारकालयशस्वतीमुनन्दा-
विवाहभरतोत्पत्तिवर्णनं नाम पञ्चदश पर्व ॥१५॥

प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें पहले पुण्यका संचय करना चाहिए ॥२२१॥ इस प्रकार वह भरत चन्द्रमाके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने शीतलता, सुभगता आदि गुणोंसे सबके आनन्दकी परम्पराको बढ़ाता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने दया, उदारता, नम्रता आदि गुणोंसे माता-पिता तथा भाईजनोंके आनन्दकी परम्पराको प्रतिदिन बढ़ाता रहता था, चन्द्रमा जिस प्रकार लोगोंकी दुःखमय परिस्थितिको शान्त करता है उसी प्रकार वह भरत भी लोगोंकी दुःखमय परिस्थितिको शान्त करता था, चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त पर्वतोंको नीचा करनेवाले पूर्वाचलसे उदित होता है उसी प्रकार वह भरत भी समस्त राजाओंको नीचा दिखानेवाले भगवान् ऋषभदेवरूपी पूर्वाचलसे उदित हुआ था और चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त भूलोकको प्रकाशित करता है उसी प्रकार भरत भी समस्त भूलोकको प्रकाशित करता था ॥२२२॥ अथवा वह भरत, चक्ररूपी सूर्यको उदय करनेवाले उदयाचलके समान सुशोभित होता था क्योंकि जिस प्रकार उदयाचल पर्वत सुवर्णमय शिलाओंसे सान्द्र अवयवोंसे शोभायमान होता है उसी प्रकार वह भरत भी सुवर्णके समान सुन्दर मजबूत शरीरसे शोभायमान था, जिस प्रकार उदयाचल ऊँचा होता है उसी प्रकार वह भरत भी ऊँचा (उदार) था, उदयाचल जिस प्रकार स्वभावसे ही गुरु-भारी होता है उसी प्रकार वह भरत भी स्वभावसे ही गुरु (श्रेष्ठ) था, उदयाचल पर्वतने जिस प्रकार अपने समीपवर्ती छोटे-छोटे पर्वतोंसे पृथ्वीतलपर आक्रमण कर लिया है उसी प्रकार भरतने भी अपने पाद अर्थात् चरणोंसे दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीतलपर आक्रमण किया था, उदयाचल जिस प्रकार पृथिवीके विशाल भारको धारण करनेके लिए समर्थ है उसी प्रकार भरत भी पृथिवीका विशाल भार धारण करनेके लिए (व्यवस्था करनेके लिए) समर्थ था, उदयाचल जिस प्रकार अपने तटभागपर निर्गन्धनोंकी सुन्दर कान्ति धारण करता है उसी प्रकार भरत भी तटके साथ स्पर्धा करनेवाले अपने वक्षःस्थलपर हारोंकी सुन्दर कान्ति धारण करता था, और उदयाचल पर्वत जिस प्रकार देदीप्यमान शिखरोंसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने प्रकाशमान मुकुटसे सुशोभित रहता था ॥२२३॥ जिन्हें अरहन्त पदकी लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ऐसे भगवान् ऋषभदेव, नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, अत्यन्त सुन्दर और असाधारण भरतके मुखको देखते हुए, कानोंको सुख देनेवाले तथा विनयसहित कहे हुए उसके मधुर वचनोंको सुनते हुए, प्रणाम करनेके बाद उठे हुए भरतका बार-बार आलिंगन कर उसे अपनी गोदमें बैठाने हुए परम सन्तोषको प्राप्त होते थे ॥ २२४ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्का कुमारकाल, यशस्वती और मुनन्दाका विवाह तथा भरतकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला पंद्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१५॥

१. अधःकृतभूपतेः अधःकृतभूधराच्च । २. -ओणिधरादुद्गतः प०, म०, ल० । ३. अवयवैः । ४. उन्नतः । ५. चरणाकान्तं प्रत्यन्तपर्वताकान्तं च । ६. अधिकः । ७. प्रभुः स० ।

षोडशं पर्व

अथ क्रमाद् यशस्वती^१ जाताः स्वप्तिरिमे सुताः । अवतीर्य दिवो मूर्ध्नेस्तेऽहमिन्द्राः पुरोहिताः ॥१॥
 पीठो वृषभसेनोऽभूत्^२ कनीयान् भरतेश्वरात् । महापीठोऽभवत्तस्य सोऽनन्तविजयोऽनुजः ॥२॥
 विजयोऽनन्तवीर्योऽभूद् जयन्तोऽच्युतोऽभवन् । वैजयन्तो वीर इत्यासीद् वरवीरोपराजितः ॥३॥
 इत्येकादशतं^३ पुत्रा बभूवुर्बभेक्षिनः । भरतस्यानुजन्मानश्वरमाज्ञा महौजसः ॥४॥
 ततो ब्राह्मी यशस्वती^४ ब्रह्मा समुदपादयत् । कलामिषापराशया^५ ज्यौत्स्नपक्षोऽमला विधोः ॥५॥
 सुनन्दायां महाबाहुरहमिन्द्रो^६ दिवाऽप्रतः । च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत् कुमारोऽमस्तसिभः ॥६॥
 वज्रजङ्घमे यास्य^७ मगिन्यासीदनुन्दरी^८ । सा सुन्दरीत्यभूत् पुत्री वृषभस्थातिसुन्दरी ॥७॥
 सुनन्दा सुन्दरी पुत्री पुत्रं बाहुबलोशिनम् । लब्ध्वा रुचिं परां भेजे^९ प्राचीयार्कं सह त्रिषा ॥८॥
 तत्कालं^{१०} कामदेवोऽभूद् युवा बाहुबली बली । रूपसंपदमुत्तुङ्गं दधानोऽसुमतीं मताम् ॥९॥
 तस्य तद्गुणमन्यत्र समदृश्यत न वचन्ति । कल्पद्रुमात् किमन्यत्र दृश्यते हारिभूषणम् ॥१०॥

अथानन्तर पहले जिनका वर्णन किया जा चुका है ऐसे वे सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र स्वर्गसे अवतीर्ण होकर क्रमसे भगवान् वृषभदेवकी यशस्वती देवीमें नीचे लिखे हुए पुत्र उत्पन्न हुए ॥१॥ भगवान् वृषभदेवकी वज्रनाभि पर्यायमें जो पीठ नामका भाई था वह अब वृषभसेन नामका भरतका छोटा भाई हुआ । जो राजश्रेष्ठिका जीव महापीठ था वह अनन्तविजय नामका वृषभसेनका छोटा भाई हुआ ॥२॥ जो विजय नामका व्याघ्रका जीव था वह अनन्त-विजयसे छोटा अनन्तवीर्य नामका पुत्र हुआ, जो वैजयन्त नामका शूकरका जीव था वह अनन्तवीर्यका छोटा भाई अच्युत हुआ, जो धानरका जीव जयन्त था वह अच्युतसे छोटा वीर नामका भाई हुआ और जो नेमलाका जीव अपराजित था, वह वीरसे छोटा वरवीर हुआ ॥३॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके यशस्वती महादेवीसे भरतके पीछे जन्म लेनेवाले तिन्यानचे पुत्र हुए, वे सभी पुत्र चरमशरीरी तथा बड़े प्रतापी थे ॥४॥ तदनन्तर जिस प्रकार शुक्लपक्ष पश्चिम दिशामें चन्द्रमाकी निर्मल कलाको उत्पन्न (प्रकट) करता है उसी प्रकार ब्रह्मा-भगवान् आदिनाथने यशस्वती नामक महादेवीमें ब्राह्मी नामकी पुत्री उत्पन्न की ॥५॥ आनन्द पुरोहितका जीव जो पहले महाबाहु था और फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वह वहाँसे च्युत होकर भगवान् वृषभदेवकी द्वितीय पत्नी सुनन्दाके देवके समान बाहुबली नामका पुत्र हुआ ॥६॥ वज्रजङ्घ पर्यायमें भगवान् वृषभदेवकी जो अनुन्दरी नामकी बहन थी वह अब इन्हीं वृषभदेवकी सुनन्दा नामक देवीसे अत्यन्त सुन्दरी सुन्दरी नामकी पुत्री हुई ॥७॥ सुन्दरी पुत्री और बाहुबली पुत्रको पाकर सुनन्दा महारानी ऐसी सुशोभित हुई थी जिस प्रकार कि पूर्वदिशा प्रभाके साथ-साथ सूर्यको पाकर सुशोभित होती है ॥८॥ समस्त जीवोंको मान्य तथा सर्वश्रेष्ठ रूपसम्पदाको धारण करने-वाला बलवान् युवा बाहुबली उस कालके चौबीस कामदेवोंमेंसे पहला कामदेव हुआ था ॥९॥ उस बाहुबलीका जैसा रूप था वैसा अन्य कहीं नहीं दिखाई देता था, सो ठीक ही है उत्तम आभूषण

१. क्रमाद्यशस्वती ८० । २. भरतस्यानुजः । ३. इत्येकोनशतं - अ०, ५०, ८०, ८०, ८०, ८० ।
 ४. यशस्वती । ५. -पक्षोऽमला ८०, ८० । ६. सर्वार्थसिद्धितः । ७. वृषभस्य । ८. -दनुन्दरी ५०, अ०, ८०,
 ८०, ८० । ९. लेने व०, अ०, ८०, ८० । १०. तत्काले काम- ५०, ८०, ८०, ८० ।

कुञ्जितास्तस्य केशान्ता^१ विषभुर्भ्रमरविषः^२ । मनोभुवः शिरस्त्राणं^३ सूक्ष्माधो^४ वलयैः समाः ॥११॥
 ललाटमष्टमीचन्द्रचारु तस्य दधे रुचिम् । धात्रेव राज्यपट्टस्य निवेशाय पृथुकृतम् ॥१२॥
 कुण्डलद्वयसंशोभि तस्य चक्रमदीप्यत । सरोरुहमिवोपान्तवर्तिचक्राङ्गुल्युग्मकम् ॥१३॥
 नेत्रोत्पलद्वयेतास्य बभौ वक्षसरोरुहम् । स्मिन्प्राणं^५ सलिलोत्पीडं लक्ष्म्यावासपवित्रितम् ॥१४॥
 विजयरत्नद्वहारेण वक्ष-स्थलविलम्बिता । सोऽधानमरकतागस्य^६ श्रियं मिश्ररशोभिनाः ॥१५॥
 तस्यांसौ वक्षसः प्रान्ते श्रियमातेननुः पराम् । द्वीपस्थलस्य पर्यन्ते स्थितौ क्षुद्रनगाविभ ॥१६॥
 बाहु तस्य महाग्राहोरधातां बलमूर्जितम् । यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य^७ महसां निधेः ॥१७॥
 मध्येगात्रमसौ दधे गम्भीरं^८ नाभिमण्डलम् । कुलाद्विरिष पद्मायाः^९ सेवनीयं महत्सरः ॥१८॥
 कटोतटं बभावस्य कटिसूत्रेण वेष्टितम् । महाहिनेव विस्तीर्णं तटं मेरोर्महोदधतेः ॥१९॥
 कदलीस्तम्भनिर्मासा^{१०} बूरु तस्य विरजनुः । लक्ष्मीकरतलाजस्तं^{११} स्पर्शादिव समुज्ज्वलौ ॥२०॥
 शुशुभाते शुभे जङ्घे तस्य विक्रमशालिनः । भविष्यत्प्रतिमायोगतपःसिद्धयङ्गतां^{१२} गते ॥२१॥
 कर्मौ मृदुतलौ तस्य लसद्गुलिसद्वलौ । रुचिं दधतुरास्तौ रक्ताग्भोजस्य सश्रियः ॥२२॥

कल्पवृक्षको छोड़कर क्या कहीं अन्यत्र भी पाये जाते हैं ? ॥१०॥ उसके भ्रमरके समान काले तथा कुटिल केशोंके अग्रभाग कामदेवके शिरके कवचके सूक्ष्म लोहेके गोल तारोंके समान शोभायमान होते थे ॥११॥ अष्टमीके चन्द्रमाके समान सुन्दर उसका विस्तृत ललाट ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो ब्रह्माने राज्यपट्टको बाँधनेके लिए ही उसे विस्तृत बनाया हो ॥१२॥ दोनों कुण्डलोंसे शोभायमान उसका मुख ऐसा देवीप्यमान जान पड़ता था मानो जिसके दोनों ओर समीप ही चक्रवा-चक्री बैठे हों-ऐसा कमल ही हो ॥१३॥ मन्व हास्यकी किरणरूपी जलके पूरसे भरा हुआ तथा लक्ष्मीके निवास करनेसे अत्यन्त पवित्र उसका मुखरूपी सरोवर नेत्ररूपी दोनों कमलोंसे भारी सुशोभित होता था ॥१४॥ वह बाहुबली अपने वक्षःस्थलपर लटकते हुए विजयरत्न नामके हारसे निर्झरनों-द्वारा शोभायमान मरकतमणिभय पर्वतकी शोभा धारण करता था ॥१५॥ उसके वक्षःस्थलके प्रान्तभागमें विद्यमान दोनों कन्वे ऐसी शोभा बढ़ा रहे थे मानो किसी द्वीपके पर्यन्त भागमें विद्यमान दो छोटे-छोटे पर्वत ही हों ॥१६॥ लम्बी भुजाओंको धारण करनेवाले और तेजके भाण्डारस्वरूप उस राजकुमारकी दोनों ही भुजाएँ उत्कृष्ट बलको धारण करती थीं और इसीलिए उसका बाहुबली नाम सार्थक हुआ था ॥१७॥ जिस प्रकार कुलाचल पर्वत अपने मध्यभागमें लक्ष्मीके निवास करने योग्य बड़ा भारी सरोवर धारण करता है उसी प्रकार वह बाहुबली अपने शरीरके मध्यभागमें गम्भीर नाभिमण्डल धारण करता था ॥१८॥ करधनीसे घिरा हुआ उसका कटिप्रदेश ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी बड़े सर्पसे घिरा हुआ अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वतका विस्तृत तट ही हो ॥१९॥ केलेके खम्भेके समान शोभायमान उसके दोनों ऊरु ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो लक्ष्मीकी हथेलीके निरन्तर स्पर्शसे ही अत्यन्त उज्ज्वल हो गये हों ॥२०॥ पराक्रमसे सुशोभित रहनेवाले उस बाहुबलीकी दोनों ही जंघाएँ शुभ थीं—शुभ लक्षणोंसे सहित थीं और ऐसी जान पड़ती थी मानो वह बाहुबली भविष्यत् कालमें जो प्रतिमायोग तपश्चरण धारण करेगा उसके सिद्ध करनेके लिए कारण ही हों ॥२१॥ उसके दोनों ही चरण लालकमलकी शोभा धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार कमल कोमल होता है उसी प्रकार उसके चरणोंके तलवे भी कोमल थे, कमलोंमें जिस प्रकार दल (पँखुरियाँ) सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उसके चरणोंमें अँगुलियारूपी दल

१. कुटिलीकृताः । २. केशाग्रा-म०, ल० । ३. शिरःकवच । ४. लोहवलयः । ५. जलकण-प्रणयम् । ६. पर्वतस्य । ७. तेजयाम् । ८. गभीरं म०, ल० । ९. लक्ष्म्याः । १०. समानी । ११. अनवरत । १२. कारणताम् ।

हृदयसौ परमोदारं दधानश्चरमं वपुः । संसाति स्म कथं माम मानिनीहृकुटीरके ॥२३॥
 स्वप्नेऽपि तस्य तद्वपुमनन्यमनसोऽङ्गनाः । पश्यन्ति स्म मनोहारि निखातमिव^१ चेतसि ॥२४॥
 मनोभवो मनोजश्च मनोभूर्मन्मथो^२ऽङ्गजः । मदनोऽनन्यजश्चेति^३ न्याजह स्तं तदाङ्गनाः ॥२५॥
 सुमनोमञ्जरीबाणैरिक्षुधन्वा किलाङ्गजः । जगत्संहारकारीति कः श्रद्धया^४ दयुक्तिकम् ॥२६॥
 समा भरतराजेन राजन्याः^५ सर्वं गृव ते । विश्वा^६ कलया^७ दीप्त्वा^८ कान्त्या सौन्दर्यलीलया^९ ॥२७॥
 शतमेकोत्तरं पुत्रा मर्त्तुस्ते भरतादयः । क्रमात् प्राप्स्युवावस्थां मदावस्थामिव द्विषाः ॥२८॥
 तद्यौवनमभूत्तेषु रमणीयतरं तदा । उद्यानपादर्पाद्येषु वसन्तस्येव जृम्भितम् ॥२९॥
 स्मितशुभङ्गरीः शुभाः^{१०} सताग्रान् पाणिपल्लवान् । भुजशाखाः फलोद्भास्ते^{११} दधुयुवपार्थिवा^{१२} ॥३०॥
 ततामोदेन धूपेन वासितास्तच्छिरोरुहाः । मन्धान्धैरलिमिलीनैः कृताः^{१३} सोपषया इव ॥३१॥

गुणोभित थे, कमल जिस प्रकार लाल होते हैं उसी प्रकार उसके चरण भी लाल थे और कमलों-
 पर जिस प्रकार लक्ष्मी निवास करती है उसी प्रकार उसके चरणोंमें भी लक्ष्मी (शोभा) निवास
 करती थी ॥२३॥ इस प्रकार परम उदार और चरमशरीरको धारण करनेवाला वह बाहुबली
 मानिनी स्त्रियोंके हृदयरूपी छोटी-सी कुटीमें कैसे प्रवेश कर गया था ? भावार्थ—स्त्रियोंका हृदय
 बहुत ही छोटा होता है और बाहुबलीका शरीर बहुत ही ऊँचा (सवा पाँच-सौ धनुष) था इसके
 सिवाय वह चरमशरीरी वृद्ध, (पक्षमें उसी भवसे मोक्ष जानेवाला) था, मानिनी स्त्रियाँ चरम-
 शरीरी अर्थात् वृद्ध पुरुषको पल्लव नहीं करती हैं, वृद्ध पुरुषोंके उल्लेख भी उसका वह
 शरीर स्त्रियोंका मान दूर कर उनके हृदयमें प्रवेश कर गया यह भारी आश्चर्यकी बात थी ॥२३॥
 जिनका मन दूसरी जगह नहीं जाकर केवल बाहुबलीमें ही लगा हुआ है ऐसी स्त्रियाँ स्वप्नमें भी
 उस बाहुबलीके मनोहर रूपको इस प्रकार देखती थीं मानो वह रूप उनके चित्तमें उकेर ही गिया
 गया हो ॥२४॥ उस समय स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और
 अनन्यज आदि नामोंसे पुकारती थीं ॥२५॥ ईश्वर ही जिसका धनुष है ऐसा कामदेव अपने
 पुष्पोंकी मञ्जरीरूपी बाणोंसे समस्त जगत्का संहार कर देता है, इस युक्तिरहित बातपर भला
 कौन विश्वास करेगा ? भावार्थ—कामदेवके विषयमें ऊपर लिखे अनुसार जो किंवदन्ती प्रसिद्ध
 है वह सर्वथा युक्तिरहित है, हाँ, बाहुबली-जैसे कामदेव ही अपने अलौकिक बल और
 पौरुषके द्वारा जगत्का संहार कर सकते थे ॥२६॥ इस प्रकार वे सभी राजकुमार विद्या,
 कला, दीप्ति, कान्ति और सुन्दरताकी लीलासे राजकुमार भरतके समान थे ॥२७॥ जिस प्रकार
 हाथी क्रम-क्रमसे मदावस्थाको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भगवान् वृषभदेवके वे भरत आदि एक-
 सौ एक पुत्र क्रम-क्रमसे युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥२८॥ जिस प्रकार वगीचेके वृक्षसमूहोंपर
 वसन्तऋतुका विस्तार अतिशय मनोहर जान पड़ता है उसी प्रकार उस समय उन राजकुमारों-
 में वह यौवन अतिशय मनोहर जान पड़ता था ॥२९॥ युवावस्थाको प्राप्त हुए वे सभी पार्थिव
 अर्थात् राजकुमार पार्थिव अर्थात् पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षोंके समान थे क्योंकि वे सभी
 वृक्षोंके समान ही मन्दहास्यरूपी सफेद मञ्जरी, लाल वर्णके हाथरूपी पल्लव और कल देनेवाली
 ऊँची-ऊँची भुजारूपी शाखाओंको धारण करते थे ॥३०॥ जिसकी सुगन्धि सघ ओर फैल रही है
 ऐसी धूपसे उन राजकुमारोंके शिरके बाल सुगन्धित किये जाते थे, उस सुगन्धिसे अन्ध

१. दृक्कोत्कीर्णमिव । २. मत् मानसं तन्मथ्वातीति मन्मथः । ३. —नन्यजश्चेव प० । ४. दृवन्ति स्म ।
 ५. जगत्संहार—म०, ल० । ६. विश्वासं कुर्यात् । ७. सर्वे राजकुमाराः । ८. आन्वीक्षिकीप्रयोगात्
 दण्डनीतिरूपया । ९. अक्षरगणितादिकया । १०. तेजसा । ११. जोभया । १२. जृम्भणम् । १३. सारणान् ।
 १४. उन्नताः । १५. पार्थिवभूमिषा । १६. युवपादपाः । १७. वेशान्तरैः पृथुक्रताः ।

तन्मुखामोदमागानुमायाश्री भ्रमरावली । सर्वाङ्गीणं तदामोदमन्वभूत् अलमाकुला ॥३२॥

रत्नकुण्डलयुग्मेन मकराङ्गेण भूषितम् । कर्णद्वयं धर्मा तेषां मदनेनेष चिह्नितम् ॥३३॥

नेत्रोत्पलद्वयं नेषामिषुकृत्य मनोभवः । अलताचापयष्टिभ्यां स्त्रीसृष्टिं वशमानयत् ॥३४॥

वपुर्दीप्तं सुगंधं कान्तं मधुरं नेत्रविभ्रमः । कर्णावभ्यर्णं विधान्तनेत्रोत्पलवत्सिर्ता ॥३५॥

भुवौ सविभ्रमे शस्तं ललाटं नायिकाञ्जिता । कपोलानुपमातीता वपोदितकाशिश्रियौ ॥३६॥

रक्तो शरारसेनेव पाटलो दशनच्छदः । स्वरं मृदङ्गनिर्बोधगम्भीरः श्रुतिपेशकः ॥३७॥

सूत्रमार्गमनुप्रोक्तैः जगत्चेतोऽभिनन्दिभिः । कण्ठगैरिवाक्षरैः शुद्धैः कण्ठो मुक्ताफलैर्वृतः ॥३८॥

वक्षो लक्ष्म्या परिष्वक्तमंसां च विजयश्रिया । व्यायामकर्कशां बाहु पीनाबाजानुलम्बिनौ ॥३९॥

नाभिः शोभायामोर्ध्वं चारुं निर्वर्ण्यं हस्तौ मधुरं मधुरं निर्विशेषमशेषतः ४०॥

होकर भ्रमर आकर उन बालोंमें विलीन होते थे जिससे वे बाल ऐसे मालूम होते थे जिससे मानो वृद्धिसे सहित ही हो रहे हों ॥३१॥ उन राजकुमारोंके मुखकी सुगन्ध सूँघनेके लिए जो भ्रमरोंकी पंक्ति आती थी वह क्षण-भरके लिए व्याकुल होकर उनके समस्त शरीरमें व्याप्त हुई सुगन्धिका अनुभव करने लगती थी । भावार्थ—उनके समस्त शरीरसे सुगन्धि आ रही थी इसलिए 'मैं पहले किस जगहकी सुगन्धि ग्रहण करूँ' इस विचारसे भ्रमर क्षण भरके लिए व्याकुल हो जाते थे ॥३२॥ उन राजकुमारोंके दोनों कान मकरके चिह्नसे चिह्नित रत्नमयी कुण्डलोंसे अलंकृत थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवने उनपर अपना चिह्न ही लगा दिया हो ॥३३॥ कामदेवने उनके नेत्ररूपी कमलोंको बाण बनाकर और उनकी भौंहरूपी लताओंको धनुषकी लकड़ी बनाकर समस्त स्त्रियोंको अपने वशमें कर लिया था ॥३४॥ उनका शरीर देदीप्यमान था, मुख सुन्दर था, नेत्रोंका विलास मधुर था और कान समीपमें विश्राम करनेवाले नेत्ररूपी कमलोंसे सुशोभित थे ॥३५॥ उनकी भौंहें विलाससे सहित थीं, ललाट प्रशंसनीय था, नासिका सुशोभित थी और उपमारहित कपोल चन्द्रमाकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले थे ॥३६॥ उनके ओठ कुल-कुल लाल वर्णके थे मानो अनुरागके रससे ही लाल वर्णके हो गये हों और स्वर मृदङ्गके शब्दके समान गम्भीर तथा कानोंको प्रिय था ॥३७॥ उनके कण्ठ जिन मोतियोंसे घिरे हुए थे वे ठीक कण्ठसे उच्चारण होने योग्य अक्षरोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार अक्षर सूत्रमार्ग अर्थात् मूल ग्रन्थके अनुसार गुम्फित होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी सूत्रमार्ग अर्थात् धागामें पिरोये हुए थे, अक्षर जिस प्रकार जगत्के जीवोंके चित्तको आनन्द देनेवाले होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी उनके चित्तको आनन्द देनेवाले थे, अक्षर जिस प्रकार कण्ठस्थानसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोती भी कण्ठस्थानमें पड़े हुए थे, और अक्षर जिस प्रकार शुद्ध अर्थात् निर्दोष होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी शुद्ध अर्थात् निर्दोष थे ॥३८॥ उनका वक्षःस्थल लक्ष्मीसे आलङ्कित था, कन्धे विजयलक्ष्मीसे आलङ्कित थे और घुटनों तक लक्ष्मी भुजाएँ व्यायामसे कठोर थीं ॥३९॥ उनकी नाभि शोभाके स्वजानेकी भूमि थी, सुन्दर थी और नेत्रोंको सन्तोष देनेवाली थी । इसी प्रकार उनका मध्यभाग अर्थात् कटिप्रदेश भी ठीक जगत्के मध्यभागके समान था ॥४०॥ जिनपर वस्त्र शोभायमान हो रहा

१. सर्वाङ्गिणं भवम् । २. समीपः । ३. दूषिता । —वरोहित—४०, स०, ल० । ४. रञ्जितः ।

५. सूत्रम्, पक्षे तन्तुम् । 'अक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विवक्षितमूलम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ॥'

६. यष्टीकृतः, पक्षे अनुप्रथितः । ७. कण्ठप्रोषणः, पक्षे कण्ठभ्रमः । ८. कलङ्कदिदोपरहितः, शब्दादीदिदोपरहितः । ९. आलङ्कितम् । १०. हस्तव्यायामः । ११. गुल्फकारिणी । १२. समानम् ।

लसद्दसनमासुक्तं रसनं जघनं घनम् । कायमानमिवामङ्गनूपतेः ^१ कर्तुर्निर्धृतिः ॥४१॥
 पीनी चादृष्टावूरु नारीजनमनारमौ । अष्टे विनिर्जितानङ्गनिषङ्गं रुचिराकृतौ ॥४२॥
 सर्वाङ्गसंगतां कान्तिसिचोप्चित्य ^२ सुतामधः । क्रमौ विनिर्मितौ लक्ष्म्या ^३ न्यक्कृताहणपङ्कजौ ॥४३॥
 तेषां प्रस्यङ्गमस्युद्धा ^४ शोभा स्यात्सगतैव या । तस्समुत्कीर्त्तनैवाकं ^५ सल्लुक्त्वा वर्णनाम्तरम् ॥४४॥
 निसर्गरुचिराण्येषां वपुं धि मणिभूषणैः । भृशं रुचिरे पुष्पैर्वनानीष विक्रासिभिः ॥४५॥
 तेषां विभूषणान्यासन् मुक्तारत्नमयानि वै । यष्टयो हारभेदाश्च रत्नावल्यश्च वैकथा ॥४६॥
 यष्टयः शीर्षकं उपशीर्षकं अवघाटकम् । प्रकाण्डकं च तरलप्रबन्धश्चेति पञ्चधा ॥४७॥
 केषां चिच्छीर्षकं यष्टिः केषां चिदुपशीर्षकम् । अवघाटकमप्येषामपरेषां प्रकाण्डकम् ॥४८॥
 तरलप्रतिबन्धश्च केषां चित् कण्ठ ^६ भूषणम् । मणिमध्याश्च शुद्धाश्च तास्तेषां ^७ यष्टयोऽभवन् ^८ ॥४९॥
^९ सूत्रमेकावली सैव यष्टिः स्यान्मणिमध्यमा । ^{१०} रत्नावली भवेत् सैव सुवर्णमणिचित्रिता ॥५०॥
^{११} मुक्तप्रमायसौवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः । साम्तरं प्रथिता भूषा ^{१२} भवेयुरपवर्तिका ॥५१॥

हे और करधनी लटक रही है ऐसे उनके स्थूल नितम्ब ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी राजाके मुख देनेवाले कपड़ेके यमो हुए तन्मृ हो हों ॥४१॥ उनके ऊरु स्थूल थे, सुन्दर कान्तिके धारक थे और स्त्रीजनोंका मन हरण करनेवाले थे । उनकी जंघाएँ कामदेवके तरकशकी सुन्दर आकृतिको भी जीतनेवाली थीं ॥४२॥ अपनी शोभासे लाल कमलोंका भी तिरस्कार करनेवाले उनके दोनों पैर ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शरीरमें रहनेवाली जो कान्ति नीचेकी ओर बहकर गयी थी उसे इकट्ठा करके ही बनाये गये हों ॥४३॥ इस प्रकार उन राजकुमारोंके प्रत्येक अंगमें जो प्रशंसनीय शोभा थी वह उन्हींके शरीरमें थी—वैसी शोभा किसी दूसरी जगह नहीं थी इसलिए अन्य पदार्थोंका वर्णन कर उनके शरीरकी शोभाका वर्णन करना व्यर्थ है ॥४४॥ उन राजकुमारोंके स्वभावसे ही सुन्दर शरीर मणिमयी आभूषणोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि खिले हुए फूलोंसे वन सुशोभित रहते हैं ॥४५॥ उन राजकुमारोंके यष्टि, हार और रत्नावली आदि, मोती तथा रत्नोंके बने हुए अनेक प्रकारके आभूषण थे ॥४६॥ उनमें-से यष्टि नामक आभूषण शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरलप्रबन्धके भेदसे पाँच प्रकारका होता है ॥४७॥ उन राजकुमारोंमें किन्हींके शीर्षक, किन्हींके उपशीर्षक, किन्हींके अवघाटक, किन्हींके प्रकाण्डक और किन्हींके तरलप्रतिबन्ध नामकी यष्टि कण्ठका आभूषण हुई थी । उनकी वे पाँचों प्रकारकी यष्टियाँ मणिमध्या और शुद्धाके भेदसे दो-दो प्रकारकी थीं । [जिसके बीचमें एक मणि लगा हो उसे मणिमध्या और जिसके बीचमें मणि नहीं लगा हो उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं ।] ॥४८-४९॥ मणिमध्यमा यष्टिको सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं और यदि यही मणिमध्यमा यष्टि सुवर्ण तथा मणियोंसे चित्र-विचित्र हो तो उसे रत्नावली भी कहते हैं ॥५०॥ जो यष्टि किसी निश्चित प्रमाणवाले सुवर्णमणि, माणिक्य और मोतियोंके द्वारा

१. प्रतिबद्ध । २. पटकटो । ३. विहितमुखम् । ४. वपुधिः । ५. संगृह्य, संहृद्य । ६. स्वन्दमानाम् । ७. पादौ । ८. अवधःकृत । ९. प्रशस्ता । १०. पर्याप्तम् । ११. [वचनेनालम्] अस्य पदस्योपरि सूत्रम् [अलंखत्सोः प्रतिषेधयोः] पाणिनीयम् । १२. कण्ठाभरण-भूततरलप्रतिबन्धश्चेति यष्टिः इदानीं यष्टिविशेष-मुक्त्वा सामान्या द्विप्रकारा एवेति सूचयति । १३. कुमारानाम् । १४. ता यष्टयः मणिमध्याः शुद्धाश्चेति सामान्यतः द्विधामवन् । १५. या यष्टिः मणिमध्यमा स्यात् सैव सूत्रमिति । एकावलीति च नामद्वयी स्यात् । १६. सैव सुवर्णेन मणिभिश्च चित्रिता चेत् रत्नावलीति नामा स्यात् । १७. योग्यप्रमाण । १८. द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिर्वा सुवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः साम्तरं यथा भवति तथा रक्षिता भूषा अपवर्तिका भवेयुः ।

यष्टिः शीर्षकसंज्ञा स्यात् मध्यैकस्थूलमौक्तिका । मध्यैकस्थिः क्रमस्थूलैः मौक्तिकैरुपशीर्षकम् ॥५२॥
 प्रकाण्डकं क्रमस्थूलैः पञ्चमिर्मध्यमौक्तिकैः । मध्यादनुक्रमार्दानैः मौक्तिकैरवघाटकम् ॥५३॥
 तरलप्रतिबन्धः स्यात् सर्वत्र सममौक्तिकैः^१ । तथैव मणियुक्तानामूह्या^२ भेदास्त्रिधात्मनाम् ॥५४॥
 हारो यष्टिकलापः^३ स्यात् सैकादशधा मतः । इन्द्रच्छन्दादिभेदेन यष्टिसंख्याविशेषतः ॥५५॥
 यष्टयोऽष्टसहस्रं तु यत्रेन्द्रच्छन्दसंज्ञकः । स हारः परमोदारः शक्रचक्रजिनेशिताम् ॥५६॥
 तदर्द्धप्रमितो यस्तु विजयच्छन्दसंज्ञकः । सोऽर्धचक्रधरस्त्वोक्तो^४ हारोऽन्येषु च केषुचित् ॥५७॥
 शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टीनां हार एव सः । एकाशीत्या भवेद् देवच्छन्दो मौक्तिकयष्टिभिः ॥५८॥
 चतुःषष्ट्यार्धहारः स्याच्चतुःषष्ट्याशता पुनः । भवेद् रश्मिकलापाख्यो गुच्छो द्वात्रिंशता मतः ॥५९॥
 यष्टीनां सप्तविंशत्या भवेन्नक्षत्रमालिका । शोभां नक्षत्रमालाया या हसन्ती स्वमौक्तिकैः ॥६०॥
 चतुर्विंशत्यार्धगुच्छो विंशत्या माणवाह्वयः । भवेन्मौक्तिकयष्टीनां तदर्द्धेनार्द्धमाणवः ॥६१॥
 इन्द्रच्छन्दादिहारस्ते यदा स्युर्मणिमध्यमाः । माणवाख्या विभूषाः^५ स्युस्तत्पदोपपदास्तदा ॥६२॥

बीचमें अन्तर दे-देकर गूँथी जाती हैं उसे अपवर्तिका कहते हैं ॥५१॥ जिसके बीचमें एक बड़ा स्थूल मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं और जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए तीन मोती हों उसे उपशीर्षक कहते हैं ॥५२॥ जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए पाँच मोती लगे हों उसे प्रकाण्डक कहते हैं, जिसके बीचमें एक बड़ा मणि हो और उसके दोनों ओर क्रम-क्रमसे घटते हुए छोटे-छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक कहते हैं ॥५३॥ और जिसमें सब जगह एक समान मोती लगे हों उसे तरलप्रतिबन्ध कहते हैं । ऊपर जो एकावली, रत्नावली और अपवर्तिका ये मणियुक्त यष्टियोंके तीन भेद कहे हैं उनके भी ऊपर लिखे अनुसार प्रत्येकके शीर्षक, उपशीर्षक आदि पाँच-पाँच भेद समझ लेना चाहिए ॥५४॥ यष्टि अर्थात् लड़ियोंके समूहको हार कहते हैं यह हार लड़ियोंकी संख्याके न्यूनाधिक होनेसे इन्द्रच्छन्द आदिके भेद-से ग्यारह प्रकारका होता है ॥५५॥ जिसमें एक हजार आठ लड़ियाँ हों उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते हैं । वह हार सबसे उत्कृष्ट होता है और इन्द्र चक्रवर्ती तथा जिनेन्द्रदेवके पहननेके योग्य होता है ॥५६॥ जिसमें इन्द्रच्छन्द हारसे आधी अर्थात् पाँचसौ चार लड़ियाँ हों उसे विजय-च्छन्द हार कहते हैं । यह हार अर्धचक्रवर्ती तथा बलभद्र आदि अन्य पुरुषोंके पहनने योग्य कहा गया है ॥५७॥ जिसमें एक सौ आठ लड़ियाँ हो उसे हार कहते हैं और जिसमें मोतियोंकी इक्यासी लड़ियाँ हों उसे देवच्छन्द कहते हैं ॥५८॥ जिसमें चौंसठ लड़ियाँ हों उसे अर्धहार, जिसमें चौवन लड़ियाँ हों उसे रश्मिकलाप और जिसमें बत्तीस लड़ियाँ हों उसे गुच्छ कहते हैं ॥५९॥ जिसमें सत्ताईस लड़ियाँ हों उसे नक्षत्रमाला कहते हैं । यह हार अपने मोतियोंसे अग्निनी भरणी आदि नक्षत्रोंकी मालाकी शोभाकी हँसी करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥६०॥ मोतियोंकी चौबीस लड़ियोंके हारको अर्धगुच्छ, बीस लड़ियोंके हारको माणव और दश लड़ियोंके हारको अर्धमाणव कहते हैं ॥६१॥ ऊपर कहे हुए इन्द्रच्छन्द आदि हारोंके मध्यमें जब मणि लगा दिया जाता है तब उन नामोंके साथ माणव शब्द और भी सुशोभित होने लगता है अर्थात् इन्द्रच्छन्दमाणव, विजयच्छन्दमाणव आदि कहलाने लगते हैं ॥६२॥ जो एक शीर्षक हार है वह

१. सममौक्तिकः ५० । २. उक्तपञ्चप्रकारेण भेदाः । ३. मणियुक्तानामेकावलीरत्नावली-अपवर्तिका-नामपि शीर्षकात्रिपञ्चभेदा योज्याः । ४. समूहः । ५. अष्टोत्तरसहस्रमिति । ६. —स्योक्त्या ६० । ७. माण-वाख्यपदोपपदाः ।

य एकशीर्षकः शुद्धहारः स्याच्छीर्षकात्परः । इन्द्रच्छन्दाद्युपपदः स चेकादशभेदभाक् ॥६३॥
 तथापञ्चैर्षकादीनामपि शुद्धात्मनां भिदा । तत्पर्याः शुद्धास्ततो हाराः पञ्चपञ्चाशदेव हि ॥६४॥
 भवेत् फलकहाराख्यो मणिमध्योऽर्धमाणवे^१ । त्रिहेमफलकः पञ्चफलको वा यदा तदा ॥६५॥
 सोपानमणिसोपानद्वैविध्यात् स मणो द्विधा । सोपानाख्यस्तु फलकैरौक्मैरन्यः सरत्नकैः ॥६६॥
 इत्यमूनि युगारम्भे कण्ठोरोभूषणानि च । कण्ठासृजत् स्वपुत्रेभ्यो यथास्थं ते च तान्मधुः ॥६७॥
 इत्याद्यामरणैः कण्ठैरन्यैश्चान्यत्रमात्रिभिः । ते राज्ञ्य्या व्यराजन्त ज्योतिर्गणमया इव ॥६८॥
 तेषु तेजस्विनां पुत्र्यो सरतोऽर्क इवाश्रुतत् । शर्षाव जगतः कान्तो युवा बाहुबलो बभौ ॥६९॥
 शेषाश्च ग्रहनक्षत्रतारागणनिभा बभुः । माहो दीप्तिरिवैतेषामसंज्योत्स्नेव सुन्दरो ॥७०॥
 स तैः परिवृतः पुत्र्यैः भगवान् धृषमो बभौ । ज्योतिर्गणैः परिक्षितो यथा मेरुर्महोदयः ॥७१॥
 अथैकदा सुखार्मानो भगवान् हरिविष्टरे । मनो व्यापारयामास कलाविद्योपदेशने ॥७२॥
 तावच्च पुत्रिके भक्तमार्गासुन्दर्यभिष्टवे^२ । दत्तमङ्गकनैपथ्ये संप्राप्ते निकटं गुरोः ॥७३॥

शुद्ध हार कहलाता है । यदि शीर्षकके आगे इन्द्रच्छन्द आदि उपपद भी लगा दिये जायें तो वह भी ग्यारह भेदोंसे युक्त हो जाता है ॥६३॥ इसी प्रकार उपशीर्षक आदि शुद्ध हारोंके भी ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं । इस प्रकार सब हार पंचपन प्रकारके होते हैं ॥६४॥ अर्धमाणव हारके बीचमें यदि मणि लगाया गया हो तो उसे फलकहार कहते हैं । उसी फलकहारमें जब सोनेके तीन अथवा पाँच फलक लगे हों तो उसके सोपान और मणिसोपानके भेदसे दो भेद हो जाते हैं । अर्थात् जिसमें सोनेके तीन फलक लगे हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें सोनेके पाँच फलक लगे हों उसे मणिसोपान कहते हैं । इन दोनों हारोंमें इतनी विशेषता है कि सोपान नामक हारमें सिर्फ सुवर्णके ही फलक रहते हैं और मणिसोपान नामके हारमें रत्नोंसे जड़े हुए सुवर्णके फलक रहते हैं । (सुवर्णके गोल दाने-गुरिया-को फलक कहते हैं) ॥६५-६६॥ इस प्रकार कर्मयुगके प्रारम्भमें भगवान् धृषभदेवने अपने पुत्रोंके लिए कण्ठ और वक्षःस्थलके अनेक आभूषण बनाये, और उन पुत्रोंने भी यथायोग्य रूपसे वे आभूषण धारण किये ॥६७॥ इस तरह कण्ठ तथा शरीरके अन्य अवयवोंमें धारण किये हुए आभूषणोंसे वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानो ज्योतिषी देवोंका समूह हो ॥६८॥ उन सब राजकुमारोंमें तेजस्वियोंमें भी तेजस्वी भरत सूर्यके समान सुशोभित होता था और समस्त संसारसे अत्यन्त सुन्दर युवा बाहुबली चन्द्रमाके समान शोभायमान होता था ॥६९॥ शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणके समान शोभायमान होते थे । उन सब राजपुत्रोंमें माह्वी दीप्तिके समान और सुन्दरी चाँदनीके समान सुशोभित होती थी ॥७०॥ उन सब पुत्र-पुत्रियोंसे घिरे हुए सौभाग्यशाली भगवान् धृषभदेव ज्योतिषी देवोंके समूहसे घिरे हुए ऊँचे मेरु पर्वतकी तरह सुशोभित होते थे ॥७१॥

अथानन्तर किसी एक समय भगवान् धृषभदेव सिंहासनपर सुखसे बैठे हुए थे, कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओंके उपदेश देनेमें व्यापृत किया ॥७२॥ उसी समय उनकी माह्वी और सुन्दरी नामकी पुत्रियाँ माङ्गलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट पहुँची ॥७३॥

१. एकः शीर्षको यस्मिन् सः शुद्धहारः । २. इन्द्रच्छन्दाद्युपपदः शीर्षकात् परः स हारः इन्द्रच्छन्द-शीर्षकहार इति यावत् । एवं शुद्धात्मनामुपशीर्षकादीनामेव इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकहार इति क्रमात् । शीर्षकादिषु पञ्चसु इन्द्रच्छन्दादिकं प्रत्येकम् । एकादशवा तावन्ति सति पञ्चपञ्चाशत् । ३. वेष्टेभ्यः । ४. केवलं मणि-मध्यस्थेति । ५. अन्यः मणिसोपानः सरत्नैः रौक्मफलकैः स्यादिति । ६. कण्ठः उदरश्च । ७. अग्नि स्तवे । अभिषेके इत्यर्थः । ८. माङ्गलालङ्कारे । -नेपथ्ये अ०, प०, द०, स०, म० ।

ते च किंचिद्विवाञ्जिततनुकुटुम्बलोभिनि । वयस्यनन्तरे बाल्याद् वर्धमाने मनोहरं ॥३४॥
 मेधाविभ्यां विनीते च सुशीले चारुलक्षणे । रूपवर्षा यशस्विभ्यां स्थाप्ये मालवती जनैः ॥३५॥
 अविश्रोणिपद्मन्यासैर्हंसागतिविभ्रमिभिः । रक्ताम्बुजोपहारस्य तम्बाने परितः श्रियम् ॥३६॥
 तत्सदर्पणसंक्रान्तस्वाङ्गचञ्चला पद्मेशतः । कान्त्या न्यक्कृत्य दिक्कन्याः पद्मयां कष्टमुमिवोद्यते ॥३७॥
 सलीलपद्मिन्यासरणनूपुरनिकणैः । क्षिप्रयन्त्राविधाहूय हंसाः स्वं गतिविभ्रमम् ॥३८॥
 चारुसुहृदिमज्ज्वालाकाग्निसमिति रेकिर्णाम् । जनानां हृदये स्वरं विक्षिपन्त्याविधाभितः ॥३९॥
 दधाने जघना भोगं काञ्चीतूर्परवाञ्छितम् । सौभाग्यदेवतावासमिवाशुकवितानकम् ॥४०॥
 काव्यदेवता यदु ममङ्गाध्वं युगा कृतम् । हेमकुण्डमिवानिर्गन्तं दधत्तौ नाभिमण्डलम् ॥४१॥
 वहभ्यां किंचिदुद्भूतं श्यामिका रोमराजिकाम् । मनोमयगृहाभेशधूपधूमशिखामिव ॥४२॥
 तनुमध्वे कृशोदर्याधारककरपल्लवे । मृदुबाहुलते किंचिदुद्भिच्चकुचं कुटुम्बले ॥४३॥
 दधाने रुधिरं हारमाक्रान्तस्तनमण्डलम् । तदा शेषसुखासङ्गात् स्मयमानमिवांशुभिः ॥४४॥

वे दोनों ही पुत्रियाँ कुछ-कुछ उठे हुए स्तनरूपी कुटुम्बलोंसे शोभायमान और बाल्य अवस्थाके अनन्तर प्राप्त होनेवाली किशोर अवस्थामें वर्धमान थी अतएव अतिशय सुन्दर जान पड़ती थी ॥३४॥ वे दोनों ही कन्याएँ बुद्धिमती थीं, विनीत थीं, सुशील थीं, सुन्दर लक्षणोंसे सहित थीं, रूपवती थीं और मानिनी स्त्रियोंके द्वारा भी प्रशंसनीय थीं ॥३५॥ हंसीकी चालको भी तिरस्कृत करनेवाली अपनी सुन्दर चालसे जब वे पृथिवीपर पैर रखती हुई चलती थीं, तब वे चारों ओर लालकमलोंके उपहारकी शोभाको विसृत करती थीं ॥३६॥ उनके चरणोंके मखरूपी दर्पणोंमें जो उन्हींके शरीरका प्रतिबिम्ब पड़ता था उसके छलसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपनी कान्तिसे तिरस्कृत हुई दिक्कन्याओंको अपने चरणोंसे रौंदनेके लिए ही तैयार हुई हों ॥३७॥ छीलासहित पैर रखकर चलते समय दनञ्जुन शब्द करते हुए उनके नूपुरोंसे जो सुन्दर शब्द होते थे उनसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो नूपुरोंके शब्दोंके बहाने हंसियोंको बुलाकर उन्हें अपनी गतिका सुन्दर विलास ही सिखला रही हों ॥३८॥ जिनके ऊपर अतिशय सुन्दर और जंघाएँ अतिशय कान्तियुक्त हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी बढ़ती हुई कान्तिको वे लोगोंके नेत्रोंके मार्गमें चारों ओर स्वयं ही फैक रही हों ॥३९॥ वे पुत्रियाँ जिस स्थूल जघन भागको धारण कर रही थी वह करधनी तथा अधोवक्षसे सुशोभित था और ऐसा मालूम होता था मानो करधनीरूपी तुरही बाजोंसे सुशोभित और कपड़ेके चंदोवासे युक्त सौभाग्य देवताके रहनेका घर ही हो ॥४०॥ वे कन्याएँ जिस गम्भीर नाभिमण्डलको धारण किए हुई थी वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी यजमानने लावण्यरूपी देवताकी पूजाके लिए होमकुण्ड ही बनाया हो ॥४१॥ जिसमें कुछ-कुछ कालापन प्रकट हो चुका है ऐसी जिस रोमराजीको वे पुत्रियाँ धारण कर रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवके गृह-प्रवेशके समय खेई हुई धूपके धूमकी शिखा ही हो ॥४२॥ उन दोनों कन्याओंका मध्यभाग कृश था, उदर भी कृश था, हस्तरूपी पल्लव कुछ-कुछ लाल थे, भुजलताएँ कोमल थीं और स्तनरूपी कुटुम्ब कुल-कुल ऊँचे उठे हुए थे ॥४३॥ वे पुत्रियाँ स्तनमण्डलपर पड़े हुए जिस मनोहर हारको धारण किए हुई थी वह अपनी किरणोंसे ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो

१. किंचिदित्यर्थ । २. विनयपरे । ३. मान्यस्त्रीजनैः । ४. पृथिव्याम् । ५. व्याजतः ।

६. अथः कृत्वा । न्यक्कृत- ल० । ७. वर्षणाय । ८. ऊरुवक्त्राकान्तिम् । ९. अत्युत्कटाम् । १०. विस्तीर्णम् । ११. पूजयितुम् । १२. याजकेन । १३. कृष्णवर्णाम् । १४. -कुटुम्बले द०, स०, म०, क० । १५. तत्कुचमण्डलालिङ्गनमुखासक्तैः । १६. हेमन्तम् ।

सुकण्ठ्या कोकिलाकापनिहीरिमधुरस्वरे । ताम्राक्षरे दरोद्भिन्नस्मितांशुहस्त्रिरामने ॥८५॥
 सुदर्श्या^१ ललितापाङ्गवीक्षिते साम्प्रपक्षमर्णा । मदनस्येव जैत्राक्षे दधाने नयनोपले ॥८६॥
 लसत्कपोलसंक्रान्तैरलकप्रतिबिम्बकैः । क्षेप्यमयावमिष्यफलक्षमणः शशिनः श्रियम् ॥८७॥
 समाक्ष्यं कवरीभारं धारयन्मयौ तरङ्गितम् । स्वान्तः संक्रान्तगाङ्गौघं प्रवाहमिव यामुनम् ॥८८॥
 इति प्रत्यङ्गसंगित्या कान्त्या कान्ततमाकृती । सौन्दर्यस्येव सन्दोहमेकीकृत्य विनिर्मिते ॥८९॥
 किमेते दिव्यकन्ये^२ हतां किन्तु कन्ये फणीशिनाम् । दिक्कण्ये किमुत स्यातां किं वा सौभाग्यदेवते ॥९०॥
 किमिमे श्रीसरस्वत्या किं वा तदधिदेवते । किं स्यात्तदवतारोऽयमेवंरूपः प्रतीयते ॥९१॥
 लक्ष्म्यादिमे जगन्नाथमहावार्द्धः किमुद्गते । कल्याणभागिनी च स्याद् अनयोरियमाकृतिः ॥९२॥
 इति संस्थाप्यमाने ते अनैरुपपन्नविस्मयैः । सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः ॥९३॥
 प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तकं । प्रीत्या स्वमङ्गमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्राय च मस्तकं ॥९४॥
 सप्रहासमुवाचैवमेतं सस्ये सुरैः समस । धारयधोऽध्यामरोधानं नैवमेते गताः सुराः ॥९५॥
 हस्याक्रीड्य क्षणं मयोरप्येवमाख्यद् गिरापतिः । युषां युवजरस्यौ स्थः^३ शीलेन विनयेन च ॥९६॥

स्तनोंके आलिंगनसे उत्पन्न हुए सुखको आसक्तिसे हँस ही रहा हो ॥८५॥ उनके कण्ठ बहुत ही सुन्दर थे, उनका स्वर कोयलकी वाणीके समान मनोहर और मधुर था, ओठ ताम्रवर्ण अर्थात् कुछ-कुछ लाल थे, और मुख कुछ-कुछ प्रकट हुए मन्दहास्यकी किरणोंसे मनोहर थे ॥८५॥ उनके दाँत सुन्दर थे, कटाक्षों-द्वारा देखना मनोहर था, नेत्रोंकी विरौनी सघन थी और नेत्ररूपी कमल कामदेवके बिजयी अस्त्रके समान थे ॥८६॥ शोभायमान कपोलोंपर पड़े हुए केशोंके प्रतिबिम्बसे वे कन्याएँ, जिसमें कलंक प्रकट दिखायी दे रहा है ऐसे चन्द्रमाकी शोभाको भी लज्जित कर रही थीं ॥८७॥ वे मालासहित जिस केशपाशको धारण कर रही थीं वह ऐसा मालूम होता था मानो जिसके भीतर गंगा नदीका प्रवाह मिला हुआ है ऐसा यमुना नदीका लहराता हुआ प्रवाह ही हो ॥८८॥ इस प्रकार प्रत्येक अंगमें रहनेवाली कान्तिसे उन दोनोंकी आकृति अत्यन्त सुन्दर थी और उससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो सौन्दर्यके समूहको एक जगह इकट्ठा करके ही बनायी गयी हों ॥८९॥ क्या ये दोनों दिव्य कन्याएँ हैं ? अथवा नाग-कन्याएँ हैं ? अथवा दिक्कन्याएँ हैं ? अथवा सौभाग्य देवियाँ हैं, अथवा लक्ष्मी और सरस्वती देवी हैं अथवा उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं ? अथवा उनका अवतार हैं ? अथवा क्या जगन्नाथ (वृषभदेव) रूपी महासमुद्रसे उत्पन्न हुई लक्ष्मी हैं ? क्योंकि इनकी यह आकृति अनेक कल्याणोंका अनुभव करनेवाली है इस प्रकार लोग बड़े आश्चर्यके साथ जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी उन दोनों कन्याओंने विनयके साथ भगवान्के समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥९०—९३॥ दूरसे ही जिनका मस्तक नम्र हो रहा है ऐसी नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रियोंको उठाकर भगवान्ने प्रेमसे अपनी गोदमें बैठाया, उनपर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूँघा और हँसते हुए उनसे बोले कि आओ, तुम समझती होगी कि हम आज देवोंके साथ अमरवनको जायेंगी परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देव लोग पहले ही चले गए हैं ॥९४—९५॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेव क्षणभर उन दोनों पुत्रियोंके साथ क्रीड़ा कर फिर कहने लगे कि तुम अपने शील और विनयगुणके कारण युवावस्थामें भी वृद्धाके समान हो ॥९६॥

१. ताम्र अक्षण । २. दूर ईषत् । ३. शोभनदन्तवत्यौ । सुदर्श्या अ०, स० । ४. मद्यताम् । ५. श्रीसरस्वत्योरधिदेवते । ६. अधिदेवतयोरवतारः । ७. आगच्छन्तम् । लोटि मध्यमपुरुषः । ८. तमिष्यथः । ९. भवथः ।

इदं यगुर्व्यश्रेदमिदं कालमर्नादशम् । विद्याया चेद्विभूष्येत सफलं जन्म वासिदम् ॥९७॥

विद्यावान् पुरुषो लोके संमतिं याति कौविदः । नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥९८॥

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता । सभ्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥९९॥

विद्या कामदुहा धेनुविद्या चिन्तामणिर्नृणाम् । त्रिवर्गफलतां सूते विद्या संपत्परम्पराम् ॥१००॥

विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम् । सह्यायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥१०१॥

तद्विद्याग्रहणं यत्नं पुत्रिके कुरुते युषाम् । तत्संग्रहणकालोऽयं सुवर्णवर्चसेऽधुना ॥१०२॥

इत्युक्त्वा मुहुराशयं विस्तोर्णे हेमपङ्क्तं विद्यास्थं रत्नसिद्धिस्थं भुज्जितं सगर्यया ॥१०३॥

विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नाक्षरमालिकाम् । उपादिशत्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात् ॥१०४॥

ततो भगवतो वक्त्राक्षितः सतामक्षरावलीम् । सिद्धं मम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम् ॥१०५॥

अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव । स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ॥१०६॥

अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु संतताम् । संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरेश्वरिणाम् ॥१०७॥

तुम दोनोंका यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्यासे विभूषित किया जाये तो तुम दोनोंका यह जन्म सफल हो सकता है ॥ ९७ ॥ इस लोकमें विद्यावान् पुरुष पण्डितोंके द्वारा भी सम्मानको प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पदको प्राप्त होती है ॥ ९८ ॥ विद्या ही मनुष्योंका यश करनेवाली है, विद्या ही पुरुषोंका कल्याण करनेवाली है, अच्छी तरहसे आराधना की गयी विद्या देवता ही सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली है ॥ ९९ ॥ विद्या मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा काम रूप फलसे सहित सम्पदाओंकी परम्परा उत्पन्न करती है ॥ १०० ॥ विद्या ही मनुष्योंका बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ-साथ जानेवाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है ॥ १०१ ॥ इसलिए हे पुत्रियो, तुम दोनों विद्या ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करो क्योंकि तुम दोनोंके विद्या ग्रहण करनेका यही काल है ॥ १०२ ॥ भगवान् वृषभदेवने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्तमें स्थित श्रुत देवताको आदरपूर्वक सुवर्णके विस्तृत पट्टेपर स्थापित किया, फिर दोनों हाथोंसे अ आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखनेका) उपदेश दिया और अनुक्रमसे इकाई दहाई आदि अंकोंके द्वारा उन्हें संख्याके ज्ञानका भी उपदेश दिया । भावार्थ— ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान्ने दाहिने हाथसे वर्णमाला और बायें हाथसे संख्या लिखी थी ॥ १०३-१०४ ॥ तदनन्तर जो भगवान्के मुखसे निकली हुई है, जिसमें 'सिद्धं नमः' इस प्रकारका मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर और व्यञ्जनके भेदसे दो भेदोंको प्राप्त है, जो समस्त विद्याओंमें पार्थी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरोंकी उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरोंसे व्याप्त है और जो शुद्ध मोतियोंकी मालाके समान है ऐसी अकारको आदि लेकर हकार पर्यन्त तथा विसर्ग अनुस्वार जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावलीको बुद्धिमती ब्राह्मी पुरीने धारण

१. युवयोः । २. समानम् । ३. विद्यावती । ४. त्रिवर्गरूपेण फलिताम् । ५. तत्कारणात् ।

६. कुर्वाणम् । ७. सुवर्णकलके । ८. पूजया । ९. लिपिं ८० । लिपिम् । "लिखिताक्षरविन्यासे लिपिलिखितकमे स्त्रियो ।" इत्यमरः । १०. संख्याज्ञानं अ०, प०, द०, स०, ल० । ११. तकारविसर्गनीयाः [अनुस्वारविसर्ग-जिह्वामूलीयोऽध्मानीयवमाः] । १२. अविच्छिन्नाम् । संगताम् अ०, प०, स०, म०, । १३. ह्रस्वम् [उभ्यादिभिः] ।

समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यतिमुन्दरी । सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥१०८॥
 न चित्ता वाङ्मयात् किञ्चिदस्ति शास्त्रं कलापि वा । ततो वाङ्मयमेवादी वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥१०९॥
 मुमेशसात्रसंमोहादध्येषातां गुरोर्मुखान् । वाग्देव्याविव निशेषं वाङ्मयं ग्रन्थतोऽधेतः ॥११०॥
 पदविधायमन्त्रिच्छन्दोविचिन्ति वागलंकृतिम् । त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः ॥१११॥
 तदा स्वायम्भुवं नाम पदशास्त्रमभूत् महत् । वसपरशताध्यायैरतिगम्भीरमधिभवत् ॥११२॥
 छन्दोविचिन्तिमन्त्रेण नानाध्यायैरुपादिशत् । उक्तात्युक्तादिभेदांश्च षड्विंशतिमदादशत् ॥११३॥
 प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकद्वित्रिलघुक्रियाम् । संख्यामथाध्वयोगं च व्याजहार गिरांपतिः ॥११४॥
 उपमादीनलंकारास्तन्मार्गं द्वयविस्तरम् । दश प्राणानलंकारसंग्रहं विभुर्भ्यधात् ॥११५॥
 अथैतयोः पदज्ञानं दीपिकाभिः प्रकाशिताः । कलाविद्याश्च निशेषाः स्वयं परिणतिं वयुः ॥११६॥
 इति हार्थीतनिशेषविद्ये ते गुर्वनुग्रहात् । वाग्देवतावताराय कन्ये पात्रत्वमीयतुः ॥११७॥

किया और अतिशय सुन्दरी सुन्दरीदेवीने इकाई दहाई आदि स्थानोंके क्रमसे गणित शास्त्रको अच्छी तरह धारण किया ॥१०८-१०८॥ वाङ्मयके चित्ता न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले उन पुत्रियोंके लिए वाङ्मयका उपदेश दिया था ॥ १०९ ॥ अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओंने सरस्वती देवीके समान अपने पिताके मुखसे संशय विपर्यय आदि दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थ रूप समस्त वाङ्मयका अध्ययन किया था ॥ ११० ॥ वाङ्मयके जाननेवाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनोंके समूहको वाङ्मय कहते हैं ॥ १११ ॥ उस समय स्वयम्भू अर्थात् भगवान् वृषभदेवका बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौसे भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्रके समान अत्यन्त गम्भीर था ॥११२॥ इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायोंमें छन्दशास्त्रका भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता अत्युक्ता आदि छन्दोंसे भेद भी दिखलाये थे ॥ ११३ ॥ अनेक विद्याओंके अधिपति भगवान्ने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग छन्दशास्त्रके इन छह प्रत्ययोंका भी निरूपण किया था ॥ ११४ ॥ भगवान्ने अलंकारोंका संग्रह करते समय अथवा अलंकारसंग्रह ग्रन्थमें उपमा रूपक यमक आदि अलंकारोंका कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो मार्गोंका विस्तारके साथ वर्णन किया था और माधुर्य ओज आदि दश प्राण अर्थात् गुणोंका भी निरूपण किया था ॥ ११५ ॥

अथानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियोंकी पदज्ञान (व्याकरण-ज्ञान) रूपी दीपिकासे प्रकाशित हुई समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने आप ही परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हो गयी थीं ॥११६॥ इस प्रकार गुरु अथवा पिताके अनुग्रहसे जिनने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवीके अवतार लेनेके लिए पात्रताको प्राप्त हुई थीं । भावार्थ—वे इतनी अधिक ज्ञानयुक्ती हो गयी थीं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले

१. सम्यगधारयति स्म । २. शब्दतः । ३. व्याकरणशास्त्रम् । ४. शब्दालंकारम् । ५. स्वायम्भुवं नाम व्याकरणशास्त्रम् । ६. कृतात् परे परश्वताः [ज्ञानात् पराणि अधिकानि परश्वतानि, परश्वदेन समानार्थः । 'परशब्दोऽन्यतः इत्येके । राजदस्तादिस्वात्पूर्वनिपातः' । इत्यमोषावृत्तायुक्तम् । वर्चस्कादिपु नमस्कारादय इत्ययम् । इति टिप्पणपुस्तके 'परश्वताः' इति शब्दोपरि टिप्पणो] । ७. मेरुप्रस्तारम् । ८. गौडविदर्भमार्गद्वयम् । ९. "इलेयः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिश्चरत्त्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ इति वेदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः । तेषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते मौडवर्त्मनि ॥" १०. ब्राह्मी मुन्दरीः । ११. व्याकरण-शास्त्रपरिज्ञानप्रदीपिका । १२. इति त्वर्थेत् ५०, ४०, ३०, २० ।

पुत्राणां च यथास्मायं विनयो दानपूर्वकम् । शास्त्राणि व्याजहारैवमां तुपूर्व्यां जगद्गुरुः ॥११८॥
 भरतायार्थं^१ शास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम् । अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥११९॥
 विभुर्ब्रह्मसेनाय गीतवाद्यार्थसंग्रहम् । गन्धर्वशास्त्रमाचर्यो यत्राध्यायाः परश्चानम् ॥१२०॥
 अनन्तविजयायाकृत्य विद्यां चित्रकलाश्रिताम् । नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कलाः ॥१२१॥
 विश्वक्रममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् । अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः ॥१२२॥
 कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम् । आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चाश्वमेधगोचरम् ॥१२३॥
 तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबलयाश्चसूत्रवे । व्याख्यस्यो बहुधाग्नौतैरध्यायैरतिविस्तृतैः ॥१२४॥
 किमत्र बहुनांकेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् । तत्सर्वमादिकर्त्तव्यं स्वाः समन्वयितुं प्रजाः ॥१२५॥
 समुदीपितविद्यस्य काव्यासीदोहिता विभोः । स्वभावमास्वरस्यैव भास्वतः शरद्भागमे ॥१२६॥
 सुतैरध्यातनिश्चेषविद्यैरद्युतर्दिशिता । किरणैरिव निरमांशु रासादितशरद्द्युतिः ॥१२७॥
 पुत्रैरिष्टैः कलत्रैश्च वृत्तस्य भुवनेक्षितः । महान् कालो व्यतीयाय^२ दिव्यैर्भोगैरनारतैः ॥१२८॥
 ततः कुमारकालोऽस्य^३ कलितो मुनिवत्तमैः । विंशतिः पूर्वैलक्ष्याणां पूर्यते स्म महाधिपः ॥१२९॥

सकृती थी ॥११७॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने इमी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रोंको भी विनयो बनाकर क्रमसे आम्नायके अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये ॥११८॥ भगवानने भरत पुत्रके लिए अत्यन्त विस्तृत-बड़े-बड़े अध्यायोंसे स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था ॥११९॥ स्वामी वृषभदेवने अपने पुत्र वृषभसेनके लिए जिसमें गाना बजाना आदि अनेक पदार्थोंका संग्रह है और जिसमें सौसे भी अधिक अध्याय हैं ऐसे गन्धर्व शास्त्रका व्याख्यान किया था ॥१२०॥ अनन्तविजय पुत्रके लिए नाना प्रकारके सैकड़ों अध्यायोंसे भरी हुई चित्रकला-सम्बन्धी विद्याका उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओंका निरूपण किया ॥१२१॥ इसी अनन्तविजय पुत्रके लिए उन्होंने सूत्रधारकी विद्या तथा मकान बनानेकी विद्याका उपदेश दिया । उस विद्याके प्रतिपादक शास्त्रोंमें अनेक अध्यायोंका विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे ॥१२२॥ बाहुबली पुत्रके लिए उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषोंके लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदिके लक्षण जाननेके तन्त्र और रत्नपरीक्षा आदिके शास्त्र अनेक प्रकारके बड़े-बड़े अध्यायोंके द्वारा सिखलाये ॥१२३-१२४॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? संक्षेपमें इतना ही बस है कि लोकका उपकार करनेवाले जो-जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथने वे सब अपने पुत्रोंको सिखलाये थे ॥१२५॥ जिस प्रकार स्वभावसे देदीप्यमान रहनेवाले सूर्यका तेज शरद्ऋतुके आनेपर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्याएँ प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवका तेज उस समय भारी अद्भुत हो रहा था ॥१२६॥ जिन्होंने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसे पुत्रोंसे भगवान् वृषभदेव उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि शरद्ऋतुमें अधिक कान्तिको प्राप्त होनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होता है ॥१२७॥ अपने इष्ट पुत्र और इष्ट स्त्रियोंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेवका बहुत भारी समय निरन्तर अनेक प्रकारके दिव्य भोग भोगते हुए व्यतीत हो गया ॥१२८॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भोगोंका अनुभव करते हुए भगवान्का बीस लाख पूर्व वर्षोंका कुमारकाल पूर्ण हुआ था ऐसी उत्तम मुनिगण-

१. विनयोपवेशपुरस्सरम् । २. परिपाठ्या । ३. नीतिशास्त्रम् । ४. सकलाः ८० । ५. वैद्यशास्त्रम् । ६. कथितैः । ७. आत्मीयाः । ८. पुत्रान् । ९. शरद्ऋतुभिः ८० । — व्याप्तशरत्तन्मोभिः । १०. अतीतमभूत् । ११. कथितः ।

अथान्तरे महौषधो^३ दीप्तौषधश्च पादपाः । सप्तर्वौषधयः कालाञ्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः ॥१३०॥
 सस्थान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् स्थितये नृणां । प्रायस्तान्यपि कालेन यदुर्विरलतां भुवि ॥१३१॥
 रसवीर्य^४ विपाकैस्तैः प्रहीणाः पादपा यदा । तदातक्त्वा दिवाधाभिः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥१३२॥
 तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधत्^५ ॥१३३॥ तस्मिन्मनोवृत्तिरुत्पन्नं जीवितं पायलिप्सया ॥१३३॥
 नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोऽन्तिकमुपाययुः । प्रजाः प्रणतमूर्खानो जीवितोपायलिप्सया ॥१३४॥
 अथ विज्ञापयामासुरित्युपेत्य सनातनम् । प्रजाः प्रजातमंत्रासाः शरण्यं शरणाश्रिताः ॥१३५॥
 वान्छन्त्यो जीविकां^६ देव त्वां वयं शरणं श्रिताः । तस्माद्यस्व^७ लोकेश तदुपायं^८ प्रदर्शनात् ॥१३६॥
 विनां समूलं^९ मूलसहाः^{१०} पितृकल्पा महाहिम्नयाः । कलन्त्यकृष्टपच्यानि सस्थान्यपि च नाधुना ॥१३७॥
 क्षुत्पिपासादिबाधाश्च दुन्वन्त्यस्मान्समुत्थिताः । न क्षमाः क्षणमप्येकं^{११} प्राणितुं प्रोज्झिताभनाः ॥१३८॥
 शीतातपमहावातप्रवर्षोपप्लवश्च नः । निराश्रयान्दुनोत्थय ब्रूहि नस्तत्प्रतिक्रियाम् ॥१३९॥
 त्वां देवमादिकर्तारं कल्पाधिपमिवोन्नतम् । समाश्रिताः कथं मीतः पदं^{१२} स्वाम वयं विभोः ॥१४०॥
 ततोऽस्माकं यथाच स्याज्जीविका निरुपद्रवा । तथोपदेष्टुमुद्यामं कुरु देव प्रसीद नः ॥१४१॥

धरदेवने गणना की है ॥१२९॥ इसी बीचमें कालके प्रभावसे महौषधि, दीप्तीषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकारकी ओषधियाँ शक्तिहीन हो गयी थीं ॥१३०॥ मनुष्योंके निर्वाहके लिए जो बिना बोये हुए उत्पन्न होनेवाले धान्य थे वे भी कालके प्रभावसे पृथिवीमें प्रायः करके विरलताको प्राप्त हो गये थे—जहाँ कहीं कुछ-कुछ मात्रामें ही रह गये थे ॥१३१॥ जब कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदिसे रहित हो गये तब वहाँकी प्रजा गेग आदि अनेक बाधाओंसे व्याकुलताको प्राप्त होने लगी ॥१३२॥ कल्पवृक्षोंके रस, वीर्य आदिके नष्ट होनेसे व्याकुल मनोवृत्तिको धारण करती हुई प्रजा जीवित रहनेकी इच्छासे महाराज नाभिराजके समीप गयी ॥१३३॥ तदनन्तर नाभिराजकी आज्ञासे प्रजा भगवान् वृषभनाथके समीप गयी और अपने जीवित रहनेके उपाय प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्हें मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगी ॥१३४॥ अथानन्तर अज्ञादिके नष्ट होनेसे जिसे अनेक प्रकारके भय उत्पन्न हो रहे हैं और जो सयकों शरण देनेवाले भगवान्की शरणको प्राप्त हुई है ऐसी प्रजा सनातन-भगवान्के समीप जाकर इस प्रकार निवेदन करने लगी कि ॥१३५॥ हे देव, हम लोग जीविका प्राप्त करनेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हुए हैं इसलिए हे तीन लोकके स्वामी, आप उसके उपाय दिखलाकर हम लोगोंकी रक्षा कीजिए ॥१३६॥ हे विभो, जो कल्पवृक्ष हमारे पिताके समान थे—पिताके समान ही हम लोगोंकी रक्षा करते थे वे सब मूलसहित नष्ट हो गये हैं और जो धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते थे वे भी अब नहीं फलते हैं ॥१३७॥ हे देव, बढ़ती हुई भूख प्यास आदिकी बाधाएँ हम लोगोंको दुखी कर रही हैं । अन्न-पानीसे रहित हुए हम लोग अब एक क्षण भी जीवित रहनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥१३८॥ हे देव, शीत, आतप, महावायु और वर्षा आदिका उपद्रव आश्रयरहित हम लोगोंको दुखी कर रहा है इसलिए आज इन सबके दूर करनेके उपाय कृपि ॥१३९॥ हे विभो, आप इस युगके आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्षके समान उन्नत हैं, आपके आश्रित हुए हम लोग भयके स्थान कैसे हो सकते हैं ? ॥१४०॥ इसलिए हे देव, जिस प्रकार हम लोगोंकी आजीविका निरुपद्रव हो जाये, आज उसी प्रकार उपदेश देनेका

३. दीप्तौषधयः । [एतद्रूपाः वृक्षाः] । २. जीवनाय । ३. स्वादुः । ४. पौरणमन । ५. सस्तापादि । ६. हावेः । ७. जीवितवान्छया । ८. जीवितम् । ९. सत् कारणात् । १०. रक्ष । ११. जीवितोपाय । १२. नष्टाः । —पृच्छिताः ५०, ५० । —मच्छन्ताः ८० । १३. पितृमन्त्राः । १४. जीवितम् । १५. भवेम । १६. सतः कारणान् ।

श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः । मनः ^१प्रणिदधावेवं भगवानादिपूरुषः ॥१४२॥
 पूर्वापरविवेहेषु या स्थितिः समवस्थिता । साद्य प्रवर्त्तनीयात्र ततो जीवन्त्यभूः प्रजाः ॥१४३॥
 वृक्षमणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः । यथा ग्रामगृहादीनां ^२संस्थायाश्च ^३पृथग्विधाः ॥१४४॥
 तथात्रायुचिता वृत्तिरूपायैरेभिरङ्गिताम् । नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥
 कर्मभूरथ जातेष्वं व्यतीतौ कल्पभूरुहाम् । ततोऽत्र कर्मभिः पशूभिः प्रजानां जीविकोचिता ॥१४६॥
 इत्याकलय्य तत्क्षेमवृक्षुपायं क्षणं विभुः ^४। मुहुराश्वासयामास मा मैष्टेति तदा प्रजाः ॥१४७॥
 अथानुध्यातमात्रेण विभो शक्रः सहाभरैः । प्राहस्तज्जीवनोपायानित्यकावीं ^५विभागतः ॥१४८॥
 शुभे दिने सुनक्षत्रे सुसुहृत्तं शुभोदये । स्वोत्तरार्धेषु ग्रहेष्वर्च्यैरानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥१४९॥
 कृतप्रथममाकलय्य सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम् । श्रव्येशयत् पुस्त्यास्य मध्ये दिद्वप्यनुक्रमान् ॥१५०॥
 कोसलादीन् महादेवान् साकेतादिपुराणि च । सारामसीमगिरिमान् खेटादींश्च श्रव्येशयत् ॥१५१॥
 देशाः सुकोसलावन्तीपुण्ड्रौ ^६प्राश्मकरभ्यकाः । कुरुकाशीकलिंगाङ्गवङ्गसुखाः समुद्रकाः ॥१५२॥
 काश्मीरशीनरानर्त्तवत्सपञ्चालमालिकाः ^७दशार्णाः कच्छमगधाविदर्भाः कुरुजाङ्गलम् ॥१५३॥

प्रबल कीजिए और हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिए ॥१४१॥ इस प्रकार प्रजाजनोंके दीन बचन सुनकर जिनका हृदय व्यासे प्रेरित हो रहा है ऐसे भगवान् आदिनाथ अपने मनमें ऐसा विचार करने लगे ॥१४२॥ कि पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्रमें जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसीसे यह प्रजा जीवित रह सकती है ॥१४३॥ वहाँ जिस प्रकार असि, मयी आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णोंकी स्थिति है और जैसी ग्राम-घर आदिकी पृथक्-पृथक् रचना है, उसी प्रकार यहाँपर भी होनी चाहिए । इन्हीं उपायों-से प्राणियोंकी आजीविका चल सकती है । इनकी आजीविकाके लिए और कोई उपाय नहीं है ॥१४४-१४५॥ कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है, इसलिए यहाँ प्रजाको असि, मयी आदि छह कर्मोंके द्वारा ही आजीविका करना उचित है ॥१४६॥ इस प्रकार स्वामी वृषभदेवने क्षणभर प्रजाके कल्याण करनेवाली आजीविकाका उपाय सोचकर उसे बार बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ ॥१४७॥ अथानन्तर भगवान्के स्मरण करने मात्रसे देवोंके साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजाकी जीविकाके उपाय किये ॥१४८॥ शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ सुहृत् और शुभ लग्नके समय तथा सूर्य आदि ग्रहोंके अपने-अपने उचित स्थानोंमें स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान्के हर एक प्रकारकी अनुकूलता होनेपर इन्द्रने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्या पुरीके बीचमें जिनमन्दिरकी रचना की । इसके बाद पूर्व दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओंमें भी यथाक्रमसे जिनमन्दिरोंकी रचना की ॥१४९-१५०॥ तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमांसहित गाँव तथा खेड़ों आदिकी रचना की थी ॥१५१॥ सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रभ्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, वंग, सुहा, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त्त, वत्स, पञ्चाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजाङ्गल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कौकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल,

१. एकाग्रं चकार । २. सन्निवेशः । रचनाविशेष इत्यर्थः । ३. नानाविधाः । ४. प्रभुः । ५. स्मरण ।

६. विभागतः अ०, प०, द०, स० २० । विभागात् । ७. पुण्ड्रोद्गा- । ८. -वर्त्त- अ०, प०, द० ।

९. कुरुजाङ्गलः स० ।

करहाटमहाराष्ट्रपुराणार्कोङ्गणाः । वनवासान्धकर्णाटकोसलाश्रोलकेरलाः ॥१५४॥
 दार्वामिसारसौवीरशूरसेनापसन्तकाः । विदेहसिन्धुगान्धारपवनाश्वेदिपल्लवाः ॥१५५॥
 काम्बोजाः रट्टवाह्लीकतुरुष्कशककेकयाः । निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयास्तदा ॥१५६॥
 अदेवमातृकाः केषिद् विषया देवमातृकाः । परे साधारणाः केषिद् यथास्वं ते निवेशिताः ॥१५७॥
 अभूतपूर्वैरकूटैर्दुर्गैर्नामैर्जनास्पर्कैः । किल समुद्रोऽप्यन्तः कौतुकवशात्तुल्यम् ॥१५८॥
 देशैः साधारणानूपजाङ्गलैस्तेस्तथा मही । रजै रजतभूमर्तु रारादा ख पयोनिधेः ॥१५९॥
 तदन्तेष्वन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽभयन् । स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥१६०॥
 तदन्तरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः । लुब्धकारण्यचरकपुलिन्दशवरादिभिः ॥१६१॥
 मध्ये जनपदं रज्जु राजधान्यः परिष्कृताः । वप्रप्राकारपरिखागोपुरादालकादिभिः ॥१६२॥
 तानि स्थानीयसंज्ञानि दुर्गाण्यावृत्य सर्वतः । ग्रामादीनां निवेशोऽभूद् यथामिहितलक्ष्मणाम् ॥१६३॥
 ग्रामावृत्तिपरिभेषमात्राः स्युरुचिता श्रयाः । शूद्रकर्मकभूविष्टाः सारामाः सजलाशया ॥१६४॥
 ग्रामाः [ग्रामः] कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समभिहितः । परस्तत्पञ्च शत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीवलः ॥१६५॥

दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशोंकी रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशोंका विभाग किया ॥१५२-१५६॥ इन्द्रने उन देशोंमें-से कितने ही देश यथासम्भव रूपसे अदेवमातृक अर्थात् नदी-नहरों आदिसे सींचे जानेवाले, कितने ही देश देवमातृक अर्थात् वर्षाके जलसे सींचे जानेवाले और कितने ही देश साधारण अर्थात् दोनोंसे सींचे जानेवाले निर्माण किये थे ॥१५७॥ जो पहले नहीं थे नवीन ही प्रकट हुए थे ऐसे देशोंसे वह पृथिवीतल ऐसा सुशोभित होता था मानो कौतुकवश स्वर्गके टुकड़े ही आये हों ॥१५८॥ विजयार्थ पर्वतके समीपसे लेकर समुद्र पर्यन्त कितने ही देश साधारण थे, कितने ही बहुत जलवाले थे और कितने ही जलकी दुर्लभतासे सहित थे, उन देशोंसे व्याप्त हुई पृथिवी भारी सुशोभित होती थी ॥१५९॥ जिस प्रकार स्वर्गके धामों-स्थानोंकी सीमाओंपर लोकपाल देवोंके स्थान होते हैं उसी प्रकार उन देशोंकी अन्त सीमाओंपर भी सब ओर अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षक पुरुषोंके किले बने हुए थे ॥१६०॥ उन देशोंके मध्यमें और भी अनेक देश थे जो लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिन्द तथा शवर आदि म्लेच्छ जातिके लोगोंके द्वारा रक्षित रहते थे ॥१६१॥ उन देशोंके मध्यभागमें कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदिसे शोभायमान राजधानी सुशोभित हो रही थीं ॥१६२॥ जिनका दूसरा नाम स्थानीय है ऐसे राजधानीरूपी किलेको घेरकर सब ओर शास्त्रोक्त लक्षणवाले गाँवों आदिकी रचना हुई थी ॥१६३॥ जिनमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबोंसे सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं ॥१६४॥ जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अर्थात् छोटा गाँव कहते हैं तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और

- १.-कोङ्गणाः ४० । २. काम्बोजाः २५-३० । ३. नदीमातृकाः । ४. नदीमातृकदेवमातृक- मिथ्याः । ५. देवीः । ६. जम्बूप्रदेशमप्रायः । ७. विजयार्थस्य । ८. समीपात् । ९. समुद्रपर्यन्तम् । १०. -चरट ५००, ६०, ८० । ११. प्राक्तेनश्लोकोक्तराजधानीनामेव स्थानीयसंज्ञानि । १२. स्थानीयसंज्ञान्यावृत्य सर्वतस्तिष्ठन्तीति सम्बन्धः । १३. यथोक्तलक्षणानाम् । १४. मायाभिहित- अ०, स०, ल०, म० । १५. योग्यगृहाः । १६. आरामसहिताः । १७. ग्रामः ४०, ६०, ८०, १००, १२०, १४०, १६० । १८. गृहशतेन । १९. जघन्यः । २०. उत्कृष्टः २१. गृह पञ्चशतेन ।

क्रोशद्विक्रोशप्रोमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः । सम्पन्नसस्यसुश्रेष्ठाः प्रभूतयवसोदकाः ॥१६६॥
 सरिद्गिरिद्वीरे^१ मृष्टिर्भारकण्टकशास्त्रिनः । वनानि सेतवश्चेति तेषां सीमोपलक्षणम् ॥१६७॥
 तन्मूर्ध्नोक्तनियमां^२ योगश्रेष्ठानुचिन्तनम् । विष्टिदण्डकराणां च निशब्धो^३ राजसाज्जवेत् ॥१६८॥
 परिष्ठागोपुराट्टालवप्रप्रकारमण्डितम् । नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम् ॥१६९॥
 पुरमेवंविधं शस्तमुचितादेशसुस्थितम् । पूर्वोत्तरप्रवाहभक्तं^४ प्रधानपुरुषोचितम् ॥१७०॥
 सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं^५ खेटमाहुर्मनीषिणः । केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते ॥१७१॥
 मङ्गममामनन्ति जाः^६ पञ्चग्रामशतीवृत्तम् । पत्तनं^७ तरसमुद्रान्ते यन्मूर्ध्निर्वतीर्यते ॥१७२॥
 भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगततटाश्रितम् । संवाहस्तु शिरोभ्यूहधान्यसंचय इत्यन्ते ॥१७३॥
^{१०} पुटभेदनभेदानामर्माणां च कश्चिद्विचित्रं । संनिवेशो^८ भवन् पृथ्व्यां ययोद्देशमितोऽमुदः ॥१७४॥
 शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया । राजधान्यास्तथा द्रोणमुखसर्वटयोः क्रमात् ॥१७५॥

जिसके किसान धनसम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं ॥१६५॥ छोटे गाँवोंकी सीमा एक कोसकी और बड़े गाँवोंकी सीमा दो कोसकी होती है । इन गाँवोंके धानके खेत सदा सम्पन्न रहते हैं और इनमें घास तथा जल भी अधिक रहता है ॥१६६॥ नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान क्षीरवृक्ष अर्थात् धूपर आदिके वृक्ष, वयूल आदि कँटीले वृक्ष, वन और पुल ये सब उन गाँवोंकी सीमाके चिह्न कहलाते हैं अर्थात् नदी आदिसे गाँवोंकी सीमाका विभाग किया जाता है ॥१६७॥ गाँवके उत्तरे और उत्तरीयोंके योग्य निम्न वनाना, नवीन वस्तुके बनाने और पुरानी वस्तुकी रक्षा करनेके उपाय, वहाँके लोगोंसे बेगार कराना, अपराधियोंका दण्ड करना तथा जनतासे कर वसूल करना आदि कार्य राजाओंके अधीन रहते थे ॥१६८॥ जो परिष्ठा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकारसे सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो यगोचे और तालाबोंसे सहित हो, जो उत्तम रीतिसे अच्छे स्थानपर बसा हुआ हो, जिसमें पानीका प्रवाह पूर्व और उत्तरके बीचवाली ईशान दिशाकी ओर हो और जो प्रधान पुरुषोंके रहनेके योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है ॥१६९-१७०॥ जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान् पुरुष खेट कहते हैं और जो केवल पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे खर्वट कहते हैं ॥१७१॥ जो पाँच सौ गाँवोंसे घिरा हो उसे पण्डितजन मङ्गम्य मानते हैं और जो समुद्रके किनारे हो तथा जहाँपर लोग नावोंके द्वारा उतरते हैं—(आते-जाते हैं) उसे पत्तन कहते हैं ॥१७२॥ जो किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं और जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों वह संवाह कहलाता है ॥१७३॥ इस प्रकार पृथिवीपर जहाँ-तहाँ अपने-अपने योग्य स्थानोंके अनुसार कहीं-कहींपर ऊपर कहे हुए गाँव नगर आदिकी रचना हुई थी ॥१७४॥ एक राजधानीमें आठ सौ गाँव होते हैं, एक द्रोणमुखमें चार सौ गाँव होते हैं और एक खर्वटमें दो सौ गाँव होते हैं । दश गाँवोंके बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है उसे संग्रह (जहाँपर हर एक वस्तुओंका संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं । इसी प्रकार घोष तथा आकर आदिके लक्षणोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिए अर्थात् जहाँपर बहुत

१. फलित । २. प्रचुरनृणजलाः । ३. श्मशानम् । -मृष्टि-प०, द०, म०, ल० । -सृष्टि- अ०, स० ।
 ४. अलङ्घ्यलाभो योगः, लब्धपरिरक्षणं क्षेमस्तयोः चिन्तनम् । ५. नृपाधीनं भवेत् । ६. पूर्वोत्तरप्रवाहजलम् ।
 'नगरके मार्गका जल पूर्व और उत्तरमें बहे तो नगरनिवासियोंको लाभ है अथवा पूर्वोत्तरशब्दवाच्य ईशान दिशामें बहे तो नगरवासियोंको अत्यन्त लाभ है' इति हिन्दीभाषायां स्पष्टोऽर्थः । ७. नृपादियोग्यम् । ८. खेट-म०, ल० । ९. पञ्चग्रामशतीपरिवेष्टितम् । १०. पत्तनम् । ११. -भवेत् व०, द० ।

१ दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्रामः स संग्रहः । तथा १ घोषकरादीनामपि लक्ष्म विकल्पवताम् ॥१७६॥

२ पुरा विभागमित्युच्यैः कुर्वन् गीर्वाणनायकः । तदा पुरन्दरस्यातिमगादन्वर्थता गताम् ॥१७७॥

ततः प्रजा निवेश्यैषु स्थानेषु स्रष्टुराज्ञया । जगाम कृतकार्यो गाँ १ मवचानुज्ञया प्रभोः ॥१७८॥

असिमंषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च । कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥१७९॥

तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलम् । उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीजगद्गुरुः ॥१८०॥

३ सासारिकं सर्वेषां माशिकेतिविधा स्मृता । कृषिर्भूषणं प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८१॥

वाणिज्यं वणिजो कर्म शिल्पं स्यात् करकौशलम् । तत्र चित्रकलापत्रच्छेदादि १ बहुधा स्मृतम् ॥१८२॥

उपादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेक्षता । क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षत्रत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८३॥

क्षत्रियाः शस्त्रजीविस्वमनुमय तदामनन् । वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः ॥१८४॥

तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः । कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८५॥

कारवोऽपि मत्ता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्या प्रजावाद्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥१८६॥

घोष (अहीर) रहते हैं उसे घोष कहते हैं और जहाँपर सोने चाँदी आदिकी खान हुआ करती है उसे आकर कहते हैं ॥१७५-१७६॥ इस प्रकार इन्द्रने बड़े अच्छे ढंगसे नगर, गाँवों आदिका विभाग किया था इसलिए वह उसी समयसे पुरन्दर इस सार्थक नामको प्राप्त हुआ था ॥१७७॥ तदनन्तर इन्द्र भगवान्की आज्ञासे इन नगर, गाँव आदि स्थानोंमें प्रजाको बसाकर कृतकृत्य होता हुआ प्रभुकी आज्ञा लेकर स्वर्गको चला गया ॥१७८॥ असि, मंषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजाकी आजीविकाके कारण हैं । भगवान् वृषभदेवने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे प्रजाके लिए इन्हीं छह कर्मों-द्वारा वृत्ति (आजीविका) करनेका उपदेश दिया था सो ठीक ही है क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान् सरागी ही थे वीतराग नहीं थे । भावार्थ—सासारिक कार्योंका उपदेश सराग अवस्थामें दिया जा सकता है ॥१७९-१८०॥ उन छह कर्मोंमें-से तलवार आदि शस्त्र धारणकर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मणिकर्म कहलाता है, जमीनको जोतना-बोना कृषिकर्म कहलाता है, शस्त्र अर्थात् पदाकर या नृत्य-नायन आदिके द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है, व्यापार करना वाणिज्य है और हस्तकी कुशलतासे जीविका करना शिल्पकर्म है वह शिल्पकर्म चित्र खींचना, फूल-पत्ते काटना आदिकी अपेक्षा अनेक प्रकारका माना गया है ॥१८१-१८२॥ उसी समय आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने तीन वर्णोंकी स्थापना की थी जो कि क्षत्रत्राण अर्थात् विपत्तिसे रक्षा करना आदि गुणोंके द्वारा क्रमसे क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते थे ॥१८३॥ उस समय जो शस्त्र धारणकर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए, जो खेती व्यापार तथा पशुपालन आदिके द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे । वे शूद्र दो प्रकारके थे—एक कारु और दूसरा अकारु । घोषी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे । कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं उनमें जो प्रजासे बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करनेके अयोग्य कहते हैं और नाई

१. दशग्रामसमाहारस्य । २. "घोष आभीरपल्ली स्यात्" इत्यमरः । ३. नगराणाम् । ४. स्वर्गम् । ५. हेतवे अ०, म०, ल० । ६. उपादिक्षत् म०, ल० । ७. पत्रच्छेदादि अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ८. —जीविनः अ०, प०, म०, द०, ल० । ९. 'मालिको मालिकश्चैव कुम्भकार'—स्तिलतुदः । नापितश्चेति पञ्चमो भवन्ति स्पृश्यकाशकाः ॥ रजस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारकः । स्वर्णकारश्च पञ्चैते भवन्त्यस्पृश्यकारकाः ॥" [एतौ श्लोको '६' पुस्तकेऽप्युल्लिखितौ] ।

यथास्वं स्त्रोचितं कर्म प्रजा दधुरमंकरम् । विवाहजातिगन्धर्वव्यवहारश्च तन्महत्तम् ॥१८०॥

यावती जगती वृत्तिरपापं पहाता च या । सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥१८१॥

युगादिब्रह्मणा नैन यद्विद्यं स कृतो युगः । ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥१८२॥

आषाढमासयजुलप्रतिपदिवसे कृतो । कृत्या कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपस्थितवान् ॥१८३॥

क्रियस्यपि गते काले षट्कर्मविनियोगतः । यदा संस्थित्यमायाताः प्रजाः श्रेमेण योजिताः ॥१८४॥

तदास्याचिरमृद् धावापृथिव्योः प्राभवं महन् । आधिराज्येऽभिपेक्ष्य सुररागाश्च सत्वरम् ॥१८५॥

सुरैः कृतावैरिदंभैः सलिलैरादिकेषसः । कृतोऽभिपेक्ष इत्येव वर्णनास्मि किमन्यथा ॥१८६॥

तथाप्यनूयते किंचित् तदर्थं जगन्नाथः । तदर्थं जगन्नाथः तदर्थं जगन्नाथः ॥१८७॥

तदा किल जगद्विष्वं वनूवानन्दनिर्भरम् । दिवोऽर्वा तस्मिन् देवाः पुरोधाय पुरंदरम् ॥१८८॥

कृतोपशोभमभवत् पुरं साकेतसाहस्यम् । इम्याप्रभूमिकावद्वेत्तुमालाकुलाम्बरम् ॥१८९॥

तदानन्दमहाभयः प्रणेतुर्नृपमन्दिरे । मङ्गलानि जगुर्वारिणो नन्दुः सुराङ्गताः ॥१९०॥

सुरदैतालिकाः पेटुं हस्ताहान् सह मङ्गलैः । प्रचक्रुरमरास्तोषाज्जय जीवेति बोधणाम् ॥१९१॥

बगैरहको स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करनेके योग्य कहते हैं ॥१८४-१८६॥ उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मोंको यथायोग्य रूपसे करती थी । अपने वर्णकी निश्चित आजीविकाको छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था । इसलिये उनके कार्योंमें कभी शंकर (मिलावट) नहीं होता था । उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान् आदिनाथकी आज्ञानुसार हो होते थे ॥१८७॥ उस समय संसारमें जितने पापरहित आजीविकाके उपाय थे वे सब भगवान् वृषभदेवकी सम्मतिमें प्रवृत्त हुए थे सो ठीक है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ही हैं ॥१८८॥ चूँकि युगके आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने इस प्रकार कर्मयुगका प्रारम्भ किया था इसलिये पुराणके जाननेवाले उन्हें कृतयुग नामसे जानते हैं ॥१८९॥ कृतकृत्य भगवान् वृषभदेव आषाढमासके कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन कृतयुगका प्रारम्भ करके प्राजापत्य (प्रजापतिपने)को प्राप्त हुए थे अर्थात् प्रजापति कहलाने लगे थे ॥१९०॥ इस प्रकार जब कितना ही समय व्यतीत हो गया और लहू कर्मोंकी व्यवस्थासे जब प्रजा कुशलतापूर्वक सुखसे रहने लगी तब देवोंने आकर शीघ्र ही उनका सम्राट् पदपर अभिषेक किया उस समय उनका प्रभाव स्वर्गलोक और पृथिवीलोकमें सर्व ही प्रकट हो रहा था ॥१९१-१९२॥ यद्यपि भगवान्के राज्याभिषेकका अन्य विशेष वर्णन करनेसे कोई लाभ नहीं है इतना वर्णन कर देना ही बहुत है कि आदरसे भरे हुए देवोंने दिव्यजलसे उन आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका अभिषेक किया था तथापि उसका कुछ अन्य वर्णन कर दिया जाता है क्योंकि प्रायः साधारण मनुष्य अत्यन्त प्रसिद्ध बातको भी नहीं जानते हैं ॥१९३-१९४॥ उस समय समस्त संसार आनन्दसे भर गया था, देवलोक इन्द्रको आगे कर स्वर्गसे अवतीर्ण हुए थे-उतरकर अयोध्यापुरी आये थे ॥१९५॥ उस समय अयोध्यापुरी सर्व ही सजायी गयी थी । उसके मकानोंके अग्रभागपर बाँधी गयी पताकाओंसे समस्त आकाश भर गया था ॥१९६॥ उस समय राजमन्दिरमें बड़ी आनन्द-भेरियाँ बज रही थीं, चारन्नियाँ मंगलगान गा रही थीं और देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं ॥१९७॥ देवोंके वन्दीजन मंगलोंके साथ-साथ भगवान्के पराक्रम पढ़ रहे थे और देवलोक सन्तोषसे

१. दध्यु- म०, ल० । २. तत्पुल्लायमतं यथा भवति तथा । ३. जगती वृत्ति- अ०, प०, स०, म०, द० । ४. नित्यः । ५. उच्यते । ६. अभिषेकप्राप्तम् । ७. साधारणजनः । ८. अवतरन्ति स्म । ९. अग्रे कृत्या । १०. बोधहराः ११. वीर्याणि ।

प्रथमं पृथिवीमध्ये मृत्स्नारचितवेविके । सुरशिल्पिसमारब्धपराङ्मयातन्दमण्डपे ॥१९९॥
 रजचूर्णचयन्यस्तैरङ्गवद्युपचित्रिते । प्रत्यभोद्विज्जविश्रितसुमनःप्रकराञ्जिते ॥२००॥
 मणिकुट्टिमसंक्रान्तविम्बमौक्तिकलम्बने । लसद्विनातकर्षांश्चलायाचित्रितरङ्गके ॥२०१॥
 धृतमङ्गलनाकस्त्रीरुद्धसंचारवतिनि [वर्त्मनि] । पर्यन्तनिहितानल्पभङ्गकद्रव्यसंपदि ॥२०२॥
 सुरवारधभूहस्तविभूतचलचामरे । अन्योन्यहस्तसंक्रान्तयानास्नानपरिच्छदं ॥२०३॥
 मलीलपदविन्याससंचरणाककामिनी । रणन्तूपुरमंकारमुखरोकृतदिक्मुख्ये ॥२०४॥
 नृपाङ्गणमहीरङ्गे वृत्तमङ्गलसंग्रहे । निवेश्य प्राङ्मुखं देवमुचितं हरिविष्टरे ॥२०५॥
 गन्धर्वारधसंगीतमृदंगमन्दनिःस्वनं । त्रिविष्टपकुटीक्रोडमाक्रामति सदिक्कतटम् ॥२०६॥
 नृत्यन्नाकाङ्क्षनापाठ्य निस्स्वनानुगतस्वरम् । गायन्तीनु यशो जिष्णाः^१ किन्नरादु^२ भवस्सुखम् ॥२०७॥
 ततोऽभिषेचनं मर्तुः कर्तुमारंभरे^३ उमराः । शातकुम्भविनिर्माणैः कुम्भैर्स्तार्थाम्भुसंभृतैः ॥२०८॥
 गङ्गासिन्धवोर्भट्टानयोरप्राप्य धरणोत्तलम् । प्रपति हिमवत् कूटाद् यदम्बु समुपाहतम् ॥२०९॥
 यच्च गङ्गं पथः स्वच्छं गङ्गाकुण्डात् समाहतम् । सिन्धुकुण्डादुपार्नात् सिन्धोर्वत्^४ कमपङ्कजम् ॥२१०॥
^५ ज्येष्ठोमावसानां च सलिलं यदनाधिलम्^६ ।^७ तत्ताकुण्डतदापात्^८ समासादितजन्मकम् ॥२११॥

'जय जीव', इस प्रकारकी श्लोपणा कर रहे थे ॥ १९८ ॥ राज्याभिषेकके प्रथम ही पृथिवीके मध्यभागमें जहाँ सिट्टीकी वेदी बनायी गयी थी और उस वेदीपर जहाँ देव-कारोगरोंने बहुमूल्य—श्रेष्ठ आनन्दमण्डप बनाया था, जो रत्नोंके चूर्णसमूहसे बनी हुई रंगावलीसे चित्रित हो रहा था, जो नवान खिले हुए बिखरे गये पुष्पोंके समूहसे सुशोभित था, जहाँ मणियोंसे जड़ी हुई जमीनमें ऊपर लटकते हुए मोतियोंका प्रतिविम्ब पड़ रहा था, जहाँ रेशमी वस्त्रके शोभायमान चँदोवाकी छायासे रंगभूमि चित्रित हो रही थी, जहाँ मंगल द्रव्योंको धारण करनेवाली देवांगनाओंसे आने-जानेका मार्ग रुक गया था, जहाँ समीपमें बड़े-बड़े मंगलद्रव्य रखे हुए थे, जहाँ देवोंकी अप्सरारारें अपने हाथोंसे चंचल चमर ढोल रही थी, जहाँ स्नानकी सामग्रीको लोग परस्पर एक दूसरेके हाथमें दे रहे थे, जहाँ लीलापूर्वक पैर रखकर इधर-उधर चलती हुई देवांगनाओंके ननङ्गन शब्द करते हुए नुपुरोंकी झनकारसे दशों दिशाएँ शब्दायमान हो रही थी, और जहाँ अनेक मंगलद्रव्योंका संग्रह हो रहा था ऐसे राजमहलके आँगनरूपी रंगभूमिमें योग्य सिंहासनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भगवान् वृषभदेवको बैठाया और जब गन्धर्व देवोंके द्वारा प्रारम्भ किए हुए संगीतके समय होनेवाला मृदंगका गम्भीर शब्द समस्त दिक्कतोंके साथ-साथ तीन लोकरूपी कुटीके मध्यमें व्याप्त हो रहा था तथा नृत्य करती हुई देवांगनाओंके पड़े जानेवाले संगीतके स्वरमें स्वर मिलाकर किन्नर जातिकी देवियों कानोंको सुख देनेवाला भगवान्का यश गा रही थी उस समय देवोंने तीर्थोदकसे भरे हुए सुवर्णके कलशोंसे भगवान् वृषभदेवका अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥१९९-२०७॥ भगवान्के राज्याभिषेकके लिए गंगा और सिन्धु इन दोनों महानदियोंका वह जल लाया गया था जो हिमवत्पर्यन्तकी शिखरसे धारा रूपमें नीचे गिर रहा था तथा जिसने पृथिवीतलको छुआ तक भी नहीं था । भावार्थ—नीचे गिरनेसे पहले ही जो बरतनोंमें भर लिया गया था ॥२०९॥ इसके सिवाय गंगाकुण्डसे गंगा नदीका स्वच्छ जल लाया गया था और सिन्धुकुण्डसे सिन्धु नदीका निर्मल जल लाया गया था ॥२१०॥ इसी प्रकार ऊपरसे पड़ती हुई अन्य नदियोंका स्वच्छ जल भी उनके गिरनेके

१. रचित । २. नवविश्रित । ३. दुकूल । ४. पारदर । ५. मध्यम् । ६. गच्छपद्यादि । ७. जिनेन्द्रस्य । ८. श्ववर्णरमणीयम् यथा भवति तथा । ९. उपक्रमं चक्रिरे । १०. जलम् । ११. रोहिद्रोहितास्यादीनाम् । १२. अकटुषम् । १३. तानि च तानि कुण्डानि । १४. सम्प्राप्तजननम् ।

श्रीदेवीमयेदानात् पद्मादिसरसां पथः । हेसारविन्दकिञ्चिद्वक्तुञ्जसंजातरञ्जनम् ॥२१२॥
 यद्धारि सारम् हासिकह्वाररवाद् सोऽपलम् । यच्च तन्मौक्तिकोद्गारशरं लावणमैन्धवम् ॥२१३॥
 यास्ता नन्दीश्वरद्वीपे वाप्यो नन्दोत्तरादयः । सुप्रसन्नोदकास्तासामापो याश्च विकलमयाः ॥२१४॥
 यथाभ्यः संभृतं क्षीरसिन्धोर्नन्दीश्वराणवान् । स्वयम्भूरमणालेश्च दिव्यः कुम्भैर्हिरण्यैः ॥२१५॥
 ह्रस्वाभ्यां तैर्जलैर्मिरमिषिणो जगद्गुरुः । स्वयंपूततर्करैरपुनान् तानि केवलम् ॥२१६॥
 सुरैरावर्जिता चारा धारा मूर्ध्नि विभोरमान् । राजलक्ष्म्या निवेशोऽयमिति धारं च पातिता ॥२१७॥
 चराचरगुरोर्मूर्ध्नि पतन्त्यो रंजुरच्छदाः । जगत्तापच्छिदः स्वच्छा गुणानामिव संपदः ॥२१८॥
 सुरेन्द्रैरभिषिक्तस्य सलिलैः सौरमैन्धवः । निसर्गशुचिगात्रस्य पराशुद्धिरभूद् विभोः ॥२१९॥
 नाकीन्द्राः क्षालयाञ्चक्रु विमोर्नाह्वानि केवलम् । प्रेक्षकाणां मनोवृत्तिं नेत्राण्यपे धनान्यपि ॥२२०॥
 नृत्यसुराङ्गनापाङ्गदारास्तस्मिन् प्लवेज्जमलाम् । पायिता नु जलं तोत्रं यत्चेतांस्यमिदन् नृणाम् ॥२२१॥

कुण्डोंसे लाया गया था ॥ २११ ॥ श्री ह्रीं आदि देवियाँ भी पद्म आदि सरोवरोंका जल लायी थीं जो कि सुवर्णमय कमलोंकी केसरके समूहसे पीतवर्ण हो रहा था ॥ २१२ ॥ सायंकालके समय खिलनेवाले सुगन्धित कमलोंकी सुगन्धसे मधुर, अनिशय मनोहर और नील कमलों-सहित तालाबोंका जल लाया गया था । जो बाहर प्रकट हुए मोतियोंके समूहसे अत्यन्त श्रेष्ठ है ऐसा लवणसमुद्रका जल भी लाया गया था ॥ २१३ ॥ नन्दीश्वर द्वीपमें जो अत्यन्त स्वच्छ जलसे भरी हुई नन्दोत्तरा आदि वापिकाएँ हैं, उनका भी स्वच्छ जल लाया गया था ॥ २१४ ॥ इसके सिवाय क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र तथा स्वयम्भूरमण समुद्रका भी जल सुवर्णके बने हुए दिव्य कलशोंमें भरकर लाया गया था ॥ २१५ ॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए प्रसिद्ध जलसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका अभिषेक किया गया था । चूँकि भगवान्का शरीर स्वयं ही पवित्र था अतः अभिषेकसे वह क्या पवित्र होता ? केवल भगवान्ने ही अपने स्वयं पवित्र अंगोंसे उस जलको पवित्र कर दिया था ॥ २१६ ॥ उस समय भगवान्के मस्तकपर देवोंके द्वारा छोड़ी हुई जलकी धारा ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो उस मस्तकको राजलक्ष्मीका आश्रय समझ कर ही छोड़ी गयी हो ॥ २१७ ॥ चर और अचर पदार्थोंके गुरु भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर पड़ती हुई जलकी छटाएँ ऐसी शोभायमान होती थी मानो संसारका सन्ताप नष्ट करने-वाली और निर्मल गुणोंकी सन्पदाएँ ही हों ॥ २१८ ॥ यद्यपि भगवान्का शरीर स्वभावसे ही पवित्र था तथापि इन्द्रने गंगा नदीके जलसे उसका अभिषेक किया था इसलिए उसकी पवित्रता और अधिक हो गयी थी ॥ २१९ ॥ उस समय इन्द्रोंने केवल भगवान्के अंगोंका ही प्रक्षालन नहीं किया था किन्तु देखनेवाले पुरुषोंकी मनोवृत्ति, नेत्र और शरीरका भी प्रक्षालन किया था । भावार्थ—भगवान्का राज्याभिषेक देखनेमें मनुष्योंके मन, नेत्र तथा समस्त शरीर पवित्र हो गये थे ॥ २२० ॥ उस समय नृत्य करती हुई देवांगनाओंके कटाक्षरूपी वाण उस जलके प्रवाहमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो उनपर तेज पानी रखा गया हो और इसलिए वे मनुष्योंके चित्तको भेदन कर रहे थे । भावार्थ—देवांगनाओंके कटाक्षोंसे देखनेवाले मनुष्योंके चित्त भिन्न जाते थे ॥ २२१ ॥ भगवान्के शरीरके संसर्गसे

१. मरःसंवन्धि । २. मनोहरम् । ३. तत्समुद्र—मुक्ताफलशवलम् । ४. —तारं म०, प०, ल०, ट० । —सारं अ० । ५. लवणसिन्धोः संवन्धि । ६. —द्रोषवाप्यां— प०, अ०, म०, द०, म०, ल० । ७. आलुवातैः । ८. पवित्राण्यकरोन् । ९. आश्रयः । १०. सुरसिन्धुगन्धविभिः । ११. शरीराणि । १२. पानं कारिताः । ["पानी चढ़ाकर तोदनधार क्रिये गये हैं ।" इति हिन्दी] । १३. इव । १४. विदारयन्ति स्म ।

जलैरनापिलैर्भक्तुङ्गसंगात् पवित्रितः । धराकान्ता ध्रुवं दिष्ट्या^१ वद्धिता स्वामिसंपदा ॥२२२॥
 कृताभिषेको रुहचे भगवान् सुरनायकैः । ईमैः कुम्भैर्वर्जैः साम्प्रैः यथा सन्दुरभूधरः ॥२२३॥
 नृपा मूर्द्धामिषिका ये नाभिराजपुरस्तराः । राजवद्राजसिंहोद्यमभ्यषिच्यत तैस्समम्^२ ॥२२४॥
 पौराश्च नल्लिनीपत्रपुटैः कुम्भैश्च^३ मार्तिकैः । सारवेणाश्विना चक्रभक्तुः पात्राभिषेचनम् ॥२२५॥
 मागधाद्याश्च वन्येन्द्रो^४ क्षिप्रानधरमाचिचन् । नाथोऽस्मद्विषयस्येति^५ प्रीताः पुण्याभिषेचनैः ॥२२६॥
 पूतस्तीर्थाभ्युभिः स्नातः कषायग्निल्लैः पुनः । धौतो गन्धाम्बुमिर्दिन्यै^६ रस्नापि^७ चरमं विभुः ॥२२७॥
 कृतावगाहनो भूयो ईमस्तानां दकुण्डकैः । सुखोष्णैः सलिलैर्धौता सुखमज्जनमन्वयूत् ॥२२८॥
 स्नानान्तोज्झितविक्षिप्तमालयांशुकविभूषणैः । भर्तुः प्राप्ताद्भस्मसृष्टि^८ दायवासीद्वराङ्गना ॥२२९॥
 सुस्नातमङ्गलान्युच्चैः पठन्तु सुरवन्दिन्यु । राज्यलक्ष्मीसमुद्राहं स्नानं निरे^९ विषद् विभुः ॥२३०॥
 अथ निर्वातितस्नानं कृतनाराजनं विभुम् । स्वर्भुवो भूषयामासुदिभ्यैः स्वभूषणाम्बरैः ॥२३१॥

पवित्र हुई निर्मल जलसे समस्त पृथिवी व्याप्त हो गयी थी इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामी वृषभदेवकी राज्य-सम्पदासे सन्तुष्ट होकर अपने शुभ भाग्यसे बढ़ ही रही हो ॥ २२२ ॥ इन्द्र जब सुवर्णके बने हुए कलशोंसे भगवान्का अभिषेक करते थे तब भगवान् ऐसे सुशोभित होते थे जैसे कि सायंकालमें होनेवाले बादलोंसे मेरु पर्वत सुशोभित होता है ॥ २२३ ॥ नाभिराजको आदि लेकर जो चढ़े-चढ़े राजा थे उन सभीने 'सब राजाओंमें श्रेष्ठ यह वृषभदेव वास्तवमें राजाके योग्य है' ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था ॥ २२४ ॥ नगरनिवासी लोगोंने भी किसीने कमलपत्रके बने हुए दोनेसे और किसीने मिट्टीके चड़ेसे सरयू नदीका जल लेकर भगवान्के चरणोंका अभिषेक किया था ॥ २२५ ॥ मागध आदि व्यन्तरदेवोंके इन्द्रोंने भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवकी 'यह हमारे देशके स्वामी हैं' ऐसा मानकर प्रीतिपूर्वक पवित्र अभिषेकके द्वारा पूजा की थी ॥ २२६ ॥ भगवान् वृषभदेवका सबसे पहले तीर्थजलसे अभिषेक किया था फिर कषाय जलसे अभिषेक किया गया और फिर सुगन्धित द्रव्योंसे मिले हुए सुगन्धित जलसे अन्तिम अभिषेक किया गया था ॥ २२७ ॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे भगवान्ने कुछ-कुछ गरम जलसे भरे हुए स्नान करने योग्य सुवर्णके कुण्डमें प्रवेश कर सुखकारी स्नानका अनुभव किया था ॥ २२८ ॥ भगवान्ने स्नान करनेके अन्तमें जो माला, वस्त्र और आभूषण उतारकर पृथिवीपर छोड़ दिये थे—डाल दिये थे उनसे वह पृथिवीरूपी स्त्री ऐसी मालूम होती थी मानो उसे स्वामीके शरीरका स्पर्श करनेवाली वस्तुमें ही प्रदान की गयी हो । भावार्थ—लोकमें स्त्री पुरुष प्रेमवश एक दूसरेके शरीरसे छुए गये वस्त्राभूषण धारण करते हैं यहाँपर आचार्यने भी उसी लोकप्रसिद्ध बातको उपेक्षाालंकारमें गुम्कित किया है ॥ २२९ ॥ इस प्रकार जब देवोंके वन्दी-जन उच्च स्वरसे शुभस्तानसूचक मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब भगवान् वृषभदेवने राज्य-लक्ष्मीको धारण करने अथवा उसके साथ विवाह करने योग्य स्नानको प्राप्त किया था ॥ २३० ॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक पूर्ण हो चुका है और जिनकी आरती की जा चुकी है ऐसे भगवान्को देवोंने स्वर्गसे लाये हुए माला, आभूषण और वस्त्र आदिसे अलंकृत किया ॥ २३१ ॥

१. सन्तोषेण । २. राजाहम् यथा भवति तथा । ३. युगपत् । ४. मुक्तिकामयैः । ५. सरयूसंवन्धिता । ६. मागधवरतनुप्रमुखाः । ७. व्यन्तरेन्द्राः । ८. प्रीत्या ५०, म०, द०, ल० । —द्रव्यै— म०, ल० । १०. अभिषेचि । ११. पश्चात् । १२. सुस्नातो जिमत— स० । १३ भर्तुः सकाशात् । १४. विवाहाद्युत्साहे देवे द्रव्यं दायः । दानेवासी— ५०, म०, ल० । १५. सुस्नात । सुस्नात— ५०, म०, द०, ल० । १६. विवाह । १७. अन्वभवत् । १८. देवाः ।

नाभिराजः ॥ २३२ ॥ महस्तेन सौमित्रारोपयत् ॥ २३३ ॥ महामुकुटबद्धानामभिराद् भगवानिति ॥ २३४ ॥
 पटवन्धोर्जगद्वन्धोर्ललाटे विनिवेशितः । बन्धनं राजलक्ष्म्याः २ स्विद्वत्त्वयाः ३ स्थैर्यसाधनम् ॥ २३५ ॥
 सग्वी सदर्शकः कर्णद्वयोद्वलसितकुण्डलः । दधानो ४ मुकुटं मूर्ध्ना लक्ष्म्याः क्रीडाचलायितम् ॥ २३६ ॥
 कण्ठे हारलतां विभ्रत् कटिसूत्रं कटीतटे । ब्रह्मसूत्रं ५ पर्वताङ्गः स गार्गीवसिवादिराद् ॥ २३७ ॥
 कटकाङ्गद्वयूरभूषितायतदीर्घगः । पर्युज्जलसन्महाशास्त्रः कल्पशास्त्रीव जङ्गमः ॥ २३८ ॥
 सनीलरत्ननिर्माणनूपुराबुद्धहस्तमौ । निलीनशृङ्गसंफुल्लकरकतामरसश्रिया ॥ २३९ ॥
 इति प्रत्यङ्गसंगिन्या बभौ भूषणसम्पदा । भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणाङ्ग ६ इवाङ्घ्रिपः ॥ २४० ॥
 ततः सानन्दमानन्दनाटकं नाट्यवेदवित् । प्रयुज्यास्थायिकारङ्ग ७ प्रत्यगाद् गां ८ सहस्रगुः ९ ॥ २४१ ॥
 ब्रजन्तमनुजमुस्तं कृतकार्या सुरासुराः । भगवत्पावसंसेवानियुक्तस्वान्तवृत्तयः ॥ २४२ ॥
 अथाभिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य संनिधौ । प्रजातां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसुद् ॥ २४३ ॥
 कृत्वावितः प्रजासर्ग १० तद् ११ वृत्तिनियमं पुनः । स्वधर्मानतिवृत्त्यैव १२ नियच्छलन्वशात् प्रजाः ॥ २४४ ॥

‘महामुकुटबद्ध राजाओंके अधिपति भगवान् वृषभदेव ही हैं’ यह कहते हुए महाराज नाभिराजने अपने मस्तकका मुकुट अपने हाथसे उतारकर भगवान्के मस्तकपर धारण किया था ॥२३२॥ जगत् मात्रके बन्धु भगवान् वृषभदेवके ललाटपर पटवन्ध भी रखा जो कि ऐसा मालूम होता था मानो यहाँ-वहाँ भागनेवाली-चंचल राज्यलक्ष्मीको स्थिर करनेवाला एक बन्धन ही हो ॥२३३॥ उस समय भगवान् मालाएँ पहने हुए थे, उत्तम वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके दोनों कानोंमें कुण्डल सुशोभित हो रहे थे । वे मस्तकपर लक्ष्मीके क्रीडाचलके समान मुकुट धारण किये हुए थे, कण्ठमें हारलता और कमरमें करधनी पहने हुए थे । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गंगाका प्रवाह धारण करता है उसी प्रकार वे भी अपने कन्धेपर यज्ञोपवीत धारण किये थे । उनकी दोनों लम्बी भुजाएँ कड़े, बाजूबन्द और अनन्त आदि आभूषणोंसे विभूषित थीं । उन भुजाओंसे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो शोभायमान बड़ी-बड़ी शाखाओंसे सहित चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही हों । उनके चरण नीलमणिके बने हुए नूपुरोंसे सहित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनपर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे खिले हुए दो लाल कमल ही हों । इस प्रकार प्रत्येक अंगमें पहने हुए आभूषणरूपी सम्पदासे आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष ही हों ॥२३४-२३८॥ तदनन्तर नाट्यशास्त्रको जाननेवाला इन्द्र उस सभारूपी रंगभूमिमें आनन्दके साथ आनन्द नामका नाटक कर स्वर्गको चला गया ॥२३९॥ जो अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं और जिनके चित्तकी वृत्ति भगवान्के चरणोंकी सेवामें लगी हुई है ऐसे देव और अमुर उस इन्द्रके साथ ही अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥२४०॥

अथानन्तर कर्मभूमिकी रचना करनेवाले भगवान् वृषभदेवने राज्य पाकर महाराज नाभिराजके समीप ही प्रजाका पालन करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार प्रयत्न किया ॥२४१॥ भगवान्ने सबसे पहले प्रजाकी सृष्टि (विभाग आदि) की फिर उसकी आजीविकाके नियम बनाये और फिर वह अपनी-अपनी मर्यादाका उल्लंघन न कर सके इस प्रकारके नियम बनाये ।

१. मुकुट अ०, प०, स०, म०, ल० । २. इव । ३. पमनशीलायाः । ४. स्थिरत्वस्य कारणम् ।

५. मुकुट—अ०, प०, स०, म०, ल० । ६. वेष्टितशरीरः । ७. इवाङ्घ्रिपः प० । ८. सभारङ्गे । ९. स्वर्गम् ।

१०. सहस्राक्षः । ११. सृष्टिम् । १२. वर्तनम् । १३. नियमयन् ।

स्वदेश्यां^१ पारयन् शस्त्रं क्षत्रिय, तमृजद् विभुः । क्षत्रत्राणे निधुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥२४३॥
 ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्वाक्षाद् वाणिजः प्रभुः । जलस्थलादियात्रामिस्तद्^२ वृत्तिर्वार्त्तया^३ यतः ॥२४४॥
 'न्यवृत्तिनिवृत्तां शूद्रां^४ पद्भ्यामवास्तुजत् सुधीः । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा^५ तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥२४५॥
 सुश्वतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः^६ स्वक्ष्यनि द्विजान् । अर्थात्पध्यापने दानं^७ प्रतिच्छेज्येति तत्क्षियाः ॥२४६॥
 'शूद्रा शूद्रेण वीर्य्या^८ नान्या तां^९ स्वां^{१०} च नैगमः^{११} ।
 'वहन्^{१२} स्वां ते च^{१३} राजन्यः^{१४} स्वां^{१५} द्विजन्मा क्वचित्^{१६} ताः ॥२४७॥
 स्वामिमां वृत्तिमुत्क्राम्य यस्वव्यां वृत्तिमाचरेत् । स पार्थिवैर्नियन्तव्यो^{१७} वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥२४८॥
 कृत्यादिकर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान् । कर्मभूमिरिव^{१८} तस्मात् तदासीत्तद्व्यवस्थायां^{१९} ॥२४९॥

इस तरह वे प्रजाका शासन करने लगे ॥२४२॥ उस समय भगवान्ने अपनी दोनों भुजाओंमें शस्त्र धारण कर क्षत्रियोंकी सृष्टि की थी, अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्याका उपदेश दिया था, सो ठीक ही है, क्योंकि जो हाथोंमें हथियार लेकर सबल शत्रुओंके प्रहारसे निर्वलोंकी रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं ॥२४३॥ तदनन्तर भगवान्ने अपने ऊरुओंसे यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्योंकी रचना की सो ठीक ही है, क्योंकि जल स्थल आदि प्रदेशोंमें यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है ॥२४४॥ हमेशा नीच (वैन्य) वृत्तिमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना बुद्धिमान् वृषभदेवने पैरोंसे ही की थी क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना ही उनकी अनेक प्रकारकी आजीविका है ॥२४५॥ इस प्रकार तीन वर्णोंकी सृष्टि तो स्वयं भगवान् वृषभदेवने की थी, उनके बाद भगवान् वृषभदेवके बड़े पुत्र महाराज भरत मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे, स्वयं पढ़ना, दूसरोंको पढ़ाना, दान लेना तथा पूजा यज्ञ आदि करना उनके कार्य होंगे ॥२४६॥ [विशेष-वर्ण सृष्टिकी ऊपर कहा हुई सत्य व्यवस्थाको न मानकर अन्य मतावलम्बियोंने जो यह मान रखा है कि ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, ऊरुओंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए थे सो वह मिथ्या कल्पना ही है ।] वर्णोंकी व्यवस्था तबतक सुरक्षित नहीं रह सकती जबतक कि विवाहसम्बन्धी व्यवस्था न की जाये, इसलिए भगवान् वृषभदेवने विवाह व्यवस्था इस प्रकार बनायी थी कि शूद्र शूद्रकन्याके साथ ही विवाह करे, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको कन्याके साथ विवाह नहीं कर सकता । वैश्य वैश्यकन्या तथा शूद्रकन्याके साथ विवाह करे, क्षत्रिय क्षत्रियकन्या, वैश्यकन्या और शूद्रकन्याके साथ विवाह करे, तथा ब्राह्मण ब्राह्मणकन्याके साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देशमें वह क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कन्याओंके साथ भी विवाह कर सकता है ॥२४७॥ उस समय भगवान्ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्णकी निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्णकी आजीविका करेगा वह राजाके द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करनेसे वर्णसंकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे-उनका विभाग नहीं हो सकेगा ॥२४८॥ भगवान् आदिनाथने विवाह आदिकी व्यवस्था करनेके पहले ही असि, सपि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मोंकी व्यवस्था कर दी थी । इसलिए उक्त छह कर्मोंकी

१. जीवनम् । २. कृषिपशुपालनवाणिज्यरूपया । ३. यतः कारणान् । ४. नीचवृत्तितत्परान् । ५. पादसंवाहनादौ । ६. सेवाकृपा । ७. सर्जनं करिष्यति । ८. अध्ययन । ९. प्रत्यादान । १०. शूद्रस्त्री । ११. परिणेतव्या । १२. शूद्राम् । स्वां तां च अ०, प०, स०, ल० । १३. वैश्याम् । १४. वैश्यः । १५. परिणयेत् । १६. क्षत्रियाम् । १७. शूद्रां वैश्यां च । १८. क्षत्रियः । १९. ब्राह्मणीम् । २०. शूद्रादितिलः । शूद्रेण भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशाः स्मृते । ते च स्वा चैव राजस्य तास्य स्वा चाग्रजन्मनः ॥ इति मनुस्मृतौ २१. शब्दः । २२. संकरः । २३. यस्मात् । २४. षट्कर्मव्यवस्थया ।

सृष्टेति ताः प्रजाः सृष्ट्वा तशोगक्षेमसाधनम् । प्रायुङ्क्त युक्तिना दण्डं दामाश्रिकारक्षणम् ॥२५०॥
 दुष्टानां निग्रहः शिष्टप्रतिपालनमित्ययम् । न पुरासीकम्नो यस्मान् प्रजाः सर्वा निरागतः ॥२५१॥
 प्रजा दण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमूः । प्रस्यतेऽन्तःप्रदुष्टेन निर्बलो हि बलीयसा ॥२५२॥
 दण्डमीत्वा हि लोकोऽस्मदयं हस्तुमशक्नुः । सुखं दुःखं च तदा भवति ॥२५३॥
 पयस्विन्या^१ यथा क्षीरम् 'द्रोणोपजीम्यते'^२ । प्रजापत्येवं धनं दोष्टा नातिपीडाकरैः करैः ॥२५४॥
 ततो दण्डधरानेताननुमेने नृपान् प्रभुः । तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिन्तनम् ॥२५५॥
 समाहूय महामागान् हव्यकम्पतकाश्यपान् । सोमप्रभं च समान्य सरक्त्य च यथोचितम् ॥२५६॥
 कृतामिषेचनानेतान् महामण्डलिकान् नृपान् । चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान् स्वधाद् विभुः ॥२५७॥
 सोमप्रभः प्रमोरासकुराजसमाहूयः । कुरुणामधिराजोऽभूत् कुरुवंशजित्नामणिः ॥२५८॥
 हरिश्च हरिकान्ताख्यां प्रधानस्तदनुजया । हरिवंशमलम्बकं धोमान् हरिपराक्रमः ॥२५९॥
 अकम्पनोऽपि सृष्टीशात् प्राप्तश्रीधरनामकः । नाथवंशस्य नेताभूत् प्रसन्ने भुवनेक्षिणि ॥२६०॥

व्यवस्था होनेसे यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी ॥२४९॥ इस प्रकार ब्रह्मा-आदिनाथने प्रजाका विभाग कर उनके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) की व्यवस्थाके लिए युक्तिपूर्वक द्वा, मा और धिक्कार इन तीन दण्डोंकी व्यवस्था की थी ॥ २५० ॥ दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना अर्थात् उन्हें दण्ड देना और सज्जन पुरुषोंका पालन करना यह क्रम कर्मभूमिसे पहले अर्थात् भोगभूमिमें नहीं था क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे—किसी प्रकारका अपराध नहीं करते थे ॥ २५१ ॥ कर्मभूमिमें दण्ड देनेवाले राजाका अभाव होनेपर प्रजा मात्स्यन्यायका आश्रय करने लगेगी अर्थात् जिस प्रकार बलवान् मच्छ छोटे मच्छोंको खा जाते हैं उसी प्रकार अन्तरंगका दुष्ट बलवान् पुरुष, निर्बल पुरुषको निगल जायेगा ॥ २५२ ॥ यह लोग दण्डके भयसे कुमार्गकी ओर नहीं दौड़ेंगे इसलिए दण्ड देनेवाले राजाका होना उचित ही है और ऐसा राजा ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२५३॥ जिस प्रकार दूध देनेवाली गायसे उसे बिना किसी प्रकारकी पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और ऐसा करनेसे वह गाय भी सुखी रहती है तथा दूध दुहनेवालेकी आजीविका भी चलती रहती है उसी प्रकार राजाको भी प्रजासे धन वसूल करना चाहिए । वह धन अधिक पीड़ा न देनेवाले करों (टैक्सों) से वसूल किया जा सकता है । ऐसा करनेसे प्रजा भी दुखी नहीं होती और राज्यव्यवस्थाके लिए योग्य धन भी सरलतासे मिल जाता है ॥२५४॥ इसलिए भगवान् वृषभदेवने नीचे लिखे हुए पुरुषोंको दण्डधर (प्रजाको दण्ड देनेवाला) राजा बनाया है सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाके योग और क्षेमका विचार करना उन राजाओंके ही अधीन होता है ॥ २५५ ॥ भगवान्ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महा भाग्यशाली शत्रियोंको बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया । तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें महामण्डलिक राजा बनाया । ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओंके अधिपति थे ॥ २५६-२५७ ॥ सोमप्रभ, भगवान्से कुरुराज नाम पाकर कुरुदेशका राजा हुआ और कुरुवंशका शिखामणि कहलाया ॥२५८॥ हरि, भगवान्की आज्ञासे हरिकान्त नामको धारण करता हुआ हरिवंशको अलंकृत करने लगा क्योंकि वह श्रीमान् हरिपराक्रम अर्थात् इन्द्र अथवा सिंहके समान पराक्रमी था ॥ २५९ ॥ अकम्पन भी,

१. निर्वोधाः । २. दण्डकरः अ०, ई०, स०, म०, द०, ल० । ३. क्षीरवद्धेनीः । ४. अनुप-

द्वेषण । ५. वर्धते । ६. वक्ष्यमाणान् । ७. चतुःसहस्रराजपरिवारान् ।

काश्यपोऽपि गुरोः प्राप्तमाधवाक्यः पतिर्विशाम् । उग्रवंशस्य धंश्योऽभूत् किन्नाप्यं स्वामिसंपदा ॥२६१॥
 तदा^१ कच्छमहाकच्छप्रमुखानपि भूसुखः । सोऽधिराजपदे^२ देवः स्थापयामास सस्कृतान् ॥२६२॥
 पुत्रानपि तथा योऽयं वस्तुवाहनसंपदा । भगवान् संविधत्ते^३ स्म तद्धि राज्योऽजने^४ फलम् ॥२६३॥
 'आकानाक्य तदेभूयां रससंग्रहणे नृणाम् । इक्ष्वाकुस्त्रिभूत् देवो जगतामभिसंमतः ॥२६४॥
 गौः स्वर्गः स प्रकृष्टात्मा गौतमोऽभिमतः सताम् । स तस्मादागतो देवो गौतमश्रुतिसन्वभूत् ॥२६५॥
 काश्यमिंथुच्यते तेवः काश्यपस्तस्य पाकनात् । जीवनोपायमननान् मनुः कुलधरोऽप्यसौ ॥२६६॥
 विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः । प्रजास्तं^५ व्याहरन्ति स्म जगतां पतिमच्युतम् ॥२६७॥
 त्रिपष्टिलक्षाः पूर्वाणां राज्यकालोऽस्य संमितः ।^६ स तस्य पुत्रपौत्रादिषु तस्याविदितोऽगमत् ॥२६८॥
 स सिंहासनमाधोध्यमप्यासीनो महाद्युतिः । सुखानुपनतो^७ पुण्यैः साम्राज्यश्रियमन्वभूत् ॥२६९॥

वसन्ततिलका

इत्थं सुरासुरगुल्फे^८ पुण्ययोगात्

भोगान् वितन्वति तदा सुरलोकनाथे ।

भगवान्से श्रीधर नाम पाकर उनकी प्रसन्नतासे नाथवंशका नायक हुआ ॥ २६० ॥ और काश्यप भी जगद्गुरु भगवान्से मधवा नाम प्राप्तकर उग्रवंशका मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है । स्वामीकी सम्पदासे क्या नहीं मिलता है ? अर्थात् सब कुछ मिलता है ॥ २६१ ॥ तदनन्तर भगवान् आदिनाथने कच्छ महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओंका सत्कार कर उन्हें अधिराजके पद-पर स्थापित किया ॥ २६२ ॥ इसी प्रकार भगवान्ने अपने पुत्रोंके लिए भी यथायोग्य रूपसे महल, सवारी तथा अन्य अनेक प्रकारकी सम्पत्तिका विभाग कर दिया था सो ठीक ही है क्योंकि राज्यप्राप्तिका यही तो फल है ॥ २६३ ॥ उस समय भगवान्ने मनुष्योंको इक्षुका रस संग्रह करनेका उपदेश दिया था इसलिए जगत्के लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे ॥ २६४ ॥ 'गौ' शब्दका अर्थ स्वर्ग है जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन पुरुष 'गौतम' कहते हैं । भगवान् वृषभदेव स्वर्गोंमें सबसे उत्तम सर्वार्थसिद्धिसे आये थे इसलिए वे 'गौतम' इस नामको भी प्राप्त हुए थे ॥ २६५ ॥ 'काश्य' तेजको कहते हैं भगवान् वृषभदेव उस तेजके रक्षक थे इसलिए 'काश्यप' कहलाते थे उन्होंने प्रजाकी आजीविकाके उपायोंका भी मनन किया था इसलिए वे मनु और कुलधर भी कहलाते थे ॥ २६६ ॥ इनके सिवाय तीनों जगत्के स्वामी और विनाशरहित भगवान्को प्रजा 'विधाता' 'विश्वकर्मा' और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामोंसे पुकारती थी ॥ २६७ ॥ भगवान्का राज्यकाल तिरसठ लाख पूर्व नियमित था सो उनका वह भारी काल, पुत्र-पौत्र आदि-से घिरे रहनेके कारण बिना जाने ही व्यतीत हो गया अर्थात् पुत्र-पौत्र आदिके सुखका अनुभव करते हुए उन्हें इस बातका पता भी नहीं चला कि मुझे राज्य करते समय कितना समय हो गया है ॥ २६८ ॥ महादेदीप्यमान भगवान् वृषभदेवने अयोध्याके राज्यसिंहासनपर आसीन होकर पुण्योदयसे प्राप्त हुई साम्राज्यलक्ष्मीका सुखसे अनुभव किया था ॥ २६९ ॥ इस प्रकार सुर और

१. नृणाम् । २. वंशश्रेष्ठः । ३. प्राप्यम् । ४. तथा अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ५. संविभागां करोति स्म । समुद्रामकरोदित्यर्थः । ६. राज्याजने व०, द०, स०, म०, अ०, प०, ल० । ७. 'कौ, गौ, ऐ शब्दे' इति धातोर्निष्पन्नोऽयं शब्दः । क्वनादित्यर्थः कौत्काररवात् । आकनात् द०, म०, ल० । ८. इक्ष्वाक्याय-यतीति इक्ष्वाकुः । ९. वृवन्ति स्म । १०. सः कालः । ११. सम्प्राप्तम् । १२. भूरिपुण्य ।

सौख्यैरगाद् धृतिं सचिन्त्य धृतिः स धीरः^१

पुण्यार्जने कुरुत यत्नमतो बुधेन्द्राः^२ ॥२७०॥

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्याद्

बीजादिना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः^३ ।

पुण्यं च दानदमं संयमं सत्यं शौचं^४

त्यागक्षमा^५ क्षिप्रभवेष्टितमूलं^६ मिष्टम् ॥२७१॥

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः

साध्याश्च^७ मैत्रं^८ मपुन^९ भवभावनिष्ठम्^{१०}

आर्हन्त्यमन्तरहिता^{११} शिलसौख्यमस्यम् ॥२७२॥

तस्माद् बुधाः कुरुत धर्ममवाप्तुकामाः

स्वर्गापवर्गसुखमग्रमचिन्त्य^{१२} सारम् ।

प्राप्य^{१३} सोऽभ्युदयभोगमनन्तसौख्य-

मानन्त्यमापयति धर्मफलं हि शर्म ॥२७३॥

दानं प्रदत्तं^{१४} सुविता मुनिपुङ्गवेभ्यः

पूजां कुरुष्वमुपनस्य च तीर्थकृद्भ्यः ।

शौछानि पालयत पर्वदिनोपवासान्

विष्मार्ष्ट मा स्म सुभिषः सुखमीप्सवक्षेत् ॥२७४॥

असुरोंके गुरु तथा अचिन्त्य धैर्यके धारण करनेवाले भगवान् धृषभदेवको इन्द्र उनके विशाल पुण्यके संयोगसे भोगोपभोगकी सामग्री भेजता रहता था जिससे वे सुखपूर्वक सन्तोषको प्राप्त होते रहते थे । इसलिए हे पण्डितजन, पुण्योपार्जन करनेमें प्रयत्न करो ॥२७०॥ इस संसारमें पुण्यसे ही सुख प्राप्त होता है । जिस प्रकार बीजके बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्यके बिना सुख नहीं होता । दान देना, इन्द्रियोंको वश करना, संयम धारण करना, सत्य-भाषण करना, लोभका त्याग करना, और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओंसे अभिलषित पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥२७१॥ सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदिके उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्तीका साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहन्त पद और अन्तरहित समस्त सुख देनेवाला श्रेष्ठ निर्वाण पद इन सभीकी प्राप्ति एक पुण्यसे ही होती है इसलिए हे पण्डितजन, यदि स्वर्ग और मोक्षके अचिन्त्य महिमावाले श्रेष्ठ सुख प्राप्त करना चाहते हो तो धर्म करो क्योंकि वह धर्म ही स्वर्गके भोग और मोक्षके अविनाशी अनन्त सुखकी प्राप्ति कराता है । वास्तवमें सुखप्राप्ति होता धर्मका ही फल है ॥२७२-२७३॥ हे सुधीजन, यदि तुम

१. सन्तोषम् । २. अचिन्त्यधैर्यः । ३. धियं रातीति धीरः । प्रकृष्टज्ञानीत्यर्थः । ४. अङ्कुराणि । ५. इन्द्रियनिग्रहः । ६. 'वनसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां क्रमेण धारणपालननिग्रहयोगजयाः संयमः । [वदसमिदिकसायणं दंडाणं सहिदियाण पंचण्डं । धारणपालननिग्रहयोगजयो संजमो भणिओ]-जीवकाण्ड । ७. प्रशस्तजने साधुवचनम् । ८. प्रकर्षलोभनिवृत्तिः । ९. बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यजनम् । १०. दुष्टजनकृताक्रोश-प्रहसनावजाताङ्गादिप्राप्तौ कालुष्याभावः क्षमा । ११. कारणम् । १२. गोः सः । १३. चक्रित्वम् । १४. इन्द्रपदम् । १५. पुनर्न भवतीत्यपुनर्भवः अपुनर्भवभावस्य निष्ठा निष्पत्तिर्यस्य तत् । १६. मोक्षसुखम् । १७. अचिन्त्यमाहात्म्यम् । १८. नीत्या । १९. सः धर्मः । २०. प्रदद्वस्वम् । 'दाण् दाने लोट' । २१. मा विस्मरत ।

शार्दूलयिमीक्षितम्

स आमानिति निश्चयमंगनिरतः पुत्रैश्च पौत्रनिजै

रारुढप्रणयैरुपाहितधृतिः सिंहासनाध्यासितः ।

शक्रावकेन्दुपुरस्सरैः सुरवरैर्व्यूढोत्कलसञ्ज्ञासनः

शास्ति स्माप्रतिशासनो भुवमिमामासिन्धुसीमां^१ जितः ॥२७५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीति त्रिपष्टिलक्ष्णश्रीआदिपुराणसंग्रहे भगवत्साम्राज्यवर्णनं
नाम षोडशं पर्व ॥१६॥

शार्दूलयिमीक्षितम् :- आमानं अर्थात् सुविश्रिततागत अंग आश्रय

सुख प्राप्त करना चाहते हो तो हर्षित होकर श्रेष्ठ मुनियोंके लिए दान दो, तीर्थंकरोंको नमस्कार कर उनकी पूजा करो, शीलव्रतोंका पालन करो और पर्वके दिनोंमें उपवास करना नहीं भूलो ॥२७४॥ इस प्रकार जो प्रशस्त लक्ष्मीके स्वामी थे, स्थिर रहनेवाले भोगोंका अनुभव करते थे, स्नेह रखनेवाले अपने पुत्र पौत्रोंके साथ सन्तोष धारण करते थे । इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा आदि उत्तम-उत्तम देव जिनकी आज्ञा धारण करते थे, और जिनपर किसीकी आज्ञा नहीं चलती थी ऐसे भगवान् वृषभदेव सिंहासनपर आरुढ़ होकर इस समुद्रान्त पृथिवीका शासन करते थे ॥२७५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्ष्ण आदिपुराणसंग्रहमें भगवान्के साम्राज्यका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१६॥

सप्तदशं पर्व

अथान्येष्टुर्महास्थानमध्ये नृपशतैर्भूतः । स सिंहासनमध्यास्त यधार्को नैषधं तटम् ॥१॥

तथासीनं च तं द्रव्यं देवराट् पर्युपासितुम् । साप्सराः सङ्गन्धर्वः ससं पर्यमुपासदत् ॥२॥

ततो यथोचितं स्थानमध्यासिद्धाधिविष्टरम् । अयन्नुदयसूयस्थमर्कमात्मायतेजसा ॥३॥

“आरिराधयितुं द्रव्यं सुरराट् भक्तिनिभैः” । प्रायुजत् सगन्धर्वं नृत्यमाप्सरसं तदा ॥४॥

तन्मृत्यं सुरनारीणां सतोऽस्यारञ्जयत् प्रभोः । स्फाटिको हि मणिः शुद्धोऽप्यादत्ते रागमन्यतः ॥५॥

राज्यभोगात् कथं नाम विरज्येद् भगवानिति । प्रक्षीणायुर्दशं पात्रं तदा प्राकुङ्क्त देवराट् ॥६॥

ततो नीलाञ्जना नाम ललिता सुरनर्तकी । रसमावलम्ब्योपेतं नटन्ती सपरिक्रमम् ॥७॥

क्षणादवश्यतां प्राप किलायुर्दीपसंक्षये । प्रभातरलितां मूर्तिं दधाना तद्विदुज्ज्वलाम् ॥८॥

अथानन्तर किसी एक दिन सैकड़ों राजाओंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेव विशाल सभामण्डपके मध्यभागमें सिंहासनपर ऐसे विराजमान थे, जैसे निपथ पर्वतके तटभागपर सूर्य विराजमान होता है ॥१॥ उस प्रकार सिंहासनपर विराजमान भगवान्की सेवा करनेके लिए इन्द्र, अप्सराओं और देवोंके साथ, पूजाकी सामग्री लेकर वहाँ आया ॥२॥ और अपने तेजसे उदयाचलके मस्तकपर स्थित सूर्यको जीतता हुआ अपने योग्य सिंहासनपर जा बैठा ॥३॥ भक्तिविभोर इन्द्रने भगवान्की आराधना करनेकी इच्छासे उस समय अप्सराओं और गन्धर्वोंका नृत्य कराना प्रारम्भ किया ॥४॥ उस नृत्यने भगवान् वृषभदेवके मनको भी अनुरक्त बना दिया था सो ठीक ही है, अत्यन्त शुद्ध स्फाटिकमणि भी अन्य पदार्थोंके संसर्गसे राग अर्थात् लालिमा धारण करता है ॥५॥ भगवान् राज्य और भोगोंसे किस प्रकार विरक्त होंगे यह विचारकर इन्द्रने उस समय नृत्य करनेके लिए एक ऐसे पात्रको नियुक्त किया जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गयी थी ॥६॥ तदनन्तर वह अत्यन्त सुन्दरी नीलाञ्जना नामकी देवनर्तकी रस, भाव और लयसहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी कि इसनेमें ही आयुरूपी दीपकके क्षय होनेसे वह क्षण-भरमें अदृश्य हो गयी । जिस प्रकार बिजलीरूपी लता देखते-देखते क्षण-भरमें नष्ट हो जाती है उसी प्रकार प्रभासे चंचल और बिजलीके समान उज्ज्वल मूर्तिको धारण करनेवाली वह देवी देखते-देखते ही क्षण-भरमें नष्ट हो गयी थी । उसके नष्ट होते ही इन्द्रने रसभंगके भयसे उस स्थानपर उसीके समान शरीरवाली दूसरी देवी खड़ी कर दी जिससे नृत्य ज्योंका-त्यों

१. इन्द्रः । २. आराधयितुम् । ३. पूजमा सहितं यथा भवति तथा । ४. अध्यास्ते स्म । ५. आराधयितुमिच्छुः । ६. अतिशयः । ७. प्रयोजयति स्म । ८. सगन्धर्वो ५०, स०, ६०, ७० । ९. अप्सरसामिदम् । १०. अपाकुसुमादेः । ११. प्रणष्टायुष्वावस्थम् । १२. पदचारिभिः सहितं यथा भवति तथा ।

सौदामिनी लतेवासौ दृष्ट्वा मवत् क्षणात् । रसभङ्गमयादिन्द्रः^१ संदधेऽत्रापरं वपुः ॥९॥
 तदेव स्थानकं रम्यं सा भूमिः^२ स^३ वीरक्रमः^४ । तथापि भगवान् वेद तत्स्वरूपान्तरं तदा ॥१०॥
 ततोऽस्य चेतसीत्यासीच्चिन्ताभोगाद् विरज्यतः^५ । परां संवेगनिर्वेदभावनामुपजग्मुषः ॥११॥
 ग्रहो जगदिदं भक्तिं^६ श्रोस्तदिदं लक्ष्मीचला । यौवनं वपुरारोग्यमैश्वर्यं च चलाचलम् ॥१२॥
 रूपयौवनसौभाग्यमदोन्मत्तः पृथग्जनः^७ । बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं किं न्वर्त्त न^८ धिनश्चरम् ॥१३॥
 सन्ध्यारागनिभा रूपशोभा तारुण्यमुज्ज्वलम् । पल्लवच्छविवत् सद्यः पस्मिलानिमुपावसुते ॥१४॥
 यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि । विषवल्लीनिभा भोगसंपदो भक्तिं जीवितम् ॥१५॥
 घटिका^९ जलधारेव गलत्यायुःस्थितिर्दुर्लभम् । शरीरमिदमत्यन्तपूतियन्धि अगुप्सितम् ॥१६॥
 निःसारे खलु संसारे सुखलेशोपि दुर्लभः । दुःखमेव महत्तस्मिन् सुखं^{१०} काम्यति मन्दधोः ॥१७॥
 नरकेषु यदेतेन दुःखमासेवितं महत् । तच्चेत्स्मर्येत कः कुर्याद् भोगेषु स्पृहयालुताम् ॥१८॥
 नूनमार्तधिया भुक्ता सांगाः सर्वेऽपि देहिनाम् । दुःखरूपेण पच्यन्ते निरये निरयोदये^{११} ॥१९॥
 स्वप्नजं च सुखं नास्ति नरके दुःखभूयसि । दुःखं दुःखानुबन्धेव यतस्तत्र दिवानिशम् ॥२०॥
 ततो विनिःसृतो जन्तुस्तैरश्चं दुःखमायतम्^{१२} । स्वप्नात्करोति^{१३} मन्दारमा नानायोनिषु पर्यटन् ॥२१॥

चलता रहा । यद्यपि दूसरी बेबी खड़ी कर देनेके बाद भी वही मनोहर स्थान था, वही मनोहर भूमि थी और वही नृत्यका परिक्रम था तथापि भगवान् वृषभदेवने उसी समय उसके स्वरूप-का अन्तर जान लिया था ॥१०-१॥ तदनन्तर भोगोंसे विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावनाको प्राप्त हुए भगवान् के चित्तमें इस प्रकार चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥११॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह जगत् विनश्चर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लताके समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल हैं ॥१२॥ रूप, यौवन और सौभाग्यके मदसे उन्मत्त हुआ अज्ञ पुरुष इन सबमें स्थिर बुद्धि करता है परन्तु उनमें कौन-सी वस्तु विनश्चर नहीं है ? अर्थात् सभी वस्तुएँ विनश्चर हैं ॥१३॥ यह रूपकी शोभा सन्ध्या कालकी लालीके समान क्षण-भरमें नष्ट हो जाती है और उज्ज्वल तारुण्य अवस्था पल्लवकी कान्तिके समान शीघ्र ही म्लान हो जाती है ॥१४॥ वनमें पैदा हुई लताओंके पुष्पोंके समान यह यौवन शीघ्र ही नष्ट हो जाने-वाला है, भोग सम्पदाएँ विषवेलके समान हैं और जीवन विनश्चर है ॥१५॥ यह आयुकी स्थिति घटीयन्त्रके जलकी धाराके समान शीघ्रताके साथ गलती जा रही है—कम होती जा रही है और यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित तथा घृणा उत्पन्न करनेवाला है ॥१६॥ यह निश्चय है कि इस असार संसारमें सुखका लेश मात्र भी दुर्लभ है और दुःख बड़ा भारी है फिर भी आश्चर्य है कि मन्दबुद्धि पुरुष उसमें सुखकी इच्छा करते हैं ॥१७॥ इस जीवने नरकोंमें जो महान् दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाये तो फिर ऐसा कौन है, जो उन भोगोंकी इच्छा करे ॥१८॥ निरन्तर आर्तध्यान करनेवाले जीव जितने कुल भोगोंका अनुभव करते हैं वे सब उन्हें अत्यन्त असाताके उदयसे भरे हुए नरकोंमें दुःखरूप होकर उदय आते हैं ॥१९॥ दुःखोंसे भरे हुए नरकोंमें कभी स्वप्नमें भी सुख प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ रात-दिन दुःख ही दुःख रहता है और ऐसा दुःख जो कि दुःखके कारणभूत असाता कर्मका बन्ध करनेवाला होता है ॥२०॥ उन नरकोंसे किसी तरह निकलकर यह मूर्ख जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण

१. संयोजयति स्म । २. बहुरूपम् । ३. पदधारिः । ४. विरक्ति गतस्य । ५. विनाशि । ६. -तदिदं वल्ली -अ०, प०, द०, इ०, म०, स० । ७. पामरः । ८. त्वत् द०, प० । तत्र ल० । ९. धिनश्चरोम् द०, प० । १०. प्रतिमोपरि मुगन्धजलस्रवणार्थं धृतजलधारावत् । ११. सुखमिच्छत्यात्मनः । मुखकाम्यति व० । १२. अपोदयान्तिष्कान्ते शुभकर्मद्वयहिते इत्यर्थः । १३. दीर्घं भूयिष्ठमित्यर्थः । १४. स्वाधीनं करोति ।

पृथिव्यामसु बह्वो च पवने सवनस्पती । बंध्मयते महादुःखमश्नुवानो यथाज्ञकः ॥२२॥
 खननोत्पापनज्जालिज्ज्वालाविध्यापनैरपि । घनाभिघातैस्तेष्वेव दुःखं तत्रैति दुस्तरम् ॥२३॥
 सूक्ष्मबादरपर्याप्तं तद्विपश्चात्प्रयोतिषु । पर्यटयसकृज्जीवो घटीयन्त्रस्थितिं दधत् ॥२४॥
 त्रसकायेष्वपि प्राणी बध्नन्धोपरोधनैः । दुःखासिकामवाप्नोति सर्वात्रस्थानुयायिनीम् ॥२५॥
 जन्मदुःखं ततो दुःखं जरासृत्युस्ततोऽधिकम् । इति दुःखशतावर्ते जन्माश्च स निमग्नवान् ॥२६॥
 क्षणाक्षयन् क्षणाज्जीर्यन् क्षणाज्जन्म समाप्नुवन् । जन्मसृत्युजरातद्वपद्वे मज्जति गौरिव ॥२७॥
 अनन्तं कालमित्यश्रितयं कस्मै दुःखमश्नुते । दुःखस्य हि परं धाम तिर्यक्त्वं मन्वते जिनाः ॥२८॥
 ततः कृच्छ्राद् विनिःसृत्य शिथिले दुष्कृते मनाक् । मनुष्यभावमाप्नाति कर्मसारथिवादिभिः ॥२९॥
 तत्रापि विविधं दुःखं शारीरं चैव मानसम् । प्राप्नोत्यनिचक्षुरेवात्मा निरुद्धः कर्मशत्रुभिः ॥३०॥
 पराराधनदारिद्र्यचिन्ता शोकादिसम्भवम् । दुःखं महन्मनुष्याणां प्रत्यक्षं नरकायते ॥३१॥
 शरीरशकटं दुःखदुर्माणैः परिपूरितम् । दिनैस्त्रिचतुरैरेव पर्यस्यति न संशयः ॥३२॥
 दिव्यमावे किलैतेषां सुखमावत्त्वं शरीरिणाम् । तत्रापि त्रिविधाद् वातः परं दुःखं दुहतरम् ॥३३॥

करता हुआ तिर्यच गतिके बड़े भारी दुःख भोगता है ॥२१॥ बड़े दुःखकी बात है कि यह अज्ञानी जीव पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंमें भारी दुःख भोगता हुआ निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥२२॥ यह जीव उन पृथिवी-कायिक आवि पर्यायोंमें खोटा जाना, जलती हुई अग्निमें तपाया जाना, बुझाया जाना, अनेक कठोर वस्तुओंसे टकरा जाना, तथा छेदा-भेदा जाना आदिके कारण भारी दुःख पाता है ॥२३॥ यह जीव घटीयन्त्रकी स्थितिको धारण करता हुआ सूक्ष्म बादर पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक अवस्थामें अनेक बार परिभ्रमण करता रहता है ॥२४॥ त्रस पर्यायमें भी यह प्राणी मारा जाना, बाँधा जाना और रोका जाना आदिके द्वारा जीवनपर्यन्त अनेक दुःख प्राप्त करता रहता है ॥२५॥ सबसे प्रथम इसे जन्म अर्थात् पैदा होनेका दुःख उठाना पड़ता है, उसके अनन्तर बुढ़ापाका दुःख और फिर उससे भी अधिक मृत्युका दुःख भोगना पड़ता है, इस प्रकार सैकड़ों दुःखरूपी भँवरसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें यह जीव सदा डूबा रहता है ॥२६॥ यह जीव क्षण-भरमें नष्ट हो जाता है, क्षण-भरमें जीर्ण (बृद्ध) हो जाता है और क्षण-भरमें फिर जन्म धारण कर लेता है इस प्रकार जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोगरूपी कीचड़में गायकी तरह सदा फँसा रहता है ॥२७॥ इस प्रकार यह अज्ञानी जीव तिर्यच योनिमें असन्त कालतक दुःख भोगता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्रदेव भी यही मानते हैं कि तिर्यच योनि दुःखोंका सबसे बड़ा स्थान है ॥२८॥ तदनन्तर अशुभ कर्मोंके कुछ-कुछ मन्व होनेपर यह जीव उस तिर्यच योनिसे बड़ी कठिनतासे बाहर निकलता है और कर्मरूपी सारथिसे प्रेरित होकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता है ॥२९॥ वहाँपर भी यह जीव यद्यपि दुःखोंकी इच्छा नहीं करता है तथापि इसे कर्मरूपी शत्रुओंसे निरुद्ध होकर अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं ॥३०॥ दूसरोंकी सेवा करना, दरिद्रता, चिन्ता और शोक आदिसे मनुष्योंको जो बड़े भारी दुःख प्राप्त होते हैं वे प्रत्यक्ष नरकके समान जान पड़ते हैं ॥३१॥ यथार्थमें मनुष्योंका यह शरीर एक गाड़ीके समान है जो कि दुःखरूपी खोटे बरतनोसे भरी है इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि यह शरीररूपी गाड़ी तीन चार दिनमें ही उलट जायेगी-नष्ट हो जायेगी ॥३२॥ यद्यपि देवपर्यायमें जीवोंको कुछ सुख प्राप्त होता है

१. अग्निज्वालाप्रशमनैः । २. मेघताडनैः । ३. सूक्ष्मबादरापर्याप्तः । ४. दुःखस्थिताम् ।
 ५. बाल्याद्यवस्थाऽनुयायिनीम् । ६. प्रत्यक्षं न-६० । ७. भाण्डैरतिपूरितम् । ८. प्रणश्यति । ९. देवत्वे ।

तत्रापोष्टविभ्रमोऽस्ति न्यूनास्तथापि केचन । ततो मानसमेतेषां दुःखं दुःखेन लङ्घ्यते ॥३४॥
 इति संसारचक्रोऽस्मिन् विविधैः परिवर्तनैः । दुःखमाप्नोति दुष्कर्मपरिपाकाद् वराककः ॥३५॥
 'नारीरूपमयं यन्त्रमिदमत्यन्तप्रेतवम्' । पश्यतामेव नः साक्षात् कथमेतद्गाढलयम् ॥३६॥
 रमणीयमिदं सत्त्वा स्त्रीरूपं बहिर्हज्ज्वलम् । पतन्तस्तत्र नश्यन्ति पतङ्ग इव कामुकाः ॥३७॥
 कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरंशिता । नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ॥३८॥
 यथेदमेवमन्यच्च भोगाङ्गं यत् किञ्चिद्विनाशः । मङ्गलं भिद्यन्तपशुः केवलं लब्धलाभकम् ॥३९॥
 किं किलाभरणैर्भारैः किं मलैरनुलेपनैः । उन्मत्तचेष्टितैर्नृत्तैरलं गीतैश्च शोषितैः ॥४०॥
 यद्यस्ति स्वगता शोभा किं किलालंकृतैः कृतम् । यदि नास्ति स्वतः शोभा भारैरेभिस्तथापि किम् ॥४१॥
 तस्माद्विनिधिशिष्टं रूपं धिक् संसारमसारकम् । 'राज्यभोगं धिगस्त्वेनं धिग्धिगाकालिकीः' धियः ॥४२॥
 इति निर्विघ्नं^१ मांगेभ्यो विरक्तात्मा सनातनः । सुकृतावुत्तिष्ठते^२ समाशु काललब्धिमुपाश्रितः ॥४३॥
 तदा^३ विशुद्धयस्तस्य हृदये पदमादधुः । मुक्तिलक्ष्म्येव^४ संविष्टास्तत्सख्यः संसुखागताः ॥४४॥
 तदास्य सर्वमप्येतत्^५ शून्यवत् प्रत्यभासत । मुक्त्यङ्गनासमासंगे परां चिन्तामुपेयुषः ॥४५॥

तथापि जय स्वर्गसे इसका पतन होता है तब इसे सबसे अधिक दुःख होता है ॥३३॥ उस देवपर्यायमें भी इष्टका वियोग होता है और कितने ही देव अल्पविभूतिके धारक होते हैं जो कि अपनेसे अधिक विभूतिवालेको देखकर दुःखी होते रहते हैं इसलिए उनका मानसिक दुःख भी बड़े दुःखसे व्यतीत होता है ॥३४॥ इस प्रकार यह बेचारा दीन प्राणी इस संसार-रूपी चक्रमें अपने खोटे कर्मोंके उदयसे अनेक परिवर्तन करता हुआ दुःख पाता रहता है ॥३५॥ देखो, यह अत्यन्त मनोहर स्त्रीरूपी यन्त्र (नृत्य करनेवाली नीलाजनाका शरीर) हमारे साक्षात् देखते ही देखते किस प्रकार नाशको प्राप्त हो गया ॥३६॥ बाहरसे उज्ज्वल दिखने-वाले स्त्रीके रूपको अत्यन्त मनोहर मानकर कामोजन उसपर पड़ते हैं और पड़ते ही पतंगोंके समान नष्ट हो जाते हैं—अशुभ कर्मोंका बन्ध कर हमेशाके लिए दुःखी हो जाते हैं ॥३७॥ इन्द्रने जो यह कपट नाटक किया है अर्थात् नीलाजनाका नृत्य कराया है सो अवश्य ही उस बुद्धिमानने सोच-विचारकर केवल हमारे बोध करानेके लिए ही ऐसा किया है ॥३८॥ जिस प्रकार यह नीलाजनाका शरीर भंगुर था—विनाशशील था इसी प्रकार जीवोंके अन्य भोगोपभोगोंके पदार्थ भी भंगुर हैं, अवश्य नष्ट हो जानेवाले हैं और केवल धोखा देनेवाले हैं ॥३९॥ इसलिए भाररूप आभरणोंसे क्या प्रयोजन है, मेलके समान सुगन्धित चन्दनादिके लेपनसे क्या लाभ है, पागल पुरुषकी चेष्टाओंके समान यह नृत्य भी व्यर्थ है और शोकके समान ये गीत भी प्रयोजनरहित हैं ॥४०॥ यदि शरीरकी निजकी शोभा अच्छी है तो फिर अलंकारोंसे क्या करना है और यदि शरीरमें निजकी शोभा नहीं है तो फिर भारस्वरूप इन अलंकारोंसे क्या हो सकता है ? ॥४१॥ इसलिए इस रूपको धिक्कार है, इस असार संसारको धिक्कार है, इस राज्य-भोगको धिक्कार है और विजलीके समान चंचल इस लक्ष्मीको धिक्कार है ॥४२॥ इस प्रकार जिनकी आत्मा विरक्त हो गयी है ऐसे भगवान् वृषभदेव भोगोंसे विरक्त हुए और काललब्धिको पाकर शीघ्र ही मुक्तिके लिए उद्योग करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्के हृदयमें विशुद्धियोंने अपना स्थान जमा लिया था और वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मुक्ति-रूपी लक्ष्मीके द्वारा प्रेरित हुई उसकी सखियाँ ही सामने आकर उपस्थित हुई हों ॥४४॥ उस

१. नीलाञ्जनारूप । २. निस्सारम् । चञ्चलम् । ३. कपट । ४. विनश्यत् । ५. वञ्चकम् ।
 ६. शोकः । ७. तर्हि । ८. राज्यं भोगं अ०, प०, इ०, स० । ९. विद्युदिव चञ्चलां लक्ष्मीम् ।
 १०. निर्विघ्नो सत्त्वा । ११. उद्धृतो बभूव । १२. विशुद्धिपरिणामाः । १३. प्रेषिताः । १४. जगत्स्थम् ।

सौभमेन्द्रस्वनोऽगोधि दुरोरन्तःसर्माहितम्^१ । प्रयुक्तावधिरीशस्य बोधिर्जातेति तत्क्षणम् ॥४६॥
 प्रभोः प्रबोधमाधातुं^२ ततो लौकान्तिकासराः । पारनिष्क्रमणेऽप्यर्थे ब्रह्मलोकादवातरन् ॥४७॥
 ते च सारस्वतादित्यौ वह्निश्चरुण एव च । गर्दतोयः सतुषितोऽव्यावाधोऽरिष्ट एव च ॥४८॥
 हृष्यष्टधा निकायाख्या^३ दधाना त्रिभुधोत्तमाः । प्रारम्भवेऽभ्यस्तनिःशेषश्रुतार्थाः शुभभावनाः ॥४९॥
 ब्रह्मलोकाख्याः सौम्याः शुभलेख्या महत्तिकाः । तल्लोकान्तनिवासिन्नाद् गता लौकान्तिकश्रुतिम् ॥५०॥
 दिव्यहंसा विरंजुस्ते^४ शिबोरुपुकिनोत्सुकाः । परिनिष्कान्तिकख्याणं शरदागमशंसिनः ॥५१॥
 सुमनोऽञ्जलया मुक्ता वसुकीकान्तिकामरैः । विभोरुपासितुं पादौ स्वविशामा इवापिताः ॥५२॥
 तेऽभ्यर्थ्य भगवत्पादौ प्रसूनैः सुरभूरुहाम् । ततः स्तुतिमिरथ्याभिः स्तोतुं प्रारंभिरे विभुम् ॥५३॥
 मोहारित्रिजयोद्योगमधुना संविधिरसुना । भगवन् भव्यलोकस्य^५ बन्धुकृत्यं त्वयेदितम्^६ ॥५४॥
 त्वं देव परमं ज्योतिर^७ चा माहः कारणं परम् । त्वमिदं विश्वमज्ञानप्रपाताद्बुद्धिरिष्यति ॥५५॥
 त्वयोद्यो दीशितं धर्मसाधनमासाद्य^८ दुस्तरम् । भव्याः संसारमोमाविभुसुरिष्यन्ति^९ हेलया ॥५६॥
 तव वागंशयो दीप्ता^{१०} द्यौतयन्तोऽखिलं जगत् । भव्यपद्माकरे बोधमाधास्यन्ति^{११} रवेरिव ॥५७॥

समय भगवान् मुक्तिरूपी अंगनाके समागमके लिए अत्यन्त चिन्ताको प्राप्त हो रहे थे इसलिए उन्हें यह सारा जगत् शून्य प्रतिभासित हो रहा था ॥४५॥ भगवान् वृषभदेवको बोध उत्पन्न हो गया है अर्थात् वे अब संसारसे विरक्त हो गए हैं वे जगद्गुरु भगवान् के अन्तःकरणकी समस्त चेष्टाएँ इन्द्रने अपने अवधिज्ञानसे उसी समय जान ली थी ॥४६॥ उसी समय भगवान् को प्रबोध करानेके लिए और उनके तप कल्याणककी पूजा करनेके लिए लौकान्तिक देव ब्रह्मलोकसे उतरे ॥४७॥ वे लौकान्तिक देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्यावाध और अरिष्ट इस तरह आठ प्रकारके हैं। वे सभी देवोंमें उत्तम होते हैं। वे पूर्वभवं में सम्पूर्ण श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं। उनकी भावनाएँ शुभ रहती हैं। वे ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवें स्वर्गमें रहते हैं, सदा शान्त रहते हैं, उनकी लेश्याएँ शुभ होती हैं, वे बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले होते हैं और ब्रह्मलोकके अन्तमें निवास करनेके कारण लौकान्तिक इस नामको प्राप्त हुए हैं ॥४८-५०॥ वे लौकान्तिक स्वर्गके हंसोंके समान जान पड़ते थे, क्योंकि वे मुक्तिरूपी नदीके तटपर निवास करनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे थे और भगवान् के दीक्षा-कल्याणकरूपी शरद् ऋतुके आगमनकी सूचना कर रहे थे ॥५१॥ उन लौकान्तिक देवोंने आकर जो पुष्पाञ्जलि छोड़ी थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उन्होंने भगवान् के चरणोंकी उपासना करनेके लिए अपने चित्तके अंश ही समर्पित किए हों ॥५२॥ उन देवोंने प्रथम ही कल्पवृक्षके फूलोंसे भगवान् के चरणोंकी पूजा की और फिर अर्धसे भरे हुए स्तोत्रोंसे भगवान् की स्तुति करना प्रारम्भ की ॥५३॥ हे भगवन्, इस समय जो आपने मोहरूपी शत्रुको जीतनेके उद्योगकी इच्छा की है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपने भव्यजीवोंके साथ भाईपनेका कार्य करनेका विचार किया है अर्थात् भाईकी तरह भव्य जीवोंकी सहायता करनेका विचार किया है ॥५४॥ हे देव, आप परम ज्योति स्वरूप हैं, सब लोग आपको समस्त कार्योंका उत्तम कारण कहते हैं और हे देव, आप ही अज्ञानरूपी प्रपातसे संसारका उद्धार करेंगे ॥५५॥ हे देव, आज आपके द्वारा दिखलाये हुए धर्मरूपी तीर्थको पाकर भव्यजीव इस दुस्तर और भयानक संसार-रूपी समुद्रसे लीला मात्रमें पार हो जायेंगे ॥५६॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्यकी देदीप्यमान

१. अन्तरङ्गसमाधानम् । २. तदा म०, ल० । ३. अवतरन्ति स्म । ४. समुदायसंख्याम् । ५. मोक्ष-पुस्तकत । ६. शरदारम्भ-प०, अ०, इ०, द०, म० । ७. बन्धुत्वम् । ८. चेष्टितम् । ९. त्वमेव कारणं इ०, अ०, स० । १०. दुस्तरात् ल०, म० । ११. भीभाव्येकस-ल०, म० । १२. दीप्ता ल०, म० । १३. करिष्यन्ति ।

धातारमाप्नन्ति त्वां जेतारं कर्मत्रिद्विषाम् । नेतारं धर्मतीर्थस्य त्रातारं च जगद्गुरुम् ॥५८॥
 मोहपङ्के महत्स्वस्मिन् जगन्मग्नमशेषतः । धर्महस्तावलम्बेन त्वया^१ महद्भूदरिष्यते ॥५९॥
 त्वं स्वयंभूः स्वयंबुद्धसन्मार्गो मुक्तिपद्धतिम् । यत्प्रबोधयिता^२ स्यस्मान्कस्मात् करुणार्द्रधीः ॥६०॥
 त्वं बुद्धोऽसि स्वयंबुद्धः त्रयोधामल्लोचनः । यद्वेरिस्^३ स्वत एवाद्य मोक्षस्य पदवीं प्रयीम्^४ ॥६१॥
 स्वयं प्रबुद्धसन्मार्गस्त्वं न बोध्योऽस्मदादिभिः । किन्वास्माको^५ नियोगोऽयं सुखरीकुरुतेऽद्य नः ॥६२॥
 जगत्प्रबोधनोद्योगे न स्वमन्यैर्नियुज्यसे । भुवनोद्योतने किञ्च केनाप्युत्थाप्यतेऽद्युमान् ॥६३॥
 अथवा बोधितोऽप्यस्मात्^६ प्रसन्नपुण्यसंयुक्तः^७ बोधिस्रोतः^८ प्रकाशः^९ प्रबोधनोद्योतकः ॥६४॥
 सद्योजातस्त्वमाद्योऽभूः कल्याणे^{१०} वामतामतः । प्राप्तो^{११} अनन्तरकल्याणे धत्से^{१२} संप्रत्यघोरताम्^{१३} ॥६५॥
 सुवनस्योपकाराय कुरुधोर्गं^{१४} त्वमीक्षितः । त्वां नवाद्दमिवासेऽयं प्रीयन्तां भव्यधातकाः ॥६६॥

किरणें समस्त जगत्को प्रकाशित करती हुई कमलोंको प्रफुल्लित करती हैं उसी प्रकार आपके वचनरूपी देदीप्यमान किरणें भी समस्त संसारको प्रकाशित करती हुई भव्यजीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करेंगी ॥५७॥ हे देव, लोग आपको जगत्का पालन करनेवाले ब्रह्मा मानते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले विजेता मानते हैं, धर्मरूपी तीर्थके नेता मानते हैं और सबकी रक्षा करनेवाले जगद्गुरु मानते हैं ॥५८॥ हे देव, यह समस्त जगत् मोहरूपी बड़ी भारी कीचड़-में कैसा हुआ है इसका आप धर्मरूपी हाथका सहारा देकर शीघ्र ही उद्धार करेंगे ॥५९॥ हे देव, आप स्वयंभू हैं, आपने मोक्षमार्गको स्वयं जान लिया है और आप हम सबको मुक्तिके मार्गका उपदेश देंगे इससे सिद्ध होता है कि आपका हृदय बिना कारण ही करुणासे आर्द्र है ॥६०॥ हे भगवन्, आप स्वयं बुद्ध हैं, आप मति-श्रुत और अवधि ज्ञानरूपी तीन निर्मल नेत्रोंको धारण करनेवाले हैं तथा आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंकी एकता रूपी मोक्षमार्गको अपने आप ही जान लिया है इसलिए आप बुद्ध हैं ॥६१॥ हे देव, आपने सन्मार्ग-का स्वरूप स्वयं जान लिया है इसलिए हमारे-जैसे देवोंके द्वारा आप प्रबोध करानेके योग्य नहीं हैं तथापि हम लोगोंका यह नियोग ही आज हम लोगोंको बाधालित कर रहा है ॥६२॥ हे नाथ, समस्त जगत्को प्रबोध करानेका उद्योग करनेके लिए आपको कोई अन्य प्रेरणा नहीं कर सकता सो ठीक ही है क्योंकि समस्त जगत्को प्रकाशित करनेके लिए क्या सूर्यको कोई अन्य उकसाता है ? अर्थात् नहीं । भावार्थ-जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत्को प्रकाशित करने-के लिए स्वयं तत्पर रहता है उसी प्रकार समस्त जगत्को प्रबुद्ध करनेके लिए आप स्वयं तत्पर रहते हैं ॥६३॥ अथवा हे जन्म-मरणरहित जिनेन्द्र, आप हमारे-द्वारा प्रबोधित होकर भी हम लोगोंको उसी प्रकार प्रबोधित करेंगे जिस प्रकार जलाया हुआ दीपक संसारका उपकारक होता है अर्थात् सबको प्रकाशित करता है ॥६४॥ हे भगवन्, आप प्रथम गर्भकल्याणकमें सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही अवतार लेनेवाले कहलाये, द्वितीय-जन्मकल्याणकमें वामता अर्थात् सुन्दरताको प्राप्त हुए और अब उसके अनन्तर तृतीय-तपकल्याणकमें अघोरता अर्थात् सौम्यता-को धारण कर रहे हैं ॥६५॥ हे स्वामिन, आप संसारके उपकारके लिए उद्योग कीजिए, ये

१. सपदि । २. मोक्षमार्गम् । ३. यत् कारणात् । ४. बोधयिष्यन्ति । ५. कारणमन्तरेण यतः स्व-यम्बुद्धसन्मार्गस्ततः । यत् यस्मात् कारणात् अस्मान् मुक्तिपद्धतिमकस्मात् प्रबोधयितासि तस्मात् करुणार्द्रधीः करुणायाः कार्यदर्शनात् उपचारात् करुणार्द्रधीरित्युच्यते । मुख्यतः मोहनीयकार्यभूतायाः करुणाया अभावात् । ६. जानामि । ७. रत्नत्रयम् इत्यर्थः । ८. अस्मत्संबन्धी । किन्वास्माकं अ०, प०, इ०, स० । ९. मनोहर-ताम् । वामतां मतः स०, ल० । १०. प्राप्तेऽनन्तर-स०, ल० । ११. परिनिष्क्रमणकल्याणे । १२. सुखकारि-ताम् । १३. भूनाथः ।

तव धर्मानृतं स्रष्टुमेष कालः सनातनः । धर्मसृष्टिमतो देव विधानुं धातरहसि ॥६७॥
जय त्वमोक्ष कर्मासीन् जय मोहमहासुरम् । परीषहमटान् दृष्टान् विजयस्व तपोयलान् ॥६८॥
उत्तिष्ठतां भवान् मुक्तौ भुक्तेर्मोहैरलंतराम् । न स्वादान्तरमेतु स्याद् भूयोऽप्यनुभवोऽङ्गिनाम् ॥६९॥
इति लौकान्तिकैर्देवैः स्तुथानैरुपनाथितः । परिनिष्क्रमणे बुद्धिमधाद् धाता द्रवीयसीम् ॥७०॥
तावत्तैव नियोगेन कृतार्थास्ते दिवं धनुः । हंसा इव नभोयोथीं धीतयन्तोऽङ्गदीप्तिभिः ॥७१॥
तावत्स नाकिनां नैकविक्रियाः कम्पितासनाः । पुरोऽभवन् पुरो रस्य पुरोधाय पुरंदरम् ॥७२॥
नभोऽङ्गणमथारुह्य तेऽथोध्यां परितः पुरीम् । तस्थुः स्ववाहनामीका नाकिनाथा निकायशः ॥७३॥
ततोऽस्य परिनिष्क्रान्तिमहाकल्याणसंविधौ । महाभिषेकमिन्द्राद्याश्चक्रुः क्षीरार्णवाभ्युभिः ॥७४॥
अभिषिष्य विभुं देवा भूषयाञ्चकुराहताः । दिव्यैर्विभूषणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च मलयोद्भवैः ॥७५॥
ततोऽभिषिष्य साम्राज्ये भरतं सुनुमप्रिमम् । भगवान् भारतं वर्यं तरसनाथं व्यधादिदम् ॥७६॥
यौवराज्ये च तं बाहुबलिनं समतिष्ठिषत् । तदा राजन्वतीत्यासीत् पृथ्वी ताम्भ्यामधिष्ठिता ॥७७॥
परिनिष्क्रान्तिराज्यानुसंक्रान्तिद्वितयोत्सवे । तदा स्वलोकभूलोकावास्ता प्रमदनिर्मरा ॥७८॥

भव्यजीव रूपी चातक नखीन मेघके समान आपकी सेवा कर सन्तुष्ट हों ॥६६॥ हे देव, अनादि प्रवाहसे चला आया यह काल अब आपके धर्मरूपी अमृत उपदेश करनेके योग्य हुआ है इस-लिए हे विधाता, धर्मकी सृष्टि कीजिए—अपने सदुपदेशसे समीचीन धर्मका प्रचार कीजिए ॥६७॥ हे ईश, आप अपने तपोबलसे कर्मरूपी शत्रुओंको जीतिए, मोहरूपी महाअसुरको जीतिए और परीषहरूपी अहंकारी योद्धाओंको भी जीतिए ॥६८॥ हे देव, अब आप मोक्षके लिए उठिए—उद्योग कीजिए, अनेक बार भोगे हुए इन भोगोंको रहने दीजिए—छोड़िए क्योंकि जीवोंके बार-बार भोगनेपर भी इन भोगोंके स्वादमें कुछ भी अन्तर नहीं आता—नूतनता नहीं आती ॥६९॥ इस प्रकार स्तुति करते हुए लौकान्तिक देवोंने तपश्चरण करनेके लिए जिनसे प्रार्थना की है ऐसे ब्रह्मा—भगवान् वृषभदेवने तपश्चरण करनेमें—दीक्षा धारण करनेमें अपनी वृद्ध बुद्धि लगायी ॥७०॥ वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोगसे कृतार्थ होकर हंसीकी तरह शरीरकी कान्तिसे आकाशमार्गको प्रकाशित करते हुए स्वर्गको चले गये ॥७१॥ इतनेमें ही आसनोंके कम्पायमान होनेसे भगवान्के तप-कल्याणकका निश्चय कर देव लोग अपने-अपने इन्द्रोंके साथ अनेक विक्रियाओंको धारण कर प्रकट होने लगे ॥७२॥

अथानन्तर समस्त इन्द्र अपने वाहनों और अपने-अपने निकायके देवोंके साथ आकाश-रूपी आँगनको व्याप्त करते हुए आये और अयोध्यापुरीके चारों ओर आकाशको घेरकर अपने-अपने निकायके अनुसार ठहर गये ॥७३॥ तदनन्तर इन्द्रादिक देवोंने भगवान्के निष्क्रमण अर्थात् तपःकल्याणक करनेके लिए उनका क्षीरसागरके जलसे महाभिषेक किया ॥७४॥ अभिषेक कर चुकनेके बाद देवोंने बड़े आदरके साथ दिव्य आभूषण, वस्त्र, मालाएँ और मलयागिरि चन्दनसे भगवान्का अलंकार किया ॥७५॥ तदनन्तर भगवान् वृषभदेवने साम्राज्य पदपर अपने बड़े पुत्र भरतका अभिषेक कर इस भारतवर्षको उनसे सनाथ किया ॥७६॥ और युवराज पदपर बाहुबलीको स्थापित किया । इस प्रकार उस समय यह पृथिवी उक्त दोनों भाइयोंसे अधिष्ठित होनेके कारण राजन्वती अर्थात् सुयोग्य राजासे सहित हुई थी ॥७७॥ उस समय भगवान् वृषभदेवका निष्क्रमणकल्याणक और भरतका राज्याभिषेक हो रहा था इन दोनों

१. पुरोऽभवन् प० । २. पुरोस्य अ०, प० । ३. स्ववाहनामीका प०, अ०, इ०, स०, द०, म०, ल० । ४. वर्यः । ५. तेन भरतेन सस्वाभिकम् । ६. व्याप्तिता । ७. भवेताम् । 'अस् भुवि' लुङ् द्विवचनम् । ८. सन्तोषातिशयो ।

भगवत्परिनिष्क्रान्तिकल्याणोत्सव एकतः । श्रुतिद्विरन्यतो यूयोः पृथ्वीराज्यापणक्षणः ॥७९॥
 बह्वक्षस्तपोराज्ये सज्जो राजधिरैकतः । युवानावन्यतो राज्यलक्ष्म्युद्वाहे कृतोद्यमो ॥८०॥
 एकतः शिविकायाननिर्माणं सुरनालिनान् । वास्तुपेदिभिरारब्धः परार्धो मण्डपोऽन्यतः ॥८१॥
 शर्चादेव्यैकतो रङ्गवल्ल्यादिरचना कृता । देव्याऽन्यतो यशस्वत्या सानन्दं ससुनन्दया ॥८२॥
 एकतो मङ्गलद्वयधारिण्यां दिवकुमारिकाः । अन्यतः कृतनेपथ्या वारमुख्या वरस्त्रियः ॥८३॥
 'सुरवृन्दारकैः प्रीतिर्भगवानेकतो वृतः । क्षत्रियाणां सहस्रेण कुमारान्वयतो वृतो ॥८४॥
 पुष्पाञ्जलिः सुरसुक्तः स्तुवानैर्भर्तुरैकतः । अन्यतः साशिवः शेषाः^५ क्षिताः पौर्युक्शिनोः ॥८५॥
 एकतोऽप्सरसां नृत्तमस्पृष्टधरणीतलम् । सलीलपट्विन्वासमन्यतो वारांगिताम् ॥८६॥
 एकतः सुरसूत्राणां प्रध्वानां रुद्धदिह्मुखः । नान्दीपटहनिर्घोषप्रविजृम्भितमन्यतः ॥८७॥
 एकतः किन्नरारब्धकलमङ्गलनिःक्वणः । अन्यतोऽन्तःपुरस्त्राणां मङ्गलोद्गीतिनिस्वनः ॥८८॥
 एकतः सुरकोटीनां जयकोलाहलध्वनिः । पुण्यपाठकोटीनां संपादध्वनिरन्यतः ॥८९॥

प्रकारके उत्सवोंके समय स्वर्गलोक और पृथिवीलोक दोनों ही हर्षनिर्भर हो रहे थे ॥ ७८ ॥
 उस समय एक ओर तो बड़े वैभवके साथ भगवान्‌के निष्क्रमणकल्याणकका उत्सव हो रहा था
 और दूसरी ओर भरत तथा याहुवली इन दोनों राजकुमारोंके लिए पृथिवीका राज्य समर्पण
 करनेका उत्सव किया जा रहा था ॥७९॥ एक ओर तो राजर्षि-भगवान् वृषभदेव तपस्वी
 राज्यके लिए कमर बाँधकर तैयार हुए थे और दूसरी ओर दोनों तरुण कुमार राज्यलक्ष्मीके
 साथ विवाह करनेके लिए उद्यम कर रहे थे ॥८०॥ एक ओर तो देवोंके शिल्पी भगवानको
 वनमें ले जानेके लिए पालकीका निर्माण कर रहे थे और दूसरी ओर वास्तुविद्या अर्थात् महल
 मण्डप आदि बनानेकी विधि जाननेवाले शिल्पी राजकुमारोंके अभिषेकके लिए बहुमूल्य
 मण्डप बना रहे थे ॥८१॥ एक ओर तो इन्द्राणी देवीने रंगावली आदिकी रचना की थी—रंगीन
 चौक पूरे थे और दूसरी ओर यशस्वती तथा सुनन्दा देवीने बड़े हर्षके साथ रंगावली आदिकी
 रचना की थी—तरह-तरहके सुन्दर चौक पूरे थे ॥८२॥ एक ओर तो दिवकुमारी देवियाँ मंगल
 द्रव्य धारण किए हुई थीं और दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारांगनाएँ मंगल द्रव्य
 लेकर खड़ी हुई थीं ॥८३॥ एक ओर भगवान् वृषभदेव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए श्रेष्ठ देवोंसे चिरे
 हुए थे और दूसरी ओर दोनों राजकुमार हजारों क्षत्रिय-राजाओंसे चिरे हुए थे ॥८४॥ एक
 ओर स्वामी वृषभदेवके सामने स्तुति करते हुए देवलोग पुष्पाञ्जलि छोड़ रहे थे और दूसरी
 ओर पुरवासीजन दोनों राजकुमारोंके सामने आशीर्वादके शेषाश्रत फेंक रहे थे ॥८५॥ एक
 ओर पृथिवीतलको घिना द्युप ही—अधर आकाशमें अप्सराओंका नृत्य हो रहा था और दूसरी
 ओर वारांगनाएँ लीलापूर्वक पद-विन्वास करती हुई नृत्य कर रही थीं ॥८६॥ एक ओर
 समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले देवोंके बाजोंके महान् शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर
 नान्दी पटह आदि मांगलिक बाजोंके घोर शब्द सब ओर फैल रहे थे ॥८७॥ एक ओर किन्नर
 जातिके देवोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए मनोहर मंगल गीतोंके शब्द हो रहे थे और दूसरी
 ओर अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मंगल गानोंकी मधुर ध्वनि हो रही थी ॥८८॥ एक ओर करोड़ों
 देवोंका जय जय ध्वनिका कोलाहल हो रहा था और दूसरी ओर पुण्यपाठ करनेवाले करोड़ों

१. राज्यसमर्पणोत्सवः । "कम्पोऽथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः ।" २. विवाहः । ३. गृहलक्षणः ।
 ४. बह्वस्त्रियः म०, ल० । बहुस्त्रियः ट० । श्रीदेवीसदृशाः । 'मुपः प्राग्वह्वेति' ईश्वरारिसमाप्ती बहुप्रत्ययः ।
 ५. देवमुख्यैः । "वृन्दारको रूपिमुख्यो एके मुख्यान्त्यकेवलः ।" इत्यमरः । ६. आशीभिः सद्गिताः । ७. शेषा-
 क्षताः । ८. प्रविजृम्भणम् । ९. निःस्वनः ल० ।

इत्युच्यते सर्वत्र तस्य प्रभुजनभूजनम् । परमानन्दसादृशममृतद्राजमन्दिरम् ॥९०॥
 चित्ताकर्षणाय भारस्य विभोरधिपुत्रेव्वरम्^१ । परिनिष्क्रमणोद्योगस्तदा जले निराकुलः ॥९१॥
 शोभेभ्योऽपि स्वसूनुभ्यः संविभज्य मर्हामिमाम् । विभुविश्राणयामास^२ निमुंसुक्षुप्तमंभ्रमी^३ ॥९२॥
 सुरेन्द्रनिर्मितां दिव्यां शिविकां स सुदर्शनम् । सनानीक्षामिराजार्द्रानावृष्ट्याकृषदक्षरः^४ ॥९३॥
 सादरं च शचीनाथदत्तहस्तावलम्बनः । प्रतिज्ञामिव दीक्षायामारूढः शिविकां विभुः ॥९४॥
 दीक्षाङ्गनापरिवृक्त^५ परिवर्धितकौतुकः । प्रशय्यां नु^६ समाकूढः स धाता शिविकाञ्जलान् ॥९५॥
 श्रग्वी मलयजालिप्तर्क्षसमूर्तिरलंकृतः । स रेजं शिविकारूढस्तपालक्ष्म्या वरोत्तमः ॥९६॥
 परां विशुद्धिमारूढः प्राक् पञ्चान्नलिविकां विभुः । तदाकरोदिव्यासं गुणश्रेष्ठ्यधिरोहणं ॥९७॥
 पदानि तप्त ताम्रदुः शिविकां प्रथमं नृपाः । ततो विशाधरा निम्युर्व्योम्नि सप्तपदान्तरम् ॥९८॥
 स्कन्धाधिरोपितां कृत्वा ततोऽमूमघिलम्बितम्^७ । सुरासुराः समुत्पेतुरारूढप्रमदोदयाः ॥९९॥
 पर्याप्तमिदमन्त्राल्य प्रभोर्महान्मयशंसनम् । यत्तदा त्रिदिवार्धना जाता^८ शुभ्यकवाहितः ॥१००॥

मनुष्योंके पुण्यपाठका शब्द हो रहा था ॥८९॥ इस प्रकार दोनों ही बड़े-बड़े उत्सवोंमें जहाँ देव और मनुष्य व्यग्र हो रहे हैं ऐसा वह राज-मन्दिर परम आनन्दसे व्याप्त हो रहा था—उसमें सब ओर हर्ष ही हर्ष दिखाई देता था ॥९०॥ भगवानने अपने राज्यका भार दोनों ही युवराजों-को समर्पित कर दिया था इसलिए उस समय उनका दीक्षा लेनेका उद्योग बिलकुल ही निराकुल हो गया था—उन्हें राज्यसम्बन्धी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रही थी ॥९१॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवानने सम्भ्रम-आकुलतासे रहित होकर अपने शेष पुत्रोंके लिए भी यह पृथिवी विभक्त कर बाँट दी थी ॥९२॥ तदनन्तर अक्षर-अविनाशी भगवान्, महाराज नाभिराज आदि परिवारके लोगोंसे पूछकर इन्द्रके द्वारा बनायी हुई सुन्दर सुदर्शन नामकी पालकीपर बैठे ॥९३॥ बड़े आदरके साथ इन्द्रने जिन्हें अपने हाथका सहारा दिया था ऐसे भगवान् वृषभदेव दीक्षा लेनेकी प्रतिज्ञाके समान पालकीपर आरूढ़ हुए थे ॥९४॥ दीक्षारूपी अंगनाके आलि-गन करनेका जिनका कौतुक बढ़ रहा है ऐसे भगवान् वृषभदेव उस पालकीपर आरूढ़ होते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो पालकीके छलसे दीक्षारूपी अंगनाकी श्रेष्ठ शय्यापर ही आरूढ़ हो रहे हों ॥९५॥ जो मालाएँ पहने हुए हैं, जिनका देदीप्यमान शरीर चन्दनके लेपसे लिप्त हो रहा है और जो अनेक प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पालकीपर आरूढ़ हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तपस्वी लक्ष्मीके उत्तम वर ही हों ॥९६॥ भगवान् वृषभदेव पहले तो परम विशुद्धतापर आरूढ़ हुए थे अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धताको प्राप्त हुए थे और बादमें पालकीपर आरूढ़ हुए थे इसलिए वे उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणस्थानोंकी श्रेष्ठा चढ़नेका अभ्यास ही कर रहे हों ॥९७॥ भगवान्की उस पालकीको प्रथम ही राजा लोग सात पैड़ तक ले चले और फिर विशाधर लोग आकाशमें सात पैड़ तक ले चले ॥९८॥ तदनन्तर वैमानिक और भयनत्रिक देवोंने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपने कन्धोंपर रखी और शीघ्र ही उसे आकाशमें ले गये ॥९९॥ भगवान् वृषभदेवके माहात्म्यकी प्रशंसा करना इतना ही पर्याप्त है कि उस समय देवोंके अधिपति इन्द्र भी

१. परमानन्दमयमित्यर्थः । २. युवेव्वरयोः । ३. ददौ । 'धण दाने' इति धातोः । ४. अनाकुलः स्वर्यवान् दीक्षाग्रहणसम्भ्रमशान् भूत्वा प्रावतनकार्यव्याकुलास्तःकरणो न भवतीत्यर्थः । ५. विनश्वरः । ६. प्रभुः अ०, प०, इ०, ग०, द०, म०, ल० । ७. आलिप्त । ८. इव । तु अ०, म० । ९. भुजगिरि । १०. आशु । ११. अलम् । १२. गानवाहकाः ।

तदा विचक्रुः पुष्पवर्षामोदि गुह्यकाः^१ । ववी मन्दाकिनीसीकराहारः^२ शिशिरो मरुत् ॥१०१॥
 प्रस्थानमङ्गलान्युच्चैः संपेदुः^३ सुरवन्दिनः । तदा प्रमाणभेर्यश्च विध्वगास्फालिताः^४ सुरैः ॥१०२॥
 मोहारिविजयोद्योगसमयोऽयं जगद्गुरोः । इत्युच्चैर्घोषयामासुस्तदा शक्राज्ञयाऽमराः ॥१०३॥
 जयकोलाहलं मर्तुरग्रे हृष्टाः सुरासुराः । तदा चक्रुर्नभोऽशंघमारुध्य प्रमदोदयात् ॥१०४॥
 तदा मङ्गलसंसीतैः प्रकृतैर्जयघोषणैः । नभो महानकध्वानैरारुह्य शब्दसादभूत् ॥१०५॥
 देहोद्योतस्तदेन्द्राणां नभः कृत्स्नमविद्युत् । दुन्दुभीनां च निर्होदी ध्वनिर्विश्वमदिध्वनत् ॥१०६॥
 सुरेन्द्रकरविक्षिप्तैः प्रचलद्भिरितोऽमुतः । तदा हंसायितं द्योमिन् चासराणां कदम्बकैः ॥१०७॥
 ध्वनन्तीषु नभो व्याप्य सुरेन्द्रानककोटिषु । कोटिशः सुरचेष्टानां^५ करकोणामिताडनैः ॥१०८॥
 नटन्तीषु नभोरङ्गे सुरस्त्रीषु सविभ्रमम् । विचित्र^६ करणोपै तच्छ्रवण्वादिलाघवैः ॥१०९॥
 गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् । श्रवःसुखं च हृद्यं च परिनिः^७ क्रमणोत्सवम् ॥११०॥
 मङ्गलानि पठत्सूर्यैः सुरवं सुरवन्दिषु । तत्कालोचितमन्यक्च वचश्चेतोऽनुरन्जनम् ॥१११॥
 भूतेषूद्भूतहर्षेषु चित्रकेतनधारिषु^८ । नानालास्यैः प्रभावास्तु^९ ससंघर्षमितोऽमुतः ॥११२॥

उनकी पालकी ले जानेवाले हुए थे अर्थात् इन्द्र स्वयं उनकी पालकी ढो रहे थे ॥१००॥ उस समय यक्ष जातिके देव सुगन्धित फूलोंकी वर्षा कर रहे थे और गंगानदीके जलकणोंको धारण करनेवाला शीतल वायु बह रहा था ॥१०१॥ उस समय देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे प्रस्थान समयके मंगल पाठ पढ़ रहे थे और वेच लोग चारों ओर प्रस्थानसूचक भेरियाँ बजा रहे थे ॥१०२॥ उस समय इन्द्रकी आज्ञा पाकर समस्त देव जोर-जोरसे यही घोषणा कर रहे थे कि जगद्गुरु भगवान् पुष्पवर्षादेवका शत्रुको शीतलेके जलको धारण करनेका यही समय है ॥१०३॥ उस समय हर्षित हुए सुर असुर जातिके सभी देव आनन्दकी प्राप्तिसे समस्त आकाशको घेरकर भगवान् के आगे जय जय ऐसा कोलाहल कर रहे थे ॥१०४॥ मंगलगीतों, बार-बार की गयी जय-घोषणाओं और बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्दोंसे सब ओर व्याप्त हुआ आकाश उस समय शब्दोंके अधीन हो रहा था अर्थात् चारों ओर शब्द ही शब्द सुनाई पड़ते थे ॥१०५॥ उस समय इन्द्रोंके शरीरकी प्रभा समस्त आकाशको प्रकाशित कर रही थी और दुन्दुभियोंका विपुल तथा मनोहर शब्द समस्त संसारको शब्दाद्यमान कर रहा था ॥१०६॥ उस समय इन्द्रोंके हाथोंसे दुलाये जानेके कारण इधर-उधर फिरते हुए चमरोंके समूह आकाशमें ठीक हंसोंके समान जान पड़ते थे ॥१०७॥ जिस समय भगवान् पालकीपर आरुढ़ हुए थे उस समय करोड़ों देवकिंकरोंके हाथोंमें स्थित दण्डोंकी ताड़नासे इन्द्रोंके करोड़ों दुन्दुभि बाजे आकाशमें व्याप्त होकर बज रहे थे ॥१०८॥ अन्काशरूपी आँगनमें अनेक देवांगनाएँ विलाससहित नृत्य कर रही थीं उनका नृत्य छत्रबन्ध आदिकी चतुराई तथा आश्चर्यकारी अनेक करणों-नृत्यभेदोंसे सहित था ॥१०९॥ मनोहर कण्ठवाली किन्नर जातिकी देवियाँ अपने मधुर स्वरसे कानोंको सुख देनेवाले मनोहर और मधुर तपःकल्याणोत्सवका गान कर रही थीं-उस समयके गीत गा रही थीं ॥११०॥ देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे किन्तु उत्तम शब्दोंसे मंगल पाठ पढ़ रहे थे तथा उस समयके योग्य और सबके मनको अनुरक्त करनेवाले अन्य पाठोंको भी पढ़ रहे थे ॥१११॥ जिन्हें अत्यन्त हर्ष उत्पन्न हुआ है और जो चित्र-विचित्र-अनेक प्रकारकी पताकाएँ

१. तदावचक्रुः अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । फिरन्ति स्म । २. देवभेदाः । ३. -राहारः इ०, स० ।

४. प्रपेदुः अ०, प०, इ०, स०, म०, द०, ल० । ५. ताडिताः । ६. शब्दभयमभूदित्यर्थः । ७. किंकराणाम् ।

८. करन्मात । ९. करणोपेतं द०, इ० । १०. परिनिष्क्रमणोत्सवम् अ० । ११. व्यन्तः देवेषु । १२. -केतनहा-

रिष प०, द०, म०, स० । १३. सम्मर्दसहितं यथा भवति तथा । सुसंघर्ष -प०, म०, ल० ।

शङ्खानाध्मातगण्डेषु^१ पिण्डीभूताङ्गयष्टिषु । सकाहलान्निलिम्पेषु पूर्यस्वनुरागतः ॥११३॥

^२अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु^३ पङ्कजन्यप्रपाणिषु । समं समद्वालाघाभिर्द्विकुमारीभिरादरात् ॥११४॥

हृद्यमीषु विशेषेषु प्रभवन्तु यथायथम् । संप्रमोदमयं विश्वमातन्वन्नद्भुतौदयः ॥११५॥

भार्जितैर्नमिर्जाणं^४ दिव्यं याल्लक्ष्मिर्द्विकुमारीभिरादरात् प्रसन्नः श्रियं मेराविदम्बयन् ॥११६॥

कण्ठाभरणभामारपरिवेषोपरक्तया^५ । सुखाकर्कसासा न्यक्कुर्वन्^६ ज्योतिर्ज्योतिर्गणेशिनाम् ॥११७॥

उत्तमाङ्गघृतेनोच्चैः मौलिना^७ विमणिविधा । धुन्वानोऽग्नीन्द्रमौलीनां स्विषामाविष्कृतार्चिषाम् ॥११८॥

किरीटोत्सङ्गासङ्गिन्या सुमनःशेखरस्तजा । मनःप्रसादमात्मीयं मूर्ध्नेबोद्धव्यं दर्शयन् ॥११९॥

प्रसन्नया दशोर्मासा प्रोल्लसन्त्या समन्ततः । इष्विलासं सहस्राक्षे सान्ध्यासि^८ कमिवार्पयन् ॥१२०॥

तिरस्कृताधरच्छायादैरोद्भिष्टैः स्मिताङ्गुभिः । क्षालयन्निष निःशेषं रागशेषं स्वशुद्धिभिः ॥१२१॥

हारेण हारिणा चारुवक्षःस्थलविलम्बिता । विदम्बयन्निवात्रीन्दं प्रान्तपर्यं स्तनिर्भरम् ॥१२२॥

लिये हुए हैं ऐसे भूत जातिके व्यन्तर देव भीड़में धक्का देते तथा अनेक प्रकारके नृत्य करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥ ११२ ॥ देव लोग बड़े अनुरागसे अपने गालोंको फुलाकर और शरीरको पिण्डके समान संकुचित कर तुरही तथा शंख बजा रहे थे ॥ ११३ ॥ हाथोंमें कमल धारण किये हुई लक्ष्मी आदि देवियाँ आगे-आगे जा रही थीं और बड़े आदरसे मंगल द्रव्य तथा अर्घ्य लेकर द्विकुमारी देवियाँ उनके साथ-साथ जा रही थीं ॥ ११४ ॥ इस प्रकार जिस समय यथायोग्य रूपसे अनेक विशेषताएँ हो रही थीं उस समय अद्भुत वैभवसे शोभायमान भगवान् वृषभदेव समस्त संसारको आनन्दित करते हुए अमूल्य रत्नोंसे बनी हुई दिव्य पालकीपर आरुढ़ होकर अयोध्यापुरीसे बाहर निकले । उस समय वे रत्नमयी पृथ्वीपर स्थित मेरु पर्वतकी शोभाको तिरस्कृत कर रहे थे । गलेमें पड़े हुए आभूषणोंकी कान्तिके समूहसे उनके मुखपर जो परिधिके आकारका लाल-लाल प्रभामण्डल पड़ रहा था उससे उनका मुख सूर्यके समान मालूम होता था, उस मुखरूपी सूर्यकी प्रभासे वे उस समय ज्योतिषी देवोंके इन्द्र अर्थात् चन्द्रमाको ज्योतिको भी तिरस्कृत कर रहे थे । जिससे मणियोंकी कान्ति निकल रही है ऐसे मस्तकपर धारण किये हुए ऊँचे मुकुटसे वे, जिनसे ज्वाला प्रकट हो रही हैं ऐसे अग्निकुमार देवोंके इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिको भी तिरस्कृत कर रहे थे । उनके मुकुटके मध्यमें जो फूलोंका सेहरा पड़ा हुआ था उसकी मालाओंके द्वारा मानो वे भगवान् अपने मनकी प्रसन्नताको ही मस्तकपर धारण कर लोगोंको दिखला रहे थे । उनके नेत्रोंकी जो स्वच्छ कान्ति चारों ओर फैल रही थी उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इन्द्रके लिए संन्यास धारण करनेके समय होनेवाला नेत्रोंका विलास ही अर्पित कर रहे हों अर्थात् इन्द्रको सिखला रहे हों कि संन्यास धारण करनेके समय नेत्रोंकी चेष्टाएँ इतनी प्रशान्त हो जाती हैं । कुछ-कुछ प्रकट होती हुई मुसकानकी किरणोंसे उनके ओठोंकी लाल-लाल कान्ति भी छिप जाती थी जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी विशुद्धिके द्वारा बाकी बचे हुए सम्पूर्ण रागको ही धो रहे हों । उनके सुन्दर वक्षःस्थलपर जो मनोहर हार पड़ा हुआ था उससे वे भगवान् जिसके किनारेपर निर्भरना पड़ रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतकी भी विदम्बना कर रहे थे । जिनमें कड़े बाजूबन्द आदि आभूषण चमक रहे हैं ऐसी अपनी भुजाओंकी शोभासे वे नागेन्द्रके फणमें लगे हुए रत्नोंकी कान्तिके समूहको भर्त्सना कर रहे थे । करधनीसे घिरे हुए जघनस्थलकी शोभासे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो वेदिकासे घिरे हुए जम्बू द्वीपकी शोभा ही स्वीकृत कर रहे हों । ऊपरकी दोनों गँठोंतक वेदीप्य-

१. संकीर्णीभूत । २. पुरोगामिनीषु । ३. श्रीहोभृत्पादिषु । ४. उपरञ्जितया । ५. अधःकुर्वन् ।

न्यक्कुर्वन् प०, म०, ल० । ६. मुकुटेन । ७. निक्षेपार्हम् । 'अमानित-निक्षेप' । ८. प्रवृत्त ।

भुजयोः शोभया^१ दीप्रकटकाङ्कदभूषया । निर्मल्ययन् फणान्द्राणां फणारत्नरुचां चयम् ॥१२३॥
 काञ्चीवासपरिक्षितजघनस्थललीलया । स्वाकुर्वन् वेदिका रुद्रजम्बूद्वीपस्थलधियम् ॥१२४॥
 क्रमोपधानपर्यन्त^२ लसत्पद्मनयोऽशुभिः । प्रसादोऽर्चिर्वाकोपं पुनानः प्रणतं जनम् ॥१२५॥
 न्य^३ ककुताकहवा स्वाङ्गदीपया व्यासककुम्भमुखः^४ । स्वेनौजसाधरीकुर्वन् सर्वान् गीर्वाणनायकान् ॥१२६॥
 इति प्रत्यक्षसङ्गिगन्धानैः सङ्गोचितया श्रिया । निर्वासयन्निवासद्वं^५ चिरकालोपललितम् ॥१२७॥
 विधुतेन मितरुद्रप्रमपदलेनामलस्थिया । विधुतेनोपरिस्थेन सेव्यमानः कलमच्छिदा ॥१२८॥
 प्रकीर्णकप्रतानेन^६ विधुतेनामरेद्वरैः । जन्मोत्सवक्षणप्राप्त्वा क्षारोदनेनैव सेवितः ॥१२९॥
 इत्याविष्कृतमाहात्म्यः सुरेन्द्रैः परितो वृतः । पुनः पुराद् विनिष्क्रान्तः पौरैरुत्थामेनन्दितः ॥१३०॥
 वज्रसिद्धयै जगन्नाथ शिवः पन्थाः समस्तु ते । निष्ठितार्थः पुनर्देव हृत्पथे नो^७ भवाचिरान् ॥१३१॥
 नाथानाथं जनं त्रातुं नान्यस्तवमिव कर्मठः^८ । तस्मादस्मत्परित्राणे^९ प्रणिधेहि^{१०} मनः पुनः ॥१३२॥
 परानुग्रहकाराणि चेष्टितानि तव प्रभो । निर्व्यपेक्षं विहायास्मान् कोऽनुग्राह्यस्त्वयापरः ॥१३३॥
 इति श्लाघ्यं प्रसन्नं च^{११} सानुतर्षं^{१२} सनायनम् । कैश्चित् संजलितं पौरैराशान् प्रणतमूर्द्धभिः ॥१३४॥
 अथ स भगवान् दूरं देवैरुत्क्षिप्य नीयते । न विद्याः कारणं^{१३} किञ्च क्रीडेयमथवेदशी ॥१३५॥

मान होती हुई पैरोंकी किरणोंसे वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो नमस्कार करते हुए सम्पूर्ण लोगोंकी अपनी प्रसन्नताके अंशोंसे पवित्र ही कर रहे हों । उस समय सूर्यकी कान्तिको भी तिरस्कृत करनेवाला अपने शरीरकी दीप्तिसे जिन्होंने सब दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव अपने ओजसे समस्त इन्द्रोंको नीचा दिखा रहे थे । इस प्रकार प्रत्येक अंग-उपांगोंसे सम्बन्ध रखनेवाली वैराग्यके योग्य शोभासे वे ऐसे जान पड़ते मानो चिरकालसे पालन-पोषण की हुई परिग्रहकी आसक्तिको ही बाहर निकाल रहे हों । ऊपर लगे हुए निर्मल कान्तिवाले सफेद छत्रके मण्डलसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो क्लेशोंको दूर करनेवाला चन्द्रमा ही ऊपर आकर उनकी सेवा कर रहा हो । इन्द्रोंके द्वारा बुलाये हुए चमरोंके समूहसे भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जन्मकल्याणकके क्षण-भरके प्रेमसे क्षीरसागर ही आकर उनकी सेवा कर रहा हो । इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और अनेक इन्द्र जिन्हें चारों ओरसे घेरे हुए हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव अयोध्यापुरीसे बाहर निकले । उस समय नगरनिवासी लोग उनकी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे ॥१२५-१३०॥ हे जगन्नाथ, आप कार्यकी सिद्धिके लिए जाइए, आपका मार्ग कल्याणमय हो और हे देव, आप अपना कार्य पूरा कर फिर भी शीघ्र ही हम लोगोंके वृष्टिगोचर होइए ॥१३१॥ हे नाथ, अनाथ पुरुषोंकी रक्षा करनेके लिए आपके समान और कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए हम लोगोंकी रक्षा करनेमें आप अपना मन फिर भी लगाइए ॥१३२॥ हे प्रभो, आपकी समस्त चेष्टाएँ पुरुषोंका उपकार करनेवाली होती हैं, आप बिना कारण ही हम लोगोंको छोड़कर अब और किसका उपकार करेंगे ? ॥१३३॥ इस प्रकार कितने ही नगरनिवासियोंने दूरसे ही मस्तक झुकाकर प्रशंसनीय, स्पष्ट अर्थको कहनेवाले और कामनासहित प्रार्थनाके वचन कहे थे ॥१३४॥ उस समय कितने ही नगरवासी परस्परमें ऐसा कह रहे थे कि देव लोग भगवान्को पालकी

१. दीप्त-द०, स०, इ०, ल०, म० । २. चरणकूर्पाससमीप । ३. पर्यङ्गोत्तलस-ल०, म०, द०, स०, इ० । ४. अधःकुत । ५. कैकुत्सुम्भः म०, प०, ल० । ६. निष्कासयन् प्रेषयन्निव । ७. परिग्रहम् आसक्ति वा । ८. प्रेषणकाले आलिप्तपूर्वकं प्रेषयन्ति तावच्चिरकालोपललितानाभरणाद्यासंगात्पूर्वकं प्रेषयन्निव प्रत्यङ्गसंगतिराभरणैर्भातीत्यर्थः । ९. श्लानि । १०. विधुतेना-म०, ल० । ११. जन्माभिगेकसमय । १२. निष्पन्नप्रयोजनः सन् । १३. अस्माकम् । १४. कर्मजूरः । १५. परिरक्षणे । १६. एकाग्रं कुह । १७. बाङ्गडा-सहितम् । सानुकर्षं अ०, म० । १८. प्रार्थनासहितम् । १९. किन्तु प०, अ०, म०, ल० ।

भवेदपि भवेदेतर्जनी मेरुं पुराण्ययम् । प्रस्थानीयश्च नाकीन्द्रैर्जन्मोत्सवविधिस्तथा^१ ॥१३६॥
 स एवाद्यापि वृत्तान्तो जायस्मद्भाग्यलौ भवेत् । ततो न काचनास्माकं व्यथेत्यन्ये मिथोऽब्रुवन् ॥१३७॥
 किमेष भगवान् भानुरास्थितः शिबिकाभिभाम् । देदीप्यतेऽम्बरे मामिः प्रमुदञ्चिव नो ददाः ॥१३८॥
 एतमौलिविभाग्युच्चैस्तप्तचामाकरच्छत्रिः । विश्रुमध्वे सुरेन्द्राणां कुलादीणामिवादिराट् ॥१३९॥
 विमोर्मुखो न्मुग्धोर्दृष्टीर्दधानोऽद्भुतविक्रियः ।^२ कः स्वदाज्ञातमस्याज्ञाकरः सोऽयं पुरंदरः ॥१४०॥
 शिबिकावाहितमेषामङ्गभासो महीजलाम् । समन्तान् प्रोक्लसन्त्येतास्तद्विनामिव रीतयः^३ ॥१४१॥
 महापुण्यमहो भर्तुरवाक् मनसगोचरम् । पश्यतानिमिषानेतान् प्रपणम्रानितोऽसुतः ॥१४२॥
 इतो मधुरगम्भीरं ध्वनन्त्येते सुरानकाः । इतो मन्द्रं मृदङ्गानामुच्चैरुच्चरन्ति ध्वनिः ॥१४३॥
 इतो नृत्यमितो गीतमितः संगीतं मङ्गलम् । इतश्चामरसंघात इतश्चामरसंहतिः ॥१४४॥
 संचारी किमयं स्वर्गः साप्सरस्सविमानकः । किं वापूर्वमिदं चित्रं लिखितं व्योम्नि केनचित् ॥१४५॥
 किमिन्द्रजालमनस्यादुतास्मन्मतिविभ्रमः । अदृष्टपूर्वमाश्चर्यमिदमीदृग्न जानुञ्जि ॥१४६॥
 इति कैश्चित्तदाश्चर्यं पश्यद्भिः प्राप्तविस्मयः । स्वैरं संजहिषत् पौरर्जुन्यार्कः^४ सत्रिकल्पकैः ॥१४७॥

पर सवार कर कहीं दूर ले जा रहे हैं परन्तु हम लोग इसका कारण नहीं जानते अथवा भगवान् की यह कोई ऐसी ही क्रीडा होगी अथवा यह भी हो सकता है कि पहले इन्द्र लोग जन्मोत्सव करनेकी इच्छासे भगवान् को सुमेरु पर्वतपर ले गये थे और फिर वापस ले आये थ । कदाचित् हम लोगोंके मध्यसे आजा फिर ली चड़ी वृत्तान्त हो इसलिए हम लोगोंको कोई दुःखको बात नहीं है ॥१३५-१३७॥ कितने ही लोग आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि पालकीपर सवार हुए ये भगवान् क्या साक्षात् सूर्य हैं क्योंकि ये सूर्यकी तरह ही अपनी प्रभाके द्वारा हमारे नेत्रोंको चकाचौंध करते हुए आकाशमें देदीप्यमान हो रहे हैं ॥१३८॥ जिस प्रकार कुलचलोंके बीच चूलिकासहित सुवर्णमय सुमेरु पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार इन्द्रोंके बीच मुकुट धारण किये और तपाये हुए सुवर्णके समान क्रान्तिको धारण किये हुए भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥१३९॥ जो भगवान् के मुखके सामने अपनी दृष्टि लगाये हुए है और जिसकी चिक्रियाएँ अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली हैं ऐसा यह कौन है ? हाँ, मालूम हो गया कि यह भगवान् का आज्ञाकारी सेवक इन्द्र है ॥१४०॥ इधर देखो, यह पालकी ले जानेवाले महातेजस्वी देवोंके शरीरकी प्रभा चारों ओर फैल रही है और ऐसी मालूम होती है मानो बिजलियोंका समूह ही हो ॥१४१॥ अहा, भगवान् का पुण्य बहुत ही बड़ा है वह न तो वचनसे ही कहा जा सकता है और न मनसे ही उसका विचार किया जा सकता है । इधर-इधर भक्तिके भारसे झुके हुए-प्रणाम करते हुए इन देवोंको देखो ॥१४२॥ इधर ये देवोंके तगाड़े मधुर और गम्भीर शब्दोंसे ब्रज रहे हैं और इधर यह मृदंगोंका गम्भीर तथा जोरका शब्द हो रहा है ॥१४३॥ इधर नृत्य हो रहा है, इधर गीत गाये जा रहे हैं, इधर संगीत मंगल हो रहा है, इधर चमर झुलाये जा रहे हैं और इधर देवोंका अपार समूह विद्यमान है ॥१४४॥ क्या यह चलता हुआ स्वर्ग है जो अप्सराओं और विमानोंसे सहित है अथवा आकाशमें यह किसीने अपूर्व चित्र लिखा है ॥१४५॥ क्या यह इन्द्रजाल है-जादूगरका खेल है अथवा हमारी बुद्धिका भ्रम है । यह आश्चर्य विलकुल ही अदृष्टपूर्व है-ऐसा आश्चर्य हम लोगोंने पहले कभी नहीं देखा था ॥१४६॥ इस प्रकार अनेक विकल्प करनेवाले तथा बहुत बोलनेवाले नगर-

१. विधातुमिच्छया । २. अभिमुखो । ३. किं स्वदा-स०, इ०, प०, अ० । ४. 'स्वित् प्रप्ते वितर्क' । ५. मालाः । ६. अवाङ् मानन-इ०, ल०, म० । ७. वाद्य । ८. साप्सरः सविमानकः अ०, स०, ल०, म० । ९. वाचालः ।

यदा प्रभृति देवोयमवर्त्तनीं धरातलम् । तदा प्रभृति देवानां न^१ गत्यागनिविच्छिदा ॥१४८॥
 नृत्यं नीलाञ्जनाख्यायाः पश्यतः सुरयोगितः । उदयादि विभोर्भोगिवैराग्यमनिमित्तकम् ॥१४९॥
 तत्कालो^२ पनतैर्मान्यैः सुरलोकान्तिकाह्वयैः । बोधितस्यास्य वैराग्यं दृढमासजितं^३ मनः ॥१५०॥
 विरक्तः कामभोगेषु स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः । सवस्तुवाहनं राज्यं तृणवन्मन्यतेऽधुना ॥१५१॥
 मतञ्ज इव स्वैरविहारमुखलिप्सया । प्रविबिधुर्वनं देवः सुरैः प्रोत्साह्य नीयते ॥१५२॥
 स्वाधीनं सुखमस्यैव वनेऽपि वसतः प्रभोः । प्रजानां^४ भेदभृत्यै च पुत्रो राज्ये विधेक्षितौ ॥१५३॥
 तदियं प्रस्तुता यात्रा भूयाद् भर्तुः सुखावहा । दिव्यायं वर्धतां लोको विषादन्मा^५ स्म कश्चन ॥१५४॥
 सुचिरं जीवताद्देवो जयताद्भिमन्दितात् । प्रत्यावृत्तः पुनश्चास्मान् अक्षता^६ त्मानिश्चितात् ॥१५५॥
 द्यौस्तस्य महादानं मरुतेन महात्मना । विमोक्षां समासाद्य जमदायाप्रपूरणम् ॥१५६॥
 विर्माणानामुना भूयाद् भूतिश्चामीकरेण^७ वः^८ । कीयन्तेऽश्वाः स^९ हाथोर्गैरितश्चामीकरेणवः^{१०} ॥१५७॥
 इत्युन्मुखैः प्रवृद्धैश्च जनालार्थः पृथग्विधैः । श्लाघ्यमानः शर्मेतथः पुरोपान्तं व्यतीयिष्यान् ॥१५८॥

निवासी लोग भगवान्‌के उस आश्चर्य (अतिशय) को देखकर विस्मयके साथ यथेच्छ बातें कर रहे थे ॥१४८॥ अनेक पुरुष कह रहे थे कि जबसे इन भगवान्‌ने पृथिवी तलपर अवतार लिया है तबसे यहाँ देवोंके आने-जानेमें अन्तर नहीं पड़ता—घराघर देवोंका आना-जाना बना रहता है ॥१४९॥ नीलाञ्जना नामकी देवांगनाका नृत्य देखते-देखते ही भगवान्‌को बिना किसी अन्य कारणके भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ॥१५०॥ उसी समय आये हुए माननीय लोकान्तिक देवोंने भगवान्‌को सम्बोधित किया जिससे उनका मन वैराग्यमें और भी अधिक दृढ़ हो गया है ॥१५१॥ काम और भोगोंसे विरक्त हुए भगवान्‌ अपने शरीरमें भी निःस्पृह हो गये हैं अथ वे गहल सवारी तथा राज्य आदिको तृणके समान मान रहे हैं ॥१५२॥ जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार विहार करने रूप सुखकी इच्छासे मत्त हाथी वनमें प्रवेश करता है उसी प्रकार भगवान्‌ वृषभदेव भी स्वातन्त्र्य सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे वनमें प्रवेश करना चाहते हैं और देव लोग प्रोत्साहित कर उन्हें ले जा रहे हैं ॥१५३॥ यदि भगवान्‌ वनमें भी रहेंगे तो भी सुख उनके अधीन ही है और प्रजाके सुखके लिए उन्होंने अपने पुत्रोंको राज्य-सिंहासनपर बैठा दिया है ॥१५४॥ इसलिए भगवान्‌की प्रारम्भ की हुई यह यात्रा उन्हें सुख देनेवाली हो तथा ये लोग भी अपने भाग्यसे वृद्धिको प्राप्त हों, कोई विषाद मत करो ॥१५५॥ अक्षतात्मा अर्थात् जितका आत्मा कभी भी नष्ट होनेवाला नहीं है ऐसे भगवान्‌ वृषभदेव चिर कालतक जीवित रहें, विजयको प्राप्त हों, समृद्धिमान् हों और फिर लौटकर हम लोगोंकी रक्षा करें ॥१५६॥ महात्मा भरत आज विभुकी आज्ञा लेकर जगत्‌की आशाएँ पूर्ण करनेवाला महादान दे रहे हैं ॥१५६॥ इधर भरतने जो यह सुवर्णका दान दिया है उससे तुम सबको सन्तोष हो, इधर पत्थानोंसहित घोड़े दिये जा रहे हैं और इधर ये हाथी वितरण किये जा रहे हैं ॥१५७॥ इस प्रकार अज्ञान और ज्ञानवान्‌ सब ही अलग-अलग प्रकारके षष्ठानों-द्वारा जिनकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे भगवान्‌ वृषभदेवने धीरे-धीरे नगरके बाहर समीपवर्ती प्रदेशको पार किया ॥१५८॥

१. गत्यागम—५०, अ०, इ०, द०, म०, स०, ल०। गमनागमनविच्छिदः । २. आगतैः । ३. संयोजितम् । ४. सवास्तुवाहनं ५०, म०, द०, ल० । 'न वस्तु याहनं' इत्यपि वचनं क्वचित् । ५. प्रवेशमिच्छः । ६. क्षेमवृत्त्यै अ०, प०, इ०, द०, स०, म०, ल० । ७. तत् कारणात् । ८. संतोषेण । ९. लब्ध, मा स्म योगादादितिषेधः । १०. व्यावृत्त्य गतः । ११. —स्माधिरक्ष—५०, ल० । १२. भूतिश्चामी—५०, द० । वृत्तिश्चामी—अ०, इ०, म० । १३. सुवर्णम् । १४. वृष्णाकम् । १५. पत्ययनैः परिमाणैरित्यर्थः । सहयोगै—म०, ल० । १६. दन्तिनः ।

अथ संप्रस्थितं देवे देव्याःमातृरधिष्ठिताः^१ । अनुप्रवेत्तुरीशानं शुचान्तर्वाणलोचनाः^२ ॥१५९॥
 लता इव परिस्नानमात्रशोभा विभूषणाः^३ । काश्चित् स्तनस्पन्दस्थासमनुजमुर्जगत्पतिम् ॥१६०॥
 शोकानिलहताः काश्चिद् देवमानाङ्गयष्टयः । निपेनुर्धरणीपृष्ठे मूर्च्छामोलितलोचनाः^४ ॥१६१॥
 क्व प्रस्थिताऽसि हा नाथ क्व गत्वास्मान् प्रतीक्षसि । कियद्दूरं च गन्तव्यमिदमन्या मुमुहुर्मुहुः ॥१६२॥
 हृदि^५ वेपथुमुत्कर्षं स्तनयोःस्नानना तनौ । वाचि गद्गदतामक्षणोर्वाप्यं वाम्याः शुचा दधुः ॥१६३॥
 अमङ्गलमलं^६ बालं रुदित्वेति निवारिता । काश्चिदन्तर्निहन्नाधुः स्फुटन्तीव शुचामवत् ॥१६४॥
 प्रस्थानमङ्गलं^७ भङ्ग्यनुमक्षमाः काप्युदधुदक् । शूचमन्तःप्रविष्टेव दृष्ट्वा दृक्पुत्रिकाछलात् ॥१६५॥
 गतिसंभ्रमविच्छिन्नहारस्याकीर्णमौक्तिकाः । स्थूलान्ध्रुलवान् काश्चिच्छर्त्तं^८ सच्छन्ननामुचन् ॥१६६॥
 विस्रस्तकवरीभारविगलकुसुमस्रजः । स्वस्तस्तनांशुकाः^९ साक्षाः काश्चिच्छोच्यं दशामधुः ॥१६७॥
 उग्लिष्य शिञ्जिकास्वन्या निक्षिप्ताः शोकविकलदाः^{१०} । कथंकथमपि प्राणैर्नययुज्यन्त सान्निधताः^{११} ॥१६८॥
 भीराः काश्चिदधाराक्ष्या धारिताः स्वामिसंपदा । विभुमन्वीयुरन्यथा राजपत्न्यः^{१२} शुचिप्रताः ॥१६९॥

अथानन्तर भगवान्के प्रस्थान करनेपर यशस्वती आदिरानियाँ मन्त्रियोंसहित भगवान्-
 के पीछे-पीछे चलने लगीं, उस समय शोकसे उनके नेत्रोंमें आँसू भर रहे थे ॥१५९॥ लताओं-
 के समान उनके शरीरकी शोभा स्नान हो गयी थी, उन्होंने आभूषण भी उतारकर अलग कर
 दिये थे और कितनी ही उगमगाते पैर रखती हुई भगवान्के पीछे-पीछे जा रही थीं ॥१६०॥
 कितनी ही स्त्रियाँ शोकरूपी अग्निसे जर्जरित हो रही थीं, उनकी शरीरयष्टि कम्पित हो रही
 थी और नेत्र मूर्च्छासे निमोलित हो रहे थे इन सब कारणोंसे वे जमोनपर गिर पड़ी थी ॥१६१॥
 कितनी ही देवियाँ बार-बार यह कहती हुई मूर्च्छित हो रही थीं कि हा नाथ, आप कहाँ जा रहे
 हैं ? कहाँ जाकर हम लोगोंकी प्रतीक्षा करेंगे और अब आपको कितनी दूर जाना है ॥१६२॥
 वे देवियाँ शोकसे हृदयमें धड़कनको, स्तनोंमें उत्कम्पको, शरीरमें स्नानताको, वचनोंमें गद्-
 गदनाको और नेत्रोंमें आँसुओंको धारण कर रही थीं ॥१६३॥ हे बाले, रोकर अमङ्गल मत
 कर इस प्रकार निवारण किये जानेपर किसी स्त्रीने रोना तो बन्द कर दिया था परन्तु उसके
 आँसू नेत्रोंके भीतर ही रुक गये थे इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो शोकसे फूट रही
 हो ॥१६४॥ कोई स्त्री प्रस्थानकालके मङ्गलको भङ्ग करनेके लिए असमर्थ थी इसलिए उसने
 आँसुओंको नीचे गिरनेसे रोक लिया परन्तु ऐसा करनेसे उसके नेत्र आँसुओंसे भर गए थे
 जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रोंकी पुतलिकाके छलसे शोकके भीतर ही प्रविष्ट
 हो गयी हो ॥१६५॥ बेगसे चलनेके कारण कितनी ही स्त्रियोंके हार टूट गये थे और उनके
 मोती बिखर गये थे, उन बिखरे हुए मोतियोंसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मोतियोंके छलसे
 आँसुओंकी बड़ी-बड़ी बूँदें ही छोड़ रही हों ॥१६६॥ कितनी ही स्त्रियोंके केशपाश खुलकर
 नीचेकी ओर लटकने लगे थे उनमें लगी हुई फूलोंकी मालाएँ नीचे गिरती जा रही थीं, उनके
 स्तनोंपर-के वस्त्र भी शिथिल हो गये थे और आँखोंसे आँसू बह रहे थे इस प्रकार वे शोचनीय
 अवस्थाको धारण कर रही थीं ॥१६७॥ कितनी ही स्त्रियाँ शोकसे अत्यन्त बिह्वल हो गयी थीं
 इसलिए लोगोंने उठाकर उन्हें पालकीमें रखा था तथा अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी थी, सम-
 स्थाया था । इसीलिए वे जिस किसी तरह प्राणोंसे वियुक्त नहीं हुई थीं-जीवित बची थीं ॥१६८॥
 धीरवीर किन्तु चञ्चल नेत्रोंवाली कितनी ही राजपत्नियाँ अपने स्वामीके विभवमें ही (देवों

१. अमातृरधिष्ठिताः । २. विगतभूषणाः । ३. कम्पमान । ४. इगन्मीलित । ५. मूर्च्छा गतः । ६. कम्पनम् । ७. अलं रुदित्वा रोदनेनालम् । ८. नाशितम् । ९. शुचमन्तःप्रविष्टेव दृष्ट्वा त० । शुचामन्तःप्रविष्टेव दृष्ट्वा २०, म०, ल० । १०. गूढं यथा भवति तथा । ११. मोक्तिकाञ्वाजेन । १२. अयुमहिताः । १३. उद्धृत्वा । १४. विह्वला । १५. प्रियवचनैः मनोर्षं मोताः । १६. पवित्र ।

प्रस्थानमङ्गलं^१ जातं^२ नाभिजातं प्ररोदनम् । नाथः शनैरनुमा^३ञ्चो मातर्मा हम् शुचं गमः ॥१७०॥
 त्वयतां^४ चयतां^५ देवि शोकवेगोऽपवार्यताम्^६ । देवोऽयं नीयते देवैः दिष्ट्यास्मद्दृष्टिगोचरे ॥१७१॥
 इत्यन्तःपुरवृद्धामिमुं हुराश्वासिता सती । यशस्वती सुनन्दा च प्रतस्थे पादचारिणी ॥१७२॥
 बहुनात्र किमुक्तेन^७ मुक्तसर्वपरिच्छदाः । देव्यो यथाश्रुतं^८ मसुरनुमार्गं प्रतस्थिरं ॥१७३॥
 मा भूद् व्याकुलता काचित्^९ मर्तुरित्यनुयायिभिः । रुद्धः सर्वविरोधं स्त्रीसार्धः कस्मिंश्चिदन्तरं ॥१७४॥
 शुवाणैर्भसुराज्ञेति राजशोवर्गो महत्तरः । संरुद्धः सरितामोघः^{१०} प्रवृद्धोऽपि यथार्णवः ॥१७५॥
 निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च निन्दन् सौभाग्यमात्मनः । न्यवृत्तन् प्रासनैराश्यो नृपवल्लभिकाजनः ॥१७६॥
 महादेव्यो तु^{११} शुद्धान्तमुख्याभिः परिवारिते । मर्तुरिच्छानुवर्तिन्याश्च भवयातो^{१२} सपर्यया ॥१७७॥
 मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः । अनूत्तस्थो^{१३} तदा द्रष्टुं विभोर्निष्क्रमणोत्सवम् ॥१७८॥
 समं पारैरमारैश्च पार्थिवैश्च महान्वयैः । सानुजो भरतार्थाशो महदुर्ध्वो^{१४} गुरुमन्त्रयात् ॥१७९॥
 नातिदूरं खमुपत्य जमानां दृष्टिगोचरे । यथोक्तैर्मङ्गलारम्भैः प्रस्थानमकरोत् प्रभुः ॥१८०॥
 नातिदूरं पुरस्थास्य नात्यागच्छेतिविस्तृतम् । सिद्धार्थकवनोद्देशमभिप्राया^{१५} जगद्गुरुः ॥१८१॥

द्वारा किये हुए सम्मानसे ही) सन्तुष्ट हो गयी थी इसलिए वे पतिव्रताएँ बिना किसी आकुलता-
 के भगवान्‌के पीछे-पीछे जा रही थीं ॥१६९॥ हे माना, यह भगवान्‌का प्रस्थानमंगल हो रहा
 है इसलिए अधिक रोना अच्छा नहीं, धीरे-धीरे स्वामीके पीछे-पीछे चलना चाहिए । शोक मत
 करो ॥१७०॥ हे देवि, शीघ्रता करो, शीघ्रता करो, शोकके वेगको रोको, यह देखो देव लोग
 भगवान्‌को लिये जा रहे हैं अभी हमारे पुण्योदयसे भगवान्‌ हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं—हम
 लोगोंको दिखाई दे रहे हैं ॥१७१॥ इस प्रकार अन्तःपुरकी वृद्ध स्त्रियोंके द्वारा समझायी गयी
 यशस्वती और सुनन्दा देवी पैदल ही चल रही थीं ॥१७२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या
 लाभ है उन देवियोंने उ्यों ही भगवान्‌के अंगोंके समाचार सुने-सुनी उन्होंने अपने छत्र-चावर
 आदि सब परिकर छोड़ दिये थे और भगवान्‌के पीछे-पीछे चलने लगी थीं ॥१७३॥ भगवान्‌-
 को किसी प्रकारकी व्याकुलता न हो यह विचारकर उनके साथ जानेवाले वृद्ध पुरुषोंने यह
 भगवान्‌की आज्ञा है, ऐसा कहकर किसी स्थानपर अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियोंके समूहको रोक
 दिया और जिस प्रकार नदियोंका बड़ा हुआ प्रवाह समुद्रसे रुक जाता है उसी प्रकार वह
 रानियोंका समूह भी वृद्ध पुरुषों (प्रतीहारों) से रुक गया था ॥१७४-१७५॥ इस प्रकार रानियों-
 का समूह लम्बी और गरम साँस लेकर आगे जानेसे बिलकुल निराश होकर अपने सौभाग्यकी
 निन्दा करता हुआ घरको वापस लौट गया ॥ १७६ ॥ किन्तु स्वामीकी इच्छानुसार चलने-
 वाली यशस्वती और सुनन्दा ये दोनों ही महादेवियों अन्तःपुरकी मुख्य-मुख्य स्त्रियोंसे परिवृत
 होकर पूजाकी सामग्री लेकर भगवान्‌के पीछे-पीछे जा रही थीं ॥१७७॥ उस समय महाराज
 नाभिगाज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओंसे परिवृत होकर भगवान्‌के तपकल्याणका उत्सव
 देखनेके लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१७८॥ सम्राट् भरत भी नगरनिवासी, मन्त्री, उच्च
 वंशमें उत्पन्न हुए राजा और अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवान्‌-
 के पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१७९॥ भगवान्‌ने आकाशमें इतनी थोड़ी दूर जाकर कि जहाँसे लोग
 उन्हें अच्छी तरहसे देख सकते थे, ऊपर कहे हुए मंगलारम्भके साथ प्रस्थान किया ॥१८०॥
 इस प्रकार जगद्गुरु भगवान्‌ वृषभदेव अत्यन्त विस्तृत सिद्धार्थक नामके वनमें जा पहुँचे वह

१. जातं अ०, प०, इ०, स०, द०, म०, ल० । २. अमङ्गलम् । ३. गम्यताम् । ४. वेगोऽवधीर्यताम्
 प०, म०, द०, इ०, ल० । ५. धार्यताम् अ०, म० । ६. त्यक्तचलत्रचामरादिपरिकराः । ७. यथाकणितं तथा ।
 ८. भर्तुः सकाशात् । ९. सलगच्छद्भिः । १०. अन्तःपुरस्थीसमूहः । ११. प्रवाहः । १२. अन्तःपुरमुख्याभिः ।
 १३. अन्वगच्छान् । १४. अन्वगच्छत् । १५. मन्त्रयात् अ०, प०, म०, ल०, । १६. अन्वगच्छत् ।

ततः प्राप सुरेन्द्राणां वृत्तना व्याप्य रोदसी^१ । चयोरुर्नेरिवाहानं कुर्वत्सिद्धार्थकं वनम् ॥१८२॥

तत्रैकस्मिन् शिलापट्टे सुरैः प्रागुपकल्पिते । प्रथमसि शुचौ स्वस्मिन् परिणाम इवोन्नते ॥१८३॥

चन्द्रकान्तमये चन्द्रकान्तशोभायहामिति । पुञ्जीभूत इवैकत्र स्वस्मिन् यशसि निर्मले ॥१८४॥

स्वभायभास्वरे रम्ये सुवृत्तपरिमण्डले । सिद्धक्षेत्र इव द्रष्टुं तां भूतिं भुवमागते ॥१८५॥

सुशीतलतरुच्छायानिरुद्धोष्णकरविषि । पर्यन्तशालिशालाप्रविगलरकुसुमोत्करे ॥१८६॥

श्रीखण्डद्रवदत्ताच्छच्छटामङ्गलसंगते । शचीस्व^२ हस्तविन्यस्तरत्नचूर्णोपहारके ॥१८७॥

^३विशंकटपटीकृतविचित्रपटमण्डपे । मन्दानिलचलचित्रकेतुमालातताम्बरे ॥१८८॥

समन्तादुच्चरहूपधूमासोदितदिक्मुखे । पर्यस्तनिहितानल्पमङ्गलद्रव्यसंपदि ॥१८९॥

इत्यनल्पगुणे तस्मिन्^४ शस्तवास्तुप्रतिष्ठिते । यानादवातरदेवः सुरैः क्षमामवतारितात् ॥१९०॥

धृतजन्माभिषेकदिः या शिला पाण्डुकाल्या^५ । पश्यन्तेन शिलापट्टे विभुस्तस्याः^६ समस्मरन् ॥१९१॥

तत्र क्षणमि^७ वासीनो यथास्वमनुशासनैः^८ । विभुः^९ सभाजयामास समां सन्तुरासुराम् ॥१९२॥

वन उस अयोध्यापुरीसे न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट ही था ॥१८१॥ तदनन्तर इन्द्रोंकी सेना भी आकाश और पृथिवीको व्याप्त करती हुई उस सिद्धार्थक वनमें जा पहुँची । वस वनमें अनेक पक्षी शब्द कर रहे थे इसलिए वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रोंकी सेनाको बुला ही रहा हो ॥१८२॥ उस वनमें देवोंने एक शिला पहलेसे ही स्थापित कर रखी थी । वह शिला बहुत ही विस्तृत थी, पवित्र थी और भगवान्के परिणामोंके समान उन्नत थी ॥१८३॥ वह चन्द्रकान्त मणियोंकी बनी हुई थी और चन्द्रमाकी सुन्दर शोभाकी हँसी कर रही थी इसलिए ऐसी मालूम होती थी मानो एक जगह इकट्ठा हुआ भगवान्का निर्मल यश ही हो ॥१८४॥ वह स्वभायसे ही देदीप्यमान थी, रमणीय थी और उसका घेरा अतिशय गोल था इसलिए वह ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्के तपःकल्याणकी विभूति देखनेके लिए सिद्धक्षेत्र ही पृथिवीपर उतर आया हो ॥१८५॥ वृक्षोंकी शीतल छायासे उसपर सूर्यका आतप रुक गया था और चारों ओर लगे हुए वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागसे उसपर फूलोंके समूह गिर रहे थे ॥१८६॥ वह शिला त्रिसे हुए चन्द्रन-द्वारा दिये गए भांगलिक छोटोंसे युक्त थी तथा उसपर इन्द्राणीने अपने हाथसे रत्नोंके चूर्णके उपहार खींचे थे-चौक बगैरह बनाये थे ॥१८७॥ उस शिलापर बड़े-बड़े वस्त्रों-द्वारा आश्चर्यकारी मण्डप बनाया गया था तथा मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई अनेक रंगकी पताकाओंसे उसपर-का आकाश व्याप्त हो रहा था ॥१८८॥ उस शिलाके चारों ओर उठते हुए धूपके धुओंसे दिशाएँ सुगन्धित हो गयी थी तथा उस शिलाके समीप ही अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थी ॥१८९॥ इस प्रकार जिसमें अनेक गुण विद्यमान हैं तथा जो उत्तम घरके लक्षणोंसे सहित हैं ऐसी उस शिलापर, देवों-द्वारा पृथिवीपर रखी गयी पालकीसे भगवान् वृषभदेव उतरे ॥१९०॥ उस शिलापट्टीके देखते ही भगवान्को अन्माभिषेककी विभूति धारण करनेवाली पाण्डुकशिलाका स्मरण हो आया ॥१९१॥ तदनन्तर भगवान्ने क्षण-भर उस शिलापर आसीन होकर मनुष्य, देव तथा धरणेन्द्रोंसे भरी हुई उस सभाको यथायोग्य उपदेशोंके द्वारा सम्मानित किया ॥१९२॥ वे भगवान् जगन्के बन्धु थे

१. शाचापृथिव्यो । २. पक्षिस्वनेः । ३. अतिभूवति । ४. कान्तशोभा-मनोज्ञशोभा । नोभोपहासिनी, ल०, म० । ५. परिनिष्क्रमणकल्याणसम्पदम् । ६. स्वकरविरचितरत्नचूर्णरंगवली । ७. विशालवस्त्रकृतविचित्र-पटोविशेषे । ८. उद्गच्छत् । ९. प्रमत्तगृह्यक्षण । १०. तं पाण्डुशिकाम् । ११. इव पादपूरणे । १२. निवोक्तैः । १३. सम्भावयति स्म । 'सभाज प्रीतिविशेषयोः' ।

भूयोऽपि भगवानुच्चैर्गिरा मन्दगर्भारवा^१ । आपप्रच्छे^२ जगद्बन्धुयन्धूक्तिः स्नेहयन्धनः ॥१९३॥
 प्रशान्तेऽथ जनक्षोभे दूरं प्रोत्सारिते जने । संगीतमङ्गलारम्भे^३ सुप्रयुक्ते प्रगेतने^४ ॥१९४॥
 मध्येयवनिकं स्थित्वा सुरेन्द्रे परिचारिणि । सर्वत्र समतां सम्यग्भावयन् शुभभावनः ॥१९५॥
 भ्युत्सृष्टान्तर्बहिःसंगो नैस्संग्यं कृतसंगरः^५ । वस्त्राभरणमाख्यानि व्यसृजन् मोदहानयं ॥१९६॥
 तदङ्गविरहाद् भेषुर्विच्छाद्यत्वं तदा भृशम् । दीपाण्याभरणानि प्राक् स्थानभ्रंशे हि का द्युतिः ॥१९७॥
 दासीदासगवाश्वादि यत्किञ्चन^६ सञ्चेतनम् । मणिमुक्ताप्रवालादि यच्च द्रव्यमचेतनम् ॥१९८॥
 तत्सर्वं विभुर^७ त्याक्षीन्निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकम्^८ । निष्परिग्रहतामुख्यामास्थाय^९ व्रतभावनाम् ॥१९९॥
 ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः । केशानलु^{१०} च्चदाबद्धपल्यङ्कः पञ्चमुष्टिकम् ॥२००॥
 निल्लुच्य^{११} बहुमोहाग्रवल्गुरीः केशवल्गुरीः । जातरूपधरो धारां जतीं दीक्षामुपावदं ॥२०१॥
 कृत्स्नाद् विरम्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं ययम् । यतगुप्तिसमित्यादीन् तद्भेदानां द्वे विभुः ॥२०२॥
 चैत्रे मास्थसिते पञ्चे सुसुहृते शुभोदये । नवम्यामुत्तराषाढे^{१२} सायाह्ने^{१३} प्राग्रजद् विभुः^{१४} ॥२०३॥

और स्नेहरूपी बन्धनसे रहित थे । यद्यपि वे दीक्षा धारण करनेके लिए अपने बन्धुयर्गोसे एक बार पूछ चुके थे तथापि उस समय उन्होंने फिर भी ऊँची और गम्भीर बाणी-द्वारा उनसे पूछा-दीक्षा लेनेकी आज्ञा प्राप्त की ॥१९३॥

तदनन्तर जब लोगोंका कोलाहल शान्त हो गया था, सब लोग दूर वापस चल गए थे, प्रातःकालके गम्भीर मंगलोंका प्रारम्भ हो रहा था और इन्द्र स्वयं भगवानकी परिचर्या कर रहा था तब जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह छोड़ दिया है और परिग्रहरहित रहनेकी प्रतिज्ञा की है, जो संसारकी सब वस्तुओंमें समताभाविका विचार कर रहे हैं और जो शुभ भावनाओंसे सहित हैं ऐसे उन भगवान् वृषभदेव यवनिकाके भीतर मोहको नष्ट करनेके लिए वस्त्र, आभूषण तथा माला वगैरहका त्याग किया ॥१९४-१९६॥ जो आभूषण पहले भगवान्के शरीरपर बहुत ही देवीयमान हो रहे थे वे ही आभूषण उस समय भगवान्के शरीरसे पृथक् हो जानेके कारण कान्तिरहित अवस्थाको प्राप्त हो गए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्थानभ्रष्ट हो जानेपर कौन-सी कान्ति रह सकती है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१९७॥ जिसमें निष्परिग्रहताकी ही मुख्यता है ऐसी व्रतोंकी भावना धारण कर, भगवान् वृषभदेवने दासी, दास, गौ, बैल आदि जितना कुछ चेतन परिग्रह था और मणि, मुक्ता, मूँगा आदि जो कुछ अचेतन द्रव्य था उस सबका अपेक्षारहित होकर अपनी देवोंकी और सिद्धोंकी साक्षीपूर्वक परित्याग कर दिया था ॥१९८-१९९॥ तदनन्तर भगवान् पूर्व दिशाकी ओर मुँह कर पद्मासनसे विराजमान हुए और सिद्ध परमेश्वरको नमस्कार कर उन्होंने पंचमुष्टियोंमें केश लोंच किया ॥२००॥ धीरे धीरे भगवान् वृषभदेवने मोहनीय कर्मकी मुख्यलताओंके समान बहुत-सी केशरूपी लताओंका लोंच कर दिगम्बर रूपके धारक होते हुए जिनदीक्षा धारण की ॥२०१॥ भगवान्ने समस्त पापारम्भसे विरक्त होकर सामायिक-चारित्र्य धारण किया तथा व्रत गुप्ति समिति आदि चारित्र्यके भेद ग्रहण किए ॥२०२॥ भगवान् वृषभदेवने चैत्र

१. मन्द्र वाद्य । २. अर्थगम्भीरया । ३. मन्तोपमनयत् । ४. सुप्रयुक्ते ६०, ४०, स० । ५. प्रशान्त-समये । ६. यवनिकायाः मध्ये । ७. निःसंगत्वे । ८. कृतप्रतिज्ञः । ९. विद्योपाद् । १०. दीप्तान्वा-म०, ल० । ११. यत्किञ्चिदधिचेतनम् अ०, म०, इ०, स०, ल० । १२. त्यक्तवान् । १३. आत्मदेवनिदसाक्षिकम् । १४. निःपरिग्रहता प०, अ० । १५. आश्रित्य । १६. 'लुचि केशापनयने' । १७. निल्लुच्य प०, अ०, द०, इ०, म०, ल० । लुञ्चनं कृत्वा । १८. मोहनीयाग्रवल्गुरीसदृशाः । १९. नक्षत्रे । २०. अषाढे । २१. प्राग्रजत्प्रभुः अ०, प०, द०, इ०, म०, ल०, स० ।

केशान् भगवतो मूर्ध्नि विरसासात्पवित्रितान् ।^१ प्रत्यैच्छन्मयवा रत्नपटलयां प्रातमानसः ॥२०४॥
 सितांशुकप्रतिच्छन्ने^२ पृथा रत्नसमुद्गके^३ । स्थिता रेजुर्विभाः केशा यथेन्द्रालक्ष्मलेशकाः ॥२०५॥
 विभूतमाङ्गसंस्पर्शादिमे^४ मूर्धन्यतामिताः । स्थाप्याः ससुषिते वेशे कस्मिदिचदनुपहतै^५ ॥२०६॥
 पञ्चमस्यार्णवस्यातिपवित्रस्य निसर्गतः । नीत्वोपायनतामेतं स्थाप्यास्तस्य शुचौ जले ॥२०७॥
 धन्याः केशा जगद्भुजैः^६ धिमुर्धमभिष्टिताः । धन्योऽसौ क्षीरसिन्धुश्च यस्तानां^७ पश्यत्युपायनम् ॥२०८॥
 इत्याकलत्थ नाकेशाः केशानादाय सादरम् । विभूत्या परया नीत्वा क्षीरोदे तान्विचित्रिषुः ॥२०९॥
 महतां संश्रयान्मूलं यान्तीज्यां मलिना अपि । मलिनैरपि यत्केशैः पूजायाप्ता^८ भित्तैर्गुहम् ॥२१०॥
 वस्त्राभरणमालयानि यान्युन्मुक्तान्यधीमिता । तान्यप्यनन्यसामान्या निन्युरत्युन्नतिं सुराः ॥२११॥
 चतुःसहस्रगणना नृपाः प्राप्ताजिपुस्तदा । गुरोर्मतमजानाना स्वामिमकथ्यैव केवलम् ॥२१२॥
 यदस्मै हस्तिनं भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः । इति प्रसन्नदीक्षास्ते केवलं द्रव्यलिङ्गिनः ॥२१३॥
 'इच्छानुवर्तनं भर्तुर्भृत्याचारः किलेत्यमी । भेजुः समौहयं नैर्ग्रन्थं द्रव्यतो न तु भावतः ॥२१४॥
 गरीयसो गुरो भक्तिमुच्चैराधिश्चिकीर्षवः'^९ । 'तद्गुणि विभरामासुः पार्थिवास्ते समन्वयाः'^{१०} ॥२१५॥

मासके कृष्ण पक्षको नवमीके दिन सायंकालके समय दीक्षा धारण की थी। उस दिन शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी और उत्तराषाढ़ नक्षत्र था ॥२०३॥ भगवान् के मस्तकपर चिरकाल तक निवास करनेसे पवित्र हुए केशोंको इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर रत्नोंके पिटारेमें रख लिया था ॥२०४॥ सफेद वस्त्रसे परिवृत उस बड़े भारी रत्नोंके पिटारेमें रखे हुए भगवान् के काले केश ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चन्द्रमाके काले चिह्नके अंश हो हों ॥२०५॥ 'ये केश भगवान् के मस्तकके स्पर्शसे अत्यन्त श्रेष्ठ अवस्थाको प्राप्त हुए हैं इसलिए इन्हें उपद्रवरहित किसी योग्य स्थानमें स्थापित करना चाहिए। पाँचवाँ क्षीरसमुद्र स्वभावसे ही पवित्र है इसलिए उसकी भेंट कर उसीके पवित्र जलमें इन्हें स्थापित करना चाहिए। ये केश धन्य हैं जो कि जगत् के स्वामी भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर अधिष्ठित हुए थे तथा यह क्षीरसमुद्र भी धन्य है जो इन केशोंको भेंटस्वरूप प्राप्त करेगा।' ऐसा विचारकर इन्द्रोंने उन केशोंको आदरसहित उठाया और बड़ी विभूतिके साथ ले जाकर उन्हें क्षीरसमुद्रमें डाल दिया ॥२०६-२०९॥ महापुरुषोंका आश्रय करनेसे मलिन (नीच) पुरुष भी पूज्यताको प्राप्त हो जाते हैं यह बात बिल्कुल ठीक है क्योंकि भगवान् का आश्रय करनेसे मलिन (काले) केश भी पूजाको प्राप्त हुए थे ॥२१०॥ भगवान् ने जिन वस्त्र आभूषण तथा माला वगैरहका त्याग किया था देवोंने उन सबकी भी असाधारण पूजा की थी ॥२११॥ उसी समय चार हजार अन्य राजाओंने भी दीक्षा धारण की थी। वे राजा भगवान् का मत (अभिप्राय) नहीं जानते थे, केवल स्वामि-भक्तिसे प्रेरित होकर ही दीक्षित हुए थे ॥२१२॥ 'जो हमारे स्वामीके लिए अच्छा लगता है वही हम लोगोंको भी विशेष रूपसे अच्छा लगना चाहिए' बस, यही सोचकर वे राजा दीक्षित होकर द्रव्यलिङ्गी साधु हो गये थे ॥२१३॥ स्वामीके अभिप्रायानुसार चलना ही सेवकोंका काम है यह सोचकर ही वे मूढ़ताके साथ मात्र द्रव्यकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हुए थे— नग्न हुए थे, भावोंकी अपेक्षा नहीं ॥२१४॥

बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए वे राजा, भगवान् में अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रकट करना

१. आदरे । २. छादिते । ३. संघटके । ४. मान्यताम् । ५. अनुपद्रवे । ६. प्राप्स्यति । ७. पूजा-
 याप्याभित्तैः—अ०, प०, इ०, द०, म०, ल० । ८. —व बोदिताः द०, इ०, म०, ल० । —व नोदिताः अ०,
 प०, स० । ९. इच्छानुवर्तनम् । १०. प्रकटीकर्तुमिच्छवः । ११. परमेश्वरवर्तनम् । १२. महान्वयाः प०, अ०,
 द०, म०, ल०, स० । समन्वयाः समाकुलविताः ।

गुरुः प्रमाणमस्माकमात्रिकामुत्रिकार्थयोः । इति कच्छान्वयो दीक्षां भेजिरे नृपतत्तमाः^१ ॥२१६॥
 स्नेहात् केचित् परं मोहाद् भयान् केचन पार्थिवाः । तपस्यां संगिरन्ते स्म^२ पुरोधयादिवेधसम् ॥२१७॥
 स तैः परिवृत्तो रंजे विभुरन्वक्तव्यतैः । कल्पाङ्घ्रिप^३ इवोद्ग्रः परीतो वालपादपैः ॥२१८॥
 स्वभावभास्वरं तेजस्तपोदीप्योपवृंहितम् । दधानः शरदो^४ वाक्को विदीपिततरां शिभुः ॥२१९॥
 जातरूपमिन्द्रोदारकान्तिकान्ततरं वभौ । जातरूपं प्रमोदीप्तं यथाचिंजातवेदसः^५ ॥२२०॥
 ततः स भगवानादिदेवो देवैः कृतार्चनः । दीक्षावल्ल्या परिव्वक्तः^६ कल्पाङ्घ्रिप इवावभौ ॥२२१॥
 तदा भगवतो रूपमसरूपं^७ विभास्वरम् । पश्यन्नेत्रसहस्रेण नापसृपितं सहस्रदृक् ॥२२२॥
 ततस्त्रिजगदीशानं परं ज्योतिर्गिरी पतिम् ।^८ तुल्यस्तुष्टुशिरस्युच्चैः स्वःश्रेष्ठाः^९ परमेष्ठिनम् ॥२२३॥
 जगत्स्वशरभीशानमभीष्टफलदायिनम् । स्वामनिष्ठविधाताय समभिद्युमहे^{१०} वयम् ॥२२४॥
 गुणास्ते गणनातीताः स्तूयन्तेऽस्मद्विधैः कथम् । मकर्या तथापि तद्व्या^{११} जातन्मः^{१२} प्रीक्षतिमाप्सनः ॥२२५॥
^{१३} बहिरन्तमंलापायात् स्फुरन्तीश गुणास्तव । वनोपरोधनिमुक्तमूर्तेरिव स्वेः कराः ॥२२६॥

चाहते थे इसलिए उन्होंने भगवान्-जैसी निर्गन्ध वृत्तिको धारण किया था ॥२१५॥ इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी कार्योंमें हमें हमारे गुरु-भगवान् वृषभदेव ही प्रमाणभूत हैं यही विचारकर कच्छ आदि उत्तम राजाओंने दीक्षा धारण की थी ॥२१६॥ उन राजाओंमेंसे कितने ही स्नेहसे, कितने ही मोहसे और कितने ही भयसे भगवान् वृषभदेवको आगे कर अर्थात् उन्हें दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हुए थे ॥२१७॥ जिनका संयम प्रकट नहीं हुआ है ऐसे उन द्रव्यलिङ्गी मुनियोंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प वृक्षोंसे घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्पवृक्ष ही हो ॥२१८॥ यद्यपि भगवान्-का तेज स्वभावसे ही देदीप्यमान था तथापि उस समय तपकी दीप्तिसे वह और भी अधिक देदीप्यमान हो गया था ऐसे तेजको धारण करनेवाले भगवान् उस सूर्यके समान अतिशय देदीप्यमान होने लगे थे जिसका कि स्वभावभास्वर तेज शरद् ऋतुके कारण अतिशय प्रदीप्त हो उठा है ॥२१९॥ जिस प्रकार अग्निकी ज्वालासे तपा हुआ सुवर्ण अतिशय शोभायमान होता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्तिसे अत्यन्त सुन्दर भगवान्-का तन रूप अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥२२०॥ तदनन्तर देवोंने जिनकी पूजा की है ऐसे भगवान् आदिनाथ दीक्षारूपी लतासे आलिङ्गित होकर कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२१॥ उस समय भगवान्-का अनुपम रूप अतिशय देदीप्यमान हो रहा था । उस रूपको इन्द्र हजार नेत्रोंसे देखता हुआ भी नृप नहीं होता था ॥२२२॥ तत्पश्चात् स्वर्गके इन्द्रोंने अतिशय सन्तुष्ट होकर तीनों लोकों-के स्वामी-उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप और वाचस्पति अर्थात् समस्त विद्याओंके अधिपति भगवान् वृषभदेवकी इस प्रकार जोर-जोरसे स्तुति की ॥२२३॥ हे स्वामिन्, आप जगत्के स्रष्टा हैं (कर्म-भूमिरूप जगत्की व्यवस्था करनेवाले हैं), स्वामी हैं-और अभीष्ट फलके देनेवाले हैं इसलिए हमलोग अपने अनिष्टोंको नष्ट करनेके लिए आपकी अच्छी तरहसे स्तुति करते हैं ॥२२४॥ हे भगवन्, हम-जैसे जीव आपके असंख्यात गुणोंकी स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं तथापि हम लोग भक्तिके वश स्तुतिके छलसे मात्र अपनी अत्माकी उन्नतिको विस्तृत कर रहे हैं ॥२२५॥ हे ईश, जिस प्रकार मेघोंका आवरण हट जानेसे सूर्यकी किरणें स्फुरित हो जाती हैं, उसी प्रकार

१. श्रेष्ठाः । २. अज्ञानात् । ३. तपसि । ४. प्रतिज्ञां कुर्वन्ति स्म । ५. कल्पाङ्घ्रिप ५०, अ० । ६. शरद्रीवाकः अ० । शरदेवाकौ इ०, ५०, ६०, ८०, ल० । ७. इव । ८. अग्नेः । ९. आलिङ्गितः । १०. असदृशम् । ११. मुदिताः । १२. स्वर्गश्रेष्ठाः इन्द्रा इत्यर्थः । १३. स्तोत्रं कुर्महे । १४. स्तुतिव्याजात् । १५. विस्तारयामः । १६. द्रव्यभावकर्ममलम् ।

त्रिलोकपावनीं पुण्यां जैनीं श्रुतिमित्राभल्याम् । प्रवज्यां दधते^३ तुभ्यं नमः सार्वाय^४ शंभवे ॥२२७॥
^५विध्यापितजगत्तापा जगतामेकपावनी । स्वर्गुनीव पुनोवाक्षो दीक्षेयं पारमेध्वरी^६ ॥२२८॥
^७सुवर्णा रुचिरा हृद्या^८ रत्नैर्दी^९ प्रैरलं कृता । ^{१०}रैधारेवामिनि^{११} क्कान्तिः सौम्याकीर्ण^{१२} धितोति^{१३} नः ॥२२९॥
^{१४}सुम्हावृत्तिष्ट^{१५} मानस्त्वं तत्कालोपनतैः^{१६} मितैः^{१७} । प्रबुद्धः परिणामैः प्राक् पश्चाह्लोकान्तिकामरैः ॥२३०॥
परिनिष्क्रमणे योऽयमभिप्रायो जगत्सृजः । स ते यतः स्वतो जातः^{१८} स्वयं बुद्धोऽस्यतो मुनेः ॥२३१॥
राज्यलक्ष्मीमसंभोगासामकल्य ललाभिमाम् । क्लेशहानाय^{१९} निर्वाणदीक्षां त्वं प्रत्यपद्यथाः ॥२३२॥
स्नेहाला^{२०} नकमुष्मुख्य विशतोऽद्य वनं तव । न कश्चित् प्रतिरोधो^{२१} भून्मदान्धस्यैव दन्तिनः ॥२३३॥
स्वप्नसंभोगनिर्भासा^{२२} भोगाः संप्रप्रणइवरो^{२३} । जोधितं चकमिद्व्याधास्व^{२४} मनः शाश्वते पथि ॥२३४॥

१. पवित्राम् । २. आगमम् । ३. दधानाय । ४. सर्वप्राणिहितोपदेशकाम । ५. निर्वापित । ६. परमेस्वर-
स्येयम् । ७. क्षत्रियादिवर्णा, पक्षे शोभनवान्तिमती च । सुवर्णरुचिता द०, म०, इ०, स०, ल० ।

द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी बहिरंग तथा अन्तरंग मलके हट जानेसे आपके गुण स्फुरित हो रहे हैं ॥२२७॥ हे भगवन्, आप जिनवाणीके समान मनुष्यलोकको पवित्र करनेवाली पुण्यरूप निर्मल जिनदीक्षाको धारण कर रहे हैं इसके सिवाय आप सबका हित करनेवाले हैं और सुख देनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२८॥ हे भगवन्, आपकी यह पार-
मेध्वरी दीक्षा गंगा नदीके समान जगत्त्रयका सन्ताप दूर करनेवाली है और तीनों जगत्को मुख्य रूपसे पवित्र करनेवाली है, ऐसी यह आपकी दीक्षा हम लोगोंको सदा पवित्र करे ॥२२९॥ हे भगवन्, आपकी यह दीक्षा धनकी धाराके समान हम लोगोंको सन्तुष्ट कर रही है क्योंकि जिस प्रकार धनकी धारा सुवर्ण अर्थात् सुवर्णमय होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सुवर्ण अर्थात् उत्तम यशसे सहित है । धनकी धारा जिस प्रकार रुचिरा अर्थात् कान्तियुक्त-मनोहर होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी रुचिरा अर्थात् सम्यक्त्वभावको देनेवाली है (रुचि श्रद्धा राति ददातीति रुचिरा) धनकी धारा जिस प्रकार हृद्या अर्थात् हृदयको प्रिय लगती है, उसी प्रकार यह दीक्षा भी हृद्या अर्थात् संयमोजनोंके हृदयको प्रिय लगती है और धनकी धारा जिस प्रकार देदीप्यमान रत्नोंसे अलंकृत होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूपी देदीप्यमान रत्नोंसे अलंकृत है ॥२२९॥ हे भगवन्, मुक्तिके लिए उद्योग करनेवाले आप तत्कालीन अपने निर्मल परिणामोंके द्वारा पहले ही प्रबुद्ध हो चुके थे, लौकान्तिक देवोंने तो नियोगवश पीछे आकर प्रतिबोधित किया था ॥२३०॥ हे मुनिनाथ, जगत्की सृष्टि करनेवाले आपका, दीक्षा धारण करनेके विषयमें जो यह अभिप्राय हुआ है वह आपको स्वयं ही प्राप्त हुआ है इसलिए आप स्वयम्बुद्ध हैं ॥२३१॥ हे नाथ, आप इस राज्य-
लक्ष्मीको भोगके अयोग्य तथा चंचल समझकर ही क्लेश नष्ट करनेके लिए निर्वाणदीक्षाको प्राप्त हुए हैं ॥२३२॥ हे भगवन्, मत्त हस्तीकी तरह स्नेहरूपी खूँटा उखाड़कर वनमें प्रवेश करते हुए आपको आज कोई भी नहीं रोक सकता है ॥२३३॥ हे देव, ये भोग स्वप्नमें भोगे हुए भोगोंके समान हैं, यह सम्पदा नष्ट हो जानेवाली है और यह जीवन भी चंचल है यही

१. पवित्राम् । २. आगमम् । ३. दधानाय । ४. सर्वप्राणिहितोपदेशकाम । ५. निर्वापित । ६. परमेस्वर-
स्येयम् । ७. क्षत्रियादिवर्णा, पक्षे शोभनवान्तिमती च । सुवर्णरुचिता द०, म०, इ०, स०, ल० ।
८. मेघधारिणी । ९. मनोहारिणी । १०. रत्नत्रयैः । ११. दीप्तै-अ०, म०, स०, ल० । १२. रत्नवृष्टिः ।
१३. परिनिष्क्रमणम् । १४. युद्धमत्संबन्धिनी । १५. प्रीणाति । १६. मोक्षार्थम् । १७. उद्योगं कुर्वणिः ।
१८. उपागतैः । १९. शुद्धैः । २०. यातः अ०, प०, इ०, स०, म०, ल० । २१. नाशाय । २२. बन्धस्तम्भम् ।
२३. प्रतिबन्धकः । २४. समाताः । २५. विनाशशीला । २६. करोषि ।

‘महारकवरीभृष्टिः’ कर्मणोऽष्टतयस्य या । तां प्रति प्रवक्तव्येषा त्वद्भवानामितिशिखोच्छ्रिता ॥२४५॥
 दृष्टत्त्र^३वरीभृष्टिः कर्मण्यकवनस्य या । तत्रोत्थिता कुटारीय रत्नत्रयमयी त्वया ॥२४६॥
 ज्ञानैराग्यसंपत्तिरतैरानन्यगोचरा । विमुक्तिसाधनायालं भक्तानां च ‘मयोच्छ्रिते’ ॥२४७॥
 इति ‘स्थार्था’ परार्था च बोधसंपदमूर्जिताम् । दधतेऽपि नमस्तुभ्यं विरागाय गरीयसे ॥२४८॥
 इत्यभिप्रेत्य नाकीन्द्राः प्रतिजग्मुः स्वमास्पदम् । तद्गुणानुरक्तं पूतामादाय स्वंत चेतसा ॥२४९॥
 ततो भरतराजोऽपि गुरुं भक्तिभरानतः । पूजयामास लक्ष्मीवान् उच्छावन्नचःस्रजा ॥२५०॥

मालिनीकण्वः

अथ भरतनरेन्द्रा रुद्रमन्त्रा मुनीन्द्र^१ ‘समधिगतसमाधि सावधान स्वसाधये’ ।
 सुरभिसलिलधारागन्धपुष्पाक्षताद्यै रयजत^२ जितमोहं सप्रदीपैश्च धूपैः ॥२५१॥
 ‘परिणतकलभेर्दाम्रजस्यूकपिथैः पनसलकुचमोचै’^३ ‘दाडिममालुहैः’^४ ।
 कमुकशचिरगुच्छैर्तारिकैर्लैश्च रम्यैः गुरुचरणसपर्यामातनोद्गाततश्च^५ ॥२५२॥
 कृतचरणसपर्यां भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना परिणिहित^६ ‘जानुः प्रोद्गतानन्दवापयः’ ।
 प्रणतिमतनुतोच्चैर्मौलिमाणिक्यरश्मिप्रविमलसलिलार्चैः क्षालयन्मनुरर्घ्या ॥२५३॥

आप मोहरूपी ग्राह अन्धकारको नष्ट करनेके लिए प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपकको लेकर चलते हैं इसलिए आप क्लेशरूपी गढ़में पड़कर कभी भी दुःखी नहीं होते ॥२४४॥ हे महारक, ज्ञान-वश्यादि आठ कर्मोंकी जो यह बड़ी भारी भट्टी बनी हुई है उसमें यह आपकी ध्यानरूपी अग्निकी ऊँची शिखा खुश जल रही है ॥२४५॥ हे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले सर्वेश देव, जो यह हरा-भरा आठों कर्मोंका यन्त्र है उसे नष्ट करनेके लिए आपने यह रत्नत्रयरूपी कुल्हाड़ी उठायी है ॥२४६॥ हे भगवान्, किसी दूसरी जगह नहीं पार्थी जानेवाली आपकी यह ज्ञान और वैराग्यरूपी सम्पत्ति ही आपको मोक्ष प्राप्त करानेके लिए तथा शरणमें आये हुए भक्त पुरुषोंका संसार नष्ट करनेके लिए समर्थ साधन है ॥२४७॥ हे प्रभो, इस प्रकार आप निज परकाहित करनेवाली उत्कृष्ट ज्ञानरूपी सम्पत्तिको धारण करनेवाले हैं तो भो परम वीतराग हैं इस-लिए आपको नमस्कार हो ॥२४८॥ इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र लोग भगवान्के गुणोंकी पवित्र स्मृति अपने हृदयमें धारण कर अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥२४९॥ तदनन्तर लक्ष्मीवान् महाराज भरतने भी भक्तिके भारसे अतिशय नम्र होकर अनेक प्रकारके वचनरूपी मालाओंके द्वारा अपने पिताकी पूजा की अर्थात् सुन्दर शब्दों-द्वारा उनकी स्तुति की ॥२५०॥ तत्पश्चात् उन्हीं भरत महाराजने बड़ी भारी भक्तिसे सुगन्धित जलकी धारा, गन्ध, पुष्प, अक्षत, दाप, धूप और अव्यसे समाधिको प्राप्त हुए (आत्मध्यानमें लीन) और मोक्षप्राप्तिरूप अपने कार्यमें सदा सावधान रहनेवाले, मोहनीय कर्मके विजेता मुनिराज भगवान् वृषभदेवकी पूजा की ॥२५१॥ तथा जिनकी लक्ष्मी बहुत ही विस्तृत है ऐसे राजा भरतने पके हुए मनोहर आम, जानुन, कैथा, कटहल, बड़हल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियोंके सुन्दर गुच्छे और नारियलोंसे भगवान्के चरणोंकी पूजा की थी ॥२५२॥ इस प्रकार जो भगवान्के चरणोंकी पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथिवीपर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रोंसे हृषिके आँसू निकल रहे हैं ऐसे राजा भरतने अपने उत्कृष्ट मुकुटमें लगे हुए मणियोंकी किरणरूप स्वच्छ जलके

१. पूज्यः । २. धरज पाके, अतिपाकः । ३. ‘बोवस्त्रु छेदने’ । अतिशयेन छेदम् । ४. भवच्छ्रिते म०, ल० । ५. स्वप्रजोजनाम् । ६. नानाप्रकारः । ७. संप्राप्तध्यानम् । ८. पूजाद्रव्यैः । ९. अपूजयत् । १०. पवत् । ११. कपर्दी । १२. मागुलिहैः अ०, प०, द०, म०, स०, इ०, ल० । १३. निःशेषः ।

स्तुतिभिरनुगताभालंक्रियाइलाचिनीभिः प्रकटितगुरुभक्तिः कलमधर्वसिनीभिः ।

सममवनिपुत्रैः स्वानुजन्मानुयातो^१ भरतपतिरुदारश्रीरयोध्योन्मुखोऽभूत् ॥२५४॥

अथ सरसिजचन्धौ मन्दमन्दायमानैः परिमृशति कशाग्रैः पश्चिमाशाङ्गनाथ्यम् ।

ध्रुवति महति मन्दं प्राल्लसत्केतुमालां प्रभुरविशदलङ्घ्यां स्वामिवाजानयोध्याम् ॥२५५॥

शार्दूलचिक्रीडितम्

तत्रस्थो^२ गुरुमादरात् परिचरन्^३ दूरादुदारोदयः कुर्वन् सर्वजनोपकारकर्मणो^४ वृत्तिं स्वराज्यस्थितां^५ ।

तन्वानः प्रमदं समाभिपु^६ गुरुन् संभावयन् सादरं भार्या चक्रधरी धरां चिरमपा^७ देकातपत्राङ्किताम् ॥२५६॥

इत्थं निष्क्रमणे गुरोः समुचितं कृत्वा सपर्याविधिं प्रत्यावृत्त्य^८ पुरीं निजामनुगतो राजाधिराजोऽनुजः^९ ।

प्रातः प्रातरनूधितो नृपगणैर्मैकस्या गुरोः^{१०} संस्मरन् दिक्चक्रं विधुतारिचक्रममुनक्^{११} पूर्व^{१२} यथासौ जिनः ॥२५७॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणे महापुराणसंग्रहे

भगवत्परिनिष्क्रमणं नाम सप्तदशं पर्व ॥१७॥

संस्कृत-भाषा-महापुराण-संग्रह-महापुराण-संग्रह-महापुराण-संग्रह

समूहसे भगवान् के चरणकमलोंका प्रक्षालन करते हुए भक्तिसे नम्र हुए अपने मस्तकसे उन्हीं भगवान् के चरणोंको नमस्कार किया ॥२५३॥ जिन्होंने उत्तम-उत्तम अर्थ तथा अलंकारों-से प्रशंसा करने योग्य और पापोंको नष्ट करनेवाली अनेक स्तुतियोंसे गुरुभक्ति प्रकट की है और जो बड़ी भारी विभूतिसे सहित हैं ऐसे राजा भरत अनेक राजपुत्रों और अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ अयोध्याके सम्मुख हुए ॥२५४॥

अथानन्तर जब सूर्य अपनी मन्द-मन्द किरणोंके अग्रभागसे पश्चिम दिशारूपी स्त्रीके मुखका स्पर्श कर रहा था और वायु शोभायमान पताकाओंके समूहको धीरे-धीरे हिला रहा था तब अपनी आज्ञाके समान उल्लंघन करनेके अयोग्य अयोध्यापुरीमें महाराज भरतने प्रवेश किया ॥२५५॥ जो बड़े भारी अध्युदयके धारक हैं और जो भार्या चक्रवर्ती हैं ऐसे राजा भरत उसी अयोध्यापुरीमें रहकर दूरसे ही आदरपूर्वक भगवान् वृषभदेवकी परिचर्या करते थे, उन्होंने अपने राज्यमें सब मनुष्योंका उपकार करनेवाली वृत्ति (आजीविका) का विस्तार किया था, वे अपने भाइयोंको सदा हर्षित रखते थे और गुरुजनोंका आदरसहित सम्मान करते थे । इस प्रकार वे केवल एक छत्रसे चिह्नित पृथिवीका चिर काल तक पालन करते रहे ॥२५६॥ इस प्रकार राजाधिराज भरत तपकल्याणकके समय भगवान् वृषभदेवकी यथोचित पूजा कर छोटे भाइयोंके साथ-साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौटे और वहाँ जिस प्रकार पहले जिनेन्द्रदेव भगवान् वृषभनाथ दिशाओंका पालन करते थे उसी प्रकार वे भी प्रतिदिन प्रातःकाल राजाओंके समूहके साथ उठकर भक्तिपूर्वक गुरुदेवका स्मरण करते हुए शत्रुमण्डलको नष्ट कर समस्त दिशाओंका पालन करने लगे ॥२५७॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षणे महापुराणसंग्रहमें

भगवान् के तप-कल्याणकका वर्णन करनेवाला सप्तहवीं पर्व समाप्त हुआ ॥१७॥



१. अनुगतः । २. व्राति सति । ३. परमेस्वरम् । ४. अतिशयात् । ५. स्थिताम् प०, म० । स्थितिम् प० । ६. नाभिराजादीन् । ७. 'पा रक्षणे' अपालयत् । ८. प्रत्यागत्य । ९. गुरुं ध्यायन् । १०. पालयति स्म ।

अष्टादर्श पर्व

अथ कायं समुत्सृज्य तपोयोगे समाहितः ।^१ वाचं च मन्त्रमास्थाय^२ तर्था विक्षेपेऽविमुक्तये ॥१॥

^३धम्मसातनशनं^४ आरः प्रतिज्ञाय महापुत्रिः^५ ।^६ चोर्गिज्ञान्यूनिरुद्धान्तर्बहिःकरणं^७ विक्रियः ॥२॥

^८वितस्त्यन्तरपादाग्रं^९ तत्पुण्यं शान्तरपार्श्विकम् । समसृज्यागतं स्थानमास्थाय^{१०} रचितस्थितिः ॥३॥

कठिनेऽपि शिलापट्टे न्यस्तपादपयोरुहः । लक्ष्म्योपदर्शकितं^{११} गूढमास्थितः पद्मविष्टरम् ॥४॥

किमप्यन्तर्गतं जलपञ्चक्यक्ताश्वरमश्वरः^{१२} । निगूढनिर्भरारावगुब्जद्गुह्यं ह्रवाचलः ॥५॥

सुप्रसन्नोऽञ्ज्वलां मूर्तिं प्रलम्बितभुजद्वयाम् । शमस्येव परां मूर्तिं दधानां ध्याननिद्वये ॥६॥

शिरः शिरोरुहापायात् सुव्यक्तपरिमण्डलम् । रोचि^{१३} उष्णीषं^{१४} मुष्णांशुमण्डलस्पदि^{१५} धारयन् ॥७॥

अथ मङ्गलपादाङ्गं^{१६} वीक्षणं स्तिमितेक्षणम्^{१७} । विभ्राणां मुग्धमकिलष्टं सुदिलष्टदशनच्छदम् ॥८॥

सुगन्धिमुखविःश्वासगन्धाद्भूतैरलिमजैः । बहिर्निष्कासिताशुद्ध^{१८} लेख्यांशैरिव लक्षितः ॥९॥

अथानन्तर समस्त लोकके अधिपति भगवान् वृषभदेव शरीरसे समत्व छोड़कर तथा तपोयोगमें सावधान हो मौन धारणकर मोक्षप्राप्तिके लिए स्थित हुए ॥१॥ योगोंकी एकाग्रतासे जिन्होंने मन तथा वाह्य इन्द्रियोंके समस्त विकार रोक दिये हैं ऐसे धीरे-धीरे महासन्तोषी भगवान् छह महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा कर स्थित हुए थे ॥२॥ वे भगवान् सम, सीधी और लम्बी जगहमें कायोत्सर्ग धारण कर खड़े हुए थे । उस समय उनके दोनों पैरोंके अग्र भागमें एक वितस्ति अर्थात् बारह अंगुलका और एड़ियोंमें चार अंगुलका अन्तर था ॥३॥ वे भगवान् कठिन शिलापर भी अपने चरणकमल रखकर इस प्रकार खड़े हुए थे मानो लक्ष्मीके द्वारा लाकर रखे हुए सुप्र पद्मासनपर ही खड़े हों ॥४॥ वे अश्वर अर्थात् अविनाशी भगवान् भीतर-ही-भीतर अस्पष्ट अक्षरोंसे कुछ पाठ पढ़ रहे थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो जिसकी गुफाएँ भीतर छिपे हुए निर्जरनोंके शब्दसे गूँज रही हैं ऐसा कोई पर्वत ही हो ॥५॥ जिसमें दोनों भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी अत्यन्त प्रसन्न और उज्ज्वल मूर्तिको धारण करते हुए वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो ध्यानकी सिद्धिके लिए प्रशमगुणकी उत्कृष्ट मूर्ति ही धारण कर रहे हों ॥६॥ केशोंका लोंच हो जानेसे जिसका गोल परिमण्डल अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था, जिसका ब्रह्मद्वार अतिशय देदीप्यमान था और जो सूर्यके मण्डलके साथ स्पर्द्धा कर रहा था, ऐसे शिरको वे भगवान् धारण किये हुए थे ॥७॥ जो भौंहोंके भंग और कटाक्ष अबलोकनसे रहित था, जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल थे और ओठ खेदरहित तथा मिले हुए थे ऐसे सुन्दर मुखको भगवान् धारण किये हुए थे ॥८॥ उनके मुखपर सुगन्धित निःश्वासकी सुगन्धसे जो भ्रमरोंके समूह उड़ रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो अजुद्ध (कुण्ठ नील

१. मौनित्वम् । २. आश्रित्य । ३. पद्मसातन-ब० । ४. सन्तोषः । ५. ध्यानान्धवृत्तिप्रतिबन्धितमन-
स्वक्षुरादीन्द्रियव्यापारः । ६. बहिःकरण-ब०, अ०, प० । ७. द्वादशाङ्गुलान्तर । 'वितस्तिद्विदशाङ्गुलम्'
इत्यभिधानात् । ८. चतुरङ्गुलान्तर । ९. आश्रित्य । १०. उपनीतम् । ११. नित्यः । १२. प्रकाशनशीलम् ।
१३. उष्णीषो नाम ब्रह्मद्वारस्थो ग्रन्थिविक्षेपः । 'भाग्यातिशयसम्भूतिज्ञापनं मस्तकाङ्गजम् । तजोमण्डलमुष्णीष-
मामनन्ति मनीषिणः ।' १४. अपगतकटाक्षेक्षणम् । १५. स्थिरदृष्टिम् । १६. कुण्ठावशुमलेख्या ।

तिष्ठेदकं दिनं द्वे वा कामं त्रिचतुराणि वा । परं भामावधेस्तिरःस्नस्मान् क्लेशयगाशिता ॥२०॥
 कामं तिष्ठतु वा भुक्त्वा पोष्या निर्वाण्य^१ नः पुनः । अनाश्वाजिं प्रतीकारः तिष्ठन्निष्ठं करोति नः ॥२१॥
 साध्यं किमधोदिश्य तिष्ठे^२दूर्ध्वजुर्गतिता । पाद्गुण्ये पठितो नैव गुणः कोपि भर्ताक्षितार्म् ॥२२॥
 अनेकोपद्रवाकोणे वनेऽस्मिन् रक्षया त्रिना । तिष्ठन्न नीतिविद् भर्ता रक्ष्यो ह्यात्मा प्रयत्नतः ॥२३॥
 प्रायः प्राणेषु निर्विण्णो^३ देहमुत्सृज्य^४ मोहते । निर्विण्णो^५ वयमेतेन तपसा प्राणहारिणा ॥२४॥
 वन्यैः^६ कशिपुमिस्नावत् कन्दमूलफलादिभिः । प्राणयात्रा^७ करिष्यामो यावदोगावधिगुरोः ॥२५॥
 इति दीनतरं केष्विन्निर्यपेक्षास्तपोविधौ । भुवाणाः कातरा दीनां कृत्ति प्रयुन्मुखाः स्थिताः ॥२६॥
 परे परापरज्ञे^८ तं परितोऽभ्यर्णवर्तिनः । इति कर्तव्यतामूढाः तस्थुरन्तश्चलाचलाः^९ ॥२७॥
 शयाने शयितं भुक्तं भुजाने तिष्ठति स्थितम् । गतं गच्छति राज्यस्थे तपःस्थेऽप्यास्थितं^{१०} नपः ॥२८॥

हम समझते थे कि भगवान् एक दिन, दो दिन अथवा ज्यादासे-ज्यादा तीन चार दिन तक खड़े रहेंगे परन्तु यह भगवान् तो महीनों पर्यन्त खड़े रहकर हम लोगोंको क्लेशित (दुःखी) कर रहे हैं ॥२०॥ अथवा यदि स्वयं भोजन पान कर और हम लोगोंको भी भोजन पान आदिसे सन्तुष्ट कर फिर खड़े रहते तो अच्छी तरह खड़े रहते, कोई हानि नहीं थी परन्तु यह तो बिल्कुल ही उपवास धारण कर भूख-प्यास आदिका कुछ भी प्रतीकार नहीं करते और इस प्रकार खड़े रहकर हम लोगोंका ताश कर रहे हैं ॥२१॥ अथवा न जाने किस कार्यके उद्देश्यसे भगवान् इस प्रकार खड़े हुए हैं । राजाओंके जो सन्धि, विग्रह आदि छह गुण होते हैं उनमें इस प्रकार खड़े रहना ऐसा कोई भी गुण नहीं पढ़ा है ॥२२॥ अनेक उपद्रवोंसे भरे हुए इस वनमें अपनी रक्षाके बिना ही जो भगवान् खड़े हुए हैं उससे ऐसा मात्तूम होता है कि यह नीतिके जानकार नहीं हैं क्योंकि अपनी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥२३॥ भगवान् प्रायः प्राणोंसे विरक्त होकर शरीर छोड़नेकी चेष्टा करते हैं परन्तु हम लोग प्राणहरण करनेवाले इस तपसे ही खिन्न हो गये हैं ॥२४॥ इसलिए जबतक भगवान्के योगकी अवधि है अर्थात् जबतक इनका ध्यान समाप्त नहीं होता तबतक हम लोग वनमें उत्पन्न हुए कन्द, मूल, फल आदिके द्वारा ही अपनी प्राणयात्रा (जीवन निर्वाह) करेंगे ॥२५॥ इस प्रकार कितने ही कातर पुरुष तपस्यासे उदासीन होकर अत्यन्त दीन बचन कहते हुए दीनवृत्ति धारण करनेके लिए तैयार हो गये ॥२६॥ हमें क्या करना चाहिए इस विषयमें मूर्ख रहनेवाले कितने ही मुनि पूर्वापर (आगा-पीछा) जाननेवाले भगवान्के चारों ओर समीप ही खड़े हो गये और अपने अन्तःकरणको कभी निश्चल तथा कभी चंचल करने लगे । भावार्थ-कितने ही मुनि समझते थे कि भगवान् पूर्वापरक जाननेवाले हैं इसलिए हम लोगोंके पूर्वापरका भी विचार कर हम लोगोंसे कुछ-न-कुछ अवश्य कहेंगे ऐसा विचारकर उनके समीप ही उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये । उस समय जब वे भगवान्के गुणोंकी ओर दृष्टि डालते थे तब उन्हें कुछ धैर्य प्राप्त होता था और जब अपनी दीन अवस्थापर दृष्टि डालते थे तब उनकी बुद्धि चंचल हो जाती थी-उनका धैर्य झूट जाता था ॥२७॥ वे मुनि परस्परमें कह रहे थे कि जब भगवान् राज्यमें स्थित थे अर्थात् राज्य करते थे तब हम उनके सो जानेपर सोते थे, भोजन कर चुकनेपर भोजन करते थे, खड़े होनेपर खड़े रहते थे और गमन करनेपर गमन करते थे तथा अब जब भगवान् तपमें स्थित हुए अर्थात् जब

१. बहुमासम् (?) । २. सन्तर्प्य । ३. अनश्वानवान् । ४. -प्रतिप्रतीकारः अ०, प० । ५. नाशम् ।

६. ऊर्ध्वजानुः । -दूर्ध्वजं मोक्षिता अ० । ७. सन्धि-विग्रहयानासनद्विधाध्ययलक्षणे । ८. अत्रियाणाम् ।

९. विरक्तः । १०. त्यक्तुम् । ११. विरक्ताः । १२. वनभवैः । १३. अश्वानाच्छादनैः । 'कशिपुभोजनाच्छादी' ।

१४. प्राणप्रवृत्तिम् । १५. पृथिवीविदम् । १६. अन्तरङ्गे अरुचलाः । १७. आश्रितम् ।

भृत्याचारोऽयमस्माभिः पूर्वं सर्वोऽप्यनुष्ठितः । कालः कुलाभिमानस्य गतोऽथ प्राणसंकटे ॥२९॥
 वने प्रवसतोऽस्माभिर्न भुक्तं जीवनं प्रभोः^५ । यावच्छक्ताः स्थितास्तावदशक्ताः किं नु कुर्महे ॥३०॥
 मिथ्या^६ कारयते योगं गुरु रस्मात्तु निर्दयः । स्पर्धां कृत्वा सदैवेन सर्वं व्यं किमशक्तैः^७ ॥३१॥
 अनिवर्त्ती गुरुः सोऽयं कोऽस्यान्वेतुं पदं^८ क्षमः । देवः स्वच्छन्दचार्येष न देवचरितं चरेत् ॥३२॥
 'कच्चिज्जीवति मे माता कच्चिज्जीवति मे पिता । कच्चित् स्मरन्ति तः कान्ताः कच्चिन्नः सुस्थिताः प्रजाः'^९
 इति स्वान्तरात् केचिच्छोच^{१०} स्थातुमक्षमाः । अच्छे^{११} वज्र गुरोः पादौ प्रणताः^{१२} गमनोत्सुकाः ॥३३॥
 भद्रो गुरुरयं धीरः किमप्युद्दिश्य कारणम्^{१३} जितान्मां स्वक्तराज्यधोः पुनः संयोज्यते तथा ॥३४॥
 यदायमद्य वा द्यौ वा योर्गं संहृत्य धीरधीः । निजराज्यधिया भूयो योज्यते वदतां वरः ॥३५॥
 तदास्मान्स्वामिकार्येऽस्मिन् भग्नोत्साहान् कृतच्छक्तान्^{१४} निर्यासयेदमच्छ्रयं कुर्याद्वा^{१५} वीतसंपदः ॥३६॥
 भरतो वा गुरुं त्यक्त्वा गतान्स्मान् विकशयेत् ।^{१६} तथायथागनिवृत्तिविमोक्षादस्मद्विग्रहं ॥३७॥

इन्होंने तपश्चरण करना प्रारम्भ किया तब हम लोगोंने तप भी धारण किया । इस प्रकार सेवकका जो कुछ कार्य है वह सब हम पहले कर चुके हैं परन्तु हमारे कुलाभिमानका वह समय आज हमारे प्राणोंको संकट देनेवाला बन गया है अथवा इस प्राणसंकटके समय हमारे कुलाभिमानका वह काल नष्ट हो गया है ॥२९-२९॥ जवसे भगवान्ने वनमें प्रवेश किया है तबसे हमने जल भी ग्रहण नहीं किया है । भोजन पानके बिना ही जबतक हम लोग समर्थ रहे तबतक खड़े रहे परन्तु अब सामर्थ्यहीन हो गये हैं इसलिष्ट क्या करें ॥३०॥ मालूम होता है कि भगवान् हमपर निर्दय हैं—कुछ भी दया नहीं करते, वे हमसे झूठमुठ ही तपस्या कराते हैं, इनके साथ थरावरीकी स्पर्धा कर क्या हम असमर्थ लोगोंको मर जाना चाहिए ? ॥३१॥ ये भगवान् अब धरको नहीं लौटेंगे, इनके पदका अनुसरण करनेके लिए कौन समर्थ है ? ये स्वच्छन्दचारी हैं इसलिये इनका किया हुआ काम किसीको नहीं करना चाहिए ॥३२॥ क्या मेरी माता जीवित हैं, क्या मेरे पिता जीवित हैं, क्या मेरी स्त्री मेरा स्मरण करती है और क्या मेरी प्रजा अच्छी तरह स्थित है ? ॥३३॥ इस प्रकार वहाँ ठहरनेके लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग अपने मनकी बात स्पष्ट रूपसे कहकर वर जानेकी इच्छासे बार-बार भगवान्के सम्मुख जाकर उनके चरणोंको नमस्कार करते थे ॥३४॥ कोई कहते थे कि अहा, ये भगवान् बड़े ही धीर-वीर हैं इन्होंने अपनी आत्माको भी बश कर लिया है और इन्होंने किसी-न-किसी कारणको उद्देश्य कर राज्य-लक्ष्मीका परित्याग किया है इसलिये फिर भी उससे युक्त होंगे अर्थात् राज्यलक्ष्मी स्वीकृत करेंगे ॥३५॥ स्थिर बुद्धिको धारण करनेवाले और बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव जब आज या कल अपना योग समाप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मीसे पुनः युक्त होंगे तब भगवान्के इस कार्यमें जिन्होंने अपना उत्साह भग्न कर दिया है अथवा छल किया है ऐसे हम लोगोंको अपमानित कर अवश्य ही निकाल देंगे और सम्पत्तिरहित कर देंगे अर्थात् हम लोगोंकी सम्पत्तियाँ हरण कर लेंगे ॥३६-३६॥ अथवा यदि हम लोग भगवान्को छोड़कर जाते हैं तो भरत महाराज हम लोगोंको कष्ट देंगे इसलिये जयक भगवान्का योग समाप्त होता है तबतक हम लोग

१. गतोऽथ म०, ल० । २. प्रविशतो—म०, ल० । ३. अशनपानादि । ४. प्रभोः सकाशात् । ५. ईर्ष्यादित्यर्थः । ६. प्रभुर—म०, ल० । ७. असमर्थैरस्माभिः । ८. पदवीम् । ९. 'कच्चित् क्वचित् संशये' इति धनंजयः । कच्चित् इष्टप्रश्ने । 'कच्चित् कामप्रवेक्षने' इत्यमरः । १०. स्मरति तः कान्ता य० । क्वचित् स्मरति मे कान्ता अ० । कच्चित् स्मरति मे कान्ता म०, ल० । ११. पुत्राः । १२. दृढमभिधाय । अच्छेत्यव्ययेन समाप्ते त्यक् भवति । १३. वस्तुम् । १४. अभिमुखं गत्वा । अनुग्रज्य म०, म०, ल० । १५. प्रणताः सन्तः । १६. जितेन्द्रियः । १७. निष्कामयेत् । १८. विगतः । १९. तत्कारणात् ।

भगवान्कृत्वा ह्यः सिद्धयोर्यो यथेदं धृतम् । निरुपयोगं कृतकलेशाभ्युपमानस्यैव परमम् ॥३५॥

गुरोर्वा गुरुपुत्राहा पंडितं नैव जानु नः । पूजामस्कारलभ्यैश्च प्रीतः सर्प्राणयेत् स नः ॥३६॥

इति धीरतया केचिदन्तःश्रोत्रेऽप्य नानुराः । धीर्यन्तोऽपि नात्मानं शोकः स्थापयितुं स्थिता ॥३७॥

अभिमानधनाः केचिद् भूयोऽपि स्थानुमुद्यताः । पतिस्त्वाप्यनघं भूमौ संस्मर्युत्पादयोः ॥३८॥

इत्युत्थाय च संजलयैः संकल्पेन पृथग्विधैः । विरम्यते तपःकलेशाज्जीविकायां मतिं व्यथुः ॥३९॥

‘मूर्खोऽस्मत्’ शिर्भादसदृश्यः पृच्छतोमुखाः । अशक्त्या लज्जया चान्ये जेजिरं स्खलितां गतिम् ॥४०॥

‘अनापृच्छत गुरुं केचित् केचिदापृच्छन् योगिनम् । परीत्य प्रणताः प्राणयात्रायां मतिमादधुः ॥४१॥

केचित्तमेव शरणं नान्या गतिरिहास्ति नः । इति ब्रुवाणा विद्राणाः प्राणयात्रे मतिं व्यथुः ॥४२॥

‘अथप्रणिष्ठावः केचिद् वेषमानप्रतीककाः । गुरोः पराङ्मुखीभूय जाता व्रतपराङ्मुखाः ॥४३॥

पश्योः पतिनाः केचित् परित्रायस्व नः प्रभोः । ‘अश्रामाज्ञानं क्षमस्वेति ब्रुवन्तोऽन्तर्हिता गुरोः ॥४४॥

पश्योः पतिनाः केचित् परित्रायस्व नः प्रभोः । ‘अश्रामाज्ञानं क्षमस्वेति ब्रुवन्तोऽन्तर्हिता गुरोः ॥४४॥

यही सब कुछ सहन करें ॥३५॥ यह भगवान् अवश्य ही आज या कलमें सिद्धयाग ही जाचेंगे अर्थात् इनका योग सिद्ध हो जायेगा और योगके सिद्ध हो चुकनेपर अनेक कलेश सहन करने-वाले हम लोगोंको अवश्य ही अंगीकृत करेंगे — किसी न किसी तरह हमारी रक्षा करेंगे ॥३६॥ ऐसा करनेसे हम लोगोंको न तो कभी भगवान्से कोई पोड़ा होगी और न उनके पुत्र भरतसे ही । किन्तु प्रसन्न होकर वे दोनों ही पूजा-सत्कार और धनादिके लाभसे हम लोगोंको सन्तुष्ट करेंगे ॥३७॥ इस प्रकार कितने ही मुनि अन्तरंगमें श्रोत्र रहते हुए भी धीरताके कारण दुःखी नहीं हुए थे और कितने ही पुरुष आत्माको धैर्य देते हुए भी उसे उचित स्थितिमें रखनेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥३८॥ अभिमान ही है धन जिनका ऐसे कितने ही पुरुष फिर भी वहाँ रहनेके लिए तैयार हुए थे और निर्वल होनेके कारण परवश जमीनपर पड़कर भी भगवान्के चरणोंका स्मरण कर रहे थे ॥३९॥ इस प्रकार राजा अनेक प्रकारके ऊँचे-नीचे भाषण और संकल्प-विकल्प कर तपश्चरणसंम्यन्धी कलेशसे विरक्त हो गये और जीविकामें बुद्धि लगाने लगे अर्थात् उपाय सोचने लगे ॥४०॥ कितने ही लोग अशक्त होकर भगवान्के मुखके सम्मुख देखने लगे और कितने ही लोगोंने लज्जाके कारण अपना मुख पीछेकी ओर फेर लिया । इस प्रकार धीरे-धीरे स्खलित गतिको प्राप्त हुए अर्थात् क्रम-क्रमसे जानेके लिए तत्पर हुए ॥४१॥ कितने ही लोग योगिराज भगवान् वृषभदेवसे पूछकर और कितने ही बिना पूछे ही उनकी प्रशिक्षणा देकर और उन्हें नमस्कार कर प्राणयात्रा (आजीविका) के उपाय सोचने लगे ॥४२॥ हे देव, आप ही हमें शरणरूप हैं इस संसारमें हम लोगोंकी और कोई गति नहीं है, ऐसा कहकर भागते हुए कितने ही पुरुष अपने प्राणोंकी रक्षामें बुद्धि लगा रहे थे—प्राणरक्षा-के उपाय विचार रहे थे ॥४३॥ जिसके प्रत्येक अंग थरथर काँप रहे हैं ऐसे कितने ही लज्जा-वान पुरुष भगवान्से पराङ्मुख होकर व्रतोंसे पराङ्मुख हो गये थे अर्थात् लज्जाके कारण भगवान्के पाससे दूसरी जगह जाकर उन्होंने व्रत छोड़ दिये थे ॥४४॥ कितने ही लोग भगवान्के चरणोंपर पड़कर कह रहे थे कि ‘हे प्रभो ! हमारी रक्षा कीजिए, हम लोगोंका शरीर भूखसे बहुत ही कृश हो गया है अतः अब हमें क्षमा कीजिए’ इस प्रकार कहते हुए वहाँसे अन्तर्हित

१. पालयिष्यति ।—नभ्युपपत्त्यते प० । २. अनाकुलाः । श्रोत्रेऽपि नानुराः । ३. नानाप्रकार ।

४. नानाविधः । ५. जीविते । ६. मुखस्याभिमूखम् । ७. वान्ये ल०, प्र० । ८. अभिज्ञातः । ९. प्राणप्रवृत्ती ।

१०. पलायमानाः । ११. शरणे । १२. लज्जापीलाः । ‘लज्जा पीलोऽप्यविष्णुः’ इत्यभिधानात् ।

१३. कम्पमानप्रतीकाः । १४. कुम्भ ।

अहो किमुषयो^१ भगवा महयगन्तुमक्षमाः । पदवीं तामनालीडामभ्यः सामान्यमर्त्यकैः ॥४९॥
 किं महादन्तनो मारं निर्वाहुं कलमाः क्षमाः । पुंगवर्वा मरं कृष्टं कपयुः^२ किमु दम्बकाः^३ ॥५०॥
 ततः परोपहैर्भग्नाः फलान्याहर्तुमिच्छन्वः^४ । प्रसस्वर्धनपण्डेषु^५ सरस्सु च पिपासिताः ॥५१॥
 फलेग्रहीनिमान् दण्ड्वा पिपासुश्च^६ स्वयं^७ ग्रहः । श्वेषधन्वै^८ वमीहृष्वमिति तान् वनदेवताः ॥५२॥
 इदं रूपमदीनानामर्हतां चक्रिणामपि । निषेज्यं कातरत्वस्य पदं माकार्ण्टं बालिशाः ॥५३॥
 इति तद्वचवाद् भीतास्तद्रूपेण तथेहितुम् । नानाविधानिमान् वेषान् जगृहुर्दीनचेष्टिताः ॥५४॥
 तैल्लिङ्गं चक्रलिंगं^९ कूष्माण्डं^{१०} दण्डपदं^{११} पुण्ड्रं^{१२} परिधाय परे जीर्णं कौपीनं चक्ररीयितम् ॥५५॥
 अपरं भस्मनोदगुण्ड्यं स्वान् देहान् जटिनोऽभवन् । एकदण्डधराः केचिकेचिच्चासंस्त्रिण्डिनः ॥५६॥
 प्राणैरात्तास्तदेत्यादिवेषैर्वृत्तिरे चिरम् । वन्यैः कशिपुभिः स्वच्छैर्जलैः कन्दादिभिश्च ते ॥५७॥
 भरताद् विभ्यतां तेषां देशत्यागः स्वतोऽभवत् । ततस्ते वनमाश्रित्य तस्थुस्तत्र कृतोदजाः^{१३} ॥५८॥
 तदासंस्त्रापलाः पूर्वं परित्राजश्च केचन । पायणिङ्गां तै^{१४} प्रथमै^{१५} बभूवुर्मोहदूषिताः ॥५९॥
 पुष्पोपहारैः सज्जलैर्मनुः पादावयश्चतै^{१६} । न देवतान्तरं तेषामासीन्मुक्त्वा स्वयंभुवम् ॥६०॥

हो गये थे-अन्यत्र चले गये थे ॥४८॥ खेद है कि जिसे अन्य साधारण मनुष्य स्पर्श भी नहीं कर सकते ऐसे भगवान् के उस मार्गपर चलनेके लिए असमर्थ होकर वे सवा खोटे ऋषि तपस्या से भ्रष्ट हो गये सो ठीक हो है क्योंकि बड़े हाथीके बोझको क्या उसके बच्चे भी धारण कर सकते हैं ? अथवा बड़े बैलों-द्वारा खींचे जाने योग्य बोझको क्या छोटे बछड़े भी खींच सकते हैं ? ॥४९-५०॥ तदनन्तर परोपहोंसे पीड़ित हुए वे लोग फल लानेकी इच्छासे वनखण्डोंमें फैलने लगे और प्याससे पीड़ित होकर तालाबोंपर जाने लगे ॥५१॥ उन लोगोंको अपने ही हाथसे फल ग्रहण करते और पानी पीते हुए देखकर वनदेवताओंने उन्हें मना किया और कहा कि ऐसा मत करो । हे मुखौं, यह दिगम्बर रूप सर्वश्रेष्ठ अरहन्त तथा चक्रवर्ती आदिके द्वारा भी धारण करने योग्य है इसे तुम लोग कातरताका स्थान मत बनाओ । अर्थात् इस उत्कृष्ट वेषको धारण कर दीनोंकी तरह अपने हाथसे फल मत तोड़ो और न तालाब आदिका अप्राप्तुक पानी पीओ ॥५२-५३॥ वनदेवताओंके ऐसे वचन सुनकर वे लोग दिगम्बर वेषमें वैसा करने-से डर गये इसलिए उन दीन चेष्टावाले भ्रष्ट तपस्वियोंने नीचे लिखे हुए अनेक वेष धारण कर लिये ॥५४॥ उनमें-से कितने ही लोग वृक्षोंके चल्कल धारण कर फल खाने लगे और पानी पीने लगे और कितने ही लोग जीर्ण-शीर्ण लंगोटी पहनकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे ॥५५॥ कितने ही लोग शरीरको भस्मसे लपेटकर जटाधारी हो गये, कितने ही एकदण्डको धारण करनेवाले और कितने ही तीन दण्डको धारण करनेवाले साधु बन गये थे ॥५६॥ इस प्रकार प्राणोंसे पीड़ित हुए वे लोग उस समय ऊपर लिखे अनुसार अनेक वेष धारणकर वनमें होनेवाले वृक्षोंकी लालरूप वस्त्र, स्वच्छ जल और कन्द मूल आदिके द्वारा बहुत समय तक अपनी वृत्ति (जीवन निर्वाह) करते रहे ॥५७॥ वे लोग भरत महाराजसे डरते थे इसलिए उनका देशत्याग अपने आप ही हो गया था अर्थात् वे भरतके डरसे अपने-अपने नगरोंमें नहीं गये थे किन्तु झोंपड़े बनाकर वसी वनमें रहने लगे थे ॥५८॥ वे लोग पाखण्डी तपस्वी तो पहलेसे ही थे परन्तु उस समय कितने ही परित्राजक हो गये थे और मोहोदयसे दूषित होकर पाखण्डियोंमें मुख्य हो गये थे ॥५९॥ वे लोग जल और फूलोंके उपहारसे भगवान् के चरणों-

१. कुत्सिता ऋषयः । २. धृतम् । ३. बह्वैयुरिति यावत् । ४. वत्सतराः । ५. प्रसरन्ति स्म । ६. वनखण्डेषु अ० । ७. फलानि स्वीकृर्वाणान् । ८. पातुमिच्छन् । ९. निजस्वोकारैः । १०. निवारयन्ति स्म । ११. -धन्वै- ५०, अ० । १२. भक्षयन्ति स्म । १३. कृतपर्णशालाः । 'पर्णशालोदजोऽस्त्रिणाम्' इत्यभिधानात् । १४. तु प्रथमं अ० । १५. भक्ष्याः । १६. पूजयन्ति स्म ।

मरीचिश्च गुरोर्नृणां परिग्राहभूयसास्थितः^१ । मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धान्तभाषितः ॥६१॥

^२ तदुपशमभूद् योगशास्त्रं तन्त्रं च कापिलम्^३ । येनार्थं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥६२॥

इति मेतु तथाभूतां वृत्तिमासेदिवसु सः । तपस्यन् धोत्रलोपितस्तथैवास्थान्महामुनिः ॥६३॥

स मेरुश्च निष्कम्पः सांश्रौभ्यो जलराशिवत् । स वायुश्च निःसंगो निलेपांश्चरन् प्रभुः ॥६४॥

तपस्तापेन तीव्रेण देशोऽस्य व्यमुक्तस्तमः । निष्टप्तस्य सुदर्णस्य ननु छायान्तरं भवेत् ॥६५॥

गुप्तयो^४ गुप्तिरस्यासन्नज्ज्ञानं^५ च संयमः । गुणाश्च सैनिका जाताः कर्मसन्तनु^६ जिगोपनः ॥६६॥

तपोऽनशनमाद्यं स्याद् द्वितीयभवमोदरम् । तृतीयं वृत्तिमंस्थानं स्याद्व्यागश्चतुर्थकम् ॥६७॥

पञ्चमं^७ तनुमंतापो विविक्तशयनासनम् । षष्ठमिष्यस्य वाह्यानि तपस्यासन् महापुतेः ॥६८॥

प्रायश्चित्तादिभेदेन षोडशान्वन्तरं तपः^८ । तत्रास्थ ध्यान एवासीत् परं तात्पर्यमांशितुः ॥६९॥

अत्रानि पञ्च पञ्चैव समित्याख्याः प्रचलकाः ।^९ पञ्च चेन्द्रियसंरोधाः षोडशैकमिष्यते ॥७०॥

केशलोचश्च भूशय्या दन्तधावनमेव च । अचेलत्वमथासनं स्थितिभोजनमप्यदः ॥७१॥

एकमुक्तं च तस्यासन् गुणो मौलाः पदातयः । तपस्यस्य महर्ता शुद्धिरभूत् ध्यानविशुद्धितः^{१०} ॥७२॥

की पूजा करते थे । स्वयम्भू भगवान् वृषभदेवकी छोड़कर उनके अन्य कोई देवता नहीं था ॥६०॥ भगवान् वृषभदेवका नाती मरीचिकुमार भी परिव्राजक हो गया था और उसमें मिथ्या शास्त्रोंके उपदेशसे मिथ्यात्वकी वृद्धि की थी ॥६१॥ योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र प्रारम्भमें उसीके द्वारा कहे गये थे, जिनसे मोहित हुआ यह जीव सम्यग्ज्ञानसे पराङ्मुख हो जाता है ॥६२॥ इस प्रकार जब कि वे ब्रह्मविहीन मुनि कपट कही हुई अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिको प्राप्त हो गये तब बुद्धि बलसे सहित महामुनि भगवान् वृषभदेव उसी प्रकार तपस्या करते हुए विश्रमान रहे थे ॥६३॥ वे प्रभु मेरुवर्तके समान निष्कम्प थे, समुद्रके समान शोभरहित थे, वायुके समान परिग्रहरहित थे और आकाशके समान निलेप थे ॥६४॥ तपश्चरणके तीव्र तापसे भगवान्का शरीर बहुत ही देश्प्यमान हो गया था सो ठीक ही है, तपाये हुए सुदर्णकी कान्ति निश्चयसे अम्य हो ही जाती है ॥६५॥ कर्मरूपी शत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्की मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तिवाँ ही किले आदिके समान रक्षा करनेवालों थी, संयम ही शरीरकी रक्षा करनेवाला कवच था और सम्यग्दर्शन आदि गुण ही उनके सैनिक थे ॥६६॥

पहला उपवास, दूसरा अवमौर्ध्य, तीसरा वृत्तिपरिसंख्यान, चौथा रसवरित्याग, पाँचवाँ कायक्लेश और छठवाँ विविक्तशय्यासन यह छह प्रकारके वास्तव महा धीर-वीर भगवान् वृषभदेवके थे ॥६७-६८॥ अन्तरङ्ग तप भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका ही है । उनमें-से भगवान् वृषभदेवके ध्यानमें ही अधिक दखरता रहती थी अर्थात् वे अधिकतर ध्यान ही करते रहते थे ॥६९॥ पाँच महाव्रत, समिति नामक पाँच मुप्रयत्न, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोच, पृथिवीपर सोना, दालीन नहीं करना, तग्न रहना, स्नान नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एक बार ही भोजन करना इस प्रकार अट्ठाईस मूल गुण भगवान् वृषभदेवके विद्यमान थे जो कि उनके पदातियों अर्थात् पैदल चलनेवाले सैनिकोंके समान थे । ध्यानकी विशुद्धताके कारण भगवान्के इन

१. परिव्राजकत्वम् । २. आधितः । ३. तेन मरीचिना प्रबभौदिति । ४. ध्याननाशम् ।

५. सांख्यम् । ६. वास्तवम् । ७. संरक्षणम् । ८. कवचम् । ९. कर्मेभ्यः अ०, म०, ल० । १०. कायक्लेशः ।

११. पञ्चैकान्त्य-अ०, प०, म०, ल० । १२. ध्यानविशुद्धिः अ०, प०, अ०, ग०, र० ।

महानशनमस्यासीत् तपः षण्मासगोचरम् । शरीरोऽपचयस्त्रिद्वः^१ तथैवास्यादहो^२ घृतिः^३ ॥७३॥
 नानाशुषो^४ऽप्यभूत् मनुः स्वलोऽप्यङ्गे परिश्रमः । निर्माणातिशयः^५ कोऽपि दिव्यः स^६ हि महारमनः ॥७४॥
 संस्कारविरहान् केशा जटीभूतास्तदा विभोः । नूनं तेऽपि तपःफलं समनुसोढुं तथा स्थिताः ॥७५॥
 मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसन्नुः^७ पवनोद्धताः । ध्यानाग्निनेत्रं तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥७६॥
 तत्तपोऽतिशयात्तस्मिन् काननेऽभूत् परा घृतिः । नक्तं दिवा च बालाकैर्जसेवातनान्तिके ॥७७॥
 शाखाः पुष्पफलानन्नाः शाखिनां तत्र कानने । बभुर्मंगवतः पार्श्वे तमन्त्रं ह्येव भक्तितः ॥७८॥
 तस्मिन् वने वनलता भृङ्गसंगीतनिःस्वनेः । उपर्याणितमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥७९॥
 पर्यन्तघटितः क्षमाज्ञा गलद्भिः कुसुमैः स्वयम् । पुष्पोपहारमतन्वन्निष भक्त्यास्य पादयोः ॥८०॥
 मृगशाशः पशोपान्तं स्वैरमध्वासिना मुनेः । तदाश्रमस्य शान्तस्वमाचक्षुः सामितिद्रिताः^८ ॥८१॥
 मृगारित्वं समुत्सृज्य सिंहाः संहतवृत्तयः^९ । बभूवुर्गजयूथेन माहात्म्यं तद्धि योगजम् ॥८२॥
 कण्टकालम्बवालाग्राश्चमरीश्च मरीमृजाः^{१०} । नखरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकम्पं व्यमोचयन् ॥८३॥
^{११} प्रस्तुवान्ता महाध्यायीरुपेभ्य मृगशावकाः ।^{१२} स्तनजनन्यास्थया स्वैरं पीत्वा स्म सुखमासते ॥८४॥

गुणोमें बहुत ही विशुद्धता रहती थी ॥७०-७२॥ यद्यपि भगवान्ने छह महीनेका सहोपवास नप किया था तथापि उनके शरीरका उपचय पहलेकी तरह ही देदीप्यमान बना रहा था । इससे कहना पड़ता है कि उनकी धीरता बड़ी ही आश्चर्यजनक थी । ॥७३॥ यद्यपि भगवान् चिलकुल ही आहार नहीं लेते थे तथापि उनके शरीरमें रंचमात्र भी परिश्रम नहीं होता था । वास्तवमें भगवान् वृषभदेवकी शरीररचना अथवा उनके निर्माण नामकर्मका ही वह कोई दिव्य अतिशय था ॥७४॥ उस समय भगवान्के केश संस्काररहित होनेके कारण जटाओंके समान हो गये थे और वे ऐसे मालूम होते थे मानो तपस्याका क्लेश सहन करनेके लिए ही ऐसे कठोर हो गये हों ॥७५॥ वे जटाएँ वायुसे उड़कर महामुनि भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर दूर तक फैल गयीं थीं, सो ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यानरूपी अग्निसे तपाये हुए जीवरूपी स्वर्णसे निकली हुई कालिमा ही हो ॥७६॥ भगवान्के तपश्चरणके अतिशयसे उस विस्तृत वनमें रात-दिन ऐसी उत्तम कान्ति रहती थी जैसी कि प्रातःकालके सूर्यके तेजसे होती है ॥७७॥ उस वनमें पुष्प और फलके भारसे नम्र हुई वृक्षोंकी शाखाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिसे भगवान्के चरणोंको नमस्कार ही कर रही हों ॥७८॥ उस वनमें लताओंपर बैठे हुए ध्रुवर संगीतके समान मधुर शब्द कर रहे थे जिससे वे वनलताएँ ऐसी मालूम होनी थीं मानो भक्तिपूर्वक वीणा बजाकर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका यशोगान ही कर रही हों ॥७९॥ भगवान्के समीपवर्ती वृक्षोंसे जो अपने आप ही फूल गिर रहे थे उनसे वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे मानो भक्तिपूर्वक भगवान्के चरणोंमें फूलोंका उपहार ही विस्तृत कर रहे हों अर्थात् फूलोंकी भेंट ही चढ़ा रहे हों ॥८०॥ भगवान्के चरणोंके समीप ही अपनी इच्छानुसार कुछ-कुछ निद्रा लेते हुए जो हरिणोंके बच्चे बैठे हुए थे वे उनके आश्रमकी शान्तता बतला रहे थे ॥८१॥ सिंह हरिण आदि जन्तुओंके साथ बेरभाव छोड़कर हाथियोंके झुण्डके साथ मिलकर रहने लगे थे सो यह सब भगवान्के ध्यानसे उत्पन्न हुई महिमा ही थी ॥८२॥ अहा, कैसा आश्चर्य था कि जिनके बालोंके अग्रभाग काँटोंमें उलझ गये थे और जो उन्हें बार-बार सुलझानेका प्रयत्न करती थी ऐसी चमरी गायोंको बाघ बड़ी दयाके साथ अपने नखोंसे छुड़ा रहे थे अर्थात् उनके बाल सुलझा कर उन्हें जहाँ-तहाँ जानेके लिए स्वतन्त्र कर रहे थे ॥८३॥ हरिणोंके बच्चे दूध देती हुई बाघनियोंके पास जाकर और उन्हें अपनी माता समझ इच्छानुसार दूध पीकर सुखी

१. पुष्टिः । २. दीप्नः । ३. संतोषः । ४. अनशनवृत्तिनः । ५. शरीरवर्णनातिशयः । ६. अपरिश्रमः । ७. इव । ८. 'मृ गती' लिट् । ९. वीणया उपगोषते स्म । १०. ईपसिद्रिताः । ११. युवतप्रवृत्तयः । १२. पुनः पनमजितं युवन्तः । १३. क्षीरं अस्तीः । १४. निजमातृवृद्ध्या ।

पद्मोत्पत्त्य नन्देमाः समुत्पुल्लं सरोरुहम् । त्रिकशामासुरानोय तपःशक्तिरहो परा ॥८२॥
 वर्मा राजाधमारक्तं करिणां पुष्कराश्रितम् । पुष्करश्रियमात्रेण कुर्वद्भक्तुर्वासने ॥८३॥
 प्रथमस्य विभोरङ्गान् विस्मरन्त इवांशकाः । प्रसह्य वशमानिन्युरवमानपि तान् मृगान् ॥८४॥
 अनाश्रुयोऽपि नास्यासीत् क्षुब्धाधा भुवमेशिनः । संशोषभावनोरकर्षाज्जयद्भुक्तिं मगधनुता ॥८५॥
 चलन्ति स्म तदेन्द्राणामासनान्यस्य योगतः । चित्रं हि महतां धैर्यं जगदाकम्पकारणम् ॥८६॥
 इति पद्मासनिर्वृत्त्यधितिमायामापुषः । स कालः क्षणवद्भक्तुर्गमद् धैर्यशालिनः ॥८७॥
 अत्रान्तरे किलायाता^१ कुमारो सुकुमारको । सूनू कच्छमहाकच्छनृपयोर्निकटं गुरोः ॥८८॥
 समिधं विनमिदधेति प्रसीतो भक्तिनिर्भरः । भगवत्पादसंसेवां कर्तुकामो युवशिरो ॥८९॥
 भोगेषु सतृषावेतो प्रसीदेति कृतानती । पदद्वयेऽस्य संलग्नो भेजतुर्ध्यानविघ्नताम् ॥९०॥
 त्वंश पुत्रनृभ्यः संविभक्तमभूदिदम् । साक्षाज्जं विस्मृतावाचामतो^२ भोगान् प्रयच्छ तौ ॥९१॥
 हृष्येयमनुभूयन्तो युक्तायुक्तानभिज्ञौ । तौ तदा जलपुष्पाधि^३ पासामासतुविभुम् ॥९२॥
 ततः स्थासनकम्पेन^४ तदज्ञासीत्^५ कर्णोद्वरः । धरणेन्य इति ख्यातिमुद्रहन् भावनामरः ॥९३॥

होते थे ॥८४॥ अहा, भगवान्‌के तपश्चरणकी शक्ति बड़ी ही आश्चर्यकारक थी कि वनके हाथी भी फूले हुए कमल लाकर उनके चरणोंमें चढ़ाते थे ॥८५॥ जिस समय वे हाथी फूले हुए कमलों-द्वारा भगवान्‌की उपासना करते थे उस समय उनके सँडके अग्रभागमें स्थित लाल कमल ऐसे सुशोभित होते थे मानो उनके पुष्कर अर्थात् सँडके अग्रभागकी शोभाको दूनी कर रहे हों ॥८६॥ भगवान्‌के शरीरसे फैलती हुई शान्तिकी किरणोंने कभी किसीके वश न होने-वाले सिंह आदि पशुओंको भी हठान् वशमें कर लिया था ॥८७॥ यद्यपि त्रिलोकीनाथ भगवान् स्पर्शास कर रहे थे-कुछ भी आहार नहीं लेते थे तथापि उन्हें भूखकी श्राधा नहीं होती थी, सो ठीक ही है, क्योंकि सन्तोषरूप भावनासे उत्कर्षसे जो अनिच्छा उत्पन्न होती है वह हमएक प्रकारकी इच्छाओं (लम्पटता) को जीत लेती है ॥८८॥ उस समय भगवान्‌के ध्यानके प्रताप से इन्द्रोंके आसन भी कम्पायमान हो गये थे । वास्तवमें यह भी एक बड़ा आश्चर्य है कि महापुरुषोंका धैर्य भी जगत्‌के कम्पनका कारण हो जाता है ॥८९॥ इस तरह छह महीनेमें समाप्त होनेवाले प्रतिमा योगको प्राप्त हुए और धैर्यसे शोभायमान रहनेवाले भगवान्‌का वह लम्बा समय भी क्षणभरके समान व्यतीत हो गया ॥९०॥ इसीके बीचमें महाराज कच्छ, महा-कच्छके लड़के भगवान्‌के समीप आये थे । वे दोनों लड़के बहुत ही सुकुमार थे, दोनों ही तरुण थे, नमि तथा विनमि उनका नाम था और दोनों ही भक्तिसे निर्भर होकर भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना चाहते थे ॥९१-९२॥ वे दोनों ही भोगोपभोगविषयक तृष्णासे सहित थे इसलिए भगवान्, 'प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहते हुए वे भगवान्‌को नमस्कार कर उनके चरणोंमें लिपट गये और उनके ध्यानमें विघ्न करने लगे ॥९३॥ हे स्वामिन्, आपने अपना यह साम्राज्य पुत्र तथा पौत्रोंके लिए बाँट दिया है । बाँटते समय हम दोनोंको भुला ही दिया-इसलिए अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए ॥९४॥ इस प्रकार वे भगवान्‌से बार-बार आग्रह कर रहे थे, उन्हें उचित-अनुचितका कुछ भी ज्ञान नहीं था और वे दोनों उस समय जल, पुष्प तथा अर्घ्यसे भगवान्‌की उपासना कर रहे थे ॥९५॥ तदनन्तर धरणेन्द्र नामको धारण करनेवाले, भवनवासियोंके अन्तर्गत नागकुमार देवोंके इन्द्रने अपना आसन कम्पायमान होनेसे नमि, विनमिके इस समस्त वृत्तान्तको जान लिया ॥९६॥ अधिज्ञानके द्वारा इन

१. हस्ताग्रश्रितम् । २. द्विगुणीकुर्वत् । ३. आराधने । ४. अंशाः । ५. बलात्कारेण । ६. कांशाम् ।

७. अनभिलाषिता । ८. ध्यानतः । ९. भविष्यन् । १०. गनस्व । -मोयुषः ५० । ११. आगती । १२. अस्मोत् कारणात् । १३. आगती । १४. आराधनां चक्रतुः । १५. ध्यानविघ्नत्वम् । १६. वृषुधे ।

जान्वा चावधिबोधेन तत्सर्वं संविधानकम् । ससंभ्रमसंयतोऽथाय सौऽन्तिकं मर्तुरागमत् ॥९०॥

समर्पे यः समुद्रमिच्छ भुवः प्राप्तः स तत्क्षणम् । समक्षिष्ट मुनि दूरान्महामेरुमिवोन्नतम् ॥९१॥

समिद्धया तपोदीप्त्या ज्वलद्भामुरविग्रहम् । निवातनिश्चलं दीपमिव योगे समाहितम् ॥९२॥

कर्माहुतीर्महाध्यानहुताग्नें दग्धुमुद्यतम् । सुयज्वानमिवो हेयदयापत्नीपरिग्रहम् ॥९३॥

महोदयमुद्रग्राह्यं सुवंशं मुनिकुञ्जरम् । रुद्धं तपोमहालानस्तम्भे सद्यस्तरज्जुभिः ॥९४॥

अकम्पस्थितिमुत्तुङ्गमहासत्त्वैरुपासितम् । महाद्रिमिव बिभ्राणं क्षमाभरसहं वपुः ॥९५॥

योगान्तं निर्भृतात्मानमतिगम्भीरचेष्टितम् । निवातस्तिमितस्वाब्धेर्न्यंकुर्वाणं गम्भीरताम् ॥९६॥

समस्त समाचारोंको जानकर वह धरणेन्द्र बड़े ही संभ्रमके साथ उठा और शीघ्र ही भगवान्‌के समीप आया ॥९०॥ वह उसी समय पूजाकी सामग्री लिये हुए, पृथिवीको भेदन कर भगवान्‌के समीप पहुँचा । वहाँ उसने दूरसे ही मेरु पर्वतके समान ऊँचे मुनिराज वृषभदेवको देखा ॥९१॥ उस समय भगवान् ध्यानमें लब्धलीन थे और उनका देर्दण्यमान शरीर अतिशय बड़ी हुई तपकी दीप्तिसे प्रकाशमान हो रहा था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो वायुरहित प्रदेशमें रखे हुए दीपक ही हों ॥९२॥ अथवा वे भगवान् किसी उत्तम यज्ञा अर्थात् यज्ञ करनेवाला समान शोभायमान हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार यज्ञ करनेवाला अग्निमें आहुतियाँ जलानेके लिए तत्पर रहता है उसी प्रकार भगवान् भी महाध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी आहुतियाँ जलानेके लिए उद्यत थे । और जिस प्रकार यज्ञ करनेवाला अपनी पत्नीसे सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी कभी नहीं छोड़ने योग्य दयारूपी पत्नीसे सहित थे ॥९३॥ अथवा वे मुनिराज एक कुञ्जर अर्थात् हाथीके समान मालूम होते थे क्योंकि जिस प्रकार हाथी महोदय अर्थात् भाग्यशाली होता है उसी प्रकार भगवान् भी महोदय अर्थात् बड़े भारी ऐश्वर्यसे सहित थे । हाथीका शरीर जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी ऊँचा था, हाथी जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठकी उत्तम रीढ़से सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी सुवंश अर्थात् उत्तम कुलसे सहित थे और हाथी जिस प्रकार रस्सियों-द्वारा खम्भेमें बँधा रहता है उसी प्रकार भगवान् भी उत्तम व्रतरूपी रस्सियों-द्वारा तपरूपी बड़े भारी खम्भेमें बँधे हुए थे ॥९४॥ वे भगवान् सुमेरु पर्वतके समान उत्तम शरीर धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अकम्पायमान रूपसे खड़ा है उसी प्रकार उनका शरीर भी अकम्पायमान रूपसे (निश्चल) खड़ा था, मेरु पर्वत जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार उनका शरीर भी ऊँचा था, सिंह, व्याघ्र आदि बड़े-बड़े क्रूर जीव जिस प्रकार सुमेरु पर्वतकी उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ रहते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े क्रूर जीव शान्त होकर भगवान्‌के शरीरकी भी उपासना करते थे अर्थात् उनके समीपमें रहते थे, अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार इन्द्र आदि महासत्त्व अर्थात् महाप्राणियोंसे उपासित होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी इन्द्र आदि महासत्त्वोंसे उपासित था अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़तासे उपासित होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़ता (धीर-वीरता) से उपासित था, और सुमेरु पर्वत जिस प्रकार क्षमा अर्थात् पृथिवीके भारको धारण करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी क्षमा अर्थात् शान्तिके भारको धारण करनेमें समर्थ था ॥९५॥ उस समय भगवान्‌ने अपने अन्तःकरणको ध्यानके भीतर निश्चल कर लिया था तथा उनकी चेष्टाएँ अत्यन्त गम्भीर थीं इसलिए वे वायुके न चलनेसे निश्चल हुए समुद्रकी गम्भीरताको

परीषद्महावाणैरक्षोभ्यमजलाशयम् । दीपयादोभिस्सृष्टमपूर्वमिव वारिधिम् ॥१०४॥
 सादरं च समासाद्य पश्यन् भगवतो वपुः । विस्मिन्मये तपोलक्ष्म्या परिरक्ष्यमधीक्ष्यतां ॥१०५॥
 परीक्ष्य प्रणतो भक्त्या स्तुत्वा च स जगद्गुरुम् । कुमारमिति सौपात्यमवदत् संयुताकृतिः ॥१०६॥
 युवां युवानौ दृश्येथे सायुधौ विकृताकृता । तपोवनं च पश्यामि प्रशान्तमिदमूजितम् ॥१०७॥
 क्वेदं तपोवनं शान्तं क्व युवां मीषणाकृता । प्रकाशतमसोरेष संगमो नन्वसंगतः ॥१०८॥
 अहो निन्द्यतरा भोगा वैरक्ष्यानेऽपि योजयेत् । प्रार्थनामथिनां का वा युक्तायुक्तविचारणा ॥१०९॥
 श्रवाञ्छयो युवां भोगान् देवोऽयं भोगनिःस्पृहः । तद्वा शिलातलेऽभोजयाम्ना निग्रीयतेऽयं नः ॥११०॥
 सस्पृहः स्वयमन्यांश्च सस्पृहानेव मन्यते । को नाम स्पृहयन्दीमान् भोगान् पर्यन्ततापिनः ॥१११॥
 'आपातमात्ररम्भाणां भोगानां वशगः पुमान् । महानप्यथिता दीपात् सद्यस्तृण' लघुर्भवेत् ॥११२॥
 युवां चेद्भोगकाम्यन्तौ^१ व्रजतं भरतान्तिकम् । स हि साम्राज्यधैर्यो^२ वर्तते नृपपुरुषवः ॥११३॥

भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥१०३॥ अथवा भगवान् किसी अनोखे समुद्रके समान जान पड़ते थे क्योंकि उपलब्ध समुद्र तो वायुसे क्षुब्धित हो जाता है परन्तु वे परीषद् रूपी महावायुसे कभी भी क्षुब्धित नहीं होते थे, उपलब्ध समुद्र तो जलाशय अर्थात् जल है आशयमें (मध्यमें) जिसके ऐसा होता है परन्तु भगवान् जलाशय अर्थात् जड (अधिवेक युक्त) है आशय (अभिप्राय) जिनका ऐसे नहीं थे, उपलब्ध समुद्र तो अनेक मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओंसे भरा रहता है परन्तु भगवान् दीपरूपी जल-जन्तुओंसे छुए भी नहीं गये थे ॥१०४॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके समीप वह धरणेन्द्र बड़े ही आदरके साथ पहुँचा और अतिशय बड़ी हुई तपस्वी लक्ष्मीसे आलिङ्गित हुए भगवान् के शरीरको देखता हुआ आश्चर्य करने लगा ॥१०५॥ प्रथम ही उस धरणेन्द्रने जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया, उनको स्तुति की और फिर अपना वेश छिपाकर वह उन दोनों कुमारोंसे इस प्रकार सयुक्तिक वचन कहने लगा ॥१०६॥ हे तरुण पुरुषो, ये हथियार धारण किये हुए तुम दोनों मुझे विकृत आकार-वाले दिखलाई दे रहे हो और इस उत्कृष्ट तपोवनको अत्यन्त शान्त देख रहा हूँ ॥१०७॥ कहाँ तो यह शान्त तपोवन, और कहाँ भयंकर आकारवाले तुम दोनों ? प्रकाश और अन्ध-कारके समान तुम्हारा समागम क्या अनुचित नहीं है ? ॥१०८॥ अहो, यह भोग बड़े ही निन्दनीय हैं जो कि अयोग्य स्थानमें भी प्रार्थना कराते हैं अर्थात् जहाँ याचना नहीं करनी चाहिए वहाँ भी याचना कराते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि याचना करनेवालोंको योग्य अयोग्यका विचार ही कहाँ रहता है । ॥१०९॥ यह भगवान् तो भोगोंसे निःस्पृह हैं और तुम दोनों उनसे भोगोंकी इच्छा कर रहे हो सो तुम्हारी यह शिलातलसे कमलकी इच्छा आज हम लोगोंको आश्चर्य-युक्त कर रही है । भावार्थ-जिस प्रकार पत्थरकी शिलासे कमलोंकी इच्छा करना व्यर्थ है उसी प्रकार भोगोंकी इच्छासे रहित भगवान् से भोगोंकी इच्छा करना व्यर्थ है ॥११०॥ जो मनुष्य स्वयं भोगोंकी इच्छासे युक्त होता है वह दूसरोंको भी वैसा ही मानता है, अरे, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अन्तमें सन्ताप देनेवाले इन भोगोंकी इच्छा करता हो ॥१११॥ प्रारम्भ मात्रमें ही मनोहर दिखाई देनेवाले भोगोंके वश हुआ पुरुष चाहे जितना बड़ा होनेपर भी याचना-रूपी दीपसे शीघ्र ही तृणके समान लघु हो जाता है ॥११२॥ यदि तुम दोनों भोगोंको चाहते हो तो भरतके समीप जाओ क्योंकि इस समय वही साम्राज्यका भार धारण करनेवाला है और

१. आलिङ्गितम् । २. अत्यर्थं प्रयुज्या । ३. आकारान्तरेणाच्छादितनिजाकारः । ४. अपोत्यध्याहारः ।

५. तत्कारणात् । ६. युवयोः । ७. चित्रं करोति । ८. परिणमतकालः । ९. अनुभवमात्रम् । १०. यात्रा ।

११. तृणवल्गुः । १२. भोगमिच्छन्तो । १३. धुरन्धरः ।

यगत्रांस्यन्तरागादियंगो देहेऽपि निःस्पृहः । कुतो^१ वामधुना दगाद् भोगान् भोगस्पृहायुगः ॥११४॥
 ततोऽलमुपहृदयैर्^२ देवं सुकृत्यर्थमुद्यतम् । भुक्तिकामो^३ युवां यातं^४ भरतं पर्युपासितुम् ॥११५॥
 इति तद्वचनस्यान्ते कुमारैः प्रत्ययोच्यताम् । परकार्येषु वः कास्था^५ तूष्णीं यात सहाधियः ॥११६॥
 यद्यत्र युक्तमन्यद्वा^६ जानीमस्तद्वचं वयम् । अनभिज्ञा भवन्तोऽत्र^७ साधयन्तु यथेष्टित्वम् ॥११७॥
 वर्षीयांसो^८ यवीयांस^९ इति भेदो वयस्कृतः । न बौधदुर्ध्वार्धव्ये न यून्यपचयो धियः ॥११८॥
 वयसः परिणामेन^{१०} धियः प्रत्येण मन्दितम् । कुतः^{११} कृतानां^{१२} वयस्याथे ननु मंधा विवर्धने ॥११९॥
 नवं वयो न दोषाय न गुणाय दशान्तरम् । नवोऽपीन्दुर्जनाह्लादो दहस्यग्निर्जरन्नपि ॥१२०॥
 अष्टः कार्यमाचष्टे यः स षष्ठरो मतः । न^{१३} पिष्टुच्छिषिता यूयमावाभ्यां कार्यमोदयम् ॥१२१॥
 अष्टकार्यनिर्देशैः^{१४} व्यलीकामिष्टवाटुभिः^{१५} । ललयन्ति स्वका^{१६} लोकं न सद्वृत्ता भवद्विधाः ॥१२२॥
 नामृष्टमापिणी जिह्वा चेष्टा नानिष्टकारिणी । नान्योपवातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेऽपि धीमताम् ॥१२३॥

वहो श्रेष्ठ राजा है ॥११३॥ भगवान् तो राग, द्वेष आदि अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग कर चुके हैं और अपने अंगीरसे भी निःस्पृह हो रहे हैं, अब यह भोगोंकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको भोग कैसे दे सकते हैं ? ॥११४॥ इसलिए, जो केवल मोक्ष जानेके लिए उद्योग कर रहे हैं ऐसे इन भगवान्के पास धरना देना व्यर्थ है । तुम दोनों भोगोंके इच्छुक हो अतः भरतकी उपासना करनेके लिए उसके पास जाओ ॥११५॥ इस प्रकार जब वह धरणेन्द्र कह चुका तब वे दोनों नमि, विनमि कुमार उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे कि दूसरेके कार्योंमें आपकी यह क्या आस्था (आदर, वृद्धि) है ? आप महा बुद्धिमान हैं, अतः यहाँ से चुपचाप चले जाइए ॥११६॥ क्योंकि इस विषयमें जो योग्य अथवा अयोग्य हैं उन दोनोंको हम लोग जानते हैं परन्तु आप इस विषयमें अनभिज्ञ हैं इसलिए जहाँ आपको जाना है जाइए ॥११७॥ ये वृद्ध हैं और ये तरुण हैं यह भेद तो मात्र अवस्थाका किया हुआ है । वृद्धावस्थामें न तो कुछ ज्ञानकी वृद्धि होती है और न तरुण अवस्थामें बुद्धिका कुछ ह्रास ही होता है, बल्कि देखा ऐसा जाता है कि अवस्थाके पकनेसे वृद्धावस्थामें प्रायः बुद्धिकी मन्दता हो जाती है और प्रथम अवस्थामें प्रायः पुण्यवान् पुरुषोंकी बुद्धि बढ़ती रहती है ॥११८-११९॥ न तो नवीन-तरुण अवस्था दोष उत्पन्न करनेवाली है और न वृद्ध अवस्था गुण उत्पन्न करनेवाली है क्योंकि चन्द्रमा नवीन होने-पर भी मनुष्योंको आह्लादित करता है और अग्नि जीर्ण (बुझनेके सम्मुख) होनेपर भी जलाती ही है ॥१२०॥ जो मनुष्य बिना पूछे ही किसी कार्यको करता है वह बहुत ठोठ समझा जाता है । हम दोनों ही इस प्रकारका कार्य आपसे पूछना नहीं चाहते फिर आप व्यर्थ ही बीचमें क्यों बोलते हैं ॥१२१॥ आप-जैसे निष्क आश्चरणवाले दृष्ट पुरुष बिना पूछे कार्योंका निर्देश कर तथा अत्यन्त असत्य और अनिष्ट चापलूसीके वचन कहकर लोगोंको ठगा करते हैं ॥१२२॥ बुद्धिमान् पुरुषोंकी जिह्वा कभी स्वप्नमें भी अशुद्ध भाषण नहीं करती, उनकी चेष्टा कभी दूसरोंका अनिष्ट नहीं करती और न उनकी स्मृति ही दूसरोंका विनाश करनेके लिए कभी कठोर

१. युवयोः । २. उपरोधेनालम् । 'निषेधेऽलं खलु क्त्वा वेति वर्तते ।' निषेधे वर्तमानयोरलं खलु इत्येवयोरुपपदमोर्ध्वानोः क्त्वा प्रत्ययो वा भवतीति वचनात् । यथाप्राप्तं च । अलंकृत्वा । खलुकृत्वा । अलं बाले रुदित्वा । अलं बाले रोदनेन । अलंखलाधिति किम् ? मा भावि नार्थो रुदितेन । निषेध इति किम् ? अलंकारं सिद्धं खलु । ३. भोगकामो । ४. गच्छतम् । ५. यातः । ६. अयुक्तम् । ७. अस्मद्विषये । ८. वृद्धाः । ९. युवानः । १०. परिपाकेन । ११. कुतः कृत्यादिना निष्पन्न आत्मा बुद्धिर्येषां ते कुतः आत्मानस्तेषाम्, 'आत्मा यतनो धृतिः बुद्धिः स्वभावाद् ब्रह्म वर्म च' इत्यमरः । १२. वार्द्धक्यम् । १३. न प्रष्टुमिष्टाः । १४. उपदेशैः । १५. असत्य । १६. वाटुवादैः । १७. लोकानसङ्गता यः । १८. अनुद्ध ।

विदितान्विलवेद्यानां^१ नोपदेशो सचादशाम् । न्यायोऽस्मदादिभिः सन्तो यतो न्यार्थकजीविकाः ॥१२४॥
 शान्तो ययोऽनुरूपोऽयं वेपः सौम्ययमाकृतिः । वचः प्रसन्नमूर्जस्वि^२ ज्ञाचष्टे वः प्रबुद्धताम् ॥१२५॥
 बहिः^३ कुरन्किमप्यन्तर्गृहं तेजो जनातिगम् । महानुभावतां वक्ति वपुरप्राकृतं^४ च वः ॥१२६॥
 इत्यभिव्यक्तवैशिष्ट्या भवन्तो भद्रशीलकाः । कार्येऽस्मदीये मुह्यन्ति न विश्वः किं नु कारणम् ॥१२७॥
 गुरुप्रसादनं इत्याध्यमावाभ्यां फलमाप्सितम् । यूथं तत्प्रतिबन्धारः^५ परकार्येषु शीतलाः ॥१२८॥
 परेषां वृद्धिमालोक्ष्य नन्वसूयति^६ दुर्जनः । युष्मादशां तु महतां सतां प्रत्युत^७ सा मुदे ॥१२९॥
 धनेऽपि वसतो भर्तुः प्रभुत्वं किं परिच्युतम् । पादमूले जगद् विश्वं यस्याद्यापि चराचरम् ॥१३०॥
 कल्पानोकहसुप्तसृज्य को नामान्यं महीरुहम् । सेवेत पटुधीरीप्यन् फलं^८ विपुलमूर्जितम् ॥१३१॥
 महाश्विमयवा हिन्वा रत्नार्थी किमु संभयेत् । पल्लवं^९ शुष्कशैवालं शाश्वतीं वा पलालकम्^{१०} ॥१३२॥
 भरतस्य गुरोश्चापि किमु नास्त्यन्तरं महत् । गोप्यस्य समुद्रेण समकक्षयत्नमस्ति वा^{११} ॥१३३॥

होती हैं ॥१२३॥ जिन्होंने जानने योग्य सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लिया है, ऐसे आप-सरीखे बुद्धि-
 मान् पुरुषोंके लिए हम बालकों-द्वारा न्यायमार्गका उपदेश दिया जाना योग्य नहीं है क्योंकि
 जो सज्जन पुरुष होते हैं वे एक न्यायरूपी जीविकासे ही युक्त होते हैं अर्थात् वे न्यायरूप
 प्रवृत्तिसे ही जीवित रहते हैं ॥१२४॥ आयुके अनुकूल धारण किया हुआ आपका यह वेप बहुत
 ही शान्त है, आपकी यह आकृति भी सौम्य है और आपके वचन भी प्रसादगुणसे सहित तथा
 तेजस्वी हैं और आपकी बुद्धिमत्ताको स्पष्ट कह रहे हैं ॥१२५॥ जो अन्य साधारण पुरुषोंमें नहीं
 पाया जाता और जो बाहर भी प्रकाशमान हो रहा है, ऐसा आपका यह भीतरी छिपे हुए
 अनिर्वचनीय तेज तथा अद्भुत शरीर आपकी महानुभावताको कह रहा है । भावार्थ—आपके
 प्रकाशमान लोकोत्तर तेज तथा असाधारण दीप्तिमान् शरीरके देखनेसे मालूम होता है कि आप
 कोई महापुरुष हैं ॥१२६॥ इस प्रकार जिनकी अनेक विशेषताएँ प्रकट हो रही हैं ऐसे आप कोई
 भद्रपरिणामी पुरुष हैं परन्तु फिर भी आप जो हमारे कार्यमें मोहको प्राप्त हो रहे हैं सो उसका
 क्या कारण है ? यह हम नहीं जानते ॥१२७॥ गुरु-भगवान् वृषभदेवको प्रसन्न करना सब
 जगत् प्रशंसा करने योग्य है और यही हम दोनोंका इच्छित फल है अर्थात् हम लोग भगवान्-
 को ही प्रसन्न करना चाहते हैं परन्तु आप उसमें प्रतिबन्ध कर रहे हैं—विघ्न डाल रहे हैं इस-
 लिए जान पड़ता है कि आप दूसरोंका कार्य करनेमें शीतल अर्थात् उद्योगरहित हैं—आप दूसरों-
 का भला नहीं होने देना चाहते ॥१२८॥ दूसरोंकी वृद्धि देखकर दुर्जन मनुष्य ही ईर्ष्या करते हैं ।
 आप-जैसे सज्जन और महापुरुषोंको तो बल्कि दूसरोंकी वृद्धिसे आनन्द होना चाहिए ॥१२९॥
 भगवान् वनमें निवास कर रहे हैं इससे क्या उनका प्रभुत्व नष्ट हो गया है ? देखो, भगवान्-
 के चरणकमलोंके मूलमें आज भी यह चराचर विश्व विद्यमान है ॥१३०॥ आप जो हम लोगों-
 को भरतके पास जानेकी सलाह दे रहे हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान्
 होगा जो बड़े-बड़े बहुत-से फलोंकी इच्छा करता हुआ भी कल्पवृक्षको छोड़कर अन्य सामान्य
 वृक्षकी सेवा करेगा ॥१३१॥ अथवा रत्नोंकी चाह करनेवाला पुरुष महासमुद्रको छोड़कर,
 जिसमें शैवाल भी सूख गयी है ऐसे किसी अल्प सरोवर (तलैया) की सेवा करेगा अथवा धानकी
 इच्छा करनेवाला पियालका आश्रय करेगा ? ॥१३२॥ भरत और भगवान् वृषभदेवमें क्या बड़ा

१. पदार्थानाम् । २. तेजस्वी । ३. असाधारणम् । ४. अस्मदभीष्टप्रतिनिरोधकाः । ५. ईर्ष्या
 करोति । ६. प्रवृद्धिः । ७. भूमिष्टम् । ८. उपर्युपरि प्रवर्द्धमानम् । ९. अल्पसरः । १०. 'पलालोऽस्त्री स
 निष्कलः ।' ११. किम् ।

इवच्छाम्भःकलिना लोके किं न सन्ति जलाशयाः । चानकस्याग्रहः^१ कोऽपि यद्वाञ्छन्मम्बुदात्पयः॥१३४॥
 तनुजतेरिदं वित्तं^२ वृत्तं^३ यद्विपुलं फलम् । वाञ्छन्ति^४ परमोदारं स्थानमाश्रित्य मानिनः॥१३५॥
 इत्यदीनतरां वाचं श्रुत्वाहीन्द्रः कुमारयोः । नितरां सोऽनुपचिन्तते इलाप्य धैर्यं हि मानिनाम्॥१३६॥
 अहो महेश्छता^५ यूनोरहो गाम्भीर्यमेतयोः । अहो गुरौ परा भक्तिरहो इलाध्या स्पृहानयोः॥१३७॥
 इति प्रीतस्तदास्मीयं दिव्यं रूपं प्रदर्शयन् । पुनरिष्येवदत् प्रीतिलतायाः कुसुमं वचः॥१३८॥
 युवा युवजस्मन्ती^६ स्थस्तुष्टो वा^७ धीरचेष्टितैः । अहं हि धरणो नाम फणिनां पतिरग्रिमः॥१३९॥
 मां विस्तं^८ किकरं मर्तुः पातालस्वर्गवासिनम् । युवयोर्मोगमाश्रित्वं विधातुं समुपागतम्॥१४०॥
 आदिष्टो^९ऽस्म्यहमीशेन कुमारौ भाक्तिकाविमौ । भोगैरिष्टैर्मियुक्त्स्वेति^{१०} वृत्तं^{११} तेनागतोऽस्म्यहम्॥१४१॥
 तनुत्तिष्ठतमापृच्छय^{१२} भगवन्तं जगत्सृजम्^{१३} । युवयोर्मोगमथाहं दास्यामि गुरुदेशिताम्॥१४२॥
 इत्यस्य वचनात् प्रीतो कुमारौ तमवोचताम् । तस्य गुरुः प्रसन्नो नौ^{१४} भोगान् विस्तति^{१५} वाञ्छितान्॥१४३॥
 तद् ब्रूहि धरणाधीश यत्सत्यं मतमीक्षितुः । गुरोर्मताद्विना भोगा नावयोरभितस्मताः॥१४४॥

भारी अन्तर नहीं है ? क्या गोप्यदकी समुद्रके साथ बराबरी हो सकती है ? ॥१३३॥ क्या लोकमें स्वच्छ जलसे भरे हुए अन्य जलाशय नहीं हैं जो चातक पक्षी हमेशा मेघसे ही जलकी याचना करता है । यह क्या उसका कोई अनिर्वचनीय हठ नहीं है ॥१३४॥ इसलिए अभिमानी मनुष्य जो अत्यन्त उदार स्थानका आश्रय कर किसी बड़े भारी फलकी वांछा करते हैं सो इसे आप उनकी उन्नतिका प्रीति^१ कारण समझे ॥१३५॥ इन्हें^२ अहं धरणेन्द्र^३ अमि, विनमि दोनों कुमारोंके अदीनतर अर्थात् अभिमानसे भरे हुए वचन सुनकर मनमें बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि अभिमानी पुरुषोंका धैर्य प्रशंसा करने योग्य होता है ॥१३६॥ वह धरणेन्द्र मन-ही-मन विचार करने लगा कि अहा, इन दोनों तरुण कुमारोंकी महेश्छता (महाशयता) कितनी बढ़ी है, इनकी गम्भीरता भी आश्चर्य करनेवाली है, भगवान् वृषभदेवमें इनकी श्रेष्ठ भक्ति भी आश्चर्यजनक है और इनकी स्पृहा भी प्रशंसा करने योग्य है । इस प्रकार प्रसन्न हुआ धरणेन्द्र अपना दिव्य रूप प्रकट करता हुआ उनसे प्रीतिरूपी लताके फूलोंके समान इस प्रकार वचन कहने लगा ॥१३७-१३८॥ तुम दोनों तरुण होकर भी वृद्धके समान हो, मैं तुम लोगोंकी धीर-वीर चेष्टाओंसे बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ, मेरा नाम धरण है और मैं नागकुमार जातिके देवोंका मुख्य इन्द्र हूँ ॥१३९॥ मुझे आप पाताल स्वर्गमें रहनेवाला भगवान्-का किकर समझें तथा मैं यहाँ आप दोनोंको भोगोपभोगकी सामग्रीसे युक्त करनेके लिए ही आया हूँ ॥१४०॥ ये दोनों कुमार बड़े ही भक्त हैं इसलिए इन्हें इनकी इच्छानुसार भोगोंसे युक्त करो । इस प्रकार भगवान्ने मुझे आज्ञा दी है और इसलिए मैं यहाँ शीघ्र आया हूँ ॥१४१॥ इसलिए जगत्की व्यवस्था करनेवाले भगवान्से पूछकर उठो । आज मैं तुम दोनोंके लिए भगवान्के द्वारा बतलायी हुई भोगसामग्री दूँगा ॥१४२॥ इस प्रकार धरणेन्द्रके वचनोंसे वे कुमार बहुत ही प्रसन्न हुए और उससे कहने लगे कि सचमुच ही गुरुदेव हमपर प्रसन्न हुए हैं और हम लोगोंको मनवांछित भोग देना चाहते हैं ॥१४३॥ हे धरणेन्द्र, इस विषयमें भगवान्का जो सत्य मत हो वह हम लोगोंसे कहिए क्योंकि भगवान्के मत अर्थान् सम्मतिके बिना हमें भोगोपभोग

१. अम्बुदात् पयो वाञ्छति यः स कोऽयमाग्रहोऽस्ति । २. जानीत । ३. वर्तनम् । ४. वाञ्छन्तीति यत् । ५. महाशयता । 'महेश्छस्तु महाशयः' इत्यभिधानात् । ६. मवतः । ७. युवयोः । ८. जानीतम् । ९. आज्ञापितः । १०. नियोज्य । ११. कारणेन । १२. तत् कारणात् । १३. पृष्ट्वा । १४. जगत्कर्तारम् । १५. आवयोः । १६. दानुमिच्छति ।

इत्युक्तवन्तौ प्रयाय्य^१ तोषाच्च कणिमां पतिः । भगवन्तं प्रणम्याशु युवानावनयत् समम् ॥१४५॥
 स ताभ्यां कणिनां मर्ता रंजे गगनमुत्पतत् । युगस्तापप्रकाशाभ्यामिव मास्त्रान् महोदयः ॥१४६॥
 बर्मा कणिकुमाराभ्यामिव ताभ्यां समन्वितः । प्रश्रवप्रशमाभ्यां वा^२ युक्तो योगीव योगिराट् ॥१४७॥
 स व्योममार्गमुत्पत्य विमानमधिरोष्य तौ । द्वाक् प्राप विजयार्द्धाग्निं भूवेभ्या हसितोपमम् ॥१४८॥
 स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवम् । मध्ये भारतवर्षस्थ स्थितं तन्मानदण्डवत् ॥१४९॥
 विराजमानमुपकुङ्कनानारत्नाभुविभूषितः ।^३ मकुटारिव कूर्ः स्वः स्वरमारुह्य खान्निगैः ॥१५०॥
 निपतन्निर्झराराधिरापरितगुशामुत्तमम् । व्याजुह्वुमिवातान्तं^४ विश्रान्त्यै सुरदम्पतीन् ॥१५१॥
 महद्मिरचलोदगैः^५ संवरद्भिरितोऽगुतः । घनाघनैर्वनध्वानै^६ विध्वगारुद्धमेखलम् ॥१५२॥
 स्फुरत्चामीकरप्रस्रवैर्दीप्तैरुष्णानुरश्मिभिः । ज्वलद्वायानलाशङ्कां जनयन्तं नभोजुषाम् ॥१५३॥
 क्षरद्भिः शिखरोपान्ताद् व्यायताद् गुरुनिर्झरैः^७ । धनैर्जर्जरितैरारादारब्ध^८ बहुनिर्झरम् ॥१५४॥
^९ नूनमामोदलोभेन प्रोत्कुल्ला वनवहलरीः । विनीलैरंशुकैर्विध्वक् विदधानसलिलललाल् ॥१५५॥

की सामग्री इष्ट नहीं है ॥१४४॥ इस प्रकार कहते हुए कुमारोंको युक्तिपूर्वक विश्वास दिलाकर धरणेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर उन्हें शीघ्र ही अपने साथ ले गया ॥१४५॥ महान् ऐश्वर्यको धारण करनेवाला वह धरणेन्द्र उन दोनों कुमारोंके साथ आकाशमें जाता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो ताप और प्रकाशके साथ उद्गित होता हुआ सूर्य ही हो ॥१४६॥ अथवा जिस प्रकार विनय और प्रशम गुणसे युक्त हुआ कोई योगिराज सुशोभित होता है उसी प्रकार नागकुमारोंके समान उन दोनों कुमारोंसे युक्त हुआ वह धरणेन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥१४७॥ वह दोनों राजकुमारोंका विमानमें बैठकर तथा आकाशमार्गका उल्लंघन कर शीघ्र ही विजयार्ध पर्वतपर जा पहुँचा, उस समय वह पर्वत पृथ्वीरूपी देवीके हास्यकी उपमा धारण कर रहा था ॥१४८॥

वह विजयार्ध पर्वत अपने पूर्व और पश्चिमकी कोटियोंसे लवण समुद्रमें अवगाहन (प्रवेश) कर रहा था और भरतक्षेत्रके बीचमें इस प्रकार स्थित था मानो उसके नापनेका एक वण्ड ही हो ॥१४९॥ वह पर्वत ऊँचे, अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र और अपनी इच्छानुसार आकाशगणको घेरनेवाले अपने अनेक शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो मुकुटोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥१५०॥ पड़ते हुए निर्झरनोंके झन्डोंसे उसकी गुफाओंके मुख आपूरित हो रहे थे और उनमें ऐसा मालूम होता था मानो अतिशय विश्राम करनेके लिए देव-देवियोंको झुला ही रहा हो ॥१५१॥ उसकी मेखला अर्थात् पीचका किनारा पर्वतके समान ऊँचे, यहाँ-वहाँ चलते हुए और गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े-बड़े मेघों-द्वारा चारों ओरसे ढका हुआ था ॥१५२॥ देवीप्यमान सुवर्णके बने हुए और सूर्यकी किरणोंसे सुशोभित अपने विचारोंके द्वारा वह पर्वत देव और विद्याधरोंको जलते हुए दावानलकी शंका कर रहा था ॥१५३॥ उस पर्वतके शिखरोंके समीप भागसे जो लम्बी धारवाले बड़े-बड़े झरने पड़ते थे उनसे मेघ जर्जरित हो जाते थे और उनसे उस पर्वतके समीप ही बहुत-से निर्झरने बनकर निकल रहे थे ॥१५४॥ उस पर्वतपर-के बनोंमें अनेक लताएँ फूली हुई थीं और उनपर भ्रमर बैठे हुए थे, उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो सुगन्धिके लोभसे वह उन वनलताओं-

१. विरवासं गीत्वा । २. अवदा । ३. मुकुटै-अ०, प० । ४. व्याजुह्वुमिच्छुम् । ५. नितान्तं प्रसन्नम् ।
 ६. पर्वतवृक्षयोः । ७. गह्वरनिश्चयः । ८. आयतात् । विस्तीर्णादित्यर्थः । ९. व्यायतै-अ०, म०, ल० ।
 १०. स्थूलजलप्रवाहैः । ११. भित्तैः । १२. द्वय ।

लतामवनविभ्रान्तकिन्नरोद्गीतिनिःस्वनैः । सदा रम्यान् वनोद्देशान् दधानमधिमेखलम् ॥१५६॥

लतागृहान्त^१ रावद्धदंल^२ रुदन^३ मदचरीः । वनाधिदेवतादेश्या^४ बहन्तं वनर्वाधिपु ॥१५७॥

संचरन्त्यचरीवक्त्रपङ्कजैः^५ प्रतिविम्बिनैः । प्रोद्धहन्तं महानीलस्थलीरूढाब्जिनी श्रियः ॥१५८॥

विचरन्त्यचरीचारुचरणालम्बतकाहणाः । कृतार्था^६ इव रक्ताब्जैर्दधतं स्फाटिकीः स्थलीः ॥१५९॥

विदूरलङ्घिनो^७ धीरध्वनितानमलच्छवीन् । निर्झरानिव विभ्रानं सृगेन्द्रानधिकन्दरम्^८ ॥१६०॥

अधुपत्यकमारुहप्रणथान् सुरदम्पतीन् । सम्भोगान्ते कृतार्ताद्य विनोदान् दधनं मिथः ॥१६१॥

श्रेणीद्वयं वितत्ये^९ स्वं^{१०} पञ्चद्वयमिवावतम् । विद्याधराधिवसती^{११} धारयन्तं पुरीः^{१२} पराः ॥१६२॥

अध्यधिन्यकमावद्धकेतनैरिव निर्झरान् । दधद्भिः शिखरैः खामं लङ्घयन्तमिवोच्छ्रितैः ॥१६३॥

अच्छिन्नधारमारुहे^{१३} दाञ्जिर्जरैः शिखरस्तुतैः । जगन्नाडीमिवोन्मानुं विधृतावतदण्डकम् ॥१६४॥

चन्द्रकान्तोपलैश्चन्द्रकरामशादिनुक्षपम्^{१४} । क्षरद्भिर्दावमीत्येव सिञ्चन्तं स्वतटद्रुमान् ॥१६५॥

को चारों ओरसे काले वस्त्रोंके द्वारा ढक हो रहा हो ॥१५५॥ वह पर्वत अपनी मेखलापर ऐसे प्रवेशोंको धारण कर रहा था जो कि लतामवनोमें विभ्रान्त करनेवाले विन्नर देवोंके सधुर मोतीके शब्दोंसे सदा सुन्दर रहते थे ॥१५६॥ उस पर्वतपर वनकी गलियोंमें लतागृहोंके भीतर पड़े हुए झूलोंपर झूलती हुई विद्याधरियों वनदेवताओंके समान मालूम होती थीं ॥१५७॥ उस पर्वतपर जो इधर-उधर घूमती हुई विद्याधरियोंके सुखरूपी कमलोंके प्रतिविम्ब पड़ रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीलमणिको जमीनमें जमी हुई कमलिनियोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥१५८॥ वह पर्वत स्फटिकमणिकी बनी हुई उन प्राकृतिक भूमियोंको धारण कर रहा था जो कि इधर-उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके सुन्दर चरणोंमें लगे हुए महाधरसे लाल बर्ण होनेके कारण ऐसी जान पड़ती थीं मानो लाल कमलोंसे उनकी पूजा ही की गयी हो ॥१५९॥ वह पर्वत अपनी गुफाओंमें निर्झरनोंके समान सिंहोंको धारण कर रहा था क्योंकि वे सिंह निर्झरनोंके समान ही विदूरलंघी अर्थात् दूर तक लाँघनेवाले, गम्भीर शब्दोंसे युक्त और निर्मल कान्तिके धारक थे ॥१६०॥ वह पर्वत अपनी उपत्यका अर्थात् समीपकी भूमिपर सदा ऐसे देव-देवियोंको धारण करता था जो परस्पर प्रेमसे युक्त थे और सम्भोग करनेके अनन्तर बीणा आदि बाजे बजाकर विनोद किया करते थे ॥१६१॥ उस पर्वतकी उत्तर और दक्षिण ऐसी दो श्रेणियाँ थीं जो कि दो पंखोंके समान बहुत ही लम्बी थीं और उन श्रेणियोंमें विद्याधरोंके निवास करनेके योग्य अनेक उत्तम-उत्तम नगरियाँ थीं ॥१६२॥ उस पर्वतके शिखरोंपर जो अनेक निर्झरने बह रहे थे उनसे वे शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके ऊपरी भागपर पताकाएँ ही फहरा रही हों और ऐसे-ऐसे ऊँचे शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो आकाशके अग्रभागका उल्लंघन ही कर रहा हो ॥१६३॥ शिखरसे लेकर जमीन तक जिनकी अखण्ड धारा पड़ रही है ऐसे निर्झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो लोकनाड़ीको तापनेके लिए उसने एक लम्बा दण्ड ही धारण किया हो ॥१६४॥ चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे जिनसे प्रत्येक रात्रिको पानीकी धारा बहने लगती है ऐसे चन्द्रकान्तमणियोंके द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो दावानलके डरसे अपने किनारोंके वृक्षोंको ही सींच

१. श्रेण्याम् । २. मध्यरचितप्रेङ्खलाग्रधिकृढ । ३. दोलः/लडा नभ- अ०, प० । ४. सदृशाः । ५. प्रतिविम्बकैः अ०, म०, ल०, त० । ६. धृत । ७. कृतोपहाराः । ८. कन्दरे तटे । ९. आसन्नभूमौ । उपत्यका अग्रेशमप्रा भूमिः । १०. विसृत्य प्रसार्यत्वर्थः । ११. आसमोयम् । १२. अधिवासः । १३. पुरीवराः व० । १४. शानुमध्ये । १५. आ अवधेः । आ भूमिभागादित्यर्थः । १६. शपो ।

शशिकान्तोपलेरिन्दुं तारकाः कुमुदोत्करैः ।^१ उद्धनि निर्भरप्लवैः^२ न्यमकृत्यबोच्चकैः स्थितम् ॥१६६॥

सितैर्घनैस्तटीः शुभः श्रयश्मिरनिलाहृतैः^३ । कृतापचयमाह्वयना^४ भोगैर्घनात्यये ॥१६७॥

प्रोत्तुङ्गो मेहरेकान्ताकमद्वरस धृतायतिः^५ । इति तोषादिबोन्मुक्त^६ प्रहासं निर्भरारवैः ॥१६८॥

सुविशुद्धोऽहमामूलादाश्रयं रजतोच्चयः^७ । शुद्धाः कुलाद्रयो नैवमितीवाविष्कृतोन्नतिम् ॥१६९॥

एचरैः सह संवन्धाद् गंगासिन्धोरधः स्थितेः । जित्वेव^८ कुलकुलकोलान् विभाणं विजयार्द्धताम्^९ ॥१७०॥

अचलस्थितिमुत्तुङ्गं^{१०} शुद्धिभाजं जगद्गुरुम्^{११} । जिनेन्द्रमिष नाकीन्द्रैः शश्वदाराज्यमद्वरात् ॥१७१॥

^{१२} अक्षरत्वादभेषत्वादलक्ष्यत्वान्सहोन्नतेः । गृहत्वाच्च जगदातुरा^{१३} तन्वानमनुक्रियाम्^{१४} ॥१७२॥

रहा हो ॥१६५॥ वह पर्वत चन्द्रकान्तमणियोंसे चन्द्रमाको, कुमुदोंके समूहसे ताराओंको और-
निर्भरनोंके छोटोंसे तक्षत्रोंको नीचा दिखाकर ही मानो बहुत ऊँचा स्थित था ॥१६६॥ शरद्-
ऋतुमें जब कभी वायुसे टकराये हुए सफेद बादल वन-प्रदेशोंको व्याप्त कर उसके सफेद किनारों-
पर आश्रय लेते थे तब उन बादलोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ बढ़ गया
हो ॥१६७॥ उस पर्वतपर जो निर्भरनोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था
मानो सुमेरु पर्वत केवल ऊँचा ही है हमारे समान लम्बा नहीं है इसी सन्तोषसे मानो जोरका
शब्द करता हुआ हँस रहा हो ॥१६८॥ मैं बहुत ही शुद्ध हूँ और जड़से लेकर शिखर तक चाँदी-
चाँदीका बना हुआ हूँ, अन्य कुलाचल मेरे समान शुद्ध नहीं हैं, यह समझकर ही मानो उसने
अपनी ऊँचाई प्रकट की थी ॥१६९॥ उस पर्वतका विद्याधरोंके साथ सदा संसर्ग रहता था
और गंगा तथा सिन्धु नामकी दोनों नदियाँ उसके नीचे होकर बहती थीं । इन्हीं कारणोंसे उसने
अन्य कुलाचलोंको जोत लिया था तथा इसी कारणसे वह विजयार्थ इस सार्थक नामको धारण
कर रहा था । भावार्थ-अन्य कुलाचलोंपर विद्याधर नहीं रहते हैं और न उनके नीचे गंगा
सिन्धु ही बहती हैं बल्कि हिमवत् नामक कुलाचलके ऊपर बहती हैं । इन्हीं विशेषताओंसे मानो
उसने अन्य कुलाचलोंपर विजय प्राप्त कर ली थी और इस विजयके कारण ही उसका विजयार्थ
(विजय + आ + ऋद्धः) ऐसा सार्थक नाम पड़ा था ॥१७०॥ इन्द्र लोग निरन्तर उस पर्वतकी
जिनेन्द्रदेवके समान आराधना करते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अचल स्थित हैं
अर्थात् निश्चल मर्यादाको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अचल स्थित था
अर्थात् सदा निश्चल रहनेवाला था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव उत्तुङ्ग अर्थात् उत्तम हैं उसी प्रकार
वह पर्वत भी उत्तुङ्ग अर्थात् ऊँचा था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार शुद्धिभाक् हैं अर्थात् राग, द्वेष
आदि कर्म विकारसे रहित होनेके कारण निर्मल हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी शुद्धिभाक् था अर्थात्
धूलि, कंटक आदिसे रहित होनेके कारण स्वच्छ था और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव जगत्के गुरु
हैं इसी प्रकार वह पर्वत भी जगत्में श्रेष्ठ अथवा उसका गौरव स्वरूप था ॥१७१॥ अथवा वह
पर्वत जगत्के विधातात्मा जिनेन्द्रदेवका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव
अक्षर अर्थात् विनाशरहित हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रलय आदिके न पड़नेसे विनाशरहित
था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अभेष हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अभेष था अर्थात् बज्र आदि

१. नक्षत्राणि । २. अक्षःकृत्य । ३. -रनिलाहृतैः । ४. विस्तार । ५. सर्वथा । ६. धृतायामः ।

७. कृतप्रहसनम् । ८. रजतपर्वतः । ९. कुलपर्वतान् । १०. विजयेन ऋद्धः प्रवृद्धः विजयार्द्धः तस्य भावस्ताम् ।
गुणोदरादिगणत्वात् । ११. निर्मल्य, पक्षे विशुद्धपरिणाम । १२. जगति गुरुम्, पक्षे त्रिजगद्गुरुम् । १३. अमरव-
रत्वात् । १४. जिनेन्द्ररस्य । १५. अनुकृतिम् ।

दिग्जयप्रसवगारं दधानं^१ तद् गुहाद्वयम् । सुसंवृतं^२ सुगुप्तं च गुहान्तर्गमनिर्गमम् ॥१७३॥

कूर्टनवमिरुतुङ्गैर्भूदेभ्यः^३ मकुटोपमैः । विराजमानमानीकवनालीपरिधानकम् ॥१७४॥

पृथुं पञ्चाशतं मूले तदर्थं च समुच्छिन्नम् । तत्तुल्यमवगाहं^४ गां दिव्ययोजनमानतः ॥१७५॥

महीतलादशोत्पत्य^५ त्रिंशद्योजनविस्तृतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं दशोत्पत्य दशविस्तृतमग्रतः ॥१७६॥

क्वचिदुन्नतमानिभ्यं क्वचित् समतलं क्वचित् । क्वचिदुच्चैश्चक्रप्रावरणपुटं दधानं तदम् ॥१७७॥

क्वचिद्^६ दधन्करोत्तत्तरन्मग्नान्नमग्नोचरात् । अपसर्पत् कपिनातकृतकोलाहलाकुलम् ॥१७८॥

क्वचित् कण्ठीरवारायप्रस्तानेकपयूथपम् । कलकण्ठीकलालापवाचालितवनं क्वचिन् ॥१७९॥

क्वचिच्छिखीमुखो^७ द्गीर्णकंकारावद्विभीषितः^८ । सर्पैः सन्नासमानृत^९ कान्तारान्तविलान्तरम् ॥१८०॥

से उसका भेदन नहीं हो सकता था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अलंघ्य हैं अर्थात् उनके सिद्धान्तों-का कोई खण्डन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह पर्वत भी अलंघ्य अर्थात् लाँघनेके अयोग्य था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचे हैं वसी प्रकार वह पर्वत भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा था और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार जगत्के गुरु हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ अथवा भारी था ॥१७३॥ वह विजयार्ध, चक्रवर्तीके दिग्विजय करनेके लिए प्रसूतिगृहके समान दो गुफाएँ धारण करता था क्योंकि जिस प्रकार प्रसूतिगृह ढका हुआ और सुरक्षित होता है उसी प्रकार वे गुफाएँ भी ढकी हुई और देवों-द्वारा सुरक्षित थीं तथा जिस प्रकार प्रसूतिगृहके भीतरका मार्ग छिपा हुआ होता है उसी प्रकार उन गुफाओंके भीतर जानेका मार्ग भी छिपा हुआ था ॥१७३॥ वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे नौ कूटोंसे शोभायमान था जो कि पृथिवी देवीके मुकुटके समान जान पड़ते थे और उसके चारों ओर जो हरे-हरे वनोंकी पंक्तियाँ शोभायमान थीं वे उस पर्वतके नील वस्त्रोंके समान मालूम होती थीं ॥१७४॥ वह बड़े योजनके प्रमाण-से मूल भागमें पचास योजन चौड़ा था, पचीस योजन ऊँचा था और उससे चौथाई अर्थात् छह सौ पचीस योजन पृथ्वीके नीचे गड़ा हुआ था ॥१७५॥ पृथ्वीतलसे दस योजन ऊपर जाकर वह तीस योजन चौड़ा था और उससे भी दस योजन ऊपर जाकर अग्रभागमें सिर्फ दस योजन चौड़ा रह गया था ॥१७६॥ इसका कितारा कहीं ऊँचा था, कहीं नीचा था, कहीं सम था और कहीं ऊँचे-नीचे पत्थरोंसे विषम था ॥१७७॥ कहीं-कहीं उस पर्वतपर लगे हुए रत्नमयी पाषाण सूर्यकी किरणोंसे बहुत ही गरम हो गये थे इसलिए उसके आगेके प्रदेशसे वानरोंके समूह हट रहे थे जिससे वह पर्वत उन वानरों-द्वारा किये हुए कोलाहलसे आक्रुल हो रहा था ॥१७८॥ उस पर्वतपर कहीं तो सिंहोंके शब्दोंसे अनेक हाथियोंके झुण्ड भयभीत हो रहे थे और कहीं कोयलोंके मधुर शब्दोंसे वन वाचालित हो रहे थे ॥१७९॥ कहीं मयूरोंके मुखसे निकली हुई केका वाणीसे भयभीत हुए सर्प बड़े दुःखके साथ वनोंके भीतर अपने-अपने विलोंमें घुस

१. दिग्जयमृतिकागुहम् । २. प्रसिद्धम् । ३. सुप्रच्छन्नम् । ४. मुकुटो—अ०, प०, म०, ल० ।

५. अर्धोऽङ्गुलम् । ६. त्रिष्वकम्भमित्यर्थः । ७. तदुन्नतैश्चतुर्थांशभागम्, क्रोश्याधिकवद्वयोजनमिति यावत् ।

८. प्रविष्टम् । ९. पृथिवीम् । १०. दशयोजनमुत्क्रम्य । ११. नानाप्रकारपाषाणैर्विषमोन्नतम् । १२. सूर्यकिरण-

मत्तत्तसूर्यकाशविलग्नप्रदेशात् । १३. कोकिला । १४. मयूरमुखोद्भूत । १५. भोति नीति । १६. ममृत् इति

त०ब०पुस्तकयोः पाठान्तरम् ।

चासीकरमय प्रस्थच्छाया संश्रयिणीर्मृगीः । हिरण्यरीरिवारुहं तच्छाया दधनं क्वचिन् ॥१८१॥
 क्वचिद् विचित्ररत्नांशुरचितेन्द्रधनुर्लताम् । दधानमनिलोद्धतां ततां कल्पलतामिव ॥१८२॥
 क्वचिच्च विचरद्दिश्यकामिनीनूपुरारवैः । रमणीयसरस्तीरं हंसीविहृतमूर्च्छितैः^१ ॥१८३॥
 क्वचिद् विचतुरक्रीडामाश्रद्भिरनेकपैः । सलिलान्दोलितालानैरादोलितवनहुमम् ॥१८४॥
 क्वचित् पुलिनसंसृतसारसीकृतमूर्च्छितैः^२ । कलहंसीकलज्वाणैर्वाचलितसरोजलम् ॥१८५॥
 क्वचित् कुवाहिसूक्तारैः श्वसन्ममिव हेलया । क्वचिच्च क्षमरीयूथैर्हसन्तमिव निर्मलैः ॥१८६॥
 गुहानिलैः क्वचिद्वयक्तमुच्छ्वसन्तमिवायतम्^३ । क्वचिच्च पवनाधूमैर्धूर्णन्तमिव पादपैः ॥१८७॥
 निभृतं^४ चिन्तयन्तीमिरिष्टकासुकसंगमम् । विजते^५ खचरश्रीभिः मूकीभूतमिव क्वचित् ॥१८८॥
 क्वचिच्च^६ चटुलोदग्ध^७ चक्षुःशरीककलस्वनैः । किमप्यारब्धसंगीतमिव व्यायतमुच्छ्वनम् ॥१८९॥
 कदम्बामोदसंवाहिसुरमिश्रसितैर्मुलैः । तरुणाकंकरस्पशांश्च विशुभैरिव पङ्कजैः ॥१९०॥

रहे थे ॥१८०॥ कहीं उस पर्वतपर सुवर्णमय तटोंकी छायामें हरिणियाँ बैठी हुई थीं उनपर उन सुवर्णमय तटोंकी कान्ति पड़ती थी जिससे वे हरिणियाँ सुवर्णकी बनी हुई-सी जान पड़ती थीं ॥१८१॥ कहीं चित्र-विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुषकी लता बन रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो वायुसे उड़कर चारों ओर फैली हुई कल्पलता ही हो ॥१८२॥ कहीं देवांगनाएँ विहार कर रही थीं, उनके नूपुरोंके शब्द हंसिनियोंके शब्दोंसे मिलकर बुलन्द हो रहे थे और उनसे तालाबोंके किनारे बड़े ही रमणीय जान पड़ते थे ॥१८३॥ कहीं लीला मात्रमें अपने खूंटोंको उखाड़ देनेवाले बड़े-बड़े हाथी चतुराईके साथ एक विशेष प्रकारकी क्रीड़ा कर रहे थे और उससे उस पर्वतपर-के वनोंके वृक्ष खूब ही हिल रहे थे ॥१८४॥ कहीं किनारेपर सोती हुई सारसियोंके शब्दोंमें कलहंसिनियों (बतख) के मनोहर शब्द मिल रहे थे और उनसे तालाबका जल शब्दायमान हो रहा था ॥१८५॥ कहीं कुपित हुए सर्प शू-शू शब्द कर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो क्रीड़ा करता हुआ श्वास ही ले रहा हो, और कहीं निर्मल सुरागायोंके झुण्ड फिर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो ॥१८६॥ कहीं गुफासे निकलती हुई वायुके द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो प्रकट रूपसे लम्बी साँस ही ले रहा हो और कहीं पवनसे हिलते हुए वृक्षोंसे ऐसा मालूम होता था मानो वह झूम ही रहा हो ॥१८७॥ कहीं उस पर्वतपर एकान्त स्थानमें बैठी हुई विद्याधरोंकी स्त्रियाँ अपने इष्टकामी लोगोंके समागमका खूब विचार कर रही थीं जिससे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो चुप ही हो रहा हो ॥१८८॥ और कहीं चंचलतापूर्वक उड़ते हुए भौरोंके मनोहर शब्द हो रहे थे और उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो उसने जिसकी आवाज बहुत दूर तक फैल गयी है ऐसे किसी अलौकिक संगीतका ही प्रारम्भ किया हो ॥१८९॥

उस पर्वतपर-के वनोंमें अनेक तरुण विद्याधरियाँ अपने-अपने तरुण विद्याधरोंके साथ विहार कर रही थीं । उन विद्याधरियोंके मुख कदम्ब पुष्पकी सुगन्धिके समान सुगन्धित श्वाससे सहित थे और जिस प्रकार तरुण अर्थात् मध्याह्नके सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमल

१. सानु । २. धृतचामीकरच्छायाः । ३. मिश्रितैः । ४. विशेषेण चतुरः । ५. ध्वनिसम्मिश्रैः । ६. सूक्तारैः प० । -सूक्तारैः म०, ल० । ७. दीर्घं यथा भवति तथा । ८. भ्रमन्तम् । ९. संवृतावयवं यथा भवति तथा । १०. एकान्तस्थाने । ११. खेचर-म०, ल० । १२. श्लाघ्य । १३. उदग्गच्छत् । १४. ईषत् ।

नेत्रैर्मधुमदात्मन् हन्तोवरदलायनः^१ । मदनस्यैव जैत्राम्भः^२ खालसापाङ्गवाक्षितः^३ ॥१९१॥
 'अरालैरलिनालामैः केशैर्गन्धिविलम्बुलैः'^४ । विश्वस्तकवरीवन्धनि^५ गलपुण्यदामकैः^६ ॥१९२॥
 जितेन्दुकान्तिभिः कामतैः कपोलैरलकाङ्क्षितैः^७ । मदनस्य 'सुसंस्पृष्टैरालेख्य' फलकैरिव^८ ॥१९३॥
 अधरैः पक्वभिम्बाभैः स्मितांशुभिरनुदुर्गैः^९ । सिक्कैर्जलकणैर्द्विगैरिव^{१०} विद्रुमभङ्गकैः^{११} ॥१९४॥
 परिणाहिभिरुत्तुङ्गैः^{१२} सुवृत्तैस्तनमण्डलैः । स्वस्तांशुकस्फुटालक्ष्यलसन्नखरदाङ्गनैः^{१३} ॥१९५॥
 'हरिचन्दनसंस्पृष्टैर्हारज्योत्स्नोपहारितैः^{१४} । कुम्भनननरङ्गाभैः^{१५} 'प्रेक्षणीयैरुगुहैः^{१६} ॥१९६॥
 नखोज्ज्वलैस्ताम्रतलैः सलीलान्दोलितभुजैः । सपुष्पपल्लवाग्लानिलताविष्टकोमलैः^{१७} ॥१९७॥
 गन्दरैः कृणैर्मध्यखिलोमहशोभिभिः । नाभिवल्मीकनिस्तैः^{१८} पद्मसालोकालभोगिभिः^{१९} ॥१९८॥
 लसद्दुकूलवसनैर्विपुलैर्जवनस्थलैः । सकाञ्चीवन्धनैः कामनृपकारालयायितैः^{२०} ॥१९९॥

खिल जाते हैं वसी प्रकार अपने तरुण पुरुषरूपी सूर्यके हाथोंके स्पर्शसे खिले हुए थे—प्रफुल्लित थे । उनके नेत्र मणके नशासे कुछ-कुछ लाल हो रहे थे, वे नील कमलके दलके समान लम्बे थे, आलस्यके साथ कटाक्षावलोकन करते थे और ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेवके विजयशील अस्त्र ही हों ॥१९०-१९१॥ उनके केश भी फुटिले थे, अश्वोंके श्रमसे थके थे, चलने-फिरनेके कारण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और उनकी चोटीका बन्धन भी ढीला हो गया था जिससे उसपर लगी हुई फूलोंकी मालाएँ गिरती चली जाती थीं । उनके कपोल भी बहुत सुन्दर थे, चन्द्रमाकी कान्तिको जीतनेवाले थे और अलक अर्थात् आगेके सुन्दर काले केशोंसे चिह्नित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो अच्छी तरह साफ किये हुए कामदेवके लिखनेके तख्ते ही हों । उनके अधरोष्ठ पके हुए विश्वफलके समान थे और उनपर मन्द हास्यकी किरणें पड़ रही थी जिससे वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो जलकी दो-तीन बूँदोंसे सींचे गये मूँगाके टुकड़े ही हों । उनके स्तनमण्डल विशाल ऊँचे और बहुत ही गोल थे, उनका वस्त्र नीचेकी ओर खिसक गया था इसलिए उनपर सुशोभित होनेवाले नखोंके चिह्न साफ-साफ दिखाई दे रहे थे । उनके वक्षःस्थलरूपी घर भी देखने योग्य-अतिशय सुन्दर थे क्योंकि वे सफेद चन्दनके लेपसे साफ किये गये थे, हाररूपी चाँदनीके उपहारसे सुशोभित हो रहे थे और स्तनोंके नाचनेकी रंगभूमिके समान जान पड़ते थे । जिनके नख उज्ज्वल थे, हथेलियाँ लाल थीं, और जो लीलासहित इधर-उधर हिलाई जा रही थीं । उनकी भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो फूल और नवीन कोपलोंसे शोभायमान किसी लताकी कोमल शाखाएँ ही हों । उनका उदर बहुत कृश था, मध्य भाग पतला था और वह त्रिवलिरूपी तरंगोंसे सुशोभित हो रहा था । उनकी नाभिमै-से जो रोमाधली निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नाभिरूपी बामीसे रोमाधलीरूपी काला सर्प ही निकल रहा हो । उनका जघन स्थल भी बहुत बड़ा था, वह रेशमी वस्त्रसे सुशोभित था और करधनीसे सहित था इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी राजाका कारागार ही हो । उन विद्याधरियोंके चरण लाल कमलके समान थे, वे हंसमगानी

१. 'दलायितैः', इत्यपि पठित् पाठः । २. आलसेन सहित । ३. वक्रैः । ४. चलद्भिः । ५. दलध । ६. —'रलकाङ्क्षितैः' इत्यपि पाठः । ७. सम्माजितैः । ८. लेखितुं योग्य । ९. अनुपतैः । १०. द्वौ वा त्रयो वा द्विधाः तैः । ११. प्रवालखण्डकैः । १२. विशालदद्भिः । १३. नखरेखालक्ष्मैः । १४. शोणण्डप्रसम्माजितैः, हरिचन्दनानुलिप्तैरित्यर्थः । १५. दर्शनोयैः । १६. शाखा । १७. निर्गच्छत् ।

स्वकदम्बनिवशादुच्चैरारण्यमणिनूपुरं । चरणैररुणाभोजैरिव व्यक्तालिङ्गकृमैः ॥२००॥
 सलीलमन्यैर्यातेः^१ मितहंसीपरिक्रमैः^२ । इवसितैः सकुचोत्कर्षैर्व्यञ्जिता^३ न्तर्गतचलमैः^४ ॥२०१॥
 समं युवभिरारुहं नवयौवनकर्कशाः । विचरन्तीर्वनान्तेषु दधानं स्वचरीः क्वचिद् ॥२०२॥
 अलकाली^५ लसद्भृङ्गास्तन्वीः कोमलविमहाः । लतानुकारिणीरुद्धस्मितपुष्पोद्गमश्रियः ॥२०३॥
 प्रसूनरचिताकल्यावतंसीकृतपल्लवाः । कुसुमावचये^६ सक्ताः संचरन्तीरितस्ततः ॥२०४॥
 वनलक्ष्मीरिव व्यक्तलक्षणा वनजेक्षणाः । धारयन्तमनुद्यानं^७ विद्याधरवधूः क्वचित् ॥२०५॥
 तमित्यर्द्धान्द्रमुद्भूतमाहात्म्यं भुवनातिगम् । जिनाधिपमिवासाद्य कमारी^८ धूमिसापनुः ॥२०६॥

हरिणीचन्द्रः

धुततटवनाभोगा भागीरथी^१ तटवेदिका परिसरं^२ सरासीची^३ भेदादुपोदपयःकणाः ।
 वनकरिकटावाकृष्टालिग्रजा मरुतो गिरेरुपवनमुत्री^४ धूनोरध्वश्रमं^५ व्यपनिम्यरे ॥२०७॥

व्यपनिम्यरे - उपवने की धूमिली जगह पर आकर

हुई चलती थीं इसलिए उनके मणिमय नूपुरोंसे रुनझुन शब्द हो रहा था और जिससे ऐसा मालूम होता था मानो उनके चरणरूपी लाल कमल भ्रमरोंकी अंकारसे झङ्कृत ही हो रहे हों । वे विद्याधरियाँ लीलासहित धीरे-धीरे जा रही थीं, उनकी चालने हंसिनियोंकी चालको भी जीत लिया था, चलते समय उनका श्वास भी चल रहा था जिससे उनके स्तन कम्पायमान हो रहे थे और उनके अन्तःकरणका खेद प्रकट हो रहा था । इस प्रकार प्राप्त हुए नव यौवनसे सुदृढ़ विद्याधरियाँ अपने तरुण प्रेमियोंके साथ उस पर्वतके वनोंमें कहीं-कहींपर विहार कर रही थीं ॥१९२-२०२॥ वह पर्वत अपने प्रत्येक वनमें कहीं-कहीं अकेली ही फिरती हुई विद्याधरियोंको धारण कर रहा था, वे विद्याधरियाँ ठीक लताके समान जान पड़ती थीं क्योंकि जिस प्रकार लताओंपर भ्रमर सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उनके मस्तकपर भी केशरूपी भ्रमर शोभायमान थे, लताएँ जिस प्रकार पतली होती हैं उसी प्रकार वे भी पतली थीं, लताएँ जिस प्रकार कोमल होती हैं उसी प्रकार उनका शरीर भी कोमल था और लताएँ जिस प्रकार पुष्पोंकी उत्पत्तिसे सुशोभित होती हैं उसी प्रकार वे भी मन्द हास्यरूपी पुष्पोत्पत्तिको शोभासे सुशोभित हो रही थीं । उन्होंने फूलोंके आभूषण और पत्तोंके कर्णफूल बनाये थे तथा वे इधर-उधर घूमती हुई फूल तोड़नेमें आसक्त हो रही थीं । उनके नेत्र कमलोंके समान थे तथा और भी प्रकट हुए अनेक लक्ष्णोंसे वे वनलक्ष्मीके समान मालूम होती थीं ॥२०३-२०५॥ इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और जो तीनों लोकोंका अतिक्रमण करनेवाला है ऐसे जिनेन्द्रदेवके समान उस गिरिराजको पाकर वे नमि, विनमि राजकुमार अतिशय सन्तोषको प्राप्त हुए ॥२०६॥ जिसने तटवर्ती वनोंके विस्तारको कम्पित किया है, जिसने गङ्गा नदीके तटसम्बन्धी बेदीके समीपवर्ती तालाबकी लहरोंको भेदन कर अनेक जलकी बूँदें धारण कर ली हैं और जिसने अपनी सुगन्धिके कारण वनके हाथियोंके गण्डस्थलसे भ्रमरोंके समुह अपनी ओर खींच लिये हैं ऐसे उस पर्वतके उपवनोंमें उत्पन्न हुए वायुने उन दोनों तरुण कुमारोंके

१. मन्देः । २. गमनेः । ३. पदयानैः । ४. व्यक्तीकृत । 'व्यञ्जिताङ्गतचलमैः' इत्यपि पाठः ।

५. श्रमैः । ६. प्रकटीभूत । ७. 'ललद्' इत्यपि क्वचित् पाठः । चलद् । ८. कुसुमोपचये । ९. आसक्ताः ।

१०. उद्यानमुद्यानं प्रति । ११. संतोषम् । १२. गङ्गा । १३. पर्यन्तभूः परिसरः । १४. आध्वयणात् ।

१५. उपवने जाताः । १६. परिहरन्ति स्म ।

मालिनीच्छन्दः

मदकककककणी विणिहमारावरम्भा

मधुरविहृतभृङ्गीमङ्गलोद्गीतिहयाः ।

परिधृतकुसुमार्घाः संपतद्भिर्मदभिः ।

कणिपतिमिव दूरात् प्रत्युदीयुर्वनान्ताः ॥२०८॥

रजतगिरिमहीन्द्रो नातिवूरुद्वारं

प्रसवभवनमेकं विद्वद्विद्यानिधीनाम् ।

जिनमिव भुवनान्तर्व्यापि कीर्तिं प्रपश्यन्

अमदमविमरन्तः सार्द्धमाभ्या युवाभ्याम् ॥२०९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

धरणेन्द्रविजयार्धोपगमनं नामाष्टादशं पर्व ॥१८॥

मार्गका सब परिश्रम दूर कर दिया था ॥२०७॥ उस पर्वतके वन प्रदेशोंसे प्रचलित हुआ पवन दूर-दूरसे ही धरणेन्द्रके समीप आ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उस पर्वतके वनप्रवेश ही धरणेन्द्रके सम्मुख आ रहे हों क्योंकि वे वनप्रदेश मनोन्मत्त सुन्दर कोयलोंके शब्दरूपी वादित्रोंकी ध्वनिसे शब्दायमान हो रहे थे, धमरियोंके मधुर गुञ्जाररूपी मङ्गलगानोंसे मनोहर थे और पुष्परूपी अर्घ्य धारण कर रहे थे ॥२०८॥ इस प्रकार जो बहुत ही उदार अर्थात् ऊँचा है, जो समस्त विद्यारूपी खजानोंकी उत्पत्तिका मुख्य स्थान है और जिसकी कीर्ति समस्त लोकके भीतर व्याप्त हो रही है, ऐसे जिनेन्द्रदेवके समान सुशोभित उस विजयार्ध पर्वतको समीपसे देखता हुआ वह धरणेन्द्र उन दोनों राजकुमारोंके साथ-साथ अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२०९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें

धरणेन्द्रका विजयार्ध पर्वतपर जाना आदिका वर्णन करनेवाला

अठारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१८॥

एकोनविंशं पर्व

अथास्य मेखलामायाभवतीर्णः फणीश्वरः । तत्र व्योमचरन्द्वाणां लोकं तावित्यदीक्षत् ॥१॥
 अयं गिरित्संभूणुः^१ नूनमुर्ध्वं महत्तया । वितत्य^२ तिर्यगात्मानमवगाढो महार्णवम् ॥२॥
 श्रेणी^३ जलतलानिभ्यः शृङ्गुलोऽस्य विनामृतः^४ देव्याधिव^५ अंहाभोग^६ संपक्षे विष्टतायती^७ ॥३॥
 योजनानि दशोत्पत्य^८ गिरेरस्याधिमेलम्^९ । विद्याधरनिवासोऽयं भाति स्वर्गैक^{१०} देशवत् ॥४॥
 विद्याधरा विभान्त्यस्मिन् श्रेणीद्वयमभिष्टिताः^{११} । स्वर्गादिव समागत्य कृतवासाः सुधाशनाः^{१२} ॥५॥
 विद्याधराधिवासोऽयं धत्तेऽस्मत्लोकविभ्रमम्^{१३} । निषेवितो महाभोगः^{१४} कशीन्द्रैरिव खेचरैः ॥६॥
 पातालस्वर्गलोकस्य सत्यमद्य स्मरस्यहम् । नागकन्या इव प्रेक्ष्याः^{१५} पश्यन् स्वचरकन्यकाः ॥७॥
 नात्र प्रतिमधे^{१६} तीव्रं स्वचक्रपरचक्रजम् । नेतवो^{१७} शैव रोगादिधाधाः सन्तीह जातुचित् ॥८॥

अथानन्तर वह धरणेन्द्र उस विजयार्ध पर्वतकी पहली मेखलापर उतरा और वहाँ उसने दोनों राजकुमारोंके लिए विद्याधरोंका वह लोक इस प्रकार कहते हुए दिखलाया ॥१॥ कि ऐसा मालूम होता है मानो यह पर्वत बहुत भारी होनेके कारण इससे अधिक ऊपर जानेके लिए समर्थ नहीं था इसीलिए इसने अपने-आपको इधर-उधर दोनों ओर फैलाकर समुद्रमें जाकर मिला दिया है ॥२॥ यह पर्वत एक राजाके समान सुशोभित है और कभी नष्ट न होनेवाली इसकी ये दोनों श्रेणियाँ महादेवियोंके समान सुशोभित हो रही हैं क्योंकि जिस प्रकार महा-देवियाँ महाभोग अर्थात् भोगोपभोगकी विपुल सामग्रीसे सहित होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी महाभोग (महा आभोग) अर्थात् बड़े भारी विस्तारसे सहित हैं और जिस प्रकार महा-देवियाँ आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यको धारण करनेवाली होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी आयति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाली हैं ॥३॥ पृथिवीसे वस योजन ऊँचा चढ़कर इस पर्वतकी प्रथम मेखलापर यह विद्याधरोंका निवासस्थान है जो कि स्वर्गके एक खण्डके समान शोभायमान हो रहा है ॥४॥ इस पर्वतकी दोनों श्रेणियोंमें रहनेवाले विद्याधर ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गसे आकर देव लोग ही यहाँ निवास करने लगे हों ॥५॥ यह विद्याधरोंका स्थान हम लोगोंके निवासस्थानका सन्देह कर रहा है क्योंकि जिस प्रकार हम लोगों (धरणेन्द्रों) का स्थान महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े फणोंको धारण करनेवाले नागेन्द्रोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार यह विद्याधरोंका स्थान भी महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े भोगोपभोगोंको धारण करनेवाले विद्याधरोंके द्वारा सेवित है ॥६॥ नागकन्याओंके समान सुन्दर इन विद्याधर कन्याओंको देखता हुआ सचमुच ही आज मैं पातालके स्वर्गलोकका अर्थात् भवनवासियोंके निवासस्थानका स्मरण कर रहा हूँ ॥७॥ यहाँ न तो अपने राजाओंसे उत्पन्न हुआ तीव्र भय है और न शत्रु राजाओंसे उत्पन्न होनेवाला तीव्रभय है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियाँ भी यहाँ नहीं होती हैं और न यहाँ रोग आदिसे उत्पन्न होनेवाली कभी कोई बाधा ही होती है ॥८॥

१. कुमारी । २. दर्शयति स्म । ३. अनाद्यनिधनः । ४. वितृत्य । ५. प्रविष्टः । ६. परिपूर्णता, पक्षे सुख । ७. धृतदेष्टे, पक्षे धृतधियो । ८. उत्क्रम्य । ९. श्रेण्याम् । १०. स्वर्गैकखण्डवत् स०, म० । ११. आधिताः । १२. 'सुधाशिनः' इत्यपि पाठः । १३. विलासम् । १४. महासुखैः, पक्षे महाफणैः । १५. भव-नामरलोकस्य । १६. दर्शनीयाः । १७. भीतिः । १८. अतिवृष्ट्यादयः ।

प्रारम्भे चापवर्गे^१ च चतुर्थकालस्य^२ या स्थितिः । महाभारतवर्षेऽस्मिन् नाशोऽकथोपैक्यतः ॥९॥
 परा स्थितिर्नृणां^३ पूर्वकोटिवर्षशतान्तरे । उत्सेधहानिरासता^४ रत्निः पञ्चधनुः शतान् ॥१०॥
 कर्मभूमिनियोगो यः स सर्वोऽप्यय पुष्कलः^५ । विशेषस्तु महाविद्या दृश्येयाम्नीप्सितम् ॥११॥
 महाप्रज्ञाविद्यायाः सिद्धयन्तीह खगेभिनाम् । विद्याः कामदुवायास्ताः फलिष्यन्तीप्सितं फलम् ॥१२॥
 'कुलजाध्याश्रिता'^६ विद्यास्तपोविद्याश्च ता त्रिधाः । कुलाम्नायागताः पूर्वा यस्मैनाराधिताः पराः ॥१३॥
 तासामाराधनोपायः^७ सिद्धायतनसंनिधौ । अन्यत्र बाधुर्धौ देशे द्वीपादिपुलिनादिकं ॥१४॥
 संपूज्य शुचिवेषेण विद्यादेवव्रताश्रितः^८ । महोपवासैराराध्या नित्यार्चनपुरःसरैः ॥१५॥
 सिद्धयन्ति विधिनानेन महाविद्या नभोजुषाम् ।^९ तुरदचरणनिर्याचार्जपहोमाद्यनुक्रमान् ॥१६॥
 सिद्धयिद्यैस्ततः सिद्धप्रतिमार्चनपूर्वकम् । विद्याफलानि सांग्यानि विद्यद्गमनशुच्युभिः^{१०} ॥१७॥

इस महाभरत क्षेत्रमें अवसर्पिणी कालसम्बन्धी चतुर्थ कालके प्रारम्भमें मनुष्योंकी जो स्थिति होती है वही यहाँ के मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति होती है और उस चतुर्थ कालके अन्तमें जो स्थिति होती है वही यहाँ की जघन्य स्थिति होती है । इसी प्रकार चतुर्थ कालके प्रारम्भमें जितनी शरीरकी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ की उत्कृष्ट ऊँचाई होती है और चतुर्थ कालके अन्तमें जितनी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ जघन्य ऊँचाई होती है । इसी नियमसे यहाँ की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ वर्ष पूर्वकी और जघन्य सात वर्षकी होती है तथा शरीरकी उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथकी होती है, भावार्थ—यहाँपर आर्यखण्डकी तरह छह कालोंका परिवर्तन नहीं होता किन्तु चतुर्थ कालके आदि अन्तके समान परिवर्तन होता है ॥९-१०॥ कर्मभूमिमें वर्षा, सरदी, गरमी आदि ऋतुओंका परिवर्तन तथा अग्नि, मणि आदि छह कर्म रूप जितने नियोग होते हैं वे सब यहाँ पूर्ण रूपसे होते हैं किन्तु यहाँ विशेषता इतनी है कि महाविद्याएँ यहाँ के लोगोंकी इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं ॥११॥ यहाँ विद्याधरोंको जो महाप्रज्ञाप्रि आदि विद्याएँ सिद्ध होती हैं वे इन्हें कामधेनुके समान यथेष्ट फल देती रहती हैं ॥१२॥ वे विद्याएँ दो प्रकारकी हैं — एक तो ऐसी हैं जो कुल (पितृपक्ष) अथवा जाति (मातृपक्ष) के आश्रित हैं और दूसरी ऐसी हैं जो तपस्यासे सिद्ध की जाती हैं । इनमेंसे पहले प्रकारकी विद्याएँ कुल-परम्परासे ही प्राप्त हो जाती हैं और दूसरे प्रकारकी विद्याएँ यत्नपूर्वक आराधना करनेसे प्राप्त होती हैं ॥१३॥ जो विद्याएँ आराधनासे प्राप्त होती हैं उनकी आराधना करनेका उपाय यह है कि सिद्धायतनके समीपवर्ती अथवा द्वीप, पर्वत या नदीके किनारे आदि किसी अन्य पवित्र स्थानमें पवित्र वेष धारण कर ब्रह्मचर्य अथवा पालन करते हुए विद्याकी अधिष्ठातृ देवताकी पूजा करे तथा नित्य पूजापूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओंकी आराधना करे । इस विधिसे तथा तपश्चरण नित्यपूजा जप और होम आदि अनुक्रमके करनेसे विद्याधरोंको वे महाविद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं ॥१४-१६॥ तदनन्तर जिन्हें विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवान्की प्रतिमाकी पूजा करते हैं और

१. अवसाने । २. चतुर्थकालस्य । ३. उत्कृष्टजघन्यतः । ४. अवसानोत्कृष्टावुः । ५. क्रमेण पूर्वकोटिवर्षशतमेव । ६. अरत्तिवर्षशतमेव । ७. संपूर्णः । ८. विद्याधराणाम् । ९. वंशादि । १०. शत्रियादि । ११. गिद्धवृत्तन्त्रालयसमीपे । १२. ब्रह्मचर्यव्रत । १३. पूर्वदेवा । १४. प्रतीतिः ।

यथा विद्या फलान्मेधां भोगवर्णाह खगेक्षितान् । तथैव स्वेरसंभोग्याः सस्यादिफलसंपदः ॥१८॥
 सस्यान्यकृष्टपच्यानि धान्यः सोत्पलपङ्कजाः^१ । ग्रामाः संसक्तसीमानः सारामाः सफलद्रुमाः ॥१९॥
 सरत्नसिकता नद्यो हंसाध्यासितसैकताः^२ । वीथिका पुष्करिण्याद्याः स्वच्छतोया जलाशयाः ॥२०॥
 रमणीया घनोद्देशाः पुष्कोकिलकलस्वनैः । लताः कुसुमिता गुञ्जद्भृङ्गासंगीतसंगताः ॥२१॥
 चन्द्रकान्तशिलानखसोपानाः सकृतागृहाः । सचरोजनसंभोग्याः सेव्याश्च कृतकाद्वयः ॥२२॥
 रम्याः पुराकरग्रामसंनिवेशाश्च^३ विस्मृताः । सरित्सरोवरारामशालीक्षुब्यामण्डनाः ॥२३॥
 स्त्रीपुंस^४ सृष्टिरत्रया^५ रम्यनङ्गानुकारिणी । समग्रभोगसंपत्त्या स्वर्गोत्पन्नपुनस्तुका ॥२४॥
 पृथग्वाया^६ विशेषा ये नृणां संप्रीतिहेतवः । स्वर्गोत्पन्नसुखमास्तेऽर्था सन्त्येवात्र पदे पदे ॥२५॥
 इति रम्यतरानेष^७ विशेषान् सचरोचितान् । धत्ते स्वमङ्गकमारोप्य कौतुकादिव भूधरः ॥२६॥
 श्रेण्योरथैनयोस्तत्तयोभ्यासंप्रधानयोः । पुराणां^८ संनिवेशोऽयं लक्ष्यतेऽत्यन्तसुन्दरः ॥२७॥
 पृथक्पृथग्गुणे श्रेण्यो दशयोजनविस्तृते । अनुपर्वतदीर्घस्वमायते चापयोनिधेः ॥२८॥
 विष्कम्भमादिकृतः श्रेण्योः न भेदोऽस्तौह कश्चन । आयासस्तत्तरश्रेण्यां धत्ते साध्यधिकं मिनिम् ॥२९॥

फिर विद्याओंके फलका उपभोग करते हैं ॥१८॥ इस विजयार्थ गिरिपर ये विद्याधर लोग जिस प्रकार इन विद्याओंके फलोंका उपभोग करते हैं उसी प्रकार वे धान्य आदि फल सम्पदाओंका भी अपनी इच्छानुसार उपभोग करते हैं ॥१९॥ यहाँपर धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते हैं, यहाँकी बावड़ियों फूल हुए कमलोंसे सहित हैं, चहाँके गाँवोंकी सीमाएँ एक दूसरेसे मिली हुई रहती हैं, उनमें बगीचे रहते हैं और वे सब फले हुए वृक्षोंसे सहित होते हैं ॥१९॥ यहाँकी नदियाँ रत्नमयी बालूसे सहित हैं, बावड़ियों तथा पोखरियोंके किनारे सदा हंस बैठे रहते हैं, और जलाशय स्वच्छ जलसे भरे रहते हैं ॥२०॥ यहाँके वनप्रदेश कोकिलोंकी मधुर कूजनसे मनोहर रहते हैं और फूली हुई लताएँ गुँजार करती हुई भ्रमरियोंके संगीतसे संगत होती हैं ॥२१॥ यहाँपर ऐसे अनेक कृत्रिम पर्वत बने हुए हैं जो चन्द्रकान्तमणिकी बनी हुई सीढ़ियोंसे युक्त हैं, लतागृहोंसे सहित हैं, विद्याधरियोंके सम्भोग करने योग्य हैं और सबके सेवन करने योग्य हैं ॥२२॥ यहाँके पुर, स्नान और गाँवोंकी रचना बहुत ही सुन्दर हैं, वे बहुत ही बड़े हैं और नदी, तालाब, बगीचे, धानके खेत तथा ईखोंके बनोंसे सुशोभित रहते हैं ॥२३॥ यहाँके स्त्री और पुरुषोंकी सृष्टि रति और कामदेवका अनुकरण करनेवाली है तथा वह हरएक प्रकारके भोगोपभोगकी सम्पदासे भरपूर होनेके कारण स्वर्गके भोगोंमें भी अनुत्सुक रहती है ॥२४॥ इस प्रकार मनुष्योंकी प्रसन्नताके कारणस्वरूप जो-जो विशेष पदार्थ हैं वे सब भले ही स्वर्गमें दुर्लभ हों परन्तु यहाँ पद-पदपर विद्यमान रहते हैं ॥२५॥ इस प्रकार यह पर्वत विद्याधरोंके योग्य अतिशय मनोहर समस्त विशेष पदार्थोंको मानो कौतूहलसे ही अपनी गोदमें लेकर धारण कर रहा है ॥२६॥

जो ऊपर कही हुई शोभा और सम्पत्तिके निधान (खजाना) स्वरूप हैं ऐसी इन दोनों श्रेणियोंपर यह नगरोंकी बहुत ही सुन्दर रचना दिखाई देती है ॥२७॥ ये दोनों श्रेणियाँ पृथक्-पृथक् दस योजन चौड़ी हैं और पर्वतकी लम्बाईके समान समुद्र पर्यन्त लम्बी हैं ॥२८॥ इन दोनों श्रेणियोंमें चौड़ाई आदिका किया हुआ तो कुछ भी अन्तर नहीं है परन्तु उत्तर श्रेणीकी

१. सोत्पलपङ्कजाः । २. पुलिनाः । ३. रचनाविशेषः । ४. 'स्त्रीपुंसः सृष्टि' इत्यपि पाठः । ५. अत्र विजयार्थे भवाः । ६. पृथग्वायाः । ७. रम्यतराशेषः- ल०, म० । ८. रचना । ९. यावत् पर्वतदीर्घत्वम् ।

स्वर्गावासावहासीनि पुराण्यत्र चकासति । दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पञ्चाशत् पट्टिरिव च ॥३०॥
 विद्याधरा वसनयेषु नगरेषु महर्षिषु । स्वपुण्योपाजितान् भोगान् सुञ्जानाः स्वर्गिणो यथा ॥३१॥
 इतः किं नामितं नाम्ना पुरं भाति पुरो द्विजि । सौधैरभ्रकूपैः स्वर्गमिवास्पृष्टं समुद्यतैः ॥३२॥
 ततः किन्नरगीताख्यं पुरमिदं हि लक्ष्यते । यस्वोद्यानानि सेव्यानि गीतैः किन्नरयोषिताम् ॥३३॥
 नरगीतं विभातीतः पुरमेतन्महर्षिकम् । सदा प्रसुविता यत्र नरा नार्यश्च सोत्सवाः ॥३४॥
 बहुकेतुकमेतच्च प्रोल्लसद्बहुकेतुकम् । केतुबाहुमिराङ्गानुमस्मानिव समुद्यतम् ॥३५॥
 पुण्डरीकमिदं यत्र पुण्डरीकवनेश्वरी । हंसाः कलहत्तैर्मन्त्रं स्वनन्ति श्रोतृहारिभिः ॥३६॥
 सिंहध्वजमिदं सैहध्वजैः सौधप्रवर्तिभिः । निरुणद्धि सुरेभाणां मार्गं सिंहविशङ्किनाम् ॥३७॥
 श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिराततैः । सौधप्रवर्तिभिर्द्वाराभ्यक्षकेषु मिवाह्वयत् ॥३८॥
 गरुडध्वजसंज्ञं च पुरमाराद्विराजते । गरुडमावनिर्माणैः सौधप्रैर्मस्तस्त्राङ्गणम् ॥३९॥
 श्रीप्रभं श्रीप्रभोपेतं श्रीधरं च पुरोत्तमम् । भार्ताद् द्रव्यमन्मोन्यस्पर्धयेव ध्रियं श्रितम् ॥४०॥
 लोहार्गलमिदं लौहैर्गलैरतिदुर्गमम् । अरिजयं च जित्वारीन् हसतीव स्वर्गोपुरैः ॥४१॥

लम्बाई दक्षिण श्रेणीकी लम्बाईसे कुछ अधिकता रखती है ॥२९॥ इन्हीं दक्षिण और उत्तर श्रेणियोंमें क्रमसे पचास और साठ नगर सुशोभित हैं । वे नगर अपनी शोभासे स्वर्गके विमानोंकी भी हँसी उड़ाते हैं ॥३०॥ बड़ी विभूतिको धारण करनेवाले इन नगरोंमें विद्याधर लोग नियास करते हैं और देवोंकी तरह अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करते हैं ॥३१॥ इधर यह पूर्व दिशामें १ किन्नामित नामका नगर है जो कि मानो स्वर्गको छूनेके लिए ही ऊँचे बढ़े हुए शृङ्गधुम्बी रातलहल्लोंके सुशोभित हो रहा है ॥३२॥ यह बड़ी विभूतिको धारण करनेवाला २ किन्नरगीत नामका नगर दिखाई दे रहा है जिसके कि उद्यान किन्नर जातिकी देवियोंके गीतोंसे सदा सेवन करने योग्य रहते हैं ॥३३॥ इधर यह बड़ी विभूतिको धारण करनेवाला ३ नरगीत नामका नगर शोभायमान है, जहाँके कि स्त्री-पुरुष सदा उत्सव करते हुए प्रसन्न रहते हैं ॥३४॥ इधर यह अनेक पताकाओंसे सुशोभित ४ बहुकेतुक नामका नगर है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो पताकारूपी भुजाओंसे हम लोगोंको बुलानेके लिए ही तैयार हुआ हो ॥३५॥ जहाँ सफेद कमलोंके बनोंमें ये हंस कानोंको अच्छे लगनेवाले मनोहर शब्दों-द्वारा सदा गम्भीर रूपसे गाते रहते हैं ऐसा यह ५ पुण्डरीक नामका नगर है ॥३६॥ इधर यह ६ सिंहध्वज नामका नगर है जो कि महलोंके अग्रभागपर लगी हुई सिंहके चिह्नसे चिह्नित ध्वजाओंके द्वारा सिंहकी शंका करनेवाले देवोंका मार्ग रोक रहा है ॥३७॥ इधर यह ७ श्वेतकेतु नामका नगर सुशोभित हो रहा है जो कि महलोंके अग्रभागपर फहराती हुई बड़ी-बड़ी सफेद ध्वजाओंसे ऐसा मालूम होता है मानो दूरसे कामदेवकी ही बुला रहा हो ॥३८॥ इधर यह समीपमें ही, गरुडमणिसे बने हुए महलोंके अग्रभागसे आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करता हुआ ८ गरुडध्वज नामका नगर शोभायमान हो रहा है ॥३९॥ इधर ये लक्ष्मीकी शोभासे सुशोभित ९ श्रीप्रभ और १० श्रीधर नामके उत्तम नगर हैं, ये दोनों नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो इन्होंने परस्परकी स्पर्धासे ही इतनी अधिक शोभा धारण की हो ॥४०॥ जो-लोहेके अर्गलोंसे अत्यन्त दुर्गम है ऐसा यह ११ लोहार्गल नामका नगर है और यह १२ अरिजय नगर है जो कि अपने गोपुरोंके द्वारा ऐसा मालूम होता है मानो

१. श्रोत्रहारिभिः अ०, प०, स० । २. सुरेन्द्राणां ल०, म०, स० । ३. कामम् । ४. समीपे । ५. गरुडोद्गारमणिनिर्मितः । ६. लक्ष्मीशोभासहितम् ।

वज्रागलं च वज्राक्षयं विभार्तानः पुरद्वयम् । वज्राकरः समापत्यैः समुन्मीषदिवान्वहम् ॥४२॥
 इदं पुरं विमोचालयं पुरमेतत् पुरं जयम् । एनाभ्यां निजितं नूनमधोऽग्रात् फणिनां जगत् ॥४३॥
 शकटादिमुखी चैव पुरो भाति चतुर्मुखी । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुङ्गैर्लङ्घयन्ती च खड्गणम् ॥४४॥
 बहुमुख्यरजस्का च विरजस्का च नामतः । नगर्यो भुवनस्येव त्रयस्य मिलिताः श्रियः ॥४५॥
 रथनूपुरपूर्वं च चक्रवालाह्वयं पुरम् । उक्तानां वक्ष्यमाणानां पुरां च निलकायते ॥४६॥
 राजधानीयमेतस्यां विद्याभृच्चक्रवर्तिनः । निवसन्ति परां लक्ष्मीं भुञ्जानाः सुकृतादयात् ॥४७॥
 मेखलाग्रपुरं रम्यमितः क्षेमपुरी पुरी । अपराजितमेतत् स्यात् कामपुष्पमितः पुरम् ॥४८॥
 गगनादिचरीयं सा विनयादिचरी पुरी । परं शुक्रं पुरं चैतत् त्रिशसंख्यानपूरणम् ॥४९॥
 संजयन्ती जयन्ती च विजया वैजयन्त्यपि । क्षेमकरं च चन्द्राभं सूर्याभं चातिमास्वरम् ॥५०॥
 रतिचित्रमहत्क्षेमत्रिमेषोपपदानि वै । कृतानि स्युर्विचित्रादिः कूटं वैश्रवणादिं च ॥५१॥
 सूर्यचन्द्रपुरे चामू नित्योद्योतिम्यनुक्रमात् । विमुखी नित्यवाहिनी सुमुखी चैव पश्चिमा ॥५२॥
 नगर्यो दक्षिणश्रेण्यां पञ्चाशत्सङ्ख्याया मिताः । प्राकारगोपुरोत्तुङ्गाः स्वातामिस्तिसृभिर्वृताः ॥५३॥

शत्रुओंको जीतकर हँस ही रहा हो ॥४१॥ इस ओर ये १३ वज्रागल और १४ वज्राक्षय नामके दो नगर सुशोभित हो रहे हैं जो कि अपने आसीनशक्तिशाली स्वामीयोंसे ऐसे मालूम होते हैं मानो प्रतिदिन बढ़ ही रहे हों ॥४२॥ इधर यह १५ विमोच नामका नगर है और इधर यह १६ पुरञ्जय नामका नगर है । ये दोनों ही नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो भवनवासी देवोंका लोक इनसे पराजित होकर ही नीचे खला गया हो ॥४३॥ इधर यह १७ शकटमुखी नगरी है और इधर यह १८ चतुर्मुखी नगरी सुशोभित हो रही है । यह चतुर्मुखी नगरी अपने ऊँचे-ऊँचे चारों गोपुरोंसे ऐसी मालूम होती है मानो आकाशरूपी आँगनका उल्लंघन ही कर रही हो ॥४४॥ यह १९ बहुमुखी, यह २० अरजस्का और यह २१ विरजस्का नामकी नगरी है । ये तीनों ही नगरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो तीनों लोकोंकी लक्ष्मी ही एक जगह आ मिली हों ॥४५॥ जो ऊपर कहे हुए और आगे कहे जानेवाले नगरोंमें तिलकके समान आचरण करता है ऐसा यह २२ रथनूपुरचक्रवाल नामका नगर है ॥४६॥ यह नगर इस श्रेणीकी राजधानी है, विद्याधरोंके चक्रवर्ती (राजा) अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुई उत्कृष्ट लक्ष्मीका उपभोग करते हुए इसमें निवास करते हैं ॥४७॥ इधर यह मनोहर २३ मेखलाग्र नगर है, यह २४ क्षेमपुरी नगरी है, यह २५ अपराजित नगर है और इधर यह २६ कामपुष्प नामका नगर है ॥४८॥ यह २७ गगनचरी नगरी है, यह २८ विनयचरी नगरी है और यह २९ चक्रपुर नामका नगर है । यह ३० संख्याको पूर्ण करनेवाली ३० संजयन्ती नगरी है, यह ३१ जयन्ती, यह ३२ विजया और यह ३३ वैजयन्तीपुरी है । यह ३४ क्षेमकर, यह ३५ चन्द्राभ और यह अतिशय देदीप्यमान ३६ सूर्याभ नामका नगर है ॥४९-५०॥ यह ३७ रतिकूट, यह ३८ चित्रकूट, यह ३९ महाकूट, यह ४० हेमकूट, यह ४१ मेघकूट, यह ४२ विचित्रकूट और यह ४३ वैश्रवणकूट नामका नगर है ॥५१॥ ये अनुक्रमसे ४४ सूर्यपुर, ४५ चन्द्रपुर और ४६ नित्योद्योतिनी नामके नगर हैं । यह ४७ विमुखी, यह ४८ नित्यवाहिनी, यह ४९ सुमुखी और यह ५० पश्चिमा नामकी नगरी है ॥५२॥ इस प्रकार दक्षिण-श्रेणीमें ५० नगरियाँ हैं, इन नगरियोंके कोट और गोपुर (मुख्य दरवाजे) बहुत ऊँचे हैं तथा प्रत्येक, नगरी तीस-तीन

१. जयपुरम् । २. निजितं सत् । ३. पुराणम् । ४. स्वकृतोदयात् ल०, म० । ५. चक्रपुरं म०, ल० ।
 ६. चक्रपुरं अ० । ६. चैव प० । चैतस् अ० । ७. इतिचित्र- त०, व० । ८. चित्रकूटमहत्कूटहेमकूटमेघकूट-
 नीलधरः । ९. वैश्रवणकूटम् । वैश्रवणादिकम् । १०. स्वातिकाभिः ।

त्रिष्टुगामपि त्रानानामन्तरं^१ दण्डसन्निभम् । दण्डाद्वधनुर्दशैकस्याः^२ व्यासो^३ द्व्युन्मोऽन्ययोर्द्वयोः ॥५४॥
^४विष्कम्भादवगा^५ हास्ताः^६ पादोनं^७ बाह्वमेव वा^८ । त्रिभागं^९ मूलास्ता ज्ञेया मूलाद्वा^{१०} चतुरस्रिकाः ॥५५॥
 रत्नोपलैरुपहिताः^{११} स्वर्णैश्चकचिताश्च ताः ।^{१२} तीयान्तिक्यः^{१३} परीवाहयुक्ता^{१४} वा निर्मलौदकाः ॥५६॥
 पद्मोत्पल^{१५} यत्ससिन्धो^{१६} यादोरोर्ध्वद्वन्द्वभयाः । महाब्जिभिरिव स्वर्णं^{१७} कुर्वाणास्तुक्कवीचिभिः ॥५७॥
 चतुर्दण्डान्तराश्चातो^{१८} वप्रः^{१९} षड्धनुस्तुलितः । स्वर्णपांसूपलैश्चन्दनः^{२०} स्वोत्सेधाद्द्विच त्रिस्तुतः ॥५८॥
 तमू^{२१} ध्वजचमिच्छन्ति^{२२} तथा मञ्जकं^{२३} पृष्ठकम् ।^{२४} कुम्भकुशिसमाकारं^{२५} गोक्षुरक्षोदनिस्तलम् ॥५९॥
 वप्रस्थोपरि सालोऽभूद् विष्कम्भाद्^{२६} द्विगुणोच्छ्रितः ।^{२७} चतुर्विंशतिसुद्विडो^{२८} धनुषां तलमूलतः^{२९} ॥६०॥
^{३०}सुरजैः कपि^{३१} शीर्षैश्च रचिताग्रः समन्ततः । विग्रहैर्मण्डकचितः^{३२} क्वचिद् स्तनशिलाभयः ॥६१॥

परिखाओंसे घिरी हुई हैं ॥५३॥ इन तीनों परिखाओंका अन्तर एक-एक दण्ड अर्थात् धनुष प्रमाण हैं तथा पहली परिखा चौदह दण्ड चौड़ी है, दूसरी बारह और तीसरी दस दण्ड चौड़ी है ॥५४॥ ये परिखाएँ अपनी-अपनी चौड़ाईसे क्रमपूर्वक पानी, आधी और एकतिहाई गहरी हैं अर्थात् पहली परिखा साढ़े दस धनुष, दूसरी छह धनुष और तीसरी सवा तीन धनुषसे कुछ अधिक गहरी है । ये सभी परिखाएँ नीचेसे लेकर ऊपर तक एक-सी चौड़ी हैं ॥५५॥ वे परिखाएँ सुवर्णमयी ईंटोंसे बनी हुई हैं, रत्नमय पाषाणोंसे जड़ी हुई हैं, उनमें ऊपर तक पानी भरा रहता है और वह पानी भी बहुत स्वच्छ रहता है । वे परिखाएँ जलके आने-जाने-के परीवाहोंसे भी युक्त हैं ॥५६॥ उन परिखाओंमें जो लाल और नीले कमल हैं वे उनके कर्णाभरण-से जान पड़ते हैं, वे जलचर जीवोंकी भुजाओंके आघात सहनेमें समर्थ हैं और अपनी ऊँची लहरोंसे ऐसी मालूम होती हैं मानो बड़े-बड़े समुद्रोंके साथ खड़ा ही कर रही हों ॥५७॥ इन परिखाओंसे चार दण्डके अन्तर (फासला) पर एक कोट है जो कि सुवर्णकी धूलिके बने हुए पत्थरोंसे व्याप्त है, छह धनुष ऊँचा है और बारह धनुष चौड़ा है ॥५८॥ इस कोटका ऊपरी भाग अनेक कंगूरोंसे युक्त है । वे कंगूरे गायके खुरके समान गोल हैं और बड़ेके उदरके समान बाहरकी ओर उठे हुए आकारवाले हैं ॥ ५९ ॥ इस धूलि कोटिके आगे एक परकोटा है जो कि चौड़ाईसे दूना ऊँचा है । इसकी ऊँचाई मूल भागसे ऊपर तक चौबीस धनुष है अर्थात् यह बारह धनुष चौड़ा और चौबीस धनुष ऊँचा है ॥६०॥ इस परकोटेका अग्रभाग मृदंग तथा बन्दरके शिरके आकारके कंगूरोंसे बना हुआ है, यह परकोटा चारों ओरसे अनेक प्रकारकी सुवर्णमयी ईंटोंसे

१. त्रिस्तुगामपि त्रानानामन्तरं प्रत्येकमैकैकदण्डप्रमाणं भवति । २. अत्रयोर्द्वयोः त्रिस्तुगयोः क्रमेण दण्डद्वयोः न्यूनः कर्तव्यः । ३. व्यासमाश्रित्य त्रिस्तुगिकाः । बाह्याधारस्य चतुर्दश । द्वादशदशप्रमाणव्यासा भवन्तीत्यर्थः । ४. अगाथाः । ५. त्रिस्तुगिकाः । ६. निजनिजव्यासचतुर्धाशरहितावगाढाः । ७. अथवा । निजनिजव्यासाद्याविपाद्याः भवन्तीति भावः । ८. निजनिजव्यासस्य तृतीयो भागो मूले यासां ताः । ९. मूले अथैव समानव्यासा इत्यर्थः । १०. घटिताः । ११. तीयस्यान्तः तीयान्तः । तीयान्तमर्हन्तीति तीयान्तिक्यः । अथवा तीयान्तेन दीव्यन्तीति तीयान्तिक्यः । आकण्डपरिपूर्णजला इत्यर्थः । १२. जलोच्छ्वाससहिताः । 'जलोच्छ्वासः परीवाहः' इत्यभिधानान् । १३. पद्मोत्पलावतंसिन्धो—प० । १४. जलजन्तुभुजास्फालनसहाः । १५. त्रिस्तुगाम्यन्तरे । १६. प्राकारस्याधिष्ठानमित्यर्थः । १७. निजोत्सेधाद् द्विगुणव्यास इत्यर्थः । १८. वप्रस्थोपरिमभागम् । १९. आमनन्ति । २०. 'पुष्टतामनं तदग्रभागसंज्ञेत्यर्थः । २१. कुम्भपार्श्वमदृश । २२. ईषत्शुष्ककर्मप्रदेशनिक्षिप्तगोक्षुरस्याद्यो यथा वज्रं भवति तथा वर्जुलमित्यर्थः । २३. निजव्यासद्विगुणोन्नतः । २४. धनुषां चतुर्विंशतिदण्डोत्सेध इति यावत् । एते विष्कम्भा द्वादशदण्डा इत्युक्तम् । २५. अधिष्ठानमूलात् आरभ्य । २६. मर्दलाकारशिखरैः । २७. 'कपिशोर्ध्वं तु सालाग्रम्' ।

विष्कम्भचतुरन्नाश्च तत्राटालकपङ्क्तयः । त्रिंशदर्थं च दण्डानां रुन्दाश्च द्विगुणोच्चिताः^१ ॥६२॥
 त्रिंश^३ इण्डान्तराश्रिता मणिहेमविचित्रिताः । उन्नेधसदृशरोहसोपाना गगनस्पृशः ॥६३॥
 द्वयोरटालकयोर्मध्ये गोपुरं रत्नतोरणम् । पञ्चाशन्ननुलम्बेन तदधर्मणि विस्तृतम् ॥६४॥
 गोपुराटालयोर्मध्ये त्रिधा^४ लुब्कावगाहनम् । इन्द्रकोशमभूत् सापि^५ धनैर्युक्तं गवाक्षकैः ॥६५॥
 तदन्तरेषु राजन्ते सुस्था देवपथा^६ स्तथा । त्रिदस्तविस्तृताः पादवै^७ तच्चतुर्गुणमायताः ॥६६॥
 हस्त्युत्पत्तिकावप्रकाशैः परितो वृताः । विभासन्ते नगर्योऽनूः परिधा^८ नैरिवाङ्गनाः ॥६७॥
 चतुष्का^९णां सहस्रं स्याद् बोध्यस्त^{१०} द्वादशाहतम् । द्वाराण्येक^{११} सहस्रं तु महासित क्षुद्रकाणि वै ॥६८॥
 तदध^{१२} तद्विषयमिमाणि द्वाराणि तानि च । सकृन्नाटानि राजन्ते नेत्राणीव^{१३} पुरश्रिया ॥६९॥
 पूर्वापरेण रुन्दाः स्फुर्योजनानि नदैव ताः । दक्षिणोत्तरतो दीर्घा द्वादश प्राङ्मुखं स्थिताः ॥७०॥
 राजरोहाद्विस्तारमासा को नाम वर्णयेत् । ममापि नागराजस्य यत्र मोमुद्यते मतिः ॥७१॥
 प्रामाणां कोटिरैका स्यात् परिवारः पुरं प्रति । तथा सैऽमहम्नादिनिषेधश्च^{१४} पृथग्विधः^{१५} ॥७२॥

व्याप्त है और कहीं-कहींपर रत्नमयी शिलाओंसे भी युक्त है ॥६१॥ उस परकोटापर अट्टालिकाओंकी पंक्तियाँ बनी हुई हैं जो कि परकोटाकी चौड़ाईके समान चौड़ी हैं, पन्द्रह धनुष लम्बी हैं और उससे दूनो अर्थात् तीस धनुष ऊँची हैं ॥६२॥ ये अट्टालिकाएँ तीस-तीस धनुषके अन्तरसे बनी हुई हैं, सुवर्ण और मणियोंसे चित्र-विचित्र हो रही हैं, इनकी ऊँचाईके अनुसार चढ़नेके लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और ये सभी अपनी ऊँचाईसे आकाशको छू रही हैं ॥६३॥ दो-दो अट्टालिकाओंके बीचमें एक-एक गोपुर बना हुआ है उसपर रत्नोंके तोरण लगे हुए हैं । ये गोपुर पचास धनुष ऊँचे और पचीस धनुष चौड़े हैं ॥६४॥ गोपुर और अट्टालिकाओंके बीचमें तीन-तीन धनुष विस्तारवाले इन्द्रकोश अर्थात् घुरज बने हुए हैं । घुरज किबाड़सहित झरोखोंसे युक्त हैं ॥६५॥ उन घुरजोंके बीचमें अतिशय स्वच्छ देवपथ बने हुए हैं जो कि तीन हाथ चौड़े और बारह हाथ लम्बे हैं ॥६६॥ इस प्रकार ऊपर कही हुई परिखा, कोट और परकोटा इनसे घिरी हुई वे नगरियाँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वस्त्र पहने हुई स्त्रियाँ ही हों ॥६७॥ इन नगरियोंमें-से प्रत्येक नगरीमें एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियाँ हैं और छोटे-बड़े सब मिलाकर एक हजार दरवाजे हैं ॥६८॥ इनमें-से आधे अर्थात् पाँच सौ दरवाजे किबाड़सहित हैं और वे नगरीकी शोभाके नेत्रोंके समान सुशोभित होते हैं । इन पाँच सौ दरवाजोंमें भी दो सौ दरवाजे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥६९॥ ये नगरियाँ पूर्वसे पश्चिम तक नौ योजन चौड़ी हैं और दक्षिणसे उत्तर तक बारह योजन लम्बी हैं । इन सभी नगरियोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर है ॥७०॥ इन नगरियोंके राजभवन आदिके विस्तार वगैरहका वर्णन कौन कर सकता है ? क्योंकि जिस विषयमें मुक्ष धरणेन्द्रकी बुद्धि भी अतिशय मोहको प्राप्त होती है तब औरकी बात ही क्या है ? ॥७१॥ इन नगरियोंमें-से प्रत्येक नगरीके प्रति एक-एक करोड़

१. व्याप्तसमानचतुरन्नाः । त्रिंशदर्थम् पञ्चदशदण्डप्रमाणव्यासा इत्यर्थः । २. तद्व्यासद्विगुणोत्सेधाः ।
 ३. द्वयोरटालकयोर्मध्ये त्रिंशद्वण्डा अन्तरा यासां ताः । ४. आरोहणनिमित्त । ५. सापचय । त्रिधनुष्का म०, ल० । ६. कषाटसहितैः । ७. भेयकाररचनाविशेषाः । ८. अधोऽङ्गुः । ९. चतुःपद्ममध्यस्थितवनाश्रयणयोग्य-मण्डपविशेषाणाम् । १०. तत्सहस्रं द्वादशगुणितं चेत्, द्वादशहस्रवीचयो भवन्तीति भावः । ११. द्वाराण्येकं सहस्रं तु ५० । १२. तेषु द्वारेषु शतद्वयश्रेष्ठाणि राजगमनानमनयोग्यानि द्वाराणि भवन्ति । १३. पुरश्रियाः इति वञ्चित् पाठः । १४. रचना । १५. नानाप्रकारः ।

अकृष्टपथैः कलमैः धान्यैरन्वैश्च सम्भृताः । पुण्ड्रेक्षुवनसंलक्षसीमानो निगमाः सदा ॥३३॥
 पुराणमन्तरं चात्र स्यात् पञ्चनयतं शतम् । प्रमाणयोजनोद्दिष्टं मानमाप्तैर्विद्वंसितम् ॥३४॥
 पुराणि दक्षिणश्रेण्यां यथैतानि तथैव वै । मवेयुहत्तरश्रेण्यामपि तानि समृद्धिभिः ॥३५॥
 किन्त्वन्तरं पुराणां स्यात् तत्रैकैकं प्रमाणतः । योजनानां शतं चाष्ट सप्ततिश्चैव साधिका ॥३६॥
 तेषां च नामनिर्देशो मवेदयमनुक्रमात् । पश्चिमां दिशमारभ्य यावत् षष्टितमं १ पुरम् ॥३७॥
 अर्जुनी चारुणी चैव सकैलासा च वारुणी । विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणिं शशिप्रभे ॥३८॥
 वंशालं २ पुष्पचूडं च हंसगर्भं बलाहकौ । शिवंकरं च श्रीहर्म्यं चमरं शिवमन्दिरम् ॥३९॥
 वसुमत्कं वसुमती नाम्ना सिद्धार्थकं परम् । शत्रुञ्जयं ततः केतुमालाख्यं च मवेद् पुरम् ॥४०॥
 सुरेन्द्रकान्तमन्यत् स्यात्ततो गगननन्दनम् । अशोकाभ्यां विशोका च वीतशोका च सप्तपुरी ॥४१॥
 अलका तिलकाभ्यां च १ तिलकान्तं तथाम्बरम् । मन्दिरं कुमुदं कुन्दमतो गगनवल्लभम् ॥४२॥
 भूमितिलके पुयी पुरं गन्धर्वसाङ्ख्यम् । मुक्ताहारः २ नैमिषं चारिज्ज्वालमतः परम् ॥४३॥
 महाज्वालं च विज्ञेयं श्रीनिकेतो जयाङ्ग्यम् । श्रीवासो मणिवज्राख्यं भद्राङ्गं भवनञ्जयम् ३ ॥४४॥
 गोक्षीरफेनमशोभ्यं ४ गिरिदिशिखराङ्ग्यम् । धरणी धारणी ५ दुर्गं दुर्धराख्यं सुदर्शनम् ॥४५॥
 ६ महेन्द्राख्यपुरं चैव पुरं विजयसाङ्ख्यम् । सुगन्धिनी च ७ वज्रपुरं रत्नाकराङ्ग्यम् ॥४६॥
 मवेद् ८ रत्नपुरं चान्यमुत्तरस्यां पुराणि वै । श्रेण्यां स्वर्गपुराणि माश्रयेतानि महान्तमलम् ॥४७॥

गाँवोंका परिवार है तथा खेद मङ्गल आदिकी रचना जुदी-जुदी है ॥७२॥ वे गाँव बिना बोये पैदा होनेवाले शाली चाबलोंसे तथा और भी अनेक प्रकारके धानोंसे सदा हरे-भरे रहते हैं तथा उनकी सीमाएँ पौडा और ईलोंके वनोंसे सदा ढकी रहती हैं ॥७३॥ इस विजयार्थ पर्वत-पर बसे हुए नगरोंका अन्तर भी सर्वज्ञ देवने प्रमाण योजनाके नापसे १९५ योजन बतलाया है ॥७४॥ जिस प्रकार दक्षिण श्रेणीपर इन नगरोंकी रचना बतलायी है ठीक उसी प्रकार उत्तर श्रेणीपर भी अनेक विभूतियोंसे युक्त नगरोंकी रचना है ॥७५॥ किन्तु वहाँपर नगरोंका अन्तर प्रमाणयोजनसे कुछ अधिक एक सौ अठहत्तर योजन है ॥७६॥ पश्चिम दिशासे लेकर साठवें नगर तक उन नगरोंके नाम अनुक्रमसे इस प्रकार हैं-॥७७॥ १ अर्जुनी, २ वारुणी, ३ कैलास-वारुणी, ४ विद्युत्प्रभ, ५ किलिकिल, ६ चूडामणि, ७ शशिप्रभा, ८ वंशाल, ९ पुष्पचूड, १० हंस-गर्भ, ११ बलाहक, १२ शिवंकर, १३ श्रीहर्म्य, १४ चमर, १५ शिवमन्दिर, १६ वसुमत्क, १७ वसुमती, १८ सिद्धार्थक, १९ शत्रुञ्जय, २० केतुमाला, २१ सुरेन्द्रकान्त, २२ गगननन्दन, २३ अशोका, २४ विशोका, २५ वीतशोका, २६ अलका, २७ तिलका, २८ अम्बरतिलक, २९ मन्दिर, ३० कुमुद, ३१ कुन्द, ३२ गगनवल्लभ, ३३ भूमितिलक, ३४ भूमितिलक, ३५ गन्धर्वपुर, ३६ मुक्ताहार, ३७ नैमिष, ३८ अग्निज्वाल, ३९ महाज्वाल, ४० श्रीनिकेत, ४१ जय, ४२ श्रीनिवास, ४३ मणिवज्र, ४४ भद्राङ्ग, ४५ भवनञ्जय, ४६ गोक्षीर, ४७ फेन, ४८ अशोभ्य, ४९ गिरिशिखर, ५० धरणी, ५१ धारण, ५२ दुर्ग, ५३ दुर्धर, ५४ सुदर्शन, ५५ महेन्द्रपुर, ५६ विजयपुर, ५७ सुगन्धिनी, ५८ वज्रपुर, ५९ रत्नाकर और ६० चन्द्रपुर । इस प्रकार उत्तर श्रेणीमें ये बड़े-बड़े साठ नगर सुशोभित हैं इनकी शोभा स्वर्गके नगरोंके समान है ॥७८-८७॥

१. भरिताः । २. पञ्चनयत्यधिकशतम् । ३. निर्देशितम् । ४. साधिकाष्टसप्ततिसहितम् । ५. षष्टिम् । षष्टेः पूर्णं षष्टितमम् । ६. शशिप्रभे इति वचनित् पाठः । ७. पुष्पचूडं च अ० । ८. वसुमत्कं प० । ९. अम्बर-तिलकम् । १०. नैमिषम् । ११. भवनञ्जयम् अ० । १२. गिरिशिखरम् । १३. धारणं ल०, म० । १४. माहेन्द्रा-ख्य ल०, म०, द० । १५. वज्राख्यं परं ल०, म०, द० । १६. चन्द्रपुरं म०, ल० ।

पुराणीन्द्रपुराणोप सौधानि स्वर्विमानतः । प्रति प्रतिपुरं स्वस्तं विभवं प्रतिवैभवम् ॥८८॥

नराः सुरकुमाराभा नार्यश्चाप्सरसां समाः । सर्वर्तुविषयान् भोगान् भुञ्जतेऽमी ययोचितम् ॥८९॥

भूतधिलम्बितकलुषः

इति पुराणि पुराणकवीशितामपि कर्त्तानिराक्यनुत्तीन्ययम् ।

दधदधित्यकथा^३ गिरिरुचकैः शुवसतेः^४ श्रियमाङ्गयते भुवम् ॥९०॥

गिरिरयं गुरुभिः शिखरैर्दिवं प्रविपुलेन तलेन च भूतलम् ।

दधदुपान्तचरः खचरोरगैः प्रथयति त्रिजगच्छिष्यमेकतः ॥९१॥

निधुवनानि^५ वनाग्नलतालये^६ मृदितपल्लवसंस्तरणाततैः ।

पिशुनयस्युप^७ भोगसुगन्धिभिर्गिरिरयं गगनेचरयोविताम् ॥९२॥

इह सुरासुरकिन्नरपन्नगा नियतमस्य तटेषु महीभूतः ।

प्रतिवसन्ति समं प्रमदाजनेः स्वरुचितैरुचितैश्च रतोत्सवैः ॥९३॥

सुरसिषेणिवितेषु निषेकुषीः^८ सरिदुपान्तलताभवनेध्वनूः ।

प्रणयकोपविजिह्व^९ मुखीर्वधूरनुनयन्ति सदात्र नमश्चराः ॥९४॥

ये नगर इन्द्रपुरीके समान हैं और बड़े-बड़े भयन स्वर्गके विमानोंके समान हैं । यहाँका प्रत्येक नगर शोभाकी अपेक्षा दूसरे नगरसे पृथक् ही मालूम होता है तथा हरएक नगरका वैभव भी दूसरे नगरके वैभवकी अपेक्षा पृथक् मालूम होता है अर्थात् यहाँ के नगर एकसे-एक बढ़कर हैं ॥८८॥ यहाँके मनुष्य देवकुमारोंके समान हैं और स्त्रियाँ अप्सराओंके तुल्य हैं । ये सभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने योग्य छहों ऋतुओंके भोग भोगते हैं ॥८९॥ इस प्रकार यह विजयार्थ पर्वत ऐसे-ऐसे श्रेष्ठ नगरोंको धारण कर रहा है कि बड़े-बड़े प्राचीन कवि भी अपने वचनों-द्वारा जिनकी स्तुति नहीं कर सकते । इसके सिवाय यह पर्वत अपने ऊपरकी उत्कृष्ट भूमिसे ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गकी लक्ष्मीको ही बुला रहा हो ॥९०॥

यह पर्वत अपने बड़े-बड़े शिखरोंसे स्वर्गको धारण कर रहा है, अपने विस्तृत तलभागसे अधोलोकको धारण कर रहा है और समीपमें ही धूमनेवाले विद्याधर तथा धरणेन्द्रोंसे मध्यलोककी शोभा धारण कर रहा है । इस प्रकार यह एक ही जगह तीनों लोकोंकी शोभा प्रकट कर रहा है ॥९१॥ जिनमें कोमल पल्लवोंके बिल्लीने बिछे हुए हैं और जो उपभोगके योग्य चन्दन, कपूर आदिसे सुगन्धित हैं । वनके मध्यमें बने हुए लता-गृहोंसे यह पर्वत विद्याधरियोंकी रतिकोटाको प्रकट कर रहा है ॥९२॥ इस पर्वतके किनारोंपर देव, असुरकुमार, किन्नर और मांगकुमार आदि देव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ अपनेको अच्छे लगनेवाले तथा अपने-अपने योग्य संभोग आदिका उत्सव करते हुए नियमसे निवास करते रहते हैं ॥९३॥ इस पर्वतपर देवोंके सेवन करने योग्य नदियोंके किनारे बने हुए लता-गृहोंमें बैठो हुई तथा प्रणय कोपसे जिनके मुख कुछ मलिन अथवा कुटिल हो रहे हैं ऐसी अपनी स्त्रियोंको विद्याधर लोग सदा मनाते रहते हैं—

१. स्वर्गविमानानां प्रतिनिधयः । २. व्यत्यासितविभवप्रतिवैभवम् । एकस्मिन्नगरे यो विभवो सवर्तन्यस्मिन्नगरे तद्विभवाधिकं प्रतिवैभवमस्तीत्यर्थः । ३. श्रेण्या । ४. स्वर्गावासलक्ष्मीम् । ५. व्यवधानि रतानीत्यर्थः । ६. मृदितकिसलयशय्याविस्तृतैः । ७. उपभोगयोग्यश्रीलण्डकपूरादिसुरभिभिः । ८. आत्मनाम-भीष्टैः । ९. अमरैर्निषेवितुमिष्टेयम् । १०. स्थितवतीः । ११. षक्रः ।

इह मृणालनियोजितबन्धनैरिह^१ वर्तससरोरुहताडनैः ।
 इह^२ मुखासघसेचनकैः प्रियान् विमुखयन्ति रते कुपिताः स्त्रियः ॥९५॥
 क्वचिदनङ्गनिवेश^३ इवामरीललितनर्तनगातमनोहरः ।
 मदकलध्वनिकोकिलडिण्डिमैः क्वचिदनङ्गजयोस्तत्रविभ्रमः^४ ॥९६॥
 क्वचिदुपो^५ वपयःकण्ठातलैः धृतसरोजवर्नैः पवनैः सुखः^६ ।
 मदकलालिकुलाकुलपादपैरुपवर्नैरतिरम्यतरः क्वचित् ॥९७॥
 क्वचिदनेक^७ पयूथनिषेवितः क्वचिदनेक^८ पमत्पतगाततः ।
 क्वचिदनेक^९ परार्थ्यमणिप्रसिच्छुरितराजतसानुविराजितः ॥९८॥
 क्वचिदकाण्ड^{१०} विनर्तितकैकिमिर्धननिर्भैर्हरिनीलतटैर्युतः ।
 क्वचिदकालकृतौ^{११} वसविप्लवैः परिगताऽरुणरत्नशिलातटैः^{१२} ॥९९॥
 मवचन कान्धनमितिपराहृतै^{१३} रविकरैरभिदीपितकाननः ।
 नभसि संचरतां जमदग्ध्यं गिरिरुद्गीणं^{१४} दधानलसंशयम् ॥१००॥
 इति विशेषपरम्परयाम्बहं परिगतो^{१५} गिरिरं प सुरेशिताम् ।
 अपि मनः^{१६} परिवर्धितकौतुकं वितनुते किमुताम्बरधारिणाम् ॥१०१॥

१. मृणालनियोजितबन्धनैः २. मुखसघसेचनकैः ३. निवेश ४. विभ्रमः ५. उपो ६. सुखः ७. एक ८. एक ९. एक १०. काण्ड ११. कालकृतौ १२. शिलातटैः १३. पराहृतैः १४. गिरिरुद्गीणं १५. परिगतो १६. मनः

प्रसन्न करते रहते हैं ॥९४॥ इधर ये कुपित हुई स्त्रियाँ अपने पतियोंको मृणालके बन्धनोंसे बाँधकर रति-क्रीडासे विमुख कर रही हैं, इधर कानोंके आभूषण-स्वरूप कमलोंसे ताडना करके ही विमुख कर रही हैं और इधर सुखकी मगिरा ही थूककर उन्हें रति-क्रीडासे पराङ्मुख कर रही हैं ॥९५॥ यह पर्वत कहींपर देवांगनाओंके सुन्दर नृत्य और गीतोंसे मनोहर हो रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेवका निवासस्थान ही हो और कहींपर मदोन्मत्त कोयलोंके मधुर शब्दरूपी नगाड़ोंसे युक्त हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो काम-देवके विजयोत्सवका बिलास ही हो ॥९६॥ कहीं तो यह पर्वत जलके कणोंको धारण करनेसे शीतल और कमलवनोंको कम्पित करनेवाली वायुसे अतिशय सुखदायी मालूम होता है और कहीं मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरोंसे व्याप्त वृक्षोंवाले बगीचोंसे अतिशय सुन्दर जान पड़ता है ॥९७॥ यह पर्वत कहीं तो हाथियोंके गुण्डसे सेवित हो रहा है, कहीं उड़ते हुए अनेक पक्षियोंसे व्याप्त हो रहा है और कहीं अनेक प्रकारके श्रेष्ठ मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त चाँदीके शिखरोंसे सुशोभित हो रहा है ॥९८॥ यह पर्वत कहींपर नीलमणियोंके बने हुए किनारोंसे सहित है इसके वे किनारे मेघके समान मालूम होते हैं जिससे उन्हें देखकर मनोर असमयमें ही (वर्षा ऋतुके बिना ही) नृत्य करने लगते हैं । और कहीं लाल-लाल रत्नोंकी शिलाओंसे युक्त है, इसकी वे रत्नशिलाएँ अकालमें ही प्रातःकालकी लालिमा फैला रही हैं ॥९९॥ कहींपर सुवर्णमय दीवालोंपर पड़कर लौटता हुई सूर्यकी किरणोंसे इस पर्वतपरका वन अतिशय वेदीयमान हो रहा है जिससे यह पर्वत आकाशमें चलनेवाले विद्याधरोंको द्वावानल लगानेका सन्देह उत्पन्न कर रहा है ॥१००॥ इस प्रकार अनेक विशेषताओंसे सहित यह पर्वत रात-दिन इन्द्रोंके मनको भी उड़ते हुए कौतुकसे युक्त करता रहता है अर्थात् क्रीडा करनेके लिए इन्द्रों

१. कर्णपुर । २. मधुगण्डूषसेचनैः । ३. आश्रयः । ४. विलासः । ५. धृतः । ६. सुखकरः । ७. गजः । ८. विविधोद्गच्छदपक्षिविस्तृतः । ९. विविधोत्कृष्टरत्नकान्तिमिश्रितरजतमयनितम्बशोभितः । १०. अकालः । ११. उषःसंवन्धिबालातपूतः । १२. प्रातः, प्रत्युषोऽहर्मुखं कल्यमुखःप्रत्युषसी अपि, इत्यभिधानात् । १३. शिलातलैः । १४. उद्गीत । १५. युतः । १६. नपि पुनः ७०, ८० ।

सुरसरिजलसिक्त^१ तटद्रुमो जलदधुम्बितसाधुवनोदयः ।

मणिरादी^२ शिखरै^३ रत्नसरोजिर्मणिमयहे गिरिरेष^४ सुराचलान् ॥१०२॥

सुरनदीसलिलध्रुतपादपैस्तटवनैः^५ कुसुमाश्रितमूर्धभिः ।

मुखरितालिभिरेष महाचलो विहसताव सुरोपवनश्रियम् ॥१०३॥

इयमितः सु^६ रसिन्धुरपां छटाः प्रकिरतीह विभाति पुरो दिशि ।

बहति सिन्धुरितइष महानदी मुखरिता कलहंसकलस्वनैः ॥१०४॥

हिमवतः शिरसः किल निःसृते^७ सकमलालयतः सरिताविमे ।

शुचितयास्य तु पादमुपाश्रिते^८ शुधिरलकध्यतरो हि^९ वृधोजतेः ॥१०५॥

इह^{१०} सदैव सदैवविधेष्टितैः^{११} सुकृतिनः^{१२} कृतिनः खचराधिपाः ।

कृतनयास्तनया इव सत्पितुः समुपयान्ति कलान्पमुतो गिरेः ॥१०६॥

क्षितिरकृष्टपद्मैलिमसस्थसूः खनिरयत्नजरत्नविशेषसूः ।

इह वनस्पतयइष सद्योजता वधति पुष्पफलहिमकालजान् ॥१०७॥

सरसि सारसहंसविकृजितैः कुसुमितासु कलास्त्रलिनिःस्वनैः ।

उपयमेधु च कोकिलमिषणैर्हृदि^{१३} शशोज्ञ सदैव विनिव्रितः^{१४} ॥१०८॥

का भी मन ललचाता रहता है तब विद्याधरोंकी तो बात ही क्या है ? ॥१०१॥ जिसके किनारे-पर डगे हुए वृक्ष गङ्गा नदीके जलसे सींचे जा रहे हैं और जिसके शिखरोंपर-के वन मेंधोंसे चुम्बित हो रहे हैं ऐसा यह विजयार्ध पर्वत विद्याधरोंसे सेवित अपने मणिमय शिखरों-द्वारा मेरु पर्वतों को भी जीत रहा है ॥१०२॥ जिनके वृक्ष गंगा नदीके जलसे सींचे हुए हैं, जिनके अग्रभाग फूलोंसे सुशोभित हो रहे हैं और जिनमें अनेक भ्रमर शब्द कर रहे हैं ऐसे किनारेके उपवनोंसे यह पर्वत ऐसा मालूम होता है मानो देवोंके उपवनोंकी शोभाकी हँसी ही कर रहा हो ॥१०३॥ इधर यह पूर्व दिशाकी ओर जलके छींटोंकी वर्षा करती हुई गंगा नदी सुशोभित हो रही है और इधर यह पश्चिमकी ओर कलहंस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान सिन्धु नदी बह रही है ॥१०४॥ यद्यपि यह दोनों ही गंगा और सिन्धु नदियाँ हिमवत् पर्वतके मस्तकपरके पद्म-नामक सरोवरसे निकली हैं तथापि शुचिता अर्थात् पवित्रताके कारण (पक्षमें शुक्लताके कारण) इस विजयार्धके पाद अर्थात् चरणों (पक्षमें प्रत्यन्तपर्वत) की सेवा करती हैं सो ठीक है क्योंकि जो पवित्र होता है उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्रताके सामने ऊँचाई व्यर्थ है। भावार्थ-गंगा और सिन्धु नदी हिमवत् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकल कर गुहाद्वारसे विजयार्ध पर्वतके नीचे होकर बहती हैं। इसी बातका कविने आलंकारिक ढंग-से वर्णन किया है। यहाँ शुचि और शुक्ल शब्द श्लिष्ट हैं ॥१०५॥ जिस प्रकार नीतिमान पुत्र श्रेष्ठ पितासे मनवाञ्छित फल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार पुण्यात्मा, कार्यकुशल और नीति-मान विद्याधर अपने भाग्य और पुरुषार्थके द्वारा इस पर्वतसे सदा मनवाञ्छित फल प्राप्त किया करते हैं ॥१०६॥ यहाँको पृथ्वी बिना बोधे ही धान्य उत्पन्न करती रहती है, यहाँकी खानें बिना प्रयत्न किये ही उत्तम-उत्तम रत्न पैदा करती हैं और यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष भी असमयमें उत्पन्न हुए पुष्प और फलरूप सम्पत्तिको सदा धारण करते रहते हैं ॥१०७॥ यहाँके सरोवरोंपर सारस और हंस पक्षी सदा शब्द करते रहते हैं, फूली हुई लताओंपर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं और उपवनोंमें कोयलें शब्द करती रहती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ कामदेव

१. 'तटीद्रुमो' इति त्रयित् पाठः । २. विद्याधराश्रितैः । ३. कुलाचलान् द० । ४. कुसुमाश्रित व० ।

५. गंगा । ६. पद्मसरोवरसहितात् । ७. वृथा उद्यतियस्य तत्सकाशात् । ८. वृधोजतिः ल० । ९. अनारतमेव ।

१०. पुष्पसहित । ११. पुष्पवन्तः । १२. कुशलः । १३. मदनः । १४. विगतनिद्रः ।

कमलिनीवनरेणुविकर्षिभिः^१ कुसुमितोपवनदुमधूनमैः^२ ।

^३पृथिव्युपैति सदा स्वचरीजनो रतिपरि^४श्रमनुजिह्वानिलैः ॥१०९॥

हरिरितः प्रतिगर्जति कामने करिकुलं वनमुज्जति तन्मयात् ।

परिगलत्कवळं च मृगीकुलं गिरिनिकुञ्जतला^५दयसर्पेति ॥११०॥

सरसि हंसवधूरियमुत्सुका कमलरेणुविपिञ्जरमञ्जसा ।

समधुयाति न कोकविशङ्किनी^६ सहचरं गलदश्रु विरीति च ॥१११॥

इयमितो वत कोककुटुम्बिनी^७ कमलिनीनवपत्रतिरोहितम् ।

अनवलोक्य मुहुः सहचारिणं^८ भ्रमति क्षीनहस्तैः परितः सरः ॥११२॥

इह शरद्वनमल्पकमाश्रितं मणितटं सुरस्येचरकम्यकाः ।

लघुतया^९ सुखहार्यमितस्ततः प्रचलयन्ति नयन्ति च कर्षणैः^{१०} ॥११३॥

^{११}असुमतां^{१२} सुमताम्भसमाततां धृतं^{१३} घनान्तघनामिव वीचिभिः ।

^{१४}ततयनान्तवनाममरापगां वहति सानुभिरेव महाचलः ॥११४॥

^{१५}असुतरां सुतरां^{१६} पृथुमम्भसां^{१७} पतिभित्तां तिमितान्तं^{१८} लतावनाम् ।

^{१९}अनुगतां^{२०} नु गतां स्वतटोपमां वहति सिन्धुमयं धरणीधरः ॥११५॥

सदा ही जागृत रहा करता हो ॥१०८॥ जो कमलवनके परागको खींच रहा है, जो उपवनोके झूलें हुए वृक्षोंको हिला रहा है और जो सभोगजन्य परिश्रमको दूर कर देनेवाला है ऐसे वायुसे यहाँकी विद्याधरियाँ सदा सन्तोषको प्राप्त होती रहती हैं ॥१०९॥ इधर इस वनमें यह सिंह गरज रहा है उसके भयसे यह हाथियोंका समूह वनको छोड़ रहा है और जिनके मुखसे प्राप्त भी गिर रहा है ऐसा यह हरिणियोंका समूह भी पर्वतके तलागृहोंसे निकलकर भागा जा रहा है ॥११०॥ इधर तालाबके किनारे यह उत्कण्ठित हुई हंसिनो, जो कमलके परागसे बहुत शीघ्र पीला पड़ गया है ऐसे अपने साथी-प्रिय हंसको चकवा समझकर उसके समीप नहीं जाती है और अश्रु डालती हुई रो रही है ॥१११॥ इधर यह चकवी कमलिनीके नयोन पत्रोंसे छिपे हुए अपने साथी-चकवाको न देखकर बार-बार दीन शब्द करती हुई तालाबके चारों ओर घूम रही है ॥११२॥ इधर इस पर्वतके मणिमय किनारेपर यह शरद्वृक्षतुका छोटा-सा बादल आ गया है, हलका होनेके कारण इसे सब कोई सुखपूर्वक ले जा सकता है और इसीलिए ये देव तथा विद्याधरोंकी कन्याएँ इसे इधर-उधर चलाती हैं और खींचकर अपनी-अपनी ओर ले जाती हैं ॥११३॥ जो सब जीवोंको अतिशय इष्ट है, जो बहुत बड़ी है, जो अपनी लहरोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो उसने शरद्वृक्षतुके बादल ही धारण किये हों और जिसका जल वनोंके अन्तर्भाग तक फैल गया है ऐसी गंगा नदीको भी यह महापर्वत अपने निचले शिखरों पर धारण कर रहा है ॥११४॥ और, जो अतिशय विस्तृत है जो कठिनतासे पार होने योग्य है, जो लगातार समुद्र तक चली गयी है जिसने लताओंके वनको जलसे आर्द्र कर दिया है तथा जो अपने किनारेकी उपमाको प्राप्त है ऐसी सिन्धु नदीको भी यह पर्वत धारण कर रहा

१. स्वीकुर्वाणैः । २. धूनकैः इत्यपि पाठः । ३. संतोषम् । ४. श्रेयविनाशकैः । ५. कुञ्जकुला-
इत्यपि पाठः । ६. प्रियतमं हंसम् । ७. चक्रवाकस्त्री । ८. प्रियकोकम् । ९. सुखेन प्रापणीयम् । १०. आकर्षणैः ।
११. प्राणिनाम् । १२. सुष्ठुसम्भतजलाम् । १३. शरत्कालमेवाम् । १४. विस्तृतवनमध्यजलाम् ।
१५. वृक्षराम् । १६. नितराम् । १७. समुद्रगताम् । १८. आद्रितसमीपवल्लीवनाम् । १९. अनुगम्य भावः अनुगता
ताम् । २०. नु स्वतां ल०, म० । नु इव ।

इति अदेव यदेव निरूपयते बहुविशेषगुणेऽत्र नगाधिपे ।

किमु तदेव तदेव सुखावहं हृदयहारिणम् च विलोक्यम् ॥११५॥

इन्द्रवज्रा

धत्तेऽस्य सानो कुसुमाचितेयं नीलावनालीपरिधामकश्मीम्^३ ।

शृङ्गाप्रलम्बा च सिताभ्रपङ्क्तिः^४ संन्यासलीलामिचमासनोति ॥११६॥

उपेन्द्रवज्रा

तिरस्करिण्येव सिताभ्रपङ्क्त्या^५ परिकृतान्तेऽस्य निकुञ्जदेशे ।

मणिप्रभोरसर्पहताम्बुकारे समं रमन्ते स्वचरैः स्वचर्यः ॥११७॥

वंशस्थवृक्षम्

शरद्^६वनस्थोपरि सुस्थिते घने वितानतां तन्वति खेचराङ्गनाः ।

कृतालयस्तत्र^७ चिरं रिरंसया घनातपेऽप्यङ्घ्रि न जानते कलमम् ॥११८॥

समुपलसन्तीलमणिप्रभाप्लुतान् शरद्वनान् कालवनावनाधितान्^८ ।

विलोक्य हृष्टोऽत्र रुयन्^९ शिखावलः^{१०} प्रनृत्यति व्यातत^{११} बर्हमुन्मदः ॥११९॥

रुचिरावृक्षम्

सितान् घनानिह तटसंश्रितानिमान् स्थलास्थया समुपागताः खगाङ्गनाः ।

दुकूलसंस्तरण^{१२} इवातिनिस्तृते विद्याधिका^{१३} सुपरचयन्ति तत्तले ॥१२०॥

हैं ॥११५॥ इस प्रकार अनेक विशेष गुणोंसे सज्जित इस पर्वतपर जिसे देखो वही सुख देनेवाला, हृदयको हरण करनेवाला और आँखोंको लुभानेवाला जान पड़ता है ॥११६॥

इस पर्वतके नीचले शिखरोंपर जो फूलोंसे व्याप्त हरी-हरी वनकी पंक्ति दिखाई दे रही है वह इस पर्वतकी धोतीकी शोभा धारण कर रही है और शिखरके अग्रभागपर जो सफेद-सफेद बादलोंकी पंक्ति लग रही है वह इसकी पगड़ीकी शोभा बढ़ा रही है ॥११७॥ जिनका अन्तभाग परदाके समान सफेद बादलोंकी पंक्तिसे ढका हुआ है और मणियोंकी प्रभाके प्रसार-से जिनका सब अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे इस पर्वतके लतागृहोंमें विद्याधरियाँ विद्याधरों के साथ कीड़ा कर रही हैं ॥११८॥ इस पर्वतके ऊपर शरद्वृक्षतुका मोटा बादल चँदोवाकी शोभा बढ़ाता हुआ हमेशा स्थिर रहता है इसलिए विद्याधरियाँ चिरकाल तक रमण करनेकी इच्छासे वहाँपर अपना घर-सा बना लेती हैं और गरमीके दिनोंमें भी गरमीका दुःख नहीं जानती ॥११९॥ ये शरद्वृक्षतुके बादल भी चमकते हुए इन्द्रनीलमणियोंकी प्रभामें डूबकर काले बादलोंके समान हो रहे हैं, इन्हें देखकर ये मयूर हर्षित हो रहे हैं और उन्मत्त होकर झट्ट करते हुए पूँछ फैलाकर सुन्दर नृत्य कर रहे हैं ॥१२०॥ इधर ये विद्याधरोंका स्त्रियाँ पर्वत-के किनारेमें मिले हुए सफेद बादलोंको स्थल समझकर उनके पास पहुँची हैं और उनपर इस प्रकार शय्या बना रही हैं मानो बिछे हुए किसी लम्बे-चौड़े रेशमकी जाजमपर ही बना रही

१. किमुन । २. लोभकरम् । ३. अर्घाङ्गुकशोभाम् । ४. उत्तरीयविलासम् । ५. पवमिकया । 'प्रतिसीरा यवनिका स्थातिरस्करिणी च सा' इत्यभिधानात् । ६. वेष्टित । ७. शरद्वनेऽप्योपरि ल०, म० । ८. मेघद्वयमध्ये । ९. कृष्णमेघ इवाचरितान् । १०. रुयन् । ११. केकी । १२. विस्तृतपिच्छं यथा भवति तथा । १३. सत्याशाम् । १४. दायनम् ।

सरस्तटं कलहत्सारसाकुलं वनद्विपे विशति सितच्छदावली^१ ।
 नभोभिधा ममुपगताग्र रुदन्ते नमः श्रियः पृथुतरहारयष्टिवत् ॥१२२॥
 क्वचिद्वरिष्म^२ णितटरोचिषो चयैः परिष्कृतं^३ वपुरिह तिम्रदीभितेः ।
 सरोजिनो हरितपलाश शङ्कया नमश्च रूपतटमोक्षयते मुहुः ॥१२३॥
 क्वचिद्वनद्विरदफपोलघटनैः क्षतरक्षो वनतरवः सरस्तटे ।
 रुदन्ति^४ नु च्युतकुसुमाश्रुभिन्दवो निर्लीनषट्पदकण्ठस्वरान्विताम्^५ ॥१२४॥
 इतः कलं कमलवनेषु रुयते मदीयधुरध्वनिकलहंससारमैः ।
 इतश्च कोकिलकलनादमूर्च्छितं^६ मनोहरं शिखिविस्तृतं प्रतायते^७ ॥१२५॥
 इतः शरद्घनघनफालमेघयोर्यदृच्छया वन इव संनिधिर्भवन् ।
 मुखोन्मुखप्रहितकरः प्रवर्तते स्वितासितद्विरदनयोरयं रणः ॥१२६॥
 वनस्थलीमनिलविकोक्तद्रुमामिमामितः कुसुमरजोऽवगुण्डिताम्^८ ।
 अलक्षिता^९ मभिगम^{१०} यत्यल्लिजजः समावजन् परिमललोलुपोऽभितः ॥१२७॥
 इतो वनं वनगजयूथसेवितं^{११} विभाष्यते मदजलसिक्तपादपम् ।
 समापतन्मदकलभृद्गमालिकासमाकुलद्रुम^{१२} लतमन्तरा^{१३} न्तरा ॥१२८॥

हो ॥१२१॥ इधर, मनोहर शब्द करते हुए सारस पक्षियोंसे व्याप्त तालाबोंके किनारोंपर ये जंगली हाथी प्रवेश कर रहे हैं जिससे ये हंसोंकी पंक्तियाँ श्रावण मासके डरसे आकाशमें उड़ी जा रही हैं और ऐसी दिखाई देती हैं मानो आकाशरूपी लक्ष्मीके हारकी लड़ियाँ ही हों ॥१२२॥ इधर यह सूर्यका बिम्ब हरे-हरे मणियोंके बने हुए किनारोंकी कान्तिके समूहसे आच्छादित हो गया है इसलिए ये विद्याधर इसे कमलिनीका हरा पत्ता समझकर पर्वतके इसी किनारेकी ओर बार-बार देखते हैं ॥१२३॥ कहींपर सरोवरके किनारे जंगली हाथियोंके कपोलोंकी रगड़से जिनकी छाल गिर गयी है ऐसे घनके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो फूलरूपी आँसुओंको वूँदें डालते हुए और उनके भीतर बैठे हुए भ्रमरोंकी गुंजारके वहाने करुणाजनक शब्द करते हुए रो ही रहे हों ॥१२४॥ इधर कमलवनोंमें मदके कारण जिनके शब्द उत्कट हो गये हैं ऐसे कलहंस और सारस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं और इधर कोयलोंके मनोहर शब्दोंसे बड़ा हुआ मयूरीका मनोहर शब्द विस्तृत हो रहा है ॥१२५॥ इधर इस वनमें शरद्ऋतुके-से सफेद बादल और वर्षाऋतुके-से काले बादल स्वेच्छासे मिल रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो सफेद और काले दो हाथी एक-दूसरेके मुँहके सामने सूँढ़ चलाते हुए युद्ध ही कर रहे हों ॥१२६॥ इधर वायुसे जिसके वृक्ष झिल रहे हैं और जो फूलोंकी परागसे विलकुल ढकी हुई है ऐसी यह वनकी भूमि यद्यपि दिखाई नहीं दे रही है तथापि सुगन्धिका लोलुपी और चारों ओरसे आता हुआ यह भ्रमरोंका समूह इसे दिखला रहा है ॥१२७॥ इधर, जो अनेक जंगली हाथियोंके झुण्डोंसे सेवित है जिसके वृक्ष उन हाथियोंके मद्गुरुपी जलसे सींचे गये हैं और जिसके वृक्ष तथा लताएँ बीच-बीचमें पड़ते हुए और मदसे मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त

१. हंसावली । २. मरकतरत्नम् । 'गास्तमत् मरकतमदमगर्भं हरिष्मणिः' इत्यभिधानात् ।
 ३. वेष्टितम् । विम्बितम् । ४. पत्र । 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं' छदः पुमान् इत्यभिधानात् । ५. इव ।
 ६. कण्ठस्वरान्विताः, कण्ठस्वरान्विता इति च पाठः । ७. मिश्रितम् । ८. प्रतन्यते स०, म० । ९. मुखामि-
 मुखस्थापितकण्डः । १०. आच्छादिताम् । ११. नपि गम-द० । १२. जापयति । १३. अनुमीयते । १४. द्रुमकुल-
 मन्तरान्तरे द०, प० । द्रुमलतमन्तरान्तरे म०, ल० । १५. मध्ये मध्ये ।

पुष्पिताम्रावृक्षम्

इह खगधनिता नितान्तरम्याः सुरभिस्तरोजवना वनान्तकीर्षीः ।
 परिहितस्सर्पैः^१ शनैः ध्रुवन्ते जितपुलिनैर्जवनैर्धनैः सुदृश्यः^२ ॥१२९॥
 सरसकिसलयप्रसूनकलसि^३ विततरिपूणि^४ वनानि नूनमस्मिन् ।
 द्रुतमित इत इत्थम्^५ खगश्चरिर्विस्तैरवि^६ राममाह्वयन्ति ॥१३०॥
 कुसुमितवनवर्णमध्यमेता तस्यगहनेन^७ धर्माकृतान्धकारम् ।
 स्वतनुरुचिविधूतदृष्टिरोधाः खगधनिता बहुदीपिका^८ विशन्ति ॥१३१॥
 कुसुमरसपिपासया निलीनैरलिभिरनारतमाहवद्भि^९ रायाम् ।
 युवतिकरजलून^{१०} पल्लवानामनुदित^{११} नु^{१२} वितप्यते लतानाम् ॥१३२॥
 कुसुमरचितभूषणावतंसाः कुसुमरजःपरिपिञ्जरस्तनाग्ताः ।
 कुसुमशरदारायितायताक्ष्यः तदपचिताय^{१३} विभान्मस्यम्^{१४} खचर्यः ॥१३३॥

वसन्ततिलकम्

ताः संचरन्ति कृष्णमापचये तरुण्यः सक्ता^{१५} वनेषु ललितभ्रुविलोलनेत्रा ।
 तन्मयो नखोऽकिरणोद्^{१६} गममजरीका व्यालोलघटपदकुला इव हेमवस्त्रः ॥१३४॥

हो रही हैं ऐसा यह वन किन्ता सुन्दर सुशोभित हो रहा है ॥१२८॥ इधर, जो सुगन्धित कमलोंके वनोंसे सहित हैं और जो अतिशय मनोहर जान पड़ती हैं ऐसी इन वनकी गलियोंमें ये सुन्दर दाँतोंवाली विद्याधरोंकी स्त्रियाँ करधनी पहने हुए और नदियोंके किनारेके बालूके टीलोंको जीतनेवाले अपने बड़े-बड़े जवनों (नितम्बों) से धीरे-धीरे जा रही हैं ॥१२९॥ इधर, इस पर्वतपर-के वन सरस पल्लव और पुष्पोंकी रचना मानो बाँट देना चाहते हैं इसीलिए वे भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंके बहाने इधर इस वृक्षपर आओ, इधर इस वृक्षपर आओ इस प्रकार निरन्तर इन विद्याधरियोंको भुलाते रहते हैं ॥१३०॥ इधर वृक्षोंकी सघनतासे जिसमें खूब अन्धकार हो रहा है, ऐसे फूले हुए वनके मध्यभागमें अपने शरीरकी कान्तिसे वृष्टिको रोकनेवाले अन्धकारको दूर करती हुई ये विद्याधरियाँ साथमें अनेक दीपक लेकर प्रवेश कर रही हैं ॥१३१॥ इधर, इन तरुण स्त्रियोंने अपने नाखूनोंसे इन लताओंके नवीन-कोमल पत्ते छेद दिये हैं इसलिये फूलोंका रस पीनेकी इच्छासे इन लताओंपर बैठे और निरन्तर गुंजार करते हुए इन भ्रमरोंके द्वारा ऐसा जान पड़ता है मानो इन लताओंके रोनेका शब्द ही फैल रहा हो ॥१३२॥ इधर, जिन्होंने फूलोंके कर्णभूषण बनाकर पहिने हैं, फूलोंकी परागसे जिनके स्तनमण्डल पीले पड़ गये हैं और जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें कामदेवके बाणके समान जान पड़ती हैं ऐसी ये विद्याधरियाँ फूल तोड़नेके लिए इस पर्वतपर इधर-उधर जा रही हैं ॥१३३॥ जिनको भीहि सुन्दर हैं, नेत्र अतिशय चंचल हैं, नखोंकी किरणें निकली हुई मंजरियोंके समान हैं और जो फूल तोड़नेके लिए वनोंमें तल्लीन हो रही हैं ऐसी ये तरुण स्त्रियाँ जहाँ-

१. परिक्षिप्तकाञ्चीदार्यः । २. दोषना दन्ता यासां ताः । ३. रचनम् । ४. विस्तारयितुमिच्छन्ति ।

५. इव । ६. द्रुतमित ल०, म०, द० । द्रुतमित इत्यपि भवति । ७. अनवरतमित्यर्थः । ८. दुर्गमेन ।

९. निजवेहकान्तिनिर्घूतान्धकाराः । १०. दीपिकासदृशाः । ११. आ समन्तात् ध्वनद्भिः । १२. नखच्छेदित ।

१३. अनुवतरोदनम् । १४. इव । तु प०, अ०, ल०, म० । १५. पुष्पादाने पुष्पापचये इत्यर्थः । १६. वास-

वताः । १७. पुष्प ।

पुष्पिताग्रावृक्षम्

भृदुतरपवने वने प्रफुल्लत् कुसुमितमालति^१ कातिकान्तपाश्वे ।
मरुदयमधुना^२ धुनोति^३ वाथीरश्मिरुहां मलिनालिनाममुष्मिन् ॥१३५॥

वसन्ततिलकम्

आभूतकल्पतरुवीधिरतो नभस्वान् मन्दारसान्द्रजसा सुरभिकृताशः ।
मत्सालिकोकिलस्तानि हरन्समन्ताद्वाति पल्लवपुटानि वानैर्विभिन्दन् ॥१३६॥

पुष्पिताग्रावृक्षम्

धृतकमलवने वने^४ तरङ्गानुपरम्पन्मकरन्दगन्धवधुः^५ ।
अयमतिशिशिरः शिरस्तृणा सकुसुमभास्पृशतीह गन्धवाहः ॥१३७॥

परिचयः - आभूत की पुष्पिताग्रावृक्षम्

सृष्टि^६ मृदुलताप्रपल्लवैः बलघितनिर्झरशीकरोत्करैः ।
अनुवनमिह^७ मीयतेऽनिलैः कुसुमरजो विधुतं वितानताम् ॥१३८॥
चलचलयरवै^८ घाततैः अनुगतनूपुरहारिभ्रुकृतैः ।
‘सुपरिगममिहाम्बरेचरीरत^९ भतिवर्ति^{१०}’ वनेषु किन्नरैः ॥१३९॥

चम्पकमालावृक्षम्

अत्र वनान्ते पश्चिमणोऽयं^{११} श्रोत्रहरं नः कृजति धिक्त्रम् ।
‘सन्निपताकं नृप्यति नूनं^{१२} तत्ततनादैर्मत्तशिखण्डी^{१३}’ ॥१४०॥

तहाँ ऐसी घूम रही हैं मानो निकली हुई मंजरियोंसे सुशोभित और चंचल भमरोंके समूहसे युक्त सोनेकी लताएँ ही हों ॥१३४॥ जिसमें मन्द-मन्द वायु चल रहा है, फूल खिले हुए हैं और फूली हुई मालतीसे जिसके किनारे अतिशय सुन्दर हो रहे हैं ऐसे इस वनमें इस समय यह वायु काले-काले भमरोंसे युक्त वृक्षोंकी पंक्तिको हिला रहा है ॥१३५॥ इधर, जिसने कल्प-वृक्षोंकी पंक्तियाँ हिलायी हैं, जिसने मन्दार जातिके पुष्पोंकी सान्द्र परागसे दिखाएँ सुगन्धित कर दी हैं, जो मदोन्मत्त भमरों और कोयलोंके शब्दहरण कर रहा है और जो नवीन कोमल पत्तोंको भेद रहा है ऐसा वायु धीरे-धीरे सब ओर बह रहा है ॥१३६॥

इधर, जो कमलवनोंको धारण करनेवाले जलमें लहरें उत्पन्न कर रहा है, फूलोंके रस-की सुगन्धिसे सहित है और अतिशय शीतल है ऐसा यह वायु फूले हुए वृक्षोंके शिखरका सब ओरसे स्पर्श कर रहा है ॥१३७॥ जिसने कोमल लताओंके ऊपरके नवीन पत्तोंको मसल डाला है और जिसमें निर्झरनोंके जलकी बूँदोंका समूह मण्डलाकार होकर मिल रहा है ऐसा यह वायु अपने द्वारा उड़ाये हुए फूलोंके परागको चँदोबाकी शोभा प्राप्त करा रहा है । भावार्थ- इस वनमें वायुके द्वारा उड़ाया हुआ फूलोंका पराग चँदोबाके समान जान पड़ता है ॥१३८॥ इस वनमें होनेवाली विद्याधरियोंकी अतिशय रतिक्रीड़ाको किन्नर लोग चारों ओर फैले हुए चंचल कंकणोंके शब्दोंसे और उनके साथ होनेवाले नूपुरोंकी मनोहर झंकारोंसे सहज ही जान लेते हैं ॥१३९॥ इधर यह पक्षियोंका समूह इस वनके मध्यमें हम लोगोंके कानोंको आनन्द देनेवाला तरह-तरहका शब्द कर रहा है और इधर यह उन्मत्त हुआ मयूर विस्तृत शब्द करता हुआ

१. जातिः । ‘सुमना मालती जातिः ।’ २. कम्पयति । धुनाति इति क्वचित् । ३. अले । ४. पुष्परजः परिमलयुक्तमित्यर्थः । ५. मदितः । ६. वने । ७. अथ समग्रान् विस्तृतः । ८. सुज्ञानम् । ९. कामक्रीडाम् । १०. अतिमात्रवर्तनं यस्य । ११. पक्षी । १२. करणविशेषयुक्तम् । सविच्छमारम् । १३. तत्कृजन्वीणादि-वाद्यरवैः । १४. मयूरः ।

अस्य महादेरनुतटमेषा राजति नानाद्रुमवनराजो ।

^१ पश्यतमेनामनिकविधूतैर्नतितुकामामिव विटपैः स्वैः ॥१४१॥

उपजातिः

कृजद्विरेफा वनराजिरेषा प्रोद्गातुकामेव महोपमेवम् ।

पुष्पाञ्जलिं विक्षिपतीव विष्णुशिवकीर्यमाणैः सुभनःप्रदानैः ॥१४२॥

वनद्रुमाः पटपद्मचौरवृन्दैर्विलुप्यमानप्रसवार्थसाराः ।

चोक्कयमाना इव भानयमुष्मिन् समुत्थरत्कोकिलकूजितेन ॥१४३॥

भुजङ्गप्रयातम्

महादेरमुप्य स्थलीः ^२ कालधौतोरुपेय स्फुटं नृत्यतां बहिणामाम् ।

प्रतिष्ठापयामा ^३ तन्धते व्यक्तमस्मिन् समुत्फुल्लनीलाब्जपण्डरय लक्ष्मीः ॥१४४॥

पुष्पिताग्रा

अभुलितमहिमा हिमावदातश्रुतिरत्नतिकमणोयपुण्यमूर्तिः ।

रजतगिरिरथ विलङ्घिताग्निः ^४ मुरसरिदोष इषावभाति पृथ्व्याम् ॥१४५॥

मौलिकलाहल

अस्य महादेरनुतटमुप्यैः प्रेक्ष्य ^५ विनीलाभुपवनराजोम् ।

नृत्यति हृष्टो जलद्विशङ्को बहिर्गणोज्यं विरचितवह्नैः ॥१४६॥

एक प्रकारका विशेष नृत्य कर रहा है ॥१४०॥ इस महापर्वतके किनारे-किनारे नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित वनकी पंक्ति सुशोभित हो रही है। देखो, वह वायुके द्वारा हिलते हुए अपने वृक्षोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो नृत्य ही करना चाहती हो ॥१४१॥ जिसमें अनेक भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ऐसी यह वनोंकी पंक्ति ऐसी मालूम होती है मानो इस पर्वतका यज्ञ ही गाना चाहती हो और जो इसके चारों ओर फूलोंके समूह बिखरे हुए हैं उनसे यह ऐसी जान पड़ती है मानो इस पर्वतको पुष्पाञ्जलि ही दे रही हो ॥१४२॥ इस वनके वृक्षोंपर बैठे हुए भ्रमर पुष्परसका पान कर रहे हैं और कोयलें मनोहर शब्द कर रही हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो भ्रमररूपी चोरोंके समूहने इन वन-वृक्षोंका सब पुष्प-रसरूपी धन लूट लिया है और इसीलिए वे बोलती हुई कोयलोंके शब्दोंके द्वारा मानो हल्ला ही मचा रहे हों ॥१४३॥ इस पर्वतके चाँदीके बने हुए प्रदेशोंपर आकर जो मयूर खूब नृत्य कर रहे हैं उनके पड़ते हुए प्रतिबिम्ब इस पर्वतपर खिड़े हुए नीलकमलोंके समूहकी शोभा फैला रहे हैं। भावार्थ—चाँदीकी सफेद जमीनपर पड़े हुए मयूरोंके प्रतिबिम्ब ऐसे जान पड़ते हैं मानो पानीमें नील कमलोंका समूह ही फूल रहा हो ॥१४४॥ इसका माहात्म्य अनुपम है, इसकी कान्ति बर्फके समान अतिशय स्वच्छ है, इसकी पवित्र मूर्तिका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता अथवा यह किसी के भी द्वारा उल्लंघन न करने योग्य पुण्यकी मूर्ति है और इसने स्वयं समुद्र तक पहुँचकर उसे तिरस्कृत कर दिया है इन सभी कारणोंसे यह चाँदीका विजयार्थ पर्वत पृथिवीपर गंगा नदी के प्रवाहके समान सुशोभित हो रहा है ॥१४५॥ इस महापर्वतके प्रत्येक ऊँचे तटपर लगी हुई हरी-हरी वनपंक्तिको देखकर इन मयूरोंको मेवोंकी शंका हो रही है जिससे वे हर्षित हो

१. विलोकयतम् । २. भृशं ध्वनन्तः । ३. रजतमयीः । 'कलधौतं रूपहेम्नोः' इत्यभिधानात् ।

४. प्रतिबिम्बेन । ५. 'त' पुस्तके चतुर्थपादो नास्ति । ६. दृष्ट्वा ।

सप्तमोऽध्यायः ॥ अथ कालः श्री सुशोभितपर्वतः ॥ १४३॥

धसन्ततिलकम्

भयानुसानु सुरपङ्कगर्भचराणामा^१ क्रीडनान्युपव्रजाति विभाभ्यमूनि ।

नानालतालयसरःसिकतोच्च^२वानि निस्पृगबालकुसुमोज्ज्वलपादपानि ॥१४३॥

मौक्तिकमाला

भस्म महादेवपतटभृ^३च्छन् मूर्च्छति^४ नानामणिकिरणैर्धैः ।

चित्रितमूर्तिर्विवर्ति^५ पतङ्गः चित्रपतङ्गच्छविमिह धत्ते ॥१४४॥

पृथ्वीवृत्तम्

मणिद्युतितान्तरैः प्रमुदितोरगम्यन्तरैर्निरुद्धरविमण्डलैः^६ स्थगितविश्वद्रुमण्डलैः ।

महद्गतिनिवारिभिः सुरबभूवमोहारिभिर्विभ्राति शिखरैर्धनेगिरिरथं नभोलङ्घनैः ॥१४५॥

चामरवृत्तम्

पृथ भाषणो^७ महाहिरस्य कन्दराद्गिरेरीषधुम्भि^८ वन्ययोनिधेरिवायत^९ स्तिमिः ।

काषपेपितान्तिकस्थलरुधगुलमपादपोषण^{१०} कृतोष्मणा दहत्युपान्तकाननम् ॥१४६॥

छन्दः (?)

रत्नालोकैः^{११} कृतपरै^{१२} भागे नटभागे सन्ध्यारामे प्रसरति सान्द्राहणरागे ।

रोषोदीप्तो^{१३} प्रकृतिविस्त्रामपि धत्ते प्रेक्षां^{१४} लक्ष्मीं कनकमयाङ्गेरयमग्निः ॥१४७॥

पूँछ फैलाकर नृत्य कर रहे हैं ॥१४६॥ जिनमें वेव नागेन्द्र और धरणेन्द्र सदा क्रीड़ा किया करते हैं, जिनमें नाना प्रकारके लतागृह, तालाव और बालूके टीले (क्रीड़ाचल) बने हुए हैं और जिनके वृक्ष कोमल पत्ते तथा फूलोंसे निरन्तर उज्ज्वल रहते हैं ऐसे ये उपवन इस पर्वतके प्रत्येक शिखर पर सुशोभित हो रहे हैं ॥१४७॥ इधर, यह सूर्य चलता-चलता इस महापर्वतके किनारे आ गया है और वहाँ अनेक प्रकारके मणियोंके किरणसमूहसे चित्र-विचित्र होनेके कारण आकाशमें किसी अनेक रङ्गवाले पक्षीको शोभा धारण कर रहा है ॥१४८॥ जिनके मध्यभाग रत्नोंकी कान्तिसे व्याप्त हो रहे हैं, जिनमें नागकुमार और व्यन्तर आसिके देव प्रसन्न होकर क्रीड़ा करते हैं, जिन्होंने सूर्यमण्डलको भी रोक लिया है, जिन्होंने सब विशाघें आच्छादित कर ली हैं, जो वायुकी गतिको भी रोकनेवाले हैं, देवागनाओंके मनको हरण करते हैं और आकाशको उल्लंघन करनेवाले हैं ऐसे बड़े-बड़े सधन शिखरोंसे यह पर्वत कैसा सुशोभित हो रहा है ॥१४९॥ इधर देखो, जिस प्रकार कोई महामत्स्य समुद्रमें-से धीरे-धीरे निकलता है उसी प्रकार इस पर्वतकी गफामें-से यह भयंकर अजगर धीरे-धीरे निकल रहा है । इसने अपने शरीरसे समीपवर्ती लता, छोटे-छोटे पौधे और वृक्षोंको पीस डाला है तथा यह क्रोधपूर्वक की गयी फूटकार की गरमीसे समीपवर्ती वनको जला रहा है ॥१५०॥ इधर इस पर्वतके किनारेपर अनेक प्रकार के रत्नोंके प्रकाशसे मिली हुई संध्याकालकी गहरी ललाई फैल रही है जिससे यह रूपामय होनेपर भी अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध सुवर्णमय मेरु पर्वतकी वर्शनीय शोभा धारण कर रहा है

१. आ समन्तात् क्रीडन् एषां तानि । २. पुलिनानि । ३. गच्छन् । ४. व्याप्ते सति । ५. आकाशे । ६. सूर्यः, पक्षी । ७. सूर्यः, चित्रपक्षी (मकर इति यावत्) । ८. त्रिस्तुतान्तरालैः । ९. आच्छादित । १०. मेघ । ११. भयंकरः । १२. उद्गच्छन् । १३. दीर्घमत्स्यः । १४. कथनचूर्णित । काय म०, ल०, द०, अ०, प० । १५. रोषफूटकृतोष्मणा ल०, म० । रोषमुक्तशूलकृतो प०, अ० । १६. उद्योतैः । १७. विहितशोभे । १८. दीप्तां म०, ल० । १९. स्वरूप । २०. दर्शनीयाम् ।

प्रहर्षिणी

उद्धतः^१ पर्वतरथेण वायुनोरुधैरा^२ वभ्रुर्नमसि परिष्फुरसनस्यः ।
अस्यावेकपतटमासनः^३ परागः संघते कनककृतातपत्रलोकान् ॥१५२॥

वसन्ततिलकम्

पुताः क्षरन्मदजला^४ विलगण्डभित्तिकण्डूयनस्यसि^५ कराद्रितगण्डशैलाः ।
मरनद्रमास्तटभुवो^६ भरर्ज^७ भुवो^८ संसृजन्ति^९ तद्विरे^{१०} कनककृतातपत्रलोकान् ॥१५३॥

भुजङ्गप्रयातम्

इदामो भृगौषा^{११} वनान्तस्थलान्ते स्फुरद्घोणमावाय^{१२} तृण्यामगण्याम् ।
यदेवात्र तृण्य^{१३} तृणं यच्च रुध्यं तदेवात्र कुञ्जे जिघ^{१४} तसन्वसुधिमन् ॥१५४॥

उपजातिः

यद्यसदं यद्विधरत्नजात्या^{१५} संप्राप्तनिर्माणमिहाचलेन्द्रे ।
तत्तत्समासाद्य मृगास्तदामो मजन्ति^{१६} आत्यन्तरतामिवेताः^{१७} ॥१५५॥

उपेन्द्रधजा

हरि^{१८} मणीनी विततान् मयूखाम् नृवा^{१९} स्थयास्वाद्य मृगीगणोऽथम् ।
अलब्धकामस्तदुपा^{२०} न्तमाञ्जि नृणामि^{२१} सत्यान्वपि नोपयुक्ते ॥१५६॥

॥१५१॥ इधर देखो, इस पर्वतके किनारेके समीप लगे हुए असन जातिके वृक्षोंका बहुत-सा पीले रंगका पराग तीव्र वेगवाले वायुके द्वारा ऊँचा उड़-उड़कर आकाशमें छाया हुआ है और सुवर्णके बने हुए छत्रकी शोभा धारण कर रहा है ॥१५२॥ इधर, झरते हुए मदजलसे भरे हुए हाथियोंके गण्ड-स्थल खुजलानेसे जिनकी छोटी-छोटी चट्टानें अस्त-व्यस्त हो गयी हैं और वृक्ष टूट गये हैं ऐसी इस पर्वतके किनारेकी भूमियाँ मदनोन्मत्त हाथियोंका मार्ग सूचित कर रही हैं । भावार्थ—चट्टानों और वृक्षोंको टूटा-फूटा हुआ देखनेसे मालूम होता है कि यहाँसे अच्छे-अच्छे मदनोन्मत्त हाथी अक्षय ही आते-जाते होंगे ॥१५३॥ इधर देखो, इस पर्वतके लता-गुहोंमें और वनके भीतरी प्रदेशोंमें ये हरिणोंके समूह नाक फुला-फुलाकर बहुत-से घासके समूह-को सूँघते हैं और उसमें जो घास अच्छी जान पड़ती है उसे ही खाना चाहते हैं ॥१५४॥ इधर देखो, इस पर्वतका जो-जो किनारा जिस-जिस प्रकारके रत्नोंका बना हुआ है ये हरिण आदि पशु उन-उन किनारेपर जाकर उसी-उसी प्रकारकी कान्तिको प्राप्त हो जाते हैं और ऐसे मालूम होने लगते हैं मानो इन्होंने किसी दूसरी ही जातिका रूप धारण कर लिया हो ॥१५५॥ इधर, यह हरिणियोंका समूह हरे रंगके मणियोंकी फैली हुई किरणोंको घास समझकर खा रहा है परन्तु उससे उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता इसलिए धोखा खाकर पास हीमें लगी हुई सच-

१. कम्पितः २. निष्ठुरवेगेण । ३. आपिङ्गलः । 'वभ्रुः स्यात् पिङ्गलेऽपि च' इत्याभिधानात् ।
४. असनस्य सम्बन्धो । ५. आद्रित । ६. कपोलस्थलनिघर्षणव्याज । ७. रुग्ण इति क्वचित् । ८. विरेः ।
९. स्फुरद्भासिकं यथा भवति तथा । १०. तृणसंहतिम् । ११. मक्षणीयम् । १२. अतृमिष्वन्ति । १३. प्राप्ताः ।
मिवेते प०, म०, ल० । १४. मरकतरत्नान् । १५. तृणबुध्या । १६. तन्मरकतशिलासमीपं भजन्तीति तदु-
पात्तभाञ्जि । १७. सत्यस्वरूपाणि ।

शालिनी

गायन्तीनां किलरीणां वनाग्रे शृण्वन्गीतं हारिणं^१ हारि^२यूधम् ।
 अर्द्धमस्तोत्सृष्टनिर्यस्तुणाग्रं^३ प्रासं किञ्चिन्मीलितार्धं तदास्ते ॥१५७॥
 *यात्यन्तर्द्धं^४ अन्नं विम्बं महोभ्रस्यास्योत्संगे किं गतोऽस्तं पतङ्गः^५ ।
 इत्याशङ्काभ्याकुलाभ्येति भीतिं प्राक्सायाङ्गात् कोककान्तो^६ पकान्तम् ॥१५८॥

उपेन्द्रवज्रा

सदा प्रफुल्लिता वितता नलिन्यः सदाश्च तन्वन्ति रवानलिन्यः ।
 क्षरन्मदाः सन्ततमेव नागाः^७ सदा च रम्याः कलिनो वनागाः^८ ॥१५९॥

यसन्ततिलकम्

अस्यानुमानु^९ चतराजिरियं विनीला धत्ते श्रियं नगपतेः शरदभ्रमासः^{१०} ।
 *सादी विनीलरुचिर^{११} प्रति^{१२} पाण्डुकान्तेनीलाभ्ररस्य^{१३} रचितेषु नितम्बदंशे ॥१६०॥

लुम्पः (?)

विभ्रच्छृणोद्वितयविभागे वनषण्डं भाति श्रीमामयमवर्णाशो विधुविद्यः^{१४} ।
 वेगाविद्धं^{१५} रुचिरसिताभ्रोज्ज्वलमूर्तिः पर्यन्तस्थं वनमिव नालं सुरदन्ती ॥१६१॥

मालिनी

यः^{१६} सुगन्धिकुसुमतेजोन्तः करिणो^{१७} इदं^{१८} वारमलमिलितं^{१९} नैमल्यवतमंकारहृषः ।

प्रतिवनमिह शैले याति मन्दं नमस्वान्^{२०} प्रतिविहितनभोगस्थै^{२१} णसंभोगखेदः ॥१६२॥

सुचकी घासको भी नहीं खा रहा है ॥१५६॥ इधर वनके मध्यमें गाती हुई किन्नर जातिकी देवियोंका सुन्दर संगीत सुनकर यह हरिणोंका समूह आधा चबाये हुए लृणोंका मांस मुँहसे बाहर निकालता हुआ और नेत्रोंको कुछ-कुछ बन्द करता हुआ झुपचाप खड़ा है ॥१५७॥ इधर यह सूर्यका बिम्ब इस पर्वतके मध्य शिखरकी ओटमें छिप गया है इसलिए सूर्य क्या अस्त हो गया, ऐसी आशंकासे व्याकुल हुई चकवी सायंकालके पहले ही अपने पतिके पास खड़ी-खड़ी भयको प्राप्त हो रही है ॥१५८॥ इस पर्वतपर कमलिनियाँ खूब विस्तृत हैं और वे सदा ही फूली रहती हैं, इस पर्वतपर भ्रमरियाँ भी सदा गुंजार करती रहती हैं, हाथी सदा मन्द झराते रहते हैं और यहाँके वनोंके वृक्ष भी सदा फूले-फले हुए मनोहर रहते हैं ॥१५९॥ यह पर्वत शरत् ऋतुके बादलके समान अतिशय स्वच्छ है। इसके शिखरपर लगी हुई यह हरी-भरी वन की पंक्ति ऐसी शोभा धारण कर रही है मानो बलभद्रके अतिशय सफेद कान्तिको धारण करनेवाले नितम्ब भागपर नीले रंगकी धोती ही पहनायी हो ॥१६०॥ यह सुन्दर पर्वत चन्द्रमा के समान स्वच्छ है और दोनों ही श्रेणियोंके बीचमें हरे-हरे वनोंके समूह धारण कर रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मनोहर और सफेद मेघके समान उज्ज्वल मूर्तिसे सहित तथा वायुके वेगसे आकर दोनों ओर समीपमें ठहरे हुए काले-काले मेघोंको धारण करनेवाला ऐरावत हाथी ही हो ॥१६१॥ जो सुगन्धित फूलोंकी परागको सब दिशाओंमें फैला रहा है, जो सुगन्धिके कारण इकट्ठे हुए भ्रमरोंकी स्पष्ट झंकारसे मनोहर जान पड़ता है और जो विशाधरियोंके सम्भोगजनित खेदको दूर कर देता है ऐसा वायु इस पर्वतके प्रत्येक वनमें धीरे-धीरे बहता

१. हरिणामिदम् । २. मनोजम् । ३. प्रथमकवलम् । ४. याति सति । ५. पिधानम् । ६. रवि ।
 ७. तरणिः । ८. अपराह्णात् प्रागेव । ९. प्रियतमसर्वापे । १०. करिणः । ११. वनवृक्षाः । १२. सानो ।
 १३. मेघरश्मिः । १४. वल्लव । १५. रुचिरा - अ० । १६. असमानववलशरीरदीधितः । १७. बलभद्रस्य ।
 १८. चन्द्रवद्वलः । 'वोधू' तु विमलार्थकम्' इत्यभिधानात् । १९. वेगेन संबद्धम् । २०. चिकित्सित वा
 निराकृत । २१. स्त्रीसमूह ।

सुरयुवतिसमाजस्यास्य^१ यः स्त्रीजनस्य प्रकृति^२ कृतमियत् स्यादन्तरं^३ व्यवतरूपम् ।
 'स्तिमितनयनमैन्द्रं' स्त्रैणमेतत्^४ लीलावलितललितलोलापाङ्गवीक्षाविलासम् ॥१६३॥

यसन्ततिलकम्

अत्रायमुन्मदमधुनतसेव्यमान-गण्डस्थली गजपतिर्वनमाजिहानः^५ ।
 इष्ट्वा हिरण्यतटीगिरिभनुरस्य-दावानलप्रतिभयाद् वनमुज्जहति^६ ॥१६४॥

जलधरमाला

अत्रानीलं मणितटमुच्चैः पश्यन् मेवाशङ्की नटति कलापी^७ इष्टः ।
 'केकाः कुर्वन्निशचितवह्नीटोपो लोकस्तत्त्व'^८ गणयति नार्थो मूढः ॥१६५॥

पुष्पिताग्रा

सरसि कलममी रुवन्ति हंसास्तरुषु च कीकिलषट्पदाः स्वनन्ति ।
 फलनमितशिखाश्च पादपौषाः चल^९ विटपैर्ध्रुवमाङ्गयन्त्यनङ्गम् ॥१६६॥

स्वागता

मन्थरं^{१०} व्रजति काननमध्यादेर षाजिषदनः^{११} सहकान्तः^{१२} ।
 संस्पृशन् स्तनतटं दयितायास्तसु^{१३} सानुभवमीलितनेत्रः ॥१६७॥
 एष सिंहचमरीमृगकोटीः सानुभिर्वहति निर्मलमूर्तिः ।
 सन्ततीरिव यशोविसरस्य स्वस्य^{१४} लोभध्वला रजताग्निः ॥१६८॥

रहता है ॥१६२॥ वृषांगनाओं तथा इस पर्वतपर रहनेवाली स्त्रियोंके बीच प्रकृतिके द्वारा किया हुआ स्पष्ट दीखनेवाला केवल इतना ही अन्तर है कि वृषांगनाओंके नेत्र टिमकारसे रहित होते हैं और यहाँकी स्त्रियोंके नेत्र लीलासे कुछ-कुछ देढ़े सुन्दर और चंचल कटाक्षोंके विलास-से सहित होते हैं ॥१६३॥ इधर देखो, जिसके गण्डस्थलपर अनेक उन्मत्त भ्रमर मेंढरा रहे हैं ऐसा यह वनमें प्रवेश करता हुआ हाथी इस गिरिराजके सुवर्णमय तटोंको देखकर दावानल-के डरसे वनको छोड़ रहा है ॥१६४॥ इधर, नीलमणिके बने हुए ऊँचे किनारेको देखता हुआ यह मयूर मेवकी आशंकासे हर्षित हो मधुर शब्द करता हुआ पूँछ उठाकर नृत्य कर रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख स्वार्थी जन सच्चाईका विचार नहीं करते हैं ॥१६५॥ इधर तालाबों-में ये हंस मधुर शब्द कर रहे हैं और वृक्षोंपर कोयल तथा भ्रमर शब्द कर रहे हैं । इधर फलोंके बोलसे जिनको शाखाएँ नीचेकी ओर झुक गयी हैं ऐसे ये वृक्ष अपनी हिलती हुई शाखाओंसे ऐसे मालूम होते हैं मानो कामदेवको ही बुला रहे हों ॥१६६॥ इधर अपनी स्त्रीके स्तन-तटका स्पर्श करता हुआ और उस सुखके अनुभवसे कुछ-कुछ नेत्रोंको बन्द करता हुआ यह किन्नर अपनी स्त्रीके साथ-साथ वनके मध्यभागसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥१६७॥ यह विजयार्थ पर्वत अपने शिखरोंपर निर्मल शरीरवाले करोड़ों सिंह, करोड़ों चमरी गायें और करोड़ों मृगोंको धारण कर रहा है और उन सबसे ऐसा मालूम होता है मानो लोभध्वलके समान सफेद अपने यशसमूह-

१. विजयार्थसंबन्धितः । २. स्वभावविहितम् । ३. भेदः । ४. स्थिरदृष्टिः । ५. इन्द्रसंबन्धिस्त्री-समूहः । ६. एतत्स्त्रैणम् विद्याधरसंबन्धी स्त्रीसमूहः । ७. आगच्छन् । 'ओहाइ मत्तौ' इति धातुः । ८. भीतेः । ९. त्यजति । १०. मयूरः । ११. व्यनीः । केकां ज० । १२. स्वकृपम् । १३. चलविटपा इत्यपि क्वचित् । चलघाताः । १४. मन्दम् । १५. किन्नरः । 'स्वात् किन्नरः किंपुरुषस्तुरंगवदनो मयुः' इत्यभिधानात् । १६. स्त्रीसहितः । १७. स्तनस्पर्शनसुख । १८. (पुष्पविशेष) परागः ।

यास्य सानुपु धृतिर्विशुभानां राजतेषु^१ वनितानुगतानाम् ।
सा न नाकवसती^२ न हिमाद्रौ नापि मन्दरगिरेस्तटभागे ॥१६९॥

वसन्ततिलकम्

गण्डोपलं^३ घनकरीन्द्रकपोलकाषं^४ संक्रान्तदानसलिलं^५ लप्लुतमग्न शैले ।
पश्यन्नयं द्विपविशक्तिमना भृगेन्द्रो भूयोऽभिहन्ति^६ नखरैर्विकिरितस्युपान्तम् ॥१७०॥
सिंहोऽथमग्न गहने^७ शानकैर्विशुद्धौ^८ स्याज्जृम्भते शिखरमुत्पतितुं कृतेच्छः ।
तन्वन् गिरेरभिगुहा^९ मुखमदृष्टासलक्ष्मीं शरच्छशिभरामलदेहकान्तिः ॥१७१॥

मन्दाक्रान्ता

रम्भादत्रेरयमजगरः^{१०} सामिकर्षन् स्वमङ्गं
पुम्प्रीभूतो गुरुरिष गिरेरान्त्रभारो^{११} निकृष्टे ।
रुद्धवासं^{१२} यद्भक्तुहरं^{१३} स्याद्वदात्थापतद्भि-
रन्वैः सखैः किल विलभिया क्षुत्पतीकारमिच्छुः ॥१७२॥

पृथ्वी

स्वयं शालमिधेजलं^{१४} कण्डलिव्याज्जिह्वारिणि^{१५} ॥१७३॥
स्तटाणि शिशिरीकरोति गिरिभर्तुरस्यान्वहम् ।
महद्विधुतवीचिशीकरवातैरजसोरिधैः^{१६}
महानुपगतै^{१७} जनं शिशिरयस्यै^{१८} नुष्णाशयः ॥१७३॥

की सन्ततिको ही धारण कर रहा हो ॥१६८॥ अपनी-अपनी देवांगनाओंके साथ विहार करते हुए देवोंको इस पर्वतके रजतमयी शिखरोंपर जो सन्तोष होता है वह उन्हें न तो स्वर्गमें मिलता है, न हिमवान् पर्वतपर मिलता है और न सुमेरु पर्वतके किसी तटपर ही मिलता है ॥१६९॥

इधर देखो, जो जंगली हाथियोंके गण्डस्थलोंकी रगड़से लगे हुए मद्-जलसे तर-भर हो रहा है, ऐसे इस पहाड़पर-की गोल चट्टानको यह सिंह हाथी समझ रहा है इसीलिए यह उसे देख-कर बार-बार उसपर प्रहार करता है और नाखूनोंसे समीपकी भूमिको खोदता है ॥१७०॥ इधर इस वनमें शरद्वृक्षतुके चन्द्रमाके समान निर्मल शरीरकी कान्तिको धारण करता हुआ तथा इस पर्वतके गुफारूपी मुखपर अदृष्टासकी शोभा बढ़ाता हुआ यह सिंह धीरे-धीरे जागकर जमु-हाई ले रहा है और पर्वतके शिखरपर छलांग मारनेकी इच्छा कर रहा है ॥१७१॥ इधर यह लतागृहमें अजगर पड़ा हुआ है, यह पर्वतके बिलमें-से अपना आधा शरीर बाहर निकाल रहा है और ऐसा जान पड़ता है मानो एक जगह इकट्ठा हुआ पहाड़की अँतड़ियोंका बड़ा भारी समूह ही हो। इसने श्वास रोककर अपना मुँहरूपी बिल खोल रखा है और उसे बिल समझ कर उसमें पड़ते हुए जंगली जीवोंके द्वारा यह अपनी भुधाका प्रतिकार करना चाहता है ॥१७२॥ यह पर्वत अपने लम्बे फैले हुए शिखरोंसे समुद्रके जलका स्पर्श करता है और यह समुद्र वायु-से कम्पित होकर निरन्तर उठती हुई लहरोंकी अनेक छोटी-छोटी वूँदोंसे प्रतिदिन इस गिरि-राजके तटोंको शीतल करता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनका अन्तःकरण शीतल अर्थात् शान्त होता है ऐसे महापुरुष समीपमें आये हुए पुरुषको शीतल अर्थात् शान्त करते ही हैं ॥१७३॥

१. रजतमयेषु । २. स्वर्गालये । ३. स्थूलवापाणम् । ४. कर्षणचर्षण । ५. आद्रित । ६. अभिताडयति ।
७. घनैः । ८. गुह्यमुखे । ९. अर्द्धं निर्गमयन् । १०. पुरीतरसमुहः । ११. विवृणोति । १२. आगच्छन्तिः ।
१३. आश्रितम् । १४. सैत्ययुक्तद्वयः ।

छन्दः (?)

गङ्गासिन्धु हृदयमिवास्य स्फुटमद्रेः भित्वा यातारं रमिकतयासु^१ तटभागम् ।
स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा पवनविभूतोमिकरैः स्वैर्भेद्यं स्त्रीणां ननु महतामप्युरु चेतः ॥१७४॥
सानूतस्य द्रुतमुपयान्ती वनसारात्^२ सारासारा^३ जलदघटेयं समसारान् ।
तारातारा^४ धरविधरस्य स्वरसारा साराद् व्यक्तिं मुकुरूपयाति स्तनितेन ॥१७५॥

मत्तमयूरम्

सारासारा^५ सारसमाला सरसीयं सारं कृजत्यत्र वनाग्रे सुरकान्ते^६ ।
सारासारा^७ नीरदमाला नमसीयं तारं^८ मन्दं^९ निस्वनतोतः स्वनसारा^{१०} ॥१७६॥
भित्वास्याद्रेः सारमयी^{११} तटभागं सारं^{१२} तारं^{१३} आरुतरागं^{१४} रमणीयम् ।
संभोगान्ते गायति कान्तं^{१५} रमयन्ती सारवन्तारं^{१६} आरुतरागं^{१७} कनयोधम् ॥१७७॥

पुष्पिताग्रा

इह स्वचरवधूनिस्त्वग्देशो ललितललालयसंश्रिताः सद्देशाः^{१८} ।
प्रणयपरवशाः समिद्धदीप्तीर्हिथमुपयान्ति त्रिलोक्य सिद्धनार्यः^{१९} ॥१७८॥

ये गंगा और सिन्धु नदियाँ रसिक अर्थात् जलसहित और पक्षमें भृंगार रससे युक्त होनेके कारण इस पर्वतके हृदयके समान तटको विदीर्ण कर तथा वायुके द्वारा हिलती हुई तरंगों-रूपी अपने हाथोंसे बार-बार स्पर्श कर चली जा रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका बड़ा भारी हृदय भी स्त्रियोंके द्वारा भेदन किया जा सकता है ॥१७४॥ जिसकी जल-वर्षा बहुत ही उत्कृष्ट है, जो मुक्ताफल अथवा नक्षत्रोंके समान अतिशय निर्मल है और जिसकी गर्जना भी उत्कृष्ट है ऐसी यह मेघोंकी घटा, अधिक मजबूत तथा जिसके सब स्थिर अंश समान हैं ऐसे इस विजयार्थ पर्वतके शिखरोंके समीप यद्यपि बार-बार और शीघ्र-शीघ्र आती है तथापि गर्जनाके द्वारा ही प्रकट होती है। भावार्थ—इस विजयार्थ पर्वतके सफेद शिखरोंके समीप छाये हुए सफेद-सफेद बादल जबतक गरजते नहीं हैं तबतक दृष्टिगोचर नहीं होते ॥१७५॥ इधर देवोंसे मनोहर वनके मध्यभागमें तालाबके बीच इधर-उधर श्रेष्ठ गमन करनेवाली यह सारस पक्षियोंकी पंक्ति उच्च स्वरसे शब्द कर रही है और इधर आकाशमें जोरसे वरसती और शब्द करती हुई यह मेघोंकी माला उच्च और गम्भीर स्वरसे गरज रही है ॥ १७६ ॥ रमण करनेके योग्य, श्रेष्ठ निर्मल और सुन्दर शरीरवाले अपने पतिको प्रसन्न करनेवाली कोई स्त्री संभोगके बाद इस पर्वतके श्रेष्ठमणियोंसे देदीप्यमान तटभागपर बैठकर जिसके अन्तर्गत अंग अतिशय सुन्दर हैं, जो श्रेष्ठ हैं, ऊँचे स्वरसे सहित हैं और बहुत मनोहर हैं ऐसा गाना गा रही है ॥ १७७ ॥ इधर इस पर्वतके मध्यभागपर सुन्दर लतागृहोंमें बैठी हुई पतिसहित प्रेमके परवश और देदीप्यमान कान्तिकी धारक विद्याधरियोंको देखकर सिद्ध-

१. आगच्छताम् । —मातो ५० । —मातो म०, ल० । २. जलरूपतया रागितया च । ३. अधिकबलात् ।
४. उत्कृष्टवेगवदुपति । ५. समानस्थिरावयवान् । ६. तारा या आयामवती तारा । निर्मला तारा । तारा इति पक्षे अतिनिर्मला स्वरसाराशब्देनोत्कृष्टा । ७. गमनागमनवती । ८. अमरैर्मनोहरे । ९. अधिकोत्कृष्टा वेगवद-
वन्ती वा । १०. उच्चं यथा भवति तथा । ११. गम्भीरम् । १२. निर्घोषोत्कृष्टा । १३. उत्कृष्टरत्नप्रवृद्धम् ।
१४. स्थिरम् । १५. गम्भीरम् उज्ज्वलं वा । १६. कान्ततरवृक्षम् । १७. प्रियतमम् । १८. रमणीयम् ।
१९. अभीतरागम् व्यक्तरागम् । २०. स्त्री । २१. प्रियतमसहिताः । २२. देवभेदस्त्रियः ।

श्रीमानयं नृसुरसेचरचारणानां सेव्यो जगत्प्रयगुरुर्विभु^१वीधकीर्तिः ।

तुङ्गः शुचिर्भरतसंश्रित^२पादमूलः पायाद् युवां पुररिधानवमो^३ महीधः ॥१७९॥

इत्थं गिरः कणिपतौ सनय^४मुवाणे तौ तं गिरीन्द्रमभिनन्द्य^५ कृतावतारौ^६ ।

प्राविशतां सममनेन^७ पुरं पराद्वयमुत्तुङ्गकेतुरथ नृपुरचक्रवालम् ॥ १८० ॥

तन्नाशिरोप्य परिशिष्टरमो^८जिनारौ युष्माकमित्यभि^९दधत्स्वचराभ्यमस्तान् ;

राज्याभिषेकमनयोः प्रचकार धीरो विद्याधरीकरधृतैः पृथुहेमकुम्भैः ॥१८१॥

भर्ता तमिभवंतु संप्रति दक्षिणस्थः श्रेण्या निवः इत्यमनोऽधिपतिर्यथैव ।

श्रेण्यां भवेद्विनमिरप्यवन्मयमानो विद्याधरैरवहितैश्चिरमुत्तरस्याम् ॥१८२॥

जातिके देवोंकी स्त्रियाँ लज्जित हो रही हैं ॥ १७८ ॥ यह विजयार्ध पर्वत भी वृषभ जिनेन्द्रके समान है क्योंकि जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र श्रीमान् अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मोसे सहित हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी श्रीमान् अर्थात् शोभासे सहित है । जिस प्रकार वृषभ-जिनेन्द्र मनुष्य देव विद्याधर और चारण ऋद्धि-धारी मुनियोंके द्वारा सेवनीय हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी उनके द्वारा सेवनीय है अर्थात् वे सभी इस पर्वतपर विहार करते हैं । वृषभ-जिनेन्द्र जिस प्रकार तीनों जगत्के गुरु हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तीनों जगत्में गुरु अर्थात् श्रेष्ठ है । जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कीर्तिके धारक हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी चन्द्र-तुल्य उज्ज्वल कीर्तिका धारक है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार तुंग अर्थात् उदार हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार शुचि अर्थात् पवित्र हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी शुचि अर्थात् शुक्ल है तथा जिस प्रकार वृषभ-जिनेन्द्रके पादमूल अर्थात् चरणकमल भरत चक्रवर्तीके द्वारा आश्रित हैं उसी प्रकार इस पर्वत के पादमूल अर्थात् नीचेके भाग भी दिग्विजयके समय गुफामें प्रवेश करनेके लिए भरत चक्रवर्तीके द्वारा आश्रित हैं अथवा इसके पादमूल भरत क्षेत्रमें स्थित हैं । इस प्रकार भगवान् वृषभजिनेन्द्रके समान अतिशय उत्कृष्ट यह विजयार्ध पर्वत तुम दोनोंकी रक्षा करे ॥१७९॥

इस प्रकार युक्तिसहित धरणेन्द्रके वचन कहनेपर उन दोनों राजकुमारोंने भी उस गिरिराजकी प्रशंसा की और फिर उस धरणेन्द्रके साथ-साथ नीचे उतरकर अतिशय-श्रेष्ठ और ऊँची-ऊँची ध्वजाओंसे सुशोभित रथनूपुरचक्रवाल नामके नगरमें प्रवेश किया ॥१८०॥ धरणेन्द्रने वहाँ दोनोंको सिंहासनपर बैठाकर सब विद्याधरोंसे कहा कि ये तुम्हारे स्वामी हैं और फिर उस धीर-वीर धरणेन्द्रने विद्याधरियोंके हाथोंसे उठाये हुए सुवर्णके बड़े-बड़े कलशोंसे इन दोनोंका राज्याभिषेक किया ॥ १८१ ॥ राज्याभिषेकके बाद धरणेन्द्रने विद्याधरोंसे कहा कि जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गका अधिपति है उसी प्रकार यह नमि अब दक्षिण श्रेणीका अधिपति हो और अनेक सावधान विद्याधरोंके द्वारा नमस्कार किया गया यह विनमि चिरकाल तक

१. चन्द्रवन्निर्मल । २. भरतक्षेत्रे संश्रितप्रत्यस्तपर्वतमूलः । पक्षे भरतराजेन संसेवितपादमूलः ।

३. अनवमः न विद्यते अवमः अवमाननं यस्य स सुन्दर इत्यर्थः । ४. सहेतुकम् । ५. प्रशस्य । ६. विहिताव-
तरणी । ७. कणिराजेन । ८. भुवत् । ९. सावधानैः ।

देवो जगद्गुरुसौ वृषभोऽनुमत्य^१ धीमानिमौ प्रहितवान् जगतां विधाता ।
^३तेनानयोः स्वचरभूपतयोऽनुरागादाकां बहन्नु शिरसेत्यवदत् फणीन्द्रः ॥१८३॥
 तत्पुण्यतो^४ गुरुविद्योगनिरूपणाच्च गागादिभर्तृरुचितादनुदासनाच्च ।
 ते तत्तथैव स्वचराः^५ प्रतिवेदिरे द्राक् कार्यं हि सिद्ध्यति महद्विरधिष्ठितं^६ गत् ॥१८४॥
 गान्धार^७ पन्नगपदोपपदे च विद्ये दृष्ट्वा फणा^८ वदधिपो विधिवत्स ताभ्याम् ।
 धीरो विसर्ज्य नयविद्विनतो कुमारो स्वादासमेव च जगाम कुतेऽकार्यः ॥१८५॥

मालिनी

अथ गतवति तस्मिन्नागराजेऽगराजे वृत्ति^१ मधिकमधत्ता^२ सो युवानो युवानो^३ ।
 सुदृक्पुण्ड्र^४ नानानूनभोगैर्नभोगैर्मुकुलित^५ करमौलिव्यक्तमाराध्यमानो ॥१८६॥
^६नियतिमिव खगाद्रेमेखला^७ तामलिक^८ सुकृतिजननिधा^९ खगैर्वसिष्ठा^{१०} कुकुरैश्च^{११} फलतान^{१२}
 जिनसबसृति वा^{१३} विश्वलोकभिनन्तां नमिचिनमिकुमारावभ्य^{१४} वात्तामुदात्ताम् ॥१८७॥

मन्दाक्रान्ता

विद्यासिद्धिं^१ विधिनियमितां मानयन्तो नयन्ती विद्यामृदः^२ तममभिमतामर्थ^३ सिद्धिं प्रसिद्धिम् ।
 विद्याधीनान् षड्गुमुत्पदान्निर्विशन्तो च भोगान् तां तत्रादौ^४ स्थितिममजतां खेचरैः संविनक्ताम् ॥

उत्तर-श्रेणीका अधिपति रहे । कर्मभूमिरूपी जगत्को उत्पन्न करनेवाले जगद्गुरु श्रीमान् भगवान् वृषभदेवने अपनी सम्मतिसे इन दोनोंको यहाँ भेजा है इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेमसे मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा धारण करें ॥१८२-१८३॥ उन दोनोंके पुण्यसे तथा जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी आज्ञाके निरूपणसे और धरणेन्द्रके योग्य उपदेशसे उन विद्याधरोंने वह सब कार्य उसके कहे अनुसार ही स्वीकृत कर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंके द्वारा हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥१८४॥ इस प्रकार नयोंको जानने-वाले धीर-वीर धरणेन्द्रने उन दोनोंको गान्धारपदा और पन्नगपदा नामकी दो विद्याएँ दी और फिर अपना कार्य पूरा कर चिनयसे झुके हुए दोनों राजकुमारोंको छोड़कर अपने निवास-स्थानपर चला गया ॥१८५॥ तदनन्तर धरणेन्द्रके चले जानेपर नाना प्रकारके सम्पूर्ण भोगोप-भोगोंको बार-बार भेंट करते हुए विद्याधर लोग हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर स्पष्ट रूपसे जिनकी सेवा करते हैं ऐसे वे दोनों कुमार उस पर्वतपर बहुत ही सन्तुष्ट हुए थे ॥१८६॥ जो अपने-अपने भाग्यके समान अलंघनीय है, पुण्यात्मा जीवोंका निवास होनेके कारण जो स्वर्गका अनुकरण करती है तथा जो जिनेन्द्र भगवान्के समवसरणके समान सब लोगोंके द्वारा चन्दनीय है ऐसी उस विजयार्थ पर्वतकी मेखलापर वे दोनों राजकुमार सुखसे रहने लगे थे ॥१८७॥ जिन्होंने स्वयं विधिपूर्वक अनेक विद्याएँ सिद्ध की हैं और विद्यामें चढ़े-बढ़े पुरुषोंके साथ मिलकर अपने अभिलषित अर्थको सिद्ध किया है ऐसे वे दोनों ही कुमार विद्याओंके अधीन प्राप्त होनेवाले तथा उहाँ श्रुतार्थोंके सुख देनेवाले भोगोंका उपभोग करते हुए उस पर्वतपर विद्याधरोंके द्वारा विभक्त की हुई स्थितिको प्राप्त हुए थे । भावार्थ—यद्यपि वे जन्मसे विद्याधर नहीं थे तथापि वहाँ जाकर उन्होंने स्वयं अनेक विद्याएँ सिद्ध कर ली थीं

१. अनुमति कृत्वा । २. प्रेरितवान् । ३. तेन कारणेन । ४. तत्पुण्यतः स्वर्गकुमारयोः सुकृतात् ।
 ५. अनुमेदिरे । ६. आधितम् । ७. गान्धारविद्या पन्नगविद्या चेति द्वे विद्ये । ८. फणीश्वरः । ९. संतोषम् ।
 १०. -मथात्तां प०, अ०, द०, ल०, म० । ११. सम्पर्कं कुर्वणी । 'यु मिथणे' । १२. प्राप्त । १३. कुड्मलित,
 हस्तवटितमकुटं यथा भवति तथा । १४. विधिम् । १५. पुण्यवज्जन, पक्षे सुरजन् । १६. इव । १७. अधि-
 वसति स्म । १८. विधान । १९. प्रयोजनम् । २०. भर्ताम् ।

विंशं पर्व

प्रपूर्यन्ते स्म षण्मासास्तस्याधो योगधारिणः । गुरोर्मंशोरिवाग्निन्यमाहात्म्यस्याचलस्थितः ॥१॥
ततोऽस्य मतिरिध्यासीद् यतिवर्याप्रबोधने । कायास्थित्यर्थनिर्दोषवित्वाणाम्वेषणं^२ प्रति ॥२॥
अहो भग्ना महावंशा वतामी नवसंयताः । सन्मार्गस्थापरिज्ञानात् सद्योऽमीभिः परीर्यहः ॥३॥
मार्गप्रबोधनार्थं च मुक्तेश्च सुखसिद्धये । कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना ॥४॥
न केवलमयं कायः कर्षणीयो^३ मुमुक्षुभिः । नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टरिष्टैश्च^४ बहमनैः^५ ॥५॥
वने यथा स्युरक्षाणि नोत्^६ धायन्त्यनूपधर्म^७ । तथा प्रयतितस्य स्वाद् वृत्तिभाश्रित्य मध्यमात् ॥६॥
दोषनिर्हरणयेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः । प्राणसन्धारणायायमाहारः सूत्रदर्शितः^८ ॥७॥
कायक्लेदो मत्स्तावन्न संक्लेशोऽस्ति यावता । संक्लेशे ह्यसमाधानं मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥८॥
सिद्ध्यै संयमयात्राया^९ स्तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः । प्राणो निर्दोष आहारो^{१०} रसासंगाद् विनयिभिः ॥९॥
भगवानिति निश्चिन्वन् योतां संहरय^{११} धीरधीः । प्रचञ्चल महीं कृत्स्नां चालयन्निव विक्रमैः^{१२} ॥१०॥

अथानन्तर-जिनका माहात्म्य अचिन्त्य है और जो मेरु पर्वतके समान अचल स्थिति-
को धारण करनेवाले हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको योग धारण किये हुए जब छह
माह पूर्ण हो गये ॥१॥ तब यतियोंकी चर्या अर्थात् आहार लेनेकी विधि बतलानेके उद्देश्यसे
शरीरकी स्थितिके अर्थ निर्दोष आहार दूँ देनेके लिए उनकी इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न हुई-वे ऐसा
विचार करने लगे ॥२॥ कि बड़े दुःखकी बात है कि बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए ये नवनीक्षित
साधु समीचीन मार्गका परिज्ञान न होनेके कारण इन क्षुधा आवि परीपहोंसे शीघ्र ही भ्रष्ट हो
गये ॥३॥ इसलिए अब मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए और सुखपूर्वक मोक्षकी सिद्धिके लिए
शरीरकी स्थिति अर्थ आहार लेनेकी विधि दिखलाता हूँ ॥४॥ मोक्षाभिलाषी मुनियोंको यह
शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले तथा मधुर मनचाहे भोजनोंसे इसे
पुष्ट ही करना चाहिए ॥५॥ किन्तु जिस प्रकार ये इन्द्रियों अपने बशमें रहें और कुमार्गकी
ओर न ढौंढ़ें उस प्रकार मध्यम वृत्तिका आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए ॥६॥ वात, पित्त
और कफ आवि दोष दूर करनेके लिए उपवास आदि करना चाहिए तथा प्राण धारण करनेके
लिए आहार ग्रहण करना भी जैन-शास्त्रोंमें दिखलाया गया है ॥७॥ कायक्लेश उतना ही
करना चाहिए जितनेसे संक्लेश न हो । क्योंकि संक्लेश हो जानेपर चित्त बंचल हो जाता है
और मार्गसे भी क्युत होना पड़ता है ॥८॥ इसलिए संयमरूपी यात्राकी सिद्धिके लिए शरीरकी
स्थिति चाहनेवाले मुनियोंको रसोंमें आसक्त न होकर निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए ॥९॥
इस प्रकार निश्चय करनेवाले धीर-वीर भगवान् वृषभदेव योग समाप्त कर अपने चरण-
निक्षेपों (डगों) के द्वारा मानो समस्त पृथ्वीको कम्पायमान करते हुए विहार करने
लगे ॥१०॥

१. यत्याचारः । २. भोजनगवेषणम् । ३. कुशीकरणीयः । ४. मुखप्रियः । ५. आहारैः । ६. उत्त
 श्रवणम् । नो विधावन्त्यगूत्पथम् छ, म० । ७. गच्छन्ति । ८. उन्मार्गं प्रति । ९. परमागमे प्रतिपादितः ।
 १०. प्रापणायाः । ११. तत् कारणात् । १२. स्वादासक्तिमन्तरेण । १३. परिहृत्य । १४. पदन्मार्गः ।

तदा भट्टास्के याति^१ महामैरात्रिवोक्तते । धरयो पादविन्यासान्^२ प्रत्यैच्छदनुकम्पिनी ॥१३॥

^३धार्त्रा पदभराकान्ता^४ संन्यसंश्च दधस्तले । नाभविष्यत्प्रयत्नश्चेत्तपस्योर्थाधिते^५ विभोः ॥१४॥

ततः पुराकरग्रामान्^६ समदम्बान् सखर्वटान् । सखेटान् विजहारोच्चैः स श्रीमान् जङ्गमाद्रिवन् ॥१५॥

यतो यतः पर्व धत्ते^७ मौनी खर्या^८ स्म संश्रितः । ततस्ततो जनाः प्रीताः प्रणमन्त्येव^९ सम्भ्रमात् ॥१६॥

प्रसादं देव किं कृत्यमिति केचिज्ज^{१०} गुर्गिरम् ।^{११} तूष्णीम्भावं व्रजन्तं च केचित्तमनुव्रजन्तुः^{१२} ॥१७॥

परं परा^{१३} सप्तविंशतिः समानीय^{१४} पुनो^{१५} संन्यस्य^{१६} दधस्तले^{१७} विभोः प्रतिगृहाण नः ॥१८॥

वस्तुवाहनकोटोश्च विभोः केचिद्वीक्षन्^{१८} । भगवांस्तास्वनर्थित्वात्^{१९} तूष्णीकां^{२०} विजहार सः ॥१९॥

केचित् स्रग्धस्यगन्धादीनानयन्ति स्म सादरम् । भगवन् परिधत्स्वेति^{२१} पटव्या सह भूषणैः ॥२०॥

केचित् कन्याः समानीय रूपर्यावनशाकिनीः । परिणययितुं देवमुद्यता धिर्विभूढताम् ॥२१॥

केचिन्मज्जनसामग्र्या संश्रित्यो^{२२} पारुचन् विभुम् । परं भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरं^{२३} ॥२२॥

जिस समय महामैरुके समान उन्नत भगवान् वृषभदेव विहार कर रहे थे उस समय कम्पायमान हुई यह पृथिवी उनके चरणकमलोंके निक्षेपको स्वीकृत कर रही थी ॥१३॥ यदि उस समय भगवान् वृषभदेवने ईर्यासमितिसे युक्त तपश्चरण धारण करनेमें प्रयत्न न किया होता तो सचमुच ही यह पृथिवी उनके चरणोंके भारसे दबकर अधोलोकमें डूब गयी होती । भावार्थ—भगवान् ईर्यासमितिसे गमन करनेके कारण पोले-पोले पैर रखते थे इसलिए पृथ्वीपर उनका अधिक भार नहीं पड़ता था ॥१४॥ तदनन्तर चलते हुए पर्वतके समान उन्नत और शोभायमान भगवान् वृषभदेवने अनेक नगर, ग्राम, मडम्ब, खर्वट और खेटोंमें विहार किया था ॥१५॥ मुनियोंकी चर्याको धारण करनेवाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहाँ-जहाँ जाते थे वहीं-वहींके लोग प्रसन्न होकर और बड़े संभ्रमके साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥१६॥ उनमेंसे कितने ही लोग कहने लगते थे कि हे देव, प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है तथा कितने ही लोग चुपचाप जाते हुए भगवान्के पीछे-पीछे जाने लगते थे ॥१७॥ अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान्के सामने रखते थे और कहते थे कि देव, प्रसन्न होइए और हमारी इस पूजाको स्वीकृत कीजिए ॥१८॥ कितने ही लोग करोड़ों पदार्थ और करोड़ों प्रकारकी सवारियाँ भगवान्के समीप लाते थे परन्तु भगवान्को उन सबसे कुछ भी प्रयोजन नहीं था इसलिए वे चुपचाप आगे विहार कर जाते थे ॥१९॥ कितने ही लोग माला, वस्त्र, गन्ध और आभूषणोंके समूह आदरपूर्वक भगवान्के समीप लाते थे और कहते थे कि हे भगवन्, इन्हें धारण कीजिए ॥२०॥ कितने ही लोग रूप और यौवनसे शोभायमान कन्याओंको लाकर भगवान्के साथ विवाह करानेके लिए तैयार हुए थे सो ऐसी मूर्खताको धिक्कार हो ॥२१॥ कितने ही लोग स्नान करनेकी सामग्री लाकर भगवान्को घेर लेते थे और कितने ही लोग भोजनकी सामग्री सामने रखकर प्रार्थना करते थे कि विभो, मैं स्नान

१. आगच्छति सति । २. स्वीकृतवती । पादविक्षेपसमये पाणितले प्रसार्य पादौ धृतवतीति भावः । ३. चलनवती, ध्वनी कृपावती । ४. अधिकं निमज्जनमकरिष्यत् तर्हि पाताले निमज्जतीत्यर्थः । 'टुमस्जो शुद्धी' । लृङ् । सत्यमङ्गल्य-२०, ल०, म० । ५. ईर्यासमित्याधिते । ६. समदम्बान् सखर्वटान् ल०, म०, द० । ७. मुनिसंवन्धिनीम् । ८. वर्तकाम् । ९. आगत्य । १०. ऊचुः । ११. तूष्णीमित्यर्थः । १२. सह गच्छन्ति स्म । १३. गुरोरग्रे न्यस्यान्ति स्म । १४. प्रापयामासुः । १५. अनभिलाषित्वात् । १६. स्वार्थे कप्रत्ययात्, तूष्णीमित्यर्थः । तूष्णीकं द०, प०, स० । १७. पटव्या अ०, प०, द०, ल०, म० । १८. प्रार्थयन्ति स्म । १९. पूजयामासुः ।

विभो भोजनसामोक्तं प्रसीदानुगृहाण नः । समं मज्जनसामग्र्या निर्विशं स्नानभोजने ॥२१॥
 एषोऽञ्जलिः कृतोऽस्माभिः प्रसीदानुगृहाण नः । इत्येकंऽध्वैषिघ्नं सुग्धा विभुमज्ञातताकमाः ॥२२॥
 केचित् पादानुपादाय तत्पांशुस्पर्शपावनैः । प्रणतैस्तैस्तैर्नाथमनाधिषत् सुकथे ॥२३॥
 इदं स्वाद्यमिदं स्वाद्यमिदं भोज्यं^१ पृथग्विधम् । सुदुर्मुहुरिदं पेयं^२ हृद्यमाप्यायनं^३ तनोः ॥२४॥
 तैरित्यध्वैष्यमाणोऽपि^४ सम्भ्रान्तैस्नमिज्जकैः । न कल्प्यमिति मन्वानास्तूर्णोमेवापसन्निवान्^५ ॥२५॥
 विभोर्निगूढचर्यस्य सत्^६ ज्ञातुमर्नाश्वराः^७ । केचित् कर्तव्यतामृदाः स्थितार्श्वेनेष्विवापिताः ॥२६॥
 सपुत्रदारैरन्यैश्च^८ पदालग्नैर्हृद्भूमिः । क्षणविधिततत्त्वचर्यो भूयोऽपि विजहार सः ॥२७॥
 इत्यस्य परमां चर्यां^९ चरतोऽज्ञातचर्यया । जगदाश्चर्यकारिण्या मासाः षडपरे ययुः ॥२८॥
 ततः संवत्सरे पूर्णं पुरं^{१०} हास्तिनसाह्वयम् । कुरुजाङ्गलदेशस्य ललामे^{११} वाससाद सः ॥२९॥
 तस्य पाता^{१२} तदासीच्च कुरुवंशशिखामणिः । सोमप्रभः प्रसन्नात्मा^{१३} सोमसौम्यात्तनो नृपः ॥३०॥
 तस्यानुजः कुमारोऽमूर्च्छं यान् श्रेयाभ्युद्यौयैः । रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्यता^{१४} स भानुमान् ॥३१॥

की सामग्रीके साथ-साथ भोजन लाया हूँ, प्रसन्न होइए, इस आसनपर बैठिए और स्नान तथा भोजन कीजिए ॥२०-२१॥ चर्याकी विधिको नहीं जाननेवाले कितने ही मूर्ख लोग भगवान्-से ऐसी प्रार्थना करते थे कि हे भगवन्, हम लोग दोनों हाथ जोड़ते हैं, प्रसन्न होइए और हमें अनुगृहीत कीजिए ॥२२॥ कितने ही लोग भगवान्के चरण-कमलोंको पाकर और उनकी धूलिके स्पर्शसे पावेत्र हुए अपने मस्तक झुकाकर भोजन करनेके लिए उनसे बार-बार प्रार्थना करते थे ॥२३॥ और कहते थे कि हे भगवन्, यह खाद्य पदार्थ है, यह स्वाद्य पदार्थ है, यह जुदा रखा हुआ भोज्य पदार्थ है, और यह शरीरको सन्तुष्ट करनेवाला, अतिशय मनोहर बार-बार पीने योग्य पेय पदार्थ है इस प्रकार संभ्रान्त हुए कितने ही अज्ञानी लोग भगवान्से बार-बार प्रार्थना करते थे परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है यही मानते हुए भगवान् चुपचाप वहाँ-से आगे चले जाते थे ॥२४-२५॥ जिनकी चर्याकी विधि अतिशय गुप्त है ऐसे भगवान्के अभि-प्रायको जाननेके लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए इस विषयमें मूढ़ होकर चित्रलिखितके समान निश्चल ही खड़े रह जाते थे ॥२६॥ अन्य कितने ही लोग आँखोंसे आँसू डालते हुए अपने पुत्र तथा स्त्रियोंसहित भगवान्के चरणोंमें आ लगते थे जिससे क्षण-भरके लिए भगवान्की चर्यामें बिघ्न पड़ जाता था परन्तु बिघ्न दूर होते ही वे फिर भी आगेके लिए विहार कर जाते थे ॥२७॥ इस प्रकार जगत्को आश्चर्य करनेवाली गूढ़ चर्यासे उत्कृष्ट चर्या धारण करनेवाले भगवान्के छह महीने और भी व्यतीत हो गये ॥२८॥ इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् वृषभदेव कुरुजाङ्गल देशके आभूषणके समान सुशोभित हस्तिनापुर नगरमें पहुँचे ॥२९॥ उस समय उस नगरके रक्षक राजा सोमप्रभ थे । राजा सोमप्रभ कुरुवंशके शिखामणिके समान थे, उनका अन्तःकरण अतिशय प्रसन्न था और मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था ॥३०॥ उनका एक छोटा भाई था जिसका नाम श्रेयान्तकुमार था । वह श्रेयान्तकुमार गुणोंकी वृद्धिसे श्रेष्ठ था, रूपसे कामदेवके समान था, कान्तिसे चन्द्रमा

१. सत्कारपूर्वकं प्रायितवन्तः । २. इष इच्छायाम् पक्वतात् लुङ् । ३. प्रार्थयामासुः । अनाधिषत् इत्यपि क्वचित् । ४. भोक्तुं योग्यम् । ५. पातुं योग्यम् । ६. सन्तृप्तिकारकम् । ७. प्रार्थ्यमानः । ८. इतस्ततः परि-भ्रमद्भिः । ९. न कृत्यम् । १०. अपसरति स्म । गतवानित्यर्थः । ११. अभिप्रायम् । १२. असमर्थाः । १३. पादालग्नै-ल०, म०, अ० । पादलग्नै-प०, द० । १४. सा चासी चर्या च तत्त्वचर्या क्षणं विधिता तत्त्वचर्या यस्य । १५. हास्तिनमित्पाङ्गवेन सहितम् । १६. 'ललाम च ललामं च भूपाबालभिवाजिपु ।' तिलकमित्यर्थः । १७. पालकः । १८. तत्काले । १९. प्रसन्नवृद्धिः । २०. तेजसा ।

धनदेवचरो योऽसावहमिन्द्रो दिवश्च्युतः । स श्रेयानित्यभूच्छ्रेयः प्रजानां श्रेयसां निधिः ॥३२॥
 सोऽदर्शद् भगवत्पस्यां पुरि संनिधिमेष्यति^१ । शर्वर्याः पश्चिमे यामे स्वप्नानेतान् शुभावहान् ॥३३॥
 सुमेरुमैक्षतोस्तुङ्गं हिरण्यमयमहातनुम् । कल्पद्रुमं च शाखाप्रलम्बि भूषणभूषितम् ॥३४॥
 सिंहं संहारं^२ संश्यामकैसरोद् रकम्बरम् । शृङ्गाग्रकण्टकसूक्ष्मं च वृषभं कूलमुद्रुजम्^३ ॥३५॥
 सूर्येण्च सुवनस्येव नयने प्रस्फुरद्द्युती । सरस्वन्तमपि प्रोक्षेर्वीधि रत्नाचिह्नार्णसम् ॥३६॥
 भद्रमङ्गलधारीणि भूतरूपाणि चाग्रतः^४ । सोऽपश्यद् भगवत्पाददर्शनैककलानिमान् ॥३७॥
 सप्रश्रयमथासाध प्रभाते प्रीतमानसः । सोमप्रभाय तान् स्वप्नान् यथाष्ट्यं न्यवेदयत् ॥३८॥
 ततः पुरोधाः^५ कल्याणं फलं तेषामभाषत । प्रसरद्भानज्योस्ताप्रभौतककुब्जतरः ॥३९॥
 मेरुसन्दर्शनाद्देवो यो मेहरिच सून्नतः । मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटम् ॥४०॥
 तद्गुणोन्नतिमन्ये च स्वप्नाः संसूचयस्थमी । तस्यानुरूपविनयैर्महान् पुण्योद्द्योऽय नः ॥४१॥
 प्रशंसां जगति लयातिमनस्यां लाभसंपदम् । प्राप्स्यामो नात्र सन्दिह्यः^६ कुमारदवात्र^७ तत्त्ववित्^८ ॥४२॥

के समान था और दीप्तिसे सूर्यके समान था ॥३१॥ जो पहले धनदेव था और फिर अहमिन्द्र हुआ था वह स्वर्गसे चय कर प्रजाका कल्याण करनेवाला और स्वयं कल्याणोंका निधिस्वरूप श्रेयान्सकुमार हुआ था ॥३२॥ जब भगवान् इस हस्तिनापुर नगरके समीप आनेको हुए तब श्रेयान्सकुमारने रात्रिके पिछले पहरमें नीचे लिखे स्वप्न देखे ॥३३॥ प्रथम ही सुवर्णमय महा शरीरको धारण करनेवाला और अतिशय ऊँचा सुमेरु पर्वत देखा, दूसरे स्वप्नमें शाखाओंके अग्रभागपर लटकते हुए आभूषणासे सुशोभित कल्पवृक्ष देखा, तीसरे स्वप्नमें प्रलयकाल-सम्बन्धी सन्ध्याकालके मेघोंके समान पीली-पीली अयालसे जिसकी ग्रीवा ऊँची हो रही है ऐसा सिंह देखा, चौथे स्वप्नमें जिसके सींगके अग्रभागपर मिट्टी लगी हुई है ऐसा कितारा उखाड़ता हुआ बैल देखा, पाँचवें स्वप्नमें जिनकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान हो रही है और जो जगत्-के नेत्रोंके समान हैं ऐसे सूर्य और चन्द्रमा देखे, छठे स्वप्नमें जिसका जल बहुत ऊँची उठती हुई लहरों और रत्नोंसे सुशोभित हो रहा है ऐसा समुद्र देखा तथा सातवें स्वप्नमें अष्टभंगल द्रव्य धारण कर सामने खड़ी हुई भूत जातिके व्यन्तर देवोंकी मूर्तियाँ देखीं । इस प्रकार भगवान्-के चरणकमलोंका दर्शन ही जिनका मुख्य फल है ऐसे ये ऊपर लिखे हुए सात स्वप्न श्रेयान्स-कुमारने देखे ॥३४-३७॥ तदनन्तर जिसका विश्व अतिशय प्रसन्न हो रहा है ऐसे श्रेयान्स-कुमारने प्रातःकालके समय विनयसहित राजा सोमप्रभके पास जाकर उनसे रात्रिके समय देखे हुए वे सब स्वप्न ज्योंके-त्यों कहे ॥३८॥ तदनन्तर जिसकी फैलती हुई दाँतोंकी फिरणोंसे सब दिशाएँ अतिशय स्पष्ट हो गयीं हैं ऐसे पुरोहितने उन स्वप्नोंका कल्याण करनेवाला फल कहा ॥३९॥ वह कहने लगा कि हे राजकुमार, स्वप्नमें मेरुपर्वतके देखनेसे यह प्रकट होता है कि जो मेरुपर्वतके समान अतिशय उन्नत (ऊँचा अथवा उदार) है और मेरुपर्वतपर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर आयेगा ॥४०॥ और ये अन्य स्वप्न भी उन्हींके गुणोंकी उन्नतिको सूचित करते हैं । आज उन भगवान्के योग्य की हुई विनयके द्वारा हम लोगोंके बड़े भारी पुण्यका उद्घट्ट होगा ॥४१॥ आज हम लोग जगत्में बड़ी भारी प्रशंसा प्रसिद्धि और लाभसम्पदाको प्राप्त होंगे-इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है और कुमार

१. आश्रयणीयः । २. समीपमागमिष्यति सति । ३. प्रलयकालः । ४. संध्याभ्र-द०, ल०, म० ।

५. उत्कट, भयंकर । ६. तटं सतन्तम् । ७. समुद्रम् । 'सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यभिधानात् । ८. रत्नाकीर्ण-जलम् । ९. व्यन्तरदेवतारूपाणि । १०. पुरः । ११. पुरोहितः । १२. सन्देहं न कुर्मः । १३. अस्मिन् विषये ।

१४. यथास्वरूपवेदी ।

इति तद्वचनात् प्रीतो तौ तत्संकथया स्थिता । यावत्तावच्च योगीन्द्रः प्राविशद्वास्तिनं पुरम् ॥४३॥
 तदा कोलाहलं भूयान्भूतसंदिग्धया ।^१ इतस्ततश्च मिलता^२ पौराणां मुञ्चतिः ॥४४॥
 भगवानादिकर्तास्मान् प्रपालयिषुमागतः । पश्यामोऽत्र द्रुतं गत्वा पूजयामश्च भक्तितः ॥४५॥
 वनप्रदेशाद् भगवान् प्रत्यावृत्तः सनातनः । अनुगृहीतुमेवास्मानिच्छुः केचनीषितम् ॥४६॥
 केचित् परापर^३ जस्य संवर्णनसमुत्सुकाः । पौरास्थकाम्यकर्तव्याः^४ संदधानुस्तिः^५ ॥४७॥
 भयं स भगवान् दूराहलद्वयतं^६ प्रशुविग्रहः । गिरीन्द्र इव निष्ठसंज्ञाम्यकाञ्चनमच्छविः ॥४८॥
 श्रूयते यः श्रुतश्रुत्या^७ जगदेकपितामहः । स नः सनातनो दिष्टया यातः प्रत्यक्षसंनिधिम् ॥४९॥
 दृष्टेऽस्मिन्^८ सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् सफले श्रुती । स्मृतेऽस्मिन् जन्मरुहोऽपि प्रजस्यन्तःपवित्रताम् ॥५०॥
 सर्वसंगविनिर्मुक्तो दीप्रप्रोत्तुङ्गविग्रहः ।^९ घनरोभविनिर्मुक्तो भाति भास्वानिव प्रभुः ॥५१॥
 इदमाश्चर्यमाश्चर्यं यदेष जगतां पतिः । विहरत्येवमेकाकी त्यक्तसर्वपरिच्छदः^{१०} ॥५२॥
 अथवा श्रुतमस्माभिः^{११} स्वार्धानसुखकाम्यया । करीव यूथपो^{१२} नाथो वनं प्रस्थित^{१३} वानिति ॥५३॥

श्रेयान्स भी स्वयं स्वप्नोंके रहस्यको जाननेवाले हैं ॥४२॥ इस प्रकार पुरोहितके बधनोंसे प्रसन्न हुए वे दोनों भाई स्वप्न अथवा भगवान् की कथा कहते हुए बैठे ही थे कि इतनेमें ही योगि-राज भगवान् वृषभदेवने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥४३॥ उस समय भगवान् के दर्शनोंकी इच्छासे जहाँ-तहाँसे आकर इकट्ठे हुए नगरनिवासी लोगोंके मुखसे निकला हुआ बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥४४॥ कोई कह रहा था कि आविकर्ता भगवान् वृषभदेव हम लोगोंका पालन करनेके लिए यहाँ आये हैं; चलो, जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥४५॥ कितने ही लोग ऐसे उचित बचन कह रहे थे कि सनातन भगवान् केवल हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही वन-प्रदेशसे वापिस लौटे हैं ॥४६॥ इस लोक और परलोकको जाननेवाले भगवान् के दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित हुए कितने ही नगरनिवासी जन अन्य सय काम छोड़कर इधरसे उधर दौड़ रहे थे ॥४७॥ कोई कह रहा था कि जिनका शरीर सुमेरु पर्वतके समान अतिशय ऊँचा है और जिनकी कान्ति तपाये हुए उत्तम सुवर्णके समान अतिशय देदीप्यमान है ऐसे ये भगवान् दूरसे ही दिखाई देते हैं ॥४८॥ संसारका कोई एक पिता-मह है ऐसा जो हम लोग केवल कानोंसे सुनते थे वे ही सनातन पितामह भाग्यसे आज हम लोगोंके प्रत्यक्ष हो रहे हैं-हम उन्हें अपनी आँखोंसे भी देख रहे हैं ॥४९॥ इन भगवान् के दर्शन करनेसे नेत्र सफल हो जाते हैं, इनका नाम सुननेसे कान सफल हो जाते हैं और इनका स्मरण करनेसे अज्ञानी जीव भी अन्तःकरणकी पवित्रताको प्राप्त हो जाते हैं ॥५०॥ जिन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया है और जिनका अतिशय ऊँचा शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो रहा है ऐसे ये भगवान् मेघोंके आवरणसे छूटे हुए सूर्यके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥५१॥ यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि ये भगवान् तीन लोकके स्वामी होकर भी सब परिग्रह छोड़कर इस तरह अकेले ही बिहार करते हैं ॥५२॥ अथवा जो हम लोगोंने पहले सुना था कि भगवान् ने स्वार्धान सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे झुण्डकी रक्षा करनेवाले हाथीके समान वनके लिए प्रस्थान किया है सो वह इस समय सत्य मालूम होता है क्योंकि ये परमेश्वर भगवान्

१. 'मिल संघाते' । २. पूर्वापरवेदिनः । ३. वेगेन गच्छन्ति स्म । ४. उन्नतशरीरः । ५. उत्तम-सुवर्ण । ६. श्रवणपरम्परया । ७. परमेश्वरः । ८. दीप्त-ल०, म० । ९. बहुजनोपरोध, पक्षे मेघाच्छादन । १०. परिकरः । ११. स्वाम्यसुखवाञ्छया । १२. यूथनाथः । १३. गतवान् ।

तस्मिन्मधुना स्वैरं मुक्तसंगो निरङ्गरः ।^१ कस्यथो विरहत्वेनमेककः^२ परमेस्वरः ॥५४॥
 यथास्य विहरन् देशानस्मद्भाग्यादिहागतः । वन्धः पूज्योऽभिर्गम्यश्चेत्येके हलाच्यं वचो जगुः ॥५५॥
 चेष्टि बालकमावाप स्तन्यं पायय याम्यहम् । ब्रष्टुं मगवतः पादाविति काचित् स्म्यभाषत ॥५६॥
 प्रसाधनमिदं तावदास्तां मे सहसज्जनम् । पूर्वैरष्टिप्रलेभंतुः स्नात्वाभीत्यपरा जगुः ॥५७॥
 भगवन्मुखबालार्कदर्शनान्नो मनोऽम्बुजम् । चिरं प्रबोधमायातु पश्यामोऽथ जगद्गुरुम् ॥५८॥
 खलु भुक्त्वा^३ लूप्तिष्ठ गृहाणार्धमिमं सखि । पूजयामो जगत्पूज्यं गच्छेयम्या जगौ गिरम् ॥५९॥
 स्नानाशनादिसामग्रीमवमस्य^४ पुरोगताम् । गता एव तदा पौराः प्रभुं ब्रष्टुं^५ पुरोगतम् ॥६०॥
 गतानुगतिकाः केचित् केचिद् भक्तिमुपागताः । परं कौतुकसाद्भूता^६ कृतेशं ब्रष्टुमुद्यताः ॥६१॥
 इति नानाविधैर्जल्पैः संकल्पैश्च हिक्कृतैः^७ । तमीक्षाञ्चक्षिरे^८ पौरा दूरात् सातारमानताः ॥६२॥
 अर्धपूर्वमहंपूर्वमित्युपेतैः^९ समन्ततः । तदा रुद्धमभूत् पौरैः पुरमाराममन्दिरात्^{१०} ॥६३॥
 स तु संवेगपर्यायसिद्धौ ददपरिच्छदः । जगत्कायस्यमात्रादितत्त्वानुत्थाने^{११} मामनन्^{१२} ॥६४॥

समस्त परिग्रह और वस्त्र छोड़कर बिना किसी कष्टके इच्छानुसार अकेले ही विहार कर रहे हैं ॥५३-५४॥ ये भगवान् अपनी इच्छानुसार अनेक देशोंमें विहार करते हुए हम लोगोंके भाग्यसे ही यहाँ आये हैं इसलिए हमें इनकी वन्दना करनी चाहिए, पूजा करनी चाहिए और इनके सम्मुख जाना चाहिए, इस प्रकार कितने ही लोग प्रशंसनीय वचन कह रहे थे ॥५५॥ उस समय कोई स्त्री अपनी दासीसे कह रही थी कि हे दासी, तू बालकको लेकर दूध पिला, मैं भगवान् के चरणोंका दर्शन करनेके लिए जाती हूँ ॥५६॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि यह स्नान की सामग्री और यह आभूषण पहननेकी सामग्री दूर रहे मैं तो भगवान् के दृष्टिरूपी पवित्र जलसे स्नान करूँगी ॥५७॥ भगवान् के मुखरूपी बालसूर्यके दर्शनसे हमारा यह मनरूपी कमल चिरकाल तक विकासको प्राप्त रहे, चलो, आज जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके दर्शन करें ॥५८॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि हे सखि, भोजन करना बन्द कर, जलदी उठ और यह अर्घ्य हाथमें ले, चलकर जगत्पूज्य भगवान् की पूजा करें ॥५९॥ उस समय नगरनिवासी लोग सामने रखी हुई स्नान और भोजनकी सामग्रियोंको दूर कर आगे जानेवाले भगवान् के दर्शनके लिए जा रहे थे ॥६०॥ कितने ही लोग अन्य लोगोंको जाते हुए देखकर उनकी देखादेखी भगवान् के दर्शन करनेके लिए उद्यत हुए थे । कितने ही भक्तिवश और कितने ही कौतुकके अधीन हो जिनेन्द्रदेवको देखनेके लिए तत्पर हुए थे ॥६१॥ इस प्रकार नगरनिवासी लोग परस्परमें अनेक प्रकारकी बातचीत और आदरसहित अनेक संकल्प-विफल्य करते हुए जगत्की रक्षा करनेवाले भगवान् को दूरसे ही नमस्कार कर उनके दर्शन करने लगे ॥६२॥ 'मैं पहले पहुँचूँ, मैं पहले पहुँचूँ' इस प्रकार विचार कर चारों ओरसे आये हुए नगरनिवासी लोगोंके द्वारा वह नगर उस समय राजमहल तक खूब भर गया था ॥६३॥ उस समय नगरमें यह सब हो रहा था परन्तु भगवान् संवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिए कमर बाँधकर संसार और शरीरके स्वभाषका चिन्तन करते हुए प्राणिमात्र, गुणाधिक, दुःखी और अत्रिनयी जीवोंपर क्रमसे

१. वनम् । प्रस्थितवानिति श्रुतम् । २. अबाधः । ३. एकाकी । ४. अभिमुखं गन्तुं योग्यः । ५. काचि-
 दभाषत ५० । ६. भोजनेनालम् । ७. शीघ्रम् । ८. पूजाद्वयम् । ९. अवकां कृत्वा । १०. अग्रे स्थितमित्यर्थः ।
 पुरोगताम् अग्रगमित्यम् । ११. आश्चर्याधीनाः । १२. पृथक्कृतैः । हिक्कृतं नानार्थवर्जने । कृतशुभभाषणा-
 दिपरिकरैः । हि सत्कृतेः ५० । स्वहितात्कृतेः ५० । १३. ददशुः । १४. संभूतैः । १५. राजभवनपर्यन्तम् ।
 १६. अनुस्मरणम् । १७. अग्यासं कुर्वन् ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानुभावयन् । ^१ सत्त्वसृष्टिगुणोऽकृष्ट क्लिष्टानिष्टानुशिष्टिषु ॥६५॥
 युगप्रमितमध्वानं पश्यन्नातिविलम्बितम् । नातिमुतं च विन्यस्यन् पदं गन्धेभलीलया ॥६६॥
 तथाप्यस्मिन्नाकीर्णं शून्यारण्यकृतास्थया ^२ । निर्व्यग्रो भगवोऽश्चान्द्रो ^३ चर्यामाश्रित्य पयदन् ॥६७॥
 गेहं गेहं यथायोग्यं प्रविशन् राजमन्दिरम् । प्रवेष्टुकामो ह्यगमत् सोऽयं धर्मः सनातनः ॥६८॥
 ततः सिद्धार्थनामैव द्रुतं दीवारपालकः । भगवत्सन्निधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत् ॥६९॥
 अथ सोमप्रभो राजा श्रेयानपि युवा नृपः । सान्तःपुरौ ससेनान्धौ सामार्याबुदतिष्ठतम् ॥७०॥
 प्रत्युद्गन्ध ^४ ततो भक्त्या यावद्वाजाङ्गणाद् बहिः । दूरादवनतौ भर्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥७१॥
 सार्धं ^५ पादौ ^६ निवेद्याङ्गयोः परीत्य च जगद्गुरुम् । तौ परं जग्मतुस्तोषं निधावित्र मृदागते ॥७२॥
 तौ देवदर्शनात् प्रीतौ गात्रे ^७ पुलकमूढतुः । मलयानिलसंस्पर्शाद् भूखहावङ्कुरं यथा ॥७३॥
 भगवन्मुखसंप्रेक्षाविकसन्मुखपङ्कजौ । विबुधकमलौ प्रातस्तनौ ^८ पद्माकराविव ॥७४॥
 प्रमोदनिर्भरी भक्तिमरानमितमस्तकौ । प्रश्रयप्रशमौ मूर्ताविव तौ रेजतुस्तदा ॥७५॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाका विचार करते हुए चार हाथ प्रमाण मार्ग देख-
 कर न बहुत धीरे और न बहुत शीघ्र मदीन्मत्त हाथी-जैसी लीलापूर्वक पैर रखते हुए, और मनुष्यों
 से भरे हुए नगरको शून्य वनके समान जानते हुए निराकुल होकर चान्द्रीचर्याका आश्रय लेकर
 विहार कर रहे थे अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा धनवान् और निर्धन-सभी लोगोंके घरपर अपनी
 चाँदनी फैलाता है उसी प्रकार भगवान् भी राग-द्वेषसे रहित होकर निर्धन और धनवान् सभी
 लोगोंके घर आहार लेनेके लिए जाते थे । इस प्रकार प्रत्येक घरमें यथायोग्य प्रवेश करते हुए
 भगवान् राजमन्दिरमें प्रवेश करनेके लिए उसके सम्मुख गये सो आचार्य कहते हैं कि राग-
 द्वेषरहित हो समतावृत्ति धारण करना ही सनातन-सर्वश्रेष्ठ प्राचीन धर्म है ॥६४-६८॥

तदनन्तर सिद्धार्थ नामके द्वारपालने शीघ्र ही जाकर अपने छोटे भाई श्रेयान्सकुमारके
 साथ बैठे हुए राजा सोमप्रभके लिए भगवान्के समीप आनेके समाचार कहे ॥६९॥ सुनते ही
 राजा सोमप्रभ और सख्य राजकुमार श्रेयान्स, दोनों ही, अन्तःपुर, सेनापति और मन्त्रियोंके
 साथ शीघ्र ही उठे ॥७०॥ उठकर वे दोनों भाई राजमहलके आँगन तक बाहर आये और
 दोनोंने ही दूरसे नम्रीभूत होकर भक्तिपूर्वक भगवान्के चरणोंको नमस्कार किया ॥७१॥
 उन्होंने भगवान्के चरणकमलोंमें अर्घसहित जल समर्पित किया, अर्थात् जलसे पैर धोकर
 अर्घ चढ़ाया, जगद्गुरु भगवान् धृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी और यह सब कर वे दोनों ही
 इतने सन्तुष्ट हुए मानो उनके घर निधि ही आयी हो ॥७२॥ जिस प्रकार मलयानिलके स्पर्शसे
 वृक्ष अपने शरीरपर अंकुर धारण करने लगते हैं उसी प्रकार भगवान्के दर्शनसे हर्षित हुए
 वे दोनों भाई अपने शरीरपर रोमांच धारण कर रहे थे ॥७३॥ भगवान्का मुख देखकर जिनके
 मुखकमल विकसित हो उठे हैं ऐसे वे दोनों भाई ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनमें कमल फूल
 रहे हों ऐसे प्रातःकालके दो सरोवर ही हों ॥७४॥ उस समय वे दोनों हर्षसे भरे हुए थे और
 भक्तिके भारसे दोनोंके मस्तक नीचेकी ओर झुक रहे थे इसलिए ऐसे सुशोभित होते थे मानो

१. सत्त्ववर्गः । २. क्लेशित । ३. अशिक्षितेषु । ४. विहितबुद्ध्या । ५. निराकुलः । ६. चन्द्रसं-
 न्धिनीम् । चन्द्रवन्मन्दामित्यर्थः । ७. गतिम् । ८. उत्तिष्ठतः स्म । ९. संमुखं गत्वा । १०. रत्नादिपदार्थम् ।
 ११. पादाय वारि । 'पादौ पादाय वारिणौ' इत्यभिधानात् । १२. समर्प्य । १३. रोमाञ्चम् । १४. प्रातःकाले
 संजातौ ।

भगवच्छरणोपान्ते तौ तदा भजतुः श्रियम् । सौधर्मज्ञानकल्पशौ विभुं ब्रह्मविषागता ॥७६॥
 पर्यन्तवर्तिमोर्मध्ये तयोर्मर्ता स्म राजते । महामेकरिकौद्भूतो मध्ये निषधनोत्तयोः ॥७७॥
 संप्रेक्ष्य भगवद्रूपं श्रेयाजातिस्मरोऽभवत् । ततो दाने मतिं चक्रे संस्कारैः प्राक्तनैर्युतः ॥७८॥
 श्रोमती वज्रजङ्घानिवृत्तान्तं सर्वमेव तत् । तदा चरणयुग्माय दत्तं दानं च सोऽध्यगात् ॥७९॥
 'सती गोचार'बेलेयं दानयोग्या मुनांश्विनाम् । तेन मर्गे वदे दानमिति निदिष्य पुण्यर्थाः ॥८०॥
 श्रद्धादिगुणसंपन्नः पुण्यैर्नवमिरन्वितः । प्राज्ञाज्ञगवते दानं श्रेयान् दानादि तीर्थकृत् ॥८१॥
 श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता । क्षमा त्यागश्च सत्तेन प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥८२॥
 श्रद्धास्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्वादनादरः । भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादरः ॥८३॥
 विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं देवासक्तिरलुब्धता । क्षमा पितृक्षा ददत्तस्यागः सद्गुणशीलता ॥८४॥
 इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्रसंपदि ॥८५॥ ध्यपेतश्च निदानादेर्दोषाभिभेयलोद्यतः ॥८६॥
 प्रतिग्रहणं मत्स्युच्छैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा यथा ॥८७॥

मूर्तिधारी विनय और शान्ति ही हों ॥७५॥ भगवान्के चरणोंके समीप ये दोनों ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्के दर्शन करनेके लिए आये हुए सौधर्म और ऐशान स्वर्गके इन्द्र ही हों ॥७६॥ दोनों ओर खड़े हुए सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमारके बीचमें स्थित भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निषध और नील पर्वतके बीचमें खड़ा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो ॥७७॥

भगवान्का रूप देखकर श्रेयान्सकुमारको जातिस्मरण हो गया जिससे उसने अपने पूर्व पर्यायसम्बन्धी संस्कारोंसे भगवान्के लिए आहार देनेकी बुद्धि की ॥७८॥ उसे श्रीमती और वज्रजंघ आदिका वह समस्त वृत्तान्त याद हो गया तथा उसी भवमें उन्होंने जो चारण श्रद्धाधारी दो मुनियोंके लिए आहार दिया था उसका भी उसे स्मरण हो गया ॥७९॥ यह मुनियोंके लिए दान देने योग्य प्रातःकालका उत्तम समय है ऐसा निश्चय कर पवित्र बुद्धिवाले श्रेयान्सकुमारने भगवान्के लिए आहार दान दिया ॥८०॥ दानके आवि तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले श्रेयान्सकुमारने श्रद्धा आदि सातों गुणसहित और पुण्यवर्धक नवधा भक्तियोंसे सहित होकर भगवान्के लिए दान दिया था ॥८१॥ श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग ये दानपति अर्थात् दान देनेवालेके सात गुण कहलाते हैं ॥८२॥ श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धिको कहते हैं, आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धाके न होनेपर दान देनेमें अनादर हो सकता है । दान देनेमें आलस्य नहीं करना सो शक्ति नामका गुण है, पात्रके गुणोंमें आदर करना सो भक्ति नामका गुण है ॥८३॥ दान देने आदिके क्रमका ज्ञान होना सो विज्ञान नामका गुण है, दान देनेकी शक्तिको अलुब्धता कहते हैं, सहनशीलता होना क्षमा गुण है और उत्तम द्रव्य दानमें देना सो त्याग है ॥८४॥ इस प्रकार जो दाता उपर कहे हुए सात गुणोंसे सहित और निदान आदि दोषोंसे रहित होकर पात्ररूपी सम्पदामें दान देता है वह मोक्ष प्राप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥८५॥ मुनिराजका पङ्गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थानपर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, कामकी शुद्धि और आहार

१. जातिस्मरणतः । २. 'इक् स्मरणे' । 'नैतयोः इणिको लुङि ना भवति' इति गादेशः । अस्मरत् । ३. समीचीना । ४. अवातवेला । ५. कारणेन । ६. वदी अ०, प० । ७. वदी । ८. प्रथमदानतीर्थकृत्यर्थः । ९. अस्ति पुण्यपापपरलोकादिकमिति बुद्धिर्यस्याऽसौ आस्तिकः तस्य भावः आस्तिक्यम् । १०. पात्रगुणशीतिः । ११. देयवस्तुषु अनासक्तिः । देयशक्तिः प०, द० । १२. क्षान्तिः । १३. पात्रसमृद्ध्यां सत्याम् । १४. स्थापनम् । १५. पात्रस्य । १६. प्रशालनम् । १७. अर्चनम् । १८. मनोवाक्कायसंबन्धिनी ।

निष्ठुतिर्विशुद्धिर्वाचनसंस्कारोपायः पुनरुपायः कुर्वितव्यः । स शीघ्रं पुनरुपायं भजे पूर्वसंस्कारचोदितः ॥८७॥

इष्टव्याय^१ विशिष्टश्चेत्पुनः^२ पुष्टिं परां भितः । ददे सगवते दानं प्रासुकआहारकल्पितम् ॥८८॥

संतोषो वाचनापायो नैःसंगं स्वप्रधानता^३ । इति भग्वा गुणान् पाणिपात्रेणाहारमिच्छते ॥८९॥

पुष्टिर्विशिष्टपीडादिसंप्राप्तावगम्यथा द्विविः^४ । असंयमश्च सत्यैवमिति स्थित्वाशनैषिणे ॥९०॥

कायासुखचित्तिकार्थं^५ सुखासक्तेश्च दानये । धर्मप्रभावमार्थं च कायक्लेशमुपेयुये^६ ॥९१॥

नैष्किञ्चन्यप्रधानं^७ यत् परं निर्वाणकारणम् । हिसारक्षणं^८ चाग्नादिदोषैरुपद्रुममूर्जितम् ॥९२॥

अवाक्यं प्रार्थनीयस्वरहितं च^९ समीयुये । आतरुणं यथाजातमविकारमविप्लवम् ॥९३॥

तैलादेर्याचनं तस्य लाभालाभद्वये सति । रागद्वेषद्वया^{१०} संगः केशजप्राणिद्विसमम् ॥९४॥

इत्यादिदोषसन्नावादस्मान्नवतधारिणे । हावना^{११} शनेऽप्यङ्गे पुष्टिं दीप्तिं^{१२} च विभ्रते ॥९५॥

धुर^{१३} क्रियायां तद्योग्यं^{१४} साधनार्जनरक्षणे । तदपाये च चिन्ता स्यात् केशोत्पादमितीच्छते ॥९६॥

पञ्चभिः समिता^{१५} धास्मी त्रिभिर्गुणैश्च तापिने^{१६} । महाव्रताय महते निर्मोहाय निराशिने^{१७} ॥९७॥

की विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देनेवालेके यह नौ प्रकारका पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती हैं । अतिशय चतुर श्रेयान्सकुमारने पूर्वपर्यायके संस्कारोंसे प्रेरित होकर वे सभी भक्तियों की थी ॥८६-८७॥ ये भगवान् अतिशय इष्ट तथा विशिष्ट पात्र हैं ऐसा विचार कर परम सन्तोषको प्राप्त हुए श्रेयान्सकुमारने भगवान्के लिए प्रासुक आहारका दान दिया था ॥८८॥ जो भगवान् सन्तोष रखना, याचनाका अभाव होना, परिग्रहका त्याग करना, और अपने आपकी प्रधानता रहना आदि अनेक गुणोंका विचार कर पाणिपात्रसे ही अर्थात् अपने हाथोंसे ही आहार ग्रहण करते थे । उत्तम आसन मिलनेसे सन्तोष होगा, यदि उत्तम आसन नहीं मिला तो द्वेष होगा और ऐसी अवस्थामें असंयम होगा ऐसा विचार कर जो भगवान् स्वच्छ होकर ही भोजन करते थे । शरीरसम्बन्धी दुःख सहन करनेके लिए, सुखकी आसक्ति दूर करनेके लिए और धर्मकी प्रभावनाके लिए जो भगवान् कायक्लेशको प्राप्त होते थे । जिसमें अकिंचनताकी ही प्रधानता है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है, हिंसा, रक्षा और वाचना आदि दोष जिसे छू भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त बलवान् हैं, साधारण मनुष्य जिसे धारण नहीं कर सकते, जिसे कोई प्राप्त नहीं करना चाहता, और जो तत्कालमें उत्पन्न हुए बालकके समान निर्विकार तथा उपद्रुवरहित हैं ऐसे नग्न-दिगम्बर रूपको जो भगवान् धारण करते थे । तैल आदिकी याचना करना, उसके लाभ और अलाभमें राग-द्वेषका उत्पन्न होना, और केशोंमें उत्पन्न होनेवाले जूँ आदि जीवोंकी हिंसा होना इत्यादि अनेक दोषोंका विचार कर जो भगवान् अस्नान व्रतको धारण करते थे अर्थात् कभी स्नान नहीं करते थे । एक वर्ष तक भोजन न करनेपर भी जो शरीरमें पुष्टि और दीप्तिको धारण कर रहे थे । यदि भुरा आदिसे बाल बनवाये जायेंगे तो उसके साधन भुरा आदि लेने पड़ेंगे, उनकी रक्षा करनी पड़ेगी और उनके खो जानेपर चिन्ता होगी ऐसा विचार कर जो भगवान् हाथसे ही केशलोंच करते थे । जो भगवान् पाँचों इन्द्रियोंको बश कर लेनेसे शान्त थे, तीनों गुप्तियोंसे सुरक्षित थे, सबकी

१. एषणाशुद्धिरित्यर्थः । २. पूर्वभवसंस्कारप्रेरितः । ३. देवः । ४. श्रेयान् । ५. आत्मैव प्रधानत्वम् ।

६. समीपः । ७. द्वेषः । ८. शरीरसुखसहमार्थम् । ९. गताय । १०. नास्ति किंचन यस्यासावकिंचनः तस्य नावः सत् प्रधानं यस्य सत् । ११. याचना । १२. अन्यैरनुष्ठानमवगमम् । १३. प्राप्तवते । रहितं च समुपेयुये १०, ६० । रहितं च समीयुये इत्यपि क्वचित् । १४. संयोगः । १५. संवत्सरोपवासोऽपि । १६. तैजः । १७. मुषट्कन । १८. दास्नादि । १९. शमिता ल०, म० । २०. पालकाय । २१. इच्छारहिताय ।

संयमक्रियया सर्वप्राणिभ्योऽमयदायिके । सर्वोयज्ञानदानाथ^१ सार्वाय प्रभविष्णवे^२ ॥९८॥
 दातुराहारदानस्य महानिस्तार^३ कारमने । श्रिजगत्सर्वभूतानां हितार्थं मार्गदेशिके ॥९९॥
 श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमस्त्या^४ सादरम् । रसमिक्षोरदात् प्रासु^५ मुत्तानीकृतपाणये ॥१००॥
 पुण्ड्रेक्षुरसधारान्ता भगवत्पाणिपात्रके । स समावर्जयन् रेजे पुण्यधारासिवामलाम् ॥१०१॥
 रत्नवृष्टिरथापसदम्बरादमरेशिनाम् । करमुक्तामहादातफलरूपेण परम्परा ॥१०२॥
 तदापसद्विजो देवकरमुक्ताकिसंकुला । वृष्टिः सुमनसा^६ दृष्टिमालेश श्रिदिवीकसाम् ॥१०३॥
 नेतुः^७ सुरानका मन्दं अधिरोकृतविष्टाः । संचचार महच्छीतः सुरभिर्मन्त्रिसुन्दरः ॥१०४॥
 प्रोक्त्वचार महाध्वानो^८ देवानां प्रीतिमीयुषाम्^९ । श्रद्धा दानमहो पात्रमहो दातेति स्वाङ्गणे ॥१०५॥
 कृतार्थतरमात्मानं नेते तदात्तयुग्मकम् । कृतार्थोऽपि^{१०} विभर्त्यस्माद^{११} पुनात् स्व^{१२} गृहाङ्गणम् ॥१०६॥
 दातानुमोदनात् पुण्यं परोऽपि बहवोऽभजन् । यथासाय परं^{१३} रत्नं स्फटिकस्तपुषि मजेत् ॥१०७॥
 कारणं परिणामः स्याद् धनधने पुण्यपापयोः । बाह्यं तु कारणं प्रादुरासाः कारणकारणम्^{१४} ॥१०८॥

रक्षा करनेवाले थे, महाप्रती थे, महान् थे, मोहरहित थे और इच्छारहित थे । जो संयम रूप क्रियासे सब प्राणियोंके लिए अभय दान देनेवाले थे, सबका हित करनेवाले थे, सर्वहितकारी ज्ञान-दान देनेमें समर्थ थे । जो आहार-दान देनेवालेका शीघ्र ही संसार-सागरसे पार करनेवाले थे, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंका हित करनेके लिए मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले थे और जिन्होंने अपने दोनों हाथ उत्तान किये थे अर्थात् दोनों हाथोंको सीधा मिलाकर अंजली (खोवा) बनायी थी ऐसे भगवान् वृषभदेवके लिए श्रेयान्सकुमारने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमतीके साथ-साथ आदरपूर्वक ईश्वरके प्रासुक रसका आहार दिया था ॥९९-१००॥ वह राजकुमार श्रेयान्स भगवान्के पाणिपात्रमें पुण्यधाराके समान उज्ज्वल पौड़े और ईश्वरके रसकी धारा छोड़ता हुआ बहुत अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥१०१॥ तदनन्तर आकाशसे महादानके फलकी परम्पराके समान देवोंके हाथसे छोड़ी हुई रत्नोंकी वर्षा होने लगी ॥१०२॥ उसी समय देवोंके हाथोंसे छोड़ी हुई और धर्मरोंके समूहसे व्याप्त फूलोंकी वर्षा आकाशसे होने लगी । वह फूलोंकी वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवोंके नेत्रोंकी माला ही हो ॥१०३॥ उसी समय समस्त लोकको बधिर करनेवाले देवोंके नगाड़े गर्भार शब्द करने लगे और मन्द-मन्द गमन करनेसे सुन्दर शीतल तथा सुगन्धित वायु चलने लगा ॥१०४॥ उसी समय प्रीतिको प्राप्त हुए देवोंका 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र, और धन्य यह दाता' इस प्रकार बड़ा भारी शब्द आकाशरूपी आँगनमें हो रहा था ॥१०५॥ उस समय उन दोनों भाइयोंने अपने-आपको बहुत ही कृतकृत्य माना था क्योंकि कृतकृत्य हुए भगवान् वृषभदेवने स्वयं उनके घरके आँगनको पवित्र किया था ॥१०६॥ उस दानकी अनुमोदना करनेसे और भी बहुत-से लोग परम पुण्यको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्फटिक मणि किसी अन्य उत्कृष्ट रत्नको पाकर उसकी कान्ति-को प्राप्त होता ही है ॥१०७॥ यदि यहाँ कोई आशंका करे कि अनुमोदना करनेसे पुण्यकी प्राप्ति किस प्रकार होती है तो उसका समाधान यह है कि पुण्य और पापके बन्ध होनेमें केवल जीवके परिणाम ही कारण हैं बाह्य कारणोंको तो जिनेन्द्र देवने केवल कारणका कारण अर्थात्

१. सर्वजनहितोपदेशकाय । २. दानस्य ल०, द० । ३. समर्थाय । ४. संसारसमुद्रतारकः । ५. लोक-प्रभभार्पया । ६. प्रासुकम् । ७. पुष्पाणाम् । ८. ध्वनन्ति स्म । ९. महान् ध्वानो द०, ल० । १०. प्राप्तवताम् । ११. तीर्थकरः । १२. कारणान् । १३. अस्मदीयम् । १४. अन्यम् । १५. कारणस्य कारणम् । परिणामस्य कारणं वस्तु ।

परिणामः प्रधानाङ्गं यतः पुण्यस्य साधने । सत्तं ततोऽनुमन्तगामा दिव्यस्तत्फलोदयः^१ ॥१०९॥
 कृत्वा तनुस्थितिं धामान् योगीन्द्रो जातु कौतुकं । प्रणतावभिनन्यैतौ^२ आतरीं प्रस्थितौ^३ वनम् ॥११०॥
 भगवन्तमनुब्रज्य^४ व्रजन्तं किञ्चिदन्तरम् । स श्रेयान् कुरुषाङ्गो^५ न्यवृत्तस्मिन् पुनः ॥१११॥
 निर्व्यपेक्षं व्रजन्तं तं भगवन्तं घनान्तरम् । परावर्त्य मुग्धं किञ्चिद्^६ वीक्ष्य मायावनुक्षणम् ॥११२॥
 तदुन्मुखौ दृशं चेतोवृत्तिं च तमनुत्थिताम् । यावद्दृग्गोचरस्तावन्नियतं यितुमक्षमौ ॥११३॥
 संकथां तद्गतामेव प्रस्तुतावी^७ मुहुर्मुहुः । स्तुवान्तौ तद्गुणान् भूयो मन्त्रान्तौ स्वा^८ कृतार्थताम् ॥११४॥
 भगवत्पादसंस्पर्शपूता इमा व्यफलक्षणैः । तत्पदैरङ्गितं प्रीत्या^९ निध्यायन्तौ कृतानती ॥११५॥
 सुभ्राता^{१०} कुरुमाधोऽयं कृतार्थः सुकृती^{११} कृती^{१२} । यस्यायमीदृशो भ्राता जातो जातमहोदयः ॥११६॥
 श्रेयानथं बहुधेयान् प्रज्ञा यस्येयमीदृशी । पौरैरिधुन्मुत्तेरारात् कीर्त्यमानगुणोत्करी ॥११७॥
 शूर्पान्मेयानि^{१३} रत्नानि महावीधीन्द्रितस्ततः । संविभ्रवानान् यथाकाममानन्दन्तौ^{१४} पृथग्जनान् ॥११८॥
^{१५} उच्चवाचसुरोऽमुष्मन्स्नप्रावततान्तरम्^{१६} । ^{१७} क्रान्त्वा नृपाङ्गणं कृष्णवज्रैराशालितौ^{१८} मुहुः ॥११९॥

शुभ अशुभ परिणामोंका कारण कहा है । जब कि पुण्यके साधन करनेमें जीवोंके शुभ परिणाम ही प्रधान कारण माने जाते हैं तब शुभ कार्यकी अनुमोदना करनेवाले जीवोंको भी उस शुभ फलकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥१०८-१०९॥ इस प्रकार महाबुद्धिमान् योगिराज भगवान् वृषभदेव शरीरकी स्थितिके अर्थ आहार-ग्रहण कर और जिन्हें एक प्रकारका कौतुक उत्पन्न हुआ है तथा जो अतिशय नम्रोभूत हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंको हर्षित कर पुनः वनकी ओर प्रस्थान कर गये ॥११०॥ कुरुवंशियोंमें सिंहके समान पराक्रमी वह राजा सोमप्रभ और श्रेयान्स कुछ दूर तक वनको जाते हुए भगवान्के पीछे-पीछे गये और फिर रुक-रुककर वापिस लौट आये ॥१११॥ वे दोनों ही भाई अपना मुख फिराकर निरपेक्ष रूपसे वनको जाते हुए भगवान्को क्षण-क्षणमें देखते जाते थे ॥११२॥ जबतक वे भगवान् आँखोंसे दिखाई देते रहे तबतक वे दोनों भाई भगवान्की ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको और उन्हींके पीछे गयी हुई अपनी चित्तवृत्तिको लौटानेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥११३॥ जो बार-बार भगवान्की ही कथा कह रहे थे, बार-बार उन्हींके गुणोंकी स्तुति कर रहे थे, अपने-आपको कृतकृत्य मान रहे थे, जो भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हुई तथा अनेक लक्षणोंसे सुशोभित और उन्हींके चरणोंसे चिह्नित भूमिको नमस्कार करते हुए बड़े प्रेमसे देख रहे थे । जिसके यह ऐसा महान् पुण्य उपार्जन करनेवाला भाई हुआ है ऐसा यह कुरुवंशियोंका स्वामी राजा सोमप्रभ ही उत्तम भाईसे सहित है, कृतकृत्य है, पुण्यात्मा है और कुशल है तथा जिसकी ऐसी उत्तम बुद्धि है ऐसा यह श्रेयान्सकुमार अनेक कल्याणोंसे सहित है, इस प्रकार सामने जाकर पुर-वासीजन जिनके गुणोंके समूहका वर्णन कर रहे थे । बड़ी-बड़ी गलियोंमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए सूर्यके समान तेजस्वी रत्नोंको इकट्ठे करनेवाले साधारण जनसमूहको जो आनन्दित कर रहे थे । देवोंके द्वारा वर्षाये हुए रत्नरूपी पाषाणोंसे जिसका मध्यभाग ऊँचा-नीचा

१. कारणात् । २. अनुमतिं कृतवताम् । ३. तत्ज्ञानफलम् । ४. संतोषं नीत्वा । — नन्द्यनी प०, द० ।
 ५. गती । ६. अनुगम्य । ७. कुरुवंशश्चेष्टः । सोमप्रभ इत्यर्थः । ८. किञ्चिद्वीक्षमाणा — ल० । ९. प्रकृतं कुर्वाणो । १०. स्वकृतार्थताम् ल०, म० । ११. विलोकयन्तौ । विध्यायन्तौ ल०, अ० । १२. शोभनो भ्राता यस्य । १३. पुण्यवान् । १४. कुशलः । १५. प्रस्फोटनप्रमेयानि । 'प्रस्फोटनं शूर्पमस्त्री' इत्यभिधानात् ।
 १६. साधारणजनान् । १७. नानाप्रकारः । १८. विस्तृतावकाशम् । १९. अतिक्रम्य । २०. प्रसमिताचित्यर्थः ।

पुरं परार्थं शोभाभिः गतसन्ध्याभिवाकृतिम् । प्राविक्षतां भूतानन्दं^१ प्रेक्ष्यमाणौ^२ कुरुध्वजौ^३ ॥१२०॥
 तपोवनमथो भजे भगवान् कृतपारणः । जगज्जनतया सन्ध्यागन्धिप्लुतमहोदयः ॥१२१॥
 अहो श्रेय इति^४ श्रेयस्तच्छ्रेयश्चेत्थभूतदा । श्रेयो यशोमयं विश्वं सहानं हि यशःप्रदम् ॥१२२॥
 तदा वि^५तदुपशं^६ तद्वानं जगति पप्रथे । ततो विस्मयमासेदुः सरताद्या नरेश्वराः ॥१२३॥
 कथं भर्तुरभिप्रायो विदितोऽनेन भौमिनः । कलञ्चनिति^७ चित्तेन भरतेशो^८ विसिद्धिमे ॥१२४॥
 सुराद्य विस्मयन्ते स्म ते संभूय समागताः । प्रसीताः कुरुराज तं पूजयामासुरादरात् ॥१२५॥
 ततो महाराजेन श्रेयानप्रच्छि^९ स्वादरम् । महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं स्वया ॥१२६॥
 अदृष्टपूर्वं लोकेऽस्मिन् दानं कोऽर्हति^{१०} वेदितुम् । भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज स्वमद्य नः ॥१२७॥
 एवं दानतीर्थकृच्छ्रेयान् एवं महापुण्यमागसि । तत्तत्त्वामिति पृच्छामि यत्स्वत्वं कथयाम्य मे ॥१२८॥
 इत्यसौ तेन संपृष्टः श्रेयान् प्रत्यब्रवीद्विदम् । दशार्वाक्षककापेन ज्योत्स्ना तन्वन्निवान्तरे^{११} ॥१२९॥
 रजःहरमिवासाद्य सामयः^{१२} परमौषधम् । पिपासितो^{१३} वा इवच्छाम्भुककितं^{१४} सोऽपलं सरः ॥१३०॥

हो गया है ऐसे राजागणको बड़ी कठिनाईसे वल्लभन कर भोतर पहुँचे हुए अनेक लोग बार-बार जिनकी प्रशंसा कर रहे हों और जिन्हें नगर-निवासी जन बड़े आनन्दसे देख रहे थे ऐसे उन दोनों कुरुवंशी भाइयोंने उत्कृष्ट सजावटसे अन्य आकृतिको प्राप्त हुएके समान सुशोभित होनेवाले नगरमें प्रवेश किया ॥११४-१२०॥

अथानन्तर-संसारके सभी लोग उत्तम प्रकारसे जिनके बड़े भारी अभ्युदयकी प्रशंसा करते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पारणा करके वनको चले गये ॥१२१॥ उस समय 'अहो कल्याण, ऐसा कल्याण, और उस प्रकारका कल्याण' इस तरह समस्त संसार राजकुमार श्रेयान्सके यशसे भर गया था सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम दान यशको देनेवाला होता ही है ॥१२२॥ संसारमें दान देनेकी प्रथा उसी समयसे प्रचलित हुई और दान देनेकी विधि भी सबसे पहले राजकुमार श्रेयान्सने ही जान पायी थी । दानकी इस विधिसे भरत आदि राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ था ॥१२३॥ महाराज भरत अपने मनमें यही सोचते हुए आश्चर्य कर रहे थे कि इस्ने मौन धारण करनेवाले भगवान्का अभिप्राय कैसे जान लिया ॥१२४॥ देवोंको भी उससे बड़ा आश्चर्य हुआ था, जिन्हें श्रेयान्सपर बड़ा भारी विश्वास उत्पन्न हुआ था ऐसे उन देवोंने एक साथ आकर बड़े आदरसे उसकी पूजा की थी ॥१२५॥ तदनन्तर महाराज भरतने आदरसहित राजकुमार श्रेयान्ससे पूछा कि हे महादानपते, कहीं तो सही तुमने भगवान्का यह अभिप्राय किस प्रकार जान लिया ॥१२६॥ इस संसारमें पहले कभी नहीं देखी हुई इस दानकी विधिको कौन जान सकता है ? हे कुरुराज, आज तुम हमारे लिए भगवान्के समान ही पूज्य हुए हो ॥१२७॥ हे राजकुमार श्रेयान्स, तुम दान-तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हो, और महापुण्यवान् हो इसलिए मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो वह आज मुझसे कहो ॥१२८॥ इस प्रकार महाराज भरत-द्वारा पूछे गये श्रेयान्सकुमार अपने दाँतोंकी बि. गोंके समूहसे बीचमें चाँदनीको फैलाते हुएके समान नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥१२९॥ कि जिस प्रकार रोगी मनुष्य रोगको दूर करनेवाली किसी उत्कृष्ट ओषधिको पाकर प्रसन्न होता है अथवा प्यासा मनुष्य स्वच्छ जलसे भरे हुए और कमलोंसे

१. विहितसंतोषं यथा भवति तथा । २. प्रेक्षमाणौ द० । ३. कुरुमुहयो । ४. आश्चर्यश्रेयोऽभूत् । ५. ईदृक्श्रेयोऽभूत् । ६. तदृक्श्रेयोऽभूत् । ७. 'श्रेयः प्रकर्षेण रुपातिः' इति विश्वम् । यशोमयं श्रेयोऽभूत् । ८. तत्कालमादि कृत्वा । ९. तेन श्रेयोराजेन प्रथमोपक्रान्तम् । १०. विचारयन् । ११. आश्चर्यं करोति स्म । १२. पृच्छयते स्म । १३. समर्थो भवति । १४. मध्ये । १५. व्याधिसहितः । १६. तृपितः । १७. प्लुतम् ।

दृष्ट्वा भगवत्^१ रूपं परं प्रीतोऽस्मत्तो^२ मम । जातिस्मरत्स्वमुद्भूते^३ तामुत्ति^४ गुरोर्मतम् ॥१३१॥
 अहं हि श्रीमती नाम वज्रजङ्घमवे विभोः । विदेहं पुण्डरीकिण्यामभूर्वं प्राणवल्लभा ॥१३२॥
 समं भगवतानेन बिभ्रता वज्रजङ्घताम् । तदा चारणमुग्माय दत्तं दानमभून्मया ॥१३३॥
 विशुद्धतरमुत्सृष्टकलङ्कं दयातिकारणम् । महादानं च काश्यं च पुण्याहभ्यमिदं द्वयम् ॥१३४॥
 'का चेद्दानस्य संशुद्धिः शृणु भो मरताभिष । 'अनुग्रहाय' स्वस्याविसर्गो' दानं त्रिशुद्धिकम् ॥१३५॥
 दातुर्विशुद्धता देवं पात्रं च प्रपुनाति सा । शुद्धिर्देवस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥१३६॥
 पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देवं चैव पुनार्यदः । 'नवकोटिविशुद्धं तदानं भूरिफलोदयम् ॥१३७॥
 दाता अह्नादिभिर्युक्तो गुणैः पुण्यस्य साधनैः । देयमाहारजैवज्यसास्त्राभयविकल्पितम् ॥१३८॥
 पात्रं रागादिभिर्वैरस्पृष्टो गुणवाष् सवेत् । तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैर्मेव^५ मुपैषिक्त^६ ॥१३९॥
 जघन्यं शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत् । सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलमतमाचनः ॥१४०॥
 सद्दृष्टिः शीलसंपन्नः पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्वो विशीलश्च नैव^७ पात्रमसौ मतः ॥१४१॥

सुशोभित तालाबको देखकर प्रसन्न होता है वसी प्रकार भगवान्‌के उत्कृष्ट रूपको देखकर मैं अतिशय प्रसन्न हुआ था और इसी कारण मुझे जातिस्मरण हो गया था जिससे मैंने भगवान्‌का अभिप्राय जान लिया था ॥१३०-१३१॥ पूर्वभयमें जब भगवान्‌ वज्रजंघकी पर्यायमें थे तब विदेह-क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें मैं इनकी श्रीमती नामकी प्रिय स्त्री हुआ था ॥१३२॥ उस समय वज्रजंघकी पर्यायको धारण करनेवाले इन भगवान्‌के साथ-साथ मैंने दो चारणमुनियोंके लिए दान दिया था ॥ १३३ ॥ अतिशय विशुद्ध, दोषरहित और प्रसिद्धिका कारण ऐसा महादान देना और काश्य करना ये दोनों ही वस्तुएँ बड़े पुण्यसे प्राप्त होती हैं ॥१३४॥ हे भरत-क्षेत्रके स्वामी भरत महाराज, दानकी विशुद्धिका कुछ थोड़ा-सा वर्णन आप भी सुनिए-स्व और परके उपकारके लिए भक्त-वचन-कायकी विशुद्धतापूर्वक जो अपना धन दिया जाता है उसे दान कहते हैं ॥१३५॥ दान देनेवाले (दाता) की विशुद्धता दानमें दी जानेवाली वस्तु तथा दान लेनेवाले पात्रको पवित्र करती है । दी जानेवाली वस्तुकी पवित्रता देनेवाले और लेनेवालेको पवित्र करती है और इसी प्रकार लेनेवालेकी विशुद्धि देनेवाले पुरुषको तथा दी जानेवाली वस्तुको पवित्र करती है इसलिए जो दान नौ प्रकारकी विशुद्धतापूर्वक दिया जाता है वही अनेक फल देनेवाला होता है । भावार्थ-दान देनेमें दाता, देय और पात्रकी शुद्धिका होना आवश्यक है ॥१३६-१३७॥ पुण्य प्राप्तिके कारण स्वरूप, श्रद्धा आदि गुणोंसे सहित पुरुष दाता कहलाता है और आहार, ओषधि, शास्त्र तथा अभयसे चार प्रकारकी वस्तुएँ देय कहलाती हैं ॥१३८॥ जो रागादि दोषोंसे लुआ भी नहीं गया हो और जो अनेक गुणोंसे सहित हो ऐसा पुरुष पात्र कहलाता है, वह पात्र जघन्य, मध्यम और उत्तमके भेदसे तीन प्रकारका होता है । हे राजन्, यह सब मैंने पूर्वभयके स्मरणसे जाना है ॥१३९॥ जो पुरुष मिथ्यावृष्टि है परन्तु मन्दकपाय होनेसे व्रत, शील आदिका पालन करता है वह जघन्य पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदिकी भावनासे रहित सम्यग्दृष्टि है वह मध्यम पात्र कहा जाता है ॥१४०॥ जो व्रत, शील आदिसे सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदि

१. भगवतः संबन्धि । २. अनन्तरम् । ३. जातिस्मरणेन । ४. जानामि मम । ५. काचिद् दानस्य संशुद्धिः अ० । काचिद् दानस्य संशुद्धिम् ल० । ६. स्वपरोपकाराय । ७. धनस्य । ८. त्यागः । ९. मनोवाक्काय-शुद्धिमतः । १०. नवसंख्या । ११. भेदैरिदमुपैषिषान् ल०, अ०, म० । १२. प्राप्तम् । १३. अपात्रमित्यर्थः ।

कुमानु^१ पश्वमाप्नोति जम्बुद्वीपपात्रके । अशोधितमिवालायु तद्धि दानं^२ प्रदूषयेत् ॥१४२॥
 आमपात्रे यथाक्षिप्तं^३ मल्लु^४ क्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि^५ एवं तच्च^६ माशयेत् ॥१४३॥
 पात्रं तत्पात्रं^७ वज्रजेयं विष्णुद्विगुणधारणात् । यानपात्रमिवाभीष्टदेशं^८ संप्रापकं च यत् ॥१४४॥
 न हि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत् परम् । तथा कर्मसराक्रान्तो दोषवान्नैव तारकः ॥१४५॥
 ततः परमनिर्वाणसाधनं रूपमुद्बहन् । कायस्थित्यर्थमाहारमिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥१४६॥
 न वाष्पन् बलमायुर्वा स्वादं^९ वा वेहपोषणम् । केषलं प्राणधृश्यर्थं संतुष्टो मासमात्रया ॥१४७॥
 पात्रं सवेदं गुणैरेभिर्मुनिः स्वपरतारकः । तस्मै दत्तं पुनर्यत्नमपुनर्जन्मकारणम् ॥१४८॥
^{१०}तदुदाहरणं दृष्टं^{११} मिदमेव महोदयम् । मण्डले दानगुण्यस्तत्पत्न्या^{१२} तदर्थमिदमिदम् ॥१४९॥
^{१३}ततो भरतं^{१४} राजर्षे दानं देयमनुत्तरम् । प्रसरिष्यन्ति^{१५} पात्राणि भगवत्तीर्थसंनिधौ ॥१५०॥
 तेभ्यः श्रेयान्^{१६} यथाचक्यो^{१७} स्व^{१८} मर्तृभयविस्तरम् । ततः सद्यस्या^{१९} स्ते सर्वे सदानरुचयोऽभवन् ॥१५१॥

से रहित मिथ्यादृष्टि है वह पात्रनहीं माना गया है अर्थात् अपात्र है ॥१४१॥ जो मनुष्य अपात्र-
 के लिए दान देता है वह कुमनुष्य योनि (कुभोगभूमि) में उत्पन्न होता है क्योंकि जिस प्रकार
 बिना शुद्धि की हुई तूँबी अपनेमें रखे हुए दूध आदिको दूषित कर देती है उसी प्रकार अपात्र
 अपने लिए दिये हुए दानको दूषित कर देता है ॥१४२॥ जिस प्रकार कच्चे वरतनमें रखा
 हुआ ईखका रस अथवा दूध स्वयं नष्ट हो जाता है और उस वरतनको भी नष्ट कर देता है उसी
 प्रकार अपात्रके लिए दिया हुआ दान स्वयं नष्ट हो जाता है—व्यर्थ जाता है और लेनेवाले
 पात्रको भी नष्ट कर देता है—अहंकारादिसे युक्त बनाकर विषय-यासनाओंमें फँसा देता
 है ॥१४३॥ जो अनेक विशुद्ध गुणोंको धारण करनेसे पात्रके समान हो वही पात्र कहलाता है ।
 इसी प्रकार जो जहाजके समान इष्ट स्थानमें पहुँचानेवाला हो वही पात्र कहलाता है ॥१४४॥
 जिस प्रकार लोहेकी बनी हुई नाव समुद्रसे दूसरेको पार नहीं कर सकती (और न स्वयं ही पार
 हो सकती है) इसी प्रकार कर्मोंके भारसे दबा हुआ दोषवान् पात्र किसीको संसार-समुद्रसे पार
 नहीं कर सकता (और न स्वयं ही पार हो सकता है) ॥१४५॥ इसलिये, जो मोक्षके साधन-
 स्वरूप दिगम्बर वेषको धारण करते हैं, जो शरीरकी स्थिति और ज्ञानादि गुणोंकी सिद्धिके
 लिए आहारकी इच्छा करते हैं, जो बल, आयु, स्वाद अथवा शरीरको पुष्ट करनेकी इच्छा नहीं
 करते, जो केवल प्राणधारण करनेके लिए थोड़े-से मांसोंसे ही संतुष्ट हो जाते हैं, और जो निज
 तथा परको तारनेवाले हैं ऐसे ऊपर लिखे हुए गुणोंसे सहित मुनिराज ही पात्र हो सकते हैं उनके
 लिए दिया हुआ आहार अपुनर्भव अर्थात् मोक्षका कारण है ॥१४६-१४८॥ दानरूपी पुण्यके
 माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए सबसे बड़ा और पुष्ट उदाहरण यही है कि मैंने दानके
 माहात्म्यसे ही पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये हैं ॥१४९॥ इसलिये हे राजर्षि भरत, हम सबको
 उत्तम दान देना चाहिए । अब भगवान् वृषभदेवके तीर्थके समय सब जगह पात्र फैल जायेंगे ।
 भावार्थ—भगवान्के सदुपदेशसे अनेक मनुष्य मुनिव्रत धारण करेंगे, उन सभीके लिए हमें आहार
 आदि दान देना चाहिए ॥१५०॥ राजकुमार श्रेयान्सने उन सब सदस्योंके लिए अपने स्वामी
 भगवान् वृषभदेवके पूर्वभव विस्तरके साथ कहे जिससे उन सबके उत्तम दान देनेमें रुचि उत्पन्न

१. कुभोगभूमिमनुष्यत्वम् । २. दुष्टो भवति । ३. सपदि । ४. दत्तद्रव्यम् । ५. पात्रमपि । ६. भाजन-
 वत् । ७. देशसं- ब०, प० । ८. वधिम् । ९. पवित्रयति । १०. ननूदाहरणं अ०, प०, द०, ल० । ११. परि-
 पूर्णम् । १२. पञ्चाश्चर्यं मयापि यत् अ०, प०, ल०, द० । १३. ततः कारणात् । १४. भो भरतराज ।
 १५. प्रसृतानि भविष्यन्ति । १६. यानवाचक्यो ल० । १७. स्ववच मर्ता च स्वमर्तारौ तयोर्भवविस्तरस्तम् ।
 १८. सम्पाः ।

इति प्रह्लादिनीं वाचं तस्य पुण्यानुबन्धिनीम् । ह्यथुषान् भरताधीशः परी प्रीतिमवाप सः ॥१५२॥
 प्रीतः संपूज्य तं भूयः^१ परं^२ सौहार्दमुद्वहन् । गुरोर्गुणाननुभवायन् प्रत्यगात् स स्वमालयम् ॥१५३॥
 भगवानथ संजात^३ बलश्रीर्यो महाधृतिः । भजे परं तपोयोगं योगविज्ञेन^४ कश्चितम् ॥१५४॥
 मोहाश्रयतमसध्वंसकल्पा^५ सम्मार्गदक्षिणी । दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा क्रोधदीपिका ॥१५५॥
 गुणान् गुणास्थया^६ पश्येद्दोषान् दोषधियापि यः । द्वेषोपादेयवित् स स्यात् क्वाञ्चस्य गतिरीदृशी ॥१५६॥
 ततस्तत्त्वपरिज्ञानात् गुणगुणविभागवित् । गुणेष्वसजति^७ समासौ हित्वा दोषानक्षेपतः ॥१५७॥
 सावयविर^८ ति कृत्स्नामूरी^९ कृत्य प्रबुद्धधीः । तद्भेदान् पालयामास व्रतसंज्ञाविशेषिताम् ॥१५८॥
 दयाङ्गनापरिष्वङ्गः^{१०} सत्ये नित्यानुरक्ता । अस्तेयव्रततत्पर्यं ब्रह्मचर्यकृतानला^{११} ॥१५९॥
 परिग्रहेष्वना^{१२} संगो त्रिकाला^{१३} कानवर्जनम् । व्रतान्यमूनि तस्मिन्^{१४} मात्रयामास भावनाः । १६०॥
 मनोगुप्तिर्व्योगुप्तिरीया^{१५} कायनियन्त्रणे । विष्वाणसमितिश्चेति प्रथमव्रतभावनाः ॥१६१॥

हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार आनन्द उत्पन्न करनेवाले और पुण्य बढ़ानेवाले श्रेयाम्सके ध्यान सुनकर भरत महाराज परमप्रीतिको प्राप्त हुए ॥१५२॥ अतिशय प्रसन्न हुए महाराज भरतने राजा सोमप्रभ और श्रेयाम्सकुमारका खूब सम्मान किया, उनपर बड़ा स्नेह प्रकट किया और फिर गुरुदेव-वृषभनाथके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपने घरके लिए वापिस गये ॥१५३॥

अथानन्तर आहार ग्रहण करनेसे जिनके बल और वीर्यकी उत्पत्ति हुई है जो महा धीर-वीर और योगविद्याके जाननेवाले हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए उत्कृष्ट तपोयोगको धारण करने लगे ॥१५४॥ इनके मनरूपी मन्दिरमें मोहरूपी सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला, समीचीन मार्ग दिखलानेवाला और अतिशय देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान हो रहा था ॥१५५॥ जो पुरुष गुणोंको गुण-बुद्धिसे और दोषोंको दोष-बुद्धिसे देखता है अर्थात् गुणोंको गुण और दोषोंको दोष समझता है वही द्वेष (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुओंका जानकार हो सकता है। अज्ञानी पुरुषकी ऐसी अवस्था कहाँ हो सकती है ? ॥१५६॥ वे भगवान् तत्त्वोंका ठीक-ठीक परिज्ञान होनेसे गुण और दोषोंके विभागको अच्छी तरह जानते थे इसलिए वे दोषोंको पूर्ण रूपसे छोड़कर केवल गुणोंमें ही आसक्त रहते थे ॥१५७॥

अतिशय बुद्धिमान् भगवान् वृषभदेवने पावरूपी योगोंसे पूर्ण विरक्ति धारण की थी तथा उसके भेद जो कि व्रत कहलाते हैं उनका भी वे पालन करते थे ॥१५८॥ दयारूपी स्त्रीका आलिंगन करना, सत्यव्रतमें सदा अनुरक्त रहना, अचर्यव्रतमें तत्पर रहना, ब्रह्मचर्यको ही अपना सर्वस्व समझना, परिग्रहमें आसक्त नहीं होना और असमयमें भोजनका परित्याग करना; भगवान् इन व्रतोंको धारण करते थे और उनकी सिद्धिके लिए निरन्तर नीचे लिखी हुई भावनाओंका चिन्तन करते थे ॥१५९-१६०॥ मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, कायनियन्त्रण अर्थात् देखभाल कर किसी वस्तुका रखना-उठाना और विष्वाणसमिति अर्थात् आलोकितपानभोजन ये पाँच प्रथम-अहिंसा, व्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६१॥ क्रोध

१. भूयः ल० । २. सुहृदयस्वम् । ३. आहारजनिता शक्तिः । ४. जिनानां संबन्धि कल्पः जिनकल्प-
 स्तत्र भवम् । ५. सन्नद्धा । 'कल्पा सञ्जा निरामया' इत्यभिधानात् । ६. गुणबुद्ध्या । ७. आसक्तो भवति
 स्म । ८. निवृत्तिम् । ९. अंगीकृत्य । १०. सावयविरतिभेदान् । ११. आलिङ्गनम् । १२. अनन्यवृत्तिता ।
 'एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकार्थकायनावपि' इत्यभिधानात् । १३. अनासक्तिः । १४. रात्रिभोजनम् । १५. व्रत-
 सिद्धयर्थम् । १६. ईर्यासमितिः कायगुप्तिरित्यर्थः । १७. एषणासमितिः ।

क्रोधलोभमदयाया हास्यासंगं विसर्जनम् । सूत्रानुगा^१ च वाणीति द्वितीयव्रतभावनाः ॥१६२॥

^३मितोचिता^२ भ्यनु^४ ज्ञातग्रहणान्ध^५ ग्रहोऽन्यथा^६ । संतोषो भक्त्याने च तृतीयव्रतभावनाः ॥१६३॥

सौ^७ कथालोकसंसर्गप्राप्तस्मृतयोजनाः । वज्रा^८ वृष्य^९ रसेनामा चतुर्थव्रतभावनाः ॥१६४॥

बाह्याभ्यन्तरभेदेषु सचित्तचित्तवस्तुषु । इन्द्रियार्थेष्वना^{१०}संगो^{११} नैस्संगव्रतभावनाः ॥१६५॥

धृतिमत्ता^{१२} क्षमावत्ता^{१३} ध्यानयोगैकतानता । परीषद्भिरभङ्गश्च प्रतानो भावनोत्तरा ॥१६६॥

भावनासंस्कृतान्येषं व्रतान्ययमपालयत् । क्षालने^{१४} स्वागतां सर्वप्रजानामनुपालकः ॥१६७॥

^{१५}समातृकापदान्येषं सहोत्तरपदानि^{१६} च । व्रतानि भावनावानि मनीषिभिरसन्निवृत्तम् ॥१६८॥

यानि कान्यपि शक्यानि गङ्गितानि जिनागमे । व्युत्सृज्य तानि सर्वाणि निःशब्दो^{१७} विहरेन्मुनिः ॥१६९॥

इति^{१८} स्थविरकल्पोऽयं जिनकल्पेऽपि योजितः । यथागममि^{१९}न्द्रोत्पि^{२०} जैनः^{२१} कश्चोऽनुगम्य^{२२} तान् ॥१७०॥

लोभ, भय और हास्यका परित्याग करना तथा शास्त्रके अनुसार वचन कहना ये पाँच द्वितीय सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६२॥ परिमित-थोड़ा आहार लेना, तपश्चरणके योग्य आहार लेना, श्रावकके प्रार्थना करनेपर आहार लेना, योग्यविधिके विरुद्ध आहार नहीं लेना तथा प्राप्त हुए भोजन-पानमें सन्तोष रखना ये पाँच तृतीय अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६३॥ स्त्रियोंकी कथाका त्याग, उनके सुन्दर अंगोपांगोंके देखनेका त्याग, उनके साथ रहनेका त्याग, पहले भोगे हुए भोगोंके स्मरणका त्याग और गरिष्ठ रसका त्याग इस प्रकार ये पाँच चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६४॥ जिनके बाह्य आभ्यन्तर इस प्रकार दो भेद हैं ऐसे पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत सचित्त अचित्त पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग करना सो पाँचवें परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥१६५॥ धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करनेमें निरन्तर तत्पर रहना और परीषद्भोंके आनेपर मार्गसे व्युत्त नहीं होना ये चार उक्त व्रतोंकी उत्तर भावनाएँ हैं ॥१६६॥ समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् वृषभदेव अपने पापोंको नष्ट करनेके लिए ऊपर लिखी हुई भावनाओंसे सुसंस्कृत (शुद्ध) ऐसे व्रतोंका पालन करते थे ॥१६७॥ इसी प्रकार अन्य बुद्धिमान् मनुष्योंको भी आलस्य छोड़कर मातृकापद अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त तथा चौरासी लाख उत्तरगुणोंसे सहित अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतोंका पालन करना चाहिए ॥१६८॥ इसी प्रकार जैनशास्त्रोंमें जो निन्दनीय माया मिथ्यात्व और निदान ऐसी तीन शल्य कहीं हैं उन सबको छोड़कर और निःशल्य होकर ही मुनियोंको विहार करना चाहिए ॥१६९॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए व्रतोंका पालन करना स्थविर कल्प है, इसे जिनकल्पमें भी लगा लेना चाहिए । आगमानुसार स्थविर कल्प धारण कर जिनकल्प धारण करना चाहिए । भावार्थ-ऊपर कहे हुए व्रतोंका पालन करते हुए मुनियोंके साथ रहना, उपदेश देना, नवीन शिष्योंको दीक्षा देना आदि स्थविरकल्प कहलाता है और व्रतोंका पालन करते हुए अकेले रहना, हमेशा आत्मचिन्तनमें ही लगे रहना जिनकल्प कहलाता

१. हास्यस्यासक्तेस्त्यागः । -विषर्जनम् अ०, प०, ६०, ल० । २. परमागमानुगता वाक् । ३. परिमित । ४. स्वयंयोग्य । ५. दायनुमतिप्राप्ति । ६. अस्वीकारः । ७. उक्तप्रकारादितरप्रकारेण । ८. स्त्रीकथा-लापतन्मनोहराद्गुणनिरोक्षणतस्संगपूर्वव्रतानुस्मरणयोजनाः । ९. त्याज्याः । १०. वीर्यवर्धनकरक्षीरादिरसेन सह । ११. अनासक्तिः । १२. निःपरिग्रहव्रत । १३. धैर्यवत्त्वम् । १४. ध्यानयोजनानन्यवृत्तिता । १५. प्रक्षालननिमित्तम् । १६. निजकर्मणाम् । १७. अष्टप्रवचनमातृकापदसहितानि । पञ्चसमितित्रिगुप्तीनां प्रवचनमातृकेति संज्ञा । १८. उत्तरगुणसहितानि । षट्षिण्दगुणयुक्तानीत्यर्थः । १९. आचरेत् । २०. सकलज्ञानिरहितकालः । २१. स्थविरकल्पे । २२. संगृह्य । -मिहोपेत्य ल० । २३. जिनकल्पः । जिनकल्पो-ल०, अ०, प० । २४. अनुज्ञायताम् ।

अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामाधिक्ये । चरन्त्येकयमे प्रायश्चतुर्ज्ञानविलोचनाः ॥१७१॥
 छेदोपस्थापनाभेदप्रपञ्चोऽन्योन्ययोगिनाम् । दशितरतैर्यथाकालं बलाद्युज्ञानवीक्षया ॥१७२॥
 ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवीर्यविशेषितम् । चारित्र्यं संयमं दानं पञ्चधोक्तं जिनाधिपैः ॥१७३॥
 ततः संयमसिद्धयर्थं स तपो द्वादशात्मकम् । ज्ञानधैर्यमकोपलक्ष्यचार परमः पुमान् ॥१७४॥
 ततोऽनशनमस्युग्रं तेषु दीप्ततया मुनिः । अवभोदयमप्येकसि कथार्द्रास्याचरत्तपः ॥१७५॥
 कदाचित् धृत्तिसंख्यानं तपोऽतल स दुर्दरम् । वीधीचर्याद्यो यस्य विशेषा बहुभेदकाः ॥१७६॥
 रसत्यागं तपो घोरं तेषु नित्यमतमिद्वतः । क्षीरसर्पिर्गुडादीनि परित्यज्याग्रिमः पुमान् ॥१७७॥
 श्रिपु कालेषु योगी सखसौ कामप्रचिक्षिप्तम् । कायस्य निग्रहं प्राहुः तपः परमदुश्चरम् ॥१७८॥
 निगृहीतशरीरेण निगृहीतान्वसंश्रयम् । चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्धं मनो भवेत् ॥१७९॥
 मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्म क्षयसाधनम् । ततोऽनन्तसुखावाप्तिः ततः कायं प्रकर्शयेत् ॥१८०॥

है। तीर्थंकर भगवान् जिनकल्पी होते हैं और यही वास्तवमें उपादेय हैं। साधारण मुनियोंको यद्यपि प्रारम्भ अवस्थामें स्थविरकल्पी होना पड़ता है परन्तु उन्हें भी अन्तमें जिनकल्पी होनेके लिए उद्योग करते रहना चाहिये ॥१७२॥ मति, श्रुत, अधधि और मनःपर्यय इस प्रकार चार ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले तीर्थंकर परमदेव प्रायः प्रतिक्रमणरहित एक सामा-यिक नामके चारित्र्यमें ही रत रहते हैं। भावार्थ-तीर्थंकर भगवान्के किसी प्रकारका दोष नहीं लगता इसलिए उन्हें प्रतिक्रमण-छेदोपस्थापना चारित्र्य धारण करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे केवल सामायिक चारित्र्य ही धारण करते हैं ॥१७३॥ परन्तु उन्हीं तीर्थंकर देखने बल, आयु और ज्ञानकी हीनाधिकता देखकर अन्य साधारण मुनियोंके लिए यथाकाल छेदोपस्थापना चारित्र्यके अनेक भेद दिखलाये हैं-उनका निरूपण किया है ॥१७४॥ ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और वीर्यकी विशेषतासे संयमकी रक्षा करनेवाला चारित्र्य भी जिनेन्द्र-देवने पाँच प्रकारका कहा है। भावार्थ-चारित्र्यके पाँच भेद हैं-१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्र्याचार, ४ तपआचार और ५ वीर्याचार ॥१७५॥ तदनन्तर ज्ञान, धैर्य और बलसे सहित परम पुरुष-भगवान् वृषभदेवने संयमकी सिद्धिके लिए बारह प्रकारका तपश्चरण किया था ॥१७६॥ अतिशय उग्र तपश्चरणको धारण करनेवाले वे वृषभदेव मुनिराज अनशन नामका अत्यन्त कठिन तप तपते थे और एक सीध (कण) आदिका नियम लेकर अवमौदर्य (उत्तोदर) नामक तपश्चरण करते थे ॥१७७॥ वे भगवान् कभी अत्यन्त कठिन वृत्तिपरि-संख्यान नामका तप तपते थे जिसके कि वीथी, चर्या आदि अनेक भेद हैं ॥१७८॥ इसके सिवाय वे आदिपुरुष आलस्यरहित हो दूध, धी, गुड़ आदि रसोंका परित्याग कर नित्य ही रस-परित्याग नामका घोर तपश्चरण करते थे ॥१७९॥ वे योगिराज वर्षा, शीत और ग्रीष्म इस प्रकार तीनों कालोंमें शरीरको क्लेश देते थे अर्थात् कायक्लेश नामका तप तपते थे। वास्तवमें गणधर देवने शरीरके निग्रह करने अर्थात् कायक्लेश करनेको ही उत्कृष्ट और कठिन तप कहा है ॥१८०॥ क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि शरीरका निग्रह होनेसे चक्षु आदि सभी इन्द्रियोंका निग्रह हो जाता है और इन्द्रियोंका निग्रह होनेसे मनका निरोध हो जाता है अर्थात्

१. नियमरहिते । २. एकग्रते । ३. चतुर्ज्ञानधरजिनादन्ययोगिनाम् । ४. चतुर्ज्ञानधरजैः ।
 ५. आलोकनेन । ६. संयमरक्षणम् । ७. मनोबलम् । ८. सिक्वादीन्या-प०, अ०, द० । ९. हेमन्तग्रीष्मप्रावृ-
 ष्णकालेषु । १०. 'विलशि मलेक्षे' उत्तममकरोत् । ११. निगृहीतशरीरेण पुरुषेण । १२. कर्मक्षयहेतुम् ।
 १३. कर्मक्षयात् । १४. तस्मात् कारणात् । १५. प्रकर्षेण कुशोक्तुर्मात् ।

गर्भात् प्रभृत्यर्सा देवो ज्ञानव्रित्तयमुद्वहन् । दीक्षानन्तरमेवासमनःपर्ययबोधनः ॥१८१॥

तथाप्युग्रं तपोऽतस्तु सेद्वर्षे^१ ध्रुवमाविनि^२ ।^३ स ज्ञानलोचनो धीरः सहस्रं^४ वार्षिकं परम् ॥१८२॥

तेनाभीष्टं मुनीन्द्राणां कायक्लेशाह्वयं तपः । तपोऽङ्गेषु प्रधानाङ्गमुत्तमाङ्गमिवाङ्गिनाम् ॥१८३॥

तत्तदात्मसंयोगीन्द्रः सोढाशेषपरीषदः । तपस्सुदुस्सहतरं परं निर्वाणसाधनम् ॥१८४॥

कर्मन्धनानि निर्दग्धुमुद्यतः स तपोऽग्निना । दिदीपे नितरां धीरः^५ प्रज्वलन्निव पावकः ॥१८५॥

असंख्यातगुणश्रेण्या^६ ध्रुवन् कर्मतमोवनम् । तपोदीप्यतिदीप्ताङ्गः सौऽशुमानिव दिद्युते ॥१८६॥

शय्यास्य विजने देशे जागरुकस्म^७ योगिनः । कदाचिदासनं चासीच्छुचौ निर्जन्तुकान्तरे^८ ॥१८७॥

न शिष्ये जागरुकांऽसीं भासीतश्चाभवद्भृशम् । प्रयत्नां विजहारोषीं^९ व्यक्तभुषितजितेन्द्रियः ॥१८८॥

संकल्प-विकल्प दूर होकर चित्त स्थित हो जाता है । मनका निरोध हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेका साधन है और समस्त कर्मोंका क्षय हो जानेसे अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है इसलिए शरीरको कृश करना चाहिए ॥१८१-१८७॥ यद्यपि वे भगवान् वृषभदेव मति, श्रुत-अवधि और मनःपर्यय इन तीन ज्ञानोंको गर्भसे ही धारण करते थे और मनःपर्यय ज्ञान उन्हें दीक्षाके बाद ही प्राप्त हो गया था इसके सिवाय सिद्धत्व पद उन्हें अवश्य ही प्राप्त होनेवाला था तथापि सन्यस्तज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करने-वाले धीर-वीर भगवान्ने हजार वर्ष तक अतिशय उत्कृष्ट और उग्र तप तपा था इससे मालूम होता है कि महामुनियोंको कायक्लेश नामका तप अतिशय अभीष्ट है-उमे वे अवश्य करते हैं । जिस प्रकार प्राणियोंके शरीरमें मस्तक प्रधान होता है उसी प्रकार कायक्लेश नामका तप समस्त बाह्य तपश्चरणोंमें प्रधान होता है ॥१८१-१८३॥ इसीलिए उस समय समस्त परीषद्को सहन करनेवाले योगिराज भगवान् वृषभदेव मोक्षका उत्तम साधन और अतिशय कठिन कायक्लेश नामका तप तपते थे ॥१८४॥ तपरूपी अग्निसे कर्मरूपी इन्धनको जलानेके लिए तैयार हुए वे धीर-वीर भगवान् प्रज्वलित हुई अग्निके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१८५॥ उस समय वे असंख्यात गुणश्रेणी निर्जराके द्वारा कर्मरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर रहे थे और उनका शरीर तपश्चरणको कान्तिसे अतिशय देदीप्यमान हो रहा था इसलिए वे ठीक सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१८६॥ सदा जागृत रहनेवाले इन योगिराजको शय्या निर्जन एकान्त स्थानमें ही होती थी और जब कभी आसन भी पवित्र तथा निर्जीव स्थानमें ही होता था । सदा जागृत रहनेवाले और इन्द्रियोंको जीतनेवाले वे भगवान् न तो कभी सोते थे और न एक स्थानपर बहुत बैठते ही थे किन्तु भोगोपभोगका त्याग कर प्रयत्नपूर्वक अर्थात् ईर्यासमितिका पालन करते हुए समस्त पृथिवीमें विहार करते रहते थे । भावार्थ-भगवान् सदा जागृत रहते थे इसलिए उन्हें शय्याकी नित्य आवश्यकता नहीं पड़ती थी परन्तु जब कभी विश्रामके लिए लेटते भी थे तो किसी पवित्र और एकान्त स्थानमें ही शय्या लगाते थे । इसी प्रकार विहारके अतिरिक्त ध्यान आदिके समय एकान्त और पवित्र स्थानमें ही आसन लगाते थे । कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् विविक्तशय्यासन नामका तपश्चरण करते थे

१. स्वयं साध्ये सति । साधितुं योग्ये । सिद्धत्वे ५०, ल०, द०, म० । २. नित्ये । निमित्तसम्पत्तौ ।

३. सज्ज्ञान-ल०, म० । ४. वर्षसंबन्धि । ५. तेन कारणेन । ६. कायक्लेशम् । ७. वीरः इ० । ८. प्रति-समयसंख्यातगुणितक्रमेण कर्मणां निर्जरागुणधेयिस्तया । ९. जागरणशौलस्य । १०. अवकाशे । ११. 'व्यक्तभुषित-जितेन्द्रियः' इत्येति कश्चित् पाठः ।

इति बाह्यं तपः षोडश तप्तं परमदुश्चरम् । आभ्यन्तरं च षड्भेदं तपो भेजे स योगिराट् ॥१८९॥
 प्रायश्चित्तं तपस्तस्मिन् मुनी निरतिचारके । चरितार्थमभूत् किं नु मानारस्यान्तरं^१ तमः ॥१९०॥
 प्रभयश्च^२ तद्वास्यासीत् प्रभितोऽन्तर्निर्लीनताम् । विनेता^३ विनयं कस्य स कुर्यादग्रिमः पुमान् ॥१९१॥
 अथवा प्रश्रयो सिद्धानसौ भेजे सिधिरसया^४ । नमः सिद्धेभ्य इत्येव यतो दीक्षामुपायत्^५ ॥१९२॥
 ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोर्वीर्यगुणेषु च । यथाहं विनयोऽस्यासौद् यत्तमानस्य^६ तपवतः ॥१९३॥
 वैयाघ्रार्थं च तस्यासी^७ म्भार्गव्यावृत्ति^८ मात्रकम् । भगवान् परमेष्ठी^९ हि क्वान्यत्र व्यावृत्तो^{१०} भवेत् ॥१९४॥
 इदमत्र तु तात्पर्यं प्रायश्चित्तादिकं त्रये । तपस्यस्मिन्नियमसुखं^{११} न नियम्य^{१२} स्वामीशिनुः ॥१९५॥

॥१८७-१८८॥ इस प्रकार वे योगिराज अतिशय कठिन छह प्रकारके बाह्य तपश्चरणका पालन करते हुए आगे कहे जानेवाले छह प्रकारके अन्तरंग तपका भी पालन करते थे ॥१८९॥ निर-
 तिचार प्रवृत्ति करनेवाले मुनिराज वृषभदेवमें प्रायश्चित्त नामका तप चरितार्थ अर्थात्
 कृतकार्य हो चुका था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यके बीचमें भी क्या कभी अन्धकार रहता है ?
 अर्थात् कभी नहीं । भावार्थ—अतिचार लग जानेपर उसकी शुद्धता करना प्रायश्चित्त कहलाता
 है । भगवान् के कभी कोई अतिचार लगता ही नहीं था अर्थात् उनका चारित्र सदा निर्मल
 रहता था इसलिए यथार्थमें उनके निर्मल चारित्रमें ही प्रायश्चित्त तप कृतकृत्य हो चुका था ।
 जिस प्रकार कि सूर्यका काम अन्धकारको नष्ट करना है जहाँ अन्धकार होता है वहाँ सूर्यको
 अपना प्रकाश-पुञ्ज फैलानेकी आवश्यकता होती है परन्तु सूर्यके बीचमें अन्धकार नहीं होता
 इसलिए सूर्य अपने विषयमें चरितार्थ अथवा कृतकृत्य होता है ॥१९०॥

इसी प्रकार इनका विनय नामका तप भी अन्तर्निर्लीनताको प्राप्त हुआ था अर्थात्
 उन्हींमें अन्तर्भूत हो गया था क्योंकि वे प्रधान पुरुष सचको नम्र करनेवाले थे फिर भला वे
 किसकी विनय करते ? अथवा उन्होंने सिद्ध होनेकी इच्छासे विनयी होकर सिद्ध भगवान् की
 आराधना की थी क्योंकि 'सिद्धोंके लिए नमस्कार हो' ऐसा कहकर ही उन्होंने दीक्षा धारण
 की थी । अथवा यथार्थ प्रवृत्ति करनेवाले भगवान् की ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्य आदि
 गुणोंमें यथायोग्य विनय थी इसलिए उनके विनय नामका तप सिद्ध हुआ था ॥१९१-१९३॥
 रत्नत्रय रूप मार्गमें व्यापार करना ही उनका वैयावृत्य तप कहलाता था क्योंकि वे परमेष्ठी
 भगवान् रत्नत्रयको छोड़कर और किसमें व्यावृत्ति (व्यापार) करते ? भावार्थ—दीन-दुःखी
 जीवोंकी सेवामें व्यावृत्त रहनेको वैयावृत्य कहते हैं परन्तु यह शुभ कषायका तीव्र उदय होते ही
 हो सकता है । भगवान् की शुभकषाय भी अतिशय मन्द हो गयी थी इसलिए उनकी प्रवृत्ति
 बाह्य व्यापारसे हटकर रत्नत्रय रूप मार्गमें ही रहती थी । अतः उसीकी अपेक्षा उनके वैया-
 वृत्य तप सिद्ध हुआ था ॥१९४॥ यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वामी वृषभदेवके इन प्रायश्चित्त,
 विनय और वैयावृत्य नामक तीन तपोंके विषयमें केवल नियन्तापन ही था अर्थात् वे इनका
 दूसरोंके लिए उपदेश देते थे, स्वयं किसीके नियम्य नहीं थे अर्थात् दूसरोंसे उपदेश ग्रहण कर
 इनका पालन नहीं करते थे । भावार्थ—भगवान् इन तीनों तपोंके स्वामी थे न कि अन्य मुनियोंके

१. कृतार्थम् । २. रस्यन्तरं इ० । ३. विनयः । ४. जनान् विनयवतः कुर्वन्नित्यर्थः । ५. सेद्वृत्तिश्चया ।

६. 'अयि गतो' इति धातुः, उपागमत् स्वीकृतवानित्यर्थः । ७. प्रयत्नं कुर्यात् । ८. रत्नत्रयव्यापारमात्रकम् ।

९. व्यावृत्ति इ०, स०, प०, ल० । -व्यावृत्ति—अ०, द० । १०. परं पदे तिष्ठतीति । ११. वैयावृत्यकृतः ।

व्यावृत्तो इ०, अ०, प०, स०, ल० । १२. नायकत्वम् । १३. नेयरवम् ।

यावान् धर्मस्यः सर्गस्त^१ कृत्स्नं स^२ सनातनः । दुर्गादीं प्रपद्यमानं स्वामुपशान्तिर्देवैः^३ ॥१९६॥
 स्वधीतिनोऽपि तस्यासीत् स्वाध्यायः शुद्धये धियः । सौधाध्यायिकतां प्रापन् यतोऽष्टवेऽपि संयताः ॥
 न बाह्याभ्यन्तरे चारिमन् तपसि द्वादशात्मनि^४ । न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन समं तपः ॥१९८॥
 स्वाध्यायेऽभिरतो सिद्धुर्निभृतः संवृतेन्द्रियः । मयेवेकाग्रधीर्धीमान् विनयेन समाहितः ॥१९९॥
 विविक्तेषु वनासाद्रिकुञ्जप्रेतवनादिषु । मुहुर्भुङ्क्षुष्टकायस्य व्युत्सर्गस्यमभूत्तपः ॥२००॥
 देहाद् विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः । व्युत्सर्गं स तपो भजे स्वस्मिन् गात्रेऽपि निरुद्धः ॥२०१॥
 ततो व्युत्सर्गपूर्वोऽस्य ध्यानयोगोऽभवद् विभोः । मुनिर्भुङ्क्षुष्टकायो हि स्वामी सङ्गानसंपदः ॥२०२॥
 ध्यानाध्यासं ततः^५ कुर्वन् योगी मुनिवृत्तो मवेत्^६ । शेषः^७ परिकरः सर्वो ध्यानमेवोत्तमं तपः ॥२०३॥

समान पालन करते हुए इनके अधीन रहते थे ॥१९५॥ इस संसारमें जो कुछ धर्म-सृष्टि थी सनातन भगवान् वृषभदेवने वह सब उदाहरणस्वरूप स्वयं धारण कर इस युगके आदिमें प्रसिद्ध की थी । भावार्थ—भगवान् धार्मिक कार्योंका स्वयं पालन करके ही दूसरोंके लिए उपदेश देते थे ॥१९६॥ यद्यपि भगवान् स्वयं अनेक शास्त्रों (द्वादशाङ्ग) के जाननेवाले थे तथापि वे बुद्धिकी शुद्धिके लिए निरन्तर स्वाध्याय करते थे क्योंकि इन्हींका स्वाध्याय देखकर मुनि लोग आज भी स्वाध्याय करते हैं । भावार्थ—यद्यपि उनके लिए स्वाध्याय करना अत्यावश्यक नहीं था क्योंकि वे स्वाध्यायके बिना भी द्वादशाङ्गके जानकार थे तथापि वे अन्य साधारण मुनियोंके हितके लिए स्वाध्यायकी प्रवृत्ति चलाना चाहते थे इसलिए स्वयं भी स्वाध्याय करते थे । उन्हें स्वाध्याय करते देखकर ही अन्य मुनियोंमें स्वाध्यायकी परिपाटी चली थी जो कि आज-कल् भी प्रचलित है ॥१९७॥ बाह्य और आभ्यन्तर भेदसहित बारह प्रकारके तपश्चरणमें स्वाध्यायके समान दूसरा तप न तो है और न आगे ही होगा ॥१९८॥ क्योंकि विनयसहित स्वाध्यायमें तल्लीन हुआ बुद्धिमान् मुनि मनके संकल्प-विकल्प दूर हो जानेसे निश्चल हो जाता है, उसकी सब इन्द्रियाँ बशीभूत हो जाती हैं और उसकी चित्त-वृत्ति किसी एक पदार्थके चिन्तनमें ही स्थिर हो जाती है । भावार्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनिको ध्यानकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है ॥१९९॥ वनके प्रदेश, पर्वत, लतागृह और श्मशानभूमि आदि एकान्त प्रदेशोंमें शरीरसे ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करनेवाले भगवान्के व्युत्सर्ग नामका पाँचवाँ तपश्चरण भी हुआ था ॥२००॥ वे भगवान् आत्माको शरीरसे भिन्न देखते थे और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंका पालन करते थे । इस प्रकार अपने शरीरमें भी निःस्पृह रहनेवाले भगवान् व्युत्सर्ग नामक तपका अच्छी तरह पालन करते थे ॥२०१॥ तदनन्तर स्वामी वृषभदेवके व्युत्सर्गतपश्चरणपूर्वक ध्यान नामका तप भी हुआ था, सो ठीक ही है शरीरसे ममत्व छोड़ देनेवाला मुनि ही उत्तम ध्यानरूपी सम्पदाका स्वामी होता है ॥२०२॥ योगिराज वृषभदेव ध्यानाध्यासरूप तपश्चरण करते हुए ही कृतकृत्य हुए थे क्योंकि ध्यान ही उत्तम तप कहलाता है उसके सिवाय बाकी सब उसीके साधन मात्र कहलाते हैं । भावार्थ—सबसे उत्तम तप ध्यान ही है क्योंकि कर्मोंकी साक्षात् निर्जरा ध्यानसे ही होती है । शेष बारह प्रकारके तप ध्यानके सहायक कारण हैं ॥२०३॥

१. कृच्छ्रं ल०, म० । २. -निवेदनैः अ०, इ०, स० । ३. मुष्टु अधीतमनेनेति स्वधीती तस्य ।
 ४. स्वाध्यायप्रवृत्ताम् । ५. प्राप्ताः । ६. इदानींस्तनकालेऽपि । ७. द्वादशात्मके ल०, इ०, म०, द०, अ०, प० । ८. भिन्नम् । ९. ध्यानयोजनम् । १०. तपः ल० । ११. मुनिवृत्तोऽभवत् ल०, म०, अ०, म० ।
 मुनिभूतो भवेत् इ० । मुनिभूतोऽभवत् प०, द० । १२. ध्यानाद्यन्यदेकादशविधं तपः ।

गर्भोऽश्रमासकायानां तपनान् मन्त्रिगोपनान् । तपो निरुच्यते तज्जैस्त्रिर्द्विहादशात्मकम् ॥२०४॥
 विपुलां निर्जराभिच्छन् महोदकं च संवरम् । यगते स्म तपस्यस्मिन् द्विपञ्चमे विदांवरः ॥२०५॥
 सगसिसृग्मिर्ता धर्मं सान्निध्यं क्षमादिकम् । परीषदांजयन् सम्यक्चारित्रं चान्नरविभरम् ॥२०६॥
 ततो दिध्यामुनामेनं याग्या देशाः स्तिपेतिर । विविक्ता रमणीया ये विमुक्ता रागकारणैः ॥२०७॥
 गुहापुलितगिर्यग्रजाणोऽनानवनादयः । नात्युष्णशीतसम्पाता^१ देशाः साधारणाश्च ये ॥२०८॥
 कालश्च नातिशीतोष्णं भूयिष्ठो जनतामुखः । भावश्च जानर्त्तैराग्यधृतिक्षान्त्यादिलक्षणः ॥२०९॥
 'द्रव्याण्यप्यनुकूलानि यानि संक्लेशहानयै' । प्रमथिष्णूर्नि तानीशः^२ तिपेवे ध्यानमिदमे ॥२१०॥
 कदाचिद् गिरिकुण्डेषु^३ कदाचिद् गिरिकन्दरैः^४ । कदाचिच्छात्रिष्टम्भेषु^५ दध्वावध्यात्मतत्त्ववित् ॥२११॥
 'कहिंश्चिद् बहिणारावरम्यापास्तेषु हारिषु । गिर्यग्रेषु शिलापट्टेषु^६ ध्यात्वाध्यात्मशुद्धये ॥२१२॥
 अगो^७ 'उपद्वरग्येषु कदाचिदनुप^८ वृते । निर्जम्बुके वि^९ विक्ते च स्था^{१०} ण्डिलेऽस्थान् समाधये ॥२१३॥

मन इन्द्रियोंका समूह और काय इनके तपन तथा निग्रह करनेसे ही तप होता है ऐसा तपके जाननेवाले रागधरादि देव कहते हैं और वह तप अनशन आदिके भेदसे बारह प्रकारका होता है ॥२०४॥ विद्वानोंमें अनिश्य श्रेष्ठ वे भगवान् कर्मोंकी बड़ी भारी निर्जरा और उत्तम फल देनेवाले संवरकी इच्छा करते हुए इन बारह प्रकारके तपोंमें सदा प्रयत्नशील रहते थे ॥२०५॥ वे भगवान् परीषदोंको जीतते हुए गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि धर्म और सम्यक् चारित्र्यका चिरकाल तक पालन करते रहे थे । भावार्थ—गुप्ति, समिति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषद् जय और चारित्र्य इन पाँच कारणोंसे नवीन आते हुए कर्मोंका आसन्न रुककर संवर होता है । जिनेन्द्र देवने इन पाँचोंही कारणोंको चिरकाल तक धारण किया था ॥२०६॥ तदनन्तर ध्यानधारण करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान् ध्यानके योग्य उन-उन प्रदेशोंमें निवास करते थे जो कि एकान्त थे, मनोहर थे और राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे रहित थे ॥२०७॥ जहाँ न अधिक गरमी पड़ती हो और न अधिक शीत ही होता हो जहाँ साधारण गरमी-सर्दी रहती हो अथवा जहाँ समान रूपसे सभी आ-जा सकते हों ऐसे गुफा, नदियोंके किनारे, पर्वतके शिखर, जीर्ण उद्यान और वन आदि प्रदेश ध्यानके योग्य क्षेत्र कहलाते हैं । इसी प्रकार जिसमें न बहुत गरमी और न बहुत सर्दी पड़ती हो तथा जो प्राणियोंको दुःखदायी भी न हो ऐसा काल ध्यानके योग्य काल कहलाता है । ज्ञान, वैराग्य, धैर्य और क्षमा आदि भाव ध्यानके योग्य भाव कहलाते हैं और जो पदार्थ श्रुधा आदिसे उत्पन्न हुए संक्लेशको दूर करनेमें समर्थ हैं ऐसे पदार्थ ध्यानके योग्य द्रव्य कहलाते हैं । स्वामी वृषभदेव ध्यानकी सिद्धिके लिए अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल और भावका ही सेवन करते थे । ॥२०८-२१०॥ अध्यात्म तत्त्वको जाननेवाले वे भगवान् कभी तो पर्वतपर-के लतागृहोंमें, कभी पर्वतकी गुफाओंमें और कभी पर्वतके शिखरोंपर ध्यान लगाते थे ॥२११॥ वे भगवान् अध्यात्मकी शुद्धिके लिए कभी तो ऐसे-ऐसे सुन्दर पहाड़ोंके शिखरोंपर पड़े हुए शिलातलोंपर आरुढ़ होते थे कि जिनके समीप भाग मयूरोंके शब्दोंसे बड़े ही मनोहर हो रहे थे ॥२१२॥ कभी-कभी समाधि (ध्यान) लगानेके लिए वे भगवान् जहाँ गायोंके स्त्रियों तकके चिह्न नहीं थे ऐसे अगम्य वनोंमें उपद्रवशून्य जीवरहित

१. महोत्तरफलम् । २. ध्यातुमिच्छुना । ३. गर्वापतिः । ४. न पराधीनाः । सर्वैः सेव्या इत्यर्थः । ५. अत्यर्थशीतोष्णबाहुत्यरहितः । ६. आहारादीनि । ७. संक्लेशविनाशाय । ८. समर्थानि । ९. प्रभुः । १०. लतादिपिहितोदरं प्रदेशं । ११. दयाम् । १२. कदाचित् । १३. शिलापट्टेषु । १४. अध्यात्मतत्त्वम् । १५. मानरहितेषु, अगंगम्येषु वा । 'गोष्पदं गोखुरद्वारे मानरागम्ययोरपि' इत्यभिधानात् । १६. उपद्रव-रहिते । १७. पुनः । १८. श्रुतगोपाणभूमौ ।

कदाचित् प्राप्तपर्यस्तं निरुद्धं रैस्ततः करैः । कृतशैले नगोत्सङ्गे सोऽथाद् योगैकैतानताम् ॥२१४॥
 नक्तं नक्तं अरैर्नीमैः स्वैरमारुह्यताण्डवे । विभुः पितृवनोपागते ध्यायन् सोऽस्यात् कदाचन ॥२१५॥
 कदाचिच्चिन्तयतीरे शुचिसैकतचारुणि । कदाचिच्च सरस्तीरे वनोद्देशेषु दारिणु ॥२१६॥
 मनोभ्यां क्षेपहीनेषु देशोपदम्येषु च क्षमी । ध्यानाभ्यासमसौ कुर्वन् विजहार महीमिमाम् ॥२१७॥
 मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान् प्रविहरन् शनैः । पुरं पुरिमतालाक्यं सुधीरन्येभुरासदत् ॥२१८॥
 नात्यासन्नविदूरेऽस्मादुद्याने शकटाङ्गये । शुचौ निराकुले रम्ये विविक्तेऽस्थाद् विजन्तुके ॥२१९॥
 न्येधो^१ ध्यायन्पस्याधः शिलापट्टं शुचिं पृथुम् । सोऽध्यासीनः समाधानमभाद्^२ ध्यानाय शुद्धधीः ॥२२०॥
 तत्र पूर्वमुखं स्थित्वा कृतप^३ क्यङ्कबन्धनः । ध्याने प्रणिधौ चित्तं लेख्याशुद्धिं परां वक्षत् ॥२२१॥
 चेतसा सोऽमितं^४ धाय परं^५ पदमनुत्तरम् । दधौ सिद्धगुणानष्टौ प्रागेव सुविशुद्धधीः ॥२२२॥
 सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानमनन्तं वीर्यमद्भुतम् । सौक्ष्म्या^६ अवाधा^७ अवाधाः सहागुरुलघुत्वकाः ॥२२३॥

और एकान्त विषम भूमिपर विराजमान होते थे ॥२१३॥ कभी-कभी पानीके छीटे उड़ाते हुए समीपमें बहनेवाले निर्झरनोंसे अहाँ बहुत ठण्ड पड़ रही थी ऐसे पर्वतके ऊपरी भागपर वे ध्यानमें तल्लीनताको प्राप्त होते थे ॥२१४॥ कभी-कभी रातके समय जहाँ अनेक राक्षस अपनी इच्छानुसार नृत्य किया करते थे ऐसी इमशान भूमिमें वे भगवान् ध्यान करते हुए विराजमान होते थे ॥२१५॥ कभी शुक्ल अथवा पवित्र बालूसे सुन्दर नदीके किनारेपर, कभी सरोवरके किनारे, कभी मनोहर वनके प्रदेशोंमें और कभी मनकी व्याकुलता न करनेवाले अन्य कितने ही देशोंमें ध्यानका अभ्यास करते हुए उन क्षमाधारी भगवान्ने इस समस्त पृथिवीमें विहार किया था ॥२१६-२१७॥ मौनी, ध्यानी और मानसे रहित वे अतिशय बुद्धिमान् भगवान् धीरे-धीरे अनेक देशोंमें विहार करते हुए किसी दिन पुरिमताल नामके नगरके समीप जा पहुँचे ॥२१८॥ उसी नगरके समीप एक शकट नामका उद्यान था जो कि उस नगरसे न तो अधिक समीप था और न अधिक दूर ही था । उसी पवित्र, आकुलतारहित, रमणीय, एकान्त और जीवरहित वनमें भगवान् ठहर गये ॥२१९॥ शुद्ध बुद्धियाले भगवान्ने वहाँ ध्यानकी सिद्धिके लिए वटवृक्षके नीचे एक पवित्र तथा लम्बी-चौड़ी शिलापर विराजमान होकर चित्तकी एकाग्रता धारण की ॥२२०॥ वहाँ पूर्व दिशाकी ओर मुख कर पद्मासनसे बैठे हुए तथा लेश्याओंकी उत्कृष्ट शुद्धिको धारण करते हुए भगवान्ने ध्यानमें अपना चित्त लगाया ॥२२१॥

अतिशय विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-पदमें अपना चित्त लगाया और सिद्ध परमेश्वरीके आठ गुणोंका चिन्तन किया ॥२२२॥ अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तवर्षन, अनन्तज्ञान, अनन्त और अद्भुत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये आठ सिद्धपरमेश्वरीके गुण कहे गये हैं, सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालोंकी इन गुणोंका अवश्य ध्यान करना चाहिए । इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल

१. व्याप्त । २. ध्यानैकाग्रतानताम् । ३. रात्रौ । ४. राक्षसैः । ५. व्याकुल । ६. अस्मात् पुरात् ।
 ७. 'पुरांश्चान्यतोऽप्यणि'ति सूत्रेण पूर्वभाक् । ८. विजने । 'विविक्तौ पूतविजनी' इत्यभिधानात् । ९. वटः ।
 १०. आधात् इति पाठे अकरोत् । अधादिति पाठे वरति स्म । ११. शिलापट्टे । १२. —पर्यङ्क—ल०, म०, द०, स०, अ० । १३. अभिप्रायगतं कृत्वा । १४. अजयस्थानम् । १५. सूक्ष्मत्व । १६. अवगाहित्व ।

प्राक्ताः सिद्धगुणा ह्यष्टौ ध्येयाः सिद्धिमर्माप्नुना ।^१ द्रव्यतः क्षेत्रतः^२ कालाद्^३ साधनहं च तयो परे ॥२२४॥
 गुणैर्द्वादश^४ भिर्युक्तो भुक्तः सूक्ष्मो निरञ्जनः । स ध्येयो योगिभिर्व्यक्तो नित्यः शुद्धो सुमुधुमिः ॥२२५॥
 ततो दध्याधनुप्रेक्षा^५ दिध्यासुर्धर्मसुत्तमम्^६ । पारि^७कर्ममितास्तस्य शुभा^८ द्वादशभावनाः ॥२२६॥
 तासां नामस्वरूपं च पूर्वमेवानुवर्णितम् । ततो धर्ममसौ ध्यानं प्रपेदे धीर्^९ शुद्धिकः ॥२२७॥
 आज्ञाविचयमाद्यं^{१०} तदप्राप्य^{११} विचयं तथा । विपाकं^{१२} विषयं चान्यत् संस्थानविचयं परम् ॥२२८॥
 स्वनामव्यक्ततत्त्वयो^{१३} नि धर्मध्यानानि सोऽध्यगात्^{१४} । यतो महत्तमं पुण्यं स्वर्गायसुखसाधनम् ॥२२९॥
 क्षालितागः परागस्य विरागस्यास्य योगिनः । प्रमादः कषाप्यभून्नेत^{१५} स्तदा^{१६} ज्ञानाद्विदितमिः ॥२३०॥
 ज्ञानादिपरिणामेषु परां शुद्धिमुपेयुषः । लेशतोऽप्यस्य नाभूवन् दुर्लभ्याः क्लेशहेतवः ॥२३१॥
 तदा ध्यानमयी शक्तिः स्फुरन्ती दृढो विमोः । मोहारिताशपिशुना महोलकेव^{१७} विजृम्भिता ॥२३२॥

तथा भावकी अपेक्षा उनके और भी चार साधारण गुणोंका चिन्तन करना चाहिए । इस तरह जो ऊपर कहे हुए बारह गुणोंसे युक्त हैं, कर्मबन्धनसे रहित हैं, सूक्ष्म हैं, निरञ्जन हैं— रागादि भाव कर्मोंसे रहित हैं, व्यक्त हैं, नित्य हैं और शुद्ध हैं ऐसे सिद्ध भगवान्का मोक्षा- भिलापी मुनियोंको अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥२२३-२२५॥ पश्चात् उत्तम धर्मध्यानकी इच्छा करनेवाले भगवान्ने अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन किया क्योंकि शुभ बारह अनुप्रेक्षाएँ ध्यानकी परिवार अवस्थाको ही प्राप्त हैं अर्थात् ध्यानका ही अंग कहलाती हैं ॥२२६॥ उन बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम और स्वरूपका वर्णन पहले ही किया जा चुका है । तदनन्तर बुद्धिकी अतिशय विशुद्धिको धारण करनेवाले भगवान् धर्मध्यानको प्राप्त हुए ॥२२७॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इस प्रकार धर्मध्यानके चार भेद हैं । जिनका स्वरूप अपने नामसे प्रकट हो रहा है ऐसे ऊपर कहे हुए चारों धर्मध्यान जिनेन्द्रदेवने धारण किये थे क्योंकि उनसे स्वर्ग लोकके श्रेष्ठ सुखोंके कारणस्वरूप बड़े भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥२२८-२२९॥ जिनका पापरूपी पराग (धूलि) धुल गया है और राग-द्वेष आदि विभाव नष्ट हो गये हैं ऐसे योगिराज वृषभदेवके अन्तःकरणमें उस समय ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियोंके कारण किसी भी जगह प्रमाद नहीं रह सका था । भावार्थ—धर्मध्यानके समय जिनेन्द्रदेव प्रामादरहित हो 'अप्रमत्त संयत' नामके सातवें गुणस्थानमें विद्यमान थे ॥२३०॥ ज्ञान आदि परिणामोंमें परम विशुद्धताको प्राप्त हुए जिनेन्द्रदेवके क्लेश उत्पन्न करनेवाली अशुभ लेश्याएँ अंशमात्र भी नहीं थीं । भावार्थ—उस समय भगवान्के शुक्ल लेश्या ही थीं ॥२३१॥ उस समय देवीप्यमान हुई भगवान्की ध्यानरूपी शक्ति ऐसी दिखाई देती थी मानो मोहरूपी शत्रुके नाशको सूचित करनेवाली बड़ी हुई बड़ी भारी उल्का ही हो ॥२३२॥

१. द्रव्यमाश्रित्य चेतनत्वादयः । २. क्षेत्रमाश्रित्य असंख्यातप्रदेशित्वादयः । ३. कालमाश्रित्य त्रिकालं व्यापित्वादयः । ४. भावमाश्रित्य पारिणामिकादयः । ५. साधारणगुणाः । ६. सम्यक्त्वाद्यष्टौ, द्रव्याश्रयतत्त्वत्वार इति द्वादशगुणैः । ७. ध्यातुमिच्छुः । ८. —धर्मसुत्तमम् ल०, म० । प्रमादपेतम् । ९. परिकरत्वम् । १०. शुद्धा इत्यपि कश्चित् । ११. विधः दृष्टा प्रवृद्धा बुद्धिर्यस्य सः । १२. आज्ञा आगमस्तद्व्यतिवस्तुविचारो विचयः सोऽथास्तीति । अनायाविचयं वर्मणाम् । १३. सुभाशुभकर्मोदयजनितसुखदुःखभेदप्रभेदचिन्ता । १४. स्वरूपाः । १५. ध्यायति स्म । १६. दत्तः प्राप्तः । —प्यभून्नेतस्तदा इ०, द०, ल०, म०, अ०, प०, न० । १७. ज्ञान-सम्प्राप्त्यवधि । १८. जगत्प्राप्तः ।

आरब्धय तदा कुरानं विंशुद्धिबलमग्रतः । निःकृष्टमध्यमान्कृष्टविनाशेन प्रिधा कृतम् ॥२३३॥
 कृतान्तः^३ शुद्धिरुद्धूत^४ कृतान्तकृतविक्रियः । उत्तस्थे सर्वसामग्र्यो मोहारिपुतनाजये ॥२३४॥
 शिरःप्राणं^५ तनुग्रं च तस्यासीत् संयमद्वयम् । जयमस्य च सद्भ्यान् मोहाराति विभित्सतः^६ ॥२३५॥
 बलम्यसनरक्षार्थं^७ ज्ञानामाख्याः पुरस्कृताः । विंशुद्धपरिणामश्च सेनापत्ये^८ नियोजितः ॥२३६॥
 गुणाः सैनिकतां^९ नीता नुमंदा^{१०} ध्रुवयोधिनः^{११} । तेषां हन्तव्यपक्षे च रागाद्याः प्रतिचर्चिताः^{१२} ॥२३७॥
 इत्याद्योजितसैन्यस्य तथोद्योगे जगद्गुरोः । गुणश्रेणिबलादीर्णं^{१३} कर्मसैन्यं नु शक्यजः^{१४} ॥२३८॥
 यथा यथात्तराशुद्धिरास्कन्दति^{१५} तथा तथा । कर्मसैन्यस्थितेर्मङ्गः संजातश्च रम्यक्षयः^{१६} ॥२३९॥

जिस प्रकार कोई राजा अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मन्त्रा आदिका शुद्ध कर-उनकी जांचकर अपनी सेनाके जवन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन भेद करता है और उनको आगे कर मरणभयसे रहित हो सब सामग्रीके साथ शत्रुको सेनाको जीतनेके लिए उठ खड़ा होता है उसी प्रकार भगवान् युपभदेवने भी अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मनको शुद्ध कर-संकल्प-विकल्प दूर कर अपनी विंशुद्धिरूपी सेनाके जवन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद किये और फिर उस तीनों प्रकारकी विंशुद्धिरूपी सेनाको आगे कर यमराज-द्वारा की हुई विक्रिया (मृत्यु-भय) को दूर करते हुए सब सामग्रीके साथ मोहरूपी शत्रुको सेना अर्थात् मोहनीय कर्मके अट्टाईस अवान्तर भेदोंको जीतनेके लिए तत्पर हो गये ॥२३३-२३४॥ मोहरूपी शत्रुको भेदन करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्ने इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम रूप दो प्रकारके संयमको क्रमसे शिरकी रक्षा करनेवाला टोप और शरीरकी रक्षा करनेवाला कवच बनाया था तथा उत्तम ध्यानकी जयशील अस्त्र बनाया था ॥२३५॥ विंशुद्धिरूपी सेनाकी आपत्तिसे रक्षा करनेके लिए उन्होंने ज्ञानरूपी मन्त्रियोंको नियुक्त किया था और विंशुद्ध परिणामको सेनापतिके पदपर नियुक्त किया था ॥२३६॥ जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो निरन्तर शुद्ध करनेवाले थे ऐसे गुणोंको उन्होंने सैनिक बनाया तथा राग आदि शत्रुओंको उनके हन्तव्य पक्षमें रखा ॥२३७॥ इस प्रकार समस्त सेनाकी व्यवस्था कर जगद्गुरु भगवान्ने ज्यों ही कर्मोंके जीतनेका उद्योग किया त्यों ही भगवान्की गुण-श्रेणी निर्जराके बलसे कर्मरूपी सेना खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होने लगी ॥२३८॥ ज्यों-ज्यों भगवान्की विंशुद्धि आगे आगे बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों कर्मरूपी सेनाका भंग और रस अर्थात् फल देनेकी शक्ति

१. परिणामशक्तिः । पक्षे विश्वासहेतुभूतसैन्यं च । २. प्रथमं पुराभावे च । ३. विहितान्तःकरणशुद्धिः । पक्षे कृतसेनान्तःशुद्धिः । ४. उद्धूता मिरस्ता कृतान्तेन यमेन कृता विक्रिया विकारो येनासी । ५. उद्दोष्टो-ज्भूत् । उत्तस्थी ६०, अ०, प०, इ०, स०, ल०, म० । ६. मोहनीयशत्रुसेनाविजयार्थम् । ७. शिरःकवचम् । ८. कवचम् । वर्म दर्शनम् । 'उरच्छदा कङ्कालोऽजगरः कवचोऽस्थिराम् ।' इत्यभिधानात् । ९. इन्द्रियसंयम-प्राणिसंयमद्वयम् । उपेक्षासंयमापहृतसंयमद्वयं वा । १०. भैरुमिच्छवः । ११. विंशुद्धशक्तेर्भगवद्विहारार्थम् । पक्षे सेनाभ्रंशपरिहारार्थम् । १२. सेनापतिके । १३. सेनाचरत्वम् । १४. दुःखेन मेघाः । १५. नियमेन योद्धारः । १६. भटानाम् । १७. कथिताः । १८. विशारितं मलिनं वा । १९. गुणसेनाभिः । २०. इव । २१. खण्डशः । 'शक्ते शक्यत्ववच्छेदः' इत्यभिधानात् । २२. गच्छति, वर्तते । २३. शक्तिक्षयः, पक्षे हर्षक्षयः ।

परप्रकृति संक्रान्तिः स्थितेर्भेदा रसच्युतिः । निर्जोगिश्च गुणश्रेण्या तदासौ कर्मवैरिणाम् ॥२४०॥

अन्तःप्रकृतिसंक्रांभं मूलोद्भूतं च कर्मणाम् । योगशक्त्या स योगीन्द्रो विजिगीषुरिवातनोत् ॥२४१॥

भूयोऽप्रमत्ततां प्राप्य भावयन् शुद्धिसुन्दराम् । आरुह्य क्षपकश्रेणी निश्रेणी भावसंमनः ॥२४२॥

अथःप्रवृत्तकरणमप्रमादेन भावयन् । अपूर्वकरणं भूत्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् ॥२४३॥

तत्रार्थं शुक्लमायुषं ध्यानेद्ध्या नतिशुद्धिकः । मोहराजवलं कृत्स्नमपातयदसाध्यसः ॥२४४॥

अन्नरक्षानिवास्याष्टौ कषायान्मिषिपेषे सः । वेदे शक्तस्तनस्तिष्ठो नो कषायाह्वयान्मटात् ॥२४५॥

ततः संज्वलनक्रोधं महानायकमग्रहम्^३ । मानमप्यस्य पाश्वत्यं^४ मायां लोभं च वादरम् ॥२४६॥

प्रमृद्येनान्^५ महाध्यानरङ्गे चारित्रसद्व्यजः । निशातज्ञाननिस्त्रिशो दयाकवचवसितः^६ ॥२४७॥

का विनाश होता जाता था ॥२३९॥ उस समय भगवान् के कर्तृरूपी शत्रुओंमें परप्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था अर्थात् कर्मोंकी एक प्रकृति अन्य प्रकृति रूप बदल रही थी, उनकी स्थिति घट रही थी, रस अर्थात् फल देनेकी शक्ति क्षीण हो रही थी और गुण-श्रेणी निर्जरा हो रही थी ॥२४०॥ जिस प्रकार कोई विजयाभिलाषी राजा शत्रुओंकी मन्त्री आदि अन्तरङ्ग प्रकृतिमें श्लोभ पैदा करता है और फिर शत्रुओंको जड़से उखाड़ देता है उसी प्रकार योगिराज भगवान् वृषभदेवने भी अपने योगबलसे पहले कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंमें श्लोभ उत्पन्न किया था और फिर उन्हें जड़सहित उखाड़ फेंकनेका उपक्रम किया था अथवा मूल प्रकृतियोंमें उद्घर्तन (उद्वेलन आदि संक्रमणविशेष) किया था ॥२४१॥ तदनन्तर उत्कृष्ट विशुद्धिकी भावना करते हुए भगवान् अप्रमत्त अवस्थाको प्राप्त होकर मोक्षरूपी महलकी सीढ़ीके समान क्षपक श्रेणीपर आरुढ़ हुए ॥२४२॥ प्रथम ही उन्होंने प्रमादरहित हो अप्रमत्तसंयत नामके सातवें गुणस्थानमें अधःकरणकी भावना की और फिर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें प्राप्त होकर अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानमें प्राप्त हुए ॥२४३॥ वहाँ उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नामका पहला शुक्लध्यान धारण किया और उसके प्रवाहसे विशुद्धि प्राप्त कर निर्भय हो मोहरूपी राजाकी समस्त सेनाको पछाड़ दिया ॥२४४॥ प्रथम ही उन्होंने मोहरूपी राजाके अंगरक्षकके समान अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी आठ कषायोंको चूर्ण किया फिर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद ऐसे तीन प्रकारके वेदोंको तथा नौ कषाय नामके हास्यादि छह योद्धाओंको नष्ट किया था ॥२४५॥ तदनन्तर सबसे मुख्य और सबके आगे चलनेवाले संज्वलन क्रोधको, उसके बाद मानको, मायाको और वादर लोभको भी नष्ट किया था । इस प्रकार इन कर्म-शत्रुओंको नष्ट कर महाध्यानरूपी रंगभूमिमें चारित्ररूपी व्यज फहराते हुए ज्ञानरूपी तीक्ष्ण हथियार बाँधे हुए और दयारूपी कवचको धारण किये हुए महायोद्धा भगवान्ने अनिवृत्ति अर्थात् जिससे पीछे नहीं हटना पड़े ऐसी नवम गुणस्थान रूप

१. अप्रशस्तानां बन्धोज्झितानां प्रकृतीनां द्रव्यस्य प्रतिसमयसंख्येयगुणं सजातीयप्रकृतिषु संक्रमणम् । पक्षे शत्रुसेनासंक्रमणम् । २. अनुभागहानिः, पक्षे हर्षक्षयः । ३. निर्जरा । ४. भावकर्म, पक्षे आप्तबलम् । ५. मूलप्रकृतिमर्दनम्, पक्षे मूलबलमर्दनम् । ६. -मुत्तराम् म० । ७. अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती भूत्वा । ८. गुणस्थाने । ९. ज्ञानदीप्त्या । -ध्यानात्तशुद्धिकः ८०, ५०, अ०, ६०, स०, ल०, म० । १०. मोहराजस्याङ्ग-रक्षकान् । ११. चूर्णविकारः । १२. पुंवेदादिशक्तीः, पक्षे प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीः । १३. दुर्ग्रहिम् । -मग्रगम् ८०, ६०, अ०, ५०, ल०, म० । १४. पञ्चादभवम् । १५. चूर्णीकृतम् । प्रमृद्येतान् ल०, म०, ६०, अ०, स० । १६. संज्वलनक्रोधादिचतुरः । १७. राज्ञः । 'सदाधी वसितः सज्जो वंशितो व्यूढः पण्डितः ।' इत्यभिधानात्

जग्राह जयभूमिं^१ तामनिवृत्तिं^२ महामतः । मदानां अनिवृत्तीनां परकीर्यं^३ न चाग्रतः ॥२४८॥
 करणत्रययाथातथ्यव्यवृत्तयेऽर्थपदानि^४ वै । जेयाम्यभूमिं^५ स्यार्थसद्भावज्ञैरनुक्रमात् ॥२४९॥
 करणाः परिणामा ये विभक्ताः प्रथमक्षणे^६ । ते भवेयुर्द्वितीयस्मिन् क्षणेऽन्ये^७ च पृथग्विधाः ॥२५०॥
 द्वितीयक्षणसंबन्धिपरिणामकेदम्बकम् । तत्त्वान्मन्त्रं तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात्^८ ॥२५१॥
 ततश्चाधः प्रवृत्त्यायं करणं तन्निवृत्त्यर्थं^९ । अपूर्वकरणेनैव^{१०} ते ह्यपूर्वाः प्रतिक्षयाम् ॥२५२॥
 करणे त्वनिवृत्ता^{११} ख्ये न निवृत्तिरिहाज्जिनाम् । परिणामैर्मिथस्ते हि समभावाः प्रतिक्षणम् ॥२५३॥
^{१२}तत्राद्ये^{१२} करणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः ।^{१३}हापयेत् केवलं शुद्धयन् बन्धं स्थित्यनुभागयोः ॥२५४॥
 अपूर्वकरणेऽप्येवं किं तु स्थित्यनुभागयोः । हन्यादयं गुणश्रेण्यां^{१४} कुर्वन् संक्रमं^{१५} निर्जरे ॥२५५॥
 तृतीये करणेऽप्येवं घटमानः पटिष्ठो^{१६} । अकृत्वा^{१७} न्तरमुच्छिन्नात् कर्माणि चोदशाप्य च ॥२५६॥

अनिवृत्ति नामकी जयभूमि प्राप्त की सो ठीक ही है क्योंकि पीछे नहीं हटनेवाले शूर-वीर योद्धाओंके आगे शत्रुकी सेना आदि नहीं ठहर सकती ॥२४८-२४८॥ अब अधःकरण, अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंका यथार्थ स्वरूप प्रकट करनेके लिए आगमके यथार्थ भावको जाननेवाले गणधरादि देवोंने जो ये अर्थसहित पद कहे हैं वे अनुक्रमसे जानने योग्य हैं अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥२४९॥ अधःप्रवृत्तिकरणके प्रथम क्षणमें जो परिणाम होते हैं वे ही परिणाम दूसरे क्षणमें होते हैं तथा इसी दूसरे क्षणमें पूर्व परिणामोंसे भिन्न और भी परिणाम होते हैं । इसी प्रकार द्वितीय क्षणसम्बन्धी परिणामोंका जो समूह है यही तृतीय क्षणमें होता है तथा उससे भिन्न जातिके और भी परिणाम होते हैं, यही क्रम चतुर्थ आदि अन्तिम समय तक होता है इसीलिए इस करणका अधःप्रवृत्तिकरण ऐसा सार्थक नाम कहा जाता है । परन्तु अपूर्वकरणमें यह बात नहीं है क्योंकि वहाँ प्रत्येक अपूर्व ही परिणाम होते रहते हैं इसलिए इस करणका भी अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है । अनिवृत्तिकरणमें जीवोंकी निवृत्ति अर्थात् विभिन्नता नहीं होती क्योंकि इसके प्रत्येक क्षणमें रहनेवाले सभी जीव परिणामोंकी अपेक्षा परस्परमें समान ही होते हैं इसलिए इस करणका भी अनिवृत्तिकरण यह सार्थक नाम है ॥२५०-२५३॥ इन तीनों करणोंमें-से प्रथम करणमें स्थिति घात आदिका उपक्रम नहीं होता, किन्तु इसमें रहनेवाला जीव शुद्ध होता हुआ केवल स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्धको कम करता रहता है ॥२५४॥ दूसरे अपूर्वकरणमें भी यही व्यवस्था है किन्तु विरोधता इतनी है कि इस करणमें रहनेवाला जीव गुण-श्रेणीके द्वारा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका संक्रमण तथा निर्जरा करता हुआ उन दोनोंके अग्रभागको नष्ट कर देता है ॥२५५॥ इसी प्रकार तीसरे अनिवृत्तिकरणमें प्रवृत्ति करनेवाला कर्मरूपी अतिशय बुद्धिमान् जीव भी परिणामोंकी विशुद्धिमें अन्तर न डालकर सोलह और आठ शत्रुओंको उखाड़ फेंकता है ॥२५६॥

१. जयस्थानम् । २. अनिवृत्तिकरणस्थानम् । —मनिवृत्तीं महा अ०, प०, द०, इ०, स० । —मनिवृत्ति-महा अ० । ३. परबलम् । ४. अर्थमनुगतानि पदानि । ५. वक्ष्यमाणानि । ६. प्रथमे क्षणे प०, द०, म०, ल० । ७. द्वितीयोऽस्मिन् प०, इ० । ८. अपरमपि । ९. अधःप्रवृत्तिकरणचरमसमयपर्यन्तम् । १०. निवृत्तिरूपेण निग-द्यते । ११. अधःप्रवृत्तिकरणलक्षणवत् परिणामाः । १२. —वृत्त्याख्ये ल०, म०, । १३. भेदः । १४. अधः-प्रवृत्तादिनये । १५. अधःप्रवृत्तिकरणे । १६. हापयान् हाणि कुर्यात् । १७. गुणश्रेण्याः द०, इ० । १८. प्रशस्तानां बन्धोज्ज्वलानां प्रवृत्तीनां द्रव्यस्य प्रतिसमयमसंश्लेषगुणैः बन्ध्यमानसजातीयप्रवृत्तिषु संक्रमणं गुणसंक्रमः । १९. अनिगमेन पटुधीः । २०. अकृतान्तर प० ।

गत्थोरथाद्योर्नाम प्रकृतीर्नियतोदयाः । स्त्यानगृद्धिद्विकं चो स्थेद् घातेनैकेन योगिराट् ॥२५७॥
 ततोऽष्टौ च कषायस्तान् हन्यादध्यात्मतत्त्ववित् । पुनः कृतान्तरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥२५८॥
 अश्वकर्णक्रियाकृष्टिकरणादिश्च यो विधिः^३ । सोऽत्र वाच्यस्ततः सूक्ष्मसाम्परायत्वसंश्रयः ॥२५९॥
 सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन्मोहं व्यजेष्ट सः । कर्षितो ह्यरिह्रस्वोऽपि सुजयो विजिगीषुणा ॥२६०॥
 तीव्रं श्वलक्षसौ श्रेणोरङ्गे मोहारिनिर्जयात् । ज्वेष्टो मल्ल इवावलम्बन् मुनिरप्रतिमल्लकः ॥२६१॥
 ततः क्षीणकषायत्वमक्षीणगुणसंग्रहः । प्राप्य तत्र रजोशेषमधुनात् स्नातको^४ भवन् ॥२६२॥
 ज्ञानवर्णनं चोर्थाद्विविधं ये केचिदुद्धताः । तानशेषान् द्वितीयेन शुक्लध्यानेन चिच्छिन्दे ॥२६३॥
 यतश्चः कटुकाः^५ कर्मप्रकृतीर्ध्यानवह्निना । निर्दहन् मुनिरुद्भूतकैवल्योऽभूत् स विश्वरक् ॥२६४॥
 अनन्तज्ञानहरवीर्यविरतिः^६ शुद्धदर्शनम् । दानलामौ च नोगोपभोगावानभ्यमाश्रिताः ॥२६५॥

अथानन्तर योगिराज भगवान् वृषभदेवने नरक और तिर्यक्गतिमें नियमसे उदय आनेवाली नामकर्मकी तरह (१ नरकगति, २ नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, ३ तिर्यग्गति, ४ तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी, ५ एकेन्द्रिय जाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रियजाति, ८ चतुरिन्द्रिय जाति, ९ आतप, १० उद्योत, ११ स्थावर, १२ सूक्ष्म और १३ साधारण) और स्त्यान-गृद्धि आदि तीन (१ स्त्यानगृद्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला) इस प्रकार सोलह प्रकृतियोंको एक ही प्रहारसे नष्ट किया ॥२५७॥ तदनन्तर अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले भगवान्-ने आठ कषायों (अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) को नष्ट किया और फिर कुछ अन्तर लेकर शेष बची हुई (नपुंसक वेद, स्त्री वेद, पुरुष वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, संज्वलन क्रोध, मान और माया) प्रकृतियोंको भी नष्ट किया ॥२५८॥ अश्वकर्ण क्रिया और कृष्टिकरण आदि जो कुछ विधि होती है वह सब भगवान्ने इसी अनिष्टुत्तिकरण गुणस्थानमें की और फिर वे सूक्ष्मसाम्पराय नामके दसवें गुणस्थानमें जा पहुँचे ॥२५९॥ वहाँ उन्होंने अतिशय सूक्ष्म लोभको भी जीत लिया और इस तरह समस्त मोहनीय कर्मपर विजय प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि बलवान् शत्रु भी दुर्बल हो जानेपर विजिगीषु पुरुष-द्वारा अनायास ही जीत लिया जाता है ॥२६०॥ उस समय क्षपकश्रेणीरूपी रंगभूमिमें मोहरूपी शत्रुके नष्ट हो जानेसे अतिशय देदीप्यमान होते हुए मुनिराज वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे किसी कुश्तीके मैदानसे प्रतिमल्ल (विरोधी मल्ल) के भाग जानेपर विजयी मल्ल सुशोभित होता है ॥२६१॥ तदनन्तर अविनाशी गुणोंका संग्रह करनेवाले भगवान् क्षीणकषाय नामके बारहवें गुण-स्थानमें प्राप्त हुए । वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मकी धूलि उड़ा दी अर्थात् उसे बिलकुल ही नष्ट कर दिया और स्वयं स्नातक अवस्थाको प्राप्त हो गये ॥२६२॥ तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मकी जो कुछ उद्धत प्रकृतियाँ थीं उन सबको उन्होंने एकत्ववितर्क नामके दूसरे शुक्लध्यानसे नष्ट कर डाला और इस प्रकार वे मुनिराज ध्यानरूपी अग्निके द्वारा अतिशय दुःखदायी चारों घातिया कर्मोंको जलाकर केवलज्ञानी हो लोकालोकके देखनेवाले सर्वज्ञ हो गये ॥२६३-२६४॥ इस प्रकार समस्त जगत्को प्रकाशित करते हुए और भव्य जीवरूपी

१. नरकद्विकतिर्यक्द्विकविकलप्रयोद्योतातपैकेन्द्रियसाधारणसूक्ष्मस्थावराः । २. प्रतिक्षिपेत् । ३. विधेः ष०, अ० । ४. समाप्तवेदः, सम्पूर्णज्ञान इत्यर्थः । ५. स्नातकोऽभवत् द०, ल०, म०, इ० । ६. निद्रा, ज्ञानावरणादिपञ्चकम्, दर्शनावरणचतुष्कम्, निद्रा, प्रचला, अन्तरायपञ्चकञ्चेति षोडश । ७. घातिकर्म-णीत्यर्थः । ८. चारित्राणि ।

नवकंचललवर्धोस्ता जिनसास्वान् पुनोरिव । स भेजे जगदुद्भासी मध्याम्भोजाति बोधयन् ॥२६६॥
इति व्यादाग्निनिर्दग्धकर्मनवनचयो जिनः । वमायुद्भूतकैवल्यविभवा विभवोद्भवः ॥२६७॥
फाल्गुने मासि तामिस्रपञ्चस्यैकादशीतिथौ । उत्तराषाढनक्षत्रे कैवल्यमुद्भूत विभोः ॥२६८॥

मालिनीच्छन्दः

मगधति जितमोहे कैवलज्ज्ञानलक्ष्म्या

स्फुरति सति सुरेभ्यः प्राणमन्मवित्तभारान् ।

ममसि जयजिनादौ विश्वदिवकं जजृम्भे

सुरपटहरवैश्वाह्यमासीन् स्वरन्ध्रम् ॥२६९॥

सुरकुञ्जकुसुमानां वृद्धिरापप्तदुर्ध्वै-

अमरमुत्तरितयोः शारयन्ता दिगन्तान् ।

विरलमवतरद्भिर्नाकमार्जा विमानै-

गंगनजलधिरुथर्कारिवाभूत् समस्तान् ॥२७०॥

मदकलहभृशैरमिवतः स्वः स्वयमत्याः^१

शिशिरतरतरङ्गानास्पृशन्मातरिदवा ।

धुतसुरमिवनान्तःपद्मकिञ्चलकवन्धु-

सुन्दुतरममितो^२ वान् ध्यानशे त्रिभुखानि ॥२७१॥

कमलोंको प्रफुल्लित करते हुए वे वृषभ-जिनेन्द्ररूपी सूर्य किरणोंके समान अनन्त ज्ञान दर्शन, वीर्य, चारित्र्य, शुद्ध सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग इन अनन्त सौ लब्धियोंको प्राप्त हुए ॥२६५-२६६॥ इस प्रकार जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी ईंधनके समूहको जला दिया है, जिनके कैवलज्ज्ञानरूपी विभूति उत्पन्न हुई है और जिन्हें समवसरणका वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥२६७॥ फाल्गुन मासके कृष्ण पक्षकी एकादशीके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें भगवान्को कैवलज्ज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥२६८॥ मोहनीय कर्मको जीतनेवाले भगवान् वृषभदेव ज्यों ही कैवलज्ज्ञानरूपी लक्ष्मीसे देदीप्यमान हुए त्यों ही समस्त देवोंके इन्द्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत हो गये अर्थात् उन्होंने भगवान्को सिर झुकाकर नमस्कार किया, आकाशमें सभी ओर जय-जय शब्द बढ़ने लगा और आकाशका चिबर देवोंके नगाड़ोंके शब्दोंसे व्याप्त हो गया ॥२६९॥ उसी समय भ्रमरोंके शब्दोंसे आकाशको शब्दायमान करती हुई तथा दिशाओंके अन्तको संकुचित करती हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा बड़े ऊँचेसे होने लगी और विरल-विरल रूपसे उतरते हुए देवोंके विमानोंसे आकाशरूपी समुद्र ऐसा हो गया मानो उसमें चारों ओर लीकाएँ ही तैर रही हों ॥२७०॥ उसी समय मदसे मनोहर शब्द करनेवाले भ्रमरोंसे सहित, गङ्गा नदीकी अत्यन्त शीतल तरङ्गोंका स्पर्श करता हुआ और हिलते हुए सुगन्धित वनके मध्य भागमें स्थित कमलोंकी परागसे भरा हुआ वायु चारों ओर धीरे-धीरे बहता हुआ दिशाओंमें व्याप्त हो

१. कैवलज्ञानसंपत्तिः । २. ममवसरणवर्तिभूतीनाम् उद्भवो यस्य । ३. तानावर्णान् कुर्वन्ती । ४. तत्र तत्र व्याप्तं यथा भवति तथा । ५. सुरनिग्नगाथाः । ६. वातीति वान् ।

युगपद्य^१ नमस्तोऽनघ्रि^२ ताद् वृष्टिपातो

^३विरजयति तदा स्म प्राङ्गणं लोकनाम्नाः ।

समवसरणभूमेः शोधना येन विष्वग्

विततसलिलविन्दुविंशवभर्तुजिनेशः^४ ॥२७२॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं तदा त्रिभुवने प्रमदं वितन्वन्

उद्भूतकेशलरवेर्बृषभोदयाङ्गेः ।

आसीजगज्जनहिताय जिनाधिपत्य-

^५प्रत्यापकः सपदि तीर्थकरानुभावः^६ ॥२७३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भगवत्कैवल्योत्पत्तिवर्णनं नाम विंशतितमं पर्व ॥२०॥

सर्गविशेषक :- अष्टमस्कन्ध की श्लोकविंशत्यारम्भ का अन्तर्धान

रहा था ॥२७१॥ जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय आकाशसे बादलोंके बिना ही होनेवाली मन्द-मन्द वृष्टि लोकनाम्नोंके आँगनको धूलिरहित कर रही थी। उस वृष्टिकी बूँदें चारों ओर फैल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो जगत्के स्वामी बृषभ-जिनेन्द्रके समवसरणकी भूमिको शुद्ध करनेके लिए ही फैल रही हों ॥२७२॥ इस प्रकार उस समय भगवान् बृषभदेवरूपी उदयाचलसे उत्पन्न हुआ केवलज्ञानरूपी सूर्य जगत्के जीवोंके हितके लिए हुआ था। वह केवलज्ञानरूपी सूर्य तीनों लोकोंमें आनन्दको विस्तृत कर रहा था, जिनेन्द्र भगवान्के आधिपत्यको प्रसिद्ध कर रहा था और उनके तीर्थकरोचित प्रभावको घतला रहा था ॥२७३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्के कैवल्योत्पत्तिक वर्णन करनेवाला बीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२०॥

१. गगनात् । २. मेघरहितात् । ३. मेघरहितं करोति स्म । ४. जिनेन्द्रस्य । ५. प्रत्यापकः प० । ६. तीर्थकरनामकर्मानुभावः ।

एकविंशं पर्व

अथातः^१ श्रेणिको नम्रो मुनिं पप्रच्छ गौतमम् । भगवन् योद्धुमिच्छामि त्वत्तो ध्यानस्य विस्तरम् ॥१॥
 किमस्य लक्षणं योगिन् के^२ भेदाः किं च निर्वाचः । किं स्वामिकं कियत्कालं किं हेतु^३फलमप्यद्^४ ॥२॥
 कोऽस्य भावो भवेत् किं वा स्यादधिष्ठानमीशितः^५ । भेदानां कानि नामानि कश्चै^६षामर्थनिश्चयः ॥३॥
 किमालम्बनमेतस्य^७ बलाभानं च किं भवेत् । तदिदं सर्वमेवाहं बुभुक्षे^८ चदतां वर ॥४॥
 परं साधनमाप्नातं ध्यानं मोक्षस्य साधने ।^९ ततोऽस्य^{१०} भगवन् ब्रूहि तत्त्वं गोप्यं^{११} यतोऽशिनाम्^{१२} ॥५॥
 इति पृष्ठयते तस्मै भगवान् गौतमोऽब्रवीत् । प्रसरद्दशनाभीषु^{१३} जलस्तपितस्तनुः ॥६॥
 यत्कर्मक्षपणे साध्ये साधनं परमं तपः । तत्ते^{१४} ध्यानाद्वयं सम्यगनुशास्त्रि यथाश्रुतम्^{१५} ॥७॥
 ऐकाग्र्येण^{१६} निरोधो यद्विचलस्यैकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानं वज्रकं^{१७} यस्य भवेदाप्तम्^{१८} कृतं तः ॥८॥
 स्थिरमध्ययं^{१९} सानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम्^{२०} ।^{२१} सानुप्रेक्षा यथा चिन्ता भाषणा चित्तमेव वा ॥९॥
 छद्मस्थेषु भवेद्देतल्लक्षणं विश्वदृशनाम् । योगात्मवस्य^{२२} संश्लेषे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥१०॥

अथानन्तर-श्रेणिक राजाने नम्र होकर महामुनि गौतम गणधरसे पूछा कि हे भगवन्, मैं आपसे ध्यानका विस्तार जानना चाहता हूँ ॥१॥ हे योगिराज, इस ध्यानका लक्षण क्या है ? इसके कितने भेद हैं ? इसकी निरुक्ति (शब्दार्थ) क्या है ? इसके स्वामी कौन हैं ? इसका समय कितना है ? इसका हेतु क्या है ? और इसका फल क्या है ? ॥२॥ हे स्वामिन्, इसका भाव क्या है ? इसका आधार क्या है ? इसके भेदोंके क्या-क्या नाम हैं ? और उन सबका क्या-क्या अभिप्राय है ? ॥३॥ इसका आलम्बन क्या है और इसमें बल पहुँचाने-वाला क्या है ? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ, यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥४॥ मोक्षके साधनोंमें ध्यान ही सबसे उत्तम साधन माना गया है इसलिए हे भगवन्, इसका यथार्थ स्वरूप कहिए जो कि बड़े-बड़े मुनियोंके लिए भी गोप्य है ॥५॥ इस प्रकार पूछनेवाले राजा-श्रेणिकसे भगवान् गौतमगणधर अपने दाँतोंकी फैलती हुई किरणोंरूपी जलसे उसके शरीरका अभिप्रेक करते हुए कहने लगे ॥६॥ कि हे राजन्, जो कर्मोंके क्षय करनेरूप कार्यका मुख्य साधन है ऐसे ध्यान नामके उत्कृष्ट तपका मैं तुम्हारे लिए आगमके अनुसार अच्छी तरह उपदेश देता हूँ ॥७॥

तन्मय होकर किसी एक ही वस्तुमें जो चित्तका निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं । वह ध्यान ब्रह्मवृषभनाराचसंहननवालोंके अधिकसे-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ॥८॥ जो चित्तका परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चञ्चल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भाषणा अथवा चित्त कहते हैं ॥९॥ यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् ब्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तकके होता है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ देवके भी योगके बल

१. अथ । २. किम्भेदाः त०, व० । ३. कोदृक् स्वामी यस्य तत् । ४. कीदृशे हेतुफले यस्य तत् । ५. ध्यानम् । ६. भो स्वामिन् । ७. नाम्नाम् । ८. बलजन्मनम् । ९. बीडुमिच्छामि । १०. कारणात् । ११. ध्यानरय । १२. रक्षणोयम् । ज्ञेयं अ० । १३. यतोऽशिनम् प० । १४. किरण । १५. तप । १६. आगम-नुसारेण । १७. अनन्यमनोवृत्त्या । १८. ब्रह्मवृषभनाराचसंहननस्य । १९. अन्तर्मुहूर्तपर्यन्तम् । २०. परिणामः । २१. चञ्चलम् । २२. सविचारा । २३. कायवाद्मनःकर्मरूपात्मनस्य ।

धीर्वाक्यत्तवृत्तिश्चाद् ध्यानं तज्ज्ञेतिरुच्यते । यथार्थमभि^३संधानादपध्या^४नमतो^५ अन्यथा^६ ॥११॥
योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधःस्वान्तनिग्रहः । अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः^७ स्मृता बुधैः ॥१२॥
ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करणसाधनम्^८ । ध्यायतीति च कर्तृत्वं वाच्यं स्वातन्त्र्यसंभवात् ॥१३॥
भावमात्राभिधिरसाया^९ ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते । शक्तिभेदाज्ज्ञतत्त्वं^{१०} स्य युक्तमेकत्र^{११} तत्^{१२} त्रयम् ॥१४॥
यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाकृत्यो ध्येयगोचरः । तथाप्येकाग्रसंज्ञो^{१३} ध्येये बोधादि^{१४} वाच्यताम् ॥१५॥

से होनेवाले आस्रवका निरोध करनेके लिए उपचारसे माना जाता है ॥१०॥ ध्यानके स्वरूपको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुष ध्यान उसीको कहते हैं जिसकी वृत्ति अपने बुद्धिबलके अधीन होती है क्योंकि ऐसा ध्यान ही यथार्थमें ध्यान कहा जा सकता है इससे विपरीत ध्यान अप-ध्यान कहलाता है ॥११॥ योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धिको चञ्चलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मनको बशमें करना, और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्माके स्वरूपमें लीन होना आदि सब ध्यानके ही पर्यायवाचक शब्द हैं—ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१२॥ आत्मा जिस परिणामसे पदार्थका चिन्तन करता है उस परिणामको ध्यान कहते हैं यह करण-साधनकी अपेक्षा ध्यानशब्दकी निरुक्ति है । आत्माका जो परिणाम पदार्थोंका चिन्तन करता है उस परिणामको ध्यान कहते हैं यह कर्तृ-वाच्यकी अपेक्षा ध्यानशब्दकी निरुक्ति है क्योंकि जो परिणाम पहले आत्मा रूप कर्ताके परतन्त्र होनेसे करण कहलाता था वही अब स्वतन्त्र होनेसे कर्ता कहा जा सकता है । और भाव-वाच्यकी अपेक्षा करनेपर चिन्तन करना ही ध्यानकी निरुक्ति है । इस प्रकार शक्तिके भेदसे ज्ञान-स्वरूप आत्माके एक ही विषयमें तीन भेद होना उचित ही है । भावार्थ-व्याकरणमें कितने ही शब्दोंकी निरुक्ति करण-साधन, कर्तृसाधन और भावसाधनकी अपेक्षा तीन-तीन प्रकारसे की जाती है । जहाँ करणकी मुख्यता होती है उसे करण-साधन कहते हैं, जहाँ कर्ताकी मुख्यता है उसे कर्तृ-साधन कहते हैं और जहाँ क्रियाकी मुख्यता होती है उसे भाव-साधन कहते हैं । यहाँ आचार्यने आत्मा, आत्माके परिणाम और चिन्तन रूप क्रियामें नय विवक्षासे भेदाभेद रूपकी विवक्षा कर एक ही ध्यानशब्दकी तीनों साधनों-द्वारा निरुक्ति की है, जिस समय आत्मा और परिणाममें भेद-विवक्षा की जाती है उस समय आत्मा जिस परिणामसे ध्यान करे वह परिणाम ध्यान कहलाता है ऐसी करणसाधनसे निरुक्ति होती है । जिस समय आत्मा और परिणाममें अभेद-विवक्षा की जाती है उस समय जो परिणाम ध्यान करे यही ध्यान कहलाता है, ऐसी कर्तृ-साधनसे निरुक्ति होती है और जहाँ आत्मा तथा उसके प्रदेशोंमें होनेवाले ध्यान रूप क्रिया में अभेद माना जाता है उस समय ध्यान करना ही ध्यान कहलाता है ऐसी भावसाधनसे निरुक्ति सिद्ध होती है ॥१३-१४॥ यद्यपि ध्यान ज्ञानकी ही पर्याय है और ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थोंको ही विषय करनेवाला है तथापि एक जगह एकत्रित रूपसे देखा जानेके कारण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप-व्यवहारको भी धारण कर लेता है । भावार्थ—स्थिर रूपसे पदार्थको जानना ध्यान कहलाता है इसलिए ध्यान ज्ञानकी एक पर्याय विशेष है । आत्माके जो प्रदेश ज्ञान रूप हैं वे ही प्रदेश दर्शन, सुख और वीर्य रूप भी हैं इसलिए एक ही जगह रहनेके कारण ध्यानमें दर्शन सुख आदिका भी व्यवहार किया जाता है ॥ १५ ॥

१. कायबल । २. ध्यानलक्षणयुक्तम् । ३. अभिप्रायमाश्रित्य । ४. चिन्ताविरूपम् । ५. उक्तलक्षण-ध्यानात् । ६. धौवलायत्तवृत्तिभावाज्ज्ञातम् । ७. ध्यानपर्यायाः । ८. करणव्युत्पत्त्या निष्पन्नम् । ९. सत्तामात्र-मभिधायुमिच्छायां सत्याम् । १०. आत्मस्वरूपस्य । ११. ध्याने । १२. करणकर्तृभावसाधनानां त्रयम् । १३. संबद्धो भूत्वा । —संज्ञो ल०, म० । —संज्ञो व० । १४. एव इत्यर्थः । —वाच्यताम् ल०, म०, व० ।

हर्षामर्षादिवत् सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यवबोधितः । प्रकाशते विभिन्नात्मा कथंचित् स्तिमितात्मकः ॥१९॥
 ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्सत्त्वं यथास्थितम् । चित्तात्मास्माद्यसंकल्पादौदासीन्ये निवेशितम् ॥२०॥
 अथवा ध्येयमध्यात्मं तत्त्वं मुक्ते तत्रात्मकम् । तत्तद्व्यचिन्तनं ध्यानुपयोग्यं स्य शुद्धये ॥२१॥
 उपयोगविशुद्धौ च बन्धहेतुर् न्युदस्यतः । संवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसंशयम् ॥२२॥
 सुमुखोर्ध्वानुकामस्य सर्वमालम्बनं जगत् । यद्यथास्थितं वस्तु तथा तत्तद्व्यवस्थं स्यतः ॥२३॥
 किमत्र बहुना यो यः कश्चिद् भावः सपर्ययः । स सर्वोऽपि यथान्यायं ध्येयकोटिं विगाहते ॥२४॥
 शुभाभिसन्धिर्लोकं ध्याने स्यादेवं ध्येयकल्पना । प्रीत्यप्रीत्यभिसंधानादसद्ध्याने विपर्ययः ॥२५॥
 भवतश्चित्तवृत्तजो वैपरीत्येन भावयन् । प्रीत्यप्रीती समाभावः संकिलप्तं ध्यानमुच्छति ॥२६॥

जिस प्रकार सुख तथा क्रोध आदि भाव चैतन्यके ही परिणाम कहे जाते हैं परन्तु वे उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होते हैं—अनुभवमें आते हैं इसी प्रकार अन्तःकरणका संकोच करने रूप ध्यान भी यद्यपि चैतन्य (ज्ञान) का परिणाम बतलाया गया है तथापि वह उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होता है । भावार्थ—पर्याय और पर्यायीमें कथंचिद् भेदकी विवक्षा कर यह कथन किया गया है ॥१९॥ जगत्के समस्त तत्त्व जो जिस रूपसे अवस्थित हैं और जिनमें यह मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा संकल्प न होनेसे जो उदासीन रूपसे विश्रामान हैं वे सब ध्यानके आलम्बन (विषय) हैं । भावार्थ—ध्यानमें उदासीन रूपसे समस्त पदार्थोंका चिन्तन किया जा सकता है ॥२०॥ अथवा संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेदवाले आत्म तत्त्वका चिन्तन करना चाहिए क्योंकि आत्मतत्त्वका चिन्तन ध्यान करनेवाले जीवके उपयोगकी विशुद्धिके लिए होता है ॥२१॥ उपयोगकी विशुद्धि होनेसे यह जीव बन्धके कारणोंको नष्ट कर देता है, बन्धके कारण नष्ट होनेसे उसके संवर और निर्जरा होने लगती है तथा संवर और निर्जराके होनेसे इस जीवको निःसन्देह मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है ॥२२॥ जो-जो पदार्थ जिस-जिस प्रकारसे अवस्थित हैं उसको उसी-उसी प्रकारसे निश्चय करनेवाले तथा ध्यानको इच्छा रखनेवाले मोक्षाभिलाषी पुरुषके यह समस्त संसार आलम्बन है । भावार्थ—राग-द्वेषसे रहित होकर किसी भी वस्तुका ध्यान कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ॥२३॥ अथवा इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है संक्षेपमें इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस संसारमें अपनी-अपनी पर्यायों सहित जो-जो पदार्थ हैं वे सब आम्नायके अनुसार ध्येय कोटिमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उन सभीका ध्यान किया जा सकता है ॥२४॥ इस प्रकार जो ऊपर ध्यान करने योग्य पदार्थोंका वर्णन किया गया है वह सब शुभ पदार्थका चिन्तन करने-वाले ध्यानमें ही समझना चाहिए । यदि इष्ट अनिष्ट वस्तुओंका चिन्तन किया जायेगा तो वह असद्ध्यान कहलायेगा और उसमें ध्येयकी कोई कल्पना नहीं की जाती अर्थात् असद्ध्यानका कुछ भी विषय नहीं है—कभी असद्ध्यान नहीं करना चाहिए ॥२५॥ जो मनुष्य तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप नहीं समझता वह विपरीत भावसे अतद्रूप वस्तुको भी तद्रूप चिन्तन करने लगता है और पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर केवल संकलेश सहित ध्यान धारण

१. विभिन्नात्मा इति वदचित् । २. आत्मतत्त्वम् । ३. मुक्तजीवसंसारजीवस्वरूपम् । ४. जानस्य । ५. निरस्यतः पुंसः । —न्युदस्तः ल०, म० । ६. निदिचन्वतः । ७. पदार्थः । ८. यथाप्रमाणम् । यथान्यायं ल०, म०, द०, अ०, इ०, स० । ९. शुभाभिसन्धित्वं । शुभाभिसन्धिति ल०, म०, द० । १०. ध्येयकल्पना भवतीत्यर्थः । ११. आश्रित्य ।

संकल्पवशगो मूढो वक्षिष्यन्निष्टतां नयेत् । रागद्वेषां तत्तत्ताभ्यां मन्थं कुर्मोचमश्नुते ॥२४॥
 संकल्पो मानसी वृत्तिविषयवन्नुत्पिणी । मैत्र दुष्प्रणिधानं पादपध्यानभक्तो निदुः ॥२५॥
 तस्मादाशयशुद्धयर्थमिष्टा तत्त्वार्थभाषना । ध्यानं ध्यातृरतस्तत्त्वेन ध्यानं ध्यातृरतस्तत्त्वेन ॥२६॥
 प्रशस्तमप्रशस्तं च ध्यानं संस्मर्यते द्विधा । शुभाशुभाभिसंयमानात् प्रत्येकं तद्द्वयं द्विधा ॥२७॥
 चतुर्धा तत्खलु ध्यानमित्याप्तैरनुवर्णितम् । आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति विकल्पतः ॥२८॥
 हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुष्प्रधानं भववर्धनम् । उत्तरं द्वितयं ध्यानमुपादेयं तु योगिनाम् ॥२९॥
 तेषामन्तर्भिदां चक्ष्ये लक्ष्म निर्वचनं तथा । बलाधानमधिष्ठानं कालभावकलान्यपि ॥३०॥
 ऋते भवभयान्तं स्याद् ध्यानमाद्यं चतुर्विधम् । इष्टानवाप्त्यनिष्टासिनिदानासात् हेतुकम् ॥३१॥
 विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुत्पन्नम् । अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुश्लिष्टतमम् ॥३२॥
 निदानं भोगकाङ्क्षार्थं संकिलष्टस्यान्यभोगतः । स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनान्तं च तत्क्षये ॥३३॥

करता है ॥२३॥ संकल्प-विकल्पके बशीभूत हुआ मूर्ख प्राणी पदार्थोंको इष्ट-अनिष्ट समझने लगता है उससे उसके राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेषसे जो कठिनतासे बूट सके ऐसे कर्मबन्धको प्राप्त होता है ॥२४॥ विषयोंमें तृष्णा बढ़ानेवाली जो मनकी प्रवृत्ति है वह संकल्प कहलाती है उसी संकल्पको दुष्प्रणिधान कहते हैं और दुष्प्रणिधानसे अपध्यान होता है ॥२५॥ इसलिए चित्तकी शुद्धिके लिए तत्त्वार्थकी भावना करनी चाहिए क्योंकि तत्त्वार्थकी भावना करनेसे ज्ञानकी शुद्धि होती है और ज्ञानकी शुद्धि होनेसे ध्यानकी शुद्धि होती है ॥२६॥ शुभ और अशुभ चिन्तन करनेसे वह ध्यान प्रशस्त तथा अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका स्मरण किया जाता है । उस प्रशस्त तथा अप्रशस्त ध्यानमें-से भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं । भावार्थ-जो ध्यान शुभ परिणामोंसे किया जाता है उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामोंसे किया जाता है उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं । प्रशस्त ध्यानके धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं तथा अप्रशस्त ध्यानके आर्त और रौद्र ऐसे दो भेद हैं ॥२७॥ इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्ने वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका वर्णन किया है ॥२८॥ इन चारों ध्यानमें-से पहलेके दो अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान छोड़नेके योग्य हैं क्योंकि वे स्रोटे ध्यान हैं और संसारको बढ़ानेवाले हैं तथा आगेके दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान मुनियोंको भी ग्रहण करने योग्य हैं ॥२९॥ अब इन ध्यानोंके अन्तर्भेद, उनके लक्षण, उनकी निरुक्ति, उनके बलाधान, आधार, काल, भाव और फलका निरूपण करेंगे ॥३०॥

जो ऋत अर्थात् दुःखमें हो वह पहला आर्तध्यान है वह चार प्रकारका होता है—पहला इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, दूसरा अनिष्ट वस्तुके मिलनेसे, तीसरा निदानसे और चौथा रोग आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ॥३१॥ किसी इष्ट वस्तुके वियोग होनेपर उनके संयोगके लिए बार-बार चिन्तन करना सो पहला आर्तध्यान है । इसी प्रकार किसी अनिष्ट वस्तुके संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए निरन्तर चिन्तन करना सो दूसरा आर्तध्यान है ॥३२॥ भोगोंकी आकांक्षासे जो ध्यान होता है वह तीसरा निदान नामका आर्तध्यान कहलाता है । यह ध्यान दूसरे पुरुषोंकी भोगोपभोगकी सामग्री देखनेसे संकिलष्ट चित्तवाले जीवके होता है और किसी वेदनासे पीड़ित मनुष्यका उस वेदनाको नष्ट करनेके लिए जो बार-बार चिन्तन

१. इष्टानिष्टमयमात् । २. वाञ्छावती । ३. दुष्टचिन्ता । ४. दुःप्रणिधानं अ०, प० । ५. अवान्तर-भेदान् । — नन्तर्भिदां ल०, म०, इ०, अ०, प०, उ० । ६. बलजम्भणम् । ७. इष्टवियोगहेतुकमनिष्टसंयोगहेतुकं निदानहेतुकम् असात्ताहेतुकमिति । ८. — नाज्ञानहे — ल०, म० । ९. वाञ्छा । १०. स्मृत्यविच्छिन्नप्रवर्तनम् । चिन्ताप्रबन्धमित्यर्थः ।

कृते विना मनोज्ञार्थो भवति इष्टवियोगजम् । निदानं प्रत्ययं सैवमप्राप्त्यर्थचिन्तनात् ॥३४॥

कृतेऽप्युपगमोऽनिष्टे भवति द्वितीयकम् । मन्वेचतुर्थमप्येवं वेदनोपगमोऽवम् ॥३५॥

प्राप्त्यप्राप्त्यर्थमनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने । निदानवेदनापायविषये चानुचिन्तने ॥३६॥

इत्युक्तमार्तार्थमचिन्त्यं ध्यातं अनुविधम् । प्रमादविहितं तत्तु पद्गुणस्थानसंश्रितम् ॥३७॥

अप्रशस्ततमं लेख्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितम् । अन्तर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलम्बनम् ॥३८॥

आयोपशमिकोऽस्य स्याद् भावस्तिर्यग्गतिः फलम् । तस्माद् दुर्ध्यानमातीत्यं ह्यं श्रेयोऽर्थिनाभिदम् ॥३९॥

मृच्छा कोशाल्यं कनादये कोसीधा न्यतिगृध्रुता । भयोद्दे गानुशोकाश्च लिङ्गा न्यातं स्मृतानि च ॥

बाष्पं च लिङ्गानां स्यात् प्रायश्चित्तं चिन्तितम् । अन्तर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलम्बनम् ॥४०॥

प्राणिनां रोदनात् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निवृणः । पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं अनुविधम् ॥४१॥

होता है वह चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३३॥ इष्ट वस्तुओंके विना होनेवाले दुःखके समय जो ध्यान होता है वह इष्टवियोगज नामका पहला आर्तध्यान कहलाता है, इसी प्रकार प्राप्त नहीं हुए इष्ट पदार्थके चिन्तावनसे जो आर्तध्यान होता है वह निदानप्रत्यय नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥३४॥ अनिष्ट वस्तुके संयोगके होनेपर जो ध्यान होता है वह अनिष्ट-संयोगज नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है और वेदना उत्पन्न होनेपर जो ध्यान होता है वह वेदनोपगमोऽव नामका चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३५॥ इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए, अनिष्ट वस्तुको अप्राप्तिके लिए, भोगोपभोगकी इच्छाके लिए और वेदना दूर करनेके लिए जो बार-बार चिन्तन किया जाता है उसी समय ऊपर कहा हुआ चार प्रकारका आर्तध्यान होता है ॥३६॥ इस प्रकार आर्त अर्थात् पीड़ित आत्मावाले जीवोंके द्वारा चिन्तन करने योग्य चार प्रकारके आर्तध्यानका निरूपण किया । यह कषाय आदि प्रमादसे अधिष्ठित होता है और प्रसक्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान तक होता है ॥३७॥ यह चारों प्रकारका आर्तध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण, नील और कपोल लेख्याका आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है और आलम्बन अशुभ है ॥३८॥ इस आर्तध्यानमें आयोपशमिक भाव होता है और तिर्यक् गति इसका फल है इसलिए यह आर्त नामका छोटा ध्यान कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा छोड़ने योग्य है ॥३९॥ परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, व्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्तध्यानके चिह्न हैं ॥४०॥ इसी प्रकार शरीरका क्षीण हो जाना, शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाना, हाथोंपर कपोल रखकर पड़नापाप करना, आँसू डालना तथा इसी प्रकार और और भी अनेक कार्य आर्तध्यानके बाध चिह्न कहलाते हैं ॥४१॥ इस प्रकार आर्तध्यानका वर्णन पूर्ण हुआ, अब रौद्र ध्यानका निरूपण करते हैं—जो पुरुष प्राणियोंको मलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सव जीवोंमें निर्दय कहलाता

१. निदानहेतुकम् । २. अनिष्टे वस्तुनि समागतं इति भावः । लुपगते ८०, ४० । ३. द्वितीयार्तध्या-
नोक्तप्रकारेण । ४. मनोज्ञार्थप्राप्तौ । स्मृतियोजनम् । ५. निदानं च वेदनापायश्च निदानवेदनापायो निदानवेदना-
पायो विषयो यथोक्तं निदानवेदनापायविषये । ६. निदानानुचिन्तनं वेदनापायानुचिन्तनमित्यर्थः । ७. ध्यानम् ।
८. पद्गुणस्थानसंश्रितमित्यनेन किंस्वामिकामिति पदं व्याख्यातम् । ९. लेख्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितमित्यनेन
बलाधानमुक्तम् । १०. अप्रशस्तपरिणामावलम्बनम् । अनेन किमालम्बनमिति पदं प्रोक्तम् । ११. परिग्रहः ।
१२. कुशीलत्व । १३. लुब्धत्वं अथवा कृतघ्नत्व । १४. आलस्य । १५. अत्यभिलाषिता । १६. इष्टवियोगेषु
विपन्नवभाव एवोद्वेगः । विनचलन । १७. चिह्नानि । १८. गान्धर्व्यानिः ८० । शरीरपोषणम् । १९. शान्तारि-
सद्वन् । २०. शस्त्रकारित्वात् ।

हिंसानन्दमृषानन्दस्वयं संरक्षणात्मकम् । षड्धा तु तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुणभूमिकम् ॥४३॥

प्रकृष्टतरदुर्लभ्यान्मयोपो^१द्वलचूडितम् । अन्तर्मुहूर्तकालीरुधं पूर्ववद्भाव^२ इष्यते ॥४४॥

वधवन्धामि^३संधानमङ्गच्छेदोपतापने । ^४दण्डपारुष्यमिष्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः ॥४५॥

हिंसानन्दं समाधाय^५ हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः । हिनस्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद् हन्याच्च वा परान् ॥४६॥

सिक्ख्यमत्स्यः किलैकोऽसौ स्वयंभूरमणा^६म्बुधी । महामत्स्यसमानोपानवाप स्मृतिदोषतः ॥४७॥

पुरा किलारविन्दालयः प्रख्यातः स्वचराधिपः । रुधिरस्नानरौद्रामिसंधिः^७ श्वाभी^८ विवेश सः ॥४८॥

अनानुशंस्यं हिंसोपकरणाशनतत्कथाः । निसर्गहिंसरा^९ चेति लिङ्गान्यस्थ^{१०} स्मृतानि वै ॥४९॥

मृषानन्दो मृषावादैरतिसन्धानचिन्तनम्^{११} । वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद्^{१२} द्वितीयं रौद्रमिष्यते ॥५०॥

हैं ऐसे पुरुषमें जो ध्यान होता है तसे रौद्रध्यान कहते हैं यह रौद्रध्यान भी चार प्रकारका होता है ॥४३॥ हिंसानन्द अर्थात् हिंसामें आनन्द मानना, मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, स्तेयानन्द अर्थात् चोरी करनेमें आनन्द मानना और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रहकी रक्षामें ही रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यानके चार भेद हैं । यह ध्यान छठे गुणस्थानके पहले-पहले पाँच गुणस्थानोंमें होता है ॥४३॥ यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त काल-तक रहता है और पहले आर्तध्यानके समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है ॥४४॥ मारने और बाँधने आदिकी इच्छा रखना, अंग-उपांगोंको छेदना, सन्ताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदिको बिद्वान् लोग हिंसानन्द नामका आर्तध्यान कहते हैं ॥४५॥ जीवोंपर ध्यान करने-वाला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नामके रौद्रध्यानको धारण कर पहले अपने-आपका घात करता है पीछे अन्य जीवोंका घात करे अथवा न करे । भावार्थ—अन्य जीवोंका मारा जाना उनके आयु कर्मके अधीन है परन्तु मारनेका संकल्प करनेवाला हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होनेसे अपने आत्माकी हिंसा अवश्य कर लेता है अर्थात् अपने क्षमा आदि गुणोंको नष्ट कर भाव हिंसाका अपराधी अवश्य हो जाता है ॥४६॥ स्वयंभूरमण समुद्रमें जो तन्दुल नामका छोटा मत्स्य रहता है वह केवल स्मृतिदोषसे ही महामत्स्यके समान दोषोंको प्राप्त होता है । भावार्थ—राघव मत्स्यके कानमें जो तन्दुल मत्स्य रहता है वह यद्यपि जीवोंकी हिंसा नहीं कर पाता है केवल बड़े मत्स्यके मुखविवरमें आये हुए जीवोंको देखकर उसके मनमें उन्हें मारनेका भाव उत्पन्न होता है तथापि वह उस भाव-हिंसाके कारण मरकर राघव मत्स्यके समान ही सातवें नरकमें जाता है ॥४७॥ इसी प्रकार पूर्वकालमें अरविन्द नामका प्रसिद्ध विद्याधर केवल रुधिरमें स्नान करने रूप रौद्र ध्यानसे ही नरक गया था ॥४८॥ क्रूर होना, हिंसाके उपकरण तलवार आदिको धारण करना, हिंसाकी ही कथा करना और स्वभावसे ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यानके चिह्न माने गये हैं ॥४९॥ झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देनेका चिन्तन करना सो मृषानन्द नामका दूसरा रौद्रध्यान है तथा कठोर वचन बोलना

१. सहाय । २. क्षायोपशमिकभावः । —भावमिष्यते ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०, द० ।

३. अभिप्रायः । ४. बाह्यलिङ्गोपलक्षितवधवन्धादिनैष्ठुर्यम् । ५. अवलम्ब्य । ६. अभिप्रायः । ७. नरकगतिम् ।

८. अनुशंस्यं हिंसो —ल०, म०, द०, प० । न नृशंसः अनुशंसः अनुशंसस्य भावः आनुशंस्यम् अनानुशंस्यम्,

अक्रौर्यम् । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यर्थः । ९. स्वभावहिंसनशीलता । १०. रौद्रस्य । ११. अतिवञ्चनम् ।

१२. ध्यानम् ।

स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम् । भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृतिरर्थाज्जनादिषु ॥५१॥
 प्रतीतलिङ्गमेवैतद् रौद्रध्यानद्वयं भुवि । नारकं दुःखमस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरम् ॥५२॥
 बाह्यं तु लिङ्गमस्याहुर्भूमिङ्गं भुलविक्रियाम्^१ । प्रस्वेदमङ्गकं पञ्च नेत्रमोक्षवातिनाम्नयाम् ॥५३॥
 प्रथमेन विनैवेतदसंस्थानद्वयं भवेत् । अनादिवासनोद्भूतमतस्तद्विसृजेन्मुनिः ॥५४॥
 ध्यानद्वयं विसृज्याद्यमसंसारकारणम् । यदोत्तरं द्वयं ध्यानं मुनिनाभ्यसिष्यते^२ ॥५५॥
 तदेदं परिकर्मैष्टं देशावस्थाशुपाश्रयम् । बहिःसामग्यधीनं हि फलमत्र द्वयात्मकम्^३ ॥५६॥
 मूल्यालये इमशाने वा जरतुद्यामकेऽपि^४ वा । सरिपुलिनगिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ॥५७॥
 शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातके । नायुष्मशिशिरं नापि प्रवृद्धतरमावृते ॥५८॥
 विमुक्तवर्षसंवाधे^५ सूक्ष्मजन्त्रनुपद्रुते । जलसंपातनिर्मुक्ते मन्दमन्दनभस्वति ॥५९॥
 पश्यन्मासनं यदध्या सुनिविष्टो महीतले । सममृज्वायतं^६ विभ्रद्गात्रमस्तव्य^७ वृत्तिकम् ॥६०॥
 स्वपर्यङ्गे करं वामं न्यस्योत्तानतलं पुनः । तस्योपरीतरं^८ पाणिमपि विन्यस्य तत्समम् ॥६१॥

आदि इसके बाह्य चिह्न हैं ॥५१॥ दूसरेके द्रव्यके हरण करने अर्थात् चोरी करनेमें अपना चित्त लगाना—उसीका चिन्तन करना सो स्तेयानन्द नामका तीसरा रौद्रध्यान है और धनके उपार्जन करने आदिका चिन्तन करना सो संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है । (संरक्षणानन्दका दूसरा नाम परिग्रहानन्द भी है) ॥५१॥ स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द इन दोनों रौद्रध्यानोंके बाह्य चिह्न संसारमें प्रसिद्ध हैं । गणधरदेवने इस रौद्रध्यानका फल अतिशय कठिन तरकगतिके दुःख प्राप्त होना बतलाया है ॥५२॥ भौह देदी हो जाना, मुखका विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कंपने लगना और नेत्रोंका अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥५३॥ अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न होनेवाले ये दोनों (आर्त और रौद्र) ध्यान बिना प्रयत्नके ही हो जाते हैं इसलिये मुनियोंको इन दोनोंका ही त्याग करना चाहिए ॥५४॥ संसारके कारणस्वरूप पहले कहे हुए दोनों छोटे ध्यानोंका परित्याग कर मुनि लोग अन्तके जिन दो ध्यानोंका अभ्यास करते हैं वे उत्तम हैं, देश तथा अवस्था आदिकी अपेक्षा रखते हैं, बाह्य सामर्थ्यके अधीन हैं और इन दोनोंका फल भी गौण तथा मुख्यकी अपेक्षा दो प्रकारका है ॥५५-५६॥ अध्यात्मके स्वरूपको जाननेवाला मुनि, सूने घरमें, इमशानमें, जीर्ण वनमें, नदीके किनारे, पर्वतके शिखरपर, गुफामें, वृक्षकी कोटरमें अथवा और भी किसी ऐसे पवित्र तथा मनोहर प्रदेशमें, जहाँ आतप न हो, अतिशय गरमी और सर्दी न हो, तेज वायु न चलता हो, वर्षा न हो रही हो, सूक्ष्म जीवोंका उपद्रव न हो, जलका प्रपात न हो और मन्द-मन्द वायु बह रही हो, पर्यंक आसन बाँधकर पृथिवीतलपर विराजमान हो, उस समय अपने शरीरको सम सरल और निश्चल रखे, अपने पर्यंकमें बाँधा हाथ इस प्रकार रखे कि जिससे उसकी हथेली ऊपरकी ओर हो, इसी प्रकार दाहिने हाथको भी बाँधा हाथपर रखे, आँखोंको न तो अधिक खोले ही और न अधिक बन्द ही रखे, धीरे-धीरे

१. विकारम् । २. आनेरौद्रद्वयम् । ३. असाधु । ४. यदुत्तरं ल०, म०, इ०, अ०, स० । ५. अभ्यसि-
 तुमिच्छते । ६. तदिष्टं ल०, म०, इ०, अ०, स० । ७. देशासनभेदादिवक्ष्यमाणलक्षण । ८. निश्चयव्यवहारा-
 त्मकम् । अथवा मूर्खामुखात्मकम् । ९. पुराणोद्याने । १०. संबन्धे ल०, म० । ११. जलसंपात-
 द०, इ० । १२. सममृज्वायति अ०, इ० । सममृज्वायति प०, ल०, म० । १३. प्रयत्नपरवृत्तिकम् ।
 १४. दक्षिणहस्तम् ।

नायुनिमग्नं चायत्नं निमिषमन्दमुच्छ्वसन् । इन्तीदंताग्रमंधानपरां धीरो^१ निरुद्धधीः ॥६२॥
 हृदि मूर्ध्नि ललाटे वा ताभिरुर्ध्वं परत्र^२ वा । स्वाभ्यासप्रशस्तचित्तं निधायाध्यात्मचिन्तुनिः ॥६३॥
 ध्यायेद् द्रव्यादियाधात्म्यमागमाथानुसारतः । परीषहोरिथता बाधाः सहमानो निराकुलः ॥६४॥
^३प्राणाग्निमं प्रतितीक्ष्णं स्यादद्वयं स्यात्कुलं मनः । व्याकुलस्य समाधानमज्ञातं ध्यानसंभवः ॥६५॥
 अपि व्युत्सृष्टकायस्य समाधिप्रतिपत्त्ये^४ । मन्दोच्छ्वासनिमेषाविबृत्तेर्नास्ति निषेधनम् ॥६६॥
^५समावस्थितकायस्य स्यात् समाधानमज्ञिनः । दुःस्थिताङ्गस्य तदमज्ञाद् भवेदाकुलता धियः ॥६७॥
 ततो यथोक्तपल्यकुलश्लेष्णासनमास्थितः । ध्यानाभ्यासं प्रकुर्वीत योगी^६ व्याधेपमुत्सृजन् ॥६८॥
^७पश्यन् इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः । समप्रयुक्तसर्वाङ्गं द्वात्रिंशद्विषयवर्जितः ॥६९॥
^८विस्मंशुलासनस्थस्य ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः । तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ॥७०॥
 वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सुखासनम् । कायोत्सर्गश्च^९ पर्यङ्कस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥७१॥
^{१०}तद्वस्त्राद्वयस्यैव प्राध्याप्यं ध्यायतो यतेः । प्रायस्तत्रापि पल्यकुलमासनन्ति सुखासनम् ॥७२॥

उच्छ्वास ले, ऊपर और नीचेकी दोनों दाँतोंकी पंक्तियोंको मिलाकर रखे और धीर-धीर हो मन-
 की स्वच्छन्द गतिको रोके । फिर अपने अभ्यासके अनुसार मनको हृदयमें, मस्तकपर, ललाटमें,
 नाभिके ऊपर अथवा और भी किसी जगह रखकर परीषहोंसे उत्पन्न हुई बाधाओंको सहता
 हुआ निराकुल हो आगमके अनुसार जीव-अजीव आदि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपका चिन्तन
 करे ॥५७-६४॥ अतिशय तीव्र प्राणायाम होनेसे अर्थात् बहुत देर तक श्वासोच्छ्वासके रोक
 रखनेसे इन्द्रियोंको पूर्ण रूपसे वशमें न करनेवाले पुरुषका मन व्याकुल हो जाता है । जिसका
 मन व्याकुल हो गया है उसके चित्तकी एकता नष्ट हो जाती है और ऐसा होनेसे उसका
 ध्यान भी टूट जाता है । इसलिए शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धिके लिए
 मन्द-मन्द उच्छ्वास लेना और पलकोंके लगने, उबड़ने आदिका निषेध नहीं है ॥६५-६६॥
 ध्यानके समय जिसका शरीर समरूपसे स्थित होता है अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है उसके
 समाधान अर्थात् चित्तकी स्थिरता रहती है और जिसका शरीर विषम रूपसे स्थित है उसके
 समाधानका भंग हो जाता है और समाधानके भंग हो जानेसे बुद्धिमें आकुलता उत्पन्न हो
 जाती है इसलिए मुनियोंको ऊपर कहे हुए पर्यंक आसनसे बैठकर और चित्तकी चञ्चलता
 छोड़कर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ॥६७-६८॥ ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिको
 पर्यंक आसनके समान कायोत्सर्ग आसन करनेकी भी आज्ञा है । कायोत्सर्गके समय शरीरके
 समस्त अंगोंको सम रखना चाहिए और आचार शास्त्रमें कहे हुए बत्तीस दोषोंका बचाव
 करना चाहिए ॥६९॥ जो मनुष्य ध्यानके समय विषम (ऊँचे-नीचे) आसनसे बैठता है उसके
 शरीरमें अवश्य ही पीड़ा होने लगती है, शरीरमें पीड़ा होनेसे मनमें पीड़ा होती है और मनमें
 पीड़ा होनेसे आकुलता उत्पन्न हो जाती है । आकुलता उत्पन्न होनेपर कुछ भी ध्यान नहीं किया
 जा सकता इसलिए ध्यानके समय सुखासन लगाना ही अच्छा है । कायोत्सर्ग और पर्यंक ये
 दो सुखासन हैं इनके सिवाय बाकी सब विषम अर्थात् दुःख करनेवाले आसन हैं ॥७०-७१॥
 ध्यान करनेवाले मुनिके प्रायः इन्हीं दो आसनोंकी प्रधानता रहती है और उन दोनोंमें भ

१. निरुद्धमनः । २. कण्ठादौ । ३. योगनिग्रहे, आनस्य प्राणस्य देध्वे । ४. असमर्थस्य । ५. तद्वत्-
 सरीरमकारस्य । ६. निश्चयाय । ७. समानस्थितशरीरस्य । ८. कार्यन्तरपारवश्यम् । ९. पर्यंक ल०, म०,
 इ० । १०. विषमोन्नतासनस्थस्य, अथवा वज्रवीरासनकुक्कुटासनादिविषमासनस्थ । विस्मंशुला-ल०, म० ।
 ११. कायोत्सर्गपर्यङ्कान्याम् । १२. कायोत्सर्गपर्यङ्काननद्वयरूपस्यैव ।

वज्रकाया महासत्त्वाः^१ सर्वावस्थान्तरस्थिताः^२ । अयन्ते ध्यानयोगेन^३ संप्राप्ताः पदमव्ययम् ॥७३॥
 बाहुस्योपेक्षया तस्मादवस्था^४ ह्यसंगरः । समतानां त्वपसर्गायैस्तद्वै^५ चिधं न^६ दुप्यति ॥७४॥
 देहावस्था पुनर्यैव न स्यात् ध्यानोपरोधिनी । तदवस्थो मुनिश्चरित् स्थिरत्वा^७ सिखाधिशय वा ॥७५॥
 देशादिनियमोऽप्येवं प्रायो वृत्तिव्यपाश्रयः । कृतात्मनां^८ तु सर्वोऽपि देशादिध्यानसिद्धये ॥७६॥
 स्त्रीपशुकलीबलंसक्तरहितं^९ विजनं मुनेः । सर्वदेवांचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥७७॥
 वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषमाननिपश्यतः । बाहुद्व्यादिन्द्रियार्थानां जातु^{१०} व्यग्रोभवेन्मनः ॥७८॥

पर्यंक आसन अधिक सुखकर माना जाता है ॥७३॥ आगममें ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महाशक्तिशाली हैं ऐसे पुरुष सभी आसनोंसे विराजमान होकर ध्यानके बलसे अविनाशी पद (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं ॥७३॥ इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ऐसे दो आसनोंका निरूपण असमर्थ जीवोंकी अधिकतासे किया गया है । जो उपसर्ग आदिके सहन करनेमें अतिशय समर्थ हैं ऐसे मुनियोंके लिए अनेक प्रकारके आसनोंके लगानेमें दोष नहीं है । भावार्थ—वीरासन, वज्रासन, गोदोहासन, धनुरासन आदि अनेक आसन लगानेसे कायक्लेश नामक तपकी सिद्धि होती अवश्य है पर हमेशा तप शक्तिके अनुसार ही किया जाता है । यदि शक्ति न रहते हुए भी ध्यानके समय दुःखकर आसन लगाया जाये तो उससे चित्त चंचल हो जानेसे मूल तत्त्व-ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकेगी इसलिए आचार्यने यहाँपर अशक्त पुरुषोंकी बहुलता देख कायोत्सर्ग और पर्यंक इन्हीं दो सुखासनोंका वर्णन किया है परन्तु जिनके शरीरमें शक्ति है, जो निषद्या आदि परीषदोंके सहन करनेमें समर्थ हैं उन्हें विचित्र-विचित्र प्रकारके आसनोंके लगानेका निषेध भी नहीं किया है । आसन लगाते समय इस बातका स्मरण रखना आवश्यक है कि वह कैबल वाह्य प्रदर्शनके लिए न हो किन्तु कायक्लेश तपश्चरणके साथ-साथ ध्यानकी सिद्धिका प्रयोजन होना चाहिए । क्योंकि जैन शास्त्रोंमें मात्र वाह्य प्रदर्शनके लिए कुछ भी स्थान नहीं है और न उस आसन लगानेवालेके लिए कुछ आत्मलाभ ही होता है ॥७४॥

अथवा शरीरकी जो-जो अवस्था (आसन) ध्यानका विरोध करनेवाली न हो उसी-उसी अवस्थामें स्थित होकर मुनियोंको ध्यान करना चाहिए । चाहें तो वे बैठकर ध्यान कर सकते हैं, खड़े होकर ध्यान कर सकते हैं और लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं ॥७५॥ इसी प्रकार देश आदिका जो नियम कहा गया है वह भी प्रायोवृत्तिको लिये हुए है अर्थात् हीन शक्तिके धारक ध्यान करनेवालोंके लिए ही देश आदिका नियम है, पूर्ण शक्तिके धारण करनेवालोंके लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यानके साधन हैं ॥७६॥ जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक जीवोंके संसर्गसे रहित हो या एकान्त हो वही स्थान मुनियोंके सदा निवास करनेके योग्य होता है और ध्यानके समय तो विशेष कर ऐसा ही स्थान योग्य समझा जाता है ॥७७॥ जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदिमें निवास करते हैं और निरन्तर विषयोंको देखा करते हैं ऐसे मुनियोंका चित्त इन्द्रियोंके विषयोंकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है

१. महामनोबलाः २. स्थिराः ३. ध्यानयोजनेन ४. कायोत्सर्गपर्यङ्कासनव्यवप्रतिष्ठा ५. तस्मात्कायोत्सर्गविरहात्मनादिविचित्रताः ६. दुष्टो न भवति ७. उपविश्य ८. प्रचुरवृत्ति-समाश्रयः ९. निरिच्छतात्मनाम् १०. संसर्गरहितं रागितनुरहितं वा ११. ध्यानरहितसर्वकालेऽपि १२. कदाचित् ।

ततो विविक्तशायित्वं वने वासश्च योगिनाम् । इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरक्तरयोः ॥७९॥
 हृत्पुष्पां व्यवस्थायां सत्यां धोरास्तु केष्वन । विहरन्ति जनाकीर्णैः शून्ये च समदर्शिनः ॥८०॥
 न चाहोरात्रमभ्यादिलक्षणः कालपर्ययः । नियतोऽस्यास्ति विध्यासोस्तद्वधानं सार्वकालिकम् ॥८१॥
 'यदेशकालचेष्टासु सर्वास्तेव समाहिताः' । सिद्धाः सिद्ध्यन्ति सेरस्यन्ति तावत् तन्निग्रमोऽस्यतः ॥८२॥
 यदा यत्र ययैस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात् । स कालः स च देशः स्याद् ध्यानावस्था च सा मता ॥८३॥
 प्रोक्ता ध्यातुरवस्थेयमिदानीं तस्य लक्षणम् । ध्येयं ध्यानं फलं चेति वाक्यमेतत्तत्पुष्टयम् ॥८४॥
 वज्रसंहननं कायमुद्धहन् बलवत्तमम् । ओम् शूरस्तपोयोगे स्वस्थस्तुतविस्तरः ॥८५॥
 दूरोत्सारितकुर्घ्यानी दुर्लेश्याः परिवर्जयन् । लेख्यादिशुद्धिमालम्भ्य भावयच्चप्रमत्तताम् ॥८६॥
 प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्वाक्छान्दितः । सूत्रार्थालम्बनो धीरः सोढाशेषपरोषहः ॥८७॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

॥७८॥ इसलिए मुनियोंको एकान्त स्थानमें ही शयन करना चाहिए और वनमें ही रहना चाहिए । यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है ॥७९॥
 यद्यपि मुनियोंके निवास करनेके लिए यह साधारण व्यवस्था कहो गयी है तथापि कितने ही समदर्शी धीर-वीर मुनिराज मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदि तथा वन आदि शून्य (निर्जन) स्थानोंमें विहार करते हैं ॥८०॥ इसी प्रकार ध्यान करनेके इच्छुक धीर-वीर मुनियोंके लिए दिन-रात और सन्ध्याकाल आदि काल भी निश्चित नहीं है अर्थात् उनके लिए समयका कुछ भी नियम नहीं है क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सभी समयमें उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समयोंमें किया जा सकता है ॥८१॥ क्योंकि सभी देश, सभी काल और सभी चेष्टाओं (आसनों) में ध्यान धारण करनेवाले अनेक मुनिराज आज तक सिद्ध हो चुके हैं, अब हो रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे इसलिए ध्यानके लिए देश, काल और आसन बगैरहका कोई खास नियम नहीं है ॥८२॥ जो मुनि जिस समय, जिस देशमें और जिस आसनसे ध्यानको प्राप्त हो सकता है उस मुनिके ध्यानके लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है ॥८३॥ इस प्रकार यह ध्यान करनेवालेकी अवस्थाका निरूपण किया । अब ध्यान करनेवालेका लक्षण, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ, ध्यान और ध्यानका फल ये चारों ही पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं ॥८४॥

जो वज्रवृषभनाराचसंहनन नामक अतिशय बलवान् शरीरका धारक है, जो तपश्चरण करनेमें अत्यन्त शूर-वीर है, जिसने अनेक शास्त्रोंका अच्छी तरहसे अभ्यास किया है, जिसने आर्त और रौद्र नामके खोटे ध्यानोंको दूर हटा दिया है, जो अशुभ लेश्याओंसे बचता रहता है, जो लेश्याओंकी शुद्धताका अवलम्बन कर प्रमादरहित अवस्थाका चिन्तन करता है, जो बुद्धिके पारको प्राप्त हुआ है अर्थात् जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबलसे सहित है, शास्त्रोंके अर्थका आलम्बन करनेवाला है, जो धीर-वीर है और जिसने समस्त परीषहों-

१. कारणात् । २. एकान्तप्रदेश । ३. जनभरितप्रदेश । ४. ध्यातुमिच्छोः । ५. तद्वचनम् म०, ल० ।
 ६. यस्मात् कारणात् । ७. समाधानयुक्ताः । ८. सिद्धपरमेष्ठिनो बभूवुरित्यर्थः । ९. सिद्धाः भविष्यन्ति ।
 १०. तद्देशकालादिनियमः । ११. आसनभेदः । १२. वक्तव्यम् । १३. समूहे शूरः । मुनिसमूहे शूरः ।
 संवत्सन्त इत्यर्थः । उद्यत्सूरः ४०, म०, द० । उद्यमूरः ६० । १४. आगमार्थाश्रयः ।

अपि चोद्भूतलक्षणः प्राप्तनिवेदभावनाः । वैराग्यभावनात्कर्षात् पश्यन् भोगानतर्पकाम् ॥८८॥

संज्ञानभावनापास्तमिध्याज्ञानतमो घनः । विशुद्धदर्शनापोदगादमिध्यात्वशल्यकः ॥८९॥

क्रियानिःश्रेयसोदर्काः प्रपद्योऽस्मत्तदुत्क्रियः । प्रोद्गतः करणीयेषु^१ प्युरसृष्टाकरणीयकः ॥९०॥

प्रयानां प्रत्यनीका ये दोषा हिंसानुनादयः । तानशेषाभिराकृत्य प्रसुद्धिमुपेयिषान् ॥९१॥

स्मरुद्धारतैरः क्षान्तिमार्दवीजन्तलाववैः^२ । कषाययैरिणस्तीमान् क्रोधादीन् विनिवर्तयन् ॥९२॥

अनित्यामशुचीन् दुःखान् पश्यन् भावाननात्मकान्^३ । वपुराशुर्गलारोग्ययीवमातिविकल्पितान् ॥९३॥

समुत्सृज्य विराभ्यस्तान् भावान्^४ रागाद्विलक्षणान् । भावयन् ज्ञानवैराग्यभावनाः प्रागभाविताः ॥९४॥

भावनाभिरसंमूढो^५ मुनिध्यानस्थिरो भवेत्^६ । ज्ञानदर्शनचारित्र्यवैराग्योपगताश्च ताः ॥९५॥

वाचनापृच्छने^७ चानुप्रेक्षणं^८ परिवर्तनम्^९ । सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावनाः ॥९६॥

संवेगं^{१०} प्रसमस्यैयमसंमूढत्वमस्मयः । अस्ति क्वचन^{११} कम्पति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः ॥९७॥

को सह लिया है ऐसे उत्तम मुनिको ध्याता कहते हैं ॥८५-८७॥ इसके सिवाय जिसके संसारसे भय उत्पन्न हुआ है, जिसे वैराग्यकी भावनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो वैराग्य-भावनाओंके उत्कर्षसे भोगोपभोगको सामग्रीको अतृप्ति करनेवाली देखता है, जिसने सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर दिया है, जिसने विशुद्ध सम्यग्दर्शनके द्वारा गाढ़ मिथ्यात्वरूपी शल्यको निकाल दिया है, जिसने मोक्षरूपी फल देनेवाली उत्तम क्रियाओंको प्राप्त कर समस्त अशुभ क्रियाएँ छोड़ दी हैं, जो करने योग्य उत्तम कार्योंमें सदा तत्पर रहता है, जिसने नहीं करने योग्य कार्योंका परित्याग कर दिया है, हिंसा, सूठ आदि जो व्रतोंके विरोधी दोष हैं उन सबको दूर कर जिसने व्रतोंकी परम शुद्धिको प्राप्त किया है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट अपने क्षमा, मार्दव, आर्जव और लाघव रूप धर्मोंके द्वारा अतिशय प्रबल क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायरूपी शत्रुओंका परिहार करता रहता है । जो शरीर, आयु, बल, आरोग्य और यौवन आदि अनेक पदार्थोंको अनित्य, अपवित्र, दुःखदायी तथा आत्मस्वभावसे अत्यन्त भिन्न देखा करता है, जिनका चिरकालसे अभ्यास हो रहा है ऐसे राग, द्वेष आदि भावोंको छोड़कर जो पहले कभी चिन्तनमें न आयी हुई ज्ञान तथा वैराग्य रूप भावनाओंका चिन्तन करता रहता है और जो आगे कही जानेवाली भावनाओंके द्वारा कभी मोहको प्राप्त नहीं होता ऐसा मुनि ही ध्यानमें स्थिर हो सकता है । जिन भावनाओंके द्वारा वह मुनि मोहको प्राप्त नहीं होता वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और वैराग्यकी भावनाएँ कहलाती हैं ॥८८-९५॥

जैन शास्त्रोंका स्वयं पढ़ना, दूसरोंसे पूछना, पदार्थके स्वरूपका चिन्तन करना, श्लोक आदि कण्ठ करना तथा समीचीन धर्मका उपदेश देना ये पाँच ज्ञानकी भावनाएँ जाननी चाहिए ॥९६॥ संसारसे भय होना, ज्ञान्त परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओंका त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शनकी भावनाएँ जानने-

१. अतृप्तिकरान् । २. संज्ञान-द०, इ० । संज्ञान-ल०, म० । ३. तमोबाहुल्यम् । ४. कर्तुं योग्येषु । ५. प्रतिकूलाः । ६. अत्युत्तमैः । ७. शीघ्रैः । ८. पर्यायरूपानर्णान् । ९. आत्मस्वरूपादभ्यान् । १०. अमादि-वासितान् । ११. पर्यायान् । १२. अधुमितः । १३. स्थिरो भवेत् ल०, म० । १४. पठनम् । १५. प्रश्नः । १६. विचारमहितम् । चानुप्रेक्षणम् ल०, म० । १७. परिवर्तनम् । १८. संसारभोक्तृत्वम् । १९. रागादीनां विगमः । २०. अखिलतत्त्वमातिः । २१. अखिलतत्त्वकृपा ।

ईर्यादि^१विषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः । परोषहसद्विष्णुत्वमिति चारित्रभावनः ॥९८॥

विषयेष्वनमिध्वंगः कायतत्त्वानुध्विन्तनम् । जगत्स्वभावचिन्त्येति वैराग्यस्थैर्यसाधनः ॥९९॥

एवं भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्यादिसंपदि^२ । तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेद्व्यग्रता धियः ॥१००॥

स धनुर्दशपूर्वज्ञो द^३पूर्वधरोऽपि वा । नवपूर्वधरो वा स्याद् ध्याता सम्पूर्णलक्षणः ॥१०१॥

श्रुतेन^४ विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः । प्रबुद्धधोरधःश्रेण्या^५ धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥१०२॥

स एवं लक्षणो ध्याता सामग्रीं प्राप्य पुष्कलाम्^६ । क्षपकोपशमश्रेण्योत्कृष्ट^७ ध्यानसृच्छति^८ ॥१०३॥

भाषसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिधितः । शिमिराद्यैर्मज्जेच्छेद्योमितरां श्रुततत्त्ववित् ॥१०४॥

किंचिद्दृष्टिमुपावर्त्य^९ बहिरर्थकदम्बकात् । स्मृतिमात्मनि संधाय ध्यायेद् ध्यात्मविन्मुनिः ॥१०५॥

हृषीकाणि तदर्थेभ्यः^{१०} प्रत्याहृत्य ततो मनः । संहृत्य^{११} धियमन्यत्रां धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥१०६॥

ध्येयमध्यात्मतत्त्व^{१२} स्यात् पुरुषार्थोपयोगि^{१३} यत् । पुरुषार्थश्च निर्मोक्षो^{१४} भवेत्तत्साधनानि^{१५} च ॥१०७॥

के योग्य हैं ॥९७॥ चलने आदिके विषयमें यत्न रखना अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंका पालन करना, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करना तथा परीषहोंको सहन करना ये चारित्र्यकी भावनाएँ जानना चाहिए ॥९८॥ विषयोंमें आसक्त न होना, शरीरके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना, और जगत्के स्वभावका विचार करना ये वैराग्यकी स्थिर रखनेवाली भावनाएँ हैं ॥९९॥ इस प्रकार ऊपर कही हुई भावनाओंका चिन्तन करनेवाले, तत्त्वोंकी जाननेवाले और राग-द्वेषसे रहित मुनिकी बुद्धि ज्ञान और चारित्र आदि सम्पदामें स्थिर हो जाती है ॥१००॥ यदि ध्यान करनेवाला मुनि चौदह पूर्वका जाननेवाला हो, दस पूर्वका जाननेवाला हो अथवा नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त कहलाता है ॥१०१॥ इसके सिवाय अल्प-श्रुत ज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणीके पहले-पहले धर्मध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है ॥१०२॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे सहित ध्यान करनेवाला मुनि ध्यानकी बहुत-सी सामग्री प्राप्त कर उपशम अथवा क्षपक श्रेणीमें उत्कृष्ट ध्यानको प्राप्त होता है । भाषार्थ-उत्कृष्ट ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है और वह उपशम अथवा क्षपकश्रेणीमें ही होता है ॥१०३॥ श्रुतज्ञानके द्वारा तत्त्वोंकी जाननेवाला मुनि पहले वज्रवृषभनाराचसंहननसे सहित होनेपर ही क्षपकश्रेणीपर चढ़ सकता है तथा दूसरी उपशम श्रेणीको पहलेके तीन संहननों (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच) वाला मुनि भी प्राप्त कर सकता है ॥१०४॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि बाह्य पदार्थोंके समूहसे अपनी वृष्टिको कुछ हटाकर और अपनी स्मृतिको अपने-आपमें ही लगाकर ध्यान करे ॥१०५॥ प्रथम तो स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको उनके स्पर्श आदि विषयोंसे हटावे और फिर मनको मनके विषयसे हटाकर स्थिर बुद्धिको ध्यान करने योग्य पदार्थमें धारण करे-लगावे ॥१०६॥

जो पुरुषार्थका उपयोगी है, ऐसा अध्यात्मतत्त्व ध्यान करने योग्य है । मोक्ष प्राप्त होना ही पुरुषार्थ कहलाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र उसके साधन कहलाते

१. ईर्या आचर्यो विषयाः येषां ते यत्नाः । २. चारित्र्यम् । ३. असम्पूर्ण-श्रुतेनापि मुत इत्यर्थः । ४. श्रेणिद्वयादयः । असंयतादिचतुर्गुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य ध्याता भवतीत्यर्थः । ५. सम्पूर्णम् । ६. शुक्लध्यानम् । ७. गच्छति । ८. अन्तर्दृष्टिम्, ज्ञानदृष्टिमित्यर्थः । ९. समीपे वर्तयित्वा । १०. इन्द्रियविषयेभ्यः । ११. लयं नीत्वा । १२. आत्मस्वरूपम् । १३. उपकारि । १४. कर्मणां निरवशेषक्षयः । १५. तन्निर्मोक्षसाधनानि सम्यग्दर्शनादीनि च ।

अहं^१ समासतो^२ बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः । कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा^३ ॥१०८॥
 षट्त्तयद्रव्यपर्यायथायास्यस्थानुचिन्तनम् । यतो^४ ध्यानं ततो ध्येयः^५ कृत्स्नः षट्त्तयविस्तरः ॥१०९॥
 नयप्रमाणजीवादिपदार्था न्यायमासुराः^६ । जिनेन्द्रवक्त्रप्रसृता ध्येया सिद्धान्तप्रकृतिः^७ ॥११०॥
 श्रुतमर्थाभिधानं च^८ प्रत्ययवृत्तेश्चक्षिधा । तस्मिन् ध्येये जगत्तत्त्वं ध्येयतामिति कात्स्न्यतः ॥१११॥
 अथवा पुरुषार्थस्य परां^९ काष्ठाभिधिष्ठितः । परमेष्ठी जिनो ध्येयो^{१०} निष्ठितार्थो निरञ्जनः ॥११२॥
 स^{११} हि कर्ममलापायात् शुद्धिसाम्यन्तिको धितः । सिद्धो निरामयो ध्येयो ध्यातृणां^{१२} भावसिद्धये ॥११३॥
 क्षायिकानन्तदृश्योद्युखवीर्यादिभिर्गुणैः । युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यकलक्षणः ॥११४॥
 अमूर्तो^{१३} निष्कलोऽप्येष योगिनां ध्यानगोचरः^{१४} । किञ्चिन्न्यूनान्यदेहानुकारी जीवधमाकृतिः ॥११५॥
 निःश्रेयसार्थिमिसंख्यैः प्राप्तनिःश्रेयसः स हि । ध्येयः श्रेयस्करः सार्वः^{१५} सर्वदृक् सर्वभाक्^{१६} वित् ॥११६॥

हैं। ये सब भी ध्यान करने योग्य हैं ॥१०८॥ मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा तथा कर्मोंका क्षय होने रूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व ध्यान करने योग्य हैं अथवा इन्हीं सात तत्त्वोंमें पुण्य और पाप मिला देनेपर नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य हैं ॥१०८॥ क्योंकि छह नयोंके द्वारा ग्रहण किये हुए जीव आदि छह द्रव्यों और उनकी पर्यायोंके यथार्थ स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना ही ध्यान कहलाता है, इसलिए छह द्रव्योंका समस्त विस्तार भी ध्यान करने योग्य है ॥१०९॥ नय, प्रमाण, जीव, अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी रूप न्यायसे देदीप्यमान होनेवाले तथा जिनेन्द्रदेवके मुखसे प्रकट हुई सिद्धान्तशास्त्रोंकी परिपाटी भी ध्यान करने योग्य है अर्थात् जैन शास्त्रोंमें कहे गये समस्त पदार्थ ध्यान करनेके योग्य हैं ॥११०॥ शब्द, अर्थ और ज्ञान इस प्रकार तीन प्रकारका ध्येय कहलाता है। इस तीन प्रकारके ध्येयमें ही जगत्के समस्तपदार्थ ध्येयकोटिको प्राप्त हो जाते हैं। भावार्थ-जगत्के समस्त पदार्थ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों भेदोंमें विभक्त हैं इसलिए शब्द, अर्थ और ज्ञानके ध्येय (ध्यान करने योग्य) होनेपर जगत्के समस्त पदार्थ ध्येय हो जाते हैं ॥१११॥ अथवा पुरुषार्थकी परम काष्ठाको प्राप्त हुए, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले, कृतकृत्य और रागादि कर्ममलसे रहित सिद्ध परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं ॥११२॥ क्योंकि वे सिद्ध परमेष्ठी कर्मरूपी मलके दूर हो जानेसे अविनाशी विशुद्धिको प्राप्त हुए हैं और रोगादि क्लेशोंसे रहित हैं इसलिए ध्यान करनेवाले पुरुषोंको अपने भावोंकी शुद्धिके लिए उनका अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥११३॥ वे सिद्ध भगवान् कर्मोंके क्षयसे होनेवाले अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे सहित हैं और उनके यथार्थस्वरूपको केवल योगी लोग ही जान सकते हैं। यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि उनके लक्षण प्रकट हैं ॥११४॥ यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीर हैं तथापि योगी लोगोंके ध्यानके विषय हैं अर्थात् योगी लोग उनका ध्यान करते हैं। उनका आकार अन्तिम शरीरसे कुछ कम केवल जीव प्रदेशरूप है ॥११५॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको उन्हींसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वे स्वयं कल्याण रूप हैं, कल्याण करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले हैं, सर्वदर्शी हैं और सब पदार्थोंको जाननेवाले

१. आत्मा । २. मम संबन्धि ममकारः । जीवाजीवावित्यर्थः । अहं ममेत्येतद्द्रव्यमगमयपदम् । ३. पुण्य-पापसहिता एते नवपदार्थाः । ४. षट्त्तय अ०, प०, ल० । षड्रूप द० । षट्प्रकार । ५. यस्मात् कारणात् । ६. ध्येयं ल०, इ०, म० । ७. सप्तभङ्गिरूपविचारभस्त्रराः । ८. वचनरचनाः । ९. शब्दः । १०. ज्ञानम् । ११. अवस्थाम् । १२. कृतकृत्यः । १३. जिनः । १४.-शुद्धमे अ०, प०, नि०, म०, द०, इ०, स० । १५. अशरीरः । १६. ध्येयपो-ल०, म०, द०, प० । १७. सर्वहितः । १८. सर्वदर्शी । १९. पदार्थः ।

स साकारोऽप्यनाकारो निराकारोऽपि साकृतिः । 'स्वसाकृताखिलज्ञेयः सुज्ञानो' ज्ञानचक्षुषाम् ॥११७॥

मगिदर्पणसंक्रान्तच्छायासंघे स्फुटाकृतिम् । दधर्मीवघनाकारसमूर्तोऽप्यचलस्थितिः ॥११८॥

कैतरोऽप्यसौ ध्येयो^१ भव्यानां भवविच्छिन्ने । विच्छिन्नबन्धनस्यास्य तादृगैसर्गिको गुणः ॥११९॥

अथवा स्नानकावस्था^२ प्राप्ते घातिव्यपायतः । जिनोऽहंन् केवली ध्येयो विभक्तेजोमयं वपुः ॥१२०॥

रागाद्यविद्या जयनाजिनोऽहंन् घातिना इतेः । स्वात्मोपलब्धतः सिद्धो बुद्धस्त्रैलोक्यबोधनान् ॥१२१॥

त्रिकालगोचरानन्तपर्यायो पञ्चिहूर्ध्वक^३ । विश्वज्ञो विश्वदर्शी च विश्वसाद्भूतचिद्गुणः ॥१२२॥

केवली केवलालोकविशालामललोचनः । घातिकर्मक्षयादाविर्भूतानन्तचतुष्टयः ॥१२३॥

द्विष^४ भेदगणाकीर्णं सभावनिमग्नितः । प्रातिहार्यैरभिव्यक्तजिजगत्प्राभवो विभुः ॥१२४॥

अर्थात् सर्वज्ञ हैं ॥११६॥ वे भगवान् साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं । यद्यपि उन्होंने जगत्के समस्त पदार्थोंको अपने अधीन कर लिया है अर्थात् वे जगत्के समस्त पदार्थोंको जानते हैं परन्तु उन्हें ज्ञानरूप नेत्रोंके धारण करनेवाले ही जान सकते हैं । भावार्थ—वे सिद्ध भगवान् कुछ कम अन्तिम शरीरके आकार होते हैं इसलिए साकार कहलाते हैं परन्तु उनका वह आकार इन्द्रियज्ञानगम्य नहीं है इसलिए निराकार भी कहलाते हैं । शरीररहित होनेके कारण स्थूलदृष्टि पुरुष उन्हें यद्यपि देख नहीं पाते हैं इसलिए वे निराकार हैं, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव कुछ कम अन्तिम शरीरके आकार परिणत हुए उनके असंख्य जीव प्रदेशोंको स्पष्ट जानते हैं इसलिए साकार भी कहलाते हैं । यद्यपि वे संसारके सब पदार्थोंको जानते हैं परन्तु उन्हें संसारके सभी लोग नहीं जान सकते, वे मात्र ज्ञानरूप नेत्रके द्वारा ही जाने जा सकते हैं ॥११७॥ रत्नमय दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान उनका आकार अतिशय स्पष्ट है । यद्यपि वे अमूर्तिक हैं तथापि चैतन्यरूप घनाकारको धारण करनेवाले हैं और सदा स्थिर हैं ॥११८॥ यद्यपि वे भगवान् स्वयं वीतराग हैं तथापि ध्यान किये जानेपर भन्त्य जीवोंके संसारको अवश्य नष्ट कर देते हैं । कर्मोंके बन्धनको छिन्न-भिन्न करनेवाले उन सिद्ध भगवान्का वह उस प्रकारका एक स्वाभाविक गुण ही समझना चाहिए ॥११९॥ अथवा घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जो स्नातक अवस्थाको प्राप्त हुए हैं और जो तेजोमय परमौदारिक शरीरको धारण किये हुए हैं ऐसे केवलज्ञानी अर्हन्त जिनेन्द्र भी ध्यान करने योग्य हैं ॥१२०॥ राग आदि अविद्याओंको जोत लेनेसे जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो अर्हन्त (अरिहन्त) कहलाते हैं शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे जो सिद्ध कहलाते हैं और त्रैलोक्यके समस्त पदार्थोंको जाननेसे जो बुद्ध कहलाते हैं, जो तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त पदार्थोंको देखते हैं इसलिए विश्व-दर्शी (सबको देखनेवाले) कहलाते हैं और जो अपने ज्ञानरूप चैतन्य गुणसे संसारके सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विश्वज्ञ (सर्वज्ञ) कहलाते हैं । जो केवलज्ञानी हैं, केवलज्ञान ही जिनका विशाल और निर्मल नेत्र है, तथा घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे जिनके अनन्तचतुष्टय प्रकट हुआ है, जो बारह प्रकारके जीवोंके समूहसे भरी हुई सभाभूमि (समवसरण) में विराजमान हैं, अष्ट प्रातिहार्योंके द्वारा जिनकी तीनों जगत्की प्रभुता प्रकट हो रही है, जो

१. स्वाधीनोक्तनिखिलज्ञेयपदार्थः । २. सुज्ञातो ल०, म० । शोभनज्ञानः अथवा सुज्ञाता । ३. छाया-स्वरूपमिव । ४. स्फुटाकृतिः द०, ल०, म०, प० । ५. समूर्तोऽपीत्यत्र परमतकथितवाट्यादीनाममूर्तस्वरूप-स्मरकवनिरासार्थमचलस्थितिरित्युक्तम् । ६. -ध्यतो भव्या— द०, ल०, म०, अ०, प० । ७. परिपूर्णज्ञानपरिण-तिम् । ८. अज्ञान । ९. गुणपर्यायवद्द्रव्यम् । १०. द्वादशभेद ।

नित्यताकृतिरप्येष विश्वरूपः स्वचिद्गुणैः । संक्रान्ता शेषे विज्ञेयप्रतिबिम्बानुकारतः ॥१२५॥

विश्वव्यापी स विश्वार्थव्यापि विज्ञानयोगतः । विश्वास्थो विश्वतश्चक्षुर्विश्वलोकशिखामणिः ॥१२६॥

संसाररूपरूपः सत्सुखी १ । विश्वतश्चक्षुर्विश्वलोकशिखामणिः ॥१२७॥

निर्भयश्च निराकाङ्क्षो निराबोधो निराकुलः । निर्व्यपेक्षो निरातङ्को निरथो निष्कर्मफलमयः ॥१२८॥

नवकेवललब्ध्यादिगुणारब्धवपुष्टरः २ । अभेद्यः संहतिर्वज्रशिलोत्कीर्ण इवाचलः ॥१२९॥

स एवं लक्षणो ध्येयः परमात्मा परः पुमान् । परमेष्ठी परं तत्त्वं परमज्योतिरक्षरम् ॥१३०॥

साधारणमिदं ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः । विशुद्धिः स्वामिभेदात् ३ तद्विशेषोऽवधार्यताम् ॥१३१॥

प्रशस्तप्रणिधानं ४ यत् स्थिरमेकग्र वस्तुनि । तद्ध्यानमुक्तं सुख्यज्ञं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥१३२॥

सर्वसामर्थ्यवान् हैं, जो यद्यपि निश्चित आकारवाले हैं तथापि अपने चैतन्यरूप गुणोंके द्वारा प्रतिबिम्बित हुए समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब रूप होनेसे विश्वरूप हैं अर्थात् संसारके सभी पदार्थोंके आकार धारण करनेवाले हैं, जो समस्त पदार्थोंमें व्याप्त होनेवाले केवलज्ञानके सम्बन्धसे विश्वव्यापी कहलाते हैं, समवसरण-भूमिमें चारों ओर मुख देखनेके कारण जो विश्वास्थ (विश्वतोमुख) कहलाते हैं, संसारके सब पदार्थोंको देखनेके कारण जो विश्वतश्चक्षु (सब ओर हैं नेत्र जिनके ऐसे) कहलाते हैं, तथा सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण जो समस्त लोकके शिखामणि कहलाते हैं, जो संसाररूपी समुद्रसे शीघ्र ही पार होनेवाले हैं, जो सुखमय हैं, जिनके समस्त क्लेश नष्ट हो गये हैं और जिनके संसाररूपी बन्धन कट चुके हैं, जो निर्भय हैं, निःस्पृह हैं, बाधारहित हैं, आकुलतारहित हैं, अपेक्षारहित हैं, नीरोग हैं, नित्य हैं, और कर्मरूपी कालिमासे रहित हैं; आधिक, ज्ञान, दर्शन, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र्य इतनी केवललब्धि आदि अनेक गुणोंसे जिनका शरीर अतिशय उत्कृष्ट है, जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो वज्रकी शिलामें उकेरे हुए अथवा वज्रकी शिलाओंसे व्याप्त हुए पर्वतके समान निश्चल हैं—स्थिर हैं, इस प्रकार जो ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे सहित हैं, परमात्मा हैं, परम पुरुष रूप हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्त्वस्वरूप हैं, परमज्योति (केवलज्ञान) रूप हैं और अविनाशी हैं ऐसे अर्हन्तदेव ध्यान करने योग्य हैं ॥१२१-१३०॥ अभी तक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थोंका वर्णन किया गया है वे सब धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान इन दोनों ही ध्यानोंके साधारण ध्येय हैं अर्थात् ऊपर कहे हुए पदार्थोंका दोनों ही ध्यानोंमें चिन्तन किया जा सकता है । इन दोनों ध्यानोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे ही परस्परमें विशेषता समझनी चाहिए । भावार्थ—धर्मध्यानकी अपेक्षा शुक्लध्यानमें विशुद्धिके अंश बहुत अधिक होते हैं, धर्म्य ध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर श्रेणी चढ़नेके पहले-पहले तक ही रहता है और शुक्लध्यान श्रेणियोंमें ही होता है । इन्हीं सब बातोंसे उक्त दोनों ध्यानोंमें विशेषता रहती है ॥१३१॥ जो किसी एक ही वस्तुमें परिणामोंकी स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्तिका कारण होता है । वह ध्यान धर्म्यध्यान और

१. संलग्न । २. निःशेषशेषवस्तु । ३. विश्वतोमुखः । ४. सुखाधीनभूतः । सुखसाद्गुणम् ल०, म०, द० । ५. धनादिवाञ्छारहितः । ६. किमप्यनपेक्ष्य भवतानां सुखकारीत्यर्थः । ७. कर्ममलरहितः । ८. अतिशय-बहुः 'अतिशयार्थे तत्त्वं भवति' । ९. अभेद्यशरीरः । १०. सकषायस्वरूपा अकषायस्वरूपा च विशुद्धिः । अथवा परिणामः, स्वामी कर्ता विशुद्धिश्च स्वामी च तयोर्भेदात् । ११. ध्यानविशेषः । १२. परिणामः ।

तत्रानुपपन्नं यदुत्पत्तिर्ध्यानं धर्म्यमिष्यते । धर्म्यो हि वस्तुयाधात्म्यमुत्पादादि^१यथात्मकम् ॥१३३॥
 तत्राज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकम् । चतुर्विकल्पमाप्नात् ध्यानमाप्नाय वेदिभिः ॥१३४॥
 तत्राज्ञेयागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते । दृष्ट्यानुमयवज्ज्ये हि श्रद्धेयांशो गतिः श्रुतेः ॥१३५॥
 श्रुतिः सूनुतमाज्ञाप्तवचो वेदाङ्गमागमः । आप्नायश्चेति पर्यायैः सांघिगम्यो मनीषिभिः ॥१३६॥
 अनादिनिधनं सूक्ष्मं सद्भू^२तार्थप्रकाशनम् । पुरुषार्थोपदेशित्वाद् यद्भूतहितमूर्जितम् ॥१३७॥
 अजयममितं तीर्थैरनालीढमहोदयम् । महान्भावमर्थवर्गात् गर्भारशासनम्^३ ॥१३८॥
 परं प्रवचनं^४ सूक्ष्म^५पञ्चमनन्तरथा^६ । मन्यमानो मुनिर्ध्यायेद् मात्रामाज्ञाविमावितान्^७ ॥१३९॥
 जैनी प्रमाणयक्षाज्ञां योगां योगविदां वर । ध्यायेद्दर्मास्तिकायादीन् भावान् सूक्ष्मान् यथागमम् ॥१४०॥
 आज्ञाविचय एव स्यादपायविचयः पुनः ।^८ तापत्रयादिजन्माब्धिगततापायविचिन्तनम् ॥१४१॥

शुक्ल ध्यानके भेदसे दो प्रकारका होना है ॥१३२॥ उन दोनोंमें-से जो ध्यान धर्मसे सहित होता है वह धर्म्यध्यान कहलाता है । उत्पाद, व्यय और धौव्य इन तीनों सहित जो वस्तुका यथार्थ स्वरूप है वही धर्म कहलाता है । भावार्थ-वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं और जिस ध्यान में वस्तुके स्वभावका चिन्तन किया जाता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं ॥१३३॥ आगमकी परम्पराको जाननेवाले ऋषियोंने उस धर्म्यध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थान-विचय और विपाकविचय इस प्रकार चार भेद माने हैं ॥१३४॥ उनमें-से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ को विषय करनेवाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानके विषय-से रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थमें एक आगमकी ही गति होती है । भावार्थ-संसारमें कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो न तो प्रत्यक्षसे जाने जा सकते हैं और न अनुमानसे ही । ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान सिर्फ आगमके द्वारा ही होता है अर्थात् आप्त प्रणीत आगममें ऐसा लिखा है इसलिए ही वे माने जाते हैं ॥१३५॥ श्रुति, सूनुत, आज्ञा, आप्त वचन, वेदांग, आगम और आप्नाय इन पर्यायवाचक शब्दोंसे बुद्धिमान् पुरुष उस आगम को जानते हैं ॥१३६॥ जो आदि और अन्तसे रहित है, सूक्ष्म है, यथार्थ अर्थको प्रकाशित करने-वाला है, जो मोक्षरूप पुरुषार्थका उपदेशक होनेके कारण संसारके समस्त जीवोंका हित करने-वाला है, युक्तियोंसे प्रबल है, जो किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता, जो अपरिमित है, परवादी लोग जिसके माहात्म्यको श्रु भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त प्रभावशाली है, जीव अजीव आदि पदार्थोंसे भरा हुआ है, जिसका शासन अतिशय गंभीर है, जो परम उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्तके द्वारा कहा हुआ है ऐसे प्रवचन अर्थात् आगमको सत्यार्थरूप मानता हुआ मुनि आगममें कहे हुए पदार्थोंका ध्यान करे ॥१३७-१३९॥ योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ योगी जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ धर्मास्तिकाय आदि सूक्ष्म पदार्थोंका आगममें कहे अनुसार ध्यान करे ॥१४०॥ इस प्रकारके ध्यान करनेको आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहते हैं । अब आगे अपायविचय नामके धर्म्यध्यानका वर्णन किया जाता है । तीन प्रकारके संताप आदिसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें जो प्राणी पड़े हुए हैं उनके अपायका चिन्तन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है । भावार्थ-यह संसाररूपी समुद्र मानसिक

१. ध्यानइमे । २. उत्पादव्ययधौव्यस्वरूपम् । ३. परमागमवेदिभिः । ४. प्रत्यक्षानुमानरहिते । ५. अवगमनम् । ६. आगमस्य । ७. सत्यस्वरूप । ८. परवादिभिः । ९. तलस्पर्शरहितम् । १०. आज्ञा । ११. सूक्ष्म ५०, ल०, म०, द०, इ० । १२. विपरीताभावेन । १३. आगमेन ज्ञातान् । १४. जातिजरामरणरूप, अथवा रागद्वेषमातृरूप, अथवा आधिदैविकं दैवमधिकृत्य प्रवृत्तम्, आधिभौतिकं भूतग्रहमधिकृत्य प्रवृत्तम्, आध्यात्मिकरूपम् आरमानमधिकृत्य प्रवृत्तम् ।

तदपा यप्रतीकारचि^१ त्रोपायानुचिन्तनम् । अत्रैवान्तर्गतं ज्ये^२ यमनुपेक्षादिलक्षणम् ॥१४२॥
 शुभाशुभविभवतानां कर्मणां परिपाकतः^३ । भवावर्तस्य वैचित्र्यमसि^४ मंदधतो मुनेः ॥१४३॥
 विपाकविचयं धर्म्यमात्मनन्ति कृता^५ गमाः । विपाकश्च द्विधाम्नातः कर्मणामाप्तसू^६ किपु ॥१४४॥
 यथाकालमुपायाश्च फलप^७ किर्वनस्पतेः । यथा तथैव कर्माणि फलं दत्ते शुभाशुभम् ॥१४५॥
 मूलोत्तरप्रकृत्यादिबन्धसं^८ वाधुपाश्रयः । कर्मणामुदयश्चित्रः प्राप्य^९ द्रव्यादिनन्निधिम् ॥१४६॥
 यतश्च^{१०} तद्विपाकस्तदपायाय^{११} वेष्टते । ततो ध्येयसिद्धं ध्यानं मुक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥१४७॥
 संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिन्तनम् । तदन्तर्भूतजीवादितत्त्वान्^{१२} वीक्षणलक्षितम्^{१३} ॥१४८॥
 द्वीपाब्धिधल्लयान्नीन् सरितश्च सरांलि^{१४} च । विमानमवनव्यन्तरावासनरकक्षितीः ॥१४९॥
 त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् । भावान् मुनिरनुध्यायेत् संस्थानविचयोपगः^{१५} ॥१५०॥
 जीवभेदांश्च तत्रस्थान्^{१६} ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् । तत्त्वकर्तृ^{१७} त्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च^{१८} तद्गुणान् ॥१५१॥

वाचनिक, कायिक अथवा जन्म-जरा-मरणसे होनेवाले, तीन प्रकारके सन्तापोंसे भरा हुआ है। इसमें पड़े हुए जीव निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। उनके दुःखका बार-बार चिन्तन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१४१॥ अथवा उन अपायों (दुःखों) के दूर करनेकी चिन्तासे उन्हें दूर करनेवाले अनेक उपायोंका चिन्तन करनेकी भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुपेक्षा तथा दश धर्म आदिका चिन्तन करना इसी अपायविचय नामके धर्म्य-ध्यानमें शामिल समझना चाहिए ॥१४२॥ शुभ और अशुभ भेदोंमें विभक्त हुए कर्मोंके उदय-से संसाररूपी आवर्तकी विचित्रताका चिन्तन करनेवाले मुनिके जो ध्यान होता है उसे आशमके जाननेवाले गणधरादि देव विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान मानते हैं। जैन शास्त्रोंमें कर्मोंका उदय दो प्रकारका माना गया है। जिस प्रकार किसी वृक्षके फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं और दूसरे किन्हीं कृत्रिम उपायोंसे पकाये जाते हैं उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं अर्थात् एक तो स्थिति पूर्ण होनेपर स्वयं फल देते हैं और दूसरे तपश्चरण आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले ही अपना फल देने लगते हैं ॥१४३-१४५॥ मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध तथा सत्ता आदिका आश्रय लेकर द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोंका उदय अनेक प्रकारका होता है ॥१४६॥ क्योंकि कर्मोंके विपाक (उदय) को जाननेवाला मुनि उन्हें नष्ट करनेके लिए प्रयत्न करता है इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियोंको मोक्षके उपायभूत इस विपाकविचय नामके धर्म्यध्यानका अवश्य ही चिन्तन करना चाहिए ॥१४७॥ लोकके आकारका बार-बार चिन्तन करना तथा लोकके अन्तर्गत रहनेवाले जीव अजीव आदि तत्त्वोंका विचार करना सो संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१४८॥ संस्थानविचय धर्म्यध्यानको प्राप्त हुआ मुनि तीनों लोकोंकी रचनाके साथ-साथ द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर, विमानवासी, भवनवासी तथा व्यन्तरीके रहनेके स्थान और नरकोंकी भूमियाँ आदि पदार्थोंका भी शास्त्रानुसार चिन्तन करे ॥१४९-१५०॥ इसके सिवाय उस लोकमें रहनेवाले संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार वाले जीवोंके भेदोंका जानना, कर्ता-

१. तापत्रयाद्यपायप्रतीकार । २. चिन्तो ल०, म०, इ०, अ०, प०, स० । ३. ज्येयम् । ४. संजातस्य इति शेषः । ५. ध्यायतः । अपि ल०, म० । ६. संपूर्णगमाः । ७. परमागमेषु । ८. पाकः । ९. सत्ताद्युपा-
 ६० । १०. द्रव्यक्षेत्रकालभाव । ११. यस्मात् कारणात् । १२. कर्मणामुदयवित् पुमान् । १३. कर्मपायाय ।
 १४. ततः कारणात् । १५. विचार । १६. लक्षणम् ल०, म०, इ०, अ०, स० । १७. संस्थानविचयः ।
 १८. तत्र त्रिजगति भवान् । १९. जीवगणान् । यद्गुणान् ल० ।

तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरम् । भवार्थं व्यसनाघतं दोषयादः^१ कुक्काकुलम् ॥१५२॥

सज्ज्ञाननावा संतार्यमतार्थं ग्रन्थिकात्मभिः^२ । अपारमतिगम्भीरं ध्यायेद्ध्य्यात्मविद् यतिः ॥१५३॥

किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽध्यागमविस्तरः । नयमकृमशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥१५४॥

तदप्रमत्ततालम्बं स्थितिमान्तमुहूर्तिकीम् । दधानमप्रमत्तेषु परां कोटिमधिहितम् ॥१५५॥

सद्दृष्टिषु यथाम्नायं शेषेष्वपि^३ कृतस्थितिः । प्रकृष्टशुद्धिमल्लेदयात्रयोपोद्बलं^४ बृंहितम् ॥१५६॥

क्षायोपशमिकं भावं स्वसात्कृत्य विजृम्भितम् । महोदकं महाप्रज्ञैर्महर्षिभिरुपासितम् ॥१५७॥

वस्तुधर्मानुयायिरिच्छाद् प्राप्तार्थव्यनिरुक्तिकम् । धर्म्यं ध्यानमनुष्येयं यथोक्तध्वेयविस्तरम् ॥१५८॥

प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता^५ । सुश्रुतत्वं समाधामभाज्ञाधिगमजा^६ रुचिः ॥१५९॥

मवन्त्येतानि किङ्गानि धर्मस्यान्तरागतानि वै । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधाः शुभभावनाः ॥१६०॥

पना, भोक्तापना और दर्शन आदि जीवोंके गुणोंका भी ध्यान करे ॥१५१॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि इस संसाररूपी समुद्रका भी ध्यान करे जो कि जीवोंके स्वयं किये हुए कर्मोंके भाहात्म्यसे उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, व्यसनरूपी भँवरोंसे भरा हुआ है, दोषरूपी जलजन्तुओंसे व्याप्त है, सुस्थानरूपी शान्तसे तैरनेके योग्य है, परिमही साधु जिसे कभी नहीं तैर सकते, जिसका पार नहीं है और जो अतिशय गम्भीर है ॥१५२-१५३॥ अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? नयोंके सैकड़ों भंगोंसे भरा हुआ जो कुछ आगमका विस्तार है वह सब अन्तरात्माकी शुद्धिके लिए ध्यान करने योग्य है ॥१५४॥ यह धर्मध्यान अप्रमत्त अवस्थाका आलम्बन कर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है और प्रमादरहित (सप्तगुणस्थानवर्ती) जीवोंमें ही अतिशय उत्कृष्टताको प्राप्त होता है ॥१५५॥ इसके सिवाय अतिशय शुद्धिको धारण करनेवाला और पीत, पद्म तथा शुक्ल ऐसी तीन शुभ लेश्याओंके बलसे शुद्धिको प्राप्त हुआ यह धर्मध्यान शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शनसे सहित चौथे गुणस्थानमें तथा शेषके पाँचवें और छठे गुणस्थानमें भी होता है । भावार्थ—इन गुणस्थानोंमें धर्मध्यान हीनाधिक भावसे रहता है । धर्मध्यान धारण करनेके लिए कमसे कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका श्रद्धान और निर्णय नहीं होता । मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीवोंके जो ध्यान होता है उसे शुभ भावना कहते हैं ॥१५६॥ यह धर्मध्यान क्षायोपशमिक भावोंको स्वाधीन कर बढ़ता है । इसका फल भी बहुत उत्तम होता है और अतिशय बुद्धिमान् महर्षि लोग भी इसे धारण करते हैं ॥१५७॥ वस्तुओंके धर्मका अनुयायी होनेके कारण जिसे धर्मध्यान ऐसा सार्थक नाम प्राप्त हुआ है और जिसमें ध्यान करने योग्य पदार्थोंका ऊपर विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है ऐसे इस धर्मध्यानका बार-बार चिन्तन करना चाहिए ॥१५८॥ प्रसन्नचित्त रहना, धर्मसे प्रेम करना, शुभ योग रखना, उत्तम शास्त्रोंका अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और आज्ञा (शास्त्रका कथन) तथा स्वकीय ज्ञानसे एक प्रकारकी विशेष रुचि (प्रीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना ये धर्मध्यानके बाह्य चिह्न हैं और अनुप्रेक्षाएँ तथा पहले कही हुई अनेक प्रकारकी शुभ भावनाएँ उसके

१. जलजन्तुसमूहः । २. परिग्रहवद्भिः । ३. नयभेदः । ४. धर्म्यध्यानम् । ५. परमप्रकटम् ।

६. असंयतदेहसंयतप्रमत्तेषु । ७. सहायविजृम्भितम् । ८. महाप्रज्ञैः— ल०, म०, द०, इ०, प० ।

९. वस्तुयथास्वरूपः । १०. शुभपरिणामः । ११. आज्ञा नान्यथावादिनो जिना इति श्रद्धानम् । अधिगमः प्रवचनपरिज्ञानम् ताम्यां जाता रुचिः ।

वाङ्मयं लिङ्गमङ्गानां संनिवेशः^१ पुरोदितः । प्रसन्नवक्त्रता सौम्या दृष्टिश्चिरयादि लक्ष्यताम् ॥१६१॥
 फलं ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरनसाम् । शुभकर्मोद्योद्भूतं सुखं च विबुधेशिनाम् ॥१६२॥
 स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिं^२ फलमस्य प्रचक्षते^३ । साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्तिः परम्पर्यात् परंपदम् ॥१६३॥
 ध्यानेऽप्युपरते^४ धीमानसीदणं^५ भावयेन्मुनिः । सानुप्रेक्षाः शुभोदका भवानावाय भावनाः ॥१६४॥
 हयुक्तलक्षणं धर्म्यं भगवाधीश निदिधनुः । शुक्लध्यानमितो वक्ष्ये साक्षान्मुक्त्यङ्गमङ्गिनाम् ॥१६५॥
 कषायमलविश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम् । उपैयिषदिदं ध्यानं सान्तमेदं^६ निबोध मे ॥१६६॥
 शुक्लं परमशुक्लं चैवाभ्यास्ये^७ तद्विबोधितम् । लघ्वस्थस्वामिकं पूर्वं परं^८ केवलिनोऽसतम् ॥१६७॥
 द्वेधा^९ स्यात् पृथक्त्वादि^{१०} वीचारास्तवितर्कणम् । तथैकत्वाद्यवीचारपदान्तं च वितर्कणम् ॥१६८॥
 इत्याद्यस्य भिदे^{११} स्यातामन्वया^{१२} श्रुतिमाश्रिते । तद्वर्धन्यक्तये चैतत् तन्नामद्वयनिर्वचः ॥१६९॥
 पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विबुधः । सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वाविपदाङ्गयम् ॥१७०॥

अन्तरङ्ग-चिह्न हैं ॥१५९-१६०॥ पहले कहा हुआ अङ्गोंका सन्निवेश होना अर्थात् पहले जिन पर्यङ्क आदि आसनोंका वर्णन कर चुके हैं उन आसनोंको धारण करना, मुखकी प्रसन्नता होना और दृष्टिका सौम्य होना आदि सब भी धर्म्यध्यानके बाह्यचिह्न समझना चाहिए ॥१६१॥ अशुभ कर्मोंकी अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र आदिका सुख प्राप्त होना यह सब इस उत्तम धर्म्यध्यानका फल है ॥१६२॥ अथवा स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यानका फल कहा जाता है । इस धर्म्यध्यानसे स्वर्गकी प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परम पद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति परम्परासे होती है ॥१६३॥ ध्यान छूट जानेपर भी बुद्धिमान् मुनिको चाहिए कि वह संसारका अभाव करनेके लिए अनुप्रेक्षाओंसहित शुभ फल देनेवाली उत्तम-उत्तम भावनाओंका चिन्तन करे ॥१६४॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे भगवाधीश, इस प्रकार जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यानका तू निश्चय कर-उसपर विश्वास ला । अब आगे शुक्लध्यानका निरूपण करेंगा जो कि जीवोंके मोक्ष प्राप्त होनेका साक्षात् कारण है ॥१६५॥ कषायरूपी मलके नष्ट होनेसे जो शुक्ल ऐसे नामको प्राप्त हुआ है ऐसे इस शुक्लध्यानका अवान्तर भेदोंसे सहित वर्णन करता हूँ तो तू उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥१६६॥ वह शुक्ल ध्यान शुक्ल और परम शुक्लके भेदसे आगममें दो प्रकारका कहा गया है, उनमें-से पहला शुक्लध्यान तो लघ्वस्थ मुनियोंके होता है और दूसरा परम शुक्लध्यान केवली भगवान् (अरहन्तदेव) के होता है ॥१६७॥ पहले शुक्लध्यानके दो भेद हैं, एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कवीचार ॥१६८॥ इस प्रकार पहले शुक्लध्यानके जो ये दो भेद हैं, वे सार्थक नामवाले हैं । इनका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए दोनों नामोंकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-शब्दार्थ) इस प्रकार समझना चाहिए ॥१६९॥ जिस ध्यानमें वितर्क अर्थात् शास्त्रके पदोंका पृथक्-पृथक् रूपसे वीचार अर्थात् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं । भावार्थ-जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका पृथक्-पृथक् संक्रमण होता रहे अर्थात् अर्थको छोड़कर व्यंजन (शब्द) का और व्यंजनको छोड़कर अर्थका चिन्तन होने लगे अथवा इसी प्रकार मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका परिवर्तन होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते

१. पश्यङ्कादि । २. संप्राप्तिः । ३. प्रचक्षते । ४. सम्पूर्णं सति । ५. मुहुर्मुहुः । ६. मोक्षकारणम् । ७. प्राप्तम् । ८. मध्ये भेदम् । ९. निबोध जानीहि, मे सम संबन्धि ध्यानम् । निबोधये इति पाठे ज्ञापयामि । १०. परमागमे । ११. शुक्लम् । १२. शुक्लम् । १३. पृथक्त्ववितर्कवीचारम् । १४. एकत्ववितर्कवीचारम् । १५. भेदो । १६. संज्ञाम् ।

एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यथाविश्वरिण्णुता^१ । सवितर्कमवीचारमकत्वादिपदभिधाम् ॥१७१॥

पृथक्त्वं विद्धि नानार्थं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।^२ अर्थव्यञ्जनयोगानां^३ वीचारः संक्रमो मतः ॥१७२॥

अर्थोदयान्तरं गच्छन् व्यञ्जनाद् व्यञ्जनान्तरम् । योगाद्योगान्तरं गच्छन् ध्यायतां प्रसी मुनिः ॥१७३॥

त्रियोगः^४ पूर्वचिद् यस्माद् ध्यायत्येनं^५ मृनोद्वरः । सवितर्कं सवीचारमतः स्वाच्छुक्लमादिसम् ॥१७४॥

ध्येयमस्मिन् श्रुतस्कन्धवार्धेर्धार्थविस्तरः । फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा ॥१७५॥

इदमत्र तु साधयं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् । अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं भजेत् ॥१७६॥

शब्दाच्छब्दान्तरं^६ याथाद् योगं योगान्तरादपि । सर्वाचारमिदं तस्मात् सवितर्कं च लक्ष्यते ॥१७७॥

वागर्थसन्तसंपूर्णं नयं^७ भङ्गतरङ्गकम् । प्रसृतं^८ ध्यानगम्भीरं^९ पदवाक्यमहाजलम् ॥१७८॥

उत्पादादित्येतेषां^{१०} व्यापक्यैर्दृष्टकर्मिन् । ईश्वरकल्याणमतमादःकुलाकुलम्^{११} ॥१७९॥

हैं ॥१७०॥ जिस ध्यानमें वितर्कके एकरूप होनेके कारण वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका संक्रमण नहीं होता उसे एकत्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं ॥१७१॥ अनेक प्रकारताको पृथक्त्व समझो, श्रुत अर्थात् शास्त्रको वितर्क कहते हैं और अर्थ व्यंजन तथा योगोंका संक्रमण (परिवर्तन) वीचार माना गया है ॥१७२॥ इन्द्रियोंको बश करनेवाला मुनि, एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक शब्दसे दूसरे शब्दको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस पहले पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके शुक्लध्यानका चिन्तन करता है ॥१७३॥ क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों योगोंको धारण करनेवाले और चौदह पूर्वोंके जाननेवाले मुनिराज ही इस पहले शुक्लध्यानका चिन्तन करते हैं इसलिए ही यह पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार कहा जाता है ॥१७४॥ श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रके शब्द और अर्थोंका जितना विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यानका ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय है और मोहनीय कर्मका क्षय अथवा उपशम होना इसका फल है । भावार्थ—यह शुक्लध्यान उपशमश्रेणी और अपक्वश्रेणी दोनों प्रकारकी श्रेणियोंमें होता है । उपशमश्रेणीवाला मुनि इस ध्यानके प्रभावसे मोहनीय कर्मका उपशम करता है और अपक्व श्रेणीमें आरूढ हुआ मुनि इस ध्यानके प्रतापसे मोहनीय कर्मका क्षय करता है इसलिए सामान्य रूपसे उपशम और क्षय दोनों ही इस ध्यानके फल कहे गये हैं ॥१७५॥ यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना चाहिए कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कन्धरूपी महासमुद्रसे कोई एक पदार्थ लेकर उसका ध्यान करता हुआ किसी दूसरे पदार्थको प्राप्त हो जाता है अर्थात् पहले ग्रहण किये हुए पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थका ध्यान करने लगता है । एक शब्दसे दूसरे शब्दको प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त हो जाता है इसीलिए इस ध्यानको सवीचार और सवितर्क कहते हैं ॥१७६-१७७॥ जो शब्द और अर्थरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, जिसमें अनेक नयभंगरूपी तरंगें उठ रही हैं, जो विस्तृत ध्यानसे गम्भीर है, जो पद और वाक्यरूपी अगाध जलसे सहित है, जो उत्पाद, व्यय और धौव्यके द्वारा उद्वेल (ज्वार-भाटाओंसे सहित) हो रहा है, स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि सप्त भंग ही जिसके विशाल शब्द (गर्जना) है,

१. अविचारशोभता । २. व्यक्ति । ३. मनोवाक्यकामकर्म । ४. शब्दाच्छब्दान्तरम् । ५. मनोवाक्यकामकर्मवान् । ६. पूर्वश्रुतवर्दी । ७. शुक्लध्यानम् । —त्येतन्मृनीश्वराः द० । ८. गच्छेत् । ९. शब्द । १०. नय-विकल्प । ११. ऋषिगणमुखप्रसृतशब्देन गम्भीरम् । प्रसृतध्यान—ल०, म० । १२. 'वर्णसमुदायः पदम्' । 'पदकदम्बकं वाक्यम्' । १३. उत्पादव्ययधौव्यत्रय— । १४. बोद्धादिमतजलचरसमूह ।

^१ कृतावतारमुद्बोधयानपात्रैर्महर्षिभिः । गणाधीशमहो^२ सार्धंवाहैश्चारित्रकेतवैः ॥१८०॥

^३ नयोपनयसंपातमहावातविघूर्णितम् । रत्नत्रयमयैर्हो^४ पौरवगाढमनेकधा ॥१८१॥

श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः । ध्यायेत् पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्निसम्^५ ॥१८२॥

प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु^६ च । यथास्माद्यमिदं ध्यानमामनन्ति मनोविणः ॥१८३॥

द्वितीयमाद्यवज्ज्ञेयं विशेषस्त्वेकयोगिनः^७ । प्रक्षीणमोहनीयस्य^८ पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः^९ ॥१८४॥

सवितर्कमवीचारमेक^{१०} ध्यानमर्जितम् । ध्यायत्यस्तकषायोऽसौ घातिकर्माणि क्षातयन्^{११} ॥१८५॥

कलमस्य भवेद् घातित्रितयप्रक्षयोद्भवम् । कैवल्यं प्रमिताशेषपदार्थं ज्योतिरक्षणम् ॥१८६॥

ततः पूर्वविदामाद्ये शुक्ले श्रेण्योर्यथायथम् । विज्ञेये ध्येकयोगानां^{१२ १३} यथोक्तफलयोगिनी ॥१८७॥

जो पूर्वपक्ष करनेके लिए आये हुए अनेक परमतरूपी जलजन्तुओंसे भरा हुआ है, बड़ी-बड़ी सिद्धियोंके धारण करनेवाले गणपतिदेवकी मुख्य व्यापारियोंने चारित्ररूपी पताकाओंसे सुशोभित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजोंके द्वारा जिसमें अवतरण किया है, जो नय और उपनयोंके वर्णनरूप महावायुसे शोभित हो रहा है और जो रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकारके द्वीपोंसे भरा हुआ है, ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी महासागरमें अवगाहन कर महामुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानका चिन्तन करे। भावार्थ—ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके जाननेवाले मुनिराज ही प्रथम शुक्लध्यानको धारण कर सकते हैं ॥१८८-१८२॥ यह ध्यान प्रशान्तमोह अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान, क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान और उपशमक तथा क्षपक इन दोनों प्रकारकी श्रेणियोंके शेष आठवें, नौवें तथा दसवें गुणस्थानमें भी हीनाधिक रूपसे होता है ऐसा बुद्धिमान् महर्षि लोग मानते हैं ॥१८३॥

दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान भी पहले शुक्लध्यानके समान ही जानना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया हो, जो पूर्वोंका जाननेवाला हो, जिसका आत्मतेज अपरिमित हो और जो तीन योगोंमेंसे किसी एक योगका धारण करनेवाला हो ऐसे महामुनिका ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥१८४॥ जिसकी कषाय नष्ट हो चुकी है और जो घातिया कर्मोंको नष्ट कर रहा है ऐसा मुनि सवितर्क अर्थात् श्रुतज्ञानसहित और अवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन तथा योगोंके संक्रमणसे रहित दूसरे एकत्ववितर्क नामके बलिष्ठ शुक्लध्यानका चिन्तन करता है ॥१८५॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाला अविनाशीक ज्योतिःस्वरूप केवलज्ञानका उत्पन्न होना ही इस शुक्लध्यानका फल है ॥१८६॥ इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार फलको देनेवाले पहलेके दोनों शुक्लध्यान ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्वके जाननेवाले और तीन तथा तीनमेंसे किसी एक योगका अवलम्बन करनेवाले मुनियोंके दोनों प्रकारकी श्रेणियोंमें यथायोग्य रूपसे होते हैं। भावार्थ—पहला शुक्लध्यान उपशम अथवा क्षपक दोनों ही श्रेणियोंमें होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमें ही होता है। पहला शुक्लध्यान तीनों योगोंको धारण करनेवालेके होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान एक योगको धारण करनेवालेके ही होता है, भले ही

१. अवतरणम् । २. महासार्धवाहो बृहच्छ्रेण्ठी एषा महासार्धवाहास्तैः । ३. नयद्रव्याधिकपयपिथिक । उपनय नैममादि । संपात संप्राप्ति । ४. बडवाग्निनिवासकुण्डः । ५. प्रथमम् । ६. अपूर्वकरणानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायेषु । ७. मनोवाक्कायेष्वेकत्वमयोगतः । ८. पूर्वश्रुतवेदिनः । ९. उपमारहिततेजसः । १०.—मेकत्व-ध्यान—अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ११. निपातयन् । १२. त्रियोगानामेकयोगानाम् । पुंसामित्यर्थः । १३. पूर्वोक्तफलस्ययोगो ययोस्ते ।

स्नातकः कर्मचैकस्यान् कैवल्यं पदमाविधान् । स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपैतुषः ॥१८८॥

स हि योगनिरोधार्थमुद्यमः केवली जिनः । समुद्घातविधिं पूर्वमाविः कुर्वाञ्जिसंगतः ॥१८९॥

दण्डमुष्णैः कपाटं च प्रतरं लोकपूरणम् । चतुर्भिः समयैः कुर्वन्नलोकमापूर्य निवृत्ति ॥१९०॥

तदा सर्वगतः सार्वः सर्ववित् पूरको भवेत् । तदन्ते रेचकावस्थामभितिष्ठन्महीयते ॥१९१॥

जगदापूर्य विवर्जितः समयात् प्रतरं श्रितः । ततः कपाटदण्डं च क्रमेणैवोपमंहरन् ॥१९२॥

तथावातिस्थितेर्माणानसंख्येयाजिहन्त्यसौ । अनुभागस्य चानन्तान् भागानशुभकर्मणाम् ॥१९३॥

पुनरन्तर्मुहूर्तेन निहन्धन् योगमाश्रयम् । कृत्वा बाह्मनसे सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥१९४॥

सूक्ष्मीकृत्य पुनः काययोगं च तदुपाश्रयम् । ध्यायेत् सूक्ष्मक्रियं ध्यानं प्रतिपातपराङ्मुखम् ॥१९५॥

ततो निरुद्धयोगः सन्नयोगी विगताश्रयः । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥१९६॥

अन्तर्मुहूर्तेमातन्वन् तदुपधानमतिनिर्मलम् । त्रिभुताशेषकर्मांशो जिनो निर्वर्त्यनन्तरम् ॥१९७॥

वह एक योग तीन योगोंमें-से कोई भी हो ॥१८८॥ घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनों प्रकारके परम शुक्लध्यानोंका स्वामी होता है । भावार्थ—परम शुक्लध्यान केवली भगवान्के ही होता है ॥१८८॥ वे केवलज्ञाना जिनेन्द्रदेव जब योगोंका निरोध करनेके लिए तत्पर होते हैं तब वे उसके पहले स्वभावसे ही समुद्घातकी विधि प्रकट करते हैं ॥१८९॥ पहले समयमें उनके आत्माके प्रदेश चौदह राज् ऊँचे दण्डके आकार होते हैं, दूसरे समयमें दण्डके आकार होते हैं, तीसरे समयमें प्रतर रूप होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकमें भर जाते हैं । इस प्रकार वे चार समयमें समस्त लोकाकाशको व्याप्त कर स्थित होते हैं ॥१९०॥ उस समय समस्त लोकमें व्याप्त हुए, सबका हित करनेवाले और सब पदार्थोंको जाननेवाले वे केवली जिनेन्द्र पूरक कहलाते हैं । उसके बाद वे रेचक अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् आत्माके प्रदेशोंका संकोच करते हैं और यह सब करते हुए वे अतिशय पूज्य गिने जाते हैं ॥१९१॥ वे सर्वज्ञ भगवान् समस्त लोकको पूर्ण कर उसके एक-एक समय बाद ही प्रतर अवस्थाको और फिर क्रमसे एक-एक समय बाद संकोच करते हुए कपाट तथा दण्ड अवस्थाको प्राप्त होकर स्वशरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥१९२॥ उस समय वे केवली भगवान् अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भागोंको नष्ट कर देते हैं और इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्तिके भी अनन्त भाग नष्ट कर देते हैं ॥१९३॥ तदनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें योगरूपी आश्रयका निरोध करते हुए काययोग-के आश्रयसे वचनयोग और मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं और फिर काययोगको भी सूक्ष्म कर उसके आश्रयसे होनेवाले सूक्ष्म क्रियापाति नामक तीसरे शुक्लध्यानका चिन्तन करते हैं ॥१९४-१९५॥ तदनन्तर जिनके समस्त योगोंका बिलकुल ही निरोध हो गया है ऐसे वे योगि-राज हरप्रकारके आश्रयोंसे रहित होकर समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामके चौथे शुक्लध्यानको प्राप्त होते हैं ॥१९६॥ जिनेन्द्र भगवान् उस अतिशय निर्मल चौथे शुक्लध्यानको अन्तर्-मुहूर्त तक धारण करते हैं और फिर समस्त कर्मोंके अंशोंको नष्ट कर निर्वाण अवस्थाको प्राप्त

१. सम्पूर्णज्ञानी । २. लोकपूरणान्तरे । ३. उपसंहारावस्थाम् । ४. कपाटं दण्डं च ५०, ६०, ८०, १००, १२०, १४० । कपाटदण्डं च ५०, ६०, ८०, १००, १२०, १४० । ५. बाह्मं च मनसो बाह्मनसे ते । (चित्तव्योस्य प्रयोगः) बाह्मनसो ८०, १०० । ६. बाह्मकाययोगाश्रयात् । तमाश्रित्य इत्यर्थः । ७. बाह्मनससूक्ष्मीकरणे आश्रयभूतं बाह्मकाय-योगमित्यर्थः । ८. स्वकालव्यन्तविनाशरहितम् । ९. - योगः योगी स विगताश्रयः ८०, १०० । १०. नाशरहितम् । ११. विधृता ८०, १०० । १२. मुक्तो भवति ।

त्रयोदशस्य प्रक्षीणाः कर्मांशाश्चरमं क्षणे । द्वासप्ततिक्रान्ते^१ स्युरयोगपरमेष्ठिनः ॥१९८॥

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः । सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथाव्यक्तो मुक्तो लोकान्तमावसन् ॥१९९॥

अर्धव्यासस्वभावत्वात् समर्थमेव नारजाः । लोकान्तं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते ॥२००॥

तत्र कर्ममलापायात् शुद्धिरात्यन्तिकी मता । शरीरापायतोऽनन्तं भवेत् सुखमतीन्द्रियम् ॥२०१॥

निष्कर्मा विधुताश्चैसांसारिकसुखासुखः । चरमाङ्गात् किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः^२ ॥२०२॥

भस्मूर्तोऽप्ययमन्त्या^३ क्लृप्ताकारोपलक्षणात् । मूषागर्भनिष्ठस्य स्थितिं स्योमनः^४ परामृशन् ॥२०३॥

शरीरमानलाशेषदुःखबन्धनवर्जितः ।^५ निर्द्वन्द्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वितः ॥२०४॥

अभेद्यमहत्किर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्रासस्था^६ मा^७ सिद्धः^८ सुखायते ॥२०५॥

कृतार्था निष्ठिताः सिद्धाः^९ कृतकृत्या निरामयाः । सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्यायाः^{१०} सिद्धिमाप्नुवाम्^{११} ।

तेषामर्तान्त्रियं सौख्यं दुःखप्रक्षयलक्षणम् । तदेव हि परं प्राहुः सुखमानन्त्यवेदिनः^{१२} ॥२०६॥

हो जाते हैं ॥१९७॥ इन अयोगी परमेष्ठीके चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें यहत्तर और अन्तिम समयमें तेरह कर्मप्रकृतियोंका नाश होता है ॥१९८॥ वे जिनेन्द्रदेव चौदहवें गुणस्थानके अनन्तर लेपरहित, शरीररहित, शुद्ध, अव्याबाध, रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होते हुए लोकके अन्तभागमें निवास करते हैं ॥१९९॥ कर्मरूपी रजसे रहित होनेके कारण जिनकी आत्मा अतिशय शुद्ध हो गयी है ऐसे वे सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेके कारण एक समयमें ही लोकके अन्तभागको प्राप्त हो जाते हैं और वहाँपर चूडामणि रत्नके समान सुशोभित होने लगते हैं ॥२००॥ जो हर प्रकारके कर्मोंसे रहित हैं, जिन्होंने संसार सम्बन्धी सुख और दुःख नष्ट कर दिये हैं, जिनके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके तुल्य है और परिमाण अन्तिम शरीरसे कुछ कम है, जो अभूर्तिक होनेपर भी अन्तिम शरीरका आकार होनेके कारण उपचारसे साँचेके भीतर रुके हुए आकाशकी उपमाको प्राप्त हो रहे हैं, जो शरीर और मनसम्बन्धी समस्त दुःखरूपी बन्धनोंसे रहित हैं, द्वन्द्वरहित हैं, क्रियारहित हैं, शुद्ध हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सहित हैं, जिनके आत्मप्रदेशोंका समुदाय भेदन करने योग्य नहीं है, जो लोकके शिखरपर मुख्य शिरोमणिके समान सुशोभित हैं, जो ज्योतिस्वरूप हैं, और जिन्होंने अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लिया है ऐसे वे सिद्ध भगवान् अनन्त काल तक सुखी रहते हैं ॥२०१-२०५॥ कृतार्थ, निष्ठित, सिद्ध, कृतकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरञ्जन ये सब मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवोंके पर्यायवाचक शब्द हैं, ॥२०६॥ उन सिद्धोंके समस्त दुःखोंके क्षयसे होनेवाला अतीन्द्रिय सुख होता है और

१. चरमक्षणे ट० । सातासातयोरन्यतमम् १, मनुष्यगति १, पञ्चेन्द्रियनामकर्म १, सुभग १, वस १, बादर १, पर्याप्तक १, आदेय १, यशस्कीर्ति १, तीर्थकरत्व १, मनुष्यायु १, उच्चैर्गोत्र १, मनुष्यानुपूर्व्य १, इति त्रयोदश कर्मांशाः प्रक्षीणा बभूवुः । २. द्विचरमसमये शरीरपञ्चकबन्धनपञ्चकसंवातपञ्चकसंस्थानषट्क-संहननषट्काङ्गोपाङ्गप्रवर्णपञ्चकगन्धद्वयसपञ्चकस्पर्शाष्टकस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुस्वरदेवगतिदेवगत्यानुपूर्वप्रशस्त-विहायोगति-प्रप्रशस्तविहायोगति-दुर्भगनिर्माण-अयशस्कीर्ति-अनादेय-प्रत्येक-प्रत्येकापर्याप्ता गुरु-लघूपघाता परघातोच्छ्वासा सत्त्वकपवेदनोपतीर्षर्गाणि इति द्वासप्ततिकर्मांशा नष्टा बभूवुः । ३. ऊर्ध्वगति-स्वभावत्वात् । ४. एकसमयेन । ५. चरमाङ्गाकृतिः । ६. चरमाङ्गसमाकारग्राहकात् । ७. अनुकुर्वन् । ८. निःपरिग्रहः । ९. स्वस्वरूपः । १०. सुखमनुभवति, सुखरूपेण परिणमत इत्यर्थः । ११. निष्पन्नाः । १२. स्वात्मोपलब्धिम् । सिद्धिमीयुषाम् प०, ल०, म०, द०, इ०, स० । शुद्धिमीयुषाम् अ० । १३. प्राप्तवताम् । १४. केवलज्ञानिनः ।

क्षुधादिवेदनाभावाज्ज्ञेया विषयविनिर्मुक्तौ । किमु त्वेतेषां भेषजं तद्विषयस्य सुखं पुनः ॥२०८॥
 न तत्सुखं परद्रव्यमन्यथादुपजायते । नित्यमन्वयमक्षय्यमात्मार्थं हि परं शिवम् ॥२०९॥
 स्वास्थ्यं चेत्सुखमेतेषां भद्रोऽस्यानन्त्यमाश्रितम् । ततोऽन्यच्चैनं सुखं नाम न किञ्चिद् भुवनोदरे ॥२१०॥
 सकलक्लेशनिर्मुक्तो निर्मोहो निरुपद्रवः । कंठार्मा बाध्यते सूक्ष्मस्तदस्याभ्यन्तिकं सुखम् ॥२११॥
 इदं ध्यानफलं प्रादुरानन्त्यमविपुत्रवाः । तदर्थं हि तपस्यन्ति मुनयो वातचत्कलाः ॥२१२॥
 यद्वद् वाताहताः सखा विलीयन्ते वनाग्रजाः । तद्वत्कर्मवना यान्ति लयं ध्यानानिलाहताः ॥२१३॥
 सर्वाङ्गीर्णं विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते । तद्वत्कर्मविषं कृत्स्नं ध्यानशक्त्यापसार्यते ॥२१४॥
 ध्यानस्यैव तपोयोगाः श्रेयाः परिक्रम सताः । ध्यानाभ्यासे ततो यतः शङ्क्यकार्यो मुमुक्षुभिः ॥२१५॥
 इति ध्यानविधिं श्रुत्वा ततोऽपि मगधाधिपः । तदा विबुधमस्वासीत्तमोऽपायान्मर्त्तोऽन्वुजम् ॥२१६॥

यथार्थमें केवली भगवान् उस अतीन्द्रिय सुखकी ही उत्कृष्ट सुख बनलाते हैं ॥२०८॥ क्षुधा आदि वेदनाओंका अभाव होनेसे उनके विषयोंकी इच्छा नहीं होती सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो स्वस्थ होनेपर भी ओषधियोंका सेवन करता हो ॥२०९॥ जो सुख पर-पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है वह सुख नहीं है, किन्तु जो शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है, नित्य है, अविनाशी है और क्षयरहित है वही वास्तवमें उत्तम सुख है ॥२१०॥ यदि स्वास्थ्य (समस्त इच्छाओंका अपनी आत्मामें ही समावेश रहना-इच्छाजन्य आकुलताका अभाव होना) ही सुख कहलाता है तो वह अनन्त सुख सिद्ध भगवान्के रहता ही है और यदि स्वास्थ्यके सिवाय किसी अन्य वस्तुका नाम सुख है तो वह सुख लोकके भीतर कुछ भी नहीं है । भावार्थ-विषयोंकी इच्छा अर्थात् आकुलताका न होना ही सुख कहलाता है सो ऐसा सुख सिद्ध परमेष्ठीके सदा विद्यमान रहता है । इसके सिवाय यदि किसी अन्य वस्तुका नाम सुख माना जाये तो वह सुख नामका पदार्थ लोकमें किसी जगह भी नहीं है ऐसा समझना चाहिए ॥२११॥ वे सिद्ध भगवान् समस्त क्लेशोंसे रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं इसलिए वे किसके द्वारा बाधित हो सकते हैं-उन्हें कौन बाधा पहुँचा सकता है अर्थात् कोई नहीं । इसीलिए उनका सुख अन्तरहित कहा जाता है ॥२१२॥ ऋषियोंमें श्रेष्ठ गणधरादि देव इस अनन्त सुखको ही ध्यानका फल कहते हैं और उसी सुखके लिए ही मुनि लोग दिगम्बर होकर तपश्चरण करते हैं ॥२१३॥ जिस प्रकार वायुसे टकराये हुए मेघ शीघ्र ही बिलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूपी वायुसे टकराये हुए कर्मरूपी मेघ शीघ्र ही बिलीन हो जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं । भावार्थ-उत्तम ध्यानसे ही कर्मोंका क्षय होता है ॥२१४॥ जिस प्रकार मन्त्रकी शक्तिसे समस्त शरीरमें व्याप्त हुआ विष खींच लिया जाता है उसी प्रकार ध्यानकी शक्तिसे समस्त कर्मरूपी विष दूर हटा दिया जाता है ॥२१५॥ बाकीके ग्यारह तप एक ध्यानके ही परिकर-सहायक माने गये हैं इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवोंको निरन्तर ध्यानका अभ्यास करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥२१६॥ इस प्रकार ध्यानकी विधि सुनकर मगधेश्वर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुए, और उस समय अज्ञानरूपी अन्धकारके तप्त हो जानेसे उनका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित हो उठा था ॥२१६॥

१. विषयेपिना । २. मुखम् । ३. स्वस्वकावस्थायित्वम् । ४. मूचनः । ५. दिगम्बराः । वातचत्कलाः

७०, ई० । ६. निरन्त्यते । ७. विक्रमितम् । ८. अज्ञान ।

ततस्तत्पुत्रो भवत्या गौतमं कृतवन्दनाः । पप्रच्छुरिति योगीन्द्रं योगद्वैधानि^१ कानिचिन् ॥२१७॥
 भगवन् योगशास्त्रस्य तत्त्वं^२ त्वत्तः अतं मुहुः । इदानीं योऽमुमिच्छामस्तद्दिगन्तरवोधनम् ॥२१८॥
 तदस्य ध्यानशास्त्रस्य वास्ता विप्रतिपत्तयः^३ । निराकुरुष्व ता देव भास्वानिव तमस्तृतीः ॥२१९॥
 ऋद्धिप्राप्तेर्ऋषिस्थं हि^४ एवं हि प्रत्यक्षविन्मुनिः^५ । अनगारोऽस्य संगत्वाद् यतिः श्रेणीद्वयोन्मुखः ॥२२०॥
 ततो भागवतादीनां योगानामभिभूतये^६ । बहि नो योगबीजानि^७ हेत्वाज्ञाम्या^८ यथाश्रुतम् ॥२२१॥
 इति तद्वचनं श्रुत्वा भगवान् स्माह गौतमः । यस्स्पृष्टं योगतत्त्वं वः^९ कथयिष्यामि तत्स्फुटम् ॥२२२॥
 षड्भेदं^{१०} योगवादी यः^{११} सोऽनुयोज्यः^{१२} समाहितैः । योगः कः किं समाधानं^{१३} प्राणायामश्च कीदृशः ॥२२३॥
 का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः^{१४} । किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य^{१५} कीदृशः ॥
 कायवाक्मनसा कर्म योगो योगविदां मतः । स^{१६} शुभाशुभभेदेन भिन्नो द्वैविध्यमदनुते ॥२२४॥
 यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्या^{१७} धाममजला । स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ॥२२५॥
 प्राणायामो भवेद् योगनिग्रहः शुभभावनाः । धारणा श्रतनिर्विघ्नबीजानामवधारणम् ॥२२६॥

तदनन्तर भक्तिपूर्वक वन्दना करनेवाले ऋषियोंने योगिराज गौतम गणधरसे नीचे लिखे अनुसार और भी कुछ ध्यानके भेद पूछे ॥२१७॥ कि हे भगवन्, हम लोगोंने आपसे योगशास्त्रका रहस्य अनेक बार सुना है, अब इस समय आपसे अन्य प्रकारके ध्यानोंका निराकरण जानना चाहते हैं ॥२१८॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारके समूहको नष्ट कर देता है उसी प्रकार आप भी इस ध्यानशास्त्रके विषयमें जो कुछ भी विप्रतिपत्तियाँ (बाधाएँ) हैं उन सबको नष्ट कर दीजिए ॥२१९॥ हे स्वामिन्, अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त होनेसे आप ऋषि कहलाते हैं, आप अनेक पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले मुनि हैं, परिग्रहरहित होनेके कारण आप अनगार कहलाते हैं और दोनों श्रेणियोंके सम्मुख हैं इसलिए यति कहलाते हैं ॥२२०॥ इसलिए भागवत आदिमें कहे हुए योगोंका पराभव (निराकरण) करनेके लिए युक्ति और शास्त्रके अनुसार आपने जैसा सुना है वैसा ही हम लोगोंके लिए योग (ध्यान) के समस्त बीजों (कारणों अथवा बीजाक्षरों) का निरूपण कीजिए ॥२२१॥ इस प्रकार उन ऋषियोंके ये वाक्य सुनकर भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे कि आप लोगोंने जो योगशास्त्रका तत्त्व अथवा रहस्य पूछा है उसे मैं स्पष्ट रूपसे कहूँगा ॥२२२॥

जो छह प्रकारसे योगोंका निरूपण करता है ऐसे योगवादीसे विद्वान् पुरुषोंको पूछना चाहिए कि योग क्या है ? समाधान क्या है ? प्राणायाम कैसा है ? धारणा क्या है ? आध्यान (चिन्तवन) क्या है ? ध्येय क्या है ? स्मृति कैसी है ? ध्यानका फल क्या है ? ध्यानके बीज क्या हैं ? और इसका प्रत्याहार कैसा ? है ॥२२३-२२४॥ योगके जाननेवाले विद्वान् काय, वचन और मनकी क्रियाको योग मानते हैं, वह योग शुभ और अशुभके भेदसे दो भेदोंको प्राप्त होता है ॥२२५॥ उत्तम परिणामोंमें जो चित्तका स्थिर रखना है वही यथार्थमें समाधि या समाधान कहलाता है अथवा पंच परमेष्ठियोंके स्मरणको भी समाधि कहते हैं ॥२२६॥ मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रोंमें बतलाये हुए बीजाक्षरोंका अवधारण करना धारणा

१. ध्यानभेदान् । २. ध्यान । ३. स्वरूपम् । ४. योगमार्गान्तरनिराकरणम् । ५. तत् कारणम् । ६. प्रतिकूलाः । ७. हि पादपूरणे । ८. वैष्णवादीनाम् । ९. ध्यानानाम् । १०. ध्याननिमित्तानि । ११. युक्त्या-
 गमपरमागमाम्याम् । १२. च ल०, म०, अ० । १३. संयोगः, संयुक्तसमूहायः, संयुक्तसमवेतसमवायः,
 समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति षड्प्रकारयोगान् वदतीति । १४. योगः । १५. प्रष्टव्यः ।
 १६. समाधिः । १७. योगस्य । योगादेर्वक्ष्यमाणलक्षणलभितत्वात् तन्न तत्र संभवतीति स्वमतं प्रतिष्ठापयितु-
 माह । १८. योगः । १९. धारणा ।

भाष्यान् स्यादनुध्यानमनिरयत्वादिविस्तृतैः । ध्येयं स्यात् परमं^१ तत्त्वमवाक्यमनसगोचरम् ॥२२८॥
स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां वाथास्यानुस्मृतिः स्मृता । गुणानुस्मरणं वा स्यात् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम् ॥२२९॥
फलं यथोक्तं^२ बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमान् । प्रत्याहारस्तु^३ तस्योपसंहृतौ चित्तनिवृत्तिः ॥२३०॥
अकारादिहकारान्तरेकमध्यान्तविन्दुकम् । ध्यायन् परमिदं बीजं मुख्यार्थी नावसीदति^४ ॥२३१॥
पञ्चक्षरात्मकं बीजमिवार्हस्यो नमोऽस्तिवति । ध्यात्वा मुमुक्षुरार्हन्त्यमनन्तगुणमुच्छति ॥२३२॥
नमः सिद्धेभ्य इत्येतद्गार्हस्त्यवनाक्षरम् । अपज्ज्येषु मय्यारमा स्वेष्टान् कामानवाप्स्यति ॥२३३॥
अष्टाक्षरं परं बीजं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने । इतीदमनुसस्मृत्य पुनर्दुःखं न पश्यति ॥२३४॥
यत्षोडशाक्षरं^५ बीजं सर्वबीजपदान्वितम् । तत्त्वचित्तदनुध्यायन् ध्रुवमेव^६ सुमुक्षते ॥२३५॥
^७पञ्चब्रह्ममयैर्मन्त्रैः^८ सकलीकृत्यनिरुद्धम्^९ । परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् यत्^{१०} तत्त्वचित् ॥२३६॥
योगिनः परमानन्दो योऽस्य स्याच्चित्तं^{११} निवृत्तेः । स पूर्वैश्वर्यं^{१२} पर्यन्ती योगजाः किमुतर्ह्ययः^{१३} ॥२३७॥

कहलाती है ॥२२७॥ अनित्यत्व आदि भावनाओंका बार-बार चिन्तन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचनके अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥२२८॥ जीव आदि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका स्मरण करना स्मृति कहलाती है अथवा सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करना भी स्मृति कहलाती है ॥२२९॥ ध्यानका फल ऊपर कहा जा चुका है, बीजाक्षर आगे कहे जायेंगे और मनकी प्रवृत्तिका संकोच कर लेनेपर जो मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥२३०॥ जिसके आदिमें अकार है अन्तमें हकार है मध्यमें रेफ है और अन्तमें विन्दु है ऐसे अर्ह इस उत्कृष्ट बीजाक्षरका ध्यान करता हुआ मुमुक्षु पुण्य कभी भी दुःखी नहीं होता ॥२३१॥ अथवा 'अर्हद्भ्यो नमः' अर्थात् 'अर्हन्तोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार छह अक्षरवाला जो बीजाक्षर है उसका ध्यान कर मोक्षाभिलाषी मुनि अनन्त गुणयुक्त अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त होता है ॥२३२॥ अथवा जप करने योग्य पदार्थोंमेंसे 'नमः सिद्धेभ्यः' अर्थात् 'सिद्धोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सिद्धोंके स्तवन स्वरूप पाँच अक्षरोंका जो भव्य जीव जप करता है यह अपने इच्छित पदार्थोंको प्राप्त होता है अर्थात् उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥२३३॥ अथवा 'नमोऽर्हत्परमेष्ठिने' अर्थात् 'अर्हन्त परमेष्ठीके लिए नमस्कार हो' यह जो आठ अक्षरवाला परमबीजाक्षर है उसका चिन्तन करके भी यह जीव फिर दुःखोंको नहीं देखता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥२३४॥ तथा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' अर्थात् 'अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँचों परमेष्ठियोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सब बीज पदोंसे सहित जो सोलह अक्षरवाला बीजाक्षर है उसका ध्यान करनेवाला तत्त्वज्ञानी मुनि अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३५॥ अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इस प्रकार पंचब्रह्म स्वरूप मन्त्रोंके द्वारा जो योगिराज शरीररहित परमतत्त्व परमात्माको शरीरसहित कल्पना कर उसका बार-बार ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाला कहलाता है ॥२३६॥ ध्यान करनेवाले योगीके चित्तके सन्तुष्ट होनेसे जो परम आनन्द होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है फिर योगसे होनेवाली अनेक ऋद्धियोंका तो कहना ही क्या है ? भावार्थ-ध्यानके प्रभावसे हृदयमें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही ध्यानका सबसे उत्कृष्ट फल है और अनेक

१. आत्मतत्त्वम् । २. अवाङ्मानस ल०, म० । ३. धर्म्येषानादौ प्रोक्तम् । ४. योगस्य । ५. चित्त-प्रसादः, प्रसन्नता । ६. अकारादि इत्यनेन वाक्येन अर्हम् इति बीजपदं ज्ञातव्यम् । ७. संकिल्लो न भवति । ८. पञ्चब्रह्मबीजम् । ९. 'अर्हत्सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु' इति । १०. मोक्षमुपिच्छति । ११. पंचपरमेष्ठि-स्वरूपैः । १२. मय्यारोपितम् । १३. अशरीरम् । आत्मानम् । १४. परब्रह्मस्वरूपवेशः । १५. चित्तप्रसादाद् । १६. ऐश्वर्यपरमावधिः । १७. अत्यल्पा इत्यर्थः ।

अणिमादिगुणयुक्तमैश्वर्यं परमोदयम् । भुक्त्वेहैव पुनमुंक्त्वा मुनिर्निर्वर्ति यो गवित् ॥२३८॥

बीजाभ्येतान्यजानातो नाममात्रेण मन्त्रवित् । मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबन्धनैः ॥२३९॥

नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगामिमानिनाम् । नित्यश्चेद्वि कार्यत्वाच्च ध्येयध्यानसंसृतिः ॥२४०॥

सुखासुखानुभवनस्मरणेच्छासंभवात् । प्रागेवास्य न दिध्यासा दूरान्तस्वानुचिन्तनम् ॥२४१॥

तन्निवृत्तौ कुतो ध्यानं कुतश्चोक्तं कलौदयः । कर्ममोक्षप्रसिद्धिदाने अक्रियण्यलालः ततः ॥२४२॥

क्षणिकानां च चिन्तानां सन्ततौ कानुमोक्षना । ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्बला ॥२४३॥

सन्तानान्तरवत्तस्मात् न दिध्यासादिसंभवः । न ध्यानं न च निर्मोक्षो नाप्यस्याष्टाङ्गमावर्ता ॥२४४॥

अद्वितीयोंकी प्राप्ति होना गौण फल है ॥२३८॥ योगको जाननेवाला मुनि अणिमा आदि गुणोंसे युक्त तथा उत्कृष्ट उदयसे सुशोभित इन्द्र आदिके ऐश्वर्यका इसी संसारमें उपभोग करता है और बादमें कर्मबन्धनसे छूटकर निर्वाण स्थानको प्राप्त होता है ॥२३८॥ इन ऊपर कहे हुए बीजोंको न जानकर जो नाम मात्रसे ही मन्त्रवित् (मन्त्रोंको जाननेवाला) कहलाता है और झूठे अभिमानसे दग्ध होता है वह सदा कर्मरूपी बन्धनोंसे बँधता रहता है ॥२३९॥ अब यहाँसे अन्य मतावलम्बी लोगोंके द्वारा माने गये योगका निराकरण करते हैं—योगका अभिमान करनेवाले अर्थात् मिथ्या योगको भी यथार्थ योग माननेवालोंके मतमें जीव पदार्थ नित्य है ? अथवा अनित्य ? यदि नित्य है तो वह अविकार्य अर्थात् विकार (परिणमन) से रहित होगा और ऐसी अवस्थामें उसके ध्येयके ध्यानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा । इसके सिवाय नित्य जीवके सुख-दुःखका अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणमनोंका होना भी असम्भव है इसलिए जब इस जीवके सर्वप्रथम ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती तब तत्त्वोंका चिन्तन तो दूर ही रहा । और तत्त्व-चिन्तनके बिना ध्यान कैसे हो सकता है ? ध्यानके बिना फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? और उसके बिना बन्ध तथा मोक्षके कारणभूत समस्त क्रियाकलाप भी निष्फल हो जाते हैं ॥२४०-२४२॥ यदि जीवको अनित्य माना जाये तो क्षण-क्षणमें नवीन उत्पन्न होनेवाली चित्तोंकी सन्ततिमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकेगी क्योंकि इस क्षणिक वृत्तिमें अपने-द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थोंका स्मरण होना अशक्य है । भावार्थ—यदि जीवको सर्वथा अनित्य माना जाये तो ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती क्योंकि ध्यान करनेवाला जीव क्षण-क्षणमें नष्ट होता रहता है । यदि यह कहो कि जीव अनित्य है किन्तु वह नष्ट होते समय अपनी सन्तान छोड़ जाता है इसलिए कोई बाधा नहीं आती परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब जीवका निरन्तर नाश हो जाता है तब यह उसकी सन्तान है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता और किसी तरह उसकी सन्तान है ऐसा व्यवहार मान भी लिया जाये तो 'सब क्षणिक है' इस

१. कर्ममलमुंक्त्वा । २. मुक्तो भवति । ३. नाममात्राणि द० । ४. अयोगे योगबुद्धिः योगाभिमानः तद्वत्तां योगानाम् । ५. सर्वथा नित्यः । ६. अपरिणामित्वात् । ध्येयध्यानसंयोगाभावमेव प्रतिपादयति । ७. सुखदुःखानुभवनमनुभूतार्थस्मृतिरिति बधनात्, स्मरणमपि सुखाभिलाषिप्रभृतिकम्, नित्यस्यासंभवात् । ८. सर्वथानित्यजीवतत्त्वस्य । ९. ध्यातुमिच्छा । १०. तत्त्वानुचिन्तनाभावे । ११. कुत आगतः । १२. शुभाशुभकर्मविवरणम् । १३. कारणात् । १४. सामर्थ्यम् । १५. क्षणिकरूपचित्ते । १६. देवदत्तचित्तसन्तानं प्रति यज्ञदत्तचित्तसन्तानवत् । १७. कारणात् । १८. दिध्यासाद्यभावात् ध्यानमपि न संभवति । १९. ज्ञानाभावात् मोक्षोऽपि न संभवति । २०. मोक्षस्य । २१. सम्यक्संज्ञा, संश्लेषकायकमन्तिर्व्यापामस्मृतिरुपाणामष्टाङ्गानां भावनापि न संभवति । चार्वाकमते ध्यानं न संगच्छत इत्याह ।

‘तत्तुद्गलवादेऽपि देह^१ पुद्गलत्ववचोः । तदव्यवस्थावक्तव्यसंगराद्यनुरस्थितेः^२ ॥२४५॥

दिध्यासापूर्विकाध्यानप्रवृत्तिर्नाशयुज्यते । न चासत्^३ सपुण्यस्य काश्चिद् गन्धादिकल्पना ॥२४६॥

‘विज्ञप्तिमात्रवादे च^४ ज्ञप्तेर्नास्त्येव गोचरः^५ । ततो निर्विषयाज्ञप्तिः कदात्मानं^६ विभ्रयात् कथम् ॥२४७॥

नियममें जीवकी सन्तानोंका समुदाय भी क्षणिक ही होगा इसलिए उस दशामें भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता । इसके सिवाय ध्यान उस पदार्थका किया जाता है जिसका पहले कभी अनुभव प्राप्त किया हो, परन्तु क्षणिक वस्तुओं को अनुभव करनेवाला और अनुभूत पदार्थ दोनों ही नष्ट हो जाते हैं अतः पुनः स्मरण कौन करेगा और किसका करेगा इन सब आप-सियोंको लक्ष्य कर ही आचार्य महाराजने कहा है कि क्षणिकैकान्त पक्षमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती ।

जिस प्रकार एक पुरुषके द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण दूसरे पुरुषको नहीं हो सकता क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है इसी प्रकार अनुभव करनेवाले मूलभूत जीवके नष्ट हो जानेपर उसके द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण उनकी सन्तान प्रतिसन्तानको नहीं हो सकता क्योंकि मूल पदार्थका निरन्वय नाश माननेपर सन्तान प्रतिसन्तानके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता । अनुभूत पदार्थके स्मरणके बिना ध्यान करनेकी इच्छाका होना असम्भव है, ध्यानकी इच्छाके बिना ध्यान नहीं हो सकता, और ध्यानके बिना उसके फलस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती । तथा सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्-वचन, सम्यक्कर्मन्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि इन आठ अंगोंकी भावना भी नहीं हो सकती । इसलिए जीवकी अनित्य माननेसे भी ध्यान- (योग) की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२४३-२४४॥ इसी प्रकार पुद्गलवाद आत्माको पुद्गल-रूप माननेवाले वात्सीपुत्रियोंके मतमें देह और पुद्गलतत्त्वके भेद-अभेद और अवक्तव्य पक्षोंमें ध्याताकी सिद्धि नहीं हो पाती । अतः ध्यानकी इच्छापूर्वक ध्यानप्रवृत्ति नहीं बन सकती । सर्वथा असत् आकाशपुष्पमें गन्ध आविकी कल्पना नहीं हो सकती । तात्पर्य यह कि पुद्गलरूप आत्मा यदि देहसे भिन्न है तो पृथक् आत्मतत्त्व सिद्ध हो जाता है । यदि अभिन्न है तो देहात्मवादके दूषण आते हैं । यदि अवक्तव्य है तो उसके किसी रूपका निर्णय नहीं हो सकता और उसे ‘अवक्तव्य’ इस शब्दसे भी नहीं कह सकेंगे । ऐसी दशामें ध्यानकी इच्छा प्रवृत्ति आदि नहीं बन सकते । इसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादियोंके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि संसारमें विज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है । परन्तु उनके इस सिद्धान्तमें विज्ञानका कुछ भी विषय शेष नहीं रहता । इसलिए विषयके अभावमें विज्ञान स्व-स्वरूपको कहाँ धारण कर सकेगा ? भावार्थ-विज्ञान उसीको कहते हैं जो किसी ज्ञेय (पदार्थ) को जाने परन्तु विज्ञानाद्वैतवादी विज्ञानको छोड़कर और किसी पदार्थकी सत्ता स्वीकृत नहीं करते इसलिए ज्ञेय (जानने योग्य)-पदार्थोंके बिना

१. जीवभूतचतुष्टयवादे भूतचतुष्टयसमष्टिरेव नान्यो जीव इति वादे । तथा अ०, प०, ल०, म०, व०, इ०, स० । तथेति पाठान्तरमिति ‘त’ पुस्तकस्यापि टिप्पण्यां लिखितम् । २. देहि व० । ३. एकत्वानात्म-वस्तुत्वप्रमेयत्वादीनामवक्तव्यप्रतिज्ञायाः । ४. अभावात् । ५. भूतचतुष्टयवादे । ६. अविद्यमानस्य गगनार-विन्दस्य । अयं धातुरस्थितेः दृष्टान्तः । ७. विज्ञानाद्वैतवादिनो ध्यानं न संगच्छत इत्याह । ८. -वादेऽपि व० । ९. विषयः । १०. स्वम् । ज्ञानमित्यर्थः ।

१ तदभावे च न ध्यानं न ध्येयं २ मोक्ष एव वा । प्रदीपार्कहुता ३ शादौ सत्यर्थे चार्धभासनम् ॥२४८॥

४ नैरात्म्यवादपक्षेऽपि किं तु केन प्रसीयते । कच्छपा ५ क्कगहहस्तत् ६ स्यात् खपुष्पापीड ७ बन्धनम् ॥२४९॥

८ ध्येयतत्त्वेऽपि नेतव्या ९ विक्रयहययोजना । अनादेशाप्रहेयातिशये स्थासौ १० न किंचन ११ ॥२५०॥

मुक्तात्मनोऽपि चैत १२ न्यविरहालक्षण १३ क्षतेः । न ध्येयं कापिकानां स्यात्किर्गुणत्वाच्च १४ साजवत् १५ ॥२५१॥

निर्विषय विज्ञानस्वरूप लाभ नहीं कर सकता अर्थात् विज्ञानका अभाव हो जाता है ॥२४५-२४७॥ और विज्ञानका अभाव होनेपर न ध्यान, न ध्येय, और न मोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दीपक, सूर्य, अग्नि आदि प्रकाशक और घट, पट आदि प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य) पदार्थोंके रहते हुए ही पदार्थोंका प्रकाशन हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं । भावार्थ—जिस प्रकार प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों प्रकारके पदार्थोंका सद्भाव होनेपर ही वस्तुतत्त्वका प्रकाश हो पाता है उसी प्रकार विज्ञान और विज्ञेय दोनों प्रकारके पदार्थोंका सद्भाव होनेपर ही ध्यान, ध्येय और मोक्ष आदि वस्तुओंकी सत्ता सिद्ध हो सकती है परन्तु विज्ञानाद्वैतवादी केवल प्रकाशक अर्थात् विज्ञानको ही मानते हैं प्रकाश्य अर्थात् विज्ञेय पदार्थोंको नहीं मानते और युक्तिपूर्वक विचार करनेपर उनके उस विज्ञानकी भी सिद्धि नहीं हो पाती ऐसी दशामें ध्यानकी सिद्धि तो दूर ही रही ॥२४८॥ इसी प्रकार जो आत्माको नहीं मानते ऐसे शून्यवादी बौद्धोंके मतमें भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जब सब कुछ शून्यरूप ही है तब कौन किसको जानेगा—कौन किसका ध्यान करेगा, उनके इस मतमें ध्यानकी कल्पना करना कछुएके बालोंसे आकाशके फूलोंका सेहरा बाँधनेके समान है । भावार्थ—शून्यवादी लोग न तो ध्यान करनेवाले आत्माको मानते हैं और न ध्यान करने योग्य पदार्थको ही मानते हैं ऐसी दशामें उनके यहाँ ध्यानकी कल्पना ठीक उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कि कछुएके बालोंके द्वारा आकाशके फूलोंका सेहरा बाँधा जाना ॥२४९॥ इसके सिवाय शून्यवादियोंके मतमें ध्येयतत्त्वकी भी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ध्येयतत्त्वमें दो प्रकारके विकल्प होते हैं, एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य । जब शून्यवादी मूलभूत किसी पदार्थको ही नहीं मानते तब उसमें हेय और उपादेयका विकल्प किस प्रकार किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता ॥२५०॥ सांख्य मुक्तात्माका स्वरूप चैतन्यरहित मानते हैं परन्तु उनकी इस मान्यतामें चैतन्यरूप लक्षणका अभाव होनेसे आत्मारूप लक्ष्यकी भी सिद्धि नहीं हो पाती । जिस प्रकार रूपत्व और सुगन्धि आदि गुणोंका अभाव होनेसे आकाशकमलकी सिद्धि नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार चैतन्यरूप विशेष गुणोंका अभाव होनेसे मुक्तात्माकी भी सिद्धि

१. ज्ञानाभावे । २. नाध्यानम् इत्यपि पाठः । अध्यानं ध्यानाभावे सति । ३. अग्नि । आदिशब्देन रत्नादि । शून्यवादे ध्यानं नास्तीत्यर्थः । ४. शून्यवाद । ५. कूर्मशरीररोमभिः । ६. नैरात्म्यम् । ७. शीकर । सर्वं शून्यमिति वदतो ध्यानावलम्बनं किंचिदपि नास्तीति भावः । ८. आदेशं प्रहेयमिति योजना नेतव्या प्रष्टव्या इति भावः । ९. अनादेयमप्रहेयमिति शून्यवादिना परिहारो दत्तः एतस्मिन्नन्तरे कापिलः स्वमतं प्रतिष्ठापयितुकाम आह । एषं चेत् अनादेशाप्रहेयातिशये अनादेशाप्रत्युक्तातिशये । १०. अपरिणामिनि निस्ते वस्तुनि । ध्यानं संभवति इत्युक्ते सति सिद्धान्ती समाचष्टे । ११. किंचिदपि ध्येयध्यानादिकं न स्यात् तदेष आह । १२. चैतन्यविरहात् न केवलं संसारिणो ब्रह्मण्यवसितमर्थं पुत्र्यचैतेत् । इत्यर्थस्याभावात् मुक्तात्मनोऽपीति । १३. ध्यानविषयीभवर्चतन्यात्मकलक्षणस्य क्षयात् । १४. चेतयत इति चेतना इत्यस्य गुणभावाच्च । १५. यथा गगनारविन्दं सौरभादिगुणाभावात् स्वयमपि न दृश्यते तद्वत् ।

^१ सुषुप्तसदृशो मुक्तः स्यादित्येवं मुवाणकः^२ । ^३ सुषुप्तसंस्थे मृतात्मा ध्येयतत्त्वविचारणे ॥२५२॥

शेषेष्वपि^४ प्रवादेशु न ध्यानध्येयनिर्णयः । एकान्तदोषबुद्धत्वाद् द्वैताद्वैतादिवादिनाम् ॥२५३॥

नित्यानित्यात्मकं जीवतत्त्वमभ्युपगच्छताम्^५ । ध्यानं स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिनाम् ॥२५४॥

विरुद्ध^६ धर्मयोरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत् । इति चेन्नार्पणाभेदाद्विरोधप्रसिद्धितः ॥२५५॥

नित्यो^७ द्रव्यार्पणादात्मा^८ न पर्यायभेदो^९ पणान् । अनित्यः पर्यायस्त्वं किं नित्यं ध्येतो न^{१०} तु ॥२५६॥

देवदत्तः पिता च स्यात् पुत्रश्चैवार्पणावशात् ।^{११} विपक्षेतरयोर्योगः स्याद् वस्तुन्युभयात्मनि^{१२} ॥२५७॥

जिनप्रवचनाभ्यासप्रसरत्त्वोद्धर्षपदाम् । युक्तं स्याद्वादिना ध्यानं नान्येषां कुर्यादिति ॥२५८॥

जिनो मोहारिविजयादाप्तः स्याद् जीतधीमकः । वाचस्पतिरसौ वाग्मिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥२५९॥

नहीं हो सकती, और ऐसी दशामें वह मुक्तात्मा ध्येय भी नहीं कहला सकता तथा ध्येयके बिना ध्यान भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥२५१॥ जो सांख्यमतवाचलम्बी ऐसा कहते हैं कि मुक्त जीव गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषके समान अचेत रहता है, मालूम होता है कि वे ध्येय-तत्त्वका विचार करते समय स्वयं सोना चाहते हैं अर्थात् अज्ञानी बने रहना चाहते हैं इस तरह सांख्यमतमें ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥२५२॥ इसी प्रकार द्वैतवादी तथा अद्वैत-वादी लोगोंके जो मत शेष रह गये हैं वे सभी एकान्तरूपी दोषसे दूषित हैं इसलिए उन सभीमें ध्यान और ध्येयका कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता है ॥२५३॥ इसलिए जीवतत्त्वको नित्य और अनित्य दोनों ही रूपसे माननेवाले स्याद्वादी लोगोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य एकान्तवादी लोगोंके मतमें नहीं हो सकती ॥२५४॥ कदाचित् यहाँ कोई कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मोंका आधार नहीं हो सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नहीं हो सकता तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि विवक्षाके भेदसे वैसा कहनेमें कोई विरोध नहीं आता । यदि एक ही विवक्षासे दोनों विरुद्ध धर्म कहे जाते तो अवश्य ही विरोध आता परन्तु यहाँ अनेक विवक्षाओंसे अनेक धर्म कहे जाते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं मालूम होता । जीवतत्त्व द्रव्यकी विवक्षासे नित्य है न कि पर्यायके भेदोंकी विवक्षासे भी । इस प्रकार वही जीवतत्त्व पर्यायोंके उत्पाद और विनाशकी अपेक्षा अनित्य है न कि द्रव्यकी अपेक्षासे भी । जिस प्रकार एक ही देवदत्त विवक्षाके वशसे पिता और पुत्र दोनों ही रूप होता है उसी प्रकार एक ही वस्तु विवक्षाके वशसे नित्य तथा अनित्य दोनों रूप ही होता है । देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है इसी प्रकार संसारकी प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है । इससे सिद्ध होता है कि वस्तुमें दोनों विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं परन्तु उनका समावेश विवक्षा और अविवक्षाके वशसे ही होता है ॥२५५-२५७॥ इसलिए जैन शास्त्रोंके अभ्याससे जिनकी ज्ञान-रूपी सम्पदा सभी ओर फैल रही है ऐसे स्याद्वादी लोगोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य मिथ्यादृष्टियोंके मतमें नहीं ॥२५८॥ भगवान् अरहन्त देवने मोहरूपी शत्रुपर विजय प्राप्त कर ली है इसलिए वे जिन कहलाते हैं उनकी बुद्धिका समस्त मल नष्ट हो गया है इसलिए वे आप्त कहलाते हैं और उन्होंने अपने वचनों-द्वारा सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गका उपदेश

१. मृशं निद्रावशगतसदृशः । २. कृत्स्नं बुवाणः सांख्यः । ३. स्वपितुमिच्छति । ४. परमतेषु ।

५. सर्वथाऽभेववादिनामादिषद्वादननुक्तानामपि शून्यवादिनाम् । ६. अनुमन्त्रिणाम् । ७. शीतोष्णवत् नित्या-नित्यरूपयोरिति । ८. 'निही माणवकः' इत्यर्पणाभेदात् । ९. द्रव्यनिरूपणात् । १०. द्रव्यार्पणाच्चात्मा द०, क०, म० । ११. भेदः । १२. नित्यानित्ययोः । १३. नित्यानित्यात्मनि ।

स्याद्दृक्परिधातादिगुणैरपरगोचरः^१ । बुद्धस्त्रैलोक्यविश्वार्थबोधनाद् विश्वभुविभुः^२ ॥२६०॥

स विष्णुश्च^३ विजिष्णुश्च शंकरश्चि^४ अभयंकरश्च^५ शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परमसक्षरम्^६ ॥२६१॥

इत्यन्वर्थानि नामानि यस्य लोकेशिनः प्रभोः । विदुषां हृदयेष्वासुबुद्धिं कर्तुमलंतराम्^७ ॥२६२॥

यस्य रूपमधिज्याति^८ रत्नम्बरविभूषणम् । शास्त्रि कामज्वरापायमकटाक्षनिरीक्षणम् ॥२६३॥

निराशुभत्वाग्निभूतभयकोपमकोपनात् । अरक्तनयनं सौम्यं सदा प्रहसितायितम्^९ ॥२६४॥

रागाद्यशेषशेषाणां निर्जयादतिमानुषम्^{१०} । सुखाब्जं यस्य^{११} शास्त्रस्त्वमनुशास्त्रि सुमधसः ॥२६५॥

य एवाप्तो जगद्वाप्तजानवैराग्यवैभवः । तदुपज्ञमतो^{१२} ध्यानं श्रेयो^{१३} श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥२६६॥

मालिनीलुन्दः

इति गदति^{१४} गणेन्द्रे ध्यानतत्त्व^{१५} महर्षी

मुनिसदसि मुनीन्द्राः^{१६} प्रातुषन्भक्तिभाजः ।

दिया है इसलिए वे वाचस्पति कहलाते हैं ॥२५९॥ अन्य किसीमें नहीं पाये जानेवाले, राग-द्वेष आदि कर्मशत्रुओंको धात करना आदि गुणोंके कारण वे अर्हत् अथवा अरिहन्त कहलाते हैं । तीन लोकके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण वे बुद्ध कहलाते हैं और वे समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए विभु कहलाते हैं ॥२६०॥ इसी प्रकार वे समस्त संसारमें व्याप्त होनेसे 'विष्णु', कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे 'विजिष्णु', शान्ति करनेसे 'शंकर', सब जीवोंको अभय देनेसे 'अभयंकर', आनन्दरूप होनेसे 'शिव' आदि अन्तरहित होनेके कारण 'सनातन', कृतकृत्य होनेके कारण 'सिद्ध', केवलज्ञानरूप होनेसे 'ज्योति', अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित होनेके कारण 'परम' और अविनाशी होनेसे 'अक्षर' कहलाते हैं ॥२६१॥ इस प्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभुके अनेक सार्थक नाम हैं वही अरहन्तदेव विद्वानोंके हृदयमें आपबुद्धि करनेके लिए समर्थ हैं अर्थात् विद्वान् पुरुष उन्हें ही आप मान सकते हैं ॥२६२॥ जिनका रूप वस्त्र और आभूषणोंसे रहित होनेपर भी अतिशय प्रकाशमान है और जिनका कटाक्षरहित देखना कामरूपी ज्वरके अभावको सूचित करता है ॥२६३॥ शस्त्ररहित होनेके कारण जो भय और क्रोधसे रहित है तथा क्रोधका अभाव होनेसे जिसके नेत्र लाल नहीं हैं, जो सदा सौम्य और मन्द मुसकानसे पूर्ण रहता है, राग आदि समस्त दोषोंके जीत लेनेसे जो समस्त अन्य पुरुषोंके सुखोंसे बढ़कर है, ऐसा जिनका सुखकमल ही विद्वानोंके लिए उत्तम शासक-पताका उपदेश देता है अर्थात् विद्वान् लोग जिनका सुख-कमल देखकर ही जिन्हें उत्तम शासक समझ लेते हैं ॥२६४-२६५॥ इसके सिवाय जिनके ज्ञान और वैराग्यका वैभव समस्त जगत्में फैला हुआ है ऐसे अरहन्तदेव ही आपन हैं । यह ध्यानका स्वरूप उन्हींके द्वारा कहा हुआ है इसलिए कल्याण चाहनेवालोंके लिए कल्याणस्वरूप है ॥२६६॥

इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गौतम गणधरने जब मुनियोंकी सभामें ध्यानतत्त्वका निरूपण किया तब भक्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज बहुत ही

१. अर्पेयामविषयः । २. विश्वं बोधयतीति । ३. वेवेष्टि इति, ज्ञानरूपेण लोकालोक वेवेष्टि इति विष्णुरित्यर्थः । ४. अविनश्वरम् । ५. अतिशयेन समर्थानि । ६. अधिकं ज्योतिस्तेजो यस्य तत् । ७. उपदिशति । ८. प्रहसितायितम् न० । ९. मानुषमतीतम्, दिव्यमित्यर्थः । १०. शिक्षकत्वम् । ११. सर्वज्ञेन प्रथममुपक्रान्तम् । १२. श्रेयणीयम् । १३. वदति सति । १४. स्वरूपम् । १५. तुष्टवन्तः ।

एकविंश पर्व

५०५

वनपुलकितभृगुर्गामाविर्मुग्धाङ्गं

^१दिनकरकरयोगादाकरा ^२वाग्भुजानाम् ॥२६०॥

स्तुतिमुत्तरमुत्वास्ते योगिनो योगिमुख्यं

^३क्षणमिव जितसेनाधीश्वरं ^४तं प्रशुष्य ।

^५प्रणिदधुरथ चेतः श्रोतुमार्हन्त्यलक्ष्मीं

समधिगतसमग्रज्ञानधाम्नः ^६स्वधाम्नः ॥२६१॥

इत्यार्षे भगवज्जितसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

ध्यानतत्त्वानुवर्णनं नाम एकविंश पर्व ॥२१॥

मन्तुष्ट हुए । उनके शरीर हर्षसे रोमांचित हो उठे और जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे कमलोंका समूह प्रफुल्लित हो जाता है उसी प्रकार हर्षसे उनके मुखकमल भी प्रफुल्लित हो गये थे ॥२६०॥ अथानन्तर स्तुति करनेसे, जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं ऐसे उन सभी योगियोंने योगियोंमें मुख्य और जिनसेनाधीश्वर अर्थात् जिनेन्द्र भगवान्की चार संघरूपी सेनाके अथवा आचार्य जिनसेनके स्वामी गौतमगणधरकी थोड़ी देर तक स्तुति कर, जिन्हें समस्त ज्ञानका तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मस्वरूपमें ही स्थिर हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवकी आर्हन्त्य लक्ष्मीको सुननेके लिए चित्त स्थिर किया ॥२६१॥

इस प्रकार भगवज्जितसेनाचार्य प्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें

ध्यानतत्त्वका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२१॥

१. किरणसंयोगात् । २. वा इव । ३. क्षणपर्यन्तमित्यर्थः । ४. जितसेनाचार्यस्वामिनम्, अथवा जिनस्य सेना जिनसेना समग्ररक्षणस्य भग्यसन्ततिस्तस्या अधीश्वररतम् । ५. अवधानयुक्तमकार्षुः । ६. ज्ञानं तेजसः । ७. स्वार्हमेव धाम स्वानं यस्य तस्य स्वस्वरूपवा इव स्थितस्येत्यर्थः ।

द्वाविंशं पर्व

अथ घातिजयं जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टपे । त्रिलोक्यामभवत् क्षोभः कैवल्योत्पत्तिवात्यया^१ ॥१॥
तदा प्रक्षुभिताम्भोधि^२ वेलाध्वानानुकारिणी । घण्टा मुखरयामास^३ जगत्कल्पाभरेशिनाम् ॥२॥
ज्योतिर्लोके महान्सिद्धप्रणादोऽभूत् समुन्धितः । येनाशु^४ विमर्शभावमवापन्सुरधारणाः ॥३॥
दध्वान^५ ध्वनदम्भोद^६ ध्वनितानि तिरोदधन्^७ । ज्येन्तरेषु^८ गेहेषु महानानकनिःस्वनः ॥४॥
शंखः^९ शं खचरैः^{१०} सार्द्धं यूयमेत जिघृक्षवः^{११} । इतीष घोषयन्नुष्णैः फणीम्भवनेऽध्वनत्^{१२} ॥५॥
विष्टराण्यभरेशानामशनैः^{१३} प्रचक्रम्परे । अक्षमाणीव तद्गर्भं सोढुं जिनजयोत्सवे ॥६॥
पुष्करैः स्वरथोक्षितपुष्करार्भाः^{१४} सुरद्विपाः । नन्दमुः पर्वतोवद्वा महाहिमिरिवाद्रयः ॥७॥
पुष्पाञ्जलिमिवातेनुः समन्तात् सुरभूरुहाः । चलच्छात्रार्करदीर्घविंगलकुसुमोत्करैः ॥८॥
दिशः प्रसस्तिमाद्येदुः यन्त्राजं व्यभ्रमम्बरम् । विशर्जीकृतभूलोकः शिशिरो महदावर्वा ॥९॥

अथानन्तर जब जिनेन्द्र भगवान्ने घातिया कर्मोपर विजय प्राप्त की तब समस्त संसार-
का सन्ताप नष्ट हो गया—सारे संसारमें शान्ति छा गयी, और कैवल्यसाधकी उत्पत्तिरूप
वायुके समूहसे तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न हो गया ॥१॥ उस समय क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रकी
लहरोंके शब्दका अनुकरण करता हुआ कल्पवासी देवोंका घण्टा समस्त संसारको बाचा-
लित कर रहा था ॥२॥ ज्योतिषी देवोंके लोकमें बड़ा भारी सिंहनाद हो रहा था
जिससे देवताओंके हाथी भी मदरहित अवस्थाको प्राप्त हो गये थे ॥३॥ ज्यन्तर देवोंके
घरोंमें नगाड़ोंके ऐसे जोरदार शब्द हो रहे थे जो कि गरजते हुए मेघोंके शब्दोंको भी
तिरस्कृत कर रहे थे ॥४॥ 'भो भवनवासी देवो, तुम भी आकाशमें चलनेवाले कल्प-
वासी देवोंके साथ-साथ भगवान्के दर्शनसे उत्पन्न हुए सुख अथवा शान्तिको ग्रहण करनेके
लिए आओ' इस प्रकार जोर-जोरसे घोषणा करता हुआ शंख भवनवासी देवोंके भवनोंमें
अपने आप शब्द करने लगा था ॥५॥ उसी समय समस्त इन्द्रोंके आसन भी शीघ्र ही
कम्पायमान हो गये थे मानो जिनेन्द्रदेवको घातिया कर्मोंके जीत लेनेसे जो गर्व हुआ था
उसे वे सहन करनेके लिए असमर्थ होकर ही कम्पायमान होने लगे थे ॥६॥ जिन्होंने
अपनी-अपनी सूइयोंके अग्रभागोंसे पकड़कर कमलरूपी अर्ध ऊपरको उठाये हैं और जो
पर्वतोंके समान ऊँचे हैं ऐसे देवोंके हाथी नृत्य कर रहे थे तथा वे ऐसे मालूम होते थे मानो
बड़े-बड़े सर्पोंसहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥७॥ अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओंरूपी
हाथोंसे चारों ओर फूल बरसाते हुए कल्पवृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्के लिए
पुष्पाञ्जलि ही समर्पित कर रहे हों ॥८॥ समस्त दिशाएँ प्रसन्नताको प्राप्त हो रही थीं,
आकाश मेघोंसे रहित होकर सुशोभित हो रहा था और जिसने पृथ्वीलोकको धूलिरहित

१. वायुसमूहेन । 'पाशादेशच यः' इति सूत्रात् समूहार्थे यप्रत्ययः । २. -म्भोधिर्वेला अ०, ल०, म० ।
३. बाचालं चकार । ४. मदरहितत्वम् । ५. ध्वनति स्म । ६. मेघरवाणि । ७. आच्छादयन् । ८. ज्यन्तर-
सम्बन्धिषु । ९. मुखम् । १०. खेचरैः ल०, म० । शंखचरैः ट० । शंखचरैः कल्पवासिभिः । भो भवनवासिनः,
यूयम् एत आगच्छत । ११. गृहीतुमिच्छवः । १२. ध्वनति स्म । १३. योघ्रम् । १४. हस्ताग्रैः । १५. उष्ण-
शतपत्रपूजाद्वयाः ।

इति प्रमोदमातन्त्रशक्रस्माद् भुवनोदरे । केवलज्ञानपूर्णंन्दुर्जगदस्थिमवीकृषत् ॥१०॥
 चिह्नैरमीभिरह्वाय^१ सुरेन्द्रोऽजोधि साधधिः । वैमर्षं^२ भुवनव्यापि^३ नै भवष्वंसिर्भैमवम् ॥११॥
 श्रयोत्थायासनादाद्यु प्रमोदं परमुद्रहन् । तत्परादिषु नम्रोऽभून्नतमूर्धा शर्चीपतिः ॥१२॥
 किमेतदिति पृच्छन्तीं^४ पौलोमीमतिसंभ्रमात् । हरिः प्रबोधयामास विभोः कैवल्यसंभवम् ॥१३॥
 प्रयाणपटहेतुयैः^५ पृथ्वनस्सु शताक्षरः । भर्तुः कैवल्यपूजायै^६ निश्चक्राम सुरैर्वृतः ॥१४॥
 ततो बलाहकाकारं^७ विमानं कामगाह्वयम् । शक्रे बलाहको^८ देवो जम्बूद्वीपप्रमान्वितम्^९ ॥१५॥
 मुक्तालम्बनसंशोभि^{१०} तदामाद् रत्ननिर्मितम् । तोषाप्रहासमातन्त्रदिव^{११} किङ्किणिकास्वनैः ॥१६॥
 शारदाभ्रमियादभ्रं^{१२} श्वेतितासिलदिकूमुखम् । नागदत्ताभियोग्येशो^{१३} नागमैरावतं व्यवधात् ॥१७॥
 ततस्तद्विक्रियारूपमाखण्डो दिव्यवाहनम् । हरिवाहः^{१४} सहैशानः प्रतस्थे सपुलोमजः^{१५} ॥१८॥
 इन्द्रसामानिकप्रायस्त्रिंशपारिषदासराः । सात्परश्चजगत्पालाः सानीकाः सप्रकीर्णकाः ॥१९॥

कर दिया है ऐसी ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी ॥१॥ इस प्रकार संसारके भीतर अकस्मात् आनन्दको विस्तृत करता हुआ केवलज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा संसाररूपी समुद्रको बढ़ा रहा था अर्थात् आनन्दित कर रहा था ॥१०॥ अवधिज्ञानी इन्द्रने इन सब चिह्नोंसे संसारमें स्पर्श हुए और संसारको नष्ट करनेवाले, भगवान् वृषभदेवके केवलज्ञानरूपी वैभवको शीघ्र ही जान लिया था । ॥११॥ तदनन्तर परम आनन्दको धारण करता हुआ इन्द्र शीघ्र ही आसनसे उठा और उस आनन्दके भारसे ही मानो नतमस्तक होकर उसने भगवान्के लिए नमस्कार किया था ॥१२॥ 'यह क्या है' इस प्रकार बड़े आश्चर्यसे पूछती हुई इन्द्राणीके लिए भी इन्द्रने भगवान्के केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समाचार बतलाया था ॥१३॥ अथानन्तर जब प्रस्थानकालकी सूचना देनेवाले नगाड़े जोर-जोरसे शब्द कर रहे थे तब इन्द्र अनेक देवोंसे परिवृत होकर भगवान्के केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिए निकला ॥१४॥ उसी समय बलाहकदेवने एक कामग नामका विमान बनाया जिसका आकार बलाहक अर्थात् मेघके समान था और जो जम्बूद्वीपके प्रमाण था ॥१५॥ यह विमान रत्नोंका बना हुआ था और मोतियोंकी लटकती हुई मालाओंसे सुशोभित हो रहा था तथा उसपर जो किङ्किणियोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सन्तोषसे हँस ही रहा हो ॥१६॥ जो आभियोग्य जातिके देवोंमें मुख्य था ऐसे नागदत्त नामके देवने विक्रिया ऋद्धिसे एक ऐरावत हाथी बनाया । यह हाथी शरदृष्टुके बादलोंके समान सफेद था, बहुत बड़ा था और उसने अपनी सफेदीसे समस्त दिशाओंको सफेद कर दिया था ॥१७॥ तदनन्तर सौधर्मेन्द्रने अपनी इन्द्राणी और ऐशान इन्द्रके साथ-साथ विक्रिया ऋद्धिसे बने हुए उस दिव्यवाहनपर आरुढ़ होकर प्रस्थान किया ॥१८॥ सबसे आगे किल्बिषिक जातिके देव जोर-जोरसे सुन्दर नगाड़ोंके शब्द करते जाते थे और उनके पीछे इन्द्र, सात्परजिक, प्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्परश्च, लोकपाल, अनीक और

१. वर्धयति स्म । २. सपदि । ३. विगर्हो भवः विमर्षः विमर्षे भवे वैभवम् । संसारव्युत्तो जातमिति यावत् । ४. स्फुटम् । ५. पुरुषपरमेश्वरवैभवम् । ६. शचीम् । ७. निर्गच्छति स्म । ८. मेघाकारम् । ९. काम-काह्वयम् ल०, म०, इ० । कामुकाह्वयम् द० । १०. बलाहकनामा । ११. प्रमाणांनितम् । १२. तदभावात् ल०, म०, द०, इ०, अ०, ब०, स० । १३. धुद्रवण्टिका । १४. पृथुलम् । १५. वाहनदेवमुख्यः । १६. गजम् । १७. इन्द्रः । १८. इन्द्राणीसहितः ।

पुरः किल्बिषिकेषु चैरातन्वस्वानकश्चनान् । स्नैरं स्वैर्वाहमैः शक्रं प्रजन्तमनुवप्रजुः ॥२०॥
 अप्सरस्तु नटन्तीषु गन्धर्वतोषवादनैः । किन्नरेषु च गायस्तु च्चाल सुरवाहिनी ॥२१॥
 इन्द्रादीनामधैतेषां लक्ष्म किञ्चिदनु श्रुते । इन्द्रनाथसिमाद्यष्टगुणैरिन्द्रो ह्यमन्यजैः ॥२२॥
 आजैश्चर्याद् विवान्यैस्तु गुणैरिन्द्रेण संमिताः^१ । सामानिका भवेद्युस्ते शक्रेणापि गुरुकृताः ॥२३॥
 पितृमातृगुरुप्रज्याः समतास्ते सुरेशिनाम् । लभन्ते सममिन्द्रैश्च^२ सत्कारं मान्यतोचितम् ॥२४॥
 त्रायस्त्रिंशस्त्रयस्त्रिंशदेव देवाः प्रकीर्तिताः । पुरोभ्योमन्त्र्यमात्यानां सदृशास्ते दिवीशिनान् ॥२५॥
 भवाः परिषदीत्यासन् सुराः पारिषदाङ्गयाः । तेषां पीठमर्दसदृशाः सुरेन्द्रैर्यत्कलालिताः ॥२६॥
 आत्मरक्षाः मित्रो रक्षसमानाः प्रोद्यतास्यः^३ । विभवायैव^४ पर्यन्ते पर्यटन्यमरेशिनाम् ॥२७॥
 लोकपालास्तु लोकान्तपालका दुर्गपालवत्^५ । पदास्थादीन्यनीकानि दण्डकक्षानि^६ सप्त वै ॥२८॥
 पौरजानपदप्रख्याः^७ सुरा ज्ञेया प्रकीर्णकाः । भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमाः ॥२९॥
 मताः^८ किल्बिषमस्थेषामिति किल्बिषिकामराः । बाह्याः^९ प्रजा इव स्वर्गो ह्यवलयपुण्योदितसंयः ॥३०॥

प्रकीर्णक जातिके देव अपनी-अपनी सवारियों पर आरुढ़ हो इच्छानुसार जाते हुए सौधमेंन्द्रके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥२९-३०॥ उस समय अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं, गन्धर्व देव बाजे बजा रहे थे और किन्नरी जातिकी देवियाँ गीत गा रही थीं, इस प्रकार वह देवोंकी सेना बड़े वैभवाके साथ जा रही थी ॥२१॥ अब यहाँपर इन्द्र आदि देवोंके कुछ लक्षण लिखे जाते हैं—अन्य देवोंमें न पाये जानेवाले अणिमा महिमा आदि गुणोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हों उन्हें इन्द्र कहते हैं ॥२२॥ जो आत्मा और ऐश्वर्यके बिना अन्य सय गुणोंसे इन्द्रके समान हों और इन्द्र भी जिन्हें बड़ा मानता हो वे सामानिकदेव कहलाते हैं ॥२३॥ वे सामानिक जातिके देव इन्द्रोंके पिता माता और गुरुके तुल्य होते हैं तथा ये अपनी मान्यताके अनुसार इन्द्रोंके समान ही सत्कार प्राप्त करते हैं ॥२४॥ इन्द्रोंके पुरोहित मन्त्री और अमात्या (सदा साथमें रहनेवाले मन्त्री) के समान जो देव होते हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं । ये देव एक-एक इन्द्रको सभामें गिनतीके तैंतीस-तैंतीस ही होते हैं ॥२५॥ जो इन्द्रकी सभामें उपस्थित रहते हैं उन्हें पारिषद् कहते हैं । ये पारिषद् जातिके देव इन्द्रोंके पीठमर्द अर्थात् मित्रोंके तुल्य होते हैं और इन्द्र उनपर अतिशय प्रेम रखता है ॥२६॥ जो देव अंगरक्षकके समान सलवार लेंची उठाकर इन्द्रके चारों ओर घूमते रहते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं । यद्यपि इन्द्रको कुछ भय नहीं रहता तथापि ये देव इन्द्रका वैभव दिखलानेके लिए ही उसके पास ही पास घूमा करते हैं ॥२७॥ जो दुर्गरक्षकके समान स्वर्गलोककी रक्षा करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं और सेनाके समान पियादे आदि जो सात प्रकारके देव हैं उन्हें अनीक कहते हैं (हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्य करनेवाली देवियाँ यह सात प्रकारकी देवोंकी सेना है) ॥२८॥ नगर तथा देशोंमें रहनेवाले लोगोंके समान जो देव हैं उन्हें प्रकीर्णक जानना चाहिए और जो नौकर-चाकरोंके समान हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥२९॥ जिनके किल्बिष अर्थात् पापकर्मका उदय हो उन्हें किल्बिषिक देव कहते हैं । ये देव अन्त्यजोंकी तरह अन्य देवोंसे बाहर रहते हैं । उनके जो कुछ थोड़ा-सा पुण्यका उदय होता

१. किन्नरीषु ल०, म० । २. अनुवक्ष्यते । ३. परमैश्वर्यात् । ४. समानीकृताः । ५. इतरसुरैः कृत-सत्कारम् । ६. नाकेशिनाम् । ७. उपनायकभेदसंघानकारिपुरुषसदृश इत्यर्थः । ८.—रतिलालिताः ल०, म० । ९. अङ्गरक्षमदृशाः । अथवा सेवकसमानाः । १०. प्रोद्यतखड्गाः । ११. पर्यन्तात् । १२. सीमान्तवर्तिदुर्गपाल-सदृशा इत्यर्थः । १३. सेनासदृशानि । १४. समानाः । १५. पापम् । १६. बाण्डालादिबाह्यप्रजावत् ।

एकैकस्मिन्निकाये^१ स्युर्दश भेदाः सुरास्त्रिभे^२ । व्यन्तरा ज्योतिषकायस्त्रिशलोक्तवर्जिताः^३ ॥३१॥
 'इन्द्रसम्बेरमः कीदृगिति चेत् सोऽनुवर्ण्यते । कुञ्जवंशो महावर्मा सुवृत्तोन्नतमस्तकः ॥३२॥
 बह्वाननो बहुरदो बहुदोर्विपुलासनः^४ । 'लक्षणैर्व्यञ्जनैर्युक्तः' सास्त्रिको जयनो बलो^५ ॥३३॥
 कामगः^६ कामरूपी च शूरः सद्बुक्तकन्धरः^७ । 'समसंबन्धनो युयो'^८ मधुस्तिग्धरदेक्षणः^९ ॥३४॥
 'तिर्यग्लोकायतस्थूलसमवृत्तर्जुस्तत्करः । स्निग्धाताम्रपृथुस्रोतो^{१०} दीर्घाङ्गुलिसपुष्करः^{११} ॥३५॥
 वृत्तगात्रापरः^{१२} स्वेवान्^{१३} दीर्घमेह^{१४} नखालभिः । व्यूढोरस्को^{१५} महाध्वानकणः^{१६} सत्कर्णपल्लवः ॥३६॥
 अधेन्दुनिभसुखिलप्रवित्रुमामनलोत्करः । 'सञ्छायस्ताम्रतात्वास्थः शैलोद्गो महाकटः'^{१७} ॥३७॥
 वराहजवनः^{१८} श्रीमान् दीर्घोष्ठो दुन्दुभिस्वनः । सुगन्धिदीर्घन्तिः श्वासः सोऽमितायुः^{१९} कृशोदरः^{२०} ॥३८॥

हैं उसोके अनुरूप उनके थोड़ी-सी ऋद्धियाँ होती हैं ॥३०॥ इस प्रकार प्रत्येक निकायमें ये ऊपर कहे हुए दश-दश प्रकारके देव होते हैं परन्तु व्यन्तर और ज्योतिषदेव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपालभेदसे रहित होते हैं ॥३१॥ अब इन्द्रके ऐरावत हाथीका भी वर्णन करते हैं—उसका वंश अर्थात् पीठपरकी हड्डी बहुत ऊँची थी, उसका शरीर बहुत बड़ा था, मस्तक अतिशय गोल और ऊँचा था। उसके अनेक मुख थे, अनेक दाँत थे, अनेक सूँडें थीं, उसका आसन बहुत बड़ा था, वह अनेक लक्षणों और व्यञ्जनोके सहित था, वह त्रिशूलोद्गाही, स्त्रीप्र गमन करनेवाला था, बलवान् था, वह इच्छानुसार चाहे जहाँ गमन कर सकता था, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना सकता था, अतिशय शूरवीर था। उसके कन्धे अतिशय गोल थे, वह सम अर्थात् समचतुरस्र संस्थानका धारी था, उसके शरीरके बन्धन उत्तम थे, वह धुरन्धर था, उसके दाँत और नेत्र मनोहर तथा चिकने थे। उसकी उत्तम सूँड नीचेकी ओर तिरछी लटकती हुई चञ्चल, लम्बी, मोटी तथा अनुक्रमसे पतली होती हुई गोल और सीधी थी; पुष्कर अर्थात् सूँडका अग्रभाग चिकना और लाल था, उसमें बड़े-बड़े छेद थे और बड़ी-बड़ी अंगुलियोंके समान चिह्न थे। उसके शरीरका पिछला हिस्सा गोल था, वह हाथी अतिशय गम्भीर और स्थिर था, उसकी पूँछ और लिंग दोनों ही बड़े थे, उसका वक्षःस्थल बहुत ही चौड़ा और मजबूत था, उसके कान बड़ा भारी शब्द कर रहे थे, उसके कानरूपी पल्लव बहुत ही मनोहर थे। उसके नखोंका समूह अर्ध चन्द्रमाके आकारका था, अंगुलियोंमें खूब जड़ा हुआ था और मूँगाके समान कुछ-कुछ लाल वर्णका था, उसकी कान्ति उत्तम थी। उसका मुख और तालु दोनों ही लाल थे, वह पर्वतके समान ऊँचा था, उसके गण्डस्थल भी बहुत बड़े थे। उसके जघन सुअरके समान थे, वह अतिशय लक्ष्मीमान् था, उसके ओठ बड़े-बड़े थे, उसका शब्द दुन्दुभी शब्दके समान था, उच्छ्वास सुगन्धित तथा दीर्घ था, उसकी आयु अपरिमित

१. चतुर्निकायेषु एकैकस्मिन्निकाये । २. सुरा इमे ल०, म०, इ०, अ० । ३. त्रायस्त्रिंशः लोकपालैश्च रहिताः । ४. 'ऐन्द्र' इति पाठान्तरम् । ऐन्द्रः इन्द्रसम्बन्धी । ५. बहुकरः । ६. पृथुस्कन्धप्रदेशः । 'आसनः स्कन्धदेशः समाद्' इत्यभिधानात् । ७. सूक्ष्मशुभचिह्नैः । ८. आरमणवितकः । ९. वेगो । 'तरस्वित् स्वरितो वेगी प्रजवी जयनो जवः' इत्यभिधानात् । १०. कायबलवान् । ११. स्वेच्छानुगामी । १२. समानदेहबन्धनः । समः संबन्धनो ल०, म० । १३. धुरन्धरः । १४. औद्भवमृण । १५. तिर्यग्लोकायत-अ०, इ० । तिर्यग्लोकायित-अ० । १६. अरुणविपुलकरान्तराः । 'प्रवाहेन्द्रियगजकरान्तरेषु स्रोतः' इत्यभिधानात् । पृथुस्रोताः इ० । १७. आयताङ्गुलिद्वयवृत्तकराद्यः । स्निग्धं चिककणम् आताम्रं पृथु स्रोतो यस्य तत् दीर्घाङ्गुलि समं पुष्कर शुण्डाग्रं दीर्घाङ्गुलिसपुष्करम्, स्निग्धाताम्रपृथुस्रोतः दीर्घाङ्गुलिसपुष्करं यस्य सः इति 'द' टीकायाम् । १८. वल्लभापरकायः । १९. स्मिग्धरः । २०. मेढ्र । २१. विशालवक्षःस्थलः । २२. महाध्वनियुतध्वनः । अतएव सत्कर्णपल्लवः । २३. प्रज्ञास्तवर्णः । २४. कपालः । २५. शोभायान् । २६. दीर्घायुष्यः । २७. कृतादरः ।

१ अन्वर्थवेदी कल्याणः २ कल्याणप्रकृतिः ३ शुभः । अयोनिजः सुजातश्च ४ ससर्वा सुप्रतिष्ठितः ॥३९॥

मदनिर्हरमंसिकर्णचामरलम्बिनीः । मदलुतोरिवाभिभ्रदपराः पदपदावली ॥४०॥

मुखैर्बहुभिरार्कीर्णो गजराजः रम राजते । सेव्यमान इवादातैर्भक्त्या विश्वैरमेकपैः ॥४१॥

[दशभिः कुलकम्]

अशोकपल्लवाताम्रतालुच्छायाछलेन यः । वहम्सुहुरिवाक्ष्या ५ पल्लवान् कमलीकृतान् ॥४२॥

मृदङ्गमन्दनिर्घोषैः कर्णतालाभिताडनैः । ६ साक्षिबीणास्तैर्हृद्यैरारम्भातोद्यविभ्रमः ॥४३॥

करं सुदीर्घनिःश्वसं ७ मदवेष्टीं च यो वहन् । सनिर्हरस्य सशयोः ८ विभक्तिं स्म गिरेः श्रियम् ॥४४॥

दन्तालम्बैर्मृणालैर्यो राजते रमायसैर्मृशम् । ९ प्रारोहैरिष दन्तानां शशाङ्कशकलामलैः ॥४५॥

पद्माकर इव श्रीमान् दधातः पुष्करश्रियम् । कल्पद्रुम इव १० प्राञ्छु ११ दानाधिभिरुपास्तितः ॥४६॥

थी और उसका सभी कोई आदर करता था । वह सार्थक शब्दार्थका जाननेवाला था, स्वयं मङ्गलरूप था, उसका स्वभाव भी मङ्गलरूप था, वह शुभ था, बिना यौनिके उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति उत्तम थी अथवा उसका जन्म सबसे उत्तम था, वह पराक्रम, तेज, बल, शूरता, शक्ति, संहनन और वेग इन सात प्रकारकी प्रतिष्ठाओंसे सहित था । वह अपने कानोंके समीप बैठी हुई उन भ्रमरोंकी पंक्तियोंको धारण कर रहा था जो कि गण्डस्थलोंसे निकलते हुए मधुरूपी जलके निर्हरनोंसे भीग गयी थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो मदकी दूसरी धाराएँ ही हों । इस प्रकार अनेक मुखोंसे व्याप्त हुआ वह गजराज ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भक्तिपूर्वक आये हुए संसारके समस्त हाथी ही उसकी सेवा कर रहे हों ॥३२-४१॥ उस हाथीका तालु अशोकवृक्षके पल्लवके समान अतिशय लाल था । इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो लाल-लाल तालुकी छायाके बहानेसे खाये हुए पल्लवोंको अच्छे न लगानेके कारण बार-बार उगल ही रहा हो ॥४२॥ उस हाथीके कर्णरूपी तालोंको ताड़नासे मृदङ्गके समान गम्भीर शब्द हो रहा था और वहींपर जो भ्रमर बैठे हुए थे वे बीणाके समान शब्द कर रहे थे, उन दोनोंसे वह हाथी ऐसा जान पड़ता था मानो उसने बाजा बजाना ही प्रारम्भ किया हो ॥४३॥ वह हाथी, जिससे बड़ी लम्बी श्वास निकल रही है ऐसी शुण्ड तथा मद-जलकी धाराको धारण कर रहा था और उन दोनोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो निर्हरने और सर्पसे सहित किसी पर्वतकी ही शोभा धारण कर रहा हो ॥४४॥ इसके दाँतोंमें जो मृणाल लगे हुए थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो चन्द्रमाके दुकड़ोंके समान उज्ज्वल दाँतोंके अँकुरोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥४५॥ वह शोभायमान हाथी एक सरोवरके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलोंकी शोभा धारण करता है उसी प्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूँड़के अग्रभागकी शोभा धारण कर रहा था, अथवा वह हाथी एक ऊँचे कल्पवृक्षके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार कल्पवृक्ष दान अर्थात् अभिलषित वस्तुओंकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा उपासित होता है वसी प्रकार वह हाथी भी दान अर्थात् मदजलके

१. अनुगतसाक्षरवेदी । २. मङ्गलमूर्तिः । ३. स्वभावः । ४. श्रेयोवान् । ५. शोभनजातिः 'जातस्तु कुलजे बुधे ।' ६. सप्तविधमदाविष्टः । ७. —रिवारुच्यान् द०, म० । —रिवारुच्यम् ल०, म० । ८. अलिबीणा-रवसहितः । ९. मदधाराम् । १०. अजगरसहितस्य । ११. शिफामिः । १२. उत्ततः । १३. पक्षे भ्रमरैः ।

रेजे^१ सहैमकक्ष्योऽसौ हेमवल्लीधृताद्रिवत् । नक्षत्रमालयाक्षिस^२ शरदम्बरविभ्रमः ॥४०॥

[पद्मिः कुलकम्]

प्रेमैयमालया कण्ठं स वाचालितमुद्वहन् । पक्षिमालावृत्तस्थाद्रिनितम्बस्य भ्रियं दर्शय ॥४१॥

घण्टाद्वयेन रेजेऽर्सा सौवर्णेन निनादिना । सुराणामवबोधाय^३ जिनार्चामिव घोषयन् ॥४२॥

जम्बूद्वीपविशालोत्कायश्रीः स सरोवरान् । कुलाद्रानिव बभ्रुऽर्सा रत्ननायामशालिनः ॥४३॥

श्वेतिम्ना^४ वपुषः श्वेतद्वीपलक्ष्मांमुवाह सः । चलकैलासशैलामः प्रक्षरन्मदनिर्हारः ॥४४॥

इति व्यावणितारोह^५ परिणाह^६ वपुर्गुणम् । राजानां केश्वरद्वक्त्रे महैरावतदन्तिनम् ॥४५॥

तमैरावणमारूढः सहस्राक्षोऽशुततराम् । पद्माकर इवोत्फुल्लपङ्कजो गिरिमस्तके ॥४६॥

द्वात्रिंशद्वदनान्वस्य प्रस्थास्य च रदाष्टकम् । सरः प्रतिरदं^७ तस्मिन्नकिञ्चन्येका सरः प्रति ॥४७॥

द्वात्रिंशत्प्रसवास्तस्या^८ तावत्प्रमितपत्रकाः । तेष्वायतेषु देवानां नर्तक्यस्तत्प्रभाः पृथक् ॥४८॥

नृत्यन्ति सलयं स्मरवक्त्राब्जा ललितभ्रवः । पद्माच्चित्तद्रुमेपूर्यन्त्यस्यन्त्यः^९ प्रमवाङ्कुरान् ॥४९॥

अभिलाषी भ्रमरोके द्वारा उपासित (सेवित) हो रहा था ॥४६॥ उसके वक्षःस्थल-पर सोनेकी साँकल पड़ी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्णमयी लताओंसे ढका हुआ पर्यंत ही हो और गलेमें नक्षत्रमाला नामकी माला पड़ी हुई थी जिससे वह अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी मालासे सुशोभित शरदम्बर^१ के आकाशकी शोभाको निरस्तृत कर रहा था ॥४७॥ जो गलेमें पड़ी हुई मालासे शब्दायमान हो रहा है ऐसे कण्ठको धारण करता हुआ वह हाथी पक्षियोंकी पङ्क्तिसे घिरे हुए किसी पर्वतके नितम्ब भाग (मध्य भाग) की शोभा धारण कर रहा था ॥४८॥ वह हाथी शब्द करते हुए सुवर्णमयी दो घण्टाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो देवोंको बतलानेके लिए जिनेन्द्रदेवकी पूजाकी घोषणा ही कर रहा हो ॥४९॥ उस हाथीका शरीर जम्बूद्वीपके समान विशाल और स्थूल था तथा वह कुलाचलोंके समान लम्बे और सरोवरोंसे सुशोभित दाँतोंको धारण कर रहा था इसलिए वह ठीक जम्बूद्वीपके समान जान पड़ता था ॥५०॥ वह हाथी अपने शरीरकी सफेदीसे श्वेत द्वीपकी शोभा धारण कर रहा था और क्षरते हुए मदजलके निक्षरनोंसे चलते-फिरते कैलास पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था ॥५१॥ इस प्रकार हाथियोंकी सेनाके अधिपति देवने जिसके विस्तार आदिका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा बड़ा भारी ऐरावत हाथी बनाया ॥५२॥ जिस प्रकार किसी पर्वतके शिखरपर फूले हुए कमलोंसे युक्त सरोवर सुशोभित होता है उसी प्रकार उस ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुआ इन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥५३॥ उस ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ-आठ दाँत थे, एक-एक दाँतपर एक-एक सरोवर था, एक-एक सरोवरमें एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनीमें बत्तीस-बत्तीस कमल थे, एक-एक कमलमें बत्तीस-बत्तीस दल थे और उन लम्बे-लम्बे प्रत्येक दलोंपर, जिनके मुखरूपी कमल मन्द हास्यसे सुशोभित हैं, जिनकी भीहिं अतिशय सुन्दर हैं और जो दर्शकोंके चित्तरूपी वृक्षोंमें आनन्दरूपी अंकुर उत्पन्न करा रही हैं ऐसी बत्तीस-बत्तीस अप्सराएँ लय-

१. हेममयवरवासहितः । २. परिवेष्टित । ३. कण्ठभूषा । ४. जिनपूजाम् । ५. अतिशुभ्रत्वेन ।

६. उत्सेधविशाल । ७. चतुर्गुणम् द०, प०, अ०, स०, म०, ल० । 'इ०' पुस्तकेऽपि पार्श्वे 'चतुर्गुणम्' इति पाठान्तरं लिखितम् । ८. एकैकसरोवरः । ९. सरसि । १०. अग्निन्याम् । ११. प्रेक्षकानां मनोवृक्षे ।

१२. प्रक्षिपन्त्यः । कुर्वन्त्य इति यावत् ।

गामां गङ्गास्य^१ शृङ्गारसमावलयान्वितम् । पश्यन्तः^२ कैशिकीप्रायं नृत्यं पिप्रियिरं सुमः ॥५७॥

प्रयाणे सुरराजस्य नेदुरप्सरसः पुरः । रक्तकण्ठाश्च किन्नर्या^३ जगुजितपतेर्जयम् ॥५८॥

ततो द्वात्रिंशदिन्द्राणां पूयना बहुकेतनाः । प्रसस्रुर्बिलम्बच्छत्रचामराः प्रततामराः^४ ॥५९॥

अप्सरःकुटुम्भारक्तकुचक्राह्वयुग्मकं । तद्वत्प्रपङ्कजच्छत्रे लसत्तन्त्रयनोपले ॥६०॥

तमःसरसि हारांश्चच्छत्रवारिणि हारिणि । चलन्तश्चामरापीडा^५ हंसायन्ते स्म नाकिनाम् ॥६१॥

इन्द्रनीलमयाहार्य^६ हर्षिभिः क्वचिदासतम् । स्वामाभां^७ विभराभास^८ धातासिनिभमम्बरम् ॥६२॥

पद्मरागश्चा व्याप्तं क्वचिद्वयोमतलं बभौ^९ । सान्ध्यं रागमिवाविभ्रदुनुरजितदिदुसुखम् ॥६३॥

क्वचिन्मरकतच्छायासमाक्रान्तसमाश्रयः । त शैवलमिवाभोधेजकं पर्यन्तसञ्चितम् ॥६४॥

देवाभरणमुक्तीषदशबलं^{१०} सहविद्रुमल^{११} सेजे पयोमुखं^{१२} लगे मोतियोंके समूहसे चित्र-विचित्र तथा भूंगाओंसे व्याप्त हुआ वह नीला आकाश समुद्रकी शोभाको धारण कर रहा था ॥६५॥ जो शरीरसे पतली हैं, जिसका आकार सुन्दर है और

तन्व्यः सुकचिराकारा लसदंशुकभूषणाः । तदामरस्त्रियो रेतुः कल्पवृक्ष्य इवाम्बरे ॥६६॥

सहित नृत्य कर रही थीं ॥५७-५८॥ जो हास्य और शृंगारससे भरा हुआ था, जो भाव और लयसे सहित था तथा जिसमें कैशिकी नामक वृत्तिका ही अधिकतर प्रयोग हो रहा था ऐसे अप्सराओंके उस नृत्यको देखते हुए देवलोग बड़े ही प्रसन्न हो रहे थे ॥५९॥ उस प्रयाणके समय इन्द्रके आगे अनेक अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और जिनके कण्ठ अनेक राग रागिनियोंसे भरे हुए हैं ऐसी किन्नरी देवियाँ जिनेन्द्रदेवके विजयगात गा रही थीं ॥६०॥ तदनन्तर जिनमें अनेक पताकाएँ पहारा रही थीं, जिनमें छत्र और चमर सुशोभित हो रहे थे, और जिनमें चारों ओर देव ही देव फैले हुए थे ऐसी चत्तीस इन्द्रोंकी सेनाएँ फैल गयीं ॥६१॥

जिसमें अप्सराओंके केसरसे रंगे हुए स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोड़े निवास कर रहे हैं, जो अप्सराओंके मुखरूपी कमलोंसे ढका हुआ है, जिसमें अप्सराओंके नेत्ररूपी नीले कमल सुशोभित हो रहे हैं और जिसमें उन्हीं अप्सराओंके हारोंकी किरणरूप ही म्वच्छ जल भरा हुआ है ऐसे आकाशरूपी सुन्दर सरोवरमें देवोंके ऊपर जो चमरोंके समूह ढाले जा रहे थे वे ठीक हंसोंके समान जान पड़ते थे ॥६२-६३॥ म्वच्छ तलवारके समान सुशोभित आकाश कहीं-कहींपर इन्द्रनीलमणिके बने हुए आभूषणोंकी कान्तिसे व्याप्त होकर अपनी निराली ही कान्ति धारण कर रहा था ॥६४॥ वही आकाश कहींपर पद्मराग मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हो रहा था जिससे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो समस्त दिशाओंको अतुरजित करनेवाली सन्ध्याकालकी लालिमा ही धारण कर रहा हो ॥६५॥ कहींपर मरकतमणिकी छायासे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो शैवालसे सहित और किन्नरेपर स्थित समुद्रका जल ही हो ॥६६॥ देवोंके आभूषणोंमें लगे मोतियोंके समूहसे चित्र-विचित्र तथा भूंगाओंसे व्याप्त हुआ वह नीला आकाश समुद्रकी शोभाको धारण कर रहा था ॥६७॥ जो शरीरसे पतली हैं, जिसका आकार सुन्दर है और जिनके वस्त्र तथा आभूषण अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी देवायनाएँ उस समय

१. हास्यसहित । २. लज्जासहितशृङ्गारविशेषादिकम् । ३. गायन्ति स्म । ४. कल्पेन्द्रा द्वादश, भवनेन्द्रा दश, ध्यन्तेन्द्रा अष्ट, ज्योतिष्केन्द्रो द्वाविति द्वात्रिंशदिन्द्राणाम् । ५. प्रतस्थिरे । ६. विस्तृतसुराः । ७. समूहाः । ८. आभरणकान्तिभिः । ९. निजकान्तिम् । १०. उनेजितवद्गुणसद्काशम् । ११. अभात् । १२. भोवितकनिकरेण नागावर्णम् । १३. प्रवालमहितम् ।

स्मेरवक्त्राश्चुजा रेजुर्नयनोपलराजिताः । मरस्य इव लावण्यरसापूर्णाः सुराङ्गनाः ॥६७॥
 ताम्रां स्मेराणि वक्त्राणि पद्मबुद्ध्यानुभावताम् । रेजे मधुलिहां माला धनुर्व्यंघ्रं मनोभुजः ॥६८॥
 हाराश्रितस्तनोपान्ता रेजुर्भस्वरस्तदा । दधाना इव निर्मोकममच्छायं स्तनांशुकम् ॥६९॥
 सुरानकमहाध्वानः^१ पूजावेलां^२ परां वृषत् । प्रचरद्देवकलोलो बभौ देवागमाशुधिः ॥७०॥
 ज्योतिर्मय इवैतस्मिन् जाते सृष्ट्यन्तरे भृशम् । ज्योतिर्गणा द्वियेवासन् विच्छायात्वापलक्षिताः ॥७१॥
 तदा दिव्याङ्गनारूपैर्हयहस्त्यादिवाहनैः ।^३ उच्छावचैर्नभोवर्त्म भेजे चित्रपटभिवम् ॥७२॥
 'देवाङ्गमुतिविशुद्धिस्तदामरणरोहितैः'^४ । सुरेभ्योऽजीमूर्तैर्योमाभात् प्रावृषः भिवम् ॥७३॥
 इत्यापत्तम्^५ देवेषु समं धातविमानकैः ।^६ सज्जानिषु तदा स्वर्गश्चिरादुद्भासितो^७ वत ॥७४॥
 समारुद्ध्य नभोऽशेषमित्यायानैः सुरासुरैः । जगत्प्रादुर्भवदिष्यस्वर्गान्तरमिवावहत् ॥७५॥
 सुरैर्दूरादधालोकि विभोरस्थानमण्डलम् । सुराक्षिपिभिरारब्धपरार्थ्यरचनाशतम् ॥७६॥

आकाशमें ठीक कलपलनाओंके समान सुशोभित हो रही थी ॥६६॥ उन देवाङ्गनाओंके कुल-कुल हैंसते हुए मुख कमलोंके समान थे, नेत्र नील कमलके समान सुशोभित थे और स्वयं लावण्य-रूपी जलसे भरी हुई थी इसलिये वे ठीक सरोवरोंके समान शोभायमान हो रही थीं ॥६७॥ कमल समझकर उन देवाङ्गनाओंके मुखोंकी ओर दौड़ती हुई भ्रमरोंकी माला कामदेवके धनुषकी डोरीके समान सुशोभित हो रही थी ॥६८॥ जिनके स्तनोंके समीप भागमें हार पड़े हुए हैं ऐसी वे देवाङ्गनाएँ उस समय ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो साँपकी काँचलीके समान कान्तिवाली चोली ही धारण कर रहो ही ॥६९॥ उस समय वह देवोंका आगमन एक समुद्रके समान जान पड़ता था क्योंकि समुद्र जिस प्रकार अपनी गरजनासे वेला अर्थात् ज्वार-भाटाको धारण करता है उसी प्रकार वह देवोंका आगमन भी देवोंके तगाड़ोंके बड़े भारी शब्दोंसे पूजा-वेला अर्थात् भगवान्की पूजाके समयको धारण कर रहा था, और समुद्रमें जिस प्रकार लहरें उठ करती हैं उसी प्रकार उस देवोंके आगमनमें इधर-उधर चलते हुए देवरूपी लहरें उठ रही थीं ॥७०॥ जिस समय वह प्रकाशमान देवोंकी सेना नीचेकी ओर आ रही थी उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो ज्योतिषी देवोंकी एक दूसरी ही सृष्टि उत्पन्न हुई हो और इसलिये ही ज्योतिषी देवोंके समूह लज्जासे कान्तिरहित होकर अदृश्य हो गये हों ॥७१॥ उस समय देवाङ्गनाओंके रूपों और ऊँचे-नीचे हाथी, घोड़े आदिकी सवारियोंसे वह आकाश एक चित्रपटकी शोभा धारण कर रहा था ॥७२॥ अथवा उस समय वह आकाश देवोंके शरीरकी कान्तिरूपी बिजली, देवोंके आभूषणरूपी इन्द्रधनुष और देवोंके हाथीरूपी काले बादलोंसे वर्षाऋतुकी शोभा धारण कर रहा था ॥७३॥ इस प्रकार जब सब देव अपनी-अपनी देवियोंसहित सवारियों और विमानोंके साथ-साथ आ रहे थे तब खेदकी बात थी कि स्वर्गलोक बहुत देर तक शून्य हो गया था ॥७४॥ इस प्रकार उस समय समस्त आकाशकी घेरकर आये हुए सुर और असुरोंसे यह जगत् ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उत्पन्न होता हुआ कोई दूसरा दिव्य स्वर्ग ही हो ॥७५॥

अथानन्तर जिसमें देवरूपी कारीगरोंने सैकड़ों प्रकारकी उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं

१. -ध्यानैः अ०, स०, ल०, इ०, द०, प० । २. कालम् । ३. नानाप्रकारैः । ४. सुरकायकान्ति ।

५. ऋजुसुरषाणैः । 'इद्रायुधं दक्षभुस्तदेव ऋजुरोहितम्' इत्यभिधानात् । ६. भागच्छत्तम् । ७. स्त्रीमहितेषु ।

८. शृङ्गीकृतः । ९. -सितोऽभवत् अ०, प०, ल०, इ० द० ।

त्रिषङ्गोजनविस्तारमभूद्वास्थानमीशितुः । हरिनीलमहारानघटितं विलसत्तलम् ॥७७॥
 सुरेन्द्रनीलनिर्माणं समवृत्तं तदा बभौ । त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमम् ॥७८॥
 आस्थानमगमत्तद्वास्थानं कौतुहलमनेन १ । सुखमासीत्सुखीऽभून्निर्माणे यस्य ३ कर्मतः ॥७९॥
 तथाप्यनूद्यते किञ्चिदस्य शोभासमुद्भवः २ । श्रुतेन ४ येन संप्रीतिं मज्जेद् नभ्यात्मनां मनः ॥८०॥
 तस्य ५ पर्यन्तभूभागमलम्बके स्फुरद्भुतिः । धूलीसालपरिक्षेपो रानपांसुमिराचितः ॥८१॥
 धनुर्देवमिधोज्ञासिवलयकृत्सिमुद्बद्धम् । सिधेवे तां महीं विस्वधूलीसालापदेशतः ॥८२॥
 कटिसूत्रश्रियं तम्बद्धं धूलीसालपरिच्छदः १० । परीचाय ११ जिनास्थानभूमिं तां वलयकृत्सिः ॥८३॥
 क्वचिदभजनपुञ्जानः क्वचिद्यामीकरच्छविः । क्वचिद् विद्रुमसच्छायः १२ सोऽष्टुक् रानपांसुभिः ॥८४॥
 क्वचिच्छुक् १३ छदच्छायैर्मणिपांसुमिरुच्छ्रितैः । स रेजे १४ नलिनीवालवलाशैरिव सान्ततः १५ ॥८५॥
 चन्द्रकान्तशिलाचूर्णैः क्वचिज्ज्योत्स्नाश्रियं दधत् । जनानामकरोच्चिग्रमभुरक्ततर् १६ मनः ॥८६॥

ऐसा भगवान् घृषभदेवका समवसरण देवोंने दूरसे ही देखा ॥७६॥ जो बारह योजन विस्तार-
 वाला है और जिसका तलभाग अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसा इन्द्रनील मणियोंसे
 बना हुआ वह भगवान्का समवसरण बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥७७॥ इन्द्रनील
 मणियोंसे बना और चारों ओरसे गोलाकार वह समवसरण ऐसा जान पड़ता था मानो
 तीन जगत्की लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥७८॥ जिस समवसरण-
 के बनानेमें सब कामोंमें समर्थ इन्द्र स्वयं सूत्रधार था ऐसे उस समवसरणकी वास्तविक
 रचनाका कौन वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं, फिर भी उसकी शोभाके समूहका
 कुछ थोड़ा-सा वर्णन करता हूँ क्योंकि उसके सुननेसे भव्य जीवोंका मन प्रसन्नताको प्राप्त
 होता है ॥७९-८०॥ उस समवसरणके बाहरी भागमें रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ एक
 धूलीसाल नामका घेरा था जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान थी और जो अपने समीपके
 भूभागको अलंकृत कर रहा था ॥८१॥ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो
 अतिशय देदीप्यमान और वलय (चूड़ी) का आकार धारण करता हुआ इन्द्रधनुष ही धूली-
 सालके वहानेसे उस समवसरण भूमिकी सेवा कर रहा हो ॥८२॥ कटिसूत्रकी शोभाको धारण
 करता हुआ और वलयके आकारका वह धूलीसालका घेरा जिनेन्द्रदेवके उस समवसरणको
 चारों ओरसे घेरे हुए था ॥८३॥ अनेक प्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ वह धूलीसाल
 कहीं तो अंजनके समूहके समान काला-काला सुशोभित हो रहा था, कहीं सुवर्णके समान
 पीला-पीला लग रहा था और कहीं मूंगाकी कान्तिके समान लाल-लाल भासमान हो रहा
 था ॥८४॥ जिसकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे, तोतेके पंखोंके समान हरित वर्णकी
 मणियोंकी धूलिसे कहीं-कहीं व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था
 मानो कमलिनीके छोटे-छोटे नये पत्तोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥८५॥ वह कहीं-कहींपर
 चन्द्रकान्तमणिके चूर्णसे बना हुआ था और चँदनोंकी शोभा धारण कर रहा था फिर
 भी लोगोंके चित्तको अनुरक्त अर्थात् लाल-लाल कर रहा था यह भारी आश्चर्यकी बात

१. — ममावास्थान म०, ल० । २. शिल्पाचार्यः । ३. कर्मशूरः । ४. अनुवक्ष्यते । ५. शोभासंग्रहः ।
 ६. आकर्षणेन । ७. समवसरणस्थलस्य । ८. वलयः । ९. व्याजात् । १०. परिकरः । ११. परिवेष्टयति स्म ।
 १२. धूलीसालः । १३. कोरपक । १४. कमलकोमलपत्रैः । १५. सम्यग्विस्तृतः । १६. तीग्रानुरागसहितम्,
 ध्वनावरुणिमाक्रान्तम् ।

स्फुरन्मरकताम्बोजरागालोकैः^१ कलम्वितैः^२ । क्वचिदिन्मधनुर्ललां खाङ्गणे गणपतिव^३ ॥८७॥
 क्वचिरपयोजरागेन्द्रनीलालोकैः^४ परिष्कृतः^५ । परागसाकृतीभोगी^६ कामकोधोशकैरिव ॥८८॥
 कश्चित्क चित्तजन्मासी लीनो जालमो^७ विलोक्यताम् । निर्दोहोऽस्माभिरित्युच्यैर्ध्यानाधिष्ठातृनिबोध्यतः ॥
 विभावयते समयः^८ प्रोच्यैर्ज्वलन्^९ रौक्मै रजश्चयैः । यश्चोष्णवचरणांशुजालैर्जटिलयक्ष्मः ॥९०॥
 चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः । तोरणा^{१०} मकरास्थोदररत्नमाला विरेजिरे ॥९१॥
 ततोऽन्तरन्तरं^{११} किञ्चिद् गत्वा हाटकनिर्मिताः । रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तम्भाः समुच्छ्रिताः ॥९२॥
 जगतीपुरस्त्रयद्वयसाल्व्रितयवेष्टिताम् । जगतीं जगतीनाथस्वपनाम्बुपवित्रिताम् ॥९३॥
 हैमधोऽशसीपानां स्वसध्यापितपीठिकाम् ।^{१२} म्यस्तपुष्पोपहाराचिचर्या^{१३} नृसुरदानधैः ॥९४॥
 अधिष्ठिता विरेजुस्ते मानस्तम्भा नमोलिङ्गः । ये दूराद्वीक्षिता मानं स्तम्भयन्त्याशु दुर्दशाम्^{१४} ॥९५॥
 नमःस्थूतो महामाना^{१५} घण्टाभिः परिवारिताः । सचामरध्वजा रेजुः स्तम्भास्ते दिग्गजाविताः ॥९६॥

थी (परिहार पक्षमें-अनुरागसे युक्त कर रहा था) ॥८६॥ कहींपर परस्परमें मिली हुई मरकतमणि और पद्मरागमणिकी किरणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगनमें इन्द्रधनुषकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥८७॥ कहींपर पद्मरागमणि और इन्द्रनीलमणिके प्रकाशसे व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के द्वारा पूर्ण किये गये काम और क्रोधके अंशोंसे ही बना हो ॥८८॥ कहीं-कहींपर सुवर्णकी धूलिके समूहसे देदीप्यमान होता हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो 'वह धूर्त कामदेव कहीं छिपा है उसे देखो, वह हमारे-द्वारा जलाये जानेके योग्य है' ऐसा विचारकर ऊँची उठी हुई अग्निका समूह हो । इसके सिवाय वह छोटे-बड़े रत्नोंकी किरणावलीसे आकाशकी भी व्याप्त कर रहा था ॥ ८९-९० ॥ इस धूलीसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णमय खम्भोंके अग्रभागपर अवलम्बित चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे, उन तोरणोंमें मत्स्यके आकार बनाये गये थे और उनपर रत्नोंकी मालाएँ लटक रही थीं ॥९१॥ उस धूलीसालके भीतर कुछ दूर जाकर गलियोंके बीचो-बीचमें सुवर्णके धने हुए और अतिशय ऊँचे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे । भावार्थ-चारों दिशाओंमें एक-एक मानस्तम्भ था ॥९२॥ जिस जगतीपर मानस्तम्भ थे वह जगती चार-चार गोपुरद्वारोंसे युक्त तीन कोटोंसे घिरी हुई थी, उसके बीचमें एक पीठिका थी । वह पीठिका तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके जलसे पवित्र थी, उसपर चढ़नेके लिए सुवर्णकी सोलह सीढ़ियाँ बनी हुई थी, मनुष्य देव-दानव आदि सभी उसकी पूजा करते थे और उसपर सदा पूजाके अर्थ पुष्पोंका उपहार रखा रहता था, ऐसी उस पीठिकापर आकाशकी स्पर्श करते हुए वे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे जो दूरसे दिखाई देते ही मिथ्यादृष्टि जीवोंका अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट कर देते थे ॥ ९३-९५ ॥ वे मानस्तम्भ आकाशका स्पर्श कर रहे थे, महाप्रमाणके धारक थे, घण्टाओंसे घिरे हुए थे, और चमर तथा ध्वजाओंसे सहित थे इसलिए ठीक दिग्गजोंके समान

१. पद्मरागकान्तिभिः । २. मिथितैः । ३. 'गुणयन्तिव' इति पाठान्तरम् । द्विगुणीकुर्वन्निव । वर्धयसि-
 वेत्यर्थः । ४. किरणैः । ५. अलंकृतः । ६. पूर्णीकृतैः । ७. सर्वजेन । ८. नीचः । 'विवर्णः पामरी नीचः
 प्राकृतश्च पृथग्जनः । विहीनो पशवो जालमः क्षुल्लकश्चैतरश्च सः ।' इत्यभिधानात् । अथवा 'असमीक्ष्यकारी ।'
 'जालमोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यभिधानात् । तथा हि- 'चिरप्रव्रजितः स्थविरः श्रुतपारगः । तपस्वीति पतो
 नास्ति गणनाविषमायुधे' इत्युक्तत्वात् असमीक्ष्यकारीति तच्चनं व्यक्तं भवति । ९. गर्जः । १०. सौवर्णः ।
 ११. मकरमुखधृतः, मकरालङ्कारकीतिमुखधृत इत्यर्थः । १२. अग्न्यन्तरे । १३. रचित । १४. पूजाम् ।
 १५. मिथ्यादृष्टीनाम् । १६. महाप्रमाणाः ।

दिवचतुष्टयमाश्रित्य रंजे स्तम्भचतुष्टयम् । तैत्तिर्यो जादिवोद्भूतं जिकानन्तचतुष्टयम् ॥१७॥
 द्विरपमयीजिनेन्द्राद्यास्तेषां^१ बुध्नप्रतिष्ठिताः । इवेन्द्राः पूजयन्ति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥१८॥
 निर्यातोद्य^२ महावाद्यैर्नित्यसंगीतमङ्गलैः । नृत्यैर्नित्यप्रवृत्तैश्च मानस्तम्भाः स्म मान्यमानौ ॥१९॥
 पीठिका जगतीमध्ये तन्मध्ये च त्रिमेखलम् । पीठं तन्मूर्ध्नि सद्बुध्ना मानस्तम्भाः प्रतिष्ठिताः ॥२०॥
 द्विरपमयाङ्गाः प्रोक्तुङ्गा मूर्ध्निच्छत्रप्रवाह्विताः । सुरेन्द्रनिर्मितरवाच्य प्राप्तेन्द्र^३ ध्वजलटिकाः ॥२१॥
 मानस्तम्भाम्महामानं योगारैलोक्यमानमात्^४ । भस्वर्धसम्पत्तया तज्जैर्मानस्तम्भाः प्रकीर्तिताः ॥२२॥
 स्तम्भपर्यन्तभूभागमलंघकुः सहोत्पलाः । प्रसक्तसलिला वाप्यो मन्यानामिव शुद्धयः^५ ॥२३॥
 वाप्यस्ता रंजिरे फुल्लकमलोत्पलसंपदः । भक्त्या जैर्भी श्रियं वृन्दु^६ भुवेवोद्घाटिता^७ दशः ॥२४॥
 निर्लीनालिकुलै रेजुहस्पलैस्ता^८ विकस्वरैः^९ । महोत्पलैश्च^{१०} संलम्बाः^{११} साज्जनैरिव लोचनैः ॥२५॥
 दिशं प्रति चतस्रस्ता सस्ताः^{१२} काञ्चीरिवाकुलाः । दधति स्म शकुन्ताणां सन्ततीः स्वतटाश्रिताः ॥२६॥

सुशोभित हो रहे थे क्योंकि दिग्गज भी आकाशका स्पर्श करनेवाले, महाप्रमाणके धारक, घण्टाओंसे युक्त तथा चमर और ध्वजाओंसे सहित होते हैं ॥१७॥ चार मानस्तम्भ चार दिशाओंमें सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो उन मानस्तम्भोंके छलसे भगवान्‌के अनन्तचतुष्टय ही प्रकट हुए हों ॥१८॥ उन मानस्तम्भोंके मूल भागमें जिनेन्द्र भगवान्‌की सुवर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं जिनकी इन्द्र लोग क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करते हुए पूजा करते थे ॥१९॥ वे मानस्तम्भ निरन्तर ध्वजते हुए बड़े-बड़े बाजोंसे निरन्तर होनेवाले मङ्गलमय गानों और निरन्तर प्रवृत्त होनेवाले नृत्योंसे सदा सुशोभित रहते थे ॥२०॥ ऊपर जगतीके बीचमें जिस पीठिकाका वर्णन किया जा चुका है उसके मध्यभागमें तीन कटनीदार एक पीठ था । उस पीठके अधभागपर ही वे मानस्तम्भ प्रतिष्ठित थे, उनका मूल भाग बहुत ही सुन्दर था, वे सुवर्णके बने हुए थे, बहुत ऊँचे थे, उनके मस्तकपर तीन छत्र फिर रहे थे, इन्द्रके द्वारा बनाये जानेके कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था । उनके देखनेसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका सब मान नष्ट हो जाता था, उनका परिमाण बहुत ऊँचा था और तीन लोकके जीव उनका सम्मान करते थे इसलिए विद्वान् लोग उन्हें सार्थक नामसे मानस्तम्भ कहते थे ॥२००-२०२॥ जो अनेक प्रकारके कमलोंसे सहित थीं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ था और जो भव्य जीवोंकी विशुद्धताके समान जान पड़ती थीं ऐसी बावड़ियाँ उन मानस्तम्भोंके समीपवर्ती भूभागको अलंकृत कर रही थीं ॥२०३॥ जो फूले हुए सफेद और नीले कमलरूपी सम्पदासे सहित थीं ऐसी वे बावड़ियाँ इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी लक्ष्मीको देखनेके लिए पृथ्वीने अपने नेत्र ही उघाड़े हों ॥२०४॥ जिनपर भ्रमरोंका समूह बैठा हुआ है ऐसे फूले हुए नीले और सफेद कमलोंसे ढँकी हुई वे बावड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अंजनसहित काले और सफेद नेत्रोंसे ही ढँक रही हों ॥२०५॥ वे बावड़ियाँ एक एक दिशामें चार-चार थीं और उनके किनारेपर पक्षियोंकी शब्द करती हुई पंक्तियाँ बैठी हुई थीं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन्होंने शब्द करती हुई ।

१. मानस्तम्भचतुष्टयम् । २. मानस्तम्भव्याजात् । ३. मूल । बुध्नं प्रतिष्ठिताः ल०, म० । ४. ताड्यमान । ५. तन्मूलाः । ६. इन्द्रध्वजसंज्ञया प्राप्तप्रसिद्धयः । ७. महाप्रमाणयोगात् । ८. पूजात् । ९. विबुद्धिपरिणामाः । १०. उन्मोलिताः । ११. वाप्यः । १२. विकसनशीलैः । १३. सिताम्भोजैः । १४. सकज्जलैः । १५. श्लयाः ।

बभुस्ता मणिसोपानाः स्फटिकोच्चतटीभुवः । सुवः प्रसृतलावण्यरसाः^१ कुल्या इव भुताः^२ ॥१०३॥
 द्विरेकगुञ्जनैर्मञ्जु गायन्त्यो वाहतां गुणान् । नृत्यन्त इव जैनैश्च जयतोषान्महोर्मिमिः ॥१०४॥
 कुर्वन्त्यो^३ वा जितस्तोत्रं चक्रवाकविकृतैः । संतोषं दर्शयन्त्यो वा प्रसन्नोदकधारणान् ॥१०५॥
 नन्दोत्तरादिनामानः^४ सरस्यस्नानटश्रितैः । पादप्रक्षालनाकुण्डैः बभुः सप्रसवा^५ इव ॥१०६॥
 स्तोकाग्नतरं ततोऽनीय तां महीमम्बुजैश्चिता । परिवेषेऽन्तरा^६ वीथीं वीथीं च जलरसातिका ॥१०७॥
 स्वच्छाशुसंभृता रेजे सा स्वाता^७ पावनी^८ मृणाम् ।^९ सुरापगोच तद्रपा^{१०} विभुं सेवितुमाश्रिता ॥१०८॥
^{११} स न्ताशेषतार^{१२} अं प्रतिविम्बास्वरश्रियम् । वाधास्फटिकसम्भा^{१३} वसुधिभिः सलिलैर्भृशा ॥१०९॥
 सा स्म रन्ततर्धसे पश्चिमालो कलस्वनाम् । तरङ्गकरसंधाया रसनामिव^{१४} सद्रुचिम् ॥११०॥
 यादोदोर्वटनोद्भूतैस्तरङ्गैः पवनाहतैः । प्रनृत्यन्तीव सा रेजे तोषाजिनजयोस्सवे ॥१११॥

ढीली करधनी ही धारण की हो ॥१०६॥ उन^१ वावड़ियोंमें सफिरीकी^२ वीथियों^३ लगी हुई थी, लक्ष्मि-
 किनारेकी ऊँची उठी हुई जमीन स्फटिकमणिकी बनी हुई थी और उनमें पृथिवीसे निकलता
 हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इस प्रकार वे प्रसिद्ध वावड़ियाँ कृत्रिम नदीके समान
 सुशोभित हो रही थीं ॥१०७॥ वे वावड़ियाँ भ्रमरोंकी गुंजारसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो
 अच्छे तरङ्गसे अरहन्त भगवान्के गुण ही गा रही हों, उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरोंसे ऐसी
 जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्र भगवान्की विजयसे सन्तुष्ट होकर नृत्य ही कर रही हों,
 चक्रवा-चक्रवियोंके शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्रदेवका स्तवन ही कर रही हों,
 स्वच्छ जल धारण करनेसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सन्तोष ही प्रकट कर रही हों, और
 किनारेपर बने हुए पाँव धोनेके कुण्डोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपने-अपने पुत्रोंसे सहित
 ही हों, इस प्रकार नन्दोत्तरा आदि नामोंको धारण करनेवाली से वावड़ियाँ बहुत ही अधिक
 सुशोभित हो रही थीं ॥१०८-११०॥ उन वावड़ियोंसे थोड़ी ही दूर आगे जानेपर प्रत्येक वीथी
 (गली) को छोड़कर जलसे भरी हुई एक परिखा थी जो कि कमलोंसे व्याप्त थी और सम-
 वसरणकी भूमिको चारों ओरसे घेरे हुए थी ॥१११॥ स्वच्छ जलसे भरी हुई और मनुष्योंको
 पवित्र करनेवाली वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो परिखाका रूप धरकर
 आकाशगंगा ही भगवान्की सेवा करनेके लिए आयी हो ॥११२॥ वह परिखा स्फटिकमणिके
 निष्यन्दके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई थी और उसमें समस्त तारा तथा नक्षत्रोंका प्रति-
 विम्ब पड़ रहा था, इसलिए वह आकाशकी शोभा धारण कर रही थी ॥११३॥ वह परिखा
 अपने रत्नमयी किनारोंपर मधुर शब्द करती हुई पश्चियोंकी माला धारण कर रही थी जिससे
 ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरोंरूपी हाथोंसे पकड़ने योग्य, उत्तम कान्तिवाली करधनी ही
 धारण कर रही हो ॥११४॥ जलधर जीवोंकी भुजाओंके संघटनसे उठी हुई और वायु-द्वारा
 ताड़ित हुई लहरोंसे वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्के विजयो-

१. भूतलात् । २. कृत्रिमा सरित् । ३. प्रतिष्ठाः । भुताः द० । ४. इव । ५. नन्दोत्तरा मन्वा
 नन्ववती नन्दघोषा इति चतस्रो वाप्यः पूर्वमानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु प्रदक्षिणक्रमेण स्युः । विजया वंजयती
 जयन्त्याराजिता इति चतस्रः दक्षिणमानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु तथा स्युः । योका मुप्रतिबुद्धा कुमुदा पुण्डरीका
 इति चतस्रः पश्चिममानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु प्रदक्षिणक्रमेण स्युः । हृदयानन्दा महानन्दा मुप्रबुद्धा प्रभं करोति
 चतस्रः उत्तरमानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु स्युः । ६. एकैकां वापीं प्रति पादप्रक्षालनार्थकुण्डद्वयम् । ७. सपुत्राः ।
 ८. वीथिवीथ्यार्मध्ये, मार्गद्वयमध्ये इत्यर्थः । 'द्वाविंशमषानिकषा' इत्यादि सूत्रेण द्वितीया । ९. स्वातिका ।
 १०. पवित्रोत्कर्षतो । ११. आकाशगंगा । १२. स्वातिकाक्षया । १३. गोलम् । १४. तारकामलत्र । १५. द्रवम् ।
 १६. सद्रुचम् ल०, म० ।

वीच्यन्तवलिदोद्बुतवाकरीकुलसंकुला । सा प्रायोऽम्यस्यमानेव नाकस्त्रीनेत्रविभ्रमान् ॥११६॥

नूनं सुराङ्गवामेप्रविलासैस्ताः पराजिताः । शफर्यो वीचिमाळासु ह्रियेवान्तर्दधुर्मुहुः ॥११७॥

तदभ्यन्तरभूभागं पर्यङ्कत लतावनम् । वल्लीगुल्मदुमोद्भूतसर्वर्तुक्तु सुमाचितम् ॥११८॥

पुष्पवक्त्रयो व्यराजन्त यत्र पुष्पस्मितोज्ज्वलाः । स्मितलीलां क्षुतारीणां नाटयन्त्य इव स्फुटम् ॥११९॥

भ्रमरैर्मञ्जुगुञ्जद्भिरापृतान्तां विरेजिरे । यत्रामिलपटञ्जकविग्रहा इव वीरुधः ॥१२०॥

अशोकलतिका यत्र दधुराताम्रपलवान् । स्पर्धमाना इवाताम्रैरप्सरःकरणदलैः ॥१२१॥

यत्र मन्दानिलोद्भूतकिञ्जल्कास्तरमम्बरम् । धत्ते स्म पटवासाभां^१ पिञ्जरीकृतद्रिक्मुक्ताम् ॥१२२॥

प्रतिप्रसवमासीनमञ्जुगुञ्जन्मधुघतम् । विहङ्गवदिवामाति^२ यस्मिन्ललाटविभ्रमम् ॥१२३॥

सुमनीमञ्जरीपुञ्जात् किञ्जलकं सान्द्रमाहरन् । यत्र गन्धवहो मन्दं घाति स्मान्द्रोलयैस्सुताः ॥१२४॥

यत्र क्रीडावयो रम्याः सवाटयाश्च लतालयाः । धृतये स्म सुरस्त्रीणां कल्पन्ते^३ शिशिरानिलाः ॥१२५॥

उसधमें सन्तोषसे नृत्य ही कर रही हो ॥११५॥ लहरोंके भीतर घूमते-घूमते जब कभी ऊपर प्रकट होनेवाली मछलियोंके समूहसे भरी हुई वह परिखा ऐसी जान पड़ती थी मानो देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासों (कटाक्षों) का अभ्यास ही कर रही हो ॥११६॥ जो मछलियाँ उस परिखाकी लहरोंके बीचमें धार-धार डूब रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंसे पराजित होकर ही लज्जावश लहरोंमें छिप रही थीं ॥११७॥ उस परिखाके भीतरी भू-भागको एक लतावन घेरे हुए था, वह लतावन लताओं, छोटी-छोटी झाड़ियों और वृक्षोंमें उत्पन्न हुए सब ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥११८॥ उस लतावनमें पुष्परूपी हास्यसे उज्ज्वल अनेक पुष्पलताएँ सुशोभित हो रही थीं जो कि स्पष्टरूपसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओंके मन्द हास्यका अनुकरण ही कर रही हों ॥११९॥ मनोहर गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे जिनका अन्त भाग ढका हुआ है ऐसी उस वनकी लताएँ इस भाँति सुशोभित हो रही थीं मानो उन्होंने अपना शरीर नील वस्त्रसे ही ढक लिया हो ॥१२०॥ उस लतावनकी अशोक लताएँ लाल-लाल नये पत्ते धारण कर रही थीं । और उनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अप्सराओंके लाल-लाल हाथरूपी पलकोंके साथ स्पर्धा ही कर रही हों ॥१२१॥ मन्द-मन्द वायुके द्वारा उड़ी हुई केशरसे व्याप्त हुआ और जिसने समस्त दिशाएँ पीली-पीली कर दी है ऐसा वहाँका आकाश सुगन्धित पूर्ण (अथवा चँदोवे)-की शोभा धारण कर रहा था ॥ १२२ ॥ उस लतावनमें प्रत्येक फूलपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमर बैठे हुए थे जिनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो हजार नेत्रोंको धारण करनेवाले इन्द्रके विलासकी विहङ्गवना ही कर रहा हो ॥ १२३ ॥ फूलोंकी मंजरियोंके समूहसे सघन परागको ग्रहण करता हुआ और लताओंको हिलाता हुआ वायु उस लतावनमें धीरे-धीरे वह रहा था ॥ १२४ ॥ उस लतावनमें बने हुए मनोहर क्रीड़ा पर्वत, शय्याओंसे सुशोभित लतागृह और ठण्डी-ठण्डी हवा देवांगनाओंको

१. वीचिमध्ये वक्त्रेण वलितोद्धात । २. मर्यादाः । ३. तिरोभूताः । ४. सातिकाभ्यन्तर । ५. अलङ्करोति स्म । ६. वृक्षसुमाञ्चितम् ल०, म० । ७. पर्यन्त । ८.-दूतैः किञ्जल्कैस्ततमम्बरम् द०, प०, म०, स० । ९. केशरव्याप्तम् । १०. शोभाम् । ११. लतावनम् । १२. समर्था भवति ।

वहनीः कुसुमिता यत्र स्पृशन्ति स्म मधुमताः । रजस्वला अपि प्रायः क्व शीघ्रं भर्तुं पायिनाम् ॥१२६॥
 लताभवनमध्यस्था हिमानोस्पर्शशीतलाः । चन्द्रकान्तशिका यत्र विश्रमायामरेशिनाम् ॥१२७॥
 ततोऽध्वानमतीत्यान्तः किञ्चन्तमपि तां महीम् । प्रकारः प्रथमो वने निषधानो हिरण्यधः ॥१२८॥
 रुक्मेश्वरी महात् साळः क्षितिं तां परितः स्थितः । यथाऽसौ चक्ररात्रात्रिनुंलोकाध्युषितां भुवम् ॥१२९॥
 नूनं सालनिभेनैव सुरवापपरःशतम् । तामलकुल्ले स्म क्मां पिञ्जरीकृतसाङ्गणम् ॥१३०॥
 यस्योपरितले लग्ना सुव्यक्ता मौक्तिकावली । तारावतिरिचं किंस्त्रिदिव्याशङ्कास्पदं नृणाम् ॥१३१॥
 क्वचिद्विभुमसंघातः पद्मरागांशुरजितः । यस्मिन् सांध्यधनच्छायमाविष्कृतुमलंतराम् ॥१३२॥
 क्वचिद्वचनं नच्छायः क्वचिच्छाङ्खलसंछविः । क्वचिच्च सुरगोपामो विद्युदापिञ्जरः क्वचित् ॥१३३॥
 क्वचिद्विचित्ररत्नांशुरचितेभ्रमरासनः । घनकालस्य बैदग्धी स सालोऽलं व्यदम्बयत् ॥१३४॥

बहुत ही सन्तोष पहुँचाती थी ॥१२५॥ उस वनमें अनेक कुसुमित अर्थात् फूली हुई और रजस्वला अर्थात् परागसे भरी हुई लताओंका मधुप्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि मधुपायी अर्थात् मधु पीनेवालोंके पवित्रता कहाँ हो सकती है । भावार्थ—जिस प्रकार मधु (मदिरा) पान करनेवाले पुरुषोंके पवित्र और अपवित्रका कुछ भी विचार नहीं रहता, वे रजोधर्मसे युक्त ऋतुमती स्त्रीका भी स्पर्श करने लगते हैं, इसी प्रकार मधु (पुष्परस) का पान करनेवाले वन भ्रमरोंके भी पवित्र-अपवित्रका कुछ भी विचार नहीं था, क्योंकि वे ऊपर कही हुई कुसुमित और रजस्वला लतारूपी स्त्रियोंका स्पर्श कर रहे थे । यथार्थमें कुसुमित और रजस्वला लताएँ अपवित्र नहीं होती । यहाँ कविने इलेप और समा-सोक्ति अलंकारकी प्रधानतासे ही ऐसा वर्णन किया है ॥१२६॥ उस वनके लतागृहोंके बीचमें पड़ी हुई बर्फके समान शीतल स्पर्शवाली चन्द्रकान्तमणिकी शिखाएँ इन्द्रोंके विश्रामके लिए हुआ करती थी ॥१२७॥ उस लतावनके भीतरकी ओर कुछ मार्ग उल्लंघन कर निषध पर्वतके आकारका सुवर्णमय पहला कोट था जो कि उस समवसरण भूमिको चारों ओरसे घेरे हुए था ॥१२८॥ उस समवसरणभूमिके चारों ओर स्थित रहनेवाला वह कोट ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मनुष्यलोककी भूमिके चारों ओर स्थित हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥१२९॥ उस कोटको देखकर ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी आँगनको चित्र-विचित्र करने-वाला सैकड़ों इन्द्रधनुषोंका समूह ही कोटके वहानेसे आकर उस समवसरणभूमिको अलंकृत कर रहा हो ॥१३०॥ उस कोटके ऊपरी भागपर स्पष्ट दिखाई देते हुए जो मोतियोंके समूह जड़े हुए थे वे क्या यह ताराओंका समूह है, इस प्रकार लोगोंकी शंकाके स्थान हो रहे थे ॥१३१॥ उस कोटमें कहीं-कहीं जो मूँगाओंके समूह लगे हुए थे वे पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे और भी अधिक लाल हो गये थे और सन्ध्याकालके बादलोंकी शोभा प्रकट करनेके लिए समर्थ हो रहे थे ॥१३२॥ वह कोट कहीं तो नवीन मेघके समान काला था, कहीं घासके समान हरा था, कहीं इन्द्रगोपके समान लाल-लाल था, कहीं विजलीके समान पीला-पीला था और कहीं अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर रहा था । इस प्रकार वह वर्षाकालकी शोभाकी विदम्बना कर रहा था ॥१३३-१३४॥ वह कोट कहीं तो

१. परागवती । ध्वनी ऋतुमती । २. मधुपायिनाम् । ध्वनी मधुपायिनाम् । ३. हिमसंहतिः ।
 ४. विश्रमाया अ०, म०, ल० । ५. वल्लोवनभूमिम् । ६. मानुषोत्तरपर्वतः । ७. व्याजेन । ८. बहुधातम् ।
 ९. प्रावृद्धमेघ । १०. हरित । ११. इन्द्रगोपकान्तिः । इन्द्रगोप इति प्रावृद्धकालभवन्नमविलेपः ।

क्वचिद् द्विपहरिव्याघ्ररूपमिंधुनवृत्तिभिः^१ । निश्चितः क्वचिदुद्देशो^२ हुकैर्हंसैश्च चर्हिणैः ॥१३५॥
 विचित्ररत्ननिर्माणैर्मनुष्यमिश्रुनैः क्वचित् । क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरन्तश्च चित्रितः ॥१३६॥
 हसन्निबोन्मिषद्वानमयूखनिवर्हः क्वचित् । क्वचित्सिंहदरवाण् कुर्वन्निबोन्मिषद्वान्प्रतिध्वनिः ॥१३७॥
^३दीप्ताकारः स्फुरद्गन्तुचिरा^४ रुद्रस्वाङ्गणः । निषधाद्रिप्रतिस्पर्धी स साहो व्यरुचत्तराम् ॥१३८॥
 महान्ति गोपुराण्यस्य विचभुर्दिक्चतुष्टयं । राजतानि खगेन्द्रात्रैः^५ शृङ्गार्याश्च स्पृशन्ति खम् ॥१३९॥
 ज्योत्स्नं^६ मन्यानि तान्युच्चैस्त्रिभूमानि^७ चकासिरे । प्रहासमिव तन्वन्ति निजिस्थं त्रिजगच्छिखरम् ॥१४०॥
 पद्मरागमयैरुच्चैः शिखरैर्योमलक्ष्मिभिः । दिशः परलव्यन्ताश्च प्रसरैः शोणराशिधाम् ॥१४१॥
 जगद्गुरोर्गुणानत्र^८ गायन्ति सुरगायनाः । केचिच्छृण्वन्ति नृत्यन्ति केचि^९ दाधिर्भगस्मिताः ॥१४२॥
 शतमष्टोत्तरं तेषु मङ्गलद्रव्यसंपदः । शृङ्गारकलशाब्दाद्याः प्रत्येकं गोपुरेष्वभाम् ॥१४३॥
 रत्नाभरणसामारपरिपूरिताम्बराः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसङ्ख्या यमासिरे ॥१४४॥
 स्वभावभास्वरं सन्तुर्देहं स्वानवकाशताम् । सत्वेनाभरणान्यास्थुरुद्वजान्यनुतोत्सृजम् ॥१४५॥

युगल रूपसे बने हुए हाथी-घोड़े और व्याघ्रोंके आकारसे व्याप्त हो रहा था, कहीं तोते, हंस और मयूरोंके जोड़ोंसे उद्भासित हो रहा था, कहीं अनेक प्रकारके रत्नोंसे बने हुए मनुष्य और स्त्रियोंके जोड़ोंसे सुशोभित हो रहा था, कहीं भीतर और बाहरकी ओर बनी हुई कल्पलताओंसे चित्रित हो रहा था, कहींपर चमकते हुए रत्नोंकी किरणोंसे हँसता हुआ-सा जान पड़ता था और कहींपर फैलती हुई प्रतिध्वनिसे सिंहनाद करता हुआ-सा जान पड़ता था ॥१३५-१३७॥ जिसका आकार बहुत ही वेदीप्यमान है, जिसने अपने चमकीले रत्नोंकी किरणोंसे आकाशरूपी आँगनको घेर लिया है और जो निषध कुलाचलके साथ ईर्ष्या करनेवाला है ऐसा वह कोट बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥१३८॥ उस कोटके चारों दिशाओंमें चाँदीके बने हुए चार बड़े-बड़े गोपुरद्वार सुशोभित हो रहे थे जो कि त्रिजयार्ध पर्वतके शिखरोंके समान आकाशका स्पर्श कर रहे थे ॥१३९॥ चाँदनीके समूहके समान निर्मल, ऊँचे और तीन-तीन खण्डवाले वे गोपुरद्वार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तीनों लोकोंकी शोभाको जीतकर हँस ही रही हों ॥१४०॥ वे गोपुरद्वार पद्मरागमणिके बने हुए और आकाशको उल्लंघन करनेवाले शिखरोंसे सहित थे तथा अपनी फैलती हुई लाल-लाल किरणोंके समूहसे ऐसे जान पड़ते थे मानो दिशाओंको मये-नये कोमल पत्तोंसे युक्त हो कर रहे हों ॥१४१॥ इन गोपुर-दरवाजोंपर कितने ही गानेवाले देव जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके गुण गा रहे थे, कितने ही उन्हें सुन रहे थे और कितने ही मन्द-मन्द मुसकाते हुए नृत्य कर रहे थे ॥१४२॥ उन गोपुर-दरवाजोंमेंसे प्रत्येक दरवाजेपर शृङ्गार-कलश और दर्पण आदि एक सौ आठ मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥१४३॥ तथा प्रत्येक दरवाजेपर रत्नमय आभूषणोंकी कान्तिके भारसे आकाशको अनेक वर्णका करनेवाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे ॥१४४॥ उन प्रत्येक तोरणोंमें जो आभूषण बँधे हुए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वभावसे ही सुन्दर भगवान्के शरीरमें अपने

१. -वृत्तिभिः ५०, ८० । २. प्रदेशे । ३. दीप्ताकारः ल० । ४. हविर्गच्छ-अ० । ५. राजतमयानि ।

६. विचयाद्वर्तगिरेः । ७. ज्योत्स्नाशब्दात् परान्मन्यतेर्थात्तोः 'कर्तुश्च' इति सप्रत्ययः, पुनः स्त्रित्यसद्विपतश्चान-
 स्यस्य' इति यम्, लृत्त्वः । अनव्ययस्याजन्तस्य लिङ्गत्वं उत्तरपदे लृत्स्वादेशो भवति । 'दिवादेः इयः' इति इयः ।

८. त्रिभूमिकानि । त्रितलानि इत्यर्थः । ९. गोपुरेषु । १०. केचित् समाविभवत्स्मिताः ८०, ८०,
 ५०, ल०, म० ।

निधयो नवशो ज्ञातास्तद्द्वारां पान्तमेवितः । शशंसुः प्राप्तं वं जैनं भुवनत्रितयातिगम् ॥१४६॥
 त्रिजगत्प्रभुणा नूनं विमोहनावधारिताः^१ । बहिर्द्वारं स्थिता दूराक्षिभवस्तं सिरेविरं ॥१४७॥
 तेषामन्तर्महावीर्या उमयोभांगयोरभूत् । नाट्यशालाद्वयं त्रिषु प्रत्येकं वतस्पृश्वपि ॥१४८॥
 तिसृभिर्भूमिभिर्नाट्यमण्डपौ तौ विरेजतुः । विमुक्तेश्वरमकं मार्गं^२ नृणां वस्तुमिवोद्यतौ ॥१४९॥
 हिरण्यमयमहास्तम्भौ शुभ्रमस्फटिकभित्तिकाः । तौ रत्नशिखराख्यनमोभागा विरेजतुः ॥१५०॥
 नाट्यमण्डपरङ्गेषु नृत्यन्ति स्मामरचरितः^३ । शक्तिरश्मिः^४ इदंभित्तवर्णैः^५ ॥१५१॥
 गायन्ति जिमराजस्य विजयं ताः स्म सस्मिताः^६ । तमेवाभिनयन्योऽसूः चित्रिपुः पौष्पमञ्जलिम् ॥१५२॥
 समं वीणातिनादनं मृदङ्गध्वनिरुत्तरत् । व्यतनोत् प्रावृक्षारम्भशङ्को तत्र शिखण्डिनाम् ॥१५३॥
 शरदभ्रनिभे तस्मिन् द्वितये नाट्यशालयोः । विद्युद्विलासमातेतुर्नृस्यन्त्यः सुरयोषितः ॥१५४॥
 किन्नराणां कलकवाणैः सोद्गानैर्यवर्णितैः^७ । तत्रासक्तिं परां भेजुः प्रेक्षिणां चित्तवृत्तयः ॥१५५॥
 ततो धूपघटी द्वौ द्वौ वीथीनामुसयोर्विशोः । धूपधूमैर्यवनभातां प्रसरज्जिनभोजनम् ॥१५६॥

लिए अवकाश न देखकर उन तोरणोंमें ही आकर बँध गये हों ॥१४५॥ उन गोपुरद्वारोंके समीप प्रदेशोंमें जो शंख आदि नौ निधियाँ रखी हुई थीं वे जिनेन्द्र भगवान्‌के तीनों लोकोंको उल्लंघन करनेवाले भारी प्रभायको सूचित कर रही थीं ॥१४६॥ अथवा दरवाजेके बाहर रखी हुई वे निधियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो मोहरहित, तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् जिनेन्द्रदेवने उनका निरस्कार कर दिया था इसलिए दरवाजेके बाहर स्थित होकर दूरसे ही उनकी सेवा कर रही हों ॥१४७॥ उन गोपुरदरवाजोंके भीतर जो बड़ा भारी रास्ता था उसके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं, इस प्रकार चारों दिशाओंके प्रत्येक गोपुर-द्वारमें दो-दो नाट्यशालाएँ थीं ॥१४८॥ वे दोनों ही नाट्यशालाएँ तीन-तीन मण्डपकी थीं और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो लोगोंके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके भेदसे तीन भेदवाला मोक्षका मार्ग ही बतलानेके लिए तैयार भव्ती हों ॥१४९॥ जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्णके बने हुए हैं, जिनकी दीयाएँ देदीप्यमान स्फटिक मणिकी बनी हुई हैं और जिन्होंने अपने रत्नोंके घने हुए शिखरोंसे आकाशके प्रदेशको व्याप्त कर लिया है ऐसी वे दोनों नाट्यशालाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥१५०॥ उन नाट्यशालाओंकी रङ्गभूमिमें ऐसी अनेक देवाङ्गनाएँ नृत्य कर रही थीं, जिनके शरीर अपनी कान्तिरूपी सरोवरमें डूबे हुए थे और जिससे वे विजलीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१५१॥ उन नाट्यशालाओंमें इकट्ठी हुई वे देवाङ्गनाएँ जिनेन्द्रदेवकी विजयके गीत गा रही थीं और उसी विजयका अभिनय करती हुई पुष्पाञ्जलि छोड़ रही थीं ॥१५२॥ उन नाट्यशालाओंमें वीणाकी आवाजके साथ-साथ जो मृदङ्गकी आवाज उठ रही थी वह मयूरोंकी वर्षाश्रुतुके प्रारम्भ होनेकी शंका उत्पन्न कर रही थी ॥१५३॥ वे दोनों ही नाट्यशालाएँ शरदश्रुतुके बादलोंके समान सफेद थीं इसलिए उनमें नृत्य करती हुई वे देवाङ्गनाएँ ठीक विजलीकी शोभा फैला रही थीं ॥१५४॥ उन नाट्यशालाओंमें किन्नर जातिके देव उत्तम संगीतके साथ-साथ मधुर शब्दोंवाली वीणा बजा रहे थे जिससे देखनेवालोंकी चित्तवृत्तियाँ उनमें अतिशय आसक्तिको प्राप्त हो रही थी ॥१५५॥ उन नाट्यशालाओंसे कुछ आगे चलकर गलियोंके दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए थे जो कि फैलते हुए धूपके धुएँसे आकाशरूप आँगनको व्याप्त कर रहे

१. कालमहाकालपाण्डुमाणवशङ्खनैर्मर्षशपिङ्गलनानारत्नाश्चेति । २. प्रभुत्वम् । ३. अवजीकृताः । ४. गोपुराणाम् । ५. त्रैलोक्यम्, रत्नत्रयमिति यावत् । ६. नृणां द०, ल०, म०, प०, अ० । ७. विद्युताः । ८. संगताः । ९. विजयमेव । १०. वीणया उपगीतः ।

तद्भूपधूमसंरुद्धं नमो वीक्ष्य नमोनुषः । प्रावृत्पथोधराशङ्कामकालेऽपि व्यस्तानिपुः ॥१५७॥
 दिशः सुरनयन्भूपो मन्दानिकवशोत्थितः । स रंजे पृथिवीदेव्या सुखामोद हवोच्छ्वसन् ॥१५८॥
 तदामोर्व समाग्राय श्रेणयो मधुलेहिनाम् । दिशां मुखेषु वितता वितेनुरलकश्रियम् ॥१५९॥
 इतो धूपघटामोदमितश्च सुरयोषिताम् । सुगन्धिसुखनिःश्वासमलिनो जघ्मुराकुलाः ॥१६०॥
 मन्मथ्वानैर्दृष्टानां स्तनयितुं विदम्बिभिः । पतन्त्या पुष्पवृष्ट्या च सदात्रासीद् घनागमः ॥१६१॥
 तत्र वीक्ष्यन्तरैश्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । नन्दनाद्या वनश्रेण्यो विभुं द्रष्टुमिवागताः ॥१६२॥
 अशोकसप्तपर्णाक्षचम्पकाग्रमहोरुहाम् । वनानि तान्यधुस्तोषादिवोर्ध्वः कुसुमस्मितम् ॥१६३॥
 वनानि तरुमिश्रितैः फलपुष्पोपशोभिभिः । जिनस्थार्घ्यमिकोत्क्षिप्य तस्थुस्तानि जगद्गुरोः ॥१६४॥
 वनेषु तरवस्तेषु रेजिरे पवनाहतैः । शाखाकरैस्तुहुर्नृत्यं तन्वाना ह्य समवात् ॥१६५॥
 सञ्छायाः सफलास्तुक्ता अनिर्वृतिहेतवः । सुराजान ह्यभूवन्ते द्रुमाः सुखशीतलाः ॥१६६॥
 पुष्पामोदसमाहृतैः मिलितैरलिनां कुलैः । गायन्त ह्य गुञ्जन्तिनि रजुर्वनद्रुमाः ॥१६७॥

ये ॥१५६॥ उन धूपघटोंके धूपसे भरे हुए आकाशको देखकर आकाशमें चलनेवाले देव अथवा विद्याधर असमयमें ही वर्षाऋतुके मेघोंकी आशंका करने लगे थे ॥१५७॥ मन्द-मन्द वायुके बहासे उड़ा हुआ और दिशाओंको सुगन्धित करता हुआ वह धूप ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उच्छ्वास लेनेसे प्रकट हुई पृथिवी देवीके मुखकी सुगन्धि ही हो ॥१५८॥ उस धूपकी सुगन्धिको सूँघकर सब ओर फैली हुई भ्रमरोंकी पङ्क्तियाँ दिशारूपी स्त्रियोंके मुखपर फैले हुए केशोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥१५९॥ एक ओर उन धूपघटोंसे सुगन्धि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओंके मुखसे सुगन्धित निश्वास निकल रहा था सो व्याकुल हुए भ्रमर दोनोंको ही सूँघ रहे थे ॥१६०॥ वहाँपर मेघोंकी गर्जनाका जीतनेवाले मृदंगोंके शब्दोंसे तथा पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे सदा वर्षाकाल विद्यमान रहता था ॥१६१॥ धूपघटोंसे कुछ आगे चलकर मुख्य गलियोंके बगलमें चार-चार घनकी वीथियाँ थीं जोकि ऐसी जान पड़ती थीं मानो नन्दन आदि वनोंकी श्रेणियाँ ही भगवान्के दर्शन करनेके लिए आयी हों ॥१६२॥ वे चारों वन अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आमके वृक्षोंके थे, उन सबपर फूल खिले हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सन्तोषसे हँस ही रहे हों ॥१६३॥ फल और फूलोंसे सुशोभित अनेक प्रकारके वृक्षोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जगद्गुरु जिनेन्द्रदेवके लिए अर्घ्य लेकर ही खड़े हों ॥१६४॥ उन वनोंमें जो वृक्ष थे वे पवनसे हिलती हुई शाखाओंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हर्षसे हाथ हिला-हिलाकर बार-बार नृत्य ही कर रहे हों ॥१६५॥ अथवा वे वृक्ष, उत्तम छायासे सहित थे, अनेक फलोंसे युक्त थे, तुंग अर्थात् ऊँचे थे, मनुष्योंके सन्तोषके कारण थे, सुख देनेवाले और शीतल थे इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओंके समान जान पड़ते थे क्योंकि उत्तम राजा भी उत्तम छाया अर्थात् आश्रयसे सहित होते हैं, अनेक फलोंसे युक्त होते हैं, तुंग अर्थात् उदारहृदय होते हैं, मनुष्योंके सुखके कारण होते हैं और सुख देनेवाले तथा शान्त होते हैं ॥१६६॥ फूलोंको सुगन्धिसे बुलाये हुए और इसीलिए आकर इकट्ठे हुए तथा मधुर गुंजार करते हुए भ्रमरोंके समूहसे वे वृक्ष ऐसे सुशो-

१. निर्गच्छन् । २. आघ्रायन्ति स्म । ३. मेघ । ४. सुराजपक्षे कान्विसहिताः । ५. पुष्पफलसहिताः ।
 ६. उन्नताः, इतरजनेभ्योऽधिका इत्यर्थः । ७. द्रुमपक्षे सुखः शीतलः शीतगुणो येषां ते सुखशीतलाः ।
 सुराजपक्षे सुखेन शीतलाः शीतोभूता इत्यर्थः ।

कचिद्विरलसुसुकुसुमास्ते महीरुहाः । पुष्पोपहारमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥१६८॥
 कचिद्विरुप्रता^१ ध्वानैरलिनां मदमञ्जुमिः^२ । मदमं तर्जयन्तीव वनान्यासन् समस्ततः ॥१६९॥
 पुंस्कोकिलकलकाणैराङ्गयन्तीव सेवितुम् । जिनेन्द्रममराजैशान् वनानि विबभुस्ताराम् ॥१७०॥
 पुष्परंगुभिराकीर्णो वनस्यावस्तले मही । सुवर्णरजसास्ती^३र्णतलेषासीम्मनोहरा ॥१७१॥
 हृत्पद्मनि वनान्यासश्चतिरभ्याणि पादपैः । यत्र पुष्पमयी वृष्टिर्नर्तु^४र्थायमैक्षत ॥१७२॥
 न रात्रिर्न दिवा तत्र^५ तस्मिन्मास्वैरर्भुशम् । तस्मैऽध्यादिवाचिभ्यस्तत्त्वजहार^६ करान् श्विः ॥१७३॥
 अमृत^७ वणं कचिद्वाप्यस्त्रिकोणचतुरस्त्रिकाः । स्नातोत्तीर्णामरस्त्रीणां स्तनकुङ्कुमविभराः ॥१७४॥
 पुष्करिण्याः^८ कचिच्चासन् कचिच्च कुतकावयः । कचिद्रम्याणि हर्म्याणि कचिदाक्रीडमण्डपाः ॥१७५॥
 कचिन्नेक्षामृगहाण्यासन्^९ चित्रशालाः कचिच्चिबचित् । एकशाला द्विशालाया महाशालादपङ्क्तयः ॥१७६॥
 कचिच्च शाद्वला^{१०} भूमिरिन्द्रगोपैस्तथा कचिन् । सरास्यन्तिमनोज्ञानि सरितश्च ससैकताः ॥१७७॥

भित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवका गुणगान ही कर रहे हों ॥१६८॥ कहीं-कहीं विरलरूपसे वे वृक्ष ऊपरसे फूल छोड़ रहे थे जिनसे ऐसे मालूम होते थे मानो जगद्गुरु भगवान् के लिए भक्तिपूर्वक फूलोंकी भेंट ही कर रहे हों ॥१६९॥ कहीं-कहींपर मधुर शब्द करते हुए अमरोंके मद-मनोहर शब्दोंसे ये वन ऐसे जान पड़ते थे मानो चारों ओरसे कामदेवकी तर्जना ही कर रहे हों ॥१७०॥ उन वनोंमें कोयलोंके जो मधुर शब्द हो रहे थे उनसे वे वन ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्र भगवान् की सेवा करनेके लिए इन्द्रोंको ही बुला रहे हों ॥१७१॥ उन वनोंमें वृक्षोंके नीचेकी पृथ्वी फूलोंके परागसे ढकी हुई थी जिससे वह ऐसी मनोहर जान पड़ती थी मानो उसका तलभाग सुवर्णकी धूलिसे ही ढक रहा हो ॥१७२॥ इस प्रकार वे वन वृक्षोंसे बहुत ही रमणीय जान पड़ते थे, वहाँपर होनेवाली फूलोंकी वर्षा ऋतुओंके परिवर्तनको कभी नहीं देखती थी अर्थात् वहाँ सदा ही सद्य ऋतुओंके फूल फूले रहते थे ॥१७३॥ उन वनोंके वृक्ष इतने अधिक प्रकाशमान थे कि उनसे वहाँ न तो रातका ही व्यवहार होता था और न दिनका हो । वहाँ सूर्यकी किरणोंका प्रवेश नहीं हो पाता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँके वृक्षोंकी शीतलतासे डरकर ही सूर्यने अपने कर अर्थात् किरणों (पक्षमें हाथों) का संकोच कर लिया हो ॥१७४॥ उन वनोंके भीतर कहींपर तिस्रूँटी और कहींपर चौखूँटी बावड़ियाँ थीं तथा वे बावड़ियाँ स्नान कर बाहर निकली हुई देवांगनाओंके स्तनोंपर लगी हुई केसरके घुल जानेसे पीली-पीली हो रही थीं ॥१७५॥ उन वनोंमें कहीं कमलोंसे युक्त छोटे-छोटे तालाब थे, कहीं कृत्रिम पर्वत बने हुए थे और कहीं मनोहर महल बने हुए थे और कहीं पर क्रीड़ा-मण्डप बने हुए थे ॥१७६॥ कहीं सुन्दर वस्तुओंके देखनेके घर (अजायब-घर) बने हुए थे, कहीं चित्रशालाएँ बनी हुई थीं, और कहीं एक खण्डकी तथा कहीं दो तीन आदि खण्डोंकी बड़े-बड़े महलोंकी पंक्तियाँ बनी हुई थीं ॥१७६॥ कहीं हरी-हरी घाससे युक्त भूमि थी, कहीं इन्द्रगोप नामके काँड़ोंसे व्याप्त पृथ्वी थी, कहीं अतिशय मनोह्र तालाब थे और कहीं उत्तम बालूके किनारोंसे सुशोभित नदियाँ बह रही थी ॥१७७॥

१. ध्वनताम् । २. मनोहरः । ३. आच्छादित । ४. ऋतूनां परिक्रमवृत्तिम् । ५. बने । ६. आ समस्तात् वस्यन् । भयपूर्विकां निवृत्तिं कुर्वन् वा । ७. वनमण्डपे । ८. स्नात्वा निर्गत । स्नानोत्तीर्णां ल०, व०, इ० । ९. दीधिका । १०. विनोदयक्षितम् । ११. हरिताः ।

शाखाग्रव्यासविश्वाराः^१ स रेजेऽशोकपादपः । अशोकमयमंवेदं जगत्कर्तुमिच्छामः ॥१८७॥
 सुरमीकृतविश्वाराः कुसुमैः स्थगिताम्बरः । सिद्धाध्वानमिवाहन्धन् रेजेऽसौ चैत्यपादपः ॥१८८॥
^२ गारुडोपलनिर्माणैः पद्मैश्चतुर्दिशोऽभितः । पद्मरागमयैः पुष्पस्तम्बैः परितो वृतः ॥१८९॥
 हिरण्यमयमहोदयशाखो वज्रेद्वयधनकः^३ । कलाकिकुलझङ्कारैस्तर्जयन्निव मन्मथम् ॥१९०॥
 सुरासुरनरेन्द्रान्तरक्षेभालानविग्रहः^४ । स्थप्रभापरिवेपेण द्योतिताखिलदिङ्मुखः ॥१९१॥
^५ रणदालम्बित्रवृष्टामिर्बधिराकृतविश्वभूः^६ । भूर्भुवः स्वर्जयं मर्तुः प्रतोषादिव घोषयन् ॥१९२॥
 ध्वजांशुकपरा^७ मृष्टनिर्मेघवनपद्मतिः^८ । जगज्जनाङ्गसंलग्नमार्गः^९ परिमृजन्निव ॥१९३॥
 मूर्ध्ना छत्रत्रयं विभ्रन्मुक्तालम्बनभूदितम् । विभोस्त्रिभुवनैश्वर्यं विना वाचेन दर्शयन् ॥१९४॥
 भेजिरे^{१०} शुध्नमार्गेऽह्य प्रतिमा दिक्चतुष्टये । जिनेश्वराणामिन्द्राद्यैः समवासाभिषेचनाः ॥१९५॥
 गन्धस्त्रभूपदीपार्घ्यैः फलेरपि सहाक्षतैः । तत्र नित्यार्चनं देवा जिनार्चनी^{११} वितेनिरे ॥१९६॥

भित हो रहा था ॥१८६॥ जिसने अपनी शाखाओंके अग्रभागसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर रखा है ऐसा वह अशोक वृक्ष ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो समस्त संसारको अशोकमय अर्थात् शोकरहित करनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥१८७॥ समस्त दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले फूलोंसे जिसने आकाशको व्याप्त कर लिया है ऐसा वह चैत्यवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सिद्ध-विद्याधरोंके मार्गको ही रोक रहा हो ॥१८८॥ वह वृक्ष नीलमणियोंके बने हुए अनेक प्रकारके पत्तोंसे व्याप्त हो रहा था और पद्मराग मणियोंके बने हुए फूलोंके गुच्छोंसे घिरा हुआ था ॥१८९॥ सुवर्णकी बनी हुई उसकी बहुत ऊँची-ऊँची शाखाएँ थीं, उसका वेदीयमान भाग वज्रका बना हुआ था तथा उसपर बैठे हुए भ्रमरोंके समूह जो मनोहर झंकार कर रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवकी तर्जना ही कर रहा हो ॥१९०॥ वह चैत्यवृक्ष सुर, असुर और नरेन्द्र आदिके मनरूपी हाथियोंके बाँधनेके लिए खंभेके समान था तथा उसने अपने प्रभामण्डलसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर रखा था ॥१९१॥ उसपर जो शब्द करते हुए घंटे लटक रहे थे उनसे उसने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी थीं और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था कि भगवान्ने अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोकमें जो विजय प्राप्त की है सन्तोषसे मानो वह उसकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१९२॥ वह वृक्ष ऊपर लगा हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे पोंछ-पोंछकर आकाशको मेघरहित कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारी जीवोंकी देहमें लगे हुए पापोंको ही पोंछ रहा हो ॥१९३॥ वह वृक्ष मोतियोंकी झालरसे सुशोभित तीन छत्रोंको अपने सिरपर धारण कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्के तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको विना वचनोंके ही दिखला रहा हो ॥१९४॥ उस चैत्यवृक्षके मूलभागमें चारों दिशाओंमें जिनेन्द्रदेवकी चार प्रतिमाएँ थीं जिनका इन्द्र स्वयं अभिषेक करते थे ॥१९५॥ देव लोग वहाँपर विराजमान उन जिनप्रतिमाओंकी गन्ध, पुष्पोंकी माला,

१. निखिलदिक् । २. देवपथं मेघपथमित्यर्थः । "विशाचो गुह्यको सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।"
 ३. मरकतरत्न । ४. दीप्तमूलः । ५. मनहस्त्रियगजवन्धनस्तम्भमूर्तिः । ६. ध्वनत् । ७. निखिलभूमिः ।
 ८. भूलोकनागलोकस्वर्गलोकजयम् । ९. संमार्जित । १०. मेघमार्गः । ११. सम्मार्जयन् । १२. मूलप्रदेशे ।
 १३. जिनप्रतिमानाम् ।

क्षीरोदोदकधीताक्षीरमलास्ता हिरण्ययोः । प्रणिपत्यार्हतामर्चाः^१ प्रानक्षुर्नसुरासुराः ॥१९०॥
 स्तुवन्ति स्तुतिभिः केचिद्वर्ध्याभिः^२ प्रणमन्ति च । स्मृत्वावधार्य^३ गायन्ति केचित्स्म सुरसत्तमाः ॥१९१॥
 यथाशोकस्तयान्धेऽपि विज्ञेयाश्चैत्यभूकहाः । बने स्वे स्वे सजातीया जिनविम्बेन्दुधुनकाः ॥१९२॥
 अशोकः सप्तपर्णाश्च चम्पकवृक्षत एव च । अस्वारोऽमी बनेष्वास्तन् प्रोत्तुङ्गाश्चैत्यपादपाः ॥२००॥
 चैत्याधिष्ठितधुनत्वाद्भूत^४ नामरूढयः । शालिनोऽमी विभान्ति स्म सुरेन्द्रैः प्राप्तपूजनाः ॥२०१॥
 'फलेरलंकृता दीपाः' स्वपादाक्रान्तभूतकाः । पार्थिवाः^५ सत्पद्मेवैते पार्थिवाः^६ पत्रसंभृताः^७ ॥२०२॥
 प्रपञ्जितानुरागाः स्वैः पल्लवैः कुसुमोत्करैः । प्रसादं^८ दृष्ट्वायन्तोऽन्तर्विभुं भेदुरिमं व्रुमाः ॥२०३॥
 तरुण्यमेव^९ तावच्छेदीदृशो विमलोदयः । किमस्ति वाच्यमोशस्य विभवेऽनीदृशात्मनः ॥२०४॥

धूप, दीप, फल और अक्षत आदिसे निरन्तर पूजा किया करते थे ॥१९६॥ क्षीरसागरके जलसे जिनके अंगोंका प्रक्षालन हुआ है और जो अतिशय निर्मल हैं ऐसी सुवर्णमयी अरहन्की उन प्रतिमाओंको नमस्कार कर मनुष्य, सुर और असुर सभी उनकी पूजा करते थे ॥१९७॥ कितने ही उत्तम देव अर्थसे भरी हुई स्तुतियोंसे उन प्रतिमाओंकी स्तुति करते थे, कितने ही उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही उनके गुणोंका स्मरण कर तथा चिन्तन कर गान करते थे ॥१९८॥ जिस प्रकार अशोकवनमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष है उसी प्रकार अन्य तीन वनोंमें भी अपनी-अपनी जातिका एक-एक चैत्यवृक्ष था और उन सभीके मूलभाग जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाओंसे देदीप्यमान थे ॥१९९॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए चारों वनोंमें कमसे अशोक, सप्तपर्णा, चम्पक और आम्र नामके चार बहुत ही ऊँचे चैत्यवृक्ष थे ॥२००॥ मूलभागमें जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमा विराजमान होनेसे जो 'चैत्यवृक्ष' इस सार्थक नामको धारण कर रहे हैं और इन्द्र जिनकी पूजा किया करते हैं ऐसे वे चैत्यवृक्ष बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२०१॥ पार्थिव अर्थात् पृथिवीसे उत्पन्न हुए वे वृक्ष सचमुच ही पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी—राजाके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा अनेक फलोंसे अलंकृत होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अनेक फलोंसे अलंकृत थे, राजा जिस प्रकार तेजस्वी होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी (देदीप्यमान) थे, राजा जिस प्रकार अपने पाद अर्थात् पैरोंसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त किया करते हैं (समस्त पृथिवीमें अपना यातायात रखते हैं) उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपने पाद अर्थात् जड़ भागसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त कर रहे थे (समस्त पृथिवीमें उनकी जड़ें फैली हुई थीं) और राजा जिस प्रकार पत्र अर्थात् सवारियोंसे भरपूर रहते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तोंसे भरपूर थे ॥२०२॥ वे वृक्ष अपने पल्लव अर्थात् लाल-लाल नयी कोंपलोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अन्तरंगका अनुराग (प्रेम) ही प्रकट कर रहे हों और फूलोंके समूहसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हृदयकी प्रसन्नता ही दिखला रहे हों—इस प्रकार वे वृक्ष भगवान्की सेवा कर रहे थे ॥२०३॥ जब कि उन वृक्षोंका ही ऐसा बड़ा भारी माहात्म्य था तब उपमारहित भगवान् वृषभदेवके केवलज्ञानरूपी विभवके विषयमें कहना ही क्या है—वह तो सर्वथा

१. अर्चयन्ति स्म । २. अर्धादनपेताभिः । ३. -वधाय ट० । ४. चैत्यवृक्षनामप्रतिद्वयः । ५. पक्षे हृष्टफलेः । ६. स्वपादेराक्रान्तं भूतलं यस्ते, पक्षे स्वपादेष्वाक्रान्तं भूतलं येषां ते । ७. पृथिव्या ईशाः पार्थिवाः पृथ्वीमया वा । ८. पृथिव्या भवाः पार्थिवाः, वृक्षा इत्यर्थः । ९. पक्षे वाहनसंभृताः । 'पत्रं वाहनपर्वयोः' इत्यभिधानात् । १०. तावद्विषे ६०, ८०, १००, १२० ।

ततो वनानां पर्यन्ते बभूव वनवेदिका । अनुभिर्मोर्पुस्तुङ्गेरारुह्यगगनाङ्गया ॥२०५॥
 काश्चीयष्टिर्वनस्येव सा बभौ वनवेदिका । चार्माकरमग्रे रत्नैः खचिताङ्गा समन्ततः ॥२०६॥
 सा बभौ वेदिकोदया सचर्या^१ समया वनम्^२ । भव्यधीरिव संश्रित्य सचर्या समयावनम् ॥२०७॥
 सुगुप्ताङ्गा^३ सतीयासौ रुचिरा सूत्रपा^४ वनम् । परीयाय^५ श्रुतं जैनं सद्दीर्घा सूत्रपावनम्^६ ॥२०८॥
 घण्टाजालानि लम्भानि^७ सुक्तालम्बनकानि च । पुण्यस्त्रजश्च तरेज्जरमुध्यां गोपुरं प्रति ॥२०९॥
 राजतानि^८ बहुस्तस्या गोपुराण्यष्टमङ्गलैः । संगीतानोधननृसंश्व रत्नाभरणतोरणैः ॥२१०॥
 ततः परमलंचक्रुत्त्रिविधा ध्वजयङ्कतयः । महीं बीष्यन्तरालस्थां हेमस्तम्भामलम्बिताः ॥२११॥
 सुस्थास्ते मणिपाटेषु ध्वजस्तम्भाः स्फुरद्भुजः । विरेजुर्जगतां मान्याः सुराजान् ह्योन्नताः ॥२१२॥

अनुपम ही था ॥२०४॥ उन वनोंके अन्तमें चारों ओर एक-एक वनवेदी थी जो कि ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर-द्वारोंसे आकाशरूपी आँगनको रोक रही थी ॥२०५॥ वह सुवर्णमयी वनवेदिका सब ओरसे रत्नोंसे जड़ी हुई थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उस वनकी करधनी ही हो ॥२०६॥ अथवा वह वनवेदिका भव्य जीवोंकी बुद्धिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि उदम अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी उदम अर्थात् बहुत ऊँची थी, भव्य जीवोंकी बुद्धि जिस प्रकार सचर्या अर्थात् उत्तम चारित्र्यसे सहित होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षासे सहित थी और भव्य जीवोंकी बुद्धि जिस प्रकार स्वयंपावन (स्वयं-प-अपनं संश्रित्य) अर्थात् आगमरक्षाका आश्रय कर प्रवृत्त रहती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी समया वनं (वनं समया संश्रित्य) अर्थात् वनके समीप भागका आश्रय कर प्रवृत्त हो रही थी ॥२०७॥ अथवा वह वनवेदिका सुगुप्ताङ्गी अर्थात् सुरक्षित थी, सती अर्थात् समीचीन थी, रुचिरा अर्थात् देदीप्यमान थी, सूत्रपा अर्थात् सूत्र (होरा) की रक्षा करनेवाली थी—सूत्रके नापमें बनी हुई थी—कहीं ऊँची-नीची नहीं थी, और वनको चारों ओरसे घेरे हुए थी इसलिए किसी सत्पुरुषकी बुद्धिके समान जान पड़ती थी क्योंकि सत्पुरुषकी बुद्धि भी सुगुप्ताङ्गी अर्थात् सुरक्षित होती है—पापाचारोंसे अपने शरीरको सुरक्षित रखती है, सती अर्थात् शंका आदि दोषोंसे रहित होती है, रुचिरा अर्थात् श्रद्धागुण प्रदान करनेवाली होती है, सूत्रपा अर्थात् आगमकी रक्षा करनेवाली होती है और सूत्रपावनं अर्थात् सूत्रोंसे पवित्र जैनशास्त्रको घेरे रहती है—उन्हींके अनुकूल प्रवृत्ति करती है ॥२०८॥ उस वेदिकाके प्रत्येक गोपुर-द्वारमें घण्टाओंके समूह लटक रहे थे, मोतियोंकी झालर तथा फूलोंकी मालाएँ सुशोभित हो रही थी ॥२०९॥ उस वेदिकाके चौड़ीके बने हुए चारों गोपुर-द्वार अष्टमंगलद्रव्य, संगीत, बाजोंका बजना, नृत्य तथा रत्नमय आभरणोंसे युक्त तोरणोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥२१०॥ उन वेदिकाओंसे आगे सुवर्णमय स्वम्भोंके अग्रभागपर लगी हुई अनेक प्रकारकी ध्वजाओंकी पंक्तियाँ सहायीथीके मध्यकी भूमिको अलंकृत कर रही थी ॥२११॥ वे ध्वजाओंके स्वम्भे मणिमयी पीठिकाओंपर स्थिर थे, देदीप्यमान कान्तिसे युक्त थे, जगन्मान्य थे और अतिशय ऊँचे थे इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि उत्तम राजा भी मणिमय आसनोपर स्थित होते हैं—बैठते

१. सचर्या । २. वनस्य समीपम् । 'हाधिकस्वमया' इत्यादि सूत्रेण द्वितीया । सचर्या सचारित्र्या । समयावनं सिद्धांतरागम् । 'समया वनयाचारकालसिद्धान्तसंविदः ।' इत्यभिधानात् । ३. सुरक्षिताङ्गी । ४. सूत्रं रक्षन्ति । सूत्रपातस्य आपातत्वात्, निम्नोन्नतत्वादिवदोपरहित इत्यर्थः, पक्षे सूत्रमागमं पालयन्ति, आगमप्रतिपादितचारित्र्यं पालयन्तीत्यर्थः । ५. परिवारे । ६. सूत्रेण पवित्रीकरणक्षमम् । ७. मोक्षितकदमानि । ८. रजतमयानि ।

अष्टाशीत्यङ्गुलान्येषां सन्द्वयं परिकीर्तितम् । पञ्चविंशतिकोऽङ्गुलान्यमायामन्तरं त्रिदुः ॥२१३॥
 सिद्धार्थवृक्षाश्च प्राकारवनवेदिकाः । स्तूपाः सगरणा मानस्तम्भाः स्वस्मादत्र केतवाः ॥२१४॥
 प्रोक्तास्तीर्थकृतुस्तेष्वनुस्मयेन द्विषद्गुणाः^१ । दैर्घ्यान्तरूपमेतेषां रीन्द्रयमाहुर्मनीषिणः ॥२१५॥
 वनानां स्वगृहाणां च पर्वतानां तथैव च । भवेदुन्नतिरप्येव वर्णितागमकोविदैः ॥२१६॥
 भवेद्युगिरयो रुन्ध्राः स्वोन्मेषादृष्टयंगुणम् । स्तूपानां रीन्द्रयमुच्छ्रायान्^२ सातिरेकं^३ त्रिदो^४ त्रिदुः ॥२१७॥
 उक्षान्ति वेदिकार्थानां स्वोन्मेषस्य समुत्थकम् । पार्थक्यं परमज्ञानमहाकूपारपाशगाः ॥२१८॥
 स्रग्वस्त्रसहस्रानाञ्जं हंसवीनं^५ सृगेशिनाम् । वृषभेभ्यश्चक्राणां ध्वजाः स्युर्दशभेदकाः ॥२१९॥
 षष्ठोत्तरदातं ज्ञेयाः प्रत्येकं पालिकेतनाः^६ । एकैकस्यां दिशि प्रोच्चास्तरङ्गास्तोयधेरिव ॥२२०॥
 पवनान्दोलितस्तेषां केतूनामङ्गुकोकरः ।^७ व्याजुहूपुरिवामासीद्^८ जिनेज्यायै नरामराण् ॥२२१॥
 स्रग्ध्वजेषु स्रजो दिव्याः सौमनस्यो^९ ललम्बिरे । मध्यानां सौमनस्याय^{१०} कक्षिणास्त्रिदिवाधिपैः ॥२२२॥
 श्लक्ष्णाङ्गुलध्वजा रेजुः पवनान्दोलितोत्थिताः । व्योमाम्बुधेरिवोद्भूतास्तरङ्गास्तुङ्गमूर्तयः ॥२२३॥
 बहिर्ध्वजेषु बर्हालि^{११} लीलयोत्क्षिप्य बर्हिणः । रेजुर्मस्ताङ्गुकाः सर्पकुक्षयेन प्रस्तकृतयः^{१२} ॥२२४॥

हैं, देदीप्यामान कान्तिसे युक्त होते हैं, जगत्मान्य होते हैं—संसारके लोग उनका सत्कार करते हैं और अनिश्य उन्नत अर्थात् उदारहृदय होते हैं ॥२१२॥ उन स्वम्भोंकी चौड़ाई अट्ठासी अङ्गुल कहीं गयी है और उनका अन्तर पचोस-अर्थात् पचुष प्रमाण जानना चाहिए ॥२१३॥ सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वनवेदिका, स्तूप, तोरणसहित मानस्तम्भ और ध्वजाओंके स्वम्भे ये सब तीर्थकरोंके शरीरकी ऊँचाईसे बारह गुने ऊँचे होते हैं और विद्वानोंने इनकी चौड़ाई आदि इनकी लम्बाईके अनुरूप बतलायी है ॥२१४-२१५॥ इसी प्रकार आगमके जानने-वाले विद्वानोंने वन, वनके भकान और पर्वतोंकी भी यही ऊँचाई बतलायी है अर्थात् ये सब भी तीर्थकरके शरीरसे बारह गुने ऊँचे होते हैं ॥२१६॥ पर्वत अपनी ऊँचाईसे आठ गुने चौड़े होते हैं और स्तूपोंका व्यास विद्वानोंने अपनी ऊँचाईसे कुछ अधिक बतलाया है ॥२१७॥ परमज्ञानरूपी समुद्रके पारगामी गणधर देवोंने वनवेदियोंकी चौड़ाई वनकी ऊँचाईसे चौथाई बतलायी है ॥२१८॥ ध्वजाओंमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्रके चिह्न थे इसलिए उनके दस भेद हो गये थे ॥२१९॥ एक-एक दिशामें एक-एक प्रकारकी ध्वजाएँ एक सौ आठ एक सौ आठ थीं, वे ध्वजाएँ बहुत ही ऊँची थीं और समुद्रकी लहरोंके समान जान पड़ती थीं ॥२२०॥ वायुसे हिलता हुआ उन ध्वजाओंके वस्त्रोंका समुदाय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिए मनुष्य और देवोंको बुलाना ही चाहता हो ॥२२१॥ मालाओंके चिह्नवाली ध्वजाओंपर फूलोंकी वनी हुई दिव्यमालाएँ लटक रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो भव्य-जीवोंका सौमनस्य अर्थात् सरल परिणाम दिखलानेके लिए ही इन्द्रोंने उन्हें बनाया हो ॥२२२॥ वस्त्रोंके चिह्नवाली ध्वजाएँ महीन और सफेद वस्त्रोंकी वनी हुई थीं तथा वे वायुसे हिल-हिलकर उड़ रही थीं जिससे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो आकाशरूपी समुद्रकी उठती हुई बड़ी ऊँची लहरें ही हों ॥२२३॥ मयूरोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो मयूर बने हुए थे वे लीलापूर्वक अपनी पूँछ फैलाये हुए थे और साँपकी बुद्धिसे वस्त्रोंको निगल रहे थे जिससे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो

१. सिद्धार्थवृक्षाः वक्ष्यन्ते चैत्यवृक्षा उक्ताः । २. केतुसंबन्धिनः । ३. द्वादशगुणा इत्यर्थः । ४. -मुष्कितेभ्यसिं सातिरेकं ६०, अ० । ५. साधिकम् । ६. सम्यग्ज्ञानिनः । ७. पृथुस्वम् । ८. मयूर । ९. गरुड़ । १०. श्रेणिध्वजाः । ११. व्याह्वानमिच्छुः । १२. बभौ । १३. मुमनोभिः कृमुमैः कृनाः । १४. सुमनस्कृताय । १५. पिच्छसमूहम् । १६. प्रस्तनिर्मोकाः ।

पद्मध्वजेषु पद्मानि सहस्रद्वयं लभते^१ । नभःभरति कुल्लुकि सरोजानीय रतिरेव^२ ॥२२०॥
 भवः प्रतिमया^३ तानि संक्रान्तानि महोत्तले । भ्रमरान् मोहयन्ति स्म पद्मबुद्धानु^४पातितः ॥२२१॥
 तेषां^५ तदासमीं शोभां दृष्ट्वा नान्यत्र भाषिणीम् । कञ्जान्बुधुज्य कास्म्येन कश्मोस्तेषु पदं दृष्टे ॥२२२॥
 हंसध्वजेष्व^६ मुहंसाश्चक्ष्वा^७ प्रसिद्धाससः । निजां^८ प्रस्तारयन्तो वा द्रव्यलेश्यां तदारमना ॥२२३॥
 गरुडध्वजदण्डाद्याण्यध्यासीना विनायकाः^९ । रेजुः स्वैः पञ्चविश्रेपैल्लिङ्गवयिषो नु^{१०} स्म ॥२२४॥
 चभुर्नीलमणिक्ष्मास्था गरुडाः^{११} प्रतिमागताः । समाकण्डुमिवाहीन्द्रान् प्रविशन्तो रसानलम् ॥२२५॥
 सृगेन्द्रकेतनाग्रेषु सृगेन्द्राः कमदिक्ष्मया^{१२} । कृतयन्ता विरेजुस्ते जेतुं वा^{१३} सुरसामजान् ॥२२६॥
 स्थूलमुक्ताफलान्वेषां मुत्तलम्बानि रेजिरे । गजेन्द्रकुम्भसंभेदात् सञ्चितानि यथासि वा ॥२२७॥
^{१४} उक्षाः शृङ्गाग्रसंस्कृतलम्बमानध्वजांशुकाः । रेजुर्विपश्चाज्येष^{१५} संलब्धजयकेतनाः ॥२२८॥
 उत्पुष्करः कौरुद^{१६} ध्वजा रेजुर्गजाधिपाः । गिरीन्द्रा इव कूटाग्रनिपतश्चुनिर्हराः ॥२२९॥

सौंपकी काँचली ही निगल रहे हों ॥२२५॥ कमलोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो कमल बने हुए थे वे अपने एक हजार दलोंके विस्तारसे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी सरो-
 वरमें कमल ही फूल रहे हों ॥२२५॥ रत्नमयी पृथ्वीपर उन ध्वजाओंमें बने हुए कमलोंके जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे कमल समझकर उनपर पड़ते हुए भ्रमरोंको भ्रम उत्पन्न करते थे ॥२२६॥ उन कमलोंकी दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली उस समयकी शोभा देखकर लक्ष्मीने अन्य समस्त कमलोंको छोड़ दिया था और उन्हींमें अपने रहनेका स्थान बनाया था । भावार्थ—वे कमल बहुत ही सुन्दर थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी अन्य सब कमलोंको छोड़कर उन्हींमें रहने लगी हो ॥२२७॥ हंसोंकी चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो हंसोंके चिह्न बने हुए थे वे अपने चाँचसे वस्त्रको ग्रस रहे थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उसके बहाने अपनी द्रव्यलेश्याका ही प्रसार कर रहे हों ॥२२८॥ जिन ध्वजाओंमें गरुड़ोंके चिह्न बने हुए थे उनके दण्डोंके अग्रभागपर बैठे हुए गरुड़ अपने पंखोंके विक्षेपसे ऐसे सुशो-
 भित हो रहे थे मानो आकाशको ही उल्लंघन करना चाहते हों ॥२२९॥ नीलमणिमयी पृथ्वीमें उन गरुड़ोंके जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो नागेन्द्रोंको स्वीचनेके लिए पाताललोकमें ही प्रवेश कर रहे हों ॥२३०॥ सिंहोंके चिह्नवाली ध्वजाओंके अग्रभागपर जो सिंह बने हुए थे वे छलांग भरनेकी इच्छासे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो देवोंके हाथियोंको जीतनेके लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं ॥२३१॥ उन सिंहोंके मुखोंपर जो बड़े-बड़े मोती लटक रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बड़े-बड़े हाथियोंके मस्तक विदारण करनेसे इकट्ठे हुए बश ही लटक रहे हों ॥२३२॥ बैलोंकी चिह्नवाली ध्वजाओंमें, जिनके सींगोंके अग्रभागमें ध्वजाओंके वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे बैल बने हुए थे और वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो शत्रुओंको जीत लेनेसे उन्हें विजयपताका ही प्राप्त हुई हो ॥२३३॥ हाथीकी चिह्न-
 वाली ध्वजाओंपर जो हाथी बने हुए थे वे अपनी ऊँची उठी हुई सूड़ोंसे पताकाएँ धारण कर रहे थे और उनसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके शिखरके अग्रभागसे बड़े-बड़े निशरने पड़े रहे हैं ऐसे बड़े पर्वत ही हों ॥२३४॥ और चक्रोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो चक्र बने

१. समूहः । २. प्रतिबिम्बेन । ३. अनुगच्छतः । ४. पद्मध्वजानाम् । ५. तदासलभयाम् । ६. बभूव ।
 ७. मोहयति । ८. प्रसारयन्तो ल० । ९. बीनां नायकाः गरुडा इत्यर्थाः । १०. इव । ११. प्रतिबिम्बेनागताः ।
 १२. पादविश्रेषेण । १३. इव । १४. उक्षाः प०, अ०, ल०, द०, इ० । १५. जयेन । १६. वृत् ।

चक्रध्वजाः सहस्रैश्चकैरुत्सर्पद्दंशुभिः । यमुभानुमता^१ सार्द्धं स्वर्धां कर्तुमिषोद्यताः ॥२३५॥

नमः परिभ्रजन्तो वा श्लिष्यन्तो वा दिगङ्गनाः । भुवमास्फालयन्तो वा स्फूर्जन्ति स्म महाध्वजाः ॥२३६॥

हृष्यमो केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता बभूवुः । विमोक्षिभुवनेशिष्वं शंसन्तोऽनन्यगोचरम् ॥२३७॥

दिश्येकस्यां ध्वजाः सर्वे सहस्रं स्यादर्शोतिषुक् । चतसृष्वथ^२ ते दिक्षु शून्यं^३ द्वित्रिकसागराः ॥२३८॥

ततोऽनन्तरमेवान्तर्भागे सालो महानभूत् । श्रीमान्जुनतिर्माणो द्विर्त्वायोऽप्यद्वितीयकः ॥२३९॥

पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि रराजिरे । हासलक्ष्मीर्भुवो नूनं पुञ्जीभूता तदात्मना ॥२४०॥

तेष्वामरं विविम्वस्तोरणेषु परा शुतिः । तेभ्यो निधिभिरुद्भूतैः कुबेरैश्चर्यंदासिना ॥२४१॥

शेषो विधिरणेषोऽपि सालेनाद्येन वर्णितः । पौनरुक्त्यभयात्तस्तत्प्रपञ्चो निर्वर्णितः ॥२४२॥

अत्रापि पूर्ववद्द्वेष्टं द्वित्यं नाट्यशालयोः । तद्दूषघटीद्वन्द्वं महावीथ्युभयान्तयोः ॥२४३॥

ततो घाथ्यन्तरेण्यस्यां कक्ष्यां^४ वा कल्पभूतद्वान् । नानास्वप्रसोत्सर्पैर्वनमासीत् प्रमास्वरम् ॥२४४॥

कल्पद्रुमाः समुत्तृङ्गाः सच्छायाः फलशालिनः । नामास्त्रवस्त्रभूषाद्या राजायन्ते स्म संपदा ॥२४५॥

हुए थे उनमें हजार-हजार आरियाँ थीं तथा उनकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही थीं, उन चक्रोंसे वे ध्वजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं, मानो सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेके लिए ही तैयार हुई हों ॥२३५॥ इस प्रकार वे महाध्वजाएँ ऐसी फहरा रही थीं मानो आकाशको साफ हो कर रही हों, अथवा विशारूपी स्त्रियोंको आलिंगन ही कर रही हों अथवा पृथिवीका आस्फालन ही कर रही हों ॥२३६॥ इस प्रकार मोहनीय कर्मको जीत लेनेसे प्राप्त हुई वे ध्वजाएँ अन्य दूसरी जगह नहीं पाये जानेवाले भगवान्के तीनों लोकोंके स्वामित्वको प्रकट करती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थीं ॥२३७॥ एक-एक दिशामें वे सब ध्वजाएँ एक हजार अरसी थीं और चारों दिशाओंमें चार हजार तीन सौ बीस थीं ॥२३८॥

उन ध्वजाओंके अनन्तर ही भीतरके भागमें चौड़ीका बना हुआ एक बड़ा भारी कोट था, जो कि बहुत ही सुशोभित था और अद्वितीय अनुपम होनेपर भी द्वितीय था अर्थात् दूसरा कोट था ॥२३९॥ पहले कोटके समान इसके भी चौड़ीके बने हुए चार गोपुर-द्वार थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे गोपुर-द्वारोंके बहानेसे झकट्टी हुई पृथिवीरूपी देवीके हास्यकी शोभा ही हों ॥२४०॥ जिनमें अनेक आभरणसहित तोरण लगे हुए हैं ऐसे उन गोपुर-द्वारोंमें जो निधियाँ रखी हुई थीं वे कुबेरके ऐश्वर्यकी भी हँसी बहानेवाली बड़ी भारी कान्तिको फैला रही थीं ॥२४१॥ उस कोटकी और सब विधि पहले कोटके वर्णनके साथ ही कही जा चुकी है, पुनरुक्ति दोषके कारण यहाँ फिरसे उसका विस्तारके साथ वर्णन नहीं किया जा रहा है ॥२४२॥ पहलेके समान यहाँ भी प्रत्येक महावीथीके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं और दो धूपघट रखे हुए थे ॥२४३॥ इस कक्षामें विशेषता इतनी है कि धूपघटोंके बाद गलियोंके बीचके अन्तरालमें कल्पवृक्षोंका वन था, जो कि अनेक प्रकारके रत्नोंकी कान्तिके फैलनेसे वेदीप्यमान हो रहा था ॥२४४॥ उस वनके वे कल्पवृक्ष बहुत ही ऊँचे थे, उत्तम छायावाले थे, फलोंसे सुशोभित थे और अनेक प्रकारकी माला, वस्त्र तथा आभूषणोंसे सहित थे इसलिए अपनी शोभासे राजाओंके समान जान पड़ते

१. सूर्येण । २. ध्वजाः । ३. विशरसुत्तरनिशताधिकचतुःसहस्राणि । ४. आभरणानां विम्वस्तं विम्वस्तो येषां तोरणानां तानि आभरणविम्वस्ततोरणानि येषां गोपुराणां तानि तथोक्तानि तेषु । ५. -ज्ञान प०, द०, ल० । ६. कोण्डे ।

देवोदककुरवो नूतन्मागताः सविनुं जिनम् । दशप्रभेदैः स्वैः कल्पतरुभिः श्रेणिं सारकृतैः ॥२४६॥
 फलान्वामरणाम्येषामंशुकानि च पल्लवाः । खजः शाखाप्रलम्बिन्धो महाप्राशङ्ग्यद्वयः ॥२४७॥
 तेषामधःस्थलच्छायाभध्यासीनाः सुरोरगाः । स्वावासेषु धृतिं हित्वा चिरं तत्रैव रेमिरं ॥२४८॥
 ज्योतिष्का ज्योतिरङ्गेषु दीपाङ्गेषु च कल्पजाः । भाषनेन्द्राः जगत्त्रेषु यथायोग्या धृतिं दधुः ॥२४९॥
 सखि सारणं भास्वदंशुकं पल्लवाधरम् । ज्वलद्दीपं वनं कान्तं वधूवरमिवावचत् ॥२५०॥
 'अन्तर्वर्णमयाभूवच्छिह सिद्धार्थपादपाः । सिद्धार्थाभिष्टिता^१धीद्विधुध्ना प्रध्ना^२ ह्योद्वयः ॥२५१॥
 चैत्यद्रुमेषु पूर्वोक्ता वर्णनाम्नापि योज्यताम् । किं तु कल्पद्रुमा ऐते संकल्पितफलप्रदाः ॥२५२॥

ये क्योंकि राजा भी बहुत ऊँचे अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ अथवा उदार होते हैं, उत्तम छाया अर्थात् कान्तिसे युक्त होते हैं, अनेक प्रकारकी वस्तुओंकी प्राप्तिरूपी फलोंसे सुशोभित होते हैं और तरह-तरहकी माला, वस्त्र तथा आभूषणोंसे युक्त होते हैं ॥२४६॥ उन कल्पवृक्षोंको देखकर ऐसा मालूम होता था मानो अपने दस प्रकारके कल्पवृक्षोंकी पत्तियोंसे युक्त हुए देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवान्की सेवा करनेके लिए आये हों ॥२४६॥ उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान जान पड़ते थे, नवीन कोमल पत्ते वस्त्रोंके समान मालूम होते थे और शाखाओंके अग्रभागपर लटकती हुई मालाएँ बड़ी-बड़ी जटाओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥२४७॥ उन वृक्षोंके नीचे छायातलमें बैठे हुए देव और धरणेन्द्र अपने-अपने भवनोंमें प्रेम छोड़कर वहींपर चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते थे ॥२४८॥ ज्योतिष्कदेव ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें, कल्पवासी देव दीपाङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें और भवनवासियोंके इन्द्र मालाङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें यथायोग्य प्रीति धारण करते थे । भावार्थ—जिस देवको जो वृक्ष अच्छा लगता था वे उसीके नीचे क्रीड़ा करते थे ॥२४९॥ वह कल्पवृक्षोंका वन वधूवरके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार वधूवर मालाओंसे सहित होते हैं उसी प्रकार वह वन भी मालाओंसे सहित था, वधूवर जिस प्रकार आभूषणोंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार वह वन भी आभूषणोंसे युक्त था, जिस प्रकार वधूवर सुन्दर वस्त्र पहिने रहते हैं उसी प्रकार उस वनमें सुन्दर वस्त्र ढँगे हुए थे, जिस प्रकार वर-वधूके अधर (ओठ) पल्लवके समान लाल होते हैं उसी प्रकार उस वनके पल्लव (नये पत्ते) लाल थे । वर-वधूके आस-पास जिस प्रकार दीपक जला करते हैं उसी प्रकार उस वनमें भी दीपक जल रहे थे और वर-वधू जिस प्रकार अतिशय सुन्दर होते हैं उसी प्रकार वह वन भी अतिशय सुन्दर था । भावार्थ—उस वनमें कहीं मालाङ्ग जातिके वृक्षोंपर मालाएँ लटक रही थीं, कहीं भूषणाङ्ग जातिके वृक्षोंपर भूषण लटक रहे थे, कहीं वस्त्राङ्ग जातिके वृक्षोंपर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ढँगे हुए थे, कहीं उन वृक्षोंमें नये-नये, लाल-लाल पत्ते लग रहे थे, और कहीं दीपाङ्ग जातिके वृक्षोंपर अनेक दीपक जल रहे थे ॥२५०॥ उन कल्पवृक्षोंके मध्यभागमें सिद्धार्थ वृक्ष थे, सिद्ध भगवान्की प्रतिमाओंसे अधिष्ठित होनेके कारण उन वृक्षोंके मूल भाग बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे और उन सबसे वे वृक्ष सूर्यके समान प्रकाशमान हो रहे थे ॥२५१॥ पहले चैत्यवृक्षोंमें जिस शोभाका वर्णन किया गया है वह सब इस सिद्धार्थवृक्षोंमें भी लगा लेना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी ही है

१. पङ्कतीकृतैः २. पल्लवानि आ समन्तात् धरतीति, पक्षे पल्लवमिवाधरं यस्य सत् । ३. ज्वलद्दीपाङ्गम् । ४. वधूवर वरवधू वधूवरम् । ५. वनमध्मे । ६. अधिकदीप । ७. आविरपाः ।

कचिद् वाप्यः कचिसद्यः कचिन् सैकतमण्डलम् । कचिसिसमागृहादीनि वभुरत्र वनान्तरे ॥२५३॥
 वनवीथीमिमामन्तर्वर्गेऽसौ वनवेदिका । कलधौतमयी मुक्कचतुर्गोपुरसंगता ॥२५४॥
 तत्र तोरणमाङ्गं स्वसंपदः पूर्ववर्णिताः । गोपुराणि च पूर्वोक्तमानोभामान्यसुत्र च ॥२५५॥
 प्रसोली^१ तामधोल्लङ्घ्य परतः^२ परिवीर्यभूत्^३ । प्रासादपकितविंशिता निर्मिता सुरशिल्पिभिः ॥२५६॥
 हिरण्यमहास्तम्भा वज्राधिष्ठानवन्धनाः । चन्द्रकान्तशिखाकान्तमितयो रत्नचित्रिताः ॥२५७॥
 सहस्र्या द्वितलाः^४ केचित् केचित्च त्रिचतुस्तलाः । चन्द्रशालाद्युजः^५ केचिद् कलभिच्छन्दशोभिनः ॥२५८॥
 प्रासादास्ते स्म राज्ञो स्वप्रभामग्नमूर्तयः । नमोलिङ्गानाः कूटाम्रेज्योऽक्षयेव विनिर्मिताः ॥२५९॥
 'कूटागारसभागृहप्रेक्षाशालाः'^६ कचिद् विभुः । सशय्याः^७ 'सासनास्तुङ्गसोपानाः' इवेतिताम्बराः^८ ॥२६०॥
 तेषु देवाः सभाम्बर्वाः सिद्धा^९ विद्याधराः सदा । पञ्चगाः किन्नरैः सार्द्धमस्मत् कृतादराः ॥२६१॥
 केचिद् गानेषु वादित्रवाद्मे^{१०} केचिदुचिताः । संगीतनृत्यगोष्ठीनिर्विभुमाराधयन्ममी ॥२६२॥

कि ये कल्पवृक्ष अभिलषित फलके देनेवाले थे ॥२५३॥ उन कल्पवृक्षोंके वनोंमें कहीं वावाड़ियाँ, कहीं नदियाँ, कहीं बालूके ढेर और कहीं सभागृह आदि सुशोभित हो रहे थे ॥२५३॥ उन कल्पवृक्षोंकी वनवीथीको भीतरकी ओर चारों तरफसे वनवेदिका घेरे हुए थी, यह वनवेदिका सुवर्णकी बनी हुई थी, और चार गोपुर-द्वारोंसे सहित थी ॥२५४॥ उन गोपुर-द्वारोंमें तोरण और संगलद्रव्यरूप सम्पदाओंका वर्णन पहले ही किया जा चुका है तथा उनकी लम्बाई चौड़ाई आदि भी पहलेके समान ही जानना चाहिए ॥२५५॥ उन गोपुर-द्वारोंके आगे भीतरकी ओर बड़ा लम्बा-चौड़ा रास्ता था और उसके दोनों ओर देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनायी हुई अनेक प्रकारके मकानोंकी पंक्तियाँ थी ॥२५६॥ जिनके बड़े बड़े खम्भे सुवर्णके बने हुए हैं, जिनके अधिष्ठान-वन्धन अर्थात् नीचे वज्रमयी हैं, जिनकी सुन्दर दीवालें चन्द्रकान्तमणियोंकी बनी हुई हैं और जो अनेक प्रकारके रत्नोंसे चित्र-विचित्र हो रहे हैं ऐसे वे सुन्दर मकान कितने ही दो खण्डके थे, कितने ही तीन खण्डके और कितने ही चार खण्डके थे, कितने ही चन्द्रशालाओं (मकानोंके ऊपरी भाग) से सहित थे तथा कितने ही अट्टालिका आदिसे सुशोभित थे ॥२५७-२५८॥ जो अपनी ही प्रभामें डूबे हुए हैं ऐसे वे मकान अपने शिखरोंके अग्रभागसे आकाशका स्पर्श करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चाँदनीसे ही बने हों ॥२५९॥ कहींपर कूटागार (अनेक शिखरोंवाले अथवा झूला देनेवाले मकान), कहींपर सभागृह और कहींपर प्रेक्षागृह (नाट्यशाला अथवा अजायबघर) सुशोभित हो रहे थे, उन कूटागार आदिमें शय्याएँ बिछी हुई थीं, आसन रखे हुए थे, ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ लगी हुई थीं और उन सबने अपनी कान्तिसे आकाशको सफेद-सफेद कर दिया था ॥२६०॥ उन मकानोंमें देव, गन्धर्व, सिद्ध (एक प्रकारके देव), विद्याधर, नागकुमार और किन्नर जातिके देव बड़े आदरके साथ सदा कीड़ा किया करते थे ॥२६१॥ उन देवोंमें कितने ही देव तो गानेमें उद्यत थे और कितने ही बाजा बजानेमें तत्पर थे इस प्रकार वे देव संगीत और

१. सुवर्ण । २. मङ्गल । ३. गोपुरम् । ४. विद्याः परितः । ५. वीर्यभात् ल० । ६. द्विभूमिकाः । ७. विरोगृह । 'चन्द्रशाला विरोगृहम्' इत्यभिधानात् । ८. बहुशिखरयुक्तगृहम् । ९. नाट्यशालाः । १०. सपीठाः । ११. वक्त्रिकाकासाः । १२. देवमेदाः । १३. वाद्यताडने ।

लोधीनां मध्यमागोऽत्र स्तूपा नव समुद्ययः । पद्मरागमणियोंके धने हुए बहुत ऊँचे थे और
 अनुरागास्ताद्वप्येमापका इव ते बभुः । सिद्धार्हप्रतिविम्बीचैरनितश्चित्रमूर्तयः ॥२६४॥
 स्वोक्त्या रागनामोर्ग^२ रुन्धानाः स्म विभाभ्यर्मा । स्तूपा विद्याधराध्याः प्राप्तेज्या मेरवो यथा ॥२६५॥
 स्तूपाः समुच्छिता रेजुराराध्याः सिद्धचारणैः^३ । ताद्वप्यमिव विभाणा नवकेवललक्षयः ॥२६६॥
 स्तूपानामन्तरेष्वेषो रजतोरवमाक्षिकाः । बभुरिन्द्रधनुर्मणय इव चित्रितस्त्राङ्गणाः ॥२६७॥
 सपत्ताकाश्च सर्वमकलाकलम्भुताः । राजान इव रेजुस्ते स्तूपाः कृतज्जगोत्सवाः ॥२६८॥
 तत्रानिविच्य जैनेन्द्रोर्वाः कीर्तितपूजिताः^४ । ततः प्रदक्षिणीकृत्य भव्या मुदमयासिपुः^५ ॥२६९॥
 स्तूपद्वय्यावलोक्यां भुवमुल्लङ्घ्य तां ततः । नभःस्कटिकसालोऽभू^६ जातं तमिव तन्मयम् ॥२७०॥
 विशुद्धपरिणामस्याजिज्जपयन्मत्सेवनात् । भव्यामेव बभौ सालस्तुक्लसद्बृहत्ततान्वितः ॥२७१॥

नृत्य आदिकी गोष्ठियों-द्वारा भगवान्की आराधना कर रहे थे ॥ २६२ ॥ महावीथियोंके मध्यभागमें नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे, जो कि पद्मरागमणियोंके धने हुए बहुत ऊँचे थे और अपने अग्रभागसे आकाशका छल्लंघन कर रहे थे ॥ २६३ ॥ सिद्ध और अर्हन्त भगवान्की प्रतिमाओंके समूहसे वे स्तूप चारों ओरसे चित्र-विचित्र हो रहे थे और ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मनुष्योंका अनुराग ही स्तूपोंके आकारको प्राप्त हो गया हो ॥ २६४ ॥ वे स्तूप ठीक मेरु पर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार मेरु पर्वत अपनी ऊँचाईसे आकाशको घेरे हुए है उसी प्रकार वे स्तूप भी अपनी ऊँचाईसे आकाशको घेरे हुए थे, जिस प्रकार मेरु पर्वत विद्याधरोंके द्वारा आराधना करने योग्य है उसी प्रकार वे स्तूप भी विद्याधरोंके द्वारा आराधना करने योग्य थे और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत पूजाको प्राप्त है उसी प्रकार वे स्तूप भी पूजाको प्राप्त थे ॥ २६५ ॥ सिद्ध तथा चारण मुनियोंके द्वारा आराधना करने योग्य वे अतिशय ऊँचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्तूपोंका आकार धारण करती हुई भगवान्की नौ केवललक्षियों ही हों ॥ २६६ ॥ उन स्तूपोंके बीचमें आकाशरूपी आँगनको चित्र-विचित्र करनेवाले रत्नोंके अनेक बन्दनवार बँधे हुए थे जो कि ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो इन्द्रधनुषके ही बँधे हुए हों ॥ २६७ ॥ उन स्तूपोंपर छत्र लगे हुए थे, पताकाएँ फहरा रही थीं, मंगलद्रव्य रखे हुए थे और इत सब कारणोंसे वे लोगोंको बहुत ही आनन्द उत्पन्न कर रहे थे इसलिए ठीक राजाओंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि राजा लोग भी छत्र-पताका और सब प्रकारके मंगलोंसे सहित होते हैं तथा लोगोंको आनन्द उत्पन्न करते रहते हैं ॥ २६८ ॥ उन स्तूपोंपर जो जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाएँ विराजमान थीं भव्यलोग उनका अभिषेक कर उनकी स्तुति और पूजा करते थे तथा प्रदक्षिणा देकर बहुत ही हर्षको प्राप्त होते थे ॥ २६९ ॥

उन स्तूपों और मकानोंकी पंक्तियोंसे घिरी हुई पृथ्वीको छल्लंघन कर उसके कुछ आगे आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिका बना हुआ कोट था जो कि ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाश ही उस कोटरूप हो गया हो ॥ २७० ॥ अथवा विशुद्ध परिणाम (परिणमन) होनेसे और जिनेन्द्र भगवान्के समीप ही सेवा करनेसे वह कोट भव्यजीवके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि भव्यजीव भी विशुद्ध परिणामों (भावों) का धारक होता है और जिनेन्द्र भगवान्के समीप रहकर ही उनकी सेवा करता है । इसके सिवाय वह कोट भव्य जीवके समान ही तुङ्ग अर्थात् ऊँचा (पक्षमें श्रेष्ठ) और सद्बृत्त सार्थात् सुगोल

१. स्तूपस्वरूपवत्त्वम् । २. विस्तारम् । ३. चारणमुनिभिः, देवदेवैश्च । ४. इन्द्रधनुभिर्निवृत्ताः । ५. कीर्तिताश्च पूजिताश्च । ६. प्राप्तवन्तः । ७. -सालोऽमाउजातं ल० । ८. सालमयम् ।

खरोद्गैरुपसेव्यत्वात्तुङ्गरवादचलत्वंतः । रूप्यादिरिव तादृष्यमापन्नः 'पर्यगाद् विभुम् ॥२७२॥
 दिक्षु सालोत्तमस्यास्य गोपुराण्युदशिशिबन् । पद्मरागमयाभ्युच्चैर्मध्यरागमयानि वा ॥२७३॥
 जेयाः पूर्ववद्वापि मङ्गलद्रव्यसंपदः । द्वारोपान्ते च निधयो ज्वलद्गम्भीरमूर्तयः ॥२७४॥
 सतालमङ्गलच्छत्रचामरध्वजदर्पणाः । सुप्रतिष्ठकभृङ्गारकलशाः प्रतिगोपुरम् ॥२७५॥
 गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन् सुराः । क्रमात् सालत्रये द्वाःस्था^१ भौम^२ भावनकल्पजाः ॥२७६॥
 ततः खस्फटिकात् सालादानीकान्तं समायताः । भित्तयः षोडशाभ्यन् महावीथ्यन्तराश्रिताः ॥२७७॥
 नभःस्फटिकनिर्माणः प्रसरन्निर्मलस्त्रिधः । सायपीठतटालगता ज्योत्स्नायन्ते स्म भित्तयः ॥२७८॥
 शुचयो दर्शिताशेषवस्तुभिश्चा महोदयाः । भित्तयस्ता जगद्गर्तुरधिविष्टा^३ ह्वायभुः ॥२७९॥
 तासां सुपरि विस्तीर्णा रत्नस्तम्भैः समुद्धतः । विषत्स्फटिकनिर्माणः सखीः श्रीमण्डपोऽभवत् ॥२८०॥
 सत्त्वं श्रीमण्डपः सोऽयं यथासौ परमेश्वरः । नृसुरासुरसाक्षिण्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छिद्यम् ॥२८१॥

(पक्षमें सदाचारी) था ॥२७१॥ अथवा वह कोट बड़े-बड़े विद्याधरोके द्वारा सेवनीय था, ऊँचा था, और अचल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो विजयार्थ पर्वत ही कोटका रूप धारण कर भगवान्की प्रदक्षिणा दे रहा हो ॥२७२॥ उस उत्तम कोटकी चारों दिशाओंमें चार ऊँचे गोपुर-द्वार थे जो पद्मरागमणिके बने हुए थे, और ऐसे मालूम पड़ते थे मानो भव्य जीवोंके अनुरागसे ही बने हों ॥२७३॥ जिस प्रकार पहले कोटोंके गोपुर-द्वारोंपर मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं उसी प्रकार इन गोपुर-द्वारोंपर भी मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ जानना चाहिए । और पहलेकी तरह ही इन गोपुर-द्वारोंके सभापमें भी देदीप्यमान तथा गम्भीर आकारवाली निधियाँ रखी हुई थीं ॥२७४॥ प्रत्येक गोपुर-द्वारपर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक (ठौना), भृङ्गार और कलश ये आठ-आठ मङ्गल द्रव्य रखे हुए थे ॥२७५॥ तीनों कोटोंके गोपुर-द्वारोंपर क्रमसे गदा आदि हाथमें लिये हुए व्यन्तर भवनवासी और कल्पवासी देव द्वारपाल थे । भावार्थ—पहले कोटके दरवाजोंपर व्यन्तर देव पहरा देते थे, दूसरे कोटके दरवाजोंपर भवनवासी पहरा देते थे और तीसरे कोटके दरवाजोंपर कल्पवासी देव पहरा दे रहे थे । ये सभी देव अपने-अपने हाथोंमें गदा आदि हथियारोंको लिये हुए थे ॥२७६॥ तदनन्तर उस आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिके कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी और महावीथियों (बड़े-बड़े रास्तों) के अन्तरालमें आश्रित सोलह दीवालें थीं । भावार्थ—चारों दिशाओंकी चारों महावीथियोंके अगल बगल दोनों ओर आठ दीवालें थीं और दो-दोके हिसाबसे चारों त्रिदिशाओंमें भी आठ दीवालें थीं इस प्रकार सब मिलाकर सोलह दीवालें थीं । ये दीवालें स्फटिक कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी थीं और बारह सभाओंका विभाग कर रही थीं ॥२७७॥ जो आकाशस्फटिकसे बनी हुई हैं, जिनकी निर्मल कान्ति चारों ओर फैल रही है और जो प्रथम पीठके किनारे तक लगी हुई हैं ऐसी वे दीवालें चाँदनीके समान आचरण कर रही थीं ॥२७८॥ वे दीवालें अतिशय पवित्र थी, समस्त वस्तुओंके प्रतिचिम्ब दिखला रही थीं और बड़े भारी ऐदव्यके सहित थीं इसलिए ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो जगत्के भर्ता भगवान् वृषभदेवकी श्रेष्ठ विद्याएँ हों ॥२७९॥ उन दीवालोंके ऊपर रत्नमय खम्भोंसे खड़ा हुआ और आकाशस्फटिकमणिका बना हुआ बहुत बड़ा भारी शोभायुक्त श्रीमण्डप बना हुआ था ॥२८०॥ वह श्रीमण्डप वास्तवमें श्रीमण्डप था क्योंकि वहाँपर परमेश्वर भगवान् वृषभदेवने मनुष्य, देव और धरेणेन्द्रोंके समीप तीनों लोकोंको

यो यभावश्चरस्यान्तं विंशितान्या^१ स्वरोपमः । त्रिजगत्सत्तास्थातमं प्रहावास्तवैभवः^२ ॥२८२॥
 यस्योपरितले मुक्ता गुञ्जकैः^३ कुसुमोत्कराः । विदधुस्तारकाशं कामधोमाजां नृणां हृदि ॥२८३॥
 यत्र सत्तह^४ वदभृंगमंसूयाः कुसुमस्रजः । न म्लानिमोयुजैर्नाग्निच्छायाशीत्याश्रयादिव ॥२८४॥
 नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः । विरलै रंगमद् व्यर्जित यत्र^५ साभ्यादलक्षिता ॥२८५॥
 योजनप्रमिते यस्मिन् सम्ममूर्तसुरासुतः । स्थिताः सुलमसंबाधमहो माहारस्यमीशितुः ॥२८६॥
 यस्मिन्^६ छुक्मिणिप्रान्तमुपेता^७ हंससन्तातिः । गुणसादृश्ययोगेऽपि व्यज्यते^८ स्म विकृजितैः ॥२८७॥
 यद्भित्तयः स्वसंक्रान्तजगरिषतयविम्बिकाः । चित्रिता इव संरेख्युर्जगच्छीदर्पणत्रियः^९ ॥२८८॥
^{१०} यदुत्सर्पप्रमाजालजलस्नपितमूर्तयः । तीर्थावगाहनं^{११} चक्रुरिव देवाः सदानवाः ॥२८९॥

श्री (लक्ष्मी) स्वीकृत की थी ॥२८१॥ तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान दे सकनेके कारण जिसे बड़ा भारी वैभव प्राप्त हुआ है ऐसा वह श्रीमण्डप आकाशके अन्तभागमें ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रतिबिम्बित हुआ दूसरा आकाश ही हो । भावार्थ—उस श्रीमण्डपका ऐसा अतिशय था कि उसमें एक साथ तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान मिल सकता था, और वह अतिशय ऊँचा तथा स्वच्छ था ॥२८२॥ उस श्रीमण्डपके ऊपर यक्षदेवोंके द्वारा छोड़े हुए फूलोंके समूह नीचे बैठे हुए मनुष्योंके हृदयमें ताराओंकी शंका कर रहे थे ॥२८३॥ उस श्रीमण्डपमें मद्योन्मत्त शब्द करते हुए भ्रमरोंके द्वारा सूचित होनेवाली फूलोंकी मालाएँ मानो जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंकी छायाकी शीतलताके आश्रयसे ही कभी म्लानताको प्राप्त नहीं होती थी—कभी नहीं मुरझाती थी । भावार्थ—उस श्रीमण्डपमें स्फटिकमणिकी दीवारोंपर जो सफेद फूलोंकी मालाएँ लटक रही थीं वे रंगकी समानताके कारण अलगसे पहचानमें नहीं आती थीं परन्तु उनपर शब्द करते हुए जो काले-काले मद्योन्मत्त भ्रमर बैठे हुए थे उनसे ही उनकी पहचान होती थी । वे मालाएँ सदा हरी-भरी रहती थी—कभी मुरझाती नहीं थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्के चरण-कमलोंकी शीतल छायाका आश्रय पाकर ही नहीं मुरझाती हों ॥२८४॥ उस श्रीमण्डपमें नील कमलोंके उपहारोंपर बैठी हुई भ्रमरोंकी पंक्ति रंगकी सदृशताके कारण अलगसे दिखाई नहीं देती थी केवल गुंजारशब्दोंसे प्रकट हो रही थी ॥२८५॥ अहा, जिनेन्द्र भगवान्का यह कैसा अद्भुत माहात्म्य था कि केवल एक योजन लम्बे-चौड़े उस श्रीमण्डपमें समस्त मनुष्य, सुर और असुर एक-दूसरेको बाधेष्टन देते हुए सुखसे बैठ सकते थे ॥२८६॥ उस श्रीमण्डपमें स्वच्छ मणियोंके समीप आया हुआ हंसोंका समूह यद्यपि उन मणियोंके समान रंगवाला ही था—उन्हींके प्रकाशमें छिप गया था तथापि वह अपने मधुर शब्दोंसे प्रकट हो रहा था ॥२८७॥ जिनकी शोभा जगत्को लक्ष्मीके दर्पणके समान है ऐसी श्रीमण्डपकी उन दीवारोंमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उन प्रतिबिम्बोंसे वे दीवारें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उनमें अनेक प्रकारके चित्र ही खींचे गये हों ॥२८८॥ उस श्रीमण्डपकी फैलती हुई कान्तिके समुदायरूपी जलसे जिनके शरीर नहलाये जा रहे हैं ऐसे देव और दानव ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी तीर्थमें स्नान ही कर रहे हों ॥२८९॥

१. स्यान्ते ल०, द०, इ० । २. अपरव्योमसदृशः । ३. विभुत्वम् । ४. देवैः । ५. ध्वनत् । ६. रवैः ।

७. वर्णसादृश्यात् । ८. पीठसहितकयोजनप्रमाणे । ९. स्फटिकरत्नप्रान्तम् । १०. प्राप्ताः । ११. शुभ्रगुणसाम्य ।

१२. प्रकटोक्तिपते स्म । १३. मुकुरशोभा । १४. लक्ष्मीमण्डप । १५. मञ्जनम् ।

तद्गुह्यक्षेत्रं मध्यस्था प्रथमा पीठिका बभौ । वैदूर्यरत्ननिर्माणा कुलाद्रिशिखरायिता ॥२९०॥
 तत्र षोडशलोपानसार्गाः स्थुः षोडशान्तराः^१ । महादिश्वु सभाकोष्ठप्रवेशेषु च विस्तृताः ॥२९१॥
 तां पीठिकामलंचक्रमङ्गलमपदः । धर्मचक्राणि चोदाति प्राञ्जु^२भिर्यक्षमूर्धभिः ॥२९२॥
 सहस्राराणि तान्युद्यद्वानरस्मानि रेजिरे । भानुविम्बानिवांशन्ति पीठिकोदयपर्वतात् ॥२९३॥
 द्वितीयसंभवत् पीठं तस्योपरि हिरण्यमयम् । दिवाकरकरस्पर्धिवगुरुषोसिताम्बरम् ॥२९४॥
 तस्योपरितले रेजुर्दिश्वप्टासु महाध्वजाः । लोकपाला इवोत्तङ्गाः सुरेशामभिसम्भताः ॥२९५॥
 चक्रेमयूषमाभोजवस्त्रसिंहगरुडमताम् । मातृवस्य च ध्वजा रेजुः सिद्धाष्टगुणनिर्मलाः ॥२९६॥
 नूनं पापपरागस्य सम्मार्जनमिव ध्वजाः । कुर्वन्ति स्म महद्भूतस्फुरदंशुकजृम्भितैः ॥२९७॥
 तस्योपरि स्फुरद्गहनरोषिध्वस्ततमस्तति । तृतीयसंभवत् पीठं सर्वरत्नमयं पृथु ॥२९८॥
 त्रिमल्लमदः पीठं परादूर्ध्यमणिनिर्मितम् । बभौ मेरुरिवोपास्यै मतुस्तादृष्यमाधितः ॥२९९॥
 स चक्रश्चक्रवर्तीव सध्वजाः सुरदन्तिवत् । भर्ममूर्तिर्महामेरुविव पीठादिरुद्धमौ ॥३००॥
 पुष्पप्रकरमाग्राहुं निर्लिना यत्र षट्पदाः । हेमच्छायासमाक्रान्ताः^३ सौवर्णा इव रेजिरे ॥३०१॥

उसी श्रीमण्डपसे थिरे क्षेत्रके मध्यभागमें स्थित पहली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैदूर्यमणिकी बनी हुई थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कुलाचलका शिखर ही हो ॥२९०॥ उस पीठिकापर सोलह जगह अन्तर देकर सोलह जगह ही बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । चार जगह तो चार गह्वरद्वाराओं (अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें चार महावीथियोंके सामने थीं और चारह जगह सभाके कोठोंके प्रत्येक प्रवेशद्वार पर थीं ॥२९१॥ उस पीठिकाको अष्ट मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ और यक्षोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंपर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत कर रहे थे ॥२९२॥ जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे हजार-हजार आराओंवाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचलसे उदय होते हुए सूर्यके बिम्ब ही हों ॥२९३॥ उस प्रथम पीठिकापर सुवर्णका बना हुआ दूसरा पीठ था, जो सूर्यकी किरणोंके साथ स्पर्धा कर रहा था और आकाशको प्रकाशमान बना रहा था ॥२९४॥ उस दूसरे पीठके ऊपर आठ दिशाओंमें आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं, जो बहुत ऊँची थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इन्द्रोंकी स्वीकृत आठ लोकपाल ही हों ॥२९५॥ चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और मालाके चिह्नसे सहित तथा सिद्ध भगवान्के आठ गुणोंके समान निर्मल वे ध्वजाएँ बहुत अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥२९६॥ वायुसे हिलते हुए देदीप्यमान वस्त्रोंकी फटकारसे वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो पापरूपी धूलिका सम्मार्जन ही कर रही हों अर्थात् पापरूपी धूलिको झाड़ ही रही हों ॥२९७॥ उस दूसरे पीठपर तीसरा पीठ था जो कि सय प्रकारके रत्नोंसे बना हुआ था, बड़ा भारी था और चमकते हुए रत्नोंकी किरणोंसे अन्धकारके समूहको नष्ट कर रहा था ॥२९८॥ वह पीठ तीन कटनियोंसे युक्त था तथा श्रेष्ठ रत्नोंसे बना हुआ था इसलिए ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उस पीठका रूप धरकर सुमेरु पर्वत ही भगवान्को उपासना करनेके लिए आया हो ॥२९९॥ वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित था इसलिए चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था, ध्वजासहित था इसलिए ऐरावत हाथीके समान मालूम होता था और सुवर्णका बना हुआ था इसलिए महामेरुके समान सुशोभित हो रहा था ॥३००॥ पुष्पोंके समूहको सूँघनेके लिए जो भ्रमर उस पीठपर बैठे हुए थे उनपर सुवर्णकी छाया पड़ रही

१. तल्लक्ष्मीमण्डपावरुद्धक्षेत्रमध्ये स्थिता । २. षोडशान्तराः ल०, ट० । षोडशच्छायाः । ३. उन्नतैः ।

४. जृम्भणः । ५. सुवर्णमयाः ।

अधरोक्तमिःशेषमवनं आसुरयति । जिनस्यैव वपुर्माति यत् स्म देवासुराचितम् ॥३०२॥
ज्योतिर्गणपरीतरत्वात् सर्वोत्तरं तथापि तत् । ^१न्यक्चकार भ्रियं मेरोर्धार्याच्च जगद्गुरोः ॥३०३॥
ईदृक्त्रिमेखलं पीठमस्योपरि जिनाधिपः । शिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥३०४॥
नभा स्फटिकसालस्य मध्यं योजनसन्निभम् । ^२ध्वजप्रस्थं ^३सुवर्णं ^४ध्वजस्तूपायनेरपि ॥३०५॥
प्रत्येकं योजनं ज्ञेयं धूलोसालाच्च ^५लातिका । गत्वा योजनमकं स्थाज्जिनदेशितविस्तृतिः ॥३०६॥
नभःस्फटिकसालासु स्यादाराद् ^६वनवेदिका । योजनार्धं तृतीयाच्च सालात् पीठं तदर्धगम् ^७॥३०७॥
कोमार्धं ^८पीठमूर्ध्नेः ^९स्याद् विष्कम्भो ^{१०} ^{११}मेखलेऽपरं । प्रत्येकं धनुषां सन्ने स्यातामर्धालम् ^{१२} शतम् ॥३०८॥
कोशं रुद्धा महावीर्यो भित्तयः स्वेच्छित्तेर्मिताः । रौम्येणाष्टमभागेन ^{१३}प्राक्भिर्गीता तदुच्छ्रितः ^{१४} ॥३०९॥

थी जिससे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सुवर्णके ही बने हों ॥३०१॥ जिसने समस्त लोकको नीचा कर दिया है, जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान है और जो देव तथा धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित है ऐसा वह पीठ जिनेन्द्र भगवान्के शरीरके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्के शरीरने भी समस्त लोकोंको नीचा कर दिया था, उसकी कान्ति भी अतिशय देदीप्यमान थी, और वह भी देव तथा धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित था ॥३०२॥ अथवा वह पीठ सुमेरु पर्वतकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ज्योतिर्गण अर्थात् ज्योतिषी देवोंके समूहसे घिरा हुआ है उसी प्रकार वह पीठ भी ज्योतिर्गण अर्थात् किरणोंके समूहसे घिरा हुआ था, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सर्वोत्तर अर्थात् सब क्षेत्रोंसे उत्तर दिशामें है उसी प्रकार वह पीठ भी सर्वोत्तर अर्थात् सबसे उत्कृष्ट था, और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत (जन्माभिषेकके समय) जगद्गुरु जिनेन्द्र भगवान्को धारण करता है उसी प्रकार वह पीठ भी (समयसरण भूमिमें) जिनेन्द्र भगवान्को धारण कर रहा था ॥३०३॥ इस प्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसके ऊपर विराजमान हुए जिनेन्द्र भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि तीन लोकके शिखरपर विराजमान हुए सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं ॥३०४॥ आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणियोंसे बने हुए तीसरे कोटके भीतरका विस्तार एक योजन प्रमाण था, इसी प्रकार तीनों वन (लतावन, अशोक आदिके वन और कल्पवृक्ष वन) तथा ध्वजाओंसे रुकी हुई भूमिका विस्तार भी एक-एक योजन प्रमाण था और परिष्ठा भी धूलोसालसे एक योजन चल कर थी, यह सब विस्तार जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है ॥३०५-३०६॥ आकाशस्फटिकमणियोंसे बने हुए कोटसे कल्पवृक्षोंके वनकी वेदिका आधा योजन दूर थी और उसी सालसे प्रथमपीठ पाव योजन दूरीपर था ॥३०७॥ पहले पीठके मस्तकका विस्तार आधे कोशका था, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पीठकी मेखलाएँ भी प्रत्येक साढ़ेसात सौ धनुष चौड़ी थीं ॥३०८॥ महावीर्यियों अर्थात् गोपुरद्वारोंके सामनेके बड़े-बड़े रास्ते एक-एक कोश चौड़े थे और सोलह दीवालें अपनी ऊँचाईसे आठवें भाग चौड़ी

१. तैजोराशि, पक्षे ज्योतिष्कसमूहः । २. सर्वोत्कृष्टतया, पक्षे सर्वोत्तरदिक्स्थतया । ३. अधःकरोति स्म । ४. आकाशस्फटिकसालवलयाभ्यन्तरवर्तिप्रवेशः । पीठसहितः सर्वोऽप्येकयोजनमित्यर्थः । ५. वल्लीवना-शोकाद्युपवमकल्पवृक्षवनमिति वनत्रयस्य । ६. ध्वजभूमेरपि प्रत्येकमेकयोजनप्रमाणं स्यात् । ७. धूलोसाला-दारम्य लातिकापर्यन्तमेकयोजनमित्यर्थः । ८. पद्माद्भागे । पुनराकाशस्फटिकसालादन्तः । ९. तद्वयोजन-स्थार्द्धकोशं गत्वा प्रथमपीठं भवतीति भावः । १०. दण्डसहस्रम् । ११. तृतीयपीठस्य । १२. विशालः । १३. प्रथमद्वितीयमेखले । १४. पञ्चाशदधिकसप्तशतम्, चापप्रमितरुद्धे स्याताम् । १५. सिद्धार्थचैत्यवृक्षादिना निविष्टता । १६. तद्भितीनामुन्नतिः ।

अष्टदशोच्छ्रिता जेषा अगती^१ पीठमादिस्मृ । द्वितीयं च तदर्धेन^२ मितोच्छ्रयं विदुर्बुधाः ॥२१॥

सावदुष्कृतमनस्य च पीठं सिंहासनोन्नतिः । धनुरेकमिहाग्नार्तं धर्मचक्रस्य चोच्छ्रितः ॥२११॥

इत्युक्तेन विमारेण जिमर्यास्थयिका स्थिता । तन्मध्ये ^३ तदवस्थानमितः ^४ शृणुत मन्धुष्यात् ॥३१२॥

शार्दूलसायिकीखितम्

इत्युच्चैर्गणनायके निगदति व्यक्तं जिनास्थायिकां

प्रज्यस्यैमंधुरैवोमिरुषितैस्तरुणां सज्जोषिमिः ।

^५ दुःखान्तःकरणो विकासि वदनं यन्ने नृपः श्रेणिकः

प्रोतः प्रातरिवाब्जिनोषनचयः प्रोत्सीकितं पङ्कजम् ॥३१॥

सभ्याः सभ्यतसामसभ्यं कमतश्चान्तश्चिदं भारती

श्रुत्वा तामपवाक्यसला^१ गन्धभृतः श्रीगौतमस्वामिनः ।

सद्व्यं योगिमिरागमन्^{१०} जिनपतौ प्रीतिं हृदयलोचनः

मोक्षकलाः कमलाकरा इव रज्ज्वासाथ दीप्तिभिरम् ॥३१४॥

मालिनी चट्टोपाध्याय

स जयति जिननाथो महाः श्रीगणेशाय नमः

^{५१} वित्ततानिपुरुदभामदभुतश्रीमहेन्द्रः ।

थी। उन दीवालोंने ऊँचाईका वर्णन पहले कर चुके हैं—तीर्थंकरोंके शरीरकी ऊँचाईसे बारह-गुनी ॥३०९॥ प्रथम पीठरूप जगती आठ धनुष ऊँची जाननी चाहिए और बिद्वान् लोग द्वितीय पीठको उससे आधा अर्थात् चार धनुष ऊँचा जानते हैं ॥३१०॥ इसी प्रकार तीसरा पीठ भी चार धनुष ऊँचा था, तथा सिंहासन और धर्मचक्रकी ऊँचाई एक धनुष मानी गयी है ॥३११॥ इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार जिनेन्द्र भगवान्की समयसरण सभा बनी हुई थी। अब उसके बीचमें जो जिनेन्द्र भगवान्के विराजमान होनेका स्थान अर्थात् गन्धकुटी बनी हुई थी उसका वर्णन भी मेरे मुखसे सुनो ॥३१२॥

इस प्रकार जब गणनाथक गौतम स्वामीने अतिशय स्पष्ट, मधुर, योग्य और तत्त्वार्थके स्वरूपका बोध करानेवाले वचनोंसे जिनेन्द्र भगवान्‌की समवसरण-सभाका वर्णन किया तब जिस प्रकार प्रातःकालके समय कमलिनियोंका समूह प्रफुल्लित कमलोंको धारण करता है उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण प्रबोधको प्राप्त हुआ है ऐसे श्रेणिक राजाने अपने प्रफुल्लित मुखको धारण किया था अर्थात् गौतम स्वामीके वचन सुनकर राजा श्रेणिकका मुखरूपी कमल हर्षसे प्रफुल्लित हो गया था ॥३१३॥ मिध्यावृष्टियोंके मिध्यामतरूपी अन्धकारको नष्ट करने-वाली, अतिशय योग्य और वचनसम्बन्धी दोषोंसे रहित गणधर गौतम स्वामीकी उस वाणीको सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग मुनियोंके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान्‌में परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे, उस समय उन सभी सभासदोंके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्यकी किरणरूपी लक्ष्मीका आश्रय पाकर फूले हुए कमलोंके समूह ही हों ॥३१४॥ जिनके केवलज्ञानकी उत्तम पूजा करनेका अभिलाषी तथा अद्भुत विभूतिको

१. प्रथमपीठकपां जगती । २. चतुर्दशेन । ३. जिनस्यावस्थानम् । ४. इतः परम् । ५. प्रबुद्ध ।

६. सभायोग्याः । ७. प्रशस्ततमाम् । ८. असतां सिध्याद्वां कुमत । ९. अपगतवचनबोधाम् । १०. आ समन्तात् प्राप्तवन्तः । ११. वितनितुमिच्छुः ।

समवसरनिकायैरेव दूरात् प्रणमः

समवसरस्थभूमिं विप्रिये प्रेक्षमाणः ॥३१५॥

किमयममरसर्गः किं नु जैनानुभावः

किमुत नियतिरेवा किं स्वदैवः प्रभावः ।

इति विततवितर्कैः कौतुकाद् वीक्ष्यमाणा

जयति सुरसमाजैर्मर्तुरास्थानभूमिः ॥३१६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिवष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भगवत्समवसरणवर्णनं नाम द्वाविंशं पर्व ॥२२॥

धारण करनेवाला इन्द्र चारों निकायोंके देवोंके साथ आकर दूरसे ही नम्रीभूत हुआ था और समवसरण भूमिको देखता हुआ अतिशय प्रसन्न हुआ था ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव सदा जययन्त रहें ॥३१५॥ क्या यह देवलोककी नयी सृष्टि है ? अथवा यह जिनेन्द्र भगवान्का प्रभाव है, अथवा ऐसा नियोग ही है, अथवा यह इन्द्रका ही प्रभाव है । इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्क करते हुए देवोंके समूह जिसे बड़े कौतुकके साथ देखते थे ऐसी वह भगवान्को समवसरण भूमि सदा जययन्त रहे ॥३१६॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिवष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें
समवसरणका वर्णन करनेवाला बाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२२॥

त्रयोविंशं पर्व

अथ त्रिमंखलस्यास्य मूर्ध्नि पीठस्य विस्तृते । स्फुरन्मणिविभाजाकरचितामरकाभुके ॥१॥
सुरेन्द्रकरचिक्षिप्तपुष्पप्रकरशोभिनि ।^१ हसतीव घनपाथस्फुटत्तारकमम्बरम् ॥२॥
चलन्वामरसंघातप्रतिविम्बनिभागतैः^३ । हंसैरेव सरोजुद्धया सेव्यमानतटे^४ पृथौ ॥३॥
मातंगमण्डलच्छायाप्रस्पर्धिनि महद्विके । स्वर्भुजाफेननीकाशैः स्फटिकैर्वदिते यवक्षिम् ॥४॥
पद्मरागसमुत्सपन्नमूर्खैः कचिदास्तृतैः^५ । जिमपादतलच्छायाशोणिम्ने^६ वानुरजिते ॥५॥
शुचीं स्निग्धे सृदुस्पर्शे जिमाङ्गिस्तर्षपावने । पर्यन्तरचित्तानेकमङ्गकद्रव्यसंपदि ॥६॥
तत्र गन्धकुटीं^७ पृथ्वीं सुज्जशाक्षोपशोभिनीम् । रसाद्निवेशयामास स्वर्धिमानातिशायिनीम् ॥७॥
त्रिमंखलाङ्किते पीठे सैषा गन्धकुटी बभौ । नन्दनादि^८ वनध्रेणीप्रवाद्^९ वोपरि चूलिका ॥८॥
यथा सर्वार्थसिद्धिर्वा स्थिता त्रिदिग्मूर्धनि । तथा गन्धकुटी दीप्रा^{१०} पीठस्याधितलं^{११} बभौ ॥९॥
नानारत्नप्रभोरत्नैर्व्यासकृतेस्ततमम्बरम् । सच्चित्रमिव भाति स्म सेन्द्रवर्णमिवाधवा ॥१०॥

अथानन्तर-जो देदीप्यमान मणियोंकी कान्तिके समूहसे अनेक इन्द्रधनुषोंकी रचना कर रहा है, जो स्वयं इन्द्रके हाथोंसे फैलाये हुए पुष्पोंके समूहसे सुशोभित हो रहा था और उससे जो ऐसा जान पड़ता है मानो मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिसमें तारागण चमक रहे हैं ऐसे शरद्वृक्षतुके आकाशकी ओर हंस ही रहा हो; जिसपर दुरते हुए चमरोंके समूहसे प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उनसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बड़े भारी तलभागकी सेवा कर रहे हों; जो अपनी कान्तिसे सूर्यमण्डलके साथ स्पर्द्धा कर रहा था; बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त था, और कहीं-कहींपर आकाश-गंगाके फेनके समान स्फटिकमणियोंसे जड़ा हुआ था; जो कहीं-कहींपर पद्मरागकी फैलती हुई किरणोंसे व्याप्त हो रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्के चरणतलकी छाल-छाल कान्तिसे ही अनुरक्त हो रहा हो; जो अतिशय पवित्र था, चिकना था, कोमल स्पर्शसे सहित था, जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र था और जिसके समीपमें अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं ऐसे उस तीन कटनीदार तीसरे पीठके विस्तृत मस्तक अर्थात् अग्रभाग-पर कुबेरने गन्धकुटी बनायी । वह गन्धकुटी बहुत ही विस्तृत थी, ऊँचे कोटसे शोभायमान थी और अपनी शोभासे स्वर्गके विमानोंका भी छल्लंघन कर रही थी ॥१-७॥ तीन कटनियोंसे चिह्नित पीठपर यह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन इन तीन वनोंके ऊपर सुमेरु पर्वतकी चूलिका ही सुशोभित हो रही हो ॥८॥ अथवा जिस प्रकार स्वर्गलोकके ऊपर स्थित हुई सर्वार्थसिद्धि सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पीठके ऊपर स्थित हुई यह अतिशय देदीप्यमान गन्धकुटी सुशोभित हो रही थी ॥९॥ अनेक प्रकारके रत्नोंकी कान्तिको फैलानेवाले उस गन्धकुटीके शिखरोंसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो अनेक चित्रोंसे सहित ही हो रहा हो अथवा इन्द्रधनुषोंसे युक्त ही

१. हसतीति हसन् तस्मिन् । २. -स्फुरत्तारक -ल०, म० । ३. व्याजादागतैः । ४. -तले ल०, इ०, द०, स०, म०, अ०, प० । ५. आतते । ६. अरुणत्वेन । ७. पीवराम् । ८. घनदः । ९. नन्दनसौमनसपाण्डुक-वनध्रेणिप्रवात् । १०. इव । ११. दोप्ता प०, द०, ल० । १२. उपरि तले ।

मोक्षार्थैः शिखरैर्बद्धजयकेतनकोटिभिः । भुजशालाः प्रसार्येव भमोगानाशुहवत् ॥११॥
 त्रिभिस्तलैरुपेताया भुवनत्रितयत्रियः । प्रतिसेव बभौ स्वोमसरोमध्येऽम्बुविम्बता ॥१२॥
 स्थूलैर्मुक्तामयैर्जालैर्लम्बमानैः समन्ततः । महाविधिमिरिवानीतैर्योपायनशतैरभात् ॥१३॥
 हैमैर्जालैः क्वचित् स्थूलैरायतैर्या विद्रिष्टते । कक्षाक्षिपोद्भवैर्दीप्तैः प्रारोहैरिव लम्बितैः ॥१४॥
 रत्नाभरणमालामिर्लम्बिताभिरितोऽमुतः । या बभौ स्वर्गलक्ष्म्येव प्रहितोपायनविमिः ॥१५॥
 जगिमराकृष्टगन्धान्धमाचनमधुपकोटिभिः । जिनेन्द्रमिव सुदुधुरमाद् या सुखरीकृता ॥१६॥
 स्तुतस्तुरेन्द्रसंघैर्गन्धपदस्तवस्वभैः । सरस्वतीव नाति स्म या विभुः स्तोनुमुद्यता ॥१७॥
 रत्नालंकैर्विसर्पैर्त्रिर्वा कृताङ्गी ध्वराजत । जिनेन्द्राङ्गप्रमालक्ष्म्या चटितेव महाद्युतिः ॥१८॥
 या प्रोत्सर्पद्विराहूतमदालिकुलसंकुलैः । धूपैर्विशामिवायामं प्रमिरैरुत्ततधूमकैः ॥१९॥
 गन्धैर्गन्धमयीवासीत् सृष्टिः पुष्पमयीव च । पुष्पैर्धूपमयीवाभाद् धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥२०॥
 सुगन्धिधूपनिःश्वासा सुमनोमालमारिणी । नानाभरणदीप्ताङ्गी या बभूविव दिद्युते ॥२१॥

हो रहा हो ॥ १० ॥ जिनपर करोड़ों विजयपताकाएँ बँधी हुई हैं ऐसे ऊँचे शिखरोंसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने हाथोंको फैलाकर देख और विद्याधरोंको ही बुला रही हो ॥११॥ तीनों पीठोंसहित वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशरूपी सरोवरके मध्यभागमें जलमें प्रतिबिम्बित हुई तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी प्रतिमा ही हो ॥१२॥ चारों ओर लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियोंकी झालरसे वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बड़े-बड़े समुद्रोंने उसे मोतियोंके सैकड़ों उपहार ही समर्पित किये हों ॥१३॥ कहीं-कहींपर वह गन्धकुटी सुवर्णकी बनी हुई मोटी और लम्बी जालीसे ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले लटकते हुए देदीप्यमान अंकुरोंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥१४॥ जो स्वर्गकी लक्ष्मीके द्वारा भेजे हुए उपहारोंके समान जान पड़ती थी ऐसी चारों ओर लटकती हुई रत्नमय आभरणोंकी मालासे वह गन्धकुटी बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥१५॥ वह गन्धकुटी पुष्पमालाओंसे गिंचकर आये हुए गन्धसे अन्वे करोड़ों मदनोन्मत्त भ्रमरोंसे शब्दायमान हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति ही करना चाहती हो ॥१६॥ स्तुति करते हुए इन्द्रके द्वारा रचे हुए गद्य-वद्यरूप स्तोत्रोंके शब्दोंसे शब्दायमान हुई वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् का स्तवन करनेके लिए उद्यत हुई सरस्वती हो ॥१७॥ चारों ओर फैलते हुए रत्नोंके प्रकाशसे जिसके समस्त अंग ढके हुए हैं ऐसी वह देदीप्यमान गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान् के शरीरकी लक्ष्मीसे ही बनी हो ॥१८॥ जो अपनी सुगन्धिसे बुलाये हुए मदनोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त हो रहा है और जिसका धुआँ चारों ओर फैल रहा है ऐसी सुगन्धित धूपसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो दिशाओंकी लम्बाई ही नापना चाहती हो ॥१९॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सुगन्धिसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो सुगन्धिसे ही बनी हो, सब दिशाओंमें फैले हुए फूलोंसे ऐसी मालूम होती थी मानो फूलोंसे ही बनी हो और सब दिशाओंमें फैलते हुए धूपसे ऐसी प्रतिभासित हो रही थी मानो धूपसे ही बनी हो ॥२०॥ अथवा वह गन्धकुटी स्त्रीके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्रीका निश्वास सुगन्धित होता है उसी प्रकार उस गन्धकुटीमें जो धूपसे सुगन्धित वायु बह रहा था वही उसके सुगन्धित निश्वासके समान था । स्त्री जिस प्रकार

१. आह्वयन्ति स्म । २. आकाशसरोवरजलमध्ये । ३. दामभिरित्यर्थः । ४. दीप्तः ल०, प०, द० ।
 ५. शिखाभिः । ६. प्रेषित । ७. स्तोनुमिच्छुः । ८. रचित । ९. प्रमानुमिच्छुः ।

धूपगन्धैर्जिनेन्द्राङ्गसौगन्ध्यबहुलीकृतैः । सुरभीकृतविश्वाभ्यां^१ याधाद् गन्धकुटीभ्रुतिम्^२ ॥२२॥

गन्धानामिव या सृतिर्नासां^३ येषाधिदेवता । सोभानां^४ प्रसवदमेव या लक्ष्मीमधिक्यं वृधे ॥२३॥

धनुषां पटशतीमेवा^५ विस्तीर्णा यावदायता । विष्कम्भात्^६ सम्धिकोपद्राया मानोन्मानप्रमान्विता ॥२४॥

विद्युन्मालावृत्तम्

तस्या मध्ये सैह पीठं नानास्वभावाकीर्णम् । मेरोः शुक्लं न्यक्कुर्वाणं^७ चक्रे शक्रादेशाद्^८ विसेदु^९ ॥२५॥

मानुदेपि^{१०} श्रीमद्वैमं शुक्लं मकर्या जिष्णुं^{११} मरुतुम्^{१२} । मेरुः शुक्लं^{१३} एवं वा^{१४} निन्ये पीठव्याजाद् दीप्तं^{१५} भासा

समानिकावृत्तम्

यत्प्रसवधं शुद्धदिक्मुखं महर्द्धिभासि । चादरनसारमूर्तिं भासते स्म नेत्रहारि ॥२७॥

पृथुप्रदीप्तदेहकं स्फुरत्प्रमाप्रतानकम् । पराध्वरक्षमासुरं सुराद्रिहासि^{१६} यद् बभौ ॥२८॥

फूलोंकी माला धारण करती है उसी प्रकार वह गन्धकुटी भी जगह-जगह मालाएँ धारण कर रही थी, और स्त्रीके अंग जिस प्रकार नाना आभरणोंसे देदीप्यमान होते हैं उसी प्रकार उस गन्धकुटीके अंग (प्रदेश) भी नाना आभरणोंसे देदीप्यमान हो रहे थे ॥२१॥ भगवान्‌के शरीरकी सुगन्धिसे बढ़ी हुई धूपकी सुगन्धिसे उसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं इसलिए ही वह गन्धकुटी इस सार्थक नामको धारण कर रही थी ॥२२॥ अथवा वह गन्धकुटी ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो सुगन्धिको उत्पन्न करनेवाली ही हो, कान्तिकी अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी ही हो और शोभाओंको उत्पन्न करनेवाली भूमि ही हो ॥२३॥ वह गन्धकुटी लक्ष सौ धनुष चौड़ी थी, उतनी ही लम्बी थी और चौड़ाईमें कुछ अधिक ऊँची थी इस प्रकार वह मान और उन्मानके प्रमाणसे सहित थी ॥२४॥ उस गन्धकुटीके मध्यमें धनपतिने एक सिंहासन बनाया था जो कि अनेक प्रकारके रत्नोंके समूहसे जड़ा हुआ था और मेरु पर्वतके शिखरको तिरस्कृत कर रहा था ॥२५॥ वह सिंहासन सुवर्णका बना हुआ था, ऊँचा था, अतिशय शोभायुक्त था और अपनी कान्तिसे सूर्यको भी लज्जित कर रहा था तथा ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की सेवा करनेके लिए सिंहासनके बहानेसे सुमेरु पर्वत ही अपने कान्तिसे देदीप्यमान शिखरको ले आया हो ॥२६॥ जिससे निकलती हुई किरणोंसे समस्त दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं, जो बड़े भारी ऐश्वर्यसे प्रकाशमान हो रहा था, जिसका आकार लगे हुए सुन्दर रत्नोंसे अतिशय श्रेष्ठ था और जो नेत्रोंको हरण करनेवाला था ऐसा वह सिंहासन बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥२७॥ जिसका आकार बहुत बड़ा और देदीप्यमान था, जिससे कान्तिका समूह निकल रहा था, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे प्रकाशमान था और जो अपनी शोभासे मेरु पर्वतकी भी हँसी करता था ऐसा वह सिंहासन बहुत अधिक सुशोभित हो रहा था ॥२८॥

१. विश्वाशा ल०, म० । विश्व अगत् : अर्ध्याम् अर्धादिनपेताम् । २. संज्ञाम् । ३. कान्तीनाम् । ४. गन्धकुटी । ५. उत्पत्ति । ६. सैवा ल०, म० । ७. विष्कम्भा किञ्चिदधिकोत्सेधा । ८. गन्धकुट्याः । ९. अधःकुर्वाणम् । १०. शासनात् । ११. धनदः । १२. भानुं ह्येपयति लज्जयति । १३. सर्वज्ञम् । १४. भजनाय । १५. आत्मीयम् । १६. इव । १७. दीप्तं ल०, म० । १८. सुराद्रि हसतीत्येवं शीलम् ।

अनुष्टुप्

विष्टरं तदलं चक्रे भगवानादितीर्थकृत् । चतुर्मिरङ्गुलैः स्वेन महिम्ना स्पृष्टतत्तकः ॥२९॥
तन्नासीनं तमिन्द्राधाः परिचेहं महेज्यया । पुष्पवृष्टिं प्रवर्षन्तो नभोमार्गाद् घना इव ॥३०॥
अपत्ताकौसुमी वृष्टिः प्रोर्णुवानां नभोऽङ्गणम् । दृष्टिमालेव मत्ताकिमाका वाचाकिता नृणाम् ॥३१॥
द्विषद्भ्यो^१ जलभूमागमामुक्ता^२ सुरधारिदैः । पुष्पवृष्टिः पतन्ती सा न्यधाक्खिन्नं रजस्ततम्^३ ॥३२॥

चित्रपदावृत्तम्

वृष्टिरसौ कुसुमानां तुष्टिकरी प्रमदानाम्^४ । दृष्टितरीरमुकृत्य खटुरपप्तदुपान्ते ॥३३॥
षट्पदवृन्दविकीर्णैः पुष्परजोमिरुपेता । वृष्टिरमर्षविस्तृष्टा सौमनसी^५ हरुचेऽसौ ॥३४॥
शीतलैर्वारिमिर्गाङ्गाद्रिता कौसुमी वृष्टिः । षडभेदैराकुकापन्तत् पङ्कुरमे ततामोदा ॥३५॥

भुजगशशिभृतावृत्तम्

सरकतहरितैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः । मरुतुपविधुताः शाखादिचरमधृत महाशोकः ॥३६॥
मदकलविरुतैर्भृङ्गैरपि परपुष्टविहङ्गीः । स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितत्रिषकुरुते स्म ॥३७॥

प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव उस सिंहासनको अलंकृत कर रहे थे । वे भगवान् अपने माहात्म्यसे उस सिंहासनके तलसे चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे उन्होंने उस सिंहासनके तलभागको छुआ ही नहीं था ॥२९॥ उसी सिंहासनपर विराजमान हुए भगवान्की इन्द्र आदि देव बड़ी-बड़ी पूजाओं-द्वारा परिधियाँ कर रहे थे और मेघोंकी तरह आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥३०॥ मदनमत्त भमरोंके समूहसे शब्दायमान तथा आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करती हुई पुष्पोंकी वर्षा ऐसी पड़ रही थी मानो मनुष्योंके नेत्रोंकी माला ही हो ॥३१॥ देवरूपी बादलों-द्वारा छोड़ी जाकर पड़ती हुई पुष्पोंकी वर्षाने बारह योजन तकके भूभागको पराग (धूलि) से व्याप्त कर दिया था, यह एक भारी आश्चर्यकी बात थी । भावार्थ—यहाँ पहले विरोध मालूम होता है क्योंकि वर्षासे तो धूलि शान्त होती है न कि बढ़ती है परन्तु जब इस बातपर ध्यान दिया जाता है कि वह पुष्पोंकी वर्षा थी और उसने भूभागको पराग अर्थात् पुष्पोंके भीतर रहनेवाले केशरके छोटे-छोटे कणोंसे व्याप्त कर दिया था तब वह विरोध दूर हो जाता है यह विरोधाभास अलंकार कहलाता है ॥३२॥ स्त्रियोंको सन्तुष्ट करनेवाली वह फूलोंकी वर्षा भगवान्के समीपमें पड़ रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियोंके नेत्रोंकी सन्तति ही भगवान्के समीप पड़ रही हो ॥३३॥ भमरोंके समूहोंके द्वारा फैलाये हुए फूलोंके परागसे सहित तथा देवोंके द्वारा बरसायी वह पुष्पोंकी वर्षा बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥३४॥ जो गंगा नदीके शीतल जलसे भीगी हुई है, जो अनेक भमरोंसे व्याप्त है और जिसकी सुगन्धि चारों ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पोंकी वर्षा भगवान्के आगे पड़ रही थी ॥३५॥

भगवान्के समीप ही एक अशोक वृक्ष था जो कि सरकतमणिके बने हुए हरे-हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-विचित्र फूलोंसे सहित था तथा मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई शाखाओं-को धारण कर रहा था ॥३६॥ वह अशोकवृक्ष मद्से मधुर शब्द करते हुए भमरों और कीथलोंसे समस्त दिशाओंको शब्दायमान कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो

१. परिधियाँ चक्रिरे, सेवां चक्रुरित्यर्थः । २. आच्छादयन्ती । ३. द्वादशयोजनप्रमितभूभागं व्याप्य ।

४. आ समन्तान्मुक्ता । ५. विस्तृतम् । ६. स्त्रीणाम् । ७. सुमनसां कुसुमानां संबन्धिनी ।

रुक्मवतीवृत्तम्

ध्यायतशाखादोदयलम्बैः रत्नैर्नृत्यमथासौ कर्तुमिवाग्रे ।

पुष्पसमूहैरञ्जलिमिदं भर्तुरकार्षाद् व्यक्तमशोकः ॥३८॥

पणघवृत्तम्

रंजेऽशोकतरुसौ रुन्धन्मार्गं न्योमचरं महेशानाम् ।

तन्वन्म्योजनविस्तृताः शाखा धुन्वन् शोकमयमदो ध्वान्तम् ॥३९॥

उपस्थितावृत्तम्

सर्वा हरितो^२ विटपैस्ततैः तंमार्ष्टुमिवोद्यतध्यासो ।

^३ध्यायद्विकचैः कुसुमोत्करैः पुष्पोपहृ^४तिं विदधद्दुःखः ॥४०॥

मयूरस्वारिणीवृत्तम्

वज्रमू^५लवद्गुत्तनं^६ बुध्नं सज्जपां^७ भरतमचित्रमूनम् ।

मत्स्यकोकिलालिसेव्यभि^८षं विदुरद्वयमभ्याश्रि^९त् सुरेशो^{१०} ॥४१॥

छन्द (?)

छत्रं घवलं रुचिमत्कान्तया चान्द्रीमजयद्रुचिरां लक्ष्मीम् ।

श्रेष्ठा हरुचैः शशाभृन्नूनं^१ सेवां विदधज्जगतां पत्युः ॥४२॥

छत्राकारं दधदिव चान्द्रं बिम्बं शुभं छत्रत्रितयमदो वामा^२सत् ।

मुक्ताजालैः किरणसमूहैर्वा स्वैश्चक्रे सुत्रामवचनतो रिराट्^३ ॥४३॥

भगवान्की स्तुति ही कर रहा हो ॥३८॥ वह अशोकवृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखारूपी भुजाओंके चलानेसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्के आगे नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पोंके समूहोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्के आगे देदीप्यमान पुष्पाञ्जलि ही प्रकट कर रहा हो ॥३८॥ आकाशमें चलनेवाले देव और विद्याधरोंके स्वामियोंका मार्ग रोकता हुआ अपनी एक योजन विस्तारवाली शाखाओंको फैलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥३९॥ फूले हुए पुष्पोंके समूहसे भगवान्के लिए पुष्पोंका उपहार समर्पण करता हुआ वह वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन फैली हुई शाखाओंसे दिशाओंको साफ करनेके लिए ही तैयार हुआ हो ॥४०॥ जिसकी जड़ वज्रकी बनी हुई थी, जिसका मूल भाग रत्नोंसे देदीप्यमान था, जिसके अनेक प्रकारके पुष्प जपापुष्पकी कान्तिके समान पद्मरागमणियोंके बने हुए थे और जो मदनमत्त कोयल तथा भ्रमरोंसे सेवित था ऐसे उस वृक्षको इन्द्रने सब वृक्षोंमें मुख्य बनाया था ॥४१॥ भगवान्के ऊपर जो देदीप्यमान सफेद छत्र लगा हुआ था उसने चन्द्रमाकी लक्ष्मीको जीत लिया था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेके लिए तीन रूप धारण कर चन्द्रमा ही आया हो ॥४२॥ वे तीनों सफेद छत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छत्रका आकार धारण करनेवाले चन्द्रमाके बिम्ब ही हों, उनमें जो मोतियोंके समूह लगे हुए थे वे किरणोंके समान जान पड़ते थे इस प्रकार उस छत्र-त्रितयको कुवेरने इन्द्रकी आज्ञासे बनाया था ॥४३॥

१. गगनचरमहाप्रभूणाम् । २. दिशः । ३. व्याप्नोति स्म । ४. उपहारम् । ५. भङ्गि । ६. मूलोपरिभातम् । ७. प्रशस्तजपाकुसुमसमानरत्नमयविचित्रप्रसूनम् । ८. चन्द्रसंबन्धिनीम् । ९. भूर्गु विशाजमानम् । १०. कुबेरः ।

इन्द्रवज्रावृत्तम्

रत्नेरनेकैः खण्डितं पराध्वैरुद्यद्दिनेशप्रियमाहसद्भिः ।

छत्रप्रयं तद्गुरुचेऽनिर्वीधं चन्द्रार्कसंपर्कविनिमित्तं वा ॥४४॥

सन्मोक्षितकं^२ वाद्धिजलायमानं सध्वाकमिन्दुद्युतिहारि हारि ।

छत्रप्रयं तत्कसदिन्द्रवज्रं^३ वज्रे परां कान्तिमुपेत्य नाथम् ॥४५॥

चंशस्थवृत्तम्

किमेष हासस्तनुते जगद्धियाः किमु प्रमोहलसितो यशोगणः ।

उत स्मर्यो^४ धर्मनृपस्य निर्मलं जगत्प्रयानन्दकरो नु चन्द्रमाः ॥४६॥

इति प्रतर्कं जनतामनस्वदां वितन्वद्विद्वा^५ तपवारणश्रयम् ।

वर्मो विमोर्मोहविनिजंयाजितं यशोमयं विभ्रमिव त्रिधास्थितम् ॥४७॥

उपेन्द्रधञ्जावृत्तम्

पयः पयोधेरिव वीचिमाला^६ प्रकीर्णकानां समितिः समन्तात् ।

जिनेन्द्रपर्यन्तनिषेधिवक्षकरोत्करैराविरभूद् विभूता ॥४८॥

उपजातिवृत्तम्

पीयूषं^७ गालकैरिव निर्मिताङ्गी^८ चान्द्रैरिवाशौर्घटिताऽमलध्वाः ।

जिनाकृत्रिभ्यन्तमुपेत्य^९ भेजे प्रकीर्णकालो गिरिनिस्तंभाम्^{१०} ॥४९॥

वह छत्रप्रय उदय होते हुए सूर्यकी शोभाकी हँसी उड़ानेवाले अनेक उत्तम-उत्तम रत्नोंसे जड़ा हुआ था तथा अतिशय निर्मल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रमा और सूर्यके सम्पर्क (मेल) से ही बना हो ॥४४॥ जिसमें अनेक उत्तम मोती लगे हुए थे, जो समुद्रके जलके समान जान पड़ता था, बहुत ही सुशोभित था, चन्द्रमाकी कान्तिको हरण करनेवाला था, मनोहर था और जिसमें इन्द्रनील स्रणि भी देदीप्यमान हो रहे थे ऐसा वह छत्रप्रय भगवान्‌के समीप आकर उत्कृष्ट कान्तिको धारण कर रहा था ॥४५॥ क्या यह जगत्‌रूपी लक्ष्मीका हास फैल रहा है ? अथवा भगवान्‌का शोभायमान यशरूपी गुण है ? अथवा धर्मरूपी राजाका मन्द हास्य है ? अथवा तीनों लोकोंमें आनन्द करनेवाला कलंकरहित चन्द्रमा है, इस प्रकार लोगोंके मनमें तर्क-वितर्क उत्पन्न करता हुआ यह देदीप्यमान छत्रप्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मोहरूपी शत्रुको जीत लेनेसे इकट्ठा हुआ तथा तीन रूप धारण कर ठहरा हुआ भगवान्‌के यशका मण्डल ही हो ॥४६-४७॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के समीपमें सेवा करनेवाले यक्षोंके हाथोंके समूहोंसे जो चारों ओर चमरोंके समूह दुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शीरसागरके जलके समूह ही हों ॥४८॥ अत्यन्त निर्मल लक्ष्मीको धारण करनेवाला वह चमरोंका समूह ऐसा जान पड़ता था मानो अमृतके टुकड़ोंसे ही बना हो अथवा चन्द्रमाके अंशोंसे हो रचा गया हो तथा वही चमरोंके समूह भगवान्‌के चरणकमलोंके समीप पहुँचकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी पर्वतसे झरते हुए निर्झर ही हों ॥४९॥

१. नितरां धवलम् । २. प्रशस्तमोक्षितकत्वादिति हेतुगमितमिदम् । ३. विलसदिन्द्रनीलमाग्निकयवज्जो यस्य । ४. हासः । ५. दीप्त । ६. चामराणाम् । ७. स्रष्टैः । ८. चन्द्रसम्बन्धिभिः । ९. भेजे द० । १०. -निस्तंभाम् द०, ल०, इ० ।

जितेन्द्रमारेणितुः गलेऽर्धदिपानगाः स्वीयेति स्तुपदमाणा ।
 पङ्क्तिर्विरेजे शुचिचामराणां यक्षैः सलीलं परिकीर्तितानाम् ॥५०॥
 जैनी किमङ्गुतिरुद्रवन्ती^१ किमिन्दुभासा^२ ततिरापतन्ती^३ ।
 इति स्म शङ्को तनुने पतन्ती सा चामराली शरदिन्दुशुभा ॥५१॥
 सुधामलाङ्गी रुचिरा बिरेजे सा चामराणां ततिरुल्लसन्ती ।
 श्रीरोदफेनावलीरुचलन्ती मरुद्विभूतेषु^४ समिद्धकान्तिः ॥५२॥
 लक्ष्मीं परमाप परा पतन्ती शशाङ्कपीयूषसमानकान्तिः ।
 'सिधेविषुस्तं जिनमात्रजन्ती' पयोभिरेकेव सुचामराली ॥५३॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

पतन्ति हंसाः किमु मेवमार्गात् किमुत्पतन्तीद्वरतो यतांसि ।
 विशङ्क्यमानानि सुरैरितीहा^५ पेतुः समस्तात् सितचामराणि ॥५४॥

उपजातिः

यक्षैरुक्षिप्यत चामराली दक्षैः सलीलं कमलायताक्षैः ।
 न्यक्षेपि मर्तु^६ बिंतता बलक्षा^७ सरङ्गमालेव मरुन्निरक्षेः ॥५५॥
 जितेन्द्रमक्षया सुरनिम्नगेव^८ तद्व्याजमेत्याम्बरतः पतन्ती ।
 सा निर्वर्त्ती चामरपङ्क्तिरुच्यैर्धोस्नेव मय्योरुकुमुद्वतीनाम् ॥५६॥

यक्षोंके द्वारा लीलापूर्वक चारों ओर दुराये जानेवाले निर्मल चमरोंकी वह पङ्क्ति बड़ी ही सुशोभित हो रही थी और लोग उसे देखकर ऐसा तर्क किया करते थे मानो यह आकाशगङ्गा ही भगवान्की सेवाके लिए आयी हो ॥५०॥ शरद्भृत्यके चन्द्रमाके समान सफेद पड़ती हुई वह चमरोंकी पङ्क्ति ऐसी आशंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवान्के शरीरकी कान्ति ही ऊपरको जा रही है अथवा चन्द्रमाकी फिरणोंका समूह ही नीचेकी ओर पड़ रहा है ॥५१॥ अमृतके समान निर्मल शरीरको धारण करनेवाली और अतिशय देदीप्यमान वह दुरती हुई चमरोंकी पङ्क्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वायुसे कम्पित तथा देदीप्यमान कान्तिको धारण करनेवाली हिलती हुई और समुद्रके फेनकी पङ्क्ति ही हो ॥५२॥ चन्द्रमा और अमृतके समान कान्तिवाली ऊपरसे पड़ती हुई वह उत्तम चमरोंकी पङ्क्ति बड़ी उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जितेन्द्र भगवान्की सेवा करनेकी इच्छासे आती हुई श्रीर-समुद्रकी बेला ही हो ॥५३॥ क्या ये आकाशसे हंस उतर रहे हैं अथवा भगवान्का यश ही ऊपरको जा रहा है इस प्रकार देवोंके द्वारा शंका किये जानेवाले वे सफेद चमर भगवान्के चारों ओर दुराये जा रहे थे ॥५४॥

जिस प्रकार वायु समुद्रके आगे अनेक लहरोंके समूह उठाता रहता है उसी प्रकार कमलके समान दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाले चतुर यक्ष भगवान्के आगे लीलापूर्वक विस्तृत और सफेद चमरोंके समूह उठा रहे थे अर्थात् ऊपरकी ओर ढोर रहे थे ॥५५॥ अथवा वह ऊँची चमरोंकी पङ्क्ति ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो उन चमरोंका बहाना प्राप्त कर जितेन्द्र भगवान्की भक्तिवश आकाशगंगा ही आकाशसे उतर रही हो अथवा मन्व्य जीवरूपी कुमुदिनियोंको विकसित करनेके लिए चाँदनी ही नीचेकी ओर आ रही हो ॥५६॥

१. उद्गच्छन्ती । २. मयूखानाम् । ३. आ समस्तात् पतन्ती । ४. समूह । ५. सेवितुमिच्छुः । ६. आगच्छन्ती । ७. प्रभोः । ८. प्रभोरपरि । ९. बलक्षा । 'बलक्षो बल्लोर्जुनः' इत्यभिधानात् । १०. चामरव्याज ।

इत्थात्ततोषैः स्फुरदक्षयक्षैः प्रकीर्णमानानि शशाङ्कमोसि ।
 रेजुर्जगन्नाथगुणोत्करैर्वा स्पर्धां चितन्वन्त्यधिचामराणि ॥५७॥
 लसत्सुधाराशिबिनिर्मलानि तान्यप्रमेयसुतिकान्तिमाञ्जि ।
 विमोर्जगत्प्राभवमद्वितीयं शशांसुरुष्यैश्चमरीरुद्गणि ॥५८॥
 लक्ष्मीसमालिङ्गितवक्षसोऽस्य श्रीवृक्षचिह्नं दधतो जिनेशः ।
 प्रकीर्णकानाममितसुतीनां धीन्द्राक्षतुःषष्टिसुदाहरन्ति ॥५९॥
 जिनेशराणामिति चामराणि प्रकीर्तितानिह सनातनाणाम् ।
 अर्धार्धमानानि भवन्ति तानि चक्रेश्वराद् यावदसौ सुराज्ञा ॥६०॥

तोटकवृत्तम्

सुरदुन्दुभयो मधुत्वनयो तिनदन्ति सदा स्म नमोयिवरे ।
 जलदागमशक्तिमिरुन्मदिभिः शिल्पिभिः परिवीक्षितपद्मयः ॥६१॥
 पणवस्तुण्यैः कलमन्द्ररुतैः सहकाहलशङ्खमहापटहैः ।
 ध्वनिरुत्ससृजे ककुभां विवरं मुखरं विदधत् पिदधच्च नमः ॥६२॥
 घनकोणहताः सुरपाणविकैः कुपिता इव ते धुसरां पटहाः ।
 ध्वनिसुत्ससृजुः^१ किमहो वडराः^२ परिहाड्यधेति^३ विसृष्टगिरः ॥६३॥

इस प्रकार जिन्हें अतिशय संतोष प्राप्त हो रहा है और जिनके नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्षोंके द्वारा दुराये जानेवाले वे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिके धारक चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्‌के गुणसमूहोंके साथ स्पर्धा ही कर रहे हों ॥५७॥ शोभायमान अमृतकी राशिके समान निर्मल और अपरिमित तेज तथा कान्तिको धारण करनेवाले वे चमर भगवान् वृषभदेवके अद्वितीय जगत्‌के प्रभुत्वको सूचित कर रहे थे ॥५८॥ जिनका वक्षःस्थल लक्ष्मीसे आलिङ्गित है और जो श्रीवृक्षका चिह्न धारण करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्रदेवके अपरिमित तेजको धारण करनेवाले उन चमरोंकी संख्या विद्वान् लोग चौसठ बतलाते हैं ॥५९॥ इस प्रकार सनातन भगवान् जिनेन्द्रदेवके चौसठ चमर कहे गये हैं और वे ही चमर चक्रवर्तीसे लेकर राजा पर्यन्त आधे-आधे होते हैं अर्थात् चक्रवर्तीके बत्तीस, अर्धचक्रोंके सोलह, मण्डलेश्वरके आठ, अर्धमण्डलेश्वरके चार, महाराजके दो और राजाके एक चमर होता है ॥६०॥ इसी प्रकार उस समय वर्षाऋतुकी शंका करते हुए मदोन्मत्त मयूर जिनका मार्ग बड़े प्रेमसे देख रहे थे ऐसे देवोंके दुन्दुभी मधुर शब्द करते हुए आकाशमें बज रहे थे ॥६१॥ जिनका शब्द अत्यन्त मधुर और गम्भीर था ऐसे पणव, तुणव, काहल, शंख और नगाड़े आदि बाजे समस्त दिशाओंके मध्यभागको शब्दावसान करते हुए तथा आकाशको आच्छादित करते हुए शब्द कर रहे थे ॥६२॥ देवरूप शिल्पियोंके द्वारा मजबूत दण्डोंसे ताड़ित हुए वे देवोंके नगाड़े जो शब्द कर रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कुपित होकर स्पष्ट शब्दोंमें

१. स्फुरितेन्द्रिय । २. शशाङ्कस्य भा इव भा येषां ते । ३. अधिकचामराणि । ४. जितेश्वरस्य ।

५. गणधरादयः । विज्ञाः ल०, इ०, म० । ६. भवन्ति । ७. चक्रेश्वरादारम्भ अतो सुराज्ञा यावत् अथ श्रेणिको यावत् श्रेणिकपर्यन्तमद्वितीयं भवन्तीत्यर्थः । ८. पणववादनशीलः । ९. स्थितवन्तः । १०. स्थूलाः ।

११. ताडनं कुरुषु ।

ध्वनिरम्बुमुखां किमयं स्फुरति क्षुभितोऽन्धिरहस्तस्फुरद्गिरिवः ।
 कृततर्कमिति प्रसरन् जयतात् सुरसूर्यरवौ जिनमनु रसौ ॥१४॥
 प्रमथा पतितौ जिनदेहभुजा जगतां सकला समवादिस्तेः ।
 ३रुखे ४ससुरासुरमर्त्यजनाः किमिवाद्भुतमीदृशि धाञ्जि विभोः ॥१५॥
 तद्व्याकेश्वि नु ५तिरोदधति सुरकोटिमहासि ६नु निवृणतो ।
 जगदेकमहोद ७यमासृजति प्रधते स्म तदा जिनदेहकृषिः ॥१६॥
 जिनदेहहवावसृताब्धिधुञ्ची सुरदानवमर्त्यजना दृशुः ।
 स्वभवान्तरसप्तकमात्तसुवो जगतां बहु मङ्गलदर्पणके ॥१७॥
 विधुमाशु विजोक्व नु विश्वसृजो गतमातपवारणतां त्रितयीम् ।
 रविरिदं वैपुः स पुराणकथि समक्षिभिर्यदङ्गविभालिभतः १० ॥१८॥

यही कह रहे हों कि अरे दुष्टो, तुम लोग जोर-ओरसे क्यों मार रहे हो ॥१६॥ क्या यह मेघोंकी गर्जना है ? अथवा जिसमें उठती हुई लहरें शब्द कर रही हैं ऐसा समुद्र ही ओभको प्राप्त हुआ है ? इस प्रकार तर्क-वितर्क कर चारों ओर फैलता हुआ भगवान्‌के देवदुन्दुभियोंका शब्द सदा जयवन्त रहे ॥१६॥ सुर, असुर और मनुष्योंसे भरी हुई वह समवसरणकी समस्त भूमि जिनेन्द्रभगवान्‌के शरीरसे उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा अर्थात् भामण्डलसे बहुत ही सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्‌के ऐसे तेजमें आश्चर्य ही क्या है ॥१६॥ उस समय वह जिनेन्द्रभगवान्‌के शरीरकी प्रभा मध्याह्नके सूर्यकी प्रभाको तिरोहित करती हुई—अपने प्रकाशमें उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवोंके तेजको दूर हटाती हुई, और लोकमें भगवान्‌का बड़ा भारी ऐश्वर्य प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी ॥१६॥ अभूतके समुद्रके समान निर्मल और जगत्‌को अनेक मंगल करनेवाले दर्पणके समान, भगवान्‌के शरीरकी उस प्रभा (प्रभामण्डल) में सुर, असुर और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने सात-सात भय देखते थे ॥१७॥ 'चन्द्रमा शीघ्र ही भगवान्‌के छत्रत्रयकी अवस्थाको प्राप्त हो गया है' यह देखकर ही मानो अतिशय देदीप्यमान सूर्य भगवान्‌के शरीरकी प्रभाके छलसे पुराण कथि भगवान् वृषभदेवकी सेवा करने लगा था । भावार्थ—भगवान्‌का छत्रत्रय

१. जिनदेहजनितया । २. समवसरणस्य । समवसरणस्तोत्रे समवसरणभूमीनामेकादशानां विस्तारो यथाक्रमं 'स्वस्वचतुर्विंशतिं द्वयोश्चतुर्षु द्वितादितार्थं च । अर्द्धं त्रिविद्वत्प्रष्टमभागाः पञ्चसु तथा परेऽर्द्धे च' ॥ स्वशब्देनात्र वृषभादितीर्थकराणां समवसरणभूमेयो भण्यन्ते । तच्चतुर्विंशतिभागे । ह्लासादिचैतन्यभूमिकः । भातिकयोः बल्लीवनादिषु चतुर्षु चतुर्विंशभाग एव द्विगुणं तदर्थं भवनभूमिविस्तारः । भवनभूमिविस्तारादर्धं गणभूमिविस्तारः । तत्त्रिद्व्यष्टमभागो द्वयोस्तथाम्भे । गणभूमिविस्तार अष्टमभागो द्वयोः पीठयोः प्रत्येकं विस्तारः । गणभूमिद्व्यष्टमभागः । अत्यपीठादर्धपर्यन्तं विस्तारः । आदितोर्थकरापेक्षया एकादशभूमीनां विस्ताराः क्रमेण लिख्यन्ते । योजनं ३ खा-शिव-१-उप-१ ध्वज-१ कल्प-१ भवनभू ३ गुण ४ पीठदण्डाः । ३. रुखे रुखे इति 'य' पुस्तके द्विविधः पाठः । ४. सुरासुरमर्त्यजनैः सहिताः । ५. नु वितर्कं । ६. तेजसि । ७. महोमय ट० । अद्वितीयतेजोमयम् । ८. मङ्गलदर्पणसदृशे । ९. दीप्त- । १०. देहप्रभाज्जातम् ।

बोधकवृत्तम्

दिव्यमहाध्वनिरस्य सुखाब्जान्मेषस्थानु^१ कृत्तिर्निरगच्छत् ।
 भव्यमनोगतमोहतमो^२ हत^३ कथुतदेश यथैव तमोऽरिः ॥६९॥
^४ एकतयोऽपि च सर्वानुभाषाः सोऽन्तरमेष्ट^५ बहुवच कुभाषाः ।
^६ अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥७०॥
 एकतयोऽपि तथैव जलौघश्चित्ररसौ भवति तुमभेदात् ।
 पात्रविशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥७१॥
 एकतयोऽपि यथा स्फटिकास्मा^७ यद्वदुपाहितमस्य^८ विभासम् ।
 स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते^९ विद्वज्बुधोऽपि तथा ध्वनिरुचैः ॥७२॥
 देवकृतो^{१०} ध्वनिरि^{११} त्यसदेतद् देवगुणस्य तथा^{१२} विद्वतिः स्यात् ।
 साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विभार्थगतिर्जगति स्यात् ॥७३॥

शालिनीवृत्तम्

इत्थंभूता^{१३} देवराजविश्वमर्तुमंकर्या देवैः कारयामास भूतिम् ।
 दिव्यास्थानी^{१४} देवराजोपसंख्यामध्यास्तैर्मा^{१५} श्रीपतिर्विश्वदृश्या ॥७४॥

चन्द्रमाके समान था और प्रभामण्डल सूर्यके समान था ॥६८॥ भगवान्‌के मुखरूपी कमलसे षादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवोंके मनमें स्थित मोहरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सूर्यके समान सुशोभित हो रही थी ॥६९॥ यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि भगवान्‌के माहात्म्यसे समस्त मनुष्योंकी भाषाओं और अनेक कुभाषाओंको अपने अन्तर्भूत कर रही थी अर्थात् सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगोंका अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वोंका बोध करा रही थी ॥७०॥ जिस प्रकार एक ही प्रकारका जलका प्रवाह बुझोंके भेदसे अनेक रसवाला हो जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञदेवकी यह दिव्यध्वनि भी पात्रोंके भेदसे अनेक प्रकारकी हो जाती थी ॥७१॥ अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकारका होता है तथापि उसके पास जो-जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं वह अपनी स्वच्छतासे अपने आप उन-उन पदार्थोंके रंगोंको धारण कर लेता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान्‌की उत्कृष्ट दिव्यध्वनि भी यद्यपि एक प्रकारकी होती है तथापि श्रोताओंके भेदसे वह अनेक रूप धारण कर लेती है ॥७२॥ कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवोंके द्वारा की जाती है परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि वैसा माननेपर भगवान्‌के गुणका घात हो जायेगा अर्थात् वह भगवान्‌का गुण नहीं कहलायेगा, देवकृत होनेसे देवोंका कहलायेगा । इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर-रूप ही है क्योंकि अक्षरोंके समूहके बिना लोकमें अर्थका परिज्ञान नहीं होता ॥७३॥

इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् बुधभदेवकी ऐसी विभूति इन्द्रने भक्तिपूर्वक देवोंसे करायी थी, और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके अधिपति सर्वज्ञदेव इन्द्रोंके द्वारा सेवनीय

१. अनुकारी । २. हन्तीति ध्वन् । ३. एकप्रकारः । ४. अग्तर्नयति स्म । ५. अज्ञानम् । ६. समीप-
 मागतम् । ७. उपाहितद्रव्यस्य । ८. कान्तिम् । ९. विद्वज्ज्ञानिनः । १०. सर्वजकृतः । ११. असत्यम् ।
 १२. तथा सति । १३. इन्द्रः । १४. समवसृतिम् । १५. इन्द्रसेवनीयम् । १६. अधितिष्ठति स्म ।

वातोर्मिवृत्तम्

देवः साक्षात्सकलं वस्तुतत्त्वं विद्वान् विद्वज्जनतावन्विताह्वयिः ।
हैमं पीठं हरिनिध्यात्तं वक्त्रैरुदं भेजे जगतां बोधनाय ॥७५॥

अमरविलसितम्

दृष्ट्वा देवाः समवसृतिमहीं चक्रुर्मन्त्र्या परिगतिमुचिताम् ।
त्रिः सन्भ्रान्ताः प्रमुदितमनसो देवं ब्रह्म विविशुरथ समाम् ॥७६॥

रथोद्धताचुत्तम्

स्योममार्गपरिरोधिकंतवैः संमिमार्जिषुमिवाखिलं नभः ।
धूलिसालचलयेन वेष्टितां सन्तं तामरधनुर्वृतामिव ॥७७॥
स्तम्भशब्दं परमानवाग्मितान् वा स्म धारयति साग्रलङ्घिनः ।
स्वर्गलोकमिव सेविषुं विषुं स्याच्च ह्युरमलाग्रकेतुभिः ॥७८॥

हस्तागतसुप्तम्

स्वच्छयारिशिशिराः सरसीश्च यामिनिर्विकसितोत्पलनेत्राः ।
ब्रह्मोद्यमसुरान्तकमुच्चैर्न प्रपङ्क्तिमिव संघटयन्ती ॥७९॥
खातिकां जलविहङ्गविराजैरुन्नतैश्च विततोर्मिकरीधैः ।
या दधे जिगमुपासितुमिन्द्रान् आशुहृषुरिव निर्मलतोषाम् ॥८०॥

उस समवसरण भूमिमें विराजमान हुए थे ॥७४॥ जो समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं और अनेक विद्वान् लोग जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव जगत्के जीवोंको उपदेश देनेके लिए मुँह फाड़े सिद्धोंके द्वारा धारण किये हुए सुवर्णमय सिंहासन पर अधिरुढ़ हुए थे ॥७५॥ इस प्रकार समवसरण भूमिको देखकर देव लोग बहुत ही प्रसन्नचित्त हुए, उन्होंने भक्तिपूर्वक तीन बार चारों ओर फिरकर उचित रीतिसे प्रदक्षिणाएँ दीं और फिर भगवान्के दर्शन करनेके लिए उस सभाके भीतर प्रवेश किया ॥७६॥ जो कि आकाशमार्गको उल्लंघन करनेवाली पताकाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त आकाशको झाड़कर साफ हो करना चाहती हो और धूलिसालके घेरेसे घिरी होनेके कारण ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो निरन्तर इन्द्रधनुषसे ही घिरी रहती हो ॥७७॥ वह सभा आकाशके अग्रभागको भी उल्लंघन करनेवाले चार मानस्तम्भोंको धारण कर रही थी तथा उन मानस्तम्भोंपर लगी हुई निर्मल पताकाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान्की सेवा करनेके लिए स्वर्गलोकको ही बुलाना चाहती हो ॥७८॥ वह सभा स्वच्छ तथा शीतल जलसे भरी हुई तथा नेत्रोंके समान प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त अनेक सरोवरियोंको धारण किये हुए थी और उनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जन्म जरा मरणरूपी असुरोंका अन्त करनेवाले भगवान् वृषभदेवका दर्शन करनेके लिए नेत्रोंका पंक्तियाँ ही धारण कर रही हो ॥७९॥ वह समवसरण भूमि निर्मल जलसे भरी हुई, जलपक्षियोंके शब्दोंके शब्दायमान तथा ऊँची उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरोंके समूहसे युक्त परिष्ठाको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरोंके समूहरूपी हाथ ऊँचे उठाकर जलपक्षियोंके

१. विस्तृत । २. परिचर्याम् । ३. त्रिः प्रदक्षिणं कृतवन्तः । ४. सम्माष्टुमिच्छुम् । ५. विस्तृतम् ।

६. मानस्तम्भानित्यर्थः । ७. आह्वातुमिच्छुः । ८. विभर्ति स्म । ९. असून् प्राणान् रात्वादत्त इत्यसुरः यमः तस्यान्तकस्तम् ।

सुधावृत्तम्

बहुविधवै नलतिकाकान्तं मन्मथुकरविरुतालोचम् ।

वनमुपवहति च बहलीनां स्मितमिव कुसुमचित्तं या स्म ॥८१॥

सैनिकावृत्तम्

सालमाद्यसुवृक्षगोपुरोद्गमं संविमर्ति मासुरं स्म हैमनम् ।

^३हैमनालं सौम्यदीप्तिमुज्जति मर्तुरर्क्षरिवैव या प्रवर्तिका ॥८२॥

छन्दः (?)

शरद्घतसमश्रियो नर्तकी तडिद्विलसिते नृतेः^४ शालिके ।

वधाति रुचिरं स्म^५ योपासितुं जिनेन्द्रमिव^६ भवितसंसाविता ॥८३॥

संश्लेषवृत्तम्

^७घटीद्वन्द्वमुपात्तधूपकं^८ वभार या द्विस्तनयुग्मसक्ति^९भम् ।

जिनस्य भृत्यै श्रुतदेवता स्वर्ग तथा स्थितेव^{१०} विजगच्छिषा समम् ॥८४॥

इन्द्रधंशावृत्तम्

रम्यं वनं भृङ्गसमूहसेवितं वभ्रे ऋतुः^{११} संकल्पमुपात्तकामिकम् ।

^{१२}वासो विनीलं परिधाय^{१३} तक्तिभाद्^{१४} वरेण्यमाराधयितुं स्थितेव या ॥८५॥

शब्दोंके बहाने भगवान्की सेवा करनेके लिए इन्द्रोंको ही बुलाना चाहती हो ॥८०॥ वह भूमि अनेक प्रकारकी नवीन लताओंसे सुशोभित, मदनमस्त भ्रमरोंके मधुर शब्दरूपी धाजोंसे सहित तथा फूलोंसे व्याप्त लताओंके वन धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो मन्द-मन्द हँस ही रही हो ॥८१॥ वह भूमि ऊँचे-ऊँचे गोपुर-द्वारोंसे सहित देदीप्यमान सुवर्णमय पहले कोटको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् वृषभदेवकी हेमन्तऋतुके सूर्यके समान अतिशय सौम्य दीप्ति और उज्ज्वलको अक्षरोंके बिना ही दिखला रही हो ॥८२॥ वह समवसरणभूमि प्रत्येक महाबीथीके दोनों ओर शरद्ऋतुके बावलोंके समान स्वच्छ और नृत्य करनेवाली देवांगनाओंरूपी विजलियोंसे सुशोभित दो-दो मनोहर नृत्यशालाएँ धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्की उपासना करनेके लिए ही उन्हें धारण कर रही हो ॥८३॥ वह भूमि नाट्यशालाओंके आगे दो-दो धूपघट धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्की सेवाके लिए तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके साथ-साथ सरस्वती देवी ही वहाँ बैठी हों और वे घट उन्हींके स्तनयुगल हों ॥८४॥ वह भूमि भ्रमरोंके समूहसे सेवित और उत्तम कान्तिको धारण करनेवाले चार सुन्दर वन भी धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन वनोंके बहानेसे नील वस्त्र पहनकर भगवान्

१. नवलतिका ल० । २. हेमनिर्मितम् । ३. हेमन्तजाताकर्ण्य । ४. नृत्यस्य । ५. समवसृतिः । ६. भवितसंस्कृता । ७. धूपघटीपुगलम् । ८. ऋतुर्धमिति । ९. धूमकम्, इत्यपि पाठः । १०. स्तनयुग्मद्वयसमानम् । ११. समवसृत्याकारेण स्थितेव । १२. अशोकसप्तच्छदकल्पवृक्षचूतमिति । १३. वस्त्रम् । १४. परिधानं विधाय । १५. वनव्याजात् । १६. सर्वज्ञम् ।

पुटवृत्तम्

उपवनसरसीनां^१ बालपद्मैर्मुशुवसिमुखशोभामाहसन्ती ।
अधृत च वनवेदीं रत्नदीपां युवतिरिव कटीस्थां मेखलां वा ॥८६॥

जलोद्धतगतवृत्तम्

ध्वजाम्बरतताम्बरैः^२ परिगता यका^३ ध्वजनिवेशं^४ नैर्दशतयैः^५ ।
जिनस्य महिमानमारचयितुं नभोद्वज्जगामिदाम्^६ जम्बुतिवभौ ॥८७॥
खमित्र सत्तारं कुसुमाढ्यं^७ वा वनमतिरम्यं सुरभूजानाम् ।
सह वनवेद्या परतः सालाद् व्यरुषदिषोढवा सुकृतारामम् ॥८८॥
अधृत च अस्मात्परतो दीपं स्फुरदुरुरत्नं^८ भवनाभोगम् ।
मणिमयदेहाकृतं च स्तूपान्^९ भुवनविजित्यायिव ज्ञेच्छा ॥८९॥
स्फटिकमयं वा रुचिरं सालं प्रदिततमूर्तिः^{१०} त्वमणिसुमितीः ।
^{११}उपरितलं च त्रिजगद्ग्राहि व्यधृत परार्धं सदनं लक्ष्म्याः ॥९०॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

समं^१ देवचर्यैः परार्धोरुशोभां प्रपश्यंस्तथैनां महीं विस्मिताश्रः ।
प्रविष्टो महेश्वरः प्रणष्टप्रमोहं जिह्मं द्रष्टुकामो महत्या विभूत्या ॥९१॥

की आराधना करनेके लिए ही खड़ी हो ॥८५॥ जिस प्रकार कोई तरुण स्त्री अपने कटि भागपर करघनी धारण करती है उसी प्रकार उपवनकी सरोवरियोंमें फूले हुए छोटे-छोटे कमलोंसे स्वर्गरूपी स्त्रीके मुखकी शोभाकी ओर हँसती हुई वह समवसरण भूमि रत्नोंसे देदीप्यमान वनवेदिकाको धारण कर रही थी ॥८६॥ ध्वजाओंके वस्त्रोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाली वस प्रकारकी ध्वजाओंसे सहित वह भूमि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्की महिमा रचनेके लिए आकाशरूपी आँगनको साफ ही कर रही हो ॥८७॥ ध्वजाओंकी भूमिके बाद द्वितीयकोटके चारों ओर वनवेदिका सहित कल्पवृक्षोंका अत्यन्त मनोहर वन था, वह फूलोंसे सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओं से सहित आकाश ही हो । इस प्रकार पुण्यके बगीचेके समान उस वनको धारण कर वह समवसरणभूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥८८॥ उस वनके आगे वह भूमि, जिसमें अनेक प्रकारके चमकते हुए बड़े-बड़े रत्न लगे हुए हैं ऐसे देदीप्यमान मकानोंको तथा मणियोंसे बने हुए नौ-नौ स्तूपोंको धारण कर रही थी और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जगत्को जीतनेके लिए ही उसने इच्छा की हो ॥८९॥ उसके आगे वह भूमि स्फटिक मणिके बने हुए सुन्दर कोटको, अतिशय विस्तारवाली आकाशस्फटिकमणिकी बनी हुई दीवारों को और उन दीवारोंके ऊपर बने हुए, तथा तीनों लोकोंके लिए अवकाश देने वाले अतिशय श्रेष्ठ श्रीमण्डपको धारण कर रही थी । ऐसी समवसरण सभाके भीतर इन्द्रने प्रवेश किया था* ॥९०॥ इस प्रकार अतिशय उत्कृष्ट शोभाको धारण करनेवाली उस समवसरण भूमिको देखकर जिसके नेत्र विस्मयको प्राप्त हुए हैं ऐसा वह सौधर्म स्वर्गका इन्द्र मोहनीय कर्मको

१. ईपद्विकवक्रमलपद्मेः । २. परिवृता । ३. या । ४. रचनाभिः । ध्वजस्थानैर्वा । ५. दशप्रकारैः । ६. सम्मार्जनं कुर्वति । ७. भवनभूमिविस्तारम् । प्रासादविस्तारमित्यर्थः । ८. भुवनविजयाय । ९. आकाश-स्फटिक । १०. स्फटिकमित्युपरिममामे लक्ष्म्याः सदनं लक्ष्मीमण्डपमित्यर्थः । ११. ईशानादीन्द्रैः । महद्विकदेवैश्च ।

* इन सब श्लोकोंका क्रिया सम्बन्ध पिछले छिहत्तरवें श्लोकसे है ।

अथापश्यदुच्चैर्ज्वलन्तीन्मूर्ध्नि स्थितं देवदेवं चतुर्वक्त्रशोभम् ।
 सुरेन्द्रैर्नरेन्द्रैर्मुनीन्द्रैश्च वन्द्यं जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्यम् ॥९२॥
 शरच्चन्द्रविम्बप्रतिस्पर्धि वक्त्रं शरद्भक्त्येव स्वकान्त्यातिकान्तम् ।
 नवीरुहलनाकाञ्जसंशोभि नेत्रं सरः साकजनीलोत्पलं व्याहृत्यन्तम् ॥९३॥
 ज्वलन्नासुराङ्गं स्फुरन्नानुविम्बप्रतिद्वन्द्वं देहप्रभादधौ निमग्नम् ।
 समुत्पुङ्गवायं सुराराधनीयं महामैरुक्कणं सुचामीकरामम् ॥९४॥
 विशालोरुवक्षःस्थलस्थायमलक्ष्म्या जगद्भुतं भूयं विनोक्तया युषाणम् ।
 निराहार्यं वैषं निरस्तोरुभूयं निरक्षावबोधं निरुद्धात्मरोधम् ॥९५॥
 सहस्रांशुनीप्रथमा मध्यमाजं चकचामरौघैः सुरैर्बोध्यमानम् ।
 ध्वनद्दुन्दुभिध्वाननिर्घोषरम्यं चलद्भीषिवेलं पयोनिध यथैव ॥९६॥
 सुराङ्गमुत्तपुष्पैस्ततप्रान्तदेशं महाशोकवृक्षाभितोत्पुङ्गमूर्तिम् ।
 स्वकल्पधुमोद्यानमुक्लपसूतस्ततान्तं सुरादिं रुचा ह्येवमन्तम् ॥९७॥

नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्के दर्शनोंकी इच्छासे बड़ी भारी विभूतिपूर्वक उत्तम-उत्तम देवोंके साथ-साथ भीतर प्रविष्ट हुआ ॥९१॥

अथापश्यत्—जो ऊँची और देदीप्यमान शीतिकाके ऊपर विराजमान थे, देवोंके भी देव थे, चारों ओर दीखनेवाले चार मुखोंकी शोभासे सहित थे, सुरेन्द्र नरेन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय थे, *जगत्की सृष्टि और संहारके मुख्य कारण थे। जिनका मुख शरद्भक्तुके चन्द्रमाके साथ स्पर्धा कर रहा था, जो शरद्भक्तुकी चाँदनीके समान अपनी कान्तिसे अतिशय शोभायमान थे, जिनके नेत्र नवीन फूले हुए नील कमलोंके समान सुशोभित थे और उनके कारण जो सफेद तथा नील-कमलोंसे सहित सरोवरकी हँसी करते हुए-से जान पड़ते थे। जिनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और देदीप्यमान था, जो चमकते हुए सूर्यमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाली अपने शरीरकी प्रभारूपी समुद्रमें निमग्न हो रहे थे, जिनका शरीर अतिशय ऊँचा था, जो देवोंके द्वारा आराधना करने योग्य थे, सुवर्ण-जैसी उज्ज्वल कान्तिके धारण करनेवाले थे और इसीलिए जो महामैरुके समान जान पड़ते थे। जो अपने विशाल वक्षःस्थलपर स्थित रहनेवाली अनन्तचतुष्टयरूपी आत्मलक्ष्मीसे शब्दोंके बिना ही तीनों लोकोंके स्वामित्वको प्रकट कर रहे थे, जो कबलाहारसे रहित थे, जिन्होंने सब आभूषण दूर कर दिये थे, जो इन्द्रिय ज्ञानसे रहित थे, जिन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्मोंको नष्ट कर दिया था। जो सूर्यके समान देदीप्यमान रहनेवाली प्रभाके मध्यमें विराजमान थे, देवलोग जिनपर अनेक चमरोंके समूह दुरा रहे थे, बजते हुए दुन्दुभिवाजोंके शब्दोंसे जो अतिशय मनोहर थे और इसी-लिए जो शब्द करती हुई अनेक लहरोंसे युक्त समुद्रकी घेला (तट) के समान जान पड़ते थे। जिनके समीपका प्रदेश देवोंके द्वारा वर्षाये हुए फूलोंसे व्याप्त हो रहा था, जिनका ऊँचा शरीर बड़े भारी अशोकवृक्षके आश्रित था—उसके नीचे स्थित था और इसीलिए जिसका समीप प्रदेश अपने कल्पवृक्षोंके उपवनों-द्वारा छोड़े हुए फूलोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतको अपनी कान्तिके द्वारा लज्जित कर रहे थे। और जो चमकते हुए

१. वर्णाश्रमादिकारणदण्डनीत्यादिविधयोः । २. प्रतिस्पर्धि । ३. जगत्प्रतिष्ठम् । ४. वस्त्रादिरङ्गिता-
 कारम् । जातरूपधरमित्यर्थः । ५. अतीन्द्रियज्ञानम् । ६. निरस्तज्ञानावरणादिकम् । ७. प्रभामण्डल ।
 ८. विषयध्वनि ।

* मोक्षमार्गरूपी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले और पापरूपी मृष्टिको संहार करनेवाले थे ।

प्रविस्तारिषुभातपत्रप्रयेण स्फुरन्मौक्तिकेनाश्रुतस्थितेन ।
 स्वभाहास्यमैश्वर्यमुद्ययवाद्यैः स्फुटीकतुर्माशं तमीशानमाचमम् ॥९८॥
 प्रदृश्याथ दूरावतस्वोत्तमाङ्गाः सुरेन्द्राः प्रणेमुर्महीस्पृष्टजानु ।
 किरीटाग्रभाजां स्रजां मालिकाभिर्जिनेन्द्राङ्गवियुग्मं स्फुटं प्रार्थयन्तः ॥९९॥
 तदाहंप्रणामे समुत्फुल्लनेत्राः सुरेन्द्राः विरेभुः शुचिस्मेरवक्त्राः ।
 समं वा सरोभिः सपद्मोत्पलैः स्वैः कुलक्षमाधरेन्द्राः सुरार्द्रि मज्जन्तः ॥१००॥
 मची व्याप्तरोऽक्षोपदेवासमेता जिनाङ्गप्रयोः प्रणामं चकाराश्वयन्ती ।
 स्ववक्त्रोरुपद्मैः स्वनेत्रोत्पलैश्च प्रसक्तैश्च भावप्रसूनैरनूतैः ॥१०१॥
 जिनस्याङ्गिप्रपद्मौ मखांशुप्रतानैः सुरानास्पृशन्ती समेत्स्याधिसूच्यम् ।
 स्रजाम्मालामूर्त्यां स्वशेषां पवित्रां शिरस्यापिपेतामिवाधुपूहीतुम् ॥१०२॥
 जिनेन्द्राङ्गविभासा पवित्रीकृतं ते स्वम् हुः सुरेन्द्राः प्रसम्पातिमकस्या ।
 नखीशुप्रतानाङ्गुलद्व्याभिषेकं समुत्सृज्यसुखं चोत्तमाङ्गम् ॥१०३॥

भक्तियोंसे सुशोभित आकाशमें स्थित अपने विस्तृत तथा धवल छत्रत्रयसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपना माहात्म्य ऐश्वर्य और फैलते हुए उत्कृष्ट यशको ही प्रकट कर रहे हों ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके उस सौधमेंन्द्रने दर्शन किये ॥ ९८-९८ ॥ दर्शन कर दूरसे ही जिन्होंने अपने मस्तक नखीभूत कर लिये हैं ऐसे इन्द्रोंने जमीनपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया, प्रणाम करते समय वे इन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने मुकुटोंके अग्रभागमें लगी हुई मालाओंके समूहसे जिनेन्द्र भगवान्के दोनों चरणोंकी पूजा ही कर रहे हों ॥ ९९ ॥ उन अरहन्त भगवान्को प्रणाम करते समय जिनके नेत्र द्वयसे प्रफुल्लित हो गये और मुख सफेद मन्द हास्यसे युक्त हो रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिनमें सफेद और नील कमल खिले हुए हैं ऐसे अपने सरोवरोंके साथ-साथ कुलाचलपर्वत सुमेरु पर्वतकी ही सेवा कर रहे हों ॥ १०० ॥ उसी समय अप्सराओं तथा समस्त देवियोंसे सहित इन्द्राणोंने भी भगवान्के चरणोंको प्रणाम किया था, प्रणाम करते समय वह इन्द्राणी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने प्रफुल्लित हुए मुखरूपी कमलोंसे, नेत्ररूपी नील कमलोंसे और विशुद्ध भावरूपी बहुत भारी पुष्पांसे भगवान्की पूजा ही कर रही हो ॥ १०१ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के दोनों ही चरणकमल अपने नखोंकी किरणोंके समूहसे देवोंके मस्तकपर आकर उन्हें स्पर्श कर रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कभी म्लान न होनेवाली मालाके बहानेसे अनुग्रह करनेके लिए उन देवोंके मस्तकोंपर शेषाश्रित ही अर्पण कर रहे हों ॥ १०२ ॥ वे इन्द्र लोग, अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम करते समय जो जिनेन्द्रभगवान्के चरणोंकी प्रभासे पवित्र किये गये हैं तथा उन्हींके नखोंकी किरणसमूहरूपी जलसे जिन्हें अभिषेक प्राप्त हुआ है ऐसे अपने उन्नत और अत्यन्त उत्तम मस्तकोंको धारण कर रहे थे । भावार्थ-प्रणाम करते समय इन्द्रोंके मस्तकपर जो भगवान्के चरणोंकी प्रभा पड़ रही थी उससे वे उन्हें अतिशय पवित्र मानते थे, और जो नखोंकी कान्ति पड़ रही थी उससे उन्हें ऐसा समझते थे मानो उनका जलसे अभिषेक ही किया गया हो इस प्रकार वे अपने उत्तमांग अर्थात् मस्तकको वास्तवमें उत्तमांग अर्थात् उत्तम अंग मानकर ही धारण कर रहे थे ॥ १०३ ॥

१. अग्यैरसंधार्यमाणसदाकाशस्थितेन । २. इव । ३. प्रणान्तस्वभाव-अ० । ४. परिणामकुसुमैः ।
 ५. मस्तके । ६. निजसिद्धशेषाम् । ७. शिरःस्वापिपेताम् इ० । शिरःस्वापिपानाम् ल०, द० । ८. अपितवन्ती ।
 ९. आत्मीयम् ।

नखांश्चकरन्निजोऽर्धजिह्वोर्ध्वं तु श्लोकांश्चरन्निजोऽर्धजिह्वोर्ध्वं ॥ १०७८ ॥
 स्तनोपान्तकननं^१ समूहं^२ शुके तत्प्रहासायमानं कसन्मुक्तिकम्पनाः ॥ १०७९ ॥
 प्रणामक्षणे ते सुरेन्द्रा विरेजुः स्वदेवीसमेता ज्वलद्भूषणाङ्गाः ।
 महाकल्पवृक्षाः समं कल्पवल्ली^३ समित्येव भक्त्या जिह्नं सेवमानाः ॥ १०८० ॥
 अयोऽथाय मुष्टया सुरेन्द्राः स्वहस्तीजिनस्याङ्घ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः ।
^४सगन्धैः समाख्यैः सधूपैः सदीपैः सदिभ्याक्षतैः^५ प्राज्यपीयूषरिण्डैः ॥ १०८१ ॥
 पुरोरङ्गवल्क्या ततै^६ भूमिभागे सुरेन्द्रोपनीता बभौ सा सपर्या^७ ।
 शुचिद्रव्यसंपत्समस्तैव भर्तुः पद्मोपास्तिमिच्छुः^८ भिता तच्छलेन^९ ॥ १०८२ ॥
 सार्धं रत्नचूर्णैर्बलिं^{१०} भर्तुरग्रे तता^{११} गोमधूतं^{१२} प्ररोहैर्विचित्रात् ।
 मृदुस्निग्धचित्रै^{१३} रनेकप्रकारैः सुरेन्द्रायुधानामिव इक्ष्वाकूचूर्णैः ॥ १०८३ ॥
 ततो नीरधारां शुचिं स्वानुकारां कसद्गन्धमृत्तारनाकस्रुतां ताम् ।
 निजां स्वान्तवृत्तिप्रसन्नामिवाच्छां जिनोपाङ्घ्रिं^{१४} संपातयामास भक्त्या ॥ १०८४ ॥
^{१५}स्वसद्भूतगन्धैः सुगन्धोद्भूतावीर्यमद्भूतगन्धमालाकृतारावहयैः ।
 जिनाङ्घ्रौ स्मरन्ती विमोः पादपीठं समानर्थं^{१६} भक्त्या तदा शकपत्नी ॥ १०८५ ॥

इन्द्राणी भी जिस समय अप्सराओंके साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उस समय देदीप्यामान मुक्तिरूपी लक्ष्मीके उत्तम हास्यके समान आचरण करनेवाला और स्वभावसे ही सुन्दर भगवान्के नखोंकी किरणोंका समूह उसके स्तनोंके समीप भागमें पड़ रहा था और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सुन्दर वस्त्र ही धारण कर रही हो ॥१०८१॥ अपनी-अपनी देवियोंसे सहित तथा देदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित थे वे इन्द्र प्रणाम करते ऐसे जान पड़ते थे मानो कल्पलताओंके साथ बड़े-बड़े कल्पवृक्ष ही भगवान्की सेवा कर रहे हों ॥१०८५॥

अथानन्तर इन्द्रोंने बड़े सन्तोषके साथ खड़े होकर श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथोंसे गन्ध, पुष्पमाला, धूप, दीप, सुन्दर अक्षत और उत्कृष्ट अमृतके पिण्डों-द्वारा भगवान्के चरण-कमलोंकी पूजा की ॥१०८६॥ रंगावलीसे व्याप्त हुई भगवान्के आगेको भूमिपर इन्द्रोंके द्वारा छायी वह पूजाकी सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उसके छलसे संसारकी समस्त द्रव्य-रूपी सम्पदाएँ भगवान्के चरणोंकी उपासनाकी इच्छासे ही वहाँ आयी हों ॥१०८७॥ इन्द्राणीने भगवान्के आगे कोमल चिकने और सूक्ष्म अनेक प्रकारके रत्नोंके चूर्णसे मण्डल बनाया था, वह मण्डल ऊपरकी ओर उठती हुई किरणोंके अंकुरोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुषके कोमल चूर्णसे ही बना हो ॥१०८८॥ तदनन्तर इन्द्राणीने भक्तिपूर्वक भगवान्के चरणोंके समीपमें देदीप्यमान रत्नोंके भृंगारकी नाखसे निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी । वह जलधारा इन्द्राणीके समान ही पवित्र थी और उसीकी मनो-वृत्तिके समान प्रसन्न तथा स्वच्छ थी ॥१०८९॥ उसी समय इन्द्राणीने जिनेन्द्रभगवान्के चरणोंका स्मरण करते हुए भक्तिपूर्वक जिसने समस्त विशाएँ सुगन्धित कर दी थी, तथा जो फिरते हुए भ्रमरोंकी पंक्तियों-द्वारा किये हुए शब्दोंसे बहुत ही मनोहर जान पड़ती थी ऐसी स्वर्गलोकमें

१. बहति स्म । २. कल्पलतासमूहेन । ३. सुगन्धैः ल० । ४. भूरि । ५. विस्तृते । ६. पूजा ।
 ७. पावपुष्पाम् । ८. इन्द्रकृतपूजाभ्याजेन । ९. रङ्गवलिम् । १०. विस्तारितवती । ११. किरणाङ्कुरैः ।
 १२. सूक्ष्मैः अ०, प०, ल०, द०, इ० । १३. अङ्घ्रिग्रामीपे । १४. स्वर्गजात । १५. अर्धयति स्म ।

स्वभावात्मिकीसैर्विभोस्तण्डुलेभ्यः^१ स्वचित्तप्रसादेरिव स्वच्छमानिः ।

॥१११॥ स्वभावात्मिकीसैर्विभोस्तण्डुलेभ्यः प्रभोः पादपूजामकार्षीत् महर्षिण् ॥१११॥

ततो रत्नदीपैर्जिनाङ्गुलीनां प्रसर्पेण मन्द्रीकृतान्मप्रकाशैः ।

जिनार्कं शक्तीं प्राचिच्छद्भक्तिमिक्षा न भक्ता हि युक्तं विदुष्यप्ययुक्तम् ॥११२॥

इदं^३ धूपमिच्छं च पीयूषपिण्डं महास्थालं संस्थं ज्वलद्दीपदीपम् ।

सतारं^४ वशाङ्कं समाश्लिष्टराहुं जिनाङ्गुलजयोर्वी समीपं प्रपन्नम्^५ ॥११३॥

फलैरप्यनर्प्यस्ततामोदहृद्यैर्ध्वनद्भुजयूधैरुपासंभ्यमानः ।

जिनं गानुकामैरिवातिप्रमोदात् फलावाच्ययामास सुश्रामजाय ॥११४॥

इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरर्चितेज्जम् किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्व मर्तुः ।

विरागो न मुष्यत्यपि द्वेष्टि^६ वासौ फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजोति ॥११५॥

अथोच्यैः सुरैश्च गिरामीशितारं जिनं स्तोतुकामाः प्रहृष्टान्तरङ्गाः ।

वचस्तूतं मालामिमां विप्रवशां समुचिच्छिपुर्भक्तिहस्तैरिति स्वैः ॥११६॥

उत्पन्न हुई सुगन्धसे भगवान्‌के पादपाठ (सिंहासन) की पूजा की थी ॥११०॥ इसी प्रकार अपने चित्तको प्रसन्नताके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाले मोतियोंके समूहोंसे भगवान्‌की अक्षतोंसे होनेवाली पूजा की तथा कभी नहीं गुरझानेवाली कल्पवृक्षके फूलोंकी सैकड़ों मालाओंसे बड़े हर्षके साथ भगवान्‌के चरणोंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर भक्तिके वशीभूत हुई इन्द्राणीने जिनेन्द्र भगवान्‌के शरीरकी कान्तिके प्रसारसे जिनका निजी प्रकाश मन्व पड़ गया है ऐसे रत्नमय दीपकोंसे जिनेन्द्ररूपी सूर्यकी पूजा की थी सो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुष योग्य अथवा अयोग्य कुछ भी नहीं समझते । भावार्थ—यह कार्य करना योग्य है अथवा अयोग्य, इस बातका विचार भक्तिके सामने नहीं रहता । यही कारण था कि इन्द्राणीने जिनेन्द्ररूपी सूर्यकी पूजा दीपकों-द्वारा की थी ॥११२॥ तदनन्तर इन्द्राणीने धूप तथा जलते हुए दीपकोंसे देदीप्यमान और बड़े भारी थालमें रखा हुआ, सुशोभित अमृतका पिण्ड भगवान्‌के लिए समर्पित किया, यह थालमें रखा हुआ धूप तथा दीपकोंसे सुशोभित अमृतका पिण्ड ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सहित और राहुसे आलिंगित चन्द्रमा ही जिनेन्द्र-भगवान्‌के चरणकमलोंके समीप आया हो ॥११३॥ तदनन्तर जो चारों ओर फैली हुई सुगन्धिसे बहुत ही मनोहर थे और जो शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूहोंसे सेवनीय होनेके कारण ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान्‌का यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलोंके द्वारा इन्द्राणीने बड़े भारी हर्षसे भगवान्‌की पूजा की थी ॥११४॥ इसी प्रकार देवोंने भी भक्तिपूर्वक अर्हन्त भगवान्‌की पूजा की थी परन्तु कृतकृत्य भगवान्‌को इन सबसे क्या प्रयोजन था ? वे यद्यपि बीतराग थे न किसीसे सन्तुष्ट होते थे और न किसीसे द्वेष ही करते थे तथापि अपने भक्तोंको इष्टफलोंसे युक्त कर ही देते थे यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥११५॥

अथानन्तर—जिन्हें समस्त विद्याओंके स्वामी जिनेन्द्रभगवान्‌की स्तुति करनेकी इच्छा हुई ऐसे वे बड़े-बड़े इन्द्र प्रसन्नचित्त होकर अपने भक्तिरूपी हाथोंसे चित्र-विचित्र वर्णोंवाली इस वचनरूपी पुष्पोंकी मालाको अर्पित करने लगे—नीचे लिखे अनुसार भगवान्‌की

१. अक्षतपुष्पपुजाम् । २. भक्त्यधीना । ३. बड़े द०, इ० । ४. महाभाजनस्थम् । ५. तारकासहितम् । ६. प्राप्तम् । ७. द्वेषं करोति । ८. भुजां युनक्ति । ९. वाक्प्रसनमालाम् ।

त्रयोविंशं पर्व

५५७

प्रमिताक्षरावृत्तम्

जिननाथसंस्तवकृतौ भवतो वयमुद्यताः स्म गुणरक्तनिधेः ।

^१ निधियोऽपि मन्दवचसोऽपि ननु स्वयि भक्तिरेव फलतीष्टफलम् ॥११७॥

^२ मतिशक्तिसारकृतवाग्बिम्बस्त्वयि भक्तिमेव वयमातनुमः ।

अमृताम्बुधेर्जलमलं न पुनातिखिलं प्रपातुमिति किं न पिबेत् ॥११८॥

यव वयं जडाः यव य गुणाम्बुनिधिस्तव देव ^३ पाररहितः परमः ।

इति ^४ जानतोऽपि जिन सम्पत्तिं ^५ नस्त्वयि भक्तिरेव मुखरीकुपते ॥११९॥

गणभृन्निरप्यगधितानमणूस्तव सद्गुणान्बधयममोष्ठमहे ।

किञ्च चित्रमेतदधवा प्रभुतां तव संश्रितः किमिव नेशिशिषुः ^६ ॥१२०॥

प्रुतचितम्बितवृत्तम्

तद्वियमोद्विषन् ^१ विधाति नस्त्वयि निरुद्धतरा जिननिश्चला ।

प्रसूतभक्तिरपारगुणोदया स्तुतिपथेऽथ ततो वयमुद्यताः ॥१२१॥

स्वमसि विश्वरूपीश्वर विश्वसृष्ट स्वमसि विश्वगुणाम्बुधिरक्षयः ।

स्वमसि देव अगदितद्यासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश्वर मः ॥१२२॥

स्तुति करने लगे ॥११६॥ कि हे जिननाथ, वह निश्चय है कि आपके विषयमें की हुई भक्ति ही इष्ट फल देती है इसीलिए हम लोग बुद्धिहीन तथा मन्दवचन होकर भी गुणरूपी रत्नों के खजानेस्वरूप आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हो रहे हैं ॥११७॥ हे भगवन्, जिन्हें बुद्धिकी सामर्थ्यसे कुछ वचनोंका वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे हम लोग केवल आपको भक्ति ही कर रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष अमृतके समुद्रका सम्पूर्ण जल पीनेके लिए समर्थ नहीं है वह क्या अपनी सामर्थ्यके अनुसार थोड़ा भी नहीं पीये ? अर्थात् अवश्य पीये ॥११८॥ हे देव, कहाँ तो जड़ बुद्धि हम लोग, और कहाँ आपका पाररहित बड़ा भारी गुणरूपी समुद्र। हे जिनेन्द्र, यद्यपि इस बातको हम लोग भी जानते हैं तथापि इस समय आपकी भक्ति ही हम लोगोंको वाचालित कर रही है ॥११९॥ हे देव, यह आश्चर्यकी बात है कि आपके जो बड़े-बड़े उत्तम गुण गणधरोंके द्वारा भी नहीं गिने जा सके हैं उनकी हम स्तुति कर रहे हैं अथवा इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो मनुष्य आपकी प्रभुताको प्राप्त हुआ है वह क्या करनेके लिए समर्थ नहीं है ? अर्थात् सब कुछ करनेमें समर्थ है ॥१२०॥ इसलिये हे जिनेन्द्र, आपके विषयमें उत्पन्न हुई अतिशय निगूढ़, निश्चल और अपरिमित गुणोंका उद्घ्य करनेवाली विशाल भक्ति ही हम लोगोंको स्तुति करनेके लिए इच्छुक कर रही है और इसीलिए हम लोग आज आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥१२१॥ हे ईश्वर, आप समस्त संसारके जाननेवाले हैं, कर्मभूमिरूप संसारकी रचना करनेवाले हैं, समस्त गुणोंके समुद्र हैं, अविनाशी हैं, और हे देव, आपका उपदेश जगत्के समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, इसीलिए हे जिनेन्द्र, आप हम सबकी स्तुतिको स्वीकृत

१. विगतमतयः । २. मतिशक्त्यनुसार । ३. अन्तरहितः । ४. जानन्तीति जानन्तः तान् । ५. अस्मान् ।

६. भूतं समर्पा अभूवन् । ७. ईडितुमिच्छन् ।

तत्र जिनाय विनामि गुणाशयः सकलकर्मकलङ्कविनिःसृताः ।
 चन्द्रियोगविनिर्मलमूर्तयो दिनमणेरिव भासुरमानवः^१ ॥१२३॥
 गुणमयीस्त्वमनन्ततयान्वितान् जिन समुद्रहसेऽतिविनिर्मलान् ।
 जलधिराभगभीरजलाभितानिध मणीनमकाननगुणविधः ॥१२४॥
 त्वमिनसंस्तुतिचक्षुरिकामिमामतिततामुद्गुःस्फफप्रदाम् ।
 जननसृत्युजराकुसुमाचिता^२ शमकरैर्मगवन्मुदपीपटः^३ ॥१२५॥

सामरसमुत्तम्

जिनवरमोहमहापूतनेशान् प्रबलधराश्चतुरस्तु^४ कथायाम् ।
 निशिततपोमयतीक्ष्णमहासि^५ प्रहृतिभिराशुतरामजयस्थवम् ॥१२६॥
 मनसिजशत्रुमजयमलक्ष्यं विरतिमयी^६ शितहेतिततिस्ते ।
 समरमरे विनिपातयति स्म त्वमसि तपो भुवनेकगरिष्ठः^७ ॥१२७॥
 जितमदनस्य तवेश महत्त्वं वपुरिदमेव हि शान्ति मनोजम् ।
 न विकृतिभाग्न कटाक्षनिरोद्धा^८ परमधिकारमनाभरणोद्भवम्^९ ॥१२८॥
^{१०} प्रविकृष्टे हृदि यस्य मनोजः स विकृष्टे स्फुटरागपरागः^{११} ।
 विकृतिरनङ्गजितस्तत्र नाभूद् विभवमवान्मुषमैकगुरुस्तत्^{१२} ॥१२९॥

कीर्षि ॥१२२॥ हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, जिस प्रकार बादलोंके हट जानेसे अतिशय निर्मल सूर्यकी देदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी कलंकके हट जानेसे प्रकट हुई आपकी गुणरूपी किरणें अतिशय सुशोभित हो रही हैं ॥१२३॥ हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार समुद्र अपने गहरे जलमें रहनेवाले निर्मल और विशाल कान्तिके धारक मणियोंको धारण करता है उसी प्रकार आप अतिशय निर्मल अनन्तगुणरूपी मणियोंको धारण कर रहे हैं ॥१२४॥ हे स्वामिन्, जो अत्यन्त विस्तृत है, बड़े-बड़े दुःखरूपी फलोंको देनेवाली है, और जन्म-मृत्यु तथा बुढ़ापारूपी फूलोंसे व्याप्त है ऐसी इस संसाररूपी लताको हे भगवन्, आपने अपने ज्ञान्त परिणामरूपी हाथोंसे उखाड़कर फेंक दिया है ॥१२५॥ हे जिनवर, आपने मोहकी बड़ी भारी सेनाके सेनापति तथा अतिशय शूर-वीर चार कथायोंको तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और बड़ी तलवारके प्रहारोंसे बहुत शीघ्र जीत लिया है ॥१२६॥ हे भगवन्, जो किसीके द्वारा जीता न जा सके और जो दिखाई भी न पड़े ऐसे कामदेवरूपी शत्रुको आपके चारित्र्यरूपी तीक्ष्ण हथियारोंके समूहने मार गिराया है इसलिए तीनों लोकोंमें आप ही सबसे श्रेष्ठ गुरु हैं ॥१२७॥ हे ईश्वर, जो न कभी विकारभावको प्राप्त होता है, न किसीको कटाक्षोंसे देखता है, जो विकाररहित है और आभरणोंके बिना ही सुशोभित रहता है ऐसा यह आपका सुन्दर शरीर ही कामदेवको जीतनेवाले आपके माहात्म्यको प्रकट कर रहा है ॥१२८॥ हे संसार-रहित जिनेन्द्र, कामदेव जिसके हृदयमें प्रवेश करता है वह प्रकट हुए रागरूपी परागसे युक्त होकर अनेक प्रकारकी विकारयुक्त चेष्टाएँ करने लगता है परन्तु कामदेवको जीतनेवाले आपके कुछ भी विकार नहीं पाया जाता है इसलिए आप तीनों लोकोंके मुख्य गुरु हैं ॥१२९॥

१. किरणाः । २. उपशमहृत्तैः । ३. पक्षे सूर्यकिरणैः । ४. उत्पादयति स्म । विनाशयति स्मेत्यर्थः ।

५. चतुष्कम् । ६. प्रभृतिभि-ल०, द० । असितोमरादिभिः । ७. निशितायुधः । ८. अतिशयेन गुरुः ।

९. न विकारकारि । १०. प्रशस्तम् । ११. विकारं करोति । १२. रागधूलिः । १३. कारणान् ।

स क्लिक् विनृत्यति गायति वल्गात्थपलापति^१ प्रहसत्यपि मूढः ।
मदनवशो जितभग्नमथ ते तु प्रशमसुखं वपुर्वै निराह^२ ॥१३०॥

नवमालिनीवृत्तम्

विरहितमानसस्तर तचेवं वपुःपरागं^३ मस्तकलिपङ्कम् ।
तत्र सुवनेश्वरस्वमपरागं प्रकटयति स्फुटं^४ निवृत्तिहीनम् ॥१३१॥
तत्र^५ वपुरामिलस्तकलशोभासमुदयमस्तवच्चमपि रम्यम् ।
अतिरुधिरस्य रत्नमणिराशेरपवरणं^६ किमिष्टमुद्दीप्तैः ॥१३२॥
स्विद्विरहितं विहीनमलक्ष्यं सुरमितरं सुलभमपटितं ते ।
अतज्जिबुक्कमस्ततिमिरीचं^७ व्यपगतभातु वज्रचन^८ संधि ॥१३३॥
समचतुरस्रमप्रमितवीर्यं प्रियहितवाग्निमेषपरिहीनम् ।
वपुरिदमच्छदिग्ममणिदीपं स्वमसि क्तोऽधि^९ देवपदभागी ॥१३४॥
इदमतिमानुषं तव शरीरं सकलविकारमोहमद्विहीनम् ।
प्रकटयतीश ते भुवनलङ्घि^{१०} प्रभुतमवैभवं कमककान्ति ॥१३५॥

प्रमुवितवदनावृत्तम्

स्पृशति नहि भवस्तमागश्च^{११} यः किमु^{१२} दिनपमभिद्रवेत्तामसम्^{१३} ।
वितिमिर^{१४} समवान्^{१५} जगत्साधने^{१६} ज्वलदुरुमहसा प्रदीपायते ॥१३६॥

हे कामदेवको जीतनेवाले जिनेन्द्र, जो मूर्ख पुरुष कामदेवके वश हुआ करता है वह नाचता है, गाता है, इधर-उधर घूमता है, सत्य बातको छिपाता है और जोर-जोरसे हँसता है परन्तु आपका शरीर इन सब विकारोंसे रहित है इसलिए यह शरीर ही आपके शान्तिसुखको प्रकट कर रहा है ॥१३०॥ हे मान और मात्सर्यभावसे रहित भगवन्, कर्मरूपी धूलिसे रहित, कलहरूपी पंकको नष्ट करनेवाला, रागरहित और छलरहित आपका यह शरीर आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इस बातको स्पष्टरूपसे प्रकट कर रहा है ॥१३१॥ हे नाथ, जिसमें समस्त सोमाओंका समुदाय मिल रहा है ऐसा यह आपका शरीर वन्नरहित होनेपर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि विशाल कान्तिको धारण करनेवाले अतिशय देदीप्यमान रत्न मणियोंकी राशिको वस्त्र आदिसे ढक देना क्या किसीको अच्छा लगता है ? अर्थात् नहीं लगता ॥१३२॥ हे भगवन्, आपका यह शरीर पसीनासे रहित है, मलरूपी दोषोंसे रहित है, अत्यन्त सुगन्धित है, उत्तम लक्षणोंसे सहित है, रक्तरहित है, अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाला है, धातुरहित है, वज्रमयी मजबूत सन्धियोंसे युक्त है, समचतुरस्रसंस्थानवाला है, अपरिमित शक्तिका धारक है, प्रिय और हितकारी वचनोंसे सहित है, निमेषरहित है, और स्वच्छ दिव्य मणियोंके समान देदीप्यमान है इसलिए आप देवाधिदेव पदको प्राप्त हुए हैं ॥१३३-१३४॥ हे स्वामिन्, समस्त विकार, मोह और मदसे रहित तथा सुवर्णके समान कान्तिवाला आपका यह लोकोत्तर शरीर संसारको उल्लंघन करनेवाली आपकी अद्वितीय प्रभुताके वैभवको प्रकट कर रहा है ॥१३५॥ हे अन्धकारसे रहित जिनेन्द्र, पापोंका समूह कभी आपको छूता भी नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि क्या अन्धकारका समूह भी कभी

१. अपलापं करोति । २. निरामाह । ३. न विद्यते परागो धूलिर्यत्र अपगतरजसमित्यर्थः । ४. कपट । ५. आयुज्ज । ६. बाष्पावणम् । ७. स्वेद । ८. रुधिररहितम् । ९. निविड । १०. अधिक । ११. अतिशय-प्रसी । १२. अवसमूहः । १३. 'तपनमभि' इति वा पाठः इति 'त' पुस्तके टिप्पण्यां लिखितम् । १४. गच्छेत् । १५. भी विगताक्रान्त्यकार । १६. पूज्यः । १७. जगत्सवित्री । 'जगत्सदने' अ०, प०, छन्दोमङ्गादशुद्धः पाठः । जगत्सदने इ० ।

जलधरमालावृत्तम्

रैभारा ते सुसम^१वतारेऽप्यत्^२आकेशानां^३पदविभक्त्यां^४रुखाः ।
 स्वर्गादारात्^५कनकमयीं वा सृष्टिं तन्वानासौ भुवनकुटीरस्यान्तः ॥१३७॥
 रैभारैरावतकरवीर्यं रेजे रं^६जेतारं^७भजत जना इत्येवम् ।
 मूर्तीभूता तव जिनलक्ष्मीलोकं संशोधं वा संपदि समातन्वाना ॥१३८॥
 त्वत्संभूतौ सुरकरमुक्ता व्योम्नि^८पौष्पी वृष्टिः सुरभितरा संरेजे ।
 मत्तालीनां कलहत्तमातन्वाना माकक्षोणां नयनवृत्तिर्वा यान्ती ॥१३९॥
 मेरोः शृङ्गे समजनि कुम्भाश्मोघेः स्वच्छाश्मोभिः कनकवटैर्गम्भीरैः ।
 माहात्म्यं ते जगति वितन्वन्माधि^९स्वधौरे^{१०}थैर्गुरुरभिषेकः पूतः ॥१४०॥
 त्वां निष्क्रान्तौ मणिमययानारुहं वोढुं सञ्जा^{११}वयमिति नैतच्छिष्यम् ।
 भानिर्वाणान्वियतमसौ गोर्वाणाः^{१२}किङ्कुर्वाणा नमु जिन कट्याणे ते ॥१४१॥
 त्वं धातासि त्रिभुवनमर्तास्य^{१३}कैवल्याकं स्फुटमुदितेऽस्मिन्दीप्ते^{१४} ।
 तस्माद्देवं^{१५}जननजरातङ्कारिं त्वां नमामो^{१६}गुणमिधिमग्रयं लोके ॥१४२॥

सूर्यके सम्मुख जा सकता है ? अर्थात् नहीं जा सकता । हे नाथ, आप इस जगत् रूपी घर में अपने देवीप्यमान विशाल तेजसे प्रदीपके समान आचरण करते हैं ॥१३६॥ हे भगवन्, आपके स्वर्गसे अवतार लेनेके समय (गर्भकल्याणकके समय) रत्नोंकी धारा समस्त आकाशको रोकती हुई स्वर्गलोकसे शीघ्र ही इस जगत् रूपी कुटीके भीतर पड़ रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त सृष्टिको सुवर्णमय ही कर रही हो ॥१३७॥ हे जिनेन्द्र, ऐरावत हाथीकी सूँठके समान लम्बायमान वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आपकी लक्ष्मी हो मूर्ति धारण कर लोकमें शीघ्र ही ऐसा सम्बोध फैला रही हो कि अरे मनुष्यो, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले इन जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करो ॥१३८॥ हे भगवन्, आपके जन्मके समय आकाशसे देवोंके हाथोंसे छोड़ी गयी अत्यन्त सुगन्धित और मदोन्मत्त भ्रमरोंकी मधुर गुल्लारकी चारों ओर फैलाती हुई जो फूलोंकी वृष्टि हुई थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवांगनाओंके नेत्रोंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥१३९॥ हे स्वामिन्, इन्द्रोने मेरुपर्वतके शिखरपर क्षीरसागरके स्वच्छ जलसे भरे हुए सुवर्णमय गम्भीर (गहरे) घड़ोंसे जगत्में आपका माहात्म्य फैलानेवाला आपका बड़ा भारी पवित्र अभिषेक किया था ॥१४०॥ हे जिन, तपकल्याणकके समय मणिमयी पालकीपर आरूढ़ हुए आपको ले जानेके लिए हम लोग तत्पर हुए थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि निर्वाण पर्यन्त आपके सभी कल्याणकोंमें ये देव लोग किङ्करोँके समान उपस्थित रहते हैं ॥१४१॥ हे भगवन्, इस देवीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्यका लक्ष्य होनेपर यह स्पष्ट प्रकट हो गया है कि आप ही धाता अर्थात् मोक्षमार्गकी सृष्टि करनेवाले हैं और आप ही तीनों लोकके स्वामी हैं । इसके सिवाय आप जन्मजरारूपी रोगोंका अन्त करनेवाले हैं, गुणोंके खजाने हैं और लोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए हे देव, आपको हम

१. स्वर्गावतरणे । २. पतति स्म । ३. लाङ्गणम् । ४. अहो । ५. जयशीलम् । ६. व्योम्नः ल० ।
 ७. स्वामिन् ल०, द०, इ० । ८. स्वर्लोकमुक्तेः । ९. सप्तधाः । १०. किङ्कराः । ११. इदानीम् । १२. दीप्ते ल० । १३. जननजरास्तकातीर्तं द०, इ० । १४. भूर्वा पुनःपुनर्वा नमामः ।

महर्षिणीवृत्तम्

त्वं मित्रं स्वससि गुरुस्त्वमेव मतां त्वं स्रष्टा भुवनपितामहस्त्वमेव ।
त्वां ध्यायन्नमृतिसुखं प्रयाति जन्तुस्त्रास्यस्य त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ॥१४३॥

रुचिरावृत्तम्

परं वदं परमसुखोदयास्पदं विवित्सं वदित्वरमिह योगिनोऽक्षरम् ।
स्वयोदितं जिन परमागमाक्षरं विचिन्तते^१ सवविलयाय सद्दिवः ॥१४४॥
त्वयोदिते पथि जिन ये वितन्वतेः परं धृतिं^२ प्रभवेत्परम्परायुजः ।
त एव^३ संसृतिलसिको प्रतापिनी^४ दहन्त्यलं स्मृतिदहनाधिषा भृशम् ॥१४५॥

मत्तमयूरवृत्तम्

वातोद्भूताः क्षीरपयोधेरिव श्रीर्चाहप्रेक्ष्या^५ मूडचामरपङ्कतीभवेदीयाः ।
पीयूषांशोदीप्तिसमं तीरिव सुभा भोमुच्यन्ते संसृतिभानो मन्वन्धनात् ॥१४६॥
सैहं पीठं स्वां^६ सृष्टिमिदमतिमानु^७ तन्वानं तन्नाति विमोस्ते पृथु रुक्मम् ।
मेरोः शृङ्गं वा मणितदं^८ सुरसेष्यं^९ न्यक्कुर्वाणं लोकमक्षोर्ध्वं स्वमहिम्ना ॥१४७॥

मञ्जुभाषिणीवृत्तम्

महितोदयस्य शिवमार्गदेशिनः सुरशिखिनिर्मितमद्भुतस्तव ।
^{१०}प्रथते सितातपनिवारणत्रयं सरदिन्दुबिम्बमिव कान्तिमत्तया ॥१४८॥

लोग बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१४२॥ हे नाथ, इस संसारमें आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही स्वामी हैं, आप ही स्रष्टा हैं और आप ही जगत्के पितामह हैं। आपका ध्यान करनेवाला जीव अवश्य ही मृत्युरहित सुख अर्थात् मोक्षसुखको प्राप्त होता है। इसलिए हे भगवन्, आज आप इन तीनों लोकोंको नष्ट होनेसे बचाइए-इन्हें ऐसा मार्ग बतलाइए जिससे ये जन्म-मरणके दुःखोंसे बच कर मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त कर सकें ॥१४३॥ हे जिनेन्द्र, परम सुखकी प्राप्तिके स्थान तथा अविनाशी उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को जाननेकी इच्छा करनेवाले उत्तम बुद्धिमान् योगी संसारका नाश करनेके लिए आपके द्वारा कहे हुए परमागमके अक्षरोंका चिन्तन करते हैं ॥१४४॥ हे जिनराज, जो मनुष्य आपके द्वारा बतलाये हुए मार्गमें परम सन्तोष धारण करते हैं अथवा आनन्दकी परम्परासे युक्त होते हैं वे ही इस अतिशय विस्तृत संसाररूपी लताको आपके ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे विलकुल जला पाते हैं ॥१४५॥ हे भगवन्, वायुसे उठी हुई क्षीरसमुद्रको लहरोंके समान अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके समूहके समान सुशोभित होनेवाली आपकी इन सफेद चमरोंकी पंक्तियोंको देखकर संसारी जीव अवश्य ही संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥१४६॥ हे विभो, सूर्यको भी तिरस्कृत करनेवाली और अतिशय देदीप्यमान अपनी कान्तिको चारों ओर फैलाता हुआ, अत्यन्त ऊँचा, मणियोंसे जड़ा हुआ, देवोंके द्वारा सेवनीय और अपनी सहिमासे समस्त लोकोंको नीचा करता हुआ यह आपका सिंहासन मेरु पर्वतके शिखरके समान शोभायमान हो रहा है ॥१४७॥ जिनका ऐश्वर्य अतिशय उत्कृष्ट है और जो मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं ऐसे आप अरहन्त देवका यह देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया

१. संसाराख्यो पतनात् । २. वेत्तुमिच्छन्नः । ३. विचारयन्ति । ४. सन्तोषम् । ५. ते भव्या एव ।

६. विस्तृताम् । ७. दृष्ट्वा । ८. चन्द्रस्य । ९. दीप्तिमन्ततिः । १०. निजकान्तिम् । ११. अतिक्रान्तभानुम् ।

१२. मणिबद्धम् । १३. अधःकुर्वाणम् । १४. प्रकटीकरोति ।

छन्दः (१)

वृक्षोऽशोको मरकतवचिरस्कन्धो भाति श्रीमानयमतिवचिराः शाखाः ।

बाहूकृत्य स्फुटमिव नटितं^१ तन्वन्वातोद्धूतः कलरुतमधुकुन्माकः^२ ॥१४९॥

पुष्पाकीर्णो नृसुरमुनिवरैः काण्ठो मन्दं मन्दं मृदुतरपवना^३भूतः ।

सञ्छायोऽयं विहृतं नृशुगशोकोऽगो भाति श्रीमोक्षवसिष्ठं हि जगतां श्रेयः^४ ॥१५०॥

असम्बाधावृत्तम्

व्यासाकाशा वृष्टि^५मलिकुलरुतोद्गीता पौष्पी देवास्त्वां प्रतिभुवनगृहस्याभात् ।

मुग्धन्पेते दुन्दुभिमधुरदैः सार्द्धं प्राध्वजोमूतान्^६ स्तनितमुखरिताक्षित्वा ॥१५१॥

अपराजितावृत्तम्

स्वप्नरपटर्हर्विशङ्क्य धनागमं पटुजलदघटानिद्वन्द्वनजोङ्गणम् ।

विरचितरुचिमरकलापसुमन्धरां मरकतमधुना रुचस्ति^७ ॥१५२॥

गया छत्रत्रयं अपनी कान्तिसे शरद्वृक्षतुके चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हो रहा है ॥१४८॥ हे भगवन्, जिसका स्कन्ध मरकतमणियोंसे अतिशय वेदीप्यमान हो रहा है और जिसपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूह बैठे हैं ऐसा यह शोभायमान तथा वायुसे हिलता हुआ आपका अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी अत्यन्त वेदीप्यमान शाखाओंको भुजा बनाकर उनके द्वारा स्पष्ट नृत्य ही कर रहा हो ॥१४९॥ अथवा अत्यन्त सुकोमल वायुसे धीरे-धीरे हिलता हुआ यह अशोकवृक्ष आपके ही समान सुशोभित हो रहा है क्योंकि जिस प्रकार आप देवोंके द्वारा बरसाये हुए पुष्पोंसे आकीर्ण अर्थात् व्याप्त हैं उसी प्रकार यह अशोकवृक्ष भी पुष्पोंसे आकीर्ण है, जिस प्रकार मनुष्य देव और बड़े-बड़े मुनिराज आपको चाहते हैं—आपकी प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार मनुष्य देव और बड़े-बड़े मुनिराज इस अशोकवृक्षको भी चाहते हैं, जिस प्रकार पवनकुमार देव मन्द-मन्द वायु चलाकर आपकी सेवा करते हैं उसी प्रकार इस वृक्षको भी सेवा करते हैं—यह मन्द-मन्द वायुसे हिल रहा है, जिस प्रकार आप सञ्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिके धारक हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी सञ्छाय अर्थात् छाँहरीका धारक है—इसकी छाया बहुत ही उत्तम है, जिस प्रकार आप मनुष्य तथा देवोंका शोक नष्ट करते हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी मनुष्य तथा देवोंका शोक नष्ट करता है और जिस प्रकार आप तीनों लोकोंके श्रेय अर्थात् कल्याणरूप हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी तीनों लोकोंमें श्रेय अर्थात् मंगल रूप है ॥१५०॥ हे भगवन्, ये देव लोग, वर्षाकालके मेघोंकी गरजनाके शब्दोंको जीतनेवाले दुन्दुभि राजाओंके मधुर शब्दोंके साथ-साथ जिसने ससस्त आकाशको व्याप्त कर लिया है और जो भ्रमरोंकी मधुर गुंजारसे गाती हुई-सी जान पड़ती है ऐसी फूलोंकी वर्षा आपके सामने लोकरूपी घरके अग्रभागसे छोड़ रहे हैं ॥१५१॥ हे भगवन्, आपके देव-दुन्दुभियोंके कारण बड़े-बड़े मेघोंकी घटाओंसे आकाशरूपी आँगनको रोकने-वाली वर्षावृक्षतुकी शंका कर ये मयूर इस समय अपनी सुन्दर पूँछ फैलाकर मन्द-मन्द

१. नटनम् । २. भ्रमरपङ्क्तिः । ३. पवनोद्धूतः ल०, इ० । ४. नृशुक्तरशोकः । विहितनृशुराशोको ल०, इ०, अ०, स० । ५. श्रमणीयः । ६. मलिकल ल०, अ० । ७. मेघरववाचालितान् । ८. बह्ममन्त्रगतताः । ९. ध्वनन्ति । १०. मयूराः ।

प्रहरणकलिकावृत्तम्

तत्र जिन ततदेहकविचारणं समररुहतिः सितविहं गरुचिम् ।
हयमनुतनुते^१ रुचिरतरतनुर्मणिमुकुटसमिद्धरुचिसुरधुता ॥१५३॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

त्वद्दिव्यवाग्विषयसंशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती ।
तस्यावबोधमचिरात् कुरुते तु धाना स्याद्वावर्णीति विद्वत्तान्धमस्तान्धकारा ॥१५४॥
प्रक्षालयस्वतिलमेव मलोमलं नस्त्वद्भारतीमपमिदं शुचिपुण्यमम्बु ।
तीर्थं तदेव हि विभेषजनाजवत्^२ वाचारसन्तरणवर्गं भवत्प्रणीतम् ॥१५५॥
त्वं सर्वगः सकलवस्तु^३ गतावशेषस्त्वं सर्वविश्रुतविश्वपदार्थसार्थः ।
त्वं सर्वजिद्विदितमन्मथमोहशत्रुस्त्वं सर्वदुर्निखिलभावविशेषवर्णी ॥१५६॥
त्वं तीर्थकृत्सकलपापमलापहारितदुर्मतीर्थविमलीकरणैकनिष्ठः ।
त्वं मन्त्रकृत्तिलपापविषापहारिपुण्यश्रुति^४ प्रवरमन्त्रविधानमुन्मुः^५ ॥१५७॥
त्वामामनन्ति मुनयः पुरुषं पुराणं त्वां प्राहुरच्युतसृषीश्वरमक्षयिन् ।
तस्माद्भवान्तक भवन्तमचिन्त्ययोगं योगेश्वरं जगद्गुरुं^६ त्रिगुणेश्वरं^७ ॥१५८॥

गमन करते हुए भदसे मनोहर शब्द कर रहे हैं ॥ १५२ ॥ हे जिनेन्द्र, मणिमय मुकुटोंकी देदीप्यमान कान्तिको धारण करनेवाले देवोंके द्वारा दोरी हुई तथा अतिशय सुन्दर आकार-वाली यह आपके चमरोंकी पंक्ति आपके शरीरकी कान्तिरूपी सरोवरमें सफेद पक्षियों (हंसों)-की शोभा बढ़ा रही है ॥१५३॥ हे भगवन्, जिसमें संसारके समस्त पदार्थ भरे हुए हैं, जो समस्त भाषाओंका निदर्शन करती है अर्थात् जो अतिशय विशेषके कारण समस्त भाषाओं-रूप परिणमन करती है और जिसने स्याद्वादरूपी नीतिसे अन्यमतरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है ऐसी आपकी यह दिव्यध्वनि विद्वान् लोगोंको शीघ्र ही तत्त्वोंका ज्ञान करा देती है ॥१५४॥ हे भगवन्, आपकी वाणीरूपी यह पवित्र पुण्य जल हम लोगोंके मनके समस्त मलको धो रहा है, वास्तवमें यही तीर्थ है और यही आपके द्वारा कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजनोंको संसाररूपी समुद्रसे पार होनेका मार्ग है ॥१५५॥ हे भगवन्, आपका ज्ञान संसारकी समस्त वस्तुओं तक पहुँचा है—समस्त वस्तुओंको जानता है इसलिए आप सर्वग अर्थात् व्यापक हैं, आपने संसारके समस्त पदार्थोंके समूह जान लिये हैं इसलिए आप सर्वज्ञ हैं, आपने काम और मोहरूपी शत्रुको जीत लिया है इसलिए आप सर्वजित् अर्थात् सबको जीतनेवाले हैं और आप संसारके समस्त पदार्थोंको विशेषरूपसे देखते हैं इसलिए आप सर्वदृक् अर्थात् सबको देखनेवाले हैं ॥१५६॥ हे भगवन्, आप समस्त पापरूपी मलको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मरूपी तीर्थके द्वारा जीवोंको निर्मल करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं इसलिए आप तीर्थङ्कर हैं और आप समस्त पापरूपी विषको अपहरण करनेवाले पवित्र शास्त्ररूपी वृत्तमन्त्रके बनानेमें चतुर हैं इसलिए आप मन्त्रकृत् हैं ॥१५७॥ हे भगवन्, मुनि लोग आपको ही पुराण पुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष (पक्षमें ब्रह्मा) मानते हैं, आपको ही ऋषियोंके ईश्वर और अक्षय ऋत्तिको धारण करनेवाले अच्युत अर्थात् अविनाशी (पक्षमें विष्णु) कहते हैं तथा आपको ही अचिन्त्य योगको धारण करनेवाले, और समस्त जगत्के उपासना करने योग्य

१. सरति । २. हंस । ३. अनुकरोति । ४. नय । ५. संसारसमुद्रोत्तरण । ६. सकलपदार्थप्राप्त-ज्ञानत्वात् उपर्यप्येव योज्यम् । ७. आगम । ८. प्रतीतः (समर्थः) । ९. जगदाराध्यम् । १०. आराधयामः स्म ।

तुभ्यं नमः सकलधातिमलम्यपापसंभूतकेवलमयामलकोचनाय ।
 तुभ्यं नमो दुरितघ्नघनशङ्खलानां छेत्रे^१ सवार्गलभिदे^२ जिनकुञ्जराय ॥१५९॥
 तुभ्यं नमस्त्रिभुवनैकपितामहाय तुभ्यं नमः परमनिर्वृतिकारणाय ।
 तुभ्यं नमोऽधिकगुरवे^३ गुरवे गुणोच्चैस्तुभ्यं नमो विदितविश्वजगत्प्रयाय ॥१६०॥
 इत्युच्यते स्तुतिसुदारगुणानुरागादस्माभिरीक्ष रक्षितां स्वयि चित्रवर्णाम् ।
 देव प्रसीद परमेश्वर भक्तिपूर्तां पादार्पितां स्रजमिवाभुगृहाण चार्वीम् ॥१६१॥
 स्वामीर्भूम्हं जिन सघनतमनुस्मरामस्वर्षां कुङ्कुमलीकृतकरा वयसानमानः ।
 स्वरसंस्तुतायुपचितं धविहाय पुण्यं तेनास्तु भक्तिरमला स्वयि नः प्रसन्ना ॥१६२॥
 इत्थं सुरासुरनरोगपक्षसिद्धगन्धर्वचारणैर्गणैस्सममिद्वबोधाः ।
 श्राद्धिवादिभ्यश्चुषमा^४ वृषभाय तस्मै चक्रुर्ममः स्तुतिशतैर्नतमौलयस्ते ॥१६३॥
 स्तुतेति तं जिनमजं जगदेकवन्धुं नक्त्या नतोऽमुकुटैरमरैः सहैभ्याः ।
 धर्मप्रिया^५ जिनपतिं परितो यथास्वमास्थानभूमिमनजन् जिनसम्पुलाहयाः ॥१६४॥

योगीश्वर अर्थात् भुनियोंके अधिपति (पक्षमें महेश) कहते हैं इसलिए हे संसारका अन्त करनेवाले जिनेन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप आपकी हम लोग भी उपासना करते हैं ॥१५९॥ हे नाथ, समस्त धातियाकर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जिनके केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र उत्पन्न हुआ है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो । जो पापबन्धरूपी साकलको छेदनेवाले हैं, संसाररूपी अर्गलको भेदनेवाले हैं और कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले जिनोंमें हाथीके समान श्रेष्ठ हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥१५९॥ हे भगवान्, आप तीनों लोकोंके एक पितामह हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परम निर्वृति अर्थात् मोक्ष अथवा सुखके कारण हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप गुरुओंके भी गुरु हैं तथा गुणोंके समूहसे भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आपने समस्त तीनों लोकोंको जान लिया है इसलिए भी आपको नमस्कार हो ॥१६०॥ हे ईश, आपके उदार गुणोंमें अनुराग होनेसे हम लोगोंने आपकी यह अनेक वर्णों (अक्षरों अथवा रंगों) वाली उत्तम स्तुति की है इसलिए हे देव, हे परमेश्वर, हम सधर प्रसन्न होइए और भक्तिसे पवित्र तथा चरणोंमें अर्पित की हुई सुन्दर मालाके समान इसे स्वीकार कीजिए ॥१६१॥ हे जिनेन्द्र, आपकी स्तुति कर हम लोग आपका बार-बार स्मरण करते हैं, और हाथ जोड़कर आपको नमस्कार करते हैं । हे भगवान्, आपकी स्तुति करनेसे आज यहाँ हम लोगोंको ओ कुछ पुण्यका संशय हुआ है उससे हम लोगोंकी आपमें निर्मल और प्रसन्नरूप भक्ति हो ॥१६२॥ इस प्रकार जिनका ज्ञान अतिशय प्रकाशमान हो रहा है ऐसे मुख्य-मुख्य वर्त्तीस इन्द्रोने, (भयनवासी १०, वयन्तर ८, ज्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व और चारणोंके समूहके साथ-साथ सैकड़ों स्तुतियों-द्वारा मस्तक झुकाते हुए उन भगवान् वृषभदेवके लिए नमस्कार किया ॥१६३॥ इस प्रकार धर्मसे प्रेम रखनेवाले इन्द्र लोग, अपने बड़े-बड़े सुकुटोंको नभीभूत करनेवाले देवोंके साथ-साथ फिर कभी उत्पन्न नहीं होनेवाले और जगत्के एकमात्र बन्धु जिनेन्द्रदेवकी स्तुति कर समवसरण भूमिमें जिनेन्द्र भगवान्की ओर मुखकर उन्हींके चारों ओर यथायोग्यरूपसे बैठ गये ॥१६४॥

१. छेदकाय । २. भेदकाय । ३. अधिकगुरवे । ४. 'मोक्ष हे' इति 'ल' पुस्तकगतौ पाठोऽनुष्ठः ।
 ५. स्तुतिपाठक । ६. इन्द्रधेष्टाः । ७. जिनपतेः समस्तात् ।

देहे जिनस्य जयिनः^१ कमकावदाते रेजुस्तदा भृशममी सुरदृष्टिपाताः ।

^२कल्पाङ्गनिपात इव मत्तमभुजतानामोषाः प्रसूनमधुपानपिपासितानाम् ॥१३५॥

इन्दुवचनावृत्तम्

कुञ्जरकराभभुजमिन्दुसमवक्त्रं कुञ्चितमितस्थितशिरोरुहकलापम् ।

मन्दरतटाभपृथुवक्षसमधीशं तं जिनमपेक्ष्य विविजाः प्रमदमीयुः ॥१३६॥

शशिकला, मणिगणकिरणो वा वृत्तम्

विकसिततरसिजदलनिभनयनं करिकरसुरचिरभुजयुगममलम् ।

जिनवपुरतिशयशुभियुतममरा निदधसुरतिष्ठति^३ विमुक्तकनयनाः ॥१३७॥

विधुरविहरश्चमररुद्धपरितं ममसिजहारशतनिपतनविजयि ।

जिनधरवपुरवधुतसकलमलं निपपुरसृतमिव शुचि सुरमधुपाः ॥१३८॥

कमलदलविलसदनिमिषनयनं प्रहसित^४ निभमुलमतिशयभुरभिः ।

सुरनरपरिवृण्वनयनसुखकरं व्यरुच्यदधिकरुचि जिनवृषभयपुः ॥१३९॥

जिनमुलशतदलमनिमिषनयनभ्रमरमतिभुरभि विधुतविधुरभिः ।

मनसिजहिमहीतिविरहितमांतिरुक्^५ पपुरविदितेष्टति^६ सुरदुवलिदताः ॥१४०॥

उस समय घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रभगवान्‌के सुवर्णके समान उज्ज्वल शरीरपर जो देवोंके नेत्रोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो कल्पवृक्षके अवयवोंपर पुष्पोंका रस पीनेकी इच्छा करनेवाले मद्योन्मत्त भ्रमरोंके समूह ही हों ॥१३५॥ जिनकी भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान हैं, जिनका मुख चन्द्रमाके समान है, जिनके केशोंका समूह टेढ़ा, परिमित (वृद्धिसे रहित) और स्थित (नहीं फड़नेवाला) है और जिनका वक्षःस्थल मेरुपर्वतके तटके समान है ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रभगवान्‌को देखकर वे देव बहुत ही हर्षित हुए थे ॥१३६॥ जिसके नेत्र फूले हुए कमलके दलके समान हैं, जिनकी दोनों भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान हैं, जो निर्मल है, और जो अत्यन्त कान्तिसे युक्त है ऐसे जिनेन्द्रभगवान्‌के शरीरको वे देव लोग बड़े भारी सन्तोषसे नेत्रोंको उघाड़-उघाड़कर देख रहे थे ॥१३७॥ जो चन्द्रमाकी कान्तिको हरण करनेवाले भ्रमरोंसे घिरा हुआ है, जो काम-देवके सैकड़ों बाणोंके निपातको जीतनेवाला है, जिसने समस्त मल नष्ट कर दिये हैं और जो अतिशय पवित्र है ऐसे जिनेन्द्रदेवके शरीरको देवरूपी भ्रमर अमृतके समान पान करते थे ॥१३८॥ जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हो रहे थे, जिसका मुख हँसते हुएके समान जान पड़ता था, जो अतिशय सुगन्धिसे युक्त था, देव और मनुष्योंके स्वामियोंके नेत्रोंको सुख करनेवाला था, और अधिक कान्तिसे सहित था ऐसा भगवान् वृषभदेवका वह शरीर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१३९॥ जिसपर टिमकाररहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुए हैं, जो अत्यन्त सुगन्धित है जिसने चन्द्रमाकी कान्तिको तिरस्कृत कर दिया है, जो कामदेवरूपी हिमके आघातसे रहित है और जो अतिशय कान्तिमान् है ऐसे भगवान्‌के मुखरूपी कमलको देवांगनाओंके नेत्र असन्तुष्टरूपसे पान कर रहे थे । भावार्थ—

१. जयशीलस्य । २. कल्पवृक्षशरीरे यथा । ३. सन्तोषविकसित । ४. पानं चक्रुः, पीतवन्तः । ५. निमिषरहित । ६. हसनसदृश । ७. अधिकाग्नि । ८. जिनमुक्तदर्शनात् पूर्वमेव विकसन्तरयः पानाय इत्यभिप्रायः । अविज्ञातसन्तीर्षं यथा ।

विजितकमलदलविहसदसदशरं सुरयुवतिनयनमधुकरततवपुषम् ।

वृषभभजरमजस्रपतिमुमदितं नमत परमं मतममितरुचिमृषिपतिम् ॥१७१॥

मालिनीवृक्षम्

सरसिजनिमवक्त्रं पद्मकिञ्चुकगौरं कमलदलविशालध्यायतास्पन्दिनेत्रम् ।

सरसिस्तसमानामोदमच्छायमच्छस्कटिकमणिविभासि श्रीजिनस्थाङ्गमीडे ॥१७२॥

नयनयुगमताञ्जं वक्ति कोपध्वपायं भुक्तिरहितमाख्यं शान्ततां यस्य शास्ति ।

भद्रजयमपाङ्गाकोकनापायसौम्यं प्रकटयति यदङ्गं तं जिह्मं नन्ममीमि ॥१७३॥

शृषभगजविलसितवृक्षम्

गात्रमनङ्गमङ्गदतिसुरमिरुचिरं नेत्रमताम्रमत्यमलतररुचिविसरम् ।

वक्त्रमदृष्टसद्धानं वसनमिव हसद्यस्य विभाति तं जिनभवनमतं सुधियः ॥१७४॥

सौम्यवक्त्रममलकमलदलनिभञ्जं हेमपुञ्जसदृशवपुषमृषभमृषिपम् ।

रक्तपद्मरुचिस्तुदमलमृदुपदयुगं सङ्गतोऽस्मि परमपुरुषमपवर्धं गिरम् ॥१७५॥

भगवान्का मुखकमल इतना अधिक सुन्दर था कि देवागनाएँ उसे देखते हुए सन्तुष्ट ही न हो पाती थीं ॥१७०॥ जिनके अनुपम नेत्र कमलदलको जीतते हुए सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवागनाओंके नेत्ररूपी भ्रमरके लगाने हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, शत्रुओंके द्वारा पूजित हैं, अतिशय इष्ट हैं अथवा जिनका मत अतिशय उत्कृष्ट है, जिनकी कान्ति अपार है और जो ऋषियोंके स्वामी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवको हे भव्य जीवो, तुम सब नमस्कार करो ॥१७१॥ मैं श्रीजिनेन्द्रभगवान्के उस शरीरकी स्तुति करता हूँ जिसका कि मुख कमलके समान है, जो कमलकी केशरके समान पीतवर्ण है, जिसके दिभकाररहित नेत्र कमलदलके समान विशाल और लम्बे हैं, जिसकी सुगन्धि कमलके समान थी, जिसकी छाया नहीं पड़ती और जो स्वच्छ स्फटिकमणिके समान सुशोभित हो रहा था ॥१७२॥ जिनके ललाईरहित दोनों नेत्र जिनके क्रोधका अभाव बतला रहे हैं, भौंहोंकी देढ़ाईसे रहित जिनका मुख जिनकी शान्तताको सूचित कर रहा है और कटाक्षावलोकनका अभाव होनेसे सौम्य अवस्थाको प्राप्त हुआ जिनका शरीर जिनके कामदेवकी विजयको प्रकट कर रहा है ऐसे उन जिनेन्द्रभगवान्को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१७३॥ हे बुद्धिमाम् पुरुषो, जिनका शरीर कामदेवको नष्ट करनेवाला अतिशय सुगन्धित और सुन्दर है, जिनके नेत्र ललाईरहित तथा अत्यन्त निर्मल कान्तिके समूहसे सहित हैं, और जिनका मुख ओंठोंको ढसता हुआ नहीं है तथा हँसता हुआ-सा सुशोभित हो रहा है ऐसे उन वृषभजिनेन्द्रको नमस्कार करो ॥१७४॥ जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदलके समान हैं, शरीर सुवर्णके पुञ्जके समान है, जो ऋषियोंके स्वामी हैं, जिनके निर्मल और कोमल चरणोंके युगल लाल कमलकी कान्ति धारण करते हैं, जो परम पुरुष हैं और जिनकी वाणी अत्यन्त कोमल है ऐसे श्री वृषभ

१. उत्कृष्टशोभनम् । २. पीतवर्ण । ३. शास्वतां ट० । शिक्षकत्वम् । ४. भृशं नमामि । ५. प्रशस्ता-
धरम् । ६. नमस्कारं कुरुतः । ७. सम्यक् प्रणतोऽस्मि । ८. कोमलवाचम् ।

वाणिनीवृत्तम्

स जयति यस्य पादयुगलं जयत्पङ्कजं विलसति पद्मगर्भं मधिशय सलक्षणम् ।
मनसिजरागमर्वनसहं जगत्प्रीणनं सुरपतिमौलिहोस्वरगलङ्गजपिञ्जरम् ॥१७६॥

हरिणीवृत्तम्

जयति वृषभो यस्योत्तुङ्गं विभाति महासनं हरिपरिधृतं रत्नानन्दं परिस्फुरदंशुकम् ।
अधरितजगत्मेरोलीलां विदम्बयदुच्चकैर्नतसुरतिरोटाग्रं भावसुतीरिव तर्जयत् ॥१७७॥

शिवरिणीवृत्तम्

समग्रो वैदर्भी सकलशं भवन्मण्डलगतां स्तिष्ठन्कञ्च भाति त्रिभुवनगुरोर्वस्य विहसत् ।
जयत्येष श्रीमान् वृषभजिनराणिजितरिपुर्नमस्तेन्द्रोद्यन्मुकुटमणिपुष्पाङ्गिकमलः ॥१७८॥

पुष्पभीमवृत्तम्

जयत्यमरनाथकैरसकृद्वर्षिताङ्गिद्वयः सुरोत्करकराधुतैश्चमरजोत्करैर्वीजितः ।
गिरीन्द्रनिखरे गिरीन्द्र इव योऽभिषिक्तः सुरैः पयोद्विभुषिषारिभिः शशिकराङ्कुरैर्विभिः ॥१७९॥

वृषभपतितवृत्तम्

यस्य समुज्ज्वला गुणगणा इव हचिरतरा मान्व्यमितो मयूखनिबद्धा गुणसकलनिधेः ।
विश्व जनीनधारुचरितः सकलजगदिनः सोऽवतु मध्यपङ्कजरविर्बृषभजिनविभुः ॥१८०॥

जिनेन्द्रको मैं अच्छी तरह नमस्कार करता हूँ ॥१७५॥ जिनके चरण-युगल कमलोंको जीतनेवाले हैं, उत्तम-उत्तम लक्षणोंसे सहित हैं, कामसम्बन्धी रागको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, जगत्को सन्तोष देनेवाले हैं, इन्द्रके मुकुटके अग्रभागसे गिरती हुई मालाके परागसे पीले-पीले हो रहे हैं और कमलके मध्यमें विराजमान कर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त हों ॥१७६॥ जो बहुत ऊँचा है, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ है, रत्नोंसे अड़ा हुआ है, चारों ओर चमकती हुई किरणोंसे सहित है, संसारको नीचा दिखला रहा है, मेरुपर्वतकी शोभाकी खूब विदम्बना कर रहा है और जो नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंकी कान्तिकी तर्जना करता-सा जान पड़ता है ऐसा जिनका धड़ा भारी सिंहासन सुशोभित हो रहा है वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥१७७॥ तीनों लोकोंके गुरु ऐसे जिन भगवान्का सफेद छत्र पूर्ण चन्द्रमण्डलसम्बन्धी समस्त शोभाको हँसता हुआ सुशोभित हो रहा है जिन्होंने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है जिनके चरणकमल नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके वेदीप्यमान मुकुटोंमें लगे हुए मणियोंसे घर्षित हो रहे हैं और जो अन्तरङ्ग तथा बहिरंग लक्ष्मीसे सहित हैं ऐसे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१७८॥ इन्द्रोंने जिनके चरण-युगलकी पूजा अनेक बार की थी, जिनपर देवोंके समूहने अपने हाथसे हिलाये हुए अनेक चमरोंके समूह तुराये थे और देवोंने मेरु पर्वतपर दूसरे मेरु पर्वतके समान स्थित हुए जिनका, चन्द्रमाकी किरणोंके अंकुरोंके साथ स्पर्धा करनेवाले क्षीरसागरके पवित्र जलसे अभिषेक किया था वे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१७९॥ गुणोंके समुद्रस्वरूप जिन भगवान्के उज्ज्वल और अतिशय वेदीप्यमान किरणोंके समूह गुणोंके समूहके समान चारों ओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका सुन्दर चरित्र समस्त जीवोंका हित

१. कमलमध्ये स्थित्वेत्यर्थः । २. समर्थम् । ३. किरणम् । ४. - किरितां अ०, स० । ५. सोन्दर्यम् ।

६. सम्पूर्णचन्द्रविम्बर । ७. घर्षित । ८. सकलजनहित । ९. जगत्पतिः । १०. रक्षतु ।

मन्दाक्रान्तावृत्तम्

यस्याशोकवृक्षकिसलयदिघ्नप्रसूनो भाति श्रीमान् मरकतमयस्कन्धवम्भोज्ज्वलाङ्गः ।
सान्द्रच्छाद्यः सकलजनताशोकविच्छेदनेच्छः सोऽयं श्रीशो जयति वृषभो भव्यपद्माकरार्कः ॥१८१॥

कुसुमितलतावेल्लितावृत्तम्

जीयाञ्जनेन्द्रः सुरचिरतनुः श्रीरवोकाङ्क्षिपो यो वातोद्भूतैः स्वैः प्रचलचिद^१ पैर्निव्यपुष्पोपहारम् ।
तन्वन्वयासासः परभृतस्तातोद्यसंगीतद्वयो नृत्यच्छात्वाप्रेजिनमिव मजन्मनाति भक्त्येव भव्यः ॥१८२॥

मन्दाक्रान्तावृत्तम्

यस्यां पुष्पप्रततिममराः पातयन्ति द्युध्नः प्रीता नेत्रप्रततिमिव त्री लोकसत्तालिशुष्टाम् ।
वातोद्भूतैर्ध्वजविततिभिर्व्योमसम्भार्जनी वा भाति श्रेयः समवसृतिभूः साचिरं नस्तनोतु ॥१८३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यस्मिन्नमरुकिर्विभाति मितरी रत्नप्रभाभास्वरे^२
भास्वराङ्गकाललो मन्दाक्रान्तिभो धूलिसंघीर्षो विमोः ।
स्तम्भाः कल्पवृक्षप्रभा भरुष्यो मानाधिकाश्चोद्भवजा^३
जीयासुखिनमर्तुरस्य गतनप्रोलकचिनी भास्वराः ॥१८४॥

करनेवाला है, जो सकल जगत्के स्वामी हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं ऐसे श्री वृषभ जिनेन्द्र देव हम-सबकी रक्षा करें ॥१८०॥ जिसके पल्लव हिल रहे हैं, जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्णके हैं, जो उत्तम शोभासे सहित हैं, जिसका स्कन्ध मरकतमणियोंसे बना हुआ है, जिसका शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही सघन है, और समस्त लोगोंका शोक नष्ट करनेकी जिसकी इच्छा है ऐसा जिनका अशोक-वृक्ष सुशोभित हो रहा है और जो भव्य जीवरूपी कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं ऐसे वे बहिरंग और अन्तरंग लक्ष्मीके अधिपति श्री वृषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१८१॥ जिसका शरीर जतिशय सुन्दर है, जो वायुसे हिलती हुई अपनी चंचल शाखाओंसे सदा फूलोंके उपहार फैलाता रहता है, जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जो कोयलोंके मधुर शब्दरूपी गाने-बजानेसे मनोहर है और जो नृत्य करती हुई शाखाओंके अग्रभागसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करते हुए भव्यके समान सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्री जिनेन्द्रदेवका शोभायुक्त अशोकवृक्ष सदा जयवन्त रहे ॥१८२॥ जिस समवसरणकी भूमिमें देव लोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रोंकी पंक्तिके समान चंचल और चम्कत भमरीसे सेवित फूलोंकी पंक्ति आकाशके अग्रभागसे छोड़ते हैं अर्थात् पुष्पवर्षा करते हैं और जो वायुसे हिलती हुई अपनी ध्वजाओंकी पंक्तिसे आकाशको साफ करती हुई-सी सुशोभित होती है ऐसी वह समवसरणभूमि चिरकाल तक हम सबके कल्याणको विस्तृत करे ॥१८३॥ रत्नोंकी प्रभासे देदीप्यमान रहनेवाले जिस धूलीसालमें सूर्य निमग्नकिरण होकर अत्यन्त शोभायमान होता है ऐसा वह भगवान्का निर्मल धूलीसाल सदा जयवन्त रहे तथा जो कल्पवृक्षसे भी अधिक कान्तिवाले हैं जिनपर ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही हैं, जो आकाशको उत्तर्धन कर रही हैं, और जो अतिशय देदीप्यमान हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवके

१. शाखाभिः । २. -मासुरी ६०, ल०, प० । -भासुरे ६०, अ०, प० । ३. कल्पवृक्षप्रभासदृशतेजसः ।
४. ऊर्ध्वगतध्वजाः ।

वाप्यो रत्नतटाः प्रसन्नमलिका नीलोत्पलैरावृता

गम्भान्ध्रममराश्चैर्मुल्लरिता भान्ति स्म यास्ताः स्तुमः ।

तां चापि स्फुटपुष्पहार्मैश्चिरां प्रोक्ष्यप्रवालकुंठ

बह्वीनां वनदीधिकां तमपि च प्राकारमार्गं विभोः ॥१८५॥

प्रोक्षद् विद्रुमसन्निभैः किसलवैरास्मज्यद् यदिशो

भास्वुषैः पवनाहतैश्च विटपैर्वज्रतिनुं बोधतम् ।

रक्ताशोकवनादिकं वनमद्वैत्यद्रुमैरङ्कितं

वन्देऽहं समवादिकां सृतिभिर्मां जैनी चतुष्पाश्रिताम् ॥१८६॥

रक्ताशोकवनं वनं च रुचिमत्सप्तच्छदानामदः

सूतानामपि मन्दनं परैतरं वक्ष्यमकानां वनम् ।

तक्षैत्यद्रुममण्डितं भगवतां वन्दामहे वन्दितं

देवैर्देविनयानतेन शिरसा श्रीजैनविम्बाङ्कितम् ॥१८७॥

छन्दः (?)

प्राकारात्परतो विभाति रुचिरा हरिद्रुमगण्डैः श्रीमन्माक्ष्यगजाम्बरैश्च शिखिभिः प्रकटितमहिमा ।

हंसैश्चाप्युपलक्षिता प्रविलसद्भवजवसनश्रुतिः वातामण्यमराचितामभिनुमः पवनविलुलिताम् ॥१८८॥

ये मानस्तम्भ भी सदा जयवन्त रहें ॥१८४॥ जिनके किनारे रत्नोंके बने हुए हैं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, जो नील कमलोंसे व्याप्त हैं, और जो सुगन्धिसे अन्धे भ्रमरोंके शब्दोंसे शब्दायमान होती हुई सुशोभित हो रही हैं मैं उन वावट्टियोंकी स्तुति करता हूँ, तथा जो फूले हुए पुष्परूपी हाससे सुन्दर हैं और जिसमें पल्लवोंके अंकुर उठ रहे हैं ऐसे लतावनकी भी स्तुति करता हूँ । और इसी प्रकार भगवान्के उस प्रसिद्ध प्रथम कोटकी भी स्तुति करता हूँ ॥१८५॥ जो देदीप्यमान मृगाके समान अपने पल्लवोंसे समस्त दिशाओंको लाल-लाल कर रहे हैं, जो वायुसे हिलती हुई अपनी ऊँची शाखाओंसे नृत्य करनेके लिए तत्पर हुएके समान जान पड़ते हैं, जो चैत्यवृक्षोंसे सहित हैं, जो जिनेन्द्र भगवान्की समवसरणभूमिमें प्राप्त हुए हैं और जिनकी संख्या चार है ऐसे इन रक्त अशोक आदिके वनोंकी भी मैं वन्दना करता हूँ ॥१८६॥ जो चैत्यवृक्षोंसे मण्डित हैं, जिनमें श्री जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाएँ विराजमान हैं, और इन्द्र भी विनयके कारण झुके हुए अपने मस्तकोंसे जिनकी वन्दना करते हैं ऐसे, भगवान्के लाल अशोकवृक्षोंका वन, यह देदीप्यमान सप्तपर्णवृक्षोंका वन, वह आम्रवृक्षोंका वन और वह अतिशय श्रेष्ठ चम्पक-वृक्षोंका वन, इन चारों वनोंकी हम वन्दना करते हैं ॥१८७॥ जो अतिशय सुन्दर हैं, जो सिंह, बैल, गरुड़, शोभायमान माला, हाथी, बख्श, मयूर और हंसोंके चिह्नोंसे सहित हैं, जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जो देवताओंके द्वारा भी पूजित हैं और जो वायुसे हिल रही हैं ऐसी जो कोटके आगे देदीप्यमान भवजाओंके वृक्षोंकी पंक्तियाँ सुशोभित

१. विकसित । २. विकास । ३. अशोकमत्तच्छदादिषुर्वनम् । ४. समवसृतिम् । ५. चतुष्पाश्रिताम् ट० । वनचतुष्टयेन तोषं कृत्वा श्रिताम् । ६. वत्कुष्ठतरम् ।

यद्द्वुराद्विष्णोर्मार्गं कलुषयति दिशां प्रान्तं स्थगयति प्रोत्सर्पद्भूपधूमैः सुरभयति जगद्विश्वं द्रुततरम् ।
तत्रः सङ्घपकुम्भद्वयमुदमनसः प्रीतिं घटयतु श्रीमत्तन्नाट्यशालाद्वयमपि रुचिरं सालव्रयगतम् ॥१८९॥

छन्दः (?)

पुष्पपल्लवोद्भवलेपु कल्पपादपोरुहाननेषु द्वारिषु श्रीमदिन्द्रवन्दिताः स्वबुधनसुस्थितेदसिद्धविम्बका द्रुमाः ।
सन्ति तानपि प्रणौम्यभूं नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपङ्क्तिमप्यसूं समप्रस्तनयिग्रहां जिनेन्द्रविम्बिनीम्

सन्धरा

वीथीं कल्पद्रुमाणां सवनपरिवृत्तिं तामतीस्थ स्थिता या

शुभा प्रासादपङ्क्तिः स्फटिकमणिमयः सालवर्धस्तृतीयः ।

भर्तुः श्रीमण्डपश्च त्रिभुवनजगतासंश्रयात्तप्रभावः

पीठं चोद्यन्निभूमं^१ श्रियमनु^२ तनुताश् गन्धकुट्याश्रितं नः ॥१९१॥

मानस्तम्भाः सरोसि प्रविमलजलसस्त्रातिका पुष्पवाटो

प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाधवा ।

सालः कल्पद्रुमाणां सपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च

प्राकारः स्फटिकोन्तर्गुरमुनिसभा पीठिकाग्रै स्वयंभूः ॥१९२॥

होती हैं उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥१८८॥ जो फैलते हुए धूपके धुएँसे आकाश-
मार्गको मलिन कर रहे हैं जो दिशाओंके समीप भागको आच्छादित कर रहे हैं और जो
समस्त जगत्को बहुत शीघ्र ही सुगन्धित कर रहे हैं ऐसे प्रत्येक दिशाके दो-दो विशाल
तथा उत्तम धूप-घट हमारे मनमें प्रीति उत्पन्न करें, इसी प्रकार तीनों कोटोंसम्बन्धी,
शोभा-सम्पन्न दो-दो मनोहर नाट्यशालाएँ भी हमारे मनमें प्रीति उत्पन्न करें ॥१८९॥ फूल
और पल्लवोंसे देदीप्यमान और अतिशय मनोहर कल्पवृक्षोंके बड़े-बड़े वनोंमें लक्ष्मीधारी
इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय तथा जिनके मूलभागमें सिद्ध भगवान्की देदीप्यमान प्रतिमाएँ
विराजमान हैं ऐसे जो सिद्धार्थ वृक्ष हैं मैं प्रसन्नचित्त होकर उन सभीकी स्तुति करता
हूँ, उन सभीको नमस्कार करता हूँ और उन सभीका स्मरण करता हूँ, इसके सिवाय
जिनका समस्त शरीर रत्नोंका बना हुआ है और जो जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाओंसे
सहित हैं ऐसे स्तूपोंकी पङ्क्तिका भी मैं प्रसन्नचित्त होकर स्तवन, नमन तथा स्मरण करता
हूँ ॥१९०॥ वनकी वेदीसे घिरी हुई कल्पवृक्षोंके वनोंकी पङ्क्तिके आगे जो सफेद
मकानोंकी पङ्क्ति है उसके आगे स्फटिकमणिका बना हुआ जो तीसरा उत्तम कोट है, उसके
आगे तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको आश्रय देनेका प्रभाव रखनेवाला जो भगवान्का
श्रीमण्डप है और उसके आगे जो गन्धकुटोसे आश्रित तीन कटनीदार ऊँचा पीठ है वह सब
हम लोगोंकी लक्ष्मीको विस्तृत करे ॥१९१॥ संक्षेपमें समवसरणकी रचना इस प्रकार है—
सबसे पहले (धूलीसालके बाद) चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ हैं, मानस्तम्भोंके
चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जलसे भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका (लतावन)
है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे

देवोऽहं प्राक्मुखो वा^१ निधतिमनुसरं^२ न्नुत्तराशामुखो वा
 यामध्यास्ते स्म पुण्यां समवसृतिमहीं तां परोत्थाध्यवासुः^३ ।
 प्रादक्षिण्येन^४ भान्द्रां ध्रुवैः पतिगणिनां भुवि धास्ते देव्यो
 देवाः सेन्द्राश्च मर्याः पशवं इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥१९३॥
 योगीन्द्रा रुद्रबोधा विष्णुचक्रवर्तयः सारथका राजपत्न्यो
 ज्योतिषान्येककन्या भवनजवनिता मावना व्यन्तराश्च ।
 उद्योतिष्काः कल्पनाथा नरवरबृधमास्तिर्यगौघैः सहामी
 कोट्येष्वतेष्वतिष्ठन् जिनपतिममितो भक्तिभारावनम्राः ॥१९४॥
 प्रादुःष्य^५ द्वाक्मयूखैर्विचदिततिमिरो भूतसंसाररात्रि-
 स्तत्संघ्या^६ संधिकल्पां मुहुरपघटयन्^७ क्षेणमोहीमवस्थाम् ।
 सज्जानोदग्रसावि^८ प्रतिनियत^९ नयोद्देगसति^{१०} प्रयुक्त-
 स्थाद्वादस्यन्दनस्थो मृतमघ रुच्ये सम्यक्भुजिनाकः ॥१९५॥

दूसरा अशोक आदिका वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओंकी पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षोंका वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपोंके बाद मकानोंकी पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिकमणिसय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियोंकी बारह सभाएँ हैं तदनन्तर पीठिका है और पीठिकाके अग्रभागपर स्वयम्भू भगवान् अरहन्तदेव विराजमान हैं ॥१९२॥ अरहन्तदेव स्वभावसे ही पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख कर जिस समवसरणभूमिमें विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे क्रमपूर्वक १ बुद्धिके ईश्वर गणधर आदि मुनिजन, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ-मनुष्योंकी स्त्रियाँ, ४ भवनवासिनी देवियाँ, ५ व्यन्तरणी देवियाँ, ६ उद्योतिष्किणी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिष्क देव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और १२ पशु इन बारह गणोंके बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं ॥१९३॥ उनमेंसे पहले कोठेमें अतिशय ज्ञानके धारक गणधर आदि मुनिराज, दूसरेमें कल्पवासी देवोंकी देवांगनाएँ, तीसरेमें आर्यिकासहित राजाओंकी स्त्रियाँ तथा साधारण मनुष्योंकी स्त्रियाँ, चौथेमें ज्योतिष देवोंकी देवांगनाएँ, पाँचवेंमें व्यन्तर देवोंकी देवांगनाएँ, छठेमें भवनवासी देवोंकी देवांगनाएँ, सातवेंमें भवनवासी देव, आठवेंमें व्यन्तरदेव, नव्वेंमें ज्योतिषी देव, दसवेंमें कल्पवासी देव, ग्यारहवेंमें चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य और बारहवेंमें पशु बैठते हैं । ये सब ऊपर कहे हुए कोठोंमें भक्तिभारसे नम्रीभूत होकर जिनेन्द्र भगवान्के चारों ओर बैठा करते हैं ॥१९४॥

तदनन्तर जिन्होंने प्रकट होते हुए ध्वनिरूपी किरणोंसे अन्धकारको नष्ट कर दिया है, संसाररूपी रात्रिको दूर हटा दिया है और उस रात्रिकी सन्ध्या सन्धिके समान क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थानको अवस्थाको भी दूर कर दिया है जो सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम सारथिके द्वारा वशमें किये हुए सात नयरूपी वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए स्याद्वादरूपी रथपर

१. स्वभावं । २. अनुगच्छन् । ३. अभिवातं कुर्वन्ति स्म । ४. गणधरादिमुनयः । ५. कल्पवासिण्यो । ६. भवनत्रयदेव्यः । ७. उद्योतिष्कव्यन्तरदेव्यः । ८. प्रकटोभवत्स्याद्वादवाचिककरणः । ९. सद्भावेः संघ्यायाः संधिः संबन्धस्तेन कल्पां सदृशाम्, प्रातःकालसंघ्यामित्यर्थः । १०. क्षीणमोहसंबन्धिनोम् । क्षीणमोहम् इ० । ११. सारथिः । १२. प्रतिनियमित । १३. वेगवन्तुरग ।

इत्युच्चैः संगृहीतां समवसृतिमहीं धर्मचक्रादिभक्तु-

मन्यास्मा संस्मरेद्यः स्तुतिमुखरमुखो मन्त्रिजनेन मूर्धना ।

अनी लक्ष्मीमचिन्त्यां सकलगुणमयीं प्राप्नुतेऽसौ महर्षिं

चूडामिनाकिभाजां मणिमुकुटशुभाम्बितां लम्बराभिः ॥१९६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भगवत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंश पर्व ॥२३॥

सवार हैं और जो भव्य जीवोंके बन्धु हैं ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१९५॥ इस प्रकार ऊपर जिसका संग्रह किया गया है ऐसी, धर्मचक्रके अधिपति जिनेन्द्र भगवान्की इस समवसरणभूमिका जो भव्य जीव भक्तिसे मस्तक झुकाकर स्तुतिसे मुखको शब्दायमान करता हुआ स्मरण करता है वह अवश्य ही मणिमय मुकुटोंसे सहित देवोंके मालाओंको धारण करनेवाले मस्तकोंके द्वारा पूज्य, समस्त गुणोंसे भरपूर और षड्दी-बड़ी श्रद्धियोंसे युक्त जिनेन्द्र भगवान्की लक्ष्मी अर्थात् अर्हन्त अवस्थाकी विभूतिको प्राप्त करता है ॥१९६॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें समवसरणविभूतिका वर्णन करनेवाला तेईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२३॥

चतुर्विंशतितमं पर्व

स जीवाद् वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठितम् ॥१॥
 श्रीमान् भरतराजर्विभुं बुधे युगपत्प्रयम् । गुरोः कैवल्यलभूतिं सूति च सुतचक्रयोः ॥२॥
 धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः । काञ्चुकीयात् सुतोत्पत्तिं विद्यामानं तदा विभुः ॥३॥
 पर्माकुल इवासीत् क्षणं तद्योगं पश्यतः । किमत्र प्रागतुल्येयं संविधानमिति प्रभुः ॥४॥
 त्रिवर्गफलसंभूतिरक्रमोपनता मम । पुण्यतीर्थं सुतोत्पत्तिश्चक्ररत्नमिति श्रयी ॥५॥
 तत्र धर्मफलं तीर्थं पुत्रः स्थात् कामजं फलम् । अर्थानुबन्धिनीऽर्थस्य फलं चक्रं प्रमास्यरम् ॥६॥
 अथवा सर्वमप्येतत्फलं धर्मस्य पुष्कलम् । यतो धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्वसः ॥७॥
 कार्येषु प्राग्बोधेयं तद्वन्धं श्रेयोऽनुबन्धि यत् । महाफलं च तद्देवसेवा प्राथमकस्विकी ॥८॥
 निश्चिन्नायेति राजेन्द्रो गुरुपूजनमादितः । अहो धर्मात्मना चेष्टा प्रायः श्रेयोऽनुबन्धिनी ॥९॥
 सायुज्यमा समेतोऽन्तःपुरपौरपुरोगमैः । प्राज्यामिज्या पुरोधाव सज्जोऽभूद् गमनं प्रति ॥१०॥

जिनके ज्ञानने पटविद्या अर्थात् विष दूर करनेवाली विद्याके समान मोहरूपी विषसे सोते हुए इस समस्त जगत्को शीघ्र ही उठा दिया था—जगा दिया था वे श्रीवृषभदेव भगवान् सदा जयवन्त रहें ॥१॥ अथानन्तर राव्यलक्ष्मीसे युक्त राजर्षि भरतको एक ही साथ नीचे लिखे हुए तीन समाचार मालूम हुए कि पूज्य पिताको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अन्तःपुरमें पुत्रका जन्म हुआ है और आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ है ॥२॥ उस समय भरत महाराजने धर्माधिकारी पुरुषसे पिताके केवलज्ञान होनेका समाचार, आयुधशालाकी रक्षा करनेवाले पुरुषसे चक्ररत्न प्रकट होनेका वृत्तान्त, और काञ्चुकीसे पुत्र उत्पन्न होनेका समाचार मालूम किया था ॥३॥ ये तीनों ही कार्य एक साथ हुए हैं । इनमें-से पहले किसका उत्सव करना चाहिए यह सोचते हुए राजा भरत क्षण-भरके लिए व्याकुल-से हो गये ॥४॥ पुण्यतीर्थ अर्थात् भगवान्को केवलज्ञान उत्पन्न होना, पुत्रकी उत्पत्ति होना और चक्ररत्नका प्रकट होना ये तीनों ही धर्म, अर्थ, काम तीन वर्गके फल मुझे एक साथ प्राप्त हुए हैं ॥५॥ इनमें-से भगवान्के केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्मका फल है, पुत्रका होना कामका फल है और देदीप्यमान चक्रका प्रकट होना अर्थ प्राप्त करानेवाले अर्थ पुरुषार्थका फल है ॥६॥ अथवा यह सभी धर्मपुरुषार्थका पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्षका फल है और काम उसका रस है ॥७॥ सब कार्योंमें सबसे पहले धर्मकार्य ही करना चाहिए क्योंकि वह कल्याणोंको प्राप्त करानेवाला है और बड़े-बड़े फल देनेवाला है इसलिए सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान्की पूजा ही करनी चाहिए ॥८॥ इस प्रकार राजाओंके इन्द्र भरत महाराजने सबसे पहले भगवान्की पूजा करनेका निश्चय किया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुषोंकी चेष्टाएँ प्रायः पुण्य उत्पन्न करनेवाली ही होती हैं ॥९॥ तदनन्तर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अन्तःपुरकी स्त्रियाँ

१. अनिश्चयज्ञानमुपेतम् । २. विषापहरणविद्या । ३. उत्थापयति स्म । ४. उत्पत्तिम् । ५. धर्माधिकारिणः । ६. बुबुधे । ७. तेषामेककालीनत्वतः । ८. सामग्रीम् । ९. युगपदागता । १०. सम्पूर्णम् । ११. प्रथमं कर्तव्या । १२. धर्मबुद्धिमताम् । १३. पुण्यानुबन्धिनी ल० । १४. महत्तरैः । १५. अग्रे कृत्वा ।

गुरौ भक्तिं परां तन्वन् कुर्वन् धर्मप्रभावनाम् । स भूत्वा परयोत्तस्थे^१ भगवद्वन्द्वनाविधौ ॥११॥
 अथ सेनाग्रुधेः क्षोभमातन्वत्तन्निधनिःस्वनः । आनन्दपटहो मन्त्रं दध्वान ध्वानयन् दिशः ॥१२॥
^२प्रतस्थेऽथ महाभागो वन्दारुमरताभिपः । जिनं हृत्पश्यन्पादातरथं कद्व्यावृत्तोऽमितः ॥१३॥
 रंजे प्रचलिता सेना^३ ततानकपृथुध्वनिः । बेलेष वारिधेः^४ प्रेङ्खदसङ्ख्यध्वजजीविका ॥१४॥
^५तया परिभूतः प्राप स जिनास्थानमण्डलम् । प्रसर्पप्रमया दिक्षु जितमार्तण्डमण्डलम् ॥१५॥
 परीत्य पूजयन् मानस्तम्भान्^६ सोऽत्यैततः परम् । खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥१६॥
 द्वितीयं सालमुत्क्रम्य^७ ध्वजात् कल्पवृक्षावलिम् । स्तूपान् प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥१७॥
 ततो वीथारिकदैर्बैः संभ्राज्यद्भिः प्रवेक्षितः । श्रीमण्डपस्य वैदग्ध्यं^८ सोऽपश्यत् स्वर्गजित्वरीम्^९ ॥१८॥
 ततः प्रदक्षिणो^{१०} कुर्वन् धर्मचक्रचतुष्टयम् । लक्ष्मीवान् पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥१९॥
 ततो द्वितीयपीठस्थान् विमोह्यौ महाध्वजान् । सोऽर्चयामास संगीतिः^{११} पूतैर्गन्धादिचस्तुमिः ॥२०॥
 मध्ये^{१२} गन्धकुटीरार्द्धं पश्याद्यं हरिचिह्नरे । उदयाचलमूर्धस्थनिवारकं जिनमैवत ॥२१॥

और नगरके मुख्य-मुख्य लोगोंके साथ पूजाकी बड़ी भारी सामग्री लेकर जानेके लिए तैयार हुए ॥१०॥ गुरुदेव भगवान् कृपभदेवमें उत्कृष्ट भक्तिको बढ़ाते हुए और धर्मकी प्रभावना करते हुए महाराज भरत भगवान्की वन्दनाके लिए उठे ॥११॥

तदनन्तर जिनका शब्द समुद्रकी गर्जनाके समान है ऐसे आनन्दकालमें बजनेवाले नगाड़े सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ फैलाते हुए और दिशाओंको शब्दायमान करते हुए गम्भीर शब्द करने लगे ॥१२॥ अथानन्तर—जो महामाग्यशाली है, जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करनेका अभिलाषी है, भरतक्षेत्रका स्वामी है और चारों ओरसे हाथी-घोड़े पदाति तथा रथोंके समूहसे घिरा हुआ है ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥१३॥ उस समय वह चलती हुई सेना समुद्रकी बेलके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि सेनामें जो नगाड़ोंका शब्द फैल रहा था वही उसकी गर्जनाका शब्द था और फहराती हुई असंख्यात ध्वजाएँ ही लहरोंके समान जान पड़ती थीं ॥१४॥ इस प्रकार सेनासे घिरे हुए महाराज भरत, दिशाओंमें फैलती हुई प्रभासे जिसने सूर्यमण्डलको जीत लिया है ऐसे भगवान्के समवसरणमें जा पहुँचे ॥१५॥ वे सबसे पहले समवसरण भूमिकी प्रदक्षिणा देकर मानस्तम्भोंकी पूजा करते हुए आगे बढ़े, यहाँ क्रम-क्रमसे परिखा, लताओंके वन, कोट, चार वन और दूसरे कोटको उल्लंघन कर ध्वजाओंको, कल्पवृक्षोंकी पंक्तियोंको, स्तूपोंको और मकानोंके समूहको देखते हुए आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥१६-१७॥ तदनन्तर सम्भ्रमको प्राप्त हुए द्वारपाल देवोंके द्वारा भीतर प्रवेश कराये हुए भरत महाराजने स्वर्गको जीतनेवाली श्रीमण्डपकी शोभा देखी ॥१८॥ तदनन्तर अतिशय शोभायुक्त भरतने प्रथम पीठिकापर पहुँचकर प्रदक्षिणा देते हुए चारों ओर धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥१९॥ तदनन्तर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दूसरे पीठपर स्थित भगवान्की ध्वजाओंकी पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्योंसे पूजा की ॥२०॥ तदनन्तर उदयाचल पर्वतके शिखरपर स्थित सूर्यके समान गन्धकुटीके बीचमें महामूल्य-श्रेष्ठ सिंहासनपर स्थित और अनेक देदीप्यमान

१. उद्यतोऽभूत् । उद्योगं करोति स्मेत्यर्थः । २. चबाल । ३. रथसमूहः । ४. विस्तृत । ५. चलत् । ६. सेनया । ७. — नार्यैततः ल० । अत्यैत् अतिक्रान्तवान् । ८. अतिक्रम्य । ९. सोम्यम् । १०. जयशीलाम् । ११. संगीतः व०, ल०, द०, इ० । १२. गन्धकुट्या मध्ये ।

बलव्यामरसंघातवीज्यमानमहातनुम् । प्रपतन्निर्भरं मेहरिव चामीकरच्छविम् ॥२२॥
महाशोकतरोर्मूले छन्नत्रितयसंश्रितम् । त्रिधाभूतावधूद्भासिबलाहकमिवाद्रिपम् ॥२३॥
पुष्पवृष्टिप्रतानेन परितो भाजितं प्रभुम् । कलाद्रुमप्रगलितप्रसूनीमण्ड मन्दरम् ॥२४॥
नमो न्यापिमिल्दघोषं सुरदुन्दुभिनिःस्वयैः । प्रसरद्वेलसम्भोधिनिव वातविधूर्णितम् ॥२५॥
वीरध्वानं प्रवर्षन्तं धर्माश्रितमर्कितम् । आह्लादितजगत्प्राणं प्रावृषेण्य^१मिषाम्बुदम् ॥२६॥
स्वदेहविसरज्योत्स्नासल्लिकक्षालिताखिलम्^२ । क्षीराब्धिमध्यसद्बृहदसिध भूधं हिरण्यमयम् ॥२७॥
सोऽम्ब^३कप्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं जगद्गुरुम् । इयाज^४ यायजूकानां^५ ज्यायान्माज्यै^६ज्यया प्रभुम् ॥२८॥
पूजान्ते प्रणिपत्येषां महोनिहित^७जान्त्रसौ । वचःप्रसूनमालामिरि^८त्यानर्च गिरां पतिम् ॥२९॥
त्वं ब्रह्मा परमज्योतिस्त्वं प्रभूष्णुरजोऽरजः^९ । त्वमादिदेवो देवानामधिदेवो महेश्वरः ॥३०॥
त्वं स्रष्टा त्वं विधातासि स्वमीशानः पुरुः पुमान्^{१०} । त्वमाविपुरुषो विश्वे^{११}विश्वाराब् विश्वतोमुखः ॥

ऋद्धियोंको धारण करनेवाले जिनेन्द्र वृषभदेवको देखा ॥२१॥ दुरसे हुए चमरोके समूहसे जिनका विशाल शरीर संवीज्यमान हो रहा है और जो सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाले हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर निर्झरने पड़ रहे हैं ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२२॥ वे भगवान् बड़े भारी अशोकवृक्षके नीचे तीन छत्रोंसे सुशोभित थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसपर तीन रूप धारण किये हुए चन्द्रमासे सुशोभित मेघ छाया हुआ है ऐसा पर्वतोंका राजा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३॥ वे भगवान् चारों ओरसे पुष्पवृष्टिके समूहसे सुशोभित थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर कल्पवृक्षोंसे फल गिरे हुए हैं ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२४॥ आकाशमें व्याप्त होनेवाले देवदुन्दुभियोंके शब्दोंसे भगवान्के समीप ही बड़ा भारी शब्द हो रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वायुके द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी लहरें किनारे तक फैल रही हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥२५॥ जिसका शब्द अतिशय गम्भीर है और जो जगत्के समस्त प्राणियोंको आनन्दित करनेवाला है ऐसे सन्देहरहित धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करते हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे जान पड़ते थे मानो गरजता हुआ और जलवर्षा करता हुआ वर्षाऋतुका बादल ही हो ॥२६॥ अपने शरीरकी फैलती हुई प्रभारूपी जलसे जिन्होंने समस्त प्रभाको प्रक्षालित कर दिया है, वे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसमुद्रके बीचमें बड़ा हुआ सुवर्णमय पर्वत ही हो ॥२७॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे युक्त और जगत्के गुरु स्वामी वृषभदेवको देखकर पूजा करनेवालोंमें श्रेष्ठ भरतने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्कृष्ट सामग्रीसे उनकी पूजा की ॥२८॥ पूजाके बाद महाराज भरतने अपने दोनों घुटने जमीनपर रखकर सब भाषाओंके स्वामी भगवान् वृषभदेवको नमस्कार किया और फिर वचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंसे उनकी इस प्रकार पूजा की अर्थात् नीचे लिखे अनुसार स्तुति की ॥२९॥

हे भगवन्, आप ब्रह्मा हैं, परम ज्योतिस्वरूप हैं, समर्थ हैं, जन्मरहित हैं, पापरहित हैं, मुख्यदेव अथवा प्रथम तीर्थंकर हैं, देवोंके भी अधिदेव और महेश्वर हैं ॥३०॥ आप ही

१. व्रैल्लप्पेण चन्द्रेणोद्भासितमेधम् । २. प्रावृषि मयम् । ३. प्रक्षालितसकलपदार्थम् । ४. अनुकूलो भूत्वा पश्चाद्वा । ५. पूजयामास । ६. इज्याशीलानाम् । 'इज्याशीलो यायजूकः' इत्यभिधानात् । ७. भूरिपूजया । ८. मन्त्रां निक्षिप्तं जानु यस्मिन् कर्मणि । ९. वक्ष्यमाणप्रकारेण । १०. कर्मरजोरहितः । ११. पुनातीति पुमान् । १२. विश्वस्मिन् राजते इति ।

विश्वव्यापी जगद्भर्ता विश्वदृग् विश्वभु^१ द्विभुः । विश्वतोऽभिमर्त्य^२ ज्योतिर्विश्वयोनिर्वियोनिकः ॥३२॥

हिरण्यगर्भो^३ भगवान् वृषभो वृषभध्वजः । परमेष्ठी^४ परं तत्त्वं परमात्मात्म^५ भूरसि ॥३३॥

स्वमिनस्त्वमधिज्योति^६ स्वामीशस्त्वमयोनिकः । अजरस्त्वमनादिस्त्वमनन्तस्त्वं स्वमन्युतः ॥३४॥

स्वमक्षर^७ स्वमक्षयस्त्वमनक्षोऽस्थनक्षरः^८ । विष्णुर्जिष्णुर्विजिष्णुश्च त्वं स्वयंभूः स्वयंप्रभः ॥३५॥

त्वं शंभुः शंभवः शंयुः^९ शंवादः^{१०} शंकरो हरः । हरिर्मोहासुरारिश्च तमोऽरिर्भग्नमास्करः ॥३६॥

पुराणः कविराघस्त्वं योगी योगविदो वरः । त्वं शरण्यो चरेष्योऽग्र्यस्त्वं पूतः पुण्यनाथकः ॥३७॥

त्वं योगात्मा^{११} सयोगश्च सिद्धो बुद्धो निरुद्धवः^{१२} । सूक्ष्मो निरंजनः कञ्जसंजातो^{१३} जिनकुंजरः ॥३८॥

छन्दो^{१४} विच्छन्दसा^{१५} कर्ता वेदविद्वत्ता^{१६} वरः । वार्चस्पतिरधर्मातिर्धर्माधिर्धर्मनायकः ॥३९॥

लब्ध है, विधाता है, ईश्वर है, सबसे उत्कृष्ट है, पवित्र करनेवाले हैं, आदि पुरुष हैं, जगत्के ईश हैं, जगत्में शोभायमान हैं और विश्वतोमुख अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥३१॥ आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं, जगत्के भर्ता हैं, समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं, सबकी रक्षा करनेवाले हैं, विभु हैं, सब ओर फैली हुई आत्मज्योतिको धारण करनेवाले हैं, सबकी योनिस्वरूप हैं—सबके ज्ञान आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले हैं और स्वयं अयोनिरूप हैं—पुनर्जन्मसे रहित हैं ॥३२॥ आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् मङ्गा हैं, भगवान् हैं, वृषभ हैं, वृषभ चिह्नसे युक्त हैं, परमेष्ठी हैं, परमतत्त्व हैं, परमात्मा हैं, और आत्मभू—अपने-आप उत्पन्न होनेवाले हैं ॥३३॥ आप ही स्वामी हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं, ईश्वर हैं, अयोनिज—योनिके बिना उत्पन्न होनेवाले हैं, जरा-रहित हैं, आदिरहित हैं, अन्तरहित हैं और अम्युत हैं ॥३४॥ आप ही अक्षर अर्थात् अविनाशी हैं, अक्षय्य अर्थात् क्षय होनेके अयोग्य हैं, अनक्ष अर्थात् इन्द्रियोंसे रहित हैं, अनक्षर अर्थात् शब्दागोचर हैं, विष्णु अर्थात् व्यापक हैं, जिष्णु अर्थात् कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, विजिष्णु अर्थात् सर्वोत्कृष्ट स्वभाववाले हैं, स्वयंभू अर्थात् स्वयं बुद्ध हैं, और स्वयम्प्रभ अर्थात् अपने-आप ही प्रकाशमान हैं—असहाय, केवलज्ञानके धारक हैं ॥३५॥ आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, शंयु—सुखी हैं, शंवाद हैं—सुख या शान्तिका उपदेश देनेवाले हैं, शंकर हैं—शान्तिके करनेवाले हैं, हर हैं, मोहरूपी अमुरके शत्रु हैं, अज्ञानरूप अन्धकारके अरि हैं और भव्य जीवोंके लिए उत्तम सूर्य हैं ॥३६॥ आप पुराण हैं—सबसे पहलेके हैं, आद्य कवि हैं, योगी हैं, योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अग्रेसर हैं, पवित्र हैं, और पुण्यके नाथक हैं ॥३७॥ आप योगस्वरूप हैं—ध्यानमय हैं, योगसहित हैं—आत्मपरिष्कन्दसे सहित हैं, सिद्ध हैं—कृतकृत्य हैं, बुद्ध हैं—केवलज्ञानसे सहित हैं, सांसारिक उत्सवोंसे रहित हैं, सूक्ष्म हैं—छद्मस्थज्ञानके अगम्य हैं, निरंजन हैं—कर्मकलंकसे रहित हैं, गर्भमें कमलकर्णिकापर उत्पन्न हुए हैं अतः ब्रह्मरूप हैं और जिनवरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥३८॥ आप द्वादशांगरूप वेदोंके जाननेवाले हैं, द्वादशांगरूप वेदोंके कर्ता हैं, आगमके जाननेवाले हैं, वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, वचनोंके स्वामी हैं,

१. विश्वजः । विश्वभुग् अ०, प०, स०, ल०, इ०, द०, । २. आत्मस्वरूपज्योतिः । ३. हिरण्य गर्भे यस्य । ४. परमेष्ठिपदस्थितः । ५. आत्मना भवतीति । ६. अधिकज्योतिः । ७. न क्षरतीति अक्षरः, निश्चयः । ८. न विद्यते अरो नाशो यस्मात् । ९. सुखयोजकः । १०. वा सुखं भवतीति । ११. ध्यानस्वरूपः । १२. विवाहसुखरहितः । उत्कृष्टमर्तु रहितः । १३. सहस्रदलकर्णिकोपरि प्रादुर्भूतः । १४. छन्द इति मन्त्र-विशेषज्ञः । १५. छन्दःवाक्येताव वेदो द्वादशाङ्गलक्षणो भण्यते । १६. आगमज्ञः ।

त्वं जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्तरि^१ हारहाः^२ । धर्मध्वजो धर्मपतिः कमरातिनिष्ठुम्भनः^३ ॥४०॥
 त्वं ह^४ भव्यान्निजनीम^५ सुखं हवि^६ भुङ्क्त्वमद्वरः^७ । त्वं मखाङ्ग^८ मखज्येष्ठस्त्वं होता हव्यमेव च ॥४१॥
 यज्जाज्यं च त्वमिज्या च पुण्यो गन्धो गुणाकरः । त्वमपारि^९ रपारश्च त्वममध्योऽपि मध्यमः ॥४२॥
 उत्तमोऽनुत्तरो^{१०} ज्येष्ठो गरिष्ठः^{११} स्थेष्ट^{१२} एव च । त्वमर्णीयान्^{१३} महीबांश्च^{१४} स्थर्वायान्^{१५} गरिमास्पदम् ॥
 महान् महोयितो^{१६} महो भूष्णः^{१७} स्वास्तु^{१८} रतद्वरः । जित्वरो^{१९} अनित्वरो^{२०} नित्यः शिवः^{२१} शान्तो भवान्तकः^{२२}
 त्वं हि ब्रह्मविदो^{२३} ध्येयस्त्वं हि ब्रह्मपदेश्वरः । त्वां नाममालया देवमित्यभिष्टुमहे वयम् ॥४३॥
 अष्टोत्तरशतं नाम्नामिधनुष्याय चेतसा । त्वामीडे नीडमोहानां^{२४} प्राप्तिद्वार्याष्टकप्रभुम् ॥४४॥
 तवायं प्रबलपट्टागस्तु^{२५} शोभसहास्रविधः । स्वच्छायायुधितान् पालि स्वस्तः शिक्षामिवाश्रितः ॥४५॥

अधर्मके शत्रु हैं, धर्ममें प्रथम धर्म हैं और धर्मके नायक हैं ॥३९॥ आप जिन हैं, कामको जोतनेवाले हैं, अर्हन्त हैं-पूज्य हैं, मोहरूप शत्रुको नष्ट करनेवाले हैं, अन्तरायरहित हैं, धर्मकी ध्वजा हैं, धर्मके अधिपति हैं, और कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेवाले हैं ॥४०॥ आप भव्यजीवरूपी कमलिनियोंके लिए सूर्यके समान हैं, आप ही अग्नि हैं, यज्ञकुण्ड हैं, यज्ञके अंग हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, होम करनेवाले हैं और होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥४१॥ आप ही यज्वा हैं-यज्ञ करनेवाले हैं, आज्य हैं-घृतरूप हैं, पूजारूप हैं, अपरिमित पुण्यस्वरूप हैं, गुणोंकी खान हैं, शत्रुरहित हैं, पाररहित हैं, और मध्यरहित होकर भी मध्यम हैं । भावार्थ—भगवान् निश्चयनयकी अपेक्षा अनादि और अनन्त हैं जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य भी नहीं होता । इसलिए भगवान्के लिए यहाँ कविने अमध्य अर्थात् मध्यरहित कहा है परन्तु साथ ही 'मध्यम' भी कहा है । कविकी इस उक्तिमें यहाँ विरोध आता है परन्तु जब मध्यम शब्दका 'मध्य' मा अन्तन्तचतुष्टयलक्ष्मीर्यस्व सः—जिसके बीचमें अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी है, ऐसा अर्थ किया जाता है तब वह विरोध दूर हो जाता है । यह विरोधाभास अलंकार है ॥४२॥ हे भगवन्, आप उत्तम होकर भी अनुत्तम हैं (परिहार पक्षमें 'नास्ति उत्तमो यस्मात्सः'—जिससे बढ़कर और दूसरा नहीं है) ज्येष्ठ हैं, सबसे बड़े गुरु हैं, अत्यन्त स्थिर हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अत्यन्त बड़े हैं, अत्यन्त स्थूल हैं और गौरवके स्थान हैं ॥४३॥ आप बड़े हैं, क्षमा गुणसे पृथिवीके समान आचरण करनेवाले हैं, पूज्य हैं, भवनशील (समर्थ) हैं, स्थिर स्वभाववाले हैं, अविनाशी हैं, विजयशील हैं, अचल हैं, नित्य हैं, शिव हैं, शान्त हैं, और संसारका अन्त करनेवाले हैं ॥४४॥ हे देव, आप ब्रह्मविद् अर्थात् आत्मस्वरूपके जाननेवालोंके ध्येय हैं—ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मवद्—आत्माकी शुद्ध पर्यायके ईश्वर हैं । इस प्रकार हम लोग अनेक नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥४५॥ हे भगवन्, इस प्रकार आपके एक सौ आठ नामोंका हृदयसे स्मरण कर मैं आठ प्रातिहार्योंके स्वाामी तथा स्तुतियोंके स्थानभूत आपकी स्तुति करता हूँ ॥४६॥ हे भगवन्, जिसकी शाखाएँ अत्यन्त चलायमान हो रही हैं ऐसा यह ऊँचा अशोक महावृक्ष अपनी

१. अरीन् हन्ताति अरिहा । २. रहस्यरहितः । 'रहःशब्देनान्तरायो भष्यते' 'विरहितरहस्कृतेभ्यः' इत्यत्र तथा व्याख्यानात् । ३. घातकः । ४. पादपूरणे । हि—२०, स०, ल०, म०, प०, अ०, इ० । ५. वह्निः । ६. मागः । ७. यजनकारणम् । ८. होतृव्यद्रव्यम् । ९. पूजकः । १०. अपगतारिः । ११. न विद्यते उत्तरः श्रेष्ठो यस्मात् । १२. अतिशयेन युक्तः । १३. अतिशयेन स्थिरः । १४. अतिशयेन अणुः । १५. अतिशयेन महान् । १६. अतिशयेन स्थूलः । १७. क्षमया महीवाचरितः । १८. पूज्यः । १९. स्थिरतरः । २०. जयशीलः । २१. गमनशीलतरहितः । २२. शिवं सुखमस्यातीति । २३. आत्मशालिनाम् । २४. स्तुतीनाम् ।

तवामी चामरमाता यक्षैरुल्लिख्ये^१ बीजिताः । निर्युनन्तीव निर्याजमागोमोमक्षिका नृणाम् ॥४८॥
 एवमापतन्ति परितः सुमनोऽञ्जलयो विवः । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव मुक्ता हर्षाभ्रविन्दवः ॥४९॥
 छत्रत्रितयमाभाति सूच्छ्रितं जिन तावकम् । मुक्तालम्बनविभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलादितम् ॥५०॥
 तव हर्षासनं भाति विश्वमर्तुर्मवजरम्^२ । कृतयत्नैरिवोदोक्तं न्यग्भूयोऽं सृगाधिपैः ॥५१॥
 तव देहप्रभोऽस्यैरिदमाक्रम्यते सदाः । पुण्याभिषेकसम्मारं^३ लक्ष्म्ययज्ञि^४ रिषामितः ॥५२॥
 तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति अगतां ममः । मोहाम्धतमसं धुन्वन्^५ स्वज्ञानार्काशुकोपमः ॥५३॥
 प्रातिहार्याण्यहार्द्याणि^६ तवामृनि चकासति । लक्ष्मी हंस्याः समाक्रोदपुलिनानि शुचीनि वा ॥५४॥
 नमो विश्वात्मने तुभ्यं तुभ्यं विश्वसृजे नमः । स्वयंभुवे नमस्तुभ्यं क्षायिकैर्लब्धपरमैः ॥५५॥
 ज्ञानदर्शनवीर्याणि निरतिः^७ शुद्धदर्शनम् । ज्ञानादिलम्बयश्चेति^८ क्षायिकयस्तव शुद्धयः ॥५६॥

छायामें आये हुए जीवोंकी इस प्रकार रक्षा करता है मानो इसने आपसे ही शिक्षा पायी हो ॥४८॥ यक्षोंके द्वारा ऊपर उठाकर ढोले गये ये आपके चमरोंके समूह ऐसे जान पड़ते हैं मानो बिना किसी छलके मनुष्योंके पापरूपी मक्खियोंको ही उड़ा रहे हों ॥४९॥ हे नाथ, आपके चारों ओर स्वर्गसे जो पुष्पाञ्जलियोंकी वर्षा हो रही है वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्ग-लक्ष्मीके द्वारा छोड़ी हुई हर्षजनित आँसुओंकी बूँदें ही हों ॥४९॥ हे जिनेन्द्र, मोतियोंके जालसे सुशोभित और अतिशय ऊँचा आपका यह छत्रत्रितय ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मीका क्रीडास्थल ही हो ॥५०॥ हे भगवन्, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ यह आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आप समस्त लोकका भार धारण करनेवाले हैं-तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपका बोझ उठानेके लिए सिंहोंने प्रयत्न किया हो, परन्तु भारकी अधिकतासे कुछ झुककर ही उसे धारण कर सके हों ॥५१॥ हे भगवन्, आपके शरीरकी प्रभाका विस्तार इस समस्त सभाको व्याप्त कर रहा है और उससे ऐसा जान पड़ता है मानो वह समस्त जीवोंको चारों ओरसे पुण्यरूप जलके अभिषेकको ही प्राप्त करा रहा हो ॥५२॥ हे प्रभो, आपके दिव्य वचनोंका प्रसार (दिव्यध्वनिका विस्तार) मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करता हुआ जगत्के जीवोंका मन पवित्र कर रहा है इसलिए आप सम्यग्-ज्ञानरूपी किरणोंको फैलानेवाले सूर्यके समान हैं ॥५३॥ हे भगवन्, इस प्रकार पवित्र और किसीके द्वारा हरण नहीं किये जा सकने योग्य आपके ये आठ प्रातिहार्य ऐसे वेदीप्यमान हो रहे हैं मानो लक्ष्मीरूपी हंसीके क्रीड़ा करने योग्य पवित्र पुलिन (नदीतट) ही हों ॥५४॥ हे प्रभो, ज्ञानकी अपेक्षा आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं अथवा आपकी आत्मामें संसारके समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाली नौ लब्धियोंसे आप स्वयंभू हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥५५॥ हे नाथ, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र्य और क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य ये आपकी नौ क्षायिकशुद्धियाँ कही

१. उद्धृत्य । २. भवतो भरम् । ३. अर्धभूषण । ४. समूहम् । ५. प्रापयद्भिः । ६. त्वं ज्ञाना-क०, द०, इ०, अ०, प०, स०, म० । ७. सहजानीत्यर्थः । ८. तारित्रम् । ९. समे भवाः ।

ज्ञानमप्रतिष^१ विश्वं पर्यच्छे^२त्सीतचाक्रमात्^३ । श्रमं ह्याचरणादेतद्वर्ज्यवधिः करणं^४ क्रमः^५ ॥५७॥
 चित्रं^६ जगदिदं चित्रं त्वया बोधि यदक्रमात् । अक्रमोऽपि क्वचिच्छ्रुत्वाध्यः प्रभुमाश्रित्य लक्ष्यते ॥५८॥
 इन्द्रियेषु समग्रेषु तव सत्स्वप्नतीन्द्रियम् । ज्ञानमासीदध्विन्या हि योगिनां प्रभुशक्तयः ॥५९॥
 यथा ज्ञानं तवैवाभूत् क्षायिकं तव दर्शनम् । ताभ्यां युगपदेवासीदुपयोगस्तवाद्भुतम् ॥६०॥
 तेन त्वं विश्वविज्ञेयं^७ व्यापिज्ञानगुणो^८द्भुतः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च योगिभिः परिगीयसे ॥६१॥
 विश्वं विजानतोऽपीश^९ यत्तेनास्ता^{१०}श्चमकलमौ । अमन्तवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्यं परिस्फुटम् ॥६२॥
 रागादिविक्तकालुष्यस्थपायादुदितं तव । विरतिः सुखमात्मोत्थं व्यनक्तन्तान्तिकं विभो ॥६३॥
 विरतिः^{११} सुखमिष्टं चेत् सुखं त्वय्येव केवलम् । नो चेन्मैवासुखं नाम किञ्चिद्वन्न जगत्त्रये ॥६४॥

जाती हैं ॥५६॥ हे भगवन्, आपका आधारहित ज्ञान समस्त संसारको एक साथ जानता है सो ठीक ही है क्योंकि व्यवधान होना, इन्द्रियोंकी आवश्यकता होना और क्रमसे जानना ये तीनों ही ज्ञानावरण कर्मसे होते हैं परन्तु आपका ज्ञानावरण कर्म बिल्कुल ही नष्ट हो गया है इसलिए निर्वाधरूपसे समस्त संसारको एक साथ जानते हैं ॥५७॥ हे प्रभो, यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि आपने इस अनेक प्रकारके जगत्को एक साथ जान लिया अथवा कहीं-कहीं बड़े पुरुषोंका आश्रय पाकर क्रमका छूट जाना भी प्रशंसनीय समझा जाता है ॥५८॥ हे विभो, समस्त इन्द्रियोंके विद्यमान रहते हुए भी आपका ज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियोंका योगी लोग भी चिन्तन नहीं कर सकते हैं ॥५९॥ हे भगवन्, जिस प्रकार आपका ज्ञान क्षायिक है उसी प्रकार आपका दर्शन भी क्षायिक है और उन दोनोंसे एक साथ ही आपके उपयोग रहता है यह एक आश्चर्यकी बात है। भावार्थ—संसारके अन्य जीवोंके पहले दर्शनोपयोग होता है बादमें ज्ञानोपयोग होता है परन्तु आपके दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं ॥६०॥ हे देव, आपका ज्ञानगुण संसारके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त हो रहा है, आप आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं और योगी लोग आपको सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी कहते हैं ॥६१॥ हे ईश, आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं फिर भी आपको कुछ भी परिश्रम और खेद नहीं होता है। यह आपके अनन्त बलकी शक्तिका प्रकट दिखाई देनेवाला माहात्म्य है ॥६२॥ हे विभो, चित्तको कलुषित करनेवाले राग आदि विभाव भावोंके नष्ट हो जानेसे जो आपके सम्यक्चारित्र्य प्रकट हुआ है वह आपके विनाशरहित और केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाले सुखको प्रकट करता है ॥६३॥ यदि विषय और कथायसे विरक्त होना ही सुख माना जाये तो वह सुख केवल आपमें ही माना जायेगा और यदि विषय कथायसे विरक्त न होनेको सुख माना जाये तो फिर यही मानना पड़ेगा कि तीनों लोकोंमें दुःख है ही नहीं। भावार्थ—निर्वृति अर्थात् आकुलताके अभावको सुख कहते हैं, विषय-कथायोंमें प्रवृत्ति करते हुए आकुलताका अभाव नहीं होता इसलिए उनमें वास्तविक सुख नहीं

१. विघ्नरहितः । 'प्रतिषः प्रतिघाते च रोषे च प्रतिघो मतः ।' २. परिच्छिन्नस्ति स्म, निश्चय-मकरोदित्यर्थः । ३. युगपदेव । क्रमकरणव्यवधानमन्तरेणेत्यर्थः । ४. व्यवधानम् । ५. इन्द्रियम् । ६. परिपाटी । ७. नानाप्रकारम् । ८. तदाश्चर्यम् । ९. ज्ञानदर्शनाभ्याम् । १०. परिच्छिन्तिः (सकलपदार्थपरिज्ञानम्) । ११. विश्वव्यापी विज्ञेयव्यापी । १२. सकलपदार्थव्यापिज्ञानगुणेनात्मज्ञानान्तमाश्चर्यवानित्यर्थः । १३. यस्मात् कारणात् । यस्ते न स्तः—३०, ल०, म०, अ०, स० । १४. अभवताम् । १५. विरतिः निस्पृहता । विरतिः निवृत्तिः । १६. विरतिः सुखमिष्टं चेत्तर्हि केवलं सुखं त्वय्येवास्ति, नान्यस्मिन्, नो चेत् विरतिः सुखमिति नेष्टम् अविद्युत्तिरेव सुखमिति चेत्तर्हि किञ्चिदसुखं नास्त्येव ।

१ प्रसक्तकलुषं तोयं यथेह स्वच्छतां व्रजेत् । मिथ्यात्वकर्मपापादक् शुद्धिस्ते तथा मता ॥६२॥
 सत्योऽपि लब्धयः ३ शेषास्त्वयि नार्थक्रिया ४ कृतः । कृतकृत्ये बहिर्द्वयसंबन्धो हि निरर्थकः ॥६३॥
 एवं प्राया गुणा नाथ भवतोऽनन्तभा मताः । तानहं लेखतोऽपीह न स्तोतुमलमल्पधीः ॥६४॥
 तदास्तां ते गुणस्तोत्रं नाममात्रं च कीर्तितम् । पुनाति नस्ततो ५ देव स्वज्जामांशैः शतः ६ श्रिताः ॥६५॥
 हिरण्यगर्भमाहुस्त्वां यतो वृष्टिर्हिरण्ययी । गर्भावतरणे नाथ प्रादुरासीत्तदाद्भुता ७ ॥६६॥
 वृषभोऽसि सुरैर्वृष्टश्चतुर्वर्षः स्वसम्भवे । ८ जन्माभिषेक्य मेरुं ९ मृष्टवान्मृषभोऽप्यसि ॥६७॥
 भवोद्योगसंक्रान्तज्ञानभूतिर्यतो भवान् । अतः सर्वगतं प्राहुस्त्वां देव परमपंथः ॥६८॥
 स्वकीयादीनि नामासि १० विभ्रान्यन्वर्थतां यतः । ततोऽसि त्वं जगज्ज्येष्ठः परमेष्ठा सनातनः ॥६९॥
 त्वद्भक्तिचोदितामेनां मामिकां धियमक्षमः । धर्तुं स्तुतिपथे तेऽद्य प्रवृत्तोऽस्म्येष ११ मक्षर १२ ॥७०॥

है परन्तु आप विषय-कपायोसे निवृत्त हो चुके हैं—आपकी तद्विषयक आकुलता दूर हो गयी है इसलिए वास्तविक सुख आपमें ही है। यदि विषयवासनाओंमें प्रवृत्ति करते रहनेको सुख कहा जाये तो फिर सारा संसार सुखी-ही-सुखी कहलाने लगे क्योंकि संसारके सभी जीव विषयवासनाओंमें प्रवृत्त हो रहे हैं परन्तु उन्हें वास्तविक सुख प्राप्त हुआ नहीं मालूम होता इसलिए सुखका पहला लक्षण ही ठीक है और वह सुख आपको ही प्राप्त है ॥६४॥ हे भगवन्, जिस प्रकार कलुष-मल अर्थात् कीचड़के शान्त हो जानेसे जल स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है वसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचड़के नष्ट हो जानेसे आपका सम्यग्दर्शन भी स्वच्छताको प्राप्त हुआ है ॥६५॥ हे देव, यद्यपि दान, लाभ आदि शेष लब्धियाँ आपमें विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि कृतकृत्य पुरुषके बाह्य पदार्थोंका संसर्ग होना बिल्कुल व्यर्थ होता है ॥६६॥ हे नाथ, ऐसे-ऐसे आपके अनन्तगुण माने गये हैं, परन्तु हे ईश, अल्प-बुद्धिको धारण करनेवाला मैं उन सबकी लेखमात्र भी स्तुति करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥६७॥ इसलिए हे देव, आपके गुणोंका स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगोंको पवित्र कर देता है अतएव हम लोग केवल नाम लेकर ही आपके आश्रयमें आये हैं ॥६८॥ हे नाथ, आपके गर्भावतरणके समय आश्चर्य करनेवाली हिरण्यमयी अर्थात् सुवर्णमयी वृष्टि हुई थी इसलिए लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥६९॥ आपके जन्मके समय देवोंने रत्नोंकी वर्षा की थी इसलिए आप वृषभ कहलाते हैं और जन्माभिषेकके लिये आप सुमेरुपर्वतको प्राप्त हुए थे इसलिये आप ऋषभ भी कहलाते हैं ॥७०॥ हे देव, आप संसारके समस्त जानने योग्य पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी मूर्तिरूप हैं इसलिए बड़े-बड़े ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक कहते हैं ॥७१॥ हे भगवन्, ऊपर कहे हुए नामोंको आदि लेकर अनेक नाम आपमें सार्थकताको धारण कर रहे हैं इसलिए आप जगज्ज्येष्ठ (जगत्में सबसे बड़े), परमेष्ठा और सनातन कहलाते हैं ॥७२॥ हे अविनाशी, आपकी भक्तिसे प्रेरित हुई अपनी इस बुद्धिको मैं स्वयं धारण करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका इसलिए ही आज आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। भावार्थ-योग्यता न रहते हुए भी मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति कर रहा हूँ ॥७३॥

१. प्रशान्त—ल०, इ०, द०, प०, अ०, स०, म० । २. दर्शन । ३. वीर्यादयः । ४. अर्थक्रियाकारिण्यः, ५. एवमादयः । ६. तिष्ठतु । ७. कारणात् । ८. नामसंकीर्तनमात्रतः । ९. —स्तवादभुता— ब०, द०, ल०, इ०, म०, अ०, स०, प० । १०. अभिषेक्य । ११. गतवान् । १२. धारयस्ते । १३. प्रवृत्तोऽस्म्यहमक्षर—ल०, म० । १४. अविनश्वर ।

स्वयोपदक्षितं मार्गमुपास्य शिवमीप्सितः । त्वां देवमिच्छुः पाप्मानान् प्रसीदानुगृहाण नः ॥७४॥
 भगवन्मित्रमिच्छुस्तु विष्टपातिगवैभवं । त्वय्येव मन्त्रितमकृषां प्रार्थये नान्यदर्थये ॥७५॥
 स्तुत्यन्ते^१ सुरसङ्घातरीक्षितो विस्मिन्नेक्षणैः । श्रीमण्डपं प्रविश्यास्मिन्मधुवासोषितं सदा ॥७६॥
 ततो निभृतमासीने प्रबुद्धकरकुङ्कुमले । सदापद्माकरे भर्तुः^२ प्रबोधमभिलाषुके ॥७७॥
 ग्रीष्मा भरतराजेन विनयान्तमौलिना । विज्ञापनमकारोत्थं तत्त्वजिज्ञासुना गुरोः ॥७८॥
 भगवन् बोद्धमिच्छामि^३ कीदृशस्तत्त्वविस्तरः । मार्गो मार्गफलं चापि कीदृक् तत्त्वविदो वर ॥७९॥
 तत्प्रश्ना^४ वसितावस्थं भगवानादितीर्थकृद् । तत्त्वं^५ प्रपञ्चयामास गम्भीरतरया गिरा ॥८०॥
 प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काप्यभूत् । दर्पणे किमु सावानां विक्रियास्ति प्रकाशने ॥८१॥
 तालवोष्टमपरिस्पन्दि नच्छायांतरमानने । भस्पृष्ट^६ करणा यर्णा मुखादस्य विविधैर्युः ॥८२॥
 स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिधुद्^७ ध्वनिसन्निभः । प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात् ॥८३॥

हे प्रभो, आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्गकी उपासना कर मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले और देव मानकर आपकी ही उपासना करनेवाले हम लोगोंपर प्रसन्न होइए और अनुग्रह कीजिए ॥७४॥ हे भगवन्, इस प्रकार लोकोत्तर वैभवकी धारण करनेवाले आपकी स्तुति कर हम लोग यही चाहते हैं कि हम लोगोंकी बड़ी भारी भोक्त आपमें ही रहे, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं चाहते ॥७५॥

इस प्रकार स्तुति कर चुकनेपर जिसे देवोंके समूह आश्चर्यसहित नेत्रोंसे देख रहे थे ऐसे महाराज भरत श्रीमण्डपमें प्रवेश कर वहाँ अपनी योग्य सभामें जा बैठे ॥७६॥ तदनन्तर भगवान्से प्रबोध प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला वह सभारूपी सरोवर जय हाथरूपी कुङ्कुम जोड़कर शान्त हो गया—जब सब लोग तत्त्वोंका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गये तब भगवान् वृषभदेवसे तत्त्वोंका स्वरूप जाननेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने विनयसे मस्तक झुकाकर प्रीतिपूर्वक ऐसी प्रार्थना की ॥७७-७८॥ हे भगवन्, तत्त्वोंका विस्तार कैसा है ? मार्ग कैसा है ? और उसका फल भी कैसा है ? हे तत्त्वोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ ॥७९॥ इस प्रकार भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवने अतिशय गम्भीर वाणीके द्वारा तत्त्वोंका विस्तारके साथ विवेचन किया ॥८०॥ कहते समय भगवान्के मुखकमलपर कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ था सो ठीक है, क्योंकि पदार्थोंको प्रकाशित करते समय क्या दर्पणमें कुछ विकार उत्पन्न होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥८१॥ उस समय भगवान्के न तो तालु, ओठ आदि स्थान ही हिलते थे और न उनके मुखकी कान्ति ही बदलती थी । तथा जो अक्षर उनके मुखसे निकल रहे थे उन्होंने प्रयत्नको लुआ भी नहीं था—इन्द्रियोंपर आघात किये बिना ही निकल रहे थे ॥८२॥ जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह विज्यध्वनि भगवान्के मुखसे इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार कि किसी पर्वतकी गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि निकलती है ॥८३॥

१. सेवमानान् । २. प्रार्थयेऽहम् । ३. स्तुत्यवसाने । ४. भर्तुःसकाशात् । ५. तत्त्वं ज्ञातुमिच्छुना । तत्त्वं जिज्ञासुना- ल०, द०, इ । ६. धीनु-इ०, ल० । ७. प्रश्नावसाने । ८. विस्तारयामास । ९. इन्द्रिय-प्रयत्नरहिता इत्यर्थः । १०. प्रतिध्वानरवः ।

विवक्षा^१ सन्तरेणस्य^२ विविक्षासीत् सरस्वती । मही^३ यसामचिन्मया हि योगजाः^४ शक्तिसंपदः ॥८४॥
 आयुधमन् ध्रुणु तत्त्वार्थान् वक्ष्यमाणाननुक्रमत् । जीवादीन् कालपर्यन्तान् सप्रभेदान् सपर्ययान् ॥८५॥
 जीवादीनां पदार्थानां व्याख्यस्य^५ तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानाङ्गमेतद्धि विद्धि^६ सिद्धयङ्गनङ्गिनाम् ॥८६॥
 तदेकं तत्त्वसामान्याज्जीवाजीवाविति द्विधा । त्रिधा मुक्तेतराजीवविभागात्परिकीर्त्यते ॥८७॥
 जीवो मुक्तश्च संसारी संसार्यामा द्विधा संतः । भव्योऽभव्यश्च साजीवास्ते चतुर्धा^७ विभाविताः ॥८८॥
 मुक्तेतरात्मको जीवो मूर्तिमूर्तिमकः परः^८ । इति वा तस्य तत्त्वस्य चातुर्विध्यं विनिश्चितम् ॥८९॥
 पञ्चास्तिकायभेदेन तत्त्वत्वं पञ्चधा स्मृतम् । ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः सपर्ययाः ॥९०॥
 त एव^९ कालसंयुक्ताः षोडश तत्त्वस्य भेदकाः । इत्यनन्तो भवेदस्य प्रस्तारो विस्तरेषिणाम्^{१०} ॥९१॥
 चेतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः । ज्ञाता द्रष्टा च कर्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥९२॥
 गुणवान् कर्मानुसृङ्खल^{११} ज्यास्वभावकः । परिण^{१२} न्तोपसंहारविसर्पाम्बां प्रदीपवत् ॥९३॥

भगवान्की वह बाणी बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि योगबलसे उत्पन्न हुई महापुरुषोंकी शक्तिरूपी सम्पदा^१ अचिन्तनीय होती है—उनके प्रभुत्वका कोई चिन्तयन नहीं कर सकता ॥८४॥ भगवान् कहने लगे कि हे आयुधमन्, जिनका स्वरूप आगे अनुक्रमसे कहा जायेगा, ऐसे भेद-प्रभेदों तथा पर्यायोंसे सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंको तू सुन ॥८५॥ जीव आदि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व कहलाता है, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञानका अंग अर्थात् कारण है और यही जीवोंकी मुक्तिका अंग है ॥८६॥ यह तत्त्व सामान्य रीतिसे एक प्रकारका है, जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका है तथा जीवोंके संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद करनेसे संसारी जीव, मुक्त जीव और अजीव इस प्रकार तीन भेदवाला भी कहा जाता है ॥८७॥ संसारी जीव दो प्रकारके माने गये हैं—एक भव्य और दूसरा अभव्य, इसलिए मुक्त जीव, भव्य जीव, अभव्य जीव और अजीव इस तरह वह तत्त्व चार प्रकारका भी माना गया है ॥८८॥ अथवा जीवके दो भेद हैं एक मुक्त और दूसरा संसारी, इसी प्रकार अजीवके भी दो भेद हैं एक मूर्तिक और दूसरा अमूर्तिक, दोनोंको मिला देनेसे भी तत्त्वके चार भेद निश्चित किये गये हैं ॥८९॥ पाँच अस्तिकायोंके भेदसे वह तत्त्व पाँच प्रकारका भी स्मरण किया है। अपनी-अपनी पर्यायोंसहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥९०॥ उन्हीं पाँच अस्तिकायोंमें कालके मिला देनेसे तत्त्वके छह भेद भी हो जाते हैं, इस प्रकार विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छा करनेवालोंके लिए तत्त्वोंका विस्तार अनन्त भेदवाला हो सकता है ॥९१॥ जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखनेकी शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते हैं, वह अनादि निधन है अर्थात् द्रव्य-दृष्टिकी अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। इसके सिवाय वह ज्ञाता है—ज्ञानोपयोगसे सहित है, द्रष्टा है—दर्शनोपयोगसे युक्त है, कर्ता है—द्रव्यकर्म और कर्मोंको करनेवाला है, भोक्ता है—ज्ञानादि गुण तथा शुभ-अशुभ कर्मोंके फलको भोगनेवाला है और शरीरके प्रमाणके बराबर है—सर्वव्यापक और अणुरूप नहीं है ॥९२॥ वह अनेक गुणोंसे युक्त है, कर्मोंका सर्वथा नाश हो जानेपर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है और वह

१. त्वतुमिच्छया बिना । २. निश्चिता । ३. अतिशयेन महताम् । ४. ध्यानजाताः । ५. निश्चयस्वरूपम् । ६. मोक्षकारणम् । ७. भव्यसंसारी, अभव्यसंसारी, मुक्तः, अजीवश्चेति । ८. अजीवः । ९. ते पञ्चास्तिकाया एव । १०. विस्तरमिच्छताम् । ११. ऊर्ध्वगमन । १२. परिणमनशीलः ।

तत्त्वमे मार्गोपाया^१ गत्याद्य उदाहृताः । चतुर्दशगुणस्थानैः सोऽत्र सृज्यः^२ सदादिभिः^३ ॥९४॥
 गतीन्द्रिये च कायश्च योतषेदकषायकाः । ज्ञानसंयमदृष्ट्या भव्यसम्यक्त्वसंज्ञितः ॥९५॥
 समभाहारकेण स्युः मार्गस्थानकानि वै ।^४ सोऽन्वेष्ट्य^५ स्तेषु सत्संख्याद्यनुयोगैर्विशेषतः ॥९६॥
^६ सत्संख्याक्षेत्रसंस्पर्शकालमावाप्तरैरयम् । बहुत्वा^७ शब्दतत्त्वात्मा^८ मृग्यः स्यात् स्मृतिचक्षुषाम्^९ ॥९७॥
 स्युर्मिऽधिगमोपाया^{१०} जीवस्योपयोग्यं पुनः । प्रमाणान्वयनिर्देशः^{११} आदर्शयोः^{१२} अन्तरेतिभिः ॥९८॥
^{१३} तत्त्वोपशमिको भावः क्षायिको मिथ एव च । स्व^{१४} तत्त्वमुदयोपशमश्च पारिणामिक इत्यपि ॥९९॥
 निश्चितो यो गुणैरेभिः स जीव इति लक्ष्यताम् । द्वेषा तस्योपयोगः स्याज्ज्ञानदर्शनभेदतः ॥१००॥
 ज्ञानमष्टतयं^{१५} ज्ञेयं दर्शनं च^{१६} चतुष्टयम् । साकारं ज्ञानमुच्छिष्टमनाकारं च दर्शनम् ॥१०१॥
 भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मण्यवस्थया^{१७} । सामान्यमात्रनिर्मासादनाकारं तु दर्शनम् ॥१०२॥

दीपकके प्रकाशकी तरह संकोच तथा विस्ताररूप परिणमन करनेवाला है। भावार्थ-नाम-
 कर्मके उदयसे उसे जितना छोटा बड़ा शरीर प्राप्त होता है वह उतना ही संकोच विस्ताररूप
 हो जाता है ॥९३॥ उस जीवका अन्वेषण करनेके लिए गति आदि चौदह मार्गणाओंका
 निरूपण किया गया है। इसी प्रकार चौदह गुणस्थान और सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा
 भी वह जीवतत्त्व अन्वेषण करनेके योग्य है। भावार्थ-मार्गणाओं, गुणस्थानों और सत्-
 संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा जीवका स्वरूप समझा जाता है ॥९४॥ गति, इन्द्रिय, काय,
 योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेष्ट्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व संज्ञित्य और आहारक ये
 चौदह मार्गणास्थान हैं। इन मार्गणास्थानोंमें सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा विशेषरूपसे
 जीवका अन्वेषण करना चाहिए-उसका स्वरूप जानना चाहिए ॥९५-९६॥ सिद्धान्तशास्त्ररूपी
 नेत्रको धारण करनेवाले भव्य जीवोंको सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, भाव, अन्तर, अल्प-
 बहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा जीवतत्त्वका अन्वेषण करना चाहिए ॥९७॥ इस प्रकार ये
 जीवतत्त्वके जाननेके उपाय हैं। इनके सिवाय विद्वानोंको प्रमाण नय और निक्षेपोंके द्वारा
 भी जीवतत्त्वका निश्चय करना चाहिए-उसका स्वरूप जानकर दृढ़ प्रतीति करना चाहिए ॥९८॥
 औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके
 निजतत्त्व कहलाते हैं, इन गुणोंसे जिसका निश्चय किया जाये उसे जीव जानना चाहिए।
 उस जीवका उपयोग ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका होता है ॥९९-१००॥ इन दोनों
 प्रकारके उपयोगोंमें-से ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और दर्शनोपयोग चार प्रकारका जानना
 चाहिए। जो उपयोग साकार है अर्थात् विकल्पसहित पदार्थको जानता है उसे ज्ञानोपयोग
 कहते हैं और जो अनाकार है-विकल्परहित पदार्थको जानता है उसे दर्शनोपयोग कहते
 हैं ॥१०१॥ घट-पट आदिकी व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तुके भेदग्रहण करनेको आकार
 कहते हैं और सामान्यरूप ग्रहण करनेको अनाकार कहते हैं। ज्ञानोपयोग वस्तुको भेदपूर्वक
 ग्रहण करता है इसलिए वह साकार-सधिकल्पक उपयोग कहलाता है और दर्शनोपयोग

१. विचारोपायाः । २. तत्त्वविचारविषये । ३. विचार्यः । ४. सत्संख्याक्षेत्रादिभिः । ५. जीवः ।
 ६. अन्वेष्टुं योग्यः । विचार्य इत्यर्थः । ७. प्रवर्तः । विचारैरित्यर्थः । ८. सदित्यस्तित्वनिर्देशः । संख्या भेदगणना ।
 क्षेत्रं वर्तमानकालविषयो निवासः । संस्पर्शः त्रिकालगोचरम् तत्क्षेत्रमेव । कालः वर्तमानकालः । भावः औपशमि-
 कादिलक्षणः अन्तरः विरहकालः । ९. अन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः । १०. एतैरयमात्मा मृग्यः विचारणीयः ।
 ११. आगमचक्षुषाम् । १२. विज्ञानोपायाः । १३. निश्चेष्टः । १४. जीवस्य । १५. स्वस्वभावः । १६. मति-
 ज्ञानादिपञ्चकं कुमतिकुथलिविभक्ताश्चेत्यष्टप्रकारम् । १७. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनमिति । १८. प्रति-
 विषयनियत्या ।

जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा । पुमान् आत्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्यायाः ॥१०३॥
 यतो जीवस्य जीवी च जीविष्यति च जन्मसु । ततो जीवोऽयमात्मातः सिद्धः स्तो भूतपूर्वतः ॥१०४॥
 प्राणा दशास्य सन्तीति प्राणी जन्तुश्च जन्ममाक् । क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात् स तथोच्यते ॥१०५॥
 पुरुषः पुरु भोगेषु शयनात् परिमाषितः । पुनस्तथात्मानमिति च पुमानिति निगणते ॥१०६॥
 भवेन्नतनि सातत्याद् एतीत्यात्मा निरुच्यते । सोऽन्तरात्मा ह्यकर्मन्तर्वर्तिरवादिभिरुच्यते ॥१०७॥
 ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानो च तत एव सः । पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्णयोऽन्यैश्च तद्विधैः ॥१०८॥
 शाश्वतोऽयं अवेर्जीवः पर्यायेस्तु दृष्टं दृष्टं च । भूतपूर्वस्यैव पर्यायेऽस्योत्पत्तिर्विपत्तयः ॥१०९॥
 अभूत्वाभाव उत्पादो भूत्वा चाभवान्न व्ययः । ध्रौव्यं तु तदवस्थं स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः ॥११०॥
 एवं धर्माणमारमानमजानानाः कुरष्टयः । बहुधात्र विमन्वाना विवदन्ते परस्परम् ॥१११॥

वस्तुको सामान्यरूपसे ग्रहण करता है इसलिए यह अनाकार-अविकल्पिक उपयोग कहलाता है ॥१०२॥ जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीवके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥१०३॥ चूँकि यह जीव वर्तमान कालमें जीवित है, भूत-कालमें भी जीवित था और अनागत कालमें भी अनेक जन्मोंमें जीवित रहेगा इसलिए इसे जीव कहते हैं । सिद्ध भगवान् अपनी पूर्वपर्यायोंमें जीवित थे इसलिए वे भी जीव कहलाते हैं ॥१०४॥ पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और स्वासोच्छ्वास ये दस प्राण इस जीवके विद्यमान रहते हैं इसलिए यह प्राणी कहलाता है, यह बार-बार अनेक जन्म धारण करता है इसलिए जन्तु कहलाता है, इसके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ भी कहलाता है ॥१०५॥ पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगोंमें शयन अर्थात् प्रवृत्ति करनेसे यह पुरुष कहा जाता है और अपने आत्माको पवित्र करता है । इसलिए पुमान् भी कहा जाता है ॥१०६॥ यह जीव नर-नारकादि पर्यायोंमें अतति अर्थात् निरन्तर गमन करता रहता है इसलिए आत्मा कहलाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अन्तर्वर्ती होनेसे अन्तरात्मा भी कहा जाता है ॥१०७॥ यह जीव ज्ञानगुणसे सहित है इसलिए ज्ञ कहलाता है और इसी कारण ज्ञानी भी कहा जाता है, इस प्रकार यह जीव ऊपर कहे हुए पर्याय शब्दों तथा उन्हींके समान अन्य अनेक शब्दोंसे जाननेके योग्य है ॥१०८॥ यह जीव नित्य है परन्तु उसकी नर-नारकादि पर्याय जुड़ी-जुड़ी हैं । जिस प्रकार मिट्टी नित्य है परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है उसी प्रकार यह जीव नित्य है परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा उसमें भी उत्पाद और विनाश होता रहता है । भावार्थ-द्रव्यत्व सामान्यकी अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है और पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है । एक साथ दोनों अपेक्षाओंसे यह जीव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है ॥१०९॥ जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, किसी पर्यायका उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों पर्यायोंमें तदवस्थ होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है, इस प्रकार यह आत्मा उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंसे सहित है ॥११०॥ ऊपर कहे हुए स्वभावसे युक्त आत्माको नहीं जानते हुए

१. भवेत् । २. पूर्वस्मिन् काले जीवनात् । ३. क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते । ४. बहु । ५. अतति इति कोऽर्थः । सातत्यात् अनिःस्पृतवृत्त्यातिगच्छतोऽर्थः । ६. निर्जमोऽन्यैश्च । ७. उत्पत्तिनाशः । ८. उत्पत्तिव्यययोः स्थितिः । ९. विपरीतं मन्वानाः । १०. विपरीतं जानन्ति ।

नास्यात्मेत्याहुरेकेऽन्ये सोऽस्मन्नित्य इति स्थिताः । न कर्तेत्यपरे केचिद् अमोक्तेति च दुर्दशः ॥११२॥
 अस्यात्मा किं तु मोक्षोऽस्य नास्तीत्येके विमन्वते । मोक्षोऽस्ति तदुपायस्तु नास्तीतीच्छन्ति केचन ॥११३॥
 इत्यादि दुर्णयानेतानपास्य सुनयान्वयान् । यथोक्तलक्षणं जीवं स्वमायुष्मन् विनिश्चिनु ॥११४॥
 संसारश्चैव मोक्षश्च तस्यावस्थाद्वयं मतम् । संसारश्चतुर्गतेऽस्मिन् भवावर्ते विद्यतेनम् ॥११५॥
 निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः । सम्यग्विशेषणज्ञानदृष्टिचारित्र्यसाधनः ॥११६॥
 आत्मागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाप्नातं प्रथमं मुक्तिसाधनम् ॥११७॥
 ज्ञानं जीवादिभावानां यथात्म्यस्य प्रकाशकम् । अज्ञानध्वान्तसंतानप्रक्षयानन्तरीद्वयम् ॥११८॥
 माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्र्यं वितृषो मुनेः । मोक्षकामस्य निमुक्तचेष्टस्याहिसकस्य तत् ॥११९॥
 अथ^१ समुचितं मुक्तेः साधनं दर्शनादिकम् । नैकाङ्गविकलस्येऽपि तत्स्वकार्यकृदिष्यते ॥१२०॥
 सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्र्यं च फलप्रदम् । ज्ञानं च^२ दृष्टिसत्त्वर्थासांनिध्ये मुक्तिकारणम् ॥१२१॥
 चारित्र्यं दर्शनज्ञानविकलं नार्थक्यमतम् । प्रपातायैव^३ तद्विद्याद्वन्द्वस्येव^४ विवर्तनम् ॥१२२॥

मिथ्यादृष्टि पुरुष उसका स्वरूप अनेक प्रकारसे मानते हैं और परस्परमें विवाद करते हैं ॥१११॥
 कितने ही मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि आत्मा नामका पदार्थ ही नहीं है, कोई कहते हैं कि वह अनित्य है, कोई कहते हैं कि वह कर्ता नहीं है, कोई कहते हैं कि वह भोक्ता नहीं है, कोई कहते हैं कि आत्मा नामका पदार्थ है तो सही परन्तु उसका मोक्ष नहीं है, और कोई कहते हैं कि मोक्ष भी होता है परन्तु मोक्ष प्राप्ति का कुछ उपाय नहीं है, इसलिए हे आयुष्मन् भरत, ऊपर कहे हुए इन अनेक मिथ्या नयोंको छोड़कर समीचीन नयोंके अनुसार जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे जीवतत्त्वका तू निश्चय कर ॥११२-११३॥ उस जीवकी दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं एक संसार और दूसरी मोक्ष । नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार भेदोंसे युक्त संसाररूपी भँवरमें परिभ्रमण करना संसार कहलाता है ॥११४॥ और समस्त कर्मोंका बिलकुल ही क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, वह मोक्ष अनन्तसुख स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप साधनसे प्राप्त होता है ॥११६॥ सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और समीचीन पदार्थोंका बड़ी प्रसन्नतापूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षप्राप्ति का पहला साधन है ॥११७॥ जीव, अजीव आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेवाला तथा अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराके नष्ट हो जानेके बाद उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥११८॥ इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें समताभाव धारण करनेको सम्यक्चारित्र्य कहते हैं, वह सम्यक्चारित्र्य यथार्थरूपसे तृष्णारहित, मोक्षकी इच्छा करनेवाले, वस्त्ररहित और हिंसाका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनिराजके ही होता है ॥११९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर ही मोक्षके कारण कहे गये हैं यदि इनमें-से एक भी अंगकी कमी हुई तो वह अपना कार्य सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥१२०॥ सम्यग्दर्शनके होते हुए ही ज्ञान और चारित्र्य फलके देनेवाले होते हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्यके रहते हुए ही सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥१२१॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित चारित्र्य कुछ भी कार्यकारी नहीं होता किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुषका दौड़ना उसके पतनका कारण होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे शून्य पुरुषका चारित्र्य भी उसके पतन अर्थात् नरकादि गतियोंमें परिभ्रमणका

१. सुनयानुगमात् । २. जीवस्य । ३. चतुरवयवे । ४. समुदायीकृतम् । ५. दर्शनचारित्र्यसामोप्ये सति ।
 ६. नरकादिगती पतनायैव । ७. दर्शनविकलचारित्र्यम् । ८. वतननमुत्पतनम् ।

त्रिष्वेकद्वयविश्लेषाद् उद्भूता मार्गदुर्गयाः । घोडा भवन्ति सूक्ष्मां तेऽप्यत्र विनिपातिताः ॥१२२॥

इतो नाधिकमस्यस्यत् नाभूत्सैव भविष्यति । इत्यासादित्रये दाढ्याद् दर्शनस्य विशुद्धता ॥१२३॥

आप्तो गुणैर्युक्तो धूलकलंको निर्मलाशयः । निष्ठितार्थो भवेत् सार्धस्तदामासास्ततोऽपरं ॥१२४॥

आगमस्तद्वचोऽशेषपुरुषार्थानुशासनम् । नयप्रमाणगम्भीरं तदामासोऽसत्तां वचः ॥१२५॥

पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः । यथोक्तलक्षणो जीवस्त्रिकोटिः परिणामभाक् ॥१२६॥

भव्याभव्यो तथा मुक्त इति जीवस्त्रिबोदितः । भविष्यत्तिद्विको भव्यः सुवर्णोपलसंनिभः ॥१२७॥

अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादन्धपाषाणसंनिभः । मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥१२८॥

कर्मबन्धननिर्मुक्तश्चिह्नलोकसिखराकयः । सिद्धो निरञ्जनः प्रोक्तः प्राप्तानन्तसुखोदयः ॥१२९॥

कारण होता है ॥१२२॥ इन तीनोंमें-से कोई तो अलग-अलग एक-एकसे मोक्ष मानते हैं और कोई दो-दोसे मोक्ष मानते हैं इस प्रकार मूर्ख लोगोंने मोक्षमार्गके विषयमें छह प्रकारके मिथ्या-नयोंकी कल्पना की है परन्तु इस उपर्युक्त कथनसे उन सभीका खण्डन हो जाता है । भावार्थ-कोई केवल दर्शनसे, कोई ज्ञानभाष्यसे, कोई मात्र चारित्र्यसे, कोई दर्शन और ज्ञान दोसे, कोई दर्शन और चारित्र्य इन दोसे और कोई ज्ञान तथा चारित्र्य इन दोसे मोक्ष मानते हैं । इस प्रकार मोक्षमार्गके विषयमें छह प्रकारके मिथ्यानयकी कल्पना करते हैं परन्तु उनकी यह कल्पना ठीक नहीं है क्योंकि तीनोंकी एकतासे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ॥१२३॥ जैनधर्म-में आप्त, आगम तथा पदार्थका जो स्वरूप कहा गया है उससे अधिक वा कम न तो है न था और न आगे ही होगा । इस प्रकार आप्त आदि तीनोंके विषयमें श्रद्धानकी दृढ़ता होनेसे सम्यग्दर्शनमें विशुद्धता उत्पन्न होती है ॥१२४॥ जो अनन्तज्ञान आदि गुणोंसे सहित हो, घातिया कर्मरूपी कलंकसे रहित हो, निर्मल आशयका धारक हो, कृतकृत्य हो और सबका भला करनेवाला हो वह आप्त कहलाता है । इसके सिवाय अन्य देव आप्तभास कहलाते हैं ॥१२५॥ जो आप्तका कहा हुआ हो, समस्त पुरुषार्थोंका वर्णन करनेवाला हो और नय तथा प्रमाणोंसे गम्भीर हो उसे आगम कहते हैं, इसके अतिरिक्त असत्पुरुषोंके वचन आगमाभास कहलाते हैं ॥१२६॥ जीव और अजीवके भेदसे पदार्थके दो भेद जानना चाहिए । उनमें-से जिसका चेतनारूप लक्षण ऊपर कहा जा चुका है और जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप तीन प्रकारके परिणामसे युक्त है वह जीव कहलाता है ॥१२७॥ भव्य-अभव्य और मुक्त इस प्रकार जीवके तीन भेद कहे गये हैं, जिसे आगामी कालमें सिद्धि प्राप्त हो सके उसे भव्य कहते हैं, भव्य जीव सुवर्ण-पाषाणके समान होता है अर्थात् जिस प्रकार निमित्त मिलनेपर सुवर्ण-पाषाण आगे चलकर शुद्ध सुवर्णरूप हो जाता है उसी प्रकार भव्यजीव भी निमित्त मिलनेपर शुद्ध सिद्धस्वरूप हो जाता है ॥१२८॥ जो भव्यजीवसे विपरीत है अर्थात् जिसे कभी भी सिद्धि की प्राप्ति न हो सके उसे अभव्य कहते हैं, अभव्यजीव अन्धपाषाणके समान होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी भी सुवर्णरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार अभव्य जीव भी कभी सिद्धस्वरूप नहीं हो सकता । अभव्य जीवको मोक्ष प्राप्त होनेकी सामग्री कभी भी प्राप्त नहीं होती है ॥१२९॥ और जो कर्मबन्धनसे छूट चुके हैं, तीनों लोकोंका

१. दर्शनज्ञानचारित्र्येषु । २. केचिद्दर्शनं भुक्त्वाऽन्ये ज्ञानं विहाय परे चारित्र्यं विना ह्याम्यामेव मोक्षमिति वदन्ति । त्रयविशेषात् । अन्ये ज्ञानादेव, दर्शनादेव, चारित्र्यादेव मोक्षमिति वदन्ति इति मार्गदुर्गयाः षट्प्रकाराः भवन्ति । ३. निराकृताः । ४. यथोक्ताप्लादिवयः । ५. सर्वहितः । ६. उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपपरिणामनमाक् । ७. अभव्यस्य ।

इति जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण निरूपितः । अजीवतत्त्वमप्येवमवधारय धीमता ॥१३१॥
 अजीवलक्षणं तत्त्वं पञ्चैव प्रपञ्चयते । अर्थास्तथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ॥१३२॥
 जीवपुद्गलयोर्यस्याद् मरुपग्रहकारणम् । धर्मद्वयं तदुद्दिष्टमधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥१३३॥
 गतिस्थितिमवामेती गतिस्थित्योरुपग्रहः । धर्माधर्मौ प्रवर्तते न स्वयं प्रेरकौ मता ॥१३४॥
 यथा मरुस्यस्य गमनं विना नैवाभ्यस्ता सवेत् । न चाग्निः प्रेरयत्येनं तथा धर्मास्थित्युपग्रहः ॥१३५॥
 तरुच्छाया यथा मरुं स्थापयत्यर्थिनं स्वतः । न त्वेषा प्रेरयत्येनमर्थं च स्थितिकारणम् ॥१३६॥
 तथैवाधर्मकायोऽपि जीवपुद्गलयोः स्थितिम् । निवर्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः ॥१३७॥
 जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम् । यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम् ॥१३८॥
 वर्तनालक्षणः कालो वर्तना स्वपराश्रया । यथास्वं गुणपर्यायैः परिणमन्स्त्वयोजना ॥१३९॥
 यथा कुलालचक्रस्य भ्रमणेऽधःशिला स्वयम् । धत्ते निमित्ततामेवं कालोऽपि कलितो बुधैः ॥१४०॥

शिखर ही जिनका स्थान है, जो कर्म कालिमासे रहित है और जिन्हें अनन्तसुखका अभ्युदय प्राप्त हुआ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव कहलाते हैं ॥१३०॥ इस प्रकार हे बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले भरत, मैंने तेरे लिए संक्षेपसे जीवतत्त्वका निरूपण किया है अब इसी तरह अजीवतत्त्वका भी निश्चय कर ॥१३१॥ धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्त्वका पाँच भेदों-द्वारा विस्तार निरूपण किया जाता है ॥१३२॥ जो जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहायक कारण हो उसे धर्म कहते हैं और जो उन्हींके स्थित होनेमें सहकारी कारण हो उसे अधर्म कहते हैं ॥१३३॥ धर्म और अधर्म ये दोनों ही पदार्थ अपनी इच्छासे गमन करते और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गलोंके गमन करने और ठहरनेमें सहायक होकर प्रवृत्त होते हैं स्वयं किसीकी प्रेरित नहीं करते हैं ॥१३४॥ जिस प्रकार जलके बिना मछलीका गमन नहीं हो सकता फिर भी जल मछलीको प्रेरित नहीं करता उसी प्रकार जीव और पुद्गल धर्मके बिना नहीं चल सकते फिर भी धर्म उन्हें चलनेके लिए प्रेरित नहीं करना किन्तु जिस प्रकार जल चलते समय मछलीको सहारा दिया करता है उसी प्रकार धर्मपदार्थ भी जीव और पुद्गलोंको चलते समय सहारा दिया करता है ॥१३५॥ जिस प्रकार वृक्षकी छाया स्वयं ठहरनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको ठहरा देती है-उसके ठहरनेमें सहायता करती है परन्तु वह स्वयं उस पुरुषको प्रेरित नहीं करती तथा इतना होनेपर भी वह उस पुरुषके ठहरनेकी कारण कहलाती है उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलोंको स्थित करा देता है-उन्हें ठहरनेमें सहायता पहुँचाता है परन्तु स्वयं ठहरनेकी प्रेरणा नहीं करता ॥१३६-१३७॥ जो जीव आदि पदार्थोंको ठहरनेके लिए स्थान दे उसे आकाश कहते हैं । वह आकाश स्पर्शरहित है, अमूर्तिक है, सब जगह व्याप्त है और क्रियारहित है ॥१३८॥ जिसका वर्तना लक्षण है उसे काल कहते हैं, वह वर्तना काल तथा कालसे भिन्न जीव आदि पदार्थोंके आश्रय रहती है और सब पदार्थोंका जो अपने-अपने गुण तथा पर्याय-रूप परिणमन होता है उसमें सहकारी कारण होती है ॥१३९॥ जिस प्रकार कुम्हारके चक्रके फिरनेमें उसके नीचे लगी हुई शिला कारण होती है उसी प्रकार कालवृत्त्य भी सब पदार्थोंके परिवर्तनमें कारण होता है ऐसा विद्वान् लोगोंने निरूपण किया है । भाषार्थ-कुम्हारका चक्र

१. गमनस्योपकारे कारणम् । २. स्थितेरुपकारः । ३. जीवपुद्गलानाम् । ४. धर्मास्तिकायस्योपकारः । धर्मोऽस्त्यनुग्रहः ल० । ५. -मपि च । ६. स्वस्वकालस्य परस्य वस्तुन आश्रयो यस्याः सा । ७. परिणमनत्वस्य योजनं यस्याः सा । परिणेतृत्व-ल० ।

व्यवहारकालं कालान्मुख्यकालविनिर्णयः । मुख्ये सत्येव गौणस्य बाह्यीकादेः प्रतीतितः ॥१४१॥

स कालो लोकमात्रैः स्वरणभिनिर्णितः स्थितैः । ज्योऽन्योन्यमसंकीर्णं रत्नानामिव राशिभिः ॥१४२॥

प्रदेशप्रचया योगादुक्तयोऽयं प्रकीर्तितः । शेषाः पञ्चास्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥१४३॥

धर्माधर्मवियत्कालपदार्था मूर्तिवजिताः । मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यं तस्य भेदानितः शृणु ॥१४४॥

स्वयं घूमता है परन्तु नीचे रखी हुई शिला या कीलके बिना वह घूम नहीं सकता इसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें परिणमन स्वयमेव होता है परन्तु वह परिणमन कालद्रव्यकी सहायताके बिना नहीं हो सकता इसलिए कालद्रव्य पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी कारण है ॥१४०॥ (वह काल दो प्रकारका है—एक व्यवहार काल और दूसरा निश्चयकाल । घड़ी, घण्टा आदिको व्यवहारकाल कहते हैं और लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिके समान एक दूसरेसे असंपृक्त होकर रहनेवाले जो असंख्यात कालाणु हैं उन्हें निश्चयकाल कहते हैं) व्यवहार-कालसे ही निश्चयकालका निर्णय होता है, क्योंकि मुख्य पदार्थके रहते हुए ही बाह्यीक आदि गौण पदार्थोंकी प्रतीति होती है । भावार्थ—बाह्यीक एक देशका नाम है परन्तु उपचारसे वहाँके मनुष्योंको भी बाह्यीक कहते हैं । यहाँ बाह्यीक शब्दका मुख्य अर्थ देशविशेष है और गौण अर्थ है वहाँपर रहनेवाला सदाचारसे पराङ्मुख मनुष्य । यदि देशविशेष अर्थको धतलानेवाला बाह्यीक नामका कोई मुख्य पदार्थ नहीं होता तो वहाँ रहनेवाले मनुष्योंमें भी बाह्यीक शब्दका व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार यदि मुख्य काल द्रव्य नहीं होता तो व्यवहारकाल भी नहीं होता । हम लोग सूर्योदय और सूर्यास्त आदिके द्वारा दिन-रात महीना आदिका ज्ञान प्राप्त कर व्यवहारकालको समझ लेते हैं परन्तु अमूर्तिक निश्चयकालके समझनेमें हमें कठिनाई होती है इसलिए आचार्योंने व्यवहारकालके द्वारा निश्चयकालको समझनेका आदेश दिया है क्योंकि पर्यायके द्वारा ही पर्यायोंका बोध हुआ करता है ॥१४१॥ वह निश्चयकाल लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर स्थित लोकप्रमाण (असंख्यात) अपने अणुओंसे जाना जाता है और कालके ये अणु रत्नोंकी राशिके समान परस्परमें एक दूसरेसे नहीं मिलते, सब जुड़े-जुड़े ही रहते हैं ॥१४२॥ परस्परमें प्रदेशोंके नहीं मिलनेसे यह कालद्रव्य अकाय अर्थात् प्रदेशी कहलाता है । कालको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेश एक दूसरेसे मिले हुए रहते हैं इसलिए वे अस्तिकाय कहलाते हैं । भावार्थ—जिसमें बहुप्रदेश हों उसे अस्तिकाय कहते हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य बहुप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय कहलाते हैं और कालद्रव्य एकप्रदेशी होनेसे अनस्तिकाय कहलाता है ॥१४३॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ मूर्तिसे रहित हैं, पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है । अब आगे उसके भेदोंका वर्णन सुन । भावार्थ—जीव द्रव्य भी अमूर्तिक है परन्तु यहाँ अजीव द्रव्योंका वर्णन चल रहा है इसलिए उसका निरूपण नहीं किया है । पाँच इन्द्रियोंमेंसे किसी भी इन्द्रियके द्वारा जिसका स्पष्ट ज्ञान हो उसे मूर्तिक कहते हैं, पुद्गलको छोड़कर और किसी पदार्थका इन्द्रियोंके द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता

वर्णगन्धरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः । पूरणाद् गलनाच्चैव संग्रासान्वयर्थात्मकाः ॥१४५॥
 स्कन्धानुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः । स्निग्धरुक्तात्मकाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते ॥१४६॥
 द्रव्यगुणादिर्महास्कन्धपर्यन्तस्तस्य विस्तरः । छायातपतमोजयोस्नापयोदादिप्रभेदमाह ॥१४७॥
 अणवः कार्यलिङ्गाः स्युः त्रिस्पर्शाः परिमण्डकाः^३ । एकवर्णरसा निस्थाः स्युरनिस्थाश्च पर्ययः ॥१४८॥
 सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः सूक्ष्मस्थूलात्मकाः परे । स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः ॥१४९॥
 सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेकः स्याददृश्योऽस्पृश्य एव च । सूक्ष्मास्ते कर्मणां स्कन्धाः^४ प्रदेशानन्त्ययोगतः^५ ॥१५०॥
 शब्दः स्पर्शो रसो गन्धः सूक्ष्मस्थूलौ निगद्यते । अक्षुष्यत्वे सत्येषामिन्द्रियप्राप्त्यतेष्वपि ॥१५१॥
 स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः । चाक्षुषत्वेऽप्यसंहायं^६ रूपत्वादविघातकाः ॥१५२॥
 द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदनिदर्शनम् । स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेदः स्कन्धः प्रकीर्तितः ॥१५३॥

इसलिए पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और शेष द्रव्य अमूर्तिक है ॥१४४॥ जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाये उसे पुद्गल कहते हैं । पूरण और गलन रूप स्वभाव होनेसे पुद्गल यह नाम सार्थक है । भावार्थ-अन्य परमाणुओंका आकर मिल जाना पूरण कहलाता है और पहलेके परमाणुओंका बिछुड़ जाना गलन कहलाता है, पुद्गल स्कन्धोंमें पूरण और गलन ये दोनों ही अवस्थाएँ होती रहती हैं, इसलिए उनका पुद्गल यह नाम सार्थक है ॥१४५॥ स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गलकी व्यवस्था दो प्रकारकी होती है । स्निग्ध और रुक् स्क्न्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गलकी व्यवस्था दो प्रकारकी होती है । स्निग्ध और रुक् अणुओंका जो समुदाय है उसे स्कन्ध कहते हैं ॥१४६॥ उस पुद्गल द्रव्यका विस्तार दो परमाणुवाले द्रव्यगुल स्कन्धसे लेकर अनन्तानन्त परमाणुवाले महास्कन्ध तक होता है । छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी, मेघ आदि सब उसके भेद-प्रभेद हैं ॥१४७॥ परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, वे इन्द्रियोंसे नहीं जाने जाते । घट-पट आदि परमाणुओंके कार्य हैं उन्हींसे उनका अनुमान किया जाता है । उनमें कोई भी दो अविरोध स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है । वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य भी होते हैं ॥१४८॥ ऊपर कहे हुए पुद्गल द्रव्यके छह भेद हैं-१ सूक्ष्मसूक्ष्म, २ सूक्ष्म, ३ सूक्ष्म स्थूल, ४ स्थूलसूक्ष्म, ५ स्थूल और ६ स्थूलस्थूल ॥१४९॥ इनमें-से एक अर्थात् स्कन्धसे पृथक् रहनेवाला परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो यह देखा जा सकता है और न उसका स्पर्श ही किया जा सकता है । कर्मोंके स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि वे अनन्त प्रदेशोंके समुदायरूप होते हैं ॥१५०॥ शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं क्योंकि यद्यपि इनका चक्षु इन्द्रियके द्वारा ज्ञान नहीं होता इसलिए ये सूक्ष्म हैं परन्तु अपनी अपनी कर्ण आदि इन्द्रियोंके द्वारा इनका ग्रहण हो जाता है इसलिए ये स्थूल भी कहलाते हैं ॥१५१॥ छाया, चाँदनी और आतप आदि स्थूलसूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रियके द्वारा दिखायी देनेके कारण ये स्थूल हैं परन्तु इनके रूपका संहरण नहीं हो सकता इसलिए विघातरहित होनेके कारण सूक्ष्म भी हैं ॥१५२॥ पानी आदि तरल पदार्थ जो कि पृथक् करनेपर भी मिल जाते हैं स्थूल भेदके उदाहरण हैं, अर्थात् दूध, पानी आदि पतले पदार्थ स्थूल कहलाते हैं और पृथिवी आदि स्कन्ध जो कि भेद किये जानेपर फिर न मिल सकें स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥१५३॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका

१. कर्मानुयोगाः । २. स्निग्धरुक्तात्मस्पर्शवन्तः । ३. सूक्ष्माः । ४. कर्मणः स्कन्धाः-सं० । ५. अनन्तस्य योगात् । ६. येषां शब्दादीनामक्षुष्यत्वे सत्यपि दोषेन्द्रियप्राप्त्यताया ईक्षणात् । सूक्ष्मस्थूलत्वम् ।
 ७. अनपहार्यस्वरूपत्वात् ।

इत्यमीषां पदार्थानां व्याख्यानमधिपर्ययात् । यः श्रद्धासे स मन्वात्मा परं महाधिगच्छति ॥१५४॥
 तत्पदार्थसंग्रहं कृत्स्नमित्युक्त्वास्मै विद्वां वरः । कानिश्चित्पञ्चबीजानि पुनरुद्देशतो जगौ ॥१५५॥
 पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं मार्गफलं तथा । बन्धं मोक्षं तयोर्हेतुं बद्धं मुक्तं च सोऽभ्यधात् ॥१५६॥
 त्रिजगत्समवस्थानं^१ नरकप्रस्तरानपि^२ । द्वीपादिबृहद्दशैलादीनप्यथास्मा^३ युपादिशत् ॥१५७॥
 त्रिषष्टिपटलं स्वर्गं देवाद्युर्मोगनिस्तरम् । महास्थानमपि^४ श्रीमान् लोकनाडीं च संजगौ ॥१५८॥
 तीर्थक्षेत्राणां पुराणानि शक्तिग्रामधर्मचक्रिणाम् । तत्कल्याणानि तद्धेतुनप्याचलयौ जगद्गुरुः ॥१५९॥
 गतिमागतिमुत्पत्तिं व्यवनं च^५ शरीरिणाम् । मुक्तिस्थितिं^६ कृतं चापि मगवान् व्याजहार सः ॥१६०॥
 नवन्नविष्यद्भूतं च यत्सर्वं द्रव्यगोचरम् । तत्सर्वं सर्वशित्सर्वो मरतं प्रत्यबुबुधत् ॥१६१॥
 श्रुत्वेति तत्पदसद्भावं गुरोः परमपुरुषात् । प्रह्लादं परमं प्राप मरतो मक्तिनिर्भरः ॥१६२॥
 ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च वतशुद्धिं च पुरुषैलाम् । निष्कलं^७ लान्तरतो भेजे परमानन्दमुब्रह्मन् ॥१६३॥
 प्रबुद्धो भानसौ शुद्धिं परमां परमर्षितः । संप्राप्य मरतो रेजे शरदीवाभुजाकरः ॥१६४॥

जो भव्य विपरीतता-रहित श्रद्धान करता है वह परब्रह्म अवस्थाको प्राप्त होता है ॥१५४॥ इस प्रकार ज्ञानवानोंमें अतिशय श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव भरतके लिए समस्त पदार्थोंके संग्रहका निरूपण कर फिर भी संक्षेपसे कुछ तत्त्वोंका स्वरूप कहने लगे ॥१५५॥ उन्होंने आत्मा, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ, मुनि तथा श्रावकोंका मार्ग, स्वर्ग और मोक्षरूप मार्गका फल, बन्ध और मुक्तिके कारण, लोक-श्रीलोकके आकार, कर्मरूपी बन्धनसे बँधे हुए संसारी जीव और कर्मबन्धनसे रहित मुक्त जीव आदि विषयोंका निरूपण किया ॥१५६॥ इसी प्रकार तीनों लोकोंका आकार, नरकोंके पटल, द्वीप, समुद्र, हृद और कुलाचल आदिका भी स्वरूप भरतके लिए कहा ॥१५७॥ अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके धारक भगवान् वृषभदेवने तिरसठ पटलोंसे युक्त स्वर्ग, देवोंके आशु और उनके भोगोंका विस्तार, मोक्षस्थान तथा लोकनाडीका भी वर्णन किया ॥१५८॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने तीर्थकर चक्रवर्ती और अर्ध चक्रवर्तियोंके पुराण, तीर्थकरोंके कल्याणक और उनके हेतुस्वरूप सोलह कारण भावनाओंका भी निरूपण किया ॥१५९॥ भगवान्ने, अमुक जीव मरकर कहाँ-कहाँ पैदा होता है ? अमुक जीव कहाँ-कहाँसे आकर पैदा हो सकता है ? जीवोंकी उत्पत्ति, विनाश, भोगसामग्री, विभूतियाँ अथवा मुनियोंकी श्रद्धियाँ, तथा मनुष्योंके करने और न करने योग्य काम आदि सबका निरूपण किया था ॥१६०॥ सबको जाननेवाले और सबका कल्याण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालसम्बन्धी सब द्रव्योंका सब स्वरूप भरतके लिए बतलाया था ॥१६१॥ इस प्रकार जगद्गुरु-परमपुरुष भगवान् वृषभदेवसे तत्त्वोंका स्वरूप मुनिकर भक्तिसे भरे हुए महाराज भरत परम आनन्दको प्राप्त हुए ॥१६२॥ तदनन्तर परम आनन्दको धारण करते हुए भरतने निष्कल अर्थात् शरीरानुरागसे रहित भगवान् वृषभदेवसे सम्यग्दर्शनकी शुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धिको प्राप्त किया ॥१६३॥ जिस प्रकार शरदृश्रुतुमें प्रबुद्ध अर्थात् खिला हुआ कमलोंका समूह सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत परम भगवान् वृषभदेवसे प्रबुद्ध होकर-तत्त्वोंका ज्ञानप्राप्त कर मनकी परम विशुद्धिको प्राप्त हो

१. नामोच्चारणमात्रतः । २. विन्वासम् । ३. पटलान् । ४. अस्मै भर्षे उपदेशं चकार ।

५. मुक्तिस्थानम् । ६. व्युत्पत्तिम् । ७. क्षेत्रम् । शतखण्डादिकं सुखादिकभुक्ति वा । ८. कार्यम् । ९. सम्पूर्णम् ।

१०. शरीरबन्धरहितात् ।

स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकाम् । व्रतशीलावलीं मुक्तेः कण्ठिकासिच निर्मलाम् ॥१६५॥
 विदीपे लब्धतन्त्रागते गुरुतो भरतेन्दवः । यथा कदाचरेन्मृगो मणिं संस्कारयोगतः ॥१६६॥
 त्रिदशासुरमर्त्यानां सा समा समुनीश्वरा । पीतसद्मर्मदीयूषा परामाप घृतिं तदा ॥१६७॥
 घनध्वनिमिव श्रुत्या विभोर्विष्यध्वनिं तदा । चातका इव भव्यौघाः परं प्रमदमाययुः ॥१६८॥
 दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलवस्तनितोपमम् । अशोकविटपारूढाः सस्वनुर्दिष्यध्वनिः ॥१६९॥
 सप्तार्चिषमिवासाध तं व्रातारं प्रभास्वरम् । विशुद्धिं भव्यरत्नानि भेजुर्दिष्यप्रभास्वरम् ॥१७०॥
 योऽसौ^१ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती । प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धीरेवो मानशालिनाम् ॥१७१॥
 श्रीमाम् वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी । स संक्षुध्य गुरोः पाद्वे दीक्षित्वामृद् गणाधिपः ॥१७२॥
 स सप्तर्द्धिमिरिद्धिस्तपोदीप्यावृतोऽमितः । स्वदीपि शरदीवाको भूतान्धतमसोदयः ॥१७३॥
 स श्रीमान् कुरुवंशार्कः श्रेयान् सोमप्रभोऽपि च । नृपाश्चान्ये तदोपात्तदीक्षा गणभृतोऽभवन् ॥१७४॥
 भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् । गणिनीपदमार्याणां^२ सा भेजे पूजितामरैः ॥१७५॥

अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥१६४॥ भरतने, गुरुदेवकी आराधना कर, जिसमें सम्यग्दर्शन-रूपी प्रधान मणि लगा हुआ है और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीके निर्मल कण्ठहारके समान जान पड़ती थी ऐसी व्रत और शीलेंकी निर्मल माला धारण की थी । भावार्थ—सम्यग्दर्शनके साथ पाँच अणुव्रत और सात शक्तिव्रत धारण किये थे तथा उनके अतिचारोंका बचाव किया था ॥१६५॥ जिस प्रकार किसी बड़ी स्थानसे निकला हुआ मणि संस्कारके योगसे देदीप्यमान होने लगता है उसी प्रकार महाराज भरत भी गुरुदेवसे ज्ञानमय संस्कार पाकर सुशोभित होने लगे थे ॥१६६॥ उस समय मुनियोंसे सहित वह देव-दानव और मनुष्योंकी सभा उत्तम धर्मरूपी अमृतका पान कर परम सन्तोषको प्राप्त हुई थी ॥१६७॥ जिस प्रकार भेड़ोंकी गर्जना सुनकर चातक पक्षी परम आनन्दको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस समय भगवान्की दिव्य-ध्वनि सुनकर भव्य जीवोंके समूह परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥१६८॥ भेड़की गर्जनाके समान भगवान्की दिव्य ध्वनिको सुनकर अशोकवृक्षकी शाखाओंपर बैठे हुए दिव्य मयूर भी आनन्दसे शब्द करने लग गये थे ॥१६९॥ सबकी रक्षा करनेवाले और अग्निके समान देदीप्यमान भगवान्को प्राप्त कर भव्य जीवरूपी रत्न दिव्यकान्तिको धारण करनेवाली परम विशुद्धिको प्राप्त हुए थे ॥१७०॥ उसी समय जो पुरिमताल नगरका स्वामी था, भरतका छोटा भाई था, पुण्यवान्, विद्वान्, शूर-वीर, पवित्र, धीर, स्वाभिमान करनेवालोंमें श्रेष्ठ, श्रीमान्, बुद्धिके पारको प्राप्त—अतिशय बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय था तथा जिसका नाम वृषभसेन था उसने भी भगवान्के समीप सम्बोध पाकर दीक्षा धारण कर ली और उनका पहला गणधर हो गया ॥१७१-१७२॥ सात ऋद्धियोंसे जिनकी विभूति अतिशय देदीप्यमान हो रही है, जो चारों ओरसे तपकी दीप्तिसे घिरे हुए हैं और जिन्होंने अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारके उदयको नष्ट कर दिया है ऐसे वे वृषभसेन गणधर शरद् ऋतुके सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१७३॥ उसी समय श्रीमान् और कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ, श्रेयान्स कुमार, तथा अन्य राजा लोग भी दीक्षा लेकर भगवान्के गणधर हुए थे ॥१७४॥ भरतकी छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेवकी कृपासे दीक्षित होकर आर्याओंके बीचमें गणिनी (स्वामिनी) के पदको प्राप्त हुई थी । वह ब्राह्मी सब देवोंके द्वारा पूजित हुई थी ॥१७५॥ उस समय वह

रराज राजकन्या सा राजदंसीव सुरदत्ता । दीक्षां गच्छेत्तीर्त्तुं कृतकिल्बिषस्तत्प्रसिन्नी ॥१७६॥
 सुन्दरी चात्तनिर्वेदा सा ब्राह्मीमन्त्रदीक्षित । अन्ये चान्यादेव संविग्ना गुरोः प्राप्ताजिपुस्तदा ॥१७७॥
 श्रुति कीर्तिमहाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः । देशसंयमिनामासीद्धीरयो गृहमेधिनाम् ॥१७८॥
 उपास्ताणुव्रता धीरा प्रयत्नात्मा प्रियव्रता । स्त्रीणां विशुद्धवृत्तीनां बभूवाग्रेसरो सती ॥१७९॥
 विभोः कैवल्यसंप्राप्तिकण एव महर्षयः । योगिनोऽन्येऽपि भूयांसो बभूवुर्भुवनोत्तमाः ॥१८०॥
 संबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः । सुरैरवाप्तपूजर्द्धिरप्रयो मोक्षव्रतामभूत् ॥१८१॥
 मरीचिवर्णाः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः । महारकान्ते संबुद्धय महाप्राज्ञाज्यमास्थिताः ॥१८२॥
 ततो भरतराजेन्द्रो गुरुं संपूज्य पुण्यधीः । स्वपुरामिमुखो जज्ञे चक्रपूजाकृतवरः ॥१८३॥
 युवा बाहुबली भीमानन्ये च भरतानुजाः । तमन्वीयुः कृतानन्दसमिधन्य जगद्गुरुम् ॥१८४॥

मालिनीवृत्तम्

मरतपतिमधाविर्भूतदिभ्यानुभावप्रसरमुदयरगं प्रत्युपात्तामिमुदयम् ।

विजयिनमनुजगमुर्भातरस्तं दिनादौ दिनपमिव मयूखा दिक्मुखाक्रान्ते भाजः ॥१८५॥

राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरद् ऋतुकी नदीके शीलरूपी किनारेपर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हंसके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७६॥ वृषभदेवकी दूसरी पुत्री सुन्दरीको भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था जिससे उसने भी ब्राह्मणोंके वाद दीक्षा धारण कर ली थी । इनके सिवाय उस समय और भी अनेक राजाओं तथा राजकन्याओंने संसारसे भयभीत होकर गृहदेवके समीप दीक्षा धारण की थी ॥१७७॥ श्रुतकीर्ति नामके किसी अतिशय बुद्धिमान् पुरुषने श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे, और वह देश व्रतधारण करनेवाले गृहस्थोंमें सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥१७८॥ इसी प्रकार अतिशय धीर-वीर और पवित्र अन्तःकरणको धारण करनेवाली कोई प्रियव्रता नामकी सती स्त्री श्रावकके व्रत धारण कर, शुद्ध चारित्र्यको धारण करनेवाली स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हुई थी ॥१७९॥ जिस समय भगवान्को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय और भी बहुत-से उत्तमोत्तम राजा लोग दीक्षित होकर बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनिराज हुए थे ॥१८०॥ भरतके भाई अनन्तवीर्यने भी सम्बोध पाकर भगवान्से दीक्षा प्राप्त की थी, वेयोंने भी उसकी पूजा की थी और वह इस अवसर्पिणी युगमें मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सद्यमें अप्रगामी हुआ था । भावार्थ—इस युगमें अनन्तवीर्यने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था ॥१८१॥ जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गये थे उनमें-से मरीचिकों छोड़कर बाकी सब तपस्वी लोग भगवान्के समीप सम्बोध पाकर तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप समझकर फिरसे दीक्षित हो तपस्या करने लगे थे ॥१८२॥

तदनन्तर जिन्हें चक्ररत्नकी पूजा करनेके लिए कुछ जल्दी हो रही है और जो पवित्र बुद्धिके धारक हैं ऐसे महाराज भरत जगद्गुरुकी पूजाकर अपने नगरके सम्मुख हुए ॥१८३॥ युवावस्थाको धारण करनेवाला बुद्धिमान् बाहुबली तथा और भी भरतके छोटे भाई आनन्दके साथ जगद्गुरुकी वन्दना करके भरतके पीछे-पीछे वापस लौट रहे थे ॥१८४॥ अथानन्तर उस समय महाराज भरत ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्यके दिव्य प्रभावका प्रसार (फैलाव) प्रकट होता है, उसी प्रकार भरतके भी दिव्य-अलौकिक प्रभावका प्रसार प्रकट हो रहा था, सूर्य जिस प्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण

१. वैराग्यपरायणाः । २. श्रुतकीर्तिनामा कविचञ्छावकः । ३. देशव्रतिनाम् । ४. पवित्रस्वरूपा । ५. प्रियव्रतसंज्ञका कापि स्त्री । ६. भोक्तुमिच्छाव्रतामग्रेसरः । आदिनाथादिनामादौ भुक्तोऽभूदित्यर्थः । ७. अभ्युदये रागो यस्य स तम्, पक्षे स्वोदये रागवत्तम् । ८. स्वीकृत । ९. दिनान्ते—ल० । १०. आक्रमणम् ।

शार्ङ्गलविकीडितम्

स्वान्तर्गतसमस्तवस्तुविसरां प्रास्तीणवर्णोज्ज्वलाम्

निर्णिकतो नयचक्रं सन्निधिगुरुं स्त्रीं तप्रमोदाहतिम् ।

विश्वास्यां निखिलाङ्गभूषणरिचितां जेतामिव व्याहृतिम् ।

प्राविक्षत्परया मुदा निधिपतिः स्वामुत्पताकां पुरीम् ॥१८६॥

इत्यापि भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भगवद्धर्मोपदेशनोपवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व ॥१९॥



करता है उसी प्रकार भरत भी अपने राज्य-शासनके उदयकालमें प्रजासे राग अर्थात् प्रेम धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार आभिमुख्य अर्थात् प्रधानताको धारण करता है उसी प्रकार भरत भी प्रधानताको धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार विजयी होता है उसी प्रकार भरत भी विजयी थे, और सायंकालके समय जिस प्रकार समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली किरणें सूर्यके पीछे-पीछे जाती हैं ठीक उसी प्रकार समस्त दिशाओंमें आक्रमण करनेवाले भरतके छोटे भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१८५॥ इस प्रकार निधियोंके अधिपति महाराज भरतने बड़े भारी आनन्दके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया था । उस समय उसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही थीं और वह ठीक जिनवाणीके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणीके भीतर समस्त पदार्थोंका विस्तार भरा रहता है उसी प्रकार उस अयोध्यामें अनेक पदार्थोंका विस्तार भरा हुआ था । जिस प्रकार जिनवाणी फैले हुए वर्णों अर्थात् अक्षरोंसे उज्ज्वल रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी फैले हुए-जगह-जगह वसे हुए क्षत्रिय आदि वर्णोंसे उज्ज्वल थी । जिस प्रकार जिनवाणी अत्यन्त शुचिरूप-पवित्र होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी शुचिरूप-कर्दम आदिसे रहित-पवित्र थी । जिस प्रकार जिनवाणी समूहके सन्निधानसे श्रेष्ठ होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी नीतिसमूहके सन्निधानसे श्रेष्ठ थी । जिस प्रकार जिनवाणी विस्तृत आनन्दको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी सबको विस्तृत आनन्दकी देनेवाली थी, जिस प्रकार जिनवाणी विश्वास अर्थात् विश्वास करने योग्य होती है अथवा सब ओर सुखवाली अर्थात् समस्त पदार्थोंका निरूपण करनेवाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी विश्वास करनेके योग्य अथवा सब ओर हैं आस्य अर्थात् मुख जिसके ऐसी थी-उसके चारों ओर गोपुर बने हुए थे, और जिस प्रकार जिनवाणी सभी अंग अर्थात् द्वादशांगको धारण करनेवाले मुनियोंके द्वारा परिचित-अभ्यस्त रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी समस्त जीवोंके द्वारा परिचित थी-उसमें प्रत्येक प्रकारके प्राणी रहते थे ॥१८६॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवत्कृत ।

धर्मोपदेशका वर्णन करनेवाला चौबीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१९॥



१. निजाभ्यन्तरमानीतसमस्तद्रव्यसमूहम्, पक्षे निजाभ्यन्तरमानीतसमस्तपदार्थस्वरूपसमूहम्
२. विस्तीर्ण सन्निधादिवर्ण, पक्षे विस्तीर्णान्तर । ३. पोषकाम्, पक्षे शुद्धाम् । निजिरिद्ध शीवपोषयोरिति धातोः संभवान् । ४. नपेन नीत्या उल्लिखितचक्ररत्नसंयन्त्रेण गुरुम्, पक्षे नयनमूहसंयन्त्रेण गुरुम् । ५. बहुल-सन्तोषस्याहरणं यस्याः सकाशात् जनानाम् । उभयत्र सदृशम् । ६. विश्वतोमुखीम् । परितो गोपुरवतीमित्यर्थः । पक्षे विश्वासयोग्याम् । ७. सकलप्राणिगणैः परिचिताम् । मन्ताङ्गवद्भिः परिचिताम् वा । पक्षे द्वादशाङ्ग-धारिभिः परिचिताम् । ८. भारतीम् । ९. आत्मीयाम् ।

पञ्चविंशतितमं पर्व

गते भरतराजपौ दिव्यमाधोपसंहृतौ^१ । निवातस्तिमितं^२ वार्धिमिवानाविष्कृष्यनिम् ॥१॥
धर्माश्रुवर्षसंसिक्तजगज्जननवनद्रुमम् । प्रावृक्षनमिवोद्गन्तं^३ वृष्टिस्तृप्तिनिःस्वनम् ॥२॥
कल्पद्रुममिवामीष्टफलविश्राणं^४ मोक्षयन् । स्वपादाभ्यर्णविश्रान्तत्रिजगज्जनमूर्जितम् ॥३॥
विवस्वन्तमिवोद्धमसोद्गन्धतमसोद्यन् । नवकेवललब्धीदकरोत्करचिराजितम् ॥४॥
महाकरमिवोद्भूतगुणरत्नोष्णं^५ प्राचितम् । भगवन्तं जगत्कास्तमचिन्त्यानन्तवैभवम् ॥५॥
वृत्तं श्रमणसङ्घेन चतुर्धा^६ भेदमीयुषा । चतुर्विधं वनामोगपरिष्कृतमिवादिपम् ॥६॥
प्रातिहार्याष्टकोपेतं^७ मिद्वक्त्रयाणपन्नकम् । चतुर्विंशत्पतीशेयै^८ रिद्धिर्द्धिं त्रिजगत्प्रभुम् ॥७॥
प्रपश्यन् विकन्नेत्रसहस्रः प्रीतमानसः । सौधमेन्द्रः स्तुतिं कर्तुमधारेभे समाहितः ॥८॥
स्तोत्रे स्वां परमं ज्योतिर्गुणरत्नमहाकरम् । मतिप्रकर्षहीनोऽपि केवलं भक्तिचोदितः ॥९॥
स्वामनिष्कटुयतां भक्त्या विशिष्टाः फलसंपदः । स्वयमाधिर्भवन्तीति निश्चित्य स्वां जिनस्तुते ॥१०॥
स्तुतिः पुण्यगुणोत्कर्षातिः स्तोता भव्यः^९ प्रसन्नधीः । निष्ठितार्थो भवान् स्तुत्यः फलं नैःश्रेयसं सुखम् ॥११॥

अथानन्तर-राजर्षि भरतके चले जाने और दिव्य ध्वनिके बन्द हो जानेपर वायु बन्द होनेसे तिश्वर-गुण-लक्ष्यके समान जिनका शब्द बिलकुल बन्द हो गया है। जिन्होंने धर्मरूपी जलकी वर्षाके द्वारा जगत्के जीवरूपी वनके वृक्ष सींच दिये हैं अनएव जो वर्षा कर चुकनेके बाद शब्दरहित हुए वर्षाश्रुतुके बादलके समान जान पड़ते हैं, जो कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल देनेमें तत्पर रहते हैं, जिनके चरणोंके समीपमें तीनों लोकोंके जीव विश्राम लेते हैं, जो अनन्त बलसे सहित हैं। जिन्होंने सूर्यके समान मोहरूपी गाढ़ अन्धकारके उद्यको नष्ट कर दिया है, और जो नव केवललब्धिरूपी देहीप्यमान किरणोंके समूहसे सुशोभित हैं। जो किसी बड़ी भारी खानके समान उत्पन्न हुए गुणरूपी रत्नोंके समूहसे व्याप्त हैं, भगवान् हैं, जगत्के अधिपति हैं, और अचिन्त्य तथा अनन्त वैभवको धारण करनेवाले हैं। जो चार प्रकारके श्रमण संधसे घिरे हुए हैं और उनसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो भद्रशाल आदि चारों वनोंके विस्तारसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो। जो आठ प्रातिहार्योंसे सहित हैं, जिनके पाँच कल्याणक सिद्ध हुए हैं, चौतीस अतिशयोंके द्वारा जिनका ऐश्वर्य बढ़ रहा है और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेवको देखते ही जिसके हजार नेत्र विकसित हो रहे हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने स्थिरचित्त होकर भगवान्की स्तुति करना प्रारम्भ की ॥१-८॥ हे प्रभो, यद्यपि मैं बुद्धिकी प्रकर्षतासे रहित हूँ तथापि केवल आपकी भक्तिसे ही प्रेरित होकर परम ज्योतिस्वरूप तथा गुणरूपी रत्नोंकी खानस्वरूप आपकी स्तुति करता हूँ ॥९॥ हे जिनेन्द्र, भक्तिपूर्वक आपको स्तुति करनेवाले पुरुषोंमें उत्तम-उत्तम फलरूपी सम्पदाएँ अपने आप ही प्राप्त होती हैं यही निश्चय कर आपकी स्तुति करता हूँ ॥१०॥ पवित्र गुणोंका निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धिवाला भव्य स्तोता अर्थात् स्तुति करनेवाला है, जिनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं ऐसे आप स्तुत्य अर्थात् स्तुतिके विषय हैं, और मोक्षका सुख

१.-संहृते: व० । २. निश्चलम् । ३. उद्धमित । ४. धान । ५. राशि । ६. मुनिश्रुषियत्वनगारा इति चतुर्विधभेदम् । ७. भद्रशालादि । ८-पेतं सिद्ध-ल०, इ० । ९. मतिशायः । १०. भव्योऽहम् ।

हृत्पाकलव्य मनसा तुष्टुं मां फलार्थिनम् । विभो प्रसन्नया रुक्म्या त्वं पुनीहि सनातन ॥१२॥
 मासुदाकुलते^१ भक्तिसूत्रद्वयैः परिचोदिता । ततः स्तुतिपथे तेऽस्मिन् रुक्मः^२ संविन्नमानसः^३ ॥१३॥
 त्वयि भक्तिः कृताद्यापि महती फलसंपदम् । पक्वलीति विभो कल्पदमाजमेवेव पेहिनाम् ॥१४॥
 तवारिजयमाचष्टे वपुरस्पृष्टकैतवम् । दोषाशेषविकारा हि रागिणां भूषणादयः ॥१५॥
 निर्भूषणमपि कान्तं ते वपुर्भुवनभूषणम् । दीपं हि भूषणं नैव भूषणान्तर्माक्षते ॥१६॥
 न सूर्ध्नि कवरोबन्धो न शैलरपरिग्रहः । न किरीटादिभारहणे तथापि रुचिरं शिरः ॥१७॥
 न मुखे भ्रुकुटीन्यासी न दध्ने दशनच्छदः । नास्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीतहर्^४ ॥१८॥
 त्वया नाताश्रिते नेशे नीलोत्पलदलायते^५ । मोहारिबिजये देव प्रभुशक्तिस्तवाद्भुजा ॥१९॥
 अपावाङ्मात्रलोकं ते जिनेन्द्र नयनद्वयम् । मदनारिजयं वक्ति व्यक्तं नः सौम्यवीक्षितम् ॥२०॥
 त्वद्दशोरमाला शोभितासृगन्ती शिरस्म^६ नः । पुनाति पुण्य^७ भारेण जगतामेकपावनी ॥२१॥

प्राप्त होना उसका फल है । हे विभो, हे सनातन, इस प्रकार निश्चय कर हृदयसे स्तुति करने-
 वाले और फलकी इच्छा करनेवाले मुझको आप अपनी प्रसन्न दृष्टिसे पवित्र कीजिए ॥१२॥
 हे भगवन्, आपके गुणोंके द्वारा प्रेरित हुई भक्ति ही मुझे आनन्दित कर रही है इसलिए मैं
 संसारसे उदासीन होकर भी आपकी इस स्तुतिके मार्गमें लग रहा हूँ—प्रवृत्त हो रहा हूँ ॥१३॥
 हे विभो, आपके विषयमें की गयी थोड़ी भी भक्ति कल्पवृक्षकी सेवाकी तरह प्राणियोंके लिए
 बड़ी-बड़ी सम्पदाएँरूपी फल फलती हैं—प्रदान करती हैं ॥१४॥ हे भगवन्, आभूषण आदि
 उपाधियोंसे रहित आपका शरीर आपके राग-द्वेष आदि शत्रुओंकी विजयको स्पष्ट रूपसे कह
 रहा है क्योंकि आभूषण वगैरह रागी मनुष्योंके दोष प्रकट करनेवाले विकार हैं । भावार्थ—
 रागी द्वेषी मनुष्य ही आभूषण पहनते हैं परन्तु आपने राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओंपर पूर्ण
 विजय प्राप्त कर ली है इसलिए आपको आभूषण आदिके पहननेकी आवश्यकता नहीं
 है ॥१५॥ हे प्रभो, जगत्को सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर भूषणरहित होनेपर भी
 अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि जो आभूषण स्वयं देदीप्यमान होता है वह दूसरे
 आभूषणकी प्रतीक्षा नहीं करता ॥१६॥ हे भगवन्, यद्यपि आपके मस्तकपर न तो सुन्दर
 केशपाश है, न शैलरका परिग्रह है और न मुकुटका भार ही है तथापि वह अत्यन्त सुन्दर
 है ॥१७॥ हे नाथ, आपके मुखपर न तो भींह ही देदी हुई है, न आपने ओठ ही डसा है और
 न आपने अपना हाथ ही शस्त्रोंपर व्यापृत किया है—हाथसे शस्त्र उठाया है फिर भी आपने
 घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर दिया है ॥१८॥ हे देव, आपने मोहरूपी शत्रुके जीतनेमें
 अपने नील कमलके दलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंको कुछ भी लाल नहीं किया था, इससे मालूम
 होता है कि आपकी प्रभुत्वशक्ति बड़ा आश्चर्य करनेवाली है ॥१९॥ हे जिनेन्द्र, आपके दोनों
 नेत्र कटाक्षालोकनसे रहित हैं और सौम्य दृष्टिसे सहित हैं इसलिए वे हम लोगोंको स्पष्ट
 रीतिसे बतला रहे हैं कि आपने कामदेवरूपी शत्रुको जीत लिया है ॥२०॥ हे नाथ, हम
 लोगोंके मस्तकका स्पर्श करती हुई और जगत्को एकमात्र पवित्र करती हुई आपके नेत्रोंको

१. स्तोतुमिच्छुम् । २. पवित्रीकुह । ३. प्रोत्साहयति । ४. प्रवृत्तोऽस्मि । ५. प्रमाथिर्मफलानुराग-
 मानसः । ६. भुशं फलति । ७. शोभते— ल०, अ०, प० । ८. हंसि स्म । ९. दलाश्रिते— द० । १०. कटाक्ष-
 वीक्षणम् । अनपाङ्माव—ल० । ११. शान्तिधारा ।

तवेदमाननं धत्ते प्रफुल्लकमलत्रियम् । स्वकाभिरन्योत्स्रया त्रिश्वमाक्रामरुद्धरविन्दुवत् ॥२२॥
 यन्द्वातहुंकारमदघोष्ठपुटं सुखम् । जिनालयाति सुमेधोभ्यस्तावकी वीतरागताम् ॥२३॥
 त्वन्मुखादुद्यती दीप्तिः पावनीव सरस्वती । विधुन्वती तसौ माति जितवालातपयुतिः ॥२४॥
 त्वन्मुखाभ्युसृष्टालगता सुराणां नयनावलिः । मार्तीयमलिमालेव तन्मोहादुत्पत्तिनी ॥२५॥
 मकरन्दमिवापीयस्व हृदयजोद्गतं वचः । अनाशितमव भव्यभमरा यान्त्यमी सुवम् ॥२६॥
 पुरतोऽभिमुखोऽपि त्वं लक्ष्यसे विश्वतोमुखः । तेजोगुणस्य माहात्म्यमिदं नूनं तवाद्भुतम् ॥२७॥
 विश्वदिक्षु विसर्पन्ति तावका वागमीषवः । तिरश्चामपि हृदयान्तमुद्धन्वन्तो जिनांशुमा ॥२८॥
 तव वागमृतं पीत्वा वचमध्यामराः स्फुटम् । पीयूषमिदमिष्टं मो देव सर्वसृजाहरम् ॥२९॥
 जिनेन्द्र तव वक्त्राब्जं प्रक्षरद्वचनामृतम् । मध्यानां प्राणनं भाति धर्मस्येव निधानकम् ॥३०॥
 सुखेन्दुमण्डलादेव तव वाक्किरणा इमे । विनियन्तो हृत्तध्यान्ताः समामाह्लादयन्त्यकम् ॥३१॥
 चित्रं पाचां विशिष्टाणामक्रमः प्रभवः प्रभो १ । अथवा तीर्थकृत्वस्य देव वैमचमोदनाम् ॥३२॥

निर्मल दीप्ति पुण्यधाराके समान हम लोगोंको पवित्र कर रही है ॥२१॥ हे भगवन्, शरद्
 ऋतुके चन्द्रमाके समान अपनी कान्तिरूपी चाँदनीसे समस्त जगत्को व्याप्त करता हुआ
 आपका यह मुख फूले हुए कमलकी शोभा धारण कर रहा है ॥२२॥ हे जिन, आपका मुख
 न तो अट्टहाससे सहित है, न हुंकारसे युक्त है और न ओठोंको ही दबाये हैं इसलिए यह
 बुद्धिमान् लोगोंको आपकी वीतरागता प्रकट कर रहा है ॥२३॥ हे देव, जो अन्धकारको नष्ट
 कर रही है और जिसने प्रातःकालके सूर्यकी प्रभाको जीत लिया है ऐसी आपकी मुखसे
 निकलती हुई पवित्र कान्ति सरस्वतीके समान सुशोभित हो रही है ॥२४॥ हे भगवन्, आपके
 मुखरूपी कमलपर लगी हुई यह देवोंके नेत्रोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है मानो उसकी
 सुगन्धिके कारण चारों ओरसे झपटती हुई धमरोंकी पंक्ति ही हो ॥२५॥ हे नाथ, जिनसे
 कभी वृत्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमलसे निकले हुए आपके वचनरूपी मकरन्दका
 पान कर ये भव्य जीवरूपी भमर आनन्दको प्राप्त हो रहे हैं ॥२६॥ हे भगवन्, यद्यपि
 आप एक ओर मुख किये हुए विराजमान हैं तथापि ऐसे दिखाई देते हैं जैसे आपके मुख
 चारों ओर हों । हे देव, निश्चय ही यह आपके तपश्चरणरूपी गुणका आश्चर्य करनेवाला
 माहात्म्य है ॥२७॥ हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, तिर्यचोंके भी हृदयगत अन्धकारको नष्ट करनेवाली
 आपकी वचनरूपी किरणें सब दिशाओंमें फैल रही हैं ॥२८॥ हे देव, आपके वचनरूपी
 अमृतको पीकर आज हम लोग वास्तवमें अमर हो गये हैं इसलिए सब रोगोंको हरनेवाला
 आपका यह वचनरूप अमृत हम लोगोंको बहुत ही इष्ट है—प्रिय है ॥२९॥ हे जिनेन्द्रदेव,
 जिससे वचनरूपी अमृत झर रहा है और जो भव्य जीवोंका जीवन है ऐसा यह आपका
 मुखरूपी कमल धर्मके खजानेके समान सुशोभित हो रहा है ॥३०॥ हे देव, आपके
 मुखरूपी चन्द्रमण्डलसे निकलती हुई ये वचनरूपी किरणें अन्धकारको नष्ट करती हुई
 सभाको अत्यन्त आनन्दित कर रही हैं ॥३१॥ हे देव, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि
 आपसे अनेक प्रकारकी भाषाओंकी एक साथ उत्पत्ति होती है अथवा आपके तीर्थकर-

१. मुखाम्बुजसहानुमोदमनुव्रजन्ती । २. पीत्वा । ३. अतृप्तिकरम् । तपोगुणस्य-ल० । ४. सकल-
 दिक्षु । ५. वचनकिरणाः । ६. न अग्र्यन्त इत्यमराः । ७. तव वाक्कथममृतम् । ८. प्राणनं-ल० । ९. निक्षेपः ।
 १०. प्रयोग-ल० ।

अस्वेदमलमाभाति सुगन्धि शुभलक्षणम् । सुसंस्थानमस्क्ता^१ सृग्बुर्बजस्थिरं तव ॥३३॥
 सौख्यं नयनाह्लादि सौभाग्यं चित्तरञ्जनम् । सुवाक्यं जगदानन्दि तवासाधारण गुणः ॥३४॥
 अमेयमपि ते वीर्यं मितं देहे प्रमान्विते । स्वल्पेऽपि दर्पणे बिम्बं भाति^२ स्तम्भेरमं^३ तनु ॥३५॥
 खदारवातस्थितोद्देशं^४ परितः शतयोजनम् । सुलभाशनपानादि त्वग्महिम्नोपजायते ॥३६॥
 गगनानुगतं^५ वातं सवासीद् भुवमस्पृशत् । देवासुरं भरं सोढुमक्षमा धरणीति तु ॥३७॥
 कर्त्तरि^६ अहोहिंसैर्द्वयन्ते जगत्प्रजिनः^७ । सुहृन्मोहानुपगतं स्वहि संसृजनीषधे ॥३८॥
 न भुक्तिः शीणमोहस्य^८ तवानन्तमुखोदयात् । क्षुत्कलेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥३९॥
 असद्वेषोदयाद् भुक्तिं लायि यो शोक्नयेदधीः । मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्ट्य^९ जरद्घृतम्^{१०} ॥४०॥
 असद्वेषविषं वाति विध्वंसध्वस्तशक्तिकम् । स्वयंकिंचित्करं मन्त्रशक्त्येषापथलं^{११} विषम् ॥४१॥

पनेका माहात्म्य ही ऐसा है ॥३३॥ हे भगवन्, जो पसीना और मलमूत्रसे रहित है, सुगन्धित है, शुभ लक्षणोंसे सहित है, समचतुरस्र संस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं है और जो वज्रके समान स्थिर है ऐसा यह आपका शरीर अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥३३॥ हे देव, नेत्रोंको आनन्दित करनेवाली सुन्दरता, मनको प्रसन्न करनेवाला सौभाग्य और जगत्को हर्षित करनेवाली मीठी वाणी ये आपके असाधारण गुण हैं अर्थात् आपको छोड़कर संसारके अन्य किसी प्राणीमें नहीं रहते ॥३४॥ हे भगवन्, यद्यपि आपका वीर्य अपरिमित है तथापि वह आपके परिमित अल्प परिमाणवाले शरीरमें समाया हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि हाथोंका प्रतिबिम्ब छोटेसे दर्पणमें भी समा जाता है ॥३५॥

हे नाथ, जहाँ आपका समवसरण होता है उसके चारों ओर सौ-सौ योजन तक आपके माहात्म्यसे अन्नपान आदि सब सुलभ हो जाते हैं ॥३६॥ हे देव, यह पृथिवी समस्त सुर और असुरोंका भार धारण करनेमें असमर्थ है इसलिए ही क्या आपका समवसरणरूपी विमान पृथिवीका स्पर्श नहीं करता हुआ सदा आकाशमें ही विद्यमान रहता है ॥३७॥ हे भगवन्, संजीवनी ओषधिके समान आपके समीचीन धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर रहते हुए सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर हिंसक जीव भी दूसरे प्राणियोंकी कर्मा हिंसा नहीं करते हैं ॥३८॥ हे प्रभो, आपके मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे अत्यन्त सुखकी उत्पत्ति हुई है इसलिए आपके कवलाहार नहीं है सो ठीक ही है, क्योंकि क्षुधाके क्लेशसे दुखी हुए जीव ही कवलाहार भोजन करते हैं ॥३९॥ हे जिनेन्द्र, जो मूर्ख अज्ञातावेदनीय कर्मका उदय होनेसे आपके भी कवलाहारकी योजना करते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि आप भी कवलाहार करते हैं क्योंकि आपके अज्ञातावेदनीय कर्मका उदय है उन्हें मोहरूपी वायुरोगको दूर करनेके लिए पुराने घीकी खोज करनी चाहिए । अर्थात् पुराने घीके लगानेसे जैसी सन्निपात-वातज्वर शान्त हो जाता है उसी तरह अपने मोहको दूर करनेके लिए किसी पुराने अनुभवो पुरुषका स्नेह प्राप्त करना होगा ॥४०॥ हे देव, मन्त्रकी शक्तिसे जिसका धल नष्ट हो गया है, ऐसा विष जिस प्रकार कुल भी नहीं कर सकता है उसी प्रकार वातियाकर्मोंके नष्ट हो जानेसे जिसकी शक्ति नष्ट हो गयी है ऐसा

१. स्वेदमलरहितम् । २. नीरुधिरम् । ३. प्रभाति । ४. स्तम्भेरमसंबन्धि । ५. तव समवसरण-विषयप्रदेशस्य समन्तात् । ६. गमनम् । ७. देवासुरभरं-ल० । ८. तवात्यन्त-इ०, ल० । ९. अज्ञातावेदनीयो-दयात् । १०. अज्ञानवातरोगप्रतीकारे । ११. मूयम् । १२. चिरन्तनायुम् । १३. अपगतबलम् ।

असद्वेषोदयो घातिसहकारिभ्यपायतः । स्वयकिंचित्करो नाथ सामन्या हि फलोदयः ॥४२॥
 नेतयो नोपसर्गाच्च प्रमथन्ति स्वयंशनिः । जगतां पालकं हृत्काक्षालिताहः कलङ्कके ॥४३॥
 त्वदयनमनुसृतोऽसर्पकैवल्यमल्लोचने । चातुरास्यमिदं युक्तं नष्टघातिचतुष्टये ॥४४॥
 सर्वविद्येकपरो योगी चतुरास्यस्त्वमक्षरः । सर्वतोऽक्षिमयं ज्योतिस्तन्वानो मास्यधीशितः ॥४५॥
 अच्छायस्वमनुमेषनिमेषयं च ते वपुः । धत्ते तेजोमयं दिव्यं परमौदारिकाह्वयम् ॥४६॥
 विभाणोऽप्यध्वविच्छन्नमच्छायां ज्ञेयमदीक्ष्यसे । महतां चैष्टितं चित्रमधवौजस्तवेद्वाम् ॥४७॥
 निमेषापायधीराक्षं तव धक्त्राब्जमीशितुम् । त्वयं नयनस्त्वन्दो नूनं देवैश्च संसृतः ॥४८॥
 नखकेशमितावस्था तवाविष्कुरुते विभो । रसाविविलयं देहे विशुद्धस्फटिकामले ॥४९॥
 हृद्युदासैर्गुणैरनित्यमनन्यत्रमाविभिः । स्वयमेव ब्रूतो नूनमदृष्टशरणान्तरैः ॥५०॥

असातावेदनीयरूपी विष आपके विषयमें कुछ भी नहीं कर सकता ॥४२॥ हे नाथ, घातिया-
 कर्मरूपी सहकारी कारणोंका अभाव हो जानेसे असातावेदनीयका उदय आपके विषयमें
 अकिंचित्कर है अर्थात् आपका कुछ नहीं कर सकता, सो ठीक ही है क्योंकि फलका उदय सब
 सामग्री इकट्ठा होनेपर ही होता है ॥४३॥ हे ईश, आप जगत्के पालक हैं और अपने लीला-
 मात्रसे ही पापरूपी कलंक धो डाले हैं, इसलिए आपपर न तो ईतियाँ अपना प्रभुत्व जमा
 सकती हैं और न उपसर्ग ही । भावार्थ—आप ईति, भोति तथा उपसर्गसे रहित हैं ॥४४॥
 हे भगवन्, यद्यपि आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र अनन्तमुख हो अर्थात् अनन्तज्ञेयोंको
 जानता हुआ फैल रहा है फिर भी चूँकि आपके चार घातियाकर्म नष्ट हो गये हैं इसलिए
 आपके यह चातुरास्य अर्थात् चार मुखोंका होना उचित ही है ॥४५॥ हे अधीश्वर, आप सब
 विद्याओंके स्वामी हैं, योगी हैं, चतुर्मुख हैं, अविनाशी हैं और आपकी आत्ममय केवल-
 ज्ञानरूपी ज्योति चारों ओर फैल रही है इसलिए आप अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥४६॥
 हे भगवन्, तेजोमय और दिव्यस्वरूप आपका यह परमौदारिक शरीर छायाका अभाव
 तथा नेत्रोंकी अनुमेष वृत्तिको धारण कर रहा है अर्थात् आपके शरीरकी न तो छाया ही
 पड़ती है और न नेत्रोंके पलक ही झपते हैं ॥४७॥ हे नाथ, यद्यपि आप तीन छत्र धारण किये
 हुए हैं तथापि आप छायारहित ही दिखायी देते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी
 चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली होती हैं अथवा आपका प्रताप ही ऐसा है ॥४८॥ हे स्वामिन्,
 पलक न झपनेसे जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमलको देखनेके लिए
 ही देवोंने अपने नेत्रोंका संचलन आपमें ही रोक रखा है । भावार्थ—देवोंके नेत्रोंमें पलक
 नहीं झपते सो ऐसा जान पड़ता है मानो देवोंने आपके सुन्दर मुखकमलको देखनेके लिए
 ही अपने पलकोंका झपाना बन्द कर दिया हो ॥४९॥ हे भगवन्, आपके नख और
 केशोंकी जो परिमित अवस्था है वह आपके विशुद्ध स्फटिकके समान निर्मल शरीरमें
 रक्त आदिके अभावको प्रकट करता है । भावार्थ—आपके नख और केश ज्योंके-त्यों
 रहते हैं—उनमें वृद्धि नहीं होती है, इससे मालूम होता है कि आपके शरीरमें रक्त,
 रक्त आदिका अभाव है ॥५०॥ इन प्रकार ऊपर कहे हुए तथा जो दूसरी जगह न
 पाये जायें ऐसे आपके इन उदार गुणोंने दूसरी जगह घर न देखकर स्वयं आपके

१. त्वयोशितः ल० । २. पालकं सति । ३. मुनोत्सर्पेत्—द०, इ०, ल०, प०, स० । ४. चतुरास्यत्वम् ।
 ५. नष्टे घाति—ल०, इ०, द० । ६. आत्ममयम् । ७. तवातोभास्य—ल० । ८. भो प्रवीश्वर । ९. छयस्योपर्यु-
 परिच्छन्नम् । अभाणोऽप्यध्वपरोति द्विर्भावः । १०. छायारहितशरीरो भूत्या । ११. त्वयमेव—ल०, इ० ।

अप्यमी रुरसौन्दर्यकान्तिदीप्यादयो^१ गुणाः । स्पृष्टग्रीवाः सुरेन्द्राणां तत्र हेयाः किलाद्भुतम् ॥५१॥
^२गुणिनं स्वामुपासना निर्धूतगुणं बन्धनाः । स्वयां सारूप्यमायान्ति स्वामिच्छन्दं^३ नु शिक्षितुः^४ ॥५२॥
 भयं मन्दानिलोद्धृतचलच्छायाकरोत्करैः । श्रीमानशोकवृक्षस्ते नृत्पत्नीवात्सल्यमदः ॥५३॥
 चलक्षीरोदवीथीभिः स्पर्धां कर्तुमिवाभितः । चामरौघाः पतन्ति त्वा^५ महज्जिह्वाकृता धृताः^६ ॥५४॥
 सुखतालम्बनविभ्राजि भ्राजते विधुनिर्मलम् । छत्रत्रयं तवोन्मुक्तप्रारोहमिव स्वाङ्गणे ॥५५॥
 सिंहैर्हृदं विभातीदं तव विष्टरमुच्चकैः । रत्नांशुनिर्मलस्पर्शाभुषतहर्षाङ्कुरैरिव ॥५६॥
 ध्वनन्ति मधुरध्वानाः सुरवुन्दुनिकोटयः । घोषयन्त्य द्वापूर्य रोदसी^७ त्रयजयोत्सवम् ॥५७॥
 तव दिव्यध्वनिं धीरमनुकर्तुमिद्योयताः । ध्वनन्ति सुरसूर्याणां कोटयोऽर्धत्रयोदश^८ ॥५८॥
 सुरैरिव ममोरक्तात् पीष्पी वृष्टिर्वितन्मये । तुष्ट्या स्वर्गलक्ष्म्येव धोदितैः कल्पशालिभिः ॥५९॥
 तव वेदप्रभोत्सवैः समाकामन्मनोऽभितः । शश्वत्प्रमातृमास्थानी जनानां जनयत्यलम्^९ ॥६०॥

पास आकर आपको स्वीकार किया है ॥५०॥ हे देव, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि जिनकी प्राप्ति के लिए इन्द्र भी इच्छा किया करते हैं ऐसे ये रूप-सौन्दर्य, कान्ति और दीप्ति आदि गुण आपके लिए हेय हैं अर्थात् आप इन्हें छोड़ना चाहते हैं ॥५१॥ हे प्रभो, अन्य सब गुणरूपी बन्धनों को छोड़कर केवल आपकी उपासना करनेवाले गुणी पुरुष आपकी ही सदृशता प्राप्त हो जाते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्वामी के अनुसार चलना ही शिष्यों का कर्तव्य है ॥५२॥ हे स्वामिन्, आपका यह शोभायमान अशोकवृक्ष ऐसा जान पड़ता है मानो मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखारूपी हाथों के समूहों से हर्षित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥५३॥ हे नाथ, देवों के द्वारा लीलापूर्वक धारण किये हुए चमरों के समूह आपके दोनों ओर इस प्रकार ढोरे जा रहे हैं मानो वे क्षीरसागर की चंचल लहरों के साथ स्पर्धा ही करना चाहते हों ॥५४॥ हे भगवन्, चन्द्रमा के समान निर्मल और मोतियों की जाली से सुशोभित आपके तीन क्षत्र आकाशरूपी आँगन में ऐसे अच्छे जान पड़ते हैं मानो उनमें अँकूरे ही उत्पन्न हुए हों ॥५५॥ हे देव, सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ आपका यह ऊँचा सिंहासन रत्नों की किरणों से ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आपके स्पर्श से उसमें हर्ष के रोमांच हो उठ रहे हों ॥५६॥ हे स्वामिन्, मधुर शब्द करते हुए जो देवों के करोड़ों दुन्दुभि बाजे बज रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आकाश और पाताल को व्याप्त कर आपके जयोत्सव की घोषणा ही कर रहे हों ॥५७॥ हे प्रभो, जो देवों के साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि आदि बाजे बज रहे हैं वे आपकी गम्भीर दिव्यध्वनिका अनुकरण करने के लिए ही मानो तत्पर हुए हैं ॥५८॥ आकाश-रूपी रंग-भूमि से जो देव लोग यह पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मी के द्वारा प्रेरित हुए कल्पवृक्ष ही वह पुष्पवर्षा कर रहे हों ॥५९॥ हे भगवन्, आकाश में चारों ओर फैलता हुआ यह आपके शरीर का प्रभामण्डल सम-सरण में बैठे हुए मनुष्यों को सदा प्रभातकाल उत्पन्न करता रहता है अर्थात् प्रातःकाल की

१. दीप्तिः तेजः । २. गुणिनस्त्वा-द०, ६० । गुणिनस्त्वा-ल० । ३. निर्धूतं गुणबन्धनं रज्जुरहित-
 बन्धनं येस्ते । निरस्तकर्मबन्धना इत्यर्थः । ४. समानरूपताम् । ५. भर्तुः प्रतिनिधिः । ६. शिक्षितुः । शिक्ष
 विद्योपादाने । ७. देवैः । ८. धृताः ल० । विजिताः । ९. द्वावापूर्यव्यो । १०. त्रयोदशमर्थं येषां ते ।
 सार्द्धद्वादशकोटय इत्यर्थः । ११. जनयत्यलम्-द०, ६० । जनयत्यदः-ल० ।

नखांशवस्तवातात्राः प्रसरन्तिदिशास्वमी । श्वदक्षिणरुद्राभ्याम् प्रारोहा इव निःसृताः ॥६१॥
 शिरस्तु नः स्पृशन्त्येते प्रसादस्येव तेंडशकाः । स्वस्पादनखशीतांशुकराः प्राह्लादिताखिलाः ॥६२॥
 त्वत्पादाम्बुरुहच्छायासरसीमवनाहते । दिव्यश्री कलहंसीयं नखरोचिर्मुणालिकाम् ॥६३॥
 मोहारिमेवनालग्नशोणितार्द्रच्छटामिव । तलच्छायामिदं धत्ते त्वत्पादाम्बुरुहद्वयम् ॥६४॥
 स्वस्पादनखभाभारं सरसि प्रतिबिम्बिताः । सुराङ्गनाननच्छायास्तम्बते पङ्कजश्रियम् ॥६५॥
 स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पांश्चात्मानमात्मनि । स्वात्मनैव तथोद्भूतहृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥६६॥
 नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते । विद्वांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतां वर ॥६७॥
 कर्मशत्रुं हणं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानमं सुरेण्मौलिमामालां पश्चितक्रमम् ॥६८॥
 ध्यानकुण्ठनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः । अनन्तमवसन्तानजयादासीदनन्तजित् ॥६९॥
 त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्द्वर्षमतिदुर्जयम् । मृत्युराजं विजित्वासीदिन्नमृत्युञ्जयो भवान् ॥७०॥
 विधुताशेषसंसारबन्धनो मय्यवान्धवः । त्रिपुरारिस्त्वमीशासिं जन्ममृत्युज्वरान्तकृत् ॥७१॥

शोभा दिखलाता रहता है ॥६०॥ हे देव, आपके नखोंकी ये कुछ-कुछ लाल किरणें दिशाओंमें इस प्रकार फैल रही हैं मानो आपके चरणरूपी कल्पवृक्षोंके अग्रभागसे अँकूरे ही निकल रहे हों ॥६१॥ सब जीवोंको आह्लादित करनेवाली आपके चरणोंके नखरूपी चन्द्रमाकी ये किरणें हम लोगोंके सिरका इस प्रकार स्पर्श कर रही हैं मानो आपके प्रसादके अंश ही हों ॥६२॥ हे भगवन्, यह दिव्य लक्ष्मीरूपी मनोहर हँसी नखोंकी कान्तिरूपी मृणालसे सुशोभित आपके चरणकमलोंकी छायारूपी सरोवरीमें अवगाहन करती है ॥६३॥ हे विभो, आपके ये दोनों चरणकमलोंकी जिस कान्तिको धारण कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो मोहरूपी शत्रुको नष्ट करते समय लगी हुई उसके गीले रक्तकी छटा ही हो ॥६४॥ हे देव, आपके चरणोंके नखकी कान्तिरूप जलके सरोवरमें प्रतिबिम्बित हुई देवांगनाओंके मुखकी छाया कमलोंकी शोभा बढ़ा रही है ॥६५॥ हे नाथ, आप अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको उत्पन्न कर प्रकट हुए हैं, इसलिए आप स्वयंभू अर्थात् अपने-आप उत्पन्न हुए कहलाते हैं । इसके सिवाय आपका माहात्म्य भी अचिन्त्य है अतः आपके लिए नमस्कार हो ॥६६॥ आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप लक्ष्मीके भर्ता हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥६७॥ हे देव, बुद्धिमान लोग आपको कामरूपी शत्रुको नष्ट करनेवाला मानते हैं, और आपके चरणकमल इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिके समूहसे पूजित हैं इसलिए हम लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥६८॥ अपने ध्यानरूपी कुठारसे अतिशय मजबूत घातियाकर्मरूपी बड़े भारी वृक्षको काट डाला है तथा अनन्त संसारकी सन्ततिको भी आपने जीत लिया है इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं ॥६९॥ हे जिनेन्द्र, तीनों लोकोंको जीत लेनेसे जिसे भारी अहंकार उत्पन्न हुआ है और जो अत्यन्त दुर्जय है ऐसे मृत्युराजको भी आपने जीत लिया है इसीलिए आप मृत्युञ्जय कहलाते हैं ॥७०॥ आपने संसाररूपी समस्त बन्धन नष्ट कर दिये हैं, आप मय्य जीवोंके बन्धु हैं और आप जन्म, मरण तथा बुढ़ापा इन तीनोंका नाश

त्रिकालविषयाद्युत्तरवभेदान् त्रिभोधिनाम् । केवलकल्पं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽपि स्वर्माशितः ॥७२॥
 स्वामन्धकान्तकं प्राहुर्माहोन्धामुरमदनात् । अर्धं न नारयो यस्मादर्थनारीश्वरस्यस्यतः ॥७३॥
 शिवः शिवपदाध्यासाद् दुरितारिहरी हरः । शंकरः कृतज्ञ^३ लोके शंभवस्त्वं भवन्मुखे^४ ॥७४॥
 वृषभोऽपि जगद्व्येष्टः पुरुः पुरुगुणोदयैः । नाभेयो नाभिसंभूरेक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥७५॥
 त्वमेकः पुरुषस्कन्धे स्त्वं हे लोकस्य लांचने । त्वं त्रिधा बुद्धसन्मार्गस्त्रिजुस्त्रिजानधारकः ॥७६॥
 चतुःशरणमाङ्गलमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधाः । पञ्चप्रहमया देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥७७॥
 स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातमने नमः । जन्माभिवेक्यामाय^५ वामदेव नमोऽस्तु ते ॥७८॥
 सन्निष्क्रान्तावधोराय परं प्रशमनीयुषे । केवलज्ञानसन्निहार्वाक्षानाय नमोऽस्तु ते ॥७९॥

करनेवाले हैं इसलिए आप ही 'त्रिपुरारि' कहलाते हैं ॥७१॥ हे ईश्वर, जो तीनों कालविषयक समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ कहलाता है ऐसे केवलज्ञान नामक नेत्रको आप धारण करते हैं इसलिए आप ही 'त्रिनेत्र' कहे जाते हैं ॥७२॥ आपने मोह-रूपी अन्धामुरको नष्ट कर दिया है इसलिए विद्वान् लोग आपको ही 'अन्धकान्तक' कहते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओंमें-से आपके आधे अर्थात् चार घातियाकर्मरूपी शत्रुओंके ईश्वर नहीं हैं इसलिए आप 'अर्धनारीश्वर'* कहलाते हैं ॥७३॥ आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थानमें निवास करते हैं इसलिए 'शिव' कहलाते हैं, पापरूपी शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं इसलिए 'हर' कहलाते हैं, लोकमें शान्ति करनेवाले हैं इसलिए 'शङ्कर' कहलाते हैं और सुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'शम्भव' कहलाते हैं ॥७४॥ जगत्में श्रेष्ठ हैं इसलिए 'वृषभ' कहलाते हैं, अनेक उत्तम-उत्तम गुणोंका उद्भूत होनेसे 'पुरु' कहलाते हैं, नाभिराजासे उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'नाभेय' कहलाते हैं और इक्ष्वाकु-कुलमें उत्पन्न हुए हैं इसलिए इक्ष्वाकुकुलनन्दन कहलाते हैं ॥७५॥ समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ आप एक ही हैं, लोगोंके नेत्र होनेसे आप दो रूप धारण करनेवाले हैं तथा आप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके भेदसे तीन प्रकारका मोक्षमार्ग जानते हैं अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालमन्वन्धी तीन प्रकारका ज्ञान धारण करते हैं इसलिए आप त्रिश भी कहलाते हैं ॥७६॥ अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान्के द्वारा कहा हुआ धर्म ये चार शरण तथा मंगल कहलाते हैं आप इन चारोंकी मूर्तिस्वरूप हैं, आप चतुरस्रधा हैं अर्थात् चारों ओरकी समस्त वस्तुओंको जाननेवाले हैं, पंच परमेष्ठिरूप हैं और अत्यन्त पवित्र हैं । इसलिए हे देव, मुझे भी पवित्र कीजिए ॥७७॥ हे नाथ, आप स्वर्गावतरणके समय सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही उत्पन्न होनेवाले कहलाये थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्माभिवेकके समय बहुत सुन्दर ज्ञान पढ़ते थे इसलिए हे वामदेव, आपके लिए नमस्कार हो ॥७८॥

दीक्षा कल्याणकके समय आप परम शान्तिको प्राप्त हुए और केवलज्ञानके प्राप्त होनेपर परम पदको प्राप्त हुए तथा ईश्वर कहलाये इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७९॥

१. यस्मात्ते ज्ञानाधरणाष्टविधकर्मविषु घातिरुपाद्धमरयो न अतः कारणात् अर्धनारीश्वरोऽपि ।
 २. निवसनात् । ३. सुखकारकः । ४. भवन्मुखः—व० । ५. गोवा । धीरेय इत्यर्थः । ६. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य-
 रूपेण ज्ञानमोक्षमार्गः । ७. अरहन्तशरणमित्यादिचतुःशरणमाङ्गलमूर्तिः । ८. सम्पूर्णबुद्धिः । ९. पञ्चपरमेष्ठि-
 स्वरूपः । १०. मनोहराय । ११. परिनिष्क्रमणे । सुनिष्क्रान्तावधोराय पदं परममीयुषे—१०, ल० ।

* अर्धा न अरीश्वराः यस्य स अर्धनारीश्वरः [अर्ध + न + अरि + ईश्वरः—अर्धनारीश्वरः]

^१पुरस्तत्पुरुषत्वेन^२ त्रिभुक्तिपदभागिने । ^३तमस्तत्पुरुषावस्थां सावित्रीं तेष्व विभ्रते ॥८०॥
 ज्ञानावरणनिर्हो^४ साक्षमस्तेऽनन्तचक्षुषे^५ । दर्शनावरणोच्छेदाक्षमस्ते^६ विश्वदृष्टवे^७ ॥८१॥
 नमो दर्शनमोहघ्ने^८ क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महीजसे ॥८२॥
 नमस्तेऽनन्तवीर्याय नमोऽनन्तसुखात्मने । नमस्तेऽनन्तलोकाय लोकालोकावलोकिते ॥८३॥
 नमस्तेऽनन्तदानाय नमस्तेऽनन्तलब्धये^९ । नमस्तेऽनन्तभोगाय नमोऽनन्तोपभोग ते ॥८४॥
 नमः परमयोगाय नमस्तुभ्यमयोनये । नमः परमपूषाय नमस्ते परमर्षये ॥८५॥
 नमः परमविधाय^{१०} नमः परमलक्षिणे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥८६॥
 नमः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नमः परममार्गाय^{११} नमस्ते परमेष्ठिने^{१२} ॥८७॥
 परमं भेजुषे धाम परमज्ज्ञातिषे नमः । नमः^{१३} पारतमः प्राप्तधाम्ने परतरात्मने^{१४} ॥८८॥
 नमः क्षीणकलङ्काय क्षीणबन्ध नमोऽस्तु ते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोषाय^{१५} ते नमः ॥८९॥

अथ आगे शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा मोक्षस्थानको प्राप्त होंगे, इसलिए आगामी कालमें प्राप्त होनेवाली सिद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले आपके लिए मेरा आज ही नमस्कार हो ॥८०॥ ज्ञानावरण कर्मका नाश होनेसे जो अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तज्ञानी कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और दर्शनावरण कर्मका विनाश हो जानेसे जो विश्वदृष्टा अर्थात् समस्त संसारको देखनेवाले कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥८१॥ हे भगवन्, आप दर्शन-मोहिनीय कर्मको नष्ट करनेवाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो इसी प्रकार आप चारित्रमोहिनीय कर्मको नष्ट करनेवाले वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८२॥ आप अनन्तवीर्यको धारण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तसुखरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तप्रकाशसे सहित तथा लोक और अलोकको देखनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८३॥ अनन्तदानको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तलाभको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तभोगको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, और अनन्त उपभोगको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥८४॥ हे भगवन्, आप परम ध्यानी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अयोनि अर्थात् योनि-भ्रमणसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अत्यन्त पवित्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप परमऋषि हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८५॥ आप परमविद्या अर्थात् केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं, अन्य सब मतोंका खण्डन करनेवाले हैं, परमतत्त्व-स्वरूप हैं और परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८६॥ आप उत्कृष्ट रूपको धारण करनेवाले हैं, परम तेजस्वी हैं, उत्कृष्ट मार्गस्वरूप हैं और परमेष्ठी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८७॥ आप सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्थानकी सेवा करनेवाले हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, आपका ज्ञानरूपी तेज अन्धकारसे परे हैं और आप सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८८॥ आप कर्मरूपी कलंकसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका कर्मबन्धन क्षीण हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका मोहकर्म नष्ट हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो

१. अथे । २. शुद्धात्मस्वरूपत्वेन । ३. तमस्तात्-ल० । ४. विनाशात् । ५. अनन्तज्ञानाय । ६. विना-
 शात् । ७. सकलदर्शिने । ८. दर्शनमोहघ्ने इति समर्थनरूपमेवमुत्तरत्रापि यथायोग्यं योज्यम् । ९. अनन्तलाभाय ।
 १०. केवलज्ञानाय । ११. रत्नवयः । १२. परमपदस्थिताय । १३. तमसः पारं प्राप्ततेजसे । १४. उत्कृष्ट-
 स्वरूपाय । १५. क्षीणदोषास्तु ते नमः-ल० ।

नमः सुगतये मुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे । नमस्तेऽतीन्द्रियज्ञानसुखायानिन्द्रियान्मने ॥९०॥
 कायबन्धननिर्मोक्षादकायाय नमोऽस्तु ते । नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥९१॥
 अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः । नमः परमयोगीन्द्र वन्दिताङ्घ्रिद्वयाय ते ॥९२॥
 नमः परमविज्ञान नमः परमसंयम । नमः परमदृष्टपरमाधाय तायिने ॥९३॥
 नमस्तुभ्यमलेश्याय^१ शुद्धलेश्यांशकस्पृशे । नमो मन्वेतरानवस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥९४॥
 संज्ञसंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलारम्भे । नमस्ते वीतसंज्ञाय^२ नमः आयिकदृष्टये ॥९५॥
 अनाहाराय तृप्ताय नमः परमसाजुषे । व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमायुषे^३ ॥९६॥
 भजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादज्ञम्भने । अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने^४ ॥९७॥
 अलमास्तां गुणस्तीव्रमनस्तास्तावका गुणाः । स्वी नामस्तृतिमात्रेण पशुपासिसिपामहं^५ ॥९८॥
 प्रसिद्धाष्ट^६ सहस्रेष्वलक्षणं स्वी गिरं पतिम् । नाम्नामष्टसद्वेषेण^७ तौष्टुमोऽर्भाष्टसिद्धये^८ ॥९९॥

और आपके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९०॥ आप मोक्षरूपी उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाले हैं इसलिए सुगति हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप अतीन्द्रियज्ञान और सुखसे सहित हैं तथा इन्द्रियोंसे रहित अथवा इन्द्रियोंके अगोचर हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९१॥ आप शरीररूपी बन्धनके नष्ट हो जानेसे अकाय कहलाते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप योगरहित हैं और योगियों अर्थात् मुनियोंमें सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९२॥ आप वेदरहित हैं, कषायरहित हैं, और बड़े योगिराज भी आपके चरणयुगलकी वन्दना करते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९३॥ हे परमविज्ञान, अर्थात् उत्कृष्ट-केवलज्ञानको धारण करनेवाले, आपको नमस्कार हो, हे परम संयम, अर्थात् उत्कृष्ट-यथास्थित चरित्रको धारण करनेवाले, आपको नमस्कार हो । हे भगवन्, आपने उत्कृष्ट केवलदर्शनके द्वारा परमार्थको देख लिया है तथा आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९४॥ आप यद्यपि लेश्याओंसे रहित हैं तथापि उपचारसे शुद्ध-शुक्ललेश्याके अंशोंका स्पर्श करनेवाले हैं, भव्य तथा अमव्य दोनों ही अवस्थाओंसे रहित हैं और मोक्षरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९५॥ आप संज्ञी और असंज्ञी दोनों अवस्थाओंसे रहित निर्मल आत्माको धारण करनेवाले हैं, आपकी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ नष्ट हो गयी हैं तथा श्रायिकसम्यग्दर्शनको धारण कर रहे हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९६॥ आप आहाररहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, परम वीतिको प्राप्त हैं, आपके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं और आप संसाररूपी समुद्रके पारको प्राप्त हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९७॥ आप बुढ़ापारहित हैं, जन्मरहित हैं, मृत्युरहित हैं, अचलरूप हैं और अविनाशी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९८॥ हे भगवन्, आपके गुणोंका स्तवन दूर रहे, क्योंकि आपके अनन्त गुण हैं उन सबका स्तवन होना कठिन है इसलिए केवल आपके नामोंका स्मरण करके ही हम लोग आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥९९॥ आपके देहोप्यमान एक हजार आठ लक्षण अतिशय प्रसिद्ध हैं और आप समस्त वाणियोंके स्वामी हैं इसलिए हम लोग अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए एक हजार आठ नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥१०॥ आप अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और अष्ट प्रातिहार्यरूप

१. पालकाम । २. शुक्ललेश्यां मुक्त्वा इतरपञ्चलेश्वारहिताय । ३. संज्ञा-संज्ञि- ल० । ४. विशेषेण प्राप्तसंज्ञज्ञानाय । ५. -मोयुषे -ल० । ६. अविनश्वरस्वरूपाय । ७. उपासनं कर्तुमिच्छामः । ८. अष्टोत्तरसहस्र । ९. अष्टोत्तरसहस्रेण । १०. स्तुतिं कुर्मः ।

श्रीमान् स्वयंभू^१वृषभः^२ शंभवः^३ शंभुरात्मभूः । स्वयंप्रभः^४ प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्मवः ॥१००॥

विश्वारमा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद् विश्वविद्येशो विश्वयो^५निरनश्वरः ॥१०१॥

विश्वदृश्व विभुर्भाता विभूषणो विश्वलोचनः । विश्वरूपार्थ विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतन्मुखः ॥१०२॥

बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सहित हैं इसलिए श्रीमान् १ कहलाते हैं, आप अपने-आप उत्पन्न हुए हैं— किसी गुरुके उपदेशकी सहायताके बिना अपने-आप ही सम्बुद्ध हुए हैं इसलिए स्वयंभू २ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मसे सुशोभित हैं इसलिए वृषभ ३ कहलाते हैं, आपके स्वयं अनन्त सुखकी प्राप्ति हुई है तथा आपके द्वारा संसारके अन्य अनेक प्राणियोंको सुख प्राप्त हुआ है इसलिए शंभव ४ कहलाते हैं, आप परमानन्दरूप सुखके देनेवाले हैं इसलिए शंभु ५ कहलाते हैं, आपने यह उत्कृष्ट अवस्था अपने ही द्वारा प्राप्त की है अथवा योगीश्वर अपनी आत्मामें ही आपका साक्षात्कार कर सकते हैं इसलिए आप आत्मभू ६ कहलाते हैं, आप अपने-आप ही प्रकाशमान होते हैं इसलिए स्वयंप्रभ ७ हैं, आप समर्थ अथवा सबके स्वामी हैं इसलिए प्रभु ८ हैं, अनन्त-आत्मोत्थ सुखका अनुभव करनेवाले हैं इसलिए भोक्ता हैं ९, केवल ज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा ध्यानाविके द्वारा सब जगह प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होते हैं इसलिए विश्वभू १० हैं, अब आप पुनः संसारमें आकर जन्म धारण नहीं करेंगे इसलिए अपुनर्भव ११ हैं ॥१००॥ संसारके समस्त पदार्थ आपकी आत्मामें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप विश्वारमा १२ कहलाते हैं, आप समस्त लोकके स्वामी हैं इसलिए विश्वलोकेश १३ कहलाते हैं, आपके ज्ञानदर्शनरूपी नेत्र संसारमें सभी ओर अप्रतिहत हैं इसलिए आप विश्वतश्चक्षु १४ कहलाते हैं, अविनाशी हैं इसलिए अक्षर १५ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विश्वविद् १६ कहलाते हैं, समस्त विद्याओंके स्वामी हैं इसलिए विश्वविद्येश १७ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं इसलिए विश्वयोनि १८ कहलाते हैं, आपके स्वरूपका कभी नाश नहीं होता इसलिए अनश्वर १९ कहे जाते हैं ॥१०१॥ समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं इसलिए विश्वदृश्व २० हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा सब जीवोंको संसारसे पार करनेमें समर्थ हैं अथवा परमोत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं इसलिए विभु २१ हैं, संसारी जीवोंका उद्धार कर उन्हें मोक्षस्थानमें धारण करनेवाले हैं— पहुँचानेवाले हैं अथवा सब जीवोंका पोषण करनेवाले हैं अथवा मोक्षमार्गकी सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए धाता २२ कहलाते हैं, समस्त जगत्के ईश्वर हैं इसलिए विश्वेश २३ कहलाते हैं, सब पदार्थोंको देखनेवाले हैं अथवा सबके हित सन्मार्गका उपदेश देनेके कारण सब जीवोंके नेत्रोंके समान हैं इसलिए विश्वविलोचन २४ कहे जाते हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण आपका ज्ञान सब जगह व्याप्त है इसलिए आप विश्वव्यापी २५ कहलाते हैं । आप समीचीन मोक्षमार्गका विधान करनेसे विधि २६ कहलाते हैं । धर्मरूप जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए वेधा २७ कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए शाश्वत २८ कहे जाते हैं, समवसरण-सभामें आपके मुख चारों दिशाओंसे दिखते हैं अथवा आप विश्वतोमुख अर्थात् जलकी तरह पापरूपी पंक्तों वर

१. स्वयमात्मना भवतीति । २. वृषेण धर्मेण भवतीति । ३. शं सुखे भवतीति । ४. स्वयंप्रकाशः ।

५. कारणम् ।

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जनेश्वरः । विश्वदग्धविश्वभूतेशो विश्वज्योतिरकीश्वरः ॥१०३॥

जिनो जिष्णुस्तेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनन्तजिदचिन्मयात्मा भव्यवन्धुरवन्धनः ॥१०४॥

अर्थात् १०३

युगादिपुरुषो ब्रह्म पञ्च ब्रह्ममयः शिवः । परः परैतरः सूक्ष्मः परमेष्ठो सनातनः ॥१०५॥

स्वयं ज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिश्चोनिजः । मोहारिविजयी जता धर्मेचर्का दयाध्यजः ॥१०६॥

करनेवाले, स्वच्छ तथा तृष्णाको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए विश्वतोमुख २९ कहे जाते हैं ॥१०२॥ आपने कर्मभूमिकी व्यवस्था करते समय लोगोंकी आजीविकाके लिए असि-मयी आदि सभी कर्मों-कार्योंका उपदेश दिया था इसलिए आप विश्वकर्मा ३० कहलाते हैं, आप जगन्में सबसे ज्येष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए जगज्ज्येष्ठ ३१ कहे जाते हैं, आप अनन्त गुणमय हैं अथवा समस्त पदार्थोंके आकार आपके ज्ञानमें प्रतिकलित हो रहे हैं इसलिए आप विश्वमूर्ति ३२ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले सम्यग्दृष्टि आदि जीवोंके आप ईश्वर हैं इसलिए जिनेश्वर ३३ कहलाते हैं, आप संसारके समस्त पदार्थोंका सामान्यावलोकन करते हैं इसलिए विश्ववृक् ३४ कहलाते हैं, समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं इसलिए विश्वभूतेश ३५ कहे जाते हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति अखिल संसारमें व्याप्त है इसलिए आप विश्व-ज्योति ३६ कहलाते हैं, आप सबके स्वामी हैं किन्तु आपका कोई भी स्वामी नहीं है इसलिए आप अनीश्वर ३७ कहे जाते हैं ॥१०३॥ आपने चातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है इससे आप जित ३८ कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतना ही आपका शील अर्थात् स्वभाव है इसलिए आप जिष्णु ३९ कहे जाते हैं, आपकी आत्माको अर्थात् आपके अनन्त गुणोंको कोई नहीं जान सका है इसलिए आप अमेयात्मा ४० हैं, पृथिवीके ईश्वर हैं इसलिए विश्वरीश ४१ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए जगत्पति ४२ कहे जाते हैं, अनन्त संसार अथवा मिथ्यादर्शनको जीत लेनेके कारण आप अनन्तजित् ४३ कहलाते हैं, आपकी आत्माका चिन्तन मनसे भी नहीं किया जा सकता इसलिए आप अचिन्मयात्मा ४४ हैं, भव्य जीवोंके हितैषी हैं इसलिए भव्यवन्धु ४५ कहलाते हैं, कर्मबन्धनसे रहित होनेके कारण अवन्धन ४६ कहलाते हैं ॥१०४॥ आप इस कर्मभूमिरूपी युगके प्रारम्भमें उत्पन्न हुए थे इसलिए युगादि-पुरुष ४७ कहलाते हैं, केवलज्ञान आदि गुण आपमें बृहत् अर्थात् बृद्धिकी प्राप्ति हो रहे हैं इसलिए आप ब्रह्मा ४८ कहे जाते हैं, आप पञ्चपरमेष्ठीस्वरूप हैं, इसलिए पञ्च ब्रह्ममय ४९ कहलाते हैं, शिव अर्थात् मोक्ष अथवा आनन्दरूप होनेसे शिव ५० कहे जाते हैं, आप सब जीवोंका पालन अथवा समस्तज्ञान आदि गुणोंको पूर्ण करनेवाले हैं इसलिए पर ५१ कहलाते हैं, संसारमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए परतर ५२ कहलाते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा आपका आकार नहीं जाना जा सकता अथवा नामकर्मका क्षय हो जानेसे आपमें बहुत शीघ्र सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होनेवाला है इसलिए आपको सूक्ष्म ५३ कहते हैं, परमपदमें स्थित हैं इसलिए परमेष्ठा ५४ कहलाते हैं और सदा एक-से ही विद्यमान रहते हैं इसलिए सनातन ५५ कहे जाते हैं ॥१०५॥ आप स्वयं प्रकाशमान हैं इसलिए स्वयंज्योति ५६ कहलाते हैं, संसारमें उत्पन्न नहीं होते इसलिए अज ५७ कहे जाते हैं, जन्मरहित हैं इसलिए अजन्मा ५८ कहलाते हैं, आप ब्रह्म अर्थात् वेद (द्वादशांग शास्त्र) की उत्पत्तिके कारण हैं इसलिए ब्रह्मयोनि ५९ कहलाते हैं,

१. विश्वरि मही तस्या ईशः । २. संसारजित् । ३. पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपः । ४. आत्मयोनिः ।

५. मोहारिविजयी-व० । ६. जयशीलः ।

प्रशान्तारिरन्तात्मा योगी योगीश्वराचितः । ब्रह्मविद् ब्रह्मैतत्त्वज्ञो ब्रह्माद्यां विद्यतीश्वरः ॥१०७॥

शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः । सिद्धः सिद्धान्तविद्ययेयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०८॥

सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्महोद्भवः । प्रभूष्णुरजरोऽजयो भ्राजिष्णुर्धोश्वरोऽश्वयः ॥१०९॥

चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न नहीं होते इसलिए अयोनिय ६० कहे जाते हैं, मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले हैं इससे मोहारिविजयी ६१ कहलाते हैं, सर्वदा सर्वोत्कृष्ट रूपसे विद्यमान रहते हैं इसलिए जेना ६२ कहे जाते हैं, आप धर्मचक्रको प्रवर्तित करते हैं इसलिए धर्मचक्री ६३ कहलाते हैं, दया ही आपकी ध्वजा है इसलिए आप दयाध्वज ६४ कहे जाते हैं ॥१०६॥ आपके समस्त कर्मरूप शत्रु शान्त हो गये हैं इसलिए आप प्रशान्तारि ६५ कहलाते हैं, आपकी आत्माका अन्त कोई नहीं पा सका है इसलिए आप अनन्तात्मा ६६ हैं, आप योग अर्थात् केवलज्ञान आदि अपूर्व अर्थोंकी प्राप्तिसे सहित हैं अथवा ध्यानसे युक्त हैं अथवा मोक्षप्राप्तिके उपायभूत सम्यग्दर्शनादि उपायोंसे सुशोभित हैं इसलिए योगी ६७ कहलाते हैं, योगियों अर्थात् मुनियोंके अधीश्वर आपकी पूजा करते हैं इसलिए योगीश्वराचित ६८ हैं, ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपको जानते हैं इसलिए ब्रह्मविद् ६९ कहलाते हैं, ब्रह्मचर्य अथवा आत्मरूपी तत्त्वके रहस्यको जाननेवाले हैं इसलिए ब्रह्मतत्त्वज्ञ ७० कहे जाते हैं, पूर्व ब्रह्माके द्वारा कहे हुए समस्त तत्त्व अथवा केवलज्ञानरूपी आत्मविद्याको जानते हैं इसलिए ब्रह्माद्यावित् ७१ कहे जाते हैं, मोक्ष प्राप्ति करनेके लिए यत्न करनेवाले संयमी मुनियोंके स्वामी हैं इसलिए यतीश्वर ७२ कहलाते हैं ॥१०७॥ आप राग-द्वेषादि भाव कर्ममल कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध ७३ हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेवाली केवलज्ञानरूपी बुद्धिसे संयुक्त होनेके कारण बुद्ध ७४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा सदा शुद्ध ज्ञानसे जगमगाती रहती है इसलिए आप प्रबुद्धात्मा ७५ हैं, आपके सब प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धार्थ ७६ कहलाते हैं, आपका शासन सिद्ध अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है इसलिए आप सिद्धशासन ७७ हैं, आप अपने अनन्तगुणोंको प्राप्त कर चुके हैं अथवा बहुत शीघ्र मोक्ष अवस्था प्राप्त करनेवाले हैं इसलिए सिद्ध ७८ कहलाते हैं, आप द्वादशाङ्गरूपसिद्धान्तको जाननेवाले हैं इसलिए सिद्धान्त-विद् ७९ कहे जाते हैं, सभी लोग आपका ध्यान करते हैं इसलिए आप ध्येय ८० कहलाते हैं, आपके समस्त साध्य अर्थात् करने योग्य कार्य सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाध्य ८१ कहलाते हैं, आप जगत्के समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं इससे जगद्धित ८२ कहे जाते हैं ॥१०८॥ सहनशील हैं अर्थात् क्षमा गुणके भण्डार हैं इसलिए सहिष्णु ८३ कहलाते हैं, ज्ञानादि गुणोंसे कभी च्युत नहीं होते इसलिए अच्युत ८४ कहे जाते हैं, विनाशरहित हैं, इसलिए अनन्त ८५ कहलाते हैं, प्रभावशाली हैं इसलिए प्रभविष्णु ८६ कहे जाते हैं, संसारमें आपका जन्म सबसे उत्कृष्ट माना गया है इसलिए आप भवोद्भव ८७ कहलाते हैं, आप शक्ति-शाली हैं इसलिए प्रभूष्णु ८८ कहे जाते हैं, वृद्धावस्थासे रहित होनेके कारण अजर ८९ हैं, आप कभी जीर्ण नहीं होते इसलिए अजय ९० हैं, ज्ञानादि गुणोंसे अतिशय वेदीप्यमान हो रहे हैं इसलिए भ्राजिष्णु ९१ हैं, केवलज्ञानरूपी बुद्धिके ईश्वर हैं इसलिए धीश्वर ९२ कहलाते

१. मोक्षस्वरूपावित् । २. ब्रह्माद्यां वेदितव्यमावेतीति । अथवा ब्रह्मणो वदनं वचनम् । ३. सिद्धसिद्धान्त-
ब०, प०, द० । ४. प्रकर्षेण भयनशीलः । ५. भवात् संसारात् उत् उद्गतो भवः उत्पत्तिर्यस्य सः । अथवा
अनन्तज्ञानादिभवनरूपेण भवतीति । ६. प्रभवतीति । ७. न जीर्यत इति । ८. प्रकाशगशीलः ।

विभावसु^१ स्वयंभूषणः स्वयंभूषणः पुरातनः । परमात्मा परं ज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥११०॥

इति श्रीमदादिशतम् ।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिः धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥१११॥

श्रीपतिर्भगवानर्हजरजाविरजाः शुचिः । तीर्थकृत् केवलज्ञानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥११२॥

अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंभुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कला भुवनेश्वरः ॥११३॥

हैं, कभी आपका व्यय अर्थात् नाश नहीं होता इसलिए आप अध्याय ९३ कहलाते हैं ॥१०९॥ आप कर्मरूपी ईश्वरको जलानेके लिए अग्निके समान हैं अथवा मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान हैं, इसलिए विभावसु ९४ कहलाते हैं, आप संसारमें पुनः उत्पन्न नहीं होंगे इसलिए असम्भूषण ९५ कहे जाते हैं, आप अपने-आप ही इस अवस्थाको प्राप्त हुए हैं इसलिए स्वयंभूषण ९६ हैं, प्राचीन हैं—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादिसिद्ध हैं इसलिए पुरातन ९७ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय उत्कृष्ट है इसलिए आप परमात्मा ९८ कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं इसलिए परंज्योति ९९ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके ईश्वर हैं, इसलिए त्रिजगत्परमेश्वर १०० कहे जाते हैं ॥११०॥

आप दिव्य-ध्वनिके पति हैं इसलिए आपको दिव्यभाषापति १०१ कहते हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं इसलिए आप दिव्य १०२ कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय पवित्र हैं इसलिए आप पूतवाक् १०३ कहे जाते हैं, आपका शासन पवित्र होनेसे आप पूतशासन १०४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा पवित्र है इसलिए आप पूतात्मा १०५ कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं इसलिए परमज्योति १०६ कहलाते हैं, धर्मके अध्यक्ष हैं इसलिए धर्माध्यक्ष १०७ कहे जाते हैं, इन्द्रियोंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए दमीश्वर १०८ कहलाते हैं ॥१११॥ मोक्षरूपी लक्ष्मीके अधिपति हैं इसलिए श्रीपति १०९ कहलाते हैं, अष्टप्रातिहार्यरूप उत्तम ऐश्वर्यसे सहित हैं इसलिए भगवान् ११० कहे जाते हैं, सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए अर्हन् १११ कहलाते हैं, कर्मरूपी धूलिसे रहित हैं इसलिए अरजाः ११२ कहे जाते हैं, आपके द्वारा भव्य जीवोंके कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मसे रहित हैं इसलिए विरजाः ११३ कहलाते हैं, अतिशय पवित्र हैं इसलिए शुचि ११४ कहे जाते हैं, धर्मरूप तीर्थके करनेवाले हैं इसलिए तीर्थकृत् ११५ कहलाते हैं, केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण केवली ११६ कहे जाते हैं, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त होनेके कारण ईशान ११७ कहलाते हैं, पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह ११८ हैं, घातियाकर्मोंके नष्ट होने अथवा पूर्णज्ञान होनेसे आप स्नातक ११९ कहलाते हैं, आपका शरीर मलरहित है अथवा आत्मा राग-द्वेष आदि दोषोंसे वर्जित है इसलिए आप अमल १२० कहे जाते हैं ॥११२॥ आप केवलज्ञानरूपी अनन्त दीप्ति अथवा शरीरकी अपरिमित प्रभाके धारक हैं इसलिए अनन्तदीप्ति १२१ कहलाते हैं, आपकी आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए आप ज्ञानात्मा १२२ हैं, आप स्वयं संसारसे विरक्त होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुए हैं अथवा आपने गुरुओंकी सहायताके बिना ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया है इसलिए स्वयंभुद्ध १२३ कहलाते हैं, समस्त जनसमूहके रक्षक होनेसे आप प्रजापति १२४ हैं, कर्मरूप बन्धनसे रहित हैं इसलिए मुक्त १२५ कहलाते हैं, अनन्त बलसे सम्पन्न होनेके कारण शक्त

१. विभा प्रमा अस्मिन् वसतीति । सहन इति वा । २. महेश्वरः—३०, ५० । ३. विशिष्टज्ञानी ।

४. समाप्तवेदः, सम्पूर्णज्ञानीत्वार्थः ।

निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निर्ऋक्तोऽनितरं नामयः । अचलस्थितिर्अशोभ्यः कूटस्थः^२ स्थानुरक्षयः ॥११३॥

अमयीर्प्रामणीर्नेता प्रणेता^३ न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्मो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥११५॥

वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः ।^४ वृषो वृषपतिर्मर्ता वृषभाक्को वृषोजधः ॥११६॥

हिरण्यनामिभूतात्मा भूतभृद् भूतभावनः^५ । प्रभवो विभवो मास्वान् भवो^६ भावो^७ सवान्तकः ११७

वार्गदलीकः

१२६ कहे जाते हैं, बाधा-उपसर्ग आदिसे रहित हैं इसलिए निराबाध १२७ कहलाते हैं, शरीर अथवा मायासे रहित होनेके कारण निष्कल १२८ कहे जाते हैं और तीनों लोकोंके ईश्वर होनेसे भुवनेश्वर १२९ कहलाते हैं ॥११३॥ आप कर्मरूपी अंजनसे रहित हैं इसलिए निरञ्जन १३० कहलाते हैं, आपका प्रकाशित करनेवाले हैं इसलिए जगज्ज्योति १३१ कहे जाते हैं, आपके वचन सार्थक हैं अथवा पूर्वापर विरोधसे रहित हैं इसलिए आप निरुक्तोक्ति १३२ कहलाते हैं, रोगरहित होनेसे अनामय १३३ हैं, आपकी स्थिति अचल है इसलिए अचल-स्थिति १३४ कहलाते हैं, आप कभी शोभको प्राप्त नहीं होते इसलिए अशोभ्य १३५ हैं, नित्य होनेसे कूटस्थ १३६ हैं, गमनागमनसे रहित होनेके कारण स्थानु १३७ हैं और क्षयरहित होनेके कारण अक्षय १३८ हैं ॥११४॥ आप तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए अमणी १३९ कहलाते हैं, भव्यजीवोंके समूहको मोक्ष प्राप्त करानेवाले हैं इसलिए प्रामणी १४० हैं, सब जीवोंको हितके मार्गमें प्राप्त कराते हैं इसलिए नेता १४१ हैं, द्वादशांगरूप शास्त्रकी रचना करनेवाले हैं इसलिए प्रणेता १४२ हैं, न्यायशास्त्रका उपदेश देनेवाले हैं इसलिए न्यायशास्त्र-कृत् १४३ कहे जाते हैं, हितका उपदेश देनेके कारण शास्ता १४४ कहलाते हैं, उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके स्वामी हैं इसलिए धर्मपति १४५ कहे जाते हैं, धर्मसे सहित हैं इसलिए धर्म्य १४६ कहलाते हैं, आपकी आत्मा धर्मरूप अथवा धर्मसे उपलक्षित है इसलिए आप धर्मात्मा १४७ कहलाते हैं और आप धर्मरूपी तीर्थके करनेवाले हैं इसलिए धर्मतीर्थकृत् १४८ कहे जाते हैं ॥११५॥ आपकी ध्वजामें वृष अर्थात् बैलका चिह्न है अथवा धर्म ही आपकी ध्वजा है अथवा आप वृषभ चिह्नसे अंकित हैं इसलिए वृषध्वज १४९ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मके पति हैं इसलिए वृषाधीश १५० कहे जाते हैं, आप धर्मकी पताकास्वरूप हैं इसलिए लोग आपको वृषकेतु १५१ कहते हैं, आपने कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए धर्मरूप शस्त्र धारण किये हैं इसलिए आप वृषायुध १५२ कहे जाते हैं, आप धर्मरूप हैं इसलिए वृष १५३ कहलाते हैं, धर्मके स्वामी हैं इसलिए वृषपति १५४ कहे जाते हैं, समस्त जीवोंका भरण-पोषण करते हैं इसलिए भर्ता १५५ कहलाते हैं, वृषभ अर्थात् बैलके चिह्नसे सहित हैं इसलिए वृषभाक् १५६ कहे जाते हैं और पूर्व पर्यायोंमें उत्तम धर्म करनेसे ही आप तीर्थकर होकर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वृषोद्भव १५७ कहलाते हैं ॥११६॥ सुन्दर नामि होनेसे आप हिरण्यनामि १५८ कहलाते हैं, आपकी आत्मा सत्यरूप है इसलिए आप भूतात्मा १५९ कहे जाते हैं, आप समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिए पण्डितजन आपको भूतभृत् १६० कहते हैं, आपकी भावनाएँ बहुत ही उत्तम हैं, इसलिए आप भूतभावन १६१ कहलाते हैं, आप मोक्षप्राप्तिके कारण हैं अथवा आपका

१. प्रामाणिकवचनः । २. निरामयः—५०, व० । ३. नित्यः । ४. स्थानशोलः । ५. ग्रामं समुदायं नयतीति । ६. युक्त्यागमः । ७. धर्मवर्षणात् । ८. विद्यमानस्वरूपः । ९. प्राणिगणपोषकः । १०. भूतं मङ्गलं भावयतीति । ११. भवतीति । १२. भावयतीति भावः ।

हिरण्यगर्भः^१ श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः । स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्पतिः ॥११८॥

सर्वादिः सर्वदिक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्वज्ञित् सर्वलोकजित् ॥११९॥

सुगतिः सुश्रुतः^२ सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः । विश्रुतो विश्वतः पादो^३ विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः^४ ॥१२०॥

जन्म प्रशंसनीय है इसलिए प्रभव १६२ कहे जाते हैं, संसारसे रहित होनेके कारण आप विभव १६३ कहलाते हैं, देदीप्यमान होनेसे भास्वान् १६४ हैं, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूपसे सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए भव १६५ कहलाते हैं, अपने चैतन्यरूप भावमें लीन रहते हैं इसलिए भाव १६६ कहे जाते हैं और संसारभ्रमणका अन्त करनेवाले हैं इसलिए भवान्तक १६७ कहलाते हैं ॥११७॥ जय आप गर्भमें थे तभी पृथिवी सुवर्णमय हो गयी थी और आकाशसे देवने भी सुवर्णकी वृष्टि की थी इसलिए आप हिरण्यगर्भ १६८ कहे जाते हैं, आपके अन्तरंगमें अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी देदीप्यमान हो रही हैं इसलिए आप श्रीगर्भ १६९ कहलाते हैं, आपका विभव बड़ा भारी है इसलिए आप प्रभूतविभव १७० कहे जाते हैं, जन्मरहित होनेके कारण अभव १७१ कहलाते हैं, स्वयं समर्थ होनेसे स्वयम्प्रभु १७२ कहे जाते हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा आपको आत्मा सर्वत्र व्याप्त है इसलिए आप प्रभूतात्मा १७३ हैं, समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे भूतनाथ १७४ हैं, और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगत्प्रभु १७५ हैं ॥११८॥ सबसे मुख्य होनेके कारण सर्वादि १७६ हैं, सब पदार्थोंके देखनेके कारण सर्वदिक् १७७ हैं, सबका हित करनेवाले हैं, इसलिए सार्व १७८ कहलाते हैं, सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ १७९ कहे जाते हैं, आपका दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व अथवा केवलदर्शन पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुआ है इसलिए आप सर्वदर्शन १८० कहलाते हैं, आप सबका भला चाहते हैं—सबको अपने समान समझते हैं अथवा संसारके समस्त पदार्थ आपके आत्मामें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप सर्वात्मा १८१ कहे जाते हैं, सब लोगोंके स्वामी हैं, इसलिए सर्वलोकेश १८२ कहलाते हैं, सब पदार्थोंको जानते हैं, इसलिए सर्वविद् १८३ हैं, और समस्त लोकोंको जीतनेवाले हैं—सबसे बढ़कर हैं, इसलिए सर्वलोकजित् १८४ कहलाते हैं ॥११९॥ आपकी मोक्षरूपी गति अतिशय सुन्दर है अथवा आपका ज्ञान बहुत ही उत्तम है इसलिए आप सुगति १८५ कहलाते हैं, अतिशय प्रसिद्ध हैं अथवा उत्तम शास्त्रोंको धारण करनेवाले हैं इसलिए सुश्रुत १८६ कहे जाते हैं, सब जीवोंकी प्रार्थनाएँ सुनते हैं इसलिए सुश्रुत् १८७ कहलाते हैं, आपके वचन बहुत ही उत्तम निकलते हैं इसलिए आप सुवाक् १८८ कहलाते हैं, सबके गुरु हैं अथवा समस्त विद्याओंको प्राप्त हैं इसलिए सूरि १८९ कहे जाते हैं, बहुत शास्त्रोंके पारगामी होनेसे बहुश्रुत १९० हैं, बहुत प्रसिद्ध हैं अथवा केवलज्ञान होनेके कारण आपका आद्योपशमिक श्रुतज्ञान नष्ट हो गया है इसलिए आप विश्रुत १९१ कहलाते हैं, आपका संचार प्रत्येक विषयोंमें होता है अथवा आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें संसारमें सभी ओर फैली हुई हैं इसलिए आप विश्वतःपाद १९२ कहलाते हैं, लोकके शिखरपर विराजमान हैं इसलिए विश्वशीर्ष १९३ कहे जाते हैं, और आपकी श्रवणशक्ति अत्यन्त पवित्र है इसलिए शुचिश्रवा १९४ कहलाते हैं ॥१२०॥

१. हिरण्य गर्भं यस्य सः । २. सुश्रु भृणोतीति । ३. किरणः । ४. शुचि श्रवो ज्ञानं ध्वजं च यस्य सः ।

^१सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः ^२सहस्राक्षः ^३सहस्रपात् ^४भूतभविष्यभवद्गता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥१२१॥

इति दिव्यादिशतम् ॥

स्थविष्ठः स्थविरा ^५उपेष्ठः ^६वृष्टः ^७प्रेष्ठः ^८वरिष्ठधीः ^९स्थेष्ठो ^{१०}गरिष्ठो ^{११}वंहिष्ठः ^{१२}श्रेष्ठोऽणिष्ठो ^{१३}गरिष्ठगीः ॥

^{१४}विश्वभृद्विश्वसृद्विश्वेद्विश्वभुग्विश्वनायकः । विश्वाशीविश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तकः ॥१२३॥

विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन् ^{१५} । विरागो विरतोऽसङ्गो विविक्तो वीतमत्सरः ॥१२४॥

अनन्त सुखी होनेसे सहस्रशीर्ष १९५ कहलाते हैं, क्षेत्र अर्थात् आत्माको जाननेसे क्षेत्रज्ञ १९६ कहलाते हैं, अनन्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सहस्राक्ष १९७ कहे जाते हैं, अनन्त बलके धारक हैं इसलिए सहस्रपात् १९८ कहलाते हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके स्वामी हैं इसलिए भूतभविष्यभवद्गता १९९ कहे जाते हैं, समस्त विश्वाओंके प्रधान स्वामी हैं इसलिए विश्वविद्यामहेश्वर २०० कहलाते हैं ॥१२१॥ इति दिव्यादि शतम् ।

२०१ समीचीन गुणोंकी अपेक्षा अतिशय स्थूल हैं इसलिए स्थविष्ठ २०१ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणोंके द्वारा वृद्ध हैं इसलिए स्थविर २०२ कहलाते हैं, तीनों लोकोंमें अतिशय प्रशस्त होनेके कारण उपेष्ठ २०३ हैं, सबके अग्रगामी होनेके कारण वृष्ट २०४ कहलाते हैं, सबको अनिश्चय प्रिय है इसलिए प्रेष्ठ २०५ कहे जाते हैं, आपकी बुद्धि अतिशय श्रेष्ठ है इसलिए वरिष्ठधी २०६ कहलाते हैं, अत्यन्त स्थिर अर्थात् नित्य हैं इसलिए स्थेष्ठ २०७ कहलाते हैं, अत्यन्त गुरु हैं इसलिए गरिष्ठ २०८ कहे जाते हैं, गुणोंकी अपेक्षा अनेक रूप धारण करनेसे वहिष्ठ २०९ कहलाते हैं, अतिशय प्रशस्त हैं इसलिए श्रेष्ठ २१० हैं, अतिशय सूक्ष्म होनेके कारण अणिष्ठ २११ कहे जाते हैं और आपकी वाणी अतिशय गौरवसे पूर्ण है इसलिए आप गरिष्ठगीः २१२ कहलाते हैं ॥१२२॥ चतुर्गतिरूप संसारको नष्ट करनेके कारण आप विश्वभृद् २१३ कहे जाते हैं, समस्त संसारकी व्यवस्था करनेवाले हैं इसलिए विश्वसृद् २१४ कहलाते हैं, सब लोकके ईश्वर हैं इसलिए विश्वेद् २१५ कहे जाते हैं, समस्त संसारकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए विश्वभुक् २१६ कहलाते हैं, अखिल लोकके स्वामी हैं इसलिए विश्वनायक २१७ कहे जाते हैं, समस्त संसारमें व्याप्त होकर रहते हैं इसलिए विश्वासी २१८ कहलाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है अथवा आपका आत्मा अनेकरूप है इसलिए आप विश्वरूपात्मा २१९ कहे जाते हैं, सबको जीतनेवाले हैं इसलिए विश्वजित् २२० कहे जाते हैं और अन्तक अर्थात् मृत्युको जीतनेवाले हैं इसलिए विजितान्तक २२१ कहलाते हैं ॥१२३॥ आपका संसार-भ्रमण नष्ट हो गया है इसलिए विभव २२२ कहलाते हैं, भय दूर हो गया है इसलिए विभय २२३ कहे जाते हैं, अनन्त बलशाली हैं इसलिए वीर २२४ कहलाते हैं, शोकरहित हैं इसलिए विशोक २२५ कहे जाते हैं, जरा अर्थात् बुढ़ापासे रहित हैं इसलिए विजर २२६ कहलाते हैं, जगत्के सब जीवोंमें प्राचीन हैं इसलिए जरन् २२७ कहे जाते हैं, रागरहित हैं इसलिए विराग २२८ कहलाते हैं, समस्त

१. अनन्तसुखी । २. आत्मज्ञः । ३. अनन्तदर्शी । ४. अनन्तवीर्यः । ५. अतिशयेन स्थूलः । ६. वृद्धः । ७. अग्रगामी । ८. अतिशयेन प्रियः । ९. अतिशयेन वरबुद्धिः । १०. अतिशयेन स्थिरः । ११. अतिशयेन गुरुः । १२. अतिशयेन बद्धः । १३. अतिशयेनाणुः सूक्ष्म इत्यर्थः । १४. विश्वनायकः । विश्वभृद्—ल० । १५. वृद्ध ।

विनेयजनतावन्धुर्विलीनाशेषकल्मषः । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः ॥१२५॥
 क्षान्तिभाक् पृथिवीमूर्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्तिरसङ्गात्मा बह्निमूर्तिरधर्मभक् ॥१२६॥
 सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः । ऋत्विग् यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञाङ्गममूर्तं हविः ॥१२७॥
 व्योममूर्तिरमूर्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥१२८॥

पापोंसे विरत हो चुके हैं इसलिए विरत २२९ कहे जाते हैं, परिग्रहरहित हैं इसलिए असंग २३० कहलाते हैं, एकाकी अथवा पवित्र होनेसे विविक्त २३१ हैं और मात्सर्यसे रहित होनेके कारण वीतमत्सर २३२ हैं ॥१२४॥ आप अपने शिष्य जनोंके हितैषी हैं इसलिए विनेयजनता-वन्धु २३३ कहलाते हैं, आपके समस्त पापकर्म विलीन-नष्ट हो गये हैं इसलिए विलीनाशेषकल्मष २३४ कहे जाते हैं, आप योग अर्थात् मन, वचन, कायके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेश-परिस्पन्दसे रहित हैं इसलिए वियोग २३५ कहलाते हैं, योग अर्थात् ध्यानके स्वरूपको जानने-वाले हैं इसलिए योगविद् २३६ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विद्वान् २३७ कहलाते हैं, धर्मरूप सृष्टिके कर्ता होनेसे विधाता २३८ कहे जाते हैं, आपका कार्य बहुत ही उत्तम है इसलिए सुविधि २३९ कहलाते हैं और आपकी बुद्धि उत्तम है इसलिए सुधी २४० कहे जाते हैं ॥१२५॥ उत्तम क्षमाकी धारण करनेवाले हैं इसलिए क्षान्तिभाक् २४१ कहलाते हैं, पृथिवीके समान सदनशील हैं इसलिए पृथ्वीमूर्ति २४२ कहे जाते हैं, शान्तिके उपासक हैं इसलिए शान्तिभाक् २४३ कहलाते हैं, जलके स्वरूप-शीतलता उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए सलिलात्मक २४४ कहे जाते हैं, वायुके समान परपदार्थके संसर्गसे रहित होनेके कारण वायुमूर्ति २४५ कहलाते हैं, परिग्रहरहित होनेके कारण असंगात्मा २४६ कहे जाते हैं, अग्निके समान कर्मरूपी ईधनको जलानेवाले हैं इसलिए बह्निमूर्ति २४७ हैं, और अधर्मको जलानेवाले हैं इसलिए अधर्मभक् २४८ कहलाते हैं ॥१२६॥ कर्मरूपी सामग्रीका अच्छी तरह होम करनेसे सुयज्वा २४९ हैं, निज स्वभावका आराधन करनेसे यजमानात्मा २५० हैं, आत्मसुखरूप सागरमें अभिवेक करनेसे सुत्वा २५१ हैं, इन्द्रके द्वारा पूजित होनेके कारण सुत्रामपूजित २५२ हैं, ज्ञानरूपी यज्ञ करनेमें आचार्य कहलाते हैं इसलिए ऋत्विक् २५३ हैं, यज्ञके प्रधान अधिकारी होनेसे यज्ञपति २५४ कहलाते हैं । पूजाके योग्य हैं इसलिए याज्य २५५ कहलाते हैं, यज्ञके अंग होनेसे यज्ञाङ्ग २५६ कहलाते हैं, विषयतृष्णाको नष्ट करनेके कारण अमृत २५७ कहे जाते हैं, और आपने ज्ञानयज्ञमें अपनी ही अशुद्ध परिणतिको होम दिया है इसलिए आप हवि २५८ कहलाते हैं ॥१२७॥ आप आकाशके समान निर्मल अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा लोक-अलोकमें व्याप्त हैं इसलिए व्योममूर्ति २५९ हैं, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्तात्मा २६० हैं, कर्मरूप लेपसे रहित हैं इसलिए निर्लेप २६१ हैं, मलरहित हैं इसलिए निर्मल २६२ कहलाते हैं, सदा एक रूपसे विद्यमान रहते हैं इसलिए अचल २६३ कहे जाते हैं, चन्द्रमाके समान शान्त, सुन्दर अथवा प्रकाशमान रहते हैं इसलिए सोममूर्ति २६४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सौम्य है इसलिए सुसौम्यात्मा २६५ कहे जाते हैं, सूर्यके समान तेजस्वी हैं इसलिए सूर्यमूर्ति २६६ कहलाते हैं और अतिशय प्रभाके धारक हैं इसलिए

१. क्षमाभाक् ततः हेतुगमितमिदम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । २. शोभनहोता । ३. पुनोतीति सुरवा, पुनः अभिवचने । कृताभिवेक इत्यर्थः । ४. पूजकः । ५. अमूर्तत्वत्वात् ।

मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रभूतिरन्मन्त्रगः^१ । स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत^२ स्वन्तः^३ कृतान्तान्तः^४ कृतान्तकृत^५ ॥ १२९ ॥

कृती कृतायः सङ्कल्पः कृतकृत्यः कृतकृत्यः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोऽम्बः ॥ १३० ॥

अक्षनिष्ठः परंभक्ष महाशमा अक्षसंभवः । महाभक्षपतिर्भक्षो महाभक्षपदेश्वरः ॥ १३३ ॥

सुप्रसन्नः प्रसन्नारम्भा ज्ञानधर्ममदप्रभुः । प्रसन्नारम्भा प्रसन्नारम्भा पुराणपुरुषोत्तमः ॥३२॥

इति स्थविष्ठाविशालम् ।

महाप्रभ २६७ कहलाते हैं ॥१२८॥ मन्त्रके जाननेवाले हैं इसलिए मन्त्रचित् २६८ कहे जाते हैं, अनेक मन्त्रोंके करनेवाले हैं इसलिए मन्त्रकृत् २६९ कहलाते हैं, मन्त्रोंसे युक्त हैं इसलिए मन्त्री २७० कहलाते हैं, मन्त्ररूप हैं इसलिए मन्त्रमूर्ति २७१ कहे जाते हैं, अनन्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए अनन्तग २७२ कहलाते हैं, कर्मबन्धनसे रहित होनेके कारण स्वतन्त्र २७३ कहलाते हैं, शास्त्रोंके करनेवाले हैं इसलिए तन्त्रकृत् २७४ कहे जाते हैं, आपका अन्तःकरण उत्तम है इसलिए स्वन्तः २७५ कहलाते हैं, आपने कृतान्त अर्थात् यमराज-मृत्युका अन्त कर दिया है इसलिए लोग आपको कृतान्तान्त २७६ कहते हैं और आप कृतान्त अर्थात् आगमकी रचना करनेवाले हैं इसलिए कृतान्तकृत् २७७ कहे जाते हैं ॥१२९॥ आप अत्यन्त कुशल अथवा पुण्यवान् हैं इसलिए कृती २७८ कहलाते हैं, आपने आत्माके सब पुरुषार्थ सिद्ध कर चुके हैं इसलिए कृतार्थ २७९ हैं, संसारके समस्त जीवोंके द्वारा सत्कार करनेके योग्य हैं इसलिए सत्कृत्य २८० हैं, समस्त कार्य कर चुके हैं इसलिए कृतकृत्य २८१ हैं, आप ज्ञान अथवा तपश्चरणरूपी यज्ञ कर चुके हैं इसलिए कृतक्रतु २८२ कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहनेसे नित्य २८३ हैं, मृत्युको जीतनेसे मृत्युंजय २८४ हैं, मृत्युसे रहित होनेके कारण अमृत्यु २८५ हैं, आपका आत्मा अमृतके समान सदा शान्तिदायक है इसलिए अमृतात्मा २८६ हैं, और अमृत अर्थात् मोक्षमें आपकी उत्कृष्ट उत्पत्ति होनेवाली है इसलिए आप अमृतोद्भव २८७ कहलाते हैं ॥१३०॥ आप सदा शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन रहते हैं इसलिए ब्रह्मनिष्ठ २८८ कहलाते हैं, उत्कृष्ट ब्रह्मरूप हैं इसलिए परब्रह्म २८९ कहे जाते हैं, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान अथवा ब्रह्मचर्य ही आपका स्वरूप है इसलिए आप ब्रह्मात्मा २९० कहलाते हैं, आपको स्वयं शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई है तथा आपसे दूसरोंको होती है इसलिए आप ब्रह्मसम्भव २९१ कहलाते हैं, गणधर आदि महाब्रह्माओंके भी अधिपति हैं इसलिए आप महाब्रह्मपति २९२ कहे जाते हैं, आप केवल ज्ञानके स्वामी हैं इसलिए ब्रह्मो २९३ कहलाते हैं, महाब्रह्मपद अर्थात् आर्हन्त्य और सिद्धत्व अवस्थाके ईश्वर हैं इसलिए महाब्रह्मपदेश्वर २९४ कहे जाते हैं ॥१३१॥ आप सदा प्रसन्न रहते हैं इसलिए सुप्रसन्न २९५ कहे जाते हैं, आपको आत्मा कषायोंका अभाव हो जानेके कारण सदा प्रसन्न रहती है इसलिए लोग आपको प्रसन्नात्मा २९६ कहते हैं, आप केवलज्ञान, उत्तमक्षमा आदि धर्म और इन्द्रियनिग्रहरूप दमके स्वामी हैं इसलिए ज्ञानधर्मदमप्रभु २९७ कहे जाते हैं, आपकी आत्मा उत्कृष्ट शान्तिसे सहित है इसलिए आप प्रशमात्मा २९८ कहलाते हैं, आपकी आत्मा कषायोंका अभाव हो जानेसे अतिशय शान्त हो चुकी है इसलिए आप प्रशान्तात्मा २९९ कहलाते हैं, और शलाका पुरुषोंमें सबसे उत्कृष्ट है इसलिए विद्वान् लोग आपको पुराणपुरुषोत्तम ३००

१. अनन्तज्ञानी । २. आगमकृत् । ३. सुखान्तः । ४. यमान्तकः । ५. सिद्धान्तकर्ता ।
६. अविनश्यरोत्पत्तिः । ७. आत्मनिष्ठः । ८. ज्ञानेश्वरः ।

महाशोकध्वजोऽशोकः कः^१ स्वप्ता पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः^२ पद्मनाभिरनुत्तरः^३ ॥१३३॥

पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः^४ स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनाहो हृषीकेशो^५ जितजेयः^६ कृतक्रियः^७ ॥१३४॥

गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥१३५॥

गुणादरी गुणोच्छेदी^८ निर्गुणः^९ पुण्यगीर्गुणः । शरण्यः पुण्यवाक्पूर्तां वरेण्यः पुण्यनायकः ॥१३६॥

कहते हैं ॥१३२॥ बड़ा भारी अशोकवृक्ष ही आपका चिह्न है इसलिए आप महाशोकध्वज ३०१ कहलाते हैं, शोकसे रहित होनेके कारण अशोक ३०२ कहलाते हैं, सबको सुख देनेवाले हैं इसलिए 'क' ३०३ कहलाते हैं, स्वर्ग और मोक्षके मार्गकी सृष्टि करते हैं इसलिए स्वप्ता ३०४ कहलाते हैं, आप कमलरूप आसनपर विराजमान हैं इसलिए पद्मविष्टर ३०५ कहलाते हैं, पद्मा अर्थात् लक्ष्मीके स्वामी हैं इसलिए पद्मेश ३०६ कहलाते हैं, बिहारके समय देव लोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना कर बैठते हैं इसलिए आप पद्मसंभूति ३०७ कहे जाते हैं, आपकी नाभि कमलके समान है इसलिए लोग आपको पद्मनाभि ३०८ कहते हैं तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है इसलिए आप अनुत्तर ३०९ कहलाते हैं ॥१३३॥ हे भगवन्, आपका यह शरीर माताके पद्माकार गर्भाशयमें उत्पन्न हुआ था इसलिए आप पद्मयोनि ३१० कहलाते हैं, धर्मरूप जगत्की उत्पत्तिके कारण होनेसे जगद्योनि ३११ हैं, भव्य जीव तपश्चरण आदिके द्वारा आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं इसलिए आप इत्य ३१२ कहलाते हैं, इन्द्र आदि देवोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं इसलिए स्तुत्य ३१३ कहलाते हैं, स्तुतियोंके स्वामी होनेसे स्तुतीश्वर ३१४ कहे जाते हैं, स्तवन करनेके योग्य हैं इसलिए स्तवनाह ३१५ कहलाते हैं, इन्द्रियोंके ईश अर्थात् वश करनेवाले स्वामी हैं, इसलिए हृषीकेश ३१६ कहे जाते हैं, आपने जीतने योग्य समस्त मोहादि शत्रुओंको जीत लिया है इसलिए आप जितजेय ३१७ कहलाते हैं, और आप करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके हैं इसलिए कृतक्रिय ३१८ कहे जाते हैं ॥१३४॥ आप वारह सभारूप गणके स्वामी होनेसे गणाधिप ३१९ कहलाते हैं, समस्त गणोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण गणज्येष्ठ ३२० कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें आप ही गणना करनेके योग्य हैं इसलिए गण्य ३२१ कहलाते हैं, पवित्र हैं इसलिए पुण्य ३२२ हैं, समस्त सभामें स्थित जीवोंको कल्याणके मार्गमें आगे ले जानेवाले हैं इसलिए गणाग्रणी ३२३ कहलाते हैं, गुणोंकी खान हैं इसलिए गुणाकर ३२४ कहे जाते हैं, आप गुणोंके समूह हैं इसलिए गुणाम्भोधि ३२५ कहलाते हैं, आप गुणोंको जानते हैं इसलिए गुणज्ञ ३२६ कहे जाते हैं और गुणोंके स्वामी हैं इसलिए गणधर आपको गुणनायक ३२७ कहते हैं ॥१३५॥ गुणोंका आदर करते हैं इसलिए गुणादरी ३२८ कहलाते हैं, सत्य, रज, तम अथवा काम, क्रोध आदि वैभाविक गुणोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए आप गुणोच्छेदी ३२९ कहे जाते हैं, आप वैभाविक गुणोंसे रहित हैं इसलिए निर्गुण ३३० कहलाते हैं, पवित्र वाणीके धारक हैं इसलिए पुण्यगी ३३१ कहे जाते हैं, गुणोंसे युक्त हैं इसलिए गुण ३३२ कहलाते हैं, शरणमें आये हुए जीवोंको रक्षा करनेवाले हैं इसलिए

१. ब्रह्मा । २. पद्मानां संभूतियस्मात् सः । सप्तपुरः पृष्ठतश्चेति प्रसिद्धेः । ३ न विद्यते उत्तरः श्रेष्ठो यस्मात् । ४ गम्यः । ५. इन्द्रियस्वामी । स्ववशोऽकृतेन्द्रिय इत्यर्थः । ६. जेतुं योग्याः जेयाः, जिता जेया येनासौ । ७. कृतकृत्यः । ८. इन्द्रियच्छेदी । मोर्षी (वर्ष) प्रधानपारदेन्द्रियमूत्रसत्त्वादिसंख्यादिहरितादिषु गुण इत्यभिधानात् । ९. अप्रधानः । आत्मनः सकाशादन्वः अप्रधानं प्रधानं न विद्यत इति यावत् ।

अगण्यः पुण्यधौगुण्यः पुण्यकृत् पुण्यशासनः । धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥१३७॥
 पापापेक्षो विपापात्मा विषाप्मा वीतकल्मषः । निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तो निर्मोहो निरुद्रवः ॥१३८॥
 निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपलब्धः । निष्कलङ्को निरस्तैना निर्भूतागो निराश्रयः ॥१३९॥
 विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभुत् सुनयनश्चवित् ॥१४०॥

शरण्य ३३३ कहे जाते हैं, आपके वचन पवित्र हैं इसलिए पूतवाक् ३३४ कहलाते हैं, स्वयं पवित्र हैं इसलिए पूत ३३५ कहे जाते हैं, श्रेष्ठ हैं इसलिए दरेण्य ३३६ कहलाते हैं और पुण्यके अधिपति हैं इसलिए पुण्यनायक ३३७ कहे जाते हैं ॥१३६॥ आपको गणना नहीं हो सकती अर्थात् आप अपरिमित गुणोंके धारक हैं इसलिए अगण्य ३३८ कहलाते हैं, पवित्र बुद्धिके धारक होनेसे पुण्यधी ३३९ कहे जाते हैं, गुणोंसे सहित हैं इसलिए गुण्य ३४० कहलाते हैं, पुण्यको करनेवाले हैं इसलिए पुण्यकृत् ३४१ कहे जाते हैं, आपका शासन पुण्यरूप अर्थात् पवित्र है इसलिए आप पुण्यशासन ३४२ माने जाते हैं, धर्मके उपवनस्वरूप होनेसे धर्माराम ३४३ कहे जाते हैं, आपमें अनेक गुणोंका ग्राम अर्थात् समूह पाया जाता है इसलिए आप गुणग्राम ३४४ कहलाते हैं, आपने शूद्रोपयोगमें लीन होकर पुण्य और पाप दोनोंका निरोध कर दिया है इसलिए आप पुण्यापुण्यनिरोधक ३४५ कहे जाते हैं ॥१३७॥ आप हिंसादि पापोंसे रहित हैं इसलिए पापापेक्ष ३४६ माने गये हैं, आपकी आत्मासे समस्त पाप विगत हो गये हैं इसलिए आप विपापात्मा ३४७ कहे जाते हैं, आपने पापकर्म नष्ट कर दिये हैं इसलिए विषाप्मा ३४८ कहलाते हैं, आपके समस्त कल्मष अर्थात् राग-द्वेष आदि भाव कर्मरूपी मल नष्ट हो चुके हैं इसलिए वीतकल्मष ३४९ माने जाते हैं, परिग्रह रहित होनेसे निर्द्वन्द्व ३५० हैं, अहंकारसे रहित होनेके कारण निर्मद ३५१ कहलाते हैं, आपका मोह निकल चुका है, इसलिए आप निर्मोह ३५२ हैं और उपद्रव उपसर्ग आदिसे रहित हैं इसलिए निरुद्रव ३५३ कहलाते हैं ॥१३८॥ आपके नेत्रोंके पलक नहीं झपते इसलिए आप निर्निमेष ३५४ कहलाते हैं, आप कबलाहार नहीं करते इसलिए निराहार ३५५ हैं, सांसारिक क्रियाओंसे रहित हैं इसलिए निष्क्रिय ३५६ हैं, बाधारहित हैं इसलिए निरुपलब्ध ३५८ हैं, कलंक रहित होनेसे निष्कलंक ३५९ हैं, आपने समस्त एनस् अर्थात् पापोंको दूर हटा दिया है इसलिए निरस्तैना ३६० कहलाते हैं, समस्त अपराधोंको आपने दूर कर दिया है इसलिए निर्भूतागस् ३६१ कहे जाते हैं, और कर्मोंके आश्रयसे रहित होनेके कारण निराश्रय ३६२ कहलाते हैं ॥१३९॥ आप सबसे महान् हैं इसलिए विशाल ३६३ कहे जाते हैं, केवलज्ञानरूपी विशाल ज्योतिको धारण करने-वाले हैं इसलिए विपुलज्योति ३६४ माने जाते हैं, उपमारहित होनेसे अतुल ३६५ हैं, आपका वैभव अचिन्त्य है इसलिए अचिन्त्यवैभव ३६६ कहलाते हैं, आप नवीन कर्मोंका आश्रय रोककर पूर्ण संवर कर चुके हैं इसलिए सुसंवृत ३६७ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सुरक्षित है अथवा मनोगुप्ति आदि गुप्तिगोसे युक्त है इसलिए विद्वान् लोग आपको सुगुप्तात्मा ३६८ कहते हैं, आप समस्त पदार्थोंको अच्छी तरह जानते हैं इसलिए सुभुत् ३६९ कहलाते हैं और आप समीचीन नयोंके यथार्थ रहस्योंको जानते हैं

एकविंशो महाविंशो मुनिः^१ परिवृद्धः पतिः । धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विद्वत्तान्तकः ॥१४१॥

पिता पितामहः पाता^२ पवित्रः पावनो गतिः । आत्मा भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥१४२॥

कविः^३ पुराणपुरुषो वर्षीयान्^४ वृषभः^५ पुरुः । प्रतिष्ठा^६प्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥१४३॥

इति महाविंशतम् ।

श्रीवृक्षलक्षणः इलक्षणः लक्षण्यः शुभलक्षणः । निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥१४४॥

इसलिए सुनयतत्त्वविद् ३७० कहलाते हैं ॥१४०॥ आप केवलज्ञानरूपी एक विद्याको धारण करनेसे एकविद्य ३७१ कहलाते हैं, अनेक बड़ी-बड़ी विद्याएँ धारण करनेसे महाविद्य ३७२ कहे जाते हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे मुनि ३७३ हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए परिवृद्ध ३७४ कहलाते हैं, जगत्के जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिए पति ३७५ हैं, बुद्धिके स्वामी हैं इसलिए धीश ३७६ कहलाते हैं, विद्याओंके भण्डार हैं इसलिए विद्यानिधि ३७७ माने जाते हैं, समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं इसलिए साक्षी ३७८ कहलाते हैं, मोक्षमार्गको प्रकट करनेवाले हैं इसलिए विनेता ३७९ कहे जाते हैं और यमराज अर्थात् मृत्युको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए विद्वत्तान्तक ३८० कहलाते हैं ॥१४१॥ आप सब जीवोंकी नरकादि गतियोंसे रक्षा करते हैं इसलिए पिता ३८१ कहलाते हैं, सबके गुरु हैं इसलिए पितामह ३८२ कहे जाते हैं, सबका पालन करनेसे पाता ३८३ कहलाते हैं, अतिशय शुद्ध हैं इसलिए पवित्र ३८४ कहे जाते हैं, सबको शुद्ध या पवित्र करते हैं इसलिए पावन ३८५ माने जाते हैं, समस्त भव्य तपस्या करके आपके ही अनुरूप होना चाहते हैं इसलिए आप सबकी गति ३८६ अथवा खण्डाकार छेद निकालनेपर गतिरहित होनेसे अगति कहलाते हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे प्राता ३८७ कहलाते हैं, जन्म-जरा-मरणरूपी रोगको नष्ट करनेके लिए उत्तम वैद्य हैं इसलिए भिषग्वर ३८८ कहे जाते हैं, श्रेष्ठ होनेसे वर्य ३८९ हैं, इच्छानुकूल पदार्थोंको प्रदान करते हैं इसलिए वरद ३९० कहलाते हैं, आपकी ज्ञानादि-लक्ष्मी अतिशय श्रेष्ठ हैं इसलिए परम ३९१ कहे जाते हैं, और आत्मा तथा पर पुरुषोंको पवित्र करनेके कारण पुमान् ३९२ कहलाते हैं ॥१४२॥ द्वादशांगका वर्णन करनेवाले हैं इसलिए कवि ३९३ कहलाते हैं, अनादिकाल होनेसे पुराणपुरुष ३९४ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणोंकी अपेक्षा अतिशय वृद्ध हैं इसलिए वर्षीयान् ३९५ कहलाते हैं, श्रेष्ठ होनेसे वृषभ ३९६ कहलाते हैं, तीर्थकरोंमें आदिपुरुष होनेसे पुरु ३९७ कहे जाते हैं, आप प्रतिष्ठा अर्थात् सम्मान अथवा स्थिरताके कारण हैं इसलिए प्रतिष्ठाप्रसव ३९८ कहलाते हैं, समस्त उत्तम कार्योंके कारण हैं इसलिए हेतु ३९९ कहे जाते हैं, और संसारके एकमात्र गुरु हैं इसलिए भुवनैकपितामह ४०० कहलाते हैं ॥१४३॥

श्रीवृक्षके चिह्नसे चिह्नित हैं इसलिए श्रीवृक्षलक्षण ४०१ कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूप होनेसे इलक्षण ४०२ कहलाते हैं, लक्षणोंसे अनपेक्ष अर्थात् सहित हैं इसलिए लक्षण्य ४०३ कहे जाते हैं, आपके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण विद्यमान हैं इसलिए शुभलक्षण ४०४ कहलाते हैं, आप समस्त पदार्थोंका निरीक्षण करनेवाले हैं अथवा आप नेत्रेन्द्रियके द्वारा दर्शन-क्रिया नहीं करते इसलिए निरीक्ष ४०५ कहलाते हैं, आपके नेत्र पुण्डरीककमलके समान सुन्दर हैं इसलिए

१. प्रत्यक्षज्ञानी । २. पालकः । ३. काव्यकर्ता । ४. वृद्धः । ५. ज्ञानी । ६. प्रतिष्ठायाः स्वर्गस्य प्रसवो यस्मात् । ७. सूक्ष्मः । ८. लक्षणवान् ।

सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धबोध्यो^१ महाबोधिर्वर्धमानो^२ महर्षिकः ॥१४५॥

वेदाङ्गो^३ वेदविद् वेद्यो जातरूपो विदांवरः । वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतां वरः ॥१४६॥

अनादिनिधनो व्यक्तो व्यक्तवाक् व्यक्तशासनः । युगादिकृद् युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥१४७॥

अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो^४ धीन्द्रो^५ महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक् । अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्थो महेन्द्रमहितो महान् ॥

आप पुण्डरीकाक्ष ४०६ कहलाते हैं, आपकी आँखोंसे सूर्य की परंपरा है इसलिए पुष्कल ४०७ कहे जाते हैं और कमलदलके समान लम्बे नेत्रोंको धारण करनेवाले होनेसे पुष्करेक्षण ४०८ कहे जाते हैं ॥१४४॥ सिद्धिको देनेवाले हैं इसलिए सिद्धिद ४०९ कहलाते हैं, आपके सब संकल्प सिद्ध हो चुके हैं इसलिए सिद्धसंकल्प ४१० कहे जाते हैं, आपकी आत्मा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुकी है इसलिए सिद्धात्मा ४११ कहलाते हैं, आपको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूपी मोक्ष-साधन प्राप्त हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाधन ४१२ कहलाते हैं, आपने जानने योग्य सब पदार्थोंको जान लिया है इसलिए बुद्धबोध्य ४१३ कहे जाते हैं, आपकी रत्नत्रयरूपी विभूति बहुत ही प्रशंसनीय है इसलिए आप महाबोधि ४१४ कहलाते हैं, आपके गुण उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं इसलिए आप वर्धमान ४१५ हैं, और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिए महर्षिक ४१६ कहलाते हैं ॥१४५॥ आप अनुयोग-रूपी वेदोंके अंग अर्थात् कारण हैं इसलिए वेदांग ४१७ कहे जाते हैं, वेदको जाननेवाले हैं इसलिए वेदविद् ४१८ कहलाते हैं, ऋषियोंके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेद्य ४१९ कहे जाते हैं, आप दिगम्बररूप हैं इसलिए जातरूप ४२० कहे जाते हैं, जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए विदांवर ४२१ कहलाते हैं, आगम अथवा केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेदवेद्य ४२२ कहे जाते हैं, अनुभवगम्य होनेसे स्वसंवेद्य ४२३ कहलाते हैं, आप तीन प्रकारके वेदोंसे रहित हैं इसलिए विवेद ४२४ कहे जाते हैं और वक्ताओंमें श्रेष्ठ होनेसे वदतांवर ४२५ कहलाते हैं ॥१४६॥ आदि-अन्तरहित होनेसे अनादिनिधन ४२६ कहे जाते हैं, ज्ञानके द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्त ४२७ कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्तवाक् ४२८ कहे जाते हैं, आपका शासन अत्यन्त स्पष्ट या प्रकट है इसलिए आपको व्यक्तशासन ४२९ कहते हैं, कर्मभूमिरूपी युगके आदि व्यवस्थापक होनेसे आप युगादिकृद् ४३० कहलाते हैं, युगकी समस्त व्यवस्था करनेवाले हैं, इसलिए युगाधार ४३१ कहे जाते हैं, इस कर्मभूमिरूप युगका प्रारम्भ आपसे ही हुआ था इसलिए आप युगादि ४३२ माने जाते हैं और आप जगत्के प्रारम्भमें उत्पन्न हुए थे इसलिए जगदादिज ४३३ कहलाते हैं ॥१४७॥ आपने अपने प्रभाव या ऐश्वर्यसे इन्द्रोंको भी अतिक्रान्त कर दिया है इसलिए अतीन्द्र ४३४ कहे जाते हैं, इन्द्रियगोचर न होनेसे अतीन्द्रिय ४३५ हैं, बुद्धिके स्वामी होनेसे धीन्द्र ४३६ हैं, परम ऐश्वर्यका अनुभव करते हैं इसलिए महेन्द्र ४३७ कहलाते हैं, अतीन्द्रिय (सूक्ष्म-अन्तरित-दूरार्थ) पदार्थोंको देखनेवाले होनेसे अतीन्द्रियार्थदृक् ४३८ कहे जाते हैं, इन्द्रियोंसे रहित हैं इसलिए अनिन्द्रिय ४३९ कहलाते हैं, अहमिन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेसे अहमिन्द्रार्च्य ४४० कहे जाते हैं, बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेसे महेन्द्रमहित ४४१

१. बोद्धुं योग्यो बोध्यः, बुद्धो बोध्यो येनासी । २. वा विशेषेण कृद्वा सम्बुद्धं मानं प्रमाणं यस्य सः ।

३. वेदज्ञापकः । ४. आगमेन ज्ञेयः । ५. अतिशयेनेन्द्रः । ६. इन्द्रियज्ञानमतिक्रान्तः । ७. पूजाधिपः ।

उद्भवः^१ कारणं कर्ता पारंगो भवतारकः । अगाधो गहनं^२ गुह्यं^३ परार्थ्यः परमेश्वरः ॥१४९॥

अनन्तद्विर्मेयद्विरचिन्त्यद्विः समग्रधीः । प्राप्रः^४ प्राप्रदरोऽग्रप्रः प्रत्यग्रोऽग्रगोऽग्रिमोऽग्रजः ॥१५०॥

महातपा महातेजा महोदको महोदयः । महायशो महाधामा महाशरीरो महाधृतिः ॥१५१॥

महाधीरो महावीरो महामान्महाबलः । महाशक्तिः^५ महानिर्महाधृतिः^६ ॥१५२॥

कहलाते हैं और स्वयं सबसे बड़े हैं, इसलिए महान् ४४२ कहे जाते हैं ॥१४८॥ आप समस्त संसारसे बहुत ऊँचे उठे हुए हैं, अथवा आपका जन्म संसारमें सबसे उत्कृष्ट है इसलिए उद्भव ४४३ कहलाते हैं, मोक्षके कारण होनेसे कारण ४४४ कहे जाते हैं, गुह्य भावोंको करते हैं इसलिए कर्ता ४४५ कहलाते हैं, संसाररूपी समुद्रके पारको प्राप्त होनेसे पारंग ४४६ माने जाते हैं, आप भव्यजीवोंको संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाले हैं इसलिए भवतारक ४४७ कहलाते हैं, आप किसीके भी द्वारा अवगाहन करने योग्य नहीं हैं अर्थात् आपके गुणोंको कोई नहीं समझ सकता है इसलिए आप अगाध ४४८ कहे जाते हैं, आपका स्वरूप अतिशय गम्भीर या कठिन है इसलिए गहन ४४९ कहलाते हैं, गुह्यरूप होनेसे गुह्य ४५० हैं, सबसे उत्कृष्ट होनेके कारण परार्थ्य ४५१ हैं और सबसे अधिक समर्थ होनेके कारण परमेश्वर ४५२ माने जाते हैं ॥१४९॥ आपकी कृद्वियाँ अनन्त, अमेय और अचिन्त्य हैं इसलिए आप अनन्तद्वि ४५३, अमेयद्वि ४५४ और अचिन्त्यद्वि ४५५ कहलाते हैं, आपकी बुद्धि पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुई है इसलिए आप समग्रधी ४५६ हैं, सबमें मुख्य होनेसे प्राग्र्य ४५७ हैं, प्रत्येक मांगलिक कार्योंमें सर्वप्रथम आपका स्मरण किया जाता है इसलिए प्राग्रहर ४५८ हैं, लोकका अग्रभाग प्राप्त करनेके सम्मुख हैं इसलिए अग्र्यग्र ४५९ हैं, आप समस्त लोगोंसे विलक्षण-नूतन हैं इसलिए प्रत्यग्र ४६० कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए अग्र्य ४६१ कहे जाते हैं, सबके अग्रेसर होनेसे अग्रिम ४६२ कहलाते हैं और सबसे ज्येष्ठ होनेके कारण अग्रज ४६३ कहे जाते हैं ॥१५०॥ आपने बड़ा कठिन तपश्चरण किया है इसलिए महातपा ४६४ कहलाते हैं, आपका बड़ा भारी तेज चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महातेजा ४६५ हैं, आपकी तपश्चर्याका उदक अर्थात् फल बड़ा भारी है इसलिए आप महोदक ४६६ कहलाते हैं, आपका ऐश्वर्य बड़ा भारी है इसलिए आप महोदय ४६७ माने जाते हैं, आपका बड़ा भारी यश चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महायशो ४६८ माने जाते हैं, आप विशाल तेज-प्रताप अथवा ज्ञानके धारक हैं इसलिए महाधामा ४६९ कहलाते हैं, आपकी शक्ति अपार है इसलिए विद्वान् लोग आपको महासत्त्व ४७० कहते हैं, और आपका धीरज महान् है इसलिए आप महाधृति ४७१ कहलाते हैं ॥१५१॥ आप कभी अधीर नहीं होते इसलिए महाधीर्य ४७२ कहे जाते हैं, अनन्त वीर्यके धारक होनेसे महावीर्य ४७३ कहलाते हैं, समवसरणरूप अद्वितीय विभूतिको धारण करनेसे महासम्पत् ४७४ माने जाते हैं, अत्यन्त बलवान् होनेसे महाबल ४७५ कहलाते हैं, बड़ी भारी शक्तिके धारक होनेसे महाशक्ति ४७६ माने जाते हैं, अतिशय कान्ति अथवा केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण महाज्योति ४७७ कहलाते हैं, आपका वैभव अपार है इसलिए आपको महाभूति ४७८ कहते हैं और आपके शरीरकी दृति बड़ी भारी है इसलिए आप महाधृति ४७९

१. उद्गतसंसारः । २. दुःप्रवेश्यः । ३. रहस्यम् । ४. प्राग्र्याद्यग्रजपयन्ताः श्रेष्ठाधिपतिः ।

महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महादयः । महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥१५३॥

महामहा^१ महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥१५४॥

महामहपतिः^२ प्राप्तमहाकल्याणपञ्चकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥१५५॥

इति श्रीवृक्षादिशतम् ।

महामुनिर्महामौनी महाध्यातो^३ महादमः । महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः^४ ॥१५६॥

महाव्रतपतिर्महो^५ महाकान्तिधरोऽधिपः । महामैत्रोमयोऽमेयो महोपायो महोभयः^६ ॥१५७॥

महाकारुणिको मन्ता^७ महामन्त्रो महायतिः । महानादो महाघोषो महोज्यो महसां पतिः ॥१५८॥

कहे जाते हैं ॥१५२॥ अतिशय बुद्धिमान् हैं इसलिए महामति ४८० कहलाते हैं, अतिशय न्यायवान् हैं इसलिए महानीति ४८१ कहे जाते हैं, अतिशय क्षमावान् हैं इसलिए महाक्षान्ति ४८२ माने जाते हैं, अतिशय दयालु हैं इसलिए महादय ४८३ कहलाते हैं, अत्यन्त विवेकवान् होनेसे महाप्राज्ञ ४८४, अत्यन्त भाग्यशाली होनेसे महाभाग ४८५, अत्यन्त आनन्द होनेसे महानन्द ४८६ और सर्वश्रेष्ठ कवि होनेसे महाकवि ४८७ माने जाते हैं ॥१५३॥ अत्यन्त तेजस्वी होनेसे महामहा ४८८, विशाल कीर्तिके धारक होनेसे महाकीर्ति ४८९, अद्भुत कान्तिसे युक्त होनेके कारण महाकान्ति ४९०, उत्तुंग शरीरके होनेसे महावपु ४९१, बड़े दानी होनेसे महादान ४९२, केवलज्ञानी होनेसे महाज्ञान ४९३, बड़े ध्यानी होनेसे महायोग ४९४ और बड़े-बड़े गुणोंके धारक होनेसे महागुण ४९५ कहलाते हैं ॥१५४॥ आप अनेक बड़े-बड़े वस्त्रोंके स्वामी हैं इसलिए महामहपति ४९६ कहलाते हैं, आपने गर्भ आदि पाँच महाकल्याणको प्राप्त किया है इसलिए प्राप्तमहाकल्याणपञ्चक ४९७ कहे जाते हैं, आप सबसे बड़े स्वामी हैं इसलिए महाप्रभु ४९८ कहलाते हैं, अशोकवृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्योंके स्वामी हैं इसलिए महाप्रातिहार्याधीश ४९९ कहे जाते हैं और आप सब देवोंके अधीश्वर हैं इसलिए महेश्वर ५०० कहलाते हैं ॥१५५॥

सब मुनियोंमें उत्तम होनेसे महामुनि ५०१, वचनालापरहित होनेसे महामौनी ५०२, शुक्लध्यानका ध्यान करनेसे महाध्यान ५०३, अतिशय जितेन्द्रिय होनेसे महादम ५०४, अतिशय समर्थ अथवा शान्त होनेसे महाक्षम ५०५, उत्तमशीलसे युक्त होनेके कारण महाशील ५०६ और तपश्चरणरूपी अग्निमें कर्मरूपी हविके होम करनेसे महायज्ञ ५०७ और अतिशय पूज्य होनेके कारण महामख ५०८ कहलाते हैं ॥१५६॥ पाँच महाव्रतोंके स्वामी होनेसे महाव्रतपति ५०९, जगत्पूज्य होनेसे मख ५१०, विशाल कान्तिके धारक होनेसे महाकान्तिधर ५११, सबके स्वामी होनेसे अधिप ५१२, सब जीवोंके साथ मैत्रीभाव रखनेसे महामैत्रीमय ५१३, अपरिमित गुणोंके धारक होनेसे अमेय ५१४, मोक्षके उत्तमोत्तम उपायोंसे सहित होनेके कारण महोपाय ५१५ और तेजःस्वरूप होनेसे महोभय ५१६ कहलाते हैं ॥१५७॥ अत्यन्त दयालु होनेसे महाकारुणिक ५१७, सब पदार्थोंको जाननेसे मन्ता ५१८, अनेक मन्त्रोंके स्वामी होनेसे महामन्त्र ५१९, यतियोंमें श्रेष्ठ होनेसे महायति ५२०, गम्भीर दिव्यध्वनिके धारक होनेसे महानाद ५२१, दिव्यध्वनिका गम्भीर उच्चारण होनेके कारण महाघोष ५२२, बड़ी-बड़ी पूजाओंके अधिकारी होनेसे महोज्य ५२३ और समस्त तेज अथवा प्रतापके स्वामी होनेसे महसांपति ५२४ कहलाते

१. महातेजाः । २. महामहाकल्पपूजापतिः । ३. —ध्यानी ल० । ४. महापूजः । ५. पूज्यः ।

६. उरुकृष्टबोधः । ७. महाकल्याण चरतीति । ८. ज्ञाता ।

महाध्वरधरं धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक् । महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदयः ॥१५९॥
 महाक्लेशाकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशः ॥१६०॥
 महाभवाब्धिसन्तारी महामोहाद्रिसूदनः । महागुणाकरः क्षान्तो महायोगीश्वरः शर्मा ॥१६१॥
 महाध्यानपनिर्ध्यातमहाधर्मा महाव्रतः । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥१६२॥
 सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः । असङ्ख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥१६३॥
 सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥१६४॥

हैं ॥१५८॥ ज्ञानरूपी विशाल यज्ञके धारक होनेसे महाध्वरधर ५२५, कर्मभूमिका समस्त भार
 सँभालने अथवा सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण धुर्य ५२६, अतिशय उदार होनेसे महौदार्य ५२७, श्रेष्ठ
 वचनोंसे युक्त होनेके कारण महिष्ठवाक् ५२८, महान् आत्माके धारक होनेसे महात्मा ५२९,
 समस्त तेजके स्थान होनेसे महसाधाम ५३०, ऋषियोंमें प्रधान होनेसे महर्षि ५३१ और
 प्रशस्त जन्मके धारक होनेसे महितोदय ५३२ कहलाते हैं ॥१५९॥ बड़े-बड़े क्लेशोंको नष्ट करनेके
 लिए अंकुशके समान हैं इसलिए महाक्लेशाकुश ५३३ कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय
 करनेमें शूर-वीर हैं इसलिए शूर ५३४ कहे जाते हैं, गणधर आदि बड़े-बड़े प्राणियोंके स्वामी हैं
 इसलिए महाभूतपति ५३५ कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए गुरु ५३६ कहलाते हैं,
 विशाल पराक्रमके धारक हैं इसलिए महापराक्रम ५३७ कहे जाते हैं, अन्तरहित होनेसे
 अनन्त ५३८ हैं, क्रोधके बड़े भारी शत्रु होनेसे महाक्रोधरिपु ५३९ कहे जाते हैं और समस्त
 इन्द्रियोंको वश कर लेनेसे वशी ५४० कहलाते हैं ॥१६०॥ संसाररूपी महासमुद्रसे पार कर
 देनेके कारण महाभवाब्धिसन्तारी ५४१, मोहरूपी महाचलके भेदन करनेसे महामोहाद्रिसूदन
 ५४२, सम्यग्दर्शन आदि बड़े-बड़े गुणोंकी खान होनेसे महागुणाकर ५४३, क्रोधादि कषायोंको
 जीत लेनेसे क्षान्त ५४४, बड़े-बड़े योगियों-मुनियोंके स्वामी होनेसे महायोगीश्वर ५४५ और
 अतिशय शान्त परिणामी होनेसे शर्मा ५४६ कहलाते हैं ॥१६१॥ शुक्लध्यानरूपी महाध्यानके
 स्वामी होनेसे महाध्यानपति ५४७, अहिंसारूपी महाधर्मका ध्यान करनेसे ध्यातमहाधर्म
 ५४८, महाव्रतोंको धारण करनेसे महाव्रत ५४९, कर्मरूपी महाशत्रुओंको नष्ट करनेसे महा-
 कर्मारिहा ५५०, आत्मस्वरूपके जानकार होनेसे आत्मज्ञ ५५१, सब देवोंमें प्रधान होनेसे
 महादेव ५५२ और महान् सामर्थ्यसे सहित होनेके कारण महेशिता ५५३ कहलाते हैं ॥१६२॥
 सब प्रकारके क्लेशोंको दूर करनेसे सर्वक्लेशापह ५५४, आत्मकल्याण सिद्ध करनेसे साधु
 ५५५, समस्त दोषोंको दूर करनेसे सर्वदोषहर ५५६, समस्त पापोंको नष्ट करनेके कारण
 हर ५५७, असंख्यात गुणोंको धारण करनेसे असंख्येय ५५८, अपरिमित शक्तिको धारण
 करनेसे अप्रमेयात्मा ५५९, शान्तस्वरूप होनेसे शमात्मा ५६० और उत्तम शान्तिकी
 खान होनेसे प्रशमाकर ५६१ कहलाते हैं ॥१६३॥ सब मुनियोंके स्वामी होनेसे सर्वयोगीश्वर
 ५६२, किसीके चिन्तनमें न आनेसे अचिन्त्य ५६३, भावश्रुतरूप होनेसे श्रुतात्मा ५६४, तीनों
 लोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विष्टरश्रवा ५६५, मत्तको वश करनेसे दान्तात्मा ५६६,
 संयमरूप तीर्थके स्वामी होनेके कारण दमतीर्थेश ५६७, योगमय होनेसे योगात्मा ५६८ और

१. महायशस्वरी । २. धुरधरः । ३. गणधरचक्रधरावीनामीशः । ४. नाशकः । ५. शत्रुघ्नः ।
 ६. विष्टं प्रवेशं सति ददातीति विष्टरं विष्टरं श्रवो ज्ञानं यस्य सः । ७. शिक्षितात्मा ।

प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः^१ परमोदयः । प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत् क्षेमशासनः ॥१६५॥

^२ प्रणयः प्रणतः प्राणः प्राणदः प्राणतेद्वरः^३ । प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्यु^४ रध्वरः ॥१६६॥

आनन्दो नन्दनी^५ नन्दो^६ चन्द्रोऽनिन्दोऽभिनन्दनः^७ । कामहा^८ कामदः काम्यः कामधेनु ररिजयः ॥१६७॥

इति महामुन्यादिशतम् ।

^{११} असंस्कृतसुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत्^{१२} । ^{१०} अन्तकृत् कान्तगुः कान्तश्चिन्तामणि रभीष्टदः ॥१६८॥

अजितो जितकामारि मितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जिताभिघ्नो जितक्लेशो जितान्तकः ॥१६९॥

ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त होनेके कारण ज्ञानसर्वग ५६९ कहलाते हैं ॥१६४॥ एकाग्रतासे आत्माका ध्यान करने अथवा तीनों लोकोंमें प्रमुख होनेसे प्रधान ५७०, ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मा ५७१, प्रकृष्ट कार्योंके होनेसे प्रकृति ५७२, उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारक होनेसे परम ५७३, उत्कृष्ट उदय अर्थात् जन्म या वैभवको धारण करनेसे परमोदय ५७४, कर्मबन्धनके क्षीण हो जानेसे प्रक्षीणबन्ध ५७५, कामदेव अथवा विषयाभिलाषाके शत्रु होनेसे कामारि ५७६, कल्याणकारी होनेसे क्षेमकृत् ५७७ और मंगलमय उपदेशके देनेसे क्षेमशासन ५७८ कहलाते हैं ॥१६५॥ ओंकाररूप होनेसे प्रणय ५७९, सबके द्वारा नमस्कृत होनेसे प्रणत ५८०, जगत्को जीवित रखनेसे प्राण ५८१, सब जीवोंके प्राणदाता अर्थात् रक्षक होनेसे प्राणद ५८२, नर्मीभूत भव्य जनोंके स्वामी होनेसे प्रणतेद्वर ५८३, प्रमाण अर्थात् ज्ञानमय होनेसे प्रमाण ५८४, अनन्तज्ञान आदि उत्कृष्ट निधियोंके स्वामी होनेसे प्रणिधि ५८५, समर्थ अथवा सर्वग होनेसे दक्ष ५८६, सरल होनेसे दक्षिण ५८७, ज्ञानरूप यज्ञ करनेसे अध्वर्यु ५८८ और समीचीन मार्गके प्रदर्शक होनेसे अध्वर ५८९ कहलाते हैं ॥१६६॥ सदा सुखरूप होनेसे आनन्द ५९०, सबको आनन्द देनेसे नन्दन ५९१, सदा समृद्धिमान होते रहनेसे नन्द ५९२, इन्द्र आदिके द्वारा बन्धना करने योग्य होनेसे बन्ध ५९३, निन्दारहित होनेसे अनिन्द ५९४, प्रशंसनीय होनेसे अभिनन्दन ५९५, कामदेवको नष्ट करनेसे कामहा ५९६, अभिलषित पदार्थोंको देनेसे कामद ५९७, अत्यन्त मनोहर अथवा सबके द्वारा चाहनेके योग्य होनेसे काम्य ५९८, सबके मनोरथ पूर्ण करनेसे कामधेनु ५९९ और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे अरिजय ६०० कहलाते हैं ॥१६७॥

किसी अन्यके द्वारा संस्कृत हुए बिना ही उत्तम संस्कारोंको धारण करनेसे असंस्कृत-सुसंस्कार ६०१, स्वाभाविक होनेसे प्राकृत ६०२, रागादि विकारोंका नाश करनेसे वैकृतान्त-कृत् ६०३, अन्त अर्थात् धर्म अथवा जन्ममरणरूप संसारका अवसान करनेवाले होनेसे अन्तकृत् ६०४, सुन्दर कान्ति, वचन अथवा इन्द्रियोंके धारक होनेसे कान्तगु ६०५, अत्यन्त सुन्दर होनेसे कान्त ६०६, इच्छित पदार्थ देनेसे चिन्तामणि ६०७ और भव्य-जीवोंके लिए अभीष्ट—स्वर्ग-मोक्षके देनेसे अभीष्टद ६०८ कहलाते हैं ॥१६८॥ किसीके द्वारा जीते नहीं जा सकनेके कारण अजित ६०९, कामरूप शत्रुको जीतनेसे जितकामारि ६१०, अवधिरहित होनेके कारण अमित ६११, अनुपम धर्मका उपदेश देनेसे अमितशासन ६१२, क्रोधको जीतनेसे जितक्रोध ६१३, शत्रुओंको जीत लेनेसे जिताभिघ्न ६१४,

१. परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्यस्य सः परमः । २. ओंकारः । ३. प्रकर्षणानतामीद्वरः । प्रणतेद्वरः-
ष०, अ०, प०, स०, द०, ल०, इ० । ४. चारः । ५. कर्जुः । ६. हाता । ७. नन्दयतीति नन्दनः ।
८. वर्धमानः । ९. अभिनन्दयतीति । १०. कामं हन्तीति । ११. असंस्कृतसुसंस्कारोऽप्राकृतो-ल० । १२. विका-
रस्य नाशकारी । १३. अन्तं नाशं कृततीति ।

जिनेन्द्रः परमानन्दः सुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः । महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ॥१७०॥
 नाभेयो नाभिजोऽजातः सुप्रतो मनुस्त्वमः । अभ्योऽन्यो योऽनाइर्वा नधिकोऽधिगुरुः सुधीः ॥१७१॥
 सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामसोऽनघः ॥१७२॥
 क्षेमी क्षेमं करोऽक्षयः क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राहो ज्ञाननिग्राहो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥१७३॥
 सुकृती धातु रित्याहः सुनयश्चतुराननः । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥१७४॥

कलेशोंको जीत लेनेसे जितकलेश ६१५ और यमराजको जीत लेनेसे जितान्तक ६१६ कहे जाते हैं ॥१६९॥ कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ होनेसे जिनेन्द्र ६१७, उत्कृष्ट आनन्दके धारक होनेसे परमानन्द ६१८, मुनियोंके नाश होनेसे सुनीन्द्र ६१९, दुन्दुभिके समान गम्भीर ध्वनिसे युक्त होनेके कारण दुन्दुभिस्वन ६२०, बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय होनेसे महेन्द्रवन्द्य ६२१, योगियोंके स्वामी होनेसे योगीन्द्र ६२२, यतियोंके अधिपति होनेसे यतीन्द्र ६२३ और नाभिराजके पुत्र होनेसे नाभिनन्दन ६२४ कहलाते हैं ॥१७०॥ नाभिराजाकी सन्तान होनेसे नाभेय ६२५, नाभिमहाराजसे उत्पन्न होनेके कारण नाभिज ६२६, द्रव्यार्थिकतन्त्रकी अपेक्षा जन्मरहित होनेसे अजात ६२७, उत्तम व्रतोंके धारक होनेसे सुव्रत ६२८, कर्मभूमिकी समस्त व्यवस्था बताने अथवा मनन-ज्ञानरूप होनेसे मनु ६२९, उत्कृष्ट होनेसे उत्तम ६३०, किसीके द्वारा भेदन करने योग्य न होनेसे अभेद्य ६३१, विनाशरहित होनेसे अनत्यय ६३२, तपश्चरण करनेसे अनाइवान् ६३३, सयमें श्रेष्ठ होने अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होनेसे अधिक ६३४, श्रेष्ठ गुरु होनेसे अधिगुरु ६३५ और उत्तम वचनोंके धारक होनेसे सुधी ६३६ कहलाते हैं ॥१७१॥ उत्तम बुद्धि होनेसे सुमेधा ६३७, पराक्रमी होनेसे विक्रमी ६३८, सबके अधिपति होनेसे स्वामी ६३९, किसीके द्वारा अनादर हिंसा अथवा निवारण आदि नहीं किये जा सकनेके कारण दुराधर्ष ६४०, सांसारिक विषयोंकी उत्कण्ठासे रहित होनेके कारण निरुत्सुक ६४१, विशेषरूप होनेसे विशिष्ट ६४२, शिष्ट पुरुषोंका पालन करनेसे शिष्टभुक् ६४३, सदाचार-पूर्ण होनेसे शिष्ट ६४४, विश्वास अथवा ज्ञानरूप होनेसे प्रत्यय ६४५, मनोहर होनेसे कामन ६४६ और पापरहित होनेसे अनघ ६४७ कहलाते हैं ॥१७२॥ कल्याणसे युक्त होनेके कारण क्षेमी ६४८, भव्य जीवोंका कल्याण करनेसे क्षेमंकर ६४९, क्षयरहित होनेसे अक्षय ६५०, कल्याणकारी धर्मके स्वामी होनेसे क्षेमधर्मपति ६५१, क्षमासे युक्त होनेके कारण क्षमी ६५२, अल्पज्ञानियोंके ग्रहणमें न आनेसे अग्राह ६५३, सम्यग्ज्ञानके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होनेसे ज्ञाननिग्राह ६५४, ध्यानके द्वारा जाने जा सकनेके कारण ज्ञानगम्य ६५५ और सबसे उत्कृष्ट होनेके कारण निरुत्तर ६५६ हैं ॥१७३॥ पुण्यवान् होनेसे सुकृती ६५७, शब्दोंके उत्पादक होनेसे धातु ६५८, पूजाके योग्य होनेसे इज्याह ६५९, समीचीन नयोंसे सहित होनेके कारण सुनय ६६०, लक्ष्मीके निवास होनेसे श्रीनिवास ६६१ और समवसरणमें अनिराग विशेषसे चारों ओर मुख दिखनेके कारण चतुरानन ६६२, चतुर्वक्त्र ६६३, चतुरास्य ६६४ और चतुर्मुख ६६५ कहलाते हैं ॥१७४॥ सत्यस्वरूप होनेसे सत्यात्मा ६६६, यथार्थ विज्ञानसे सहित होनेके कारण

१. नाशरहितः । 'दिष्टान्तः प्रत्ययोऽक्षयः' इत्यभिधानात् । २. अनशनव्रती । ३. सुमीः - ल०, इ०, अ०, प०, स० । ४. धृष्टः । ५. विशिष्यत इति । ६. शिष्टपालकः । ७. कमनीयः । ८. ज्ञानेन निश्चयेन ग्राह्यः । ९. शब्दपोलिः ।

सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसंधानः सत्यः सत्यपरायणः ॥१७५॥
 स्थेयान् स्थवीयान् नेदीयान् दूरीयान् दूरदर्शनः । अशीरणीयाननगुर्गुराद्यो गरीयसाम् ॥१७६॥
 सदायोगः सदाभोगः सदानृपः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥१७७॥
 सुषोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता लोकाध्यक्षो दमोद्वरः ॥१७८॥
 इति अमंस्कृतादिशतम् ।

बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरां पतिः ॥१७९॥
 नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यार्त्ता कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥१८०॥

सत्य विज्ञान ६६७, सत्यवचन होनेसे सत्यवाक् ६६८, सत्यधर्मका उपदेश देनेसे सत्यशासन ६६९, सत्य आशीर्वाद होनेसे सत्याशी ६७०, सत्यप्रतिज्ञ होनेसे सत्यसन्धान ६७१, सत्यरूप होनेसे सत्य ६७२ और सत्यमें ही निरन्तर तत्पर रहनेसे सत्यपरायण ६७३ कहलाते हैं ॥१७५॥ अत्यन्त स्थिर होनेसे स्थेयान् ६७४, अनिश्चय स्थूल होनेसे स्थवीयान् ६७५, भक्तोंके समीपवर्ती होनेसे नेदीयान् ६७६, पापोंसे दूर रहनेके कारण दूरीयान् ६७७, दूरसे ही दर्शन होनेके कारण दूरदर्शन ६७८, परमाणुसे भी सूक्ष्म होनेके कारण अणोऽणोयान् ६७९, अणुरूप न होनेसे अनणु ६८० और गुरुओंमें भी श्रेष्ठ गुरु होनेसे गरीयसामाद्य* गुरु ६८१ कहलाते हैं ॥१७६॥ सदा योगरूप होनेसे सदायोग ६८२, सदा आनन्दके भोक्ता होनेसे सदाभोग ६८३, सदा सन्तुष्ट रहनेसे सदानृप ६८४, सदा कल्याणरूप रहनेसे सदा शिव ६८५, सदा ज्ञानरूप रहनेसे सदागति ६८६, सदा सुखरूप रहनेसे सदासौख्य ६८७, सदा केवलज्ञानरूपी विद्यासे युक्त होनेके कारण सदाविद्य ६८८ और सदा उदयरूप रहनेसे सदोदय ६८९ माने जाते हैं ॥१७७॥ उत्तमध्वनि होनेसे सुषोष ६९०, सुन्दर मुख होनेसे सुमुख ६९१, शान्तरूप होनेसे सौम्य ६९२, सब जीवोंको सुखदायी होनेसे सुखद ६९३, सबका हित करनेसे सुहित ६९४, उत्तम हृदय होनेसे सुहृत् ६९५, सुरक्षित अथवा मिथ्यादृष्टियोंके लिए गूढ़ होनेसे सुगुप्त ६९६, गुप्तियोंको धारण करनेसे गुप्तिभृत् ६९७, सबके रक्षक होनेसे गोप्ता ६९८, तीनों लोकोंका साक्षात्कार करनेसे लोकाध्यक्ष ६९९ और इन्द्रियविजयरूपी दमके स्वामी होनेसे दमोद्वर ७०० कहलाते हैं ॥१७८॥

इन्द्रोंके गुरु होनेसे बृहद्बृहस्पति ७०१, प्रशस्त वचनोंके धारक होनेसे वाग्मी ७०२, वचनोंके स्वामी होनेसे वाचस्पति ७०३, उत्कृष्ट बुद्धिके धारक होनेसे उदारधी ७०४, मनन शक्तिसे युक्त होनेके कारण मनीषी ७०५, चातुर्यपूर्ण बुद्धिसे सहित होनेके कारण धिषण ७०६, धारणपटु बुद्धिसे सहित होनेके कारण धीमान् ७०७, बुद्धिके स्वामी होनेसे शेमुषीश ७०८ और सब प्रकारके वचनोंके स्वामी होनेसे गिरापति ७०९ कहलाते हैं ॥१७९॥ अनेकरूप होनेसे नैकरूप ७१०, नयोंके द्वारा उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होनेसे नयोत्तुङ्ग ७११, अनेक गुणोंको धारण करनेसे नैकात्मा ७१२, वस्तुके अनेक धर्मोंका उपदेश देनेसे नैकधर्मकृत् ७१३, साधारण पुरुषोंके द्वारा जाननेके अयोग्य होनेसे अविज्ञेय ७१४,

१. सत्यप्रतिज्ञः । २. स्थिरतरः । ३. स्थूलतरः । ४. समीपस्थः । ५. दूरस्थः । ६. रक्षकः ।
 ७. सम्पूर्णलक्षणः ।

*यहाँपर 'गरीयसामाद्य' और 'गरीयसां गुरु' इस प्रकार दो नाम भी निकलते हैं परन्तु इस पक्षमें ६२७ और ६२८ इन दो नामोंके स्थानमें 'जातसुश्रुत' ऐसा एक नाम माना जाता है ।

ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥१८१॥

लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो द्रवीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञाङ्गो धीरो गम्भीरशासनः ॥१८२॥

धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिसुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥१८३॥

अमोघनागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूपः सुभगस्थायी समयज्ञः समाहितः ॥१८४॥

सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः^१ । अलेपो निष्कलङ्कात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥१८५॥

वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः । प्रशान्तोऽनन्त^२ धामधिर्मङ्गलं^३ मलहानघः ॥१८६॥

तर्क-चित्तकरहित स्वरूपसे युक्त होनेके कारण अप्रतर्क्यात्मा ७१५, समस्त कृत्य जाननेसे कृतज्ञ ७१६ और समस्त पदार्थोंका लक्षणस्वरूप बतलानेसे कृतलक्षण ७१७ कहलाते हैं ॥१८०॥ अन्तरंगमें ज्ञान होनेसे ज्ञानगर्भ ७१८, दयालुहृदय होनेसे दयागर्भ ७१९, रत्नत्रयसे युक्त होनेके कारण अथवा गर्भ कल्याणके समय रत्नमयी वृष्टि होनेसे रत्नगर्भ ७२०, देदीप्यमान होनेसे प्रभास्वर ७२१, कमलाकार गर्भाशयमें स्थित होनेके कारण पद्मगर्भ ७२२, ज्ञानके भीतर समस्त जगत्के प्रतिविम्बित होनेसे जगद्गर्भ ७२३, गर्भवासके समय पृथिवीके सुवर्णमय हो जाने अथवा सुवर्णमय वृष्टि होनेसे हेमगर्भ ७२४ और सुन्दर दर्शन होनेसे सुदर्शन ७२५ कहलाते हैं ॥१८१॥ अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त होनेके कारण लक्ष्मी-वान् ७२६, देवोंके स्वामी होनेसे त्रिदशाध्यक्ष ७२७, अत्यन्त हृद् होनेसे द्रवीयान् ७२८, सबके स्वामी होनेसे इत ७२९, सामर्थ्यशाली होनेसे ईशिता ७३०, भव्यजीवोंका मनहरण करनेसे मनोहर ७३१, सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे मनोज्ञाङ्ग ७३२, धैर्यवान् होनेसे धीर ७३३ और शासनकी गम्भीरतासे गम्भीरशासन ७३४ कहलाते हैं ॥१८२॥ धर्मके स्तम्भरूप होनेसे धर्म-यूप ७३५, दयारूप यज्ञके करनेवाले होनेसे दयायाग ७३६, धर्मरूपी रथकी चक्रधारा होनेसे धर्मनेमि ७३७, मुनियोंके स्वामी होनेसे मुनीश्वर ७३८, धर्मचक्ररूपी शस्त्रके धारक होनेसे धर्मचक्रायुध ७३९, आत्मगुणोंमें क्रीड़ा करनेसे देव ७४०, कर्मोंका नाश करनेसे कर्महा ७४१, और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मघोषण ७४२ कहलाते हैं ॥१८३॥ आपके वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते इसलिए अमोघवाक् ७४३, आपकी आज्ञा कभी निष्फल नहीं होती इसलिए अमोघाज्ञ ७४४, मलरहित हैं इसलिए निर्मल ७४५, आपका शासन सदा सफल रहता है इसलिए अमोघ-शासन ७४६, सुन्दर रूपके धारक हैं इसलिए सुरूप ७४७, उत्तम ऐश्वर्य युक्त हैं इसलिए सुभग ७४८, आपने पर पदार्थोंका त्याग कर दिया है इसलिए त्यागी ७४९, सिद्धान्त, समय अथवा आचार्यके ज्ञाता हैं इसलिए समयज्ञ ७५० और समाधानरूप हैं इसलिए समाहित ७५१ कहलाते हैं ॥१८४॥

सुखपूर्वक स्थित रहनेसे सुस्थित ७५२, आरोग्य अथवा आत्मस्वरूपकी निश्चलताको प्राप्त होनेसे स्वास्थ्यभाक् ७५३, आत्मस्वरूपमें स्थित होनेसे स्वस्थ ७५४, कर्मरूप रजसे रहित होनेके कारण नीरजस्क ७५५, सांसारिक उत्सवोंसे रहित होनेके कारण निरुद्धव ७५६, कर्मरूपी लेपसे रहित होनेके कारण अलेप ७५७, कलंकरहित आत्मासे युक्त होनेके कारण निष्कलंकात्मा ७५८, राग आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण वीतराग ७५९ और सांसारिक विषयोंकी इच्छासे रहित होनेके कारण गतस्पृह ७६० कहलाते हैं ॥१८५॥ आपने इन्द्रियोंको वश कर लिया है इसलिए वश्येन्द्रिय ७६१ कहलाते हैं, आपकी आत्मा कर्मबन्धनसे छूट गयी है

१. मनोज्ञाङ्गो— इ० । २. अत्यन्तो धवः उद्धवः उद्धवः निःक्रान्तो निरुद्धवः । ३. अनन्ततेजाः ।

४. मलं पापं हन्तीति ।

अनीदगुपमाभूतो दिष्टिं दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥१८७॥

अध्यात्मगम्यो गम्यात्मा योगविद् योगिवन्दितः । सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥१८८॥

शंकरः शंबदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः । अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परापरः ॥१८९॥

त्रिजगद्बलभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मङ्गलोद्भवः । त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥१९०॥

इति बृहदादिशतम् ।

इसलिए विमुक्तात्मा ७६२ कहे जाते हैं, आपका कोई भी शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, इसलिए निःसपत्न ७६३ कहलाते हैं, इन्द्रियोंको जीत लेनेसे जितेन्द्रिय ७६४ कहे जाते हैं, अत्यन्त शान्त होनेसे प्रशान्त ७६५ हैं, अनन्त तेजके धारक ऋषि होनेसे अनन्तधामर्षि ७६६ हैं, मंगलरूप होनेसे मंगल ७६७ हैं, मनको मर्द करनेवाले हैं, इसीलिए मलहा ७६८ कहलाते हैं और व्यसन अथवा दुःखसे रहित हैं इसलिए अनघ ७६९ कहे जाते हैं* ॥१८६॥ आपके समान अन्य कोई नहीं है इसलिए आप अनीदृक् ७७० कहलाते हैं, सबके लिए उपमा देने योग्य हैं इसलिए उपमाभूत ७७१ कहे जाते हैं, सब जीवोंके भाग्यस्वरूप होनेके कारण दिष्टि ७७२ और दैव ७७३ कहलाते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा जाने नहीं जा सकते अथवा केवलज्ञान होनेके बाद ही आप मो अर्थात् पृथिवीपर विहार नहीं करते किन्तु आकाशमें गमन करते हैं इसलिए अगोचर ७७४ कहे जाते हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्त ७७५ हैं, शरीर-सहित हैं इसलिए मूर्तिमान् ७७६ कहलाते हैं, अद्वितीय हैं इसलिए एक ७७७ कहे जाते हैं, अनेक गुणोंसे सहित हैं इसलिए नैक ७७८ कहलाते हैं और आत्माको छोड़कर आप अन्य अनेक पदार्थोंको नहीं देखते-उनमें तल्लीन नहीं होते इसलिए नानैकतत्त्वदृक् ७७९ कहे जाते हैं ॥१८७॥ अध्यात्मशास्त्रोंके द्वारा जानने योग्य होनेसे अध्यात्मगम्य ७८०, मिथ्यादृष्टि जीवोंके जानने योग्य न होनेसे अगम्यात्मा ७८१, योगके जानकार होनेसे योगविद् ७८२, योगियोंके द्वारा वन्दना किये जानेसे योगिवन्दित ७८३, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वत्रग ७८४, सदा विद्यमान रहनेसे सदाभावी ७८५ और त्रिकालविषयक समस्त पदार्थोंको देखनेसे त्रिकालविषयार्थदृक् ७८६ कहलाते हैं ॥१८८॥ सबको सुखके करने-वाले होनेसे शंकर ७८७, सुखके बतलानेवाले होनेसे शंबद ७८८, मनको बश करनेसे दान्त ७८९, इन्द्रियोंका दमन करनेसे दमी ७९०, क्षमा धारण करनेमें तत्पर होनेसे क्षान्तिपरायण ७९१, सबके स्वामी होनेसे अधिप ७९२, उत्कृष्ट आनन्दरूप होनेसे परमानन्द ७९३, उत्कृष्ट अथवा पर और निजकी आत्माको जाननेसे परात्मज्ञ ७९४ और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ होनेके कारण परात्पर ७९५ कहलाते हैं ॥१८९॥ तीनों लोकोंके प्रिय अथवा स्वामी होनेसे त्रिजगद्बलभ ७९६, पूजनीय होनेसे अभ्यर्च्य ७९७, तीनों लोकोंमें मंगलदाता होनेसे त्रिजगन्मंगलोद्भव ७९८, तीनों लोकोंके इन्शों-द्वारा पूजनीय चरणोंसे युक्त होनेके कारण त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि ७९९ और कुछ समयके बाद तीनों लोकोंके अग्रभागपर चूड़ामणिके समान विराजमान होनेके कारण त्रिलोकाग्रशिखामणि ८०० कहलाते हैं ॥१९०॥ तीनों कालसम्बन्धी समस्त

१. प्रमाणानुपातिनी मतिः । २. स्तुत्यम् । ३. अनेकैकतत्त्वदर्शी । ४. ध्यानगोचरः । ५. नित्याभिप्राय-वान् । ६. दमितः । ७. सार्वकालीनः । परात्परः -ल० ।

*यद्यपि ६४७वाँ नाम भी अनघ है इसलिए ७६९ वाँ अनघ नाम पुनरुक्त-सा मालूम होता है, परन्तु अघ शब्दके 'अघं तु व्यसने दुःखे दुरिते च नपुंसकम्' अनेक अर्थ होनेसे पुनरुक्तका दोष दूर हो जाता है ।

लोकान्दर्शां लोकेशां लोकधाता दृढवतः । सर्वलोकानिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥१२१॥

पुराणः पुण्यः पूर्वः कृतपूर्वाङ्गविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥१२२॥

युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्पः कल्याणलक्षणः ॥१२३॥

कल्याणप्रकृतिर्दीपः कल्याणपद्मा विकल्मषः । विकल्मङ्कः कलावीतः कलिलवतः कलाधरः ॥१२४॥

देवदेवो जगन्नाथो जगद्वन्धुर्जगद्भिः । जगद्भिर्षो लोकज्ञः सर्वगो जगद्व्रजः ॥१२५॥

चराचरगुरोर्गुह्या गूढात्मा गूढगोचरः । सर्वो जातः प्रकाशात्मा जलज्जलनमयश्च ॥१२६॥

परावीरो देवानेवाले हैं इसलिए त्रिकालदर्शी ८०१, लोकोंके स्वामी होनेसे लोकेश ८०२, समस्त लोकोंके पापक या रक्षक होनेसे लोकधाता ८०३, व्रतोंको स्थिर रखनेसे दृढवत ८०४, सब लोकोंसे श्रेष्ठ होनेके कारण सर्वलोकानिग ८०५, पूजाके योग्य होनेसे पूज्य ८०६ और सब लोकोंकी मुख्यस्थिति अर्थात् स्थान तक पहुँचानेमें समर्थ होनेसे सर्वलोकैकसारथि ८०७ कहलाते हैं ॥१२१॥ सबसे प्राचीन होनेसे पुराण ८०८, आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त होनेसे पुरुष ८०९, सर्व प्रथम होनेसे पूर्व ८१०, अंग और पूर्वोका विस्तार करनेसे कृतपूर्वाङ्गविस्तर ८११, सब देवोंमें मुख्य होनेसे आदिदेव ८१२, पुराणोंमें प्रथम होनेसे पुराणाद्य ८१३, महान् अथवा प्रथम नीर्धर होनेसे पुरुदेव ८१४ और देवोंके भी देव होनेसे अधिदेवता ८१५, कहलाते हैं ॥१२२॥ इस अवसरिणी युगके मुख्य पुरुष होनेसे युगमुख्य ८१६, इसी युगमें सबसे बड़े होनेसे युगज्येष्ठ ८१७, कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमें तत्कालोचित मर्यादाके उपदेशक होनेसे युगादिस्थितिदेशक ८१८, कल्याण अर्थात् सुवर्णके समान कान्तिके धारक होनेसे कल्याणवर्ण ८१९, कल्याणरूप होनेसे कल्याण ८२०, मोक्ष प्राप्त करनेमें सज्ज अर्थात् तत्पर अथवा निरामय-नीरोग होनेसे कल्प ८२१ और कल्याणकारी लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण कल्याणलक्षण ८२२ कहलाते हैं ॥१२३॥ आपका स्वभाव कल्याणरूप है इसलिए आप कल्याण प्रकृति ८२३ कहलाते हैं, आपकी आत्मा देदीप्यमान सुवर्णके समान निर्मल है इसलिए आप दीपकल्याणात्मा ८२४ कहे जाते हैं, कर्मकालिमासे रहित हैं इसलिए विकल्मष ८२५ कहलाते हैं, कलंकरहित हैं इसलिए विकल्मङ्क ८२६ कहे जाते हैं, शरीररहित हैं इसलिए कलावीत ८२७ कहलाते हैं, पापोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए कलिलवत ८२८ कहे जाते हैं, और अनेक कलाओंको धारण करने-वाले हैं इसलिए कलाधर ८२९ माने जाते हैं ॥१२४॥ देवोंके देव होनेसे देवदेव ८३०, जगत्के स्वामी होनेसे जगन्नाथ ८३१, जगत्के भाई होनेसे जगद्वन्धु ८३२, जगत्के स्वामी होनेसे जगद्भिः ८३३, जगत्का हित चाहनेवाले होनेसे जगद्भिर्षो ८३४, लोकोंको जाननेसे लोकज्ञ ८३५, सब जगत् व्याप्त होनेसे सर्वग ८३६ और जगत्में सबमें ज्येष्ठ होनेके कारण जगद्व्रज ८३७ कहलाते हैं ॥१२५॥ चर, स्थावर सभीके गुरु होनेसे चराचरगुरु ८३८, बड़ी सावधानीके साथ हृदयमें सुरक्षित रखनेसे गोप्य ८३९, गूढ़ स्वरूपके धारक होनेसे गूढात्मा ८४०, अत्यन्त गूढ़ विषयोंको जाननेसे गूढगोचर ८४१, तत्कालमें उत्पन्न हुएके समान निर्विकार होनेसे सर्वो जात ८४२, प्रकाशस्वरूप होनेसे प्रकाशात्मा ८४३ और जलती हुई अग्निके समान शरीरकी

१. सर्वलोकेश एक एक नेता । २. प्रवृत्तः । ३. दीपकल्याणात्मा ल० । ४. सर्वेशो- ६० । जगद्व्रजः ८०, २०, ६० । ५. गूढेन्द्रियः ।

आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रक्ताभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥१९७॥
 तपनीयनिभस्तुक्तो बालार्कमोऽनलप्रभः । सन्ध्याभ्रवद्भुजोऽभस्तप्तचामीकरच्छविः ॥१९८॥
 तिष्ठत्तकनकच्छायः कनकाञ्जनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शतकुम्भनिभप्रभः ॥१९९॥
 घुम्नाभो जातरूपाभस्तप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥२००॥
 शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥२०१॥
 शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः^१ शिवप्रदः । शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान्कामितप्रदः २०२
 श्रेयोनिधिः^२ अधिष्ठानमप्रतिष्ठः^३ प्रतिष्ठितः^४ । सुस्थिरः स्थावरः स्थासुः^५ प्रधीयान्^६ प्रथितः^७ पृथुः ॥२०३॥

इति त्रिकालदर्शनादिशतम् ।

प्रभाके धारक होनेसे ज्वलज्ज्वलनसप्रभ ८४४ कहलाते हैं ॥१९६॥ सूर्यके समान तेजस्वी होनेसे आदित्यवर्ण ८४५, सुवर्णके समान कान्तिवाले होनेसे भर्माभ ८४६, उत्तमप्रभासे युक्त होनेके कारण सुप्रभ ८४७, सुवर्णके समान आभा होनेसे कनकप्रभ ८४८, सुवर्णवर्ण ८४९ और रक्ताभ ८५० तथा करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान प्रभाके धारक होनेसे सूर्यकोटिसमप्रभ ८५१ कहे जाते हैं ॥१९७॥ सुवर्णके समान भास्वर होनेसे तपनीयनिभ ८५२, ऊँचा शरीर होनेसे तुंग ८५३, प्रातःकालके सूर्यके समान बालप्रभाके धारक होनेसे बालार्कभ ८५४, अग्निके समान कान्तिवाले होनेसे अनलप्रभ ८५५, सन्ध्याकालके घादलोंके समान सुन्दर होनेसे सन्ध्याभ्रवद्भु ८५६, सुवर्णके समान आभावाले होनेसे हेमाभ ८५७ और तपाये हुए सुवर्णके समान प्रभासे युक्त होनेके कारण तप्तचामीकरप्रभ ८५८ कहलाते हैं ॥१९८॥ अत्यन्त तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाले होनेसे तिष्ठत्तकनकच्छाय ८५९, देदीप्यमान सुवर्णके समान ज्ज्वल होनेसे कनकाञ्जनसन्निभ ८६० तथा सुवर्णके समान वर्ण होनेसे हिरण्यवर्ण ८६१, स्वर्णाभ ८६२, शतकुम्भनिभप्रभ ८६३, घुम्नाभ ८६४, जातरूपाभ ८६५, तप्तजाम्बूनदद्युति ८६६, सुधौतकलधौतश्री ८६७ और हाटकद्युति ८६८ तथा देदीप्यमान होनेसे प्रदीप्त ८६९ कहलाते हैं ॥१९९-२००॥ शिष्ट अर्थात् उत्तम पुरुषोंके इष्ट होनेसे शिष्टेष्ट ८७०, पुष्टिको देनेवाले होनेसे पुष्टिद ८७१, बलवान् होनेसे अथवा लाभान्तराय कर्मके क्षयसे प्रत्येक समय प्राप्त होनेवाले अनन्त शुभ पदगुणवर्गणाओंसे परमौदारिक शरीरके पुष्ट होनेसे पुष्ट ८७२, प्रकट दिखाई देनेसे स्पष्ट ८७३, स्पष्ट अक्षर होनेसे स्पष्टाक्षर ८७४, समर्थ होनेसे क्षम ८७५, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे शत्रुघ्न ८७६, शत्रुरहित होनेसे अप्रतिघ ८७७, सकल होनेसे अमोघ ८७८, उत्तम उपदेशक होनेसे प्रशास्ता ८७९, रक्षक होनेसे शासिता ८८० और अपने आप उत्पन्न होनेसे स्वभू ८८१ कहलाते हैं ॥२०१॥ शान्त होनेसे शान्तिनिष्ठ ८८२, मुनियोंमें श्रेष्ठ होनेसे मुनिज्येष्ठ ८८३, कल्याण परम्पराके प्राप्त होनेसे शिवताति ८८४, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करनेसे शिवप्रद ८८५, शान्तिको देनेवाले होनेसे शान्तिद ८८६, शान्तिके कर्ता होनेसे शान्तिकृन् ८८७, शान्तस्वरूप होनेसे शान्ति ८८८, कान्तियुक्त होनेसे कान्तिमान् ८८९ और इच्छित पदार्थ प्रदान करनेसे कामितप्रद ८९० कहलाते हैं ॥२०२॥ कल्याणके भण्डार होनेसे श्रेयोनिधि ८९१, धर्मके आधार होनेसे अधिष्ठान ८९२, अन्यकृत प्रतिष्ठासे रहित होनेके कारण अप्रतिष्ठ ८९३, प्रतिष्ठा अर्थात् कीर्तिसे युक्त होनेके कारण प्रतिष्ठित ८९४, अतिशय स्थिर होनेसे सुस्थिर ८९५, समवसरणमें गमनरहित होनेसे स्थावर ८९६, अचल होनेसे स्थाणु ८९७,

१. सन्ध्याकालमेधवत् पिङ्गलः । २. कनकप्रभः । ३. सुखपरम्परः । ४. श्रेयोनिधि अ०, ल०, म० ।
 ५. स्वैर्यवान् । ६. सुस्थितः द०, ल०, अ०, प०, इ० । स्थाणुः ल०, अ० । ७. अतिशयेन पृथुः ।

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः । निष्किञ्चनो निराशंसो^१ ज्ञानचक्षुरमो^२मुहः ॥२०४॥

तेजोराशिरनन्तोजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्त्वमोपहः^३ ॥२०५॥

जगच्चूडामणिर्दीप्तः शर्वान् विघ्नविनायकः^४ । कलिघ्नः^५ कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥२०६॥

अनिन्द्रालुरतन्द्रालुर्जागरुकः^६ प्रमामयः^७ । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥२०७॥

मुमुक्षुर्ग्रन्थमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशान्तरसशैलूपा^८ भव्यपेटकनायकः^९ ॥२०८॥

मूलकर्ता^{१०} सौख्यी^{११} अखिलज्ज्योतिः^{१२} मूलकारणम्^{१३} आत्मा^{१४} वार्गाश्वरः^{१५} श्रेयान्^{१६} श्राव्यसोक्तिः^{१७} निरुक्तवाक् ॥२०९॥

अत्यन्त विस्तृत होनेसे प्रथीयान् ८९८, प्रसिद्ध होनेसे प्रथित ८९९ और ज्ञानादि गुणोंका अपेक्षा महान् होनेसे पृथु ९०० कहलाते हैं ॥२०३॥

दिशारूप वस्त्रोंको धारण करने—दिग्म्वर रहनेसे दिग्वासा ९०१, वायुरूपी करधनीको धारण करनेसे वातरशन ९०२, निर्ग्रन्थ मुनियोंके स्वामी होनेसे निर्ग्रन्थेश ९०३, वस्त्ररहित होनेसे निरम्बर ९०४, परिग्रहरहित होनेसे निष्किञ्चन ९०५, इच्छारहित होनेसे निराशंस ९०६, ज्ञानरूपा नेत्रके धारक होनेसे ज्ञानचक्षु ९०७ और मोहसे रहित होनेके कारण अमोमुह ९०८ कहलाते हैं ॥२०४॥ तेजके समूह होनेसे तेजोराशि ९०९, अनन्त प्रतापके धारक होनेसे अनन्तोज ९१०, ज्ञानके समुद्र होनेसे ज्ञानाब्धि ९११, शीलके समुद्र होनेसे शीलसागर ९१२, तेजस्वरूप होनेसे तेजोमय ९१३, अपरिमित ज्योतिके धारक होनेसे अमितज्योति ९१४, भास्वर शरीर होनेसे ज्योतिर्मूर्ति ९१५ और अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले होनेसे तमोऽपह ९१६ कहलाते हैं ॥२०५॥ तीनों लोकोंमें मस्तकके रत्नके समान अतिशय श्रेष्ठ होनेसे जगच्चूडामणि ९१७, देदीप्यमान होनेसे दीप्त ९१८, सुखी अथवा शान्त होनेसे शंभान् ९१९, विघ्नोंके नाशक होनेसे विघ्नविनायक ९२०, कलह अथवा पापोंको नष्ट करनेसे कलिघ्न ९२१, कर्मरूप शत्रुओंके घातक होनेसे कर्मशत्रुघ्न ९२२ और लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेसे लोकालोकप्रकाशक ९२३ कहलाते हैं ॥२०६॥ निद्रा रहित होनेसे अनिन्द्रालु ९२४, तन्द्रा—आलस्यरहित होनेसे अतन्द्रालु ९२५, सदा जागृत रहनेसे जागरुक ९२६, ज्ञानमय रहनेसे प्रमामय ९२७, अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी होनेसे लक्ष्मीपति ९२८, जगत्को प्रकाशित करनेसे जगज्ज्योति ९२९, अहिंसा धर्मके राजा होनेसे धर्मराज ९३० और प्रजाके हितैषी होनेसे प्रजाहित ९३१ कहलाते हैं ॥२०७॥ मोक्षके इच्छुक होनेसे मुमुक्षु ९३२, ग्रन्थ और मोक्षका स्वरूप जाननेसे ग्रन्थ मोक्षज्ञ ९३३, इन्द्रियोंका जीतनेसे जिताक्ष ९३४, कामको जीतनेसे जितमन्मथ ९३५, अत्यन्त शान्तरूपी रसको प्रदर्शित करनेके लिए नटके समान होनेसे प्रशान्तरसशैलूपा ९३६ और भव्यसमूहके स्वामी होनेसे भव्यपेटकनायक ९३७ कहलाते हैं ॥२०८॥ धर्मके आद्यवक्ता होनेसे मूलकर्ता ९३८, समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेसे अखिलज्योति ९३९, कर्ममलको नष्ट करनेसे मलघ्न ९४०, मोक्षमार्गके मुख्य कारण होनेसे मूलकारण ९४१, यथार्थवक्ता होनेसे आत्मा ९४२, वचनोंके स्वामी होनेसे वार्गाश्वर ९४३, कल्याणस्वरूप होनेसे श्रेयान् ९४४, कल्याणरूप वार्गाके होनेसे श्राव्य-सोक्ति ९४५ और सार्थकवचन होनेसे निरुक्तवाक् ९४६ कहलाते हैं ॥२०९॥ श्रेष्ठ वक्ता होनेसे

१. निराशः । २. भृशं निर्मोहः । ३. आदित्यः । ४. वां मुख्यमस्यास्त्योति । ५. अन्तरापनाशकः । ६. दीपघ्नः । ७. जगत्प्रकाशकः । ८. ज्ञानमयः । ९. जगत्प्रशान्तरसन्तकः । १०. समूहः । ११. जगज्ज्योतिः । १२. प्रशस्तवाक् ।

प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विषयभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥२१०॥
 श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो धीतभीरभयङ्करः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥२११॥
 लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधार्तुद्वसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥२१२॥
 प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः । भद्रन्तो^१ भद्रकृ^२ भद्रः^३ वरप्रदो^४ वरप्रदः ॥२१३॥
 समुन्मीलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशु^५ शुक्षणिः । कर्मण्यः^६ कर्मदः^७ प्राशु^८ हेयादेयविचक्षणः ॥२१४॥
 अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारि^९ त्रिलोचनः^{१०} । त्रिनेत्रस्वयम्बकस्वयम्बः केवलज्ञानवीक्षणः ॥२१५॥

प्रवक्ता ६४७, वचनोंके स्वामी होनेसे वचसामीश ६४८, कामदेवको जीतनेके कारण मारजित् ६४९, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विश्वभाववित् ६५०, उत्तम शरीरसे युक्त होनेके कारण सुतनु ६५१, शीघ्र ही शरीर बन्धनसे रहित हो मोक्षको प्राप्ति होनेसे तनुनिर्मुक्त ६५२, प्रशस्त विहायगति नामकर्मके उदयसे आकाशमें उत्तम गमन करने, आत्मस्वरूपमें तल्लीन होने अथवा उत्तमज्ञानमय होनेसे सुगत ६५३ और मिथ्याज्ञानियोंको नष्ट करनेसे हतदुर्नय ६५४ कहलाते हैं ॥२१०॥ लक्ष्मीके ईश्वर होनेसे श्रीश ६५५ कहलाते हैं, लक्ष्मी आपके चरण-कमलोंकी सेवा करती है इसलिए श्रीश्रितपादाब्ज ६५६ कहे जाते हैं, भयरहित हैं इसलिए धीतभी ६५७ कहलाते हैं, दूसरोंका भय नष्ट करनेवाले हैं इसलिए अभयङ्कर ६५८ माने जाते हैं, समस्त दोषोंको नष्ट कर दिया है इसलिए उत्सन्नदोष ६५९ कहलाते हैं, विघ्न रहित होनेसे निर्विघ्न ६६०, स्थिर होनेसे निश्चल ६६१ और लोगोंके स्नेहपात्र होनेसे लोक-वत्सल ६६२ कहलाते हैं ॥२११॥ समस्त लोगोंमें उत्कृष्ट होनेसे लोकोत्तर ६६३, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे लोकपति ६६४, समस्त पुरुषोंके नेत्रस्वरूप होनेसे लोकचक्षु ६६५, अपरिमित बुद्धिके धारक होनेसे अपारधी ६६६, सदा स्थिर बुद्धिके धारक होनेसे धीरधी ६६७, समीचीन मार्गको जान लेनेसे बुद्धसन्मार्ग ६६८, कर्मफलसे रहित होनेके कारण शुद्ध ६६९ और सत्य तथा पवित्र वचन बोलनेसे सत्यसूनृतवाक् ६७० कहलाते हैं ॥२१२॥ बुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होनेसे प्रज्ञापारमित ६७१, अतिशय बुद्धिमान् होनेसे प्राज्ञ ६७२, विषय कषायोंसे उपरत होनेके कारण यति ६७३, इन्द्रियोंको वश करनेसे नियमितेन्द्रिय ६७४, पूज्य होनेसे भद्रन्त ६७५, सब जीवोंका भला करनेसे भद्रकृत् ६७६, कल्याणरूप होनेसे भद्र ६७७, मनचाही वस्तुओंका दाता होनेसे कल्पवृक्ष ६७८ और इच्छित वर प्रदान करनेसे वरप्रद ६७९ कहलाते हैं ॥२१३॥ कर्मरूप शत्रुओंको उखाड़ देनेसे समुन्मीलितकर्मारि ६८०, कर्मरूप ईधनको जलानेके लिए अग्निके समान होनेसे कर्मकाष्ठाशुशुक्षणि ६८१, कार्य करनेमें निपुण होनेसे कर्मण्य ६८२, समर्थ होनेसे कर्मठ ६८३, उत्कृष्ट अथवा उन्नत होनेसे प्राशु ६८४ और छोड़ने तथा ग्रहण करने योग्य पदार्थोंके जाननेमें विद्वान् होनेसे हेयादेयविचक्षण ६८५ कहलाते हैं ॥२१४॥ अनन्तशक्तियोंके धारक होनेसे अनन्तशक्ति ६८६, किसीके द्वारा छिन्न-भिन्न करने योग्य न होनेसे अच्छेद्य ६८७, जन्म, जरा और मरण इन तीनोंका नाश करनेसे त्रिपुरारि ६८८, त्रिकालवर्ती पदार्थोंके जाननेसे त्रिलोचन ६८९, त्रिनेत्र ६९०, त्र्यम्बक ६९१ और त्र्यम्ब ६९२ तथा केवलज्ञानरूप नेत्रसे सहित होनेके कारण केवलज्ञानवीक्षण ६९३ कहलाते हैं ॥२१५॥

१. निरस्तदोषः । २. पूज्यः । ३. सुखकरः । ४. गोमनः । ५. कर्मेन्धनवृक्षानुः । ६. कर्मणि साधुः । ७. कर्मशूरः । ८. उन्नतः । ९. जन्मजरा मरणत्रिपुरारिः । १०. त्रिकालविषयावबोधोपात् त्रिलोचनः ।

समन्तभद्रः^१ शान्तारिधर्मचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितानङ्गः कृपालुधर्मदेशकः ॥२१६॥

शुभंयुः^२ सुखसाद्भूतः^३ पुण्यराशि^४रनामयः । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥२१७॥

इति दिग्वासाष्टोत्तरशतम्

धाम्नां पते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः । समुच्चितान्यनुध्यायन् पुमान् पूतरभृतिर्भवेत् ॥२१८॥

गोचरंऽपि निरामासां त्वमवागोचरो भवतः । स्तोता तथाप्यसन्दिग्धं त्वत्तोऽमीष्टफलं भजेत् ॥२१९॥

स्वमतोऽसि जगद्बन्धुस्त्वमतोऽसि जगन्निष्कः । स्वमतोऽसि जगद्वाता स्वमतोऽसि जगद्धितः ॥२२०॥

स्वमेकं जगतां उद्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगमाकू^५ । स्वैरिदंैकमुत्पन्नं स्वोद्योतंैकंैकमुद्भूतं ॥२२१॥

त्वं पञ्चब्रह्मतत्त्वात्मा पञ्चकल्याणनायकः । षड्भेदमावतत्त्वज्ञस्त्वं सत्तनयसंग्रहः ॥२२२॥

विद्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः । दशावतार^६ निर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर ॥२२३॥

युग्मगामावलीद्वये^७ विलसत्स्तोत्रमालया । भवन्तं परिवश्यामः^८ प्रसीदानुगृहाण नः ॥२२४॥

सब ओरसे मंगलरूप होनेके कारण समन्तभद्र ९९४, कर्मरूप शत्रुओंके शान्त हो जानेसे शान्तारि ९९५, धर्मके व्यवस्थापक होनेसे धर्माचार्य ९९६, दयाके भण्डार होनेसे दयानिधि ९९७, सूक्ष्म पदार्थोंको भी देखनेसे सूक्ष्मदर्शी ९९८, कामदेवको जीत लेनेसे जितानङ्ग १००१, कृपायुक्त होनेसे कृपालु १००० और धर्मके उपदेशक होनेसे धर्मदेशक १००१ कहलाते हैं ॥२१६॥ शुभयुक्त होनेसे शुभंयु १००२, सुखके अधीन होनेसे सुखसाद्भूत १००३, पुण्यके समूह होनेसे पुण्यराशि १००४, रोगरहित होनेसे अनामय १००५, धर्मकी रक्षा करनेसे धर्मपाल १००६, जगत्की रक्षा करनेसे जगत्पाल १००७ और धर्मरूपी साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक १००८ कहलाते हैं ॥२१७॥

हे तेजके अधिपति जिनेन्द्रदेव, आगमके ज्ञाता विद्वानोंने आपके ये एक हजार आठ नाम संचित किये हैं, जो पुरुष आपके इन नामोंका ध्यान करता है उसकी स्मरणशक्ति अत्यन्त पवित्र हो जाती है ॥ २१८ ॥ हे प्रभो, यद्यपि आप इन नामसूचक वचनोंके गोचर हैं तथापि वचनोंके अगोचर ही माने गये हैं, यह सब कुल है परन्तु स्तुति करनेवाला आपसे निःसन्देह अभीष्ट फलको पा लेता है ॥२१९॥ इसलिए हे भगवन्, आप ही इस जगत्के बन्धु हैं, आप ही जगत्के बैद्य हैं, आप ही जगत्का पोषण करनेवाले हैं और आप ही जगत्का हित करनेवाले हैं ॥२२०॥ हे नाथ, जगत्को प्रकाशित करनेवाले आप एक ही हैं । ज्ञान तथा दर्शन इस प्रकार द्विविध उपयोगके धारक होनेसे दो रूप हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इस प्रकार त्रिविध मोक्षमार्गमय होनेसे तीन रूप हैं, अपने-आपमें उत्पन्न हुए अनन्तचतुष्टयरूप होनेसे चार रूप हैं ॥२२१॥ पंचपरमेशी स्वरूप होने अथवा गर्भादि पंच कल्याणकोंके नायक होनेसे पाँच रूप हैं, जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंके ज्ञाता होनेसे छह रूप हैं, नैगम आदि सात नयोंके संग्रहस्वरूप होनेसे सात रूप हैं, सम्यक्त्व आदि आठ अलौकिक गुणरूप होनेसे आठ रूप हैं, नौ केवललब्धियोंसे सहित होनेके कारण नव रूप हैं और महाबल आदि दस अवतारोंसे आपका निर्धार होता है इसलिए दस रूप हैं इस प्रकार हे परमेश्वर, संसारके द्रव्योंसे मेरी रक्षा कीजिए ॥२२२-२२३॥

१. समन्तात् मङ्गलः । २. शुभं युगवतीति । ३. सुखाधीनः । ४. पुण्यराशिनिरामयः । ५. पवित्रज्ञानी । ६. ज्ञानदर्शनोपयोग । ७. रत्नत्रयस्वरूप । ८. पञ्चपरमेश्विस्वरूपः । ९. षड्द्रव्यस्वरूपज्ञः । १०. सम्यक्त्वाष्टगुणमूर्तिः । अथवा पृथिव्याष्टगुणमूर्तिः । ११. महाबलादिपुरुजिनपर्यन्तदशावतार । १२. रचित । १३. आराधयामः ।

इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः । यः संपाठं पठत्येनं स स्यात् कल्याणभाजनम् ॥२२५॥
 ततः सत्रेवं पुण्यार्थी पुमान् पठतु पुण्यधीः । पौरुहूतीं श्रियं प्राप्तुं परमामभिलाषुकः ॥२२६॥
 स्तुतिरिति मधवा देवं चराचरजगद्गुरुम् । तत्तत्तीर्थविहारस्य व्यभात् प्रस्तावनामिसाम् ॥२२७॥
 भगवन् भव्यसस्याः पापावग्रहशीविषाम् । धर्मासृतप्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ॥२२८॥
 भव्यसार्धाधिपरोल्लास्यध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं स्वज्जयोयोगसाधनम् ॥२२९॥
 निर्ध्वं मोहघृणनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीम् । तत्रोपदेशं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥२३०॥
 इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयं मर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥२३१॥
 अथ त्रिभुवनक्षोभां तीर्थं कृत् पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुमहं कर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥२३२॥
 मोक्षोपरोधिनिःश्रवणामुत्तमत्रययोद्गुरः । यशःक्षीरोदकेनामसितचामरबीजिता ॥२३३॥
 ध्वनन्मधुरगम्भीरशीरदिव्यमहाध्वनिः । भानुकंठिप्रसितार्धिमामल्यभास्वरः ॥२३४॥
 महत्प्रहतगम्भीरदध्वनदुन्दुभिः प्रभुः । सुरोत्करकरोन्मुक्तपुष्पवर्षाचिंतकमः ॥२३५॥

हे भगवन्, हम लोग आपकी नामावलीसे बने हुए स्तोत्रोंकी मालासे आपकी पूजा करते हैं, आप प्रसन्न होइए, और हम सबको अनुगृहीत कीजिए ॥२२४॥ भक्त लोग इस स्तोत्रका स्मरण करने मात्रसे ही पवित्र हो जाते हैं और जो इस पुण्य पाठका पाठ करते हैं वे कल्याणके पात्र होते हैं ॥२२५॥ इसलिए जो बुद्धिमान् पुरुष पुण्यकी इच्छा रखते हैं अथवा इन्द्रकी परम विभूति प्राप्त करना चाहते हैं वे सदा ही इस स्तोत्रका पाठ करें ॥२२६॥ इस प्रकार इन्द्रने चर और अचर जगत्के गुरु भगवान् वृषभदेवकी स्तुति कर फिर तीर्थ विहारके लिए नीचे लिखी हुई प्रार्थना की ॥२२७॥ हे भगवन्, भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनाश्रुतिसे सूख रहे हैं सो हे विभो, उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनके लिए आप ही शरण होइए ॥२२८॥ हे भव्य जीवोंके समूहके स्वामी, हे फहराती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित, जिनेन्द्रदेव, आपकी विजयके उद्योगको सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ॥२२९॥ हे भगवन्, मोक्षमार्गको रोकनेवाली मोहकी सेनाको नष्ट कर चुकनेके बाद अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्गके उपदेश देनेका समय प्राप्त हुआ है ॥२३०॥ इस प्रकार जिन्होंने समस्त तत्त्वोंका स्वरूप जान लिया है और जो स्वयं ही विहार करना चाहते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवके सामने इन्द्रके वचन पुनरुक्त हुए-से प्रकट हुए थे । भावार्थ-उस समय भगवान् स्वयं ही विहार करनेके लिए तत्पर थे इसलिए इन्द्र-द्वारा की हुई प्रार्थना व्यर्थ-सी मालूम होती थी ॥२३१॥

अथानन्तर-जो तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति ही जिनका सारथि-सहायक है ऐसे जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य भव्य जीवरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेके लिए तैयार हुए ॥२३२॥ जो मोक्षरूपी महलपर चढ़नेके लिए सीढ़ियोंके समान छत्र-त्रयसे सुशोभित हो रहे हैं, जिनपर क्षीरसमुद्रके फेनके समान सुशोभित चमर ढोले जा रहे हैं, मधुर, गम्भीर, धीर तथा दिव्य महाध्वनिसे जिनका शरीर शब्दायमान हो रहा है, जो करोड़ों सूर्योंसे स्पर्धा करनेवाले भामण्डलसे देदीप्यमान हो रहे हैं, जिनके समीप ही देव-ताओंके द्वारा वजाये हुए दुन्दुभि गम्भीर शब्द कर रहे हैं, जो स्वामी हैं, देवसमूहके हाथोंसे छोड़ी हुई पुष्पवर्षासे जिनके चरण-कमलोंकी पूजा हो रही है, जो मेरु पर्वतके शिखरके समान अतिशय ऊँचे सिंहासनके स्वामी हैं, छाया और फलसहित अशोकवृक्षसे जिनकी

१. अत्रसरम् । २. अनावृणा इत्यर्थः । 'वृष्टिश्च'तद्विधातेव ग्रहावग्रही समौ' इत्यमरः । ३. 'अस भुवि' भव । ४. उदोन्वर्द्धीतीति तद्, वक्षुकोऽभूत् । ५. उत्कटः । ६. सुरताड्यमान ।

मेहश्चक्षुसमुत्तुङ्गसिंहनिष्ठरनायकः । सञ्छायसफलाशोकप्रकटीकृतचेष्टितः ॥२३६॥
 धूलिसालवृतास्थानजगतीपरिमण्डलः । मानस्तम्भनिरुद्धान्यकुट्टिमद्विभ्रमः ॥२३७॥
 स्वच्छाम्भःखातिकाभ्यर्ण^१ प्रततीवनवेष्टिताम् । सभाभूमिमलंकुर्वज्रपूर्वविमलोदयाम् ॥२३८॥
 समग्रगोपुरोदग्रैः प्राकारबलयैश्चिन्मिः । परार्थरचनोपेतैराविष्कृतमहोदयः ॥२३९॥
 अशोकादिवनश्रेणीकृतच्छायासभायनिः । स्रग्भस्त्रादिध्वजोल्लाससमाहृतजगज्जनः ॥२४०॥
 कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रामाभरणपूजितः । प्रासादरुद्धभूमिदक्षिणोदगीतसयशाः ॥२४१॥
 उवलन्महोदयस्तूपप्रकटीकृतवैभवः । नाट्यशालाद्वयेन्द्रनिर्धनवर्धितजनोत्सवः ॥२४२॥
 धूपामोक्षितविश्रामगमहागन्धकुटीश्वरः । त्रिविष्टप^२ पतिप्राज्यपूजाहं परमेश्वरः ॥२४३॥
 त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपुरुषः । प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ॥२४४॥
 ततो भगवदुद्योगसमये समुपेयुषि । प्रचेलुः प्रचलन्मौलिकोटयः सुरकोटयः ॥२४५॥
 तदा संभ्रान्तनाकीन्द्रतिरीटोच्चलिता ध्रुवम् । जगदीराजयानासुः मणयो विजयं विभोः ॥२४६॥
 जयस्युच्चैर्गिरी देवाः प्रोर्णवाना^३ नभोऽङ्गणम् । दिशां मुखावि तेजोभिर्द्योतयन्तः प्रतस्थिरे ॥२४७॥
 जिनोद्योगमहावास्या^४ धुमिता देवनायकाः । चतुर्निकायाश्चत्वारो महाकथय इवासवन् ॥२४८॥
 प्रतस्थे भगवानिरथमनुयातः सुरासुरैः । अनिच्छापूर्विकां वृत्तिमास्कन्दन् भानुमनिथ ॥२४९॥

शान्त चेष्टाएँ प्रकट हो रही हैं, जिनके समवसरणकी पृथिवीका घेरा धूली-साल नामक कोटसे घिरा हुआ है, जिन्होंने मानस्तम्भोंके द्वारा अन्य मिथ्यादृष्टियोंके अहंकार तथा सन्देहको नष्ट कर दिया है, जो स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखाके समीपवर्ती लतावनोंसे घिरी हुई और अपूर्व वैभवसे सम्पन्न सभाभूमिको अलंकृत कर रहे हैं, समस्त गोपुरद्वारोंसे उन्नत और उत्कृष्ट रचनासे सहित तीन कोटोंसे जिनका बड़ा भारी माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जिनकी सभाभूमिमें अशोकादि वनसमूहसे सवन छाया हो रही है, जो साला वस्त्र आदिसे विहित ध्वजाओंकी फड़कनसे जगत्के समस्त जीवोंको बुलाते हुए-से जान पड़ते हैं, कल्पवृक्षोंके वनकी छायामें विश्राम करनेवाले देव लोग सदा जिनकी पूजा किया करते हैं, बड़े-बड़े महलोंसे घिरी हुई भूमिमें स्थित किन्नरदेव जोर-जोरसे जिनका यश गा रहे हैं, प्रकाशमान और बड़ी भारी विभूतिको धारण करनेवाले स्तूपोंसे जिनका वैभव प्रकट हो रहा है, दोनों नाट्यशालाओंकी बड़ी हुई ऋद्धियोंसे जो मनुष्योंका उत्सव बढ़ा रहे हैं, जो धूपकी सुगन्धिसे दशों दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली बड़ी भारी गन्धकुटीके स्वामी हैं, जो इन्द्रोंके द्वारा की हुई बड़ी भारी पूजाके योग्य हैं, तीनों जगत्के स्वामी हैं और धर्मके अधिपति हैं, ऐसे श्रीमान् आदिपुरुष भगवान् वृषभदेवने विजय करनेका उद्योग किया-विहार करना प्रारम्भ किया ॥२३३-२४४॥ तदनन्तर भगवान्के विहारका समय आनेपर जिनके मुकुटोंके अग्रभाग हिल रहे हैं ऐसे करोड़ों देव लोग इधर-उधर चलने लगे ॥२४५॥ भगवान्के उस दिग्विजयके समय घबराये हुए इन्द्रोंके मुकुटोंसे विचलित हुए मणि ऐसे जान पड़ते थे मानो जगत्की आरती ही कर रहे हों ॥२४६॥ उस समय जय-जय इस प्रकार जोर-जोरसे शब्द करते हुए, आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करते हुए और अपने तेजसे दिशाओंके मुखको प्रकाशित करते हुए देव लोग चल रहे थे ॥२४७॥ उस समय इन्द्रोंसहित चारों निकायके देव जिनेन्द्र भगवान्के विहाररूपी महावायुसे क्षोभकी प्राप्त हुए चार महासागरके समान जान पड़ते थे ॥२४८॥ इस प्रकार सुर और असुरोंसे सहित भगवान्ने सूर्यके समान इच्छा

अर्धमागधिकाकारभाषापरिण^१ ताखिलः । त्रिजगज्जनतामैत्रीसंपादितगुणाद्भुतः ॥२५०॥
 स्वसंनिधानसंकुलफलिताङ्कुरितद्रुमः । आदर्शमण्डलाकारपरि^२वर्तितभूतलः ॥२५१॥
 सुगन्धिशिशिरानुचैरनुयायिसमीरणः । अकस्माज्जनतानन्दसंपादितमोदयः ॥२५२॥
 मेघकुमार^३ संसृष्टयोजनान्तरस्थभूः । स्तनितामरसंसिक्तगन्धास्तुत्रिरजोवनिः ॥२५३॥
 स्रदुस्पर्शसुखात्मोजयिन्वस्तपदपङ्कजः । शालिघ्रीहादिवर्णवसुधामुचितागमः ॥२५४॥
 शरसरोवरस्पर्धिव्योमोदाहृत^४ संनिधिः । ककुबन्तरवैमल्यसंक्षिप्तसमागमः ॥२५५॥
 युगैपरस्परराङ्गानध्वागरुहहरिमुग्धः^५ । सहस्रारसुरखर्मचकरत्नपुरःसरः ॥२५६॥
 पुरस्कृताष्टमाङ्गवध्वजमालावताम्बरः । सुरासुरानुयातोऽभूद्^६ विजिहीर्षुस्तदा विभुः ॥२५७॥
 तदा मधुरगम्भीरो जजृम्भे दुन्दुभिध्वनिः । नमः समन्तादापूर्य^७ क्षुब्धद्विधस्वनोपमः ॥२५८॥
 बधूयः सुमनोवृष्टिमापूरितनभोङ्गणम् । सुरा भव्यद्विरेफाणां सौमनस्य^८ विधायिनीम् ॥२५९॥
 समन्ततः स्फुरन्ति स्म^९ पालिकेतनकोटयः । आह्वानुमिव भव्यौघानंतैतेति^{१०} मरुद्वताः ॥२६०॥

रहित वृत्तिको धारण कर प्रस्थान किया ॥२५६॥ जिन्होंने अर्धमागधी भाषामें जगत्के समस्त जीवोंको कल्याणका उपदेश दिया था जो तीनों जगत्के लोगोंमें मित्रता कराने रूप गुणोंसे सबको आश्चर्यमें डालते हैं, जिन्होंने अपनी समीपतासे वृक्षोंको फूल फल और अंकुरोंसे व्याप्त कर दिया है, जिन्होंने पृथिवीमण्डलको दर्पणके आकारमें परिवर्तित कर दिया है, जिनके साथ सुगन्धित शीतल तथा मन्द-मन्द वायु चल रही है, जो अपने उत्कृष्ट वैमल्यसे अकस्मात् ही जन-समुदायको आनन्द पहुँचा रहे हैं, जिनके (विहार कालमें) ठहरनेके स्थानसे एक योजन तककी भूमिको पवनकुमार जातिके देव झाड़-छुहारकर अत्यन्त सुन्दर रखते हैं, जिनके विहारयोग्य भूमिको मेघकुमार जातिके देव सुगन्धित जलकी वर्षा कर धूलि-रहित कर देते हैं, जो कोमल स्पर्शसे सुख देनेके लिए कमलोंपर अपने चरण-कमल रखते हैं, शालि घ्रीहि आदिसे सम्पन्न अवस्थाको प्राप्त हुई पृथिवी जिनके आगमनकी सूचना देती है, शरद्वस्तुके सरोवरके साथ स्पर्धा करनेवाला आकाश जिनके समीप आनेकी सूचना दे रहा है, दिशाओंके अन्तरालकी निर्मलतासे जिनके समागमकी सूचना प्राप्त हो रही है, देवोंके परस्पर एक दूसरेको बुलानेके लिए प्रयुक्त हुए शब्दोंसे जिन्होंने दिशाओंके मुख व्याप्त कर दिये हैं, जिनके आगे हजार अरवाला वैदीप्यमान धर्मचक्र चल रहा है, जिनके आगे-आगे चलते हुए अष्ट मंगलद्रव्य तथा आगे-आगे फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाश व्याप्त हो रहा है और जिनके पीछे अनेक सुर तथा असुर चल रहे हैं ऐसे विहार करनेके इच्छुक भगवान् उस समय बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२५०-२५७॥ तब समय क्षुब्ध होते हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशको चारों ओरसे व्याप्त कर दुन्दुभि वाजोंका मधुर तथा गम्भीर शब्द हो रहा था ॥२५८॥ देव लोग भव्य जीवरूपी भ्रमरोंको आनन्द करनेवाली तथा आकाशरूपी आँगनका पूर्ण भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥२५९॥ जिनके वक्ष वायुसे हिल रहे हैं ऐसी करोड़ों ध्वजाएँ चारों ओर फहरा रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो 'इधर आओ इधर आओ' इस प्रकार भव्य जीवोंके समूहको बुला ही रही हों

१. परिणमितसर्वजीवः । २. परिणमित । ३. मन्दं मन्दम् । ४. कारणमन्तरं । ५. वायुकुमार-सम्पन्नित । ६. मेघकुमार । ७. शरत्कालसरोवर । ८. उदाहरणीकृतसंनिधिः । ९. अमर । १०. विदुमुग्धः । ११. अष्टमंगल । १२-यातोऽभाद्-३०, ५०, ७०, ९०, १००, १२०, १४०, १६०, १८० । १३. विजिहीर्षुमिच्छुः । १४. प्रसन्नचित्तवृत्तिम् । १५. ध्वज । १६. आगच्छताऽऽमच्छन्तेति ।

तर्जयन्तिव कर्मासीनूर्जस्वी रुद्धदिग्मुखः । दंकार एष दृक्कानामभूत्प्रतिपदं विभोः ॥२६१॥
 तभोरहे नटन्ति स्म प्रोदन्त्यद्भुताकिकाः । सुराङ्गना विक्लिरायः स्वदेहप्रमया दिशः ॥२६२॥
 विबुधाः पटुरुभ्याहान् किञ्चरा मधुरं जगुः । वाणवादनमातेनुगन्धर्वाः सहस्रेभ्यैः ॥२६३॥
 प्रभामयमिवाजेषं जगत्कर्तुं ननुजगत् ॥ प्रतस्मिन्नेतुरासीत् ॥ जगज्जगत्कर्तुः ॥२६४॥
 दिशः प्रमेदुरुन्मुक्ताधूलिकाः प्रमदादिव । यन्नात्र धनैर्मनयमनध्रं तस्मै वासुचाम् ॥२६५॥
 परिनिष्पन्नशल्यादियम्यमपन्मही तदा । उद्भूतहर्षरोमाञ्चा स्वामिलामादिबामवन ॥२६६॥
 ययुः सुरमयां वाताः स्वर्युनीशोकरस्पृशः । आकीर्णपङ्कजरजःपटवासपटावृताः ॥२६७॥
 मही समतला रेजे सम्मुत्तानं तल्लोज्ज्वला । सूर्यगन्धाम्बुभिः सिक्ता स्नानेव विरजाः सर्ता ॥२६८॥
 अकालकुसुमोद्भेदं दर्शयन्ति स्म पादपाः । ऋतुभिः समसागत्य संकटाः ॥ साध्वसादिव ॥२६९॥
 सुभिर्ध्रं श्रेममारोग्यं गव्यूतीनां ॥ ऋतुशर्ता । भेजे भुजिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ॥२७०॥
 अकस्मात् प्राणिनो भेजुः प्रमदस्य परम्पराम् । तेषुः परस्परं मैत्री बन्धुभूयमिवाधिताः ॥२७१॥
 मकरन्दरजोवर्षि प्रम्यप्रोष्मिक्केसरम् । विचित्ररत्ननिर्माणकर्णिकं विलम्बहलम् ॥२७२॥

॥२६०॥ भगवान्के विहारकालमें पद्-पदपर समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाला और ऊँचा जो भेरियोंका शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कर्मरूपी शत्रुओंको तर्जना ही कर रहा हो—उन्हे धौंस ही दिखला रहा हो ॥२६१॥ जिनकी भौंहरूपी पनाकाएँ उड़ रही हैं ऐसी देवागनाएँ अपने शरीरकी प्रभासे दिशाओंको लुप्त करती हुई आकाशरूपी रंगभूमिमें नृत्य कर रही थीं ॥२६२॥ देव लोग बड़े उत्साहके साथ पुष्प-पाठ पढ़ रहे थे, किन्नरजानिके देव मनोहर आवाजसे गा रहे थे और गन्धर्व विद्याधरोंके साथ मिलकर वीणा बजा रहे थे ॥२६३॥ जिनके मुकुटोंके अग्रभाग देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इन्द्र समस्त जगत्को प्रभामय करनेके लिए तत्पर हुएके समान भगवान्के इधर-उधर चल रहे थे ॥२६४॥ उस समय समस्त दिशाएँ मानो आनन्दसे ही धूमरहित हो निर्मल हो गयी थी और मेघरहित आकाश अतिशय निर्मलताको धारण कर सुशोभित हो रहा था ॥२६५॥ भगवान्के विहारके समय पके हुए शालि आदि धान्योंसे सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वर्मीका लाभ होनेमें उसे हर्षके रोमांच ही उठ आये हों ॥२६६॥ जो आकाशगंगाके जलकणोंका स्पर्श कर रही थी और जो कमलोंके पराग-रजसे मिली हुई होनेसे सुगन्धित वस्त्रोंमें ढकी हुई—सी जान पड़ती थी ऐसी सुगन्धित वायु वह रही थी ॥२६७॥ उस समय पृथ्वी भी दर्पणतलके समान उज्ज्वल तथा समतल हो गयी थी, देवोंने उसपर सुगन्धित जलकी वर्षा की थी जिससे वह धूलिरहित होकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो रजोधर्मसे रहित तथा स्नान की हुई पवित्रता स्त्री ही हो ॥२६८॥ वृक्ष भी असमयमें फूलोंके उद्भेदको दिखला रहे थे अर्थात् वृक्षोंपर बिना समयके ही पुष्प आ गये थे और उनमें वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सब ऋतुओंने भयसे एक साथ आकर ही उनका आलिंगन किया हो ॥२६९॥ भगवान्के माहात्म्यसे चार सौ कोश पृथ्वी तक सुभिध्र था, सब प्रकारका कल्याण था, आरोग्य था और पृथिवी प्राणियोंकी हिंसासे रहित हो गयी थी ॥२७०॥ समस्त प्राणी अचानक आनन्दकी परम्पराको प्राप्त हो रहे थे और भाईपनेको प्राप्त हुएके समान परस्परकी मित्रता बढ़ा रहे थे ॥२७१॥ जो मकरन्द और परागकी वर्षा कर रहा है, जिसमें नवीन केशर उत्पन्न हुई हैं, जिसकी कर्णिका अनेक प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है,

१. भूमिकाः—७०, ८०, ९० । २. निर्मेधम् । ३. गन्धर्वण एव पटवासस्तेनावृताः । ४. दर्पणतल ।

५. आवृताः । ६. क्रोशनाम् । ७. पारम्पर्यम् । ८. बन्धुत्वम् ।

नगवच्चरणन्यासप्रदेशोऽधिनमःस्थलम् । मृदुस्पर्शमुदारश्चि पङ्कजं हैममुद्बभौ ॥२७२॥
 पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्माः सप्त विक्रासिनः । प्रादुर्भूषुर्गन्धिसान्द्रकिञ्चलकरेणवः ॥२७३॥
 तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यन्तेषु रेजिरे । लक्ष्म्यावस्य सौधानि संचारीणीषु स्वाङ्गणे ॥२७४॥
 हेमाभोजमथा श्रेणीमल्लिश्रेणिभिरन्विताम् । सुरा^१ व्यरचयन्नेनं सुरराजनिदेशतः ॥२७५॥
 रेजे राजोवराजी^२ सा^३ जिनपत्न्यङ्गोन्मुखी । आदि^४सुरिषु^५ तत्कान्तिसतिरेकादधःस्रताम् ॥२७६॥
 ततिर्विहारपद्मानां जिनस्थोपाङ्गि सा बभौ । नभःसरसि संकुल्ला त्रिपञ्चककृतप्रभा ॥२७७॥
 तथा हेमाभुजैर्व्योम समन्तादातसं यमौ । सरोवरमिचोत्फुल्लपङ्कजं जिनदिग्जये ॥२७८॥
 प्रमोदमयमातन्वन्निति चिद्वं जगत्पतिः । विजहार महीं कृत्स्नां प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः ॥२७९॥
 मिथ्या^६अन्धकारचटनां विषट्पद्य बभौऽशुभिः । जगदुद्योतयामास जिनाको जनतार्तिहृत् ॥२८०॥
 यतो विजहे भगवान् हेमाब्जन्यस्तसत्क्रमः । धर्माभूतास्तुसंवर्षस्ततो^७ मय्या धृतिं दधुः ॥२८१॥
 जिने चन^८ इवाभ्यर्च्य^९ प्रवर्षति^{१०} जगदुद्योतयामास^{११} धृतिं दधुः^{१२} ॥२८२॥
 धर्मवारि जिनाम्नोदात्पाय^{१३} पायं कृतस्पृहाः । चिरं धृततृषो^{१४} दधुस्तदानीं मय्यचातकाः ॥२८३॥

जिसके बल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, जिसका स्पर्श कोमल है और जो उत्कृष्ट शोभासे सहित है ऐसा सुवर्णमय कमलोंका समूह आकाशतलमें भगवान्‌के चरण रखनेकी जगहमें सुशोभित हो रहा था ॥२७२-२७३॥ जिनकी केसरके रेणु उत्कृष्ट सुगन्धिसे सान्द्र हैं ऐसे वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवान्‌के आगे प्रकट हुए थे और सात पीछे ॥२७४॥ इसी प्रकार और कमल भी उन कमलोंके समीपमें सुशोभित हो रहे थे, और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाशरूपी आँगनमें चढ़ते हुए लक्ष्मीके रहनेके भवन ही हों ॥२७५॥ भमरोंकी पङ्क्तियोंसे सहित इन सुवर्णमय कमलोंकी पङ्क्तिको देवलोग इन्द्रकी आज्ञासे बना रहे थे ॥२७६॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणकमलोंके सम्मुख हुई वह कमलोंकी पङ्क्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अधिकताके कारण नीचेकी ओर बहती हुई उनके चरणकमलोंकी कान्ति ही प्राप्त करना चाहते हों ॥२७७॥ आकाशरूपी सरोवरमें जिनेन्द्रभगवान्‌के चरणोंके समीप प्रफुल्लित हुई वह विहार कमलोंकी पङ्क्ति पन्द्रहके वर्ग प्रमाण अर्थात् २२५ कमलोंकी थी ॥२७८॥ उस समय, भगवान्‌के दिग्विजयके कालमें सुवर्णमय कमलोंसे चारों ओरसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें कमल फूल रहे हैं ऐसा सरोवर ही हो ॥२७९॥ इस प्रकार समस्त जगत्‌के स्वामी भगवान् वृषभदेवने जगत्‌को आनन्दमय करते हुए तथा अपने वचनरूपी अमृतसे सबको सन्तुष्ट करते हुए समस्त पृथिवीपर विहार किया था ॥२८०॥ जनसमूहकी पीड़ा हरनेवाले जिनेन्द्ररूपी सूर्यने वचनरूपी किरणोंके द्वारा मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट कर समस्त जगत् प्रकाशित किया था ॥२८१॥ सुवर्णमय कमलोंपर पैर रखनेवाले भगवान्‌ने जहाँ-जहाँसे विहार किया वही-वहीके भव्योंने धर्माभूतरूप जलकी वर्षासे परम सन्तोष धारण किया था ॥२८२॥ जिस समय वे जिनेन्द्ररूपी मेघ समीपमें धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करते थे उस समय यह सारा संसार सन्तोष धारण कर सुखके प्रवाहसे प्लुत हो जाता था-सुखके प्रवाहमें डूब जाता था ॥२८३॥ उस समय अत्यन्त लालायित हुए भव्य जीवरूपी चातक जिनेन्द्ररूपी मेघसे धर्मरूपी जलकी बार-बार पी

१. निवासहर्म्याणि । २. रचयन्ति स्म । ३. पङ्क्तिः । ४. जिनपादकमलोन्मुखी । ५. आदातुमिच्छुः । ६. पद्मकमलकान्तिम् । ७. यस्मिन् । ८. तस्मिन् । ९. मेघ इव । १०. मञ्जति स्म । ११. धृतमुखम् । १२. पीत्वा पीत्वा । १३. भुतिमाययुः ।

धसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं चराचरगुरुर्जगदुज्जिहीर्षन्^१

संसारखञ्जं नमिमग्नमभनवृत्तिः ।

देवासुरैरनुगतो विजहार पृथ्वीं

हेमाब्जमर्धविनिवेशितपादपद्मः ॥२८५॥

सीमाजवञ्जवद्वानलदहमान-

माह्लावयन् भुवनकाननमस्ततापः ।

धर्माभृताम्बुपृथ्वीः^२ परिपिब्य देवो

रेजे घनागम इवावितदिव्यनादः ॥२८६॥

काशीमवन्तिकुरुकोसलसुहृद्वान्

चेदिङ्गयङ्गमगधान्ध्रकलिङ्गमद्रान् ।

पाञ्चालमालवदशार्णविदर्भदेशान्

सन्मार्गदेशनपरो विजहार धीरः ॥२८७॥

देवः प्रशान्तचरितः^३ शमकैर्बिभृक्ष्य

वेशान् बहुनिति शिबोभितमभ्यसरवः ।

भञ्जे अगत्प्रथगुरुर्विबुवोभ्रमुष्यैः

कैलासमात्मयशसोऽनुकृतिं^४ वधानम् ॥२८८॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तरयामे सुरनिमित्ते सुहृत्परे श्रीभारतनामण्डले

पूर्वोक्ताखिलवर्णानां परिगते स्वर्गश्रियं तद्वति ।

धोमान् द्वादशभिर्गुणैः परिपूतो भक्त्या ततैः सादरैः

आस्तामास^५ विभुर्जिनः प्रविष्टस्तत्समातिहायार्ष्टकः ॥२८९॥

कर चिरकालके लिए सन्तुष्ट हो गये थे ॥२८५॥ इस प्रकार जो चर और अचर जीवोंके स्वामी हैं, जो संसाररूपी गर्तमें डूबे हुए जीवोंका उद्धार करना चाहते हैं, जिनकी वृत्ति अस्वण्डित है, देव और असुर जिनके साथ हैं तथा जो सुवर्णमय कमलोंके मध्यमें चरण-कमल रखते हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान्ने समस्त पृथ्वीमें विहार किया ॥२८६॥ उस समय, संसाररूपी तीव्र दावानलसे जलते हुए संसाररूपी वनको धर्माभृतरूप जलके छोटोंसे सोंधकर जिन्होंने सबका सन्ताप दूर कर दिया है और जिनके दिव्यध्वनि प्रकट हो रही है ऐसे वे भगवान् धृषभदेव ठीक वर्षाऋतुके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२८६॥ समीचीन मार्गके उपदेश देनेमें तत्पर तथा धीर-वीर भगवान्ने काशी, अवन्ति, कुरु, कोशल, सुहृ, पुण्ड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, कलिङ्ग, मद्र, पञ्चाल, मालव, दशार्ण और विदर्भ आदि देशोंमें विहार किया था ॥२८७॥ इस प्रकार जिनका चरित्र अत्यन्त शान्त है, जिन्होंने अनेक भव्य जीवोंको तत्त्वज्ञान प्राप्त कराया है और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे भगवान् धृषभदेव अनेक देशोंमें विहार कर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल, ऊँचे और अपना अनुकरण करनेवाले कैलास पर्वतको प्राप्त हुए ॥२८८॥ वहाँ उसके अग्रभागपर देवोंके द्वारा बनाये हुए, सुन्दर, पूर्वोक्त समस्त वर्णनसे सहित और स्वर्गकी शोभा बढ़ानेवाले सभामण्डपमें विराजमान हुए । उस समय वे जिनेन्द्रदेव अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे

१. उद्यत्सुमिच्छन् । २. गर्त । ३. विन्दुभिः । पृथ्वी विन्दु पृथ्वी स पुमांसो विप्रवस्त्रियः । ४. चेदि अङ्ग । ५. प्रकर्षेण शान्तवर्तनः । ६. विमल । ७. अनुकरणम् । ८. वर्णनागुपते । ९. आस्ते स्म ।

तं देवं त्रिदशाभिपाचितपदं चातिक्षयामन्तरं-

प्रोत्थानन्तचतुष्टयं जिनमिनं^१ भव्याब्जिर्नामामिनम्^२ ।

मानस्तम्भचिकोकानतजगन्मान्थं त्रिकोकीपति

प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रबन्धामहे ॥२९०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
भगवद्विहारवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमं पर्व ॥२५॥

सहित थे, आदरके साथ भक्तिसे नग्रीभूत हुए बारह सभाके लोगोंसे घिरे हुए थे और उत्तमोत्तम आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित हो रहे थे ॥२८९॥ जिनके चरणकमल इन्द्रोंके द्वारा पूजित हैं, चातियाकर्मोंका क्षय होनेके बाद जिन्हें अनन्तचतुष्टयरूपी विभूति प्राप्त हुई है, जो भव्यजीवरूपी कमलिनियाकी विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं, जिनके मानस्तम्भोंके देखने मात्रसे जगत्के अच्छे-अच्छे पुरुष नग्रीभूत हो जाते हैं, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, जिन्हें अचिन्त्य बहिरंग विभूति प्राप्त हुई है, और जो पापरहित हैं ऐसे श्रीस्वामी जिनेन्द्रदेवको हम लोग भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं ॥२९०॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्के-
विहारका वर्णन करनेवाला पचीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२५॥

आचार्य जिनसेनकृत

आदिपुराण

[- प्रथम भाग -]

शब्दसूची

पारिभाषिक शब्दसूची

आवृत्ति २००० - २००० - २००० - २००० - २००० - २००० - २००० - २००० - २००० - २०००

अ

अजीवके दो भेद-१ मूर्तिक २ अमूर्तिक

२४।८९

अजीवके पाँच भेद-१ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश और ५ काल

२४।१३२

अट्ट-संख्याका एक प्रमाण

३।९२

अणु-पुद्गलका सबसे छोटा अंश । इसमें एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं

२४।१४८

अणुमत-हिता, असत्य, चोरी, कुशोल और प्रियग्रह इन पाँच पापोंका एक देश-स्थूल रूपसे त्याग करना-से पाँच होते हैं

१०।१६२

अतिदुःखमा-अवसर्पिणीका छटा काल । दूसरा नाम दुःखमा-दुःखमा भी है

३।१८

अधःकरण-सत्त्व गुणस्थानकी श्रेणी बढ़नेके सम्मुख अवस्था इसमें जीवके परिणामरूप समय और भिन्न समयमें समान और असमान दोनों प्रकारके होते हैं

२०।२४३

अधर्म-जो जीव और पुद्गलकी स्थितिमें सहायक हो

२४।१३३-१३७

अतिवृत्तिकरण-नौवां गुणस्थान इसमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और विषम समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान हो होते हैं

११।९०

अनीक-देवोंका एक भेद

२२।२८

अनुकम्पन-सम्पददर्शनका एक गुण मोह तथा राग-द्वेषसे पीड़ित जीवोंको दुःखसे छुटानेका दयार्थ परिणाम होना

९।१२३

अनुमननस्याग-अनुमति त्याग नामक दसवीं प्रतिमा इसमें व्यापारविषयक अनुमति भी नहीं दी जाती

१०।१६०

अन्तःपरिचक्षु-अन्तरंग परिचक्षुके सवस्य देव

१०।१९१

अपूर्वकरण-आठवां गुणस्थान इसमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम भिन्न और समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम भिन्न तथा अभिन्न दोनों प्रकारके होते हैं

११।९०

अष्टयम् विक्रिया-अपने ही शरीरको नाना रूप परिणमानेकी शक्ति

१०।१०२

अपत्याख्यान्-देशसंयमको धातनेवाली कषाय

८।२२४

६३८

अभक्ष्य-जिसे भुक्ति प्राप्त न हो सके ऐसा जीव

२४।१२९

अभिन्नदशपूर्विन् - उत्पादपूर्व-आदि दशपूर्वोंके ज्ञाता मुनि

२।६९

अमर्त्य-सब प्रकारके वस्तुन देनेवाला एक कल्याण

३।३९

अमम-संख्याका एक प्रमाण

३।७९

अमृतश्राविन् - अमृतश्राविणी ऋद्धिके धारक मुनि

२।७३

अम्बरधारण-धारणऋद्धिका एक भेद

२।७३

अर्हत्-अरहन्त जिनेन्द्र, चार पातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्र अरहन्त कहलाते हैं

१।४

अजीक-लोकके बाहरका अनन्त आकाश जिसमें सिर्फ आकाश ही आकाश रहता है

१।१२

अवधि-अवधिशानावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाला देश प्रत्यक्ष ज्ञान

२।६६

अवसर्पिणी-जिसमें लोगोंके बल, विश्वास, बुद्धि आदिका ह्रास होता है । इसमें दश कोड़ाकोड़ी सागरके सुषमा

पारिभाषिक शब्दसूची

सुषमा आदि छह काल हैं
३।१४

अष्टगुण — अणिमा, महिमा,
गरिमा, लघिमा, प्राप्ति,
प्राकाम्य, ईशित्व और
वशित्व ये आठ गुण हैं
१०।१७३

अष्टप्रातिहार्य—समवसरणमे तीर्थ-
कर केवलीके प्रकट होने-
वाले आठ प्रातिहार्य—
१ अशोक वृक्ष २ सिंहा-
सन ३ छत्रत्रय ४
भामण्डल ५ दिव्य ध्वनि
६ पुष्पवृष्टि ७ चौंसठ
चमर ८ दुन्दुभि बाजोंका
बजना
२५।७

अष्टांग—सम्यग्दर्शनके निम्न-
लिखित आठ अंग हैं—
१ निःशंकित २ निःका-
मित ३ निर्विकल्पित
४ समुद्र बुद्धि ५ उपगूहन
अथवा उपबृंहण ६ स्थिति-
करण ७ वास्तव्य ८
प्रभावता
१।१२२

अस्तिकाथ — बहुप्रवेशी द्रव्य
जीव, पुष्कल, चर्म, अयर्म
और आकाश ये पाँच
अस्तिकाथ हैं
३।६

अहमिन्द्र—सोलह स्वर्गके आगेके
देव अहमिन्द्र कहलाते हैं
१।९३

अहःस्त्रीसंगवर्जन — दिवामेधुन-
त्याग नामक छठी प्रतिमा ।
इसका दूसरा नाम रात्रि-
भोजनत्याग भी है
१०।१५९

८७

आ

आकार—जहाँ सोन-चाँदीका खान
होती है
१६।१७६

आकार—तद्-तद् पदार्थके भेदसे
पदार्थको ग्रहण करना
२४।१०२

आकाश—जो जोवादि द्रव्योंको
अवगाहन स्थान देवे
२४।१३८

आक्षेपिणी—स्वमतका निरूपण
करनेवाली कथा
१।१३५

आगम—वीतराग सर्वज्ञदेवकी
वाणी, सच्चा शास्त्र
१।१२१

आत्मलब्धधर्म—एक तप
७।७७

आत्मरक्ष—इन्द्रके अंगरक्षकके
समान देव
१०।१९०

आद्यशुक्लध्यान — पृथक्त्ववितर्क
कीवार शुक्ल ध्यान
२०।२४४

आनुपूर्वी—वर्णनीय विषयका क्रम,
इसके ३ भेद हैं—पूर्वानुपूर्वी,
अस्तानुपूर्वी, यत्नवानुपूर्वी
२।१०४

आल—सच्चा देव—वीतराग, सर्वज्ञ
और हितोपदेशी अरहन्त
१।१२१

आमिथोग्य—देवोंका एक भेद
२२।२९

आमर्ष—एक ऋद्धि-
२।७१

आरम्भपरिच्युति — आरम्भस्थान
नामक आठवीं प्रतिमा, इसमें
व्यापारमात्रका स्थान हो
जाता है
१०।१६०

आराधना—समाधि
५।२३१

आर्त्त—ध्यानका एक भेद । इसके
चौदह भेद हैं— १ इष्ट-
वियोगज २ अनिष्टसंयोगज
३ वेदनाजन्य और ४ निवान
२१।३१-४१

आस्तिक्य—सम्यग्दर्शनका एक
गुण, आत्मा तथा परलोक
आदिका भ्रमन होना
९।१२३

इ

इन्द्र—देवोंका स्वामी
२।११७

इन्द्रक—भ्रेणीजद्विमानोंके बीच-
का विमान
१०।१८७

उ

उत्कृष्टोपासक स्थान—ग्यारहवीं
प्रतिमाका भारक शुक्लक
२०।१५८

उत्सर्पिणी—जिसमें लोगोंके बल
विद्या बुद्धि आदिकी वृद्धि
होती है, यह १० कोड़ा-
कोड़ी सागरका झोला है
इसके बुद्धिमा-दुर्बलमा आदि
छह भेद हैं
३।१४

उपक्रम—शास्त्रके नाम आदिका
वर्णन, उपोद्घात-प्रस्ता-
वना । इसके पाँच भेद हैं—
आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण,
अभिधेय, अर्थाधिकार
२।१०३

उपपादसंस्था—देवोंके जन्म लेने-
का स्थान
५।२५४

उपयोगके दो भेद—१ ज्ञानोपयोग
२ दर्शनोपयोग
२४।१००

उपशम भ्रेणी—आरिजमोहमोघ

कर्मका उपशम करनेवाले
आठवेंसे लेकर ११ वें गुण-
स्थानवर्ती जीवोंके परिणाम
११।८९

उपशान्त कषायता - ग्यारहवीं
गुणस्थान
११।९०

ऋ

ऋजुमति-ऋजुमति मतःपर्यय-
ज्ञान नामक ऋद्धिके धारक
इस ऋद्धिया धारक सरल
मन वचन कायसे चिन्तित
दूसरेके मनमें स्थित रूपी
पदार्थोंको जानता है
२।६८

क

कनकावली-एक प्रतका नाम
७।३९

कमल - संख्याका एक प्रमाण
३।१०९

करण-सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने-
वाले भाव । इसके ३ भेद
हैं—१ अधःकरण २ अपूर्व-
करण ३ अनिवृत्तिकरण
१।१२०

करणानुयोग-शास्त्रोंका एक भेद
जिसमें तीन लोकका वर्णन
होता है
२।९९

कल्प-उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी
को मिलाकर बीस कोड़ा-
कोड़ी सागरका एक कल्प
काल होता है
३।१५

कल्पपादप-कल्पवृक्ष, जिससे मन-
चाही वस्तुएँ मिलती हैं
३।२८

कामदेव-कामदेव पदका धारक

(कुल २४ कामदेव होने हैं)
१६।९

कायगुप्ति-काय = शरीरको वन-
से करना

२।७७

कायबलिन्-कायबल ऋद्धिके
धारक

२।७२

काळ-वर्तना लक्षणमें गुप्त एक
द्रव्य

२४।१३९-१४२

कित्थिषिक-देवीका एक भेद
२२।२०

कुमुद-संख्याका एक भेद

३।१२६

कुमुदांग-संख्याका एक भेद

३।१२०

केवली-ज्ञानावरण हटाने के शयसे
प्रकट होनेवाला पूर्णज्ञान
जिन्हें प्राप्त हो चुका है ।
उन्हें अरहन्तसर्पज अथवा
जिनेन्द्र भी कहते हैं

२।६१

केशव-नारायण, ये भी होते हैं
२।११७

केवलज्ञ-केवलज्ञान, संसारके
समस्त पदार्थोंको एक साथ
जाननेवाला ज्ञान
५।१४९

कोष्ठबुद्धि-कोष्ठबुद्धि ऋद्धिके
धारक

२।६७

क्षीरसाविन्-क्षीरसाविणी ऋद्धि-
के धारक

२।७२

क्षेत्र-लोक

४।१४

क्ष्वेल-एक ऋद्धि

२।७१

ख

खर्वट-जो निर्धर्म पर्वतसे घिरा हो
ऐसा ग्राम

१६।१७२

खेड-जो नदी और पर्वतसे घिरा
हो ऐसा ग्राम
१६।१७१

ग

गणधर-तीर्थकरोंके समवसरणमें
रहनेवाले विशिष्ट मुनि । ये
चार ज्ञानके धारक होते हैं
२।५१

गुणव्रत-जो अणुव्रतोंका उपकार
करें । ये तीन हैं-दिग्व्रत,
देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत,
कोई-कोई आचार्य भोगीव-
भोग परिमाणको गुणव्रत
शामिल करते हैं

१०।१६२

१४ गुणस्थान-मोह और योगके
निमित्तसे उत्पन्न आत्माके
भावोंको गुणस्थान कहते हैं,
वे १४ हैं- १ मिथ्यादृष्टि
२ सासादन ३ मिश्र
४ अविरत सम्प्रदृष्टि
५ देशविरत ६ प्रमत्तसंयत
७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्व-
करण ९ अनिवृत्तिकरण
१० सूक्ष्मसाम्पराय ११ उप-
शान्त मोह १२ धोण-
मोह १३ सयोग केवली
१४ अयोगकेवली
२४।१४

गृहांग-भवनको देनेवाला एक
कल्प वृक्ष
२।३९

ग्राम-बहु बस्ती जो बाड़से घिरी
हुई हो और जिसमें अधिक

तर क्षुद्र शीर किसान लोग
रहते हैं । बगीचा तथा
तालाब हो

१६।१६४

घ

घातिकर्म—जानावरण, दर्शना-
वरण, मोह और अन्तराय
ये चार कर्म घातिया कह-
लाते हैं

१।१२

घोष—जहाँ अहोर रहते हैं

१६।१७६

च

चक्रवर्ती — चक्ररत्नका स्वामी,
राजाधिराज । ये १२ होते हैं
तथा भरत ऐरावत और
त्रिवेह क्षेत्रके छह खण्डोंके
स्वामी होते हैं

२।११७

चतुर्थवृत्तभावना — १ स्त्रीकथा-
त्याग २ स्त्रालोक त्याग
३ स्त्रीसंसर्ग त्याग ४ प्राग्-
रत्नस्मरण त्याग ५ नृव्यष्ट-
रत्न-गर्हिष्ठ-उत्तेजक आहार-
का त्याग

२०।१६४

चतुर्दश महाविद्या—उत्पाद पूर्व
आदि चौदह पूर्व

२।४८

चरणानुयोग — शास्त्रोंका एक
भेद, जिसमें गृहस्थ
मुनियोंके चारित्र्यका वर्णन
रहता है

२।१००

चारण — आकाशमें चलनेवाले
ऋद्धिधारी मुनि

९।९६

चारित्र्यके पाँच भेद—१ ज्ञानाचार

२ दर्शनाचार ३ चारित्र्यचार
४ तप आचार ५ वीर्याचार
यह पाँच प्रकारका आचार
भी कहलाता है । चारित्र्यके
पाँच भेद इस प्रकार भी हैं
१ सामायिक २ छेदोपस्था-
पना ३ परिहारविशुद्धि ४
सूक्ष्म साम्प्रदाय ५ यथाकृतात
चारित्र्य भाषणा—ईयादि समि-
तियोंमें भजन करना, मनो-
मुक्ति आदि मुक्तियोंका
पालन और परिश्रम सहन
करना ये चारित्र्य भावनाएँ
हैं

२१।९८

छ

छह बाह्यतप — १ अनशन
२ अश्वमेध ३ आसीन-
संन्यास ४ रस परित्याग
५ विविधत शय्यासन
६ काय बलेश

२०।१७५-१८९

छेदोपस्थापना—चारित्र्यका एक
भेद

२०।१७२

छह प्रकारका अन्तरङ्ग नय—
१ प्रायश्चित्त २ विनय
३ वैराग्यवृत्ति ४ स्वाध्याय
५ व्युत्सर्ग ६ ध्यान
२०।१९०-२०४

ज

जङ्गाधारण—धारणऋद्धिका एक
भेद

२।७३

जलधारण—धारणऋद्धिका एक
भेद

२।७३

जलज—एक ऋद्धि

२।७१

जिनकल्प — मुनिका एकाकी

विहार करना

२०।१७०

जिनगुणर्द्धि—एक नय

७।५३

जिनेन्द्रगुणसंपत्ति—एक व्रतका नाम
विधि छठे पर्वके १४३-१४४
श्लोकमें है

६।१४१

जीव—चेतना लक्षणसे युक्त

२४।९२-९३

जीवके नामान्तर—जीव, प्राणी,
जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्,
अन्तरात्मा, जानी

२४।१०३

जीवके पाँच भाव—१ औपशमिक
२ क्षायिक ३ आयोपशमिक
४ औदयिक ५ पारि-
शमिक

२४।९९

ज्योतिरङ्ग—प्रकाशको देनेवाला
एक कल्पवृक्ष

३।३९

ज्ञान—पदार्थोंको साकार-सवि-
कल्पक जानना

२४।१०१

ज्ञानोपयोगके आठ भेद—

१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान
३ अवधिज्ञान ४ मनः-
पर्यवज्ञान ५ केवलज्ञान
६ कुमतिज्ञान ७ कुश्रुत
ज्ञान ८ कुअवधि ज्ञान

२४-१०१

त

तत्त्व—जीवादि पदार्थोंका वास्त-
विक स्वरूप

२४।८६

तत्त्वके दो भेद—१ जीव २
अजीव

२४।८७

तत्त्व के ३ भेद—१ भुवत जीव
२ संसारी जीव ३ अजीव

२४।८७

तत्त्वार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म,
अधर्म, आकाश और काल
ये छह तत्त्वार्थ हैं। इन्हीं
को छह द्रव्य कहते हैं

२४।८५

तन्मुखारण—चारणकृदिका एक
भेद

२।७३

तीर्थकृत्—धर्मके प्रवर्तक तीर्थकर
हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें
इनकी संख्या २४-२४
होती है, विदेह क्षेत्रमें २०
होते हैं

२।११७

मुद्रिकावद्—संख्याको एक प्रमाण

३।१०४

तूष्णीम्—बाजोंको देनेवाला एक
कल्पवृक्ष

२।३९

मृत्तीय अन्नको साधना—

१ मिताहार ग्रहण २ उचि-
ताहार ग्रहण ३ अम्पनुजात
ग्रहण ४ विधिके विरुद्ध
आहार ग्रहण नहीं करना
५ प्राप्त आहार पानमें
सन्तोष रखना

२०।१६३

त्रायस्त्रिंश—देवोंका एक भेद

२२।२५

त्रिर्बोध—तीन ज्ञान १ मतिज्ञान
२ ध्युनज्ञान और ३ अवधि-
ज्ञान। ये तीन ज्ञान तीर्थ-
करके जन्मसे ही होते हैं

१३।३

त्रिमुद्रा—देशगुहता, गुरुमुद्रता,

लोकमुद्रता

१।१२२

त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम

११-३३

त्रिषष्टिपुरुष—२४ तीर्थकर १२

चक्रधर्ती ९ नारायण ९

प्रतिनारायण ९ बलभद्र ये

त्रिषष्टि पुरुष ६३ शलाका

पुरुष कहलाते हैं

१।२०

त्रैकाक्ष्य—भूत भविष्यत्, वर्तमान
काल

२।११९

व

वण्ड—चार हाथका एक वण्ड
होता है

१६।५४

दर्शन—पदार्थोंको अनाकार—निर्वि-
कल्प जानना

२४।१०१

दर्शनमोह—मोहनीयकर्मका एक
भेद जो सम्यग्दर्शन गुणको
घातता है

१।११७

दर्शनोपयोगके ४ भेद—

१ चक्षुदर्शन २ अक्षधुदर्शन

३ अवधिदर्शन ४ केवलदर्शन

२४।१०१

त्रीपांग—दोषकोंको देनेवाला एक
कल्पवृक्ष

३।३९

वैशाखधि—अवधिज्ञानका एक भेद

२।६६

दुःखमा—अवसर्पिणीका पाचवाँ
काल

२।१८

द्वितीयधनभावना—१ क्रोध

त्याग २ लोभत्याग ३ भय-

त्याग ४ हास्यत्याग और

५ सूत्रानुगामी — शास्त्रके

अनुसार बचन बोलना ये

पाँच सत्य व्रतकी भावना है

२०।१६२

द्रव्यलेश्या—शरीरका रूप रंग।

इसके ६ भेद हैं—१ कृष्ण

२ नील ३ कापोत ४ पीत

५ पद्म ६ शुक्ल

१०।९६

द्रव्यानुयोग—शास्त्रोंका भेद,

जिसमें द्रव्योंके स्वरूपका

वर्णन रहता है

२।१०७

द्रोमुल्ल—जो नदीके किनारे

बसा हो ऐसा ग्राम

१६।१७३

ध

धनुष—चार हाथका एक धनुष

होता है

१०।९४

धर्म—जो जीव और पुद्गलकी

गतिमें सहायक हो

२४।१३३

धर्मचक्र—तीर्थकरके केवलज्ञान

हो चुकनेपर प्रकट होने-

वाला देवोपनीत उपकरण

इसमें एक हजार अर होते

हैं और वह सूर्यके समान

देदीप्यमान रहता है, विहार-

के समय तीर्थकरके आगे-

आगे चलता है

१।१

धर्मध्यान—ध्यानका एक भेद।

इसके चार भेद हैं १ आशा-

विचय २ अपायविचय

३ विपाकविचय ४ संस्थान-

विचय

२१।१३३-१६७

न

नय-जो वस्तु के एक घर्म (नित्यत्व-अनित्यत्व आदि) की विश्लेषण क्रमसे ग्रहण करे, वह ज्ञान । यह द्रव्याधिक, पर्यायाधिक, निश्चय, व्यवहार आदि के भेदसे अनेक प्रकारका होता है ।

२।१०१

नयुत-संख्याका एक भेद

३।१३५

नयुतांग-संख्याका एक भेद

३।१४०

नखिन-संख्याका एक प्रमाण

३।११३

नवकेवल लक्ष्मियों-१ क्षायिक ज्ञान २ क्षायिकदर्शन ३ क्षायिक सम्पत्ति ४ क्षायिक चारित्र्य ५ क्षायिक दान ६ क्षायिक लाभ ७ क्षायिक मोक्ष ८ क्षायिक उपभोग ९ क्षायिक वीर्य

२०।२६६

नवपदार्थ-जीव, अजीव, आत्मव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं

२।११८

निक्षेप-नय और प्रमाणके अनुसार प्रचलित लोकव्यवहार

२।१०१

निगोद (निगोद)-साधारण वनस्पति काय, जिसके अन्तर्गत अनन्त जीव रहते हैं । इसका दूसरा नाम निगोद प्रसिद्ध है । इसी प्रकारका एक निकोत शब्द भी आता है जो कि सम्मूर्च्छन

जीवोंका वाचक है

निर्यापक-संलेखना - समाधि-की विधि करानेवाला-निर्देशक

५।२३

निर्वेद-संसार - शरीर और भोगोंमें विरक्तता

१०।१५७

निर्वेदिनी-वैराग्यवर्धक कथा

१।१३६

नैऋत्य वतभावना-वाह्याभ्यन्तर भेदसे युक्त पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी सचित्त अचित्त विषयोंमें अनासक्ति

२०।१६६

प

पञ्चारित्काय-१ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश

२४।९०

पत्तन-जो समुद्रके पास बसा हो तथा जिसमें नावोंसे उतरना-चढ़ना होता है

१६।१७२

पदानुसारिन्-पदानुसारी ऋद्धिके धारक

२।६७

पदार्थ-जीव, अजीव, आत्मव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये नौ पदार्थ कहलाते हैं

१।१२१

पद्म-संख्याका एक भेद

३।११८

परमाम-जिसमें पाँच सौ घर हों तथा सम्पन्न किसान हों इसकी सीमा २ कोशकी होती है ।

१६।१६५

परमावधि-अवधिज्ञानका भेद

२।६६

परमेष्ठो-अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये ५ परमेष्ठो कहलाते हैं

५।२३५

पर्याप्त-जिनके शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो चुके हैं

१०।३५

पर्व-संख्याका एक भेद

३।१४७

परिमहपरिच्युति-परिमह त्याग नामक नौवीं प्रतिमा, इसमें आवश्यक वस्त्र तथा निर्वाहयोग्य वस्तुओंके सिवाय सब परिग्रहका त्याग हो जाता है

१०।१६०

पक्ष्य-असंख्यात वर्षोंका एक पल्य होता है

३।५३

पारिषद-बैठोंका एक भेद

२२।२६

पुद्गल-वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसे सहित द्रव्य

२४।१४५

पुद्गलके छह भेद-१ सूक्ष्मसूक्ष्म २ सूक्ष्म ३ सूक्ष्मस्थूल ४ स्थूलसूक्ष्म ५ स्थूल ६ स्थूल-स्थूल

२४।१४९

पुर-जो परिखा, गोपुर, कोट तथा अट्टालिका आदिसे सुशोभित हो, बाग-बगीचे और अलाशयसे सहित हो

१६।१६९-१७०

पुण्यकारण-चारणऋद्धिके एक भेद

२।७३

पूर्वकोटी-एक करोड़ पूर्व कीरसी

लाख वर्षका एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है । ऐसे एक करोड़ पूर्व
३।१५३
पूर्वरंग-नाटकका प्रारम्भिक रूप
२।८८
पृथक्त्व-तीनसे ऊपर और नीचे नीचेकी संख्या
५।२८६
पृथक्त्वध्यान (पृथक्त्ववितर्क)-
शुक्लध्यानका प्रथम पाया
१।१।१०
प्रकीर्णक-फुटकर बसे हुए विमान
१०।१८७
प्रस्थ-सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर नाम
१।१२३
प्रत्येक बुद्ध-वैराग्यका कारण देख स्वयं वैराग्य धारण करनेवाले मुनि
२।६८
प्रथम प्रसन्न भावना-१ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति ३ कायगुप्ति ४ ईर्ष्या समिति और ५ एषणा समिति ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं
२०।१६१
प्रथमानुयोग-शास्त्रोंका एक भेद जिसमें सत्पुरुषोंके कथानक लिखे जाते हैं
२।१८
प्रमाण-जो वस्तुके समस्त धर्मों (नित्यत्व-अनित्यत्व आदि) को एक साथ ग्रहण करे वह ज्ञान
२।१०१
प्रशम-सम्यग्दर्शनका एक गुण,

कषायके असंख्य लोक प्रमाण स्थानोंमें मनका स्वभावसे शिथिल होना
९।१२३
प्रायेणापगम (प्रायोपगम)-
संन्यास
१।१९६
प्रायोपगमन-संन्यासभरणका एक भेद, जिसमें शरीरकी सेवा न स्वयं करते हैं और न दूसरेसे कराते हैं
५।२३४
प्रायोपवेशन-संन्यास-सस्त्रेक्षण
१।१।९४-९५
प्रीतिध्वज-प्रांशधोपवास नामक चौथी प्रतिमा । इसमें प्रत्येक अष्टमी और चतुर्विंशीकी प्रायश्चित्त-उपवासके लिये प्रवृत्ति है
१०।१५९

फ

फलधारण-धारण ऋद्धिका एक भेद । इस ऋद्धिके धारी वृक्षोंमें लगे फलोंपर पैर रखकर खलें फिर भी फल नहीं टूटते हैं
२।७३

ख

खल-बकभद्र, नारायणका भाई, ये भी होते हैं
२।११७
बीजबुद्धि - बीजबुद्धि ऋद्धिके धारक
२।६७
महार्घ-यह सातवीं प्रतिमा है, इसमें स्त्रीमात्रका त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है
१०।१६०

भ

भट्ट-जिसे सिद्धि-भुक्ति प्राप्त हो सके ऐसा जीव
२४।१२८
भावम-भवनवासी देव
१३।१३
भावलेख्या - कषायके उदयसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्ति
१०।१७
भुक्ति-भोगका क्षेत्र
१०।१८५
भोजनांग-सब प्रकारका भोजन देनेवाला एक कल्पवृक्ष
३।३९

म

महम्भ-जो पाँच सौ गर्वोंसे घिरा हो ऐसा नगर
१०।१७२
मद्यांग-एक कल्पवृक्ष, इससे अनेक रसोंकी प्राप्ति होती है
३।३९
मधुखाविन्-मधुखाविणी ऋद्धि-के धारक
२।७२
मनोगुप्ति-मनको बशमें करना
२।७७
मनोबलिन - मनोबल ऋद्धिके धारक
२।७२
मातृकापद-१ ईर्ष्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदान निक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा १ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति ये तीन गुप्तिर्याँ ये आठ मातृकापद अथवा प्रवचनमातृका कहलाती हैं । माताहक भी यही हैं
२४।१६८

मात्राष्टक-ईयाँ, भाषा, एषणा
आद्यान निक्षेपण और प्रति-
ष्ठापन ये पाँच समितियाँ
तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति
और कायगुप्ति ये ३
गुप्तियाँ

११६५

१४ मार्गशार्ङ्ग-१ गति २ इन्द्रि-
य ३ काम ४ योग ५ वेद
६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम
९ दर्शन १० लेख्या ११
भव्यत्व १२ सम्भवत्व १३
संश्लेष और १४ आहारक
२४।९४-९६

मुक्तावली-एक तपका नाम

७।३०

मोक्ष-आत्माका कर्मोंसे सर्वथा
सम्बन्ध छूट जाना

२।११८

र

रज्जु-असंख्यात योजनकी एक
रज्जू-राज्जू होती है

१०।१८५

रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,
सम्यक्चारित्र्य

१।४

रत्नावली-एक तप

७।४४

रुचि-सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर

९।१२३

रौद्रध्यान-ध्यानका एक भेद।
इसके चार भेद हैं-१ हिंसा-

नन्द २ मृषानन्द ३ स्तेया-
नन्द ४ विषयसंरक्षणानन्द

३१।४२-५४

स

लोक-जहाँतक जीव, पुद्गल, धर्म,
अधर्म, आकाश और काल ये
छहो द्रव्य पाये जाते हैं उस

१४ राजू ऊँचे और ३४३

राज्जू वनफलवाले आकाश
को लोक कहते हैं

१।१२

लोकपाक-देवोंका एक प्रकार, ये
देव कोतवालके समान नगर-
के रक्षक होते हैं

१०।१९२

व

वचोवलिन्-वचनबल ऋद्धिके
धारक

२।७२

वन (चतुर्विध)-१ भद्रशालवन
२ नन्दनवन ३ सीमनसवन
४ पाण्डुकवन

२५।६

वन्य-व्यन्तर देव, इनकी किन्नर,
किंपुष्प, महोरग, गन्धर्व,
यक्ष, राक्षस, भूत और
पिशाच ये आठ भेद होते हैं

१३।१३

वारगुप्ति-वचनको वशमें करना

२।७७

वाग्निप्रद-एक ऋद्धि २।७१

विकृष्टग्राम-जिसमें सौ घर हों
ऐसा ग्राम। इसकी सीमा
१ कोशकी होती है

१६।१६५

विक्रियर्द्धि - एक ऋद्धिविशेष
इसके आठ भेद हैं-अणिमा,
महिमा, गरिमा, लघिमा,
प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व,
और वशित्व

२।७१

विश्वेपिणी-परमसत्ता निराकरण
करनेवाली कथा

१।१३५

विपुलमति-विपुलमतिमनःपर्यय-
ज्ञान ऋद्धिके धारक

२।६८

विमर्ग-मिथ्या अवधिज्ञान

५।१०५

विभूषणांग-आभूषण देनेवाला
कल्पवृक्ष

३।३९

वैराग्यस्थैर्यभावना-विषयोंमें

अनासक्ति, कायके स्वरूपका

बार-बार चिन्तन करना और

जगत्के स्वभावका विचार

करना। ये वैराग्यस्थैर्य

भावनाएँ हैं

२१।९९

व्रतोंकी ४ उत्तर भावना-१

धृतिमत्ता-धैर्य धारण करना

२ क्षमावत्ता-धमा धारण

३ अकृता ३ ध्यानैकतानता-

ध्यानमें लीन रहना ४ परी-

षहोंके आनेपर कार्यसे

व्युत् नही होना

२०।१६६

व्रतोद्योत-दूसरी व्रत प्रतिमा

जिसमें ५ धनुव्रत ३ गुण-

व्रत और ४ शिक्षाव्रत ये

१२ व्रत धारण करने

पड़ते हैं

१०।१५९

श

शिक्षाव्रत-जिनसे मुनिव्रत धारण

करनेकी शिक्षा मिले। ये

चार हैं-सामायिक, प्रोषधो-

पवास, अतिथिसंविभाग और

संन्यास-सत्लेखना। कोई-

कोई आचार्य सत्लेखनाका

पृथक् निरूपण कर उसके

स्थानपर अतिथिसंविभाग

व्रत अथवा वैद्याव्रतका

वर्णन करते हैं

१०।१६६

मुक्छब्धान-ध्यानका एक भेद
इसके चार भेद हैं १ पृथक्त्व
वितर्कशीचर २ एकत्व
वितर्क ३ सूक्ष्मक्रियाप्रति-
पाति और ४ व्युपरतक्रिया
निवर्ति

पर्यायशब्दः :- अविच्छिन्नं चैव शुचिं चैव सत्त्वं चैव

अब्दा-सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर
नाम

१।१२३

अमण संघके चार भेद-१ ऋषि
२ मुनि ३ यति ४ अनगर
२५।६

श्रुतकेवली-पूर्ण श्रुतज्ञानके धारक
मुनि
२।६१

श्रुतज्ञान-एक व्रतका नाम, इसकी
विधि द्वां पर्वके १४६ से
१५१ श्लोक तक है

६।१४१

श्रुतज्ञानविधि-एक तप
७।५३

श्रेणीचारण-चारणऋद्धिका एक
भेद
२।७३

श्रेणीवद्ध-श्रेणीके अनुसार बसे
हुए विमान
१०।१८७

प

षड्गुण्य-जीव, पुद्गल, धर्म,
अधर्म, आकाश और काल
ये छह द्रव्य हैं
२।११८

स्व

सच्चित्तसेवाविरति - सच्चित्त त्याग
नामक पाँचवीं प्रतिभा ।
इसमें सच्चित्त वनस्पति तथा
कच्चे पानीका त्याग
होता है
१०।१५९

सत्संख्याप्रनुयोग-१ सत् २
संख्या ३ क्षेत्र ४ स्पर्शन ५
काल ६ अन्तर ७ भाव
और ८ अल्प बहुत्व
२४।९७

सद्दर्शन-दर्शन प्रतिमा धारककी
प्रतिमा जिसमें आठ
मूल गुणोंके साथ सम्यग्दर्शन
धारण करना पड़ता है
१०।१५९

ससांग-कथामूलके निम्नलिखित
सात अंग हैं-१ द्रव्य २
क्षेत्र ३ तीर्थ ४ काल ५
भाव ६ महाफल और
प्रकृत
१।१२२

ससामुधि-सात सागर
५।१४३

समता-सामायिक नामक तीसरी
प्रतिमा, इसमें दिनमें ३ बार
कमसे-कम दो-दो घड़ी
पर्यन्त सामायिक करना
पड़ता है
१०।१५९

समाहित-समाधिमरणसे युक्त
पुरुष
१०।११८

सम्यक्चारित्र-मोक्षामिलायी एवं
संसारसे निःस्पृह मुनिकी
माध्यस्थ्य वृत्तिकी सम्यक्-
चारित्र कहते हैं
२४।११९

सम्यक्स्वभावना-संवेग, प्रशम,
स्वैर्य, असंभ्रमता, अस्मय-
गर्व नहीं करना, आस्तिक्य
और अनुकम्पा ये सम्यक्स्व
भावनाएँ हैं
२१।९७

सम्यग्ज्ञान-जीवादि पदार्थोंकी
यथार्थताको प्रकाशित
करनेवाला ज्ञान
२४।११८

सम्यग्दर्शन-सुक्चे देव-शास्त्र-
गुरुका श्रद्धान अथवा
जीवादि सात तत्त्वोंका
श्रद्धान
१।१२१, १२२

सर्पिःचाविन्-वृत्तसाविणो ऋद्धि-
के धारक
२।७२

सर्वतोभद्र-एक व्रतका नाम
७।२३

सर्वावधि - अवधिज्ञानका एक
भेद
२।६६

सर्वौषधि-एक ऋद्धि
२।७१

सकलेखना-समाधिमरण
५।२४८

सामानिक-देवोंका एक भेद जो
कि इन्द्रके माता-पिता
आदिके तुल्य होता है
६।९

सिद्ध-दृष्ट कर्मसे रहित त्रिलोक-
के अथ भागपर निवास
करनेवाले जीव
२४।१३०

सिद्धके आठ गुण-१ सम्यक्त्व
२ दर्शन ३ ज्ञान ४ दीर्य
५ सौम्य ६ अवगाहन ७
अव्यावाच ८ अगुरुलघुता
२०।२२३-२२४

सुदर्शन-एक तप
७।७७

सुवमा - अवसर्पिणीका दूसरा
काल
३।१७

सुषमासुषमा - अवगणिनीका
पहला काल

२।१७

सूक्ष्म-कार्मणस्कन्ध

२४।१५५

सूक्ष्म-अणु स्कन्धके भेदोंकी
अपेक्षा द्वयणुक

२४।१५०

सूक्ष्मराग-रमणी गुणस्थान

२४।१५१

सूक्ष्मसूक्ष्म - अणुस्कन्धके भेदों-
अपेक्षा द्वयणुक

२४।१५०

सूक्ष्मस्थूल-जो आँखोंमें न
दिखे पर अन्य इन्द्रियोंमें
ग्रहणमें आवे जैसे शब्द
स्पर्श, रस, गन्ध

२४।१५१

संकल्प-विषयोंमें तूण्णा बढ़ाने-
वाली मसकी वृत्तिकी
संकल्प कहते हैं। इसीका
दूसरा नाम दुष्प्रणिधान
भी है

२१।२५

संग्रह-रस गीर्वाँके बीचका बड़ा
गीर्वा

१६।१७६

संभिन्नधोतृ - संभिन्नधोतृ ऋद्धि
के धारक

२।६७

संवाह-जहाँ सस्तक पर्यन्त ऊँचे-
ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों
ऐसा ग्राम

१६।१७३

संवेग-मध्यदर्शनका एक गुण -
धर्म और धर्मके फलमें
उत्साह युक्त मनका होना
अथवा चतुर्गतिके दुःखोंसे
भयभीत रहना

संवेदिनी-धर्मका फल वर्णन
करनेवाली कथा

१।१३६

संसार जीवके २ भेद-१ भव्य
२ अभव्य

२४।८८

सिद्धनिष्क्रीडित-एक प्रतका
नाम

७।२३

स्कन्ध-द्वयणुकसे लेकर लोकल्ल
महास्कन्ध तकका पुद्गल
प्रचल स्कन्ध कहलाता है

२४।१४७

स्थविर कल्प-मुनिप्रतका पालन
करते हुए साथ-साथ विहार
करना स्थविर कल्प है

२०।१७०

स्थूल-जो अलग करनेपर अलग

हो जाये और मिल्नेपर
मिल जाये जैसे तेल पानी
आदि

२८।१५३

स्थूल स्थूल-जो अलग करनेपर
अलग हो जाये और मिलाये-
पर न मिले जैसे पत्थर
आदि

२४।१५३

स्थूल सूक्ष्म-जो आँखोंसे दिखे
पर पकड़नेमें न आवे जैसे
बाँदनी आभूषण आदि

२४।१५२

स्पर्श-सुष्यदर्शनका पर्यायांतर
नाम

९।१२३

स्वयंभुव-शास्त्र कारणोंके बिना
स्वयं विरक्त होनेवाले मुनि

२।६८

स्वोद्दिष्टपरिचर्जन - उद्दिष्टयाग
नामक ग्यारहवीं प्रतिमा।
इसमें अपने उद्देश्यसे बनाये
हुए आहारका भी त्याग
हो जाता है

१०।१६०

स्रगङ्ग-सब प्रकारकी मालाएँ
देनेवाला कल्पवृक्ष

३।३९

भौगोलिक शब्दसूची

सामयिक :- आचार्य श्री सुविद्यलामर जी शर्मा

इस सूचीके अन्तर्गत दिये गये भौगोलिक शब्दोंका परिचय मुख्य रूपसे सक्षेपमें आदिपुराणके आधारसे दिया गया है । आधुनिक भूगोलकी दृष्टिसे इन सबका विशेष अध्ययन अपेक्षित है ।

अ
अक्षोभ्य-वि. उ. श्रे. का एक
नगर

१९।८५

अग्निस्वालय-वि. उ. श्रे. का
एक नगर
१९।८३

अङ्ग-भागलपुरका पार्श्ववर्ती
प्रदेश
१९।१५२

अच्युत-सोलहवीं स्वर्ग
१०।२४

अंजनशैल - नन्दीश्वर द्वीपके
अंजनगिरि
७।९९

अंजना-चौथी पृथिवी
१०।३२

अधोद्वेष्यक-सोलह स्वर्गोंके ऊपर
नौ द्वेष्यक विमान हैं ।
नीचेके तीन विमान अधो-
द्वेष्यक कहलाते हैं
९।९३

अनुदिश-अच्युत कल्पका अनु-
दिश नामक विमान
७।४४

अपराजित नगर-वि० उ० श्रे०
का नगर
१९।४८

अमरावती-हृत्की नगरी
६।२०५

अम्बरतिलक-विदेहका एक पर्वत
७।५२

अम्बरतिलक-वि० उ० श्रे० का
एक नगर
१९।८२

अयोध्या-धातकी खण्डके पूर्व
भागस्थ पश्चिम विदेहक्षेत्रके
गन्धिल देशकी एक नगरी
७।४१

अयोध्या-उत्तर प्रदेशकी प्रसिद्ध
नगरी
१२।७६

अर्जुनो-वि. उ. श्रे. की एक
नगरी
१९।७८

अरजस्का-वि. द. श्रे. का एक
नगर
१९।४५

अरिजय-वि. द. श्रे. का एक
नगर
१९।४१

अरिष्टपुर-पूर्व विदेहके महाकच्छ
देशका एक नगर
५।१९३

अरिष्टा-पाँचवीं पृथिवी
१०।३२

अलका-विजयार्ध पर्वतकी उत्तर
श्रेणीपर स्थित एक नगरी
४।१०४

अत्रवती - एक देश । उज्जैनका
पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५२

अश्मक-एक देश
१६।१५२

अशोका-वि. उ. श्रे. का एक
नगर
१९।८१

आनर्त-एक देश
१६।१५३

आन्ध्र-दक्षिणका एक देश
१६।१५४

अभिसार-एक देश
१६।१५५

आमीर-एक देश
१६।१५४

आरह-एक देश
१६।१५६

उ
उग्र (उष्ण)-एक देश
१६।१५२

उत्तर कुरु-विदेह क्षेत्रके अन्त-
र्गत एक प्रदेश जहाँ उत्तम
भोगभूमि है
३।२४

उत्पलखेटक-विदेह क्षेत्र पृष्क-
लावती देशका एक नगर
६।२७

उदङ्कुरु-उत्तर कुरु-मेद पर्वत-
की उत्तर दिशामें वर्तमान
विदेह क्षेत्रका एक भाग
जहाँ उत्तम भोगभूमिकी
रचना है
५।९८

उशीनर-एक देश
१६।१५३

ऊर्मिमालिनी-विमंगा नदी
४।५२

ऋ
ऋतु-सौधर्म स्वर्गके प्रथम पटल-
का हृत्कविमान
१३।६७

ए
ऐशानकश्य-दूसरा स्वर्ग
५।२५३

भौगोलिक शब्दसूची

६५६

क
कच्छ—एक देश
१६।१५२
कनकाद्रि—सुमेरुपर्वत
३।६५
कर्णाट—दक्षिणका एक देश
१६।१५४
करहाट—एक देश
१६।१५४
कलिंग—आधुनिक नाम उड़ीसा
१६।१५२
काँचन — ऐशानरवर्गका एक विमान
८।२१३
काम्बोज—काबुलका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५६
काशी—एक देश । वाराणसीका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५१
काश्मीर—एक देश
१६।१५३
किलरगोल—वि० द० श्रे० का एक नगर
१९।३३
किष्कामित—विजयार्ध की द० श्रे० का एक नगर
१९।३२
किलिकिल—वि० उ० श्रे० की एक नगरी
१९।७८
कुण्डल—कुण्डलवर द्वीपमें स्थित एक चूड़ीके आकारका पर्वत
५।२९१
कुन्ध—वि० उ० श्रेणीका एक नगर
१९।८२

कुमुद—वि० उ० श्रे० का एक नगर
१९।८२
कुरु—एक देश । मेरठका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५२
कुरुजांगल—हस्तिनापुरका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५३
कंकय—एक देश
१६।१५६
कंजुमाला—वि. उ. श्रे. का एक नगर
१९।८०
केरल—दक्षिण भारतका देश
१६।१५४
कैलास बाहणी—वि. उ. श्रे. की एक नगरी
१९।७८
कोंकण—एक देश । पूनाका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५४
कांसल—अयोध्याका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५४
क्षेमपुरी—वि. द. श्रे. की एक नगरी
१९।४८
क्षेमकर—वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।५०
ख
खचराचल—विजयार्ध पर्वत
५।२९१
खेचराद्रि—विजयार्ध पर्वत
४।१९८
ग
गगनचरी—वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।४९

गगननन्दन—वि. उ. श्रे. का एक नगर
१९।८१
गगनचखलम—वि. उ. श्रे. का एक नगर
१९।८२
गजदन्त—मेरु पर्वतके काणमें स्थित चार गजदन्त नामक पर्वत
५।१८०
गन्धर्वपुर—वि. उ. श्रे. का एक नगर
१९।८३
गन्धिला—विदेहका एक खण्ड
४।५१
गह्वरभञ्ज—वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।३९
गान्धार—एक देश
१६।१५५
गिरिशिखर—वि. उ. श्रे. का एक नगर
१९।८५
गोर्क्षार—वि. उ. श्रे. का एक नगर
१९।८५
घ
घर्मा—पहला नरक = रत्नप्रभा
१०।२९
घ
चतुर्मुखी—वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।४४
चन्द्रपुर—वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।५२
चन्द्राभ—वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।५०

६५०

आदिपुराणम्

अमर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१०९	त तमःप्रभा-छठी पृथिवी (छठा नरक) १०१३१	भारणी-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१८५
भारणी-वि. उ. श्रे. का एक नगरी १९१७८	तमस्तमःप्रभा-सातवीं पृथ्वी १०१३१	भारती खण्ड-इस नामका दूसरा द्वीप इसका विस्तार ४ लाख योजन है ६१२२६
चित्रकूट-वि. द. श्रे. का एक नगर १९१५१	तिलका-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१८२	भान्यपुर-एक नगर ८१२३०
चित्रांगद-ऐशान स्वर्गका विमान १११८९	तुरुक-एक देश-तुर्क १९११५९	भूमप्रभा-पाँचवीं पृथिवी १०१३१
भूडामणि-वि. उ. श्रे. की एक नगरी १९१७८	त्रिकूटा-वि. द. श्रे. का एक नगर १९१५१	ध्यानचक्र-आत्तध्यान, रीढ़- ध्यान, धर्म्यध्यान, सुबल- ध्यान ५११५३
खेदि-एक देश। खन्देरीका पार्श्व- वर्ती प्रदेश १६११५५	द दुष्टार्ण-आधुनिक विशिष्टाका पार्श्ववर्ती प्रदेश १६११५३	न नन्द-ऐशान स्वर्गका विमान ९११९०
खोल-दक्षिण भारतका एक देश १६११५४	द्वार-एक देश १६११५४	नन्दन-मेरु पर्वतका एक वन २११४४
ज जगन्नाथी-लोकनाथी १४ राजु प्रमाण लोकके मध्यमें स्थित एक राजु चौड़ी एक राजु घोटी और १४ ऊँची नाड़ी। इसे पसनाड़ी भी कहते हैं २१५०	दुर्ग-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१८५	नन्दीद्वार-आठवाँ द्वीप जहाँ ५२ जिनालय हैं ५१२९२
जम्बुद्वीप-विदेह क्षेत्रका एक प्रसिद्ध वृक्ष जिसके कारण इस द्वीपका नाम जम्बुद्वीप पड़ा ५११८४	दुर्धर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१८५	नन्दोत्तरा-समवसरणकी एक वापिकाका नाम नन्दोत्तरा, नन्दा, नन्दवती, नन्दघोषा ये चार वापिकाएँ पूर्वमानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें हैं।
जम्बुद्वीप-पहला द्वीप ४१५१	द्वेषकुरु-विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत एक प्रदेश जिसमें उत्तम- भोगभूमिकी रचना है ३१२४	विजया, वजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये चार वापिकाएँ दक्षिण मान- स्तम्भकी पूर्वादि दिशाओं- में हैं।
जय-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१८४	द्वेवादि-मुनेरुपर्वत ४१५२	शोका, सुप्रतिबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरीका ये चार वापिकाएँ पश्चिम मानस्तम्भ- की पूर्वादि दिशाओंमें हैं।
जयन्ती-वि. द. श्रे. का एक नगर १९१५०	दुतिलक-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१८३	हृदयानन्दा, महानन्दा,
	दुतिलक-अम्बरतिलक पर्वत ७१९९	
	ध धनजय-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९१६४	

मुप्रबुद्धा और प्रभंकारी ये चार बापिकाएँ उत्तर दिशा-के मानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें हैं २२।११०	प्रभाकर-ऐशान स्वर्गका एक विमान ९।१९२	बंग-बंगाल १६।१५२
नन्दावर्त-ऐशान स्वर्गका एक विमान ९।१९१	प्रभाकरपुरी-पुष्करवर द्वीपस्थ विदेहकी एक नगरी ७।३४	बलाहक-वि. उ. श्रे. को एक नगरी १९।७९
नरगात-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।३४	पाटलीग्राम-घातकी खण्ड विदेह क्षेत्र गन्धिला देशका एक नगर ६।१२७	बहुकमुक-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।३५
निर्योधाहिनी-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५२	पाण्डुक-मेरुका एक वन ५।१८३	बहुमुखी-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४५
निर्योधोतिनी-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५२	पाशात्रि-प्रत्यन्त पर्वत ५।१७९	भ भद्रपाल-मेरुका एक वन ५।१८२
निमिष-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८३	प्राग्विश्व-पूर्वविदेह ५।१९३	भद्राश्व-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८४
निषध-एक कुलाचल जिसपर सूर्योदय और सूर्यास्त होते हैं १२।१३८	प्राणत-चौदहवाँ स्वर्ग ७।३९	भरत-भरतक्षेत्र १५।१५८
नील-एक कुलाचल ५।१०९	प्रीतिवर्द्धन-एक विमान ७।२६	भारत - हिमवत्कुलाचल और लवणसमुद्रके बीचका क्षेत्र जो कि ५२६६६ वर्ग योजन विस्तारवाला है १५।१५९
प पंकप्रभा-घोषी पृथिवी १०।३१	पुण्ड्र-आधुनिक बंगालका उत्तरी भाग, अपर नाम गोड देश १६।१५२	भूमितिलक-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८३
पञ्चमाण्ड-औरसागर १३।११२	पुण्डरीक-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।३६	म मगध-बिहारप्रदेश राजगृहीका पादर्ववर्ती प्रदेश १६।१५३
पञ्जाल-एक देश १६।१५३	पुरंजय-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४३	मघवी-छठी पृथिवी १०।३२
पल्लव-दक्षिणका देश १६।१५५	पुरिमताल-एक नगर २४।१७१	मंगलावली-विदेहक्षेत्रका एक देश ७।१४
पल्लवपर्वत-घातकी खण्ड विदेह क्षेत्र गन्धिला देशका एक ग्राम ६।१३५	पुष्कलावली-विदेहका एक देश ६।२६	मणिष-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८४
प्रभा-दूसरे स्वर्गका विमान ८।२१४	पुष्पचूल-वि. उ. श्रे. की एक नगरी १९।७९	मनोहर-एक उद्यान १।८६
	पूर्वमन्दर-पूर्वमेरु ७।१३	मन्दर-मेरु पर्वत ५।२९०
	फ फेन-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८५	

मन्दिर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८२	रतिकूट-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५१	वज्रागल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४२
महाकच्छ-पूर्व विदेहका एक देश ५।१९३	रत्नपुर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८७	वस्त-एक देश १६।१५३
महाकूट-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५१	रत्नप्रभा-पहलो पृथ्वी (पहला नरक) १०।३१	वस्तकावती-पुष्करार्धके पश्चि- भागस्थ पूर्व विदेहका एक देश ७।३३
महाउद्याल-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८४	रत्नसञ्जय-पुष्कर द्वीपके पूर्व विदेहसम्बन्धी संगलावती देशका एक नगर १०।११५	वनवास-दक्षिण भारतका एक देश १६।१५४
महापूजिनालय-एक मन्दिरका नाम ६।१७९	रत्नसञ्जय-विदेह क्षेत्र मङ्गला- वती देशका एक नगर ७।१४	वसुमती-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८०
महाराष्ट्र-एक देश १६।१५४	रत्नाकर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८६	वसुमत्क-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८०
महोन्नपुर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८६	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	वाह्नीक-एक देश १६।१५६
माधर्वा-सातवीं पृथिवी १०।३२	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विचित्रकूट-वि. द. श्रे. का एक कूट १९।५१
मानुषोत्तर पर्वत-पुष्करवर द्वीपके मध्यमें स्थित चूड़ीके आकार का एक पर्वत ५।२९१	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विजयपुर-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८६
मालव-एक देश १६।१५३	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विजयपुर- एक नगर ८।२२७
माहेन्द्र-चोथा स्वर्ग ७।११	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विजया-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५०
मुक्ताहार-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८३	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विजयार्द्ध-विजयार्द्ध पर्वत, इनकी अर्द्ध द्वीपमें १७० संख्या है ४।८१
मेखलाभनगर-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४८	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विदर्भ-हरार १६।१५३
मेवकूट-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५१	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	विदेह-मिथिलाका पार्श्ववर्ती एक देश १६।१५५
यवन-एक देश (यूनान) १६।१५५	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	
रुचक-रुचकवर द्वीपमें स्थित एक पर्वत ५।२९१	रथपुरचक्रवाल-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।४६	

विदेह-जम्बूद्वीपका एक क्षेत्र
४१५३

विष्णुप्रभ-वि. उ. धे. की एक
नगरी
१९१७८

विनीता-अयोध्याका नाम
१९१७८

विनेयवरी-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४९

विपुलाद्रि-राजगृहीका प्रथम
पर्वत
१११९९

विमान-देवोंका निवासस्थान
१०१२०८

विमुखी-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१५२

विमोच-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४३

विरजस्का-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४५

विशोका-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१८१

वीतशोका-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१८१

वैजयन्ती-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१५०

वैतरणी-नरककी नदी
५१११०

वैश्रवणकूट-वि. द. धे. की एक
नगर
१९१५१

वैशा-दूसरा नरक = शर्कराप्रभा
१०१२९

वंशाल-वि. उ. धे. की एक
नगरी
१९१७९

श

शक-एक देश

१६१५६

शकटमुखी-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४४

शकुन्तल-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१८०

शर्कराप्रभा-दूसरी पृथिवी
१०१३१

शशिप्रभा-वि. उ. धे. की
नगरी
१९१७८

शास्मलि-विदेहक्षेत्रका एक
प्रसिद्ध वृक्ष
५११८४

शिला-तीसरी पृथिवी, इसका
दूसरा लड़ि नाम मेघा भी है
१०१३२

शिवकुर-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१७९

शिवमन्दिर-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१७९

शुक्रपुर-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४९

शूरसेन-एक देश
१६१५५

श्रीधर-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४०

श्रीनिकेत-वि. उ. धे. का एक
नगर

१९१८४

श्रीप्रभ-ऐशान स्वर्गका एक
विमान
५१२५४

श्रीप्रभ-एक पर्वत
१११९४

श्रीप्रभ-एक पर्वत
१०१३

श्रीप्रभ-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१४०

श्रीवास-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१८४

श्रीहर्म्य-वि. उ. धे. का एक
नगर
१९१७९

श्वेतकेतु-वि. द. धे. का एक
नगर
१९१३८

स

सज्जयन्ती-वि. द. धे. का
एक नगर
१९१५०

समुद्रक-एक देश
१६१५२

सर्वार्थसिद्धि-पञ्च अनुत्तर
विमानोंका सध्यवर्ती विमान
१११११

सरयू-अयोध्याकी निकटवर्ती
एक नदी
१४१६९

साकेत-अयोध्याका नाम
१२१७७

सिद्धकूट-विजयार्थका एक कूट
५१२२९

सिद्धार्थक वन - अयोध्याका निकटवर्ती एक वन जहाँ भगवान् आदिनाथने दीक्षा धारण की थी १७।१८२	सुदर्शन-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८५	सौवार्-एक देश १९।५५
सिद्धार्थक-वि. उ. श्रे. का एक नगर मिद्धावन - विजयार्थ पर्वतके सिद्धकूट सम्बन्धी जैत्यालय के समीप १९।१४	सुप्रतिष्ठित-एक नगर ८।२३४	स्वपादगिरि - प्रत्यन्त पर्वत (गजदन्त पर्वत) १३।७६
सिन्धु-एक देश १६।१५५	सुमुखी-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५२	स्वयंप्रभ-सौधर्म स्वर्गका एक विमान ९।१०७
सिंहध्वज-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।३७	सुरावि-सुमेरु पर्वत ४।१९८	स्वयम्भूम-ऐशान स्वर्गका एक विमान ९।१८६
सिंहपुर-पश्चिम विदेहके गन्धिका देशका एक नगर ५।२०३	सुराष्ट्र-सौराष्ट्र देश गिरिनारका पार्श्ववर्ती प्रदेश १६।१५४	स्वयम्भूरमण-अन्तिम द्वीप ७।९९
सीतोदा - विदेह क्षेत्रकी एक महा नदी ५।१८१	सुरेन्द्रकान्त-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८१	स्वयम्भूरमणोदधि-अन्तिम समुद्र ७।९७
सुकोसल-एक देश । आधुनिक नाम मध्यप्रदेश अपर नाम महाकोसल १६।१५२	सुर्मीमानगर-जम्बूद्वीप-पूर्वविदेह क्षेत्र महावत्स देशका एक नगर १०।१२२	ह हरिवर्ष-जम्बूद्वीपका दक्षिण दिशा सम्बन्धी तीसरा क्षेत्र ३।५०
सुगन्धिनी-वि. उ. श्रे. का एक नगर १९।८६	सुक्ष-एक देश १६।१५२	हंसगर्म-वि. उ. श्रे. की एक नगरी १९।७९
	सूर्यपुर-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५२	हास्तिनाख्यपुर-हस्तिनापुर ८।२२३
	सूर्याम-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५०	हेमकूट-वि. द. श्रे. का एक नगर १९।५१
	सौमनस-मेरुका एक वन ५।१८३	

व्यक्तिवाचक शब्दसूची

संस्कृत-अंग्रेजी और मुद्रित-अंग्रेजी की व्याख्या

अ
अकम्पन-वज्रमङ्गल का सेनापति
८।११६
अकम्पन-नाथवंशका नायक,
वाराणसीका राजा जिसे
भगवान् आदिनाथने स्था-
पित किया था दूसरा नाम
श्रीधर १६।२६०
अक्षर्य-भगवान्के १००८
लक्षणोंमें एक लक्षण २५।१४४
अक्षर्य-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, न क्षेतुं शक्योऽमर्यः
अविनाशोत्तर्यः २४।३५
अक्षर्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७३
अक्षर-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, न क्षरतीति
अक्षरो नित्यः २४।३५
अक्षर-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २५।१०१
अक्षोभ्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११४
अखिलज्योतिस्-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।२०९
अगण्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३७
अगाध-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४९
अघाह-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७३
अगोचर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८७
अग्रज-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१५०

अग्रणी-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११५
अग्रिम-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५०
अग्र्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २४।३७
अग्र्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१५०
अवस्थिति-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।११४
अचल-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२८
अचिन्त्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६४
अचिन्त्यर्द्धि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५०
अचिन्त्यचैतन्य-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१४०
अचिन्त्यात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०४
अच्छेद्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम
२५।२१५
अच्युत-भगवान् आदिनाथका
पुत्र १६।३
अच्युत-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, अनन्तज्ञानादि-
भिर्गुणैर्न च्युत इत्यच्युतः
२४।३४
अच्युत-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०९
अज-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, जन्मरहितवान्

अजः, न जायते इति अजः
२४।३०
अज-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०६
अजम्भन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०६
अजर-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, न विद्यते जरा
वार्धक्यं यस्य सोऽजरः
२४।३४
अजर-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०९
अजर्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०९
अजात-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७१
अजित-द्वितीय तीर्थंकर १।१६
अजित-द्वितीय तीर्थंकर २।४२
अजित-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६९
अजितजय-जयवर्मा और
सुप्रभाका पुत्र ७।४१
अजितजय-विदेहका एक
चक्रवर्ती ७।४५
अजितेशी-अजितनाथ नामक
दूसरे तीर्थंकर २।१२८
अजितजय-वत्सकाश्रमी सुमीमा
नगरका राजा ७।६२
अजित-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम, अति-
शयेन अणुः २५।१२२
अणीयस्-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, अतिशयेन
अणुः अणीयान् २४।४३

अणोरणीयस्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७६	अभिधेवता-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९२	अमन्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०९
अतन्द्रालु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०७	अभिध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५७	अनन्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६०
अतिगृध्र-प्रभाकरी पुरीका राजा ८।१९२	अभिध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८९	अनन्तग - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२९
अतिविक्र-अलका नगरीकी राजा एक विद्याधर ४।१२२	अभिधान - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३	अनन्तजित्-वीरहमें अनन्तनाथ तीर्थकर २।१३१
अतिबल-महाबलका पुत्र ५।२२८	अध्यामगम्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८८	अनन्तजिद् - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, अनन्तः संसारस्ते जयतीति अनन्तजिद् २५।१०४
अतिबल-धानकी खण्ड विदेह-क्षेत्र पुष्कलावती देश पुण्डरीकिणो नगरीके राजा धर्मजय और रानी यशस्वतीका पुत्र (नारायणपदका धारक) ७।८१	अध्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।४१	अनन्तदीप्ति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११२
अतीन्द्र-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८	अध्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	अनन्तधामर्षि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८६
अतीन्द्रिय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८	अध्वर्यु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	अनन्तमति-आनन्द पुरोहितकी माँ ८।२१७
अतीन्द्रियार्थहृक्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८	अनक्ष-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, न विद्यस्तेऽपि इन्द्रियाणि यस्य सोऽनक्षः, आयिकज्ञानयुक्त्वेन क्षायोपशमिकज्ञानजनितभावेन्द्रियरहितत्वात् नाम्नः सार्थकत्वम् २४।३५	अनन्तमति-तन्दिपेय राजाकी स्त्री १०।१५०
अतुल-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०	अनक्षर-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, न विद्यते क्षरो नाशो यस्मात् सोऽनक्षरः २४।३५	अनन्तमती-पुण्डरीकिणोके कुबेर-दत्त कणिकी स्त्री ११।१४
अधर्मधृक्(अधर्महृ)-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६	अनध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२	अनन्तद्वि - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५०
अधर्मरि-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३९	अनध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८६	अनन्तविजय-भगवान् ऋषभदेवका पुत्र १६२
अधिक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७१	अनणु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७६	अनन्तवीर्य-भगवान् ऋषभदेवका पुत्र ६।३
अधिगुरु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७१	अनख्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७१	अनन्तशक्ति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१५
अधिउयोति - भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, अधिकं लोकोत्तरं उयोतिः प्रभा केवलज्ञानं वा यस्य सः २४।३४	अनन्त-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, ब्रह्माधिकन्यापेक्षया न विद्यतेऽन्तो यस्य सोऽनन्तः । अन्तरहितः २४।३४	अनन्तात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०७
		अनन्तौजस्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०५
		अनलप्रभ - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९८
		अनश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०१

अनादि-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम, न विद्यते
आदिर्यस्य न अनादिः द्रव्या-
धिकनयव्यपेक्षयानादित्वम्
२४।३४

अनादिनिधन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११४

अनामय - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१७

अनामय - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१७

अनाश्रान् - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७१

अनिश्वर-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम, न एवं गन्तुं
कीलं यस्य स अनित्वरः
२४।४४

अनिश्रालु - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०७

अनिश्वर - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६७

अनिन्द्रिय - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४८

अनीहश्-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१८७

अनीह्वर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०३

अनुत्तर-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।४३

अनुत्तर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३३

अनुन्धरी-वज्रजङ्घकी बहन
८।३३

अशक्त-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६८

अपराजित-बोधपूर्वके ज्ञाता
एक मुनि १२।१४१

अपराजित-वज्रसेन और ओ-
कान्ताका पुत्र (तकुलका
जीव) ११।१०

अपराजित सेनानी-अकंपन सेना-
पतिका पिता ८।२१६

अपार-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।४२

अपारधी-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१२

अपारि-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, अपगता अरयो
यस्य सः अपारि २४।४२

अपुनर्मव-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१००

अप्रतर्क्यात्मन्-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१८०

अप्रतिघ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०१

अप्रतिघ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०३

अप्रमेयात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६३

अवध्वन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०४

अमध्य-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।४२

अभवबोध-विदेहके एक चक्रवर्ती
१०।१४३

अमयंकर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२११

अमय-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।११८

अमिचन्द्र-दत्तर्षी कुलकर ३।१२९

अमिनन्दन-चतुर्थ तीर्थंकर
२।१२८

अमिनन्दन-एक मुनि ७।४२

अमिनन्दन-एक योगीन्द्र ७।४५

अमिनन्दन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६७

अमीष्ट-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६८

अमेघ-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१७१

अभ्यक्ष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५०

अभ्यर्च्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९०

अमक-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।११२

अमित-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१६९

अमितलेजम्-वज्रदन्त चक्रवर्ती-
का पुत्र ८।३३

अमितशासन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६९

अमूर्त-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१८७

अमूर्ती-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२८

अमृत-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१२७

अमृतज्योतिस्- भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।२०५

अमृतमति-अजितंजयका मन्त्री
७।६२

अमृतारमन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३०

अमृतोजव-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३०

अमृत्यु-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१३०

अमेघ-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१५७

अमेघि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५०

अमेयात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०४

अमोघ-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।२०१

अमोघवाक्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८४	कालके समय सूर्योदयके पूर्व फैलनेवाली लाली १५।१०९	आत्मज्ञ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६२
अमोघवासन-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८४	अरुण-लोकान्तिक देशोंका एक भेद १७।४८	आत्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६५
अमोघाज्ञ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८४	अलेप-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८५	आत्मभू-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, आत्मना भवतीति आत्मभूः स्वयं-बुद्धत्वेन नाम्ना सार्धकत्वम् २४।३३
अमोमुह-भगवान्के १०० नामोंमें एक नाम २५।२०४	अधिष्ठेय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८०	आत्मभू - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००
अयोनिज - भगवान्के १०० नामोंमें एक नाम, योनी न जायते इति अयोनिजः २४।३४	अशक्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४७	आदिष-लोकान्तिक देशोंका एक भेद १७।४८
अयोनिज-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०९	अवयव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०९	आदिस्थगति-एक मुनिराज ५।१९४
अर-अटारहवें तीर्थकर २।१३२	अव्यावाध-लोकान्तिक देशोंका एक भेद १७।४८	आदिस्वर्ण-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९७
अरजस्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, कमरजो-रहितत्वात् अरजाः २४।३०	अशोक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३३	आदिदेव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।३०
अरजस्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११२	असंग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	आदिदेव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९२
अरविन्द-स्वयंबुद्धके व्याख्यानमें आगत एक विद्याधर राजा महाबलका पूर्व-वंशज ५।८९	असंगामन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६	आदिपुरुष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम । आदि-इवासी पुरुषः आदिपुरुषः कर्मभूमेः प्रथमव्यवस्थापकत्वात् आदिपुरुषत्वम् २४।३१
अर्हत्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।४०	असंख्येय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३	आद्यकवि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।३७
अर्हत्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११२	असंभू-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११०	आनन्द-वज्रमङ्गलका पुरोहित ८।११६
अरहत्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम, न विद्यते रहो-ऽन्तरायकर्म यस्य सोऽहः २४।४०	असंस्कृत (वैकल्पिक)-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६९	आनन्द-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६७
अरिअय-एक मुनिराज ५।१९४	असंस्कृत सुसंस्कार-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६८	आप्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०९
अरिअय-एक मुनि ७।३०	अहमिन्द्रार्च्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८	आर्जवा-अकम्पन सेनापतिको माता ८।२१६
अरिअय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६७	अरिष्ट-लोकान्तिक देशोंका एक भेद १७।४८	
अरिहन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।४०	आ	
अरुण-सूर्यका सारथि-प्रातः-	आय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।४२	

इक्ष्वाकु-भगवान् आदिनाथका
नाम १५।२६४

इक्ष्वा-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २५।१८२

इक्ष्वाह-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २५।१७४

इक्ष्वा-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६४

इक्ष्वा-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २५।१६४

इन्द्रभूति-भगवान् महावीरका
प्रमुख गणधर, इनका रूपा
नाम गौतम है २।५४

ई

ईश-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, ऐश्वर्यसे सम्बन्ध
२५।३४

ईशान-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २५।३०

ईशान-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।११२

ईशित-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८२

उ

उग्रसेन (शार्ङ्गका जीव)-
हस्तिनापुरके सागरदत्त और
धनश्रीका पुत्र ८।२२३

उग्रस-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २५।४२

उग्रस-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७१

उग्रसदोष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२११

उदारधी-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७९

उग्रव-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४९

उपमाभूत-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८७

ऊ

ऊर्ध्वज-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२७

ऊर्ध्वज-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८७

ऊर्ध्वज-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८७

ऊर्ध्वज-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८७

क

क-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३३

क-भगवान् आदिनाथका
माला १५।३०

कञ्जसज्जात-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, मातृ-
गर्भगुह्यकमलापरिनिजात-
त्वेन नाम्नाः सार्धकत्वम्
२५।२८

कनकप्रभ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९७

कनकप्रभा-चलितागदेवकी प्रधान
देवी ५।२८३

कनकलता-चलितागदेवकी प्रधान
देवी ५।२८३

कनकाभ-एकदेव (वज्रजम्बके
महामन्त्रीका जीव) ८।२१३

कनकाभनसक्ति-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१९९

कर्तृ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४९

कर्मकाष्ठाशुश्रूणि-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।२१४

कर्मद-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२१४

कर्मण्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२१४

कर्मशत्रु-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०६

कर्महन्-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८३

कर्मारतिनिशुम्भन-भगवान्के
१०८ नामोंमें एक नाम
२५।४०

कलातीत-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९४

कलाधर-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१९४

कलिय-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२०६

कलिल-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९४

कल्पलक्ष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१३

कल्प-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१९३

कल्याण-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९३

कल्याणप्रकृति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९४

कल्याणलक्षण-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९३

कल्याणवर्ण-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९३

कवि-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४३

काणसिन्धु-एक पूर्ववर्ती आचार्य
१।५१

कान्त-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६८

कान्तगु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६८

कान्तिमत्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०२

कामग-एक विमान २२।१५
 कामजित्-भगवान्के १०८नामों-
 में एक नाम १४।४०
 कामद-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१६७
 कामधेनु-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१६७
 कामन-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१७१
 कामहन्-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१६७
 कामारि-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१६५
 कामितवद् - भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।२०२
 काम्य-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१६७
 कारण-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१४९
 काश्यप - दूसरा नाम मयवा
 ल्यवंशका प्रमुख राजा
 १६।२६१
 काश्यप - भगवान् आदिनाथ
 १६।२६६
 कंसाचार्य-ग्यारह अंगके जाता
 एक मुनि २।१४६
 कीर्ति - षट्कुमारी देवियोंमें-से
 एक देवी १२।१६४
 कुम्भ-सत्रहवें तीर्थकर २।१३२
 कुबेर-धाम्यपुरका एक वैश्य
 ८।२३०
 कुबेरवत्स-जम्बूद्वीप विदेहक्षेत्र
 पुण्डरीकिणी नगरीका एक
 सेठ ११।१४
 कुरुविन्द-अरविन्द विद्याधरका
 पुत्र ५।९१
 कुरुधर - भगवान् आदिनाथका
 नाम १६।२६६
 कूटस्थ-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।११४

कृतकृत्य-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१३०
 कृतकलु-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१३०
 कृतक्रिय-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१३४
 कृतज्ञ-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१८०
 कृतपूर्वाङ्गविस्तर - भगवान्के
 १००८ नामोंमें एक नाम
 २५।१९२
 कृतलक्षण-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१८०
 कृतान्तकृत्-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम, कृतान्तम्
 आगमं करोतीति कृतान्त-
 कृत् २५।१२९
 कृतान्तान्त (यमान्तकः)-भग-
 वान्के १००८ नामोंमें एक
 नाम २५।१२२
 कृतार्थ-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१३०
 कृतिन्-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१३०
 कृपालु-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।२१६
 केवलज्ञानवीक्षण - भगवान्के
 १००८ नामोंमें एक नाम
 २५।२१५
 केवलिन-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।११२
 केशव-सुबिधि और मनोरमा-
 का पुत्र वज्रजंघकी स्त्री
 श्रीमतीका जीव स्वयंप्रभ
 देवगर्भायसे व्युत्पन्न हो केशव
 हुआ १०।१४५
 क्षत्रिय-ग्यारह अंग वत्स पूर्वके
 जाता एक मुनि २।१४३

क्षम-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।२०१
 क्षमिन्-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१७३
 क्षान्त-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१६१
 क्षान्तिपरायण-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१८९
 क्षान्तिभाज-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१२६
 क्षेयज्ञ-भगवान्के १००८ नामों
 में एक नाम २५।१२१
 क्षेमकृत्-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१६५
 क्षेमकर-भगवान्के १००८नामों-
 में एक नाम २५।१७३
 क्षेमकर-तीसरा कुलकर ३।९०
 क्षेमधर्मपति-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१७३
 क्षेमशासन-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१६५
 क्षेमन्धर-चौथा कुलकर ३।९०
 क्षेमिन्-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१७३

ग

गंगदेव-ग्यारह अंग वत्स पूर्व-
 के जाता एक मुनि २।१४४
 गणउद्येष्ट-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१३५
 गणाग्रणी-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१३५
 गणाधिप-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१३५
 गण्य-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१३५
 गण्य-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २४।४२
 गतस्मूह-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१८५

व्यक्तिवाचक शब्दसूची

६६१

गति-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८२
गम्भीरकासन - भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१८२
गम्ध्यात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८८
गर्दतोय - लोकान्तिक देवका
एक भेद १७।४८
गरिमास्पद - भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम २४।४३
गरिष्ठ-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम क्षतिघनेन
गुरुः २५।१२२
गरिष्ठ-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।४३
गरिष्ठगीः (गरिष्ठगिरि)-भगवान्-
के १००८ नामोंमें एक
नाम २५।१२२
गरीयसामाद्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७६
गहन-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१४९
गिरापति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७९
गुण-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३६
गुणप्राप्त-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३७
गुणज्ञ-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१३५
गुणधर-प्रहोषर योगीन्द्रके शिष्य
एक मुनि ८।८४
गुणनाथक-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३५
गुणाकर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २४।४२
गुणाकर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३५

गुणावरिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३६
गुणान्मोधि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३५
गुणोच्छेदिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३६
गुण्य-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१३७
गुप्तिभृद्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७८
गुरु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६०
गुरु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७६
गुरु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४९
गूढगोचर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९६
गूढारमन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९६
गोप्तृ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७८
गोप्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१९६
गोवर्द्धन-चौदह पूर्वके ज्ञाता एक
मुनि २१।४१
गौतम-भगवान् महावीरके प्रथम
गणधर १।१९८
गौतम-भगवान् महावीरके प्रमुख
गणधर [प्रकृष्टा गीः
गौतमा = सर्वज्ञवाणी तां
वेत्तीति गौतमः । अथवा
गौतमात् स्वर्गाग्रात् आगतः
गौतमो भगवान् तेन प्रोक्त-
मघोते इति गौतमः]
२।५२-५३
गौतम-भगवान् आदिनाथ
१६।२६५
ग्रामणी - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११५

ख

खड्गधाम्-आठवाँ कुलकर
३।१२०
चतुर्मुख-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७४
चतुर्वक्ष्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७४
चतुरानन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७४
चतुरास्य - भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७८
चन्द्रकीर्ति-वज्रदस्तका पूर्वभव
७।८
चन्द्रप्रभ-अष्टम तीर्थकर २।१२९
चन्द्रमती-राजा रतिघेणकी स्त्री
१०।१५१
चम्पाम-ग्यारहवाँ कुलकर
३।१३४
चन्द्रसेन-एक मुनि ७।१०
चन्द्रोदय-एक ग्रन्थका नाम—
'म्याय कुमुदचन्द्रोदय' १।४७
चराचरगुरु-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९६
चित्रमाकिनी-प्रभञ्जन राजाकी
स्त्री १०।१५२
चित्रांगद-शार्दूलार्यका जीव जो
कि चित्रांगद नामका देव
हुआ ९।१८९
चिन्तागति-मन्दरमाली और
मुन्दरीका पुत्र ८।९३
चिन्तामणि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६८
छ

छन्दसांकर्ष-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम २४।३९
छन्दोविद्-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।३९

३६२

आदिपुराणम्

ज	जम्बू-सुधर्म स्वामीके बाद होने- वाले अनुवद्ध केवली २।१३८।	जगन्नाथ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२००
जगच्चूडामणि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३	जम्बू - जम्बूस्वामी केवली १।११९	जितकामारि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३९
जगज्ज्येष्ठ-भगवान्के १००८नामों- में एक नाम २५।१०३	जय-ग्यारहअङ्ग दशपूर्वके जाता एक मुनि २।१४३	जितकेश-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६९
जगज्ज्योतिष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११४	जयकीर्ति-चन्द्रकीर्तिका मित्र ७।८	जितकलेश-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६९
जगज्ज्योतिष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०७	जयन्त-वज्रसेन और श्रीकान्ता का पुत्र (वातरका जीव) १।११७	जितजय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३४
जगन्पति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११८	जयपाल-ग्यारह अङ्गके जाता एक मुनि २।१४६	जितमन्मथ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०८
जगन्पति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०४	जयवर्मा-सिंहपुरके राजा धोपेग और मुन्धरी रानीका ज्येष्ठ पुत्र ५।२०५	जितश-भगवान्के १००८ नामों में एक नाम २५।२०८
जगन्पाल-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१७	जयवर्मा-गन्धिलादेश अयोध्या नगरीका राजा ७।४१	जितानन्द-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१३
जगद्गर्भ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८१	जयसेन-रत्नसंभव नगरके राजा महीधर और रानी मुन्धरी- का पुत्र, शतधा मन्त्रोंका जीव, जो नरकसे निकलकर उत्पन्न हुआ १०।११६	जितान्तक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६९
जगद्गन्धु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९५	जयसेन-महासेन और वसुन्धरा- का पुत्र ७।८६	जितासिन्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६९
जगद्गर्भ-भगवान्के १००८नामोंमें एक नाम, हितमार्गदर्शकत्वात्	जयसेन-नागदत्त और सुमतिका पुत्र ६।१२९	जितेन्द्रिय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम १५।१८६
जगद् विभक्ति पालयतीति जगद्भर्ता २४।३२	जयसेन-एक पुरातन तपस्वी आचार्य १।५९	जितेश्वर-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम जेतुं शीलो जितेश्वरः २४।४४
जगदादिज-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४७	जयसेना - धानकीखण्ड विदेह- क्षेत्र पुष्कलावती देश पुष्ट- रौकिणी नगरीके राजा धनञ्जयकी रानी ७।८१	जित-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४०
जगद्विज-भगवान्के १००८ नामों- में एक नाम २५।१०८	जरन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	जित-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०४
जगद्विभु-भगवान्के १००८नामों- में एक नाम २५।१९५	जागरूक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०७	जितकुञ्जर-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३८
जगद्योनि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३४	जातरूप-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६	जितसेन-महापुराणके कर्ता आचार्य २।१५३
जगच्चन्द्रन-एक मुनिराज ७।३९		जितेन्द्र-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०
जगन्नाथ-भगवान्के १००८नामों- में एक नाम २५।१९५		जितेश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम
जटाचार्य-वराहविरतके कर्ता जटासिंहनन्दी आचार्य १।५०		

त्रिष्णु-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०४

त्रिष्णु-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम, जेतुं शीलो

त्रिष्णुः २४।३५

जेटु-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम २४।४०

जेटु-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०६

ज्ञानगर्भ-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१८१

ज्ञानचक्षु-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०४

ज्ञानभर्मदमप्रभु-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१३२

ज्ञाननिष्ठा-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१७३

ज्ञानमाधना-१ वाचना २ पृच्छना

३ अनुप्रेक्षण ४ परिवर्तन

और ५ सद्धर्मदेशनाये पञ्च

ज्ञानभावनाएँ हैं २१।९६

ज्ञानसर्वग-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१६४

ज्ञानात्मन्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।११३

ज्ञानाभन्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।११३

ज्ञानादि-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०५

ज्येष्ठ-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१२२

ज्येष्ठ-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम २४।४३

ओमिर्भूर्ति-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०५

उद्यत्तुद्यत्तुत्तु-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९६

त

तनुनिर्मुक्त-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१०

तन्त्रकृद्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१२९

तपनीयनिभ-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१९८

तप्तजायूतदधुति-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।२००

तप्तवर्माकरच्छवि-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९८

तप्तोऽरि-भगवान्के १०८ नामों-

में एक नाम, तप्तोऽज्ञाना-

न्धकारस्य अरिः शत्रुरिति

नाम्नः सार्थक्यम् २४।३६

तप्तोपह-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।२०५

तीर्थकृत्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।११२

तुङ्ग-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१९८

तुषित-लोकान्तिक देवका एक

भेद १७।४८

तेजोमय-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।२०५

तेजोराशि-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०५

त्यागिन्-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।१८४

ब्राह्म-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१४२

त्रिकाक्षदक्षिन्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१९१

त्रिकाक्षत्रिषमार्धदक्ष-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१८८

त्रिजगद्भक्त-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१९०

त्रिजगन्मंगलादय-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९०

त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९०

त्रिजगत्परमेश्वर-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।११०

त्रिदशाध्यक्ष-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१८२

त्रिनेत्र-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।२१५

त्रिपुरारि-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१५

त्रिलोकामशित्तामणि-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९०

त्रिलोचन-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१५

व्यक्ष-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।२१५

व्यश्चक-भगवान्के १००८ नामों

में एक नाम २५।२१५

द्व

दक्ष-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१६६

दक्षिण-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१६६

दण्ड-महाबल विद्याधरका पूर्व-

वर्षाज एक विद्याधर ५।११७

द्वमतीर्थेश-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१६४

द्वमधर-एक मुनि ८।१६७

द्वमिन्-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१८९

द्वमीश्वर-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१११

द्वमीश्वर-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१७८

दयागर्भ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८१	दूरधर्म-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७६	धर्ममित्र-वज्रधर्मका सेठ ८।११६
दयाध्वज-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०६	द्वधर्म-एक मुनि ९।९१	धनवती-हस्तिनापुरके सागरदत्तकी स्त्री ८।२२३
दयानिधि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१६	द्वधर्मा-ललितादेवकी स्वयंप्रसा देवीका अन्तःपरिषद्का सहासक एक देव ६।१६	धनश्री-पल्लववंत ग्रामके देविल नामक पटेलकी सुमति स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र ६।१३५
दयाभाग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३	द्वधर्म-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९१	धर्म-पन्द्रहवें तीर्थकर २।१३१
द्वीयम्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७६	द्वीयम्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८२	धर्मधोषण-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३
दान्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८९	देव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३	धर्मचक्रायुध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३
दान्तात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६४	देव-देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद आचार्य, जीनेन्द्रग्याकरण आदिके कर्ता १।५२	धर्मचक्रिन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०६
दिग्वासस्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०४	देवदेव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९५	धर्मतीर्थकृत्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११५
दिवाकरप्रभ-दूतरे स्वर्गका एक विमान ८।२१०	देवराट्-इन्द्र १।७।६	धर्मदेशक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१६
दिग्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१११	देवाधिदेव-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३०	धर्मध्वज-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४०
दिव्यभाष्यपति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१११	देविक-पल्लव पर्वत ग्रामका एक ग्रामकूट-पटेल ६।१३५	धर्मनायक-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३९
दिष्टि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८७	देवी-सरदेवी १३।१	धर्मनेमि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३
दीप्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०६	देवी-राज्ञी ५।२०४	धर्मपति-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४०
दीपकस्याणारामन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९४	दैव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८७	धर्मपाल-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१७
दुग्धुभिस्त्वम्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०	धुस्नाम-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२००	धर्ममति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११५
दुर्दान्त-महापुत्र जिनालयमें पण्डिता धायके प्रसारित चित्रपटके कल्पित ज्ञाता-पुर्त ७।११२	धनजय-घातकीलण्ड-विदेहक्षेत्र-पुष्कलावतीदेश पुण्डरीकिणी नगरीका राजा ७।८१	धर्मयूप-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३
दुराधर्म-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२	धनदत्त-धनमित्र सेठका पिता ८।२१८	धर्मराज-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०७
दुःखमासुषमा-अवसर्पिणीका बोधा काल ३।१७	धनदत्ता-धनमित्र सेठकी माता ८।२१८	धर्मसाक्षात्प्राप्तक - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१७
	धनदेव-कुबेरदत्त वणिक् और अन्तर्मती, सेठानीका पुत्र (श्रीमती अथवा केशवका जीव) ११।१४	

धर्मसेन—भारह अंग दश पूर्वके
ज्ञाता एक मुनि २।१४४
धर्माचार्य—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१६
धर्मात्मन्—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११५
धर्मादि—भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।३९
धर्माध्यक्ष—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१११
धर्माश्रम—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३७
धर्म्य—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।११५
धाता—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०२
धातु—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७४
धिषण—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७९
धीन्द्र—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४८
धीमत्—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७९
धीर—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८२
धीरधी—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२१२
धीश—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४१
धीश्वर—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०९
धुर्य—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१५९
धृति—षट् कुमारी देवियोंमें-से
एक देवी १२।१६४
धृतिधेन—भारह अंग दश पूर्वके
ज्ञाता एक मुनि २।१४३

ध्यातमहाधर्मन्—भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१६२
ध्यामगन्ध—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७३
ध्येय—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०८
ध्रुवसेन—भारह अंगके ज्ञाता
एक मुनि २।१४६
नकुलार्य—नकुलका जीव जो कि
भोगभूमिमें आर्य हुआ
९।१९२
नक्षत्र—भारह अंगके ज्ञाता एक
मुनि २।१४६
नन्द—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६७
नन्द—नागदत्त और सुमति-
का पुत्र ६।१२९
नन्धन—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६७
नन्दिमित्र—नागदत्त और सुमति-
का पुत्र ६।१२९
नन्दिषेण—नागदत्त और सुमति-
का पुत्र ६।१२९
नमि—भगवान् आदिनाथके साके
कच्छ राजाका पुत्र १८।९२
नमि—इलकीसमें तीर्थंकर
२।१३३
नयोत्तुंग—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८०
नागदत्त—आभियोध्य जातिके एक
देवका नाम २२।१७
नागदत्त—आभ्यपुरके कुवेर वणिक्
और उसकी स्त्री सुवत्ताका
पुत्र ८।२३१
नागदत्त—पाटलीग्रामका एक
वणिक् पुत्र ६।१२८
नागसेन—भारह अंग दश पूर्वके
ज्ञाता एक मुनि २।१४३

नामैकतरवक्षु—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८७
नन्दिमित्र—चौदह पूर्वके ज्ञाता
एक मुनि २।१४१
नामि—चौदहवाँ कुलकर ३।१५२
नामिज—भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१७१
नामिनन्दन—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७०
नामिराज—भगवान् ऋषभदेवक
पिता १२।४
नाभेय—नामिकुलकरके पुत्र
प्रथम तीर्थंकर वृषभनाथ
१।१५
नाभेय—भगवान् आदिनाथ
१५।२२२
नाभेय—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७१
नित्य—भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।४४
नित्य—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३०
नन्दिषेण—विदेहका एक राजा
१०।१५०
नियमितेन्द्रिय—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१३
निरक्त—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४४
निर्गुण—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३६
निर्गन्धेश—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०४
निर्गन्ध—भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।३८
निर्गन्ध—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११४
निर्हन्ध—भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१३८

निर्धूतगम्-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१७२	नैकात्म्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३९	निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१८०
निनामा-नागदत्त और सुमतिकी	नामोंमें एक नाम २५।१८५	न्यायशास्त्रज्ञ-भगवान्के १००८
छोटी पुत्री थोकास्ताका	निरुद्ध-भगवान्के १०८ नामों-	नामोंमें एक नाम २५।११५
दूसरा नाम ६।१३०	में एक नाम २४।३८	ए
निर्मिष-भगवान्के १००८	निरुद्ध-भगवान्के १००८	पञ्चमसमय-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३९	नामोंमें एक नाम २५।१३८	नामोंमें एक नाम पंच-
निर्मद-भगवान्के १००८ नामों-	निरुद्ध-भगवान्के १००८	परमेष्ठिमय २५।१०५
में एक नाम २५।१३८	नामोंमें एक नाम २५।१३९	पण्डिता-श्रामतीको धात्री (धाय)
निर्मल-भगवान्के १००८ नामों-	निरुद्ध-भगवान्के १००८	६।१०२
में एक नाम २५।१८४	नामोंमें एक नाम २५।१११	पण्डितिका-पण्डिता धाय (स्वार्थे
निर्मल-भगवान्के १००८ नामों-	निरुद्ध-भगवान्के १००८ नामों-	कप्रत्ययः) ६।११४
में एक नाम २५।१२८	में एक नाम २५।११३	पति-भगवान्के १००८ नामोंमें
निर्मोह-भगवान्के १००८	निरुद्ध-भगवान्के १००८	एक नाम २५।१४१
नामोंमें एक नाम २५।१३८	नामोंमें एक नाम २५।१३९	पद्मार्ज-भगवान्के १००८ नामों-
निरुद्ध-भगवान्के १००८	निरुद्धकात्मन्-भगवान्के १००८	में एक नाम २५।१८१
नामोंमें एक नाम २५।२०४	नामोंमें एक नाम २५।१८५	पद्मनाभि-भगवान्के १००८
निरुद्ध-भगवान्के १००८ नामों-	निरुद्धकनकच्छाय-भगवान्के	नामोंमें एक नाम २५।१३३
में एक नाम २५।१२८	१००८ नामोंमें एक नाम	पद्मविष्टर-भगवान्के १००८
निरुद्ध-भगवान्के १००८	२५।१९९	नामोंमें एक नाम २५।१३३
नामोंमें एक नाम २५।२११	निरुद्ध-भगवान्के १००८	पद्मप्रभ-पण्ड तीर्थकर २।१२९
निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।२०४	पद्मयोनि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३९	निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१३४
निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१३९	पद्मसम्भूति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११३	निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१३३
निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१८६	पद्मार्ज-संख्याका एक भेद
नामोंमें एक नाम २५।२०४	निरुद्ध-भगवान्के १००८	३।१२१
निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१८५	पद्मवती-एक आदिका ७।३१
नामोंमें एक नाम २५।१३९	निरुद्ध-भगवान्के १००८	पद्मेश-भगवान्के १००८ नामोंमें
निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।११५	एक नाम २५।१३३
नामोंमें एक नाम २५।१३९	निरुद्ध-भगवान्के १००८	पर-भगवान्के १००८ नामोंमें
निरुद्ध-भगवान्के १००८	नामोंमें एक नाम २५।१७६	एक नाम २५।१०५
निरुद्ध-भगवान्के १००८	निरुद्ध-भगवान्के १००८	परतत्त्व-भगवान्के १०८ नामोंमें
नामोंमें एक नाम २५।११४	नामोंमें एक नाम २५।१८०	एक नाम, सर्वोत्कृष्टजीव-
निरुद्ध-भगवान्के १००८	निरुद्ध-भगवान्के १००८ नामों-	तत्त्वरूपत्वात् परं तत्त्वम्
नामोंमें एक नाम २५।१७३	में एक नाम २५।१८०	२४।३३
निरुद्ध-भगवान्के १००८		परतत्त्व-भगवान्के १००८ नामोंमें
		एक नाम २५।१०५

परम-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६५

परम-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

परमज्योतिष्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१११

परमज्योतिष्-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, उत्कृष्ट-
केवलज्ञानज्योतिःसहित-
त्वात् परमज्योति २४।३०

परमात्मन्-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, परा उत्कृष्टा
या लक्ष्मीर्यस्य स परमः, परम
आत्मा यस्य स परमात्मा
२४।३३

परमात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११०

परमानन्द-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३०

परमानन्द-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८९

परमेश्वर-वागर्थसंग्रह पुराणके
कर्ता एक आचार्य १।६२

परमेश्वर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४९

परमेश्विन्-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, परमे सर्वोत्कृष्टे
पदे तिष्ठतीति परमेश्वी
अहत्परमेश्वरका इत्यर्थः
२४।३२

परमेश्विन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०५

परमोदय-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६५

परात्मज्ञ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८९

पराध्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४९

परापर (परात्पर)-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१८९

परिवृद्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८१

परिज्योतिष्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११०

परिवृद्धन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३१

पवित्र-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

पाण्डु-भ्यारह अंगके माता एक
मुनि २।१४६

पान्दु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

पात्रकेशरी-एक पूर्ववर्ती आचार्य
१।५३

पापावग्रह-पापरूपी वर्षाका
प्रतिबन्ध २५।२२८

पापापेत-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३८

पाश-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४९

पावन-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

पाश्व-तेर्हस्ये तीर्थकर २।१३२

पितामह-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४२

पितृ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

विहिताश्व-एक मुनि ६।१३१

विहिताश्व-अजितजय चक्री-
का दूसरा नाम ७।४५

विहिताश्व-एक मुनि ८।२०२

पीठ-वज्रसेन और श्रीकान्ताका
पुत्र (अकम्पन सेनापतिका
जीव) ११।१२

पुण्डरीक-वज्रवाहुके पुत्र अमित-
तेजका पुत्र ८।८८

पुण्डरीकाक्ष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४४

पुण्डरीकिणी-विदेहकी एक
नगरी ६।५८

पुण्य-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।४२

पुण्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१३५

पुण्यकुन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३७

पुण्यगिरि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३६

पुण्यधरी-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३३

पुण्यनाथक-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम २४।१३३

पुण्यनाथक-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३६

पुण्यराशि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३७

पुण्यवाच-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३६

पुण्यशामन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।३७

पुण्यापुण्यनिरोधक-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१३७

पुमस्-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

पुमान्-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, पुनातीति पुमान्
२४।३०

पुराण-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।३७

पुराण-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१९२

पुराणपुरुष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४३

पुराणपुरातन-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३२	पूतवाच-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१११	प्रथम-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२
पुराणाद्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९२	पूतारम्भ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१११	प्रधित-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३
पुरातन-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११०	पूर्व-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९२	प्रधीयस्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३
पुरु-भगवान् ऋषभदेव ३।२३९	पृथिवीभूति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६	प्रदीप्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२००
पुरु-भगवान् आदिनाथ १५।७१	पृथु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३	प्रधान-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६५
पुरु-भगवान् आदिनाथ १७।७२	पौरहृती-इन्द्रसम्बन्धी २५।२२६	प्रमुखात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०८
पुरु-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३०	प्रकाशात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९६	प्रमंजन-एक देव, पुरोहितका जीव ८।२१४
पुरु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४३	प्रकृति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६५	प्रमंजन-विदेहका एक राजा १०।१५२
पुरुदेव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९२	प्रकाशवन्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६५	प्रमथ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११७
पुरुष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९२	प्रजापति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११३	प्रभाकर - एक देव, सेनापतिका जीव ८।२१४
पुरुहूत-इन्द्र १४।१६३	प्रजाहित-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०७	प्रभाचन्द्र-प्रभाचन्द्र नामक आचार्य १।४४
पुष्कर-तीसरा द्वीप ७।१३	प्रजापारमित-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१३	प्रभावती-गन्धर्वनगरके राजा वासवकी स्त्री ७।३०
पुष्करेश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४४	प्रणत-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	प्रमविष्णु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०९
पुष्क-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४४	प्रणव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	प्रमास्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८१
पुष्ट-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१	प्रणिधि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	प्रसु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००
पुष्टिद-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०१	प्रणेत्र-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११५	प्रभूतविभय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २८।११८
पुष्पदन्त-तीर्थ तीर्थकर २।१३०	प्रसिद्धि-प्रथम कुलकर ३।६३	प्रभूतात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११८
पूजार्ह-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११२	प्रविष्टाप्रसव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४३	प्रभूष्ण-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, प्रभञ्जितुं शीलः प्रभूष्णः, समर्थः इत्यर्थः २४।३०
पूज्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९१	प्रतिष्ठित-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०३	प्रभूष्ण-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०९
पूत-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३७	प्रथम-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०	
पूतशासन-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१११		
पूत-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३६		

प्रमाण-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।१६६	प्राण-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१३	बलाहक - एक देवका नाम २२।१५
प्रवक्तृ-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।२१०	प्राण-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	बह्मि-लौकान्तिक देवका एक भेद १७।४८
प्रशमाकर-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३	प्राणसेधर-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	बस्त्रमूर्ति-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६
प्रशमात्मन्-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३२	प्राणद-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६६	बहुभुत-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।१२०
प्रशान्त-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।१८६	प्राप्तमहाकल्याणपंचक-भगवान्‌- के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५५	बालार्कभ-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९८
प्रशान्तमदन-प्रभञ्जन और चित्रमालिनीका पुत्र नकुल- का जीव १०।१५२	प्रांशु-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१४	बाहुबली-भगवान्‌ आदिनाथका सुनन्दा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र ६।६
प्रशान्तरसशैल्य-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०८	प्रियदत्ता - राजा विभीषणकी स्त्री १०।१४९	बुद्ध-भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३८
प्रशान्तात्मन्-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३२	प्रियवता-एक आविका २४।१७९	बुद्ध-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०८
प्रशान्तारि-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम, प्रशान्ता अरयः कर्मशत्रु यस्तु सः २५।१०७	प्रियसेन - जम्बूद्वीप विदेहक्षेत्र पुष्पकलावती देश पुण्डरी- किणोन्नगरीका राजा १।१०८	बुद्धबोध-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४५
प्रशास्तृ-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।२०१	प्रीतिकर-एक मुनि (स्वयंबुद्ध- का जीव) १०।२	बुद्धसम्भारग-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१२
प्रह-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२२	प्रीतिकर-स्वयम्बुद्ध मन्त्रीका जीव मणिचूल देव प्रीतिकर नामका पुत्र हुआ (प्रियसेन राजा और सुन्दरी रानीका पुत्र तपस्वी मुनि) १।१०९	बुद्धि - षट्कुमारी देवियोंमें-से एक देवी १२।१६४
प्रसन्नात्मन्-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३२	प्रीतिवेष-प्रियसेन और सुन्दरी- का छोटा भाई, जो तपस्वी मुनि हुआ १।१०९	बुद्धिमान्-ग्यारह अंग दश पूर्वके ज्ञाता एक मुनि २।१४४
प्रसेनजित्-तेरहवाँ कुलकर ३।१४६	प्रीतिवर्द्धन-एक राजा ८।२०१	बृहद्ब्रह्मस्पति-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७९
प्रहसित-वत्सकावती सुसोमानगर- के अमृतमलि और सत्यभामा- का पुत्र ७।६१	प्रेह-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम, अतिशयेन प्रियः २५।१२२	बृहद्भ-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम, अतिशयेन बृहः २५।१२२
प्राकृत-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।१६८	प्रोक्षिकाचार्य-ग्यारह अंग दश पूर्वके ज्ञाता एक मुनि २।१४३	अक्षतस्वक्ष-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०
प्राग्रहर-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।१५०	प्रोक्षिकाचार्य-ग्यारह अंग दश पूर्वके ज्ञाता एक मुनि २।१४३	अक्षन् - भगवान्‌के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३०
प्राग्रय-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५०	प्रथमोक्ष-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०८	अक्षन्-भगवान्‌के १००८ नामों- में एक नाम २५।१०५
		अक्षनिष्ठ-भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३१

व्यक्तिवाचक शब्दसूची

६७१

मन्मथकान्ता—नागदत्त और सुमति-
की पुत्री ६।१३०
मध्यम—भगवान्‌के १००८ नामोंमें
एक नाम २४।४२
मनीषिन्—भगवान्‌के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१७९
मनु—कुलकर ३।९०
मनु—भगवान्‌ आदिनाथका नाम
१६।२६६
मनु—भगवान्‌के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७१
मनोगति — मन्दरमाला और
सुन्दरीका पुत्र ८।९३
मनोजाह्न—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८२
मनोरथ—एक देव, जो कि
नकुलार्थका जीव है ९।१९२
मनोरमा—वक्रवर्ती अमयषोष-
की पुत्री मुखिषिकी स्त्री
१०।१४३
मनोहर—एक देव जो कि
बामरार्थका जीव है ९।१९१
मनोहर—रतिषेण और चन्द्रमती-
का पुत्र (वानरका जीव)
१०।१५१
मनोहर—भगवान्‌के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१८२
मनोहरा—प्रलकाके राजा अति-
बलकी स्त्री ४।१३१
मनोहरा—रत्नसंख्यनगरके राजा
श्रीधरकी स्त्री ७।१५
मन्त्र—भगवान्‌के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१५८
मन्त्रहृत्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२९
मन्त्रमूर्ति—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२९
मन्त्रविद्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२९

मन्त्रिन्—भगवान्‌के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१२९
मन्दरमाली—गन्धर्वपुरका राजा
विद्याधर ८।९२
मन्दरशिविर—एक मुनि ७।५२
मरीचि—भगवान्‌ आदिनाथका
पोता, भरतका लड़का
१८।६१
मरुदेव—शरहर्षा कुलकर ३।१३९
मलधन—भगवान्‌के १००८ नामों-
में एक नाम २५।२०९
मलहन्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८६
मरिज—उद्योतर्षे तीर्थंकर २।१३२
महत्—भगवान्‌के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४८
महर्षिक—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५
महर्षि—भगवान्‌के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१५९
महर्षा धामन्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५९
महर्षापतिः—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५८
महाकव्य—भगवान्‌ आदिनाथ-
का साजा १५।७०
महाकर्मादिहन्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६२
महाकवि—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महाकान्ति—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महाकान्तिधर — भगवान्‌के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१५७
महाकारुणिक—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५८
महाकीर्ति—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४

महाक्रोधरिपु—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६०
महाक्षम—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महाशान्ति—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महाकलेशाकुश—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६०
महागुण—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महागुणाकर—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६१
महाशेष—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५८
महाउद्योतिष्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२
महाज्ञान—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महातपस्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५१
महासेजस्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५१
महात्मन्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५९
महादम—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महादान—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महादेव—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६२
महाद्युति—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२
महाधामन्—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५१
महाधृति—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५१
महाधैर्य—भगवान्‌के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२

महाध्यान-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महाध्यानपति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६२
महाध्वरधर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५९
महाम-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।४४
महामन्त्र-विजयपुरका राजा
८।२२७
महामन्त्र-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महानाह-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५८
महानीति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महापराक्रम-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६०
महापीठ-वज्रसेन और श्रीकान्ता-
का पुत्र (धनमित्र सेठका
जीव) ११।१३
महाप्रम-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२८
महाप्रभु-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५५
महाप्राज्ञ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महाप्रातिहार्याधीन - भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१५५
महाबल-बलकाके राजा अति-
बल और रामी मनोहराका
पुत्र ४।१३२
महाबल-वातकील्लव विदेह-
लेन पुष्कलावती देव पुष्करी-
किण्ठी नगरीके राजा
धर्मजय और जयसेना रामी-
का पुत्र (रामपदका चारक)
७।८२

महाबल-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२
महाबाहु-वज्रबाहु और श्री-
कान्ताका पुत्र (भामन्द
पुरोहितका जीव) ११।१२
महाबोधि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५
महामहापति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३१
महामहापद्मेश्वर-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१३१
महामहाविषसंतारिन्-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१६१
महाभाग-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महाभूति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२
महाभूतपति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६०
महामत्त-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महामति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५३
महामति-राजा महाबलका
पत्नी ४।१९१
महामन्त्र-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५८
महामहपति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५५
महामहत्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महासुनि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महामैत्रीमय-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५७
महामोहाप्रिसूदन-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१६१

महामौजिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महायज्ञ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महायति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५८
महायशस्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५१
महायोग-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महायोगीश्वर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६१
महावपुष्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५४
महाविद्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४१
महावीर-अन्तिम तीर्थकर १।१६
महावीर-इस युगके अन्तिम
तीर्थकर अपर नाम वर्धमान,
वीर, अतिवीर, सम्मति
२।६०
महावीर्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२
महाव्रत-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६२
महाव्रतपति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५७
महावर्णि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२
महाशील-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५६
महाशोकध्वज-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३३
महास्वय-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५१
महासम्पत्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१५२

व्यक्तिवाचक शब्दसूची

६३

महासैन-बातकीखण्ड पूर्व-विदेह बरसकावती देश प्रभाकरी नगरीका राजा ७।८५

महासैन-बातकीखण्ड पूर्व-विदेह बरसकावती देश प्रभाकरी नगरीका राजा ७।८५

महोदय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५९

महिषवाध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५९

महीकर्म-महीधरका ज्येष्ठ पुत्र ७।३८

महीधर-एक विशाधर राजा ५।२०९

महीधर-गन्धर्वनगरके राजा वासव और रानी प्रभावतीका पुत्र ७।२९

महीधर-रत्नसंचयननगरका राजा १०।११५

महीयस्-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, अतिशयेन महान् महोयान् २४।४३

महीयित-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४४

महेय्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५८

महेन्द्र-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८

महेन्द्रमहित-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४८

महेन्द्रवन्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

महेशितृ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६२

महेश्वर-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३०

महेश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५५

महोदय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५१

महोदय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५१

महोदक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५१

महोपाय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५७

महोमय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५७

महोदार्प-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५९

मह्य-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४४

मह्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५७

मारजिद्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१०

मुक्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११३

मुनि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४१

मुनिज्येष्ठ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०२

मुनिसुवत-वीसवें तीर्थकर २।१३२

मुनीन्द्र-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

मुनीश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८३

मुमुक्षु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०८

सृतिमन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८७

मूलकर्तृ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०९

मूलकारण-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२०९

मृशुंजय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३०

मोहारिविजयिन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०६

मोहासुरारि-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, मोहकपी असुरके शत्रु २४।३६

थ

यजमानात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

यज्ञपति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

यज्ञाङ्ग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

यज्वन्-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।४२

यति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१३

यतीन्द्र-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७०

यतीश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७

यमधर-एक मुनि १०।११६

यमधर-एक मुनि ८।५७

यशस्वती-घातकीखण्ड विदेहदेश गृष्कलावती देश पुण्डरीकिणीनगरीके राजा भन्तजयकी रानी ७।८१

यशस्वती-भगवान् आदिनाथकी स्त्री १५।७०

यशस्वान्-नीवी कुलकर ३।१२५

यशोधर-एक मुनिराज ६।८५

यशोधर-एक योगीन्द्र ८।८४

यशोभद्र-एक प्राचीन भाषाई १।४६

यशोभद्र-प्रथम अंगके शाता एक मुनि २।१४६

यशोभ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२७

युगज्येष्ठ-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१९३

युगन्धर-विदेहक्षेत्रके एक

तीर्थकर ५।१९४

युगन्धर-एक मुनिराज ७।२२

युगन्धर-पुष्करार्थके पूर्वाधि विदेह-

के मंगलावती देशसम्बन्धी

रत्नसंवधनगरके राजा

अजितजय और रानी

वसुमतीका पुत्र (तीर्थकर)

७।११

युगमुख-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१९३

युगादि-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।१४७

युगादिकृत-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१४७

युगादिपुरुष-भगवान् ऋषभदेव

३।२३८

युगादिपुरुष-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१०५

युगादिस्थितिदेशक-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९३

युगाधार-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१४७

योगविद्-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।१२५

योगविद्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१८८

योगविद्वाचर-भगवान्के १०८

नामोंमें एक नाम, योगके

जाननेवालोंमें श्रेष्ठ २४।३७

योगात्मन्-भगवान्के १०८ नामों-

में एक नाम २४।३८

योगात्मन्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१६४

योगिन्-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०७

योगिन्-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम २४।३७

योगिषन्वित-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१८८

योगीन्द्र-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१७०

योगीश्वरार्चित-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१०७

र

रतिषेक-विदेहका एक राजा

१०।१५१

रत्नसंवधन-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१८१

राजर्षि-राजा श्रेणिक राजगृही-

का राजा २।८१

स

सक्षय-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।१४४

सक्ष्मी-षट्कुमारी देवियोंमें-से

एक देवी १२।१६४

सक्ष्मीपति-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०७

सक्ष्मीमति-पुण्डरीकिणी नगरीके

राजा वज्रदन्तकी स्त्री

६।५९

सक्ष्मीमती-हस्तिनापुरके राजा

सोमप्रभकी स्त्री २०।१००

सक्ष्मीवत्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१८२

सलिलाङ्ग-एक देव श्रीवर्माकी

माता मनोहराका जीव

७।१७

सलिलाङ्ग-एक देव-महाबलका

जीव ५।२५४

लोकचक्षुष-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१२

लोकेश-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।१९५

लोकधातृ-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१९१

लोकपति-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१२

लोकवत्सल-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२११

लोकाध्यक्ष-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१७८

लोकालोकप्रकाशक - भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।२०६

लोकेश-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।१९१

लोकोत्तर-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१२

लोलुप-मुप्रतिष्ठितनगरका हल-

वाई ८।२३४

लोहाय-प्रथम अंगके जाता एक

मुनि २।१४९

ख

वज्रसामीक्षा-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१०

वज्रजङ्घ-विदेहक्षेत्र पुष्कला-

वतीदेश- उत्पलखेटनगरके

राजा वज्रबाहु और रानी

वसुन्धराका पुत्र ललिताङ्ग-

का जीव ६।२९

वज्रजङ्घार्य-वज्रजङ्घका जीव

जो कि भोगभूमिमें आर्य

हुआ था ९।१८५

वज्रदन्त-विदेहक्षेत्र पुण्डरीकिणी-

नगरीका राजा ६।५८

वज्रदन्त-वज्रमात्रिका पुत्र

११।९१

वज्रनाभि-पुण्डरीकिणीके राजा

वज्रसेन और रानी श्री-

कान्ताका पुत्र ११।९

वज्रशङ्ख-विदेहक्षेत्र पुष्कला-
वतीदेश उत्पलखेट नगरका
राजा ६।२८

वज्रसेन-जम्बूद्वीप पूर्व विदेह-
क्षेत्र पुण्डरीकिणी नगरीका
राजा १।१९

वदत्तविर-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम २५।३८

वदत्तविर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४६

वन्द्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६७

वर्तना-द्रव्योंकी पर्यायोंके
बदलनेमें सहायक काल-
द्रव्यकी एक परिणति ३।२

वरद-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

वरद-राजा प्रियदर्शन-राजा
रानी प्रियदत्ताका पुत्र, यह
शार्ङ्गलका जीव है १०।१४९

वर्धमान-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५

वरप्रद-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।२१३

वर्ष-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४२

वरवीर-भगवान् आदिनाथका
पुत्र १६।३

वर्षीयस्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४३

वरसेन-नागदत्त और सुमतिका
पुत्र ६।१२९

वरसेन-नक्षत्रेण और अनन्त-
मतीका पुत्र, यह शूकरका
जीव है १०।१५०

वराहार्य-वराहका जीव जो कि
भोगभूमिमें आर्य हुआ था
९।१९०

वरिष्ठधी-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३

वरंण्य-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।३७

वरंण्य-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१३६

वशिन्-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१६०

वश्येन्द्रिय-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८६

वसन्तसेना-विजयपुरके राजा
महानन्दकी स्त्री ८।२२७

वसुन्धरा-विदेहक्षेत्र पुष्कला-
वतीदेश उत्पलखेटनगरके
राजा वज्रशङ्खकी स्त्री
६।२८

वसुन्धरा-धातकीखण्ड पश्चार्ध
भागके पूर्वविदेहसम्प्रन्धी
वरसकीवतीदेशकी प्रभा-
करीनगरीके राजा महासेन-
की स्त्री ७।८६

वस्त्राङ्ग-सर्वप्रकारके वस्त्र देने-
वाला एक कल्पवृक्ष

वागीश्वर-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।२०९

वाग्मिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७९

वाचस्पति-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।३९

वाचस्पति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७९

वातरशन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०४

वाक्सिंह-एक पूर्ववर्ती आचार्य
१।५४

वानरार्थ-वानरका जीव जो
कि वानरके बाद भोगभूमि-
में उत्पन्न हुआ ९।१९१

वायुभूर्ति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२६

वासव-विजयार्थके गन्धर्वनगरके
राजा एक विद्याधर ७।२९

वासव-महापूतजिनालयमें
पण्डिता धायके द्वारा प्रसा-
रित चित्रपटके कल्पित
जाता धूर्त ७।११२

वासुपूज्य-वारह्वे तीर्थकर
२।१३०

विकलङ्क-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१९४

विक्रमध-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९४

विकसित-वत्सकावती मुसीमा-
नगरका एक विद्वान्
(ग्रहसित का मित्र) ७।६१

विक्रमिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७२

विघ्नविनायक-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०६

विजय-ग्यारह अङ्ग दशपूर्वके
जाता एक मुनि २।१४४

विजय-वज्रसेन और श्रीकाम्ताका
पुत्र (शार्ङ्गलका जीव)
११।१०

विजर-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२४

विजिसान्तक-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३

विजिष्णु-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम, विशेषेण जेतुं
शोलो विजिष्णुः २४।३९

विद्याधर-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१४६

विद्यामिथि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४१

विद्युलता-ललिताङ्ग देवकी
प्रधान देवी ५।२८३

विद्वन्-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२५

विधाता-भगवान् आदिनाथका नाम १६।२६७	विभु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२	विश्वकर्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०३
विधान-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, कर्मभूमेर्व्यवस्था- विधानात् विधाता विदधा- तीति विधाता २४।३०	विमल-तेरहवें तीर्थकर २।१३१	विश्वकर्मा-भगवान् आदिनाथ- का नाम १६।२६७
विधान-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२५	विमलवाह-विदेहके एक तीर्थकर १०।१५४	विश्वजिह्व-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३
विधि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२	विमलवाहन-सातवाँ कुलकर ३।११७	विश्वज्योतिष्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०३
विनमि-भगवान् आदिनाथके साले महाकच्छका पुत्र १८।९२	विमुक्तात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८६	विश्वतपाह-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०
विनयन्धर-एक मुनिराज ७।३४	वियोग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम विगतो योग आत्मपरिध्वन्दो यस्य सः २५।१२५	विश्वतश्शुभ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक २५।१०१
विनेतृ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८२	वियोनिक-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, पुनर्जन्म- रहितत्वाद् विगता योनिर्यस्य स वियोनिकः २४।३२	विश्वतोक्षमयज्योति-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वतः समन्तात् अक्षमयं आत्मरूपं ज्योतिर्यस्य सः २४।३२
विनेयजनतावन्धु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२५	विरजम्-भगवान्के १००८ नामों- में एक नाम २५।११२	विश्वतोमुख-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, सर्वज्ञत्वेन विश्वतः समन्तान्मुखं यस्य सः विश्वतोमुखः २४।३१
विनयाम्भन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१३८	विरत-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विश्वतोमुख-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०२
विपुलज्योतिम्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०	विशग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विश्वदक्-भगवान्के १०८ नामों- में एक नाम, सर्वदक्षितत्वेन विदवं पश्यतीति विश्वदक् २४।३२
विभय-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विर्लानाशेषकल्मष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२५	विश्वदग्-भगवान्के १००८ नामों- में एक नाम २५।१०३
विभव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विविक्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विश्वदधन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०४
विभव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विवेद-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४६	विश्वनाथक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३
विभव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११७	विशाल-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४०	विश्वमावविद्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०
विभावसु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११०	विशिष्ट-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७२	विश्वभुज-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२३
विभीषण-श्रीधर और मनोरमा- का पुत्र ७।१५	विशोक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२४	विश्वभुद्-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विश्वं बोधतीति विश्वभुद् २४।३२
विभीषण-विदेहक्षेत्र बत्सकावती देवका राजा १०।१४९	विश्रुत-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२०	
विभु-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम, विशेषेण भवतीति विभुः २४।३२		

विश्वभू-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१००
विश्वभूतेश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०३
विश्वभृद्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३
विश्वमूर्ति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०३
विश्वयोनि-भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम, विश्वेषां
गुणानामुत्पादकत्वाद् विश्व-
योनिः २४।३२
विश्वयोनि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०१
विश्वरीश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम, विश्वरो-
पृथिवी तस्या ईशः २५।१०४
विश्वरूपात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३
विश्वलोकेश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०१
विश्वलोचन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०२
विश्वविद्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०१
विश्वविद्यामहेश्वर-भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।१२१
विश्वविद्येश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०१
विश्वव्यापिन्-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, सर्वज्ञत्वेन
विश्वं व्याप्नोतीति विश्व-
व्यापी २४।३२
विश्वव्यापिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०२
विश्वशीर्ष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२०

विश्वसृज्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३
विश्ववात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०१
विश्वाराट्-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, विश्वस्मिन्
राजते शोभत इति विश्वा-
राट् 'विश्वस्य वसुराटोः'
इति पूर्वपदस्य दीर्घः २४।३१
विश्वामिष-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३
विश्वेद्-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, ईदृ ऐश्वर्यसम्पन्नो
भवतीति ईदृ, विश्वेषामोद्-
इति विश्वेद् २४।३१
विश्वेद्-संसारके स्वामी भगवान्
आदिनाथ १८।१
विश्वेश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०२
विश्वेश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२३
विष्टरश्मि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६४
विष्णु-चौदह पूर्वके ज्ञाता एक
मुनि २।१४१
विष्णु-भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम, केवलज्ञानापेक्षया
व्यापकत्वाद् विष्णुः
२४।३५
विष्णोवाचार्य-ग्यारह अङ्ग दश
पूर्वके धारक एक मुनि
२।१४३
विहतास्तक-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४१
वीतकलम-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३८
वीतमल्ल-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२४
वीतराग-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८५

वीतभी-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१११
वीर-भगवान् महावीर १।१९६
वीर-भगवान् आदिनाथका पुत्र
१६।३
वीर-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२४
वीरबाहु-श्रीमती और वज्रजङ्घ-
का पुत्र ८।५८
वृष-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।११६
वृषकेतु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।११६
वृषध्वज-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११६
वृषपति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११६
वृषभ-प्रथम तीर्थंकर, इन्हें कृष्ण
अथवा आदिनाथ भी कहते
हैं १।१५
वृषभ-प्रथम तीर्थंकर २।१२८
वृषभ-भगवान् आदिनाथ, वृषेण
धर्मेण भाति शोभत इति
वृषभः १४।१६०-१६१
वृषभ-भगवान् आदिनाथके
१०८ नामोंमें एक नाम
वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः
२४।३२
वृषभ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१००
वृषभ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४३
वृषभध्वज-भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, वृषभो
बलीवर्धो ध्वजो विह्वं यस्य
तः २४।३३
वृषभसेन-भगवान् कृष्णभदेवका
पुत्र १६।२

वृषभस्येव-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम, शं सुखं विद्यते

वन्द्यः २४।३६

२४।३७

वृषभाङ्क-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।११६

वृषाभीष्ट-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।११६

वृषायुध-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।११६

वृषोद्भव-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।११६

वेदविद्-भगवान्के १०८

नामोंमें एक नाम २४।३८

वेदविद्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेदवेद्य-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१४६

वेदाङ्क-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१४६

वेद्य-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१४६

वेद्यस्-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०२

वैकुण्ठान्तकृत्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१६८

वैजयन्त-वज्रसेन और श्रीकान्ता-

का पुत्र (वराहका जीव)

११।१०

व्यक्तवाक्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१४७

व्यक्तशासन-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१४७

व्योमभूर्ति-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१२८

श

शक्त-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।११३

शङ्कर-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम, शं कर्तृतीति

शंकरः २४।३६

शङ्कर-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१८९

शतबल-सहस्रबलका पुत्र

५।१४७

शतबल-महाबल विद्याधरका

पितामह-बाबा ५।१३९

शतमति-राजा महाबलका मन्त्री

४।१९१

शत्रुघ्न-भगवान्के १००८ नामों-

में एक नाम २५।२०१

शम्भव-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१००

शम्भव-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम, शं सुखं

भवति यस्मात् स सम्भवः

२५।३६

शम्भु-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१००

शम्भु-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम, शं सुखं भवति

यस्मात् स शम्भुः २४।३६

शमात्मन्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१६३

शमिन्-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१६१

शरण्य-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम, शरणे साधुः

शरण्यः २४।३७

शरण्य-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१३६

शंख-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।२०६

शंखद-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१८९

शंखद-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम शं सुखं वदतीति

शंखदः २४।३६

शंखु-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम, शं सुखं विद्यते

यस्य सः शंखुः मनुबर्ध,

प्रत्ययः २४।३६

शान्त-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम २४।४४

शान्त-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१३८

शान्तारि-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२१६

शान्ति-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।२०२

शान्ति-सोलहवें तीर्थकर २।१३१

शान्तिकृत्-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०२

शान्तिद-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०२

शान्तिनिष्ठ-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।२०२

शान्तिराज-भगवान्के १००८

नामोंमें एक नाम २५।१२६

शाकृत्कार्य-शाकृलका जीव जो

भोगभूमिमें कार्य हुआ था

९।१८९

शाश्वत-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०२

शासितृ-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।२०१

शास्त्र-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।११५

शांतकृष्णभनिभग्रस-भगवान्के

१००८ नामोंमें एक नाम

२५।१९९

शिव-भगवान्के १०८ नामोंमें

एक नाम २४।४४

शिव-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०५

शिव-भगवान्के १००८ नामोंमें

एक नाम २५।१०५

व्यक्तिवाचक शब्दसूची

६७९

शिवकीर्ति-भूलाराधनाके कर्ता
शिवार्थ १।४९
शिवताति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०२
शिवप्रद-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०२
शिव-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७२
शिवभुज-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७२
शिष्टेष्ट-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२०१
शीतल-दसर्वा तीर्थंकर २।१३०
शीलसागर-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०५
शुचि-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।११२
शुचिप्रथम्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२०
शुद्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०८
शुद्ध-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।२१२
शुभलक्षण-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४४
शुभयु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२१७
शूर-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६०
शोभुषीश-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७९
शायसोक्ति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०९
श्री-षट्कुमारी देवियोंमें एक
देवी जो कि हिमवत्कुला-
बलके सरोवरमें रहती है
१२।१९४
श्रीकाष्ठा-नागरत्त और सुमति-
की पुत्री ६।१२९

श्रीकाष्ठा-पुण्डरीकिणी नगरीके
राजा वज्रसेनकी स्त्री
११।९
श्रीगर्भ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।११८
श्रीदत्त-एक प्राचीन कवि १।४५
श्रीधर-एक देव जो कि वज्र-
जंघका जीव, भोगभूमिके
बाद ऐशानरुच्यके श्री-
प्रभविमानमें उत्पन्न हुआ
था ९।१८५
श्रीधर-विदेहक्षेत्र मङ्गलाधती
देशके रत्नसंभयनगरका
राजा ७।१४
श्रीनिवास-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७४
श्रीपति-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।११२
श्रीपाद-एक पूर्ववर्ती आचार्य
१।५३
श्रीमती-मतिवर मन्त्रीकी माता
८।२१५
श्रीमती-पुण्डरीकिणीनगरीके
राजा वज्रदत्त और रानी
लक्ष्मीमतिकी पुत्री
(ललितांगकी स्त्री स्वयं-
प्रभाका जीव) ६।६०
श्रीमान्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१००
श्रीवर्मा-श्रीधर और मनोहराका
पुत्र ७।१५
श्रीवर्मा-सिंहपुरके राजा श्रीवेण
और सुन्दरीका छोटा पुत्र
५।२०५
श्रीवीरसेन-जिनसेनके गुरु षट्-
क्षणायामके टीकाकार १।५५
श्रीवृक्षलक्षण-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४४

श्रीश-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२११
श्रीधितपादाब्ज-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२११
श्रीवेण-सिंहपुरका राजा ५।२०४
श्रीवेण-सिंहपुरका राजा ८।१८०
श्रुतकीर्ति-एक भावक २४।१७८
श्रुतकीर्ति-आनन्द पुरोहितका
पिता ८।२१७
श्रुतात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१६४
श्रेष्ठिक-राजगुह्रीका राजा
१।१९७
श्रेष्ठस्-हस्तिनापुरके राजा सोम-
प्रभका छोटा भाई श्रेयान्स
जिसने भगवान् शृणभनाथ-
को सर्वप्रथम आहार दिया
था १।११
श्रेष्ठस्-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२०९
श्रेष्ठान्-दानतीर्थका प्रवर्तक हस्ति-
नापुरके राजा सोमप्रभका
भाई, श्रीमतीका जीव
८।२४६
श्रेयोनिधि-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२०१
श्रेष्ठ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम, कतिपयेन प्रवृत्तः
२५।१२२
इक्ष्वाक-भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१४४
स
सगर-द्वितीय चक्रवर्ती २।४२
सत्कृत्स्न-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३०
सत्त्व-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७५
सत्यपराधण-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७५

सन्ध्याभ्यास-अमृतमति मन्त्रीकी स्त्री ७।९२	सन्मति-दूयरा कुलकर ३।७७	सर्वलोकान्तिग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१११
सन्ध्यावाच-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५	समग्रधी - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१५०	सर्वलोकेश-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९
सन्ध्याविज्ञान-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५	समन्तभद्र-एक प्राचीन कवि ४।१७७	सर्वलोकैकसारथि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९
सन्ध्याशासन-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५	समन्तसद-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१६	सर्वविद्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९
सन्ध्यासन्धान-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५	समथञ्ज - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८४	सर्वरिमन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९
सन्ध्यात्मन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५	समाधिगुप्त - एक मुनिराज ६।१३५	सर्वदि-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९
सन्ध्याशिष्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७५	समाहित - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८४	सत्तिष्ठात्मक-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२६
सदाभक्ति-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	समुन्मीलित कर्मारि - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।२१४	सहस्रपात्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२१
सदानृत्त-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	संमिश्रमति - राजा महाबलका मन्त्री ४।१९१	सहस्रबल-महाबल विद्याधरके पिताके पितामह ५।१४६
सदाभाविन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८८	सयोग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २४।३८	सहस्रशीर्ष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२१
सदाभोग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	सर्वकलेशापह-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३	सहस्राक्ष-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१२१
सदायोग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	सर्वग-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९५	सहिष्णु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०९
सदाविद्य-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	सर्वज्ञ-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९	संभव-तृतीय तीर्थकर २।१२८
सदाशिव-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	सर्वश्रम-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१८८	साक्षिन्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१४१
सदासौख्य - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	सर्वदर्शन-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९	सागरदत्त-हस्तिनापुरका वैश्य ८।२२३
सदाद्वय - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१७७	सर्वद्विक्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९	सागरसेन-एक मुनि ८।१६७
सद्योजात - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९६	सर्वदीपहर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६३	साधु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६२
सनातन - भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१०५	सर्वयोगीश्वर-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१६४	सार्व-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९
सन्ध्याभवाभु-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१९८	सर्वलोकजित्-भगवान्के १००८ नामोंमें एक नाम २५।११९	सारस्वत-लोकान्तिकदेवका एक भेद १७।४८
सन्मति-चीवीसर्व तीर्थकर २।१३२		सिद्ध-भगवान्के १०८ नामोंमें एक नाम २४।३८

सिद्ध-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१०८

सिद्धशासन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०८

सिद्धसंकल्प-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५

सिद्धसाधन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५

सिद्धसाध्य-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०८

सिद्धसेन-त्रिभुवनके पृथ्वीकी एक
महार्काव १।२९, ४२

सिद्धात्मन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५

सिद्धान्तविद्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०८

सिद्धार्थ-भगवान् महार्कारके
पिता १।१९६

सिद्धार्थ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४३

सिद्धार्थ-इस्तिनापुरके राजा
सोमप्रभका द्वापरकाल २०।६९

सिद्धार्थ-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०८

सिद्धिद-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५

सीता-विदेहक्षेत्रकी एक नदी
५।९९

सीमन्धर-विदेहक्षेत्रके तीर्थकर
७।८८

सीमंकर-पाँचवाँ कुलकर ३।१०७

सीमंभर-छठा कुलकर ३।११२

सुकृतिन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७४

सुखद-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७८

सुखसाधूत-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१७

सुगत-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२१०

सुगति-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२०

सुगुप्त-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७८

सुगुप्ताग्रन्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४०

सुगोप-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७८

सुतनु-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।२१०

सुग्रामपूजित-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२७

सुखन्-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२७

सुदत्ता-धान्यपुरके कुक्षेत्रणिक-
की स्त्री ८।२३१

सुदर्शन-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८१

सुदर्शना-एक आशिका ७।४४

सुदृष्टि-सुसोमानगरका राजा
१०।१२२

सुधर्म-सुधर्म केवली १।१९९

सुधर्म-गोपमके बाद होनेवाले
अनुवद्ध केवली २।१३७

सुधर्म-एक मुनि ७।१६

सुधी-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२५

सुधी-(सुधी) भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१७१

सुधीतकलधौतर्षी - भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।२००

सुनन्दा-भगवान् आदिनाथकी
स्त्री १५।१७०

सुनय-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७४

सुनयनस्ववित्-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४०

सुन्दरवन्दा-सुसोमानगरके राजा
सुदृष्टिकी स्त्री १०।१२२

सुन्दरी-मिहपुरके राजा श्रीपेण-
की स्त्री ५।२०४

सुन्दरी-गन्धर्वपुरके राजा
मन्दरमालीकी स्त्री ८।९२

सुन्दरी-मिहपुरके राजा श्रीपेण-
की स्त्री ८।१८१

सुन्दरी-राजा प्रियसेनकी स्त्री
९।१०९

सुन्दरी-रत्नसंचयनगरके राजा
महोषरकी स्त्री १०।१२५

सुन्दरी-भगवान् आदिनाथकी
सुनन्दा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्री
१६।७

सुपाद्व-सप्तम तीर्थकर २।१२९

सुप्रभ-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१२७

सुप्रभा-अयोध्याके राजा जयवर्मा-
की स्त्री ७।४१

सुप्रसन्न-भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१२२

सुबाहु-वज्रसेन और श्रीकान्ता-
का पुत्र (मतिवर मन्त्रीका
जीव) ११।१२

सुभग-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१८४

सुभद्र-प्रथम अङ्गके जाता एक
मुनि २।१४९

सुभुव-(सुभुव) भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम (सुभु-
जाता) (सुभु गोपक)
२५।१४०

सुमति-पंचम तीर्थकर २।१२९

सुमति-पाटलीग्रामके नागदत्त
वणिक्पुत्रकी स्त्री ६।१२८

सुमति-पल्लवपर्वत ग्रामके वैदिक
नामक पटेलकी स्त्री ६।१३५

सुमुख-भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१७८

मुमध्व-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१७२
 मृगध्व-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१७३
 मुरुध्व-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१८४
 मुत्रगवर्ज-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१९७
 सुवाध्व-भगवान्के १००८ नामों
 में एक नाम २५।१२०
 सुविधि-सुमीमानगरके राजा
 दुदृष्टि और रानी सुन्दरनन्दा-
 का पुत्र (वज्रजङ्घ श्रीधर
 देशका जीव) १०।१२२
 सुविधि-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१२५
 सुध-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।१७५
 सुधुत-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१२०
 सुधुत-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१२०
 सुधमाधुःसमा - अवसन्निपोका
 तीसरा काल ३।१७
 सुसंयुत - भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१४०
 सुसंस्कार (बीकहिपक)-भगवान्-
 के १००८ नामोंमें एक
 नाम २५।१६८
 सुसौम्याभ-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१२८
 सुस्थित - भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१८५
 सुस्थिर-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।२०३
 सुस्थित-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१७८
 सुहृत्-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१७८

सूक्ष्म-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २४।३८
 सूक्ष्म-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१०५
 सूक्ष्मदक्षिन्-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।२१६
 सूति-उत्पादक २।३२
 सूनुतपूतवाध्व-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।२१२
 सूर्यकोटिसमप्रम - भगवान्के
 १००८ नामोंमें एक नाम
 २५।१९७
 सूर्यभूति - भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१२८
 सूरि-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।१२०
 खट्ट-भगवान्के १०८ नामोंमें
 एक नाम, कर्मभूमिव्यव-
 स्थायाः सर्जनात् खट्टा
 २४।३०
 खट्टा-भगवान् आदिनाथका नाम
 १६।२६७
 सोमप्रभ-कुरुवंशका राजा
 हस्तिनापुरमें जिसकी राज-
 धानी थी १६।२५८
 सोमभूति-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१२८
 सौम्य-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१७८
 स्तवनाथ-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१३४
 स्तुतीश्वर-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१३४
 स्तुत्य-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।१३४
 स्थविर-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।१२२
 स्थविष्ठ-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम, अतिशयेन
 स्थूलः स्थविष्ठ २५।१२२

स्थवीयस्-भगवान्के १०८
 नामोंमें एक नाम २४।४३
 स्थवीयस्-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१७६
 स्थाणु-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।११४
 स्थावर-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम २५।२०३
 स्थास्तु-भगवान्के १०८ नामोंमें
 एक नाम २४।४४
 स्थास्तु (स्थाणु) - भगवान्के
 १००८ नामोंमें एक नाम
 २५।२०३
 स्थेयस्-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१७६
 स्थेष्ठ-भगवान्के १०८ नामोंमें
 एक नाम २४।४३
 स्थेष्ठ-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम, अतिशयेन स्थिरः
 २५।१२२
 स्नातक-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।११२
 स्पष्ट-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।२०१
 स्पष्टाक्षर-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।२०१
 खट्ट-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।१३३
 खट्टन्त्र-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१२९
 खन्त-भगवान्के १००८ नामों-
 में एक नाम, सुष्ठु अन्तो
 यस्य सः २५।१२९
 खभू-भगवान्के १००८ नामोंमें
 एक नाम २५।२०१
 खामिन्-भगवान्के १००८
 नामोंमें एक नाम २५।१७२
 खयम्प्रभ-एकदेव जो कि श्रीमती-
 का जीव भोगभूमिके बाद
 स्वयम्प्रभ विमानमें देव हुआ
 ९।१८६

स्वयंप्रभा—ललितांगदेवकी प्रधान
देवी ५।२८३

स्वयंभुव—राजा महाबलका
मन्त्री ४।१९१

स्वयंभुव—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११३

स्वयंभू—भगवान् महावीर
२।१५४

स्वयंज्योति—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१०६

स्वयंप्रभ—एक मुनि ५।२०८

स्वयंप्रभजिन—विदेहके तथेकर
९।११०

स्वयंप्रभ—एकदेव जो कि वज्र-
जंघकी स्त्री श्रीमतीका
जीव था १०।१४५

स्वयंप्रभ—भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम, स्वयं प्रभा यस्य
सः स्वयंप्रभः २४।३५

स्वयंप्रभ—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१००

स्वयंप्रभ—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१८

स्वयंप्रभा—ललिताङ्ग देवकी
३-९ पक्षकी आयु बाकी
रहनेपर उत्पन्न होनेवाली
एक देवी ५।२८६

स्वयंप्रभा—ललिताङ्गदेवकी स्त्री
६।५०

स्वयंभू—प्रथम तोर्यकर २।१

स्वयंभू—भगवान्के १०८ नामों-

में एक नाम, स्वयं भवतीति
स्वयंभू २४।३५

स्वयंभू—भगवान्के १००८ नामों-
में-से एक नाम २५।१००

स्वयंभूष्णु—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।११०

स्वर्णस—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९९

स्वसंवेद्य—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१४५

स्वस्थ—भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१८५

स्वास्थ्यभाज्—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८५

ह

हतदुर्नय—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२१०

हर—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम, हरति कर्मशत्रू-
निति हरः २४।३६

हर—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१६३

हरि (हरिकान्त)—हरिवंशका
एक राजा जिसे सर्वप्रथम
भगवान् आदिनाथसे स्थापन
किया था १६।२५९

हरि—भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।३६

हरिचन्द्र—अरविन्द विद्याधरका
पुत्र ५।९१

हरिवाहन—विजयपुरके राजा

महानन्दकी वसन्तसेना स्त्रीसे
उत्पन्न पुत्र ८।२२८

हविर्भुक्—भगवान्के १०८ नामों-
में एक नाम २४।४०

हविष्—भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१२७

हृदय—भगवान्के १०८ नामोंमें
एक नाम २४।४०

हाटकद्युति—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।२००

हिरण्यगर्भ—भगवान्के १०८
नामोंमें एक नाम, हिरण्य
गर्भ यस्य सः । गर्भकाले
हिरण्यवृष्टिरथात् २४।३३

हिरण्यवर्ण—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१९९

हृषीकेश—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१३४

ह्री—षट्कुमारी देवियोंमें-से एक
देवी १२।१६०

हेतु—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २५।१४३

हेमगर्भ—भगवान्के १००८
नामोंमें एक नाम २५।१८१

हेमास—भगवान्के १००८ नामों-
में एक नाम २५।१९८

हेयान्धेयविश्वक्षण—भगवान्के
१००८ नामोंमें एक नाम
२५।२१४

हीतु—भगवान्के १००८ नामोंमें
एक नाम २४।४१

विशिष्ट शब्दसूची

अ	अतिवर्ती—स्वच्छन्द प्रवर्तनेवाला १५।५२३३३	अनीश्वर—असमर्थ २०।२६
अकल्प—नर्पसक १।६७	अमृजु—कुटिल १।८९	अनुक्षिप्त—अपामनु अनुक्ष- पम्, प्रत्येक रात्रिमें १५।१८१
अकारु—घोबी आविसे मिश्र १६।१८५	अस्त्युक्त—छन्दोंकी एक जाति १६।११३	अनुजिघृक्षा—अनुग्रह करनेकी इच्छा ४।२८
अकृत—अविच्छिन्न २।१५	अदभ—विशाल २२।१७	अनुभ्यान—स्मरण १६।१४८
अकृष्टपथ्य—बिना हल जोते बखरे अपने-आप पैदा होनेवाला शान्य १६।१३१	अदेवमातृक—मेघकी वर्षापर निर्भर नहीं रहनेवाले देश १८।१५७	अनूप—जलकी बहुलतासे युक्त देश १६।१५९
अक्ष—बहेड़ा ३।४९	अधर—शरीरके मीचेका भाग १५।२००	अनेक्य—हाथी १८।१७९
अक्षमाम—इन्द्रियोंका समूह ८।७३	अधिश्रित—चूल्हेपर चढ़ाया हुआ ५।७२	अनेनस्—निष्पाप ११।६६
अक्षणीय—अछेद्य १३।१४७	अधीली—अध्ययन कुशल १।१२९	अनेहस्—काल ९।१८
अगोष्पन्—अत्यन्त निर्जन जहाँ भावोंका पहुँचना भी कठिन है ऐसे दुर्गम वन २०।२१३	अध्वयोग—छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-प्रस्थय	अन्तर्वर्त्तनी—गभिणी १२।२१२
अग्रमहिषी—प्रधान देवियाँ १०।१९४	अनञ्जितामिश्र—बिना काजल लगाये हो काले १४।९	अन्तर्वर्त्तनी—गभिणी १५।१३१
अक्षिप—वृक्ष १।१८७	अनन्तचतुष्टय—१ ज्ञान २ दर्शन ३ सुख ४ वीर्य २५।२२१	अन्धस्—भोजन ३।४९
अक्षभृत्—प्राणी, पक्षमें द्वादशाङ्गके धारी गणधर देव २४।१८६	अनर्जुन—काले १०।४२	अन्वयिनिक—आमाताके लिए देय द्रव्य—दहेज ८।३६
अक्षलास—शरीरकी मोड़ १०।२०६	अनसूया—ईर्ष्याका अभाव १।९१	अन्धीपता—अनुकूलता ७।१५२
अक्षहार—अङ्गविक्षेप नृत्यकालमें अङ्गोंका विशेष रीतिसे चलाना १३।१७९	अनाराम—बगीचासे रहित ४।११३	अपघन—अवयव १५।२२३
अच्छोद्य—दृढतापूर्वक कहकर १८।३९	अनाशितम्भर—अतृप्तिकर ७।५०	अपविति—पूजा ११।४७
अच्युतेन्द्र—सोलहवें स्वर्गका इन्द्र १०।१७३	अनाशितम्भव—अस्थिर—बिनाश- शील ११।१९४	अपधर्मा—अन्त १९।९
अच्युतेन्द्र—अविनाशी श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे युक्त, पञ्चमें भग- वान् ऋषभदेवकी सोलहवें स्वर्गके इन्द्रकी एक पर्याय १४।४९	अनाशितम्भवम्—असके सेवनसे तृप्ति न हो। ऐसा लगता रहे कि और सेवन कर्हें, और सेवन कर्हें २५।२६	अपवर्तिका—यष्टिहारका भेद जिसके बीचमें निश्चित प्रमाणके अनुसार स्वर्ण, मणि, माणिक्य और मोती बीच-बीचमें अन्तर देकर गूँथे जाते हैं १६।५१
अतिरुन्द्र—अत्यन्त विस्तृत १०।१८७	अनाश्वान्—उपवास करनेवाला १।८	अपुनर्मवत्ता—मोक्ष ८।२४४
	अनाश्वान्—अनशन करनेवाला १८।२१	अप्रतिपत्ति—ज्ञान २३।७०
	६८४	अव्यु—दर्पण १।१४२
		अव्यु—वर्ष २।१४५
		अव्यु—मेघ ३।१८०
		अव्यु—मेघ ५।२१८
		अभिगम्य—सेवनीय १४।२१०
		अभिजात—योग्य उचित १७।१७०
		अभिज्ञान—पहिचान ७।५७

अभिरूप-मनोज ७।२०८
अभिरूप-नाम ११।८
अभिसिर्षा-अभिसार-संभोगके
लिए गमनकी इच्छा
१०।४८
अभुत्-अज्ञानी ७।७८
अभ्यस्त-गुणित १०।१५५
अभ्युदय-रवर्गादिका वैभव
५।२०
अभा-साथ २।१६१
अभा-साथ ८।२५५
अमेध्यादन - त्रिष्ठाका भक्षण
११।१८१
अमृतपद-मोक्ष ११।५९
अम्भोजवासिनी-लक्ष्मी १०।१३१
अधुक्छद्-सप्तपर्ण ९।२
अधुत-दस हजार १०।१८९
अर्घा-प्रतिमा ११।१३६
अर्धिष्-ज्वाला २।९
अरण्यचरक - म्लेच्छोंकी एक
जाति जो अधिकतर जंगलों-
में घूमती है १६।१६१
अर्धमाणव-जिसमें दस लड़ियाँ
हों ऐसा हार १६।६१
अर्धगुच्छ-जिसमें चौबीस लड़ियाँ
हों ऐसा हार १६।६१
अर्धहार-जिसमें चौंसठ लड़ियाँ
हो ऐसा हार १६।५९
अराल-कुटिल १८।१९२
अरुणरश्मि - भिलसाका तेल
१०।५४
अलीकविचक्षण-झूठा बोलनेमें
चतुर ७।११२
अवघाटकयष्टि-जिसके बीचमें
एक बड़ा और उसके आजू-
बाजूमें क्रमसे घटते हुए
छोटे मोती लगे हों ऐसी
एक लड़वाली माला
१६।५३

अवघाटक-यष्टि नामक हारका
एक भेद १६।४७
अवधीक्षण-अवधिज्ञानी ५।१९९
अवनिष-राजा १७।२५२
अवपात-गर्त ११।१९८
अवभृथ (मज्जन)-कार्यके अन्तमें
होनेवाला स्नान १३।२००
अवलम्बन-मध्य भाग, कमर
१२।३५
अवावा (अवाचन्)-दूर करने-
वाला, ओणू अपनयने
इत्यस्माद् आतीर्षन्तिप्रत्ययः
१५।१४९
अवृजिन-निष्पाप ५।२९५
असनाया-भूख ३।१९१
अशोकमहावृक्ष-अशोक वृक्ष-
नामका प्रातिहार्य जिस वृक्ष-
के नीचे भगवान्को केवल
ज्ञान होता है वह वृक्ष सम-
वसरणमें अशोक वृक्ष कह-
लाता है, २४।४७
अश्वत्थरी-खच्चरी ८।१२०
असिधेनुका-सुरी ५।११३
अस्पृश्यकारु-प्रजाके बाह्य रहने-
वाले बाण्डाल आदि
१६।१८६
अस्वन्त-जिनका अन्त अच्छा
नहीं ९।३२
अहीन्द्र-धरणेन्द्र १८।१३६
आ
आशुहृष्ट - बुलानेका हृष्टुक
१४।५८
आम्जस-वास्तविक १।२०४
आतोष-दायित्व ३।३५
आरम्भनीम-आरम्भने हितम् आत्म-
नीतम् १९।१८९
आत्रिक-इस लोकसम्बन्धी
१७।२१६
आधि-मानसिक व्यवसाय ६।५२

आप्तपाश-पाप्मभाग कुम्भिताः
आप्तपाशाः वाप्ये पाशा
१।७२
आप्यायन-सन्तोषकरक २०।२४
आमिगामिक-नरके अनुकूल
१५।१६१
आमुशिक-पारलौकिक १७।२१६
आयुर्वेद-वैद्यविद्या १६।१२३
आयुष्य-आयुर्वर्धक १।२०५
आराम-उद्यान ४।५२
आराम-शरीरादि पर्याय १४।३९
आशा-दिशा ६।२८
आशुशुश्रूणि-अग्नि २५।२१४
आहार्य-आभूषण २२।६२
इ
इक्षुधन्वा-कामदेव १६।२६
इज्जितकोविदा-वेष्टाओंके जानने-
में निपुण ६।९८
इज्या-पूजा २४।१०
इन-स्वामी २३।१८०
इन्द्र-देवराज २२।२२
इन्द्रकोश-बुरज १९।६५
इन्द्रसोप-बरसातमें निकलनेवाला
लाल रंगका एक कीड़ा
वीरवहूटी ९।१४
इन्द्रच्छन्द-हारविशेष १५।१६
इन्द्रच्छन्द-जिसमें १०००
लड़ियाँ हों ऐसा हार।
यह हार सबसे उत्कृष्ट हार
है इसे इन्द्र, अक्षवर्ती तथा
तीर्थकर पहिनते हैं १६।५६
इन्द्रच्छन्दमाणव-इन्द्रच्छन्द हार-
के बीचमें एक मणि लगा
देने पर इन्द्रच्छन्दमाणव
कहलाता है १६।६२
इन्द्रमह-आतंकका महीना
११।१७८
इन्द्रवृषभ-इन्द्रश्रेष्ठ २३।१६३

हृन्द्स्त्वैरस-हृन्द्का

हाथी

ऐरावत २२।३२-५२

इषुधि-तरकश ६।६५

इष्टि-पूजा १३।२०२

ई

ईका-स्तुति ३।७३

ईका-स्तुति २४।४६

ईष्टिपूजा-स्तुति करनेकी इच्छा

करता हुआ २३।१२१

ईति-अतिवृष्टि, अनावृष्टि,

मूषक, शलभ, शुक और

निकटवर्ती राजा। ये छः

ईतिमा कहलाती हैं ४।८०

ईक्षिता-भगवान् आदिनाथ

१६।१२७

उ

उक्ता-छन्दोंको एक जाति

१६।११३

उद्धुप-चन्द्रमा १९।१००

उक्षन्-बैल १।२९

उक्ष-बैल २२।२३३

उत्कर-सूँड़ ऊपर उठाये हुए

१३।२४

उग्रोद्य-जिसकी नाक ऊपरकी

उठी हुई है १०।७२

उदन्था-प्यास ११।१६८

उद्गम-पुष्प १५।४९

उद-पशुस्त-श्रेष्ठ १०।१७६

उद्वाह-विवाह १७।८०

उद्विक्त-जीव उदयसे मुक्त

१०।११२

उद्बोधनाकिका-प्रज्वलित करने-

वाली नली ऐसी नली

जिससे सुनार लोग अग्नि को

फूँकते हैं १५।१९०

उपल-आश्रय ६।६९

उपनता-उपस्थित १७।२६९

उपमा-एक अलंकार १६।११५

उपशीर्षक-पष्टि नामक हारका

एक भेद १६।४७

उपशीर्षकपष्टि-जिसके बीचमें

कम-कमसे बढ़ते हुए तीन

मोती हों ऐसी एक लड़ो-

वाली माला १६।५२

उपहार-एकाग्र स्थान १०।४८

उपधि-परिग्रह ५।२३२

उपायन-भेंट-उपहार ५।११

उपालम्भ-शेष देना ९।५०

उपोदात-प्रस्तावना २।१

उरसिल-चौड़े वक्षस्थल वाला

३।१६१

उल-किरण १५।१७९

ऊ

ऊर्ध्वकाय-ऊँचा शरीर १५।१९९

ए

एकचर्चा-एक विहार, अकेले

विहार करना ११।६६

एकद्वित्रिलयुक्तिया-छन्दशास्त्र-

का एक प्रकरण-प्रत्यय

१६।११४

एकपय-एकपदा ४।१८८

एकावली-पष्टि नामक हारका

भेद, एक लड़की माला

जिसके बीचमें एक बड़ा

मणि लगता है १६।५०

एनस्-पाप २।२३

ऐ

ऐरावती-ऐरावत हाथीसम्बन्धी

१४।१३९

ओ

ओकस्-स्थान ३।७५

औ

औदय-उदयावलसम्बन्धी

१३।३९

औरभ-उरभ, मेदासम्बन्धी

१०।६४

औषस-प्रातःकालसम्बन्धी

१९।९९

क

कणय-एक हथियारका नाम

जिससे लकड़ी छीली जाती

है १५।२०५

कण्डीरव-मिह १८।१७९

कण्ठग्र-कण्ठस्थानसे उच्चारित

१६।३८

कद्वद-कुवचन बोलनेवाले,

कुत्सित वदन्तीति कद्वदाः

१०।१०४

कनकराजीव-स्वर्णकमल

१०।१३७

कपिशोर्ष-कोटका अग्रभाग

१९।६१

कपोलाब्दक-पालरूपी दर्पण

१०।२०७

करक-भारी ७।२४६

करक-मोला १३।१६१

करज-नख १९।१३२

करट-हाथीका गण्डस्थल ७।३०४

करण-इन्द्रिय अथवा शरीर २।९१

करण - करन्यास - मुख्यकालमें

हाथोंका चलाना १३।१७९

करणग्राम-इन्द्रियसमूह ४।६६

कर्णजपरव-बुगली १२।४८

कापत्र-करोत १०।१०१

करसंवाधा-देवसकी पीड़ा २।१६

कलकण्ठी-कोकिला १८।१७९

कलत्र-नितम्ब १२।२८

कलम्बित-मिश्रित २२।८७

ककाधर-चन्द्रमा ३।४९

कदयदेहरव-नीरोग ९।८३

कदवाणी-पुष्पमालिनी १।१४१

कशिपु-भोजन वस्त्र १८।२५

काचवाहजन-काँवरको उठाने-

वाले ८।१२१

काञ्चीयष्टि-मेखला २२।२०६

कादम्बिक-हलवाई ८।२३४

कान्ताधर-मुन्दर ओठोंसे युक्त

१०।१२८

कान्तारचर्या—वनमें ही आहारार्थ भ्रमण करनेकी प्रतिज्ञा

८।१६८

कापिल—साहचर्य १८।६२

कायमान—तम्बू ८।१६६

कार्पण्य—रीनता ७।२६७

काह—शूद्रवर्णका एक भेद (धोबी आदि स्पर्धय दूध) १६।१८५

कालकालाम—अत्यन्त काले १०।९६

काष्ठा—सीमा १३।८५

किञ्चलक—केशर १२।११३

कुक्कुटसंपात्य—पास-पासमें बसे हुए ४।६४

कुणव—मुर्दा १०।१००

कुसुपम्पास—शायिक १४।१००

कुधार—हाथियोंपर डालनेकी मूल ३।११९

कुरव—छोटे शब्दसे युक्त १२।२०७

कुरुध्वज—कुरुवंशमें श्रेष्ठ राजा सोमप्रभ और उनके छोटे भाई श्वेयान्त २०।१२०

कुरुध्वज—कुरुवंशमें श्रेष्ठ हस्तिनापुरके राजा सोम-प्रभ २०।१११

कुरुधर—कुलकर, ये तृतीय कालके अन्तमें हुए हैं इनकी संख्या १४ है १२।४

कुरुपत्र—ताम्रपत्र, जिसमें वंशावली आदि लिखी जाती है १२।९९

कुकाय—कोसला ४।६७

कुलाक—कुम्भकार ३।४

कुत्रिण्य—गुलाहा ४।२६

कुवली—वेर ९।७२

कुवलीफल—वेर ३।३०

कुसुमेकु—कामदेव ६।९५

कुटनाटक—कपटसे भरा नाटक १७।३८

कुकवाकु—मुरगा १२।१३९

कुकवाक्यित—मुरगाके समान आचरण करनेवाले १४।१९७

कृतयुगारम्भ—आषाढ़ मासके कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन भगवान् आदिनाथने कृतयुगका प्रारम्भ किया था १६।१९०

केशव—नारायण १।१७०

केशाकेशि—बाल पकड़कर होने-वाला युद्ध ३।११४

कोकी—चकवी १५।१०६

कोण—ओरी बजानेमें काम आने-वाला दण्ड १५।१४६

क्रमपल्लव—पल्लवोंके समान कोमल चरण १४।१४२

कमुक—सुपारी १७।२५२

क्षय—वत्सव १५।९९

क्षणदा—रात्रि ५।२१५

क्षणशमुत्थ—रजनीमुख—रात्रिका प्रारम्भकाल १४।५७

क्षणप्रभा—बिजली ५।२१५

क्षतज—खून ५।१०८

क्षय—एक महीनाका उपवास ८।२०२

क्षामता—कसता ६।१६४

क्षेम—प्राप्त वस्तुकी रक्षा करना १६।१६८

क्षमाज—वृक्ष ३।११४

क्षमाज—वृक्ष १८।८०

ख

खराश—सूर्य १२।१३३

खाया—परिखा १९।५३

खाकृत—झकारा हुआ १३।१४४

ग

गणरात्र—बहुत रात्रियाँ ११।९९

गत्वरी—नाशशील १६।२३३

गमक—टोकाकार १।४८

गम्युति—एक कोश ३।५४

गार्वाणाधिप—इन्द्र १।५

गुच्छ—त्रिसमें चत्तौस लक्षियाँ हैं ऐसा द्वार १६।९९

गुरु—पिता ७।९८

गुरु—पिहितालवमुनि ७।९९

गुरु—पिता २४।२

गुहक—देवविशेष १७।१०१

गुहकोकिञ्च—छिपकली ५।१०२

गोक्षुर—गोखुर—कटिदार एक वनस्पति १०।१०१

गोमक्षिका—गायपर बैठनेवाली एक क्षात प्रकारकी मक्खी, जिसे गामीन लोग बघाती कहते हैं २४।४८

घ

घनाश्वय—शरत्काल १।८२

च

चक्रध्वज—चक्रके चिह्नसे सहित ध्वजाएँ २२।२३५

चक्राङ्गा—चकवी ६।५०

चक्रुरजिका—चार कोनवाली २२।१७४

चतुष्टय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्धारित्र और सम्यक् तप इन चार धाराधना रूप १।४९

चरमाङ्ग—अन्तिम धारीर धारण करनेवाला—तद्भवमोक्षगामी १५।१२६

चषक—पानपात्र—कटोरा रत्नास आदि ९।४७

चामीकर—सुवर्ण ३।५८

चार्बी—सुन्दरी १२।१६७

चित्तजम्मा—काम २२।८९

चैत्यज्जम—चैत्य वृक्ष—विसर्केली नीचे प्रतिमा बिराजमान रहती है ६।२४

सोमसुन्धर-प्रप्त करनेकी
निपुणता ७।६७

छु

छन्दोविधिति-छन्दोंका समूह
१६।११३

छाया-कान्ति ९।२९

ज

जगत्त्रय-ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक,
अधोलोक २।११९

जमुष्यन्ध-जन्मान्ध ५।२१८

जन्य-पुत्र ३।१२७

जलवाहिन्-मेष ३।१७४

जलाशया-जड़ अभिप्रायवाले, पक्ष-
में जलसे युक्त ४।७२

जल्पाक-बाबाल, बहुत बोलने-
वाला १७।१४७

जाङ्गल-जलकी दुर्लभतासे युक्त
देश १६।१५९

जातुर्धी-लासकी बनी हुई १।६९

जानभूमि-देश ६।२६

जामी-बहन १५।७०

जःरुम-नीच २२।८९

जिघृक्षु-ग्रहण करनेके इच्छुक
२।८७

जिनजननसपत्नी-जिनेन्द्रदेवकी

जन्मकालीन पूजा १३।२१२

जीमूत-मेष ४।७९

जीवके २ भेद-१ सुषुप्त २ संसारी
२४।८८

जीवके अधिगमके उपाय-सत्,
संख्या आदि अनुयोग, प्रमाण,
नय और निक्षेप २४।९७-९८

त

तनूनपाद्-अग्नि ५।२४२

तरलप्रतिबन्धयष्टि-जिसमें सब

जगह एक समान मोती लगे

हों ऐसी एक लड़वाली

माला १६।५४

तरलप्रबन्ध-यष्टि नामक हारका
एक भेद १६।४७

तरुण-शय्या ९।२४

तानव-कृशता १२।१३५

तान्त्र-तन्त्रीसम्बन्धी, तन्त्रया अयं
तान्त्रः १२।२०२

तामिस्रपक्ष-कृष्णपक्ष २०।२६८

तामिस्वेतरपक्ष-कृष्ण और शुक्ल
पक्ष ३।२१

तामिन्-रक्षक २०।९७

तारवी-तरु-वृक्षसम्बन्धी
१४।१५०

तारा-असिकी पुतली ११।१८

तिरस्करिणी-परदा १९।११८

तिरोट-(किरीट)-मुकुट ११।१३३

तीरिका-बाण ९।९

तुणव-वाद्यविशेष २३।६२

तुण्य-तुण्य करनेवाला
२५।१२

तुण्या-तुण्योंका समूह ८।५३

तोक-पुत्र ३।१३२

तौयाभितकी-आकण्ड जलपूर्ण
१९।५६

त्रिकूट-लंकाका आधारभूत-पर्वत
४।१२७

त्रिवीथ-वात, पित्त, कफ
१५।३०

त्रिरूपमुक्त्यज्ञ-१ सम्यग्दर्शन
२ सम्यग्ज्ञान ३ सम्यक्-
चारित्र्य २५।२२१

त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ, काम १।९९

त्रिसाक्षिकम्-आत्मा, देव और
सिद्धपरमेश्वरीकी साक्षीपर्वक
१७।१९९

द

दम-इन्द्रियोंका धन करना
५।२२

दम्ब-बछड़ा १।२७

दम्ब-बछड़ा ८।९६

दम्बक-बछड़ा १८।५०

दर-कुछ १२।१२३

द्वधु-सन्ताप ९।१६०

द्वीयसी-अत्यन्त दूर रहनेवाला
१०।८८

दशप्राण-काव्यके दस गुण १

श्लेष २ प्रसाद ३ समता

४ माधुर्य ५ सुकुमारता

६ अर्थव्यक्ति ७ उदारता

८ भोज ९ कान्ति और

१० समाधि

दशा-वस्ती, पक्ष अवस्था
१५।११५

दशावतार-भगवान् ऋषभ
देवके महाबल आदि १०
पूर्व भव २५।२२३

दास्युष-कृष्णवर्णका एक पक्षी ५।६

द्वादशगण-समवसरणमें भगवान्के
चारों ओर १२ समा-

मण्डप होते हैं जिनमें क्रमसे-

१ गणधरादि मुनिजन २ कल्प-

वासिनी देवियाँ ३ आदि-

कार्प और मनुष्योंकी स्त्रियाँ

४ भवनवासिनी देवियाँ ५

व्यन्तरिणी देवियाँ ६

ज्योतिष्क देवियाँ ७ भवन-

वासी देव ८ व्यन्तरदेव

९ ज्योतिष्कदेव १० कल्प-

वासी ११ मनुष्य और

१२ पशु बैठते हैं। यही

द्वादशगण कहलाते हैं

२३।१९३-१९४

दाम-करधनी १४।१३

दिध्यासु-ध्यान करनेके इच्छुक
२१।६९

दिध्व-स्वर्गसम्बन्धी १०।१७३

दिध्वशु-अविज्ञानरूपी नेत्र-

को धारण करनेवाले

१५।१२२

दिव्यहंस—अहमिन्द्र भगवान् आदि-
नायका जीव ११।१२७

दिव्याष्टगुण — १ अनन्त ज्ञान
२ अनन्तदर्शन ३ अव्या-
बाधत्व ४ सम्यक्त्व ५
अवगाहनत्व ६ सुखमय
७ अगुलबुद्ध ८ अनन्त-
वीर्य २५।२२३

दिव्यास्थानी— समवसरणभूमि
२३।७४

द्विरूपोपयोग — १ जलोपयोग
२ दर्शनोपयोग २५।२२१

दीधितिभास्विन्—सूर्य १।१३

दीर्घनिद्रा—मृत्यु ९।२७

दुर्गत—हरिद्र ५।१०९

दूष्यकुटी—कपड़ेकी धारिणी ८।१६०

दृढ—रचित २५।२२४

देव—मेष १।१६२

देवच्छन्द—जिसमें मोतियोंकी
इसपासी लड़ियाँ हों ऐसा
हार १६।५८

देवधिपथ—देवगृह — जिनमन्दिर
१४।८२

देवमातृक—मेथकी वर्षापर निर्भर
रहनेवाले १६।१५७

दोष्—भुजा १।२८

दोष्—भुजा २३।३८

दोहद—गर्भकालीन दृष्टि १५।१३७

दौर्मत्य—हारिद्र ६।१३३

दुम्भ—सुवर्ण १२।९६।

ध

धनुर्वेद—शस्त्र विद्या १६।१२३

धनुष्—चार हाथ प्रमाण ३।६४

धम्मिक—बालोंका बंधा हुआ
जूड़ा ६।८०

धात्रीकल—आँखला ३।५४

धारागृह—फवारा ८।२८

धेनुक—नायोंका समूह ८।१३१

धीरेय—श्रेष्ठ २४।१७१

न

नक्षत्रमाळा—इस नामका एक
हार १५।८३

नक्षत्रमाळा—जिसमें २७ लड़ियाँ
हों ऐसा हार १६।६०

नदीन—समुद्र १५।१५६

नन्दन—पुत्र ११।१४

नभस्वत्—वायु १३।१८२

नयचक्र—नौतिसे युक्त मुद्रा
चक्ररत्न (पक्षमें नंगमादि
नयोंका समूह) २४।१८६

नखिन—कमल ३।११३

नवोपयोग— १ केवलदर्शन
२ केवलदर्शन ३ आधिक-
सम्पत्त्व ४ आधिकचारित्र
५ आधिकदान ६ आधिक-
लाभ ७ आधिकभोग ८
आधिकउपभोग ९ आधिक-
वीर्य २५।२२३

नवपुण्य—नवधाभक्ति— १ प्रति-
ग्रहण-पडिगाहना २ उच्च
स्थानपर बैठाना ३ पैर
धोना ४ अष्टदशसे पूजा
करना ५ नमस्कार करना
६ मनशुद्धि ७ वचनशुद्धि
८ कायशुद्धि और ९ अन्न-
जलशुद्धि २०।८६, ८७

नष्ट—छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-
प्रत्यय १६।११४

नाभि—नाभि-उदरगत १५।७९

नायक—हारके बीचका बड़ा मणि
२४।१६५

नार्यस्य—राज्य, नृपतेर्मात्रः कर्म
वा नार्यस्यम् ११।४५

निकृति—कपट २३।१३१

निधुवन—सम्भोग १९।९२

निभसात्र—छलमात्र १५।५७

निर्णिता—नोपक (पक्षमें शुद्ध)
२४।१८६

निर्वाण—अपांगप्रदेश (माँहके
कटासका निकटवर्ती प्रदेश,
कोह ३।५८

निर्वाणिणी—सुखकारिणी-सन्तोष-
दायिका १६।४०

निर्विण्ण—विरक्त ७।३८

निर्वृत्त—समाप्त १३।२०८

निर्वृत्ति—निर्वाण-मोक्ष २।१४०

निर्वृत्ति—सुख ५।९४

निर्वृत्ति—समाप्ति १३।२००

निरारेका—सन्देशरहित ५।८६

निरोत्ति—अतिवृष्टि, अनावृष्टि,
भूषण, शलभ, शुक और
निकटवर्ती शम्भु राजा इन
छह ईतियोंसे रहित १३।१६९

निरिधर—देव १७।१११

निवात—वायुके संचारसे रहित
स्थान १८।९९

निवृत्त—तोषण करना ४।१८६

निःश्रेयस—मोक्ष १।१२०

निःश्रेयस—मोक्ष ५।२०

निःक्रम—निकलना १४।१३४

निःक्रमण—दोषा धारण करना
११।४६

निषङ्ग—तरकश १६।४२

निष्ठगुण—यूका हुआ १३।१४४

निष्ठा—समाप्ति १३।१८५

निश्चिन्नायु—जिसकी आयु पूर्ण
हो चुकी है-मरणोन्मुख
११।६

निष्ठितार्थ—कृतकृत्य १७।१३१

निष्पवीचार—मैथुनरहित
११।२१८

नीकाश—सदृश १२।१०५

नीह—आश्रय २४।४६

नीहाराशु—चन्द्रमा ५।५

नैगम—वेद १६।२४७

नैर्ग्रन्थी — दिगम्बरमुनिसम्बन्धी
१०।१६९

नैःसंगी — दिगम्बर मुनिसम्बन्धी
१०।१७१

प
पङ्कजवासिनी-लक्ष्मी १५।१२४
पञ्चकल्याण-१ गर्भ २ जन्म ३
तप ४ ज्ञान ५ निर्वाण
२५।२२२
पञ्चमङ्गल-१ अरहन्त २ सिद्ध
३ आचार्य ४ उपाध्याय
५ साधु २५।२२२
पञ्चमूर्ती-विस्तार करती हुई
१४।१४४
पञ्चाश्रय-१ रत्नवृष्टि २ पुष्प-
वृष्टि ३ गन्धोदकवृष्टि
४ मन्दमुगन्धित पवन और
५ 'अहोदानं अहोदानं' की
ध्वनि ८।१७४
पटवास-कपड़ोंको सुवातित करने-
वाला कृण १४।८८
पटविद्या-विद्यापहरण विद्या
२४।१
पणव-बाद्यविशेष २३।६२
पतन्वति-पक्षियोंका स्वामी गरुड़
१।२०८
प्रतिजुव-अपनेको मूठ ही पति
बतलानेवाले ६।१७२
पत्र-पत्ते, पक्षमें बाहन २२।२०२
पत्रिन्-पक्षी १९।१४०
पद्माक्ष-व्याकरणशास्त्र
१६।११२
पद्मविहर-पद्मासन १८।४
पद्मा-लक्ष्मी-गोभा ३।११८
पद्मा-लक्ष्मी १२।१०७
पद्माकर-कमलोंसे सुशोभित
तालाब-कमलवन ११।१७
पद्मस्विनी-दूध देनेवाली गाय
१६।२५४
पयोधर-मेघ ३।१७३
परचक्र-परराष्ट्र ५।११
पर्जन्य-मेघ ६।९०
परासुना-मृत्यु ९।२०

परिक्रम-नृत्यकालमें पादविक्षेप
अथवा फिरकी लगाना
१३।१७९
परिक्रम-पदविन्यास १८।२००
परिगति-प्रदक्षिणा १३।२१०
परिणत-पके हुए १७।२५२
परिणता-विवाह करनेवाले अथवा
परिउपसर्गपूर्वक नीज
घालुका लुटलकारका रूप-
विवाह करेंगे १५।७१
परिष्वक्त-आलिंगित १७।२२१
पक्कल-छोटा तालाब १८।१३२
पाकसन्ध-कूर पशु ३।१०५
पाण्डिक-पणववाद्यको बजाने-
वाला २३।६३
पादात-पैदल-सैनिकोंका समूह
८।३६
पाप्मा-पापी ११।१९
पाथिव-वृक्ष, पक्षमें, राजा पृथिव्यां
महाः, पाथिवा वृक्षाः
पृथिव्या अधिपाः पाथिवा
राजानः २२।२०२
पार्थिवकुंजर-श्वेष्ठ राजा ७।५१
पारश्चरी-पारकी देखनेवाली
२।५६
पार्वण-पूणिमाका ३।१५५
पार्थिव-एडी १८।३
फिटर-स्थाली-बटलोई ५।७२
पिण्डी-शरीर १४।१३४
पितृकल्प-पितृके तुल्य १६।१३७
पुङ्गव-बड़ा बेल ८।९६
पुत्री-पुत्रयुक्त ४।१४०
पुरोगम-प्रधानपुरुष २४।१०
पुलिन्द-म्लेच्छोंकी एक जाति
१६।१५६
पुष्कर-बाद्यविशेष ३।१७४
पुष्कर-हाथीकी सूँडका अग्रभाग
२२।७
पुष्करार्ध-कमलरूप पूजाकी
सामग्री २२।७

पुष्करिणी-कमलोंसे युक्त बापि-
काएँ २२।१७५
पुष्पधन्वा-कामदेव १२।४५
पुष्पवन्तौ-सूर्य-चन्द्रमा ३।५७
पृथक्-सूर्य १३।१६५
पृथ्वी-विशाल २३।७
पोगण्ड-विकलांग १०।९५
पौलोमी-हन्त्राणी १४।८
प्रकाण्डक-यष्टिनामक हारका एक
भेद १६।४७
प्रकाण्डकयष्टि-जिसके बीचमें क्रम
क्रमसे बढ़ते हुए पाँच मोती
हैं ऐसी एक लड़वाली
माला १६।५३
प्रकृति-प्रजा ८।२५३
प्रजा-पुत्र १६।१२५
प्रणाम्या-असंमत-अप्रिय स्त्री
६।२००
प्रतायिनी-विस्तारिणी २।६
प्रतायिनी-विस्तृत २३।१४५
प्रतिक्रमण-लगे हुए हाथोंका
प्रायश्चित्त लेना २०।१७१
प्रतिबलम्ब-प्रतिनिधि १२।७१
प्रतिपक्ष-विषय-व्योता १।१८२
प्रतियासना-प्रतिबिम्ब १४।१४१
प्रतिशिष्टि-प्रतिनिधि-तत्सदृश
१।६८
प्रतीक्ष्य-पूज्य १।१८१
प्रतीन्द्र-इन्द्रसे नीचेका पद धारण
करनेवाला १०।१७१
प्रस्थव-ज्ञान ७।७४
प्रमिस्तु-नापनेके इच्छुक १५।८८
प्रवीणार-मैथुन ५।२८०
प्रवीणार-मैथुन १०।२०२
प्रवज्या-दोषा १०।१६९
प्रवृत्ति-प्रसन्नता ५।१३
प्रसेन-गर्भस्थ बालकके ऊपरका
आवरण = जेर ३।१५०।-
१५१

प्रस्तार—छन्दशास्त्रका एक

प्रकरण—प्रथम १६।११४

प्रस्तुताना—दूध बेती हुई १८।८४

प्राज्या—धोखा २४।१०

प्राबोधिक—जगानेके कार्यमें

नियुक्त १२।१२१

प्राख्य—हारविशेष ७।२३४

प्रासेयांशु—चन्द्र १३।१६५

प्राशुषेय—वर्षाकालका ११।१६

प्रांशु—ऊँचा ३।७७

प्रीतिकर—प्रीति उत्पन्न करनेवाला १०।२

फ

फलकहार—अर्धमाणव हारके बीचमें यदि मणि लगा हो तो उसे फलकहार कहते हैं १६।६५

ब

बद्धर—स्थूल २३।६३

बद्धजीव—अष्टकर्मसे युक्त

संसार जीव २।११८

बन्ध—आत्मा और कर्मोंका मीर-क्षीरके समान एक ओबाब-गाह होना २।११८

बलाहकाकार—मेघके आकार २२।१५

बहुरूपक—अनेक भूमिकाओंसे युक्त १४।१०४

बहुश्रेयान्—अत्यन्त कल्याणसे युक्त २०।११७

ब्रह्मोद्या—ब्रह्म-सर्वज्ञके द्वारा कही हुई २।६३

बीमासु—वृणित १०।३३

बुध्न—मूल २२।९८

बुभुस्ता—जाननेकी इच्छा २।३०

बुभुस्तु—जाननेका इच्छुक २।३०

बोधि—रत्नत्रय १०।६

बभ्र—सूर्य १।२१०

बभ्र—सूर्य १८।१७८

ब्रह्मसूत्र—जनेऊ ३।२७

भ

भगण—नक्षत्रोंका समूह १३।१६५

भटभुक्—कायर योद्धा १।३४

भरतात्मज—भरत चक्रवर्तीका

प्रथम पुत्र अर्ककोटि १।१४

भागवत—भगवान्सम्बन्धी

२०।१६१

भागीरथी—गंगा नदी १८।२०७

भित्त—मृणाल १३।१५३

भीमभोगी—भयंकर सौ ५।२१०

भुजिष्या—बेटा ८।१२३

भूतवादी—पृथिव्यादि चार भूतोंके द्वारा जीवकी उत्पत्ति

माननेवाला वार्षिक ५।६६

भूतोपशृङ्खल—जिसे प्रेतकी बाधा है ५।६६

भोक्ता (भोक्तृ) — भगवानके १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

म

मकराकर—समुद्र २।११६

मङ्गलाष्टक—आठ मङ्गलद्रव्य-
१ छत्र २ ध्वज ३ कलश
४ चामर ५ मुद्रतिष्ठक
(ठीना) ६ भृंगार (सारी)
७ दर्पण और ८ तालपत्र
(पंख)

मणिलोपान—जिसमें नीचे सोमेके पाँच दाने लगे हों ऐसा फलकहार १६।६६

मदनोत्कोचकारिन्—कामके उद्वेग-को करनेवाला १०।१४१

मधुकृत्—मधुमक्षिषी १०।३३

मधुवत—अमर, पक्षमें मद्यपायी २२।१२६

मध्वेयवनिकम्—परदाके भीतर १७।१९५

मनु—भगवान् आदिनाथ १५।१७०

मनु—भगवान् वृषभदेवका पुत्र १५।१७०

मन्द्र—गम्भीर ८।१७५

मम्मनालपित—अव्यक्त-तोतली बोली १५।१६२

मन्वन्तर—एक कुलकरसे दूसरे कुलकरके होनेका मध्यवर्ती काल ३।७६

मरीमृदाः—बार-बार मार्जन करते हुए १८।८३

मरुद्—देव २५।२३५

मरुमरीचिका—मृगतृण ५।४८

मसृण—स्निग्ध, चिकनी ११।२८

महत्तर—प्रधानपुरुष ५।११

महाक्षिप्र—कल्पवृक्ष १६।१३७

महाप्रज्ञसिद्धि—विद्याधरोंकी सिद्ध होनेवाली विद्याओंमें से एक प्रमुखविद्या १९।१२
महाप्राज्ञार्थ—शंभुवरी दीक्षा २४।१८२

महार्घक—महामृत्य १४।७८

महास्थपति—चक्रवर्तीका रत्न-स्वरूप दिव्यकर्मा ७।२१०
माणव—जिसमें २० लङ्गियाँ हों ऐसा हार १६।६१

माणवक—बालक ३।७

मातरिक्षा—वायु ५।९९

मातुलिङ्ग—बिजौरा १७।२५२

मार्गद्वय—१ शब्दालंकार

२ अर्थालंकार

मार्तिक—अच्छी मिट्टीसे बने हुए १६।२२७

मित्रमण्डल—सूर्यबिम्ब १२।१३५

मुक्त—अष्टकर्मसे रहित शुद्ध जीव जिन्हें मोक्ष प्राप्त हो चुका होता है २।११८

मुनीनेन—मुनीन्द्र सूर्य, मुनि + इन + इन ११।७६

मुरज—मृदंगाकार शिखर १९।६१

मूर्धज—बाल ६।३२

मूषा-साँचा (धातुओंके गलानेका पात्र) १०।४३

मृग-पशु ३।९३

मृगयु-शिकारी ११।२०२

भेधादिनी-अत्यन्त बुद्धिमती १६।१०८

मैरवी-मेरुसम्बन्धी १३।२०९

मोच-कदली १७।२५२

मौख-मुखसम्बन्धी १४।११९

य

यतिचर्चा-मुनियोंके आहारकी विधि २०।२

यथीयस्-तटण १८।११८

यशस्य-यशकी बढ़ानेवाला १।२०५

यादस्-जलजन्तु १४।६६

यामिनी-रात्रि १२।१४७

यायजूक-पूजा करनेवाले २४।२८

युग-जुआरी—(चार हाथ प्रमाण) २०।६६

युग्यक-पालकी १७।१००

युतसिद्ध-पूचकसिद्ध ५।५५

योग-समाधिमरण ५।१४२

योग-अप्राप्त प्राप्य वस्तुकी प्राप्ति होना १६।१६८

योगबीज-ध्यानके निमित्त २१।२२१

योगीन्द्र-राजा वज्रनाभिके पिता वज्रसेन महाराज मुनि होनेपर योगीन्द्र कहलाये ११।४९

र

रजस्वला-परागसे सहित, पक्षमें रजस्वलाएँ-मासिकधर्मसे युक्त स्त्रियाँ २२।१२६

रत्नसमुद्रगक-रत्नोंका विटारा १७।२०५

रत्नावली-रत्नोंकी वह माला जो सुवर्ण और मणियोंसे चित्रित होती है १६।५०

रथकङ्कवा-रथसमूह २४।१३

रथाङ्ग-गाड़ीका पहिया ५।१२७

रश्मिकलाप-जिसमें ५४ लक्षियाँ हों ऐसा हार १६।५९

रसातल-नरक १०।२७

राजक-राजाओंका समूह ११।५२

राजत-बाँधीके बने २२।२१०

राजम्बली-उत्तम राजासे युक्त २।१६

राजम्बली-योग्य राजासे युक्त ४।८०

राजन्वली-योग्य राजासे युक्त पृथिवी १७।७७

राजा-चन्द्रमा ५।२०४

राम-बलमद १।१७०

रिंखा-रमण-क्रीड़ाकी इच्छा ११।१४२

रूपक-नाटक १४।१०४

रेचक-भ्रमण, नृत्य करते-करते फिरको लगाना १४।१२१

रैधारा-धनकी धारा १२।८८

रैराट्-कुबेर २३।७

रोदुस्ती-आकाश और पृथिवीका अन्तराल १२।८८

रौक्म-सुवर्णसम्बन्धी २२।९०

ल

ललिताङ्ग-सुन्दर शरीरवाले, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी एक देव-गर्यायका नाम १४।४८

ललिताङ्गक-सुन्दर शरीरका धारक ७।१४९

ललिताङ्गवर-पहलेका ललितंग ७।१०५

लुब्धक-म्लेच्छोंकी एक जाति १६।१६१

लौकान्तिक-ब्रह्मस्वर्गमें रहनेवाले देवोंकी एक जाति १७।५०

लौकायिकी-वाविकमतसम्बन्धी ५।२८

व

वज्रजङ्घ-वज्रके समान सुदृढ़ जाँघीवाले, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वपर्यायका नाम १४।४८

वज्रनाभि-वज्रके समान स्थिर नाभिसे युक्त, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वभवपरम्पराका एक नाम १४।५०

वज्राकर-हीरेकी छान १९।४२

वज्री-इन्द्र ६।२८

वयस्या-तरुण अवस्थासे युक्त १०।२०६

वर्ण-ब्राह्मणादिवर्ण, पक्षमें ध्वजार २४।१८६

वर्षधर-बृद्ध कम्बुकी-अगतपुरके कर्मचारी ६।९५

वर्षबुद्धिदिन-जन्मोत्सवका दिन ५।१

वर्षीयस्-वृद्ध १८।११८

वर्षमन्-प्रमाण, वर्ष देहप्रमाणयोः हत्यमरः ३।१४

वराकक-वीनप्राणी-वेचारा १७।३५

वराही-उत्तम स्त्री १५।७८

वरीमृष्टि-अतिपाक १७।२४५

वरीमृष्टि-अतिछेदन १७।२४६

वलिभ-वलि-नाभिके नीचे विश-मान रेखाओंसे युक्त ६।६७

वस्तुमिका-प्रियदेवांगनाएँ १०।१९४

वस्तूर-मूला मांस १०।५८

वसुधरा-पृथिवी ६।२८

वंशोचित-वंशके योग्य, पक्षमें कुलके योग्य १४।११९

वाग्मिन्-प्रशस्त वचन बोलनेवाला १।४४

वाङ्मय-व्याकरण, छन्द और अलंकारशास्त्रके समुदायकी वाङ्मय कहते हैं १७।१११

वाच्यमस्य-मौनघ्न १८१
वाजिवधन-किन्नर १९१६७
वातरक्त-दिगम्बर २१६४
वातवृक्ष-दिगम्बर २१६८
वादिन्-शास्त्रार्थ करनेवाले
११४४
वार्ध-वृक्षसम्बन्धी वृक्षस्येदं
वार्धम् ३१४९
वालधि-पूछ ११२९
वालधि-पूछ ५११०२
वालकस्यकान्धन-गतिपनेका बिल
७१११३
वास्तुविद्या-मकाम बनानेकी
विद्या १६१२२
विकल्प-विकसित २३१४०
विकृत्य-विक्रिया करके १४१२२
विचक्षण-विद्वान् ११६२
विचतुरङ्गीडा-विशिष्ट चानुयं-
पूर्ण क्रीडा १८१८४
विजयचक्र-एक हारविशेष
१६११५
विजयचक्र-जिसमें पाँच सौ
लड़ियाँ होती हैं ऐसा हार।
इसे नारायण तथा बलभद्र
पहनते हैं १६१५७
वित्तु-शरीररहित ४११८
वित्तु-बारह अंगुलके एक
वित्तु होती १८१३
विदेह-शरीररहित मुनि ४१५३
विश्ववीथः-चन्द्रमाके समान
गुण १९१६१
विद्वन्-मूणा १३१३३
विधियः (विधी)-बुद्धिहीन
२३११७
विधेय-शिष्य १११७७
विप्रलम्ब-ठगा हुआ ११२०५
विप्रलम्ब-व्यक्त - ठगनेवाले
१११९१
विभावरी-राजि १२१२४

विमान-प्रमाणरहित-अत्यन्त
विस्तृत, विगत मानं यस्य
सः १०१२०८
विमान-प्रमाण करता हुआ
१४११३
विद्युत्-विद्युत् १०११९
विद्युत्-मृत ११२९
वियोग-नियमसे करने योग्य कार्य
१५१६७
विकल्प-निकृष्ट-नीच ६१३७
विवक्षा-कहनेकी इच्छा, वस्तु-
मिच्छा विवेक्षा २४१८४
विवक्षु-वस्तुमिच्छुविवक्षु, कहने-
का इच्छुक ११२७
विवक्षु-शोधुमिच्छुविवक्षु, धारण
करनेका इच्छुक ११२७
विविक्तता-पवित्रा २४१८४
विचिन्तु-जाननेके इच्छुक
२३१४४
विशक्त-विशाल १७१८८
विक्रिय-भाण ९११९५
विज्ञान-दान २५१३
विश्वजनीन-सर्वहितकारी १११७३
विश्वविक्रम-सब दिशाओंमें
३११९६
विश्वकर्तृ-मगवान् वृषभदेव
२३१७४
विश्वरीष-विश्वरी-पृथिवीका
ईश २५११०४
विश्वास्या-विश्वतोमुखी, जिसके
चारों तरफ गोपुरदार थे
(पक्षमें जो प्रत्येक विषय-
का प्रतिपादन करनेवाली
थी) २४१८६
विश्वावा-आहार २०१२
विश्वाण-भोजन १०१२०२
विष्टि-वेगार कराना १६१६८
विष्टिपुरुष-मजदूर ८१२३५

विसंस्थुलासनस्थ-नाना प्रकार-
की अटपटे आसनसे स्थित
२११७०
वृषभ-द्वन्द्व १४१११
वृषभकवि-श्रेष्ठ कवि ११२०८
वृद्धि-हाथीकी गर्जना ३१६७
वेणुध्या-बांसुरी बजानेवाले
१२१२००
वेधस्-मगवान् वृषभदेव
१६११०९
वैदग्धी-शोभा २२११३४
वैदग्धी-सौन्दर्य-शोभा २४११८
वैदग्ध्य-चतुराई ४१५६
वैदग्ध्य-धृष्टता-लज्जा ६१७२
वैशाखस्थ-पैर फैलाकर खड़े
हुए ४१४२
व्यतिकर-कार्य ६१२०७
व्यलीक-असरय १८१२२
व्याकुली-काग १३११४०
व्याधि-शारीरिक व्याधा ६१५२
व्याहृति-प्राणी-दिव्यध्वनि
२४१८६
व्युत्सृष्टकाय-जिसने शरीरसे
समताभाव छोड़ दिया है
ऐसा मुनि २११६६
शु
शङ्ख-नी निधियोंमें एक मिट्टि
२२१४६
शतधीवर-शतधी मन्त्रीका जीव
(भूतपूर्व चरद्) १०११४
शतमल-द्वन्द्व ८१२५५
शताध्वर-द्वन्द्व १३११७
शम्भु-अजगर (दण्ड विद्यावरका
जीव) ५११२४
शरद्-वर्ष "हायनोऽस्थी शरत्समा"
२११४२
शरीराम्बविगुण-बपुः काश्चित्
दीप्तिरस्य लावण्यं प्रियवाक्यता।
कला कुशलता चेति शरीराम्ब-
यिनो गुणाः १५१२१५

ऋषभदेवकी पूर्वभव-पर-
म्परामें प्राप्त एक भव
जिसमें वे सर्वार्थसिद्धि-
नामक अनुत्तर विमानके
स्वामी हुए १४।५०

सरस्वत्-समुद्र २०।३६
संख्य-तालसे सहित १३।१७९
साकृता-अभिप्रायवती १४।८६
साचिन्म-सहायता ८।२०९
सात्त्विकबल-आत्मबल १५।२१०
साधन-सेना ४।१२४
साधन-सेना ८।४१
साधारण-देशका एक भेद
१६।१५९

साध्वस-भय ३।१२३

सानुजन्मा-छोटे भाइयोंसे सहित
२४।१०

सामायिक-चारित्र्यका एक भेद
२०।१७१

सामि-आवा १९।१७२

सारव - आरव-शब्दसे सहित
१४।२०५

सारव-सरघूनवी सम्बन्धी
१४।२०५

सार्व-सर्वहितकारी ७।३१५

सार्वभौमत्व-समस्त पृथिवीका
स्वामित्व-चक्रवर्तीपना (सर्व
स्या भूमेरधिपः सार्व-
भौमस्तस्य भावस्तत्त्वम्)
१५।१३२

सारस - सरः-सरोवरसम्बन्धी
१६।२१३

सासार-आसार-धाराप्रवाह
वर्षसे सहित १२।१०४

सितच्छदावली-हंसपंक्ति
१९।१२२

सितांशुकप्रतिच्छन्न-मफेद वस्त्र-
से ढका हुआ १७।२०५

सुत्रामन्-इन्द्र १।५१

सुश्रामा (सुश्रामन्)-इन्द्र १२।७५

सुदती-सुन्दर दाँतवाली स्त्री
१९।१२९

सुधाशी-देव ११।३

सुधासूति-चन्द्रमा ६।८३

सुपर्वा-उत्तम पीरोसे सहित
१४।१४३

सुरकुञ्ज-कल्पवृक्ष २०।२७०

सुरभि-कामधेनु १५।४२

सुरसद्मन्-स्वर्ग १२।८९

सुराग-कल्पवृक्ष ४।१८२

सुराग-कल्पवृक्ष (सुर + अग)
६।५९

सुराग-कल्पवृक्ष (सुर + अग)
१३।२५

सुरेम-सु-उत्तम रेभ-शब्दसे
युक्त १०।२०८

सुरेम-सुर + इस-वेधोंके हाथी
१०।२०८

सुविधि-उत्तम भाग्यसे युक्त,
पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी
पूर्व पर्यायका एक नाम
१४।४९

सुहृत्-गोल ११।२८

सूक्ष्मावि-सूक्ष्म, अन्तरित, दूर-
वर्ती ७।७१

सूति-उत्पत्ति २४।२

सूत्र-मणिमध्या यष्टिका एक भेद-
एक लड़की माला जिसमें
बीजमें नीचे एक मणि लगा
रहता है १६।५०

सूत्रधार-शिल्पाचार्य-मकान
आदिका काम करानेवाला
१२।७५

संख्या-छन्दशास्त्रका एक प्रक-
रण-प्रत्यय १६।११४

संविग्ग-संसारसे भयभीत हो-
कर वैराग्यमें तत्पर रहने-
वाले पुरुष २४।१७७

संवृत्ति-भ्रान्ति ५।४०

संस्थान-उत्तरीमवस्त्र १९।११७

संस्थाय-रचनाविशेष १६।१४४

संहार-प्रलयकाल २०।३५

सोपान-कलकहारमें नीचे यदि
सोनेके तीन दाने लगे हों
तो उसे सोपान कहते हैं
१६।६६

सौगन्धिक-सुगन्धित पदार्थ
१२।१७४

सौध - अभूतसम्बन्धी, सुधाया
अयं सौधः ११।१५०

सौमुख्य-अनुकूलता १४।९१

सौरभेय-वृषभ १५।४२

सौरी-सूर्यसम्बन्धी १२।१७०

स्तम्भ-दुग्ध विलानेमें १४।१६५

स्तम्बेरम-हाथी सम्बन्धी (स्तम्बे-
रमस्येदं स्तम्बेरमम्
२५।३५

स्थानीय-राजधानीका दूसरा
नाम १६।१६३

स्नानद्रोणी-स्नान करनेका टप
१३।२०७

स्पृश्यकारु-नाई आदि १६।१८६

स्फाति-वृद्धि १।२०७

स्फाति-विस्तार १४।३१

स्वःप्रभ-स्वर्गश्रेष्ठ-इन्द्र १७।२२३

स्वभ्यस्त-अच्छी तरह अभ्यास
किया हुआ ११।३२

स्वर्ग्य-स्वर्गकी प्राप्तिका साधक
१।२०५

स्वरुद्भूतगन्ध-स्वर्गमें उत्पन्न
गन्ध २३।११०

स्वर्णीय-मानेज १०।१४३
 स्वापतीयक-धन ८।२३२
 स्वायंभुवी-आदिनाथ भगवान्-
 की वाणी १।१९४
 स्वायंभुव-स्वयंभू भगवान्
 वृषभ देव-द्वारा कहा हुआ
 १६।११२
 स्वधरा-मालाको धारण करने-
 वाली २३।१९६

ह
 हरि-इन्द्र २२।१३
 हरित्-विद्या १३।२८
 हरिविह्वर-सिंहासन ५।२१४
 हार-यष्टि-लङ्घियोंके समूहसे बनी
 माला हार कहलाती है
 १६।५५
 हार-जिसमें सकसी आठ लङ्घियाँ

हों उसे हार कहते हैं
 १६।५८
 हारिन्-सुन्दर ९।२४
 हारिन्-मनोहर १७।१२२
 हिमानी-अत्यधिक बर्फ, महद्
 हिमं हिमानी २२।१२७
 हिरण्यवी-सुवर्णमयी १२।८९
 हृदिशय-कामदेव १५।९७
 हृषीक-इन्द्रिय २१।१०६